सुंदरकांड : एक पुनर्पाठ

सुन्दरकांड जीवन के सम्पूर्ण सौन्दर्य का वाचक हैः इसका सौन्दर्य पिछले पांच सौ वर्षों के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'रामचरितमानस' के अंगी रस निर्वेद या भक्ति से व्युत्पन्न है। तुलसीदास ने अपने जीवन का अमृत निचोड़ कर सुन्दरकांड में प्रस्तुत किया है जो मध्यकालीन जीवनबोध का तो अतिक्रमण करता ही है, वर्तमान समय में भी जिसकी प्रासंगिकता ओर अर्थवत्ता चुनौती की तरह विद्यमान है।

यह सही है कि धार्मिक ओर संप्रदायवादी व्याख्याकारों ने उसमें अपने-अपने मत-मतान्तर प्रक्षेपित किये हैं, किन्तु यह 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता का ही परिचायक है। यह प्रक्रिया अभी भी चल रही है। एक तरफ इससे कुछ लोग 'हिन्दुत्व' को रेखांकित करना चाहते हैं, तो कुछ ऐसे भी हैं जो इसे 'ब्राह्मणवाद' की एक और 'मनुस्मृति' मानकर 'दलित विमश्र कर रहे हैं। कुछ वर्ग इससे सामाजिक प्रतिगामिता की प्रेरणा ले रहे हैं और 'रामराज्य' की 'स्वनिर्भर' दुनिया की तलाश में हैं। डोंगरे महाराज, रामकिंकर उपाध्याय, मुरारी बापू, जैसे प्रवचनकार उसमें सनातन मूल्यों को खोजते हैं जो लोकमंगलकारी है। वह 'कमिमलविध्वंसिनी' कथा है। वहीं दूसरी तरफ इसके प्रगतिशील व्याख्याकार भी सामने है। उत्तराधुनिक समय में उसे एक 'टेक्सट' के रूप में देखा जा रहा है जिसकी 'मीनिंग' तुलसी की रामोद्दिष्ट भक्ति से भिन्नार्थी हे, वह एक सामाजिक 'कृति' में 'सीमित' या 'कंडेंस्ट' है जिसका रचयिता बकौल रोलां बार्थ 'डेड' हो चुका है और उसके अर्थ का सन्धान केवल 'कृति' में मौजूद है। और वह अर्थ कृति के केन्द्र में नहीं है, वह हाशिये पर है अथवा 'सम्प्रेस्ड' हैः वह एक 'ऐतिहासिक' नियति का सचेत प्रतिकार है जिसका अपना खास एजेंडा है - आदि आदि।

ऐसे समय में मनोज श्रीवास्तव ने रामचरितमानस के श्रेष्ठतम अंश 'सुन्दरकांड' को आधार बनाकर 'सौन्दर्य विमर्श' का एक नया तल खोल दिया है जिसमें आधुनिक भावबोध का गलदश्रु गुणगान नहीं बल्कि तार्किक और ससन्दर्भ विश्लेषण है। इसमें अब तक जाना पहचाना - भक्ति, अनुराग, संयोग-वियोग, नीति, कूटनीति, हास्य, व्यंग्य, परिवार, देश, स्त्री, स्मृति और चर्या का 'लोकवृत्त' एक नये रूप में सामने आता हैं । वाक्यांश और अर्थ अपना अनुसंधान स्वयं करते प्रतीत हा है। यही इस विमर्श का सौन्दर्य है। इसमें पांडित्य तो है ही, लेकिन उससे बढ़कर एक विविक्त हृदय का रसोत्कर्ष भी है जो अपने समय से सम्वाद करना चाहता है। इस मायने में यह सौन्दर्य साहसिकों के लिये आमंत्रण भी है कि यह दुर्गम ट्रैकिंग करें। कुछ विचित्र कुछ भिन्न कुछ सुन्दर कुछ कांड। सब मिलकर रचते हैं - सुन्दरकांड। मनोज जी अभी लिख रहे हैं। प्रक्रिया थमी नहीं है। अभी कई 'वोल्यूम' आने बाक़ी हैं। फ़िलहाल मानस रसिकों के लिये कुछ खंड प्रस्तुत हैं। विश्वास है इससे गुज़रने के बाद पाठक जब विश्रान्त होंगे तो उनके सामने केवल भाव और सौन्दर्य का पुष्कल समुद्र होगा- लगातार चुनौतियाँ देता... हरहराता समुद्र!

मनोज कुमार श्रीवास्तव

विचारशील लेखक के तौर पर ख्याति। गद्य एवं पद्य पर समान अधिकार। कविता के संसार से अलग, उनका गद्य विचार जगत की गहराईयों में जाता है। अपनी परम्परा से निरंतर संवाद करता इनका लेखन आधुनिकता के प्रचलित मुहावरों से भी बाहर जाता है। प्रकाशित कृतियां : कविता संग्रह - 'मेरी डायरी से', 'यादों के संदर्भ', 'पशुपति', 'स्वरांकित' और 'कुरान कविताएँ'। 'शिक्षा के संदर्भ और मूल्य', 'पंचशील वंदेमातरम्', 'यथाकाल' और 'पहाड़ी कोरबा' पर पुस्तकें प्रकाशित। 'सुन्दरकांड' के पुनर्पाठ पर दस खण्ड प्रकाशित। दुर्गा सप्तशती पर 'शक्ति प्रसंग' पुस्तक प्रकाशित। सम्प्रति : १९८७ संवर्ग के भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी।

सुन्दरकांड : एक पुनर्पाठ

मनोज कुमार श्रीवास्तव

सुन्दरकांड : एक पुनर्पाठ

मनोज कुमार श्रीवास्तव

रचना समय
भोपाल

प्रथम संस्करण
2012

प्रकाशक
रचना समय
197, सेक्टर बी
सर्वधर्म कॉलोनी
कोलार रोड, भोपाल-*42*
दूरभाष : *09424418567*

मूल्य : *1000*/- रुपये

आवरण संयोजन
हरचंदन सिंह भट्टी

शब्द सयोजन
शोभाराम खाकरे

मुद्रक
बॉक्स कोरोगेटर्स एण्ड ऑफसेट प्रिंटर्स, भोपाल

पुरोवाक्

'रामचरितमानस' जो कथा कहती है वह एक युग-विशेष में मानवता के नेस्तनाबूद हो जाने के ख़तरे के विरुद्ध किये गये संघर्ष की कथा है। मुझे याद पड़ता है कि अभी सितंबर *2005* में 'साइंटिफिक अमेरिकन' नामक पत्रिका ने 'क्रासरोड्स फॉर द प्लेनेट अर्थ' नामक एक विशेषांक निकाला। 'रामचरितमानस' जिस युग की कथा कहती है, तब भी पृथ्वी पर ऐसा ही संकट आया था। 'परम सभीत धरा अकुलानी' की स्थिति आई थी। 'गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही/जस मोहि गरुअ एक परद्रोही'। तब ब्रह्मा ने कहा था 'धरनि धरहि मन धीर कह बिरंचि हरिपद सुमिरु/जानत जन की पीर प्रभु भंजिहि दारुन बिपति'। इस कथा को जब तुलसी ने कहा, उस समय तुलसी का कहना भी पूर्णतः साभिप्राय था। महान कथा और महान कविता दोनों ही समय बीतते जाने के साथ नई ऊर्जा इकट्ठी करते चलते हैं। उनका चक्र और उनकी लय अलग-अलग कालचक्र और काल-ताल से मिलती चलती है।

मैं सुंदरकांड के इस पुनर्पाठ के जरिए यही कोशिश कर रहा हूं कि इस कथा को लेकर जो दुष्प्रचार हुआ है और इसे लेकर जो पंडिताऊ प्रवचनकारिता की कलाबाजियां दिखाई दी हैं, उनके मद्देनज़र इस कांड की उन संभावनाओं को ढूंढूं जो इस सोपान को बार-बार पढ़ते समय मेरे भीतर कुछ नये स्पन्दनों को ट्रिगर करती रही हैं। इतनी शताब्दियों से तुलसी के ये शब्द भारत के अयन और वायुमंडल में इतनी बार इतने भाव-विदग्ध कंठों से उच्चरित हुए हैं कि उन शब्दों में अर्थ के अक्ष और आकाश भी असीम हो गए हैं। कितने कवियों की रचनाएं जब स्फूर्त होती हैं तो कैसे उस समय ये शब्द प्रतिच्छवित होते हैं, कई बार उन्हें भी नहीं पता चलता। लोग सुंदरकांड के तांत्रिक प्रभाव की बात करते हैं। लेकिन स्वयं यह तांत्रिक प्रभाव क्या है? मुझे नहीं पता। यह ज़रूर है कि सुंदरकांड को पढ़कर जैसे मैं सम्पृक्त (*aligned*)-सा हो जाता हूं- व्यतीत, वर्तमान और विभव से। यह सिर्फ़ शताब्दियों से दुहराई गई ध्वनियों का संघनन नहीं है, यह उन श्रद्धाओं का भी संघनन है जो अरबों लोगों ने पिछले इतने सारे सालों, महीनों और दिनों में महसूस की है। ऊर्जा का एक पैटर्न-सा है जो सुंदरकांड द्वारा रचा जाता है। असहायता के क्षणों में, 'संसारार्णव भीतिं' में सफरिंग के मुकाम पर यह एक अध्याय है जो आपको उन सबके जैसे पार लिए चलता है। कितना ही सघन अंधेरा क्यों न हो, इस अध्याय का एक पाठ जैसे उसे दरका देता है। क्या किसी कविता की ऐसी 'काज़्मिक' (जागतिक) उपस्थिति हो सकती है? इसको पढ़ते हुए जैसे आपके भीतर की टूटी हुई ईंटें न केवल जुड़ने लगती हैं बल्कि इस तरह से पुनर्व्यवस्थित होने लगती हैं मानो आपके ऊपर तीखी धूप में छत तन गई हो। आप सीता के दुख में अपना दुख मिला लेते हैं और उतने ही आर्त होकर कहते हैं : 'दीनदयालु बिरदु संभारी/हरहु नाथ मम संकट भारी'। आप अपने भीतर के कलुष का साक्षात्कार करते हैं : 'नाथ दशानन कर मैं भ्राता' और फिर टूटकर ईश्वर के चरणों में ऐसे ही गिरते हैं : 'श्रवन सुजसु सुनि आयहु पुनि भंजन भव भीर/त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर'। और फिर राज्याभिषेक हो जाता है उसी का जो पहले पूरी तरह टूट गया था। यह प्रतिदिन, पिछली कितनी शताब्दियों से, घट रहा है। क्या हम उसका उपहास करके ही आधुनिक बने रह सकते हैं? आधुनिकता अपनी ही श्रद्धाओं का मखौल उड़ाना है? एक अनपढ़ मखौल, एक अर्द्ध-साक्षर मखौल? मुझे आलोचनाओं से एक असंतोष हुआ, वैसे ही जैसे प्रवचनों से। मैं धर्मनिरपेक्षता के नैरेटिव से परिचित हूँ, लेकिन उस नैरेटिव के मान से भी बात पूरी-पूरी जम नहीं रही थी। मैं कंजर्वेटिज़्म के उन रीतिबद्ध

व्याख्याकारों से भी तृप्त नहीं हो पा रहा था जो तर्क के नाम पर ही उखड़ जाते हैं। लेकिन *21*वीं सदी में सुंदरकांड के कथ्य की रिकवरी मुझे अपने आप में एक किया जाने योग्य प्रयास लगा। उसमें एक थ्रिल है। एक बहुत युवा, बहुत तरुण अनुभव। राम और सीता के प्यार और विरह की कहानी, हनुमान की ऊर्जा के छलक-छलक जाने की कहानी। बहुत जवानी-सी है इस कांड के घटनाक्रम में। बहुत-सी स्फूर्ति। ज़ुल्म और जीत और जज़्बा।

यह पुनर्पाठ बहुत-से संदर्भों से भरा है। इन संदर्भों और उद्धरणों का उपयोग मैंने इस कथा के अर्थ-विस्तार में किया है और कथा के अध्यात्म को एक सांसारिकता-सी दी है। यह कथा समुद्र से समुद्र तक की कथा है। इसकी बाउन्ड्रीज समझ में नहीं आतीं। आश्चर्य नहीं कि मानस के ज़्यादातर मोती यहीं मिलें। यह सोपान राजनीतिक न्याय का सोपान भी उतना ही है जितना यह शौर्य और शिवलरी का अध्याय है। इसकी प्रत्येक पंक्ति में इतने शेड्स हैं कि जितना आप पकड़ते हैं, उतना ही कुछ छूटा रहता है। शुरुआत में मैंने सोचा था कि मैं *500* पृष्ठों की एक पुस्तक में उन सब छायाओं और आभासों को, उन सब आभाओं और ख़ुशबुओं को पकड़ लूंगा और एक दो साल में यह प्रोजेक्ट पूरा हो जायेगा। लेकिन अब यह जैसे मेरे काबू में नहीं रहा है। अब जैसे इस कोशिश का अपना जीवन और अपनी गतिकी है।

पिछले *6* साल से यह पुनर्पाठ चल रहा है। छः ग्रंथ आ चुके हैं और अभी एक चौथाई कांड ही हुआ है। मैं इसका आधुनिक समय से कोई अनुकूलन नहीं कर रहा हूं। लेकिन आधुनिक समय के आलोक में यह कांड और अच्छी तरह समझ में आ रहा है। मैं तुलसी की पंक्तियों के लचीलेपन पर हैरान हूं। वे इतनी रचनात्मक हैं कि आलोचना को रचना बना लेती हैं। मुझे नहीं पता कि सुंदरकांड की व्याख्या का यह क्रम कब तक चलेगा। मैं उम्मीद भर कर सकता हूं कि यह अच्छी तरह पूरा हो। लेकिन तुलसी ने राम और सीता की यह मानवीय कथा स्वयं इतनी तन्मयता से कही है कि मुझे लगता है कि बिना एक निजी तादात्म्य के इसका कोई भी पाठ 'आब्जेक्टिफाइड' हो जाता है। इतने डूब जाने पर ही इस कथा का एक-एक शब्द इतने परिप्रेक्ष्य उपलब्ध कराता है। राम और सीता इस सुंदरकांड में इतनी गहरी वेदना में हैं, ऐसे उनकी आंखों में आंसू भर-भर आते हैं कि लगता है, मनुष्य होने की एक आवश्यक शर्त दुख उठाना है।

राम मानवीय होकर अपने दिव्य 'एसेंस' से युक्त हैं, इसका ध्यान जितना तुलसी को है, उनकी कथा के पात्रों को हैं, उतना स्वयं राम को नहीं है। सुंदरकांड में राम किसी अतिप्राकृत क्षमता का परिचय नहीं देते। समुद्र के सामने अस्त्र-संधान उनके अस्त्रागार की विपुलता का परिचय देता है लेकिन है वह हमारी संज्ञानात्मक। सरहदों के भीतर, ईश्वर के साथ तो प्रायः हमारी एक तरह की 'अनन्त दूरी' (*Infinite distance*) है। लेकिन तुलसी राम और सीता की साक्षात् कथाओं के जरिए हमारी 'काग्निटिव रिस्ट्रक्चरिंग' करते हैं। वे ईश-विचार और ईश-वार्ता को दार्शनिक स्तर पर न रखकर आनुभविक स्तर पर ले आते हैं। राम उनके इस प्रयास में ईश्वर को अतिक्रान्त कर जाते हैं। हम तुलसी की राम-प्रतिबद्धता देखते हैं, हम तुलसी का यह ईशातिक्रमण नहीं देखते। मुझे इसी में तुलसी की आधुनिकता दिखती है। वे एक प्रत्यक्ष यथार्थ से हमारा सामना कराते हैं। तुलसी की शैली भक्ति का यथार्थवाद है। निर्गुण सत्य है, भक्ति यथार्थ है। राम में ईश्वर होने का अहंकार सुंदरकांड में नहीं दिखाया गया, लेकिन मानवीय होने की असमर्थताएं जरूर दिखाई गई हैं : जो रघुबीर होत सुध पाई/करते नहीं विलंबु, रघुराई। कौन कहता है कि तुलसी सिर्फ़ चेतना के स्तर पर काम कर रहे थे, वे सामाजिक 'बिहंग' पर भी उतना ही काम कर रहे थे। इस दृष्टि से उन्हें मार्क्सवादी क्यों नहीं देख सके, यह उन्हें सोचना है, तुलसी को नहीं।

इसलिए सुंदरकांड मुझे सुंदर लगता है। उसी सौंदर्य के प्रति प्रणत होते हुए, अब यह किताब आपके पारायणार्थ प्रस्तुत है। छः-छः ग्रंथों को यहां एक साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इस तरह यह खण्ड-एक है। छः ग्रंथों के इस तरह के दो और खंड इस श्रृंखला में शेष हैं।

मनोज कुमार श्रीवास्तव

माँ के लिये

जिन्होंने मुझमें रामचरितमानस के प्रति
रुचि, जिज्ञासा और संस्कार जगाए

क्रम

सुन्दरकांड और अंतर्पाठ्यत्व

तुलसीदास हिन्दी के पहले ऐसे कवि थे जिन्होंने कविता में अंतर्पाठ्यत्व का इतना बड़ा विकास किया। उनके पहले और उनके बहुत बाद तक भी रचनाओं को एक स्वायत्त इकाई की तरह पढ़ा जाता था। कविता का अर्थ उसी रचना के भीतर ढूंढ़ा जाता था। तुलसीदास ने कविता को एक परम्परा, एक पद्धति और एक संहिता की तरह देखा। उन्होंने रचना को एक गतिशील प्रक्रिया बनाया जिसमें वह पूर्व की रचनाओं से एक सृजनात्मक सम्बन्ध रखती थी। तुलसी ने बालकांड में साफ कहा है **'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई/तेहिं मग चलत सुगम मोहि भाई'** (वाल्मीकि, व्यास आदि मुनियों ने पहले हरि की कीर्ति गाई है। भाई! उसी मार्ग चलना मेरे लिए सुगम है।') अतः इस महाकविता का अर्थ उनके लिए उन सारे पूर्व पाठों और संदर्भों के बीच से निःसृत होता था जो भारतीय साहित्य समाज की स्मृति का अंग होते थे। इसे न समझ पाने के कारण, मुझे याद है, कई वर्षों पहले सरिता नामक पत्रिका में तुलसीदास की मौलिकता पर प्रश्न उठाए गए और उनकी साहित्यिक चोरी के दृष्टान्त गिनाए गए थे। तुलसी की कविता ने बहुत कुछ आयात किया है लेकिन उससे जिस समग्र का विनिर्माण हुआ, एक-एक शब्द में जिस तरह से एक अर्थ-सिंधु समाया, उसने इस आयात को फालतू खर्चा बनने से बचा लिया। अर्थ के जिस रिलेशनल स्वभाव पर तुलसी काम कर रहे थे, उसकी गरिमा और वैराट्य को जाने बिना आलोचक उन पर भड़क उठे थे। तुलसी का उद्देश्य यदि ऐसी छोटी-मोटी चोरी और उठाईगिरी का होता तो रामचरितमानस जैसा वृहद् ग्रंथ इतनी प्रविधिगत स्थिरता (methodological stability) के साथ लिखना उनके लिए मुमकिन ही नहीं होता।

तुलसी की रचना का अर्थ इसलिए कभी भी स्थिरीकृत नहीं है, बल्कि हर युग में उस पाठक को नए तजुर्बों की रौशनी देता है, जो पाठक स्वयं नये टेक्स्चुअल रिश्ते विकसित कर रहा है। इस अर्थ में 'अर्थ' के नये उत्पादन और उत्खनन में तुलसी का लेखक स्वयं भी युग-युगों तक चकित होता रहेगा। तुलसी की कविता पाठक को अलग तरह से लिबरेट करती है। तुलसी के लेखक की मृत्यु हो चुकी होगी, लेकिन तुलसी अपने पाठक को अमर कर गए हैं। यदि पाठक मानस से रस ग्रहण कर रहा है तो वह अर्थ के अमृतगर्भ को भी ग्रहण कर रहा है। उनके अर्थ की बहुवचनीयता परिप्रेक्ष्य की भिन्नताओं के साथ खिलती चलती है। तुलसी का आदर्श 'निर्भरां भक्ति' था, लेकिन तुलसी का 'मानस' भी कविता के पाठ की तमाम तरह की निर्भरताओं और नातेदारियों को निभाता है। तुलसी का मानस इस अर्थ में 'योग' है क्योंकि वह हमें एक वृहद् साहित्यिक सांस्कृतिक संस्कार-कोष से जोड़ता है। तुलसी स्वयं भी अपनी रचना की रिश्तेदारियों के बारे में सचेत थे। तुलसी से पहले हिन्दी में किसी ने अपने लेखन की इन्टरकनेक्टेडनेस के बारे में ऐसे नहीं बताया था- **'नाना पुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि। स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति।।'**

कि अनेक पुराण, वेद और (तंत्र) शास्त्र से सम्मत तथा जो रामायण में वर्णित है और कुछ अन्यत्र से भी उपलब्ध श्री रघुनाथजी की कथा को तुलसीदास अपने अन्तःकरण के सुख के लिए अत्यन्त मनोहर भाषा रचना में विस्तृत करता है। उत्तर-संरचना-वादियों की तरह तुलसी का जोर भी मौलिकता और अद्वितीयता के स्थापन का नहीं है बल्कि 'ऑलरेडी एक्सिस्टेंट' साहित्य के इधर-उधर के टुकड़ों को असेम्बल कर अर्थ का एक अद्‌भुत विस्तार करने का है। मसलन यदि हनुमन्नाटक में 'रामचंद्र बिरहानलजातं' और सुंदरकांड में 'रघुपति बिरह अनलसंजातं' कहा गया तो क्या वह नकल है! तुलसीदास ने सीताजी के मुख से अपने पति का नाम न लेने वाली मर्यादा का रक्षण किया, यह बात उसी को समझ में आयेगी जिसको अंतर्पाठ्यत्व का अनुभव है। या तुलसी के हनुमान जब कहते हैं कि **'रामदूत मैं मातु जानकी/सत्य सपथ करुनानिधान की'** तो उनका सीता को माता कहना चम्पू रामायण में ऐसे ही प्रसंग में हनुमान द्वारा सीता को कल्याणी कहने से कहीं ज्यादा मार्मिक लगता है। **'कल्याणि त्वद्वियोगेन तीव्रवेगेन ताभ्यतः/राघवेंद्रस्य दूतं मामन्यथा मास्ममन्यथा'** में हनुमान स्वयं को राघवदूत कहते हैं लेकिन यहां हनुमान स्वयं को रामदूत कहते हैं। राघव शब्द में वो निजता नहीं है जो राम शब्द में है। राघव शब्द एक वंश का अनुक्रम है, लेकिन राम तो सीता में रमे हुए हैं, उनके बहुत अंतरंग। तुलसी जब 'नानापुराणनिगमागम' के बीच अपना कवि-शब्द चुनते हैं तो वह उनका शब्द-चयन नहीं है, वह उनका मूल्य-चयन है जो एक तपःपूत हृदय की संवेदना से सहज निष्पन्न हुआ। या **'तामस तनु कछु साधन नाहीं/प्रीति न पद सरोज मन माहीं/अब मोहि भा भरोस हनुमंता/बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता'** की तुलना हनुमद्रामायण के **'तामसीयं तनुर्मेहिसाधनं नापि विद्यते/अद्याशा में सभुत्पन्ना भवतोदर्शनाद्ध्रुवम्'** से कर देखें। देखें कि क्यों तुलसी को लगता है कि **'तामस तनु कछु साधन नाहीं'** से ही बात नहीं बनेगी बल्कि **'प्रीति न पद सरोज मन माहीं'** भी जोड़ना होगा। विभीषण की आत्म प्रताड़ना सिर्फ तन और साधन तक ही सीमित रह जाती, मन तक न जाती तो वह तुलसी को अधूरी ही लगती। बाद में विभीषण की शरणागति के समय भी **'उर कछु प्रथम बासना रही/प्रभु-पद-प्रीति-सरित सो बही'** में यही **'प्रीति न पद सरोज'** वाली बात की न केवल पुष्टि है बल्कि फलागम भी है। हनुमद्रामायण की 'आशा' और तुलसी के 'भरोस' में जमीन आसमान का फर्क तो है ही, **'भवतोदर्शनाद्ध्रुवम्'** और **'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं सन्ता'** में भी बहुत फर्क है। तुलसी सिर्फ एक व्यक्ति की नहीं, एक सिद्धांत की बात करते हैं। ईशकृपा के बिना राम या हनुमान ही नहीं, संत भी नहीं मिला करते। तुलसी ने इस प्रसंग को जो व्यापकत्व दिया है, वह हनुमत् रामायण में मुमकिन नहीं हो पाया। रामचरितमानस कई टेक्स्ट की पढ़ाई मांगती है तो इसी कारण, लेकिन यदि कोई आम पाठक इतना ज्यादा पढ़ा-लिखा नहीं भी है तो भी तुलसी के भाव-प्रवाह की

सहजता ही उसके लिए जैसे एक सरोवर-स्नान है। अंग्रेजी शब्द टेक्स्ट किसी ताने-बाने की ओर, किसी बुने हुए फैब्रिक की ओर भी इशारा करता है और तुलसी ने बहुत से उपलब्ध धागों के साथ मानस की बुनाई की है। इस कारण कहीं एलीगरी है, कहीं प्रतीक, कहीं संस्कृति-संकेत; लेकिन रचना के प्रवाह में यह भी हुआ कि उपलब्ध प्रसंग और प्रतीक रूपान्तरित होते रहे हैं और अर्थ का एक नया 'विज़न' मिलता चला गया है। जो लोग इक्का-दुक्का उद्धरणों की समानता बताकर उसे अनुकरण कहते हैं, उन्हें तनिक तवज्जो उस ब्लेंडिंग पर भी देनी चाहिए जो तुलसी ने अपने मानस में की है। तुलसी का 'मानस' बहुत पढ़ा गया है। वह कथावाचकों के काम की चीज रहा है। वह बार-बार पारायण का केंद्र रहा है। लेकिन इसी कारण उस पर पाठक के द्वारा 'पैसिव रीडिंग' (निष्क्रिय पाठन) का खतरा भी बहुत रहा। तुलसी को पढ़ने वाले हर सहृदय की अपनी अभिरुचि है, अपना दृष्टिकोण, अपना आस्वाद, अपनी प्रत्याशाएं और अपने बहुपाठी होने या न होने का अपना स्तर। तुलसी की रचना का अर्थ भी उसी अनुपात से भिन्न-भिन्न रूपों में निष्पन्न होता है। तुलसी जब **'रामायण सत कोटि अपारा'** कह रहे थे तो वे किसी भौतिक स्थिति का वर्णन नहीं कर रहे थे कि जिसमें रामकथा के कई संस्करणों का उल्लेख है, बल्कि वह लगभग उन्हीं अर्थों में था जिनमें 'अनन्ता वै वेदाः कहा गया है (तै. ब्रा. 3/10/11/47) कि वेद अनन्त हैं।'

अपने 'मानस' में अर्थ की इस प्लूरिटी से तुलसी भली प्रकार वाकिफ नज़र आते हैं। वे कविता के शब्द की कांबिनेटरी (योजक) बहुवचनीयता को मानस के पहले ही शब्द 'अर्थसंघानां' में स्पष्ट करते हैं। इस शब्द को पढ़कर मुझे राबर्ट बर्डन की यह पंक्ति याद आती है: 'Condensation is the process of poetic metaphor, which demands deciphering yet resists transparent reading.' वे अर्थ की नॉन-यूनिटरी प्रकृति (गैर-एकल स्वभाव) की बात नहीं करते बल्कि सहयोजन-संदर्भों की भी बात कर रहे हैं। अर्थ के फेडरेशन की। अभिप्रायों का संघ। उनकी कविता का शब्द एक सिंक्रोनिक प्रणाली का शब्द है और यह प्रणाली कवि तुलसी में आकर खत्म नहीं हो जाती बल्कि उसे पार कर भी बहती रहती है। यह बोध कहीं तुलसी को भी है, इसलिये 'एकनॉलिजमेंट' के अपने क्रम में वे **'भए जे अहहिं जे होइहहिं आगे'** - जो अभी तक हो चुके और जो आगे होंगे - के प्रति नमन करते हैं। कवि का शब्द विश्रृंखल बहुवचनीयता नहीं है, एक प्रणाली की बहुवचनीयता है। वर्ण वहां एक उपस्थिति ही नहीं है, एक विभव-एक संभाव्यता भी है। एक संभाव्यता शायद गलत शब्द है क्योंकि वहां शब्द की बहुल संभाव्यताएं (मल्टीपल पोटेन्शियलिटीज) सक्रिय हैं, अर्थ-संभार हेतु। वहाँ शब्द की एक सांस्कृतिक वांशिकता भी है जो इस संघ को निर्मित कर रही है और जो अर्थ के संघनन में मदद करती है। इसलिए तुलसी यदि शंकर, गुरु, वाल्मीकि, हनुमान, राम आदि की वन्दना मानस की शुरुआत में करते हैं तो वे अपने कविताक्षर के सांस्कृतिक पूर्वजों की ओर हमारा ध्यान खींचते हैं और वे कह यह रहे हैं कि कविता का शब्द भौतिक नहीं, सांस्कृतिक निर्मिति (कन्स्ट्रक्ट) है। तुलसी के यह कहने में कि **'प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति राम जस संग'** और रौलां बार्थेस के 'स्पिरिचुअल ग्लोरी आफ द टेक्स्ट' में बहुत फर्क नहीं है। वह कहता है कि टेक्स्ट की सुरक्षा 'चिन्ह की सभ्यता' (civilization of the sign) में है। क्या तुलसी मानस के आरंभ में विभिन्न प्रणतियों के माध्यम से अपने काव्य के शब्द चिन्हों की सभ्यता से हमें परिचित करा रहे थे? जूलिया क्रिस्तेवा ने भी पाठ की सांस्कृतिकता की बात इसीलिए की थी : 'A text is a permutation of texts. All the different discourses, ways of speaking and saying, institutionally sanctioned structures and systems which makes up what we call culture. In this sense the text is not an individual isolated object, but a compilation of cultural textuality.' वर्ण सिर्फ एक ध्वनि नहीं है, प्रतिध्वनि है और उनके द्वारा गिनाए गए और प्रणाम किये गये नाम उस गूंज की घाटियां हैं, अलग-अलग और सम्बद्ध। फेडरेटेड। संवेद्यताओं के मुहाने। किसी तरह के मजहबी (थियोलॉजिकल) मीनिंग

के लिए नहीं, लेकिन संस्कारों की चिरन्तनताओं का इस्तेमाल करने के लिये। अन्तर्पाठ्यत्व में ये सांस्कृतिक छवियाँ महती भूमिका अदा करती हैं क्योंकि उस पर इतिहास के पूरे प्रवाह में लगातार एक समाज ने काम किया होता है। तुलसी साहित्य को धर्म का सरोगेट तो नहीं बना रहे थे लेकिन धर्म में उपलब्ध साहित्यिक संभावनाओं का और साहित्य में उपलब्ध समाजनिर्मात्री क्षमताओं का उपयोग उन्होंने जमकर किया। उनके लिये धर्म और कविता में सनातनी तनातनी मानना कभी संभव नहीं था। अपनी सांस्कृतिक विरासत की धज्जियां बिखरने (फ्रेगमेंटेशन) से रोकने और बहुत सी संरचनाओं को सहेजने के लिये उन्होंने अपने मानस की बाजी लगाना जरूरी समझा। इसलिये उन्होंने जब यह सूचना दी कि उनकी रघुनाथ गाथा नानापुराण निगमागमसम्मत है, तो उन्होंने खुद ही अपने ग्रंथ को एक ट्रांसपोज़ीशनल घटना बना दिया, जहाँ शब्दार्थ के बहुत से ऐतिहासिक, पौराणिक, सांस्कृतिक प्राकट्य भी थे और जिसे आगे आने वाले समय में पाठक के ज्ञानानुभवों के लिये हमेशा खुला रहना था। तुलसी ने संकेत किया था : **'कलपभेद हरि चरित सुहाए/भांति अनेक मुनीसन्ह गाए।'** टैरी ईगल्टन ने 'वर्ड्स ऑन द पेज' की बात की थी, लेकिन तुलसी के शब्द पृष्ठ पर नहीं, बहुत से संदर्भों और संभावनाओं से भरी हुई दुनिया पर खुलते हैं। वे एक चिन्ह-प्रणाली से दूसरी चिन्ह-प्रणाली (Sign System) में अंतरित होते हैं और इस यात्रा में कुछ और नई ऊर्जा से भरते जाते हैं। नये संदर्भों में वे आसानी से खुद को रि-पोज़ीशन कर लेते हैं। इसी बात को तुलसी ने यों कहा है : **तैसेहिं सुकबि कबित बुध कहहीं/उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं-** कि इसी तरह बुद्धिमान लोग कहते हैं कि सुकवि की कविता भी उत्पन्न और कहीं होती है और शोभा अन्यत्र कहीं पाती है। क्या यह अन्तर वही है जो आधुनिक समय में जूलिया क्रिस्तेवा ने 'स्प्लिट टेक्स्ट' (विभाजित पाठ) के रूप में पहचाना है? क्रिस्तेवा यही तो लिखती हैं कि 'The minimal unit of poetic language is at least double, ... in terms of one and other.' तुलसी की कविता के इस 'अनत' पर और क्रिस्तेवा द्वारा काव्य-भाषा को "embodiment of otherness" बताने पर साथ-साथ गौर कीजिए। कविता की भाषा कवि की नहीं होती। हर दूसरा व्यक्ति, दूसरा वक्त, दूसरा स्थान उसे अपनी तरह से अन्वेषित करता है। तुलसी कविता की भाषा के इस 'अपर्सनल नेचर' की ओर संकेत स्वयं को एकदम छोटा बना लेने (Self-abasement) में देते हैं- **'कबित बिबेक एक नहिं मोरें/सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें'** और उसके बारे में उनकी आशा दूसरों से है- **'सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह के बिमल बिबेक'।** अच्छी बुद्धि वाले पुरुष जिनको निर्मल ज्ञान है, इसको सुनेंगे। तुलसी अपनी रचना से स्वयं गायब हुआ चाहते हैं। **'कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू'।** वे बार-बार ये कन्फेशनल रुख क्यों अख्तियार कर रहे हैं? क्या उनकी यह विनम्रता उनके स्वभाव की ओर संकेत है? या यह उनके काव्यशास्त्र का एक महत्वपूर्ण परिपाक है कि कविता में कवि की शहादत दर्ज होती है, कि कवि कविता में 'खो' जाता है। वहां उसका 'होना' नहीं है, वहां होना तो एक शब्द-संघ को है, अर्थ-संघ को, एक वर्बल एंटिटी को। कवि जब काव्यभाषा में प्रवेश करता है तो उस दुनिया में कुछ ऐसा जादुई रसायन है कि उसकी पर्सनल सब्जेक्टिविटी गायब हो जाती है। 'सकल कला सब विद्या हीनू।' वह हीन हो जाता है, रहित हो जाता है, रिक्त हो जाता है। ऐसा इसलिए नहीं होता कि कर्तृवाच्य की जगह कर्मवाच्य को अपनाया गया है। ऐसा तब भी होता है जब कवि का दावा है कि 'मैंने मैं शैली अपनाई'। कविता एक तरह से 'अन्य-चेतना' है। तुलसी के मानस का बहिरंग बहुत बड़ा है। उन्होंने अन्य के लिए गवाक्ष नहीं खोला, आकाश खोला है। इस अनत (अन्यत्र) से वे अनत (अनंत/आकाश) हासिल करते हैं। इसलिए 'उपजहिं अनत अनत छवि लहहिं' में इस शब्द का 'डबल' इस्तेमाल करते हैं। वे कहना चाह रहे हैं कि कविता का शब्द एक बिंदु नहीं है, ज्यामिति का स्थित और जड़ित बिंदु बल्कि एक इंटरसेक्शन है। तुलसी इसलिए पूर्व के कवियों के संदर्भों और पाठों से अपने रिश्ते के बारे में 'पुल' की याद करते हैं, सेतु की- **'अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहिं/चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु**

श्रम पारहि जाहिं' यानी जो अत्यन्त बड़ी श्रेष्ठ नदियां हैं, यदि राजा उन पर पुल बना देता है तो अत्यन्त छोटी चीटियां भी उन पर चढ़कर बिना परिश्रम के पार चली जाती हैं। (इसी प्रकार मुनियों के वर्णन के सहारे मैं भी श्रीराम चरित्र का वर्णन सहज ही कर सकूंगा।)' यह सेतु वही इंटरसेक्शन है, वही 'योग' है, वही सहयोजन है जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। नदी का उपमान अर्थ के उस डायनेमिज़्म का उपमान है। तुलसी एक साहित्यिक कार्पस का उल्लेख करते हैं, लेकिन इस निधि को वे नदी कहते हैं। काव्यार्थ सदा प्रवहमान और गतिशील रहता है। तुलसी इसी नदी का जल पीते हैं। उनके मानस-चित्रकूट के घाट पर संतों की भीड़ है।

इसी बिन्दु पर यह भी कहना होगा कि ऐसा टेक्स्चुअल विश्लेषण करने वाले कोई आलोचक नहीं होते। चूंकि उन्होंने काव्यार्थ की निर्मिति में हिस्सा लिया है इसलिए वे भी एक तरह के कवि हैं, आलोचक नहीं। मानस अपने लिए उपभोक्ता की नहीं, सहृदय की मांग करता है। 'कवि कोविद' की मांग। तुलसीदास की चिन्ता अपने काव्य के उद्स्रोत (origin) की नहीं है, अपने काव्य की मंजिल (डेस्टीनेशन) की है। यह मंजिल पाठक ही हैं। वे लेखक और पाठक के बीच के रिश्ते को अधिक्रमिक (hierarchized) नहीं बनाते हैं। वे अपने को यहां फिर अप्रासंगिक करते हैं : **'निज कबित्त केहि लाग न नीका/सरस होउ अथवा अति फीका।'** सच्चे पाठक बहुत नहीं होते, यह यथार्थवादी अहसास उन्हें है : **'जे पर भनिति सुनत हरषाहीं/ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं।'** वे पाठक पाठक में फर्क करते हैं और इस फर्क के आधार पर रचना के रिसेप्शन की भिन्न-भिन्न नियतियों पर उन्हें भरोसा है। इससे यह अर्थ भी सहज ही निकलता है कि उनकी रचना अपने आप में 'विदाउट क्लोज़र' है- रचना के फाटक उन्होंने बंद नहीं किए हैं। यह पाठक के लिए ही खुला है कि वह क्या तय करता है। यानी संरचनावादियों की तरह तुलसी भी एक 'पाठकीय' (lisible) रचना लिख रहे हैं, एक लेखकीय (Scriptible) रचना नहीं। उनका पाठक कोई निष्क्रिय रिसीवर नहीं है। उनका पाठक कुछ ऐसा नहीं पढ़ रहा जो लेखक के रूप में उसके पहले और उसके पीछे रह गया हो बल्कि वह कुछ ऐसा पढ़ रहा है जो तुलसी **'साधु समाज भनिति सनमानू'** के रूप में रेखांकित कर रहे हैं। वे स्वयं को तो निःशंक रूप से **'कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ'** कहकर खत्म कर देते हैं, लेकिन उनकी प्रतीक्षा सुधी पाठक की ही है- **'जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं/सो श्रम बादि बाल कबि करहीं'** बुद्धिमान लोग जिस कविता का आदर नहीं करते, मूर्ख कवि ही उसकी रचना का व्यर्थ परिश्रम करते हैं। तुलसी ने यहां प्रबंध कविता के लिए सुधी पाठक की बात की है। प्रबंध कविता अंतर्पाठ्यत्व की गरिमा का विशेष रूप से वहन करती है- उसके मिथक, उसके रूपक, उसके अर्थायाम सब एक ऐसे पाठक की प्रतीक्षा में रहते हैं जो तुलसी के शब्दों में **'कबि कोबिद रघुबर चरित मानस मंजु मराल'** हैं। रामचरित रूपी मानसरोवर के सुंदर हंस। लेकिन हंस इसलिए कि उनमें नीर-क्षीर विवेक है, जो टेक्स्चुअल विश्लेषण स्लोमोशन में, स्टेप बाई स्टेप करता हो ताकि अर्थ के स्फोट को कैप्चर किया जा सके। क्या बार्थेस ने ऐसे ही पाठक के बारे में लिखा था : 'A text is made of multiple writings, drawn from many cultures and entering into mutual relations of dialogue, parody, contestation, but there is one place where this multiplicity is focused, and that place is the reader, not as was hitherto said, the author. The reader is the space on which all the quotations that make up a writing are inscribed without any of them being lost.... he is simply that someone who holds together in a single field all the traces by which the written text is constituted.' यही तुलसी का 'कबित रक्षित' है। इसी के लिए तुलसी ने बालकांड में लिखा है : **'जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बर ताग/ पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग'** कि कविता रूपी मुक्तामणियों को युक्ति से बेधकर फिर रामचरित्ररूपी सुंदर तागे में पिरोकर सज्जन लोग अपने निर्मल हृदय में धारण करते हैं जिससे अत्यन्त अनुराग रूपी शोभा होती है।

तुलसी की इस पोएटिक्स पर कम ही ध्यान गया है। उनका विश्लेषण प्रचलित काव्यशास्त्रीय उपादानों से किया जाता रहा। 'अलंकृति नाना' से, 'छंद प्रबंध अनेक विधाना' से, जबकि तुलसी हलफनामा देने को तैयार हैं कि इस तरह की अकल उनमें है ही नहीं। उनकी ऐसी आत्मस्वीकृति को उनकी विनम्रता समझकर नज़रअंदाज कर दिया गया लेकिन वे अपने विशिष्ट तरीके से एक विशिष्ट बात कह रहे थे। उन्होंने क्या कहा, एक बार फिर सुनिए : **'आखर अरथ अलंकृति नाना/छंद प्रबंध अनेक विधाना/भाव भेद रस भेद अपारा/कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा/कबित बिबेक एक नहिं मोरें/सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें।'**

वे अपनी कविता की लीगेलिटी पर बात कर रहे हैं। वे एफिडेविट देने को प्रस्तुत हैं। लेकिन जब वे इतने आग्रह से यह कह रहे हैं तो फिर उन पर वे रूढ़ हो चुके काव्यशास्त्रीय उपकरण लादने की जरूरत ही क्या है? वे तो 'सुमति' और 'बिमल बिबेक' पाठकों के लिए एक स्ट्रांग कल्चरल मोटिफ़ वाली कविता लिख रहे हैं- **'एहि महँ रघुपति नाम उदारा/अति पावन पुरान श्रुति सारा।'** वे उपकरण तो एक प्रथा हैं, राम एक कथा हैं- श्रुति का सार। यानी तुलसी प्रज्ञावान और दार्शनिक रूप से 'इन्फार्म्ड' लोगों के लिए प्रतिबद्ध हैं, काव्यशास्त्रीय रूढ़ाचारों के लिए नहीं। वे कविता की भौतिक धातुएं होंगी, लेकिन सार तो वह है जो एक ईस्थेटिक चरित्र है।

इसका अर्थ यह नहीं कि तुलसी ने कोई ऐसी कविता रची जो आम लोगों के लिए अनुपलब्ध हैं बल्कि सच्चाई तो यह है कि आम जनता में उनकी यह रचना जितनी रसी-बसी, उतनी दुनिया की कोई और रचना नहीं। अर्थ को वे सिर्फ एक संज्ञानात्मक अनुशासन (काग्निटिव डिसिप्लिन) नहीं बनाना चाह रहे थे बल्कि वे एक हार्दिकता को रचना के ग्रहण के लिए अपरिहार्य मानते थे। अन्ततः उनकी कविता की मुक्तामणि तैयार कैसे होती है? **'हृदय सिंधु मति सीप समाना/स्वाति सारदा कहहिं सुजाना/जौं बरसइ बर बारि बिचारू/होहिं कबित मुकुतामनि चारू'** कि ज्ञानवान लोग हृदय को समुद्र, बुद्धि को सीप और सरस्वती को स्वाति नक्षत्र के समान कहते हैं। इसमें यदि श्रेष्ठ विचाररूपी जल बरसता है तो मुक्तामणि के समान सुंदर कविता होती है। इसलिए कॉग्निटिव कांपीटेंस- संज्ञानात्मक क्षमता- सिर्फ एक सीप है, हृदय के समुद्र की विशालता का कोई प्रतिस्थापन उससे नहीं होता, लेकिन जिस किस्म की, जिस बहुत मूल्यवान सौंदर्य सृष्टि की अभीप्सा तुलसी को है वहां समुद्र में सीप का होना ही काफी नहीं है बल्कि सीप में समुद्र का धड़कना भी जरूरी है। अपनी मुक्तामणि की मैन्युफैक्चरिंग में तुलसी ने ये चार ईस्थेटिक इन्स्ट्रुमेंटालिटीज़, ये सौंदर्यपरक यंत्र विधान बतलाए हैंः- हृदय, मति, गिरा, विचार। तब जाकर उनकी रचना के साथ संपूर्ण न्याय हो सकता है। ये यंत्र जब तक एकीकृत नहीं होते, जब तक सब मिलकर जीवन्त और सस्पन्द नहीं होते, तब तक मानस-मर्मज्ञता नहीं आती।

तुलसी की इस विशेषता अंतर्पाठ्यत्व की एक और विशेषता है। वे अपने अर्थ-संघनन में सिर्फ संस्कृत टेक्स्ट की ट्रेडीशन का सहारा ही नहीं लेते बल्कि प्राकृत कवियों की कथा परंपरा का भी सहारा लेते हैं। वे कहते हैं कि **'जे प्राकृत कबि परम सयाने/भाषाँ जिन्ह हरि चरित बखाने'।** इसलिये संस्कृत ही नहीं, अन्य 'भाषाओं' के रामचरित्रों की परंपरा का साभार स्वीकार उन्होंने किया है। बात संभवतः भाषा की ही नहीं है; अंतर्पाठ्यत्व में काल या समय की, उसकी अलग-अलग स्टेज की अलग-अलग भूमिका है। इसलिये तुलसी न केवल त्रेता के वाल्मीकि या द्वापर के व्यास आदि श्रेष्ठ कवियों को बल्कि कलियुग के कवियों को भी एकनॉलिज करते हैं- **'कलि के कबिन्ह करउँ परनामा/जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा।'**

मानस के अध्याय सौपान क्यों, सर्ग क्यों नहीं

सोपान शब्द की व्युत्पत्ति का सूत्र है - उप अन घञ् सह विद्यमानः उपानः उपरिगतिः अनेन। तो सोपान ऊर्ध्वगति की ओर ही इंगित करता है। आरोहणार्थ नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् (कु. 139)। रामचरितमानस में सुन्दरकांड पाँचवाँ सोपान है। रामचरितमानस में कांड/अध्याय का विभाजन हमारा ध्यान सबसे पहले खींचता है। यहाँ कांड वस्तुतः सोपान है। सामान्यतः महाकाव्यों का विभाजन सर्गों में होता आया है, लेकिन तुलसी सर्ग नहीं सोपान कहते हैं। सर्ग का अर्थ है सृष्टि, सोपान है सीढ़ी। सृष्टि लक्ष्य से मुक्त रह सकती है, सोपान नहीं क्योंकि सिरजनहार सृष्टि में अपनी आभा को प्रतिबिम्बित करता है और प्रयोजन तथा उद्देश्य की सीमाओं से मुक्त रहता है। वह अपना उद्देश्य आप ही है। स्वतः सम्पूर्ण (absolute)। उस विश्वंकर के द्वारा अभिसृष्ट इस जीवन को वजह और सबब की तानाशाही में नहीं बाँधा जा सकता। कवि रामधारीसिंह दिनकर यही कहते थे 'जीवन का उद्देश्य स्वयं जीवन है।' तुलसी को भी दंभ नहीं कि अपनी कविता से वे कोई समानान्तर सृष्टि कर रहे हैं। उनकी घोषणा है 'एहि मंह रुचिर सप्त सोपाना/रघुपति भगति केर पंथाना। लेकिन रामचरितमानस मनुष्य के लिए ऊर्ध्वारोहण की एक यात्रा है। ऊर्ध्वारोहण के इसी अर्थ में वह लौकिक और पौरुषेय है। ईश्वरीय नहीं। तुलसी के लिए उनके नायक के जीवन का एक अभीष्ट है, एक अभिप्राय है। वह इस पृथ्वी पर निरुद्देश्य या निष्प्रयोजन नहीं आया है। जब वे सर्ग न कहकर सोपान कहते हैं, उसी समय वे अपने सरोकार की घोषणा करते हैं। जीवन एक ध्येय की ओर प्रयाण है। किसी ने सही कहा कि : हमारे शौक की वो इंतहा थी। क़दम रखा तो मंज़िल रास्ता थी।

अपने महाकाव्य के अध्यायों को सोपान कहकर तुलसी अपने उच्चाशय और ऊर्ध्वदृष्टि को स्पष्ट कर रहे हैं। यह उनकी बुलंदपरवाज़ी है। तुलसी वैराग्य के कवि नहीं हैं जहाँ सभी अभिप्रायों और मुरादों से मुक्ति मिल जाती है। वे अपनी तरह से महत्वाकांक्षी हैं। यह ज़रूर है कि उनका विधेय हमें किसी चूहा-दौड़ में शामिल करवाने का नहीं है। वे जानते हैं कि चूहा-दौड़ अंततः चूहों की दौड़ है और जब आदमी चूहा बनने की हवस में हो तो वह गणेशजी के मूषक या मिकी माउस या स्टुअर्ट लिटिल जैसा सुन्दर नहीं दिखता, बहुत वीभत्स दिखता है। उसे बहुत-सी प्रसाधन सामग्री भी सुन्दर नहीं बना पाती। ध्यान रखें कि तुलसी महदिच्छा रखते हैं और उसके क़तई विरोधी नहीं हैं। लेकिन यह वह महत्वाकांक्षा नहीं है जिसका मोती, जयशंकर प्रसाद के शब्दों में, निष्ठुरता की सीपी में रहता है और जिसके दाँव पर मनुष्यता सदैव हारी है। वह महत्वाकांक्षा तो मरीचिका है। जैसे-जैसे आप उसकी ओर भागते हैं, वैसे-वैसे वह पीछे हटती जाती है। वह बालू की भित्ति है, आँधी का दीपक, बालक का घरौंदा। वह ऊपर उठने के बाद भी भीतर एक पछतावा छोड़ देती है: कभी जो ख़्वाब था वह पा लिया है/मगर जो खो गई वह चीज़ क्या थी। लेकिन मानस एक आरोहणिका है, एक एलीवेटर। यह एक साधारण पायदान नहीं है, यह एक चल सोपानिका है। यह रैंप नहीं है कि जिसमें प्रदर्शन या दिखावे या इतराहट का विपणन होता है। यह 'लिफ़्ट करा दे' की इच्छा को पूरा करती है लेकिन 'बंगला, मोटरकार दिला दे' के लिए नहीं बल्कि इनसे भी ऊपर और बेहतर के लिए। तुलसी महदिच्छा के क़तई ख़िलाफ़ नहीं जाते। वे उसके कट्टर समर्थक हैं। लेकिन इच्छा के महत् को पहचानने का विवेक ज़रूर जागना चाहते हैं कि हम चीन्ह सकें महत्व किसका है। जिसे हम महत्वपूर्ण समझ रहे हैं, कहीं वह हमारा दृष्टिभ्रम तो नहीं। सोपान शब्द मात्र से वे ऊर्ध्वदृष्टि का सम्मान करते दिखते हैं। सर्ग की जगह सोपान व्यवस्था रखकर वे एक मनोरथ की स्थापना करते हैं कि जीवन भटकन नहीं है, यात्रा है, कि जो आकांक्षा भटकाए, वह महत्वाकांक्षा नहीं हो सकती। आम आदमी की महत्वाकांक्षा की परिणति फल है, तुलसी की महत्वाकांक्षा की परिणति फूल है। फल भोग है, फूल प्रार्थना है। तुलसी फलागम और प्रतिफल के रूप में जीवन की सिद्धि को नहीं पहचानेंगे, वे उसे कृतकार्यता और चरितार्थता के रूप में आँकेंगे। इस रूप में वे उच्चाशयी हैं।

पता नहीं क्यों तुलसी जैसे भक्त कवियों के बारे में, उनके निर्वेद के बारे में यह प्रवाद फैलाया गया कि वे पलायनवादी थे। यह व्यक्ति जो जीवन को ऊँचे चढ़ने के क्रम में देखता है, कैसे निराकांक्ष और निरभिलाषी हो सकता था? लेकिन ऊँचे जाने के चक्कर में कहीं हम रसातल को न पहुंच जाएँ, इसकी सावधानी उसे थी। मुकुट बिहारी सरोज की पंक्ति है: 'ख़ूब हैं ऊँचाइयाँ नीचाइयों की'। कई बार ऊँचा जाना एक प्रयत्न मात्र बल्कि प्रयत्न का संभ्रम मात्र होता है। बर्टन ने कहा है कि महत्वाकांक्षी मनुष्य बहुत परिश्रम और सतत चिन्ता के साथ ऊपर चढ़ता है लेकिन कभी शिखर पर नहीं पहुंचता (Ambitious men still climb and climb, with great labour and incessant anxiety, but never reach the top). तुलसी का 'मानस' हमें इसी के प्रति ख़बरदार करता है। एलिस इन वंडरलैंड की विचित्र स्थिति के प्रति जहां हम हमेशा कहीं जाते हुए प्रतीत होते हैं किन्तु पहुंचते हुए कभी नहीं। आम महत्वाकांक्षा हमारे टुच्चेपन और क्षुद्रता का सार्वजनिक पता देती है। आम महत्वाकांक्षा दरअसल यह बताती है कि हम कितने नीच हैं। तुलसी जिन सोपानों से हमें लेकर आ रहे हैं वे हमें हमारे सौन्दर्य और वरिमा का पता देते हैं। आजकल तो ऊँचाइयों पर पहुंचने के लिए लोग कितना भी नीचे गिरने को तैयार हैं। ऊँचा उठने के चक्कर में वे रेंगते हैं, चरणों में गिरते हैं। तुलसी जिस उत्तुंग शिखर पर हमें ले जाते हैं वहां शिखर उत्तुंग ही नहीं है - उसका यात्री भी उतना ही उदात्त वहां तक पहुंचते-पहुंचते हो जाता है।

सोपान की तरह ऊर्ध्वारोहण अग्नि का भी धर्म

है। सोपान शब्द चुनकर तुलसी मनुष्य को अग्निधर्मा बनाना चाहते हैं। मनुष्यता का विकास ही तब हुआ जब अग्नि का आविष्कार हुआ। मनुष्यता का विकास ही तब हुआ जब प्रमथ्यु देवताओं के यहां से अग्नि चुरा लाया। अग्नि लगातार ऊपर जाती है। ईंधन ही रॉकेट को ऊपर प्रक्षेपित करता है। अर्नाल्ड एच ग्लासगो ने कहा था कि सफलता कोई स्वतःस्फूर्त प्रज्ज्वलन (Spontaneous combustion) नहीं है। उसकी सलाह थी : You must set yourself on fire तो ऊर्ध्वारोहण तब तक नहीं होगा जब तक आपके दिल में आग नहीं लगी हो। मनुष्य रश्मिरथी है, वह आलोकधन्वा है। अग्नि उसी तेज़, उसी आलोक की परिचायिका है। सोपान कहकर तुलसी यह स्थापित करते हैं कि आदमी की परिभाषा ही उसका लक्ष्याधारित होना है। वह एकमात्र ऐसा प्राणी है जो लक्ष्याधारित है। उसके होने की सार्थकता ही इसमें है कि वह सिर्फ़ है नहीं, कुछ हो रहा है, कुछ होना चाहता है। जो हम हैं वह ईश्वर का हमें दिया गया उपहार है। जो हम हो जाते हैं वह हमारे द्वारा ईश्वर को दिया गया उपहार है।

आकाश किसलिए बना, यदि हम मुट्ठी ऊँची कर उसे अपनी पकड़ में नहीं लेना चाहें। आकाशगामी हनुमान समुद्र संतरण के माध्यम से यही संदेश देते हैं। मनुष्य प्रतिभा की कमी से असफल नहीं होता, सोद्देश्यता की कमी से असफल होता है। मनुष्य का जीवन सोद्देश्य और सार्थ है भी, मनुष्यता की विशेषता ही यह है। ग़रीब वह नहीं कि जिसके पास एक भी सिक्का नहीं है, ग़रीब वह है जिसके पास एक भी स्वप्न नहीं है। अ ड्रीम विद अ डेडलाइन। सुन्दरकांड के पूर्व हनुमानजी उसी स्थिति में पहुंच चुके हैं। सुग्रीव ने साफ़-साफ़ कहा है : 'अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाएँ; वानरों के लिए यह शब्दशः डेडलाइन है। हनुमान जो स्वयं को भूले से रहते थे, अब उनके पास एक स्वप्न है और एक टाइमफ्रेम भी। वे एक मिशन स्टेटमेंट के साथ हैं।

आदमी की जिन्दगी में दो ही दिन महत्वपूर्ण हैं : एक तो वह दिन जब वो पैदा हुआ और दूसरा वह दिन कि जब वह खोज ले कि वह क्यों पैदा हुआ। उस दिन उसका दूसरी बार जन्म हुआ। उस दिन वह द्विज बना। जब हमारे अस्तित्व का अर्थ हमें पता लग जाए तब हमारा जीवन जीवन हुआ। उत्तिष्ठत् (उठो) का वैदिक आह्वान ऊपर उठाने के लिए भी है। सोपान शब्द कहकर तुसली भी यही आह्वान करते हैं। सोपान शब्द में ही एक चुनौती है। यह कोई सगरमाथा है जिसे चढ़ना है। यह कोई मनुष्यत्व का माउंट एवरेस्ट है। यह कोई चरित्र की चोटी है। क्या पाठक इसकी उच्चता का अवलोकन करेंगे? उठाएँगे इसका बीड़ा? मेरे एक मित्र हैं उन्हें संस्कृत शब्दों का देसी तरह से अर्थ निकालने में मज़ा आता है। सोपान के पान को इसी बीड़े की तरह लेते हुए उन्होंने कहा कि यह तो सौ बीड़ों, सौ चुनौतियों वाला सोपान है या जो है सो बीड़ा ही है। अपने आप में एक चुनौती। तो मानस अपने पाठक को रचनात्मक हुंकार के साथ बुलाता है। सुन्दरकांड उसी चुनौती से साक्षात्कार है। यह हनुमानजी की ट्रिस्ट विद् डेस्टिनी है।

सुन्दरकांड में हनुमान उसी चुनौतीपूर्ण यात्रा पर रवाना होने वाले हैं। सोपान कहकर दरअसल तुलसी ने पूरे जीवन को ही यात्रा कहा है। लोग कह सकते हैं इसमें ऐसी कौनसी ख़ास बात हो गई? जब हम किसी की मृत्यु पर कहते हैं कि 'वह गुज़र गया' तब भी क्या जीवन के इसी यात्रा-भाव का स्वीकार नहीं है। पता नहीं कितनों को ज्ञात है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के समय नाज़ी लोग अपनी ह्यूगो बॉस यूनिफॉर्म में घूमते थे, इस नारे के साथ-साथ कि लाइफ़ इज़ अ जर्नी, किल द ज्यू। अब ह्यूगो बॉस जींस के विज्ञापन का भी सिद्धांत वाक्य यही है : लाइफ़ इज़ अ जर्नी, ट्रेवल लाइट। जापानी मिलिट्री ने निसान जीपों का द्वितीय विश्वयुद्ध में बहुत उपयोग किया था। आज निसान का टीवी विज्ञापन इस सिद्धांत वाक्य के साथ आता है : लाइफ़ इज़ अ जर्नी, एंजॉय द राइड। जीवन को यात्रा के रूप में विज्ञापित करने के लिए कितनी ट्रेवल एंड टूर कंपनियाँ तैयार मिलेंगी। पर तुलसी की मानस यात्रा किसी बाज़ार की यात्रा नहीं है और वह नस्लकुशी की, जेनोसाइड की यात्रा भी नहीं

है। वह यात्रा चरित्र और मानस की यात्रा है। सोने की लंका और लंकादहन का रूपक बिलियन के विरोध का नहीं, बुलियन के विरोध का रूपक है। कनक-कोट लंका की पहचान की शुरुआत ही नहीं, प्राथमिक शब्द भी है। सोने का क़िला राम के उस जनतंत्र के ठीक उल्टा है जो जंगलों में रहने वाले आदिम जनवर्गों और सर्वहाराओं की खुली संगोष्ठी है। क्या आप समझते हैं कि सोना आपकी रक्षा कर सकेगा? फेल्थम ने लिखा है कि सोना मूर्ख का पर्दा है (Gold is fool's curtain) यहां तो वह कर्टेन नहीं, कोट है। पर्दा नहीं, दुर्ग है। तब भी क्या यह हमारे पापाचार को छुपा पाएगा, बचा पाएगा?

रॉबर्ट फ्रॉस्ट की कविता 'द ओवन बर्ड' का केन्द्रीय रूपक भी जीवन की यात्रा का है, तब इस तुलसी में क्या ख़ास बात है?

फ़र्क़ संस्कृति से पैदा होता है। तुलसी के सोपान उत्तरोत्तर उन्नति और विकास के सोपान हैं। वहां उत्थान है, फॉल नहीं। आदम और ईव की तरह ईडन के बगीचे से पतन नहीं, गिरने का अपराध-बोध नहीं। भारतीय मनीषा के वे प्रतिनिधि कवि मात्र नहीं हैं, वे इस मनीषा के किसी अंश तक बनावनहार कवि भी हैं। इसलिए जीवन पतन है, उत्थान नहीं; यह बात तुलसी के यहाँ संभव ही नहीं। इस प्रथम शब्द सोपान से ही वे भारतीयता के उस सांस्कृतिक प्रति-ध्रुव को स्थापित करते हैं जो जीवन को विकासवादी मानता है। भारत में तो अवतार भी डार्विन के-से विकासवादी क्रम से हुए। पहले मत्स्य जो जल में आया, फिर कूर्म जो जल और थल दोनों में रह सकता था, फिर वराह जो कीचड़ को भेदने में समर्थ था, फिर नृसिंह जो पशु और मनुष्य के बीच की अवस्था है, फिर वामन। एकदम से पूर्ण मनुष्य नहीं हुआ। एकदम से कोई आयाम-अंतरण नहीं हुआ। जो हुआ वह धीरे-धीरे। जो हुआ वह क्रमशः। आगे की ओर देखता हुआ। कहा जा सकता है कि सतयुग से कलयुग की यात्रा पतन की ओर की यात्रा है। लेकिन युग भारत में समय के सोपान हैं और समय/काल की गति भारत में रैखिक (लीनियर) न होकर वर्तुलाकार (सर्कुलर) है। इसीलिए सतयुग जितना अतीत है उतना भविष्य भी। इसलिए इस संस्कृति में ग्लानि भाव नहीं है। अपराध-बोध तो अन्तःकरण पर उसी तरह का कार्य करता है जिस तरह से लोहे पर जंग असर दिखाती है। जीवन की धातु को ही ग्लानि-ग्रंथि से निकलता हुआ यह रस क्षरित कर देता है। सिम्स कहते हैं: It was the redeeming promise in the fault of Adam, that with the commission of his crime came the sense of his nakedness. आदम के मूल अपराध में यह संदेश छुपा हुआ है कि अपराध के होने के साथ ही अपने नंगे होने का अहसास भी उसे आया। तुलसी के मानस में जो सोपानिक व्यवस्था है वह क्रमशः और सतत प्रगति की ओर हमें अग्रसर करती है। मैं इस बहाने कोई झूठा अद्वितीय सांस्कृतिकतावाद प्रचारित नहीं करना चाहता। एडम/ईव की कथा से पहले एनैक्सीमेंडर, एनैक्सीमेनेस, एम्पेडोक्लीस, थेल्स, अरस्तू आदि विद्वानों ने विकासवादी व्याख्याएँ दी थीं। स्वर्ग अतीत नहीं है, मनुष्य के सत्कर्मों का भविष्य है। लामार्टिन के अनुसार आदमी एक ऐसा गिरा हुआ देवता है जिसे स्वर्ग की स्मृति है। लेकिन भारत में स्मृति की तरह स्वर्ग को नहीं देखा जाता, आकांक्षा की तरह देखा जाता है। स्वर्ग से निष्कासन का दंड नहीं भुगत रही है मनुष्यता। हमारे यहां धरती पर लोग फेंके नहीं गए, अवतरित हुए। बल्कि रामकथा तो एक दूसरा ही आयाम हमारे सामने लाती है। राम का पृथ्वी पर अवतरण तो साभिप्राय है ही, वानर, भालुओं, रीछ आदि का भी पृथ्वी पर आना सोद्देश्य है। वे देवताओं के अंश हैं। उन्हें, कथा कहती है कि, पृथ्वी पर राम की सहायता के लिए आने का आदेश दिया गया है। इसी पृथ्वी पर। प्लेनेट ऑफ़ द एप्स की तरह उनका कोई स्वतंत्र ग्रह नहीं है। 'बानर तनु धरि धरि महि हरि पद सेवहु जाइ।' पशुपति के देश में बीस्ट की अवधारणा संभव ही नहीं है। यदि सुन्दरकांड जैसी कथा पश्चिम में होती तो सीता और हनुमान को लेकर उनकी कथा 'ब्यूटी एंड द बीस्ट' से आगे कुछ

सोच ही नहीं पाती। शुक्र है कि यह भारत है। हमारे यहां पशु और मनुष्य की संयुक्ति की पूजा है। नृसिंह से लेकर हनुमान तक। हमारे हनुमान ज्ञानिनामग्रगण्यम् हैं। वहां पश्चिम में बीस्ट की स्थिति डेविल से कुछ ही कम है। हमारे यहां सिंगापुर जैसी स्थिति कभी न होगी कि शहर से सारे पशु मार डाले जाएँ, प्रतिबंधित या निर्वासित कर दिए जाएँ। हमारे यहां तो पशु और मनुष्य का सहअस्तित्व चलता है, हालाँकि उसे सड़कछाप बनाने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन महत्वपूर्ण बात जो इस रामकथा से रेखांकित होती है वह है पशु में भी दिव्यत्व के दर्शन। विदेशी कहते हैं कि हम भारतीय मंकी-गॉड और एलीफेंट गॉड को पूजते हैं और मनोज कुमार की फ़िल्म पूरब और पश्चिम में नायिका सायरा बानो दीवारों पर उनके चित्र देखकर शॉक्ड भी महसूस करती है। लेकिन भारत में यह इसलिए नहीं होता कि हम सभ्यता की आदिम अवस्था में हैं या यह गुहामानव की श्रद्धाओं का कैरी-ओवर है। यह इसलिए होता है कि हमारी नज़र में जीवन की दिव्यता पशुओं में भी उतनी ही प्रतिबिम्बित होती है जितनी मनुष्यों में। उनकी आत्मनिर्भरता और अन्योन्याश्रय पृथ्वी पर जीवन-चक्र की सम्पूर्ति है। मात्र फूड चेन की तरह नहीं। जीवो जीवस्य भोजनम् की तरह नहीं। संज्ञानात्मक और प्रज्ञात्मक तरीक़े से। बोधिसत्व पिछले कई जन्मों में जानवरों की योनि में हुए, तब भी उनमें बोधि है और सत् भी। यहाँ पशु सिर्फ़ चमड़ा या दाँत की तरह कमोडिटी में रूपांतरित नहीं किया जाता। पशु होना वहशी होना नहीं है। पशु और मनुष्य का संयोग उस तरह का नहीं है कि आदमी कितना ही सुसंस्कृत क्यों न हो जाए उसके भीतर एक वहशी बचा रहता है। (जैसा कि कॉलरिज ने कहा है कि जैसे आदमी के भीतर बहुत पशु और कुछ शैतान है वैसे उसके भीतर कुछ देवदूत और कुछ ईश्वर भी है (As there is much beast and some devil in man, so there is some angel and some god in him) बल्कि यह है कि उनमें प्रकृति और संस्कृति का मेल है, प्रवृत्ति (इन्सटिंक्ट) और संस्कार का। पशु ईश्वर के बनाए नियमों-निर्देशों का अवचेतन और निःसंकोच पालन करते हैं। इन्सटिंक्ट तो दिव्य है ही। वह चींटी, मधुमक्खी और पक्षी तक में मौजूद है। मनुष्य की मुक्ति तब तक संभव नहीं जब तक वह अपने विश्व के इस प्रकृत देवता का अनादर करता है। कॉलरिज पशु और मनुष्य में फ़र्क़ आत्मा (Soul) के आधार पर करता है। एक में नहीं है, एक में है। लेकिन भारतीय प्रतिभा उतनी पक्षपाती नहीं है। वह ईश्वर को मनुष्य की ही इमेज में नहीं देखती। वह इतनी ज़्यादा छवियों में उसे देखती है कि वह सर्वरूप ही है। निराकार और साकार के पारम्परिक भेदों से ऊपर उठकर यह प्रतिभा निराकार और सर्वाकार का आयामी द्वैत देती है। जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जान। यह पोलीथीज़्म नहीं है क्योंकि पोली का अर्थ बहुत है, सर्व नहीं। सर्वभूतेषु और सर्वेषु का विचार बहुमत के प्रजातंत्र से हमें सर्वे भद्राणि पश्यन्तु के आदर्श तक ले जाता है।

यह तो एलीगरी हुई, पर हनुमान और गणेश सिर्फ़ प्रकृति के रूपक नहीं हैं। वे संस्कृति की निर्मिति में शामिल हैं। गणेश तो महाभारत के लेखन-कार्य में हिस्सा बँटाने वाले हैं, हनुमान वेद-विशारद। क्या हाथी और बन्दर के रूप में उनकी पहचान उनके साथ अन्याय नहीं है? भारतीय पौराणिकी उनके प्रकृति के साथ-साथ उनकी बुद्धि, विद्या और विवेक की भी कायल है। सुन्दरकांड का सोपान हनुमान की नैसर्गिक प्रवृत्ति, विलक्षण शक्ति और बौद्धिक प्रखरता का सोपान है। यह वह व्यक्ति नहीं है जो सूर्य की ओर उड़कर अपने पंख जला ले। यह रुद्र अपने बचपन के सहज कौतूहल में सूर्य से क्रीड़ा कर चुका है। सम्पाति की तरह इसके पंख-पत्र झरे नहीं हैं। बचपन का कौतूहल अब बढ़कर संकट मोचक हो चुका है। इसकी वह बाल-क्रीड़ा वस्तुतः उसकी ज़बर्दस्त जिज्ञासा का प्रतीक है। यह ज्ञान की भूख है जो सूर्य को मुख में रखने की कथा से रूपायित होती है। लॉक ने यही तो कहा था : बच्चों में जिज्ञासा ज्ञान के लिए भूख मात्र है (Curiosity in children is but an appetite for knowledge)। ज्ञान से प्रकाश

मिलता है, गर्मी नहीं। लाइट मिलती है, हीट नहीं। इसलिए कथा में कहा गया कि सूर्य ने उन्हें जलाया नहीं। भारत में जिज्ञासा का यों दंड नहीं मिलता कि ज्ञान का सेब खाने पर आदम-हौवा का स्वर्ग से निष्कासन हो जाए। भारत में तो जिज्ञासा के वरदान प्राप्त होते हैं जो हनुमान को भी मिले। इन्द्र के वज्र और शिव के ब्रह्मास्त्र से सुरक्षित रहने के वरदान। यहां सेब नहीं, सूर्य खाया था, मुँह में रखा था उन्होंने। इसी मेटाफर में आगे सूर्य को उनका गुरु कहा गया। बचपन से ही भारी इन्क्वीज़िटिव उसी हनुमान की यह कथा-सोपानिका है। यह सोपान ईविल के लोकस का पता लगाने का सोपान है। यह सत्य की शक्ति की ओर से न केवल आशीष बल्कि हेडलाइन पाने का सोपान है। इस ईविल का लोकस वही पता लगा पाएगा जिसमें उतनी प्रबल जिज्ञासा हो जो उसे बचपन में ही आकाश की ओर उड़ाकर ले जाए। शेक्सपीयर ने सम्भवतः इसीलिए कहा था- ज्ञान वह पंख है जिसे लगाकर हम आकाश (स्वर्ग) की ओर उड़ते हैं (Knowledge is the wing wherewith we fly to heaven). यह वह व्यक्ति है जिसके लिए ज्ञान समय की परिणति (Consequence of time) नहीं है बल्कि बाल्यकाल की प्रबल अभीप्सा के रूप में प्रकट हुआ है। इसलिए आकाश की ओर बचपन में ही प्रस्थान करने वाला यह व्यक्ति ज्ञान-गुन-सागर बना और अब इसकी सागर यात्रा प्रारम्भ होने को है। ज्ञान की भूख- जिज्ञासा- सूरज जैसे काज़्मिक पिंडों के प्रति ही होती है। हर बच्चे में होती है। सामान्यतः ज्ञान का सिद्धांत ही यही है कि जो चीज़ अपने दैनन्दिन अनुभव और कन्सर्न से जितनी दूर और असम्बद्ध होती है- बच्चे की जानने की इच्छा उसी के प्रति सबसे प्रबल होती है। बच्चों में कॉस्मोलाजी के प्रति ज़्यादा रुचि का कारण कहीं इसी मनोविज्ञान में है। कई लोग ज्ञान की "प्रासंगिकता" की बात करते हैं, कि लोगों को ज्ञानोन्मुखी बनाना है तो विद्या को 'तात्कालिक' बनाना होगा, लेकिन वे ग़लत हैं और इस बाल मनोविज्ञान को नहीं समझते कि जिज्ञासा का तीव्रतम वेग 'तत्काल' के प्रति नहीं, 'सुदूर' के प्रति होता है। महादेवी की एक कविता ऐसी ही है :- 'तोड़ दो यह बंध मैं भी/देख लूँ उस ओर क्या है/जा रहे जिस पंथ से युग/कल्प उसका छोर क्या है।' हनुमान की जिज्ञासा भी वैसी ही रही होगी। ज्ञान 'तत्काल' के प्रति नहीं, अस्तित्व के आदि मूलों के बारे में सबसे शिद्दत से जानना चाहता है। इसीलिए डायनासोर के बारे में बच्चों में इतना आकर्षण और उत्सुकता देखी गई। वे जानना चाहते हैं कि खगोल का मूल क्या है? इस मूल की तृषा-हनुमानजी के संदर्भ में कहें तो भूख- ही बच्चे को मौलिक बनाती है। हनुमान यदि सूर्य को जानना चाहते हैं तो वे किसी पिण्ड को नहीं, उसके बहाने इस ब्रह्माण्ड को जानना चाहते हैं? क्यों ये गोलक बने हैं? उसे रोटी समझकर मुँह में रखने का प्रतीक बहुत मीठा है। जिस तरह से रोटी गोल है, उसी तरह से यह खगोल भी, इसके पिंड भी। हनुमान किसी 'सितारे' के बारे में जानने के लिए बेचैन एस्ट्रोफिज़िसिस्ट नहीं हैं, वे तो कॉस्मॉस को- जगत को- जानना चाहते हैं, एक कॉस्मालाजिस्ट की तरह। वे 'ट्विंकल ट्विंकल लिटिल स्टार/हाऊ आई वंडर व्हाट यू आर' की तरह सूर्य की सितारा-हैसियत के प्रति ही कौतूहल से बिद्ध नहीं हैं बल्कि उस बाल-मानसिकता के भी प्रतीक हैं जिसमें खण्ड चेतना नहीं होती। इस कारण वे 'यूनिवर्स' की 'यूनिटी' को जानना चाहते हैं। यत्पिंडे तत्ब्रह्मांडे। जो सूर्य के इस पिण्ड में होगा, वही ब्रह्माण्ड में होगा। लेकिन है यह पिण्ड ही, इकाई ही, समग्र नहीं। इसलिए किसी भी भव्य रोटी की तरह उसे मुँह में रख लिया बताया गया है। ध्यान देने की बात यह भी है कि हनुमान सूर्याराधन नहीं कर रहे। वे सूर्य का विज्ञान जानना चाह रहे होंगे तो वे सूर्य-सैद्धांतिकी के पीछे पड़ेंगे, सूर्य-पूजन के लिए व्यग्र नहीं होंगे। वे ऊष्मा का और आलोक का जीवन-विज्ञान समझेंगे। उसका भजन नहीं करेंगे। कृष्ण यदि इन्द्र-पूजन के विरुद्ध गोवर्धन-प्रसंग खड़ा करते हैं, हो सकता है हनुमान सूर्य-पूजन के विरुद्ध अपनी बाल-असहमति दर्ज़ करा रहे हों। क्या यह आश्चर्य नहीं कि 'सूर्य' के साथ इस व्यवहार से इन्द्र चिन्तित होकर

हनुमान की ठोड़ी पर वज्र घात करते हैं। हनुमान कह रहे हैं कि पूजा की बात नहीं है, जिज्ञासा की बात है। रोटी जैसा यह गोलक क्या है? क्या गोलक की बात वस्तुतः 'सर्कुलेटरी मोशन ऑफ़ मॉस' की बात है? क्या वह किसी तरह का साइक्लिक लॉ है- कोई वर्तुल-विधि? क्या यह 'ओरोबोरोस' (ouroboros) की तरह का कोई प्रतीक है (जहां प्रकृति के वर्तुलाकार स्वरूप को सूर्य के अपनी ही पूँछ को निगलने के ज़रिए दिखाया जाता है)? क्या प्रकाश ऊर्जा और संहति का वृत्त है? वृत्त है तो कंज़र्वेशन है। क्या गुरुत्वाकर्षण इस वर्तुल से ही है? हनुमान सन-वरशिप नहीं करते, इस कारण देवता घबरा जाते हैं, लेकिन हनुमान जो कर रहे हैं, उसे हम सनशिप कह सकते हैं। रोमन साम्राज्य की पौराणिकी में 'सोल इन्विक्टस' (अपराजित सूर्य) की चर्चा है। हनुमान इसी अपराजित सूर्य को पराजित करते हैं। क्या यही हीलियोसेन्ट्रिक जीवन-विज्ञान की पराजय थी जहां सृष्टि का केन्द्र और मूल सूर्य को माना जाता था? क्या यह सम्पूर्ण प्रसंग ज्ञानाकांक्षा से संबंधित नहीं है? क्यों हनुमान सूर्य से अपने को विद्यार्थी के रूप में स्वीकार करने का आग्रह करते हैं? जब सूर्य उस आग्रह को इस आधार पर अस्वीकार करते हैं कि वे एक जगह नहीं ठहरते और उनका रथ चक्र निरंतर परिभ्रमण करता रहता है तो हनुमान अपने शरीर का दिगंतस्पर्शी विस्तार कर पुनः प्रार्थना करते हैं। उनके हठ से प्रसन्न सूर्य उनका शिष्यत्व स्वीकार करते हैं। हनुमान उनके साथ निरंतर चलते हुए सारी विद्याएँ सीखते हैं और गुरु दक्षिणा के रूप में सूर्य उनसे अपने आध्यात्मिक पुत्र सुग्रीव की सहायता करने का संकल्प लिवाते हैं। चीनी पौराणिकी में भी एक सन हौजी (Sun Houzi) नामक वानर है जो देव-नायक (God hero) है। जापान में भी बन्दर बुद्धिमत्ता के प्रतीक हैं। आम बच्चे जिस उम्र में चंदामामा माँगते हैं, उस उम्र में सूर्य के प्रति विलक्षण आकर्षण रखने वाले इसी प्रोडिजी को ही अब यह सफ़र तय करना है। जिस उम्र में स्वयं उनके जीवन का सवेरा था, उस वक्त बाल रवि की ओर दौड़ पड़ने वाले हनुमान अब एक और अभियान को आरंभ करने जा रहे हैं। पता नहीं वे कौन लोग थे जिन्होंने समुद्र पार जाने की वर्जनाएँ पैदा कीं? इस देश का सांस्कृतिक आदर्श तो समुद्र-संतरण करने वाले हनुमान का है। क्या यह अंधविश्वास प्रतिभा-पलायन रोकने का एक सामाजिक दबाव है? लेकिन किसी अनुसंधित्सु को समुद्र पार जाने दें तो ब्रेन ड्रेन नहीं, ब्रेन गेन भी होता है। हनुमान जो इन्टेलीजेन्स लाकर राम को देते हैं वह राम की ऊर्जा को एक दिशा और एक केन्द्र देता है। राम भी उनकी महत्ता जानते हैं, इसलिए वानरों को विदा करते समय हनुमान को विशेष व्यवहति देते हैं: पाछें पवनतनय सिरु नावा। हनुमान नॉन रिटर्निंग इंडियन नहीं हैं, वे एक योजना, एक लक्ष्य, एक संकल्प के साथ समुद्र पार जा रहे हैं। उन्हें अपनी जड़ों की ओर लौटना है- श्रीराम के चरणों में ही उनके अस्तित्व की जड़ें हैं। यह लंका प्रवास तो उनके जीवन का एक अध्याय मात्र है। एक फ़ेज, एक सोपान। यह जीवन नहीं है। वे कनक कोट का मर्म-भेद करने के लिए जा रहे हैं, उसमें क़ैद होने के लिए नहीं। सोने का क़िला कितना ही आकर्षक क्यों न हो, है वो क़िला ही। वह आपको शेष से काटता है। वह है एक डिस्टेंसिंग रचना। सारी दुनिया से आप धन लूटकर अपने यहां भर लेंगे- कुबेर आपकी ही सेवा में होंगे। लेकिन कुछ है जो शेष रह जाएगा, वो शेष आपके साथ नहीं जाएगा। वो शेष नारायण के साथ खड़ा रहेगा, उनके छोटे भाई की तरह। आपका क़िला आपका एकांत रचेगा। सत्ताधारी का एकांत जो ग्रैब्रियल गार्सिया मार्केज के अनुसार सबसे विकट एकांत होता है। इस अर्थ में कि उसका कोई मित्र नहीं होता, उसके या तो शत्रु होते हैं या चाटुकार। राम वह है जिसका आश्रय शेष है, रावण वह है जिसे यह शेष चुनौती दे रहा है। आवा कालु तुम्हार। जो बाक़ी रह गए हैं, जो पीछे छूट गए हैं, जिन्हें किसी गिनती में नहीं लिया गया, नारायण उन्हीं वंचितों के निकट सान्निध्य और संश्रय में हैं। हनुमान इस युगल मूर्ति के सेवक हैं। वे समन्दर पार जाएँगे लेकिन उसके पास लौटने के लिए जो प्रभु के

साथ शेष रह गए हैं। यह लौटना प्रतिगामी नहीं है क्योंकि वे -हियँ धरि रघुनाथा' मार्च कर रहे हैं, डिपार्ट नहीं हो रहे हैं।

सोपान एक शिल्पशास्त्रीय रूपक भी है। तुलसी-दर्शन की यह शिल्पशास्त्रीय निर्भरता इस मायने में महत्वपूर्ण है कि यह शास्त्र व्यवस्था व क्रमबद्धता का ही मूर्तिमान स्वरूप है। सोपान शब्द को तुलसी एक उदाहरण की तरह काम में नहीं लेते, वह सशक्तिकरण का उनका यंत्र है। इस मायने में तुलसी के सोपान और हिचकॉक की फ़िल्मों में दर्शाई सीढ़ियाँ एक-दूसरे के ठीक उलट हैं- हालाँकि दोनों में ही अज्ञात (unknown) की ओर बढ़ना है। हिचकॉक की फ़िल्मों की सीढ़ियाँ हमेशा मुसीबत की ओर ले जाती हैं। सुरक्षा से एक अज्ञात आफ़त की ओर। 1946 में प्रदर्शित उनकी फ़िल्म 'नोटोरियस' की सीढ़ियों को याद करें, 'वर्टिगो' में मैक्किट्रिक होटल की सीढ़ियों को याद करें, 'साइको' में बेट के घर की सीढ़ियों को- भय क्रमशः बढ़ता चला जाता है। तुलसी के सोपान हमें भौतिक जगत के अनैश्चित्य और विद्रूप से क्रमशः ज़्यादा से ज़्यादा मुक्ति और आश्वस्ति की ओर ले जाते हैं। हमें क्रमशः सशक्त करने के लिए जबकि हिचकॉक की सीढ़ियाँ हमें हर पायदान पर और कमज़ोर करती हैं। सोपान के आध्यात्मिक सन्दर्भ, ऐसा नहीं कि, तुलसी ने ही इस्तेमाल किए हैं। राफेल ने अपनी पेंटिंग्स में भी इस्तेमाल किए हैं, इस्तंबूल में करिअ जामी (Kariya Djami) चर्च में जैकब्स लैडर (याकूब की सीढ़ियाँ) के नाम से एक भित्तिचित्र है। 'लास्ट जजमेंट' और संतों के नाट्य में सीढ़ियाँ सात्विक आदमी के ऊर्ध्वारोहण के साधन के रूप में काम आई हैं। लौरेटो चैपल, 1877 से 1881 के बीच कभी बना, में विश्वविख्यात चमत्कारिक सीढ़ियाँ हैं जो कहते हैं स्वयं संत जोसेफ के चमत्कार से बनी हैं। किन्तु तुलसी के सोपान सिर्फ़ उन्नति नहीं है, उद्देश्य हैं। वे राम के जीवन की प्रगति-यात्रा इन सोपानों के माध्यम से नहीं कहते, स्वयं भक्त के विकास के लिए इन सब कांडों के सोपान दे रहे हैं। गणित में डेविल्स स्टेयरकेस के नाम से एक गुत्थी चलती है। तुलसी के राम के सोपान तो सारी गुत्थियों और ग्रंथियों को खोलते हैं। सरल हिन्दी में। भाषा भनिति भोरि मति मोरी। इसलिए तुलसी के सोपान जीवन देते हैं, बीबीसी की आठ पार्ट की सिरीज़ 'डेथ ऑन द स्टेअरकेस' से भिन्न। यहाँ सीढ़ियों पर मौत नहीं होती, जीवन मिलता है, अमर जीवन। मानस के ये सोपान ज्ञान चक्षु खोलते हैं : सप्त प्रबंध सुभग सोपाना/ग्यान नयन निरखत मन माना।

विलियम क्लीमेंस के निर्देशन में 1939 में 'नैन्सी टू एण्ड द हिडन स्टेअरकेस' फ़िल्म बनी थी। शुक्र है कि तुलसी के सोपान 'खुफ़िया' नहीं, उद्घाटित हैं। हम आप सबके लिए। श्रीकृष्ण सरल ने तुलसी मानस नाम से एक काव्य लिखा है जो स्वयं तुलसी के जीवन को बालकांड, अयोध्या कांड आदि में दिलचस्प रूप से विभाजित करता है। यहां श्रीकृष्ण सरल सोपान के इस दर्शन को प्रतिपादित करते हैं :

साहित्य धुआँ होता कवि की पीड़ा का
ऊँचा ही ऊँचा वह उठता जाता है
साहित्य, नहीं जल सदृश निम्नगामी है
आयाम सदा वह ऊँचे अपनाता है।

●●●

सुन्दरकांड का नाम सुन्दरकांड क्यों

सुन्दरकांड मानस में एक विशेष अध्याय है। पाँचवाँ अध्याय जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच तत्व हैं। इस पाँचवें अध्याय में इन पंच महाभूतों की प्रभविष्णुता है। पृथ्वी जो मैनाक पहाड़ की तरह ठोसत्व के अनुतत्व का प्रतिनिधित्व करती है, समुद्र जो तारल्य के अनुतत्व का प्रतिनिधित्व करता है, ऊष्मा के अनुतत्व वाली अग्नि जो लंका दहन में रूपायित होती है, कम्पन के अनुतत्व वाली वायु जो मरुत पुत्र और 'चले मरुत उनचास' में प्रदर्शित होती है। आकाश, जिसके मार्ग से हनुमान चले, स्पेस के अनुतत्व को बताता है। सुन्दरकांड में इन पाँच तत्वों का प्राबल्य है। बाक़ी सारे अध्याय स्थान या अवस्था के सूचक हैं। अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, लंका जैसे स्थान या बाल या युद्ध जैसी अवस्थाएँ। लेकिन यह एकमात्र ऐसा कांड है जो इस महाकाव्य के अध्याय नामांकन की प्रचलित रूढ़ि से हटकर है। यह जिस सौन्दर्य के विशेषण को शीर्षक का आधार बनाता है वह कौन सा सौन्दर्य है?

क्या यह वही है जिसे सुकरात ने एक अल्पजीवी दुःशासन कहा था? क्या वही जिसे प्लेटो ने प्रकृति का विशेषाधिकार कहा था? क्या वही जिसे थियोक्रिटस ने एक मज़ेदार पूर्वाग्रह कहा? जिसे कार्नियाडेस ने एकछत्र राज्य कहा? या जिसे ओविड ने देवताओं के द्वारा किया गया पक्षपात कहा? क्या रावण का राज्य एक अल्पजीवी दुःशासन नहीं था? क्या रावण प्रकृति (या ईश्वर) के कुछ वरदानों (वरदान विशेषाधिकार के अलावा हैं भी क्या) का निर्लज्ज उपभोग नहीं कर रहा था? क्या रावण पूर्वाग्रहों के साथ अट्टहास नहीं कर रहा था? क्या रावण का राज्य एकछत्र राज्य नहीं था? क्या रावण देवताओं की शक्तियों का स्वयमेव एकाधिकारवादी उपभोग नहीं कर रहा था?

सौन्दर्य की ये सभी परिभाषाएँ रावण-राज में मूर्त होती थीं। तो क्या यह कांड इसलिए सुन्दरकांड है कि यह रावण-राज के अंतर्गत लंका को वर्णित करता है? इस कांड के शुरू में ही कनक कोट विचित्र मणि कृत सुन्दरायत अति घना की पंक्ति है जिसमें सुन्दर शब्द का प्रयोग हुआ है। तो क्या लंका के प्रकट और बाहरी सौन्दर्य से प्रभावित होकर तुलसी बाबा ने इस कांड को यह नाम दिया? क्या वे इसकी क्रिस्टल कवरिंग से अभिभूत हो गए? क्या वे इसके खोखल से चमत्कृत हो गए? इसकी पैकेजिंग से मुग्ध हो गए? तो क्या तुलसी लंका दहन के माध्यम से सौन्दर्य नाश करवा रहे थे? वह कौन सा सौन्दर्य है जो नष्टकरणीय है? कैथरीन एन्ने पोर्टर ने कहा कि जीवन का वास्तविक पाप सौन्दर्य का दुरुपयोग और इसे नष्ट करना है तो क्या तुलसीदास राम के दास से सुन्दरकांड में ये पाप करवा रहे थे? सुन्दरकांड शीर्षक हमें इस अध्याय के ही नहीं तुलसी के भी सौन्दर्यशास्त्र (इस्थेटिक्स) पर चर्चा करने का मौका देता है।

देखें कि सुन्दरकांड में सुन्दर शब्द का प्रयोग 5 बार हुआ है। लंका के कोट या आवरण या क़िले को सुन्दर कहना इतनी बड़ी बात नहीं क्योंकि तुलसी इसी अध्याय की शुरुआत में इतनी ही सहजता से समुद्री पर्वत को भी सुन्दर कह देते हैं- सिन्धु तीर एक भूधर सुन्दर। पर्वत की सुन्दरता तो प्राकृतिक है, दुर्ग की सुन्दरता प्रसाधित (कास्मेटिक)। कोट शब्द का प्रयोग बताता है कि यह तो 'स्किन डीप' सौन्दर्य है। मैं जान-बूझकर कोट के अँग्रेजी अर्थ को भी शामिल करता जा रहा हूँ। तुलसी को अँग्रेजी नहीं आती थी लेकिन तुलसी की कालजयी कविता ने कुछ अपने अर्थ भी विकसित किए होंगे। आखिरकार नास्त्रेदमस के छंदों में भी ऐसे शब्द हैं जो उसके युग के नहीं, वर्तमान युग के अर्थों में ही सत्य सिद्ध होते हैं। पर्वत की सुन्दरता तो होमर के द्वारा दी गई सौन्दर्य की परिभाषा याद दिलाती है। प्रकृति का भव्य उपहार। लेकिन तुलसी प्रकृति के साथ-साथ प्रसाधन के सौन्दर्य को सौन्दर्य कहने का औदार्य क्यों दिखाते हैं। वे भी जानते हैं कि यह चमक-दमक मात्र है। शेक्सपीयर ने भी सौन्दर्य के इस रूप का वर्णन किया था- 'एक चमकदार दीप्ति जो क्षण में बुझ जाती है।' लेकिन इस कृत्रिम सौन्दर्य की अपनी नियति है। एक दहनीय नियति। सर्वेन्टीज ने उचित ही कहा था- 'सारा सौन्दर्य प्रेम को प्रेरित नहीं करता'। सुन्दरताएँ आँखों को खुश करती हैं लेकिन स्नेह को प्रवृत्त नहीं करतीं। तुलसी ने इस बाज़ारू सौन्दर्य को उस प्राचीन सभ्यता में भी रेखांकित किया है। उसे दो बार दोहराया है 'चउहट्ट हट्ट'। इसे ज़ोर देने के लिहाज़ से दो बार बजाया गया है। क्या रावण-राज में बाज़ार की शक्तियाँ (मार्केट फोर्सेज़) हावी थीं? क्या उन्हें भी वैसा ही सैनिक समर्थन हासिल था जैसे बुश के समकालीन अमेरिका में है जहाँ व्यापारिक हितों के लिए सैनिक हमले होते हैं? 'हट्ट' के तुरंत बाद 'सुभट्ट' को रखकर तुलसी क्या संकेत देना चाह रहे हैं? एक बार के लिए जान-बूझकर सुबट्ट और सुघट्ट जैसे वैकल्पिक प्रयोगों की उपेक्षा कर दें लेकिन ध्यान दें कि चउहट्ट से पहले वाली पंक्ति कनक कोट की क्यों है और उसके बाद की पंक्ति गज, बाजि, खच्चर, निकर, पदचर, रथ, जूथ अतिबल सेन के रूप में सैन्य शक्ति का वर्णन क्यों करती है। पुनः बाज़ार की ओर लौटें। बाज़ार चारों ओर क्यों है? बाज़ार की सर्वव्यापिनी सर्वग्रासी उपस्थिति हनुमान जैसे बारीक़ प्रेक्षक का ध्यान खींचेगी ही। वह कनक कोट भी कोई दुर्ग भर नहीं है। उसे समझने के लिए संस्कृत का वह श्लोक सहारा है : हिरण्मयेन पात्रेण गर्भेण सत्यस्यापिहितम मुखम्। सत्य का मुख सोने से ढँका हुआ है। लंका में सत्य के सूत्रधार विभीषण, माल्यवंत, मंदोदरी, शुक, त्रिजटा और अपहृता सीता हैं। लेकिन सोने का खेल जारी है। स्वर्ण मुद्राओं का मुद्राराक्षसी नाटक चल रहा है। वही हावी है, वही प्रभावी। ये शुभ सूत्र बिखरे हुए हैं। एंपायर ने देव शक्तियों को जीता हुआ है। तो सौन्दर्य है लेकिन सत् नहीं है। ब्यूटी विदाउट वर्चू की स्थिति है। सौरभहीन फूल जैसी। स्वर्णमाया ने ही सब कुछ ढाँक रखा है। बाज़ार के आगे कनककोट। पीछे है अतिबल

सेन। क्या आपको उपनिवेशवादी आक्रामकों की पेटेन्ट कराई हुई शैली याद आती है? कि पहले प्रलोभन का स्वर्णाकर्षण खड़ा करो, फिर अपना बाज़ार फैलाओ और उसके पीछे सैन्य शक्ति की धौंस चलने दो। यह शैली राबर्ट क्लाइवों की थी। तुलसी रावण-राज में इसका संकेत कर गए थे। बाज़ार के पीछे एक डरावा। हाट और हाटक की जुगलबंदी। मार्केट का फंडा, साथ में डंडा। यह असाधारण मर्कट उस मार्केट को सबसे पहले चीन्हता है।

तो सुन्दरकांड का शीर्षक इसलिए नहीं पड़ा कि इसमें सुन्दर राम और सुन्दरी सीता की कथा है जैसा कि एक संस्कृत श्लोक में जताया गया है :

सुन्दरे सुन्दरो राम सुन्दरे सुन्दरी कथा।
सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे किन्न सुन्दरम्।।

अर्थात् सुन्दरकांड में राम सुन्दर है, कथाएँ सुन्दर हैं, सीता सुन्दर है, सुन्दर में क्या सुन्दर नहीं है। लेकिन इस भावुक व्याख्या से हमारा संतोष नहीं होता क्योंकि राम सीता तो पूरे रामचरितमानस में हैं और जहाँ तक कथा प्रसंग का सवाल है तो सिर्फ़ 'शत योजन विस्तीर्ण भीमदर्शन, महोन्नतरङ्ग समाकुल अगाध गगनाकार सागर' को लाँघने से लेकर श्रीराम को सीता संवाद सुनाना, राम के द्वारा हनुमान का आलिंगन, विभीषण की शरणागति आदि सभी कथाएँ तो सुन्दर हैं। लेकिन इसी तर्ज़ पर रामचरितमानस का हर प्रसंग सुन्दर कहा जा सकता है। राम जन्म प्रसंग, सीता-राम का परस्पर प्रथम दर्शन, केवट संवाद, भरत मिलाप आदि आदि किन-किन कथा प्रसंगों को हम सुन्दर न कहेंगे। कथा सौन्दर्य तो पूरी राम कथा में व्यापता है। इसलिए सुन्दरकांड में सुन्दर जब स्वयं प्रभु शिव के द्वारा वर्णित की जा रही इस कथा के बारे में कहा गया है : 'सावधान मन करि पुनि संकर/लागे कहन कथा अति सुन्दर' तो यह बात सिर्फ़ हनुमान-राम मिलन के सन्दर्भ में नहीं कही गई होगी। तुलसी या वाल्मीकि यह थोड़े कहना चाह रहे होंगे कि उस कांड के सिवा बाक़ी सारे कांडों में वर्णित कथा असुन्दर है।

न मुझे इस बात से संतोष होता है कि चूँकि त्रिकूटाचल के तीन शिखर हैं, नील जिस पर लंका बसी है, सुबेल जो मैदान है और सुन्दर जिस पर अशोक वाटिका है तथा इस सुन्दर नामक शिखर पर ही सुन्दरकांड का चरित्र हुआ है इसी से इसका नाम सुन्दरकांड हुआ। दरअसल यह वही पारम्परिक स्थानवादी व्याख्या है जिसके तहत अन्य कांड हैं। लेकिन पं. श्री रामकुमार की यह व्याख्या मुझे इसलिए संतुष्ट नहीं करती क्योंकि सुन्दरकांड के सारे घटना प्रसंग अशोक वाटिका में नहीं हुए। दूसरे सुन्दरकांड की जो विशेष लोकप्रियता और महत्व स्थापना है, उसके चलते इसका नामकरण भी रूढ़िगत स्थानपरक रूप से नहीं किया जा सकता था। यह एक तांत्रिक प्रभाव रखने वाला अध्याय माना जाता है। जिस तरह से महाभारत में विराट पर्व महत्वपूर्ण माना जाता है उसी तरह से रामायण में सुन्दरकांड। अतः रूढ़ि इस प्रश्न का समाधान नहीं करती। शिखर के नाम का जहाँ तक सम्बन्ध है उस पर आचार्यों में मतभेद भी रहा। वाल्मीकि ने इसे महेन्द्राचल कहा है

कोऽपि लोके न मे वेग प्लवने धारयिष्यति
एतानहि नगस्यास्य शिलासंकट भाविनः ।36।।
शिखराणि महेन्द्रस्य स्थिराणि च महान्ति च।
एषु वेग गणिष्यामि महेन्द्र शिखरेष्वहम ।37।।

यहाँ महेन्द्र शिखर है। महेन्द्र शिखर कहने के बावजूद वाल्मीकि ने भी इसका नाम सुन्दरकांड रखा है। वाल्मीकि और तुलसी दोनों अपने-अपने सुन्दरकांड की शुरुआत हनुमान जी के समुद्र लंघन से करते हैं और अध्यात्म रामायण का सुन्दरकांड भी ऐसे ही शुरू होता है। लेकिन वाल्मीकि का सुन्दरकांड वहाँ समाप्त हो जाता है जहाँ हनुमान लंका से लौटकर राम को पूरा विवरण देते हैं। तुलसी के सुन्दरकांड में श्री राम का हनुमान को हृदय से लगाना, श्री राम आदि का वानर सेना सहित प्रस्थान, रावण की कर्तव्य निर्णय हेतु मंत्रियों से सलाह, राक्षसों का रावण को विश्वास दिलाना, विभीषण का सीता को लौटाने का अनुरोध, रावण के द्वारा विभीषण का तिरस्कार, विभीषण का श्री राम की शरण में जाना,

भगवान श्री राम का शरणागत की रक्षा, रावण का शुक को दूत बनाकर भेजना, राम का समुद्र तट पहुँचना आदि भी शामिल हैं, जो वाल्मीकि ने युद्धकांड में शामिल किए हैं। ध्यान रहे कि अध्यात्म रामायण में भी सुन्दरकांड हनुमान जी द्वारा लंका से लौटकर राम को विवरण देने के साथ ही ख़त्म हो जाता है। यह भी ध्यान रहे कि तुलसी अध्यात्म रामायण पर कई जगह वाल्मीकिकृत रामायण से भी ज़्यादा निर्भर रहे हैं। वानर सेना का प्रस्थान, विभीषण का तिरस्कार, विभीषण शरणागति, सेतु बंध, रावण शुक संवाद आदि अध्यात्म रामायण में युद्ध कांड के अंग रहे हैं, किन्तु तुलसी इन्हें सुन्दरकांड में शामिल करते हैं।

तुलसी ऐसा कर क्या संकेत देना चाह रहे हैं? क्या वे सुन्दरकांड में सौन्दर्य की परिभाषा को भी इसी तरह विस्तार देना चाह रहे हैं? वे सौन्दर्य को नख-शिख वर्णन में वैसे ही नहीं देखते जैसे वाल्मीकि देखते हैं। सामान्यतः सौन्दर्य का अध्याय तो व्यक्ति के यौवन में खुलता है। जब सीता ने प्रथम बार राम को देखा था या राम ने सीता को जब पहले-पहल देखा। तब पंचवटी में पहुँचने पर भी प्राकृतिक सुषमा का प्राचुर्य सुन्दरता का अध्याय बन सकता था। लेकिन तुलसी और वाल्मीकि दोनों ही सुन्दरकांड का शीर्षक उस वक़्त देते हैं जब सीता माँ का पता लगता है और लंका का दहन होता है। यहाँ कर्म सौन्दर्य ही सौन्दर्य की वास्तविक पहचान के रूप में प्रकट हुआ है और हमें मोरमोंटेल की याद दिलाता है जो सौन्दर्य के मूल में उपयोगिता को मानता है। मेरी बेकर एडी ने कहा था कि सौन्दर्य का गुर है : कम भ्रम और अधिक आत्मा। हमारे दर्शन में भी इसीलिए सत्य को सुन्दर कहा गया। इस अध्याय में सीता का पता लगने, रावण को देखने का, लंका दहन आदि से जहाँ राम के पक्ष की बहुत-सी शंकाएँ समाप्त होती हैं वहीं विभीषण का पूरी तरह से मोहभंग हो जाता है। समुद्र की भी जड़ता टूटती है, माल्यवंत और शुक की भी आँखें खुल जाती हैं। इन सबको इस भ्रम भंग के बाद आत्मिक समृद्धि प्राप्त होती है। राम का मनोत्थान होता है। 'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना'। विभीषण 'जे पद परसि तरी रिषि नारी' का ध्यान कर 'उर कछु प्रथम वासना रही - प्रभु पद प्रीति सरिस सो बही' से आत्मोद्धार करते हैं। 'हरषि पयोनिधि भयउ सुखारी' की स्थिति को प्राप्त होता है और शुक ने भी 'रामकृपा आपनि गति पाई'। सभी की आत्मा में सौन्दर्य के उस रूप का संचार होता है जिसे हार्मनी कहते हैं। एलिज़ाबेथ कुबलेर रॉस ने कहा था कि सच्चा सौन्दर्य तभी देखा जा सकता है जब भीतर से प्रकाश हो। इन सभी की अन्तर्दृष्टि, और खुलती और विकसित होती है। तो यह सौन्दर्य शरीर की आँख से नहीं देखा गया है। आत्मा की आँख से देखा गया है। यह एक क्षण का इंद्रजाल नहीं है, यह एक स्थायी अनुभाव है।

प्राकृतिक सौन्दर्य भी क्या एक स्थायी अनुभाव नहीं है? तो फिर 'सिन्धु तीर एक भूधर सुन्दर' में क्या अपर्याप्तता है जो उसे सुन्दरकांड के शीर्षक का आधार नहीं बनने देता? हनुमान ने इस भूधर को पहली बार देखा है, इसलिए उसके सौन्दर्य पर उनका ध्यान गया है अन्यथा यदि मनुष्य प्रकृति के उसी परिदृश्य को हर रोज़ देखे तो शायद कभी न देख पाए। प्राकृतिक सौन्दर्य की निरन्तरता उस सौन्दर्य पर से हमारी आँख हटा देती है।

इसलिए प्राकृतिक सौन्दर्य भी मनुष्य के लिए एक अस्थायी तिलिस्म है लेकिन आत्मा की आँख जिस सौन्दर्य को देखती है वह पृथ्वी पर ईश्वर की छाया और हस्तलिपि है। तुलसी सौन्दर्य को एक छवि की तरह नहीं, एक स्थिति की तरह पेश करते हैं। यदि यह छवि है तो भी यह तब दिखती है जब आप आँख बंद कर लें। यदि यह एक स्थिति है तो भी इसमें गति और स्पन्दन है। कर्म के कम्पन। तुलसी अपने सुन्दरकांड को इसीलिए जान-बूझकर कर्म संकुल बनाते हैं। पाँचवाँ अध्याय हाथ की पाँच उँगलियों का भी प्रतीक है। अपना हाथ जगन्नाथ। अपने पुरुषार्थ का विश्वास। नाथ देव कर कवन भरोसा। भाग्य के विरुद्ध पुरुषार्थ की प्रतीक पाँच उँगलियों का। सुन्दरकांड कर्म-सौन्दर्य का कांड है। यह पंचम अध्याय है।

सिन्धु के तीर पर खड़े होकर जिस विस्तार का अनुभव होता है उसी तरह का विस्तार सुन्दरकांड नामक इस शीर्षक में है जिसमें अर्थ विस्तृति का अनन्त सिन्धु है। इस अध्याय की शुरुआत के पहले कथा-प्रसंग भी सिन्धु-तीर पहुँच चुका है। रैंडम हाउस ने सौन्दर्यशास्त्र की परिभाषा यह कहकर दी है कि 'हैविंग अ सेन्स ऑफ़ द ब्यूटीफुल'। यह सुन्दर का बोध है लेकिन सुन्दर क्या है? हनुमान सुन्दरकांड में जब भूखे होते हैं तो उन्हें वृक्ष के फल भी सुन्दर लगते हैं- 'लागि देख सुन्दर फल रूखा'। यह सौन्दर्य की भूख (हंगर फॉर ब्यूटी) नहीं है। यह भूख के द्वारा कारित स्थिति है जब चाँद भी गोल रोटी की तरह नज़र आता है। यहाँ सौन्दर्य के लिए जान-बूझकर भूखी रहने वाली आधुनिकाओं की बात नहीं है कि जो डाइट कर रही हों। यहाँ तो उस कर्मवीर की बात है जो 'राम काजु कीन्हें बिना मोहि कहाँ विश्राम' की धुन में भूख-प्यास सब भूल जाता है। धूप के पर्वत पार करता है और माता सीता को मुद्रिका देकर जब अपना कर्तव्य पूरा कर लेता है तब जाकर उसे अपनी क्षुधाकातर हालत का ख़्याल आता है। यहाँ आजकल के विकृत रूप से धनी वर्ग की लड़कियों में व्याप्त एनोरेक्सिया नर्वोसा जैसी सौन्दर्य-सचेत भूखहीनता की बात नहीं है। यह तो निरन्तर कर्मरत आदमी की क्षुधा है। यह वह सौन्दर्य-बोध नहीं जो भूखों के प्रति संवेदना शून्य बनाता है। यह वह भूख-बोध है जिसमें हर साधारण चीज़ भी ग्रहणीय और भूख के ही टर्म्स में सुन्दर नज़र आती है। हनुमान तो रूख (वृक्ष) के फल ही नहीं रूखे (रूक्ष) फल को भी सुन्दर मान लेंगे। वे एटकिंस की मिताहार वाली दुनिया के ठीक विपरीत ध्रुव पर खड़े हैं। यह मेहनतकश और कर्तव्यनिष्ठ आदमी की भूख है। चाहे मज़ाक में ही मार्क ट्वेन ने कहा हो कि भूख प्रतिभा की दासी है लेकिन प्रतिभाशाली की भूख का अपना सौन्दर्य है। एक मेहनतकश की भूख और कुंभकर्णी भूख दोनों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है। लघु रूप लिए हनुमान क्या हैं? जो वास्तव में कनक भूधराकार सरीरा जैसे सौन्दर्य के स्वामी हैं, वे अपनी लघिमा में छोटे लोगों की उस साधारण क्षुधा का प्रतिनिधित्व कर लेते हैं जो महाकाय और भीषणाकार लोगों की अपरूप और अनन्त बुभुक्षा का विलोम है। वे फल भर से संतुष्ट हो जायेंगे। और ये कुंभकरण सरीखे लोग, ये उदर पिशाच देहंभर? इनकी भक्षण वासना की कोई सीमा नहीं। हनुमान जठराग्नि के कारण खाते हैं; ये गाफ़िल होने के लिए। चीन में भी एक वानरराज की पौराणिक कथा है जब 3000 साल में एक बार होने वाले त्योहार में देवताओं द्वारा खाने के लिए नहीं बुलाए जाने पर न केवल वह भोज के लिए बना सारा भोजन और सुरा स्वयं पहले ही पी जाता है बल्कि अमरता की गोलियाँ भी खा जाता है। हमारे हनुमान का क्रोध ऐसा नहीं है। वे तो बस फल से ही अपनी भूख मिटा लेंगे। उन्हें अमरता की गोलियाँ खाने की ज़रूरत नहीं है। वे हैं ही अमर। मज़े की बात यह है कि चीनी वानरराज 72 भिन्न रूप धारण कर सकता है, हनुमान भी मनचाहा रूप धर सकते हैं। यह भी कि वह चीनी वानरराज की 108000 लि (कोस या किलोमीटर जैसी दूरी मापने की चीनी इकाई) कूद सकता है और हनुमान भी समुद्र कूद के लिए जाने गए। बहरहाल चीनी वानर की तुलना में हनुमान की भूख अधिक सहज है- और सुन्दर भी क्योंकि वह गाढ़ी मेहनत की कमाई है। जो बात सुन्दरकांड हमें बताता है वह यह कि सच्चे मेहनतकश की भूख विद्रोहात्मक होती है। जोहानन मोस्ट कहते थे कि यह भूख का कोड़ा ही है जो ग़रीब को झुकने पर मजबूर करता है। धन के वहशियों के सामने जीने के लिए उसे स्वयं को प्रतिदिन प्रतिघंटे बेचना पड़ता है। मोस्ट के इस कथन में प्रयुक्त यह 'बीस्ट ऑफ़ प्रॉपर्टी' शब्द-खंड याद रखें।

हनुमान जैसे भूख कमाए हुए मेहनतकश झुकते नहीं हैं धनपशुओं के सामने। बीस्ट ऑफ़ प्रॉपर्टी के सामने। वे क्रांति नहीं तो उपद्रव खड़ा कर देंगे। अशोक वाटिका में उनका उत्पात मिखाइल साकाश्विली के उस कथन को सच सिद्ध करता है कि, 'यदि लोग भूख से तड़पते रहे तो कोई शान्ति स्थिर बनी नहीं रह सकती।'

मनुष्यता का इतिहास भूख विद्रोहों से भरा हुआ है। फ्रेंच क्रांति के समय मेरी एंतोनिएत के सामने प्रदर्शन व 17 सितम्बर 1911 को उत्तर-पश्चिमी वियना के भूख विद्रोह से लेकर 26 दिसम्बर 1981 के नाइजीरिया के भूख विद्रोह या 4 दिसम्बर 1997 के बेरुत के भूख विद्रोह तक ढेरों उदाहरण अटे पड़े हैं। हनुमान का हुल्लड़ भी विप्लव में परिणत हो जाता है। अशोक वाटिका समरांगण बन जाती है। सुन्दरकांड का रचयिता किसी साधारण टंटे में हनुमान को नहीं उलझाता। वहां तो विग्रह बढ़ता जाता है और तुमुल युद्ध का रूप ले लेता है। हनुमान भूख हड़ताल की बात नहीं करते, वे हंगर रिवोल्ट करते हैं। शायद हमें यह बताने के लिए कि क्रांति भूख के तर्क का सुन्दरतम फल है। क्रांति शोषण के पूरे ढांचे को झुलसाती है, सो लंका दहन होता ही है। यजुर्वेद में क्या यही घोषणा नहीं की गई थी? 'रक्षः प्रत्युष्टं/प्रत्युष्टा अरातयो/निष्टप्तं रक्षो/निष्टप्तां अरातयः' कि राक्षस (दुष्ट) झुलस गए हैं, अनुदार कृपण और मक्खीचूस झुलस गए। राक्षस भस्म हो गए। राक्षस वह है जिसके कारण समाज और देश में क्षीणता तथा दुर्बलता आती है- क्षरतीति राक्षसः। यही स्थिति जानबूझकर प्रयुक्त अराति शब्द के साथ है जिसके अर्थ हैं जो दान नहीं देता हो, जो कंजूस हो, कृपण हो। हनुमान कहीं पृथ्वी का क्षरण करने वाले और पूंजी संकेन्द्रण करने वालों को क्रांति की लपटों में झुलसा रहे होंगे। इसी यजुर्वेदी मंत्र में इसके तत्काल बाद कहा गया है कि "उरु अन्तरिक्षं अन्वेमि" (विस्तृत अंतरिक्ष में मैं प्रवेश करता हूं)। इस पूरे मंत्र की कुंजी ये अंतिम तीन शब्द ही हैं। अनन्त अन्तरिक्ष की शक्तियों का अन्वेषण करने की योग्यता मनुष्य को कैसे प्राप्त होती है? क्या हनुमान के आकाश गमन का स्थूल संकेत करने वाली नहीं हैं, ये यजुर्वेदी पंक्तियां? ये क्रांति के बाद आने वाले संकुचन, अधिनायकत्व, तानाशाही, क्रूरता का आदर्श नहीं बतातीं ये क्रांति के सही आदर्श को बताती हैं : 'अपने सुख को विस्तृत कर लो/सबको सुखी बनाओ' वाले आदर्श को। यहीं हनुमान की क्रांति पार्थिव या लौकिक क्रांतियों से भिन्न है। वह अन्तरिक्ष की विस्तृति और औदार्य का आदर्श रखती है। यह मंत्र आगे और चलता है औ बार-बार मुझे हनुमान के लंका दहन की याद दिलाता है। धूः असि धूर्वन्त धूर्व तं धूर्व यः अस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वाम : 'हे मानव तू भस्म कर देने वाला- (या) विनाशक-है। विनाश करने वाले का तू विनाश कर। उसका विनाश कर जो हमारा विनाश करता है, जिसको हम सब नष्ट करना चाहते हैं, उसको विनष्ट कर'। और लंका धू-धू करके जल उठती है। यजुर्वेद के इतने शुरू में आए ये मंत्र सुन्दरकांड के सुन्दर रूपक को समझने में हमारी मदद करते हैं। जो हनुमान 'उरु अन्तरिक्षं अन्वेमि' हैं- अर्थात् विस्तृत अन्तरिक्ष में अनुकूलतापूर्वक चले जाते हैं, उन्हीं के लिए इसके तुरंत बाद आए शब्द शोभते हैं :- 'पृथिव्याः नाभौ अदित्या : उपस्थे त्वा सादयामि' (पृथ्वी के मध्य में स्वतंत्रता के निकट तुझे बैठाता हूं।) यजुर्वेद का महर्षि इस बात पर खुशी व्यक्त करता है कि 'रक्षः अवधूतं अरातयः अवधूताः' कि क्षरण करने वाले और कृपण तथा अनुदार दूर हुए।' लेकिन इसके बाद के शब्द विशेष महत्व के हैं। "अदित्याः त्वक् असि/अदितिः त्वा प्रतिवेत्तु।" स्वाधीनता की त्वचा है तू और स्वाधीनता तुझसे परिचित हो- ये दो बातें महत्वपूर्ण हैं। मनुष्य अदिति की त्वचा है- अदिति जिसका खंडन नहीं हो सकता, जो अविभाज्य है, जो अदीन है, जो स्वतंत्र है। हनुमान की कुल कोशिश इसी अदिति को लोकोपलब्ध बनाने की है। उनका सौन्दर्य सम्पूर्णता में है, विभाजन में नहीं।

सौन्दर्य को आधुनिक विद्वान भी आंख की जगह हाथ में देख रहे हैं। जस्टिन विंकलर ने इसी साल लिखे 'द आई एंड द हैड : द आइडिया ऑफ़ एन इस्थेटिक्स ऑफ़ वर्क' नामक एक लेख में कहा है : हाथ का सौन्दर्यशास्त्र वस्तुतः कर्म का सौन्दर्यशास्त्र है : क्रियान्वयन का। सुन्दरकांड को तुलसी ने कर्म-सघन बनाकर सौन्दर्य को एक गत्यात्मकता में देखा है। यहां कार्य है और प्रक्रियाएं हैं। स्थैतिक कुछ भी नहीं। जड़ कुछ भी नहीं। दमन जब तक जारी है तब तक हनुमान या राम चुप

कैसे बैठेंगे। जड़ कैसे रहेंगे। वायुपुत्र के पास पवन-वेग न होगा? वे तूफ़ान पैदा नहीं करेंगे? वे 'चले मरुत उनचास' वस्तुतः गति की अनेकताएं हैं। लेकिन इन सबको संघनित, संकेन्द्रित और संचालित तो राम की प्रेरणा ही करती है।

सुन्दरकांड में सुन्दर शब्द तब भी आया है जब हनुमान जी की टपकाई हुई मुद्रिका को सीता माँ देखती हैं। 'तब देखी मुद्रिका मनोहर राम नाम अंकित अति सुन्दर'। यहां मुद्रिका को तो खैर मनोहर कहा ही गया है, अंकित रामनाम को अति सुन्दर कहा गया है। भगवान के नाम से सुन्दर क्या होगा? रामनाम वरानने। बुधकौशिक ऋषि बता ही गए थे। इस्लाम में अल्लाह के 99 नाम हैं। प्राचीन मिस्री नामों में ईश्वर का नाम शामिल करने की परम्परा थी- तूतनखामेन (आमेन की जीवित मूर्ति) और खेनेमेतामेन (आमेन से जुड़ा हुआ) जैसे नाम। आमेन ॐ का ही अपभ्रंश है। मंत्र 8-1-9 में डेविड पहला छंद यह बोलते हैं Lord, our lord, how majestic is thy name in all the earth. यह बात अलग है कि हमारे यहां रामनाम का जाप इतना महत्वपूर्ण माना गया जबकि हिब्रुओं में उस ईश्वर के नाम पर इतनी श्रद्धा की जाती है कि उसे सार्वजनिक वाचन में उच्चारित तक नहीं किया जाता। सीताजी इतने दिनों से राम की छवि मन में धारे हैं, लेकिन राम का रूप और छवि नहीं देख पा रहीं। नाथ सो नयनहि को अपराधा। ऐसे में रामनाम का मिलना। इसकी सुन्दरता तब समझ में आती है जब तुलसी की ही अन्यत्र कही गई पंक्तियां ध्यान में रखें- लखि यहि रूप नाम आधीना/ रूपज्ञान नहि नाम बिहीना। जब नाम मिल गया है तो रूप देखना सुनिश्चित हो गया। कबीर क्या कहते हैं : 'जबहि नाम हिरदे धरा, भया पाप का नास/मानो चिनगी आग की परी पुरानी घास'। यह रामनाम से अंकित मुद्रिका अशोक वाटिका में गिरी है। अब पाप के नाश का समय आ गया। अब अशोक वाटिका तो क्या लंका भी वैसी नहीं रह जाएगी। अब तो लंका में आग की चिनगारी भड़केगी ही। हनुमान इस आग के अग्रदूत हैं, यह परिवर्तन की आग है और जागृति की ज्योति भी। तुलसी ने अन्यत्र सुझाया था : रामनाम मणिदीप धरु, जीह देहरी द्वार/तुलसी भीतर बाहिरेहु जो चाहसि उजियार।

कई लोगों को नाम के प्रति यह श्रद्धा विचित्र लगती है। नाम तो एक लेबल है पहचानने के लिए। लेकिन यदि वाक़ई नाम में, शेक्सपीयर के मुताबिक, कुछ नहीं रखा क्योंकि गुलाब को किसी भी नाम से पुकारो वह खुशबू तो वैसी ही देगा, तो फिर ईश्वर को बाइबल में आब्रम, जिसका मतलब होता है हाई फादर, का नाम बदलकर अब्राहम (फादर ऑफ़ मल्टीट्यूड) करने की जरूरत क्यों आन पड़ी (जेन 17, 5)? जेकोब (हील कैचर) का नाम बदलकर ईश्वर ने इसरायल (वह भगवान की तरह शासन करेगा) क्यों कर दिया (जेन 32/28)? भारत में नाम एक ही हो, यह आग्रह नहीं रहा। विष्णु सहस्रनाम विष्णु भगवान के हजार नाम बताता है। दुर्गा के 108 नाम चलते हैं, द्वादश नाम वाले देवताओं की भी बहुसंख्या है। इन सबसे संकेत यही दिया जा रहा है कि नाम तो अभिधान है। वहीं पर अटककर नहीं रह जाना। भगवान की ब्रांडिंग कभी नहीं हो सकती।

इसलिए तुलसीदास भी कोई डॉग्मेटिक बात न कहकर मात्र उसके अति सुन्दर होने की बात कहते हैं। बाइबल का छंद 52 और 9 एवी कहता है- I will wait on thy name for (it is) good before the saints. सीता के लिए, उनके द्वारा प्रतीक्षा सहन करने के लिए रामनाम मुद्रिका के रूप में सामने सरकाया जाता है। छंद 33/21 ए.व्ही. बाइबल में कहा गया कि for our heart shall rejoice in him because we have trusted in his holy name. सीताजी का जीवन भी रामनाम में विश्वास के ही सहारे चल रहा है और चलेगा। लेकिन बाइबल की तरह तुलसी ईश्वर के नाम को भीषण (awesome), उदात्त (exalted), सम्माननीय (honourable) अच्छा एवं महान, शुद्ध एवं पवित्र, अनुपेक्षणीय, भव्य, विश्वसनीय (ट्रस्टवर्दी) आदि नहीं बोलते हैं। वे उसे बस सुन्दर बोलते हैं। सुन्दर शब्द की व्युत्पत्ति अमर व्याख्या सुधा में इस

प्रकार है : यद्वा सु उनत्ति चित्त द्रवीकरोतिं। उन्दी क्लेदने। सुन्दर यानी जिससे चित्त द्रवित हो जाए। सीता को रामनाम इसी रूप में सुन्दर लगता है, अति सुन्दर क्योंकि वह उनके चित्त को द्रवित करता है। इसलिए सुन्दरता कोई वस्तुनिष्ठ चीज़ नहीं है। सीता भी मुद्रिका में रामनाम के अंकन-सौन्दर्य से, तक्षण से प्रभावित नहीं हैं। वे प्रभावित हैं क्योंकि यह उनके हृदय, उनके चित्त का मामला है। इसलिए तुलसी रामनाम के लिए अन्य ऊपरिलिखित बाइबल जैसे विशेषणों का उल्लेख न कर उसे अति सुन्दर मात्र कहते हैं। यानी रामनाम उनके लिए फ्लूक मात्र नहीं है। वह भी उनके सौन्दर्यशास्त्र का हिस्सा है। जर्मन शब्द asthetisch या फ्रेंच शब्द esthetique दोनों ही ग्रीक के जिस शब्द से बने हैं उसका अर्थ होता है संवेदनशील। संवेदनशीलता के बिना कोई इस्थेटिक्स सम्भव नहीं। इस्थेटिक का विलोम अनेस्थेटिक है जिसका अर्थ होता है इंद्रियों को विमूर्छित करने और सुलाने वाला। इस हिसाब से सौन्दर्य वह है जो जागृति और स्फुरण पैदा करे- रामनाम अंकित अतिसुन्दर। मुद्रिका सीता में जैसे प्राण फूँक देती है। वे जो आत्महत्या का विचार कर रही थीं; सहसा सप्राण, सस्पन्द, सस्फूर्त हो उठती हैं। मरुतनन्दन हैं हनुमान। वही लाते हैं सीता के मुमुर्ष जीवन में प्राणवायु (ऑक्सीजन)। हनुमान को वायुपुत्र के रूप में देखिए। सुनिए वह रामकथा जो वे सीता को सुनाते हैं और उसके परिप्रेक्ष्य में डाली की विंड नामक इस कविता को पढ़िए:

"Have you ever listened to the wind
The stories that it tells
can mean many things
And soothe the soul as well
It whispers in the trees
And rustles the grass
It tips the flowers

वायुपुत्र सीता के लिए नई हवा लेकर आए हैं, वह जो उन्हें लोरी से भी मधुर रामकथा सुनाती है। पेड़ों और पत्तियों की सरसराहट। कहानियां सुनाती है पवन आती-जाती। यहां पवनपुत्र कहानी सुनाते हैं।

ऐसा नहीं है कि सुन्दरकांड में रूप सौन्दर्य को नज़रअंदाज़ किया गया है। लेकिन वहां अब इसका प्रत्यक्षीकरण भी एक दर्शक को नहीं होता, एक दृष्टा को होता है। पूरे अध्याय में बल अब एक यथार्थ पर है। वास्तविकता के उद्घाटन पर। हनुमान के बारे में भी उनका आभासित रूप संतुष्ट नहीं करता। जो रूप वाक़ई कन्विंसिंग है वह है 'कनक भूधराकार सरीरा/ समर भयंकर अति बल वीरा।' यह हनुमान का मनोभौतिक (साइको-फ़िज़िकल) रूप है। उनकी चेतना का प्रतिनिधि। कनक कोट को भेद ही वही सकता है जो कनक भूधराकार हो। यह कोई मांसपेशियों का प्रदर्शन नहीं है। हनुमान कोई मि. यूनिवर्स रोज़र वाकर, स्टीव सिंटन या बिल पर्ल थोड़े हैं? या वे मि. ओलंपिया डोरियन येट्स या टोनी कोलमेन जैसे लगते हैं? हनुमान लघु से विराट हो लेते हैं- इसके पीछे लघु की वरिमा के हज़ार रूपक हैं। हनुमान को दारासिंह से अभिनीत करवा लें लेकिन उस युवा के मसल-मेनिया को एनाबोलिक स्टीरियोइड्स को लेने की प्रेरणा न दें जो इस तरह के सतही चित्रण से भ्रमित हो जाता है। क्या हनुमान का डीलडौल (फ़िज़िक) सीता मां को भरोसा दिलाएगा? वह सांचे में ढला शरीर नहीं है। वह कसौटी पर कसी काया है। वह कोई शरीर सौष्ठव की नुमाइश नहीं है। रुद्र की रौद्रता का प्राकट्य है उसमें।

इसी तरह से राम के बारे में भी प्रकट का प्रत्याख्यान है। तात राम नहिं नर भूपाला/भुवनेस्वर कालहु कर काला। राम की अभिरामता के बारे में जाना तभी जा सकेगा जब किसी काकपेय कोशिश की जगह सच्चा संदर्शन और समालोकन हो। विभीषण का भी राम की रुचिरता के बारे में विमर्शण पूर्व से ही स्वस्थ है। इसके बावजूद जब वास्तव में राम के आमने-सामने होकर वे उन्हें देखते हैं तब की बात ही और है : रहहु ठठकि एक टक पग रोकी। तब भगवान की विभाश्री और रूपमत्ता की सौन्दर्यानुभूति का जादू चढ़ता है। यानी भगवान का अनुचिन्तित और अनुध्यात सौन्दर्य ज्ञान भी वैसे द्रवित नहीं करता जैसे साम्मुख्य और सामीप्य का। वही उपनिषद

है। भगवान के पास बैठना। तो सच्चा सौन्दर्य सतही और छिछली इंप्रेशनिस्टिक आदतों में जैसे नहीं है वैसे ही कल्पना और अनुचिन्तन के भी उधर है। भूपाला होना राम की असली पहचान नहीं है। वे पद उपाधि और आसन से महत्तर हैं। उनके वास्तविक सौन्दर्य की पहचान करने में ये सब चीज़ें काम नहीं आएंगी।

और सीता का सौन्दर्य? यह भी पहले जैसा नहीं है : कृस तनु सीस जटा एक बेनी। दुबला शरीर। सिर पर जटाओं की एक लट। जैसे एक ज्योत जल रही हो। दत्तचित्त और एकाग्र। जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी। यह वह समय है जब शरीर अत्याचार आकुलित अवस्था में है। सीता मां की तनिमा अपने सहज स्वरूप में नहीं है। वे कृशकाय हो गई हैं। लेकिन दुःखों को सहन करके ही अब उनका वास्तविक सौन्दर्य निखरा है। उनकी आत्मा की उजास उनके चेहरे पर है। केश केश न रहकर जटा हो गए हैं। तपस्विनी का यही रूप, जिसमें वेणिनी सीता अब चोटी भी नहीं करती, पढ़ते हुए अक्सर मुझे गोदान की धनिया याद आ जाती है। उलझे-चिपके रूखे केश। सीता के इसी रूप से कष्ट भोगती कितनी ही भारतीय स्त्रियों ने तादात्म्य किया है। सुकेशिनी सीता की अब यह हालत है। लेकिन सुन्दरकांड की सीता तुलसी के इसी सौन्दर्यशास्त्र की गवाह है। इसी सीता से हिन्दुस्तानी नारियों का साधारणीकरण हुआ है। सड़क पर गिट्टी तोड़कर जो मज़दूरिन अपने माथे से पसीना पोंछती है उसकी स्वेद बूँदों में सीता माँ का तप ही चमकता है। जिस तरह से क्राइस्ट ने हम लोगों की ओर से दुःख भोगा, उसी तरह से सीता ने भी। सीता हवाई राजकन्या नहीं हैं। वे जन्म से ही ज़मीन से जुड़ी रही हैं। वनवास में भी वे सहज हैं। अशोक वाटिका में राम के बिछोह और रावण की यंत्रणा ने उनकी काया को कृश बनाया लेकिन आस्था को दृढ़तर। सीता का यही रूप भारतीय चेतना को हमेशा अभिभूत करता रहा है। जब सारे अलंकरण ख़त्म हो गए हों, जब श्रृंगार-प्रसाधन न बचे हों, आमंडन और सजावट कहीं से कहीं तक न हो, उस ऋजुता और सादगी में, उस सरलता और साधारणता में सीता का सुन्दरकांड प्रतिफलित होता है। जिन्होंने सौन्दर्य और सौन्दर्यीकरण का फ़र्क़ ख़त्म कर दिया है, जो बनी-ठनी और लदी-फदी रहने में अपनी सुन्दरता के प्रति आश्वस्त रहती हैं, उन लोगों और उन स्त्रियों ने बाज़ार भले ही पनपाया हो, फ़ैशन टेक्नोलॉजी के राष्ट्रीय संस्थान भले ही खुलवाए हों, लेकिन 'धूल भरे मैले से आँचल' की सर्वहारा और विपन्ना भारतीय स्त्री को आश्वासन सीता के इसी सौन्दर्य से मिला है जो बहिरंगताओं (externalities) और निर्भरताओं (dependencies) से मुक्त है। सीता का यह सुन्दरकांड एम्बेलिशमेंट इंडस्ट्री के प्रति-ध्रुव की तरह हमारे सामने आता है। हमारे आधुनिक समय में श्रृंगार जो एक रस था, एक उद्योग बना दिया गया है। सौन्दर्य से आनन्द पैदा हो न हो, पैसा ज़रूर पैदा होना चाहिए। हम बाज़ार के लिए विश्वसुन्दरी घोषित करते हैं, हमारी ब्रांड ऐम्बैसडर बनने के लिए, कुछ माल बिकवाने के लिए। जब कोई देश संस्कृति से 'अर्थव्यवस्था' बनता है तो श्रृंगार और अलंकरण काव्यशास्त्र से निकलकर औद्योगिक संरचनाएं हो जाते हैं। नक़लीपन के रूप रचना ही मायावी राक्षसों के कौशल हैं।

सुन्दरकांड में सीता के सौन्दर्य का यह तप-तेज़ वाटिका के एकान्त में ज्योति की तरह है। तुलसी ने इस सौन्दर्य की कोई सार्वजनिक अपोत्तेजना (पैंपरिंग) नहीं की है। यह सौन्दर्य बुलबुले का बोध नहीं है, ब्यूटी बबल जो आजकल ब्रह्मांड और विश्व की कुमारिकाओं के बीच फूटते रहते हैं। आजकल की सौन्दर्य प्रतियोगिताओं की तरह सौन्दर्य को तुलसी चमड़े के चिकनेपन, चीक बोन की ऊंचाई, नाक के उभार, आँखों के बीच की स्पेसिंग, ओंठों के आकार या स्तनों के उभार में नहीं देखते। यह काम रीतिकाल इस्थेटिक्स में किया गया है और सौन्दर्य स्पर्धाएं समकालीन सभ्यता का रीतिकालीन खुमार ही हैं। यह सुन्दरकांड तो तब घट रहा है जब ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष (सेंस पर्सेप्शन) सरासर ग़ैरमौजूद है। भगवान राम सीता को देख ही नहीं पा रहे हैं। यों तुलसीदास ने सौन्दर्यशास्त्र की परिभाषा को ही सर के बल खड़ा कर दिया। अलेक्जेंडर बोम्गार्टन (1714-1762), जिसने पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र की स्थापना

की, के अनुसार तो यह सेंस पर्सेप्शन का विज्ञान है। लेकिन तुलसी इस कांड में सौंदर्य को शरीर के हार्डवेयर की जगह अन्तरानुभूति के सॉफ्टवेयर की तरह व्यवहृत करते हैं। लोगों ने सौन्दर्य को फिटनेस में घटा दिया है। ब्रेट कुक और फ्रेडरिक टर्नर जैसे साहित्य-समीक्षक सौन्दर्य के संबंध में जिस 'बायो-पोयटिक्स' की बात करते हैं, उनके लिए सुन्दरकांड एक प्रति-सैद्धांतिकी है। रूप तो हनुमान ने सुन्दरकांड में अनेक धरे हैं। उसके माध्यम से तुलसी सौन्दर्य-संवेदना में रूप के आग्रह को ख़ारिज़ ही कर रहे हैं। बल्कि वे रूप के अवबोध में हमारी दृष्टि की सीमाओं का संकेत भी करते हैं। हम अणु को नहीं देख पाते जबकि रूप अणुओं का ही सम्मिलन है। जब हनुमान मसक समान रूप धरते हैं तो उनका आण्विक अस्तित्व उनका लंका-विचरण सुगम बना देता है। लंकिनी उसे भी पहचान कर अपनी आण्विक दृष्टि-सामर्थ्य का परिचय देती है और अपने प्रहरी होने को सार्थक करती है। हनुमान का मुष्टि-आघात बताता है कि रूप भ्रम है, लंकिनी पर्सेप्चुअल मिस्टेक का फल भुगतती है। सुन्दरकांड में रूप को प्रतीयमान बताकर तुलसी ने सौन्दर्य के एसेंस की ओर हमें प्रवृत्त किया है। वह सौन्दर्यसार देह-विषय की एकांगिकता में नहीं है, वह एक बहुपक्षी (मल्टीमोडल) उपस्थिति है। हनुमान वानर ज़रूर हैं लेकिन वोल्फगैंग वेल्श की 'एनीमल इस्थेटिक्स' वहां काम नहीं आएगी। हनुमान सीता को देखते हैं तो सीता एक तरह के संघात (ट्रामा) में हैं- एक ऐसे अनुभव में जिसमें आत्महत्या की प्रबल प्रेरणा है। अभी-अभी जान से मारने की धमकी देकर रावण गया है, राक्षसियां अलग अलग तरह से यंत्रणाएं दे रही हैं। सीता बुरी तरह से हिल गई हैं और उनका प्रकृत संतुलन (जिसे आज की मनोचिकित्सकीय शब्दावली में Homeostasis कहते हैं) बहुत डगमगाया हुआ है, ऐसे में रामनाम की 'सुन्दर' मुद्रिका उन्हें उस ट्रामेटिक स्ट्रेस से बाहर निकालती है। उस मुद्रिका से जो आशा और आश्वासन की ऊर्जा उन्मुक्त होती है, सीता धीरे-धीरे अपने केन्द्र में वापस लौटती हैं। हिस्टीरिया, जिसमें वे आग पाने के लिए त्रिजटा ही नहीं, चन्द्रमा तक से अपेक्षा करने लगती हैं; को हिस्ट्री से उपचारित करते हैं हनुमान। मुद्रिका देखकर याद चला आता है सब कुछ। उस याद में एक अलग आग है, एक अलग ऊष्मा। जीवनदायिनी।

तो तुलसी सुन्दरकांड में सौन्दर्य का एक नया अवबोध रचते हैं। रूप की रीतिकालीन समझ वालों के लिए सुन्दरकांड का रूपशास्त्र एक लगातार स्मरणी है। रिमाइंडर है। यह एक कष्ट में कमाई कमनीयता है। कभी इसकी परीक्षा भयंकर समर में है। कभी अत्याचारी शासक की उत्पीड़ा (टॉर्चर) परिसर में। कभी आसन्न राज्यारोहण से रातो-रात विपन्न होकर ज़िन्दगी के जंगलों में भटकन चुनने में। हेनरी थोरो ने सौन्दर्य के लिए जिस मॉरल टेस्ट की बात कही थी, तुलसी उसी नैतिक परीक्षा को सुन्दरकांड में संकेतित करते हैं। इसी से सुन्दर का उनका कांड या प्रसंग राम-सीता के प्रथम दृष्टया प्रेम के वक़्त न आकर इस परिपक्व तपःपूत स्थिति में आता है। सीता का तप तो है। रावण राम-लक्ष्मण को भी तपस्वी ही मानता है : मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। इसी रूप में रामावतार के परशुराम के बाद आने का औचित्य प्रमाणन होता है। परशुराम ब्राह्मण हैं। लेकिन कर्म क्षत्रियों के हैं। राम क्षत्रिय हैं लेकिन निर्वेद तपस्वियों का सा है। लंका के उस बाहरी सौन्दर्य के पीछे अतिशय दर्प और असहिष्णु आचरण है। श्री राम के इस आंतरिक सौन्दर्य के पीछे उनका तप है। सौन्दर्यशास्त्र के संस्थापक बोम्गार्टन ने जिस सेंसुअस कॉग्नीशन (ऐन्द्रिक अवधान) की बात कही थी, 18वीं शती के अंत में कांट ने उस सौन्दर्य-बोध को ऐन्द्रिक की जगह अवधारणात्मक बना दिया। हिन्दी में तुलसी उनसे दो शताब्दी पूर्व यह काम सुन्दरकांड के मार्फत कर रहे थे। शिलर ने सौन्दर्यशास्त्र को जीवन की कला (Art of life : Labenskunst) के रूप में देखा था या मार्कुस ने उसे एक नई सामाजिक संवेदनीयता की तरह। तुलसी सोलहवीं शती में ही सौन्दर्य की गतानुगतिकताओं से हटकर इन आयामों की ओर देखने लगे थे।

● ● ●

क्या तुलसी ने आतंक का प्रत्युत्तर सुंदरकांड में दिया

क्या राम के रूप में वाल्मीकि और तुलसी ने आतंक के विरुद्ध एक कल्चरल मोटिफ़ गढ़ा था? क्या वाल्मीकि और तुलसी यह महसूस करते थे कि मनोविकृत राक्षसों के आक्रमणों के सामने हम तब तक वल्नरेबल बने रहेंगे जब तक कि हम अपनी संस्कृति के इम्यून सिस्टम को मजबूत नहीं बनाते। राक्षसों का आतंक मूलतः संस्कृति पर आक्रमण है। अरण्यकांड के छठे सर्ग में 18वें श्लोक में वाल्मीकि कहते हैं- **'इन भयानक कर्म करने वाले राक्षसों ने इस वन में तपस्वी मुनियों का जो ऐसा भयंकर विनाशकांड मचा रखा है, वह हम लोगों से सहा नहीं जाता है।'** वह एक विराट आर्यावर्त की तुलना में भले ही छोटा हो, लेकिन वह ऐसा वायरल इन्फेक्शन है जो हमारे सांस्कृतिक प्रतिरोध-तंत्र को कमजोर कर ही देगा। राक्षसों का अल्पविकसित सांस्कृतिक व्यक्तित्व ही यह भी सुनिश्चित करेगा कि अन्य सुसंस्कृत देश भी सांस्कृतिक रूप से तहस-नहस हो जाएं। चूंकि वे स्वयं एक कल्चरल कार्नर में पड़ गए हैं- स्वयं की अहंमन्यता के चलते, तो दूसरे क्यों सांस्कृतिक दरिद्रता के शिकार नहीं बना दिए जाएं। अब्दाल सलाम फराज, जो एक शुरुआती आतंकवादी था, ने अपने पैंफलेट में क्या कहा था? 'The neglect of jihad has caused the current depressed position of Islam.' क्या यह स्थिति शिक्षादि मानव विकास लक्ष्यों का पीछा सफलता से न करने से पैदा होती है या युद्ध न करने से? फिर तुलना भी यदि हो तो उसकी परिणति दूसरे की रेखा छोटी करने में क्यों हो? लेकिन राक्षसी सोच दूसरी ही होती है। उन्हें लगता है कि तोड़-फोड़, हत्या, लूट-पाट, रक्त वर्षा के जरिए उस भारतभूमि को क्यों न अपवित्र किया जाए जिसका सांस्कृतिक अभ्युदय राक्षसों में गहरी आत्महीनता का अवबोध पैदा करता है।

राक्षसों के खुद के कठोर फिक्सेशन होंगे, वे उसी कारण से सांस्कृतिक स्टेगनेशन झेल भी रहे होंगे, लेकिन खुद को बेहतर बनाने की जगह वे दूसरों को नष्ट करना चाहेंगे। रावण के बारे में वाल्मीकि पन्द्रहवें सर्ग में 8वें श्लोक में यही कहते हैं कि **'वह दुष्टात्मा जिनको कुछ ऊंची स्थिति में देखता है, उन्हीं के साथ द्वेष करने लगता है।'** चूंकि उन्होंने हमेशा शस्त्र की भाषा में विश्वास किया है, चूंकि उनके यहां बौद्धिक रूप से शास्त्रार्थ में सर्वविजयी अगस्त्य या कौंडिन्य कभी नहीं हुआ जो देश देशान्तरों में सांस्कृतिक प्रतिभा का प्रकाश करे, चूंकि राक्षसों में 'ग्रे मैटर' की कमी है, इसलिए वे अपना संतोष रक्त वर्षा से ही प्राप्त करेंगे। वाल्मीकि रामायण के तीसवें सर्ग में श्लोक 11-12 देखें **'राक्षस सब ओर अपनी माया फैलाते हुए यज्ञमंडप की ओर दौड़े आ रहे थे। उनके अनुचर भी साथ थे। उन भयंकर राक्षसों ने वहां आकर रक्त की धाराएं बरसाना आरंभ कर दिया।'** वाल्मीकि बालकांड के 20वें सर्ग में यही बताते हैं : **'वह महाबली निशाचर इच्छा रहते हुए भी स्वयं आकर यज्ञ में विघ्न नहीं डालता किंतु उसी की प्रेरणा से दो महान बलवान राक्षस मारीच और सुबाहु यज्ञों में खलल डाला करते हैं।'** मारीच और सुबाहु क्या ऐसे आतंकवादी हैं जिनका रावण ने इन्डाक्ट्रिनेशन किया है। उनके दिमाग में जहर भरा है। आतंक के उद्देश्यों के लिए एजेंट नियुक्त किए हैं जिन्हें न केवल ब्रेनवाश किया गया है बल्कि जिन्हें जन्म से ही नफ़रत और हिंसा के लिए ही प्रोग्राम किया गया है। कहने को उनका नाम रक्ष-संस्कृति है लेकिन करते वे आक्रमण हैं और आक्रमण नॉन-कम्बेंटेन्ट्स पर होगा, सिविलियंस पर होगा। उन पर होगा जो यज्ञ कर रहे हैं। योद्धाओं पर नहीं होगा। युद्ध में तो वे बार-बार हारे हैं। कभी सहस्रबाहु से हारे हैं, कभी बाली से हारे हैं, कभी शिव के अंगूठे तले दब गए हैं। इसलिए अब वे पारंपरिक अर्थों में युद्ध नहीं करते, वे माया-युद्ध करते हैं। माया-युद्ध का सही अनुवाद क्या प्रॉक्सीवॉर होगा? उनकी सफलता इसी बात पर निर्भर है कि उनके शिकार माया-युद्ध नहीं कर सकते हैं। इसलिए वे सिविलियन सेटलमेंट्स को जितना लक्ष्य बनाते हैं, उतना उनको जीत का विश्वास होता चला जाता है। याद कीजिए कि राक्षसों के द्वारा पीड़ित एक क्षेत्र का नाम वाल्मीकि ने जनस्थान रखा है। जनस्थान यानी सिविलियन सेटलमेंट। उन पर खर और दूषण ने कब्जा जमा लिया था, जहां से रावण के माया-युद्ध की कार्रवाइयां चलती रहती थीं। यह माया-युद्ध असल में विदेशी शक्ति का गुप्ताभियान (कवर्ट आपरेशन) है। तमस की शक्तियां ब्लैक आपरेशन नहीं करेंगी तो क्या करेंगी?

आतंक की ताकतों की एक विशेषता निर्दोषों की हत्याएं हैं। वे उस न्यूटोनियम भौतिकी के खिलाफ विद्रोह करती हैं जो कार्य-कारण के सिद्धांत पर आधारित है। वह एक तरह की झक है जो 'कारण' के अनुशासन को भंग करने के विरुद्ध जिद बांधे हुए है। उसे स्वैराचार में एक तरह का सशक्तिकरण महसूस होता है। एक घटना (कारण) और दूसरी घटना (कार्य) के बीच आवश्यक व प्रत्यक्ष पारिणामिक रिश्ता न होने पर भी उसे कर गुजरने में आतंकी को लगता है कि वह खुदा हो गया क्योंकि इतनी यदृच्छता तो बस उसी भगवान के लिए संभव है। उसको यह भी भरम हो जाता है कि वह खुद ही जैसे एक डिवाइन मिशन पर है। रावण खुद को खुदा ही समझने लगा था। इसलिए वह निरपराधियों को मारता रहता है। वाल्मीकि रामायण की शुरुआत में ही कहा गया कि **'दुष्टजन इस संसार में बहुत से जीवों को बिना किसी अपराध के ही पीड़ा देते हैं।'** आतंकी राक्षस यही कर रहे हैं। बाणभट्ट ने कादंबरी में यही तो कहा था : **'अकारणाविष्कृत-वैरदारुणादसज्जनात् कस्य भयं न जायते'** अकारण शत्रुता करने वाले उन भयंकर दुष्टों से कौन नहीं भयभीत होगा? दरअसल कारण के साथ की गई हत्या भी अपराध है, क्रूर है, निंदनीय है लेकिन वह अस्तित्व और सभ्यता के आस्थामूलों को उतने विकट तरीके से नहीं हिलाती, जितनी अकारण की गई हत्याएँ। हमने अपनी सभ्यता को तर्क और कारण की नींवों पर आधारित किया है। आतंकवाद

जिस क्षण एक अबोध बच्चे को मारता है, उसे मारता है जिसे कम से कम उससे निजी तौर पर कोई गिला नहीं था तो वह चीज़ एक साभ्यतिक (सिविलाइजेशनल) सिहरन पैदा करती है। मत्स्यपुराण में इसीलिये कहा गया था : **'विधाग्नि-सर्पशस्त्रेभ्यो न तथा जायते भयम्/ अकारणं जगद्बैरिखले-भयो जायतेयथा।।'** कि विष, अग्नि, सर्प तथा शस्त्र से भी संसार को उतना भय नहीं होता जितना भय **बिना कारण संसार के शत्रु** दुष्टों से। अब ऋषि-मुनियों का अधिकतम दोष क्या रहा होगा? यदि धर्म को हम प्राचीन कानून मर्यादा मान लें तो ये ऋषि-मुनि मुख्यतः धर्म-भीरु लोग रहे होंगे। तत्कालीन ऋषि-मुनियों को मारना वस्तुतः लॉ-अबाइडिंग सिटीजन्स को, कानूनी भीरु नागरिकों को मारना रहा होगा। आतंकी के लिए अपनी दुष्ट और भ्रांत मानसिकता के चलते ये नागरिक एक शून्य से अधिक नहीं। ड्यूवाल एवं स्टोल ने लिखा है : 'Motives are entirely irrelevant to the concept of political terrorism. Most analysts fail to recognise this and hence, tend to discuss certain motives as logical or necessary aspects of terrorism. But they are not. At best, they are empirical regularities associated with terrorism. More often they simply confuse analysis.'

इन दिनों हम अक्सर पढ़ते रहते हैं कि आतंकवादी नकली पहचानों (फेक आइडेन्टिटी) का इस्तेमाल करते हैं। स्वयं अमेरिका में 9/11 के बाद अल-अदरिस जैसे लोगों का पता चला जो नकली परिचय पत्र बनाने और बेचने का धंधा करते थे। 800 डॉलर प्रति कार्ड की दर पर वह 18 कार्ड प्रतिदिन बेचा करता था। 9/11 के दो अपराधियों आलोमारी और अल्घमाडी दोनों ने वर्जीनिया निवासी होने के प्रमाण पत्र हासिल कर लिए जबकि वे मेरीलैंड के मोटेल में रह रहे थे। अलकायदा का ट्रेनिंग मैनुअल आतंकियों को ऐसा रूप धारण करने को कहता है जिससे वह 'इस्लामी ओरिएंटेशन का नहीं लगे।' अभी 20 सितंबर, 2008 को अखबारों में दिल्ली पुलिस के हवाले से खबर थी कि आतंकवादियों ने फर्जी वोटर आइडेन्टिटी कार्ड हासिल कर लिए हैं और देशभर में नकली पहचान के साथ घूम रहे हैं। कहीं होटल में किसी नाम से रह रहे हैं, कहीं प्रोफसर और कहीं छात्र बनकर। ब्रिटेन में 'द सन' ने महज 750 पौंड में एक फर्जी आइडेन्टिटी कार्ड हासिल कर लिया था, सिर्फ यह बताने के लिए कि ब्रिटेन में रूप बदलकर रहना कितना आसान है। अरण्यकांड में वाल्मीकि दसवें सर्ग के दसवें श्लोक में यह कहते हैं : **'तब उन सभी ने मिलकर अपना मनोभाव इन वचनों में प्रकट किया- श्री राम! दंडकारण्य में इच्छानुसार रूप धारण करने वाले बहुत से राक्षस रहते हैं। उनसे हमें बड़ा कष्ट पहुंच रहा है, अतः वहां उनके भय से आप हमारी रक्षा करें।'** क्या ये इच्छानुसार रूप धारण करने वाले राक्षस उसी तरह के आइडेन्टिटी फ्रॉड कर रहे थे जैसे आज हो रहे हैं? आतंकी कहता है कि वह अपनी पहचान-स्थापना के लिए संघर्ष कर रहा है, लेकिन सच यह है कि अपनी पहचान छुपाए या बदले बिना वह कहीं भी आतंक फैला नहीं सकता। तुलसी ने इन आतंकियों के बारे में इसलिए कहा : **'काम रूप जानहिं सब माया/सपनेहु जिन्ह के धरम न दाया।'** एक अन्य जगह वे लिखते हैं : **'करहिं उपद्रव असुर निकाया/ नाना रूप धरहिं करि माया।'** हनुमान आतंक का जब काउंटर खड़ा करते हैं तो वे भी द्रुत रूप परिवर्तन करते हैं। **'मसक समान रूप कपि धरी', 'अति लघु रूप धरेउ हनुमाना'** आदि। क्या यह जैसे को तैसा की रणनीति थी? प्रति-आतंकवाद गणवेशधारी प्रतिरोध नहीं है।

आतंकवाद क्या एक विजयिनी रणनीति रही है? आतंकवाद की परिणतियां क्या कभी उसके अंतिम लक्ष्य की ओर पहुंचाती हैं? क्या आतंकवाद कभी एक एफेक्टिव हथियार के रूप में सिद्धि पा पाया है? आतंकवाद की सफलता दर अत्यन्त कम रही है। एक अध्ययन में पाया गया कि 28 आतंकी दलों के 42 नीतिगत लक्ष्यों में से सिर्फ 3 ही किसी हद तक पूरे हो सके हैं।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के उनतीसवें सर्ग के छठवें श्लोक में श्रीराम राक्षस खर से पूछते हैंः- **'राक्षस! दंडकारण्य में निवास करने वाले तपस्या में संलग्न धर्मपरायण महाभाग मुनियों की हत्या करके न जाने तू कौन सा फल पाएगा?'**

क्यों आज अक्षरधाम, संकटमोचन मंदिरों, इस्लामाबाद के प्रोटेस्टेंट इंटरनेशनल चर्च, अल गरीबा के साइनेगॉग, कश्मीर के मंदिरों आदि पर होने वाले हमलों को देखकर राक्षसी हिंसाचार की वही याद आती है जो तुलसी ने बालकांड में की : **'द्विजभोजन मख होम सराधा/सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा'** यज्ञ, हवन और श्रद्धा - इन सबमें जाकर तुम बाधा डालो। '**देखत जग्य निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं**': यज्ञ देखते ही राक्षस दौड़ पड़ते थे और उपद्रव मचाते थे, जिससे मुनि बहुत दुःख पाते थे। उस जमाने में यज्ञ से ऊर्जा मिलती थी तो आतंकी उसे बाधित (disrupt) करते थे। नए जमाने में इनर्जी ग्रिड से ऊर्जा मिलेगी तो उसे करेंगे। मसलन 80 के दशक में दुनियाभर में इनर्जी ग्रिड्स पर 8000 हमले रिपोर्ट हुए। अल साल्वाडोर में अकेले 2477 आक्रमण इनर्जी ग्रिड्स पर हुए। इसके अलावा पाइपलाइनों पर भी हमले हुए। आसाम की गैस पाइपलाइनों से लेकर कोलंबिया तक। आतंकी राक्षस प्रतिद्वंद्वियों के ऊर्जा-चक्रों पर आक्रमण करना हमेशा से चाहते रहे। करते रहे।

यह नहीं कि राक्षस संस्कृति के ध्वजावाहकों को मारकर ही संतुष्ट हो जाएंगे कि वे सिर्फ अक्षरधाम, संकटमोचन जैसी संस्कृति की सनातन पहचान या ताज, ओबेराय, नरीमन हाउस जैसे नए उभरते हुए युवा और ग्लोबल भारत के बड़े प्रतीकों को लक्ष्य कर ही उपद्रव मचाएंगे बल्कि जैसा कि वे पहले भी सिद्ध कर चुके हैं कि वे बाजारों में और सड़कों पर चल रहे, रेलों में यात्रा कर रहे आम लोगों के भी दुश्मन बने रहेंगे। रामायण के चौथे अध्याय में बाईसवें श्लोक में वाल्मीकि यही कहते हैं कि **'जो सब प्रकार के संग से रहित है, उसे भी दुरात्मा मनुष्य सताया करते हैं।'** अल कायदा ट्रेनिंग मैनुअल में अपहृत व्यक्ति को निस्संग करने की रणनीति के बारे में यही बताया गया है : 'Isolate the victim socially, cutting him off from public life, placing him in solitary confinement.' यह निस्संग आदमी- यह सर्वहारा- यह आम आदमी राक्षसों के आतंक का शिकार होता रहता है, इसे बालकांड के 15वें सर्ग में वाल्मीकि ने रावण के बारे में कहते हुए स्पष्ट किया : **'उसने तीनों लोकों के प्राणियों का नाकों दम कर रखा है'** (श्लोक 8) तैंतीसवें श्लोक में उन्होंने रावण के बारे में फिर कहा कि **'वह तीनों लोकों को रुलाता है।'** बीसवें सर्ग में विश्वामित्र कहते हैं 'वह निशाचर तीनों लोकों के निवासियों को अत्यन्त कष्ट दे रहा है। आतंक किसी एक देश को कष्ट नहीं देता। वह इस उस किसी भी देश को क्षति पहुंचा सकता है। वह सभ्यता की अवधारणा मात्र पर आक्रमण है। सन् 2002 में स्टेट आफ द यूनियन भाषण में अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने जो कहा था, उसके शब्द कितने समान हैं : 'Thousands of dangerous killers, schooled in the methods of murder, often supported by outlaw regimes, are now spread **throughout the world,** set to go off without warning.'

आतंकवादियों का असल कल्ट वायलेंस ही रहा है और यदि किसी को उस बारे में थोड़ी सी भी गलतफहमी है तो उसे अलकायदा का ट्रेनिंग मैनुअल पढ़ा दिया जाना चाहिए। उसमें शारीरिक यंत्रणा की कई विधियां दी गई हैं, उन्हें पढ़िए और फिर तुलसीदास द्वारा किए गए राक्षसों के वर्णन को: **'हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति'** कि हिंसा पर ही जिनकी प्रीति है, उनके पापों का क्या ठिकाना। अलकायदा के ट्रेनिंग मैनुअल के शब्दों को इसके सामने रखें : 'It knows the dialogue of bullets, the ideals of assassinations, bombing and destruction, and the diplomacy of the canon and the machine gun. Islamic governments have

never and will never be established through peaceful solutions and cooperative councils.' हिंसा पर प्रीति की इससे बड़ी अभिव्यक्ति क्या होगी? ये आतंकी राक्षस धर्म-परिवर्तन की मांग नहीं करते हैं, वे उसके लिए मजबूर भी नहीं करते हैं। उनका उद्देश्य परिवर्तन नहीं है, विनाश है। उनका लक्ष्य रक्ष संस्कृति में विनियोजन नहीं है, बल्कि प्रतिद्वंद्वी समझ ली गई संस्कृति को गंभीर क्षति पहुंचाने का है : **'जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला/सो सब करहिं बेद प्रतिकूला।'**

ऐसी स्थिति में निदान क्या है? वाल्मीकि और तुलसीदास का उत्तर है; यदि सुंदरकांड कोई प्रमाण है तो, कि आतंकवाद को उसके घर में घुसकर मारो। राम राक्षसों के आतंकवाद को एक पल के लिए भी निगोशिएबल नहीं मानते, वे उसे जड़ मूल से उखाड़ने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं। धरती को निशिचर हीन करने की प्रतिज्ञा। लंका आतंक का स्रोत है। यह कोई 'अकेले भेड़िए का आतंकवाद' (lone wolf terrorism) नहीं है। खर, दूषण, त्रिशिरा, सुबाहु, मारीच कोई वैयक्तिक मनोरोगी नहीं हैं, वे सब स्लीपर सेल्स हैं- या स्लीपर नहीं हैं, (सिवाय आध्यात्मिक अर्थों में), बल्कि बहुत सक्रिय हैं। लंका इनका केन्द्रीय कमांड मुख्यालय है। ये लोग अपने विकेन्द्रित काम करें भी तो भी उनकी अंतिम शरण्य और निष्ठा वही राक्षसी लंका है। तीस्ता सीतलवाड़ टाइपों को इसमें कोई राज्य प्रायोजित आतंकवाद नहीं नज़र आता कि जब मुंबई से लेकर दिल्ली, जयपुर, बंगलुर में आतंकवादी राक्षसों की अमानुषिक कार्रवाइयां होती रहती हैं। राक्षसों के आतंकी हमले तब तक कारगर होंगे ही नहीं जब तक कि उन्हें हथियारों, पैसों, आसूचनाओं आदि के बारे में आश्वस्ति न रहे। लंका आतंक का निर्यात भी करती है और प्रायोजन भी। यदि कभी उसके आतंकियों की ज्यादा पिटाई पड़ जाए तो वे रोएंगे अपनी उसी सैंक्चुअरी में जाकर, जहां शूर्पणखा रोई थी- रावण के सामने। आतंकवाद लंका की स्टेट पॉलिसी का इंस्ट्रुमेंट है, वह लंका की कूटनीति का प्रतिस्थापक है। जिस तरह से ईरान ने हेजबोल्लाह को लेबनान में इस्तेमाल किया, रावण मारीच और सुबाहु, शूर्पणखा-खर-दूषण-त्रिशिरा का इस्तेमाल करता है। रावण राम से युद्ध नहीं शुरू करता, वह तो सिर्फ उकसावा देता है। तय तो राम को करना है कि क्या युद्ध किया जाए, अभेद्य लंका के विरुद्ध। रावण की स्वर्ण की लंका 'ओनरशिप आतंकवाद' का अच्छा उदाहरण है। अकूत पैसा है आतंक के प्रायोजक राज्य के पास। ओसामा एक सऊदी करोड़पति है, दाउद इब्राहिम के पास तमाम तरह का 'गंदा पैसा' है। टाइगर मेमन, अयूब मेमन, छोटा शकील किसके पास पाप की कमाई की कमी है? जब दुनिया में- समकालीन दुनिया में- आतंकवाद के शुरुआती दिन थे, कार्लोस द जैकाल ने वियना में तेल उत्पादक देशों के 11 तेल मंत्रियों का अपहरण कर करोड़ों डॉलर की फिरौती प्राप्त की थी। लंका में भी बहुत पैसा था। इसलिए वाल्मीकि ने लंका का सामान्य और सर्वोभयनिष्ठ दहन से ज्यादा उन सब बड़े राक्षसों के नाम लिए हैं जो 'ओनरशिप टेररिस्ट' हैं- रश्मिकेतु, सूर्यशत्रु, ह्रस्वकर्ण, दंष्ट्र, राक्षस रोमश, रणोन्मत्त मत्त, विद्युज्जिह, हस्तिमुख, कराल, विशाल, शोणिताक्ष, कुंभकर्ण, मकराक्ष, नरान्तक, कुंभ, दुरात्मा निकुंभ, यज्ञशत्रु और ब्रह्मशत्रु। हनुमान इन सबके घरों में जा जाकर आग लगाते हैं। इनकी नामावली भी अपने आप में काफी अर्थवती है। लंका के 'कनक कोट' दरवाजों और 'स्वर्णिम महलों' की चर्चा शास्त्रों में बहुत की गई है। लेकिन उसी का कड़वा सच यह भी है कि लंका उस समय का 'दुष्ट राज्य' (Rogue state) थी। वहां से दुनिया के अलग-अलग स्थानों पर आक्रमण होते रहते थे। यदि दुष्ट राज्य की परिभाषा अवज्ञाकारी, उपद्रवकारी, स्वैराचारी, हिंसक राज्य के रूप में की गई है, तो लंका तब उसे चरितार्थ करती ही थी। जिस तरह से नोम चौम्स्की के अनुसार दुष्ट राज्य को अपनी विश्वसनीयता बनाए रखने के लिए कुछ औपचारिकताएं करनी ही पड़ती हैं, वैसे ही तत्कालीन समय में था जब रावण अपनी विश्वसनीयता के लिए शिव की दुहाई देता था या

जैसे आज के दुष्ट राज्य में खुदा के नाम पर किया जा रहा है। लेकिन जैसे कैलाश हिलाने को भी यही दुष्टता प्रस्तुत रहती थी, उसी तरह से खुदा को भी चेलैंज करने वाले लोग उसी मानसिकता में मौजूद थे। याद कीजिए, वो पंक्तियां : **'तुझको मालूम है लेता था कोई नाम तेरा/कुव्वते-बाजू-ए-मुस्लिम ने किया काम तेरा।'** एक प्रसिद्ध शायर ने कही हैं। खुदा पर भी शारीरिक शक्ति का अहसान। रावण भी शिव के पास इसी तेवर में जाता है। राम के साथ लंका-प्रायोजित आतंक की कोई मोरली रिलेटिविस्ट (नैतिक आपेक्षिकतावादी) तुलना उसी तरह नहीं थी जिस तरह से आज भारत की किसी आतंक-निर्यातक देश से नहीं है।

मुझे याद है कि कभी हिन्दी साहित्य के एक बुद्धिजीवी ने अपनी पत्रिका के संपादकीय में हनुमान के लंका दहन का उदाहरण देते हुए उन्हें इतिहास का प्रथम आतंकवादी कहा था। मेरे पास दकन क्रानिकल का दस जनवरी, 2002 का वह अंक आज भी है जिसमें इस संपादकीय की खबर बनाई गई थी। लेकिन संभवतः उन बुद्धिजीवी ने राक्षसी आतंक की यह पूरी पृष्ठभूमि नहीं पढ़ी होगी। उन्होंने नहीं पढ़ा होगा तुलसी का वह वर्णन **'जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं/नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं'** : जिस-जिस स्थान में वे गौ और ब्राह्मणों को पाते थे, उसी नगर, गांव और पुरवे में आग लगा देते थे।' तो उसकी परिणति यह होनी ही थी कि वह एक दिन आता : **'जरइ नगर भा लोग बिहाला/झपट लपट बहु कोटि कराला।'** हनुमान का लंका-दहन तो राक्षसों के आतंकी ठियों को, उनके प्रशिक्षण कैंपों को वहीं घुसकर भस्मसात करना है। वह उतना प्रि-एम्प्टिव भी नहीं है जितना कि आतंक के विरुद्ध आजकल रूस, इस्रायल और संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे 'चुने हुए' देश कर रहे हैं। 'बुश सिद्धांत' यह था कि संयुक्त राज्य अमेरिका को अधिकार है कि अपने देश की आक्रामक तरीके से हिफाजत उन देशों के विरुद्ध करे जो आतंकवादी समूहों को शरण देते या मदद करते हैं। हनुमान की प्रतिक्रिया तो खतरे की बूं सूंघने की भी नहीं है, खतरों को झेलकर त्रस्त हो चुके लोगों की ओर से की गई प्रतिक्रिया है। स्वयं तुलसी ने इसे स्पष्ट किया : **'साधु अवग्या कर फलु ऐसा/जरइ नगर अनाथ कर जैसा।'** क्या यह प्रति-आतंकवाद था? क्या कालिदास ने कुमारसंभव में यही कहा था : **'शाम्येत्प्रत्यपकारेण दुर्जनः'** कि दुष्ट व्यक्ति प्रत्यपकार से ही शान्त होता है, उपकार से नहीं।

●●●

सेवी रेजिस ने शान्ति शब्द के भीतर विश्रांति (हार्मनी), संतुलन (बैलेंस), समरसता (equilibrium), सुजीविता (longevity), न्याय, समाधान, अनंतता (टाइमलेसनेस), तृप्ति (contentment), स्वतंत्रता एवं परिपूर्णता (फुलफिलमेंट) जैसे गुणों की अर्थच्छवियां देखी हैं। "शान्त" राम के भीतर इन्हीं सारी विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित करने वाला शब्द है। यह संज्ञा नहीं, विशेषण है। नाम से क्या होता है। पैसिफिक (प्रशांत महासागर) में क्या तूफान नहीं आते? इस्लामाबाद (जिसका हिन्दी अनुवाद शान्तिनगर होगा) क्या आतंक का कारख़ाना नहीं है? नाम की जगह विशेषण के रूप में इस प्रथम शब्द को देखें। तुलसी की प्रणति जिस राम के प्रति है वे सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं। वाल्मीकि ने भी राम के चरित्र की इस विशेषता का उल्लेख किया था : सतु नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते/उच्यमानोऽपि परषं नोत्तरं प्रतिपद्यते।।

अर्थात् वे (श्री रामचन्द्र जी) सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं, कोमल वचन बोलते हैं, कठोर बोलने पर भी वे प्रत्युत्तर में कठोर वचन नहीं कहते। भगवान की यह विशेषता नारद, भृगु और परशुराम के प्रसंगों में भी प्रत्यक्ष होती है। श्री राम की यह शान्ति उनके पूरे जीवन का परिचय है जिसे निराला ने राम की शक्ति पूजा में भंग किया। धिक् जीवन जो पाता ही आया विरोध/धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध। या 'सरिता' पत्रिका में आज से कई दशकों पूर्व राकेश नाथ ने 'राम का अन्तर्द्वन्द्व' नामक कविता में भी उनका द्वन्द्व बताया था। नई कविता इस मायने में तुलसी की अपेक्षा वाल्मीकि के अधिक नज़दीक है कि उसमें राम के भीतर की मानवीय उथल-पुथल और हलचल बताई है, राम को ईश्वरी रूप से शान्त न बताकर मानवीय अस्तित्व के अन्तर्विरोधों और

जटिलताओं के दिलचस्प वृत्त तैयार किए गए हैं। लेकिन 'शान्तं' राम के चरित्र का एक पारिभाषिक गुण है तो सही। राज सुनाइ दीन्ह वनवासू/सुनि मन भयेउ न हरष हरासू। गीता के सुखे-दुखे समत्वा का राम आदर्श उदाहरण हैं। रातो-रात उनके भाग्य में परिवर्तन होता है लेकिन राम अपनी ग्रेस नहीं खोते। वाल्मीकि ने भी कहा प्रसन्नतां या न गताभिषेकस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः/मुखाम्बुज श्री रघुनन्दनस्य। राज्याभिषेक से प्रसन्नता नहीं हुई, वनवास से दुःख नहीं हुआ। क्या राम पाषाण हैं? तो फिर बार-बार उनकी आँखों में आँसू क्यों आ जाते हैं? सीता से वियोग पर वे किस तरह आत्मनियंत्रण खोकर पशुओं, पक्षियों, तरुओं से पूछते रहे थे? राम की शान्ति पाषाण की शान्ति नहीं है, वह प्रचेतन की शान्ति है। विष्णु के बारे में श्रीमद्‌भागवत में यही कहा गया था : न्यस्येदमात्मनि जगद्विलयाम्बुमध्ये/शेषेत्मना निजसुखानुभवो निरीहः/योगेनमीलितदृगात्मनिपीतनिदः/स्तुर्ये स्थितो न तु तमो न गुणाश्च युङ्क्षे।। कि हे प्रभो! आप इस निखिल प्रपंच को अपने में समेटकर आत्मसुख का अनुभव करते हुए निरीह होकर प्रलयकालीन जल में शयन करते हैं, उस समय योग द्वारा बाह्य दृष्टि मूँदकर और आत्मस्वरूप के प्रकाश से निद्रा को जीतकर आप तुरीयपद में स्थित रहते हैं। न तो तमोयुक्त ही होते हैं और न विषयों के भोक्ता ही। उस परमचेतन की शान्ति का यही स्तर है। हालाँकि आगे हम राम और विष्णु की शान्ति पर पृथक पृथक चर्चा करेंगे। रामरक्षास्तोत्र में भी उन्हें 'शान्तमूर्ति' कहा गया है। अध्यात्म रामायण में ब्रह्मा जी श्री राम की जो स्तुति करते हैं उसमें भी वे उन्हें हेयाहेयद्वन्द्वविहीन कहते हैं। शान्तचेतस् श्री राम ऐसे लगते हैं मानो वे शान्त रस का ही रूपाकार हों। बैठे सोह कामरिपु कैसे/धरे सरीरु सांतरसु जैसे। राम के लिए शान्ति एक लक्ष्य नहीं है जिसे किसी दिन उपलब्ध या उत्तीर्ण करना है, वह तो उनके चरित्र का एक पारिभाषित अनुतत्व है। वे शान्ति के लिए रास्ता नहीं बनाते, उनका रास्ता ही शान्ति का रास्ता है।

शान्त के साथ शाश्वतं को साथ-साथ पढ़ने से कहीं राम की उस विशेषता का भी पता लगता है जो स्थायी शान्ति में रत है। यह आज की तरह 21 सितम्बर के एक दिन अंतर्राष्ट्रीय शान्ति दिवस मनाकर सम्पन्न हो जाने वाली विशेषता नहीं है। यह दसवीं शती के अंत से तेरहवीं शती के बीच चर्च द्वारा सामंती राज्यों की हिंसा में किए गए उस हस्तक्षेप जैसा भी नहीं है जिसे 'ईश्वरीय युद्धविराम' (Treuge Dei : Truce of God) कहा जाता है और जिसके तहत रविवारों और पवित्र दिवसों और बाद में शुक्रवारों को लड़ाई पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। एडवर्ड गिब्बन ने इस तरह के युद्धविराम की मूल प्रेरणा प्राचीन पैगन जर्मन जनजातियों में मानी है जब साल के कुछ विशेष दिन पृथ्वी की देवी की यात्रा उस अंचल में होना मानी जाती थी। तब झगड़े लड़ाई सब बंद हो जाते थे। हथियार डाल दिए जाते थे। शान्ति और समरसता बहाल हो जाती थी। लेकिन युद्ध या लड़ाई झगड़े की क्षणिक अनुपस्थिति 'शान्तं शाश्वतं' होना नहीं है बल्कि राम तो युद्ध की तैयारी कर रहे हैं और शान्तचित्त से यह तैयारी कर रहे हैं। वे परमानेंट इंटरनेशनल पीस ब्यूरो जैसी कोई संस्था स्थापित नहीं कर रहे। वे तो सुन्दरकांड में ऐसे क़दम उठा रहे हैं जो युद्ध-पूर्व रणनीति बनाने के लिए ज़रूरी हैं। ऐसे में वे शान्ति के उस जड़ अर्थ को कहीं भी नहीं स्पर्श करते।

राम की शान्ति विष्णु की शान्ति से अलग है। वे एक अवतार हैं जो पृथ्वी के इस 'तुमुल कोलाहल कलह' में उतरे हैं। वे एकान्त में नहीं हैं और वानप्रस्थ या संन्यास में भी नहीं। उनकी ज़िन्दगी के वाकयात तो मुझे बरबस टामस लावेल वेडोज़ की उस पंक्ति की याद दिलाते हैं कि 'जीवन अकेला तीर्थयात्री है जो निहत्था हज़ारों सैनिकों से लड़ रहा है' (Life's a single pilgrim fighting unarmed amongst a thousand soldiers.) उन्हें वैकुण्ठ की शान्ति के बीच होने की सुविधा नहीं है। उन्हें तो राक्षसों की धींगामुश्ती, खुराफ़ातों और उत्पातों के बीच अपना स्थैर्य, प्रशमता और मनस्तोष को बनाए रखना है, ज़िन्दगी उनकी सारी परीक्षाएँ ले रही है, और अवतार होने पर भी उनके साथ कोई

रियायत नहीं कर रही। उन्हें वनवास भी मिला है, और उनकी शक्तिभूता पत्नी का भी अपहरण हुआ है। किसी वीतकाम, योगारूढ़ बैरागी की निवृत्ति उन्हें उपलब्ध नहीं है। सबसे ज़बर्दस्त प्रोवोकेशन जो मिल सकते थे, उन्हें मिले हैं। लेकिन वे तैश में नहीं हैं, न बौखलाहट में। चिड़चिड़ाना और जलना-भुनना उनमें नहीं देखा गया। उनमें यह 'शम' कहाँ से आया? शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे। (र.9.4) शान्तं शब्द की व्युत्पत्ति में यह शम शब्द ही मूल है। तुलसी को राम का यही रूप क्यों भाता है? इस विशेषण के प्रथमोल्लेख के क्या मायने हैं?

तुलसी राम के रूप में विष्णु को भजते हैं लेकिन देखते उनमें शंकर के गुणों को हैं। शंकर अथवा शम्भु (शम्मङ्गलं भवति अस्मात्) में भी 'शम' की प्रधानता है। लेकिन शंकर निवृत्तात्मा हैं, और राम पृथ्वी के पचड़ों में फंस गए हैं। इसके बावजूद वे शम का निर्वाह करते हैं। इसीलिए तुलसी उनके इस वैशिष्ट्य को प्रथमतः रेखांकित करते हैं। इसमें उनका समन्वयवाद भी है और कथा प्रसंग की आवश्यकता भी। आख़िरकार सुन्दरकांड में हनुमान को अपने स्वामी के जिस रूप से प्रेरणा लेनी है उसमें 'शान्तं' का यह रूप सबसे महत्वपूर्ण होगा। हनुमान को शत्रु देश में जाना है। विपरीत परिस्थितियों में। सिंहिका, लंका, अक्षकुमार, मेघनाद, रावण। अलग तरह की प्रतिरोधी ताक़तें। हनूष वि. हनुमान। उन्हें अपने अनुद्वेग को बनाए रखना है। अशोक वाटिका और लंका में उन्हें अफ़रा-तफ़री और बदहवासी फैलानी है। दुश्मन के कैंप में घबराहट और धुकधुकी पैदा करनी है तो यह काम अपने 'शान्त' स्वामी का ध्यान करके ही हो सकेगा। इतने दिनों तक उनके प्रभु ने अपने क्षोभ का पता ही नहीं चलने दिया। वे जितमन्यु रहे तो क्या उनके परमभक्त हनुमान उस शान्ति, सौम्यता का कोई काव्यात्मक प्रत्युत्तर और प्रतिकार नहीं प्रस्तुत करेंगे? राम की शान्ति ही उनकी प्रेरणा बनती है कि वे ऐसी शान्ति की ही शपथ लें। यदि वे इसे लंका के विक्षोभ और विकलता में कायांतरित नहीं करते तो लोग इस शान्ति के अर्थ ग़लत ही लगाएंगे। ये तमचर, ये असुर, जिनकी चौधराहट ने विश्वशान्ति भंग कर रखी है जब तक ये सकपकाएंगे नहीं, तब तक उस स्थिरात्मा और धृतिमान के होने का आदर नहीं कर पाएंगे। जब तक इनमें खौफ़जदगी की झुरझुराहट नहीं फैलती, जब तक इनमें त्रास का विस्तार नहीं होता तब तक वे उस अक्षोभ्य और समचित्त राम के मन की गहराई नहीं जान पाएंगे। उस जितमन्यु राम के 'शान्तं' रूप के प्रति इस वृषमन्यु हनुमान का आदर ही है जो लंका में अशान्ति फैलाने और दनुजों को दहलाने में परिणत होता है। यदि शान्ति का समादर नहीं होगा तो लंका दहन के सिवाय रास्ता क्या है? राम की शान्ति और हनुमान की क्रांति एक ही तने की दो शाखाएं हैं। राम का शम निष्क्रिय नहीं है, वे शम से ही शमन की ओर बढ़ते हैं। राक्षसी आतंक के शमन की ओर।

ईश्वर हमारे अपचारों को देखता है और सहता भी है लेकिन उसकी शान्ति उसकी उदासीनता नहीं है बल्कि उसकी लाठी भी उतनी ही बेआवाज़ होती है। राम की शान्ति राम की कायरता नहीं बल्कि उनके मैनहुड का इम्तहान है, सर्वोच्च इम्तहान। बौद्धों में शान्ति का अर्थ सहन करने की ताक़त और धैर्य से भी लगाया जाता है। थेरावद और महायान बौद्धों में शान्ति पूर्णता प्राप्त करने के लिए ज़रूरी पारमिताओं में से एक हैं। राम की शान्ति राम का स्वभाव ही नहीं है, वह तमाम विपरीतताओं को झेलते हुए होने पर भी उनकी ओर से विश्व को दिया हुआ एक उपहार है। हमने ऊपर यह पूछा था कि राम में यह शम कहाँ से आया है। राम के अनतिरेक और आत्मनिग्रह को हम एक ऐसे व्यक्ति की ही पहचान मानेंगे जिसे अपने होने के प्रयोजन का पता है। वह हम जैसा नहीं है कि जिसके बारे में अकबर इलाहाबादी ने कहा : 'दो मुरादें जो मिलीं चार तमन्नाएं कीं। हमने ख़ुद क़ल्ब में आराम को रहने न दिया।' वह अलग है। उसे मालूम है कि वह इस पृथ्वी पर अयोध्या में राज करने के लिए नहीं आया। इसलिए राज्यारोहण न हो पाना दंड नहीं, उसके जीवन-प्रयोजन की सिद्धि की ही ओर एक क़दम है। यह नियतेंद्रिय, जिसने एक

पल में सत्ता को ठोकर मार दी, क्या स्वर्ण-मृग के पीछे भागेगा? लेकिन दानवी दुष्टता को अवकाश मिला तो अपने समय के सबसे बड़े सत्ता-उन्माद को एक वनवासी की चुनौती की पृष्ठभूमि तैयार हुई। इसलिए इस 'शान्त' की विराट बुद्धि ही उसके शम का मूल है। अपने प्रति हुए प्रकट अन्याय भी अपने जीवनार्थ को सिद्ध करने की गुप्त ईश्वरीय योजना हैं, इतनी निष्ठा जिसमें हो, इतनी अंतर्दृष्टि जिसमें हो केवल वही शान्त रह सकता है। राम वो हैं जिन्होंने ईश्वर के, विष्णु के प्रयोजन को अपना मान लिया है। यह कोई निराश निवृत्ति नहीं है कि 'दाई विल बी डन' (तेरी इच्छा पूरी हो) बल्कि यह मनुष्य का ईश्वर से पृथक कोई प्रयोजन नहीं होना है। यह ऐसा नहीं है कि मैन प्रपोज़ेस, गॉड डिस्पोज़ेस। यह तो ईश्वर के रंग में घुल जाना है। जब राम ने वहां द्वैत ख़त्म कर दिया, जब वहां मेरा-तेरा नहीं रह गया तो उनमें शान्ति प्रतिफलित हुई ही। श्रीमद् भगवत गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा : भोक्तरां यज्ञतपसां सर्वलोक महेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वां मां शान्तिमृच्छति। अर्थात् मैं सब यज्ञ तपों का भोक्ता हूँ, सम्पूर्ण लोकों का महान ईश्वर हूँ और वही मैं समस्त भूत प्राणियों का स्वार्थरहित दयालु प्रेमी हूँ, ऐसा मुझे जान लेने पर मनुष्य शान्ति को प्राप्त होता है।

'शान्तं' शब्द को मध्यकालीन मारकाट के प्रकाश में भी देखना चाहिए। शान्ति जिस तरह से आज हमारे लिए सबसे बड़ा मूल्य है, उसी तरह से तत्कालीन तुलसी के लिए भी वह एक सर्वप्रथम और शाश्वत मूल्य था। मध्यकाल में मंगोलों ने 4 करोड़ लोग मारे थे। विल ड्यूरां ने लिखा है कि भारत की मुस्लिम विजय इतिहास की सम्भवतः सबसे रक्तिम कथा है। कभी क्रूसेड में यूरोप में लोग थोक के भाव में मारे जाते थे तो कभी 'डायनों का शिकार' यूरोप में होता था और एम.डी. एलेथिया (द रेशनलिस्ट मैनुअल) के अनुसार 9 लाख डायनें प्रेतविद्या क्राफ्ट के कारण जला दी गई थीं। इंग्लैंड में प्रसिद्ध 'वार ऑफ़ द रोजेस' (गुलाबों का युद्ध) चल रहा था। ड्रेकुला नामक कुख्यात सामंत इसी समय हुआ जिसने एक लाख लोगों को यंत्रणा दी या उनकी हत्या की थी। हंगरी में किसान युद्ध में 70,000 लोग मारे गए थे और जर्मनी में एक लाख किसान इन युद्धों में मारे गए थे। जर्मनी में इसी दौर के आसपास नाइट्स वार भी चल रहा था जिसमें दो लाख पचास हज़ार जर्मन मारे गए थे। रूस में इसी शती में ईवान द टेरिबल हुआ था जिसने नोवोगार्ड के नरसंहार में 60,000 लोग मार डाले थे। वाल्डेनशियन की समकालीन प्रताड़ना में नौ लाख लोगों ने जान दी थी। फ्रांस में संत बर्थोलोम्यू के नरसंहार में 70,000 से एक लाख लोग मरे थे। तीस वर्षीय युद्ध में 30 से 40 लाख लोग मरे थे। मुहम्मदशाह ने विजय नगर में 5 लाख हिन्दुओं का नरसंहार किया था। तैमूर लंग ने दिल्ली में एक लाख लोग काट डाले थे। अकबर, जिसको अमर्त्यसेन अपनी पुस्तक 'द आर्गुमेंटेटिव इंडियन' में अमन का फ़रिश्ता बनाकर पेश करते हैं, ने चित्तौड़ में 30,000 लोगों को मारा था। इसलिए यह तो ठीक है कि शान्तं राम का इंटर्नल स्वरूप है, लेकिन इस शब्द को मिली प्राथमिकता के पीछे तुलसी के कवि का युग चरित्र भी देखा जाना चाहिए। कवि श्रीकृष्ण सरल ने 'तुलसी मानस' में इस युग का चित्र खींचते हुए कहा : यह पुण्य भूमि आक्रान्त हो रही अनुदिन/धन-धान्य लुटेरे लूट-लूट ले जाते/करते विनाशलीलाएं इस धरती पर/वे भारतीय संस्कृति को रहे मिटाते।

ऐसी स्थिति में तुलसी के लिए शान्ति निश्चित ही एक प्राथमिक मूल्य रही होगी। यानी यों तो शान्ति मनुष्य मन की पहली चाह रही है और यजुर्वेद (36/17) में ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः शान्तिः सा माँ शान्ति रेधि का पूरा मंत्र शान्ति की इस इटर्नल चाह को बताता है लेकिन मध्यकालीन हिंसा और खून-खच्चर के बीच प्रभु का 'शान्त' स्वरूप बहुत आश्वस्तिकारी तो था ही, बहुत ज़रूरी भी था।

'शान्त' को सबसे प्रथम उल्लिखित करने वाला

यह कवि आज के उस दौर में और भी महत्वपूर्ण हो जाता है जहां जैविक युद्ध हैं और कोबाल्ट बम भी। 30 जून 1997 को प्रकाशित राबर्ट जैक्सन की रपट के अनुसार 1945 से अभी तक सिर्फ़ 26 दिन ही बिना युद्ध के बीते हैं जबकि कहने को द्वितीय विश्व युद्ध सभी युद्धों को खत्म करने के लिए लड़ा गया युद्ध था। यह वह दुनिया है जहां आण्विक शक्ति-संपन्न देश हैं और जहां आण्विक बमों की हिस्सेदारी के समझौते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका ने 180 बी-61 नाभिकीय बम बेल्जियम, जर्मनी, इटली, नीदरलैंड्स और टर्की को नाटो नाभिकीय बम साझेदारी अनुबंध के तहत दे रखे हैं और इसे नाभिकीय अप्रसार संधि के प्रथम और द्वितीय अनुच्छेद को भंग करना नहीं माना जाता। यहां विश्व शान्ति को ख़तरा अणु शक्ति-संपन्न राष्ट्रों से ही नहीं है, बल्कि डॉ. अब्दुल क़ादिर ख़ान जैसे पाकिस्तानी वैज्ञानिकों से प्राविधिकी कमाए हुए अज्ञात आतंकवादी व्यक्तियों या समूहों से भी है। गुर्एनिका की बमबारी से शुरू हुए थोक विनाश के हथियार हिरोशिमा, नागासाकी जैसे पड़ाव पार कर चुके हैं। गुर्एनिका (स्पेन) की बमबारी में 70 प्रतिशत शहर नष्ट हो गए थे। 2002 ई. में 'अमेरिकन डायलेक्ट सोसायटी' ने थोक विनाश के अस्त्र (वेपन्स ऑफ़ मॉस डिस्ट्रक्शन) शब्द को 'वर्ष के शब्द' के रूप में चुना था। कई फ़िल्में अशान्ति के इस भीषण दुःस्वप्न को चित्रित करती हैं : 'द डे द अर्थ स्टुड स्टिल' (1951), डॉ. स्ट्रेंजलव, हाउ आई लर्न्ड टू स्टॉप वरिंग एंड लव द बांब' (1964), फेल-सेफ (1964), ट्वल्व मंकीज (1995)। अब जो रेडियोलॉजिकल अस्त्र बन रहे हैं वे तो नाभिकीय बमों की तरह दुर्लभ धातुएं भी नहीं चाहते। वे तो कैसियम-137 या कोबाल्ट-60 जैसी साधारण धातुओं से बन जाते हैं। कोबाल्ट बम अत्यंत विकिरणधर्मी भी है और इसकी गामा रश्मियाँ, स्जिलाई के अनुसार, समूची पृथ्वी से जीवन ख़त्म कर सकती हैं। नेविल शूट का उपन्यास 'ऑन द बीच' कोबाल्ट बम के इर्द-गिर्द ही अपनी रोमांच कथा बुनता है। रेलगन, क्वाइलगन, आयन कैनन, प्लाज़्मा कैनन जैसे चुंबकीय हथियार भी इसी दौर की उपज हैं। आज 70 रसायनशास्त्रीय अस्त्र हैं, जिनमें से अनेक से कोई गैस मास्क भी रक्षा नहीं कर सकता। प्रथम विश्व युद्द में क्लोरीन, फास्जीन और मस्टर्ड गैस का उपयोग हुआ था। 1952 में अमेरिकी सेना ने ज़हरीले रीसिन को तैयार करने की विधि पेटेंट कराई थी, 1958 में ब्रिटिश सरकार ने अमेरिका को व्ही.एक्स तकनीक दी। 1994 में अमेरिकी सीनेट रपट के मुताबिक लगभग 60000 अमेरिकी सैनिकों का इस्तेमाल मस्टर्ड गैस और लेवीसाइट के परीक्षण के लिए 1940 में किया गया और 1950 से 70 के बीच ऑपरेशन व्हाइटकोट चला। अब तो बायो-टेररिज़्म के चर्चे हैं। बायरन की कविता याद आती है :- Mark where his carnage and his conquests cease ! He makes a solitude and calls it-peace. यह शान्ति श्मशान की है। हत्याकांडों और विजयों के ख़त्म होने के बाद बचा हुआ एकाकीपन। बड़े-बड़े नरसंहारों की शती। शान्ति ऐसे में ईश्वर की सर्वप्रथम वर्ण्य विशेषता होगी ही जबकि अशान्ति मनुष्य की सर्वप्रथम वर्ण्य विशेषता हो चुकी हो। यह भी ध्यान देने योग्य है कि कहा तो यह जाता है कि शासकों को शान्ति का प्रयोग छोड़कर दंड-प्रयोग की प्रणाली को ही अपनाना चाहिए : "साम्नः प्रयोगमिहं निष्फलमेव बुद्धवा दण्डप्रयोग विधिरेव सदा प्रयोज्यः', लेकिन राम तो 'शान्त' के रूप में प्रथम परिचय के पात्र बनाए जा रहे हैं। जिसे इस श्लोक के अन्त में भूपाल चूड़ामणि कहा जाएगा, उसे इस श्लोक के प्रारंभ में 'शान्त' कहा जा रहा है। वे आधुनिक समय के उन युद्धखोर शासकों से भिन्न हैं जो 'जिंगो आल द वे' की घंटियाँ (बैल्स) बजाते हुए दुनियाभर में आतंक फैला रहे हैं। प्राचीन रोम में 'पीस' शब्द का व्युत्पित्तमूलक अर्थ 'एब्सेन्शिया बैली' था- 'युद्ध का अभाव', - लेकिन राम के साथ शान्ति इस नकारात्मक अर्थ में सम्पन्न नहीं होती है। यह वह शान्ति है जो न्याय की उपस्थिति से आती है, न कि तनाव की ग़ैरमौजूदगी से। अफ्रीका के 'ग्रेट लेक्स रीज़न' (विशाल झील प्रांतर) में शान्ति के लिए 'किन्ट्रोकी' शब्द प्रचलित है

जिसका अर्थ है आदमियों, शेष प्रकृत दुनिया व खगोल के बीच एक सुरम्य संतुलन। सिर्फ़ युद्ध के न होने को शान्ति मानें तो स्वीडन में 1814 के बाद से कोई युद्ध नहीं हुआ। पेंसिलवेनिया में 1682 से 1754 तक 72 वर्षों तक कोई युद्ध नहीं हुआ, लेकिन वहाँ दासता भी थी और वर्ग संघर्ष भी। कुछ लोग ग़ैर-सैन्यवादी होने को शान्त होने का प्रमाण मानते हैं। आज भी एंडोरा, कोस्टा रिका, जेमिनिका, ग्रेनेडा, हैती, आइसलैंड, किरिबाती, मार्शल द्वीप समूह, मारीशस, माइक्रोनेशिया, मोनाको, नौरू, पलौ, पनामा, सेंट किट्स, सेंट ल्यूशिया, सेंट विंसेट समोआ, लीख्टेन्स्टीन, सान मरीनो, सोलोमन द्वीप, ट्यूवालू, वैटिकन सिटी जैसे 23 देश हैं जिनके पास कोई राजकीय सेना नहीं है। वनवासी राम के पास भी स्वयं की कोई सेना नहीं थी। उन्होंने तो वनवासियों को संगठित किया। आज संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे युद्धखोर देश हैं जो विश्व का आधे से ज्यादा सैन्य व्यय स्वयं करते हैं। राम की सेना वस्तुतः राम का लोक-संग्रह है। लोगों के भीतर तरह-तरह की शक्तियां बिखरी पड़ी हैं। शक्ति के विद्युत्कण निरुपाय हैं और विकल भी। राम उनका समन्वय करते हैं, उन्हें एकसूत्र में बाँधते हैं ताकि मानवता विजयिनी हो।

शाश्वतं

ईश्वर की जिस दूसरी विशेषता में तुलसी की प्रणति है वह है 'शाश्वतं' की विशेषता। ईश्वर समय नहीं है, इटर्निटी है, समयांत शून्य है। महाकाल की अवधारणा ही यह है कि वह काल को अतिक्रान्त करता है। तो वे राम जिन्हें तुलसी पूज रहे हैं किसी अवधि में सीमित राम नहीं हैं। वे शाश्वत हैं। उन्हें इतिहास में नहीं बाँधा जा सकता। उनकी सदैवता और अक्षुण्णता को पहचानना ही रावण-दृष्टि से मुक्ति है। दो इटर्निटी हैं : Parte Ante जिसका अर्थ है : an infinite extent of time before the present और parte post यानी an infinite extent of time after the present. राम दोनों ही अनंतों में हैं। लेकिन रावण उन्हें उनकी सनातनता और अव्ययता में देख ही नहीं पाता। विभीषण उसे सुन्दरकांड में सावधान भी करते हैं : तात राम नहिं नर भूपाला/ भुवनेस्वर कालहु कर काला। कि राम को समय के किसी बिन्दु पर स्थित नश्वर मनुष्य की तरह देखने की भूल न करें बल्कि उनको उनकी समयांत शून्यता में देखें। मनोभौतिकी में एक काल त्रुटि होती है, रावण भी एक काल त्रुटि कर रहा है और विभीषण की चेतावनी भी उसी के प्रति है। ईश्वर समय का आलिंगन करे तो यह नहीं समझ लेना कि वह समय के पार नहीं है। ईश्वर के अज्ञात तट हैं, अज्ञात क्षितिज। शाश्वतता एक सकारात्मक शब्द है लेकिन उसकी दो नकारात्मक व्याख्याएँ हैं। एक, जिसका कोई आरम्भ नहीं है। दो, जिसका कोई अंत नहीं है। लेकिन जिसकी चमक और ताक़त सबमें निहित है, जो पार्थिव चीज़ों के पारदर्शी घूँघट से भी झाँक पड़ती है उसे तो समझें। अमरता की सबसे अच्छी परिभाषा एक गूँगे-बहरे व्यक्ति ने दी थी : It is the lifetime of the Almighty. यह ईश्वर का जीवनकाल है। तो ईश्वर समय में नहीं है। वह तो समय का

लेखक है। ईश्वर ने समय को रचा लेकिन काल ईश्वर के अपने होने या सत्व का अंश नहीं है। ईश्वर ने जिस तरह यह स्पेस रचा होगा, उसी तरह उसने समय और पदार्थ को भी रचा होगा। लेकिन ईश्वर का स्वयं का कोई ड्यूरेशन नहीं है, वह निरवधि है। ईश्वर न तो काल से बाधित है, न इससे परिमित। रावण ईश्वरत्व को तो देख नहीं पाता क्योंकि उसकी गति वर्तमान में ही है। उसकी पहुँच (एक्सेस) न तो अतीत में है, न भविष्य में। राम पदार्थ नहीं कि वे समय में हों। बाइबल का सातवां छंद (Revelation) कहता है कि जब सातवाँ देवदूत बिगुल बजाएगा, ईश्वर का रहस्य खत्म हो जाएगा। लेकिन तुलसी के राम 'व्यापक अजित अनादि अनंता' हैं। उनकी कोई आरम्भिकी (जिनेसिस) नहीं है, तुलसी नहीं कहते कि आरम्भ में सिर्फ़ शब्द था। (इन द बिगिनिंग वास द वर्ड)। वे तो उन्हें अनादि कहते हैं, शाश्वत। जिनेसिस और बिगिनिंग जैसी चीज़ें ईश्वर की व्याख्या नहीं कर सकतीं। तुलसी यह नहीं कह रहे कि राम रावण से अधिक बूढ़े हैं, Aged हैं, वे कह रहे हैं कि राम एजलेस हैं। 'कालहु कर काला' है। ओल्ड टेस्टामेंट में जोशुआ के 'लम्बे दिन' का उल्लेख है- जब सूर्य एक दिन के लिए रुक गया था- ताकि जोशुआ अमोरिट्स के विरुद्ध एक महत्वपूर्ण युद्ध पूरा कर सके। ईश्वर ने उसी समय अपवादात्मक रूप से अत्यन्त भारी तड़ित वर्षा की भी व्यवस्था की। यानी ईश्वर जो पृथ्वी का अपने अक्ष पर घूमना रोक सकता है, काल की गति उस पर निर्भर है। ईश्वर अतिप्राकृत शक्तियों की मदद से अपनी इच्छा पूरी कर सकता है। समय के सामान्य प्रवाह में किसी नैतिक कारण से ईश्वर की दखलंदाज़ी की चर्चा पश्चिमी पौराणिकी में भरी पड़ी है। 714 ई.पू. राजा हेजेकिआ की उम्र ईश्वर ने 15 साल और बढ़ा दी। कथा कहती है ईश्वर ने कालयंत्र (सन डायल) को दस क़दम पीछे जाने को कहा। क्या उसने पृथ्वी के अपने अक्ष पर परिभ्रमण में कुछ डगमगाहट (Wobble) पैदा की? क्या उससे सभी को प्रभावित नहीं होना था? कथा में ऐसे वैज्ञानिक प्रश्न अनुत्तरित हैं। फिर भी यह ईश्वर की शाश्वतता ही है जिसके कारण विश्व भर की पौराणिकी में समय और ईश्वर के अंतर्सम्बन्धों का अध्ययन एक दिलचस्प शोध विषय की तरह मौजूद हैं।

ये अन्तर्सम्बन्ध हर जगह एक रूप नहीं हैं। बाइबल में सोलोमन कहता है:- He has made everything beautiful in its time, also he has put eternity into man's mind. So that he cannot find out what God has done from the beginning to the end. (Ecclesiastes 3:10-11)

यहां कहा ये जा रहा है कि इटर्निटी मनुष्य के दिमाग़ में इसलिए रखी गई क्योंकि ईश्वर ने आदि से अंत तक क्या किया, इसका उसे पता न चल सके। लेकिन तुलसी के राम शाश्वत इसलिए नहीं कि वे मनुष्य के दिमाग़ की उपज हों, कि उससे आदि और अंत का पता न चले बल्कि वे अनादि हैं, नेति नेति हैं। आदि और अन्त का पता न चलना एक बात है और उनका न होना अलग बात। ईश्वर के सामने हमारी ज्ञानात्मक और संवेदनात्मक असमर्थता मात्र की बात नहीं है। सिर्फ़ यह नहीं है कि हम व्यतीत की पुनर्रचना सही-सही नहीं कर सकते। रोमिला थापर, रामशरण शर्मा, सतीशचंद्र आदि के तमाम दावों के बावजूद। कि भविष्य की घटनाओं को यथार्थ नैश्चित्य के साथ पूर्वानुमानित नहीं कर सकते कि कल्कि अवतार कब होगा, कि क्राइस्ट कब लौटेंगे, बल्कि यह भी कि आदि और अंत के दो छोरों के बीच समय का कोई रैखिक प्रवाह नहीं है। मनुष्य अपनी भ्रमित बुद्धि के चलते इस एकायामी रैखिक प्रवाह में फँसा हो सकता है और ईश्वर के सामने हमारी दृष्टि (विज़न) के संकुचन के कारण आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य से हमारा विचलन भी हो सकता है। जब हम समय की प्रगति को एक रैखिक तरह से देखते हैं तो हमें लगता है कि यदि इसी को पर्याप्त पीछे देख लिया जाए तो कोई न कोई प्रथम कारण ("causa prima") मिल जाएगा। कोई बड़ा धमाका (बिग बैंग)। कोई ईश्वर। शब्द। या कोई प्रथम चीज़। लेकिन यदि समय रैखिक न होकर वर्तुल हो,

चक्रीय हो, स्फेरिकल हो तो? पुराने टेस्टामेंट में 'समय' का कोई अमूर्त प्रयोग नहीं है। यह बात रोन्नी लिटिलजॉन ने अपने निबंध 'काल की हिब्रू अवधारणा' (द हिब्रू कांसेप्ट ऑफ़ टाइम) में नोट की। उसने कहा कि हिब्रुओं के लिए समय एक घटना है। ग्रीक लोगों की तरह उन्होंने इटर्निटी की व्याख्या समयहीनता (टाइमलेसनेस) में नहीं की है। उनके लिए जीवन ही समय है। To live was time. ऐसा कोई समय नहीं जब जीवन-घटनाएं (life events) न हों और ऐसी कोई जीवन-घटना नहीं जब समय न हो। किन्तु आगस्टीन ऑफ हिप्पो ने कहा कि समय सिर्फ़ सृजित संसार में ही अस्तित्व रख सकता है तो ईश्वर समय के बाहर (outside of time) होता है। ईश्वर स्पेस और समय दोनों से स्वतंत्र है क्योंकि ये दोनों संसार के गुण हैं।

लेकिन शाश्वतं के संबंध में घटनापरक हिब्रू या अमूर्त्तनवादी ग्रीकों से भिन्न तुलसी के यहाँ, उस बहाने भारतीय दर्शन में भी, इसकी व्याख्या ऐसे एकायामी तरीक़े से नहीं की जाती है। संसार और ईश्वर को अलग-अलग मानकर यहां नहीं चला जाता। ईश्वर होगा तो ईश्वर के प्रभाव (effects) क्यों न होंगे? कि ईश्वर का भी विकास होगा? प्रत्येक ऐसे पल जब भगवान का अस्तित्व है; उसके प्रभाव भी अस्तित्ववान रह सकते हैं और इस प्रकार भगवान को काल के भीतर अपने प्रभावों से पूर्व उपस्थित होने की ज़रूरत नहीं है। इसलिए तुलसी के शाश्वतं की बात दूसरी है। तुलसी का इस शाश्वतं के प्रति प्रणाम पार्थिव राम के विरोध में नहीं हैं। वे राम के 'मनुष्यत्व' में ईश्वरत्व को देखते हैं। वे नीत्शे की तरह भगवान को मृत नहीं मानते। वे नहीं कहते कि 'भगवान भी सड़ता (decompose) है। भगवान मर गया। भगवान मृत ही रहेगा और हमने उसकी हत्या की है।' हालाँकि नीत्शे की इस मृत्यु घोषणा की बहुत ही अर्थवती उपयोगिताएँ हैं और इस बात की भी कि ईश्वर की मृत्यु की ज़िम्मेदारी हम पर है। डी. क्यूपिट की पुस्तकें 'भगवान की आज्ञा लेकर छूटना' (Taking Leave of God) और 'सिर्फ़ मानवीय' (Only Human) भी कुछ इसी तर्ज़ पर हैं। ध्यान रखें कि तुलसी के राम 'सिर्फ़ मानवीय' हैं, हालाँकि वाल्मीकि के राम उनसे भी ज़्यादा मानवीय हैं। फिर भी तुलसी का भगवान पृथ्वी पर उतरता है और राक्षसी शक्तियों को उसके विरुद्ध जीत का भरोसा भी है। नर वानर केहि लेखे मांहि। लेकिन राम के आंतरिक ऐश्वर्य की गणना न कर पाना ही रावण की असफलता है। अपने शत्रु को कम आँकना वैसे भी बेवक़ूफ़ी है। तुलसी के राम यदि नंगे पैर हैं, यदि वे आम आदमी की तरह बोलते दिखते हैं तो क्या उनके असाधारणत्व से आँख हटा लेना योग्य होगा? यह ग़लती अक्सर होती है। यदि हम ईश्वर से बात करते हैं तो वह प्रार्थना है। यदि ईश्वर हमसे बात करे तो वह पागलपन है, मनोरोग है, उन्माद है। राम का तापस होना या मानवीय होना रावण के लिए एक ग़लत रणनीति अपनाने का कारण बन जाता है। शाश्वतं का बोध होने पर वह थोड़ा गंभीर भी होता, लेकिन नररूप राम को देखकर वह भरमा जाता है। वह नहीं जानता कि ईश्वर की शाश्वतता सिस्टर्न के पानी जैसी नहीं है कि उसी जल का पुनर्चक्रण हो, बल्कि सदा प्रवाही निर्झर जैसी है जिसका पानी बासा और गंदला नहीं होता, सदा ताज़ा होता है। रावण को भी विकृत अर्थों में ही सही प्यास उसी शाश्वतं की है। उसके वरदान की अभीप्सा में वही बात है : हम काहू के मरहि न मारे। लेकिन यह सिस्टर्न वाली शाश्वतता है जो ईश्वर की तरह सुन्दर शाश्वतता नहीं है : क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति....' वाली। इसलिए यह अपने अपवाद भी छोड़ती है : ' हम काहू के मरहि न मारे/वानर मनुज जात दुइ बारे।' क्योंकि यह तो उन अपवादों को अपना आहार मानती है : वानर मनुज अहार हमारा'। उसी 'आहार' से रावण की हार तय हो जाती है : राज़ खुल जाने का ख़तरा नहीं रहने देता/वो किसी को पसे पर्दा नहीं रहने देता/चप्पे-चप्पे में हमेशा से वही रहता है/जो किसी को भी हमेशा नहीं रहने देता।

शाश्वतं की व्याख्या करते हुए तुलसी ने अन्यत्र लिखा है : जो तिहुँ काल एकरस अहई (1/341/8)।

वे अक्षर, अनवरत, अविरल, चिरंतन, ध्रुव, नित्य, अविराम, सनातन, निरंतर और अविरत ईश्वर को सुन्दरकांड के आरम्भ में ही प्रणाम करते हैं। यह वह ईश्वर है जिसका कोई उत्तराधिकारी नहीं है। प्राणी के बारे में कहा जा सकता है कि वह था और होगा, ईश्वर तो सदा 'बस' है। He is not in his essence this day what he was not before, or will be the next day and year what he is not now. All other things pass from one state to another, from their original to their eclipse and destruction but god possesses his being in one in- divisible point, having neither beginning, end, nor middle. वह तो शाश्वतं से शाश्वतं तक है (He is blessed from everlasting to everlasting" - 12/13)। भगवान के मूड स्विंग्स नहीं होते। वह सच्चिदानंद है। पर 'खुली आस्तिकता' के आन्दोलन में ईश्वर के समयत्व (temporality) को लेकर बहुत सी बहसें हुई हैं। यह कहा गया कि यदि ईश्वर की शाश्वतता समयहीन है तो फिर वह हमारे सामयिक संसार से कैसे सम्बद्ध हो सकता है? तब वह ऐसा ईश्वर कैसे हो सकता है जो समय के प्रवाह को अनुभूत करे और भविष्य का किसी ऐसी चीज़ की तरह सामना करे जो पूर्णतः स्थिर (Completely settled) नहीं हुआ हो। क्लार्क पिनॉक का कहना है कि कालहीन प्राणी न तो योजना बना सकता है और न उसे क्रियान्वित कर सकता है। (Timeless being could not make plans and carry them out) (Systematic Theology : P. 120)

लेकिन भारतीय पौराणिकी में अवतार का अर्थ ही यही है कि वह न केवल पृथ्वी पर उतरता है बल्कि समय पर उतरता है। वह समय के बदलावों के बीच जीता और हमसे अंतःक्रिया (interact) करता है। वह समय का समय है, सुप्रीम समय लेकिन पश्चिमी दर्शन के भगवान की तरह हमारा भगवान समयहीन नहीं है। यदि वह धरती (स्पेस) पर अवतीर्ण होता है तो वह समय में भी साक्षात्कृत होता है क्योंकि समय और आकाश अलग-अलग नहीं हैं। वे सह सापेक्ष हैं, बिना देश के समय नहीं हो सकता। इसलिए अवतार के समकालीन लोग हो सकते हैं, ब्रह्म के समकालीन नहीं। राम के समकालीन रावण है, लेकिन रावण ब्रह्म के समकालीन नहीं है। इसलिए ब्रह्म जब राम के रूप में अवतार लेता है तो वह योजना भी बनाता है, समय सीमाएँ भी रचता है और उन्हें क्रियान्वित भी करता है। जो लोग अवतार को इतिहास न बताकर काल्पनिक पात्र बताते हैं, वे अवतार के समय में उतरने के बुनियादी फ़र्क़ की उपेक्षा करते हैं।

बाइबिल में कहा गया कि पाप की उजरत मृत्यु है। लेकिन यदि ऐसा है तो पुण्यात्मा को, 'अनघं' को 'शाश्वतं' होना ही चाहिए। अनघं का स्वभाव ही है शाश्वतता। जो सत्ता निश्चय ही अजात और अमृत है वह मरणशीलता को कैसे प्राप्त हो सकती है? मरण रहित वस्तु कभी मरणशील नहीं हो सकती क्योंकि किसी के स्वभाव का विपर्यय नहीं होने वालाः अजाता ह्यमृतो धर्मो मर्त्यनां कथमेश्यति। न भवत्यमृतं मर्त्य न मर्त्यमृमतं तथा। प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्‌भविष्यति।। (मांडूक्योपनिषद 6.7)

तुलसी के राम यदि 'शाश्वत' हैं तो इन्हीं अर्थों में कि उनकी राम चेतना मरणशील नहीं थी। राम देह तो डिकम्पोज़ हो गई लेकिन राम अध्यात्म नहीं। वह हमें आज भी जीवन देता है, वह आज भी हमें अनुप्राणित करता है। शाश्वतं कहकर तुलसी आधुनिक युग की एक दूसरी दुखती रग पर अँगुली रखते हैं। इस बुराई को अपनी प्रसिद्ध पुस्तक फ्यूचर शॉक में एल्विन टॉफलर ने 'परिवर्तन की बीमारी' कहा था। परिवर्तन की एक अत्यावेशित गति ने मनुष्य को मनोवैज्ञानिक और सामाजिक ब्रेकडाउन की हालत में ला दिया है, रिश्तों में तदर्थता आ गई है। नौकरी में पुनर्यांत्रिकी (माइकल हैमर) और डाउनसाइज़िंग के तर्क उभरे हैं। एक पेपर प्लेट कल्चर है जहाँ इस्तेमाल करने के बाद आप फेंक दिए जाएँगे, पूर्वानुभव से एक शार्प ब्रेक है और नौकरियाँ हायर एंड

फायर के तर्क पर होती हैं या हॉपिंग के। भौतिक और शारीरिक रूप से 'मानव जाति की रासायनिक और जैविक स्थिरता' संकट में है, मनोवैज्ञानिक रूप से संवेद्यता, ज्ञानात्मकता और निर्णयन में नए स्ट्रेस पैदा हुए हैं। शाश्वतं का मूल मंत्र देकर तुलसी जूझने की हमारी उस क्षमता को बढ़ाते हैं जिसे टॉफलर ने कोप-एबिलिटी कहा था। इस अति-द्रुत परिवर्तन में सुमित्रानंदन पंत की 'परिवर्तन' कविता का रस भी नहीं बचा है- बस कुछ ग्रंथियों का अतिरेकी स्राव है। इस युग के पाठक को 'शाश्वत' राम के आदर्श से तुलसी एक परिप्रेक्ष्य देते हैं। यह वह युग है जब परिवर्तन को अंदर से पूरी तरह जज़्ब भी नहीं किया होता है कि बाहर फिर बहुत कुछ बदल जाता है, कि जब लोग ज़्यादा से ज़्यादा अपने प्रसंग और संदर्भ से च्युत हो रहे हैं।

ऐसे में 'शाश्वतं' का बोध एक बहुत बड़ी आश्वस्ति है। लार्ड बायरन की एक काव्य पंक्ति है : 'इटर्निटी फारबिड्स दी टु फॉरगेट; ईश्वर हमें नहीं भूलेगा क्योंकि वह शाश्वत है। हम ईश्वर को नहीं भूलते क्योंकि वह शाश्वत है। तब हममें थामस मूर की तरह यह विश्वास बना रहता है कि मेरी परिभ्रमणशील देह में से फूल खिलेंगे और मैं उनमें भी रहूँगा। तब हम 'पानी केरा बुदबुदा' के नैराश्य को जीत पाते हैं- प्रभात होते ही यह तारा छिप जाएगा। यह अस्थिरता और क्षणभंगुरता का भाव नैराश्य भी पैदा करता है। यह हमारे देखने को सीमित करता है। यदि शाश्वत का अवधान न रहे तो हमें अपना क्षितिज ही अंतरिक्ष नज़र आएगा। अंतरिक्ष कि जिसका अन्त नहीं है, में टूटते हुए तारे को देखकर हमें अपनी नित्यचंचल हैसियत का आभास होता है। हम ज़िन्दगी को बक्से में बंद देखने के आदी हो चले हैं। तुलसी इसी कारण हमारी आदतों को झटका देते हैं। सेनेका की तरह वह हमें आश्वस्त करते हैं कि जिस दिन को हम अपना आख़िरी दिन मानकर डरते हैं, वह तो सिर्फ़ अमरता का जन्मदिन है। अ बर्थडे ऑफ इटर्निटी। हमारा डर व्यर्थ है। उस दिन तो ये छायाएँ पीछे छूट जाएँगी।

उस दिन जब हमारी मृत्यु होगी, सूर्य वैसे ही उगेगा। हवा वैसे ही चलेगी। वैसी ही बनी रहेगी लोगों की चहलक़दमी। यह नर्मदा की धार वैसे ही बह रही होगी। वैसे ही गूँज रही होंगी मन्दिरों में घंटियाँ, मस्जिदों में अजान। हम हमेशा से एक बायोजिओकेमिकल चक्र का हिस्सा थे। उस दिन भी उसी में घुल गए होंगे। मिट्टी से मिट्टी में। राख से राख में। यह भी एक सातत्य है, यह भी एक निरन्तरता। शाश्वतं की साक्षी।

● ● ●

अप्रमेयं

शाश्वतं की ही परिणति है अप्रमेयं। आदि अंत कोउ जासु न पावा/मति अनुमानि निगम अस गावा। तुलसी के इस अप्रमेयं शब्द के भाव को कभी कवि इकबाल ने ऐसे व्यक्त किया था : जेहन मे जो घिर गया लाइन्तहा क्यों कर हुआ/जो समझ में आ गया वो खुदा क्यों कर हुआ। अप्रमेयं का अर्थ यह भी है कि ईश्वर अगणितीय (Non-mathematical) है। यह शब्द सिर्फ हमारी ज्ञानात्मक शक्ति (noetik ability) की सीमा की ओर ही इशारा नहीं करता बल्कि यह भी बताता है कि ईश्वर किसी सूत्र या समीकरण में नहीं अंटता। बात सिर्फ यही नहीं है कि वह जटिलता (complexity) से मुक्त है। बल्कि यह है कि जटिलता किसी भी सीमा के पार (irreducible) है। 'मति अनुमान' में इसी अनुमान मात्र की बात कही गई है। क्योंकि ईश्वर के बारे में असंख्य कारकों पर एक असीमित संवेदनशील निर्भरता (infinite sensitive dependence) रखनी पड़ती है। नोएल बीचब्राउट ने लिखा हैः- 'Even a small change in just one variable say the difference between 21.999999995 and 21.9999999996 results in a system behaving unpredictably' (मात्र एक कारक में 21.999999995 एवं 21.9999999996 का लघु परिवर्तन मात्र भी सिस्टम के व्यवहार में अनैश्चित्य ला देता है)। यह बात उसने मौसम के संदर्भ में कही है। इस सिद्धांत को 'तितली प्रभाव' कहा जाता है। तितली के पंखों की अमेजन में फड़फड़ाहट ओकलोहामा में तूफान ला सकती है। तो हम किन-किन चीजों की गणना करेंगे?

ईश्वर की पैमाइश क्या है? उसे घनमीटर में मापें या लीटर में? वह वर्गमीटर में होगा या कैरट में? वह गज में नपेगा या सेंटीग्रेड में? और उसे नापने के यंत्र क्या होंगे? स्पीडोमीटर या

लाइटमीटर? औसिलोग्राफ या हाइग्रोमीटर? क्या है उसकी ऊंचाई या मोटाई? लम्बाई या चौड़ाई? ईश्वर की परिधि या परिमा क्या है? कहते हैं वह एक ऐसा वृत्त है कि जिसका केन्द्र सभी जगह है और परिधि कहीं नहीं। ईश्वर की बिस्वा में नपाई करें या प्रकाश वर्षों में? इसे बैरल में देखें कि गैलन में? ईश्वर का आयतन क्या है? क्या इसका कोई स्वनांक है या क्वथनांक या गलनांक? ईश्वर की वेलोसिटी क्या है? ईश्वर हैंडी साइज में मिलेगा या पॉकेट साइज में? तौल करेंगे उसकी? धरम कांटे से काम लेंगे या स्प्रिंग बैलेंस से? ईश्वर का ऍटोमिक वेट क्या होगा? और क्षेत्रफल? तुलसी कहते हैं कि ईश्वर का कोई परिमाप नहीं है, कोई परिमाण नहीं है। जब उसकी कोई प्रमिति नहीं है, जब वह मापातीत है तो बस 'मति अनुमान' मात्र ही आपके बस में है। लेकिन तब क्या वह भी व्यर्थ नहीं है? यदि ईश्वर एक ज्योति भी है तो भी कोई इल्यूमिनोमीटर या फोटोमीटर काम नहीं आएगा। यदि ईश्वर ॐ जैसी कोई ध्वनि भी है तो भी कोई सोनोमीटर हमारी मदद नहीं करेगा। ईश्वर की निरामयता और शून्यता में, उसकी अनाद्यंतता और निर्गुणता में ही उसकी अप्रमेयता है। कबीर ने इसीलिए तो कहा था : भारी कहौं तो बहु डरौं/हल्का कहूँ तो झूठ।।

लेकिन तुलसी राम को अप्रमेय क्यों कह रहे हैं? राम तो सगुण हैं और साकार, राम तो सशरीर हैं, सावयव। राम तो गोचर हैं और समूर्त भी। राम के कलेवर और काया पर, राम के वर्ण और वपु पर, राम के विग्रह और छवि पर मुग्ध कवि तुलसी ने स्वयं पृष्ठ पर पृष्ठ भरे हैं। फिर सुन्दरकांड की शुरुआत में ही तुलसी उन्हें अप्रमेय क्यों बोल रहे हैं? क्योंकि वे जानते हैं और हमें भी पुनः स्मरण कराते हैं कि इस अंगी के भीतर एक अंगहीन है। इस कायिक के भीतर एक अकाय है। इस देही के भीतर एक देहातीत है। सारिपुत्र को हृदय सूत्र में बुद्ध यही समझाते हैं : ओ सारिपुत्र, रूप शून्य से भिन्न नहीं है और शून्य रूप से भिन्न नहीं है। रूप शून्य है और शून्य रूप है। कोई आँख, कान, नाक, जीभ, रूप, ध्वनि, गंध, आस्वाद, स्पर्श या मानस वस्तु, कोई तंत्र का क्षेत्र नहीं जब तक कि हम चेतना के अक्षेत्र में नहीं आ जाते। राम की प्रमा नहीं, राम की प्रभा पर मन को एकाग्र करो। राम की समीकृति (इक्वेशन) पर नहीं, राम की कृति पर चित्त धरो। राम कोई गणितीय प्राप्तांक नहीं है। ईश्वर के साथ हिसाब-किताब नहीं चलता। ईश्वर जोड़-जुगाड़, जोड़-तोड़ नहीं है। ईश्वर योग है। ईश्वर घटान नहीं है। घटघटवासी है। ईश्वर क्षयन नहीं है, अक्षय है। ईश्वर बाकी नहीं है, बैलेंस है। ईश्वर गुणा नहीं है, गुणी या गुणातीत है। ईश्वर भागफल नहीं है, भाग्यफल है। भाग नहीं, महाभाग। ईश्वर अंक नहीं है, अक्षर है। ईश्वर संख्या नहीं है, सांख्य है। ईश्वर रैम (रैंडम एक्सेस मेमोरी) या रौम (रीड ओनल मेमोरी) नहीं है, राम है। रमे हैं रोम रोम में राम। ईश्वर कूट्टक (अलजब्रा) नहीं है, कूटस्थ है। त्रिकोणमिति नहीं त्रिधामा, त्रिप्रद, त्रिलोकेश, त्रिविक्रम और त्रिनाभ है। क्षेत्रमिति नहीं, क्षेत्रज्ञ है। अल्गोरिद्म नहीं, रिद्म है। इस जगत् की लय है। पंजी नहीं, पर्जन्य है। कैश नहीं केशव है। वह न अंक है न दशमलव, शून्य है। उसे कैसे कैलिब्रेट करेंगे? ईश्वर में क्या जोड़ा जा सकता है? ईश्वर से क्या घटाया जा सकता है? ईशावास्य उपनिषद् ने यही कहा था : न - 'पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णमेवावशिष्यतेः।'

इस कारण तुलसी अपने राम को अपरिसमाप्य और अपरिमेय कहते हैं। वे जानते हैं कि उनके भगवान की कोई मापतौल नहीं है। वे जानते हैं कि उनके सिलसिले में सारे पैमाने अपर्याप्त हैं। उस अक्षधर को कौनसे अक्ष में तौला जाएगा? जगत के डंडीमार और अंटीबाज़ राम का भजन करेंगे? बिना विजन के यह वजन हो जाएगा? हिसाब का कितना ही बड़ा प्रताप उस प्रज्ञापारमिता की थाह ले पाएगा? हमारी बंटी हुई (डिस्क्रिमिनेटिव) और द्वैतमूलक (डुअलिस्टिक) विज्ञान पद्धति से क्या वह कभी जाना जा सकेगा? परिमाप के

हमारे सारे प्रयत्नों को क्वांटम मैकेनिक्स का एक संभाव्यता-मेघ (Probability cloud) ही मिला है, और क्या? शैक्षणिक मठाधीशों के कुर्सी बैठ दर्शन, उसके प्रमेय और सिद्धांतों से क्या कभी उसे सिद्ध किया जा सकेगा? वह हमारी अवधारणात्मक सरहदों के विलय (dissolution) का इंतजार करता है। हमारे हठ, डॉग्मा और हमारी पूर्वधारणाएं जो भी हमारी दृष्टि को बोतलबन्द करना चाहेंगी, वे इस दृष्टा का क्या दीदार करेंगी? जॉन गिल ने कहा था- "When we say that God is infinite, the meaning is that he is unbounded and unlimited, unmeasurable or immense, unsearchable and not to be comprehended" (A Body of doctrinal and Practical Divinity)"

प्रज्ञापारमिता सूत्र की शुरुआत में ही बुद्ध कहते हैं कि महायान पर्याय है अप्रमेयता (immeasurability) का, जो पर्याय है अनंत का (विष्णु का एक नाम अनन्तशीर्ष/अनंत भी है) जिसका पर्याय है उत्सवीयता (ineffability)। इस सूत्र के अनुवाद में आगे चलकर कहा गया है : Omniscience cannot be grasped. By its very allness, it is precluded from possessing any particular mark, sign or limit which the mind might cognize or even attempt to cognize. If total awakenness manifested a sign by which it could be defined, discriminated and separately encountered, it would not be total.....The omniscience or total awakenness of Buddhahood can simply not be located or formulated ....Rather than infinity of number or infinity of extension in space and time, this transparent depth of unthinkability is the true and perfect infinitude. अप्रमेय से तुलसी भी उसी अधार्यता (Inconceivability) की ओर संकेत करते हैं। लेकिन परिमा या परिमाण के अंतहीन होने के सवाल को वैज्ञानिक चुनौतियां भी मिली हैं। ऐन रैंड ने अपनी पुस्तक 'इंट्रोडक्शन टू ऑब्जेक्टिविस्ट एपिस्टेमोलोजी' में किसी अपरिमेय सत्ता के होने के सवाल को ही चुनौती दी है। उनके तर्क इस प्रकार क्रमबद्ध किए जा सकते हैं:-

(1) प्रत्येक चीज़ जिसका अस्तित्व है, उसका अस्तित्व किसी के संबंध में ही है।
(2) इस विशिष्ट संबंध की पहचान (Identification) और मात्रांकन (quantification) ही माप (measurement) है।
(3) प्रत्येक अस्तित्ववान का ऐसा कोई रिश्ता या रिश्ते होते हैं जिन्हें मापा जा सकता है।
(4) मापयोग्य संबंध तब भी होते हैं जब माप की कोई विशिष्ट पद्धति या मानक उस मामले में तब तक विद्यमान भी नहीं हो, आविष्कृत भी नहीं हो और एकदम ठीक प्रिसीजन का स्तर उसमें उपलब्ध भी नहीं किया जा सका हो।
(5) अतः अप्रमेय होने का अर्थ है कि वस्तुतः आपके किसी से कोई संबंध नहीं हैं।
(6) एक चीज़ जो संबंधविहीन हो, वह अस्तित्ववान भी न होगी।
(7) अतः अप्रमेय चीज़ का अस्तित्व हो नहीं सकता।

लेकिन ऐन रैंड उस सर्वज्ञ, सर्वांतर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वतोमुख के संबंध में अपनी विलक्षण तर्कपद्धति में भूल यह करती हैं कि वे यह नहीं बतातीं कि 'किसी' संबंध वाली हस्ती के बारे में जो तर्क लागू हो सकते हैं वे ही तर्क किसी 'सर्व' संबंध वाली हस्ती पर कैसे लागू किए जा सकते हैं? पहले इस सर्वतोमुख और सर्वदर्शी की चुनौती को ठीक-ठीक समझ लें। यह वह अखिलेश है जिसके बारे में कहा गया है :- Wherever there is a where, God is there. यह वह ईश्वर है जिसे तथ्यों

का संग्रह नहीं करना पड़ता। इस ईश्वर के बारे में बाइबिल के साम-गान में कहा गया : He doth not know one thing now, and another anon, he sees all things at once. जब वह सभी कारकों और चरों से, चराचर से एक साथ एक समय से सभी समय तक संबद्ध है तब इतने अंतहीन चरों का मापन कैसे होगा? यह ठीक है कि ईश्वर सबसे कटकर एकांतवास नहीं करता। ईश्वर संबंध में है। लेकिन उसका वैशिष्ट्य यह है कि उसके संबंधों की डोर पूरे अग-जग से है। हमारे शरीर में आँख भी है, पैर भी किन्तु क्या हम कह सकते हैं कि हमारी आत्मा हमारे शरीर के किसी अंग विशेष में ही है? ठीक उसी तरह से ईश्वर की इस सृष्टि में उसका रस (एसेंस) कहां नहीं मानें? माप के लिए किसे छोड़ें, किसे पकड़ें? कौनसी चीज़ है जो ईश्वर के परिपथ (सर्किट) को सीमित (रेस्ट्रिक्ट) करती है? वह जो स्वयंप्रभु, स्वयंभू और स्वयंप्रकाश है, उसके चिद्विलास के किस अंश को अप्रासंगिक मानें? उस अनंताभिधेय के ऐश्वर्य की, उस अमृतगर्भ की लीला की परिसमाप्ति कहां है कि जहां से हमारा स्केल शुरू हो? भगवान सारी परिसीमाओं और सरहदों (बाउन्ड्रीज़) से स्वतंत्र है। ब्रह्म शब्द संस्कृत की जिस धातु ब्रिह से बना है उसका अर्थ है बढ़ना, ग्रो करना यानी यह यथार्थ डायनेमिक है, जीवंत है। ऋग्वैदिक शब्द ऋत का अर्थ 'रि' धातु से समझा जाना चाहिए। 'रि' माने मूव करना। अब यदि ब्रह्म और ऋत गत्यात्मक हैं तो वे जड़ता को प्रोत्साहन कैसे दे सकते हैं? बुद्ध ने यही कहा था : सब्बो पज्जलितो लोको, सब्बो लोको पकम्पितो- कि यह समूचा लोक (यूनिवर्स) प्रज्ज्वलन और प्रकंपन के सिवा कुछ नहीं है। यदि विश्व गति कम्पन और नर्तन में व्याख्यायित होता है तो वह किसी जड़ प्रगति-विरोधी तमस में जीवित नहीं रहेगा। तब विकास (इवॉल्यूशन) कोई ऐसा शब्द नहीं है जो जैविकी (बायलॉजी) तक सीमित हो। वह इस जगत की विविध शक्तियों की ओर भी इंगित करता है। जब तक ब्रह्म तक एक जड़ विचार (फिक्स्ड आइडिया) नहीं है तो जितना वो गत्यात्मक है, उतना वो अप्रमेय है, उतना वो हमें कट्टरता से मुक्त करता है।

ईश्वर की अज्ञेयता (incomprehensibility) की बाइबिल के अनुसार व्याख्या यह है कि 'Incomprehensibility ariseth from an infinite perfection which cannot be fathomed by the short line of man's understanding' उस अगम्य और अगाध को, उस अविज्ञेय और अवेद्य के लिए क्या किसी प्रमेय की निर्धार्यता निराधार ही होगी? उसकी अनिवर्चनीयता वस्तुतः उसकी गुणातीतता है। लेकिन क्या इसका मतलब यह है कि ईश्वर के संबंध में साइंस बेकार है और अंधविश्वास ठीक है? उस बोधातीत के लिए बुद्धू ठीक है? वहां उत्कंठा और उत्सुकता, जिज्ञासा और पृच्छा नहीं चलेगी, कूपमंडूकता व अंधकार चलेगा? भगवान ज्ञानेश्वर को मिलता है कि मूढ़ को मिलता है? वह अजस्र है और अगाध भी। लेकिन वह तुक्के और बुझक्कड़ी का विषय तो नहीं। ज्ञान की गतिकी (डायनेमिक्स) में तो अर्हत की ही अर्हता है। वहां तो प्रज्ञात्मा ही परमात्मा तक पहुंच पाता है। इसलिए नहीं कि उसका ज्ञान परमात्मा को विमोचित (डिकोड) कर सकेगा बल्कि इसलिए कि इस लक्ष्य के प्रति उसकी ज्ञानात्मक संवेदना में ईमानदारी है। तो ईश्वर मूर्ख की मनोसृष्टि नहीं है, न किसी लाइल्म की फ़ंतासी। ज्ञानात्मक संवेदना की परिशुद्धता और एकाग्रता का ईश्वर के यहां तिरस्कार नहीं हो सकता, और न अविद्या का महांधकार ईश्वर के सान्निध्य में बचा रह सकता है। गुणातीत गुणी की बेकद्री करे और अगुणी की प्रतिष्ठा करे तो वह कलियुगी सत्ताधीश हुआ, ईश्वर नहीं। डी.सी. मैकिन्टोश की पुस्तक Theology as an Empirical Science याद आती है और याद आते हैं शिकागो विश्वविद्यालय के शैलर मैथ्यूज और एच.एन. वीमैन जिन्होंने वैज्ञानिक विश्वदृष्टि में ईश्वर को कहीं फिट करना चाहा। विज्ञान

ईश्वर के विरुद्ध नहीं है। विज्ञान ईश्वर की दिशा में ही उठा हुआ क़दम है। लेकिन जैसा कि आजकल के संकट धर्मशास्त्री (Crisis Theologists) कहते हैं कि God is not an object to be known scientifically but is nevertheless the great self-revealing reality, to be encountered and obeyed.

अप्रमेय का एक और आयाम है। ईसाई मान्यता यह है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने रूप में रचा। लेकिन इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य की 'इमेज' ईश्वर की प्रतिनिधि है। तब अन्य प्राणियों का क्या? क्या वे ईश-स्वरूप के प्रतिनिधि नहीं है? भारतीय जीवनदृष्टि इससे भिन्न है। ऋग्वेद (6/47/18) में कहा गया : रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव कि परमात्मा ने प्रत्येक रूप के अनुरूप अपना रूप बना लिया। यह दृष्टि जीवन के वैविध्य और ईश्वर के अप्रमेयत्व की ज्यादा अच्छी तरह से स्थापना करती है। यहां तक कि स्वयं मनुष्य की कोई एक स्थिर छवि नहीं है। अरविंद (सावित्री 7/6) कहते थे :- Many are God's forms by which He grows in man. इसलिए रूप की दृष्टि से भी एक अप्रमेयता है। ईश्वर को अनन्तरूपाभिधेय बताकर उसे किसी भी संकीर्णता से ही नहीं मुक्त किया गया बल्कि किसी भी रूप-विशेष को किसी प्रिविलेज या विशेषाधिकार से मुक्त किया गया। इसके चलते न कोई जाति किसी के ऊपर प्रिविलेज का दावा कर सकती है, न कोई रेस और न स्वयं मनुष्य ही।

● ● ●

अनघं

तुलसी की प्रणति जिस राम के प्रति है वे निष्पाप हैं। तुलसी की विशेषता यह है कि पाप चिन्ता उनकी प्राथमिकताओं और मूलों में नहीं है। शान्तं, शाश्वतं, अप्रमेयं ये विशेषताएं पहले आती हैं, अनघं का विचार उसके बाद। वे पाप से आब्सेस्ड नहीं है। सर स्टुअर्ट विल्सन (1889-1966) ने कहा था कि इंग्लैंड का चर्च हमें यह समझने पर बाध्य करना चाहता है कि जन्म तो पाप में प्रवेश है, विवाह पाप का एक पक्ष और मृत्यु एक स्वागतयोग्य राहत कि अब हम और पाप नहीं कर सकते। आगस्टस टॉपलेडी ने इसी आधार पर मज़ाक किया था कि हर मानव तीस वर्ष की उम्र तक 6,30,720,000 पाप कर लेता है। तुलसी इतने पाप केन्द्रित नहीं हैं, वे अधिक प्रचलित पाप शब्द का इस्तेमाल न कर उसके एक पर्याय 'अघ' का इस्तेमाल करते हैं। अनघ शब्द का अर्थ निर्दोष, त्रुटिरहित, सुन्दर, खूबसूरत, सुरक्षित, विशुद्ध, कलंकरहित व जिसे चोट न लगी हो, होता है। अनघ से तुलसी का आशय निष्पाप से ही रहा हो, यह ज़रूरी नहीं। देखने की बात यह है कि हमारे यहां निर्दोषता और विशुद्धता में पापहीनता मानी गई। कुछ इसी तर्ज़ पर बच्चन ने कहा : 'पुण्य की है जिसको पहचान/उसे ही पापों का अनुमान/सदाचारों से जो अनभिज्ञ/दुराचारों से वो अनजान' लेकिन पश्चिम में ज्ञान के उदय के साथ मूल पाप का अहसास प्रबल होता है। हमारे यहां पाप अज्ञान है। वहां पाप ज्ञान। ज्ञान हमारे यहां अघ मर्षण करता है, पापनाशी है। ज्ञान वहां पाप बोध कराता है, ज्ञानोपरांत पाप चेतना से ग्रस्त मनुष्य स्वर्ग से धकेल दिया जाता है। जिनेसिस में ईडन की जो एलीगरी है वह कहीं शायद यह भी बताती है कि ज्ञान के साथ आदमी में नैतिक चेतना (मॉरल सेंस) विकसित होती है। लेकिन नैतिक चेतना आध्यात्मिक चेतना नहीं है। वह द्वैतमूलक

है, द्वन्द्वमूलक है।

आध्यात्मिक चेतना कदाचित् वह है जिसका इमर्सन ने अधि+आत्म ('ओवरसोल') के रूप में अर्थान्वय किया है। वह द्वन्द्वात्मकता तो अविद्या है, ज्ञान इस द्विध्रुवीयता के पार है : करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा। मांडूक्योपनिषद के अनुसार 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते'। ईडन में जो ज्ञान का फल चखा गया उसने खंड-चेतना दी। यही खंड चेतना हमारे यहाँ अज्ञान है। वहाँ ज्ञान पृथ्वी पर या सांसारिकता में ठेलता है। हमारे यहाँ कहा गया है कि 'न ज्ञानेन विना मोक्षो'। गीता कहती है : 'अज्ञानमलपूर्णत्वात्/पुराणो मलिनः स्मृतः/ तत्क्षयाद्वैभवेन्मुक्ति' अर्थात् अज्ञान रूपी मल से पूर्ण होने के कारण यह पुरातन जीव मलिन माना जाता है, उस मल का क्षय होने से ही इसकी मुक्ति हो सकती है। वहां संदेह और जिज्ञासा से ज्ञान मिलता है, हमारे यहां कहते हैं 'श्रद्धावान लभतेज्ञानम्।' एक व्याख्या यों हो सकती है कि पाप ईश्वर से मुकरना (डिपार्चर) है, इस अर्थ में ईडन की कथा भारतीय दर्शन के क़रीब मानी जा सकेगी। यह कि पाप ईश्वर से कटना (severence) है। मोक्ष शिवगीता के अनुसार 'अज्ञान हृदय नाशो मोक्ष इति स्मृति है यानी हृदय की अज्ञान ग्रंथि का नष्ट होना ही मोक्ष कहा जाता है। तब पाप अनाध्यात्मिकता है। लेकिन दिक्कत तब आती है कि जब एक प्रथम पितर (फ़र्स्ट पैरेन्ट्स) के पाप को विरासत योग्य (इनहेरिटेबल) मान लिया जाता है। हमारे यहाँ पाप-पुण्य कर्म से फलित होते हैं। उनकी स्थांतरणीयता (ट्रांसफरेबिलिटी) का इतना व्यापक रूप कहीं नहीं कल्पित है कि आदम-हौवा के मूल पाप को बाद की सारी पीढ़ियाँ ढोती फिरें। वेदव्यास महाभारत के आदिपर्व में इतना अवश्य कहते हैं : पुत्रेषु वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति/फलत्येव ध्रुवं पापं गुरुभुक्तमिवोदरे।। कि जिस प्रकार गरिष्ठ भोजन पेट में जाकर अवश्य दुःख देता है उसी प्रकार पाप अपने लिए अनिष्टकर न प्रतीत होने पर भी बेटे-पोतों तक पहुँचकर अपना प्रभाव दिखाता है। लेकिन बस इतना ही। सभी मनुष्यों की सारी संतति के द्वारा ढोए जाने वाली विरासतन पापग्रस्तता भारत में कल्पित नहीं की गई।

फिर भी अनघं की कल्पना का एक और रूप है जो पश्चिमी चिंतन के ज़्यादा क़रीब पड़ेगा। ईश्वर 'ईविल' का प्रति-विचार (एंटीथीसिस) है, यह बात रेखांकित होती है, इस अनघं शब्द से। भगवान की पाप के साथ वैसे ही नहीं पटती जैसे प्रकाश की अंधकार के साथ नहीं पटती। किन्तु यहाँ भी भारतीय भिन्नता है। इसैया (51:1.2) में कहा गया : Your sins have hid his face from you, that he will not hear. टेस्टामेंट के ये शब्द बताते हैं कि तुम्हारे पापों ने उसका चेहरा तुमसे छिपा लिया है, वह नहीं सुनेगा। लेकिन भारत में पाप-बोध ईश्वर के क़रीब ही ले जाता हैः 'मत्समा पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि/एवं ज्ञात्वा महादेवि यथायोग्यं तथा कुरु।' मो समान को पातकी तुम समान रघुबीर। भारतीय भक्त की तो नित्य प्रार्थना ही यह है : पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः/त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष सर्वपाप हरो भव।।

जिनेसिस की एलीगरी की एक व्याख्या यह हो सकती थी कि ईडन के बगीचे में मनुष्य एक जानवराना (एनीमलिस्टिक) हालत में था। पाप-पुण्य के बोध के परे। और ज्ञान से उसमें मानवीय नैतिक चेतना पैदा हुई। लेकिन तब सवाल यह है कि फिर पाप-बोध से वह ईश्वर से दूर कैसे हो गया? पाप की पहचान तो मोक्ष का द्वार है। पाप को पाप की तरह चीन्हना तो हमें मुक्त करता है। हम तो आकाश से गिरें भी तो हमें लगता है कि हम सागर में जा मिलेंगे : आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् । क्या इसका मतलब यह है कि हमारे यहाँ पाप को हल्के में लिया जाता है और पश्चिम में पापों को इतनी गंभीरता से। आज तक मनुष्य उसी आदिम ग्लानि-ग्रंथि से मरा जा रहा है और क्राइस्ट भी हम सबके पापों का बोझ लेकर मरे, लेकिन फिर भी इस आदिम पाप की उजरतें ख़त्म नहीं हुईं।

टेस्टामेंट में पॉल (रोमंस 3:20) कहते हैं : Herefore no one will be declared righteous

in his right by observing the law, rather, through the law we become conscious of sin. भारत का चिंतक यही मानता है कि पाप की पहचान मुक्ति का श्रीगणेश है। इन प्रकट वैचारिक विभिन्नताओं का एक बिन्दु पर फिर मेल होता है जब वे नित्यप्रति कन्फेशन करते हैं और हम कहते हैं 'अपराधसहस्राणि कर्माणि क्रियन्ते अहर्निशं मयाः। दोनों ही इस तरह से अपना विरेचन (कैथार्सिस) करते हैं। हल्का लेने की बात तो नहीं है, नहीं तो रामायण के सुन्दरकांड में वाल्मीकि यह क्यों कहते : 'अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः।' बात हल्का लेने की नहीं, हल्का होने की है। विरेचन से पाप संज्ञान ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव है और यह अनुभव भारहीनता है, यह शून्य है, यह आकाश है। पाप को आवरण में मंडित करना, उस पर कनक का कोट चढ़ाना उसे भारी बनाना है। पाप के प्रसाधन मनुष्य की पाकीज़गी नहीं हैं। ईश्वर तो अलंकृत पापी के भी पाखंड को पहचान लेगा। पापी की मुक्ति एक बार संभव है, पाखंडी की नहीं। जो पाप को निरन्तर जस्टिफाई करता है वह ईश्वर के पास सिर्फ़ यही संदेश भेजता है कि मैं अभी अपने कीचड़ और कल्मष में ही मस्त हूँ, मुझे आपकी ज़रूरत नहीं है। लेकिन जो अपने पाप को पहचान लेता है और उसके प्रायश्चित की ओर उद्यत होता है, ईश्वर भी उन्मुख उसी की ओर होता है। ईश्वर हमसे पाप के श्रृंगार की अपेक्षा नहीं करता क्योंकि वह तो पाप के भार को बढ़ाता है। उस शून्य से हम इतने भारी होकर मिलेंगे! सत्य अपने साथ तामझाम लेकर नहीं चलता।

लेकिन तुलसी सिर्फ़ किसी अमूर्त ईश्वर को अनघं नहीं कहते, वे राम को अनघं कहते हैं। क्या अवतारी राम पापमुक्त हो सकते हैं? क्या बालि-वध और शूर्पणखा के नाक-कान काटने की घटनाएँ सुन्दरकांड से पहले की नहीं हैं? तो क्या राम सुन्दरकांड में अनघं कहलाने के अधिकारी हैं? तुलसी का जवाब यह रहा है कि असुरों को मारने से पाप नहीं लगता, क्योंकि वे अपने ही पाप के द्वारा मारे जाते हैं : बिस्व द्रोह रत एखल कामी/निज अघ गयउ कुमारग गामी।।

बाइबिल में इस बात की चर्चा आती है कि जीसस ने, जिन्हें प्रभु का अवतार कहा जाता है, भी कुछ ऐसे कर्म किए हैं जो यदि किसी साधारण व्यक्ति ने किए होते तो पापाचारी माना जाता। मसलन (मार्क 5:8.14 मैथ्यू 8:28.34 और ल्यूक 8:27.39) जीसस द्वारा दानवों को दो हज़ार सूअरों में स्थानांतरित कर देना जिससे वे सूअर सब भागकर समुद्र में जा कूदे और मर गए, एक किसान के लिए फालतू ही 2000 सूअरों के नुक़सान का आर्थिक संकट खड़ा हो गया, अपने दो शिष्यों को गधा और घुरबच्चा चुराने भेजना (मार्क 11:2.4, मैट 21:2.3 और ल्यूक 19:30.31) आदि आदि। मैं यहां सबाथ के दिन कटाई करने, बिना हाथ धोए खाना खाने, फेराइसी के साथ गाली-गलौज, पेटू और शराबी होना (मैथ्यू 11:19 और ल्यूक 7:34), मंदिरों में व्यापारियों पर आक्रमण करने (मार्क 11:15, मैट 21:12.15, ल्यूक 19:45.47 और जॉन) आदि की चर्चा नहीं कर रहा हूँ।

बार्ना रिसर्च ग्रुप ने अमेरिकन वयस्कों से 1999 में एक फ़ोन सर्वेक्षण किया तो पता लगा कि 42ऽ वयस्क यह मानते हैं कि पृथ्वी पर जीसस ने भी पाप किए। स्वयं जीसस (ल्यूक 18:18.19) से जब पूछा गया कि हे अच्छे स्वामी, मैं अनंत जीवन पाने के लिए क्या करूँ तो उन्होंने उत्तर दिया कि मुझे अच्छा क्यों कहते हो, कोई अच्छा नहीं है, ईश्वर को छोड़कर। बाइबिल (जॉन 1:8) में यह भी कहा है : 'यदि हम कहते हैं कि हमने कोई पाप नहीं किया तो हम अपने को छलते हैं और सच हममें नहीं है।' जहाँ तक ईश्वर के पापरहित होने का सवाल है तो जिनेसिस में बताया गया है कि हिंसा, दुष्टता और पापाचार से त्रस्त आकर भगवान ने एक महाप्रलयंकारी बाढ़ पैदा की जिसमें सारी मनुष्य जाति डूब गई जिसमें अबोध नवजात शिशु और बच्चे भी थे। क्या यह ईश्वर का पाप नहीं कि ज़िम्मेदार उम्र (एज ऑफ़ अकांउटेबिलिटी) से नीचे के निर्दोषों को उसने मार डाला? जब जीसस ने यहूदियों

के लिए ही गॉस्पेल होने और जेन्टाइल्स के लिए न होने (मैथ्यू 15:22.28, मार्क 7:25.30) का विभेदाचार किया तो वह क्या जाति या राष्ट्रीयता के आधार पर भेदभाव का पाप न था? कैसी विडंबना है कि मात्र यहूदियों के लिए जो गॉस्पेल थी, उसे लेकर धर्म परिवर्तन का रथ-चक्र चल पड़ा, लेकिन जो मनुष्य मात्र के लिए सनातन धर्म था, उसने कन्वरशन कभी नहीं किया। लेकिन प्रभु के अवतार जीसस के निष्पापी होने का विश्वास करने वाले लोग भी बहुत हैं। बाप्टिस्ट सूचना सेवा के अनुसार कर्मणा या वाचा जीसस क्राइस्ट में पाप या त्रुटि का कोई संकेत तक नहीं मिलता। 'ईसाइयत और उदारवाद' (1923) नामक पुस्तक के लेखक जे.जी. मैचेन कहते हैं : "He never in his recorded words deals in any intelligible way with sin in his own life." अपोस्टोलिक ट्रुथ चर्च ने जीसस को सूली पर चढ़ाने का उल्लेख करते हुए कहा : 'All this was done to a man who never did anyone any wrong, the only completely sinlessman who ever lived.' अपनी 'स्प्रिंग टू लाइफ़' में डॉन बोएकमैन कहते हैं : जीसस ने कभी कोई पाप नहीं किया। डेल जॉनसन का कहना है : Through his perfectly sinless life, fulfilled the law on behalf of a sinful human race which was unable to keep it. बाइबिल में स्वयं कई स्थानों पर जीसस को निष्पापी कहा गया। इसलिए अवतार होने से पाप के पंक में उतरना ही पड़ेगा, ऐसा नहीं है। अवतार समय में उतरता है, पाप में नहीं।

राम के सुन्दरकांड के पूर्व तक जो दो विवादास्पद कृत्य रहे हैं, उनमें एक कृत्य बालि वध का है और दूसरा शूर्पणखा के अंग भंग का। क्या ये पाप थे? ये कृत्य व्याख्या के फर्क से पाप हो जाते हैं लेकिन व्याख्या के पाप को पाप की व्याख्या मानने की भूल नहीं करना चाहिए। कुछ विद्वान बालि-वध में राम का स्वार्थ देखते हैं। लेकिन यदि राम स्वार्थी होते तो वे सत्तासीन से मैत्री करते या सत्ताहीन से? वे वंचित कर दिए गए व्यक्ति के साथ खड़े होते या उस अत्यन्त शक्तिशाली के साथ खड़े होते जिससे रावण भी युद्ध में परास्त और अमानित हुआ था। सुन्दरकांड में हनुमान बालि से रावण की भिड़ंत की व्यंग्यात्मक याद दिलाकर रावण को चिढ़ाते भी हैं: समर बालि सन करि जसु पावा। तो यदि राम का उद्देश्य रावण के विरुद्ध अपनी स्वार्थसिद्धि का होता तो उसमें उनका तार्किक सहयोगी, उनका नेचुरल अलाई बालि ही होता, सुग्रीव नहीं। उनके लिए बालि प्रस्तुत होता भी सहज और सुलभ। लेकिन राम 'डिस्पज़ेस्ड' को चुनते हैं। राम का बालि से कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं था। लेकिन वंचितों को उनका हक़ दिलाने के लिए कृतसंकल्पित राम के लिए स्वार्थ नहीं, सिद्धांत महत्वपूर्ण था। राम की भगवत्ता और पुरुषार्थ सत्तासीनों का संघ बनाकर प्रतिपक्षी सम्राट से लड़ने में सिद्ध नहीं होनी थी। उनकी खासियत तो 'नृप दल मद गंजा' में है, वे राजाओं के समूह का गर्व चूर्ण करने वाले हैं। वे क्यों नहीं भरत से अयोध्या की सेना बुला लेते ? वे बालि के साधनों से ही नहीं, अपने पितृराज्य की सम्पन्नता से भी विरत रहते हैं। उनकी तथाकथित शरणागति है क्या? वह डिस्पज़ेस्ड की, डिस्एडवांटेज़्ड की मदद है। वह निर्वासित और बेदखल की सहायता है। वे जान-बूझकर यह कठिन रास्ता चुनते हैं। बल्लाल कवि ने भोज प्रबन्ध में शायद उन जैसों के लिए ही लिखा था : 'क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे' यानी महापुरुषों की कार्यसिद्धि सत्व से होती है, उपकरणों से नहीं। राम का सत्व क्या है। वे कमजोरों को एकता के सूत्र में बांधते हैं। वे ठुकरा दिए गए लोगों के - कहें कि व्यवस्था के विस्थापितों के आश्वासन हैं। बालि तो व्यक्तिगत रूप से ही इतना समर्थ था कि राम को रावण से निपटने के लिए एक उसी का साहाय्य ही पर्याप्त था। लेकिन राम एक पद्दलित जनजाति का आत्म-गौरव बहाल करते हैं, एक पूरी जनजाति में स्फूर्ति पैदा करते हैं। किसी व्यक्ति-विशिष्ट की सहायता पाने की जगह वे वनवासियों के वृन्द को साथ लेते है। रावण अपराजेय नहीं था। सहस्त्रबाहु और बालि उसे हरा चुके थे। राम के लिए कूटनीति की माँग

यह होती कि वे बालि को साथ ले लेते। अंगद तो तब भी उन्हें मिलता। लेकिन राम कूटनीति की मांग का उत्तर देने नहीं आए, वे अपने आदर्श की मांग का उत्तर देने आए हैं। इस कारण कूटनीति के शॉर्टकट उन्हें नहीं लुभाते। सुग्रीव को बालि का पदाघात या विभीषण को रावण का पदाघात बंधुत्व की भावना को भूलकर लोगों को पद्दलित करने का रूपक है। ये पद्दलित लोग उस राम को अपना सहारा मानते हैं, जिसके पदस्पर्श से पाषाण में भी चेतना का संचार हो गया था।

राम ने जीवन में उस भूमिका को स्वीकार नहीं किया जो समाज ने उन पर थोपी थी। उन्होंने कैकेयी के वरों में अपनी एक नई पहचान निर्मित करने का अवसर देखा। उन्होंने राजवंश को यह मौका नहीं दिया कि वह उन्हें परिभाषित करे। उन्हें अपने चरित की स्थापना करनी थी। वे वंशगत विरासत को कबूल लेते तो उसके साथ उन सीमाओं को भी ढोते। उन्हें अपना एक 'पर्सोना' खुद रचना था। यदि वे उन सीमाओं को ढोते तो उन सीमाओं की सुविधा और सरलता में उनका न पुरुषार्थ सिद्ध होता, न भगवत्ता। वे जब अयोध्या से बाहर निकले तो वे एक राज्य की सरहदों से ही बाहर नहीं निकले; एक प्रदत्त भूमिका, एक परिनिर्मित व्यक्तित्व की सरहदों से भी बाहर निकले। उन्होंने जब वस्त्र बदले और तपस्वी के गैरिकवल्कल वस्त्र पहने तो उसकी तुलना गांधीजी के उस सायास चयन से की जा सकती है जब उन्होंने बैरिस्टर के सूट, कोट, पैंट, टाई छोड़कर आम भारतीय की लंगोटी धारण कर ली थी। क्या यह कॉस्ट्यूम बदलना मात्र थियेट्रिकल था? विश्व रंगमंच पर राम का यह नाट्य, यदि कोई लीला थी भी तो इसलिए कि पिछली कतारों के लोग, आखिरी आदमी उनसे आईडेन्टिफाई कर सकें। यह एक तपस्वी का आइकॉन है। रामचरितमानस की कथा बायोग्राफी नहीं है, वह जन-समर्थन को उत्तीर्ण करने के लिए एक राजकुमार द्वारा अपने आप को पुनरान्वेषित करने की कथा है। यह राजतंत्र के बीच जनतंत्र की स्थापना है जहां जन एक मैनीपुलेट किया जा सकने वाला वोट नहीं है बल्कि वह संघर्ष में अपने नायक के साथ-साथ है। चेग्वारा से लेकर आज तक कई जनसंघर्ष गुरिल्ला युद्धों के बीच पनपे हैं। बालि से राम का किंचित् छिपकर युद्ध करना उसी गुरिल्ला युद्ध का रूपक है।

राम ने जिस दिन वनगमन का निर्णय किया, उस दिन से उन्होंने अपने व्यक्तित्व की कमान अपने हाथ में ली। उन्होंने प्रमथ्यु की तरह कोई डिफाएंस नहीं किया बल्कि उस संपूर्ण घटनाक्रम को आज्ञापालन की तरह दर्शाया। हालांकि दशरथ तो उन्हें दूसरी आज्ञा दे चुके थे लेकिन राम ने पालनीय आज्ञा के निर्वाचन का विकल्प अपने पास रखा और अपने व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया का नियंत्रण अपने हाथों में ले लिया। कभी पिता तो कभी गुरु विश्वामित्र की आज्ञा की छाया में अभी तक चलते आए राम के पास अब वह चयन का क्षण (मोमेंट ऑफ़ च्वॉइस) आकर खड़ा होता है और राम अपना डिस्पज़ेशन चुनते हैं। वे वंचित होते हैं ताकि वंचितों के साथ सहानुभूति कर सकें। उनका पहला स्वचेतन निर्णय तक जब स्वअर्थ का नहीं था तो सुग्रीव से मैत्री कैसे स्वार्थपूर्ण हो सकती थी? जब तक राम के पास सीता की शक्ति थी तब तक उन्हें कभी ओट लेने तक की ज़रूरत नहीं पड़ी, बाद में जनशक्ति साथ आ मिलने से भी वह नौबत कभी न आई, सिर्फ़ बालि के वक़्त ओट ली गई लेकिन आज की कवर फायर के युग में युद्ध की उस स्ट्रेटेजी को समझना अधिक मुश्किल नहीं है। युद्ध के दौरान अब तो नित्य प्रति ही ओट ली जाती है और इस युग में रहते हुए हम राम के एक बार ओट ले लेने पर उनके प्रति कितने मोटिव्ज़ आरोपित कर लेते हैं।

राम में बालि से लड़ने की शक्ति और सामर्थ्य है, यह तो वे सुग्रीव को एक ही बाण से अनेक वृक्षों का छेदन करके बता देते हैं। उनकी ईमानदारी कोई भोंथरा हथियार नहीं है जैसा कि रॉबर्ट ग्रीन ऑनेस्टी के बारे में कहते हैं कि वह एक ब्लंट औजार है। उसमें धार है और बस वही तो है। वृक्षच्छेदन उसी बात का प्रतीक है : 'सारा लोहा उन लोगों का/अपनी केवल धार'। लेकिन

गुरिल्ला युद्ध की तकनीक में सफल होकर ही हम वह आत्मविश्वास अर्जित करते हैं कि उसे जन अभियान का रूप दे सकें। वरना जिन पेड़ों को उन्होंने छेद दिया, उन्हीं पेड़ों के पीछे छुपने की क्या जरूरत थी? वह छुपना दिखाई देता है, वह छेदन दिखाई नहीं देता। क्यों राम इस महाबाहुबली व्यक्ति के शक्ति-साम्राज्य को नहीं चुनते? क्यों वे निर्वासित और निष्कासित, खदेड़ दिए गए और विस्थापित लोगों के समुदाय को चुनते हैं? एक व्यक्ति की जगह एक समुदाय को चुनने का अर्थ धर्म की सामुदायिकता की स्थापना में है। मैं धर्म की संस्था नहीं कह रहा हूँ; मैं इसे धर्म के समाज के रूप में देखने को कह रहा हूँ। ईसा ने प्रभु के राज्य की बात की थी। यह प्रभु का समाज है। धर्म को वैयक्तिक मोक्ष के साथ-साथ सामाजिक रूप से भी साथ होना है। यह बुद्ध का संघ नहीं है, यह चर्च भी नहीं है। इस रूपक में ज़ोर सांस्थनिकता पर नहीं है, सामुदायिकता पर है। समस्याएँ ऊपर-ऊपर भी सुलझ सकती हैं लेकिन सामाजिक सहभागिता के बिना वे सिर्फ़ थोपी हुई निर्मितियाँ रह जाएँगी और सशक्तीकरण का कोई अहसास लोगों में पैदा न कर सकेंगी। राम अन्ततः दीपावली की संस्कृति के सूत्रधार बने थे। वे अकेले अपना दीपक लेकर नहीं चलते, वे तो दीप की पंक्ति बनाते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि उन वनवासियों के भीतर एक विलक्षण आलोक है। उनके देवांश होने का पैराबल यही है कि वे भी अपने भीतर चिंगारी रखते हैं और उन्हीं को एक पंक्ति में बाँधना राम का काम है। यहाँ भी वे उस तरह का विकेन्द्रीकरण नहीं करते हैं कि जिसमें आम आदमी एक पूर्व निश्चित पैकेज का वाहक या कुली बनकर रह जाए। वे उन्हें ज़िम्मेदारियाँ सौंपते हैं और नक़्शा (या नुस्खा) भी नहीं देते। तब जाकर उन लोगों में आत्मशक्ति की चेतना जागृत होती है जिसे जाम्बवान के द्वारा हनुमान को उनकी शक्ति याद दिलाने से इंगित किया गया है।

कांट कहते थे कि अच्छा जीवन जीने की इच्छा रखने वालों को एक साथ आकर एक 'नैतिक राष्ट्रमंडल' (एथिकल कॉमनवेल्थ) बनाना होगा। राम वही करते हैं। लेकिन जैसा कि कांट ने कहा कि यह राष्ट्रमंडल भी सच्चे धर्म की अनुभूति के लिए अपने आप में अपर्याप्त आधार है और उसे इस अतिरिक्त विश्वास की आवश्यकता है कि कोई एक ही सत्ता, कोई एक ही स्रोत, उनके 'नैतिक कमांड्स' के मूल में है, कोई ईश्वर है जो उन सभी को एक साथ निर्देशित कर रहा है। राम और वानरों के समुदाय के प्रसंग में यही सन्देश चरितार्थ होता है। रावण को हराने से राम बड़े नहीं हुए जैसे बालि बड़ा नहीं हुआ, सहस्रबाहु नहीं हुआ। राम तब राम हुए जब उन्होंने वानरों-रीछों का साथ लिया। रावण की पूर्व पराजयों और इस पराजय में यही अंतर है। इसकी सामाजिक सार्थकता स्पष्टतः अधिक है।

अब उसके पूर्व हुए एक और विवादास्पद कृत्य की चर्चा कर लें। शूर्पणखा का अंग भंग। उसे भी राम का 'पाप' कहा जाता है। ऐसे कि जैसे शूर्पणखा राम के पास न आई हो, राम स्वयं उसके पास गए हों। आरोप यह है कि जब उसने प्रेम प्रस्ताव किया तो राम उसे शिष्टतापूर्वक मना कर देते, उसे लक्ष्मण को 'रेफर' करने और उसके नाक-कान कटवाने की अत्यन्त उग्र प्रतिक्रिया की क्या ज़रूरत थी? कुछ लोग कहते हैं कि सीता अपहरण और राम युद्ध की नींव यहीं पड़ी। अतुल अजनबी का एक शेर है : बुनियाद साज़िशों में यक़ीनन शरीक थी/वरना फिर ऐसे कैसे ये दीवार गिर गई। आज के फ्री सेक्स के ज़माने में राम की प्रतिक्रिया कुछ-कुछ तालिबानी लगती है। मॉरल सेंसरशिप की अति। लेकिन कुछ चीज़ों पर ध्यान धर लें। सेक्स की स्वच्छन्दता और स्वैराचार जिसका रूपायन शूर्पणखा में होता है, तुलसी के जान-बूझकर किए गए प्रयास की तरह तो नहीं, कविता के अपने दबाव से उस प्रसंग में अंकित हुआ है : मनु माना कछु तुम्हहि निहारी। सेक्स का मनमानापन। राम जो अंतर्यामी हैं क्या शूर्पणखा उन्हें धोखा दे सकेगी? शूर्पणखा निम्फोमैनिआक है, यह तो इसी से स्पष्ट है कि वह 'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा' वह दोनों राजकुमारों को देखकर काम से पीड़ित

होती है। यह अस्वाभाविक है ही, साथ ही निष्ठा के अभाव का भी परिचायक है। ये दोनों भाई अपनी इंडीविज़ुअलिटी में उसके लिए महत्वपूर्ण नहीं हैं, उनकी इयत्ता का उसके मन में कोई सम्मान नहीं है। उसे तो अपनी भूख मिटाना है। इसलिए राम यदि लक्ष्मण के पास या लक्ष्मण उसे राम के पास रेफर करते हैं तो वे उसका मज़ाक उड़ाने का आरंभ नहीं करते। यह शुरुआत तो स्वयं शूर्पणखा ने की कि जब वह दोनों को ही देखकर काम-अग्नि से दग्ध हो गई।

तुलसी इसी कारण उसका परिचय 'दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी' के रूप में कराते हैं। बात इस हृदय की ही है। रूप की नहीं। रूप तो शूर्पणखा ने श्रृंगार प्रसाधन की माया से सुन्दर बना ही लिया था। 'रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई।' ईश्वर के पास रूप धरकर जाओगे? ईश्वर रूप का सम्मान करेगा कि हृदय का? ईश्वर के यहां 'धारे हुए' रूप का आई कार्ड नहीं चलता। शहनाज़ हुसैन के ब्यूटी पार्लर वहाँ काम नहीं आते। ईश्वर रूप-सौन्दर्य धारण करने वालों के द्वारा वरा नहीं जाता, वह तो उनके द्वारा वरा जाता है जो 'सुन्दरता कह सुन्दर करई', जो सौन्दर्य को भी सुन्दर करती है। सीता। ईश्वर के सामने यह रूप धारण करना क्या है? सुन्दरता के एक बने-बनाए स्टीरिओटाइप से चलना। प्रभु भक्ति की नींव हृदय में धरें न धरें, फाउंडेशन तो लगाएंगे ही। तो शूर्पणखा ने फेशियल किया, आर्टिफिशियल नेल्स किए। ईश्वर जो सभी रंगों का निर्माता है वह आपका काम्प्लेक्शन देखेगा? कि काम्प्लेक्शन की चिन्ता करने वाली का काम्प्लेक्स या ग्रंथि देखेगा? सौन्दर्य के प्रोडक्ट क्या सुन्दरता के उत्पादक हैं? वे बाज़ार के प्रोडक्ट हैं। शूर्पणखा ने क्या कास्मेटिक सर्जरी करवाई होगी? एंटी रिंकल क्रीम लगवाई होगी? डाई किया होगा? हेयरस्प्रे किया होगा? ये सब वैनिटी प्रयास किए होंगे। यह अंग्रेज़ी का वैनिटी शब्द जितना 'प्रसाधन' अर्थ के लिए सच है, उतना ही उसके दूसरे अर्थ 'अहंकार' के लिए भी। तो अहंकार आ ही गया तत्कालीन मिस वर्ल्ड, मिस यूनिवर्स में। न मो सम नारी। लेकिन वैनिटी (प्रसाधन/अलंकृति) 'वेन' (व्यर्थ) ही होती है।

शूर्पणखा शब्द में 'नखा' है । मदाम को अपने नखों पर/नाखूनों पर भी गर्व होगा। मैनीक्योरिस्ट की सेवाएँ ली होंगी। नकली प्लास्टिक टिप लगाई होगी, उन्हें एक्रिलिक केमिकल से रंगा होगा, उनकी सिल्क रैपिंग की गई होगी, किसी क्रिस्टल जैल से उन्हें आकार दिया होगा, किसी नेल सिरम का इस्तेमाल किया होगा। डायमेंड डस्ट वाला नेल बेस प्रयुक्त हुआ होगा। फिर पूर्णतः आश्वस्त होकर चली होंगी मदाम क्रुएला। चीन में अभी दिसम्बर 2004 में 'कृत्रिम सौन्दर्य' शो हुआ। यह उन स्त्रियों के लिए था जिन्होंने चेहरे या शरीर पर प्लास्टिक सर्जरी करवाई थी। शूर्पणखा भी 'रुचिर रूप धरि' चली। उसका जादू चल भी जाता। लेकिन सामने पड़ गए प्रभु और वैराग्य की प्रतिमूर्ति लक्ष्मण। अपने श्रृंगार दर्प में मोहतरमा बोलीं : 'मनु माना कछु तुम्हहि निहारी।' जिन प्रभु को देखकर सबका मन सम्पूर्णतः केन्द्रित और सर्मर्पित हो जाता है, उन प्रभु पर 'कुछ' का अहसान। अब तुमको देखकर कुछ मन माना है। माने तुम भी मेरे मन की पूरी एकाग्रता के पात्र नहीं हो, लेकिन हाँ, चल जाओगे। शूर्पणखा की भाषा एक्सीडेंटल नहीं है। वह राम के पास संस्कृति के साथ नहीं जा रही, कि वह राम के साथ पाणिग्रहण संस्कार करना चाहती हो, तुलसीदास ने इस पूरे प्रसंग में उसे अपने कौमार्य के बारे में चिन्तित बताया है, न कि विवाह के बारे में 'ताते अब लगि रहिउँ कुमारी'।

इसलिए मैथिलीशरण गुप्त ने जब पंचवटी में यह कहलाया कि 'पाप शान्त हो पाप शान्त हो/कि मैं तो विवाहित हूँ बोले/किन्तु क्या नहीं पुरुष होते हैं/दो-दो दाराओं वाले' तो वे तुलसी के इस घटनाचक्र को भूल गए जहां बात पाणिग्रहण संस्कार की नहीं थी, भोग की थी। संस्कृति की ओर से शूर्पणखा आती तो स्वयं राम को पिता की याद न आती जिनकी चार रानियाँ थीं। शूर्पणखा प्रकृति की ओर से भी नहीं आई क्योंकि एक तो उसने अपने प्राकृतिक और नैसर्गिक रूप को छिपाया,

दूसरी बात सिर्फ़ उसकी 'जैविक ज़रूरत' की भी नहीं थी क्योंकि वह तो दोनों राजकुमारों को देखकर कामदग्ध हो गई। वह न संस्कृति की प्रतीक थी, न प्रकृति की। वह सिर्फ़ विकृति की प्रतीक थी कि राम और लक्ष्मण जहां सिक्के की तरह खर्च होते हैं। एक्सचेंज होते हैं। वे वस्तुओं की तरह इंटरचेंजेबल हैं। अपनी विकृत भूख के चलते वह उन्हें पहचान न पाती, कोई बात नहीं थी लेकिन वह प्रभु को पदार्थ में बदल देती है। वे 'डिग्रेडेड ऑब्जेक्ट्स आफ़ एक्सचेंज़' हैं। बात यह नहीं है कि राम उन्हें लक्ष्मण के पास रेफर करते हैं। बात यह है कि वह रेफर होने पर यह आपत्ति नहीं करती कि नहीं, मेरा तो मन बस तुम पर आया है। वह तो पूरी बेहयाई से दूसरे के पास चली जाती है। जैसे पूँजीवादी विनिमय व्यवस्थाओं में वस्तुओं का बार्टर है, वैसे ही शूर्पणखा के जीवन-मूल्यों में पुरुष सेक्सुअलिटी भी एक पदार्थ (कमोडिटी) है जिसमें तू नहीं और सही की ही मौजमस्ती नहीं है, बल्कि किसी के भी व्यक्तित्व और इयत्ता का अवधान और आदर नहीं है। यह तो सेक्स का एडिक्शन है जो राम-लक्ष्मण को राक्षसी लगता है। एक सज्जन को यह राम का झूठ लगता है जब वे शूर्पणखा को 'अहइ कुआर मोर लघु भ्राता' कहकर लक्ष्मण के पास भेज देते हैं। उनका कहना है कि लक्ष्मण कुँआरे नहीं थे, उनकी उर्मिला से शादी हो चुकी थी। फिर उन्हें कुमार कहने का क्या मतलब? ये सज्जन दो चीज़ें नहीं देखते। एक कि कुमार शब्द का प्रयोग राजकुमार के अर्थों में 'देखि विकल भइ जुगल कुमारा' में हुआ तो 'अहइ कुआर' का अर्थ 'ये राजकुमार' के रूप में भी हो सकता है। दूसरे, स्वयं शूर्पणखा जब विवाहिता होते हुए भी राम से यह साफ़ झूठ बोल देती है :- कि तातें अब लगि रहिउँ कुमारी, तो राम के यह कहने में हर्ज क्या है कि जैसे तुम कुमारी हो, वैसे ये कुमार हैं। फोर्स्ड बैचलर। जो औरत अभी-अभी यह बोल रही कि 'तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी/यह सँजोग विधि रचा विचारी', वह अब लक्ष्णम से एक्सचेंज पर तैयार हो गई। ऐसी स्त्री के राक्षसी स्वभाव को क्या राम लक्ष्मण नहीं पहचान गए होंगे। लक्ष्मण ने 'रिपु भगिनी जानी' के बावजूद भी मृदृलता से ही उसे टरकाया। उन्होंने उसे राम का असली परिचय भी दिया। प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा। लेकिन तब भी उस दुर्बुद्धि को समझ में न आया। राम-लक्ष्मण ने कुछ छुपाया नहीं, न उसे भ्रमित किया। हालांकि उसकी परीक्षा लेकर उसके राक्षसत्व की पुष्टि अवश्य कर ली। तब जाकर शूर्पणखा अपनी वाली पर आती है, अपनी असलियत पर, अपनी औक़ात पर। 'रूप भयंकर प्रगटत भई' उसका पाखंड खुल गया। जो श्रृंगार की स्मोकस्क्रीन थी उसे भेदकर भीतर की कुरूपता सामने आ गई। यही शूर्पणखा जब रावण को अपनी पीड़ा सुनाती है, तो वह रति-दान की अपनी प्रार्थना और प्रयास का उल्लेख अपने भाई से नहीं करती। वह राम-लक्ष्मण को स्त्री पर हाथ उठाने वाले कायर भी नहीं कहती जैसे कि आजकल के कुछ सज्जन लोग कहने लगे हैं। वह उन्हें 'पुरुष सिंघ बन खेलन आए' ही कहती है। अपनी सेक्सुअल अभिप्रेरणाओं का उल्लेख अपने भाई से करने में संकोच हो या अपने प्रति अन्याय को एकतरफा बताने की मंशा हो, वह मूल घटना प्रसंग को गोल कर जाती है। वह राम-लक्ष्मण को 'परम धीर धन्वी गुन नाना, अतुलित बल प्रताप द्वौ भ्राता' ही कहती है। वह आधुनिक आलोचकों की तरह अपने भाई से यह नहीं कहती कि राम ने उसके स्त्रीत्व का अपमान किया है। वह रावण को यह कहकर भड़काती है कि 'सुनि तव भगिनि करहिं परिहासा।' यह बात सिर्फ़ भड़काने की नहीं है कुछ हद तक सच भी है क्योंकि लक्ष्मण स्वयं उससे 'रिपु भगिनी' जानकर ही पेश आते हैं और उसे 'नाक, कान बिनु' करने में एक संदेश भेजते हैं : ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि। रिपु भगिनी अपना दंड अपने दुष्कृत्य से अर्जित करती है लेकिन फिर भी वह प्रसंग एक माध्यम है और मार्शल मैकलुहान के शब्दों में मीडियम इज़ मैसेज तो शूर्पणखा के साथ यह सब करके लक्ष्मण चुनौती पेश कर ही देते हैं : ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि। उसके हाथ मानो रावण को चुनौती दी हो।

शूर्पणखा राम रावण के बीच अकारण नहीं आ गई। अपनी हरकतों से वह माध्यम बनी। उसे सीता पर विशेष डाह रहा कि जिसके रहते राम ने उसे आँख उठाकर भी नहीं देखा बल्कि जब राम बोले भी तो 'सीतहि चितइ कही प्रभु बाता' के अनुसार सीताजी की ओर देखकर ही बोले। प्रसाधन, अलंकरण और कृत्रिमता 'प्रभु' में इतनी उत्सुकता भी नहीं जगाते हैं कि वे शूर्पणखा को एकबारगी देख भी लें। यह सीता के प्रति राम की निष्ठा और अनन्यता तो थी लेकिन इसका स्रोत सीता को समझकर शूर्पणखा ने रावण के मन में यह कहकर उत्सुकता जगाई कि 'रूप रासि विधि नारि सँवारी/रति सत कोटि तासु बलिहारी'। यह शूर्पणखा का बदला लेने का अपना तरीका था। रावण 'हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ' की बात कर शूर्पणखा की लगाई आग में जलना स्वीकार कर लेता है।

इस पूरे प्रसंग में (शूर्पणखा के बदले वाले) राम के नारी अत्याचार वाली थियरी को कहीं स्थान नहीं है। रावण सीता को इसलिए नहीं हरता कि वह शूर्पणखा के अपमान का मूल स्रोत थी बल्कि इसलिए कि वह सौ करोड़ रतियों से ज्यादा सुन्दर थी। रावण कहानी के उतने ही अंश से प्रेरित हो सकता था जितनी उसे सुनाई गई थी। जो उसे बताया ही न गया उसे रावण की प्रेरणा कैसे कहा जा सकता है? आलोचक चाहते हैं कि कलियुग में तो बलात्कार का प्रयास कटुतम रूप से दंडित हो, लेकिन त्रेता में उसे सहा जाना चाहिए क्योंकि वह नारी की ओर से था। रूप भयंकर प्रगट करने और सीता को डराने का आशय क्या था? लक्ष्मण-राम उसे दंडित नहीं करते यदि वह अपने इस भयंकर रूप में आती नहीं क्योंकि उसके पूर्व तो उसे मृदुता से टरकाने की बात चल रही थी। उसके लगातार आग्रह ने लक्ष्मण को उसे प्रकारान्तर से निर्लज्ज कहने की प्रेरणा दी। लेकिन उसे भी वश में करते हुए लक्ष्मण ने इतना ही बोला कि तुम्हें वह चुनेगा जो तृण तोड़कर लज्जा को त्याग देगा। अब शूर्पणखा के अमर्ष का क्षण आया। अब उसके अपनी असलियत में आने का क्षण आया। इसलिए बाद में वह लक्ष्णम के लाघव का शिकार बनी। अब उसे राम -लक्ष्मण के अस्तित्व का अर्थ भी समझ में आ गया। रावण को वह यही अर्थ बताती है। 'समुझि परी मोहि उन्ह कै करनी/रहित निसाचर करिहहिं धरनी।' वह एक न झुकने वाली प्रतिरोधी सत्ता का उदय उनमें देखती है। राक्षसों के सामने खड़ी एक अदम्य ऊर्जस्वी चुनौती। वह राम को पापी नहीं कहती बल्कि 'खल बध रत' शब्दों द्वारा 'पापियों के बध करने वाले रूप' में उनका वर्णन करती है। इसलिए शूर्पणखा-प्रसंग को शूर्पणखा के पाप की तरह न देखकर राम-लक्ष्मण के पाप की तरह देखना सेक्सुअल परमिसिवनेस की हद है। शूर्पणखा की सी हरकतों को समाज-निर्मात्री हरकतें नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि इस तत्कथित पाप का आरोप भी राम पर चिपकता नहीं।

गीर्वाण शान्तिप्रदं/निर्वाणशान्तिप्रदं

राम की एक और विशेषता यह है कि वे देवताओं को शान्ति प्रदान करते हैं। बाल कांड (दो 121) में तुलसी कहते हैं : असुर मारि थापहिं सुरन्ह। लंकाकांड में (दोहा 108) उन्होंने पुनः कहा : 'जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो/नाना तनु धरि तुम्हहि नसायो।।' ईश्वर का अवतार ही साधुओं के परित्राण और दुष्कर्मियों के विनाश के लिए होता है। भले लोग अक्सर ही दुष्टों द्वारा सताए जाते हैं। ब्रूट फोर्स को भद्र और शालीन लोगों का आदर करने का अवकाश नहीं है। दानवता दुर्धर्ष रही है और सौम्यता का मज़ाक उड़ाया जाता रहा है। बदतहज़ीबी की ऐंठ और धौंस नंगे और बेहया अंदाज़ में जारी रही है। फ्रेंकलिन ने कहा था : Rebellion to tyrants is obedience to god अत्याचारी के प्रति विद्रोह ईश्वर की आज्ञा का पालन करना है।' देवताओं से यहां आशय उस किस्म के विभागीय देवों से नहीं जहाँ वर्षा का विभाग इन्द्र को दे दिया जाता है या मृत्यु का डिपार्टमेंट यम को। ये वे देवता भी नहीं जो आकाश से आए थे। प्रोटो इंडो यूरोपियन भाषा में 'डीवोस' शब्द का अर्थ देवता तो है और यह द्युलोक को भी इंगित करता है। लिथुआनियन डीवास, लाटवियन डीव्स, प्रशियन डीवाज़, लैटिन डियूस, फ्रेंच ड्यू, स्पेनिश डिओस, इटैलियन डिओ और संस्कृत देव। ये सारे शब्द क्या सिर्फ़ भाषाओं के एक केन्द्रण को ही बताते हैं या कि इस श्रेणी के लोग कभी सर्वत्र थे- इन सभी भाषाओं में इनका एक अर्थ संबंध आकाश से है। जैसे लैटिन 'डिवम' का मतलब खुले आकाश से है। लेकिन राम द्वारा अन्तरिक्षीय देवताओं को शान्ति प्रदान करने के लिए धरती पर आना कमोबेश आइज़क आसिमोव की विज्ञान फंतासी जैसा हो सकता है कि एक समय पृथ्वी नामक इस ग्रह का शासक इतना ताक़तवर हो गया हो कि अन्तरिक्षीय

ताक़तें त्रस्त और अस्तव्यस्त हो गई हों।

तुलसीदास आर्थर क्लार्क की तरह कोई इम्पीरियल अर्थ या स्पेस ओडेसी नहीं रच रहे हैं। क्लार्क भले ही श्रीलंका में बहुत समय से निवास करते चले आने से यह विश्वास बनाए हुए हों कि आदमी किसी प्राचीन अजनबी (एलियन) सभ्यता की सम्पत्ति है, लेकिन यहां तुलसी तो उस एक लोक मान्यता को ही वाणी देते हुए ज्यादा विश्वसनीय जान पड़ेंगे कि जहां सीधे सरल सच्चे आदमी को देवता कहा जाता है। देवता यहां हवाई नहीं, जमीनी हैं। नील गैमेन के उपन्यास 'अमेरिकन गौड्स' की तरह ये देवता क्रेडिट कार्ड, फ्रीवे, इंटरनेट, प्लास्टिक, बीपर और नियन के देवता नहीं है। देवताओं से यहां आशय किसी अशरीरी, किसी गगनचर, किसी अन्य ग्रह के द्युनिवासियों से मानने की आवश्यकता भी नहीं है। यहां तो उन भले और सज्जन लोगों से अभिप्रेत है जो सात्विक हैं। कालिदास कहते थे कि सज्जन अपने मित्रों पर कृपा की दृष्टि डालते हैं, शरों की वर्षा नहीं करते- 'प्रसाद सौम्यानि सतां सुहृय्ज्जने पतंति चक्षूंषि न दारुणः शराः। वस्तुतः ऐसा वे दुष्टों के साथ भी नहीं कर पाते। विप्रियमव्याकर्ष्य ब्रूते प्रियमेव सर्वदा सुजनः। सज्जन किसी की कटुवाणी सुनकर भी सदा मधुर वाणी ही बोलता है। न्यूमैन का कहना था कि सज्जन पुरुष की वास्तविक परिभाषा यही है कि वह कभी किसी व्यक्ति को पीड़ित नहीं करता (He is one who never inflicts pain) लेकिन ऐसा 'देवता' दुष्टों के हाथों हमेशा सताया जाता है। भारवि ने कहा था 'प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः'। दुर्जन स्वभाव से ही सज्जनों के शत्रु होते हैं। देवता-सम भले व्यक्ति जितना उन्हें समझाते हैं उतना उनका अत्याचार बढ़ता जाता है। चाणक्य का कहना था कि 'न दुर्जनः साधुदशामुपैति/वहुप्रकारैरपि शिक्ष्यमाणः/आमूलसिक्तः प्यसा घृतेन/न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति।।' दुर्जन को यदि अच्छी-अच्छी शिक्षा दी जाए तब भी वह साधु नहीं हो सकता। जैसे नीम के पेड़ को यदि दूध और घी से सींचा जाए तो भी वह मधुर नहीं होगा। इसलिए देव-स्वरूप को उनके हाथों शान्ति नहीं मिलती, वे उनके अत्याचार और संत्रास के शिकार रहते हैं। तब राम जैसा ही कोई उन भलेमानसों को शान्ति दे पाता है। क्या लगता है? देवता भले मनुष्य नहीं हैं? देवता प्रकृति की शक्तियों पर नियंत्रण रखने वाली ऊर्जाएँ हैं। प्रकृति से शासित होने वाले मनुष्य नहीं हैं लेकिन तब देवता एक मानवीय दुनिया में क्यों हैं? इस दुनिया के इंसानों पर वे नज़र ही नहीं रख रहे, वे उनसे इंटरएक्ट भी कर रहे हैं, क्यों? वे एक मानवाकार (hominoid) रूप में क्यों हैं? जब वे या उनका अंश पृथ्वी पर उतरा, मनुष्य के 'परिधान' में, मनुष्य की 'धातु में तो मनुष्य की नियति से उन्होंने क्या अपने को बांध नहीं लिया? या इसे उल्टे तरीके से देखें? मन की ही शुभ वृत्तियों का विश्व नाट्यमंच पर बहिरंगी रंगकर्म (exteriorization) देवताओं के रूप में है? या भारतीय पौराणिकी से बाहर चलकर, देवताओं ने मनुष्यों को एक भृत्य जाति (servant race) की तरह काम करने के लिए बनाया? लेकिन ऐसी माइथोजेनेटिक व्याख्याओं की बजाय गीर्वाण के रूप में हम मनुष्यता के भीतर मौजूद साधुवृत्ति के सात्विक पुरुषों को ही देवता क्यों न मानें? स्कंदोपनिषद में मानव शरीर को देवालय इस तर्क के आधार पर कहा गया कि जीव केवल शिव है : देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः। अथर्ववेद में माना गया कि यह शरीर आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली देवपुरी अयोध्या है, जिसमें सोने का एक ज्योतिस्वरूप एवं स्वर्ग के प्रकाश से परिपूर्ण रमणीय प्रकोष्ठ वाला मस्तिष्क है : अष्टाचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या/तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः (अथ. 10.2.31)। शास्त्रों में देवताओं की चार विशेषताएँ बताई गई हैं, एक, देवताओं का पैर धरती से ऊपर रहता है। जमीन को छूता नहीं। दूसरा, देवता पलक नहीं झपकाते। तीसरा, देवताओं को पसीना नहीं आता। चौथा, देवता की परछाई नहीं बनती, उनकी देह पारदर्शी होती है। इन चारों विशेषताओं का भले आदमियों के संदर्भ में अर्थ क्या है? दरअसल धरती को न छूना पार्थिव आकर्षणों से, भौतिक प्रलोभनों से अस्पर्शित रहना है- कीच में

कमल की तरह विरत और उपराम। दूसरी विशेषता सतत जागरूकता की है, इटर्नल विजिलेंस की। या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। वैसे भी लोगों के दुःख और दुर्दशा के कारण भले लोग स्लीपलेस नाइट्स बिताते ही हैं। तीसरी विशेषता पसीना न आने की है। इसका अर्थ हुआ उनके आचरण में छिद्र न होने का। छिद्रान्वेषियों की भरसक कोशिशों के बावजूद भला आदमी यथासंभव अपने व्यवहार में छिद्र न रखने की कोशिश करता है। उसे मालूम रहता है कि उसके छिद्रों के आधार पर ही उसे ब्लैकमेल किया जा सकता है। संस्कृत की एक कहावत है 'छिद्रेष्वनर्थाः बहुली भवन्ति' यानी छिद्रों के विद्यमान होने पर अनर्थ बहुगुणित हो जाता है। अपने कर्तव्य में छिद्र न छोड़ने वाला देवता है। उसका मन निष्कलुष होता है। वह मैल का न सृजन करता है, न उत्सर्जन। उसमें मनोमालिन्य भी नहीं होता। चौथी विशेषता है पारदर्शिता। देवता आदमी में कुटिलता नहीं होती। वह ऋजु होता है। आर्य शब्द का शाब्दिक अर्थ है: जो ऋजु है, एक सौ अस्सी डिग्री की सरल रेखा वाला। ऋग्वेद कहता है :- सुगा ऋतस्य पंथा, ऋत का रास्ता सरल है। सरल आदमी के रथ की वल्गा स्वयं पार्थसारथी आकर थामते हैं। पारदर्शी आदमी के आर-पार देखा जा सकता है। उसमें गोप्य नहीं होता, वह जैसा भीतर है, वैसा बाहर है। उसके भीतर सत्व का ही प्रकाश है। वह छायाओं के पीछे नहीं भागता। वह 'छाया मत छूना मन, होगा दुःख दूना' की चेतावनी का ही नहीं पालन करता, स्वयं भी छायाओं के कारोबार में कोई योगदान नहीं करता।

प्रभु राम भले लोगों को, देवस्वरूप लोगों को उनके जीवनकाल में शान्ति देते हैं। ये वो देवता नहीं हैं जो मरने के बाद बनते हैं, जिन पर देवत्व का आरोपण कर दिया जाता है। इन मरे हुओं को क्या शान्ति, क्या अशान्ति? इनको देवता बनाया जाता है, ये होते नहीं। मसलन रोमन लोगों ने शासकों को मृत्यूपरांत देवता बनाने की प्रक्रिया शुरू की थी जिसे एपोथिओसिस कहा जाता था। जूलियस सीज़र को सबसे पहले अघोषित देवता घोषित किया गया, 44 ई.पू. में उसकी हत्या के बाद 58 वर्ष बाद। जब आगस्टस मरा तो उसे यही पद दिया गया। उनके नाम के आगे 'दिवस' शब्द लगने लगा जो हिन्दू शब्द 'देवस' की याद दिलाता है। बाद में लुसिअस सेनेका ने अपनी पुस्तक एपोकोलोसिंटोसिस डिविक्लाडी (सम्राट क्लाडिअस का पंपकिनीफिकेशन) में इस देवीकरण प्रक्रिया की पैरोडी भी बनाई जिसमें कटुभाषी और अतिसाधारण सम्राट क्लाडिअस देवता में नहीं, पंपकिन में तब्दील हो जाता है। तो तुलसी के राम ऐसे लोगों के लिए 'गीर्वाण शान्तिप्रदं' नहीं हैं। वे उनके लिए हैं जो देवता हैं, आरोपण के ज़रिए नहीं, सचमुच में। वे सम्भवतः उन लोगों के लिए भी मौजूद नहीं हैं जो स्वघोषित देवता हैं। जैसे सिकंदर महान जो स्वयं को ज्यूस देवता कहता था या रोमन सम्राट क़लीगुला जो अपने को ज्यूपिटर देवता के रूप में पुजवाता था, या लू शेन-येन (1945-अब तक) जो स्वयं को अमिताभ बुद्ध के सुखवाटी में रहने वाले देवता पद्मकुमार का अवतार बताता है या सूमा-चिंग-हाई जो स्वयं को अवलोकितेश्वर का अवतार घोषित करती है। तीसरे, यह शान्ति देवताओं वाली है। देवताओं की बहुसंख्या वाली यह शान्ति उस एकदेववाद (मोनोथीज़्म) के समानान्तर है जिसका सिद्धान्त वाक्य था : सिर्फ़ एक ईश्वर। एक रास्ता। अन्य सभी देवता राक्षस हैं। (Only One God-One way-Other Gods are Demons !) और (Thou shall have no other god before me !'-) मेरे सामने/पहले तुम कोई और देवता न लाओगे। जोरोष्ट्रियन व ज्यूडाई धर्मों, ईसाइयत और इस्लाम में एक God है, लेकिन तुलसी यहां 'gods' की बात कर रहे हैं। जब एकदेववादी परिदृश्य में प्रकट हुए तो न केवल यह हुआ कि अन्य देवताओं की पूजा ही निषिद्ध हो गई बल्कि वे 'ईविल' माने गए और उन्हें नष्ट करना कभी नहीं भूला गया। हम मानते थे कि एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। कुछ हद तक जोराष्ट्रियन ने भी बहुलता को समायोजित किया। अहुर मज़्दा के साथ-साथ यजता (पूजनीय) अर्द्ध-प्रभुओं को शामिल

कर लिया गया जो भगवान के द्वारा बुराई के विरुद्ध संघर्ष में उसकी मदद करने के लिए हैं। इसलिए देवताओं की बहुसंख्या मानना, उन्हें तैंतीस कोटि मानने की बात या तो एक शोर-शराबे (कैकोफोनी) या बेबेल टॉवर जैसी हालत को जन्म दे सकती है या यदि प्रभु राम की कृपा और उनका अवबोध हो तो जीवन की विविधता के स्वीकार भाव से उत्पन्न सहिष्णुता, शान्ति और सद्भाव क़ायम कर सकती है। पाँचवें, देवता रावण की सेवा पूजा के लिए बाध्य होने से वैसे ही अशान्त हैं। इतने बुद्धिजीवी और विषय विशेष के विशेषज्ञ होने के बावजूद वे अत्याचारी अधिनायक की सेवा में नियोजित हैं। यह अन्तर्ज्वाला उन्हें दग्ध तो करती ही होगी। उनके लिए राम ही शान्तिप्रदं हो सकते थे।

अनेक भक्तों, मसलन ब्रह्मानंद ने विष्णु से इसी शान्ति की प्रार्थना की थी- लभेयं तां शान्तिं परममुनिभिर्या ह्यधिगता/दयां कृत्वा मे त्वं वितर परशान्तिं भवहर।। (परमेश्वरस्तुतिसार स्त्रोतं)/हे भवबंधन से मुक्त करने वाले भगवान! तुम दया करके मुझे वही पराशान्ति दो। ब्रह्मानंद के ही श्री भवच्छरणस्तोत्रम में शान्ति के लिए दो आवश्यकताएँ होना बताई हैं। एक, 'दृष्टि में समता' दो, स्थिरता : शान्तिः कुतो मम भवेत्समता न चेत्यात्रस्मात्/ अर्थात एक यदि मेरी दृष्टि में समता नहीं हुई तो मुझमें शान्ति कैसे फलीभूत हो सकती है और दूसरे, तां वै विना मन न चेतसि शान्तिवार्ता।। अर्थात् स्थिरता के बिना चित्त में शान्ति कथनमात्र के लिए भी नहीं हो सकती।

राम भले लोगों को वही शान्ति देते हैं। भले लोगों की प्रकृति रक्षा करती है। भले लोग अपने आसपास क़िले और दुर्ग नहीं बनाते। वे तो खुले और पारदर्शी होते हैं। दुष्ट लोग इसी का फ़ायदा उठाते हैं, उन्हें तरह-तरह से त्रस्त करते हैं। भले लोगों को उनकी दुरभिसंधियों और कपटपूर्ण चालों का भान भी नहीं होता लेकिन तब वे क्या सर्वथा असुरक्षित हैं? डिफेन्सलेस? कि लोग रेशमी दस्तानों में लोहे का हाथ छुपाकर आते हैं और भले लोगों का गला घोट जाते हैं? कि भले लोग इस संसार के विशाल स्कीमिंग जाल में फँस गए हैं और शिकार हो जाने के सिवाय उनके पास कोई रास्ता नहीं है? शिकारी गिद्धों को ये मेष जैसे सीधे लोग बहुत पसंद आते हैं। फ्रेडरिक नीत्शे ने उन शिकारी गिद्धों की कथा सुनाई थी जो कहते थे : We have nothing against these good lambs ; in fact, we love them; nothing tastes better than a tender lamb. ये गीर्वाण क्या वे ही 'टेंडर लैंब' हैं? क्या सृजेता ने उन्हें शिकारी गिद्धों का आहार बनने के लिए खुला छोड़ दिया है? अवतार होता ही इसलिए है कि ईश्वर हस्तक्षेप करता है। सीधा हस्तक्षेप। इसीलिए बालकंड में ही भगवान वचन देते हैं : निर्भय होहु देव समुदाई, इन्हीं अर्थों में तुलसी के राम गीर्वाण शान्तिप्रदं हैं। वे साक्षी होने मात्र के लिए नहीं हैं। वे अपने दखल की घोषणा सुग्रीव के साथ भी करते हैं और विभीषण के साथ भी। वे सत्ता के समीकरण पलट देते हैं। ईश्वर गज की भी मदद करता है और द्रौपदी की भी। वह दरिद्रनारायण भले लोगों की, सरल, अबोध और निश्छल लोगों की मदद के लिए दौड़ा चला आता है। जब वे सहज विश्वासी लोग अपने प्रति हो रहे क्रूर षड्यंत्रों से अनजान अपने सत्कार्यों में दत्तचित लगे रहते हैं तब उनके कमज़ोर कोने ढँकने का काम वही ईश्वर करता है। मनुष्य अपनी गणना से जितने मोर्चों को सम्भालेगा, उतने ही संभलेंगे। लेकिन दैत्यों की साज़िशें एक से अधिक मोर्चों और कोणों पर चलती हैं जो कई बार निष्कपट मनुष्य की गिनती के बाहर रहती हैं। वहाँ उन स्थानों पर ईश्वर ही ढाल बनकर आता है। राम का नामस्मरण, राम के प्रति निष्ठा ही उस वक्त साधु को तारती है। 'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी/जिमि बालक राखइ महतारी।'

यह कहा जा सकता है कि सिर्फ़ 'गीर्वाण शान्तिप्रदं' ही क्यों कहा गया? राम तो साधु और असाधु दोनों को ही गति देते हैं। निर्वाण तो वे दुष्टों को भी देते हैं। राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्वान। मारीच के प्रति तो राम की विशेष करुणा रही है। जिस तरह से अहिल्या

को तारा, उसी तरह से ताड़का को भी। 'दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा।' लेकिन फ़र्क़ यह है कि अहिल्या को उन्होंने जड़ से चेतन किया और ताड़का को चेतन से जड़ किया। साधु को जीवन में शान्ति, असाधु को मरने के बाद। रावण का यही भरोसा तो है 'प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ' इसलिए प्रत्यक्षतः तो वे देवताओं को ही शान्तिप्रदं हैं। बार-बार राक्षसों से परेशान देवता विष्णु के पास पहुँचते हैं, शिव के पास पहुँचते हैं, शक्ति के पास पहुँचते हैं, ब्रह्मा के पास पहुँचते हैं। देवताओं को परेशान होना ही है। लेकिन राम सरीखे लोग उनका सतत आश्वासन हैं।

तुलसी के गीर्वाण शान्तिप्रदं का एक और महत्त्वपूर्ण आयाम है। गीर्वाण देवता हैं, लेकिन देवता और दैत्य कोई अलग-अलग रेस (प्रजाति) नहीं हैं। औपनिवेशिक इतिहासकारों ने हमें जातीय संघर्षों में उलझाए रखने के लिए कई रेसिस्ट व्याख्याएँ कीं और भारतीय एकता के ही टुकड़े-टुकड़े कर दिए। वेदों में सत्व और तमस की शक्तियों के बीच, प्रकाश और अंधकार की ताक़तों के बीच लड़ाई की बात कही गई है। हमारा सबसे पवित्र माना जाने वाला गायत्री मंत्र 'सविता' की बात करता है। भगवान राम आदित्यहृदयस्त्रोत का पाठ करते हैं। यह 'समस्ततेजोमयदिव्यरूपं पुनातु मा तत्सवितुर्वरेण्यम्' की भावना है। इसकी मुठभेड़ निशाचरों से होती है जो तम और तामस स्वभाव के प्रतिनिधि हैं। अधिकतर पुरानी सभ्यताओं प्राचीन अमेरिकन इंडियन, मिस्रियों, ईरानियों, ग्रीकों में सच और झूठ की शक्तियों के लिए देव-दैत्य का प्रकाश-अंधकार यह रूपक आया है, लेकिन ग्रीक और अमेरिकन इंडियन रूपकों का मतलब निकालते समय यूरोपीय इतिहासकारों की जो रेसिस्ट व्याख्याएँ ग़ायब हो जाती हैं, वे भारत के सम्बन्ध में बड़े ज़ोर-शोर से प्रकट होती हैं। रावण को द्रविड़ बता दिया जाता है, राम को आर्य। जबकि रावण पुलस्त्य के वंश का है और हनुमान अपने प्रबोधन में सुन्दरकांड में उसे इसकी स्मृति दिलाते भी हैं। यूरोपीय इतिहासकारों के तरीक़े बड़े विचित्र थे। असुरों को 'अनासा' कहा गया तो उन्होंने कहा कि यह छोटी/पिचकी नाक वाले द्रविड़ों की ओर संकेत है लेकिन दक्षिण भारतीय लोगों की तो नाक उत्तर भारतीयों से आकार-प्रकार में भिन्न नहीं हैं। बल्कि कई बार तो उनसे भी ज़्यादा उठी हुई और प्रॉमिनेंट है। ऐसे तो असुरों को 'अपाद' भी कहा गया है, इसका मतलब क्या यह लगाया जाए कि असुर लँगड़े होते थे? हमारी कहावत 'झूठ के पाँव नहीं होते' में इसका उत्तर मिलेगा, न कि किसी रेसिस्ट व्याख्या में? जहाँ देव-दैत्य सह पत्नियों अदिति और दिति की संतान थे, वहाँ रेसिस्ट अर्थान्वयन संभव ही नहीं। अदिति से आदित्य का संबंध दैवी गुणों का प्रकाश-पुंज से संबंध ही तो है। हमें यह पढ़ाए जाने की कोशिश होती है कि इन देव-दैत्य रिश्तों की वर्णवादी व्याख्या कर ली जाए। देव गौरवर्ण थे, राक्षस काले कलूटे। लेकिन कोशिश इस बार भी वही है। उत्तर भारत को दक्षिण भारत से लड़ाना। लेकिन आर्यों के वर्णाश्रम में तो ब्राह्मणों को गौर, क्षत्रियों को लाल, वैश्यों को पीला और शूद्रों को काला कहा गया था। अब यदि वर्ण का अर्थ शरीर का कोई भौतिक रंग है तो बताइए क्षत्रियों में ये यूरोपीय औपनिवेशिक व्याख्या वाले रेड इंडियन कहाँ देखे गए? ये वैश्यों के बीच चीनियों-जापानियों जैसी कोई 'यलो रेस' है क्या? और वे चीनी-जापाानी भी क्या 'पीले' होते हैं? यदि शूद्र काले हैं और ये सब बातें शरीर के कालेपन के बारे में की जा रही हैं तो कृष्ण और शिव का क्या? तो कहा गया और फूट डालने के उद्देश्य से ही कहा गया कि शिव तो द्रविड़ देवता हैं, अनार्य जातियों के देवता हैं यानी शिवजी का शरीर कालकूट हालाहल के पीने से काला नहीं हुआ, आनुवंशिकता का परिणाम है तो कोई पूछे कि शिव का वंश क्या है? कोई पूछे कि शिव के माता-पिता क्या हैं? द्रविड़ियन शैविज़्म के औपनिवेशिक सिद्धांत के दो अर्थ दिए गए। एक, द्रविड़ शैव हैं, दूसरे, शैव द्रविड़ हैं। दोनों ही अर्थ ग़लत हैं। द्रविड़ वैष्णव संतों की एक लंबी परम्परा है।

दूसरे, प्रत्यभिज्ञा दर्शन तो कश्मीर में पनपा, कैलाश तिब्बत में है, अमरनाथ कश्मीर में, शिव गंगा को अपनी

जटाओं में सम्भालते हैं। भारत में शिव हों या विष्णु, उनकी क्षेत्रीय एप्रोप्रिएशन या बन्दरबाँट कभी नहीं हुई। फिर और आगे चलें। शक्ति की भी एक त्रिमूर्ति है। महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती। इनमें से प्रथम का वर्ण है काला, दूसरी का है गुलाबी, तीसरी का है सफ़ेद? तीनों को पूजने वाला भारतीय मानस रंगभेद का मानस होगा? यम का रंग तो हरा बताया गया है? आधुनिक समय में इतिहास का स्कॉलर उसे कहते हैं जो किसी शब्द से जुड़ी अनेकानेक अर्थच्छवियों की समृद्धि की सरासर उपेक्षा कर अपने पूर्वाग्रह के आधार पर एक अर्थ चुन ले। तो ऐसे 'स्कॉलर' ने हमारे इतिहास की व्याख्या उसी सविता देवता के हवाले से यह भी की कि प्राचीन भारत के ये देवता 'गोल्डन स्किन्ड' हुआ करते थे, जिनके बाल भी सुनहरे थे। अब प्राचीन मय, इंका, मिस्री, ग्रीक सभ्यताओं में भी सूर्य देवता सुनहरे रंग के हों तो कोई क्या करे? दरअसल भारत में अँग्रेज़ अपनी उपस्थिति के औचित्य को प्रमाणित करने का कोई मौक़ा नहीं चूकना चाहते थे। इसलिए अपनी 'दैवीय' उपस्थिति को 'दिव्य' उपस्थिति में बदलना 'श्वेत आदमी के भार' (व्हाइट मेन्स बर्डन) थ्योरी का ही विस्तार था? इस औचित्यीकरण के स्व-संभर विश्व में इसकी कोई गुंजाइश ही नहीं थी कि दुनिया के किस हिस्से के किस मिथक में कभी सूर्य देवता को काला कहा गया है?

तो 'गीर्वाण शान्तिप्रदं' का गीर्वाण शब्द रेशियल नहीं है। गीर्वाण वर्ण नहीं है। वर्ण रेस का भी प्रतिनिधि नहीं है। यदि यूरोप के सुनहरे स्वीडिश बाल दक्षिण इटली में आते-आते काले हो जाते हैं तो वे रेस के परिवर्तन का सूचक नहीं हैं। दक्षिण भारतीय राजा चाहे वे चोल हों या पांड्य, अपने वंशवृक्ष का आरम्भ मनु से ही करते थे। फूट डालो और राज करो की मनोवृत्ति ने शिव की भस्म, उनकी सर्पमाला और उनके गणों को उनके अनार्यत्व की तरह दिखाया और चिन्तन की इस चाल ने आर्य को विशेषण या सम्बोधन की तरह न देखकर जाति के रूप में देखना सिखाया। इन्द्र को आर्य और शिव को अनार्य बताने वाली इस चिन्तन, चाल या चालाकी ने प्रसिद्ध संत दक्षिण रमण महर्षि के शिष्य गणपति मुनि की पुस्तक 'इन्द्रेश्वरभेद सूत्रम्' कभी पढ़ने की ज़हमत नहीं उठाई। वैदिक इन्द्र के देवराज और पौराणिक शिव के महादेव होने, इन्द्र के पुरंदर और शिव के त्रिपुरारि होने, इन्द्र की शची और शिव की शक्ति होने, इंद्राणी के सैन्य देवी होने और चंडी के दिव्य सेना के लीडर होने, छांदोग्य में इन्द्र को वर्णमाला में स्वर कहे जाने और तांत्रिक दर्शन में शिव को वर्णमाला में स्वर कहे जाने में, इन्द्र की स्तम्भ पूजा और शिव की लिंग पूजा में जो समानताएं गणपति मुनि ने बताई हैं वे इन दोनों के एकत्व की, अभेद की स्थापना करती हैं। औपनिवेशिक इतिहासकारों द्वारा द्रविड़ मध्यकालीन हिंसक आक्रमणों के वक्त वैदिक संस्कृति के समानान्तर एक प्रतिद्वन्द्वी संस्कृति के रूप में वर्णित होने लगे। मध्यकाल में तो 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी' माना जाता था, अब पृथकतावादी आंदोलनों ने द्रविड़ अस्मिता की पहचान करानी शुरू कर दी। भाषा से भाषा को लड़ाया गया। जिन महर्षि अगस्त्य को द्राविड़ भाषाओं का जन्मदाता कहा जाता है, वे ऋग्वैदिक ऋषि थे : यह कोई नहीं बताता। पुरानी द्राविड़ भाषाएँ ब्राह्म लिपि में लिखी गईं जिस तरह से कभी संस्कृत इस लिपि में लिखी गई। लेकिन देवताओं और देवभाषा दोनों की सिरफुटौवल व्याख्या ही जिन लोगों का इष्ट और अभीष्ट रहा हो, उन्हें शान्ति प्राप्त हो, प्रभु। आज के दौर में 'गीर्वाण शान्तिप्रदं' का यह आव्हान तो और ज़रूरी है। वे बताते हैं कि ब्राह्मणवादी संस्कृति के लिए राम-कथा चली जबकि यह नहीं बताते कि ब्राह्मणवादी संस्कृति एक महापंडित ब्राह्मण रावण को ही राक्षस क्यों बताती है? ऋषि पुलस्त्य का वंशज, सामवेद गाता, शिवभक्त रावण किस चक्कर के चलते एक ग़ैर ब्राह्मणवादी और रेशियल अर्थों में अनार्य के रूप में इन नए इतिहास-शूरों द्वारा प्रतिष्ठित किया गया, ये वे ही जानें। हमें तो रामावतार उनके पूर्व के अवतारों के समय में चले देवासुर संग्रामों के अनेकानेक प्रसंगों का ही विस्तार नज़र आता है।

रावण को द्रविड़ नायक के रूप में प्रतिष्ठित करते ये आधुनिक प्रयत्न राजनीति हैं, इतिहास नहीं। निशिचर का अर्थ तो शिवजी के मुख से तुलसी ने बालकांड में ही स्पष्ट करा दिया था : बाढ़े खल बहु चोर जुआरा/जे लंपट परधन परदारा/मानहिं मातु पिता नहिं देवा/साधुन्ह सन करवावहिं सेवा/जिन्ह के यह आचरन भवानी/ते जानहु निसिचर सब प्रानी।

पाठ्यान्तर से निर्वाण शान्तिप्रदं भी मिलता है। हिन्दुओं में निर्वाण ब्रह्म से सायुज्य है, जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति, सुख, दुःख, पीड़ा, वेदना आदि से मुक्ति, सच्चिदानन्द ब्रह्म में सारूप्य। बौद्धों ने इसे 'निवाना' (पालि) कहा। कुछ ने उसे (आग की तरह) बुझने या मिटने की तरह देखा तो कुछ ने इसे पुराचीन अर्थ में उस व्यक्ति की तरह लिया जो शीतल हो गया हो। घृणा, माया, प्रलोभन को बुद्ध दर्शन में तीन प्रमुख बुराइयाँ माना गया और इन तीन बुराइयों का बुखार जिस पर से उतर गया हो, उसे निर्वाण प्राप्त होना बताया गया है। तृतीय शती ई.पू. में मिलिन्दपन्हों में निर्वाण को 'सद्धर्म का नगर' (City of Righteousness) कहा गया। एक प्रारम्भिक बौद्ध लेखक ने लिखा- 'माया मुझसे पूरी तरह निकल गई। अब मैं शीतल हुआ, भीतर से सारी ज्वाला निकल गई।' हिन्दुओं में निर्वाण सभी बंधनों से मोक्ष है, और अज्ञान से मुक्ति; वहीं बौद्धों में निर्ग्रंथ होना प्रज्ञापारमिता और करुणा की स्थिति है। बौद्ध निर्वाण के साथ उस 'अमर' स्थिति का अर्थ लेते हैं कि जो चेतना की सर्वोच्च दशा है, बल्कि अवस्था या दशा भी निर्वाण के लिए सही शब्द नहीं हैं क्योंकि निर्वाण परम सत्य है, कोई दशा या स्थिति नहीं लेकिन हिन्दू और बौद्ध निर्वाण परिभाषाओं की सरहदें कई बार आपस में मिलती हैं। निर्वाण की सच कहें तो कोई परिभाषा है भी नहीं। यह तो अनुभव करने की बात है, प्रत्यक्ष करने की। निर्वाण में द्वैत है ही नहीं। हिन्दुओं की सायुज्य स्थिति बौद्धों में यों थोड़ी सी अलग हो गई कि एकाकार होने के लिए पहुंचने जैसी कोई बात नहीं- there is nothing to unite बल्कि यह अभेद का अनुभव है- an experience of non-separation निर्वाण कोई ऐसा पद नहीं है जो पहले अस्तित्व में नहीं था और अब है। वह हमेशा ही है। सिर्फ़ हमारे नैतिक और आध्यात्मिक अँधेरे के चलते यह हमारे प्रज्ञाचक्षुओं की पकड़ में नहीं आता। वह आत्मानन्द है, वह ब्रह्मानन्द है, वह स्वरस है, वह तथागति है, वह हंसत्व है, वह कैवल्य है, वह एक अव्याकृत अवस्था, तुरीय है। वह बंध में डालने वाले सभी पाशों से परिमोक्षण है। जब तक पाश है, जीव पशु है। उससे मुक्त होने को ही निर्वाण कहा गया है।

यहां इस प्रसंग में ध्यान रखने योग्य यह बात है कि सुन्दरकांड में जहाँ हनुमान जान-बूझकर नागपाश में फँसते हैं, वहाँ तुलसी ने याद किया है कि हनुमान तो उस हस्ती के सेवक हैं जिसे जपने से भवबंधन कट जाते हैं। इसलिए राम की निर्वाण शान्तिप्रदं के रूप में स्मृति इस अध्याय की शुरुआत में ही कर ली गई कि जो विपाशन और विमोचन, मुक्तकरण और अनाबद्धन की पूजा करता है वह हनुमान के चिर-स्वतंत्र स्वभाव से आश्वस्त रहता है।

निर्वाण का अर्थ बंधनों से छूटना है लेकिन ये बंधन क्या सिर्फ़ लोभ, मोह, मत्सर के बंधन हैं या वे बंधन भी जो देश, काल और गुरुत्वाकर्षण के रूप में इस संसार में जनम लेते ही हम पर आरोपित होते हैं? ये हमारे पृष्ठभूमि संदर्भ (बैकग्राउण्ड रिफरेन्स) हमारी सीमाएँ भी हैं। माया के बंधनों का तानाबाना देश काल और गुरुत्वाकर्षण इन संदर्भी रेशों से ही बुना जाता है। द्वैत सिर्फ़ आत्मा-परमात्मा के बीच का द्वैत ही है या तब भी कि जब पदार्थ (मैटर) कण और तरंग दोनों की ही तरह व्यवहार करता है, पार्टिकल भी और वेव भी? हमारी दृष्टि के ब्लिंकर्स हमारी वासनाओं से ही निर्मित नहीं होते, समय और आकाश और गुरुत्व भी ऐसे ब्लिंकर्स हैं जिन्हें पहनकर ही माया में हमारा प्रवेश होता है। निर्वाण मुक्त करता है हमें हमारे समय, स्थान, गुरुत्व आदि सीमाओं से। यह ध्यान देने की बात है कि 'रिलीजन' शब्द का लैटिन धातुमूल 'रेलिगेअर' है जिसका

मतलब है कसकर बाँधना। लेकिन भारत में ये परिभाषाएं और शब्द मुक्तिमूलक हैं।

बुद्ध कहते हैं कि यह तृष्णा से मुक्ति है। बुद्ध के शिष्य मुसिला इसे सातत्य (continuity) से मुक्ति और भवनिरोध (cessation of becoming) से मुक्ति कहते हैं लेकिन मनोरचनाओं को जब हम पकड़कर नहीं बैठते, जब वह हमें बाँधता नहीं, जो भी संवेदन है उससे बिना बँधे जब हम उसका अनुभव करते हैं, तब बुद्ध के अनुसार हम निर्वाण को उपलब्ध होते हैं। इसे यों नहीं देखें कि तृष्णा के अंत का स्वाभाविक परिणाम निर्वाण है। निर्वाण किसी का परिणाम नहीं है। यदि यह परिणाम है तब यह किसी कारण से व्युत्पन्न प्रभाव होगा। तब यह कंडीशंड होगा। निर्वाण न कार्य है न कारण। आप किसी रास्ते पर चलकर पर्वत पहुंचते हैं लेकिन पर्वत रास्ते का प्रभाव या परिणाम नहीं हैं। आप प्रकाश को देखते हैं लेकिन प्रकाश हमारी दृष्टि का परिणाम नहीं है।

ब्रह्माशंभु फणीन्द्रसेव्यमनिशं

तुलसी राम को ब्रह्मा, शंभु और शेषजी से निरन्तर सेवित कहते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शंभु की त्रिमूर्ति GOD के तीन अक्षरों जेनेरेटर, ऑपरेटर और डिस्ट्रायर की व्याख्या करती है। विष्णु के अवतार राम ब्रह्मा, शंभु और शेष की लगातार सेवा के योग्य हैं। जाम्बवान के रूप में ब्रह्मा, हनुमान के रूप में शंभु और लक्ष्मण के रूप में शेष राम अवतार की सेवा में आए हैं। ब्रह्मा से ऊपर के ब्रह्मलोक, शंभु से मर्त्यलोक और फणीन्द्र से पाताल या नागलोक, इस प्रकार तीनों लोकों से सेव्य बताया गया है। 'हम सब सेवक अति बड़भागी/संतत चरन ब्रह्म अनुरागी।'

तुलसी उस राम को प्रणाम करते हैं जो ब्रह्मा, शंभु और शेष जी से निरन्तर सेवित हैं। राम की माधुर्य रूप से सेवा में ब्रह्मा जाम्बवान बनकर आए हैं। सीता की खोज की अवधि निकल जाने पर जब अंगद मृत्युभय से ग्रस्त हो जाते हैं तब जाम्बवान ही उन्हें ब्रह्मा वाला ज्ञान देते हैं। तात राम कहुँ नर जनि मानहु/निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु/हम सब सेवक अति बड़भागी/संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी। जाम्बवान यहाँ सेवा के वचन पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। लेकिन ये सत्य वचन हैं, यह लिप सर्विस नहीं है। उनके वचन प्रबोधते हैं, उद्‌बोध करते हैं। वे न केवल राम की वास्तविकता से अवगत कराते हैं बल्कि स्वयं वानरों को भी उनके जीवनार्थ बताते हैं कि 'सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि', यानी सालोक्य, सामीप्य, सारुप्य, सार्ष्टि और सायुज्य सब प्रकार के मोक्षों को त्यागकर राम की सेवा में साथ रहने वाले सगुणोपासक हैं वानर। वे हनुमान को भी उनके जीवन-सत्य और उनके अस्तित्व-अभिप्राय का ज्ञान कराते हैं। 'कहइ रीछपति सुनु हनुमाना/का चुप साधि रहेहु बलवाना/पवन तनय बल पवन समाना/बुधि बिबेक

बिग्यान निधाना।' ब्रह्मा को ऊर्ध्वलोक का प्रतीक माना गया है। मायूस और अवसाद ग्रस्त बैठे वानरों का, अंगद और हनुमान का उत्साह बढ़ाने में, उनके मनोत्थान में मदद कर जाम्बवान इसे सार्थक करते भी हैं। इसलिए सुन्दरकांड में कथाक्रम का प्रारंभ ब्रह्मा से यानी जामवंत से ही होता है।

लंकाकांड में भी शुरू-शुरू में ही 'सुनहु भानुकुल केतु जामवंत कर जोरि कह/नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं' कहकर सेतुबंधन के रूपक की पूरी व्याख्या कर देते हैं। वे ही नल, नील और वानरों के समूह को निर्देशित करते हैं। रावण को राम का रहस्य तो क्या, जामवंत का रहस्य भी समझ में नहीं आता। वह अंगद को कहता है : जामवंत मंत्री अति बूढ़ा/सो कि होइ अब समरारूढ़ा। लेकिन वही जामवंत युद्ध में महाप्रतापी मेघनाद की क्या हालत करते हैं : 'अस कहि तरल त्रिसूल चलायो/जामवंत कर गहि सोइ धायो/ मारिसि मेघनाद कै छाती/परा भूमि घुर्मित सुरघाती/पुनि रिसान गहि चरन फिरायो/महि पछारि निज बल देखरायो/ बर प्रसाद सो मरइ न मारा/तब गहि पद लंक पर डारा। जामवंत की बूढ़ी हड्डियों में इतना बल था कि वे रावण के युवा पुत्र की यह हालत कर देते हैं। राम का वृद्ध सेवक रावण के युवा युवराज से अधिक शक्तिशाली है। यह शक्ति सेवा का फल है। जामवंत राम की सत्य वचन से सेवा करते हैं। वे वक्तृता के धनी हैं लेकिन कोरी वक्तृता के नहीं।'

जामवंत रीछ हैं और ब्रह्मा सृजन करने वाले। अंग्रेजी का शब्द बीअर इसकी व्याख्या करता है। बीअर का अर्थ रीछ तो होता है, बीअर का एक अर्थ बच्चों को संसार में लाना भी होता है। बीअर का शीतनिद्रित होकर पुनः सक्रिय होना दुनिया भर की पौराणिकियों में पुनरुन्मेष व पुनर्जीवन का प्रतीक माना गया। जामवंत भी बार-बार वानर यूथ में उत्साह का संचार करते हैं। उत्तरी जापान में एक आदिम जनजाति है आइनू, जिसका विश्वास है कि रीछ लोगों को फ़ायदा पहुंचाने के लिए अवतरित होता है और जब मरता है तो आत्माओं/देवों के लोक में चला जाता है। अमेरिका में प्रशान्त उत्तर-पश्चिमी तट की आदिम जनजातियों हैदा, त्लिनगिट और क्वाकिअत्ल में रीछ की दिव्य आत्मा के टोटेम चलते हैं। साइबेरिया की कुछ भाषाओं में एम का अर्थ रीछ होता है और अन्य भाषाओं में वही शब्द पितृदेव (Ancestral spirit) का अर्थ है। पश्चिमी क्री या ओजिबवे जनजाति में रीछ वंश के लोग आज भी जड़ों, छालों, पौधों आदि के ज्ञान व ज़मीन के प्रहरी कार्य के लिए जाने जाते हैं। अमेरिका की विन्नेबागो आदिम जनजाति में रीछ वंश के लोग गांव की पेट्रोलिंग करते हैं और अपराधों व अन्य अव्यवस्थाओं को रोकते हैं। गाते-गाते वे गाँव का चक्कर लगाते हैं। वे अपने नाम भी रीछ के नाम पर या उसकी विशेषताओं के नाम पर रखते हैं। एक नाम होगा 'तीखे पंजे'। एक होगा 'बड़ी भुजा/आलिंगन वाला'। एक होगा 'पेड़ छीलने वाला'। इनकी जो विश्व-निर्माण मिथकें हैं उनमें कहा गया है कि रीछ और 'युद्ध की आत्मा' दोनों अत्यन्त गहरे मित्र हो गए। एक अन्य कथा यह कहती है कि शुरू में आदमी नहीं थे। अर्थमेकर (पृथ्वी निर्माता) ने सिर्फ़ जानवर बनाए थे। जानवरों के साथ हुई एक बड़ी सभा में पृथ्वी निर्माता ने तय किया कि उनमें से कुछ मनुष्य बनने के लिए चुने जाएँगे। सैनिक की भूमिका के लिए रीछ को चुना गया। जामवंत की कथा इन कथाओं से कहीं न कहीं आलोकित होती है। बोधिसत्व अपने एक जन्म में रीछ थे। जामवंत समरारूढ़ा तो हैं वे बहुत भले भी हैं। रीछ के भलेपन की यही मान्यता, जामवंत की सी आश्वस्ति और दिलासा देने की प्रवृत्ति टेडी बीअर के आधुनिक अति लोकप्रिय खिलौनों में दिख पड़ती है।

शंभु भी माधुर्य-भाव से राम की सेवा में अहर्निश प्रस्तुत हैं- हनुमान रूप में। इसे यों नहीं समझना चाहिए कि इस बहाने से तुलसी ने अपने आराध्य की तुलना में सभी को उनका सेवक बता दिया है। इनमें महत्वपूर्ण शब्द है 'सेव्य' और 'अनिशं' जिन पर हम बाद में चर्चा करेंगे। फिलहाल यहाँ हम शिव तत्व की पहचान कर लें। ब्रह्मा अपर और फणीन्द्र पाताललोक के आयामों

की ओर इंगित करते हैं तो शिव मध्य में हैं : मृत्युलोक या मर्त्यलोक में। शिव मध्य में हैं क्योंकि वे हैं ही विषमताओं का समाहार। शिव हैं तो योगी, ध्यानस्थ। लेकिन वे घरबार वाले हैं। यदि सम्पूर्ण परिवार किसी एक का है तो शिव का। विष्णु के अवतारों के परिवार हैं लेकिन स्वयं विष्णु ऐश्वर्य रूप में सिर्फ़ लक्ष्मीपति हैं। शिव की पत्नी पार्वती बराबर की भूमिका निभाती हैं। वे हमेशा शिव के बराबर और साथ दिखाई पड़ती हैं जबकि लक्ष्मी विष्णु के चरणकमलों की ओर। एक तो इसका कारण यह रहा होगा कि पार्वती और लक्ष्मी दोनों अपने अपने रूपक का भी निर्वाह करती हैं। शिव के साथ शक्ति को होना, पुरुष के साथ प्रकृति को होना, एक्स के साथ वाय क्रोमोसोम को होना है तो बराबर में होना है। अर्धनारीश्वर की संकल्पना तो यह है कि उन्हें न केवल बराबर होना है बल्कि संयुक्त भी होना है। भृंगी की कथा यही स्थापित करने के लिए है कि शिव और शक्ति में भेद पैदा करना मूर्खता है। उनके लिंग स्वरूप में योनि का सान्निध्य है। विष्णु की लक्ष्मी उनके चरणों में है, इसका मतलब यह नहीं कि नारी का स्थान नर के चरणों में है। रूपक यह है कि विष्णु जीवन हैं और लक्ष्मी के स्वामी। पतन तब होता है कि जब लक्ष्मी आपकी स्वामिनी हो जाए। Money is a good servant but a bad master. धन को भृत्य-स्वामी के उपयोगितावादी सम्बन्ध में न देखकर पति-पत्नी के आत्मीय सम्बन्ध में तो देखा गया लेकिन रूपक यह भी कहता था कि सम्पदा को सिर नहीं चढ़ाना है। लक्ष्मी के सर पर न चढ़ने का यह एक वैयक्तिक अर्थ होगा, लेकिन इसका एक सामाजिक अर्थ भी है। लक्ष्मी टॉप-हेवी नहीं होनी चाहिए। वह जीवन और समाज विकृत है जहाँ लक्ष्मी शीर्ष के कुछ चुनिंदा लोगों तक सुरक्षित है। फेडरल रिज़र्व एवं इंटरनल रेवेन्यू सर्विस के कुछ शोधकर्ताओं ने पाया कि संयुक्त राज्य अमेरिका के शीर्ष 1% की नेट वर्थ निचले 90% से ज़्यादा है। न्यूयार्क विश्वविद्यालय के प्राध्यापक एड वोल्फ ने पाया कि 1983 से 1989 के बीच राष्ट्रीय नेट वर्थ 5 ट्रिलियन डॉलर बढ़ी, लेकिन उसका 54 शीर्ष आधे प्रतिशत के पास गया यानी पूर्व से ही धनी लोगों के पास औसतन 5.4 मिलियन डॉलर का लाभ पहुँचा। प्रतिघंटे 90 डॉलर की रफ़्तार से। विश्व के मूर्धन्य धनिक (अल्ट्रा-रिच) 70,000 लोगों के पास 2.8 ट्रिलियन डॉलर की संपत्ति है। इस श्रेणी में वे लोग आते हैं जिनके पास 30 मिलियन डॉलर से ज़्यादा की संपत्ति है।

और यूएनडीपी की सन् 2003 की रिपोर्ट बताती है कि विश्व के 54 देश आज 1990 की तुलना में ज़्यादा ग़रीब हो गए हैं, 1990 की तुलना में 21 देशों में भूख (starvation) ज़्यादा बढ़ी है, 14 देशों में अब 5 वर्ष से कम उम्र के बच्चे ज़्यादा मर रहे हैं, 12 देशों में प्राथमिक शिक्षा में नामांकन 1990 की तुलना में कम हो गए हैं। 31 निर्धनतम देशों में सहस्राब्दी के विकास लक्ष्यों की ओर बढ़ना या तो रुक गया है या पीछे जाना शुरू हो गया है। 21 देशों में मानव विकास सूचकांक गिर गया है। 1997 से 1998 के बीच उस संसार में जहाँ 1.3 खरब लोग प्रति दिन एक अमेरिकी डॉलर से भी कम पर ज़िन्दा रहते हैं, विश्व के 200 सबसे धनी लोगों की नेट वर्थ दुगुनी होकर एक ट्रिलियन डॉलर से ज़्यादा हो गई। विश्व के तीन शीर्ष खरबपतियों की परिसंपत्तियाँ विश्व के सभी LDCs (Least developed countries) (और 600 मिलियन जनसंख्या) के GNP (सकल राष्ट्रीय उत्पाद) से ज़्यादा है। विश्व के 880 मिलियन लोगों तक स्वास्थ्य सेवाओं की पहुंच नहीं है। 2.6 बिलियन लोगों के पास सैनिटेशन की सुविधा नहीं है। 1960 में धनी देशों की जनसंख्या के पाँचवें हिस्से और विश्व जनसंख्या के निर्धनतम पाँचवें हिस्से में 30:1 का अनुपात था, 1990 में 60:1 का और 1997 में 74:1 का। उच्चतम आय वाले देशों के निवासी विश्व के 86% सकल घरेलू उत्पाद, 82% विश्व निर्यात बाज़ार, 68% प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और 74% टेलीफ़ोन लाइनों का उपयोग करते हैं। सबसे नीचे के देशों में रहने वालों के पास कुल मिलाकर इनमें से किसी का 1% से अधिक नहीं है। 1998 के विश्व के 31 बिलियन डॉलर के कीटनाशक बाज़ार का 85% विश्व

की 10 शीर्ष बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के पास था। दूरसंचार के विश्व के 262 बिलियन डॉलर के बाज़ार का 86% 10 बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के पास था, कम्प्यूटर में उन 10 शीर्ष के पास 70% था, पशु औषधि में 65%। मैं बार-बार दस शीर्ष का उदाहरण जान-बूझकर दे रहा हूँ। दस शीर्ष और दशानन में क्या फ़र्क़ है? दशानन होना सम्पत्ति का टॉप हेवी होना है और यह विष्णु लक्ष्मी के द्वारा प्रस्तुत आदर्श के सर्वथा विपरीत है जहाँ लक्ष्मी को नीचे के अंगों की सेवा करनी है, हमारे समाज के निचले स्तरों तक लक्ष्मी को पहुंचना होगा। रावण और राम इसलिए दो सर्वथा भिन्न आदर्श हैं। शिव के भभूत, गज चर्म, नंगे बदन, फक्कड़ जीवन की तुलना में विष्णु का पूरा परिवेश वैभवशाली है लेकिन वैभव निचले स्तरों तक पहुंचता है तो विष्णुत्व है, यदि टॉप हेवी रह जाता है तो रावणत्व है। विष्णु का लक्ष्मी को सिर के पास रखकर ट्रिकल डाउन थ्योरी चलाने का कोई इरादा नहीं है। वे तो लक्ष्मी को उन्हीं की सेवा करने को कहेंगे जिन्हें पुरुष सूक्त में पुरुष का पैर कहा गया था। सभी को पवित्र करने वाली गंगा विष्णु के इसी पद से निकली है। सुन्दरकांड में विभीषण जब रावण की लात खाता है तो उसे राम के ये पैर ही अपनी शरण लगते हैं। वहीं वह उन पदों के महात्म्य का बखान करता है। इसलिए 'अलंकारप्रियो विष्णुः अभिषेकप्रियः शिवः' के शैव सिद्धांत का इशारा विष्णु के वैभव और शिव की विभूति का अवश्य है, लेकिन है इसी परिप्रेक्ष्य में। बहरहाल शिव योगी होते हुए भी एक अच्छा-ख़ासा पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हैं और उसका अर्थ यह भी है कि यदि पत्नी हमारी शक्ति है तो परिवार भवसागर की बाधा नहीं है। शिव में मुझे बहुत से धर्म झाँकते हुए से लगते हैं। उनके चाँद में इस्लाम है, उनके त्रिशूल के शूल को सीधा कर दें तो क्रॉस बन जाता है, उनकी जटाओं में सिक्खी है, उनकी ध्यानावस्थित मुद्रा में जैनत्व है, उनकी अभय और वर मुद्रा में बुद्धत्व। विषमताओं के समाहार में यह भी कि हैं वो गौर वर्ण लेकिन उनकी नीलवर्णी मूर्तियाँ ही अधिक दिख पड़ती हैं, नीलकंठ तो खैर वे हुए ही। वे सरूप भी हैं और लिंग रूप में अरूप भी। उनके महायोग में स्थैर्य का चरम है और वे स्थाणु की तरह पूजे भी जाते हैं। लेकिन उनके नटराजत्व में गति का चरम भी है। कहते हैं कि उनसे 108 नृत्य निःसृत हुए। वे आशुतोष भी हैं और रुद्र भी। वे भोलेनाथ भी हैं और अघोर भी। शिव के डमरू को नादब्रह्म का रूपक माना जाता है। ॐ का उद्‌गम, देवभाषा का भी, भाषा मात्र का भी। कैसे अन्त का यह अधिदेव शुरुआतें करता है नृत्य की, शब्द की। आश्चर्य नहीं कि तुलसी ने अपने रचनारंभ में ही उन्हें याद किया। इसी डमरू से स्ट्रिंग थ्योरी या एम. थ्योरी के वाइब्रेशंस हुए हैं, इसी नृत्य से। अणु-अणु में वह कृत्य है, इतना ही जितना सितारों में है। समुद्र की तरंगों में वह नर्तन है, मस्तिष्क के दोलन में वह है, ज्वालामुखी स्फोट के कंप में वह है और तूफ़ानों में भी, बिजली की कड़क में वह है और इन्द्रियों व प्राण की आवाज़ में भी। नदियों के बहने से लेकर पर्वतों के ढहने में। परीक्षा के पहले हृदय की बढ़ गई धड़कन में वह है, प्रलय के वक़्त तत्वों के मिश्रण में वह है। शिव के त्रिशूल के तीन निशानों पर कौन है? तीन अपवित्रताएँ : अनव (अहं), कर्म (फलप्रत्याशा वाला) और माया (भ्रम)? या तीन एषणाएँ : भूमि, स्त्री और स्वर्ण? या तीन वासनाएँ : लोकवासना, देहवासना और शास्त्रवासना? कि तीन पुर; इच्छा, क्रिया और ज्ञान के। या स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के? या इड, ईगो या सुपर ईगो के? कि संचित, आगमि और प्रारब्ध जनित कर्म के? शिव के माथे पर यह त्रिपुण्ड भी क्या है? वे सत, रजस और तम की तीन रेखाएँ हैं या प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के तीन रूप, कि वे उदात्त, अनुदात्त और स्वरित्र के तीन स्वर हैं। महाभारत के कर्ण पर्व में त्रिपुरारि के त्रिपुर स्वर्ग में स्वर्ण के, वायु में चाँदी के और पृथ्वी पर लोहे के बने बताए गए हैं।

शिव को लेकर औपनिवेशिक व्याख्याकारों की कल्पनाएँ इस बात की ओर संकेत करती हैं कि कैसे उन्हें वैदिक और सनातन भारतीय सभ्यता से हटाने की कोशिश की जाती रही। उन्हें एक अनार्य देवता बताया गया, उन्हें एक पूर्व वैदिक देवता बताया और लिंग-योनि

को शुद्धतः प्रजनन क्रिया का द्योतक बताकर तपस्या की एक पूरी परम्परा का अवमूल्यन कर दिया गया। तुलसी ने शिव की पहचान पार्वती के मार्फत यों कराई थी : तुम्हरे जान काम अब जारा। अब लगि शंभु रहे अविकारा। हमरे जान सदा शिव जोगी। अज अनवद्य अनादि अभोगी। लिंग शिव की अंग/रूप से पार की स्थिति थी, वह अंग हो गया। वह जो फार्मलेसनेस के लिए प्रतीकायित होता था वह अब एक फार्म का स्थापत्य बन गया। वह जो तेजस का और चैतन्य का प्रतीक था, वह रेतस और काम का प्रतीक बन गया। इनके लिए अंड लिंग, सदाशिव लिंग, आत्मलिंग, ज्ञान लिंग और शिव लिंग का भेद बेकार की माथापच्ची है। आत्म लिंग को तो इनका बस चले तो हस्तमैथुन का पर्याय बना दें। लिंग लय-विलय का रूप नहीं रहा वह कारण (casuation) की तरह देखा जाने लगा। अंड ब्रह्मांड का और पिंड मनुष्य का प्रतीक नहीं हैं इसके लिए। वह स्थाणु था लेकिन फिक्सेटेड ये हो गए। बिना यह जाने कि ओऽम को ध्वनि लिंग क्यों कहा जाता है और यंत्र को बिन्दुलिंग क्यों, कि शिव लिंग पर बिल्वपत्र क्यों चढ़ता है, इसके बारे मे अधकचरे फ्रायडियन निष्कर्ष निकाल दिए गए। शिव की तपश्चर्या उन्हें योग की सूत्रधार नहीं दिखी, अनार्य और पूर्व वैदिक दिखी। तमिलनाडु के विरुनेल्वेली जिले में शंकरनारायण कोइल नाम का मन्दिर उन्हें नहीं दिखा जहां शिव और विष्णु एक ही मूर्ति के दो अर्द्धांश की तरह मौजूद हैं। शंकराचार्य ने शिव और विष्णु को इसलिए एक ही सर्वव्यापी आत्म का रूप कहा था। शिवस्य हृदयं विष्णु । सेवक स्वामी सखा सिय पिय के ऐसा तुलसी कहते हैं। औपनिवेशिक व्याख्याकारों ने पहले तो शिव को वेदों में अनुपस्थित बताया जबकि गंधर्व पुष्पदंत के शिवमहिम्न स्तोत्र में एक छंद इसी बात पर है कि श्रुति उनकी महिमा अनेक रूपों में गाती है। बाद में जब वेदों में शिव शब्द की उपस्थिति बताई गई तो कहा गया कि वह तो क्वालिटी की ओर संकेत मात्र है। मज़े की बात है कि आर्य शब्द क्वालिटी की तरह आया था तो उसे इन्हीं इतिहासकारों ने जातिवाचक संज्ञा बना दिया, शिव शब्द को क्वालिटी भी उन्होंने ही बनाया। इस सब ऊठापटक का उद्देश्य भारत में वर्गों के बीच एलियनेशन पैदा करना और भारतीयों के भीतर आत्मविश्वास को खत्म करना था। शिव को तुलसी ने 'विश्वासरूपिणौ' यों ही नहीं कहा था। आम भारतीय को उसकी साधनहीनता में भी मस्त रहने का विश्वास देने वाले शिव जो विरोधों को सम पर लाते हैं, आर्यों के विरुद्ध एक हथियार की तरह खड़े कर दिए गए। प्रोफ़ेसर शेषगिरि शास्त्रिअर ने कहा- 'जबकि हिन्दूधर्म का शुरुआती भाग वेद, स्मृति और आगम पर आधारित है, इसका परवर्ती भाग दक्षिण भारत के धर्मों, तौर-तरीकों और रूढ़ियों व तमिल साहित्य पर आधारित है।' प्रो. शास्त्रिअर का कथन अनुमान भी हो सकता है लेकिन इसी कथन के आधार पर टी.आर. शेषआयंगार शिव की 'द्रविड़ियन उत्पत्ति' की कल्पना करने लगे। अब यदि शिव पूर्व-वैदिक हैं तो वे परवर्ती भाग की रचना कैसे हो सकते थे? आयंगार आर्यों के रुद्र को द्रविड़ जनजातियों का भगवान इस आधार पर बताते हैं कि वह एक पर्वतीय देवता हैं जिसकी कल्पना विंध्य के 'वाइल्ड पर्वतारोहियों' द्वारा ही हो सकती थी, मैदानों के निवासियों द्वारा नहीं। कमाल है। विंध्य द्रविड़ क्षेत्र तो कभी रहा नही ंऔर विंध्य में बर्फ़ीला पर्वत कब रहा? तथाकथित आर्यों के लिए मैदान ही उपलब्ध नहीं था, हिमालय भी था। दूसरा कारण वे ये देते हैं कि रुद्र का अर्थ 'लाल वर्ण वाला' होता है जो द्रविड़ नाम शिव का अनुवाद प्रतीत होता है। देखिए ये दो छोटे तर्क ही काफ़ी हो गए। डॉक्टर स्लेटर को आयंगार उद्धृत करते हैं जो भारतीय धर्म को उत्तर के आक्रामकों द्वारा लाए आर्य धर्म की संतति कहते हैं जिसका द्रविड़ सभ्यता से सुधार हुआ। यह सब जानकारियाँ दलितों की एक वेबसाइट पर हैं। दलित क्रिश्चियन की एक दूसरी वेबसाइट भी ऐसे ही प्रवाद फैलाती है। फर्गुसन की पुस्तक ट्री एंड सर्पेंट शैववाद को निश्चित तौर पर एक स्थानीय, न कि आर्यन श्रद्धा का प्रकार बताती है जो दक्षिण से मूलतः सम्बद्ध है, उत्तर की

अपेक्षा। डॉ. स्टीवेन्सन शिव को एक तमिलियन देवता बताते हैं। डॉ. आपेर्ट का तर्क है कि अगस्त्य ने तमिल शिव से सीखी थी, इससे भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शिव द्रविड़ देवता थे।

अब इसका क्या किया जाए कि शिव गौरवर्णी हैं, कि शिव शब्द तमिल के सिव धातुमूल से नहीं आया कि जिसका अर्थ लाल होना या क्रुद्ध होना होता है बल्कि संस्कृत की 'सि' धातु से आया जिसका अर्थ शुभ, पवित्र, उदार, सहायक होता है, कि शंभु शब्द तमिल सेंबु से नहीं आया जिसका अर्थ ताम्बा या लाल धातु होता है बल्कि संस्कृत के शम से आया कि जिसका अर्थ दूसरों की प्रसन्नता, शान्ति या कल्याण के लिए अस्तित्ववान होना होता है। गोरे अँग्रेज़ों की सारी व्याख्याएँ वर्णवादी तरह से करने की आदत हो गई थी। वरना शिव अधिकाधिक नीलकंठी हैं, लाल वर्ण के तो कभी नहीं थे। काशी और कैलाश, अमरनाथ और मानसरोवर दक्षिण भारत में नहीं हैं। हड़प्पा सभ्यता के जिन मृदापात्रों को शिवलिंग बताया गया था वे एक ग्राम, पाँच ग्राम, दस ग्राम के 'परफेक्ट इंटीग्रल रेशो' में हैं। इन मूर्ख व्याख्याओं का अंत ही नहीं है। कृष्ण काले हैं तो द्रविड़ियन हैं? द्रविड़ को रंग के कारण वैदिक के मुक़ाबले में खड़ा कर देने की जुगतें चलाई गईं लेकिन क्या ऋषि वेदव्यास काले नहीं थे। वैदिक ऋषि श्याम आत्रेय और कृष्ण अंगिरा कैसे थे? क्या बाद में चाणक्य जैसे काले ब्राह्मण उत्तर भारतीय सत्ता के सूत्रधार नहीं बने? यदि शैवधर्म दक्षिण भारत का था और वैदिक धर्म उत्तर भारत का, तो वेदांत के महान प्रचारक शंकराचार्य दक्षिण से कैसे आए, 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी' कैसे? शिव के डमरू से तो संस्कृत भी निकली थी। वे तो नादब्रह्म हैं। सभी भाषाओं के उद्गम। अगस्त्य को तमिल सिखा देने मात्र से वे तमिल हो गए? इस तर्क से तो सातवीं शती के चीनी विद्वान सी जिंग ने जावा द्वीप के श्रीविजय शहर में संस्कृत सीखी तो क्या संस्कृत का उद्गम जावा से मानेंगे? प्रश्न यह भी है कि कॉस्मिक शिव की उत्तर दक्षिण के विवाद में भर्ती करने के प्रयत्नों के उद्देश्य क्या हैं, एक आदि पुरुष को वैदिक द्रविड़ के विवाद में घेरने की मानसिकता के अभिप्रेत क्या हैं? बात यह नहीं कि शिव दलितों के नहीं हैं, कोई भी भगवान दलितों का होगा। कुंठा में दूसरों की बिछाई शतरंज पर प्यादे की तरह इस्तेमाल होने वाले दलितों का नहीं, सब कुछ सही होने के बावजूद भी अपमानित और अनादृत, शोषित और पीड़ित दलितों का। हनुमान के रूप में शिव उन्हीं जातियों के बीच माधुर्य भाव से आते हैं और बाथम कितना ही कैसा ही उसे प्रस्तुत करें, ये हनुमान वेद विशारद हैं और इनके कान में पिघला हुआ सीसा किसी ने नहीं डाला।

राम फणीन्द्र के द्वारा भी सेवित हैं। फणीन्द्र के अवतार लक्ष्मण हैं जो ऐश्वर्य रूप से विष्णु की निरंतर सेवा शेषनागजी के रूप में करते हैं लेकिन माधुर्य स्वरूप में रामावतार के वक़्त उनकी सेवा का अवसर नहीं छोड़ना चाहते हैं और लक्ष्मण बनकर मैदान में उतर आते हैं। जो चीज़ मुझे चौंकाती है वह यह तथ्य कि अफ्रीका के ऊष्ण जंगलों से उत्तरी यूरोप के बर्फ़ीले क्षेत्रों में, ऊर्वर पूर्वेशिया से लेकर बंजर ऑस्ट्रेलिया तक हर जगह नागश्रेष्ठ पूजा के पात्र रहे हैं। स्विस मनोवैज्ञानिक जुंग नाग को अवचेतन का प्रतीक कहते हैं। हमारे भीतर का पाताललोक तो वहीं है। जुंग को नाग हमारी अत्यन्त गहरी अवचेतन संक्रिया का मनोगत प्रतिनिधि (Psychic representation) लगता है। नाग हमारी लिबिडो का प्रतीक है। शुरुआती ईसाइयत में उसे हमारी मेरु रज्जु (Spinal Cord) और मेड्युला का प्रतीक माना जाता था। लिबिडो हमारे यहां की कुंडलिनी का विकार है, हमारी सुषुम्ना और इड़ा-पिंगला नाड़ियाँ भी इसी भीतर के लोक की नागशक्तियाँ हैं। आदिमयुगीन मृदभांडों तक में नाग चित्रित हैं। विशालकाय नाग जो कहीं सूर्य, चन्द्र, तारों आदि को आक्रान्त कर समस्त भुवन को व्याप्त किए हुए हैं, तो कहीं वे गर्भिणी स्त्री के उदर पर कुंडलिनी डाले दिखाए गए हैं। वे किसी रचनात्मक ऊर्जा के प्रतीक लगते हैं। उनमें जो केंचुल उतारकर स्वयं को दाग़ों (Scars), चर्म समस्याओं

(Dermatoser) और जंतुओं (ticks) से सावधिक मुक्त करने की जो नैसर्गिक क्षमता है, वह उन्हें स्वास्थ्य लाभ (Healing) से भी जोड़ती है। लंका कांड में रावण ब्रह्मदत्त प्रचंड शक्ति चलाता है जो लक्ष्मण जी की ठीक छाती में लगती है : अनंत उर लागी सही। हनुमान जी लक्ष्मण को उठाकर राम के पास ले आते हैं। तब राम लक्ष्मण को उनके स्वरूप की याद दिलाते हैं : कह रघुबीर समुझु जियँ भ्राता/तुम्ह कृतान्त भच्छक सुर त्राता। कि हे भाई, हृदय में समझो, तुम काल के भी भक्षक और देवताओं के रक्षक हो। ऐसा कहते ही 'सुनत बचन उठि बैठ कृपाला' कहा गया। अपने स्वरूप की स्मृति से उपचारित (Healed) हो जाने की कल्पना यहाँ उसी उत्स्रोत से निकली प्रतीत होती है। दुनिया भर की सारी पौराणिकियों में नाग अमरता के प्रतीक हैं। यहाँ भी उन्हें अनंत कहा गया है। नागश्रेष्ठ अपना सतत पुनर्नवन करते रहते हैं। बाइबिल में उन्हें प्रज्ञा और सूक्ष्मता का प्रतीक माना गया है। (मैथ्यू 10:16 Be ye therefore wise as serpents, जेन- 3:1 Now the serpent was more subtle than a beast of the field) प्लूटार्क उन्हें देवता मानता था। अपने मुख में पूँछ दबाकर वृत्त बनाना शाश्वतता का प्रतीक था, केंचुल छोड़ना पुनरोन्मेष और पुनर्जीवन का। ग्रीक और रोमन मन्दिरों की वेदियों पर वे रक्षक की तरह मौजूद हैं, जैसे वनवास में वे भगवान राम और सीता के प्रहरी की तरह रहे। जागन लगे बैठ वीरासन। उनकी कुंडली (Spiral) कुंडलिनी का ही नहीं, जगत की गत्यात्मकता का एक विराट रूपक है। मिस्र के पुराने नृत्य सर्प गति के ट्रेक का अनुसरण करते हैं। सुमेर के प्राचीनतम महाकाव्य में गिलगमेश जब झील से अमरता का पौधा निकालकर लाता है तो उसे नाग खा जाता है और अमर हो जाता है। शेषनाग भी अमर है। सुमेरियन और अक्केडियन कलारूपों में एक वृक्ष या स्तंभ भी दिखाया गया है जिसे 'विश्व धुरी' कहा गया और जिसकी नाग या नागयुग्म रक्षा कर रहा है। बाद में बाइबिल में इसी की नकल आई। 2350 ई. पूर्व की एक अक्काडियन मुद्रा में मानव आकृति के नागदेव जू या निंगिझिडा की कथा थी जो अतल जल के स्वामी हैं। शेषनाग भी क्षीरसागर में हैं। सेल्ट लोगों में सुषिलौस नाग अंतर्लोक का नाग है। बाद में यही तिआमत या पापोहिस नामक महान नाग की कथा आई जो बाइबिल के लेविआथन में रूपांतरित हुई। पश्चिमी अफ्रीका की दाहोमी पौराणिकी में दान नामक महासर्प की अनेक कुंडलियों पर सब कुछ टिका हुआ है जैसे हमारे यहाँ शेषनाग के फन पर सारे लोक। योरूबा पौराणिकी में ओशुनमारे नामक एक नवजन्म देने वाला महासर्प है। अब्जू और तिआमत प्रथम बेबीलेनियन देवताओं लाहमू और लहामू के माता-पिता हैं जो अनु और इआ नाम के महादेवों के दादा-दादी हुए। तिआमत को आधा काटकर उसके आधे-आधे हिस्से से आकाश और पृथ्वी बनाए गए। ईरान में अजीदाहक नामक महान आकाशीय सर्प की कथा है जिसने सारे ग्रहों को बनाया। कनानाइट के पूर्व फोनिशियनों में बासीलिस्क नाामक नागदेव की कथा है। इसी से लिंग देव के मन्दिर का नाम रखा गया और बाद में बेसीलिका चर्च इसी नाम से प्रेरित हुआ। मिस्री फराहों का आठवाँ वंश कई भारतीय देवताओं और देवियों की पूजा करता है और वहाँ इन्द्र एक नागदेव के रूप में है। जावा में तो आज तक नागदेव शेष कहलाते हैं। मलय मिथकों में नाग बहु शीर्ष ड्रेगन है। थाईलैंड में नाग पाताललोक (नीदरवर्ल्ड) के शासक हैं। मैक्सिको में नागल शब्द का प्रयोग रक्षक सर्प आत्माओं के लिए होता है। अंगकोरवाट मन्दिर-समूह के मुख्य मन्दिर के पथ पर सप्तशीर्ष नाग पंक्ति है। चीन में नाग कृत नामक एक भाषा है जो सर्प देवताओं की भाषा कही जाती है। प्रसिद्ध चीनी ऑपेरा वंशसुआन का अनुवाद है : श्वेत सर्प का वृत्तांत। यह ऑपेरा दो नागों के बारे में है जो आकाश के अपने स्वर्गिक आवास से नश्वर मनुष्यों की धरती पर चले आए हैं। तिब्बत में आज भी नाग शब्द को लू नाम से याद रखते हैं और नागार्जुन को वहाँ लू द्रब कहते हैं। मलय प्रायद्वीप में राजनाग हैं जो सभी समुद्री सर्पों के राजा हैं। मिस्र के इतिहास में काफ़ी लंबे समय तक सेत नामक एक शक्तिशाली नाग देवता की

पूजा चली है। 25 अभिलिखित वंशों (3200-700 ई.पू.) तक। फराहों के मुकुट पर सेत चित्रित होता था। यहाँ एक नेहेबेकौ नामक महान सर्प है जिस पर यह विश्व टिका बताया जाता है। तुलसी ने शेष का परिचय लंका कांड में ऐसे ही दिया है : 'ब्रह्मांड भवन विराज जाके एक सिर जिमि रज कनी' जिनके एक ही सिर पर ब्रह्मांड रूपी भवन धूल के एक कण के समान विराजता है। मिस्र के अलावा प्राचीन अफ्रीका में सबसे प्रभावशाली स्थापत्य नाइजीरिया के बेनिन शहर में देखने को मिलता है। वहां स्थापत्य की सर्वप्रधान विशेषता है एक विशाल सर्प का मूर्त्तन। बाइबिल में सर्प के लिए बहुत से हिब्रू नाम आए हैं जो शेष या सर्प या फणीन्द्र के निकट हैं : सेराफ, शेफीफन, शेफा, सिफोनी। ग्रीक में सर्पेंट बदलकर हर्पेटन हो गया। जुडाइज्म में कहा गया कि सभी स्वर्गिक प्राणियों में सबसे शक्तिशाली सेराफ्रीम का अर्थ है आग उगलने वाला सर्प। संत जॉन ने प्रभु यीशु के सलीब पर होने और मूसा के नाग के स्तंभ पर होने की तुलना करते हुए दोनों को मोक्ष का प्रतीक माना है। ईसाई परम्परा में एलेक्ज़ेन्ड्रिया के फिलो की कथा भी है जिसमें नाग को 'प्राणियों में सबसे आध्यात्मिक' कहा गया। फणीन्द्र के फण की ध्वनि ग्रीक टाइटन ओफिअन में भी आती है और टाइफन भी जो कॉस्मिक समुद्र का नाग है। एथेंस और सम्पूर्ण ग्रीक सभ्यता का संस्थापक केक्रोप्स अर्द्ध नाग था। ग्रीक पौराणिकी में ड्रको और हाइड्रा नामक दो आकाशीय नाग हैं जो तारक समूह के रूप में आज भी चीन्हे जाते हैं। थाईलैंड के नोंगखई में पयनाग के मुंह से आग निकलने की घटना का वार्षिकोत्सव होता है जिसे देखने दुनिया भर से चार लाख लोग इकट्ठा होते हैं। बताते हैं कि मेकांग नदी के भीतर एक मुआंगबदन नामक शहर है जहाँ नागों के पिता रहते हैं : पयनाग। वे दिखाई नहीं देते लेकिन प्रतिवर्ष मेकांग नदी से आग की लपट निकलने का यह प्राकृतिक और अव्याख्यायित दृश्य होता ज़रूर है। कभी 100 आग के गोले निकलते हैं, कभी एक हज़ार भी। स्कॉटलैंड का नेसी भले ही आज तक नहीं देखा गया हो लेकिन पयनाग और वैसे ही विशाल नागों के दर्शन का दावा करने वाले और उसे कैमरे या वीडियो पर क़ैद करने वाले थाईलैंड में बहुतेरे हैं। तटीय कर्नाटक के उडुपी ज़िले (ध्यान रखें उलूपी नामक महाभारतकालीन प्रसिद्ध नागकन्या को) में नागमंडल के नाम से रात भर चलने वाला बहुत महँगा उत्सव होता है। आजकल यह दक्षिण कनारा के अन्य जिलों में भी चलता है। इसी तर्ज़ पर केरल में सर्पम तुल्लाल, सर्पम कालि नामक उत्सव हैं। म्यानमार का नाट नामक सर्पिल देवता और बाल्टिक का नाक नामक जल सर्प देवता नाग के ही भाषाई स्थानान्तर हैं। सोरोर औरेनिलया ने लिखा है : Naga is one of a handful of rare words surviving the loss of the first universal language सोलोमन द्वीप में अगुण नामक एक नागदेवी की कथा चलती है जो सभी देवताओं की अधिराज्ञी है। हर पेड़ का पहला नारियल उसे ही अर्पित होता है। फीजी में देगी नामक नागदेवता हैं। गिल्बर्ट द्वीप में विशालकाय नाग है तुना (जिसका अर्थ है लिंग) जिसकी पत्नी है हिना। न्यूगिनी में दारिबी जनजाति के वृत्तांत नागों को मनुष्यों से श्रेष्ठतर बताते हैं। फिलीपीन में उड़ने वाले सर्पों की कथा है, वहाँ की आदिम परम्परा यह कहती है। त्याना के अपोलोनिअस को जादू की शिक्षा कश्मीर के नागों ने दी थी। कौडिन्य ऋषि ने कंपूचिया में नागराज की पुत्री सोमा से विवाह किया था। मय सभ्यता में गुकुमत्ज पंखों वाला नाग देवता था। उसका अज्तेक नाम कुएत्जालकोअरल है। हिब्रू बाइबिल में नागश नामक बोलने वाला साँप है जो ईडन के बगीचे में निषिद्ध ज्ञान के साथ मौजूद है। यहाँ बुक ऑफ़ जिनेसिस कहीं भी उसे शैतान नहीं बताती बल्कि विवरण से पता लगता है कि सर्प ने जो बोला, वह सच बोला। उसकी सूचना वर्ज्य हो सकती है लेकिन झूठ नहीं। भारत में जैन धर्म में भगवान पार्श्वनाथ के ऊपर भी नाग उसी प्रकार अपने फणों की छाया किए हुए है जैसे विष्णु के ऊपर। बस पार्श्व खड़े हैं, विष्णु लेटे हैं। जल में नाग राजा और नागरानी उनकी पूजा करते हुए बताए गए हैं। बुद्ध की रक्षा में भी नाग इसी तरह फण ऊपर किए बताए गए हैं। थेरावेद सूत्र में बुद्ध के द्वारा उनके अपने

पुत्र राहुल को दी गई शिक्षा का अध्याय उरवग्ग (सर्प का अध्याय) कहा गया है। इसका प्रथम खंड उरग सुत्त (सर्प सूत्र) है जो साँप की केंचुल की तरह ही सारी मानवीय वासनाओं को उतारकर रख देने वाले भिक्षुक के बारे में बताता है। मैंने ये सारे विवरण विस्तार से इसलिए दिए हैं कि सनातन धर्म के शेषनाग की सनातनता और सर्वव्यापकता स्पष्ट हो जाए। ये सारे विवरण तब के हैं जब नाग का देवत्व स्वीकार्य था। लेकिन धीरे-धीरे पृथक पहचान बनाने के चक्कर में नाग को खलनायक की तरह चित्रित करना भी शुरू किया गया। मैथ्यू 23:33 में यीशु ने कहा Ye serpents, ye generation of vipers, how can ye escape the danmnation of hell. मूसा के समय तक साँप का आदरपूर्वक चित्रांकन था लेकिन 8वीं शती के अंत में जूडा के सिंहासन पर बैठे बादशाह हेजकिआ ने उन सभी उच्च स्थानों को हटा दिया, मूर्तियाँ तोड़ डालीं, बगीचे काट दिए और वे बर्तन हटा दिए जिसमें मूसा ने साँप बनाए थे क्योंकि तब तक भी इसरायल के बच्चे उनके सामने अगरबत्ती जलाते थे। ये नकारात्मक विवरण तब भी पृथ्वी पर मनुष्य के विकास में नाग की शक्तिशाली भूमिका का स्वीकार हैं। शेषनाग के रूप में अस्तित्व के जल आयाम का समादर है, ठीक वैसे ही जैसे ब्रह्मा आकाश और शिव कैलाश या पृथ्वी का, कि जल जीव भी राम की सेवा में निरन्तर निरत है। इस कारण उनकी भी उतनी रक्षा होनी चाहिए जितनी अन्य जीवों की। कश्मीर में पानी के स्रोत को 'नाग' कहते हैं। कश्मीर की शुभ और पवित्र नदी वितस्ता (झेलम) वेरिनाग के पास एक स्रोत से निकलती है। शेषनाग झील भी यहीं है। कश्मीर में छोटे स्रोत को नेगिन बोलते हैं। सत्रहवीं शती में तिब्बत के पाँचवें दलाई लामा ने झील के किनारे एक छोटा सा मन्दिर बनाया तो लू (नाग) को समर्पित किया। नेपाल में नागराज या नागाधवास नाम की झील है जिसमें बहुत से कॉस्मिक नागों का वास बताया गया है। नाग जैसा कि ऊपर हमने देखा जल के साथ अधःस्तल के भी प्रतीक रहे हैं। ल्हासा में दलाई लामा का अभूतपूर्व महल पोताला कहलाता है। पोताला परिसर में 84 महासिद्धों की नाग रूप में छवियाँ अंकित हैं जो सम्भवतः तांत्रिक या यौगिक प्रथाओं और उपलब्धियों की प्रतीक हैं। महाभारत में नागों को पाताल में रहता बताया गया है इसलिए जे.ई. सिरलॉट (अ डिक्शनरी ऑफ़ सिंबल्स) ने साँप को 'Wisdom of the deeps' का प्रतीक बताया है।

लक्ष्मण शेषनाग के अवतार हैं और उन्हें हमेशा अपनी आंतरिक शक्ति पर भरोसा रहा है। सुन्दरकांड में वे 'देव' या भाग्य को एक बाहरी शक्ति मानकर कहते हैं : नाथ दैव कर कवन भरोसा/सोषिअ सिन्धु करिअ मन रोसा। मन की इस शक्ति पर विश्वास उन्हें इसीलिए है क्योंकि उनकी कुंडलिनी जागृत है। वे शेषनाग साइको फिज़िकल एनर्जी का रूपक हैं। वे एक पोटेंशियल ऊर्जा हैं और उन्हें राम से, विष्णु से, जीवन से अलग नहीं माना जा सकता। कुंडलिनी ऊर्जा हमारी चेतना का आधार है। उन शेषनाग की अनेक कुंडलियों (coils) को कश्मीरी शैववादियों ने परा कुंडलिनी, प्राण कुंडलिनी और शक्ति कुंडलिनी नाम दिए हैं। ऊर्जा का सतत् प्रवाह हमारे भीतर की ग्रंथियों (Knots) से प्रभावित होता है। तीन गाँठें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की हैं। क्रमशः मेरुदंड के नीचे, हृदय केन्द्र पर और दोनों भ्रूओं के बीच। हठयोग प्रदीपिका में आरंभ, घात, परिचय एवं निष्पत्ति की चार अवस्थाओं से गाँठे खुलती हुई बताई गई हैं और तब कुंडलिनी का ऊर्ध्वारोहण पूर्ण होता है। नाग के मुँह से आग निकलने का रूपक कुंडलिनी के संदर्भ में सच होता है क्योंकि यह आग्नेय ऊर्जा (fiery energy) मानी जाती है। नाथ परम्परा में इसकी ऊष्णता के कारण इसे सूर्य कहा गया है। तांत्रिक बुद्धत्व में किसी देवता को कोई बाहरी शक्ति नहीं माना जाता बल्कि मनुष्य के अपने रूपांतरित मन की एक अवस्था के रूप में देखा जाता है। इसी रूप में कुंडलिनी एक सर्प शक्ति है। भारत में नागा साधुओं का एक बड़ा संप्रदाय है। ये साधु बाहर का सब कुछ त्यागकर अपनी आंतरिक शक्ति के स्फुरण में लगे रहते हैं। इसलिए फ्रायड की लिबिडो से कुंडलिनी की तुलना बहुत सतही है। उस

लिबिडो लॉस के लिए तो एंटीडिप्रेसेंट आते हैं, वियाग्रा और न जाने क्या-क्या? लेकिन वह लिबिडो नीचे की ओर ले जाती है और यह कुंडलिनी ऊपर की ओर। वह लिबिडो फ्रायड के अनुसार इंस्टिंक्चुअल एनर्जी है जो सभ्यतागत व्यवहार की रिवायतों से टकराती है और मनुष्य के मन में तनाव पैदा होता है। यह तनाव फ्रायड के शब्दों में न्यूरोसिस है। लेकिन भारत में कुंडलिनी प्रवृत्ति नहीं है, वह योग से जागृत होती है जो 'चित्तवृत्ति का निरोध' है। उसका परिणाम मानसिक व आत्मिक शान्ति है, मनस्ताप नहीं। यह elan vital है। लिबिडो की तरह यह भी जीवन-रचना करती है। लेकिन यह लक्ष्मण के अनुतत्व को पहचानने के लिए काफ़ी नहीं। लक्ष्मण को पहचानने के लिए कुछ सूत्र स्वयं तुलसी ने दिए हैं : लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार। लक्ष्मण शेष की तरह फुफकार भी करते हैं। माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहें/रदपट फरकत नयन रिसौंहें। वह फुफकार उनका स्वभाव है। भरत के चतुरंगिणी सेना समेत आने की खबर सुनने पर 'अति सरोष माखे लखनु' के रूप में पुनः वे तमतमाते हैं। जनक की सभा में वे भगवान (राम) से कहते हैं : 'जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं/कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठावौं'। यहाँ लक्ष्मण शेषावतार होने से यह सब स्वभाव से बोल रहे हैं, अभिमान से नहीं : 'कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू'। उनके क्रोध ('डगमगानि महि दिग्गज डोले') में उनके उसी कॉस्मिक स्वरूप का वर्णन है। इसलिए धनुष भंग के समय 'चरन चापि ब्रह्माण्डु' की बात कही गई है। वे शेष हैं तो कड़वा सत्य बोलते हैं। परशुराम को वे 'कटुवादी' लगते भी हैं। 'सुनि कटु वचन'। परशुराम उन्हें जाने बिना 'विष रस भरा कनक घटु जैसे' कह देते हैं। लक्ष्मण इसी बात पर हँसते हैं 'सुनि लछिमन बिहसे बहुरि'। लक्ष्मण इसलिए हँसते हैं क्योंकि परशुराम उनके वास्तविक स्वरूप को जाने बिना निन्दा में ही सहज सत्य कह गए हैं। शेष विष रस भरे तो होंगे लेकिन यह वह विष नहीं है जो अहितकारी हो। वहीं शेष जो विष्णु के आश्रय हैं, अयोध्या कांड के आरंभ में शिवजी के वक्षः स्थल पर तुलसी ने सुशोभित बताए हैं, 'यस्योरसि व्यालराट्।' इससे तुलसी एक बार फिर शैव वैष्णव एकता के संकेत देते हैं। जब राम वन गमन के लिए तैयार होते हैं तो लक्ष्मण कहते हैं : मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी/दीनबंधु उर अन्तरजामी। वे यह बात सिर्फ़ माधुर्य के लिए नहीं कह रहे बल्कि ऐश्वर्य रूप की ओर इशारा करने के लिए भी बोल रहे होंगे। लक्ष्मण निषाद के साथ जब बातें करते हैं तो उनके इस शेष वाले रूप का अर्थ और समझ में आता है। 'सपने होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ/जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ। विष्णु के सदा साथ रहने वाले शेष उनके प्रपंच तंत्र या माया को भी सबसे ज्यादा समझते होंगे। इस वैराग्य के साथ ही शेषनाग में लोक हितकारी फुफकार कम नहीं है। सुग्रीव के मद में डूबने की बात हो या रावण को 'आवा कालु तुम्हार' की चेतावनी हो, लक्ष्मण हर जगह अपनी इस फुफकार को दिखाते हैं। उन्हें उन सर्पों की तरह नहीं समझना चाहिए जिनको लेकर ब्लावट्स्की ने सर्प को 'Seduction of strength by matter' का प्रतीक कहा। वे जैनस मेडिया, हरक्यूलीज़ ओम्केल और एडम-ईव की दुनिया के नाग नहीं हैं, वे इनकी तरह बुराई के सिद्धांत (principle of evil) का प्रतिनिधित्व नहीं करते। उन्होंने राम से भक्तियोग पाया है, उनमें वैराग्य है। वासना (temptation) के प्रतीक यूरोपीय नागों से ठीक उल्टे। ग्रीक आर्टेमिस, हेकेट, पर्सीफोन आदि देवता अपने दोनों हाथों में साँप लपेटे हैं, मेड्युसा द गार्गन या एरिनयस के तो बाल ही साँपों के हैं। लेकिन वहाँ सर्प सेक्सुअल लिबिडो के प्रतीक होंगे, यहाँ शेषनाग के मधुर रूप लक्ष्मण निषाद को कहते हैं जानिअ तबहिं जीव जग जागा/जब सब विषय विलास बिरागा। वे 'ग्रेट सर्पेन्ट ऑफ गुड' अगाथडेमन से तुल्य हैं, न कि 'ग्रेट सर्पेन्ट आफ ईविल' काकोडेमन से। यदि वे भावुक हैं तो इससे नाग के आदिम (primordial) प्रतीक होने वाली-most primitive and basic strata of life-मनोविश्लेषणवादी बात ज़रूर सिद्ध होती है। वैसे कुंडलिनी भी रिफ्लेक्स साइकी की विशेषता रखती है। नाग की क्षिप्रता (swiftness) शूर्पणखा के नाक-कान काटने

वाले प्रसंग में दिखती है : लछिमन अति लाघवँ सो नाक-कान बिनु कीन्हि। लक्ष्मण Lax-man नहीं हैं। वे फुर्तीले हैं। द्रुत और तत्पर। शेषनाग के श या सर्पेन्ट के च में वह गति है। दक्षिणी कैमरून में पिग्मी साँप को एक रेखा के रूप में चित्रित करते हैं और विश्व के कई गुहा रेखांकनों में उन्हें वैसे ही चित्रित किया गया है। वे एक रेखा हैं, मगर जीवंत रेखा जिसे आन्द्रे वीरेल 'an abstraction in flesh and blood' कहता है, मांस और ख़ून के साथ अमूर्तन और एक अन्य विश्लेषक जिसकी व्याख्या यों करता है : The serpent is a vertebrate creature embodying the lower psyche, hidden psychosis and what is unusual incomprehensible and mysterious, an incisible infinity. इन्फिनिटी तो वे हैं ही और इसीलिए उनका एक पर्याय अनंत रह ही गया है। उनका रहस्य न मेघनाद को समझ में आता है न रावण को। दोनों शक्ति लगने के बाद उनके मूर्छित शरीर को उठाने का प्रयत्न करते हैं और दोनों ही से नहीं उठता किंतु हनुमान दोनों बार उनके सामने से उन्हें सहज ही उठाकर ले जाते हैं और इस जगदाधार पर मेघनाद/रावण विस्मय करते रह जाते हैं। ज्यां चेवेलीयर और अलैन घीरब्रांट अधिक नज़दीक हैं शेषनाग की भारतीय अवधारणा के जब वे नाग को 'manifestation of the holiness of nature का प्रतीक कहते हैं। उनके शब्द हैं : It makes its appearance in the sunlit world like a ghost which one can touch but which slips through one's fingers. So, the serpent evades time which can be clocked, space which can be measured and logic which can be rationalized, to the lower reaches from which it came and in which it can be imagined timeless, changeless and motionless in the fullness of its life. ध्यान रखें कि अनन्त नाम विष्णु के भी हैं जो जीवन का प्रतीक हैं, कि अरबी भाषा में नाग के लिए प्रचलित शब्द है अल हय्या और जीवन के लिए प्रचलित शब्द है अल हयात और भगवान के लिए प्रचलित संज्ञा है अल-हे। इसलिए शेषनाग जीवन की रक्षा करने वाले नाग हैं। बुद्ध हों या पार्श्वनाथ जहाँ भी जीवन की श्रेष्ठता है वहाँ वे हैं। रेने गुएनॉन ने उचित ही कहा है कि Serpent symbolism is in fact, linked to the notion of life itselfh. शेषनाग जी जीवनाश्रय हैं और श्रुति कहती है कि वे प्रत्येक कल्प के अंत में सृष्टि को स्वयं में अंतर्भूत ही कर लेते हैं। यह मान्यता औरोबोरास या एम्फिस्ब्रयना सर्पदेवों के मिथकों से भी पुष्ट होती है जहाँ वे स्वयं अपनी ही पूँछ को मुख में लिए हुए हैं और इस तरह वे ऑल इन ऑल होने का, जीवन के वृत्त का, जीवन के चक्र के प्रतीक बन जाते हैं। लक्ष्मण इसी जीवन रूप राम की सेवा के लिए अवतरित हुए हैं।

यह सेवा कोई आर्थिक गतिविधि नहीं है। ब्रह्मा, शंभु और फणीन्द्र किसी सर्विस सेक्टर में नहीं लगे हुए हैं। राम से उनके रिश्ते मुवक्किल के नहीं हैं और वे राम की अर्थव्यवस्था का तृतीयक क्षेत्र भी नहीं हैं। न उनकी सेवाओं का विपणन सम्भव है। यह तो ऐसी सेवा है जिसमें न प्रत्याशा है, न कोई शर्त। इनके रिश्ते तो हज़ारों अदृश्य तागों से बँधे हुए हैं। यह सेवा नित्यप्रति की है। यह कोई स्पेअर टाइम में की जाने वाली सेवा नहीं है। यह तो अहर्निश सेवा है।

दूसरे 'ब्रह्माशंभुफणीन्द्रसेव्यमनिशं' की टीका जितनी ब्रह्मा, शिव या शेषनाग पर है, उतनी राम पर भी। 'सेवित' न कहकर 'सेव्य' कहना राम की योग्यता पर टीप दर्ज़ करना है कि मूल प्रश्न अर्हता का प्रश्न है। कि राम यह डिज़र्व करते हैं, क्योंकि वे अपने अस्तित्व की संकीर्ण परिधियों को अतिक्रांत कर 'गीर्वाण शान्तिप्रदं' के लिए कृतसंकल्प और कटिबद्ध हैं, इसलिए इन तीनों की अक्षय शक्तियों का सतत सिंचन राम को ऊर्जस्वित किए रहता है।

● ● ●

वेदान्तवेद्यं

ज्ञानगम्य जय रघुराई की बात कहने वाले तुलसी राम को वेदान्तवेद्यं कहते हैं। वे वेदान्त से जानने योग्य हैं लेकिन वेदान्त क्या है? वेदों का अन्त नहीं, वेदों का लक्ष्य। वेद भारत के सनातन प्रमाण हैं। इसलिए स्वाभाविक है कि वेदों ने अपने आसपास बहुत ईर्ष्या भी इकट्ठी की। लोगों ने उनके बारे में तरह-तरह के प्रमाद फैलाए। एक स्वनामधन्य इतिहासकार ने उन्हें गड़रियों के गीत कहा। डेनीलाऊ ने कहा कि 'मूल वेद एक प्राचीन द्रविड़ियन परम्परा थी जिसे आर्यों ने फिर से आकार दिया और बाद में संस्कृत में लिख लिया। ये वही डेनीलाऊ हैं जिन्हें महाभारत भी निचली जात वाले द्रविड़ों (पांडवों) का ऊँची जाति वाले आर्यों (कौरवों) के प्रति विद्रोह नज़र आती है। उनके अनुसार ये द्रविड़ निचली जातियाँ एक काले रंग के द्रविड़ कृष्ण की मदद से उन कौरवों से जीत पाईं जिन्होंने उन्हें दास बना लिया था। उन्हें वैदिक धर्म जोरोष्ट्रियन धर्म से पैदा होता नज़र आता है। इन्हें वैदिक प्रतीक भौतिक चिह्नों से ज्यादा समझ में नहीं आते। मसलन अग्नि देवता इन्हें घर की वेदी पर लगातार जलने वाली आग लगते है। जेसुइट्स वैदिक प्रार्थनाओं को पैगन आफरिंग्स के रूप में प्रचारित करते रहे जबकि मिशनरियों को वेद 'बुराई की जड़' (द रूट ऑफ़ द ईविल) लगते रहे। अधिकतर पश्चिमी इतिहासकारों ने अपना दिमाग़ इस चीज़ पर खपाया कि किसी तरह भारत के इतिहास को ईसाई वर्ष के आरंभ के अधिकतम क़रीब ले जाया जाए। 1500 से 1000 वर्ष ई.पू. तक इनका रचनाकाल मानने की कृपा वेदों पर की गई। अधिकतर इतिहासकारों ने इनका कोई आध्यात्मिक महत्व नहीं माना, बल्कि मैक्समूलर, जिन्हें मानसिक रूप से अब तक औपनिवेशिक लोग मोक्षमूल भी कहने से नहीं चूकते, ने (फाउंडेशंस ऑफ़ इंडियन कल्चर, पृ.

262) वेदों के बारे में लिखा है कि वे बचकाने, मूर्खतापूर्ण यहाँ तक कि उन भीषण अवधारणाओं से भरे पड़े हैं जो उबाऊ, निम्न और साधारण हैं, कि वे मानवीय प्रकृति की स्वार्थपरकता और सांसारिकता का ही प्रतिनिधित्व करते हैं और केवल यहाँ-वहाँ ही कुछ दुर्लभ भावनाएँ हैं जो आत्मा की गहराई से आई हैं।

मैक्समूलर ने बड़ी चतुराई से यह भी कहा कि यह तय करना कठिन है कि वेद सबसे प्राचीन पुस्तक हैं या ओल्ड टेस्टामेंट के कुछ अंश वेद के प्राचीनतम छन्दों के बराबर या उससे भी ज्यादा पुराने तो नहीं हैं। साफ़-साफ़ कहते भी नहीं, सामने आते भी नहीं। मैक्समूलर ने वेद को 1100 या 1200 ई.पू. से ज्यादा पुराना नहीं माना। मैं मैक्समूलर के तर्कों का खोखलापन उजागर नहीं करना चाहता। यह काम तो स्वामी दयानंद भलीभाँति कर चुके हैं। मैं तो इन तर्कों को मैक्समूलर के कुछ ऐसे ही और अपमानजनक तर्कों के प्रकाश में देखना चाहता हूँ। मैक्समूलर के महान शब्द आगे भी सुनें : 'वेदों के छंदों में हम उस आदमी को देखते हैं जो प्रकृति की पहेली को बूझने के लिए अकेला छोड़ दिया गया है। वह अंधकार और तन्द्रा से सूर्य के आलोक द्वारा जगाया गया है और वह इसे कहता है- उसका जीवन, उसका सच, उसका प्रखर स्वामी और संरक्षक। वह प्रकृति की सभी शक्तियों को नाम देता है। वह आग को 'अग्नि' कहता है, सूर्य के प्रकाश को इन्द्र कहता है, तूफ़ानों को मरुत कहता है, प्रातः को उषा कहता है- वे सभी उसी की तरह, बल्कि उससे भी बेहतर तरीक़े से जीवन्त हैं। आदिम आदमी की मानसिक अवस्था की यह परिभाषा, मानवता के बहुत शैशव के दिनों में, जब वह अपने पालने से मुश्किल से बाहर ही आया था, एकदम ठीक है। आप बहुदेववाद या मिथकशास्त्र पर विस्मय क्यों करते हैं, वे तो अपरिहार्य हैं। वे हैं, यदि आप पसंद करें तो, धर्म का शैशव तत्व। लेकिन दुनिया का बचपन होता है और जब यह था तो बच्चे की तरह बोला (3000 वर्ष पहले), बच्चे की तरह इसकी समझ थी, बच्चे की तरह यह सोचता था... गलती तो हमारी है जब हम बच्चों की भाषा को आदमियों की भाषा समझ लेते हैं... प्राचीनता की भाषा बचपन की भाषा है... धर्म का शैशव तत्व समाप्त नहीं हो गया... उदाहरण के लिए, यह भारत के धर्म में मिलता है।'

मैक्समूलर के इस वक्तव्य में बचपन के प्रति इतना स्नेह झलकता है कि मुझे लगा उसके स्तनों से ज़रूर ये शब्द बोलते हुए दूध छलक आया होगा। कितनी ममता से वेदों को बचकाना कह रहा है वह। लेकिन चलिए उसके ममत्व का आदर करते हुए वेदों को प्रिमिटिव मेन के उद्‌गार मान ही लिया जाए। अब यदि ये आदिमानव के उद्‌गीत हैं तो प्रागैतिहासिक काल की उम्र आज से तीन हज़ार साल पहले तो नहीं हो सकती। तो वेद को कम से कम उतनी अवधि पुराना तो मानिए। मूलर के वर्णन से तो ऐसा लगता है कि गुहामानव ने जब बोलना सीखा, जब उसने प्राकृतिक चीज़ों का नामकरण करना शुरू किया तब वेद आए। कोई हर्ज नहीं। लेकिन यह काम ईसा से एक हज़ार साल पहले का तो हो नहीं सकता। प्रागैतिहासिक काल तो कई-कई सहस्राब्दियों पुराना है। दूसरे, ओल्ड टेस्टामेंट के कुछ अंश तो चूँकि मैक्समूलर के कथनानुसार ही वेदों से पहले लिखे गए। उन्हें क्या मानें? यदि वेद शिशुत्व हैं तो ओल्ड टेस्टामेंट के वे कुछ अंश, जिनका स्पष्टोल्लेख मैक्समूलर कभी नहीं करता, शायद तब लिखे गए होंगे जब मानवता गर्भ में थी। तीसरे, सभ्यता के विकास के मैक्समूलर के तर्कों से निष्पन्न चरण देखता हूँ तो मुझे गश आ जाता है। वह प्रिमिटिव अवस्था ईसा के 1000 वर्ष पहले थी और 200 वर्ष के भीतर सभ्यता इतनी विकसित हो गई कि महाभारत, कृष्ण और गीता के स्तर पर पहुँच गई। तब तो निश्चित रूप से वेदों में कुछ असाधारण होगा जिसने अपने सृजन से सभ्यता के विकास को इतनी चरम गति दे दी। चौथे, बचपन का ऐसे निरादर भी न करें। वड्र्सवर्थ यों ही बच्चे को मनुष्य का पिता नहीं कहता, फ्रायड यों ही नहीं कहता कि पाँच वर्ष की उम्र तक के बच्चे के अनुभव उसकी तीन चौथाई ज़िन्दगी का ब्लूप्रिंट हैं। पाँचवें, मैक्समूलर शब्दशः

तब भी शिरोधार्य कि जब वह भारत के धर्म में शैशव देखता है। प्रकृति के तत्वों में देवत्व देखने वाला शिशु उस वयस्क से बेहतर और लाख गुना वरेण्य है जो ओज़ोन परत में छेद तो करता है लेकिन क्योटो प्रोटोकॉल पर हस्ताक्षर नहीं करता, जो अगले 95 वर्षों में आर्कटिक की पूरी बर्फ़ पिघलाने पर तुला हुआ है। भक्ति तो भोली होती है। उसे अपने इस भोलेपन पर शर्मिन्दगी भी नहीं है। ये शब्द और फिर भी रिचर्ड किंग सोचते हैं कि वेदान्त को ज़रूरत से ज्यादा भाव दे देने की ग़लती यूरोपीयों ने की जिसके कारण आज नव वेदान्तियों ने विश्व को उपनिवेशीकृत (Colonize) कर लिया है। सोचिए तो इस कारण से नव वेदान्त चल निकला, अपनी वैचारिक शक्ति के कारण नहीं। सोचिए तो कौन किसको कालोनाइज कर रहा था।

ऐसे में ये तुलसी राम को वेदान्तवेद्यं बोलने की धृष्टता कर रहे हैं। खैर मनाएँ, इनके समय में रोमिला थापर और अमर्त्य सेन न हुए, क्योंकि औपनिवेशिक, ध्र्मान्तरवादी यूरोपीय लोगों की तो ख़ैर आदत ही बन गई थी कि विजित देश के सांस्कृतिक जीवन को अस्त-व्यस्त करने के लिए मंत्रों का अति-साधारणीकरण करें लेकिन दुःख तो इन भारतीय भले मानुषों का है कि वे अपने देश के इस अयथार्थ को मान्यता देते हैं। जो लोग भारत की आर्थिक शक्ति तोड़ने के लिए विभेदाचारी कर-व्यवस्था थोप सकते थे, वे लोग भारत की सांस्कृतिक शक्ति को तोड़ने के मामले में निष्क्रिय रहें होंगे; ऐसी आशा ही कैसे की जा सकती थी? फ्रांत्ज फेनन ने उचित लिखा है : A national culture under colonial domination is a contested culture whose destruction is sought in systematic fashion (Wretched of the Earth) औपनिवेशिक लेखकों ने किस ऐसे देश की संस्कृति की हँसी नहीं उड़ाई जिसे यूरोप ने गुलाम बनाया हो? जिन्होंने भारत में कभी भी प्रातिनिधिक संस्थाओं का शासन नहीं होने दिया, उनसे वैदिक सभा और समितियों की व्याख्या कैसे सम्भव थी? जिस तरह से औपनिवेशिक यूरोपीय इतिहासकार अपने प्रत्यक्ष और परोक्ष, स्थूल और सूक्ष्म औचित्यीकरण की ग्रंथि में व्यस्त था, उसी तरह से हमारे अनेक सुधी इतिहासकार उस बीमारी से पीड़ित हैं जिसे आजकल स्टॉकहोम सिन्ड्रोम कहा जाता है जिसमें अपने को बंधक बनाए रखने वाला ही छूटने के बाद भूरि-भूमि सराहना के क़ाबिल लगने लगता है। इसलिए इतिहास जिनका पेशा था, उनकी ओर से वेद की व्याख्या-विकृति के खंडन उतनी शक्ति से नहीं आए जितने स्वामी दयानन्द, रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द और महर्षि अरविन्द जैसे लोगों की ओर से आए जिनकी वैदिक परम्परा में गति थी और जो इसी कारण इतिहास-निर्माता बने, इतिहासकार नहीं। लेकिन प्रतिरोध के ये स्वर दिग्गज प्रतिभाओं से ही फूटे हों, ऐसा नहीं था। अल्जीरिया का उदाहरण बताता है कि वहाँ यह काम कथावाचकों ने सम्भाला और अपनी संस्कृति की पुनर्व्याख्या कुछ ऐसे की कि 1955 में वहाँ की औपनिवेशिक सरकार ने इन कथावाचकों को ही गिरफ्तार करने की आज्ञा दे दी। ये कथावाचक वाचिक परम्परा के झंडाबरदार थे और वेद भी एक लम्बे समय तक वाचिक परम्परा के अंग रहे और श्रुति व स्मृति की तरह समझे-समझाए जाते रहे। 19वीं शती के पुनर्जागरण ने वेदों को हमारे स्वाधीनता-संघर्ष का प्रेरणाधार बना दिया और राजनीातिक विकास के सिलसिले में संस्कृति को कोल्ड स्टोरेज में रखने की बात वहीं फुस्स हो गई। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि Vedas are not inspired, but expired, not that they came from anywhere out side, but they are the eternal laws living in every soul. हुआ भी यही। वेदान्त का संदेश किताब से पढ़ने की जगह लोगों ने अपनी आत्मा के चिरंतन नियम की तरह जाना और वे तिलक-गाँधी बनकर कूद पड़े। इतिहासकार वेदान्त को पोथी में ढूँढ़ते रह गए, वह लोगों का प्राण बन गया, साँस बन गया। वेद आध्यात्मिक ज्ञान का प्रारम्भ थे, वेद आध्यात्मिक ज्ञान का लक्ष्य हो गए और वहीं वेदान्त फलीभूत हुआ। महर्षि अरविन्द ने इसे यों प्रकट किया The Veda

was the beginning of spiritual knowledge. The Veda will remain it's end. The recovery of the perfect truth of the Veda is therefore not merely a desideratum for our modern intellectual curiosity, but a practical necessity for the future of the human race. तो जिस तरह से 19 वीं-20वीं शती में अँग्रेज़ों की सामाजिक अभियांत्रिकी के लक्ष्य वेदान्त-वेत्ताओं के रहते पूरे नहीं हो सके वैसे ही मध्यकाल में वेदान्तवेद्यं के इसी सूत्र ने हमें सस्पन्द बनाए रखा। इसके बावजूद आज भी भलेमानस राजनीति के परिदृश्य से संस्कृति को निर्वासित करने में ही आधुनिकता मानते हैं। वेदान्तवेद्यं कहकर तुलसी हमें याद कराते हैं कि हमारे पास एक बड़ा बौद्धिक संसाधन मौजूद है। वह संसाधन जिसे मुक्तिकोपनिषद् ने 'तिलों में तैल की भाँति वेदों में वेदान्त सुप्रतिष्ठित है' शब्दों के साथ सराहा था :

तिलैषु तैलवद् वेदे वेदान्तः सुप्रतिष्ठितः। जिसके बारे में विद्यारण्य स्वामी (पंचदशी 2/108) ने कहा था : 'न वेदान्तात् प्रबलं मानमीक्ष्यते' कि वेदान्त से अधिक प्रबल प्रमाण है ही नहीं। आज के नोबल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन भारतीय संस्कृति को अमर बनाने वाले वेदान्त को तार्किक भारतीयता का प्रमाण मानने में उतनी रुचि नहीं दिखाते जितनी वेदअनन्तर बौद्धों में। जैमिनी की पूर्वमीसांसा वाले वेदान्त और बादरायण की उत्तरमीमांसा वाले वेदान्त में क्या तार्किकता नहीं थी? धीरे-धीरे एक मनोग्रंथि तैयार हो रही है। अब तो हो यह रहा है कि वेदों का उच्चारण-उल्लेख मात्र आपके भीतर यह भय जगा देता है कि कहीं हमें भी व्याधिमूलक उपाधियाँ तो नहीं मिलने लग जाएँगी। खंडन-मंडन की हमारी परम्परा तो वेदान्त-विमर्श से ही शुरू हुई थी। असमर्थ्य हो या औडोलोमी या कासकृत्सन सभी ने ब्रह्म-आत्मा के सम्बन्धों पर ज़बर्दस्त बहसें कीं। लेकिन भारतीय संस्कृति के बारे में अमर्त्य सेन एक धार्मिक स्किजोफ्रेनिया से ग्रस्त हैं। एक विभक्त मानसिकता से। इसलिए कठोपनिषद् के नचिकेता की बहस उन्हें उल्लेख के योग्य नहीं लगती। कठोपनिषद्कार को मालूम था कि एक दिन डेनीलाऊ जैसे लोग भी आएँगे जो वेदी की अग्नि को भौतिक ही समझेंगे। इसलिए कठोपनिषद् में अजनबी नचिकेता को अग्नि के तीन अर्थ समझाता है। वह एक सार्वभौम अग्नि की बात करता है जिस पर यह विश्व आधारित है और एक वैयक्तिक अग्नि की बात करता है जो हर व्यक्ति के हृदय में जलती है। वही अजनबी एक 'अनंत ऊर्जा' को भी अग्नि कहता है। अजनबी यह भी कहता है कि यह अकारण नहीं कि उसका नाम 'नचिकेता' है जिसका अर्थ होता है अचेतन।

शिव, पांडव, कृष्ण आदि को द्रविड़ बताने की कोशिशें पश्चिमी सभ्यता द्वारा वैसे ही अंजाम दी गईं जैसे प्रभु यीशु को 'श्वेत' बताकर उन्हें अपने हक़ में विनियुक्त करने की। जिम्बाब्वे के सेंट इग्नेशस कॉलेज के फादर वोल्फ शिमट ने (1991) स्पष्ट लिखा : Jesus has been hijacked by western culture so as to make him "white", he was not. साम्राज्यवादी जब भारत मेंआए तो उसके पहले उन्होंने अफ़ीम की कुछ गोलियाँ भी भेजी थीं। वेदान्त ने उनका नशा उतार दिया। रिचर्ड किंग इस पर भारी आहत है। अपनी पुस्तक (ओरिएंटलिज्म एंड रिलीज़न, पृ. 140) में वह भारी ग़ुस्से से लिखता है : The reverse-colonization of the essentialism of neo-Vedanta is clearly an attempt to establish a modern form of advaita not only as a central philosophy of Hinduism but also as the primary candidate for the 'Universal Religion'. इसके लिए वह विवेकानन्द और रामकृष्ण मिशन और चिन्मयानन्द के वेदान्तिक आंदोलन को ही नहीं कोसता बल्कि थियोसोफिकल सोसायटी, सिस्टर निवेदिता आदि पर भी क्रुद्ध है। उसका कहना है कि विवेकानन्द ने पूर्व की परम्पराओं के बारे में पाश्चात्यों के अज्ञान का शोषण किया। उसका यह भी दावा है कि अँग्रेजों के आने से पहले तक भारत में धर्म नामक कोई चीज़ नहीं थी, कि वेदान्त एक पश्चिमी कंस्ट्रक्शन है,

कि एक आध्यात्मीकृत, अ-सक्रियतावादी और रूढ़िवादी वेदान्त हिन्दुओं के केन्द्रीय दर्शन के रूप में उस ब्रिटिश चिन्ता से पैदा हुआ जिसमें ब्रिटिश साम्राज्य की स्थिरता और फ्रेंच क्रान्ति के व्यापक राजनीतिक परिणामों के प्रति आशंका थी। मज़े की बात यह भी है कि किंग रोमिला थापर को भी उद्धृत करता है और उनके शब्द 'सिंडीकेटेड हिन्दूवाद' को भी। उसका कहना है कि वेदान्त के सिद्धांतों पर हिन्दुओं की एक छोटी-सी संख्या को छोड़ कोई भरोसा नहीं करता।

इधर तुलसी हैं कि राम को वेदान्तवेद्यं कहे जा रहे हैं। क्या उन्हें पूर्वानुमान था कि वेदान्त में भारत के पुनर्जीवन की शक्ति है? कि वेदान्त के वैश्विक आयाम होंगे और यह विश्व-शिक्षा में प्रवृत्त होगा? शिक्षा से यहाँ मेरा आशय अकादमिक शिक्षा से नहीं है। पश्चिम की अकादमिक शिक्षा ने पूर्व को अपनी व्यवस्था में इंटीग्रेट नहीं किया। प्रायः पूर्व या तो अनुपस्थित है या यदि है भी तो हाशिए पर। 'ओरिएंटलिज्म' के नाम पर या तो कुछ पृथक दर्शन की शाखाएँ हैं या कुछ पूर्वी भाषाओं के नाम पर क़ायम किए गए पृथक विभाग हैं लेकिन बात पार्थक्य की नहीं समामेलन की हो रही है। इस एकांतीकृत पश्चिमी आदमी को तब बड़ा कष्ट होता है जब पूर्व की ओर से कोई धूमकेतु की तरह उठता है। विवेकानन्द पर हमने रिचर्ड किंग की खीझ देखी, रवीन्द्रनाथ टैगोर को भी बाद में यूरोप के इसी मत्सर का सामना करना पड़ा था जब यह कहा गया कि ईट्स के अलावा उन्हें कोई महत्व नहीं देता और बाद में ईट्स ने भी उन्हें भाड़ में जाने लायक समझा। जिन देशों को पाश्चात्यों ने देखा तक नहीं था उन देशों की सभ्यता को बर्बर बताकर ईसा का संदेश पहुँचाकर उपनिवेशीकृत करने के लिए पोप के साँड़ निकले। मुझे माफ़ करें, बुल का अर्थ तो धर्मादेश होता है। लेकिन किसी को देखे बिना बर्बर बता देना क्या पूर्वाग्रह की हद नहीं थी? 1493, मई 4 का इंटर सेटेरा पेपल बुल पढ़ें। इसमें तत्कालीन पोप का आदेश है : Barbarous nations be subjugated and brought to the faith itself" "for the spread of the Christian Empire.' अभी 1993 में इस पूर्वोक्त धर्मादेश के 500 वर्ष बाद इंडीजीनस लॉ इंस्टीट्यूट नामक एक संस्था ने पोप जॉन पॉल द्वितीय को लिखा कि इस आदेश को वापस ले लें किन्तु वेटीकन ने अभी तक कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया है। पूर्वाग्रह की ऐसी ही हद जेम्स स्टुअर्ट मिल में मिलती है जिसने किसी भी भारतीय भाषा को सीखे बिना और भारत आए बिना भारत का इतिहास लिखा और उसे औपनिवेशिक अधिकारियों की गीता बना दिया गया। मिल का मानना था कि पास से देखने से उसके विवेचन में पूर्वाग्रह आ सकता है, लिहाज़ा भारत के किसी भी योगदान को न मानने वाला मिल का इतिहास भारत की अन्वीक्षा का आधार बन गया। आईसीएस अधिकारी मिल के भारतीय इतिहास का रट्टा लगाकर बनते थे। पहले ह्वेनसांग, यी जिंग, फाह्यान, अल्बरूनी जैसे लोग भारत आए थे। वे घूमते थे, यहां वर्षों रहते थे और जितना भी जैसा भी समझ पड़े वैसा लिखते थे। अब तो अपनी लाइब्रेरी में एक ही कतार की एक ही कुर्सी पर हमेशा बैठने वाले कार्ल मार्क्स भारत पर टिप्पणी करते हैं और हमारे उलटपंथी उन (मृत) विचारों को कलेजे से लगाए आज तक घूमते हैं। पोप के सांड़ पृथ्वी पर में फैले और महिषासुर-मर्दिनी तक के देश में सारा उत्पात मचाकर गए। यह चंगेज़ ख़ाँ और नादिरशाह से भी बेकार स्थिति थी क्योंकि इन्होंने किसी ख़लीफ़ा से आज्ञा लेकर अत्याचार नहीं किए थे। धर्म की अपनी अहमकाना समझ के आधार पर उन्होंने ज़ुल्म ढाए वो बात अलग है। लेकिन किसी खलीफ़ा का धर्मादेश उनके पास नहीं था। न उन्होंने दिया, न इन्होंने लेने की जरूरत समझी। लेकिन जो सभ्य बनाने के मिशन पर निकले वे कभी हार्पर एवं रो की पुस्तक 'अ पीपुल्स हिस्ट्री ऑफ़ द यूनाइटेड स्टेट्स' (1980) में दिए गए दो आंकड़ों के फ़र्क़ की कहानी बयान करेंगे कि कोलम्बस के द्वारा अमेरिका खोजे जाने के वक़्त जो नेटिव जनसंख्या 8 करोड़ थी, वह 1910 की जनगणना के वक़्त 2,10,000 कैसे रह गई? कहीं कोर्टेस और कोलम्बस ने उन्हें परिवार नियोजन

तो नहीं सिखा दिया था?

वेदान्त को जिस पूर्वाग्रह का सामना पहले और अभी करना पड़ा है, उसके चलते तुलसी की यह अनुशंसा और महत्वपूर्ण हो जाती है। वेदान्तवेद्यं का तुलसी-स्वर किसी पुस्तक के बारे में नहीं है, वेदान्त का ईश्वर प्रयोगशाला-प्रमाणित नहीं है। उसके अणुओं और रसायनों को किसी लैब में निरीक्षित नहीं किया गया। पुस्तक, कला, विज्ञान और अध्ययन के बिना रमण महर्षि या किसी निसर्गदत्त महाराज को वह विश्वास, भक्ति और पवित्रता से ही अनुभूत हो जाता है। वेदान्त सिर्फ ज्ञान नहीं है। प्रसिद्ध भक्त तुलसी जब अवतार राम को वेदान्तवेद्यं बोल रहे हैं तो वे उस ज्ञान की बात नहीं कर रहे जो अरण्यों और कंदराओं में, हिमालय की शृंखलाओं में उपलब्ध रहस्य है। वे उस अनुभव की बात कर रहे हैं जो गरीब की झोपड़ी में, शबरी के आश्रम में, दिन-प्रतिदिन के जीवन में हमें स्फूर्त करता है, जो हममें सत्यमेव जयते नानृतं का मनोबल विकसित करता है। यह वेदान्त किसी की छाया से दूषित नहीं होता क्योंकि यह आता ही द्वैत की उस परछाई को हटाकर है जो हमारी दृष्टि में दुविधा पैदा करती है। यह वेदांत व्यवहार मांगता है। विवेकान्द कहा करते थे कि वेदांत का आलोक घर-घर ले जाओ, प्रत्येक जीवात्मा में जो ईश्वरत्व अंतर्निहित है, उसे जगाओ। ज्ञान या बौद्धिक स्तर पर वेदान्त की स्वीकृति और व्यवहार में उपभोक्तावादी ऐषणाओं की गुलामी - ये नहीं चलेगा। ज्ञान के स्तर पर वेदान्त का अद्वैत व्यवहार के स्तर पर निषाद, केवट, शबरी को गले लगाकर और उनके जूठे बेर खाकर ही प्रमाणित होगा। प्रकृति के प्रसारण स्थल से ईश्वरीय संदेश हर उस व्यक्ति को सम्बोधित होता है जिनकी तरंग-दैर्घ्य (वेवलेंग्थ) सही है। इस स्फटिक की असंख्य किरणें हैं। ब्रह्म सूत्र का प्रथम अध्याय का नाम ही समन्वय है और द्वितीय का नाम अविरोध है। ब्रह्म सूत्र के चौथे और आखिरी अध्याय 'फल' में सगुण उपासना का उल्लेख है। उपनिषद और भगवद्‌गीता के साथ ब्रह्मसूत्र वेदान्त की प्रस्थान त्रयी है।

कई लोगों में आजकल वेद को कर्मकांडपरक और वेदान्त को दार्शनिक बताकर फ़र्क़ करने की प्रवृत्ति चली है लेकिन यह भी उचित नहीं है। मनुस्मृति में तो कहा गया था कि धर्म के जिज्ञासुओं के लिए वेद ही परम प्रमाण है। 'धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'। वेदान्त और वेद एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। तभी वेदान्त ने प्रत्यक्ष और अनुमान के पहले शब्द प्रमाण की चर्चा की और आप्तवाक्य व महावाक्य का आदर किया। मीसांसा विधि और मंत्र दोनों का उल्लेख करती है। वेदान्त आदिशंकर, भास्कर, वल्लभ, चैतन्य, निम्बार्क, बालदेव, विद्याभूषण, वाचस्पति मिश्र, सुरेश्वर, विज्ञान भिक्षु आदि के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में व्याख्यायित हुआ। आधुनिक समय में भी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, रमण महर्षि, निसर्गदत्त महाराज, श्री अरविन्द, स्वामी शिवानन्द, परमहंस योगानन्द, स्वामी पार्थसारथी आदि ने वेदान्त चिन्तन किया है। जिस वेदान्त ने टेसला, अर्विन श्रोडिंगर, वर्नर हाइजनबर्ग, फित्ज काप्रा आदि वैज्ञानिकों को प्रभावित और प्रेरित किया, वह वेदान्त यदि औपनिवेशक और उलटपंथी इतिहासकारों की चिढ़ का कारण बना तो इसके कारण उनके अवैज्ञानिक मस्तिष्क में हैं। ब्रह्मांड पुराण में तो बहुत पहले बता दिया गया था। कि अल्पश्रुत से वेद डरता है कि यह मुझ पर प्रहार करेगा। (बिभेत्यल्प श्रुता द्वे दो मामयं प्रहरिष्यति।)

वेदान्त या वेद को पलायनवादी कहने वाले यह नहीं देखते कि कृष्ण और राम दोनों ने उससे जीवन सक्रियता की प्रेरणा पाई। गीता का कर्मयोग तो है ही, योग वाशिष्ठ राम के बारे में ही एक कथा बताता है, जो वेदान्त-प्रेरित है। तदनुसार भगवान राम को संसार से तीव्र वैराग्य हुआ और वे विरक्त जीवन जीने के लिए तत्पर हो गए तो महर्षि वशिष्ठ ने कहा कि राम, तुम संसार का त्याग क्यों करते हो। संसार क्या ब्रह्म से भिन्न चीज़ है? आलोचकों द्वारा यह नहीं देखा गया कि 'जगन्मिथ्या' कहने वाला 'अमृतस्य पुत्राः वयम्' भी कह रहा है। वेदान्त उस मूल अमृत स्रोत से हमें जोड़ रहा

है। उससे जुड़कर ही राम उस रावण को मार सकेंगे जिसकी नाभि में अमृत है। ब्रह्म वह जो विश्व की नाभि है और अपने स्वरूप मात्र में अमृत है, रावण वह है कि जिसकी नाभि में अमृत है, जो विश्व में विस्तृत और व्याप्त नहीं है, वह एक ऐसी ऊर्जा नहीं है जो कण-कण में हो और अपने स्वरूप में भले बदल जाए, लेकिन संहति में नहीं। ब्रह्म को इसीलिए अमृतगर्भ कहा गया है। रावण अमृत-तत्व का भी कैपिटलाइजेशन करता है। उसे वह कण-कण में नहीं बिखराता, अपनी नाभि में समेटे हुए है। इसीलिए गर्भ में अमृत होते हुए भी वह अमृतगर्भ का विपरीत ध्रुव है। ब्रह्म ज्ञान को अमृत मानने वालों ने ही कहा- ब्रह्मणहि प्रतिष्ठा अममृतस्या व्ययस्यच। मनु ने बिना मांगे बाहुबल से कमाकर खाए हुए अन्न को अमृत और भीख में मिले अन्न को मृत कहा था- मृतंस्याद्याचितं भैक्ष्यममृतंस्या कदाचितं। इसलिए ऐसे पुरुषार्थी जीवनोन्मुख वेदान्त को पलायनवादी कहने के प्रलाप करने, वेदान्त का प्रकट कर्माचरण राम-कृष्ण में न देखने वालों को कैसे प्रभावित करेंगे? ये प्रलाप इस हद तक गए कि वेदान्त का प्रत्याख्यान भक्ति में ढूँढ़ने लगे। तुलसी इसी कारण जान-बूझकर राम को वेदान्तवेद्यं कहते हैं।

विभुम्

आदिशंकर ने भक्ति की पंच स्वरूपा स्थितियाँ बताई थीं। उनमें से एक (तीसरी थी : 'साध्वीनैज विभुम्')। यह एक ऐसी स्थिति है जैसी किसी पतिव्रता की अपने पति के प्रति प्रेम और निष्ठा की स्थिति। लेकिन यहाँ तुलसी का विभुम् उस द्वैत का विभुम् भी नहीं है जहाँ पत्नी और पति की दो भिन्नताएँ अस्तित्व में होती हैं। यह तो सर्वव्यापकता का विभुम् है। शिवाष्टकम् में यही विभुम् है- प्रभुं प्राणनाथम् विभुं विश्वनाथम। विष्णु पुराण में 'मनसैव जगत सृष्टिं संहारं च करोति या/तस्य और पक्ष क्षपाणे कियं उद्यम विस्तार' कहकर विष्णु भगवान के इसी 'विभु' स्वरूप का वर्णन है जिसमें वह अपने संकल्प मात्र से जगत का सृजन और संहार करता है। विभुं ईश्वर का वह गुण है जिसके द्वारा वह ब्रह्मांड को - उसके सभी अंगों को - एक साथ अपनी उपस्थिति से सर्वत्र भरता है। ईश्वर का अंश नहीं - संपूर्ण ईश्वर - हर स्थान पर मौजूद है। इसका शायद एक अर्थ हमारे लिए यह है कि ईश्वर से बचकर नहीं जा सकते, ईश्वर से छुप नहीं सकते, ईश्वर से पलायन नहीं किया जा सकता है। यदि हम पाप कर रहे हैं तो वह हमें देख रहा है। बाइबल में भी कहा गया कि 'यदि मैं स्वर्गारोहण करूँ, तो वहाँ तू है। यदि मैं नरक में शयन करूँ तो तू वहाँ भी है।' 'क्या कोई किसी ऐसे गुप्त स्थान पर छिप सकता है जहाँ मैं उसे न देख सकूँ? क्या मैं आकाश और पृथ्वी को नहीं भरता?' कहीं ऐसा मनुष्य का गंतव्य नहीं कि जहाँ ईश्वर पहले से पहुँचा हुआ न हो। ईश्वर एक अनलिमिटेड कंपनी है। ऐसा साथ जो असीमित है। एलन टर्नर का कहना है कि 'गॉड इज़ नॉट प्रेजेंट इन ऑल स्पेस। ही इज़ प्रेजेंट टू ऑल ऑफ़ स्पेस।' यानी हमारे आकाश के प्रत्येक बिन्दु में उस विभु की पूर्ण व्याप्ति है। हर समय उसके सामने है। हर स्थान उसके सामने

है। कण कण में परमात्मा है।

भारत में उसे अंतर्यामी, घटघटवासी, चराचरगुरु, जगन्निवास, विश्वंभर, विश्वात्मा जैसे नाम इसी कारण दिए गए। हरिवंश पुराण में 'अन्तश्चरं पुरुषं' की जो बात कही गई - सबके अन्तःकरण में विचरने वाले अन्तर्यामी पुरुष की - वह 'विभु' स्वरूप का ही वर्णन है। श्वेताश्वर उपनिषद् में इसे 'व्याप्तं सर्वमिदं जगत्' के रूप में व्याख्यायित किया गया। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में इसे 'या स्थिता व्याप्य विश्वम' कहा। विष्णु पुराण में 'विंभु सर्वगतं नित्यं भूतयोनिरकारण/व्याप्य व्याप्तं यतः सर्व यद् वै पश्यंति सूरयः' कहा गया। कि जो व्यापक, सर्वगत, नित्य, भूतों का आदिकारण तथा स्वयं कारण रहित है, जिससे वह व्याप्त और व्यापक प्रकट हुआ है। नारद पुराण में 'विभुं' को 'वैशेषिकाद्याश्च' कहा गया है, कि वैशेषिक इन्हें 'विभु' कहते हैं। वेदव्यास ने महाभारत के भीष्मपर्व में कहा : 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।' मणियों में सूत्र की तरह यह 'विभु' सभी को एक करता है। 'सब घटि मेरा साँइयाँ, सूनी सेज न कोइ', कबीर कह गए। रैदास कह गए- 'सब में हरि है, हरि में सब हैं, हरि अपनो जिन जाना'। भोलेबाबा की वेदान्त छंदावली - 'यह विश्व तुझसे व्याप्त है, तू विश्व में भरपूर है/तू आर है, तू पार है, तू पास है, तू दूर है।' फ़ारसी में जामी का कहना यही था - अज़ हर तरफ़ जमाले मुतलक़ ताबाँ - उस ईश्वर का प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ है। जामी आगे कहता है : दीद के आलम ज़े समक ता समा/नेस्त बूजुज़ बाज़िबो मुमकिन बमा। यानी पृथ्वी से लेकर आकाश तक संपूर्ण विस्तार में ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सिन्धी कवि किशिनचन्द 'बेबस' के शब्द हैं : मुल्कु मिड़िओई मन्दरु आहे। यह सारा ही भगवान का मंदिर है। तेलुगु कवि त्यागराज का भी यही कहना है :

"अखिलोड कोटुलर अंरदिलो/गगनानिल तेजो जल भूमयमगु/मृग खग नग तरु कोटुललो/सगुणमुललो विगुणमुललो/ सततमु साधु त्यागराजार्चितु डिललो"

कि अखिलांड भुवन में, जन-जन में, जल-थल में, नभ में, पवन, प्रकाश, चराचर जगत्, खग, नग, मृग, तरु, लताएँ, सब में वही सगुण-निर्गुण त्यागराज का आराध्य ईश्वर व्याप्त है। तेलुगु के एक कवि वेमना ने कहा कि परमात्मा का इस विश्व में पृथक अस्तित्व नहीं है। यह सारा ब्रह्मांड ही उनका शरीर है, वायु प्राण है, सूर्य, चन्द्र और अग्नि नेत्र समूह हैं। इस प्रकार यह विश्व उन त्र्यंबक महादेव का ही विराट रूप है। दादूदयाल 'सब दिखि देखों पीव को' कहते थे और सहजोबाई 'सब घट व्यापत राम है' की पुकार लगाती थीं।

तुलसीदास ने राम की विभुता दिखाने के लिए एक बड़ा मौजूँ प्रसंग चुना है। वह समय जब सारे देवता अपने संकटमोचन भगवान श्री हरि को पुकार रहे हैं और विमर्श कर रहे हैं कि वे कहाँ मिलेंगे। तब कोई कहता है कि वे वैकुंठ में मिलेंगे तो कोई कहता है क्षीरसागर में। भगवान शंकर उस बहुत अस्त-व्यस्त सी भीड़ में जिसमें हर कोई कुछ बोल रहा है- मौका पाकर एक वचन के ज़रिए देवताओं की आँखे खोल देते हैं। वे कहते हैं 'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना/प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना//देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं/कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं//अग जगमय सब रहित बिरागी/प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।' ईश्वर सर्वतोवृत्त है, इसे कितने मधुर तरीक़े से यहाँ समझाया गया है। देवता ईश्वर के दर्शन ही तब कर पाएँगे जब वे सर्वतोदिक् परमात्मा के इस रहस्य को समझें। राम विश्ववेदा हैं, वे सबके मन की बात जानते हैं। वे ऊपर नीचे अन्दर बाहर, इधर उधर, कहीं भी, गली गली, गाँव गाँव, चप्पे चप्पे में जिधर तिधर, नगरी नगरी, द्वारे द्वारे चहुँ ओर विराजते हैं।

'विभुं' सिर्फ़ सार्वत्रिक व्याप्ति की भौतिकता में नहीं है, वह सर्वज्ञानी की और सर्वशक्तिमान होने की भी स्थिति है। तोराह में कहा Heavenly Father Sees All," यह भी दिलचस्प है कि 'तोराह' में यह कहने के साथ ही ईश्वर को एक शरीर-विग्रह में भी प्रदर्शित किया गया है। बेबीलोन, ग्रीस और रोम जैसी विकसित सभ्यताओं में प्राचीन समय के सर्वोपस्थित ईश्वर का विचार नहीं

था, यह मूलतः एक वैदिक विश्वास है। हालाँकि प्रागैतिहासिक देशी अमेरिकियों, प्रारंभिक ईसाइयों आदि में भी यह मान्यता प्रचलित थी। 'विभुं' की अवधारणा सारे जगत को ईश्वर की अभिव्यक्ति मानने की अवधारणा है। जयशंकर प्रसाद के शब्दों में यह विश्व चिति का विराट वपु मंगल है। योग वाशिष्ठ कहता है :- 'वस्तुस्तु जगन्नास्ति सर्प ब्रह्मैव केवलम्' कि वस्तुतः जगत है ही नहीं, सब कुछ केवल ब्रह्म ही है। सतसई में कवि बिहारी कहते हैं 'यह जग कांचौ सो मैं समुझ्यो निरधार/ प्रतिबिंबित लखिये जहाँ, एकै रूप अपार'। कुछ लोगों का मानना है कि ईश्वर के सर्वज्ञाता होने और मनुष्य के स्वतंत्र संकल्प के बीच अंतर्विरोध है। यदि ईश्वर सब कुछ पहले से ही जाना हुआ है तो विकल्पों के बीच चयन कर सकने वाले 'मैं' के होने का अर्थ ही क्या है? किन्तु ईश्वर का 'ज्ञान' हमारी चयन-स्वतंत्रता (फ्रीडम ऑफ़ च्वाइस) को प्रभावित करता हो, यह ज़रूरी नहीं है। पवित्र कुरान में भी ईश्वर को सभी चीज़ों का ज्ञान होने की बात कही गई है। ईश्वर को हमारी क्रियाओं का ही नहीं, हमारी चीज़ों का ज्ञान होने की बात कही गई है। ईश्वर हमारे कारनामे ही नहीं, हमारी भावनाएँ और विचार भी जानता है। बिना किसी सेंसरी डेटा के। बिना दुनिया के साथ किसी तरह की भौतिक अन्तःक्रिया के। ईश्वर का जानना सीधा है। क्या एक ग़ैर-भौतिक सत्ता जानती है? मनुष्य एक भौतिक सत्ता है, अतः उसे आंशिक ज्ञान ही उपलब्ध है। चूंकि ज्ञान मस्तिष्क की विशेषता है तो 'विभुं' कोई प्रज्ञावान ही होगा। कोई आब्जेक्ट नहीं, सब्जेक्ट। कोई थिंग नहीं, कोई बिइंग।

दूसरे विभु शब्द के आधार पर प्रारंभ से ही भारतीय दर्शन में एक उदारवाद चलता रहा जो बहुत प्रगतिशील था। विभु यदि सर्वव्यापकत्व का गुण है तो जातिगत ऊँच नीच या रेसिस्ट बातें कैसे चल सकती हैं? विभु तो अणु में भी है। मनुष्य किसी वर्ण, धर्म, जाति का हो, वह 'अमृतस्य पुत्राः' है। इसलिए राम निषाद, केवट, शबरी, गीध, वानर में किसी भी किस्म का भेदभाव या छुआछूत नहीं करते। श्रीपाद कृष्णमूर्ति शास्त्री (भद्राचल राम चरित्रमु) ने एक तेलुगु कविता में कहा था- नीवन नेनन वाडन/गावेरनि/तलवकात्मगति योक्कडे/नीवुनु नेनुनु वाडुनु/देबुनि प्रतिबिम्ब मनुचु देलियग वलयुन्।' अर्थात् - 'तुम मैं और वह/तुम अलग हो, मैं अलग हूँ और वह अलग है ऐसा भिन्नता का दृष्टिकोण छोड़कर सोचो तो हम सब की आत्मा एक ही है। यह जानना चाहिए कि हममें तुममें और उसमें भी भगवान हैं। ये सब भगवान के प्रतिबिम्ब हैं। ऋग्वेद में इस विभुं को हज़ारों आँख वाला और हज़ारों पैर वाला कहा गया जो विश्व को सर्वतः स्पर्श करता हुआ दस अंगुल आगे गया हुआ है। सहस्त्रशीर्ण पुरुष : सहस्त्रापात/स भूमि सर्वत स्वृत्वात्यतिष्ठद्यशांगुलम'। ऐसा विभुं उन संकीर्णताओं में कैसे फँसेगा जिनमें बंधु लोग उन्हें फँसाना चाहते हैं? स्कंद पुराण में जब 'श्रीराम शरणं समस्त जगतां' कहा गया कि श्री रामचन्द्र समस्त संसार को शरण देने वाले हैं तो उसमें से किन्ही जाति विशेष को बहिष्कृत नहीं किया था। शंकराचार्य ने निर्वाणष्टक (5) में 'न मे जातिभेदः' क्यों कहा था? भागवत ने 'स्रवभूतिप्रियो हरिः' अर्थात् भगवान को सभी प्राणी प्रिय हैं, कहा। देवी भागवत् ने 'भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्' - भेद की प्रतीति को बुद्धि का भ्रम कहा। सूरदास ने जब 'स्याम ग़रीबनि हूँ के गाहक' कहा तो उसमें यह भी जोड़ा कि 'कहा बिदुर की जाति-पाति, कुल, प्रेम-प्रीति के लाहक।' अग्निपुराण में कहा गया कि 'परापरस्त रूपेण विष्णु सर्वहृदिस्थिति' अर्थात् विष्णु सभी लोगों के हृदय में स्थित हैं। विभु की अवधारणा जात-पांत और मजहब के संकरेपन के विरुद्ध सक्रिय होती है। वह पेड़-पौधों और पशुओं, तितली और झींगुर के भी इस दुनिया पर दावे को स्वीकार करती है।

● ● ●

रामाख्यं

तुलसीदास राम कहे जाने वाले ईश्वर को प्रणाम करते हैं। ईश्वर एक अमूर्त सिद्धांत की तरह तुलसी का अभिप्रेत नहीं है। सारा दर्शन, महात्मा गाँधी कहते थे कि, धूल की तरह रूक्ष शुष्क (ड्राइ एज़ डस्ट) है यदि वह तत्काल किसी जीवन्त सेवा में अनूदित नहीं कर दिया जाता। तुलसी समझते थे कि वे जिस धर्म का प्रतिपादन करना चाह रहे हैं, उसकी सबसे अच्छी अनुशंसा किसी दर्शन की किताब से नहीं होगी बल्कि एक ऐसे चरित्र, एक ऐसे जीवन के प्रमाण से होगी जो हमें प्रेरित कर सके। शंकराचार्य कह गए थे : 'स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।' अपने स्वरूप के अनुसंधान को ही 'भक्ति' कहते हैं। तुलसी 'मायामनुष्यं' के मनुष्य रूप को दिखाना चाह रहे थे। अपने जैसा ही ईश-स्वरूप दिखाने की यह कोशिश इसलिए थी क्योंकि सत्य उनके लिए किसी शब्द का उच्चारण नहीं था। वे उसे जिया जाता हुआ दिखाना चाहते थे। हमारे दैनिक जीवन में समाहित होता हुआ। हमारी दिनचर्या में व्यवहृत होता हुआ। ईश्वर के रहस्य की उलटबाँसियाँ आख्या नहीं बन सकती थीं। इसलिए तुलसी ने एक चरित ढूँढ़ा और उसी में ईश्वरीय गुणों की आभा दिखाई। वे विश्वास नहीं करवाना चाहते थे, वे दिखाना चाहते थे। इस मायने में वे कुछ-कुछ गौतम बुद्ध के क़रीब थे जो आओ और मानो (कम एंड बिलीव) की जगह आओ और देखो (कम एंड सी) की बात करते थे। जैसे बुद्धदर्शन में कहा जाता है : यदि मेरी बंद मुट्ठी में मोती है तो मेरा यह बताना कि मेरे पास मोती है, सामने वाले के लिए विश्वास का प्रश्न पैदा करता है। लेकिन यदि अपनी मुट्ठी मैं खोल दूँ तो सामने वाला स्वयं देख लेता है कि मुट्ठी में मोती है, तब वह विश्वास का प्रश्न ही नहीं रह जाता। तुलसी ने यही किया। उनका सगुण ईश्वर, उनका राम ब्रह्म के मोती वाली मुट्ठी का

खुलना है। जैसे बुद्ध ने कहा : एहि पस्सिका (आओ और देखो), वैसे ही तुलसी ने राम की झाँकी दिखाई। रगों में दौड़ने फिरने के हम नहीं काइल/जो आँख में ही न उतरा वो लहू क्या है। तुलसी ने ब्रह्म को हमारी आँख में उतार दिया। उन्होंने राम के इतने विज़ुअल्स दिए कि वे आज हिन्दुस्तानी चेतना में रच-बस गए हैं। वे हर प्रसंग और संदर्भ में हमें अनुप्राणित करते हैं।

बुद्ध की तरह तुलसी भी बहुत बड़े मेटाफिज़िकल सवालों में स्पेकुलेशन करने से बचते रहे। जैसे मालुंक्यपुत्त द्वारा दस गूढ़ आध्यात्मिक प्रश्नों के रखे जाने पर बुद्ध ने उसे कहा कि इन समस्याओं के बारे में कोई व्यक्ति कैसा भी अभिमत रखे; जन्म, दुःख, विलाप, पीड़ा, कष्ट हैं ही। मैं इस जीवन में उनसे ही निर्वाण घोषित करता हूँ। तुलसी भी जन्म, मृत्यु, दुःख, विलाप, पीड़ा, कष्टवाले जीवन के बीच निर्वाण शान्तिप्रदं वाले राम की कहानी कहते हैं। वे आचरण का आदर्श उपस्थित करते हैं। वे एक आइकॉन और एक इमेज देते हैं। अमूर्त की गीली मिट्टी से अपनी प्रतिभा के बल पर वे एक जीवन्त प्रतिमा तैयार करते हैं। राम ब्रह्म का ब्रांड या लेबल भर नहीं, तुलसी कोई ब्रांड एंबेसेडर भर नहीं। उनके राम सभी उपाधियों को अतिक्रान्त करते हैं। तुलसी ने राम के रूप में ब्रह्म को जब आकार दिया तो वह समाज को आकार देने की उनकी अभीप्सा की परिणति थी। एक लेखक का आत्मविश्वास : किताब कॉपी क़लम और दवात निकलेगी/मेरी तो बस यही कुल कायनात निकलेगी। लेकिन इन्हीं के सहारे तुलसी ने भारतीय समाज की कर्कशताओं को खत्म कर एक समन्वित रूप देने की कोशिश की। उनके राम वहाँ हैं जहाँ द्वैत खत्म हो जाते हैं : मैं अरु मोर तोर मैं माया। मैं और मेरा, तू और तेरा यही माया है : तुलसी के राम लक्ष्मण को बतलाते हैं। थोड़ी देर बाद राम की कथा सुना रहे शंकर कहते हैं : पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म/मायाछन्न न देखिअ जैसे निर्गुन ब्रह्म।। यानी घने कमल के पत्तों की आड़ में कमल का जल्दी पता नहीं चलता जैसे माया से ढँके रहने के कारण निर्गुण ब्रह्म नहीं दिखता।

देखना और दिखाना यह तुलसी के लिए ज़रूरी था। मध्यकाल में माया का तामिस्र तो और भी सघन हो चला था। इसलिए निर्गुण ब्रह्म की जगह राम की आख्या ज़रूरी थी। उन्होंने दर्शन (फलसफे) को देखने के लिए पर्याप्त नहीं माना बल्कि दृष्टांत उनके हिसाब से ज़रूरी हो गया था। अवतार का अर्थ है कि तर्क नहीं, साक्ष्य आया है। अवतार का अर्थ है कि सिद्धांत नहीं, साहचर्य और सहभागिता आई है। तुलसी इस ज़रूरत को महसूस कर रहे थे। सौभाग्य से उन्हें राम मिल गए। मैं इस अँधेरे के दिल में उतरने वाला था/ये तू कहाँ से लिए रोशनी निकल आया/सभी निकलते हैं इस मोह जाल से मरकर/मेरा नसीब कि मैं जीते जी निकल आया। राम की रोशनी ने उनकी रोशनाई को जगमगाया। उस प्रकाश-पथ पर उन्होंने भारतीय अन्तःकरण को ले चलने की सोची। एक छवि की रचना, बल्कि पुनर्रचना क्योंकि रामाख्यान तो वाल्मीकि के समय से था और उसमें शैतानियाँ भी हो रही थीं। क्षेपक तो जुड़ ही रहे थे। नई रामाख्याएँ भी आ रहीं थीं। जिस तरह से वोल्फ ने अपनी पुस्तक प्रोलंगोमेना में सिद्ध किया कि होमर की इलियड और ओडेसी मूलतः एक बीज कथा (कर्नेल) थी जिसके बाद में विस्तार (expansions) होते रहे, उसी तरह से वाल्मीकि की रामायण के बारे में भी ऐसा कुछ होना असंभव नहीं था। इलियड के बारे में एक निष्पत्ति यह है कि वह कम से कम चार शताब्दियों में लिखी गई। वैसे ही रामायण में भी पूर्णतः फैंसीफुल परतें जोड़ी जा रहीं थीं। कभी ब्राह्मणों की महत्ता दिखाने के लिए तो कभी कथानक में नाटकीयता के लिए भी। लेकिन इन्होंने कई जगह कथा की हार्मनी और यूनिटी को तोड़ा। आलोचकों की हालत यह है कि प्रशंसा के लिए जो उत्तरकांड उन्हें क्षेपक प्रतीत होता है, आलोचना के लिए वही उद्धरणीय हो जाता है। ऐसे समय में तुलसी के लिए ज़रूरी था कि राम कथा रिटच और रिहैंडल की जाए। राम की इतनी आख्याएँ चल पड़ी थीं कि आज तक लोकस्मृति में रामकहानी शब्द एक मुहावरे की तरह चलता है। फैज़ अहमद फैज़ कहते हैं : 'क्यों

मेरा दिल शाद नहीं, क्यों ख़ामोश रहा करता हूँ/छोड़ो मेरी राम कहानी मैं जैसा भी हूँ अच्छा हूँ।' तुलसी इस आख्यान की वीथियों से होकर जब गुज़रे तो रामकहानियों की उस परम्परा से अवगत थे बल्कि इन रामाख्यानकों के 'गुप्त एजेंडे' तक को भी वे जान रहे थे।

छवि आख़िरकार करती क्या है? 'ध्यान में तेरे कभी बैठूँ तो क्या बैठूँ बता/जब तलक तेरा तसव्वुर भी तेरे जैसा न हो।' तुलसी ने ब्रह्म को राम की सूरत दी। एक फेसलेस मेजॉरिटी को फेसलेस ब्रह्म् से आश्वासन मिलता-सा नहीं लग रहा था बल्कि बुतशिकन लोग सारी मूर्तियाँ तोड़े डाल रहे थे। जो मूर्ति को महत्वपूर्ण नहीं समझते थे उनका आब्सेशन मूर्ति बन गया था। तो तुलसी ने तय किया कि वे एक ऐसी छवि रचेंगे जिसे जनता हृदय में धारण करेगी, जहाँ से उसे कभी तोड़ा न जा सकेगा। रामाख्यान के ज़रिए उन्होंने एक व्हाइसलेस मेजॉरिटी को शब्द दिए। बिना प्रिंटर और पब्लिशिंग के उनके शब्द करोड़ों भारतीयों की ज़ुबान पर अंकित हो गए। एक-एक हर्फ़ पढ़ लिया दिल की किताब का/पढ़कर कभी रटा नहीं सब याद हो गया/पलकों के पास आके रुक गए ख़्वाबों के काफ़िले/पानी के पास शहर सा आबाद हो गया। राम की वह हृदयद्रावक, वह मर्मस्पर्शी कथा उन्होंने कही कि मूर्तिभंजक लोग आज तक बेचैन हैं। मूर्ति शिल्प के रूप जड़ित थी, मूर्ति आख्या के रूप में गतिमान रही। मध्यकाल भारत का पाषाण युग था क्योंकि सत्ता की चिन्ता का केन्द्र पाषाण था। पत्थर तोड़कर पाषाण युग में हथियार बनाए गए थे। अब पत्थर तोड़ने को एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया जा रहा था। अहमद नदीम काज़मी की एक कविता है : 'जितने मेआर हैं इस दौर के सब पत्थर हैं।' उस दौर के आदर्श यही पत्थर थे। अकल पर पत्थर पड़ गए थे। सभ्यता का विकास पत्थरों को आकृति देने और सभ्यता का चरम पत्थरों की प्राणमयता तक का ज्ञान करने में है लेकिन मध्यकाल में वह एक प्रतिगामी वक़्त भी था जब सभ्यता को पूर्वपाषाण काल में लौटने की जल्दी थी। पत्थरों से आकार हटाने, उन्हें विरूपित करने की हड़बड़ी। सभ्यता का विकास तब है जब पाषाण में भी हृदय खोजा जा सके, सभ्यता का विनाश तब है जब हृदय को भी पाषाण बना लिया जाए। सीना के जंगल में एक तूर नाम का पहाड़ है जिसे ख़ुदा ने अपनी क़ुदरत से ऊपर उठाया और मूसा पैग़म्बर की क़ौम से कहा कि मेरी किताब पर अमल करो वरना यह पहाड़ तुम पर गिरा दूँगा। शकील ग्वालियरी का एक शेर इसी बाबत है : मैं आदमी हूँ ख़ुदा की भी मानता हूँ तब/उठा के सर पे मेरे जब वो तूर रखता है। तुलसी जिस संस्कृति के थे वहाँ पत्थर में भी पूजा थी। पत्थर आराधन था, अस्त्र नहीं। पत्थरों को प्राण देने वाला नमन था। उनके बरक्स समाँ दूसरा था। पत्थर की धमकी जहाँ चलती हो, पत्थर की पूजा वहाँ क्या चलती। लेकन तुलसी ने उसका उपचार यह किया कि राम हर भारतीय के मेंटल मैप का अंग हो गए। रामचरितमानस की सार्थकता ही यह थी कि रामचरित हमारे मानस का हिस्सा हो गया। रामाख्यान को पढ़ते समय यह हीन भावना लेकर चलने की ज़रूरत नहीं है कि विज्ञान ने इसके विरुद्ध निर्णय दे दिया है। वैज्ञानिक सत्य भी तयशुदा और जड़ स्थिरताएँ नहीं हैं। विज्ञान एक बात है और विज्ञान के हवाले से तुलसी पर टीप देने वालों के अभिमत एक बात। इतिहास पूर्व और प्रागैतिहासिक जिन समस्याओं को तुलसी प्रस्तुत करते हैं, विज्ञान उनकी ओर बढ़ा तो है लेकिन वहाँ तक पुहँचा नहीं है। जो लोग भारत के इतिहास को कार्बन डेटिंग और रिमोट सेंसिंग जैसे आधुनिक वैज्ञानिक साधनों से पढ़ने के प्रति अनिच्छुक ही नहीं हैं, बल्कि भयभीत भी हैं, उनकी विज्ञान के प्रति बहुत गहरी निष्ठा भी नहीं है। इसलिए उनकी वैज्ञानिक धमकियों से मत चमकें। सही वैज्ञानिक मस्तिष्क कभी धमकियाँ नहीं देता।

रामचरितमानस की विशेषता यह है कि वह किसी शासक आभिजात्य वर्ग के लिए नहीं लिखी गई। वह कोई दरबारी कविता नहीं है। मानस के सृजन के वक़्त एक धनाढ्य एरिस्टोक्रेसी भारत के लिए पराए जीवन-मूल्यों पर वैसे ही पल रही थी जैसे कि मैकाले और

मार्डोक के युग में आज पल रही है। धर्म के नाम पर चल रहे पाखंड के प्रति तुलसी की घृणा कबीर से कम तीखी नहीं थी, हालाँकि आजकल के छद्म धर्मनिरपेक्षतावादियों को यह स्वीकारना कठिन पड़ता है। सिर्फ़ इसलिए कि कबीर नाम से ही एक मिश्रित सभ्यता का प्रतिनिधित्व करते हैं और तुलसी का नाम ज़रा पंडिताऊ (गोस्वामी) और शुद्धतावादी लगता है। जो व्यक्ति अपने समय की आलोचना इतने निष्ठुर और निर्मम तरीक़े से करता है कि अपने वक्तव्य की अंतर्निहित सच्चाई के कारण आज भी वह आलोचना प्रासंगिक लगती है, उसके बारे में यह संकीर्णता। सुनिए तुलसी की फटकार : जे जनमे कलिकाल कराला/करतब बायस बेष मराला/चलत कुपंथ बेद मग छाँड़े/कपट कलेवर कलि मल भाँड़े/बंचक भगत कहाइ राम के/किंकर कंचन कोह काम के : क्या आपको ये शब्द आज भी चरितार्थ होते नहीं लगते। दरअसल कबीरदास हों या तुलसीदास या सूरदास, मध्यकालीन कविता में भी एक दास वंश था। कुतुबुद्दीन ऐबक वाला राजनीतिक दास वंश तो अपनी मुसाहबी, अपना सामंतवाद और अपना आभिजात्य विकसित कर देश की सतत् प्रवाहिनी जीवनधारा से कट चुका था, लेकिन इस साहित्यिक दास वंश की पहचान ही यह थी कि इसने जनता के सरोकारों से अपने को जोड़ा। सभी का अंदाज़े बयाँ जुदा-जुदा था, लेकिन उन दासवंशियों ने ही देश के आत्म और स्वाभिमान की रक्षा की। भगवान की दासता स्वीकार करने वाला यह साहित्यिक वंश जहाँ इस तरह से अपनी मुक्ति की घोषणा कर रहा था, वहीं समय की कड़वाहटों को अतिक्रान्त भी कर रहा था। भगवद्‌निष्ठा के साहित्य को समय-सीमित होना संभव ही नहीं था। तुलसी ने योद्धाओं के वर्णन तक में अपने समय के योद्धाओं के परिधानों, हथियारों और परिपाटियों की छाया नहीं पड़ने दी क्योंकि उनकी ऑडियेंस सामंती नहीं थी। वे उसे संबोधित भी नहीं करना चाह रहे थे और उसे किसी तरह की ख़ुशफ़हमी में भी नहीं रखना चाह रहे थे। वे तो उस आम जनता के उपचार के लिए रामचरितमानस का 'सोनिक बाथ' (श्रव्य स्नान) लेकर आए थे (मानस यदि मानसरोवर जैसा है तो) जो शासक वर्ग के एक आक्रामक और दुश्मनाना रवैये से आहत थी। शासन की उस शैली के विरुद्ध कोई बात कहने का तब तक कोई अर्थ नहीं था जब तक कि राजनय व शासन की एक वैकल्पिक शैली को प्रस्तुत नहीं किया जाता। बिना विकल्प का विरोध मानसिक नपुंसकता होती। एक सांस्कृतिक आदर्श की पुनर्स्मृति कराकर तुलसी ने कंट्रास्ट के अहसास को और तीखा कर दिया है। बात सिर्फ़ मूर्तियों के विखंडन की नहीं है। एक विखंडन और हुआ था। दर्शन का काम पहले सभी चीज़ों को साथ-साथ देखने का होता था। तुलसी के समय तक आते-आते उस दर्शन में भी सुपर स्पेशियलिटीज़ विकसित हो गई थीं। अलग-अलग तरह की दार्शनिक एंटरप्राइज़ थीं। भारत की विरासत का प्रयोग कर जीवन को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करने की कोशिशें नहीं हो रही थीं। तुलसी जीवन के समग्र का चित्र खींच रहे थे। उनका साकार का आग्रह दरअसल मेनीफेस्ट का आग्रह था। साकार के रूप में मूर्ति लौटी। इसी मूर्ति के विरुद्ध सारे हमले थे। लेकिन अब यह प्रतिमा एक प्रतिभा के स्पन्दन से दीप्त है। मूर्ति एक ही वक़्त स्मृति भी थी और निर्मिति भी। यह मूर्तीकरण (idolization) ठीक उसी समय एक आदर्शीकरण (idealization) भी था। दार्शनिक सिद्धांतों की कंदराओं में तुलसी राम की मशाल लेकर घुसे, और एक स्टीरिओस्कोपिक विज़न के साथ लौटे। वे राम के स्वभाव का वर्णन नहीं कर रहे थे, वे राम के चरित्र का वर्णन कर रहे थे। रामचरितमानस राम के चरित्र की अभिव्यक्ति है, अँग्रेज़ी शब्द कैरेक्टर (character) के अर्थों में। यह अर्थ लेने में हिचक इसलिए नहीं होना चाहिए क्योंकि/10 शब्द हमारे चारित्र्य शब्द का ही अपभ्रंश है। चरित्र की पहचान चयन के क्षण होती है। चरित्र की पहचान संकट (क्राइसिस) के क्षण होती है। स्वभाव तो प्रतिपल-प्रतिक्षण प्रकट होता है और अवचेत रहता है लेकिन चरित्र की परीक्षा निर्णय के मुहाने पर होती है। स्वभाव तो सोया हुआ है, चरित्र

जागा हुआ। भारत को जगाने के लिए राम जैसे किसी चरित्र की ही आवश्यकता थी क्योंकि स्वयं भारत भी संकटग्रस्त था। राम नाम का यह व्यक्ति आदत और इंपल्स में निर्णय लेता हुआ पूरे रामचरितमानस में नहीं दिखेगा। अपने समय की निर्लज्ज चरित्रहीनता के समानान्तर तुलसी ने यह चरित्र रख दिया। सईद राही का एक शेर है : मैं तो अख़लाक के हाथों ही बिका करता हूँ/और होंगे तेरे बाज़ार में बिकने वाले। मूर्ति अब एक चरित्र में बदल गई। अब वह सिर्फ़ खड़ी न थी। अब वह सिर्फ़ आसीन न थी। अब वह लगातार संभवा थी, क्रिया थी, शामिल थी। इतिहास इसका गवाह है कि आक्रान्ता तुलसी के इस दाँव का कोई उत्तर न दे सका। आक्रान्ता वर्ग से कोई ऐसी समान्तर रचना नहीं आई कि जो तुलसी के इस प्रयास की होड़ में होकर कन्वर्शन करती। तलवार का कन्वर्शन तुलसी जैसों के चलते भारत में सफल नहीं हो सका, अन्यथा उस आँधी में विश्व के 192 में से 51 देश अपनी मूल पहचान पूरी तरह खो बैठे। तलवार वि. तुलसी का यह द्वन्द्व कोई आमने-सामने का द्वन्द्व नहीं था। दोनों अपनी-अपनी परिधियों में काम कर रहे थे। जब तलवार पत्ते काट रही थी और कभी-कभी शाखाएँ भी, तुलसी जड़ों का सिंचन कर रहे थे।

लेकिन 'रामाख्यं' का अर्थ यह नहीं है कि राम एक आख्यान या एक गल्प मात्र थे और इतिहास में नहीं थे। आख्या का अर्थ उक्ति या व्याख्या है। आख्यात का अर्थ ऐतिहासिक और प्रसिद्ध है। आख्याति का अर्थ है कथन। आख्यान कथन, वर्णन, वृत्तांत, बात, कहानी, पुराणकथा, मिथक कुछ ही हो सकता है। आख्यायिका कहानी, किस्सा, छोटी कहानी, पुराणकथा, वृत्तांत है। रामाख्यं राम की तुलसी के द्वारा की गई व्याख्या भी है। राम के इतिहास में होने के बारे में संदेह करने की जगह इतिहासकार अब ज्योतिर्विधागत डेटिंग का सहारा ले रहे हैं। ऋषि वाल्मीकि ने सितारों और ग्रहों की स्थितियों के ज़रिए बहुत सी घटनाओं का बयान किया है। प्राचीन भारत में कालगणना की वही प्रविधि चलती थी। तिथियों का उल्लेख होता था - नक्षत्रों के माध्यम से। महाभारत में रामायण के बहुत से तथ्यों का उल्लेख है किन्तु रामायण में महाभारत के प्रसंगों का नहीं। इसका अर्थ है कि रामायण महाभारत से पूर्व के घटनाक्रम को चित्रित करती है। 4600 ई.पू. की त्रैतिरीय ब्राह्मण में रामायण के लेखक गुरु वाल्मीकि का उल्लेख यह बताता है कि ब्राह्मण रचे जाने से पूर्व रामायण लिखी जा चुकी थी। महाभारत विश्वामित्र को नक्षत्रों के अनुसार कालगणना का आरंभ करने वाले ऋषि के रूप में वर्णित करती है। राम के जन्म के समय वाल्मीकि के अनुसार चैत्र सुदी नवमी थी, पुनर्वसु नक्षत्र था। सूर्य मेष में दशम डिग्री पर थे, मंगल वृश्चिक में 28 डिग्री, गुरु कर्क में 5 डिग्री पर थे। इसके आगे के और ज्योतिषीय विवरण मिला लें तो विद्वानों के अनुसार 4 दिसम्बर 7323 ई.पू. की स्थिति बनती है। राम 17 साल की उम्र में थे जब चैत्र सुदी नवमी पुष्य दिवस पर उनका राज्याभिषेक तय हुआ था। इस कालगणना की विशेषता यह है कि यह वाल्मीकि के वर्णनों और विवरणों का इस्तेमाल करती है और उनके बताए गए रूपकों के भी नक्षत्रीय आयामों का विश्लेषण करती है। एतद्नुसार राम कथा की तिथियाँ इस प्रकार हैं :-

राम का जन्म	- 4 दिसम्बर 7323 ई.पू.
राम सीता विवाह	- 7 अप्रैल 7307 ई.पू.
राम वनवास	- 29 नवम्बर 7306 ई.पू.
हनुमान का लंका प्रवेश	- 1 सितम्बर 7292 ई.पू.
हनुमान का सीता को मिलना	- 2 सितम्बर 7292 ई.पू.
सेतु निर्माण	- 26-30 अक्टूबर 7292 ई.पू.
युद्धारम्भ	- 3 नवम्बर 7292 ई.पू.
कुम्भकर्ण वध	- 7 नवम्बर 7292 ई.पू.
रावण वध	- 15 नवम्बर 7292 ई.पू.
राम की अयोध्या वापसी	- 6 दिसम्बर 7292 ई.पू.

कैम्ब्रिज, इंग्लैण्ड से प्रकाशित होने वाली शोध पत्रिका 'एंटीक्विटी' में 1981 में रामायण की ऐतिहासिकता पर एक शोधपत्र प्रकाशित हुआ था। 1988 में नई

दिल्ली में भारतीय ऐतिहासिक शोध परिषद् के सेमीनार में प्रो. बी.बी. लाल ने 60 पृष्ठों का शोधपत्र रामायण और महाभारत की ऐतिहासिकता पर प्रस्तुत किया था और पुरातात्विक हवाले दिए थे। न्यूयार्क में रहने वाले निरंजन शाह ने 'हिस्टारिसिटी ऑफ़ रामायण' नामक पुस्तक लिखी है। इसके बावज़ूद प्रो. आर.एस. शर्मा, और उन जैसे बंधुओं का एक बड़ा समूह इस मान्यता का है कि राम और कृष्ण का ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं मिलता।

यह इतिहास की भली चलाई। इसकी झाडू से राम की भी पिटाई की जाती है और जीसस की भी। राम को अनैतिहासिक और कवि कल्पना प्रसूत बतलाना इन दिनों बहुत ज़्यादा ज़ोरों पर है। इसके पीछे एक कारण तो राम का आधुनिक युग में एक राजनीतिक इकाई की तरह उभरना है। राम स्वयं तो राजनीति त्यागकर असमय ही वन को प्रस्थान कर गए थे, लेकिन हमारे समय में उस आयाम के तर्कों - प्रति तर्कों के केन्द्र में जीवन्त रूप से विद्यमान हैं। चूँकि एक पक्ष को राम के एप्रोप्रिएशन का लाभ लेना है तो दूसरे पक्ष को अपना विरोध राम को एक गल्प या एक कथा के रूप में बताकर ही जताना है। हाल में राज्यसभा के एक आधिकारिक उत्तर में राम को एक काल्पनिक पात्र बताया गया है। जिस तरह से राम देश की चेतना की एक खास तरह से प्रोग्रामिंग में न्यस्त हुए हैं; उतना ही उन्हें अनैतिहासिक सिद्ध करने का यत्न बढ़ रहा है। गाँधीजी मरते वक़्त 'हे राम' बोले, इस पर भी बहस है। गाँधी के साथ ही रहने वाले व्ही. कल्यानम् का कहना है कि गाँधी ने ऐसे कोई शब्द नहीं उच्चरित किए किन्तु गाँधी की 'घूमने वाली छड़ी' कहलाने वाली मनु और आभा, जो उस वक़्त भी गाँधीजी के साथ थीं जब उन्होंने प्राण त्यागे, ने श्री कल्यानम् के कथन का खंडन किया है। राम तो गाँधी के हृदय और चेतना में ही नहीं रचे-बसे थे, वे गाँधी के राजनीतिक आदर्श 'रामराज्य' को भी चरितार्थ करते थे। दिसम्बर 1947 में मानो अपनी मृत्यु का पूर्वाभास-सा उन्हें हो गया था, इसलिए तब गाँधीजी ने लिखा : 'अंत में होगा वही जो राम मुझे आदेश देंगे। सबहिं नचावत राम गोसाईं। मैं उसके हाथों में हूँ और इसलिए अनंत शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ।' गाँधी की सभाओं में रामनाम का घोष गूँजता ही था, लेकिन फिर भी मृत्यु के वक़्त 'हे राम' कहना कुछ भले लोगों की दृष्टि में एक 'फिक्शन ऑफ़ इमेजिनेशन' है। जब दो शब्दों पर इतनी आपत्ति है तो समूचे राम पर कितनी होगी। स्वयं गाँधीजी राम और कृष्ण को सिर्फ ऐतिहासिक पात्र मानने के 'ख़तरनाक़ रास्ते' के प्रति लोगों को मृत्यु के कुछ दिनों पहले सावधान कर रहे थे। तुलसीदास तो स्वयं इसे 'रघुनाथगाथा' कह रहे थे। वे तो रामचरितमानस के प्रारंभ में ही 'तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुवर की' कहते हैं, 'करिहउँ रघुपति कथा सुहाई' कहते हैं, वे कहते हैं 'जागबलिक जो कथा सुहाई', वे कहते हैं 'कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी' और यह क्रम लगातार चलते हुए जब मानस के अंत तक पहुँचता है तो तुलसी कहते हैं :- 'मति अनुरूप कथा मैं भाषी', 'तब मैं रघुपति कथा सुनाई', 'भाव सहित सो यह कथा', 'सुनि सब कथा हृदय अति भाई,' 'राम कथा गिरिजा मैं बरनी'। तुलसी इतिहास नहीं लिख रहे। वे स्टोरी टेलिंग में व्यस्त हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे राम की अनैतिहासिकता पर कोई अंतिम निर्णय कर रहे हैं। वे तो एक महाकाव्य का सृजन कर रहे हैं। इतिहास लिखने की जगह वे एक इतिहास बना रहे हैं।

लेकिन महापुरुषों को मिथक मानने की प्रवृत्ति सिर्फ़ भारत तक सीमित नहीं है। आज के पश्चिमी बुद्धिजीवी इस क्रम में जीसस तक को नहीं छोड़ रहे। वे जीसस को मिथक नहीं बल्कि छलना (फोर्जरी) और मनगढ़ंती (hoax) तक कह रहे हैं। 1999 में ही पाँच पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनमें निष्कर्ष निकाला गया कि गोस्पेल के जीसस कभी अस्तित्व में थे ही नहीं। जार्ज अल्बर्ट वैल्स ने 'द जीसस लीजेंड' और 'द जीसस मिथ' जैसी पुस्तकें लिखी हैं। टिमोथी फ्रेंक की पुस्तक 'द जीसस मिस्ट्रीज' और पीटर गैंडी की पुस्तक 'जीसस एंड द लॉस्ट गॉडेस' भी ऐसी ही पुस्तकें हैं जो जीसस

की अनैतिहासिकता को सिद्ध करती हैं। अर्ल डोहर्टी की पुस्तक 'द जीसस पज़ल' भी इसी श्रेणी की है।

संदेहवादियों के तर्क बहुत से हैं। उनका कहना है कि जीसस ऐतिहासिक होते तो उनके समकालीन लक्ष्य नहीं होते! जीसस का सीधा पुरातात्विक साक्ष्य क्यों नहीं मिलता? आर.जी. प्राइस का कहना है कि न उन्होंने चमत्कार किए होंगे, न वे मरकर जीवित हुए होंगे, लेकिन हाँ, वे एक महान नैतिक शिक्षक तो ज़रूर रहे होंगे जो गैलिली घूमे, अपने अनुयायियों के साथ, जो यहूदियों द्वारा गिरफ़्तार हुए और जो सलीब पर चढ़ा दिए गए। अफ़सोस, यह भी नहीं है। आलोचकों के मत में साक्ष्यों का गंभीर परीक्षण बताता है कि जीसस क्राइस्ट की सर्वोत्तम व्याख्या वह है जिसे हम मिथकशास्त्र कहते हैं। जॉन एम. एलीग्रो ने तो कुछ ज़्यादा ही कड़े शब्दों में ईसाइयत को भ्राँति पैदा करने वाले कुकुरमुत्तों के उपयोग पर आधारित धर्म कहा है- हैल्यूसिनोजेनिक मशरूम्स पर। जोसेफ व्हेलेस ने 1930 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक फोर्जरी इन क्रिश्चियनिटी (ईसाइयत में कूटरचना) लिखी। जीसस की ऐतिहासिकता में अविश्वास प्रारंभिक ईसाइयत में ही शुरू हो गया था। लेकिन जब ईसाइयत साम्राज्य का धर्म बनी, राज्य और चर्च के बीच परस्पर सुविधा के रिश्ते बन गए तो असहमति के स्वर नृशंसता से कुचले जाने लगे। अब इस नई सदी के दौर में जीसस को ऐतिहासिक ठहराने वाले सारे तर्कों का डेविड केंट ने क्रमबद्ध खण्डन किया। इसे बिन्दुवार यों प्रस्तुत किया जा सकता है :-

> पहली शती में इसके अलावा कोई उल्लेख नहीं। यह चीज़ चकित करती है। समकालीन उल्लेख तो है ही नहीं, निकटतम समय में भी कोई प्रत्यक्ष विवरण नहीं। (एफ एफ ब्रुस, प्रोफेसर, मानचेस्टर विश्वविद्यालय : न्यू टेस्टामेंट दस्तावेज़ : क्या वे विश्वसनीय हैं)

जीसस के 'होने' के साक्ष्य	**'साक्ष्यों' की कमज़ोरी**
1. थैलस ने 52 ई. में एक नास्तिक व्यक्ति की 'प्रकृतिवादी व्याख्या' के तहत उस अंधकार का उल्लेख किया था जो क्राइस्ट को सलीब पर चढ़ाते वक्त हो आया था।	1. थैलस ने अंधकार का उल्लेख किया, लेकिन किसी जीसस का नहीं। उसने सिर्फ़ सूर्यग्रहण का उल्लेख किया था। 221 ई. में सेक्सटम जुलियस अफ्रीकानस नामक ईसाई लेखक ने थैलस के द्वारा वर्णित इस सूर्यग्रहण-कारित अंधकार पर टीप की है। उसने भी जीसस का उल्लेख नहीं किया।
2. मारा बार सेरापिऑन ने 73 ई. के बाद अपने पुत्र को लिखे पत्र में कहा कि : 'यहूदियों को अपने बुद्धिमान राजा को मौत की सज़ा देने से क्या फायदा हुआ? ... वह तो अपनी शिक्षाओं के ज़रिए ज़िन्दा रहा।	2. यह सीरियन लेखक जीसस का आँखों देखा गवाह नहीं है। यह जीसस का नामोल्लेख नहीं करता। यह 'बुद्धिमान राजा' के फिर से ज़िन्दा हो जाने का उल्लेख नहीं करता। वह सुनी सुनाई कहानी को अपने बेटे को बता रहा है। जीसस कभी राजा नहीं थे।
3. जोसेफस बेन माथियस ने लिखा 'अब इस वक्त जीसस था- एक बुद्धिमान आदमी, यदि उसे आदमी कहना क़ानूनी रूप से सही हो। वह क्राइस्ट था और जब पाइलेट ने उसे क्रास पर चढ़ाया... वह उन्हें तीसरे दिन फिर ज़िन्दा दिखाई दिया।'	3. जोसेफस ने ऐसा कभी लिखा ही नहीं। अलेक्जेंड्रिया का क्लीमेंट (150-215 ई.) जोसेफस के लेखन का विस्तृत उल्लेख करता है किन्तु इस कथन का कहीं नहीं। इस पैराग्राफ का पहला उल्लेख यूसेबिअस ने 324 में किया। उसे ही इस 'कूटरचना' का श्रेय दिया

जाता है। जोसेफस की मृत्यु के दो सौ वर्ष बाद तक उसकी पुस्तक 'एंटीक्विटीज़ ऑफ़ द ज्यूस' (यहूदियों का इतिवृत्त) में क्राइस्ट का उल्लेख न था। इस उल्लेख की भाषा यूसेबिअस की है, जोसेफस की नहीं। इस अचानक ठूँसे गए अनुच्छेद का जोसेफस के वर्णन के न तो पहले प्रसंग/संदर्भ से कोई संबंध है, न इसके ठीक बाद आए विवरण से। यह तो वर्णन की गति को बाधित करता है। बिशप वारवर्टन इसे 'शुद्ध धोखाधड़ी' कहते हैं। डीन मिलमेन इसे क्षेपक (इंटरपोलेशन) कहते हैं। चैम्बर्स एनसाइक्लोपीडिया भी। यूसेबिअस स्वयं एक ऐसा व्यक्ति था जो चर्च के लिए झूठ बोलना सहज स्वीकार्य मानता था। उसके बाद 'पवित्र छल' (होली फ्राड) करने का फैशन चल पड़ा।

4. कार्नेलियस टैसीटस ने 120 ई. में लिखा : 'नीरो ने उस श्रेणी के लोगों को दंडित किया जिनकी आदतें बुरी थीं और जिन्हें भीड़ क्रिश्चियन कहती थी। इसका संस्थापक क्राइस्टस था जिसे टाइबेरियस के शासन में मृत्युदंड मिला था, पाइलेटस नामक प्रोक्यूरेटर के हाथों।'

4. टेसीटस उसी कहानी को दुहरा रहा है जो क्रिश्चियनों ने उसे सुनाई थी। वह किसी अधिकृत अभिलेखागार का उल्लेख नहीं करता। पाइलेटस एक प्रिफेक्ट था, प्रोक्यूरेटर नहीं। क्राइस्टस भी कोई 'प्रापर नेम' की तरह नहीं उपाधि की तरह प्रयुक्त हुआ। टैसीटस के इस वर्णन को पांचवीं शती तक किसी ने उद्धृत नहीं किया। वैसे भी टेसीटस जीसस के सौ-डेढ़ सौ वर्षों बाद हुआ। टेसीटस ने जीसस शब्द का प्रयोग किया ही नहीं। यही पैरा शब्दशः सल्पिसिश्रम सर्वरस (403 ई.) के क्रानिकल में भी मिलता है।

5. मैक्डावेल के द्वारा पक्ष में दिए तर्कों में से यह भी है कि एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के ताज़ा संस्करण में जीसस के लिए 20 हजार शब्द हैं। अरस्तू, सिसरो, अलश्रेंद्र, जूलियस सीज़र, बुद्ध, कन्फ्यूशियस, मोहम्मद या नेपोलियन बोनापार्ट से भी ज़्यादा।

5. यह तर्क ऐतिहासिकता को सिद्ध करने की दृष्टि से बहुत हास्यास्पद है। इस ग्रंथ में हरक्यूलिस और ओडीसियस पर भी पन्ने दर पन्ने भरे गए हैं। लेकिन इससे वे ऐतिहासिक नहीं हो जाते। यों तो ब्रिटेनिका में ड्रेगन, यूनिकार्न और चुड़ैलों पर भी पन्ने भरे गए हैं। गिनाए गए नामों से ज्यादा शब्द जीसस पर होना ब्रिटेनिका का पक्षपात होगा।

6. सुएटोनियस ने क्रेस्टस का उल्लेख किया है - कि उसके उकसाने पर शान्ति भंग करने वाले यहूदियों को क्लाडियस ने रोम से निकाल दिया।

6. क्राइस्ट और क्रेस्टस दो अलग-अलग शब्द हैं। क्रेस्टस का मतलब होता है 'श्रेष्ठ'। क्राइस्ट का मतलब होता है 'मसीहा'। 55 ई. में जीसस रोम में कैसे हो सकते थे।

जीसस को जिस समय का 'ऐतिहासिक व्यक्ति' बताया जाता है, उस समय के किसी लेखक या इतिहासकार- चाहे वह यहूदी हो, ग्रीक हो, रोमन हो या पैगन- ने जीसस या उनके किसी शिष्य का उल्लेख नहीं किया। एरियन, प्लूटार्क, अपोलोनिस, हर्मोगोन्स, अप्पियन, डेमिस, औलूस, जेलियस, अलेक्ज़ेंड्रिया का अप्पियन, फिलो जूडेइयास, पेट्रोनियस, जूवेनल, क्विंटिलियन, सिलियस, इटेलिकस, प्लोगोन, पौसानिअस, सेनेका, डिओ क्रिसोस्टोम, फेवररिनस, मार्शल, ल्यूकेनेस, स्टेटिअस, डिअन प्रूसियस, फैट्रस, फ्लोरस, ल्यूशियस, कोल्यू मेला, लिसियास, थिओन ऑफ़ मिर्ना, प्लिनी द एल्डर, पेटर क्यूलस, पर्सियस ऑफ टाइबेरियस, एपिक्टेटस, टॉल्मी, वेलेरियस, मैक्सिमस, क्विंटियस कर्टिअस, वेलिरिअस फ्लैकस, पाम्पेनियस मेला आदि-आदि में से किसी ने भी इतने महान और विलक्षण आदमी को एक शब्द के लायक भी नहीं समझा। ग्रीस, रोम, फिलिस्तीन में उस वक़्त दार्शनिकों, इतिहासकारों, वक़्ताओं, न्यायविदों और राजनीतिज्ञों की कमी न थी। लेकिन किसी ने भी जीसस के बारे में एक पंक्ति, एक शब्द तक नहीं लिखा। चार्ल्स एफ ड्यूपिआस, राबर्ट टेलर, डेविड स्ट्रास, कर्सी ग्रेव्स, जॉन राबर्टसन, थामस विट्टेकर, राबर्ट आर्थर ड्रूस, पीटर जेन्सन, विलियम बी. स्मिथ, एल.काऊचोड, जॉन रेम्सबर्ग जैसे आधुनिक लेखकों ने जीसस के गैर-ऐतिहासिक होने को सिद्ध किया है। जोसेफस की कृतियों और बाइबल में कम से कम 21 तरह के जीसस हैं, हैराल्ड लीडनर ने अपनी पुस्तक 'द फैब्रिकेशन ऑफ़ द क्राइस्ट मिथ' में बताया है।

जीसस की ऐतिहासिकता पर संदेहवादियों द्वारा कई प्रश्न सामने खड़े किए गए हैं। उनका कहना है कि क्राइस्ट का वर्णन तो न्यू टेस्टामेंट के चार गोस्पेल में मिलता है- मैथ्यू, मार्क, ल्यूक और जॉन। लेकिन ये चारों कौन सज्जन थे, इसका कोई उल्लेख टेस्टामेंट के बाहर किसी ग्रंथ में नहीं है। गोस्पेल स्वयं भी दावा नहीं करते कि वे इन चारों के द्वारा लिखे गए हैं। वहाँ गोस्पेल ऑफ़ मैथ्यू नहीं है, गोस्पेल 'अकार्डिंग टू मैथ्यू' है। यह बात बाक़ी के साथ भी है। कोई भला आदमी नहीं जताता कि वे कब लिखे गए। विद्वान मार्क के गोस्पेल को सबसे पुराना कहते हैं लेकिन उसमें वर्जिन बर्थ, पर्वतोपदेश, भगवान की प्रार्थना जैसी चीजें नहीं है। ये फीचर्स बाद में मैथ्यू और ल्यूक में जोड़े गए। मार्क में क्राइस्ट एक आदमी है। मैथ्यू और ल्यूक में वह एक डेमिगॉड है और जॉन में वह स्वयं ईश्वर है। इन चारों गोस्पेल का पहला ऐतिहासिक उल्लेख 180 ई. से 190 ई. के बीच हुआ। क्राइस्ट की मृत्यु के डेढ़ सौ साल बाद। क्राइस्ट तो यहूदी माने जाते हैं, उनके शिष्य यहूदी मछुआरे। उनकी भाषा अरामिक रही होगी क्योंकि तब के फ़िलिस्तीन में वही भाषा प्रचलित थी। लेकिन सभी गोस्पेल ग्रीक में हैं। यानी वे न तो क्राइस्ट के शिष्यों द्वारा और न प्रारंभिक ईसाइयों द्वारा लिखे गए। ये गोस्पेल भी दूसरी शती के नहीं हैं। ये उन मूल की प्रति की प्रति हैं। इनकी प्राचीनतम प्रतिलिपि और इनमें तीन सौ सालों का फ़र्क़ है। ऐतिहासिकता की हालत यह है कि मैथ्यू जीसस की वंशावली में 41 पीढ़ियाँ बताता है, (ल्यूक 56।) जीसस पैदा कब हुए? एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार मसीहा के जन्म वर्ष के बारे में 133 परस्पर विरोधी अभिमत हैं। जीसस का जन्म स्थान तय नहीं है। बेथलेहम कि नाज़ेरथ? जन्म के बाद तीस साल तक जीसस के जीवन में क्या हुआ, इसका चारों गोस्पेल में कोई उल्लेख नहीं। सिवाय ल्यूक में 12 वर्षीय जीसस के जीवन की एक घटना के। ये चारों गोस्पेल अपने नायक के जीवन के शुरुआती तीन दशकों के बारे में एकदम चुप क्यों हैं? जीसस का बचपन, जीसस का कैशोर्य, जीसस का यौवन कहीं नहीं वर्णित किया गया। शुरुआत की पहली आठ शताब्दियों में ईसाई कलाकारों ने क्रॉस पर एक मेमने को दिखाया, एक मनुष्य को कभी नहीं। न चित्रों में, न शिल्पों में। कभी एक मेमना सलीब ढोते हुए दिखाई दिया। कभी सलीब के नीचे बैठा हुआ, कभी सलीब पर। आठवीं शताब्दी में पोप हेडियन प्रथम ने कास्टेन्टिनोपल के

छठवें साइनोड की डिक्री की पुष्टि करते हुए आदेश दिया कि मेमने की जगह सलीब पर आदमी की आकृति दिखाई जाए। स्विट्ज़रलैंड के, नए टेस्टामेंट के प्रोफेसर डॉ. पॉल स्कमीडेल यूरोप के प्रमुख धर्मशास्त्रियों में से हैं। वे एन्साइक्लोपीडिया बिब्लिका में हमें बताते हैं कि गोस्पेल में सिर्फ़ नौ ही ऐसे पैरा हैं जिन्हें हम जीसस के कथन की तरह मान सकते हैं। जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान प्रोफ़ेसर आर्थर ड्रूज़ ने इन नौ पैरों का भी अध्ययन किया और कहा कि ये भी उतने ही अनैतिहासिक हैं, जितना कि शेष हिस्सा। विख्यात अँग्रेज़ी विद्वान जॉन एम. रॉबर्टसन भी इन नौ पैरों को पूर्णतः अनैतिहासिक मानते हैं। पॉल के 13 विवरणों में से एक में भी कुंआरी माँ से ईसा के जन्म का या टेस्टामेंट वर्णित किसी भी चमत्कार का उल्लेख नहीं है। उसमें पर्वत-प्रवचन भी नहीं है। जीसस के नाम से प्रायः प्रचारित कथनों में से एक भी पॉल के इन 13 विवरणों में नहीं है। क्या इसका मतलब यह नहीं कि पॉल के समय तक ये सारे उपदेश, चमत्कार या कथाएँ 'आविष्कृत' ही नहीं थीं। नहीं तो प्रारंभिक ईसाइयत के इस सबसे बड़े लेखक - जिसने किसी भी अन्य बंदे की तुलना में ईसाई धर्म को दुनिया में फैलाने के लिए ज़्यादा काम किया - द्वारा इन सब चीज़ों का उपयोग नहीं किया जाता? पॉल एक मिशनरी था। वह धर्मान्तरण के लिए उत्साही था। क्या वह अपने प्रोपेगेंडा के लिए इन सब चीजों का उपयोग नहीं करता? जर्मनी के इतिहासकार मोशीम लिखते हैं कि "प्रारंभिक ईसाइयत का क्राइस्ट कोई आदमी नहीं था, एक 'प्रतीति' था, एक भ्रम, एक चमत्कारी चरित्र जो यथार्थ में नहीं मिथक में बसता था।" रब्बी हिलेल, एपिक्टेटस, त्याना के अपोलोनियस के जीवन दृष्टान्तों का जीसस के जीवन-दृष्टान्तों से साम्य क्या यह नहीं बताता कि जीसस-कथा पूर्व-प्रचलित कथाओं को थोड़ा फेंटकर बनाई गई? सेरापिस, एस्मन, अपोलो, मित्र, आहुर-मज्दा, जेहावा और आइसिस के पुरोहितों की शिक्षा और वाक्यों को ही बाइबल के जीसस ने प्रतिध्वनित किया। जन्म, मृत्यु, पुनर्जीवन की ऐसी ही कथाएँ ईसा-पूर्व पैगन लोग दुहराते थे। क्यों चार में से एक भी गोस्पेल का ईसा की मृत्यु से सौ साल बाद तक भी कोई उल्लेख नहीं मिलता? इतने चमत्कारी, मानव-सेवी, करुणावान व्यक्ति के बारे में पहली तीन शताब्दियों में सिर्फ़ जोसेफियस द्वारा कथित रूप से प्रयुक्त एक छद्म क्षेपक की पंक्तियां ही मिलती हैं। शेष पंक्तियों के बारे में हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। इस बुक ऑफ़ रिवेलेशन को यहूदी पुरा-कथाओं की ही रिवर्किंग कहा जा रहा है क्योंकि इसमें मुख्य चरित्र 'लैंब' (मेमना) लगता है, जिसका 28 बार उल्लेख होता है, जीसस का सात बार, क्राइस्ट का चार बार और जीसस क्राइस्ट का दो बार। ये सब तर्क जीसस को एक कल्पना-प्रसूत चरित्र ठहराने के क्रम में पश्चिमी विद्वानों द्वारा ही दिए गए हैं।

विधि की न्यायपीठों में अनुश्रुति पर आधारित सूचनायें स्वीकार्य नहीं होतीं। वे ही सूचनायें साक्ष्य के रूप में मान्य होती हैं जो गवाह के स्वयं के ज्ञान पर निर्भर हैं। जिम वाकर का कहना है कि जीसस के बारे में सारी सूचनायें गल्पाधृत हैं और किसी को भी टेस्टीमनी की तरह नहीं लिया जा सकता। हम एक ऐसे संसार में रहते हैं जहां लोग दैत्यों, उड़न तश्तरी प्रेतों या पिशाचों पर - असंख्य प्रकार की फंतासियों पर यकीन रखते हैं, गास्पेल तो तृतीय पुरुष में लिखी हुई हैं। ह्यू स्कोनफील्ड का कहना है कि टेस्टामेंट की तीसरी शताब्दी ई. की कोई भी प्रति पाना असंभव है और हम लोग प्रायः चौथी या पांचवी शती की प्रतियां ही देख पाते हैं। रेम्ज़बर्ग का कहना है कि यूसेबिअस, जो चर्च का प्रारंभिक इतिहासकार था और प्रारंभिक चर्च पर जिसका बड़ा प्रभाव था, ने चर्च के हितों के लिये छल और धोखाधड़ी खुलेआम वकालत की थी। उसकी प्रेपरेशो ईवेंजेलिका नामक पुस्तक में एक अध्याय इसी शीर्षक से था "झूठ का औषधि के रूप में उन लोगों के लाभ के लिये प्रयोग जो छले जाना चाहते है, न्यायसंगत और उपयुक्त हो सकता है।" (बारहवीं किताब, अध्याय 32) ब्रूस मेट्ज़गर ने तो अत्यंत सहानुभूतिपूर्वक और श्रद्धापूर्वक बाइबल को इस झमेले से बाहर निकालने की कोशिश अपनी पुस्तक "दि टेक्स्ट आफ द न्यू टेस्टोमेंटः इट्स ट्रांसमीशन, करप्शन एंड रेस्टोरेशन" में की। उसने "दृष्टिदोष की त्रुटियां, श्रवणदोष की त्रुटियां, मन की त्रुटियां, समझ की त्रुटियां, ऐतिहासिक और भौगोलिक दिक्कतें और धर्मांधता

के कारण किये गये बदलाव इन शीर्षकों के अंतर्गत अपना विद्वतापूर्ण अध्ययन किया। 1578 से ट्यूरिन के केथेड्रल में रखे 14 फीट लंबे कफन को 1988 के कार्बन डेटिंग परीक्षणों के बाद फोर्जरी माना गया है। ज्यूरिच, आक्सफोर्ड और अरिजोना विश्वविद्यालय की तीनों भिन्न-भिन्न और स्वतंत्र रेडियोकार्बन डेटिंग प्रयोगशालाओं से इस कफन की उम्र 1260-1390 ई. की निकल कर आती है। वैसे भी यदि कफ़न सच्चा होता तो किसी गॉस्पेल या परवर्ती ईसाई साहित्य में उसका उल्लेख होना था। नवंबर दिसंबर 2002 में बिब्लिकल आर्केलॉजी रिव्यू पत्रिका ने एक 'वर्ल्ड एक्स्क्लूसिव' लेख प्रकाशित किया जिसमें ईसा के भाई जेम्स के दफ़न-बक्से के बारे में 'महान खोज' थी। परिणाम यह हुआ कि चार सौ बीसी के आरोप में बरिअल बॉक्स डीलर को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। ल्यूक वाले गॉस्पेल में ईसा के जन्म पर तीन घंटे के ग्रहण का उल्लेख है लेकिन किसी समसामयिक ज्योतिषी या खगोलविद् ने विश्व में कहीं भी ऐसी घटना का उल्लेख नहीं किया, न मैथ्यू वाले गॉस्पेल (27:51-54) के मुताबिक बताये गये जन्म के समय के भूकंप का कहीं कोई समसामयिक उल्लेख है और जैसा कि मैथ्यू बताता है कि प्रभु यीशु की आशंका में तत्कालीन सम्राट हेरोड ने बेथलेहम के सारे बच्चे मरवा दिये थे तो इतने बड़े पैमाने का शिशु-संहार इतिहास में अचर्चित कैसे रह गया जबकि वह दौर बहुत ही प्रबुद्ध इतिहासकारों और लेखकों का दौर था। गॉस्पेल में वर्णित कहानियों पर तर्कवादियों के जो प्रश्न है सो हैं लेकिन उससे ज्यादा उनके लेखकों के भौगोलिक अज्ञान पर आश्चर्य किया जा रहा है। जेरासा नामक जगह गेलिली समुद्रतट से 31 मील दूर है। जिन सुअरों ने अपने को डुबोया क्या वे मैराथन की दूरी से भी पांच किमी ज्यादा चले होंगे ? लेमिंग भी इतनी दूर का सफर नहीं करते और यदि "तीव्र ढ़लान" ("steep slope") बात सच मानकर 45 डिग्री न्यूनतम भी माने तो जेरासा माउंट एवरेस्ट से छः गुना ऊपर होना चाहिए? ऐसी भौगोलिक गलतियों की भरमार है। इसलिए कई पश्चिमी इतिहासकारों ने इतने महान व्यक्ति की ऐतिहासिकता पर भी संदेह किया है।

लेकिन ऐतिहासिकता के इस विवाद में थाती-पुरुषों को डालकर क्या उतनी ही सशक्त अभिप्रेरणाएँ निर्मित की जा सकती हैं कि जो सहस्राब्दियों तक मानव-मात्र को अनुप्राणित रखें?

इतिहास के बारे में अकसर एक द्वन्द्व चलता है जो हिस्ट्री शब्द के ही दो धातुमूलों लैटिन और ग्रीक से पैदा होता है। लैटिन हिस्टोरिया शब्द एक संज्ञा है जिसका अर्थ है कथा, वृत्त। ग्रीक हिस्टोरिया शब्द एक क्रिया है जिसका अर्थ है टु इन्क्वायर, जानना, पता करना। हमारे यहाँ कुछ ऐसे इतिहासकार हैं जिन्होंने इतिहास को कथा की तरह चलाया और कुछ ऐसे हैं जिन्होंने इस जिज्ञासा और गवेषणा की भूमि बनाया। कुछ ऐसे थे कि जिन्होंने इतिहास के बारे में अँग्रेज़ी विजेताओं और शासकों के द्वारा फैलाए गए प्रवादों को ही इतिहास मान लिया और कुछ ऐसे भी जिन्होंने इतिहास की स्वतंत्र गवेषणा और तर्कणा पद्धति विकसित की और कॉलोनियल कथाओं पर निर्भर रहने की जगह इतिहास को जैसा था, वैसा देखा। जिस ग्रीक धातु 'हिस्टोरिया' की मैं बात कर रहा था, उसके हेराक्लितुस ने दो अर्थ किए थे : एक से आशय निकलता था- न्यायाधीश का, जज का और दूसरे से निकलता था- साक्षी का, विटनेस का। इतिहास को गर्व है कि वह न्यायाधीश है और अंतिम निर्णय उसी का है। इतिहास की विनम्रता है कि हम उस मुहाने और मुक़ाम पर हैं जहाँ वह गवाह है। इतिहास तत्कालीन समय की आज हुई कोई अनुलिपि नहीं है। एड्रियन रिच का आरोप है कि झूठा इतिहास प्रतिदिन बनते चलता है। द ट्रुथ ऑफ द न्यू इज़ नेवर ऑन द न्यूज़।

जुलाई, 1944 में गांधी जी की मृत्यु के ढाई साल पहले अल्बर्ट आईंस्टीन ने कहा था कि "आने वाली पीढ़ियां मुश्किल से ही विश्वास कर पायेंगी कि ऐसा कोई हाड़ मांस का व्यक्ति वाकई इस धरती पर हुआ था। "Generations to come will scarcely believe that such a one as this ever in flesh and blood walked upon this earth" बीसवीं सदी के इस सबसे बड़े वैज्ञानिक ने बीसवीं सदी के इस महानतम् व्यक्तित्व के बारे में किसी श्रद्धा के कारण

ऐसा नहीं कह दिया होगा। यह वैज्ञानिक लोगों की शार्ट मेमोरी, उनके स्मृति-भ्रंश, स्मृति-लोप से काफी हद तक परिचित था। वह उतना ही गांधी जी के साथ घट रही उस दैव्यीकरण (divinization) की प्रक्रिया से भी परिचित था जिसके चलते सामूहिक श्रद्धाएं आदमी को देवता बनाती हैं, मनुष्य को मिथ बनाती हैं और फिर बाद में ऐसी कुघड़ी आती है कि इतिहासकार उसे मिथक कहकर ठुकरा देते हैं। यह हम पहले घटता देख चुके हैं, किसी और संदर्भ में। आश्चर्य नहीं कि गांधी के साथ भी एक दिन यही सब घटे। मिल, मैकाले और मार्क्स के चलते हमारे पुरातन महापुरुषों का इतिहास से किंवदंती में निर्वासन हुआ था। कोई आश्चर्य नहीं कि नव आर्थिक उपनिवेशवाद की जरूरतों के चलते उस गांधी का भी यही हश्र हो जिसका सादा, अपरिग्रही जीवन, जिसका स्वायत्त ग्राम गणतंत्र का आदर्श आज के आक्रामक ग्लोबल उपभोक्तावाद के सामने एक वैचारिक चुनौती की तरह खड़ा है। उस देश में यह करना शायद और सरल हो जहां हमें वैसे ही अपने स्मारकों पर थूकने की, उनकी दीवारों और खंभों पर अपना नाम, तरह तरह की वल्गर ड्राइंग्स के साथ उकेरने की आदत पड़ गई है। जिस हद तक हम किसी मनुष्य को अवतार बनाते हैं, उस हद तक आम आदमी का मनोविज्ञान अपने बदले भी चुकाता है, एक साइलेंट रिवेंज जब आदमी का आदर्शीकरण (idealization) उसके मूर्तिकरण (idolization) में बदलता जाता है, जब हम प्रतिभा को प्रतिमा में बदल देते हैं, फिर पूजा पाठ करके- माला वाला चढ़ाके छोड़ छुट्टी करते हैं और जब यह क्रम कई शताब्दियों तक चल जायेगा तो एक दिन आसानी से कह सकेंगे कि गांधी आस्था का विषय है, गांधी पर बहस नहीं हो सकती। गांधी गांधी है। कि फिर रामसरन शर्मा जैसा कोई इतिहासकार खड़ा हो जायेगा और कहेगा कि यह श्रद्धा और शोध का शाश्वत संघर्ष है। महापुरुष को मिथक बनाकर रिजेक्ट करने के पहले हम अपने बौद्धिक आलस्य को पहचानें कि एक ओर जहां पश्चिम में मिथक का इतिहास ढूंढ़ने की मेहनत चल रही है, कि जहां हेनरिक स्केलिमैन जैसे व्यापारी, बिज़नेसमैन हो रहे हैं जिन्हें बचपन से होमर के महाकाव्य इलियड की 'रियलिटी' में भरोसा रहा और जिसने अन्ततः ट्रॉय के अस्तित्व के पुरातात्विक प्रमाण ढूंढ़ निकाले, जिन्होंने उन इतिहासकारों को expose कर दिया जो क्रिश्चियनिटी में कन्वर्ट होने के पहले के ग्रीको-रोमन इतिहास को कवि-कल्पना और मिथक बताते नहीं थकते थे।

आईंस्टीन ने महापुरुषों के साथ घटने वाली इस विडंबना, इस त्रासदी के चलते इस खतरे को पहचान लिया था।

लोग कहते हैं कि इतिहास राख की बाल्टी है। माना। लेकिन विकल्प फिर भी हमारे पास हैं, कि हम इस राख को कीचड़ की तरह मलें, विभूति की तरह धारण करें, या यह देखें कि कैसे इसी राख से हमारी आहत और निस्पन्द सभ्यता और राष्ट्रीय चेतना का फीनिक्स पक्षी पुनर्जीवित हो सकता है। महापुरुष को मिथक बनाकर रिजेक्ट करने के पहले हम अपने बौद्धिक आलस्य को पहचानें कि एक ओर जहाँ पश्चिम में मिथक का इतिहास ढूंढ़ने की मेहनत चल रही है, कि जहाँ हेनरिक स्केलिमैन जैसे व्यापारी (बिज़नेसमैन) हो रहे हैं जिन्हें बचपन से होमर के महाकाव्य इलियड की 'रियलिटी' में भरोसा रहा और जिसने अन्ततः ट्रॉय के अस्तित्व के पुरातात्विक प्रमाण ढूंढ़ निकाले, जिन्होंने उन इतिहासकारों का पर्दाफाश कर दिया जो क्रिश्चियनिटी में कन्वर्ट होने के पहले के ग्रीको-रोमन इतिहास को कवि-कल्पना और मिथक बताते नहीं थकते थे- वहाँ दूसरी ओर हमारे यहाँ ऐसे इतिहासकार हैं जो मूलतः फतवा जारी करने वाले इतिहासकार हैं। वैज्ञानिक साधनों और प्रविधिकी का ऐतिहासिक जिज्ञासाओं की सम्पूर्ति में इस्तेमाल करने वाले नहीं हैं।

●●●

जगदीश्वरं

सभी जगह ईश्वर। सर्व खल्विदं ब्रह्म। तुलसी जगदीश्वरं की उपाधि के साथ भारतीय विश्वास प्रणाली के एक बड़े आधार को उल्लिखित करते हैं। इस विश्वास प्रणाली ने प्राचीन समय से ही दुनियाभर को प्रभावित किया है। वर्जिल (70-19 ई.पू.) ने कहा : आकाश और पृथ्वी, जलमय मैदान, चंद्रमा का चमकता मंडल, सूर्य और सितारे सब उसके भीतर सक्रिय एक आत्मा (Spirit) से सशक्त होते हैं। विलियम वर्ड्सवर्थ ने कहा 'एक गति और एक आत्मा सभी चीज़ों को अंतःचालित करती है। मैंने एक उपस्थिति महसूस की है जिसका अधिवास सूर्यों के प्रकाश में है, गोल सिन्धु और जीवंत वायु में, नीले आकाश में और आदमी के मन में : एक गति और एक आत्मा जो सभी चीज़ों में प्रवहमान है' (टिंटर्न एबी)। जोहानन वोल्फ गैंग वॉन गोएथे (1749-1832) ने कहा कि 'दिव्य शक्ति सर्वत्र व्याप्त है।' भगवान संसार को बाहर से नहीं भीतर से ड्राइव करता है, पूरे विश्व को अपने में आश्रय देता है।

योगवाशिष्ठ में भी ऐसा ही कहा गया था : परमात्मा न तो हमसे बहुत दूर है और न ही कठिनाई से प्राप्त होता है। वह अपनी देह के भीतर ही है और आत्मानंद के रूप में प्रत्यक्ष है- नह्येष दूरे नाभ्याशे नालभ्यो विषमे न च स्वान्दा भासरूपोडसो स्वदेहादेव लभ्यये (11 3/6/3।)

जॉन क्लेयर ने कहा कि जहाँ फूल खिलते हैं, ईश्वर है। फूल ईश्वर के हस्ताक्षर हैं। ट्रेनीयसन अल्फ्रेड (1809-1892) ने कहा- हम महसूस करते हैं हम कुछ नहीं हैं। सब कुछ तू है। तुझमें है। हम महसूस करते हैं कि हम कुछ हैं और वह कुछ भी तुझसे आया है। आस्कर वाइल्ड (1854-1900) ने कहा- हम उससे एक हो जाते हैं जिसे हम छूते और देखते हैं। एक विराट महान

जीवन धरती के विशाल हृदय भर में धड़कता है। We shall be part of the mighty universal whole/ And through all Aeons mix and mingle with cosmic soul. यहाँ तुलसी 'जगदीश्वरं' की बात करते हुए उस विचार प्रणाली से अलग होते हैं जो एक 'पर्सनल' या नृतत्वशास्त्रीय ईश्वर की कल्पना करती है और जो किन्हीं अर्थों में विश्व से पृथक है, उसे अतिक्रांत करता है। भगवान उनके लिए जगत में है- इस सृष्टि में वही धड़कता है। शोपेनहार ने कहा कि जगत को ईश्वर कहना उसकी व्याख्या करना नहीं है। यह तो हमारी भाषा को 'जगत' नामक शब्द के एक और अतिरिक्त पर्याय से समृद्ध करना है। तुलसी जगदीश्वरं के ज़रिए विवधता में एकता देखते हैं। एकता में दिव्यता को यानी किसी 'देव' की मौजूदगी को नहीं बल्कि पवित्रता और शुद्धता को। यह तुलसी की बहुवचनात्मकता (Pluralism) है। लेकिन है शुद्धतः सनातनी- ईश्वरः सर्वभूतानां, हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति, कि हे अर्जुन! ईश्वर सबके हृदय में निवास करता है। 'समोऽहं सर्वभूतेषुं' गीता में कृष्ण ने कहा। ऋग्वेद का ऋषि भी यही कहता था- 'तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' कि उस परमात्मा में ही सम्पूर्ण लोक स्थित है।

पॉल हैरीसन इन दिनों वैज्ञानिक सर्वदेववाद (साइंटिफिक पैंथीज़्म) की बात करते हुए कह रहे हैं कि ईश्वर जगत का ही रूपक (मेटाफर) है। वे जगत मात्र में ही सारी दिव्यताएँ देख लेते हैं। उनका कहना है कि यह विश्व डिज़ाइन नहीं किया गया, यह स्व-संगठनकारी (सेल्फ ऑर्गनाइज़िंग) है। जीव एक-दूसरे को डिज़ाइन करते हैं और पर्यावरण को भी। डिज़ाइन प्राणियों के समुदायों की संक्रिया है। पदार्थ लगातार गति (Flux) में है और उसकी अतःक्रियाएँ चलती रहती हैं। लेकिन तुलसी जो 'सीया राममय सब जग जानी' या 'ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी/सत चेतन घन आनंद रासी' की बात करते हैं, वे पदार्थ के इतने बड़े प्रेमी नहीं हैं। क्या कभी देखा गया है कि कोई चीज़ स्वयं का ही कारण हो क्योंकि तब उसे अपने से ही पहले होना होगा जो सम्भव नहीं है। तुलसी का जगत में ईश्वर देखना ओल्ड टेस्टामेंट की उस व्यवस्था से काफ़ी भिन्न है जहां भगवान ने आदम और ईव को पृथ्वी सौंप दी ताकि वे उसमें से हर चीज़ का इस्तेमाल कर सकें। इस व्यवस्था से तो ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रकृति (जगत) के अपने आप में कोई अधिकार नहीं है, वह सिर्फ़ मनुष्यों के उपभोग के लिए है। तुलसी के लिए तो जगत में ईश्वर का होना-सृष्टि का स्वयं में एक मन्दिर होना है। प्रदूषण उस मन्दिर को अपवित्र करता है। हम इस जगत में निर्वासित होकर नहीं पड़े हैं। यह हमारा घर है। यदि हम अपनी कल्पना से यह कृत्रिम अड़ंगा खड़ा कर लेते हैं कि हमारा वास्तविक घर यह नहीं है, बल्कि मृत्यु के पार किसी दूसरी जगह है तो हम 'जगदीश्वरं' के सिद्धांत के कहीं आसपास भी नहीं हैं। 'जगदीश्वरं' का तर्क प्रकृति और खगोल के उत्सव का तर्क है। इस जगत सर्वस्व से एकात्म होना ईश्वर से मिलना है। ईश्वर को घटघटवासी, जगदात्मा, जगन्नाथ, त्रिभुवनेश्वर, त्रिलोकीश्वर, विश्वंकर, विश्वंभर, विश्वकर्मा, विश्वनाथ, विश्वपाल, विश्वात्मा, विश्वाधिप, विश्वेश्वर, सर्वांतर्यामी, सर्वेश्वर कहकर हम इसी बात की स्वीकारोक्ति करते हैं कि ईश्वर से एकाकार होने का अर्थ विश्व या जगत से एकाकार होना है, उस चिन्मयी शक्ति से सायुज्य जो इस पदार्थ को अर्थ देती है। जब जगत और ईश्वर का ऐक्य है तो ईसाइयत या इस्लाम की तरह यहां ऐसा नहीं होगा कि भगवान आकाश को स्क्रोल की तरह एक दिन लपेट लेगा और पृथ्वी पर अग्निवर्षा करेगा जैसा कि जीसस, मुहम्मद या ओल्ड टेस्टामेंट के मसीहा हमें बताते हैं क्योंकि यदि जगत का यही सब कुछ होना है तो फिर इसकी सुरक्षा के लिए हम संघर्ष क्यों करें, तब तो पर्यावरण का विनाश कर हम भगवान के रास्ते में उसकी सहायता के लिए खड़े हो जाएंगे, लेकिन यदि जगत और ईश्वर सारूप्य हैं और यह सृष्टि उसी का चिद्विलास है तो हम उसकी लीला के इस मंच को अपावन क्यों करेंगे?

ऋग्वेद में कहा गया था कि एको विश्वस्य भुवनस्य राजा। वह सब लोकों का एकमात्र स्वामी है। तो आज

आदमी पृथ्वी नामक इस ग्रह का कितना ही नियंत्रण कर ले, वह इस ग्रह से बाहर ज़्यादा कुछ नियंत्रित नहीं करता। उसके बाहर अग जग बहुत बड़ा है जो हमसे अछूता है। हबल स्पेस टेलीस्कोप के चित्र देखकर पता लगता है। इस पृथ्वी पर भी हमारा नियंत्रण नहीं है क्योंकि प्रकृति की परिणतियों पर हमारा वश नहीं है। यदि ओज़ोन परत क्षतिग्रस्त हुई तो हमें उसे भोगना है। इसलिए 'भुवनस्य राजा' तो जगदीश्वरं ही है। प्रक्रिया-धर्मशास्त्री एंडरसन और डी. व्हाइट हाउस जगत को ईश्वर का शरीर कहते हैं- लेकिन ईश्वर के मन (माइंड) या पर्सनहुड को इस जगत से किसी तरह कुछ ज़्यादा या अतिरिक्त ही मानते हैं। 'समूचा जगत परमात्मा की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है' अरविंद ने कहा था। रवीन्द्र कहते थे कि सृष्टि की रचना करके ईश्वर स्वयं अपने को ही प्रकट करता है। यहाँ 'जगदीश्वरं' की बात कर तुलसी 'जगन्मिथ्या' के विचार से काफ़ी आगे बढ़ जाते हैं। सृष्टि परमात्मा का आत्मचरित्र है तब वह हमारी श्रद्धा का पात्र बनती है। गीता में कृष्ण कहते हैं : 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्' अर्थात् "जिस परमात्मा से संपूर्ण प्राणियों की प्रवृत्ति होती है और जिस परमेश्वर से यह सब संसार व्याप्त है।" उस परमात्मा या परमेश्वर की ओर तुलसी हमें खींचते हैं। 'जगदीश्वरं' अभिधान से तुलसी इन दोनों की अभिन्नता की ओर संकेत करते हैं। जगत को जब हम ईश्वर से व्याप्त देखते हैं तो फिर उसमें कुछ 'और' भी देखते हैं। एक प्रक्रिया-दार्शनिक चार्ल्स हार्ट्सहोर्न का कहना है कि चिड़िया के गीत की पूरी व्याख्या जैविक उत्तरजीविता के डार्विनियन फंक्शन या एक जोड़ा ढूँढ़ने की क्रिया से नहीं की जा सकती। यह मुमकिन है कि चिड़िया का गीत कभी-कभी उस प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति उसकी खुले दिल प्रतिक्रिया है जो यह चिड़िया महसूस करती है। वैदिक विचार था : ईशावास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत- इस सारे संसार के सभी पदार्थों में ईश्वर व्याप्त है अर्थात् सब कुछ ईश्वरमय है। क्या यही अल्बर्ट आईंस्टीन की 'जागतिक धार्मिक भावना' (कास्मिक रिलीज़स फीलिंग) थी? कबीर जब कहते थे कि 'जहँ-जहँ भगति कबीर की तहँ-तहँ राम निवास' तो क्या वे इसी तरह की अनुभूति नहीं करते थे?

विश्व में ईश्वर की आभा को देखने वाले उसके प्रति उपभोगवादी जीवनदृष्टि नहीं रख पाएँगे। न वे उसका बाज़ार बना पाएँगे। तब वे उसे सस्टेनेबल बनाएँगे- 'यह नीड़ मनोहर कृतियों का' तब उस स्थिति में नहीं आएगा कि बसंत खामोश हो जाए। तब ज़हरीले रसायनों से धरती की उर्वरा-शक्ति पर हमला न किया जाएगा। तब धरती जल-संग्रह के काम आएगी, जल-उत्खनन के नहीं। तब यह कोई यूरोपिया नहीं होगा, एक सच्चा अस्ति-भाव या आस्तिकता होगी।

सुरगुरुं

पूर्वी सभ्यताओं में गुरु का महत्व बहुत अधिक रहा है। भोले बाबा अपनी वेदान्त छंदावली के भाग 5 में लिखते हैं कि गुरु कीन कृपा भव त्रास गई/मिट भूख गई छुट प्यास गई। तुलसीदास भगवान राम को 'सुरगुरुं' कहते हैं, अपने समय के अति प्रचलित सद्‌गुरु शब्द का इस्तेमाल वे नहीं करते। कबीर-वाणी तो उनके समय में और ज्यादा ही गुंजित रही होगी। सतगुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपगार वाली वाणी। सतगुरु साँचा सूरिवाँ वाली वाणी। उनके राम की तरह कबीर का 'सतगुरु' भी धनुर्धर था और उसके बाण भी ज़बर्दस्त परिवर्तन और विपर्यय का परिदृश्य उपस्थित कर देते थे : 'गूँगा हुआ वाबला, बहरा हुआ कान/पाऊ थे पंगुल भया, सतगुर मार्या बान।' जिस तरह से 'सतगुरु' इंद्रियों से और एन्द्रिकता से मुक्त करता था, तुलसी के राम भी वही करते थे। वे भी सच्चे शूरवीर- साँचा सूरिवां थे। सुन्दरदास के सद्‌गुरु की तरह तुलसी के राम भी हैं : 'बहे जात संसार में सद्‌गुरु पकरे केश।' सुन्दरदास ने गुरु उपदेश ज्ञानाष्टक भी लिखा और गुरु कृपाष्टक भी जिसमें "सद्‌गुरु सुधा समुद्र है/सुधामई हैं नैन/नष शिष सुधा स्वरूप पुनि, सुधा सु बरषत बैन" जैसा प्रसिद्ध दोहा है। सद्‌गुरु और सुरगुरु दोनों ही अमृत स्वरूप हैं। तुलसी ने गुरु के पद-पद्‌म-पराग की प्रारम्भ में ही स्मृति करते हुए 'अमिअ मूरिमय चूरन चारू' की चर्चा भी की थी और रामनाम की वंदना में 'कालकूट फलु दीन्ह अमी को' के नाम प्रभाव का वर्णन किया था। गुरुनानक ने 'सतिगुर सिउ आलाई बेड़े डुबणि नाहि भउ' की समझाइश दी थी कि सद्‌गुरु को पुकारो तो तुम्हें तब भी बेड़ा डूबने का भय नहीं रहेगा जब बादल फट रहे हों, आँधी चल रही हो, बाढ़ के कारण लाखों लहरें उठ रही हों। भगवान राम को ऐसी ही मुसीबत में जब उनके भक्तों ने पुकारा तो वे दौड़े चले आए। नानक अकेले नहीं हैं। सुक्खासिंह भी गुरविलास में लिखते हैं : ताको

सतिगुर जानिये अद्‌भुत जाके बाक।' भगवान राम की वाणी इतनी आश्वस्ति देने वाली है कि बाणों के घावों से पीड़ित गिद्‌धराज जटायु तक को शान्ति मिलती है।

तो भी तुलसी राम को सद्‌गुरु न कहकर सुरगुरु क्यों कह रहे हैं? क्या सद्‌गुरु ब्रह्मर्षि जैसी कोई चीज़ है और सुरगुरु राजर्षि जैसी? क्या यह कोई वशिष्ठ-विश्वामित्र जैसा द्वन्द्व हो सकता है? ऐसे 'देव' वाली दिव्यता तो 'गुरु' में है ही। स्वयं तुलसी मानस के शुरू में ही कह देते हैं : 'श्री गुरु पद नख मनि मगन जोती/सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।' दिव्य सृष्टि तो है ही। यह दिव्य प्रकाश भी है, सहजोबाई यही कहती हैं :- 'सहजो गुरु दीपक दिया, रोम रोम उजियार/तीनों लोक दृष्टा भये, मिट्यो परम अंधियार।'

दरअसल स्कन्द पुराण की गुरु गीता हो या द्वयोपनिषद- दोनों में गुरु की अंधकार का नाश करने वाली भूमिका ही रेखांकित हुई है :-

गुकारस्त्वन्धकारः स्याद् रुकारस्तेज उच्यते
अज्ञानग्रासकं ब्रह्म गुरुदेव न संशयः।।

'गु' शब्द का अर्थ है अंधकार और 'रु' का अर्थ है तेज। अज्ञान का नाश करने वाला तेजरूप ब्रह्म गुरु ही है, इसमें संशय नहीं है। द्वयोपषिद् का कहना है :

गुशब्दस्त्वन्दकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते।।

कि 'गु' शब्द का अर्थ है अंधकार। और 'रु' का अर्थ है उसका 'निरोधक'। अंधकार का निरोध करने से -'गुरु' कहा जाता है। अंधकार और प्रकाश वाले इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ से कृष्णमूर्ति, जॉन ग्राइम्स, थामस मरे आदि की सहमति है किन्तु रीएंडर क्रेनेन्बोर्ग नामक एक डच धर्मशास्त्री इसे 'जनता का व्युत्पत्तिशास्त्र' बताते हुए कहता है कि गुरु शब्द का अंधकार और प्रकाश से कोई सम्बन्ध शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से तो नहीं है। 'जिन दीपक दीया हाथि' 'महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर', 'परम जोति प्रकाश', 'मिट्यो भरम अंधियार' जैसे गुरु प्रसंगों में चाहे कबीर हों, तुलसी हों या सहजोबाई- सभी ने अंधकार और प्रकाश के इस पट का इस्तेमाल किया है।

सिक्ख समाज को पता नहीं कभी इस दृष्टि से विशेषतः क्यों नहीं देखा गया कि यह समाज वस्तुतः इस मामले में पूरे विश्व में अनूठा है कि जब यहाँ गुरु-शिष्य परम्परा से सिर्फ़ किसी संगीत घराने या कला-विशेष का निर्माण नहीं हुआ बल्कि पूरी जीवन पद्धति का निर्माण हुआ, एक समाज का निर्माण हुआ। गुरुनानक-गुरु अंगदेव-गुरु अर्जुन देव-गुरु गोविन्द सिंह आदि दस गुरु थे, तो उनके शिष्य - सिक्ख- हुए। मूल बात शिक्षा की थी। गुरु ने ज्ञान ही नहीं, दिशा और प्रासंगिकता भी दी। सिक्ख को सिखाया गया। जीवन का कोई अंग नहीं, जीवन जीने का पूरा तौर तरीक़ा। सिर्फ़ व्यक्ति को ही नहीं, इस समाज ने किताब को भी गुरु का दर्ज़ा दिया। श्री गुरुग्रंथ साहिब क्या था?

गुरु कई प्रकार के हो सकते हैं। सूचक गुरु, वाचक गुरु, बोधक गुरु, निषिद्ध गुरु, विहित गुरु, कारणाख्य गुरु तथा परम् गुरु। परम् गुरु ही सद्‌गुरु है। कबीर के समय में भी नकली गुरु खूब चलते रहे होंगे। इसलिए उन्होंने खेद व्यक्त किया था : 'कबीर सतगुरु न मिल्या, रही अधूरी सीख/स्वांग जती का पहिरि करि, घरि घरि माँगे भीख।' ऐसे लोग आज भी हैं। बस इनका माँगने का स्तर कुछ ऊँचा हो गया है। कहाँ तो सतगुरु की अवधारणा में ही माँगने का निषेध था : 'मांगन मरन समान है मति कोई मांगे भीख/मांगन से मरणा भला यह सतगुरु की सीख।' अब मांगने की स्थिति ख़त्म है। अब तो उसका बाजार है। मैंने गुरु के नाम पर बाजारों के नाम रखे जाते तो देखे हैं। मसलन अमृतसर का गुरु बाजार लेकिन आधुनिक समय में तो गुरुडम का ही बाज़ार विकसित हो गया। इसमें हमारी मदद करने के लिए सारलो की गुरु रेटिंग सर्विस भी शुरू हो गई है जिसमें महान से लेकर बोगस तक गुरुओं का श्रेणीकरण है। ऐसे गुरु भी इस युग में हुए जिन्होंने तोक्यो उपमार्ग पर नर्व गैस ऑपरेशन के ज़रिए लोगों को मरवा डाला या उन्हें एकत्र आत्महत्या के लिए प्रेरित किया। दूसरी ओर आद्य शांति, स्वामी दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, रमन महर्षि, ओशो, जिद्दू कृष्णमूर्ति, जार्ज गुरजिएफ, निसर्गदत्त महाराज, बोधिधर्म, श्री समर्थ, सिद्ध धर्मेश्वर महाराज, एकहार्ट, नीमकरोली बाबा, मेहर बाबा, दलाई लामा (लामा शब्द का तिब्बती अर्थ ही 'गुरु' है),

स्वामी चिन्मयानंद, शिर्डी सांईबाबा, परमहंस योगानंद, बाबा हरिदास, श्री श्रीरविशंकर, श्री आत्मानंद आदि हैं जिन्हें उत्कृष्ट श्रेणी दी गई है। पॉल ब्रन्टन ने गुरु रेटिंग की पद्धति पहले पहल विकसित की थी। अब तो ट्रेन्डी आध्यात्मिक आश्रम बनने लगे हैं। स्पिरिचुअल लॉज ऑफ़ सक्सेस जैसी बातें चल रही हैं। दीपक चोपड़ा हैं जो एजलेस बॉडी टाइमलेस माइंड, क्रिएटिंग एफ्लुएँस, द सेवन स्पिरिचुअल लॉज ऑफ़ सक्सेस जैसी पच्चीसों पुस्तकों के ज़रिए वैदांतिक प्रज्ञा को आधुनिक मुहावरा उपलब्ध करा रहे हैं जिनमें उनकी अँग्रेज़ी वक्तृता की मदद भी है। श्री श्रीरविशंकर येल विश्वविद्यालय के दिव्यता स्कूल के परामर्शदात्री मंडल में शामिल हुए एकमात्र ग़ैर-पश्चिमी संत हैं। आज के गुरु अपनी किताबों, संगीत व अन्य सहवर्ती चीज़ों का लाखों का उद्योग चलाते हैं। उन्हें सेलेब्रिटी स्टेटस है, इसलिए उनका मीडिया प्रमोशन भी असाधारण है। ओपराह विन्फ्रे के टेलीविज़न शो के बाद के एक दिन में दीपक चोपड़ा की 'एजलेस बॉडी टाइमलेस माइंड' पुस्तक की एक लाख बीस हज़ार प्रतियाँ बिक गईं। विवेकानन्द ने श्री रामकृष्ण स्तोत्र में लिखा था : यामि गुरुशरणं भववैद्यम् अर्थात् भवरोग के लिए वैद्यस्वरूप गुरु की शरण में जाता हूं। और आज तो 'सोल-डॉक्टर्स' पैदा हो गए हैं। आज व्हाट इज़ रिअली रॉंग या हाउ टु बी हैप्पी जैसी पुस्तकें जिनमें भारतीय धार्मिक दर्शन और मनोवैज्ञानिक उपचार तकनीकों का आधुनिक अमेरिकी जीवन-संदर्भों और समस्याओं के बरक्स वर्णन होता है, बेस्टसेलर्स हैं। लोगों का कहना है कि यह 'डिज़ाइनर रिलीजन' का दौर है। नार्मन डी वीरगुड ने 'हाऊ टू बिकम अ मॉर्डन गुरु' पर एक पुस्तक भी लिख दी है जो सात घंटे से लेकर सात दिन तक की अवधि में आपको भी आधुनिक गुरु बनाती है। इसके कुछ फण्डे हैं। पहला, लोगों को सोचने दो कि तुम्हारे पास कुछ ऐसा है जो ख़रीदा जाने योग्य है लेकिन जताओ यह कि तुम बेच नहीं रहे हो। दूसरा, लोगों से माँग करो, न कि वे तुमसे माँग करें। लोगों को अच्छा लगता है यदि उनसे अपेक्षाएँ की जाएँ और वे उसका ही आदर करते हैं जो उन्हें किसी चुनौती की ओर अग्रसर करता है। एक गुरु के रूप में शिष्य पर माँग रखने का अधिकार तुम्हें पहले से ही है। यह पुस्तक बहुत मज़ेदार और दिलचस्प है लेकिन यह बोगस गुरुओं की भीड़ और बाढ़ को बढ़ाने के लिए अच्छा मसला है। इसी तरह से 'द स्लेट गाइड टु गुरुज़' है। यह गुरु-गाइड पुस्तक भी हमें गुरु खोज में मदद करती है। कुछ लोग इस गुरु-बाढ़ को संतुलन की संध्या के रूप में चित्रित करते हैं। औपनिवेशिक समय में ईसाई मिशनरियों ने जिस तरह की सांस्कृतिक अग्रता (कल्चरल लीड) हासिल की, अब उसी का हिसाब चुकाया जा रहा है। लेकिन इसकी अभद्रताएँ भी हैं। बिज़नेस 2.0 मैगज़ीन ने अभी स्वामियों और गुरुओं के लालच, वासना और अहमोन्माद (egomania) पर 'गुरुज़ बिहेविंग बैडली' नामक एक लेख प्रकाशित किया है। आज योग का अमेरिका में अरबों रुपए का कारोबार है और विक्रम चौधरी जैसे 'सितारों के गुरु' भी हैं जिन्होंने अपनी प्रिय योगमुद्राओं का पेटेन्ट कराकर उन्हें बेचने का काम शुरू कर दिया है। 1994 में मैसाचुसेट्स में अमृत देसाई नामक एक योगी ने ब्रह्मचर्य का पाठ पढ़ाते पढ़ाते तीन शिष्याओं से सम्बन्ध बना लिए। 1997 में एक महिला ने अपने 'स्वामी' के विरुद्ध कामुक आक्रमण का 1.9 मिलियन डॉलर का मुकदमा जीता। विक्रम चौधरी ने अमेरिका भर में 'उनके' योग की फ्रेंचाइज़ी दी है। यह पता नहीं कि वाणिज्य का कितना आध्यात्मिकीकरण हुआ, लेकिन यह तय है कि अध्यात्म का वाणिज्यीकरण ज़ोरों पर है। लोगों ने आम आदमी के आत्मविश्वास को एक मार्केटेबल कमोडिटी बना लिया है। बी.बी.सी. के प्रसिद्ध कार्यक्रम टाइम शिफ्ट में ब्रिटिश समाज पर गुरुओं के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए 'गुरुज़' नामक एक प्रसारण आया था। इसके बाद क्रिस्टोफर हिचेंस की एक डॉक्यूमेंट्री भी आई : 'भगवान श्री रजनीश, द गॉड दैट फ्लेड'। इसमें रजनीश को पूर्वी गुरुओं में सबसे 'कुख्यात' कहा गया। इसमें संदेह नहीं कि बी.बी.सी. और अमेरिकी निर्देशक को रजनीश को समझने में बरसों लगेंगे, इसमें भी संदेह नहीं कि अमेरिकी सरकार से रजनीश की टकराहट के सत्य को लिखने का साहस और ईमानदारी कोई पश्चिमी लेखक कभी बटोर नहीं पाएगा, इसमें भी संदेह नहीं कि

भारतीय गुरुओं के प्रति पश्चिमी पूर्वग्रह न केवल सघन हो रहे हैं बल्कि अब एकजुट भी हो रहे हैं- लेकिन यह भी सच है कि गुरुओं में से कुछ गुरुघंटाल भी हो गए हैं। डायना अल्सडैट और जो एल क्रेमर ने 'द गुरु पेपर्स : मास्क ऑफ़ अथारिटेरियन पॉवर' नामक पुस्तक में वैसे तो विभिन्न धर्मों पर टिप्पणियाँ कीं, लेकिन सबसे ज़्यादा गुस्सा बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म के गुरुओं पर उतारा जिनका एकाधिकारवाद एकदेववादी धर्मों की तुलना में ज़्यादा ढँका छुपा रहता है लेकिन है इसी कारण से ज़्यादा घृणास्पद। इस पुस्तक के लेखक रहस्यवादी 'विज़न' और 'व्याख्याओं' में फ़र्क़ करते हैं। पहले से रूपांतरण होता है, दूसरे से नहीं। वे कहते हैं कि 'तत्वमसि' का 3000 साल पुराना सिद्धांत और प्रयोग पूरी तरह असफल हुआ। आदमी आज भी उतना ही स्वार्थी और बँटा हुआ है। यह 'ऐक्य' का धर्मशास्त्र उस भारत में जन्मा जो दुनिया की सबसे ज़्यादा बँटी हुई, विभाजित संस्कृति है। समर्पण के ज़रिए ही मुक्ति होगी; ऐसा मानना विरोधाभासी ही नहीं है, आर्वेलियन है। उन्हें पूर्वी धर्मों से विशेष नफ़रत है और उन्हें इस पर आश्चर्य है कि क्यों हम उन्हें जागतिक सत्य में प्रवेश का एक पवित्र और विशिष्ट प्रवेश-पथ मानते हैं। वे तो मात्र 'आदिम पितृसत्तात्मक समाज हैं' जिनमें कठोर सेक्स भूमिकाएँ और मानसिकताएँ नियत थीं। गुरु अपने को न केवल अध्यात्म बल्कि हर मामले में ज्ञाता मानने लगते हैं और एकाधिकारवादी हो जाते हैं। 'द गुरु पेपर्स' पढ़ना पूर्वग्रह के पथ देखना ही नहीं है। वह यह देखना भी है कि एकाधिकारवाद के नाम पर गुरुहुड का विरोध करने वाले स्वयं कितने एकाधिकारवादी तरीके से अतीत को और पूर्व को ख़ारिज़ कर रहे हैं। इन्हें भारत विभाजित तो दिखाई दिया लेकिन भारत की सहस्त्राब्दियों से चली आई एकता नहीं दिखी। इन्हें यह दिखा कि कैसे एक धर्म के होने के बावजूद पचासों ईसाई देश अलग-अलग हैं, कैसे एक धर्म के होने के बावजूद दुनिया में 52 मुस्लिम देश हैं, लेकिन हिन्दुत्व राजनीतिक रूप से अप्रासंगिक होने के बावजूद इतने बड़े भारत को जोड़े हुए है। पूर्वी धर्मों से कई गुना ज़्यादा पितृसत्तात्मकता तो उन ग्रीको-रोमन समाजों में थी जिनमें स्त्री के भीतर आत्मा का होना ही नहीं माना जाता था और जिस योरोप में अभी 1681 तक स्त्री पुरुष एक मंच पर नृत्य तक साथ-साथ नहीं कर सकते थे। जहाँ तक गुरु के सामने समर्पण का सवाल है, द गुरु पेपर्स कृष्णमूर्ति के विचारों से बुरी तरह प्रभावित है। लेकिन इस पुस्तक को पढ़कर मेरे मन में प्रश्न यही घूमता रहा कि समर्पण (submission) का इतना खटराग इन लोगों ने क्यों लगा रखा है। क्या रास्ते को न जानने वाला रास्ता जानने वाले से पूछ ले तो वह समर्पण हो जाता है? ऋग्वेद में यही तो कहा गया था : 'अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्रात स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः' मार्ग को न जानने वाला अवश्य ही मार्ग को जानने वाले से पूछता है। वह क्षेत्रज्ञ विद्वान से शिक्षित होकर उत्तम मार्ग को प्राप्त करता है। वैसे यदि किसी बाहरी गुरु से इंकार है तो भागवत् की सलाह है : आत्मनो गुरुरात्मैव। अपना गुरु स्वयं प्राणी ही होता है। लेकिन कबीर जब सद्‌गुरु की चर्चा कर रहे थे उनका ध्यान ऋग्वेद की इस राह वाली बात पर ही था : चलौ चलौ सबको कहै, मोहि अँदेसा और/साहिब सूँ पर्चा नहीं, जाइगे किस ठौर। सहजोबाई के दिमाग में भी यही रास्ते वाली बात थी जब वे 'गुरु बिना मारग न चले' कह रही थी, नूर मुहम्मद जब अनुराग बाँसुरी लिख रहे थे तब वे भी इस मार्ग वाली बात को ले रहे थे 'गुरु बिन पंथ न पावै कोई'। इस पुस्तक के लेखकों को भ्रम इस बात को न समझने से हुआ कि गुरु ईसाई परम्परा के 'सन्स ऑफ़ गॉड' (ईश्वर के पुत्र) नहीं हैं बल्कि भारतीय मान्यता में तो हम सभी ईशपुत्र हैं। गुरु-शिष्य परम्परा पश्चिम में गुलामी और अधिनायकवाद पैदा करती रही होगी किन्तु भारत में तो सृजन का मंच बनी। संगीत में और नृत्य में। सुर के गुरु रहे आए और उन्होंने कितने लोगों को सुर साधना सिखाई और कितनों को सुर से सुर मिलाना और कितनों को सुर के अनुसार भाव अनुभाव पद संचालन करना सिखाया।

इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी गुरु सच्चे होंगे। उपनिषद्‌काल से नक्काल और मक्कार गुरुओं के प्रति सावधान किया जाता रहा है। 'अँधे अँधा ठेल्या' की स्थिति बताई जाती रही है। कुलावर्ण तंत्र वित्तापहारक

गुरुओं का बहुतायत में होना बता रहा है। डॉ. डेविड सी. लीन अपनी पुस्तक में गुरुओं के बारे में 7 बिन्दुओं की एक चेक लिस्ट देते हैं। पुस्तक का नाम है : एक्सपोज़िंग कल्ट्स। एन्थनी स्टोर की पुस्तक 'फीट ऑफ़ क्ले : अ स्टडी ऑफ़ गुरुज़' में एक चेक लिस्ट दी गई है। स्टोर गुरु शब्द का इस्तेमाल जीसस, मुहम्मद, बुद्ध, गुर्जिएफ, रूडोल्फ स्टीनर, कार्ल युंग, सिग्मंड फ्रायड, जिम जोन्स और डेविड कोरेश जैसी विविधता के व्यक्तियों के लिए करता है। पर इनके लिए प्रॉफेट शब्द के इस्तेमाल से वह बचता है। कर्मा कोला पुस्तक में एक जर्मन अर्थशास्त्री लेखिका गीता मेहता से कहता है कि मेरे विचार से गुरुओं के लिए क्वालिटी कंट्रोल प्रवर्तित किया जाना चाहिए। फ्रांस में तो गुरु नकारात्मक अर्थ वाला शब्द बन गया है।

पर सवाल यह है कि बिशपों और प्रीस्ट के खिलाफ़ यह आक्रामकता नहीं है। भारत में भी वे होली फादर का स्टेटस प्राप्त किए हुए हैं। जीसस के द्वारा ब्रेड्स को मल्टीप्लाई करने पर हँसी नहीं उड़ाई जाती। सही है। उड़ाना भी नहीं चाहिए। लेकिन साईं बाबा की चमत्कारिक शक्तियों पर इंडिया टुडे का आक्रामक अंक आ जाता है और मखौल उड़ाने को बीबीसी की डाक्यूमेंट्री बन जाती है। एक सन ऑफ़ गॉड है तो दूसरा गॉडमैन! डेकन हेरल्ड श्री श्रीरविशंकर को 'गॉडमैन' कहता है, इंडियन एक्सप्रेस उन्हें 'गुरु ऑफ़ द रिच' कहता है जबकि उनके ग्राम विद्यालय इतने अच्छे चल रहे हैं कि वहाँ पढ़ने वाले बच्चों की परीक्षाओं में 95 प्रतिशत की सफलता दर है, कर्नाटक के सबसे भीतरी गाँवों के पारों में यहाँ तक कि नक्सली बस्ती तक में उनके प्रकल्प संचालित हैं। उनकी सुदर्शन क्रिया कैलीफोर्निया के कारपोरेट कार्यालयों से लेकर तिहाड़ जेल के कैदियों तक चलती है।

इस सन्दर्भ में 'सुरगुरु' की याद एक ऐसी याद है जो इस दुनिया के पार्थिव आकर्षणों से कहीं ऊपर सच्चे देवत्व का साक्षात्कार कराने वाला है। भारत में गुरुकुल ही नहीं रहे हैं बल्कि वेदान्त, योग, तंत्र और भक्ति के बीच से बहती हुई गुरुओं की एक धारा भी रही है। मोक्ष के लिए एक जीवित गुरु का होना जो शिष्य को जीवन्मुक्त करे। गुरु को ईश्वर-सम या ईश्वर से भी पेश्तर माना गया है। सहजोबाई ने तो यहाँ तक कहा -

राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ
गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ
हरि ने जन्म दिया जग माहीं
गुरु ने आवागमन छुटाहीं
हरि ने पाँच चोर दिए साथा
गुरु ने लई छुटाय अनाथा
हरि ने कर्म मर्म भरमायो
गुरु ने आतम रूप लखायो
चरनदास पर तन मन वारूँ
गुरु न तजूँ हरि को तज डारूँ

गुरु के प्रति मध्यकालीन साहित्य में ऐसी बहुत सी उक्तियाँ हैं, लेकिन सहजोबाई की ये पंक्तियाँ न केवल गुरु के प्राधान्य को बताती हैं बल्कि ईश्वर के प्रति सहजोबाई के आत्मविश्वास को भी। इन्हीं सब चीज़ों का नतीजा है पारम्परिक भारतीय परिवार में उस वयस्क व्यक्ति को हीनता की नज़र से देखा जाता है जिसके गुरु न हो। गुरु प्रवृत्ति से होता है, शिक्षक वृत्ति (वेतन) से। गुरु दीक्षा देता है, शिक्षक शिक्षा देता है। उपनिषद् गुरु-शिष्य परम्परा का ही परिणाम प्रतीत होते हैं क्योंकि वे गुरु के पास बैठकर प्राप्त की गई दीक्षा का नतीजा थे। गुरु दक्षिणा की अवधारणा भारतीय मानस में बद्धमूल है। गुरु से प्राप्त ज्ञान हमेशा किसी तरह से संवाद पर आधारित नहीं होता। कई बार वह शक्तिपात होता है। प्रसिद्ध भारत शास्त्री जार्ज फ्यूरस्टीन ने कहा कि गुरुओं का जो दैवीकरण हो रहा था, उसे प्रतिसंतुलित करने के प्रयोजन से कुछ हिन्दू सम्प्रदायों ने यह कहना शुरू किया कि वास्तविक गुरु भावातीत आत्म है। फिर भी सच यह है कि गुरु पूजा चलती रही। गुरु पूर्णिमा मनाई जाती रही। हिन्दू साप्ताहिकी में गुरुवार के दिन को विष्णु का दिन माना भी जाता रहा।

देवताओं के गुरु के रूप में यदि इस शब्द की व्याख्या की जाती है तो क्या इसका अर्थ यह है कि भगवान राम को बृहस्पति की भूमिका सौंपी जा रही है।

बृहस्पति हमारे शास्त्रों में देवताओं के गुरु हैं वैसे ही जैसे दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य हैं। देवताओं के गुरु होने से बृहस्पति इस स्थिति में पहुँचे कि गुरु नाम ही उन पर रूढ़ हो गया 'देवानां च ऋषिणां च गुरुं कांचन सन्निभम्/ बुद्धिभूतं त्रिलोकेशं तं नमामि बृहस्पतिम्।' लेकिन सुरगुरु के रूप में तुलसी के राम को बृहस्पति की तरह नौ ग्रहों में से एक नहीं बनाना चाह रहे होंगे। ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजस इन छः विशेषताओं से सम्पन्न विष्णु देवताओं में श्रेष्ठ हैं। देवताओं में श्रेष्ठ (सुरगुरु) होने की बात, कुछ इतिहासकारों के अनुसार, हिन्दू धर्म में बाद में आई। लेकिन स्वयं ऋग्वेद में विष्णु का उल्लेख 93 बार हुआ है। वृत्र को मारने में इंद्र को उनकी मदद लेनी पड़ती है और तीन क़दमों वाली विचक्रमनस कथा के भी नायक हैं। त्रिविक्रम हैं, उरुक्रमा हैं। पुरुष सूक्त के पुरुष वहीं हैं। विश्वकर्मा सूक्त उन्हें देवाधिदेव के रूप में संदर्भित करता है। सुरगुरु की कल्पना भी ऋग्वैदिक (1.22.20) है : परमं पदं सदा पश्यन्ति सुराया :- सभी सुर (देवता) भगवान विष्णु के पैरों की ओर देखते हैं। ऐतरेय ब्रह्मण भी उन्हें देवाधिदेव के रूप में देखता है। चूँकि शिव और विष्णु का एकात्म है, इसलिए आश्चर्य नहीं कि 'वंदे शुम्भुमुमापतिं सुरगुरुं के रूप में शिव-वंदना भी की गई है।' सुंदर कांड भी रुद्रावतार हनुमान का कांड है। राम को कहा भी गया है-स एष पूर्वेषामपि गुरुः।

लेकिन सुरगुरु के इन पारम्परिक अर्थों के अलावा मुझे लगता है कि इसका एक सीधा सादा अर्थ भी है। पूर्व में हम गीर्वाण के प्रसंग में देवताओं को भले आदमियों के अर्थ में व्याख्यायित कर चुके हैं। लेकिन भले व्यक्तियों को भी प्रबोधन और निर्देशन की आवश्यकता होती है। वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में गुणों की समष्टि की संज्ञा देवता हैं। राम वही करते हैं। ये देवता ही हैं जो पृथ्वी पर रीछ और वानर के रूप में उतरे हैं। उनके अवतार से पूर्व की पृष्ठभूमि ही यही थी :-

गगन ब्रह्मबानी सुनि काना।
तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना।।
तब ब्रह्माँ धरनिहि समुझावा।
अभय भई भरोस जियँ आवा।।
निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह इहइ सिखाइ।
बानर तनु धरि धरि महि हरि पद सेवहु जाइ।।

और यह होता भी है :-

बनचर देह धरी छिति माहीं।
अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं।।
गिरि तरु नख आयुध सब बीरा।
हरि मारग चितवहिं मतिधीरा।।

ये भले लोग पृथ्वी पर यहाँ वहाँ फैल जाते हैं : गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी/रहे निज निज अनीक रुचि रूरी'। अभी 'निज निज' है क्योंकि अभी 'सुरगुरु' का साथ नहीं मिला है। भले लोगों की अच्छाइयाँ बिखरी हुई हैं। बुरे तो मिल बैठते हैं। चोर-चोर मौसेरे भाई की तरह। उनके बीच तो एका हो जाता है। उनकी गैंग और बैंड बन जाते हैं। माघ शिशुपाल वध में कहते हैं - सुसंहतैर्दधदपि धाम नीयते तिरस्कृतिं बहुभिरसंशयं परै':- 'तेजस्वी व्यक्ति भी संगठित होकर आए हुए बहुत से शत्रुओं द्वारा निश्चित रूप से तिरस्कृत कर दिया जाता है।' राम को यह सच्चाई पता है, सज्जन के एकांत स्वभाव की सच्चाई। यह स्थिति अंततः सज्जनों के अहित में ही कार्य करती है। अतः वे उस सज्जनता को एक दिशा, एक उद्देश्य, एक प्रयोजन देने का गुरुतर दायित्व निबाहते हैं। माना कि सज्जन को सत्ता में बैठे मदांध लोग तिनके के समान समझते हैं। लेकिन भगवान श्रीराम तिनकों से ऐसी रस्सी बनाना जानते हैं कि जो सत्ता के मदांध और मतवाले हाथी को बाँध सके। राम लोक संग्रह करते हैं। एकनाथ ने एकनाथी भागवत में कहा है : अभेद-भक्ति, वैराग्य और ज्ञान का स्वयं आचरण करके उसी मार्ग पर दूसरों को ले आने का नाम ही लोकसंग्रह है। राम के गुरुत्वाकर्षण का यही कारण है। वे भाषण या उपदेश से नहीं प्रबोधते, आचरण का आदर्श रखते हैं। राम के नाम पर कोई गीता नहीं है, वे अपने जिए हुए से शिक्षित और दीक्षित करते हैं, करते आए हैं।

मायामनुष्यं

ईश्वर मनुष्य बना, मनुष्य भी फिर से ईश्वर बनेगा

-विवेकानन्द

संभवतः तुलसी यहाँ गीता के सम्भवाम्यात्ममायया (गीता 416) को प्रतिध्वनित कर रहे हैं या स्वयं अपने द्वारा पूर्व में कहे गए 'निज इच्छा प्रभु अवतरइ' और 'माया मानुष रूपिणौ रघुबरौ' और 'मम इच्छा कह दीनदयाला' को। गीता के रामानुजकृत भाष्य में कहा गया : 'माया सततं वेत्ति प्राणिनां च शुभाशुभम्'। बालकांड में भगवान कहते हैं 'इच्छामय नरवेष सँवारे'। मायामनुष्यं में मनुष्य बनने के जिस कार्य का उल्लेख है उसके लिए ग्रीक में esa henanthropesis (the act of becoming man) शब्द है, लैटिन में inhumanatio और जर्मन में Menschwerdung शब्द है। माया भगवान की दासी के रूप में भी बालकांड के अंतर्गत तुलसी द्वारा वर्णित की गई है। यह भी कहा गया है कि 'हरिमाया मोहहिं मुनि ग्यानी' और यह भी कि 'सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल/अस बिचारि मन माहिं भजिअ महामाया पतिहिं, इसी माया से भगवान मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं। भगवान का अवतार लेना भारतीय चित्त की एक विशेषता है। उसकी विश्व में कहीं कोई तुलना नहीं है। अवतार को इन्कारनेशन से भ्रमित न करें। अवतार का यह सही अनुवाद नहीं है। इन्कारनेशन में बहुत कुछ मांसल है। इन्कारनेशन का शाब्दिक अर्थ है एनफ्लेशमेंट। मनुष्य की मज्जा में आना। लेकिन जीसस का इन्कारनेशन विष्णु के अवतार के समकक्ष नहीं है। वह एक अलग ही आयाम का आस्वाद है। जीसस भगवान के पुत्र का

इन्कारनेशन हैं, भगवान का नहीं। सलीब पर पहुंचने पर उनके मन में पहले एक ज़बर्दस्त शिकायत शेष रह जाती है : ओ, भगवान तूने मुझे छोड़ क्यों दिया? बाद में वे प्रकृतिस्थ होकर स्वयं को समर्पित करते हैं : दाई विल बी डन। लेकिन राम, कृष्ण परशुराम, बुद्ध, नृसिंह, वामन में से कोई भी यह शिकायत नहीं करता। क्योंकि स्वयं से स्वयं की क्या शिकायत। 'तेरी इच्छा पूरी हो' की बात ही क्या जब सब कुछ अपनी ही लीला, अपना ही भृकुटि विलास हो। इसलिए ये अवतार पूर्णकाम मरते हैं। पृथ्वी पर आने का अपना उद्देश्य पूरा करके। लेकिन वो सच्चिदानंद स्वरूप के साथ ही प्रकट होते हैं। इन्कारनेशन जैसे ईसाई ट्रिनिटी में से द्वितीय का है वैसे ही अवतार ब्रह्म, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति में से द्वितीय का है। दोनों में ही हालाँकि जन्म को लेकर असाधारणता है। राम दशरथ के चौथपन में पुत्रकामेष्टि यज्ञ के बाद 'चरु' या 'हवि' के देने के बाद हुए। तुलसी ने बालकांड में ये दो शब्द प्रयुक्त किए हैं, पायस या खीर जैसा कोई शब्द उन्होंने प्रयुक्त नहीं किया। खीर खाने से पुत्रोत्पत्ति हो जाएगी, ऐसी अवैज्ञानिक धारणा तुलसी फैलाना नहीं चाहते थे। हवि का विभाजन वे बतलाते हैं, लेकिन वे यह नहीं कहते कि रानियों ने इसे खाया। इसलिए तुलसी के वर्णन में विशेष अवैज्ञानिकता नहीं है। जबकि ईसामसीह 'वर्जिन मेरी' से हुए हैं। तुलसी की कथा रामजन्म के समय भजन में, कीर्तन में, कविता में बदल जाती है। दूसरी ओर ईसा का 'वर्जिन मेरी' से पैदा होना अपने आप में एक काव्य है जो कथा की तरह कहा गया है। कौशल्या आदि रानियों की कथा तो टेस्टामेंट में दी गई सारा (जेन. 17:17.19, 21:1.8), हान्ना (1 सैम. 1:5.11, 17.20) मनोह की पत्नी (जज. 13:2.24) और एलिज़ाबेथ (ल्यूक 1:7, 13.25, 57) आदि से मिलती है जो तब तक बाँझ होने या अधिक उम्र हो जाने के बाद भी ईश्वरीय कृपा से गर्भधारण कर लेती हैं और यह कोई विज्ञानातीत बात नहीं है। लेकिन जीसस का गर्भधारण एवं जन्म सर्वथा अद्वितीय है जिसमें किसी मानुषी पिता का कोई इन्वॉलमेंट नहीं। हालाँकि कुछ आधुनिक स्कॉलर हिब्रू शब्द 'आल्माह' का अर्थ सिर्फ़ एक 'अविवाहित स्त्री' या एक 'युवा कुमारी' भर से लगाते हैं लेकिन ईसा का कौमार्यजन्म (वर्जिन बर्थ) ईसाई विश्वास प्रणाली का एक प्रमुखतम स्तंभ है जिस पर कोई समझौता नहीं हो सकता। भारत में रामजन्म किस तरह हुआ, यह अवतार विषयक विश्वास प्रणाली का स्तंभ तो क्या, एक महत्वपूर्ण बिन्दु तक नहीं है। हालाँकि अपने पुरा पुरुषों को जन्म से ही असाधारण बना देने के चक्कर में विश्व के प्रायः सभी पौराणिकियों में उनके जन्म को ही असाधारण बना देने की कवि कल्पनाएं की गई हैं और लगता है कि दिव्यता की पूर्व शर्त यह रख दी गई है कि साधारण तरीक़े से पैदा होना बताना ही नहीं है। वर्जिन बर्थ की श्रद्धा इसलिए ज़रूरी समझी गई कि मौलिक पाप की सामान्य प्रक्रिया को शार्ट सर्किट किया जा सके। जीसस 'अनघं' उसी तरह से होते हैं। कौशल्यादिक रानियों का 'चरु' या 'हवि' टेस्ट ट्यूब बेबियों, कृत्रिम गर्भाधान, क्लोनिंग आदि के इस आधुनिक वैज्ञानिक युग में एक बहुत प्रारंभिक बात है लेकिन ईसामसीह के जन्म में शुक्र के बिना अंड में गर्भ का स्थापन सरासर चमत्कार है। मेरी के डीएनए का भी कितना इस्तेमाल है, नहीं कहा जा सकता। लेकिन यह चमत्कारिक गर्भधारण हमारी श्रद्धा का अंग होना ज़रूरी है क्योंकि उसके अभाव में मेरी की पवित्रता, प्रभु यीशु का 'अनघं' स्वरूप, बाइबिल का प्राधिकार सब खंडित हो जाता है। एक 'स्पिरिट' ने उसे ओवरशेडो कर लिया। आख़िरकार ईश्वर के पुत्र का पिता ईश्वर के सिवाय कौन हो सकता था? इसलिए एरिष्टाइड्स, आगस्टीन, एक्विनास, जस्टिन मार्टिर, काल्विन और लूथर आदि ने इसे ईसाई श्रद्धा का 'कार्डिनल आइटम' माना है। कहा जाता है : The how of the birth becomes believable when the who of the birth is taken into account. इसी कारण ग़लत नहीं लगता जब ईसाई विश्वास प्रणाली में एन इन्कारनेशन की बात न करके द इन्कारनेशन की बात करते हैं। किंतु अवतार की भारतीय मान्यता इससे अलग है। वहाँ एक नहीं दस

या पुराणों के अनुसार पच्चीस अवतार हैं। इसमें अपने बहुलतावाद पर फूलने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि द इन्कारनेशन के चलते नक्कालों की वहाँ नहीं चलती जबकि हमारे यहाँ द्वापर में ही एक नकली कृष्ण अवतार हो गया था और कलियुग में तो कल्कि अवतार होने का दावा करने वालों की कमी नहीं है। सैमुअल औन विओर (1917-1977) तक ने घोषित कर दिया था कि वह कल्कि और मैत्रेय बुद्ध का अवतार है। बहरहाल यीशु ग्रीक पौराणिकी के अर्द्ध देवता, अर्द्ध मनुष्य की तरह नहीं हैं। हेराक्लीज़ और पर्सियुज़ की तरह। बल्कि वे एक तरह के निर्वासना प्रजनन (असेक्सुअल रिप्रोडक्शन) का आसाधारण परिणाम हैं। वे वर्णसंकर नहीं हैं। वे 100% ईश्वर और 100% मानव हैं।

उधर राम भी मायामनुष्यं हैं। यहां विष्णु मनुष्य के रूप में अवतरित होते हैं। अवतार के लिए ज़रूरी नहीं कि वह मनुष्य के रूप में जन्म ले। मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह आदि 'मायामनुष्यं' नहीं हैं। अवतार में ईश्वर भौतिक रूप धारण करता है, इन्कारनेशन में वह मानवीय रूप ही धारण करता है। अवतार इस मनुष्य के रूप में है। परशुराम के आवेशावतार के बाद अब एक ऐसे विकास की आवश्यकता है जहाँ भावनात्मक परिपक्वताएँ हों। भावनात्मक गुणांक (इमोशनल कोशेंट) भी हमारे विकासक्रम का एक चेहरा है। लक्ष्मण-परशुराम की धनुषभंग प्रसंग में टक्कर आवेश से आवेश की टक्कर है। उसमें राम का हस्तक्षेप एक ऐसे व्यक्ति का हस्तक्षेप है जो भावनाओं को क़ाबू में रखना जानता है, जो संयत रहता है, जिसे आसानी से उत्तेजित नहीं किया जा सकता। यह धीरोदात्त नायक है। राम पहले अवतार हैं जो किसी दूसरे अवतार का अपने जीवनकाल में सामना करते हैं। राम के लिए यह ज़रूरी हुआ क्योंकि आवेश का युग तब ही प्रभावहीन होगा जब सौम्यता से वह प्रत्युत्तरित हो। रिस तन जरइ होइ बल हानी। 1983 में हावर्ड गाडर्नर ने इंटरपर्सनल और इन्ट्रापर्सनल इंटेलीजेंस के जो नए मानदंड दिए, राम अपने पारिवारिक और सामाजिक रिश्तों में क़दम-क़दम पर उनका परिचय देते हैं। राम अपनी न्यूरल हाइजैकिंग कभी न होने देंगे। इसलिए सुन्दरकांड में तुलसी ने उनके लिए शान्तं शब्द का प्रयोग सबसे पहले किया है। राम आत्म-प्रबंधन में माहिर हैं। यह उनकी भावनात्मक प्रज्ञा है। उनका स्ट्रेस मैनेजमेंट वास्तविक मानसिक निष्पादन (actual mental performance) से निर्गत होता है। राम के बाद एक जो कृष्णावतार आएगा वह आवेग को शान्ति में नहीं मुस्कान में बदल देगा। वह विषधर पर पैर धरकर नृत्य करेगा। हमारे प्रिंस चार्मिंग भावनात्मक साक्षरता का परिचय लगभग हमेशा ही देते हैं। सिवाय सीता अपहरण प्रसंग के। वह एक ऐसा बड़ा धक्का है जहाँ उनका संतुलन (poise) भी डगमगा जाता है। सीता के प्रति अत्यन्त गहरा प्रेम और भावनात्मक संकेन्द्रण की सघनता का यह परिणाम होना ही था। लेकिन धीरे-धीरे वहाँ भी राम अपने व्यक्तिगत घाव के सार्वजनिक अर्थ पहचानते हैं। अपने निजी घाव की परिणतियों को भी वे लोकोपकारी बना देते हैं। सीता की रिकवरी राम की भी रिकवरी तो है ही लेकिन सीता स्वयं जगज्जननी हैं, इसलिए उनकी रिकवरी के सार्वभौमिक प्रपोशंस भी हैं। राम अपने ज़ख़्म को भी अच्छा कर लेते हैं। क्योंकि वे अपने दुःख को पकने देते हैं। कितनी रातें गई होंगी, कितनी करवटें बदली होंगी राम ने। कैसी-कैसी आवाज़ों के पत्थर बरसते होंगे उनके एकांत में। कितने विचार, कुविचार, शंकाएँ, कुशंकाएँ आई गई होंगी। 'मैं एकमात्र थमा हुआ आवेग' वाली मुक्तिबोध की कविता याद है आपको। लेकिन राम आवेग के वेग को दिशा देना जानते थे : हद में रहे बग़ैर गुज़ारा न हो सका/पानी बिना किनारों के दरिया न हो सका। राम ने आवेग के तटबंध तैयार किए क्योंकि उन्हें आवेग से सेतु भी तैयार करना था। अपने अकेलेपन में गूँजती हुई आवाज़ों के उन पत्थरों को उन्होंने तराशा। उन पत्थरों में भी रगड़ हुई होगी। उस अंतर्द्वन्द्व से भी अग्नि पैदा हुई होगी। यदि उनका मन जला होगा तो होगा मगर उससे रोशनी भी मिली, रास्ता भी मिला : 'अपने आपसे अबके बाहर था/पहले पानी के मुँह में पत्थर था।' पानी के मुँह के हर पत्थर पर राम का नाम लिख गया। पत्थर पानी पर तैरने लगा। पत्थर अपना आपा, अपनी प्रकृति, अपना स्वभाव भूल गया।

'पत्थर के जिगर वालों ग़म में वो रवानी है/ख़ुद राह बना लेगा बहता हुआ पानी है।'

राम माया से जब मनुष्य बने थे और शिशु लीला करने लगे थे और जब उन्होंने 'रोदन ठाना' था, जब कौशल्या 'कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना/मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना' में व्यस्त थीं तब क्या पाप की छाया की भी कल्पना की जा सकती है? तुलसी ने उसे 'सिसु चरित पुनीत' कहा है। क्या कारण है कि कौशल्या को राम में और यशोदा को कृष्ण में उनके बचपन में विराट के दर्शन होते हैं? यह सिर्फ़ पूत के पाँव पालने में दिखना नहीं है बल्कि बच्चे में ब्रह्म का होना है। दूसरी ओर एक वह मान्यता है जहाँ बच्चा पैदा ही मौलिक पाप के साथ होता है।

शुद्ध जन्म या निर्दोष आरम्भ मनुष्य के लिए इस दूसरी विश्वास प्रणाली में सम्भव ही नहीं है क्योंकि यहाँ तो पाप में पड़ने के कारण मनुष्य आध्यात्मिक रूप से मृत है (ऐक. 2:1.5), पश्चाताप में भी असमर्थ (जेर. 13:23.2: पीट 1.13.14 2.2), भगवान को प्रसन्न नहीं कर सकता (राम 8:6.8), शैतान की शक्ति के मातहत है (2 कोर. 4:3.4:2 टिम 2:26 एक 26:17.18), अंधकार में वास करता है। (रद 1:45, 3:19.20), आध्यात्मिक रूप से बहरा और अंधा (आइसा. 6:9.10; ल्यूक 8.10), और आध्यात्मिक सत्य को समझने में या पाने में पूर्णतः असमर्थ है। प्रभु यीशु ही उसके उद्धारक हैं। उनके जीवन-मृत्यु और पुनर्जीवन के द्वारा ही 'पवित्र आत्मा' हमारी आँखें और कान खोलती है। वह माध्यम (mediator) इस संसार में आया ताकि हमें पाप के ग्लानिवाद और दंड से मुक्त कर सके, हमें अपने परिवार में स्थान दे सके और भगवान के सामने हमें निष्कलंक पेश कर सके। (एफ. 5:27) लेकिन इन्कारनेशन के विपरीत अवतार माध्यम नहीं है, वह साधन नहीं है। उत्तरकांड में राम कहते हैं 'मम प्रसाद नहिं साधन खेदा।' अवतार तो भक्तों के लिए एक स्वतः सम्पूर्ण साध्य है। तुलसी की दृष्टि जिस भारतीय मनीषा का प्रतिनिधित्व करती है वहाँ मनुष्य मात्र होने से, मनुष्य के रूप में शरीर धारण करने मात्र से पाप का प्रारम्भ नहीं हो जाता है। पाप अर्जन है कई बार पिछले जन्म के संचित कर्मों का। लेकिन पैदा होते ही मनुष्य पर आरोपों की बौछार नहीं है। दूसरे ईश्वर की खोज या जीवन के सच की खोज का कोई एक रास्ता नहीं है। ज्ञान और कर्म भी भक्ति के समानान्तर है। राम के अलावा दूसरे अवतार भी हैं, शिव और भवानी भी हैं। तुलसी यदि राम भक्ति, सगुण भक्ति की ओर अधिक आग्रह दिखाते हैं तो व्यावहारिकता के आधार पर। उसकी सुकरता और सरलता के कारण, 'कलयुग' में उसकी विशेष महत्ता के कारण। लेकिन वे भक्ति के वैविध्य और अध्यात्म के समृद्ध बाहुल्य को ख़ारिज नहीं करेंगे। कलिकाल में 'राम नाम अवलंबन एकू' कहने वाले तुलसी 'भनिति मोरि सिब कृपाँ बिभाती' भी कहते हैं। उनके राम भी 'निर्गुण सगुण विषम सम रूपं' हैं। देखा जाए तो प्रभु यीशु भी कहते हैं : आई एंड माई फादर आर वन। मैं और मेरे पिता एक हैं। उन्होंने कहा 'मैं ही अल्फा और ओमेगा हूँ, मैं ही आरंभ और अंत हूँ... जो इन पर विजय पाएगा वह सभी चीज़ों की विरासत पाएगा और मैं उसका ईश्वर हूँगा और वह मेरा पुत्र होगा।' (रोव. 21:6.7)। यहूदियों ने प्रभु पर इसीलिए पत्थर मारे थे कि वह मनुष्य होकर खुद को भगवान बताता है... because that thou, being a man, makest thyself God. (रद 10:33)। लेकिन इन्कारनेशन और अवतार का फ़र्क़ यदि किसी बिन्दु पर ख़त्म होता है तो तब ही जब यीशु को यह अनुभूति होती है कि वे ही आदि और अंत हैं। सन्त पॉल ने इसीलिए क्राइस्ट को 'इटर्नली ब्लेस्ड गॉड' कहा। उन्हें सभी चीज़ों के निर्माता अदृश्य भगवान की छवि कहा।' He is the image of the invisible God who greeted everything for in Him dwelleth all the fullness of the Godhead bodily उनके इमेनुअल नाम का शाब्दिक अर्थ ही है 'गॉड विद अस'। बाइबल में स्थान-स्थान पर यीशु को सर्वज्ञानी, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, शाश्वत, सर्वसृजेता जैसे विशेषण दिए गए

हैं। यहाँ वे ऐश्वर्य की सिद्धियों से युक्त दिखते हैं, हालाँकि पूरी बाइबिल में कहीं भी इन्कारनेशन शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

तुलसी राम को 'माया धनी' कहते हैं। ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया के रूप में अवतरण के वक़्त ही उनकी स्तुति होती है। निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार। कौशल्या बचपन में जब राम का विराट रूप देखती हैं तो वे यह भी देखती हैं कि सब प्रकार से बलवती माया भगवान के सामने अत्यन्त भयभीत होकर हाथ जोड़े खड़ी है : देखी माया सब विधि गाढ़ी/अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी। युद्ध में राक्षस बार-बार माया से भ्रमित करते हैं और राम माया को किंचित् अवकाश देने के बाद अपने पक्षधरों को निर्भ्रान्त करते हैं। माया बिगत भए सब हरखे बानर जूथ/प्रभु छन महँु माया सब काटी/रघुवीर एकहिं तीर कोपि निमेष महँु माया हरी। राम मायामनुष्यं हैं, लेकिन मायावी नहीं हैं। वे काकभुशुंडि को बताते हैं : मम माया सम्भव संसारा/जीव चराचर बिबिध प्रकारा। गरुड़ भी माया के इस प्रभुकृत रूप को न समझ पाने के कारण संभ्रम में फँसते हैं और स्वयं काकभुशुंडि भी। लेकिन ज्ञान होने पर काकभुशुंडि गरुड़ को समझाते हैं : 'माया बस्य जीव अभिमानी/ईश बस्य माया गुन गानी।' और यह भी 'पुनि रघुवीरहि भगति पिआरी/माया खलु नर्तकी बिचारी'। इसलिए अवतार यदि मनुष्य लीला करता है तो वह उसका निर्वाचन है। वह माया के पाश में नहीं है बल्कि माया का भी प्रयोक्ता है। माया के उस स्पैल को वह किसी सबक़ के लिए इस्तेमाल करता है। राम मेघनाद की तरह टुच्चे जादुई तमाशे नहीं करेंगे। 'देखि प्रताप मूढ़ खिसिआना/करै लाग माया विधिनाना/जिमि कोउ करै गरुड़ सैं खेला/ डरपावै गहि स्वल्प सपेला/'। शिवजी और ब्रह्माजी तक बड़े-छोटे सभी जिनकी अत्यन्त बलवान माया के वश में हैं, नीचबुद्धि निशाचर उनको अपनी माया दिखलाएँगे तो क्या परिणाम होगा : जासु प्रबल माया बस सिव बिरंचि बड़ छोट/ताहि दिखावइ निसिचर निज माया महि खोट। ईश्वर का तो एक ही बाण ऐसे टुच्चे जादुओं को ख़त्म कर देने के लिए पर्याप्त है : 'एक बान काटी सब माया।' इसी प्रसंग में तुलसी आगे कहते हैं : 'सदा स्वतंत्र एक भगवाना।' यहाँ तुलसी की उसी मायामनुष्यं के लिए प्रणति है। तुलसी 'प्राकृत जन गुनगाना' से चिढ़ते हैं लेकिन इस 'मायामनुष्यं' की स्तुति करने में उन्हें कोई उज्र नहीं है। राम की भौतिक ऊर्जा में जो ईश्वरीय अनुतत्व है, उसने तुलसी को क़लम उठाने पर मजबूर किया। तुलसी का माया मनुष्य दरअसल माया से मुक्त मनुष्य है। राम एक साधारण इंसान नहीं हैं। अंगद रावण के इसी भ्रम का खंडन करते हैं: रामु मनुज बोलत असि बानी/ गिरहिं न तब रसना अभिमानी। ईश्वर के मनुष्य होने का रहस्य बहुतों को समझ में नहीं आता। अलग-अलग लोगों ने इस पर अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ की हैं। एबिओनाइट्स ने क्राइस्ट के दिव्यत्व के सिद्धांत से इंकार कर दिया था। उन्हीं की तरह एल्कासाइट्स ने भी मसीहा को सिर्फ़ मनुष्य ही माना था। चौथी शती के एरियान विचारपंथियों ने ईसा को भगवान मानने से इंकार कर कहा कि वह पिता से अलग या भिन्न धातु anomoios से बने थे। पेट्रिपासिअन विचारपंथियों का कहना था कि भगवान एक दिव्य व्यक्ति है जो कभी पिता, कभी पुत्र और कभी पवित्र आत्मा की तरह अपने को प्रदर्शित करता है। नेस्टोशिअन विचारपंथी यीशु को गॉड मैन की जगह मैन कंट्रोल्ड बाइ गॉड (ईश्वर के द्वारा नियंत्रित आदमी) बताते थे। डोसेटिस्ट लोग तो इस सिद्धांत को लेकर आए कि यीशु की एक वास्तविक मानवीय देह थी ही नहीं, वे देहधारी प्रतीत भर होते थे। केनोटिसिस्ट ने अभी 19वीं शती में यह पंथ चलाया कि जब ईश्वर मनुष्य बना तो उसने अपने सब या कुछ दिव्य गुण एक तरफ़ रख दिए। एडाप्शनिस्ट ने कहा कि मसीहा एक आम आदमी की तरह पैदा हुआ। कुछ लोग काफ़ी लंबे समय से मानते आ रहे हैं कि एक व्यक्ति में दो सम्पूर्ण और स्वतंत्र स्वभावों की युति हुई- बिना मिश्रण और बिना परिवर्तन के। वह दिव्यत्व शीर्ष में भी सम्पूर्ण है और अपने मनुष्यत्व में भी। Truly God, and truly man. बाइबिल में जितनी जगह यीशु को 'ईश्वर का पुत्र' कहा

गया है उससे कम जगह उसे 'मनुष्य का पुत्र' नहीं कहा गया। जब ईश्वर और मनुष्य के दो स्वभावों या धातुओं की प्रभु यीशु के रूप में एकता हुई तो इस तरह से कि दोनों प्रकृतियों के विशिष्ट लक्षणों का संरक्षण (preservation) हुआ। उनमें दो संकल्प (wills) और दो इर्नजिआ (ऑपरेशंस) थे। हालाँकि इस सिद्धांत को पढ़कर मुझे आधुनिक मानव पर कुँवरनारायण की लिखी सर्वथा भिन्न प्रसंग की एक कविता याद आ जाती है : 'दो सत्य/दो संकल्प/दो आस्थाएँ/व्यक्ति में ही एक अप्रामाणिक व्यक्ति पैदा हो गया है।' चाल्सीडोनियन पंथ तो हमारे समय के सबसे प्रामाणिक व्यक्ति के बारे में यह कहता है। यह पंथ क्राइस्ट के 'मैं' वक्तव्यों में अपने प्रमाण ढूँढ़ता है। वे दिव्य थे तभी तो उन्होंने कहा : 'बिफोर अब्राहम वाज़ आई एम।' वे इंसान थे तभी तो उन्होंने कहा : मुझे प्यास लगी है। I thirst.

बहरहाल मनुष्य होकर ईश्वर यह सिद्ध करता है कि दिव्यता कोई अमूर्त चीज़ नहीं है। वह मनुष्य के रूप और प्रकृति में ठोस तरीके से प्रकट हो सकती है। ईश्वर मनुष्य से जेनेटिक तादात्म्य स्थापित करता है। वह भी रिश्तों के उन्हीं बंधनों से निकलता है। उसे भी अपने पिता की मृत्यु देखनी है और पत्नी का अपहरण। अपने जीवन को वह निरापद नहीं रखता। बचपन से ही संकटों को बीच उसकी ग्रोथ शुरू होती है। कल को मानवजाति ईश्वर को उलाहना नहीं दे सकती कि 'जाके पैर न फटी बिवाई।' मानव की पीर उसके लिए पराई पीर नहीं रह जाती। सीता-वियोग में राम आम मानव की तरह व्यथित होते हैं और सीता का पता लगाने के लिए अपनी दिव्यदृष्टि का सहारा न लेकर वानरों को खोजने की ज़िम्मेदारी देते हैं। उनके पास इससे दिव्यता का 'होना' (existence) अप्रमाणित नहीं होता। क्योंकि ईश्वरत्व का अस्तित्व एक चीज़ है, उसका प्रकटीकरण एक (manifestation) दूसरी चीज़। यद्यपि प्रभु जानत सब बाता/राजनीति राखत सुरत्राता। प्रकटीकरण राम का निर्वाचन है। वे कोशिश करते हैं, अधिकतम कोशिश कि एक साधारण मनुष्य की तरह काम चल सके। इसलिए नहीं कि कथा या काव्य में साधारणीकरण हो सके बल्कि इसलिए कि आम भक्त का, मनुष्य का उनसे आइडेन्टिफिकेशन हो सके। अवतार आदमी के सामने ईश्वर को उद्‌घाटित करते हैं। वे उसके सामने आचरण का आदर्श रखते हैं। वे बिहार के चुनावों की तरह आइडेन्टिटी पॉलिटिक्स नहीं खेलते, लेकिन हर मनुष्य की उसकी मौलिक पहचान और अस्मिता का ध्यान अवश्य कराते हैं। अंतरिक्ष के रहस्यों में, सितारों को ताकने में क्या उस मॉरल ला का पता लगाया जा सकता है जिसे धर्म कहते हैं? ईश्वर का सन्देश किसी किताब में नहीं है वह तो एक योग्यता से जिए हुए जीवन में है। अवतार ईश्वरत्व का ओपन डिस्प्ले है। राबर्ट ब्राउनिंग का कहना था : ईश्वर पूर्ण कवि है जो स्वयं अपनी रचनाओं का अभिनय करता है। God is the perfect poet who in His person acts His own creations. अवतार हनुमान जैसे वेद विशारद के लिए ही नहीं होता, वह केवट और निषाद के लिए भी होता है। वह उद्धव जैसे ज्ञानियों के लिए ही नहीं है, गोपियों और कुब्जा के लिए भी है। अवतार मनुष्य का तारनहार ही नहीं है, वह उसका मानक भी है। वह स्वयं अपने समय की तामसिक ताक़तों के विरुद्ध एक प्रतिध्रुव की तरह उपस्थित होता है और हमें भी सिखाता है कि मनुष्य में छुपे ईश्वर का साक्षात्कार करना हो तो इन नकारात्मक शक्तियों के विरुद्ध सक्रिय हो। राक्षस उनसे मारे जाते हैं जिनसे उन्हें कोई अंदेशा नहीं होता, जो उन्हें पिद्‌दी की तरह मसले जाने वाले लगते हैं। लेकिन जिन नर वानर को किसी गिनती, किसी लेखे में नहीं लिया जाता, एक बार उन्हें ईश्वर का साथ मिल जाए तो फिर वे ही पलट देते हैं उन्माद के बड़े से बड़े तंत्र को। अवतार सत्य के पक्ष में एक ध्रुवीकरण करता है। या तो आप सचाई के शिविर में हैं या रावण के। अवतार आपको इन्वाल्व करता है और आपको भी नैतिक निर्णय लेने की अवस्था के रूबरू खड़ा कर देता है। अवतार अधर्म के ख़िलाफ़ हमारी लड़ाई लड़ता है लेकिन यह लड़ाई हमारी भक्ति की भी परीक्षा है। मायामनुष्य

हमें जिस माया से मुक्त करता है, उस माया के विरुद्ध भक्ति ही सक्रिय होती है।

यह दिलचस्प है कि तुलनात्मक धर्मशास्त्र के एक विद्वान अवतार को ईसाइयत के बुनियादी 'सार' के ख़िलाफ़ मानते हैं। उनका कहना है कि 'जीसस का मुक्तिमूलक बलिदान हमारे पापों की एवज़ में ही हुआ। यदि हमें अपने पापों के परिणामों के लिए अगले जन्मों में खुद ही भुगतना पड़े और खुद के प्रयत्नों से मुक्ति पानी पड़े तो जीसस का बलिदान निरुपयोगी और एब्सर्ड हो जाता है। तब यह ईश्वर की ओर वापसी का एकमात्र रास्ता नहीं रह जाएगा बल्कि इतिहास की एक मूर्ख दुर्घटना मात्र होकर रह जाएगा। तब ईसाइयत हिन्दू भक्तियोग का एक रूप मात्र होकर रह जाएगी।' इस कारण इन जैसे लोग पुनर्जन्म से ही नहीं, अवतार की अवधारणा से भी कतराते हैं। यह कतराना इसलिए है कि एक निर्भरता में जी लेना आसान है, हम जो भी करें उसकी उज़रत उठाएँगे ईसा मसीह। हमारे प्रयत्नों से हमें मोक्ष नहीं मिलेगा, वह तो जीसस के पंथानुसरण से मिलेगा। जो लोग अवतारवाद को निष्क्रियता और जड़ता को बढ़ावा देने वाला मानते हैं, जो लोग उसे प्रतीक्षा और आशा के मनोविज्ञान में फंसाने वाला मानते हैं- ऐसे समस्त भले मानुसों को तर्क़ के इस मुहाने पर आमंत्रित किया जाता है। भारतीय विचार परम्परा वृहदारण्यक उपनिषद् के उस सिद्धान्त से चलती है : पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन- पुरुष पुण्यकर्म से पुण्यवान होता है और पापकर्म से पापी होता है। लेकिन ऊपर जीसस का जो अर्थान्वयन हम पढ़ते हैं वह मनुष्य को उसके कर्मों के लिए उत्तरदायी बनाने के स्थान पर उसे जीससावलंबी बनाता है। इसलिए अवतार पर विश्वास करने वाला भारत का औसत किसान सुबह ब्राह्ममुहूर्त से लेकर देर शाम तक लगातार परिश्रम करता है, वह शोषण और औपनिवेशन की जुगत नहीं जमाता कि जहाँ कोई दूसरा उसके लिए सलीब ढोए। वेदव्यास के अनुशासन पर्व की 'सर्वे कर्मवशावयम्'- हम सभी कर्म के अधीन हैं- पंक्ति का विश्वास उसे गोदान के होरी की तरह कर्मानुशासित बनाए रखता है। नारद-पुराण का यह आत्मविश्वास व्यर्थ नहीं था कि जो भारत वर्ष में जन्म लेकर पुण्यकर्मों से विमुख होता है, वह अमृत का कलश छोड़कर विष का पात्र अपनाता है।'

संप्राप्य भारते जन्म सुकर्मसु पराङ्मुखः।
पीयूष कलसं त्यक्तवा विषभाण्डं स मार्गति।।

इसलिए भारत में अद्भुत रूप से कर्मठ लोग हैं। वे उस विश्वास-पद्धति के नहीं हैं कि जहाँ in order to deliver the sinner from the necessary punishment, God has provided for him a substitute to die in his place. The Father appointed the Son as High Priest to intercede for them. Jesus died on the cross instead of his people, that they would not suffer eternal death in hell. He suffered the punishment that was properly and rightly theirs, therefore they are no longer liable to hell's punishment. भारत में अवतार पापों को उधार लेने के लिए नहीं आता, वह तो विनाशाय च दुष्कृताम् आता है। वह करुणा को भी वितरित करता है, लेकिन वह 'दैत्यं दाश्यते' और 'पौलस्त्यं जयते' भी आता है। तुलसी के शब्दों में 'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार' लेकिन वह उस भारतीय सैद्धान्तिकी को क्षतिग्रस्त नहीं करता जहाँ 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' की भावना है, जहाँ 'कर्मयोगो विशिष्यते' की स्वीकृति है, जहाँ 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' का आदर्श है। तुलसी झूठा आश्वासन नहीं देंगे। वे तो कहेंगे : करमप्रधान विश्व रचि राखा/जो जस करहि सो तस फल चाखा, यह 'यथा बीजं तथा निष्पत्तिः' (जैसा बीज वैसा फल) का चाणक्य सूत्र भारतीय मनीषा को काफ़ी लम्बे समय से प्रभावित करता आया है। कृपया देखिए 'यः कुरुते स भुंक्ते' की मान्यता, संयुक्त निकाय का 'यादिसं वपते बीजं तादिसं हरते फलं' वाला प्राकृत पर्याय, सूत्र कृतांग का 'जहाँ कडं कम्म, तहासि भारे' का घोष, धनपाल के भविसयत्त कहा का प्रश्न 'जो माली कोदों बोएगा, वह धान कहाँ से प्राप्त करेगा'- सु पायन्नवा कोद्दवा जत्त माली/कहं सी नरो पादए तत्थसाली।

अपभ्रंश की ही एक दूसरी रचना भावना संधि प्रकरण में यही कथन है : चणय विक्कंसि वंछंसि वर मुक्तिए (चने बेचते हो और बदले में सुन्दर मोती चाहते हो?)। कबीर का यही कहना था जब उन्होंने 'बोवै पेड़ बबूल का' का सिद्धान्त प्रसिद्ध किया। वहाँ पहली पंक्ति में ही वे 'कर्म' की उपयुक्तता पर सवाल करते हैं:- 'करता था तो क्यूँ रह्या, अब करि क्यूँ पछताय। पलटू साहिब तो जैसे ऊपर उद्धृत अँग्रेज़ी में प्रतिपादित मान्यता के एकदम उल्टे पड़ते हैं :- पलटू करनी और की नहीं और के माथ / अपनी-अपनी करनी अपने-अपने साथ।' वे संत पीटर की तरह ईसा के होने की यों व्याख्या नहीं करेंगे कि Who Himself bore our sins in His own body. सूरदास का कहना था : 'जैसे कर्म, लहौ फल तैसे'। लोकमानस में यह बात रच बस गई है। 'जैसी करनी वैसी भरनी' के रूप में। भारत में अवतार कर्म का एक आदर्श रखने आता है, आचरण का एक आयाम रखने, वह अन्याय के विरुद्ध पृथ्वीवासियों के संघर्ष में मदद करने आता है- मदद ही क्या, नेतृत्व करने। लेकिन वह नहीं भरमाएगा हमें हमारे कर्मों की फलश्रुति के बारे में। कहा जा सकता है कि कर्म के समीकरण में ईशकृपा का हस्तक्षेप होता है। तुलसी स्वयं ही कहते हैं कि 'गरुड़ सुमेर रेनु सम ताही/राम कृपा करि चितवा जाही। लेकिन यह कृपा का आयाम है। अवतार का आयाम दूसरा है। वह परावलम्बन के लिए नहीं, स्वोत्कर्ष के लिए है। विवेकानंद कहते थे : 'ईश्वर मनुष्य बना, मनुष्य भी कभी ईश्वर बनेगा।' आख़िरकार हम ईश्वर की ही खंडित दीप्ति हैं। अवतारों की ये जो जातीय स्मृतियाँ भारतीय मन में बस गई हैं, इन्होंने हमें निर्भर नहीं बनाया बल्कि ईश्वर को भी उपालंभ भेजने का साहस हमारे भीतर जगाया। रैदास ने कैसे मज़े से कहा : 'भगत हेत का का नहीं कीन्हा/हमरी बेर भए बलहीना।' मायामनुष्यं पृथ्वी पर आकर हमारी माया दूर करता है। 'अपनी खुदी ही पर्दा है दीदार के लिए/वरना कोई नक़ाब नहीं यार के लिए'। पृथ्वी तक आकर ईश्वर इस आवरण को थोड़ा झीना बनाता है। हमारे लिए वह थोड़ा सहजगम्य और सुबोध हो जाता है। फ़ारसी कवि हाफ़िज़ कहते हैं :-

मियाने आशिक़ो माशूक़ हेच हायल नेस्त।
तु खुद हिज़ाबे खुदी 'हाफ़िज़' अज़ म्यां बरख़ेज़।।

कि भगवान और भक्त के बीच में कोई बाधक नहीं है। बस है हाफ़िज़ तो तू स्वयं ही पर्दा है। अपनी ख़ुदी के पर्दे को हटा दे। यह पर्दा जितना प्रगाढ़ होता है, ईश्वर के, प्रकृति के वास्तविक तात्पर्य को पकड़ना उतना ही कठिन होता जाता है।

राम ही नहीं, अन्य सत्ताओं के मौलिक अर्थों और अभिप्रायों को भी जाने बिना लोग अपनी बुद्धि की सीमा को उस सत्ता की सीमा समझ लेते हैं। राम मनुष्य हैं। राम मनुष्य मात्र नहीं है। अंगद इन सत्ताओं के सतही अर्थ ही समझने वालों को मूर्ख कहते हैं। वे रावण को कहते हैं : राम मनुज कस रे सठ बंगा/धन्वी कामु नदी पुनि गंगा/पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा/अन्नदान अस रस पीयूषा/बैनतेय खग अहि सहसानन/चिंतामनि पुनि उपल दसानन/सुनु मतिमंद लोक बैकुंठा/लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा। कि क्यों रे दुष्ट मूर्ख! श्री रामचंद्रजी मनुष्य हैं? कामदेव भी क्या धनुर्धारी हैं? और गंगाजी क्या नदी हैं? कामधेनु क्या पशु है? और श्रीरघुनाथ जी की अखण्ड भक्ति क्या (और लाभों जैसा ही) लाभ है? इसी क्रम में अंगद हनुमान के बारे में भी रावण को सावधान करते हैं : सेन सहित तव मन मथि बन उजारि पुर जारि/कस रे सठ हनुमान कपि गयउ तो तव सुत मारि।। वे कहते हैं कि पहचान, हनुमान जी क्या सिर्फ़ वानर हैं?

प्रकट के भीतर अगोचर क्या है? व्यक्त के भीतर अव्यक्त क्या है? अभिधा के भीतर लक्षणा और व्यंजना क्या है? रूप के भीतर का रूपक क्या है? यह कौन से मेटाफर हैं जो रावण की नज़र में मर गए हैं? जिस संस्कृति ने ऐसे पैराबल तैयार किए थे उस संस्कृति को आज यदि इन्हें ही समझने में कठिनाई होती है तो कमोबेश उसकी हालत भी रावण की तरह ही होने वाली है। अंगद के बहाने तुलसी रावण को नहीं, हमें सतर्क करते हैं। रूपक एक इमेज का दूसरी पर अधिरोपण (सुपरइंपोज़ीशन) है। ये सब इमेज जितनी चाक्षुष हैं,

उतनी अवधारणात्मक भी। रावण इनके भीतर के स्कीमा को नहीं समझता, सिर्फ़ संरचना पर अटककर रह जाता है। यह एक गद्यात्मक मस्तिष्क की निशानी है। वह उस रूपक से संवेदना के रस को निकाल ही नहीं सकता। वह एक्सटेंशन में भटकता है, इन्टेंशन की परवाह किए बिना। रावण के लिए इन प्रतीकों के देवता कूच कर गए हैं। एक संस्कृति है जो इन रूपकों के सहारे जीती है। उसकी विचार प्रक्रिया इन्हीं से बनी है। इन सब में उसे एक आंतरिक संगति दिखती है, एक व्यवस्थापरकता (Systemacity)। इसके बाद एक हमारी आधुनिक संस्कृति है जो इसे मिथ कहती है। यह मिथ शब्द ग्रीक माइथोस से बना है जिसका अर्थ है कहानी। तो ये सब क्या कहानियाँ हुईं। क्या मिथक मिथ्या हैं? या कि उनका सच हमारी नज़रों से ओझल हो गया है? कि हमने माइथोस को लोगोस से भिड़ा दिया है? सत्य में छुपी कहानी या कहानी में छुपा सत्य, हमेशा उनके विरोधी रिश्ते नहीं हैं। प्रोफ़ेसर मैक्समूलर मिथकों को भाषा की बीमारी (disease of language) मानते थे। उन्हें ये अप्राशिक्षित कल्पना (Untutored imagination) का परिणाम लगते थे। रावण को भी उनकी तरह मिथक के कास्मिक मतलब नहीं समझ में आते। वह उन्हें फेस वेल्यू पर ही लेता है। प्रो. सी. डब्ल्यू. ल्युइस ने कहा कि मिथक किसी सिद्धांत मात्र को प्रकल्पनीय (imaginable) बनाते हैं। मिथक एक पर्वत है जिसमें से विभिन्न धाराएँ निकली हैं जो घाटी में पहुँचते पहुँचते सत्य होकर बहती है। रावण पर्वत को तो उठा लेता है लेकिन घाटियों की गहराइयों में नहीं जा पाता। वह राम के मर्म को नहीं समझता। हमारी सभ्यता भी क्रमशः इन मर्मों के उत्खनन और भेदन की गहराइयों में कमज़ोर होती चली जा रही है। ज़रूरत है इस मर्म के साथ अपने को एंगेज करने की। मिथ के मूल्य क्या हैं, यह पूछने की जगह पूछना चाहिए कि मिथ में मूल्य क्या है? इन्कारनेशन की कल्पना में बाइबिल ने कहा- द वर्ड वाज़ मेड फ्लेश। शब्द मांस बना दिया गया। पर सवाल यह है कि हम मांस को देखते रह जाते हैं, शब्द को नहीं। राम एक जीवनी नहीं हैं, एक क्रिया है और एक प्रभाव भी। राम का नर रूप उनकी बायोग्राफ़ी है, लेकिन राम की प्रभा अनंत को संबोधित करती है। राम की जैविक शारीरिक संरचना से आगे एक उनकी आत्मा है, एक उनका अध्यात्म। वह क्या है? मायामनुष्यं के रूप में राम उसी जिज्ञासा और शोध का विषय है। नील पीअर्ट ने टर्न द पेज नामक कविता में शिकायत की थी : Truth is after all a moving target/Hairs to split/And pieces that don't fit/How can anybody be enlightened/Truth is after all so poorly lit. यही कारण है कि सत्यं शिवं भगवान एक छवि का आलोक अवतार के रूप में फैलाते हैं। अवतार की तस्वीर सामने रखकर ज़िन्दगी को नेविगेट करना आम आदमी के लिए ज़्यादा आसान हो जाता है। अवतार दिन-प्रतिदिन के जीवन में दख़ल देता है। अवतार के संदर्भ ग्रंथ के पृष्ठ जब तब खुलते रहते हैं उनके लिए भी जो पढ़ना नहीं जानते। अवतार कुछ-कुछ वैसा ही करता है जो सिनेमेटिक इमेज करती है या छोटा पर्दा करता है। यानी विचार को रूप देता है। यह माया अपने आप में एक पर्दा है, एक स्क्रीन है भले ही धुएँ की हो, अवतार के ज़रिए इसे प्रतिस्थापित किया जाता है। अवतार एक सर्वोभयनिष्ठ विचार (कॉमन आयडिया) है जिसका मूर्त्तन एक छवि करती है। फ़र्क़ यही है कि प्रायः सिनेमा की छवि में अर्थ के इतने विश्व लोक नहीं खुलते जितने अवतार में खुलते हैं। सिनेमा या दूरदर्शन की छवि दर्शक की निष्क्रियता बढ़ाती है जबकि अवतार किसी भक्त की ही नहीं बल्कि उससे जुड़े पूरे समाज की रचनात्मक कल्पना को उत्तेजित करता है। सगुण का अपना एक विशेष 'मॉस नेचर' है। सगुण समूह को सूत्रबद्ध करता है।

●●●

हरिं

अहो चित्रमहो चित्रमहो चित्रमिदं द्विज।
हरिनाम्निस्थिते लोकः संसारे परिवर्तते।।

-नारदपुराण पूर्व भाग, प्रथम पाद

यह बड़े आश्चर्य की बात है, बड़ी अद्‌भुत बात है, बड़ी विचित्र बात है कि संसार में हरि का नाम रहते हुए भी लोग जन्म-मृत्यु रूप संसार में चक्कर काटते हैं। हरि शब्द के अनेक अर्थ हैं। हरिरिन्द्रो, हरिर्भानु... इत्यादि। क्या यहाँ 'रघुवर' शब्द के साहचर्य से 'हरि' श्रीरामजी के भक्त-कलेश-हरण की विशेषता इंगित है? क्लेश हरतिति हरिः। ब्रह्मानंद पुराण के अंतर्गत हरि शब्द की व्याख्या इस तरह है : विजाप्य भागवत तत्वम सिद् ज्ञानानंद विग्रह/हरत्याविधम तत्कार्यमतो हरीरीति स्मर्तः अर्थात् भगवान को हरि कहा जाता है क्योंकि वे अपने भक्तों को अपनी वास्तविक प्रकृति और निज आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान करा के उनके अज्ञान का हरण करते हैं। ग्रीक पौराणिकी में हरमीज नामक एक 'हरण करने वाला' देवता है जो चतुर, चालबाज़, चोर-देवता है और जो सब्डोस नामक एक जादुई छड़ी से सबको सुला या जगा देता है। हर कुल ईश (हरकुलिस) नामक एक अन्य देवता में भी 'हरि' की ध्वनि कहीं बजती है। हरमीज ज्युस का बेटा है। ये ज्युस क्या यदु का अपभ्रंश है? बहरहाल हरमीज का पुत्र आटोलिकस भी एक चोर-देवता है- ये चौर्यकर्म में माहिर होने पर भी बहुत मददगार स्वभाव के देवता हैं। क्लेप्टोथीज़्म नाम की एक विचारधारा तो ईश्वर को चोर मानती है। रैबन गौम्लियल नामक एक रब्बी की कथा चलती है कि एक सम्राट

ने उससे कहा : 'तुम्हारा भगवान चोर है क्योंकि यह लिखा गया है कि भगवान ने आदम के ऊपर नींद तारी की और उसकी पसली चुरा ली।' रब्बी की पुत्री ने कहा कि 'मुझे इस प्रश्न का उत्तर देने दें- कल रात डकैत मेरे घर में घुसे और चाँदी का बर्तन चुराकर ले गए लेकिन उसके बदले में सोने का बर्तन छोड़ गए।' बादशाह ने कहा 'काश ऐसे चोर हर रात आएँ।' पुत्री ने कहा कि 'यही आदम के साथ हुआ। ईश्वर ने उसकी पसली चुरा ली और उसकी जगह स्त्री रख दी।' दक्षिण अमेरिका के दक्षिण-मध्य भाग यानी पैरागुए आदि में ग्वारानी पौराणिकी में जाप्युसा की कथा आती है जो चोर-देवता है। लेकिन भारत में 'हरि' की जो अवधारणा है वह बहुत सकारात्मक है। एक समय था जब चैतन्य महाप्रभु ने अपने हरि-कीर्तन से पूरे देश को गुँजा दिया था। आधुनिक युग में पश्चिम में भी हरि-कीर्तन का उन्माद छाया था। हरि तो हमारी चिन्ताओं को चुराते ही हैं, हरिकीर्तन भी हमारी मनोव्याधियों का हरण करता है। प्रबोधानन्द ने चैतन्य चन्द्रामृतक में यही लिखा था : 'गौरा तनुर्विलोकचना मुदम तन्वन्हरिः पातु वः' अर्थात भगवान हरि की स्वर्णिम काया तुम सबकी रक्षा करे। इसलिए हरि की हमारी कल्पना चौर्यकर्म के बावज़ूद रक्षण की है। सार्वभौम भट्टाचार्य 'चैतन्य षट्कम' में कहते हैं कि 'विज्ञान चिरन्तन कालिपाप भीतम्/संवीक्ष्य गौरो हरि नाम मंत्रम्' कि विश्व के लोगों को कलियुग के पापों से भयभीत और निराश देख चैतन्य महाप्रभु ने हरि नाम का मंत्र दिया। 'लोका देखी पथे कहे बाला हरि हरि'। पद्मपुराण में हरे रामा हरे कृष्णा मंत्र को वेदों का निष्कर्ष और कलियुग के सारे कलुष-कल्मष को नष्ट करने वाला बताया गया है। जीवगोस्वामी के 'महामंत्रार्थ व्याख्या' में हरि शब्द की व्याख्या यों मिलती है कि कृष्ण सभी के चित्त को चुरा लेते हैं : 'सर्व चेता हरः कृष्णस्'। हरि की इस व्याख्या में अवतार के अपार चुंबकीय प्रभाव का संकेत है। रघुनाथदास गोस्वामी की 'श्री हरिनामार्थ रत्न दीपिका' में 'ततश्च हे हरे धैर्य लज्जा गुरु भयादिकम अपि हरसि' के रूप में हरि की व्याख्या है। गोपाल गुरु गोस्वामी ने 'हरे हे हरे मक् चित्तम हत्व भाव बंधनान मोक्ष्य' में कि 'हे हरि मेरा चित्त चुरा लो और मुझे भवबंधनों से मोक्ष दो' के रूप में हरि की व्याख्या की। ऐश्वर्यमयी की एक टीका में हरि के बाबत कुछ यों कहा गया : 'हरति त्रिविधं तापम जन्म कोटिस्तोदमवं/पापं च स्मार्ट यस्मत तस्मद धारिरीति स्मृतः' कि वह असंख्य जन्मों के तीन तरह के पापों को नष्ट करता है और हरता है और साथ ही उसे याद करने वाले भक्तों के शरीर, मन और शब्दों से सम्भव पाप-कर्मों को नष्ट करता है या हरता है। इसी से एकात्मकता, मेल, एक सूत्रीकरण और सुसंगति संभव होती है जब सब कुछ उसके ध्यान में लय हो जाए। अंग्रेज़ी की 'हरमनि' (harmony) शब्द उसी हरि की स्मृति से गुंजित है। हरमनिक का अर्थ भी 'अ फ्लूट लाइक साउंड' है, बाँसुरी जैसी आवाज़। कृष्ण की धुन जो ऐक्य और लय को संभव करती है। सभी का आश्रय स्थल। सभी की शरण है वो। इसी शरण में सारे पाप-ताप और क्लेश छूट जाते हैं। 'हरिर्हरति पापानि' या 'कथ्यते स हरिर्नित्यं भक्तानां क्लेशनाशनः' (महारामायण 52/92) इसी के आधार पर यह विश्वास भी व्यक्त हुआ होगा : जाति पांति पूछै ना कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।

हरि और हर की मूल धातु 'हृ' ही है जिसका अर्थ है हरने वाला, दूर करने वाला, ले जाने वाला। ईश्वर हमसे क्या हर ले जाएगा? हमारे पास दुःख, चिन्ता और अहंकार के अलावा है क्या? ईश्वर हमारा दुरित दूर करने के अलावा और क्या दूर करेगा? ईश्वर हमारा हृदय ले जाएगा? वह चिन्तापहारक है। वह हृदय का ताप हरता है, हड़पता नहीं डलहौजी की हड़प नीति की तरह। सुग्रीव की जगह सुग्रीव को, विभीषण की जगह विभीषण को। वह संकटहरण है, वह आपके बैंक बैलेंस का आहरण नहीं करेगा। वह वित्तापहारक नहीं है। ऐसा व्यक्ति जो अपने राज्य अभिषेक की पूर्व संध्या पर घर-बार छोड़ दे, जो बालि और रावण को हराकर भी उनकी सत्ता पर स्वयं काबिज़ न हो, ऐसे व्यक्ति को

मायावी स्वर्णमृग के पीछे भागते हुए क्यों बताया गया है? सेल्टिक मिथकों में भी ऐसे ही राजकुमार शिकारी की कथाएँ हैं जो मृग के द्वारा लुभाया जाकर ऐसे गहन वन प्रांतर में चला जाता है जहाँ वह पहले कभी नहीं आया। वहां पहुंचकर वह मृग किसी दूसरे रूप में बदल जाता है। 'मायामनुष्यं' को मायामृग ने छल दिया? तपस्वी राम स्वर्णमृग के पीछे भागेंगे? वे उसका रहस्य ज़रूर जानना चाहेंगे लेकिन वित्तापहरण के लिए नहीं। वे इसीलिए नायक के रूप में स्वीकृत हुए। सोने के पीछे वे नहीं भाग रहे हैं, एक स्वायत्त वन्य जीवन में सोना उनके किसी विनिमय के काम नहीं आता। लेकिन इस विचित्र मृग का कौतूहल अवश्य ही अदम्य है। आकर्षण स्वर्णमुद्रा का नहीं है, स्वर्णमृग का है। स्वर्ण का स्वभाव तो निक्षेप का है, गति का नहीं। स्वर्णमृग कुलांचे कैसे मार रहा है? स्वर्ण तो गाड़ा जाता है। मन का ताप और भटकन का शाप हरने वाले राम उस जिज्ञासा के पीछे जाएंगे, न कि स्वर्ण के पीछे। जिसके साथ स्वयं लक्ष्मी है, उसे स्वर्ण का मोह क्यों होगा? लेकिन यहां तो स्वयं लक्ष्मी प्रेरणा दे रही हैं उस स्वर्णमृग के वास्ते। उसके लिए जो स्वयं हरि है 'ततश्च है हरे मक्वेतना मृगिं आपि हरसिं'-यही कहा था न रघुनाथदास गोस्वामी ने अपनी 'श्रीहरिनामार्थ रत्न दीपिका' में तब हे हरि! तुम जो सिंह के समान हो मेरे मन के मृग का हरण कर लेते हो। राम शब्द जिस 'रम' धातु से बना है, उसका अर्थ तो ठहरना, रुकना, रमना, आराम करना होता है लेकिन राम का जीवन तो चरैवेति चरैवेति की कथा है। मृग के पीछे ही नहीं भटके वे, कितने कान्तार-प्रांतर पार किए उन्होंने। जिसे सहस्राब्दियों तक लोगों के मन और आत्मा में रमना था, उसको ज़िन्दगी में स्वयं ठौर न थी, ठिकाना न था। बात हिरण की नहीं है। गुजराती की उस कविता की है- हरिनो मारग छे शूरानो कि हरि का मार्ग शूरवीरों का है।

तुलसी ने बालकांड की शुरुआत में ही कह दिया था- वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिं। राम कहाने वाले भगवान हरि की मैं वंदना करता हूं। बालकांड में ही हरि को कलयुग के पापों को हरने वाले के रूप में याद किया गया है। श्री हरि के यश का गान करने का विचार तुलसी आगे भी प्रकट करते हैं : गावहिं हरि जस कलि मल हारी। तुलसीदास ने कवितावली में भी 'नाम हरे प्रहलाद विषाद पिता-भय-सांसति-सागरू सको' के द्वारा प्रहलाद के विषाद को हर लिये जाने और उनके पिता से होने वाले भय रूपी समुद्र को सुखाने की बात कही थी। बृहन्नारदीय पुराण (38/127) की परम्परा में 'हरेर्नाम-हरेर्नाम' है जिसमें इस नानाविध ताप से ग्रस्त कलयुग में हरिनाम जप को संसार सागर से पार होने का एकमात्र उत्तम सहारा बताया गया है। 'हरि अनंत हरि कथा अनंता' की धारणा को स्वीकार करने वाले तुलसी के हरि शब्द में ही अनंतता का प्रतिनिनाद गुंजित है।

रैदास कहते थे :- 'मैं अपनो मन हरि से जोर्‌यो/ हरि से जोरि सबन से जोर्‌यो।' मन का हरि से सायुज्य होना विश्व सायुज्य है। दुनिया मिल जाती है। इसलिए कबीर भी कहते थे-

सिर साटै सेविये, छाड़ि जीव की बाणि।
जे सिर दिया हरि मिलै, तब लग हाणि न जाणि।।

अहंता से मुक्ति विश्व में विलय है। विश्व को हरि की उपस्थिति से हराभरा देखना ही वास्तविक भक्ति है। भीखा साहब का कहना था : 'धन्य सो भाग जो हरि भजै ता सम तुलै ने कोइ। हरिभजन, हरि-उपस्थिति की ही बात नहीं है बात हरि-प्रेम की भी है : जग्य दान पत का किये जो हिये न हरि अनुराग' भीखा साहब ने कैसी स्पष्ट चुनौती दी है? गुरुनानक हरिभक्ति के ज़रिए प्राकृत या सहज के प्रति प्रेम सिखा रहे थे : 'नानक हरि की भगति न छोड़ऊ, सहजे होई सु होई।' परशुराम सागर में कहा है : 'अपना कीया दूर कर हरि का कीया देख।' यह विश्व ईश-कृति है।

शास्त्रों में इन्द्र, सूर्य और सिंह को भी हरि कहा गया है और विष्णु, कृष्ण और राम को भी। जीवन की हरीतिमा से जुड़े हुए हैं ये समस्त पर्याय। इन्द्र की वर्षा भी उस हरियाली के लिए उतनी ही ज़रूरी है जितनी

सूर्य की ऊष्मा जिससे फ़ोटोसिन्थेसिस संभव होती है। सिंह तो उस बायोस्फीयर का प्रतिसाद है ही। विष्णु तो साक्षात् जीवन है- राम और कृष्ण उन्हीं के रूप। उस हरीतिमा में हरि ही प्रत्यक्ष होते हैं। प्रकृति में उन्हीं की आभा फूट पड़ती है। राम का जीवन इसी हरित का चुनाव है। महलों के कृत्रिम वातावरण से निकलकर वे शाद्वल की शोभा तक पहुंचते हैं। भवन से वन तक उनकी यात्रा सजावट से सहज तक की यात्रा है, नुमाइश से निसर्ग तक। 14 साल तक प्रकृति का साहचर्य। प्रकृति जिसका एक नाम अदिति भी था। अदिति से ही देवत्व फलित होता है। हरि हर्षित करते हैं तो इसी शस्य श्यामलता से पाई शक्ति के आधार पर। उनका ऊर्जायन इसी हरियाली के बीच हुआ। एक वह समय था जब अरण्य में शिक्षा पाया बटुक दीक्षित होकर समाज में लौटता था। एक समय यह है कि समाज में शिक्षित होकर हमारा युवा समाज से ही कट जाता है। वन में बॉटनी ही नहीं सीखी जाती थी, वनस्पतिशास्त्र बल्कि बोधि और संबोधि के अन्य प्रकार भी उपलब्ध होते थे। राम, बुद्ध और महावीर तीनों प्रासाद की जगह प्रकृति को चुनते हैं। ऐसा करके वे दिए हुए और मिले हुए का उपभोग करने की जगह जीवन को एक एडवेंचर बनाते हैं। कुछ तो होगा कि जिसके कारण तुलसी को हरिप्रिया कहते हैं, वृक्ष को हरिद्रु। हरियाली तीज और हरियाली अमावस्या प्रकृति की पूजा के पर्व हैं, उनमें हरि को तो उपस्थित होना ही है। जब देवउठनी ग्यारस पर तुलसी की पूजा होती है और आँवला नवमी आदि कितने ही वृक्ष संबंधी त्योहार मनाए जाते हैं तो सभी में हरि ही झाँकते हुए प्रतीत होते हैं। कुछ तो होगा कि दूब को हरितालिका कहा गया। हल्दी को हरिद्रा, कदंब को हरिप्रिय, जवाकुसुम को हरिवल्लभा, पीपल को हरिवास, शाक-सब्ज़ी को हरितक, मृग को हरिण, रत्न को हरितोपल, कुशघास को हरिदर्भ और पत्तों में जीवन की तरह मौजूद क्लोरोफिल को हरतिल। पृथ्वी पर चलने वाली बीर बहूटी में हरि की स्मृति है जब उसे हरिहूति कहा गया। आकाश में चंद्रमा में उनकी झलक देखी गई जब उसे हरिणांक कहा गया। जब हक़ीक़त में हरिसिंगार लहलहाया तो उसमें वे थे। जब कल्पना को साकार करने वाले कल्पवृक्ष के नीचे बैठे तो याद आया कि वह तो हरिचंदन है। समुद्र की सुलभ मछली हरिपृष्ठा है तो नाग की दुर्लभ मणि हरिनग। विश्व में विष्णु को व्याप्त देखने वाली इस मानसिकता ने प्रकृति को प्रभु की सत्ता से चर्चित पाया तो जगह-जगह उनकी याद के दीपक जलाए। चरणदास जी की बानी से एक पंक्ति उद्धृत करूँ तो जो बूड़े हरिभक्ति में सोई उतरै पार।

पौधों में देवानुरक्ति का संकेत पौधों के नामकरण के माध्यम से हमारी संस्कृति ने दिया था। कदम्ब को हरिप्रिय या तुलसी को हरिप्रिया कहने के पीछे पौराणिक कथाएँ हैं लेकिन उनके पीछे वृक्ष और वन को उपभोक्तावादी दृष्टि की जगह एक श्रद्धा और आत्मीयता देने का भाव भी है। आम को शिववल्लभ कहने या देवदार को देवदारु कहने, पलाश को ब्रह्मद्रुम कहने और बबूल को ब्रह्मशल्य कहने, मौलसिरी को महापाशुपत कहने और सहजन को कृष्णबीज कहने, साल को देवधूप कहने और बरगद को शिवाह्वय कहने, कमल को विष्णुपद कहने और गुलदाउदी को शिववंती कहने, चमेली को स्वस्तिका कहने, सूरजमुखी को आदित्यभक्ता कहने और पीपल को देवसदन कहने वाली इस संस्कृति के बुनियादी अभिप्राय क्या थे? क्या ये पागल और बचकानी दुनिया थी या इसके पागलपन में भी एक 'मेथड' थी और इसके बचकानेपन में भी एक तजुर्बा था? सिर्फ़ पौधों को ये नाम देकर अपने पर्यावरण-प्रेम की पूर्ति करने का मक़सद नहीं था? जुगनू को इंद्रगोप और बीरबहूटी को इंद्रवधू कहने वाले ये संस्कार छोटे-छोटे कृमि-कीट को सम्मानित करते थे। पलटू साहब को 'हरि' पर यही विश्वास तो था : 'हरि को भजै सो बड़ा है जाति न पूछे कोय।' सूरदास को भी यही भान था : हरि, हरि, हरि सुमिरौ सब कोई/ऊँच नीच हरि गनत न दोई।। तो ये छोटे-छोटे कीड़े भी ईश्वर के नाम-संस्पर्श से अनुप्राणित थे। वे तुच्छ न थे। ईश्वर के रूपों में से थे। मनुष्यों से यह नाम-कल्पना पशुओं को जोड़ रही

थी। वह अंतर्निर्भरता और सिम्बाओसिस के वैज्ञानिक सिद्धांत की काव्याभिव्यक्ति थी। इसलिए इसने पृथ्वी का ही एक पर्याय हरिप्रिया रखा। प्रकृति और परमात्मा का यह युगल हमारी सैद्धांतिकी में निरंतर रहा। बावजूद इस अंतर के कि प्रकृति की परिणतियाँ होती हैं, परमात्मा का प्रसाद होता है।

आज हम आधुनिक लोग पृथ्वी के रहस्य को उघाड़ देने का दावा करते हैं- सॉल बेलो जिसे 'विश्वास की झाड़पोंछ' (House cleaning of belief) कहता है। लेकिन प्रकृति को इस तरह नंगा कर जिस उपभोक्तावाद को हमने पनपाया है वह अनंत का अपमान है। उसमें वर्तमान भविष्य को अधिकतम विपन्न कर रहा है, कि हम अपने नाती-पोतों के क़र्ज़दार बन रहे हैं। वहाँ टाइम की इटर्निटी से टकराहट है। प्रकृति में परमपुरुष की उपस्थिति के मायने एक सस्टेनेबल विकास के मायने थे कि बिना इस व्याप्ति के, बिना हरि की इस मौजूदगी के विश्व एक वंध्या भूमि है।

वंदेऽहं

वंदना में प्रशस्ति, पूजा और आराधना का भाव है। इसे पूजना, पापादृज्ञाना, अनुमोदना, अहयेसाना, बुधिचित्तात्पाद और परिणामाना के छः अनुत्तरा पूजा रूपों के अलावा बौद्धों में पूजा का एक रूप माना गया है- सर्वश्रेष्ठ रूप। नवधा भक्तिः अर्चन, आत्मनिवेदन, कीर्तन, दास्य, पादसेवन, श्रवण, सांख्य और स्मरण के साथ वंदन को भी शामिल करती है। वंदना श्रद्धा भी है। आजकल कई लोग इसे झुकने के अर्थों में ले रहे हैं और वंदे मातरम् के वंदे शब्द को लेकर एक अच्छी-ख़ासी बहस की शुरुआत हो गई है और इस शब्द में मूर्तिपूजा (ldolatory) भी ढूँढ़ ली गई है। तुलसी की कालजयी कृति में इसलिए यह शब्द आना ही था ताकि इस बहाने हम इस विवाद की जड़ तक पहुँच सकें। 'व्हाट द बाइबिल टीचेस' के 450वें अध्याय में एक सीधा-सा प्रश्न है। 'व्हाट इज़ वरशिप' उत्तर हैः Worship is the soul bowing itself in adoring contemplation before the object worshipped. To worship God is to bow before God in adoring contemplation of Himself. तो पूजा के साथ झुकने का भाव यहाँ से पैदा हुआ। फिलिपियांस (2:10-11) में कहा गया जीसस के नाम पर हर घुटने को झुकना चाहिए-

'आकाश में, पृथ्वी पर, पाताल में और हर ज़ुबाँ को मानना चाहिए कि जीसस क्राइस्ट लॉर्ड है।' तो झुकने की बात हमारे यहाँ न पूजा में थी, न वंदना में? दास्य भाव की भक्ति तो क्या हमारे यहां साख्य भाव की भक्ति भी चली है। मातृभाव, बालभाव किन-किन रूपों में हमारे यहाँ वंदना नहीं होती। वंदना में माधुर्य भाव भी हो सकता हैः अधरं मधुरं वचनं मधुरं और सेवकाई भी मधुर हो सकती। भक्ति इन स्पिरिट और इन ट्रुथ की बाइबिल शर्तों को पूरा करने वाली होनी चाहिए।

अहम् का समर्पण ज़रूरी है, इसलिए तुलसी के यहाँ ज़्यादा आगे बढ़कर यह शब्द आया है। वंदना में 'वेनिटी' नहीं चाहिए। यदि वो हृदय से न हो तो जीसस ने उसे 'वेन वरशिप' कहा है।

क्या 'वंदे' शब्द मूर्तिपूजा को बढ़ावा देता है, यह एक प्रश्न है और दूसरा यह कि क्या मूर्ति अपने आप में कोई ऐसी तिरस्करणीय चीज़ है कि सभ्यताओं ने उसे तोड़ने में सदियाँ ख़र्च कीं। 'वंदे' में जयोद्‌गार या जयघोष है : जैकारा। क्या वंदे शब्द को शब्दकोश में जय-जयकार के पर्याय के रूप में नहीं देखा गया? उसमें कहाँ मूर्तिपूजा हुई? दूसरे : 'वंदे' का एक अन्य शब्दकोशीय अर्थ है- नमन्, नमस्ते, नमामि, नमोनमः। कि सामने जुहार लगाना मूर्तिपूजा है? बंदगी क्या 'वंदे' से नहीं मिलती-जुलती? आगे बढ़ें। वंदन पर आएँ। इसमें संस्तवन, वरण, प्रशंसन और पूजन की अर्थ-ध्वनियाँ हैं। वंदन आरती के अर्थ में भी लिया जाता है, यह सही है और यहाँ हमें सामने कहीं मूर्ति दिखाई देती है। वंदन में प्रार्थना भी है। वंदन स्तोत्र भी है। वंदन में ही वंदना भी है जो षोडषोपचार सूची- अर्घ्य, पाद्य, आचमन, आवाहन, आसन, गंध, तांबूल, दीप, धूप, नैवेद्य, परिक्रमा, पुष्प, मधुपर्क, यज्ञोपवीत, वस्त्राभरण और स्नान के साथ- में शामिल है। भगवान को मूर्ति नहीं, जीवंत व्यक्ति की तरह मानकर ये सारे उपचार किए जाते हैं। मूर्ति को वास्तविक भगवान नहीं किन्तु उनके रिप्रेज़ेंटेशन के रूप में देखा जाता है। कौफेमेन के अध्ययन में भी यह बात सामने आई कि प्रामाणिक पैगनिज़्म में मूर्तिपूजक मूर्ति से स्वतंत्र देव-शक्तियों और आत्माओं में यक़ीन रखता था, वह मूर्ति के रूपों पर केन्द्रित नहीं था। तो 'झूठे ईश्वर' कौन थे? किसी वस्तु में ईश्वर का रिप्रेज़ेंटेशन यदि मूर्तिपूजा है तो क्या क़ुरान, जीसस की मूर्ति और चित्र इसी तरह से प्रातिनिधिक नहीं हैं? मूर्तिभंजन से क्या हिन्दुओं का ईश्वर मरा? पत्थर में ईश्वर था लेकिन ईश्वर पत्थर नहीं था। क्या महमूद ग़ज़नवी के पास ऐसी कोई तलवार थी जो इस अच्युत और अक्षर, इस अव्यय और अविकारी को मार पाती? क्या औरंग़ज़ेब के पास कोई ऐसा हथियार था जो उस नित्य और निरन्तर, उस मृत्युंजय और मरणातीत का ख़ात्मा कर पाता?

यदि भारतीयों का ईश्वर पत्थर में होता तो उसे तो अभी तक निपट जाना चाहिए था। उसके साथ-साथ निपट जाना था उस समाज को जो मूर्ति के 'फाल्स गॉड' को पूजता था। जब आराध्य ही न होगा तो आराधक कैसे बचेगा? लेकिन हुआ कुछ उलटा। यह समाज तो लगभग उन्हीं टर्म्स में परिभाषित होने लगा जिनमें उस अमर्त्य और अविनश्वर को परिभाषित किया जाता था। सनातन। कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी। मर गए मारने वाले। आदमी एक सेंसरी बिइंग है और मूर्ति आदमी की इस विशेषता का उपयोग कर उसे भगवत् भजन में एकाग्र करती है। मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा का एक पृथक अध्याय है। यह वह अतिसंवेदनशील समाज है जहाँ पत्थर की भी प्रतिष्ठा है, यह वह श्रद्धा है जो पत्थरों को जीवंत कर देती है। यहाँ शिला को राम छू देते हैं तो अहिल्या-प्रसंग घटित होता है। यहाँ हिरण्यकश्यप प्रहलाद को पत्थर में परमात्मा की असंभावना का उपालंभ देता है तो नृसिंह प्रकट होते हैं।

पत्थरों के परिप्रेक्ष्य में जान-बूझकर इस अद्‌भुत कथाओं के ज़रिए किन लोगों का मुँह चिढ़ाया जा रहा था? प्रस्तर का प्रणोदन करने वाली यह कौन सी संस्कृति थी जो भारत को ऊर्जायित और अनुप्राणित कर रही थी? शालिग्राम और शिवलिंग की पूजा के ज़रिए यह संस्कृति क्या स्वयं यह नहीं जता रही थी कि आग्रह रूप का था ही नहीं? यह कैसे संभव हुआ कि जो पत्थरों में आत्मा देखते थे वे ही एक सहिष्णु और अनाक्रामक राष्ट्र बना पाए और जो पत्थरों को तोड़ते-फोड़ते रहे उनके क्रूसेड और जेहादों से विश्व त्रस्त हो गया?

करुणाकरं

अब राम को 'करुणाकर राम नमामि मुदा' के रूप में तुलसी ने अन्यत्र भी याद किया। ईश्वर की पहचान करुणा से है और इस सुंदरकांड के संदर्भ में राम की पहचान भी करुणा से है। करुणा एक उद्रेक है, यह साधी गई चीज़ नहीं है, यह मन के भीतरी स्रोत का स्वाभाविक उच्छलन है। मन का यह भीतरी हिस्सा इस बात का प्रतीक है कि सृष्टि का यह ताना-बाना एक ही आत्म का विस्तार है। मनुष्य उसी एक पूर्ण का अंश है। उसमें से किसी एक भी टुकड़े का दरकना उस पूर्ण के खंडित होने का उपक्रम है। यह पूर्ण ईश्वर के द्वारा व्याप्त है और इसलिए किसी भी तरह का टूटना ईश्वर की उस व्याप्ति का व्यतिरेक है। मनुष्य तो अपने आसपास अपनी एक जेल खड़ी करता है जहाँ वह दूसरों से जुदा होकर अपनी अहंकृति और स्वार्थपरता की क़ैद काटता है। मनुष्य का यदि प्यार और ममत्व भी है तो अपने संबंध और परिचय के एक छोटे से दायरे में है। इस वृत्त को विस्तृत करना ईश्वर के अधिकाधिक नज़दीक होना है। ईश्वरत्व के नज़दीक एक ही पैशन की क़ीमत है- कम्पैशन की। बर्ट्रेंड रसेल कहते थे कि ज़िन्दगी में तीन आवेग ही उन्हें अपने वश में किए रहे। एक प्यार की प्यास, दूसरी ज्ञान की खोज और तीसरी पीड़ाओं के प्रति करुणा। रसेल कहते थे कि पहले दो आवेग उन्हें ऊपर आकाश की ओर ले जाते हैं- upwards to the heavens जबकि तीसरा उन्हें ज़मीन पर लौटा लाता है। भगवान अवतार लेकर पृथ्वी पर उतरता है तो इसी करुणा के कारण। वस्तुतः ईश्वर की करुणा का दृश्य-पटल आकाश नहीं है, धरती है। इसलिए ईश्वर भी पार्थिव होकर इस पृथ्वी पर आता है। दूसरी ओर जब मनुष्य करुणावान होता है तो वह सृष्टि से एकसूत्र होता है जो ईश्वरमय है। इसलिए करुणा मनुष्य के लिए एक ऊर्ध्वगामी

भावना है। पृथ्वी के दुर्दांत दुर्भिक्षों में बच्चों-बूढ़ों का दर्द समझना और यंत्रणाओं को झेल रहे अबोधों और निर्दोषों की मदद करना संसार के मायाजाल में उलझना नहीं है बल्कि उस माया को अतिक्रांत करना है। यह सिर्फ़ मनुष्यों तक सीमित होना नहीं है।

भगवान राम की वन में दोस्ती जिनसे होती है, वे संघर्ष की राह में उनके साथी हैं। जिनसे उनका हार्दिक संवाद चलता है वे तरु, पल्लव, पशुवृंद सब इस करुणा के वृत्त में आते हैं। वे आजकल के उन विज्ञानवादियों की तरह नहीं हैं जो पशुओं पर अपनी प्रयोगशाला में इस आधार पर प्रयोग करते हैं क्योंकि वे हमारे जैसे हैं और जब उनसे पूछा जाता है कि क्या ऐसा करना नैतिक है तो कहते हैं कि वो तो इसलिए कि वे हमारे जैसे नहीं हैं। तर्क के इस अंतर्विरोध पर विज्ञान खड़ा हुआ है। राम का हाथ तो गिलहरी पर भी पूरे स्नेह से फिरता है, लेकिन हमारी बात और है। ईश्वर चिड़ियों से प्यार करता है तो उनके लिए पेड़ बनाएगा। आदमी उनसे प्यार करेगा तो पिंजरा बनाएगा। जिस तरह से हमने पशु-पक्षियों के साथ व्यवहार किया है, यदि उन पशु-पक्षियों के पास धर्म की कोई संकल्पना होती तो वो निश्चित ही शैतान के स्वरूप की अभिकल्पना आदमी के आकार में ही करते। राम की संगत पशुओं को देवत्व के स्तर तक उठा देती है, लेकिन हम पशुओं के क़त्ल को धर्म का नाम देते हैं। एक पशु ने एक महान मनुष्य की जगह स्वयं को बलि के लिए क्या प्रस्तुत किया तो उसके लिए मनुष्यों की भावी पीढ़ियाँ कृतज्ञ होनी चाहिए थीं, लेकिन रिवाज़ यह चल पड़ा कि उसकी पीढ़ियों-दर-पीढ़ियों का एक ख़ास दिन क़त्लेआम होता है। वे फ़र्क़ यों करते हैं कि क्या पशु तर्क कर सकते हैं या क्या वे बात कर सकते हैं लेकिन जेरेमी बेंथम कहता है कि असली प्रश्न यह है कि क्या वे दर्द सहते हैं? क्या उन्हें पीड़ा की अनुभूति होती है? जो इस अनुभूति से तदात्म है, जो इस वंदना से व्यग्र है वही राम है। करुणाकर वह है जो जीवन से एकात्म है। जीवन के किसी भी रूपाकार से । वहाँ फार्म महत्वपूर्ण नहीं है, फीलिंग है। राम की संगति अस्तित्व का उत्सव है, अस्तित्व मात्र का : मोर चकोर कीर वर बाजी/पारावत मराल सब ताजी। नारायण पंडित ने हितोपदेश में धर्म की परिभाषा ही यह की थी : को धर्मो? भूतदया। चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ गुरु भी यह कहते थे : दया धर्मस्य जन्मभूमिः यानी दया धर्म की जन्मभूमि है। कबीर ने 'जहाँ दया तहँ धर्म है जहाँ लोभ तहँ पाप' और तुलसी ने 'दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान' कहा। तुकाराम बोले 'धर्म भूतांचीत दयाः। वाल्मीकि ने कहा : आनृशंस्यं परो धर्मः (दया करना सबसे बड़ा धर्म है और वेदव्यास ने कहा 'अनुक्रोशो हि साधूनां महद्धर्मस्य लक्षण (सज्जन पुरुषों के लिए दया करना ही महान धर्म का लक्षण है। जब करुणा को धर्म का पारिभाषिक स्वरूप माना गया तो धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा को क्या कहेंगे? मनुष्य जब धर्म के नाम पर किसी भैंसे की या किसी बकरे को नीचे बाँधकर बलि देता है तो क्या उम्मीद करता है? कि ऊपर बैठा ईश्वर उसकी प्रार्थना सुनकर उस पर दया करे कि जब वह मनुष्य स्वयं अपने से नीचे पर दया नहीं कर रहा है। 1963 तक तो ओकलोहामा तक में मुर्गों की लड़ाई प्रतिबंधित थी। फिर एक न्यायाधीश महोदय आए और उन्होंने निर्णय दिया कि चिकन को जानवर नहीं माना जा सकता। अतः निर्दयता विरोधी क़ानून उन पर लागू नहीं होंगे। ईश्वर के सृजन को, उसके जीवन को जीवन माना जाए या नहीं, इसे परिभाषित करने का अधिकार हमने ले लिया है। यदि अस्तित्व के चिरंतन संघर्ष के लिए जानवरों को काट डालना जायज़ है, तो फिर इसी तर्क पर अपराधियों, दुश्मनों, शोषक पूँजीपतियों को भी हलाल या हलाक किया जाना चाहिए। मैंने देखा है कि जब हुसैन की कृति को लेकर कुछ संगठनों ने तोड़फोड़ की तो लोगों ने कहा कि यह संस्कृति नहीं है। लेकिन हुसैन की कृति तो फिर भी एक मनुष्य की रचना है, लेकिन कोई निरीह पशु तो ईश्वर की कृति है। उसके प्रतिदिन, आँखों देखे, दिनदहाड़े मारे जाने को हम कौनसी संस्कृति कहेंगे? कृति और संस्कृति के सुविधावादी फ़र्क़ कर

लिए गए हैं जहाँ मनुष्य की कृति ईश्वर की कृति से ज़्यादा बड़ी हो गई है। राम बार-बार करुणाकर के वैश्विक आयामों का पता देते हैं : गीध अधम खग आमिष भोगी/गति दीन्हीं जो जाचत जोगी। राम इस पक्षी को मुक्ति देते हैं, लेकिन हम पक्षी को पिंजरा देते हैं। विलियम ब्लेक ने कहा था : A Robin Redbreast in a cage/Puts all Heaven in a Rage. पश्चिमी दुनिया में करुणा के वृत्त के दायरे में भी सभ्यता की प्रगति के साथ विस्तार हुआ। पहले एक तरह की जनजातीय नैतिकता का घेरा था, जहाँ अपनी जनजाति के बाहर के लोगों को लूटा या मारा जा सकता था, लेकिन अपनी जनजाति के लोगों को संरक्षण था। संरक्षण का यह वृत्त धीरे-धीरे और फैला लेकिन अभी डेढ़ सौ-दो सौ साल पहले काले लोग उसमें शामिल नहीं थे और उन्हें पकड़ा, बेचा और 'शिप' किया जा सकता था। ऑस्ट्रेलिया में बसने वाले गौरांगों ने आदिम जनजातियों के लोगों को पिस्सुओं की तरह मारा। जैसे-तैसे दासता और उपनिवेशीकरण का वह दौर ख़त्म हुआ तो हम विज्ञान के उस युग में आए जहाँ जानवरों को एक शोध सामग्री की तरह इस्तेमाल किया जाता था और जहाँ जानवरों की चीरफाड़ ने मानव-ज्ञान को जितना बढ़ाया, मानव-चरित्र को उससे ज़्यादा गिराया और जहाँ व्हेल, चीता, सील सरीखे कितने ही प्राणियों को हमने मिटने के कगार पर पहुँचा दिया। करुणा के वृत्त का यह विस्तार अभी शेष है। राम सच्चे करुणाकर हैं क्योंकि उनके भाव-बोध में एक सर्वसमावेशिता है। राम का पशु-पक्षियों से संवाद : 'हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी/ तुम्ह देखी सीता मृगनैनी' इस रूप में पहचाना जाता रहा है कि यह उनकी भाव-विह्लता का उदाहरण है। लेकिन जो पुरुष अपनी प्रकृति में रचा-बसा हो, जिसका प्रकृति से अभेद हो- वहाँ खग, मृग, मधुकर भी उसकी संवेदना के सह-धारक (co-sharer) हैं। पशु-पक्षी-कीट-तरु सब अच्छी तरह से संप्रेषण में समर्थ हैं और वे संप्रेषण करते भी होंगे लेकिन हमें उनके संवाद-संकेत समझने नहीं आते। मार्क ट्वेन ने सही कहा था कि It is just a man's vanity and impertinence to call an animal dumb because it is dumb to his dull perceptions. राम के साथ ऐसा नहीं है। यह प्रकृति तो उन्हीं का लीला-विलास है। इसलिए वे उनसे संवाद-संबोधन कर लेते हैं, करुणा के वृत्त का अधिकतम विस्तार उनमें है। जब तक हम पशुओं और विहंगों का शिकार करते हैं तब तक हम बर्बरता की आदिम अवस्था से बाहर निकले ही नहीं। हमारी करुणा हमें विश्वास देती है कि जिस तरह से मैं पंखों, फरों, चमड़े और रोमों के बीच ढँके एक हृदय की बात सुन रहा हूँ, वे भी मेरे मन की बात समझ रहे होंगे : खंजन सुक कपोत मृग मीना/मधुर निकर कोकिला प्रवीना- सब इसके साक्षी हैं। सहृदयता वस्तुतः सह-हृदयता है। तेलुगु लेखक तिरुपति वेंकटकबुलु ने बुद्धचरित्रमु में कहा-

जंतुवुलपै गरुण मनुजुलु पूनकुन्ना/
वारलपै गरुण देवतलकु रादु//

कि यदि मानव प्राणियों पर करुणा नहीं दिखाएगा तो देवतागण मानव पर करुणा नहीं दिखाएँगे।

कई लोग यह कहते हैं कि यदि राम इतने ही करुणावान और एकात्म होते तो रावण से झगड़ा ही क्यों होता? इस प्रश्न के बहुत से उत्तर हैं और तर्क भी पूरी प्रभावशीलता के साथ दिए भी गए हैं लेकिन मैं यहाँ यह उत्तर दलाई लामा के उन शब्दों के ज़रिए देना चाहता हूँ जो इस प्रश्न के उत्तर के रूप में नहीं आए। महामना दलाई लामा के शब्द हैं : Sometimes we think that to develop an open heart, to be truly loving and compassion, means that we need to be passive, to allow others to abuse us, to smile and let anyone do what they want with us. Yet this is not what is meant by compassion. Quite the contrary, compassion is not at all weak. It is the strength that arises out of seeing the true nature of suffering in the world. Compassion allows us to bear witness to that suffering, without fear, it

allows us to name injustice without hesitaion, and to act strongly, with all the skill at our disposal. इसलिए करुणा का अर्थ निष्क्रिय होना नहीं है, वह पापियों को हमारे साथ और दूसरों के साथ कुछ भी करते रहने की छूट देना नहीं। करुणा कमज़ोरी नहीं है, शक्ति है। यह वह शक्ति है जो विश्व में व्याप्त पीड़ा की सही प्रकृति को पहचानने से पैदा होती है, कि जब हम उस पीड़ा के निर्भीक साक्षी बनते हैं, तब हम निस्संकोच अन्याय का नाम धरते हैं और अपने पास उपलब्ध सारे कौशल के साथ उसका सशक्त प्रतिकार करते हैं।

दलाई लामा के ये शब्द भिन्न प्रसंग और भिन्न संदर्भ में हैं, लेकिन ये राम पर मौजूँ लगते हैं। इसलिए राम की करुणा राम की कायरता नहीं बन पाती है। राक्षस भी करुणा के पात्र रहे। 'शरणागत पर नेह' का आदर्श राम ने हमेशा निभाया। अपनी करुणा के वृत्त में उन्होंने वर्गीकरण की रेखाएँ नहीं खींचीं। करुणा तो आम आदमी में भी होती है। किसी में अपनी जाति, धर्म या देश के लोगों के प्रति करुणा होती है, लेकिन अन्य जाति, धर्म या देश के प्रति नहीं। किसी में अपने मित्रों के प्रति है, बाकी के प्रति नहीं। हर जगह एक विभाजक रेखा है। रेखा के एक तरफ़ के लोगों के प्रति हमारे मन में करुणा है, लेकिन रेखा के दूसरी तरफ़ के लोगों के लिए नहीं। राम ऐसी कोई विभाजक रेखा नहीं पालते। वे विश्व-नागरिक हैं, लेकिन उनकी करुणा असावधान नहीं है। जो सकारात्मक ऊर्जा को व्युत्पन्न और प्रोत्साहित करे, ऐसी करुणा ही राम की चारित्रिक पहचान है। करुणा कोई 'इमोशनल लव' नहीं है। जगदाधार राम की करुणा उनकी प्रज्ञा प्रेरणा है।

यह उनका कर्म-यज्ञ है। कई लोगों ने यज्ञ को करुणा की जगह क्रूरता की संघटना के रूप में परिभाषित किया और इस आधार पर भारतीय संस्कृति को निंदनीय बनाने-बताने की चातुरी भी की जबकि यजुर्वेद में स्पष्टतः कहा गया : 'अध्वरे समिधीमहि' यह 'अध्वर' यज्ञ का पर्याय है। अध्वर का अर्थ ही हिंसा रहित कर्म है। आज मज़े की बात यह है कि जो मांसाहारी देश हैं- उनके तत्कथित बुद्धिजीवी यज्ञ को क्रूरकर्मा गतिविधि बताते नहीं थकते। 1000 साल की नान-वेज़ ग़ुलामी के बावज़ूद इस देश में यज्ञों का इतना सत्व शेष है कि आज भी दुनिया के 70% शाकाहारी भारतीय ही हैं जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में सिर्फ़ 1 से 2.8% तक ही शाकाहारी लोग हैं। वहाँ तो 1960 से 1984 के बीच मध्य-अमेरिकी वर्षा-वनों का 40% नष्ट कर दिया गया ताकि बीफ कैटल के लिए पाश्चर तैयार हो सके। तो मांसाहारियों के गंभीर पर्याप्रभाव भी हैं। मनुष्य की मूल प्रकृति है शाकाहार। यदि किसी जंगल में गाय की लाश पड़ी हो तो भेड़िए और तेंदुए आकर्षित होते हैं किन्तु मनुष्य विकर्षित होता है। यदि किसी बच्चे को एक सेब और एक ज़िन्दा चिकन दिया जाए तो वह बच्चा सेब को खाता है, चिकन के साथ खेलता है। इसी बिन्दु पर देखें कि बाइबल में यह कहा गया कि प्रारम्भ में आदमी और जानवर दोनों शाकाहारी थे तथा यह चौंकाने वाली भविष्यवाणी ईसैया में की गई कि भविष्य में मनुष्य और जानवर सब शाकाहार की ओर लौट आएँगे : 'एंड द लायन शैल ईट स्ट्रा लाइक द ऑक्स, दे शैल नॉट हर्ट आर डेस्ट्राय इन आल माई होली माउंटेन... फॉर द अर्थ शैल बी फुल ऑफ़ द नॉलेज ऑफ़ द लॉर्ड।' 'और शेर बैल के समान तृण खाएगा। वे मेरे पवित्र पर्वत में न चोट पहुँचाएँगे, न नष्ट करेंगे क्योंकि पृथ्वी प्रभु के ज्ञान से परिपूर्ण होगी।' ये अद्‌भुत वचन हैं। अविश्वसनीय भी। लेकिन अब वैज्ञानिक भी आदिमानव के शिकारी होने के सिद्धांत को प्रश्नचिह्नित कर रहे हैं। इस तरह मनुष्य की स्वभावगत करुणा को अब स्वीकारा जाने लगा है। ईश्वर तो करुणा-सिन्धु है। इस्लाम में उसके इसी गुण का स्वीकार है जब ईश्वर को रहमान या रहीम कहा गया। ईश्वर की प्रथमतम स्मृति इस्लाम में करुणाकर और दयालु के रूप में है। हालाँकि करुणा में सिर्फ़ दया ही नहीं होती, प्रेम भी होता है करुणा दूसरे के दुख में प्रवेश है- उसके अंतरतम् में संपूर्ण और गहन प्रवेश। इसीलिए लार्ड बायरन ने आँसू की परिभाषा 'करुणा की

ओस' के रूप में की थी। इसलिए मुझे करुणा और कविता की प्रक्रिया एक जैसी लगती है। खुद को स्थगित कर दूसरे के अंतरतम् में प्रवेश। इसलिए यही भी आश्चर्य नहीं कि कविता का आरम्भ ही करुणा से हुआ। 'मा निषाद् प्रतिष्ठां त्वमगमः' कवि करुणा का प्रथम पुष्प था।

मनुष्य की करुणा उसकी विशेषता है- उसके मनुष्य होने की क्योंकि वह उसमें चेतना के होने का सबूत है। करुणा रोबोटिक नहीं हो सकती, करुणा आत्मा की एंटी-टॉक्सिन है। करुणा आत्मा पर अनेक-अनेक कारणों से चढ़ गए ज़हर के रसायनों को निष्क्रिय करती है। यह हमारे पापों की औषधि है। जो भी स्वार्थपरता और दुराचार हमारी आत्मा को मथता रहता है, सही मौके पर पात्र व्यक्ति के प्रति दिखाई गई हमारी करुणा हमें उस मंथन से बाहर निकालती है। भगवद् गीता में इसीलिए करुणा को अज्ञान के अँधेरे को नष्ट करने वाला कहा गया।

भगवान राम करुणाकर हैं। उनका जीवन करुणा का एडवेंचर है। करुणाकर होना करुणावान होने से थोड़ा भिन्न है। करुणा का यह अक्षय स्रोत होता है। करुणावान तो स्वयं भी कभी करुणा का पात्र हो सकता है बल्कि जीसस का पर्वत-प्रवचन 'ब्लेस्ड आर द मर्सीफुल : फार दे शैल आब्टेन मर्सी' इसी सिद्धांत पर आधारित है। कि 'करुणावान धन्य हैं क्योंकि उन्हें भी करुणा मिलेगी; तो यह एक तरह का विनिमय हुआ। बार्टर हुआ। यही बात बुद्धचरित्रमु लिखते हुए तिरुपति वेंकटकवुलु के दिमाग़ में थी जब उन्होंने लिखा : 'जन्तु वुलपै गरुण मनुजुलु पून कुन्न/वारलपै गरुण देवतलकु रादु'- यानी यदि मानव प्राणियों पर करुणा नहीं दिखाएगा तो देवतागण मानव पर करुणा नहीं दिखाएँगे। लेकिन राम करुणा के दान-प्रतिदान के चक्र में नहीं हैं और इसलिए वे करुणाकर हैं। उनके पास तो यही निधि है और वे इसे ही लुटाते चल रहे हैं।

रघुवरं भूपाल चूड़ामणिं

धरिल धरित्री आगो असंख्य शोणित दाग़
बारंबार अंगराग
होइला मलिन,
तृप्तिहीन रक्ततृषा क्षमाहीन प्रतिहिंसा
दन्दिछि अंतर तव
क्षुब्ध चिरदिन।

हे धरित्री, तुमने असंख्य शोणित-दाग़ धारण किये हैं, तुम्हारा अंगराग बार-बार मलिन हुआ है, तुम्हारे हृदय को तृप्तिहीन रक्ततृषा और क्षमाहीन प्रतिहिंसा ने दग्ध किया है और तुम चिरकाल से क्षुब्ध रही हो।- कालिंदीचरण पाणिग्रही (सर्वसहा)।

तुलसी ने अन्यत्र भी कहा कि 'भूपमौलि मनि मंडल धरनी।' सुंदरकांड के इस प्रथम श्लोक में तुलसी राम के वंश और सभी राजाओं में राम के श्रेष्ठ होने के संबंध में कथन करते हैं। यहाँ वे राम को इतिहास में इंगित करते हैं। क्या राम एक राजा थे जिनका बाद में दैवीकरण हो गया? जैसे मिस्र में एक फराओ अपने जीवन-काल में देव-राज्ञ होरुस का अवतार माना जाता था और मरने पर वह मृतकों के देवता ओसिरिस का अवतार माना जाने लगा, ऐसा राम के साथ तो नहीं हुआ? मिस्र में इम्होटेप (2670 ई.पू.) और आमीनोफिस (14वीं शती ई.पू.) शुरू में मंत्री और राजा के रूप में ऐतिहासिक व्यक्ति थे, बाद में देवता बना दिए गए। उनके मंदिर बन गए। भारत

की परम्परा राम को देवता नहीं, ईश्वर कहती है। ईश्वर जिसकी एक जीवनी है, बायोग्राफ़ी। जो प्रेम में पड़ता है, घायल होता है और अंत में मरता भी है। क्या ग्रीक देवताओं के साथ भी ऐसा नहीं होता था? ज्यूस को प्यार हो जाता है, एफ्रोडाइट को भाले का घाव लगता है, हीफेस्टस लँगड़ा हो जाता है, अपोलो थेसेलियन राजा का दास हो जाता है। क्या स्कंदनावीय देशों में नोर्स लोगों के बीच रामायण के उत्तरकांड जैसी कथा 'हिल्डेब्रांडलीड' के नाम से प्रचलित नहीं है जिसमें वर्षों से एक-दूसरे से बिछड़े पिता-पुत्र के शत्रुभाव से लड़ पड़ने पर बालकों की माता उनका सही परिचय देकर मिलाप करवाती है। यूगोस्लाविया के स्कोप्ट नगर में 'रामा' लोग रहते हैं जो घुमन्तू हैं और रमते रहते हैं।

राम के वनों में घूमते रहने की वह स्मृति roam (भटकना) जैसे अँग्रेज़ी शब्द में क्या शेष रह गई है? इटली का 'रोम' नगर क्या राम की किसी स्मृति का स्वीकार है? इटली केपूर्व में अद्रिअटिक सागर तट पर Ravenna नगर में क्या रावण की स्मृति है? पोकाक ने अपने ग्रंथ में इस ओर संकेत किया है। राम को तुलसी ने 'शाश्वतं' कहा, यह हमने ऊपर देखा ही है, लेकिन रोम को भी 'द इटर्नल सिटी' कहा जाता है। क्यूमोंट (L'Eternite des Emperaurs Romans, 1986, स. 422) ने इस ओर इशारा किया कि रोमन सम्राटों की धारणाएँ और उनकी राजकुल विधि भारतीय राजकुलों के सदृश ही थीं। इटली में एट्रुस्कन सभ्यता की पेंटिंग्स में दशरथ की तीन रानियों के पुत्रकामेष्टि यज्ञ प्रसंग, राम-लक्ष्मण-सीता वनगमन प्रसंग, सेना संग राम को मनाने के लिए जाते हुए भरत के चित्र मिले हैं, रावण-विभीषण-सीता केअशोक वाटिका प्रसंग, सुग्रीव को धमकाते लक्ष्मण, अश्वमेध के घोड़े को पकड़ते हुए लव-कुश के चित्र भी मिले हैं। ब्रिटेन में रामिस्गेट (रामघाट?), रामिस्डेन (रामस्थान?), रामफोर्ड जैसे स्थान हैं। आयरलैंड में एक रामफोर्ट हाउस है जिसमें थामस राम नामक एक पुरोहित के द्वारा बनवाए महल का उल्लेख करने वाला शिलालेख है। अफ्रीका का इजिप्ट क्या अजपति की स्मृति है? क्यों यहाँ के राजा रामईशस् प्रथम/द्वितीय कहलाते रहे? रामायण के माली और सुमाली क्या अफ्रीका के माली और सोमालिया देशों से कभी संबंधित रहे हैं? अफ्रीकन लोगों को कुशाइत कहने में क्या कुश का कोई ऐतिहासिक संबंध ज़िम्मेदार है? क्यों कुश के पिता इथियोपिया में 'हाम' (राम का अपभ्रंश) कहलाते हैं? क्या मारीच और मारीशस में कोई संबंध है? क्या इन सभी चीज़ों को तुक्केबाज़ी माना जाएगा? कहीं ऐसा तो नहीं कि राम के इतिहास को नकारकर हम एक ग्लोबल सभ्यता और संस्कृति को ही नकार रहे हैं। कहीं धर्म का भी तो कोई वैश्वीकरण कभी हुआ तो नहीं? विज्ञान और वैश्वीकरण का तो चोली-दामन का साथ है। बिना विज्ञान के ग्लोबलाइज़ेशन संभव नहीं है। विज्ञान की इतनी प्रगति कि ग्लोबलाइज़ेशन हो सके, अब जाकर कहीं संभव हो पाई है। लेकिन क्या धर्म ने इतनी प्रगति बहुत पहले तो नहीं कर ली थी?

ध्यान दीजिए कि रावण के अत्याचारों से व्यथित पृथ्वी गाय का रूप धारण करके विष्णु के पास पहुँची थी। यानी रावण के ज़ुल्मों के ग्लोबल प्रपोर्शंस थे। वह ऐसा नहीं था कि पृथ्वी के एक छोटे-से टुकड़े पर रावण के अपकर्म चल रहे थे। यह भी ध्यान दें कि रघुवर के संबंध में 'भूपाल' शब्द का इस्तेमाल है। बात भू की हो रही थी, एक छोटे-से हिस्से की नहीं। मुझे याद है कि दशरथ के बारे में सरिता प्रकाशन की एक कृति में कहा गया कि राम के पिता दशरथ कोई छोटे-मोटे राजा रहे होंगे तभी तो जनक ने धनुष यज्ञ में सभी राजाओं को न्योता, दशरथ को नहीं। माने दशरथ कोई ज़मींदार टाइप रहे होंगे। ये टिप्पणीकार भारतीय संस्कृति को इतनी घटिया समझते हैं कि पिता-पुत्र दोनों को ही एक ही स्वयंवर में देखना चाहते हैं।

राम भूपाल चूड़ामणि हैं, राजाओं में श्रेष्ठ हैं। राम के लिए 'नृपति' शब्द का प्रयोग न कर तुलसी ने 'भूपाल' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द उन्हें आटोक्रेसी से अलग करता है। यह उन्हें डिक्टेटरशिप से पृथक करता है, यह रॉयल्टी से भी उन्हें फ़र्क रखता है, यह

उन्हें मोनार्की से भी भिन्न बताता है। तुलसी यहाँ राजा के कर्तव्य पर बल दे रहे हैं। आटोक्रेसी तो शासन की वह व्यवस्था है जिसमें किसी एक व्यक्ति के हाथ में सत्ता होती है और अधिकार होते हैं। तुलसी अधिकार की जगह कर्तव्य पर बल देते हैं। मज़े की बात यह है कि ग्रीक शब्द 'आटोक्रेटॉर', जिससे अँग्रेज़ी शब्द आटोक्रेट बना है, का अर्थ होता है : स्व-शासक, अपने 'स्व' का शासक। इतिहास ने इस शब्द की यात्रा को इतना बदल डाला है कि आज वह एक व्यक्ति विशेष की बाकी दूसरों पर सत्ता का द्योतक हो गया है। अनियंत्रित एवं निर्विवाद सत्ता, जहाँ न तो कोई बाहरी विधिक प्रतिबंध हो न लोकप्रिय इच्छाओं का नियमित दबाव, तुलसी की प्रेरणा का आधार नहीं थी। न किसी तरह का अधिनायकवाद उन्हें अभीष्ट था। आधुनिक युग में सैन्य शासन के जो रूप-विद्रूप देखने में आते हैं, वे तुलसी के राम की शासन-मर्यादा के एकदम प्रतिकूल हैं। तुलसी सत्ता, अधिकार या स्वत्व के वैयक्तिकीकरण (पर्सोनलाइज़ेशन) को शासन के रूप में परिभाषित नहीं करते। लातीनी अमेरिका की टिपिकल मिलिट्री जुंटा वाली शासन-शैली से भी तुलसी का यह एक शब्द राम को पृथक करता है। वे किसी एकल कमांडर की वकालत नहीं कर रहे- ईदी अमीन, मुअम्मर अल गद्दाफ़ी, गमाल अब्दुल नासेर, हिटलर, सद्दाम हुसैन जैसों की कल्पना तक उन्हें नहीं हो सकती थी। ये लोग प्रायः एक 'ख़तरे की निर्मिति' (थ्रेट कंस्ट्रक्शन) के ज़रिए सत्ता के सूत्र अपने हाथों में इकट्ठे कर लेते हैं। मोनार्की जो कि प्रायः एक परम्परा और सातत्य की निशानी है, भी तुलसी के राजत्व के इस आदर्श के कहीं भी क़रीब नहीं पड़ती। स्वाजीलैंड, ब्रुनेई, भूटान, सऊदी अरब और कुवैत- बल्कि जोर्डन और मोरक्को में भी अभी तक राजतंत्र चलता है। यह कहीं-कहीं दिव्य होने के कारण संरक्षण पाता है- बेबीलोन के राजा स्वयं को ईश्वर के स्थानीय प्रतिनिधि के रूप में वर्णित करते थे। चीन, मय सभ्यता या पर्शिया के राजा भी सुपरनेचुरल स्वीकृति का दावा करते थे। लेकिन तुलसी ईश्वर के सामने तक उसकी बुनियादी ड्यूटी का आदर्श या पैमाना रखते हैं। भू का पालन-पोषण। वैसे इतिहास में तो कहीं निर्वाचित राजतंत्र भी होता रहा। उदाहरणार्थ शार्लमैन जब बच्चा था तो उसके पिता फ्रैंको के राजा निर्वाचित हुए थे। 1800 के अंतिम दशक में जर्मन सम्राट विल्हेल्म भी निर्वाचित हुए थे। पोलैंड के राजा स्टानिस्ला या स्वीडन के राजा फ्रेडरिक भी निर्वाचित थे। लेकिन तुलसी सत्तासीन होने की पृष्ठभूमि से राजन्य को नहीं आँकते, वे उसे परिणति से आँकते हैं- कि क्या राजा भूमि का पालन-पोषण कर पाता है या नहीं। निर्वाचन महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि कई जगह राजतंत्रों में जनता की जगह सेना भी राजा का निर्वाचन करती है। मेसीडोन के हैलेनिस्टिक राजा या एपीरस के राजा सेना द्वारा चुने जाते थे। स्वयं राजतंत्र भी अपने आप में तुलसी का आकर्षण नहीं बन सकता था। जिस तरह से आज कई तरह के राजा मात्र अलंकरण के रूप में हैं- ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, जमैका, न्यूज़ीलैंड आदि में; ब्रिटिश रानी जैसे राज्य की संप्रभु अध्यक्ष मानी जाती हैं, वैसा कुछ भी तुलसी का अभिप्रेत नहीं है। तुलसी की नज़र में इस तरह के राजाओं का महत्व नहीं था। ये सब तो समय के दास हैं। एक क्रांति होती है और उन्हें ओवरथ्रो कर दिया जाता है। इंग्लैंड और स्पेन में क्या हुआ था? राजतंत्र ख़त्म हुआ और बाद में यदि लौटा भी तो क्षीणप्रभ होकर। फ्रेंच क्रांति के बाद नेपोलियन बोनापोर्ट सम्राट बन गया था। फिर उसकी पराजय के बाद की कहानी तो और विचित्र है। उसके 'साम्राज्य' (एंपायर) के बाद एक राज्य (किंगडम) आया और एल्बा के द्वीप में क़ैद नेपोलियन की सम्राट (एंपरर) के रूप में एक प्रिंसिपैलिटी वहीं बना दी गई यानी वह एक ऐसा सम्राट था जिसके पास कोई साम्राज्य न था। आज दुनिया के 45 देशों के राष्ट्राध्यक्ष राजतंत्रीय हैं। जापान के सम्राट तो आज की तारीख़ में दुनिया में बचे अकेले 'सम्राट' हैं लेकिन राजनीतिक रूप से वे मात्र एक अलंकारिक शीर्ष (फिगरहेड) मात्र हैं, तुलसी के राम यहाँ भी नहीं अँटते। तुलसी जब 'भूपाल-चूड़ामणि' के रूप में राम की चर्चा करते हैं तो वे भी एक 'हेड' की

बात करते हैं- 'चूड़ा' शब्द का प्रयोग वहाँ भी है। लेकिन यह 'हेड' वैसा अलंकारिक नहीं है जिस तरह से कॉमनवेल्थ या जापान जैसे राज्यों के मोनार्क अलंकारिक मात्र हैं। चूड़ामणि अपने आप में एक अलंकार है। तुलसी के राम राजाओं में भी चूड़ामणि की तरह सुशोभित होते हैं। राजत्व की वह अवधारणा जो तुलसी के इस संबोधन से झलकती है, वह हाब्स के लेविआथन (1651) में बताई गई 'एब्सलूट मोनार्की' की अवधारणा या 18वीं शती में वाल्टेयर एवं अन्य के द्वारा प्रोत्साहित 'एन्लाइटंड एब्स्ल्यूटिज़्म' की अवधारणा से भिन्न है। इन अवधारणाओं की परिणति तो रूस के कैथरीन द्वितीय या पवित्र रोमन सम्राट जोसेफ द्वितीय में ही हो सकती है, उससे आगे नहीं। तुलसी राजाओं का 'दरबारी इतिहास' (कोर्ट हिस्ट्री) लिखने वाले कवि नहीं थे, वे कोई 'उत्तराधिकारी-वृत्तांत' ('सक्सेशन नैरेटिव') लिखने वाले चारण कवि नहीं थे। वे इतिहास को राजाओं की जीवन-वृत्तीय शृंखला के रूप में देखने वाले नहीं थे। इसलिए 'भूपाल चूड़ामणि' राम के परिचय की कतार में आखिरी है, राम का प्रथम परिचय नहीं है उनका राजा होना। तुलसी की दृष्टि से बाक़ी सारी विशेषताएँ ज़्यादा प्राधान्य और महत्ता की अधिकारिणी हैं और वहाँ भी न चक्रवर्ती, न नृप, न सम्राट, न महाराजा, न नरेन्द्र। किसी भी पर्यायी शब्द का प्रयोग नहीं है। तुलसी राजा के विभिन्न पर्यायों में से भूपाल का प्रयोग ही करते हैं। वे क्षत्रपति का प्रयोग नहीं करते। तुलसी क्षत्र से क्या प्रभावित होंगे? भूपाल से मिलते-जुलते धराधीश या भूपति या महीपति जैसे नाम देकर भी मालिक होने के भाव का समर्थन नहीं करना चाहते। वे नरपति, नराधिप, नरेश जैसे किसी शब्द का भी प्रयोग नहीं करते क्योंकि राम को मनुष्यों का स्वामी कहना भी इसी प्रसंग में तुलसी को नहीं रुचा होगा। तुलसी स्वामित्व या सत्ता या आधिपत्य या प्रभुत्व के आधार पर राजा को नहीं जाँचते। स्वत्वाधिकारिता उनकी नज़र में एक छोटी चीज़ है। राजा का पता तो उसकी अनुरक्षण की शक्ति से लगता है। इस बात से कि वह कितना और कैसा पालन-पोषण कर सकता है। राजा युद्ध लड़ते हैं, कर वसूलते हैं- आधुनिक युग में तो उनके कार्यों का दायरा और भी विस्तृत हो गया है। तुलसी राजा के विध्वंसात्मक पक्ष को अपना निकष नहीं बनाते। किसने कितने परमाणु बमों का जखीरा इकट्ठा कर लिया है, इसकी चौधराहट से रामत्व को नहीं आँका जाएगा। सनातन संस्कृति में राजा का आदर्श प्रजापालन रहा है। बल्लाल कवि ने (भोज प्रबंध, 43) कहा था :

हिरण्यधान्यरत्नानि धनानि विविधानि च।
तथान्यदपि यत्किंचित्प्रजाभ्यः स्युर्महीभृताम।।

सुवर्ण, धन्य, रत्न तथा अनेक प्रकार के धन और अन्य जो कुछ भी राजाओं का होता है, वह प्रजाजनों के लिए होता है। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में कहा है : 'प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्'- कि प्रजा के सुख में ही राजा का सुख और प्रजाओं के हित में ही राजा को अपना हित समझना चाहिए। तिरुवल्लुवर ने कहा था : 'अनाथानां नाथो गतिरगतिकानां व्यसनिना' कि वही मनुष्य वास्तविक नृपति है जो अनाथों का नाथ है और निरुपायों का अवलंब है, तुलसी ने ही रामचरितमानस में कहा : जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी/ सो नृप अवसि नरक अधिकारी। नारायण पंडित ने हितोपदेश में कहा था : 'प्रजां संरक्षित नृपः' राजा प्रजा की रक्षा करता है। तुलसीदास राजा को विधायी और रचनात्मक रूप में रेखांकित करते हैं।

लेकिन क्या सभी राजा भूपाल हैं? क्या राम को संपूर्ण पृथ्वी का शासक बताना कवि का उद्देश्य है? यदि ऐसा है तो राम के समकालीन राजा क्या थे? राम का भूपाल होना सम्पूर्ण ग्लोब का राजा होना नहीं है। वह भूमि के रत्नों की और प्राकृतिक संसाधनों की लूट करने की शासन पद्धति से पृथक होना है। तुलसीदास के राम भूपाल हैं तो इस विशिष्ट अर्थ में कि वे पृथ्वी का शोषण नहीं कर रहे, वे उसका पालन-पोषण और संवर्धन कर रहे हैं। तुलसी रामराजा को प्रजापालक नहीं कह रहे, वे उसे ज़्यादा समग्रतावादी रूप से देखते हुए भूपाल कह रहे हैं। सिर्फ़ प्रजा का नहीं, पृथ्वी का पालन

करते हैं वे। वे शासन शैलियाँ जो प्राकृतिक संसाधनों के एकांत शोषण पर आधारित हैं, राम के वैपरीत्य में पड़ती हैं। रावण की शासन-शैली ऐसी ही थी। ऐसा कहा गया है कि रावण ने देवताओं को बंदी बना रखा था। ये देवता प्रकृति की शक्तियों का ही दैवीकरण होने का परिणाम थे। रावण का राज्य नेचुरल रिसोर्सेज़ के अंधाधुंध शोषण का राज्य रहा आया होगा। जिस तरह से आज खनिजों का अंधा उत्खनन हमें इस स्थिति में ले आया है कि बहुत से खनिजों के निक्षेप दो से ज़्यादा भावी पीढ़ियों के लाभार्थ मिलेंगे ही नहीं, जिस तरह से आज बहुत से पौधे और जीव हमेशा के लिए फूड चेन से ग़ायब हो गए हैं, जिस तरह से ओजोन परत का छेद इतना बड़ा हो गया है जितना संपूर्ण नॉर्थ अमेरिका है और जैसे पृथ्वी अल्ट्रा वायलेट किरणों से संत्रस्त है- वैसे ही पृथ्वी उस वक़्त भी भारी परेशान और विचलित रही होगी। इसीलिए रावण के अत्याचारों से क्षुब्ध होकर वह विष्णु के पास गई थी। पृथ्वी है क्या? यह वही है कि जिसे यजुर्वेद में सुक्ष्मा च असि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च- यह पृथ्वी बल देने वाली है, कल्याण करने वाली है, आनंद दायक है, बैठने के लिए श्रेष्ठ स्थान देने वाली है, अन्न और दुग्ध से युक्त है। एक हिन्दी लोकोक्ति है कि ज़मीन के देहल रोटी खाइल जाला' (पृथ्वी की दी रोटी खाई जाती है)। वेंडेल बैरी की परिभाषा है : The earth is what we all have in common. यानी पृथ्वी यदि है तो वह सबके साथ होने में ही है। वह कुछ लोगों के विशेषाधिकार में नहीं है। एक रावण के लोभ में नहीं है, मोनोपली में नहीं है। वह सभी की आवश्यकताएँ पूरी कर सकती है, किंतु एक रावण का लालच पूरा करना उसके लिए संभव नहीं है। मार्शल मैकलुहान ने 1964 में कहा था कि इस स्पेसशिप अर्थ पर कोई यात्री नहीं है, हम सभी इसके जहाज़ी (क्रू) हैं। 'मैं पृथ्वी हूँ। आप पृथ्वी हैं। यह पृथ्वी मर रही है और हम सब इसके हत्यारे हैं।' संस्कृत में कहा गया है : 'बहुरत्ना वसुंधरा'। भास ने कहा (अविमारक, 1/5 के पश्चात्) : 'अहो पच्छान्नरत्नता पृथिव्याः'- 'अहा, पृथ्वी में कैसे रत्न छिपे पड़े है।' लेकिन इन रत्नों के साथ इमारा व्यवहार किस तरह का है? खनिजों के निक्षेप अधिकतर नवीकरणीय (रिनुएबल) नहीं हैं। वे सीमित हैं और ख़त्म होने योग्य (exhaustible) भी। संयुक्त राज्य अमेरिका को कुछ सालों पहले खनिज विशेषज्ञों ने खनिज-ख़ात्मा-ख़तरे (Mineral depletion crisis) के प्रति चेताया था। ख़ासकर तेल और गैस के बारे में। नतीज़तन मध्यपूर्व के क्षेत्रों- ईरान-इराक़ आदि में उसकी रुचि न केवल बढ़ गई बल्कि आक्रामक हो गई। वहाँ अगले 50 साल का घरेलू पेट्रोलियम उत्पाद रह गया है, यह आकलन था स्टीडल का । ह्यूबर्ट और कुक की चेतावनियाँ भी कुछ इसी प्रकार की हैं कि 'भूभौतिकीय संसाधनों का ख़त्म होते जाना वास्तविक है' (Depletion of geological resources is real)। इनसे भी काफ़ी पहले थॉमस माल्थस, डेविड रिकाडो आदि क्लासिकी अर्थशास्त्री विद्वानों ने प्राकृतिक संसाधनों की पर्याप्तता पर प्रश्नचिह्न खड़े किए थे। मीडोज़ एवं अन्य ने 1972 में 'लिमिट्स टु ग्रोथ' में खनन वस्तुओं के परिसमापन का कम्प्यूटर मॉडल पेश किया था। संयुक्त राज्य अमेरिका में विश्व की 3% जनसंख्या ही रहती है लेकिन विश्व के 20% से 25% संसाधनों का उपयोग मात्र यही देश करता है। विकसित देशों में विश्व की 20% आबादी है लेकिन विश्व के 80% संसाधन इन्हीं के द्वारा इस्तेमाल होते हैं। यह 'भूपालन' का आदर्श नहीं है। वे भूरासायनिक प्रक्रियाएँ जिन्होंने इतने वर्षों में खनिजों के निक्षेप बनाए, आधुनिक समय में मनुष्य के लोभ को समंजित करने के लिए विशेषतः तीव्र नहीं हो गई हैं। 'लिमिट्स टु ग्रोथ' नामक पुस्तक में क्लब आफ रोम के द्वारा 1972 में एक अध्ययन किया गया था। इसका तर्क यह था कि प्राकृतिक संसाधनों के ख़ात्मे में उपभोग की दर का बढ़ना भी एक कारक है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ 1972 में क्रोमियम निक्षेपों की मात्रा 775 मिलियन मीट्रिक टन थी। इसमें से 1.85 मिलियन मीट्रिक टन की वार्षिक खुदाई होती है। स्थिर सूचकांक होगा 775/

1.85=418 वर्ष। लेकिन इस पुस्तक के शोधकर्ताओं का कहना था कि क्रोमियम उपयोग की दर 2.6% वार्षिक की गति से बढ़ रही है, यदि उसकी गणना भी जाए तो क्रोमियम भंडार 93 साल और चलेंगे। इस पुस्तक की गणनाओं में हमारा विश्वास हो न हो, इसको उद्धृत कने का संक्षिप्त प्रयोजन मात्र इतना था कि विकास के जिस प्रादर्श में सस्टेनेबिलिटी नहीं है, वह 'भूपाल चूड़ामणि' राम का प्रादर्श नहीं है। विकास की 'पर्यावरणीय स्थिरता' ज़रूरी है। यह स्थिरता तेज़ी से ख़त्म हो रही है। उदाहरण के लिए जैसे-जैसे विश्व की आबादी बढ़ रही है, रिनुएबल ताज़ा पानी की प्रति व्यक्ति उपलब्धता कम होती जा रही है। 1965 से 1990 के बीच में वैश्विक अर्थव्यवस्था 2.3% प्रतिवर्ष की दर से बढ़ी जबकि ग़रीब और अमीर देशों का अंतराल 10 गुना ज़यादा बढ़ गया। यह इसलिए हुआ कि अमीरों की उपभोक्तावादी जीवनशैली ने प्राकृतिक संसाधनों पर ज़्यादा दबाव डाला और उन्हें ज़्यादातर अपने लिए ही विनियुक्त कर लिया। एक अन्य उदाहरण देखें। यदि 2030 तक चीन की आबादी 2 अरब हो जाती है, जिसके बहुत आसार हैं और चीन अपना वर्तमान इनर्जी मिक्स बनाए रखता है- जिसमें 7.5% ऊर्जा एक गंदे कोयले से आती है तो इसका कोयला उपयोग दुनिया भर के द्वारा आज प्रयुक्त हो रहे कोयले से 50% ज़्यादा के स्तर तक पहुँच जाएगा। इसके पर्यावरणीय ख़तरे वही होंगे जो 30 साल पहले क्लब आफ रोम ने बताए थे। अभी भी चीन का भारी कोयला उपयोग जापान भर में आँखों को दुखाता है जब हवा पूर्व की तरफ़ बढ़ती है। आगे तो यह एशिया भर का आसमान काला कर देगा। आज चीन, भारत, इंडोनेशिया, पाकिस्तान, बांग्लादेश, फिलीपिंस और मिस्र 'ऊर्जा के बौने' (Energy pigmies) कहे जाते हैं और ऊर्जा-दैत्य अमेरिका की तुलना में कुल मिलाकर ये तीसवाँ हिस्सा पड़ते हैं। आज इनकी जनसंख्या वृद्धि दर को लेकर चलें तो 2030 तक यही 'सात बौने' 5 अरब की संख्या में होंगे। यदि उनके प्रति व्यक्ति ऊर्जा उपयोग की दर वही रहती है जो 1970 से 2000 के बीच में थी तो 2030 तक यही 7 देश 67 मिलियन बैरल तेल के बराबर अतिरिक्त ऊर्जा प्रतिदिन उपयोग कर रहे होंगे। एक अमीर बताए जाने वाले देश का उदाहरण लें। सऊदी अरब। इस ट्रेंड के अनुसार सऊदी अरब की जनसंख्या यदि सतत बढ़ती रहेगी तो 2030 तक यह 80 करोड़ होगी। आज ही यह हालत है कि कई सऊदी शहरों में गर्मियों में लगातार पावर ब्रेकआउट होता है। अब यदि यह भी अपने को अमेरिका की तरह आधुनिक कर लेता है तो इसकी बिजली ज़रूरतें वर्तमान 2.1 मिलियन प्रतिदिन के आंतरिक ऊर्जा उपयोग के स्तर से बढ़कर 12 मिलियन तक पहुँच जाएँगी। पुनः यह एक ग़ैर-सस्टेनेबल स्थिति है। दरअसल यह एक चोरी है। आगामी पीढ़ियों के भविष्य की चोरी। एक समय था जब यजुर्वेद ने अपने पहले ही मंत्र में हमें सावधान किया था : 'स्तेनः वः मा ईशत अपशंसः मा' (चोर तुम्हारा स्वामी न बन पाए, पापी भी नहीं बने)। लेकिन राज्य कर्म की मर्यादाओं का जो ह्रास हुआ, उसमें जगह-जगह यह स्थिति पैदा हुई कि सफ़ेदपोश चोरों ने ही नहीं, बल्कि अपराधियों ने भी शासन तंत्र पर कब्ज़ा जमा लिया। सत्ता तक और सत्ता के शीर्ष तक पहुँचने के लिए चोरी और पाप की सीढ़ियों का इस्तेमाल होने लगा। यजुर्वेद के दृष्टा ऋषि ने सबसे पहले ही इस बारे में चेताया था। इसी पहले मंत्र में वे आगे कहते हैं : अस्मिन् गौपतो ध्रुवा स्थात अर्थात् इस पृथ्वी पालक की छत्रछाया में स्थित होकर रहो। यह पृथ्वीपालक वही भूपाल है। यही पृथ्वी को स्थैर्य दे सकता है। नागरिकों को भी। गोपतों का एक अर्थ इन्द्रियों का स्वामी होता है। वही शासक जो जितेन्द्रिय है, वही भूपाल हो सकता है। अन्यथा पृथ्वी पर लूट खसोट करने वाले शासकों-प्रशासकों की भरमार है। ब्लेज़ पास्कल की शिकायत थी कि पैगन ईश्वर को नहीं जानते पर पृथ्वी को जानते हैं, ईसाई ईश्वर को जानते हैं पर पृथ्वी को नहीं। तुलसी "भूपाल" के जरिए पृथ्वी और ईश्वर दोनों से हमारी पहचान कराते हैं।

भूपाल का एक दूसरा आयाम है। जीवों और

पौधों का पृथ्वी पर से निशान मिटते जाना राम के भूपालन के आदर्श से हमारे स्खलित होते जाने का सबूत है। राम तो वे हैं जिन्हें गिलहरी से भी स्नेह है। बायो डायवर्सिटी- जैव विविधता ही राम की सेना है। आज हालत यह है कि सन 1500 से लेकर अभी तक 100 तरह की चिड़ियाएँ ही पृथ्वी से हमेशा को विलुप्त हो गईं। 1200 चिड़ियाओं की प्रजातियाँ लुप्त होने के कगार पर हैं। अब न वो एलीफेंट बर्ड हैं और न वो सफ़ेद पंखों वाली सैंडपाइपर। औद्योगिक क्रांति के बाद से जीवों के लुप्त होने ने जो रफ़्तार पकड़ी है, दुनिया के जैविक इतिहास में उसका कोई सानी नहीं है। लाखों की संख्या में में प्रजातियाँ विलुप्त हुई हैं या दुर्लभ हो गई हैं। उनका ग़ायब होना हमारी खाद्य-श्रृंखला को ही अस्त-व्यस्त नहीं करता, हमारी पर्यावरण प्रणाली को भी अस्थिर बनाता है। जो राम रीछ, भालुओं, बंदरों के साथ घूमते थे, उन्हीं के देश में कितना ही वन्य जीवन ख़त्म हो गया। राम की कथा को संप्रति संदर्भ में व्याख्यायित न करने का दुष्परिणाम यह रहा कि उनकी पूजा भी जारी रही और उनके मित्र वनचरों का विनाश भी। चीता या शेर या एशियाई हाथी या जाइंट पेंडा या तेंदुआ इन सबको वैसे ही स्नेह भरे स्पर्श की आवश्यकता है जिससे जटायु की आत्मा को शांति पहुँची थी। तीन लाख से ज़्यादा चिह्नांकित पौधों में से क़रीब 6% की उत्तरजीविता आज ख़तरे में हैं। रॉबर्ट मे का आकलन है कि आदमियों के पृथ्वी पर जन्म लेने से पहले जीवों की जो विनाश दर (Extinction rate) थी, उसकी तुलना में यह दर पिछले 100 वर्षों में 1000 गुना ज़्यादा रही है। प. बंगाल में त्यौहारों के मौसम में 25000 चिड़ियाएँ इसलिए मार दी जाती हैं क्योंकि ड्रमों पर उनके पंख लगाने हैं। पिछले एक दशक में दुनियाभर में क़रीब 405 शेर (Tigers) उनके प्रकृत वास-स्थान से बेदखल कर दिए गए हैं। सरिस्का से लेकर सुंदरबन तक फैली हुई आधुनिक समय में पशुओं के प्रति मनुष्य की क्रूरता की गाथाएँ इसी देश की हैं। इस आधुनिक दौर में नश्वर मनुष्य ने प्लास्टिक और पोलीथिन जैसी अनश्वर चीजें पैदा कर ली हैं और विप्र व धेनु के संरक्षक राम के भक्त उन्हें कूड़े के ढेरों में इनका ग्रास खाते हुए देखते रहे हैं।

या एक अन्य उदाहरण लें। ओज़ोन परत में हुए छेद का। अल्ट्रावायलट के जैविक प्रभावों का। इसके मानव स्वास्थ्य से लेकर जीव-जंतुओं, वनस्पति पर पड़ने वाले कुप्रभावों का। उससे बढ़ रहे स्किन कैंसर का। जो अर्थव्यवस्थाएँ या शासन पद्धतियाँ क्लोरो-फ्लोरो कार्बन या हेलोकार्बन आधारित जीवनशैली को बढ़ावा दे रही हैं क्या वे धरती के पोषण की पक्षधर हैं? मांट्रियल प्रोटोकॉल का कितना पालन हुआ? अक्टूबर 2006 में नासा ने कहा कि इस साल 7 सितम्बर से 13 अक्टूबर के बीच ओज़ोन छेद ने एक नया क्षेत्रफल-कीर्तिमान बनाया 26 मिलियन कि.मी. के दैनिक औसत के साथ। 8 अक्टूबर को ओज़ोन की मोटाई घटकर 85 DU तक रह गई। ये दोनों तथ्य मिलकर 2006 को ओजोन के अभिलिखित इतिहास का सबसे ख़राब वर्ष बना देते हैं। अक्टूबर 21, 2006 के दिन नासा की ख़बर यह है कि ओज़ोन परत के छेद का आकार बढ़कर उत्तरी अमेरिका महाद्वीप के आकार से भी बड़ा हो गया है। लेकिन हमारी विलासितापूर्ण जीवनशैली पर इससे क्या फ़र्क पड़ेगा? वनवासी राम की पूजा हो सकती है, लेकिन उनकी जीवनशैली आज के ज़माने में अनुकरणीय क्यों नहीं है?

एक तीसरा आयाम पृथ्वी के पोषण के विरुद्ध होने वाली आधुनिक कार्रवाइयों में ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन का है। जिस तरह से आज ग्लोबल वार्मिंग हो रही है, यूरोपीय जियोसाइंस यूनियन ने 2006 की अपनी बैठक में साइबेरियन, पश्चिम अंटार्कटिक और ग्रीनलैंड की बर्फ़ीली शीटों के खिसकने और करोड़ों टन मीथेन के वातावरण में छूटने की चेतावनी दी है। पर्माफ्रास्ट का पिघलना एक बड़ा ख़तरा है। 1900 से 1980 के बीच, ओएरलेमांस (2005) के एक अध्ययन के अनुसार 144 पर्वतीय ग्लेशियरों में से 142 का पतन (Net decline) हुआ है। निक ब्रुक्स ने जलवायु परिवर्तन

को पृथ्वी पर जीवन के लिए बड़ा ख़तरा कहा है। एयरमार्शल लार्ड गोर्डन आण्विक युद्ध को एक बड़ा ख़तरा मानते हैं। हैंस मोरावेक रोबोट जैसी बुद्धिमान मशीनों को। आतंकवाद और प्रति-आतंकवाद भी उतना बड़ा ख़तरा हैं। ये सब पृथ्वी को संकटग्रस्त करने वाली चीज़ें हैं। स्मरण करें कि रामावतार से पूर्व भी पृथ्वी विपदाग्रस्त थी। प्राकृतिक संसाधनों का जो अंधाधुँध दोहन उस वक्त रावण के द्वारा किया जा रहा था, उसे रवि, शशि, पवन, वरुण, अग्नि को दास बनाने के रूप में संकेतित भी किया गया। प्रकृति के दिव्यत्व को राक्षसों के दासत्व में परिणत करने के प्रतीकार्थ क्या हैं? "नवहिं आइ नित चरन विनीता।" इसके परिणाम क्या हैं? "अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी/परम सभीत धरा अकुलानी" यह धर्म क्या था? को धर्मो? भूतदया। भू के व्याकुल होने की स्थिति क्या है? क्या यह डेविड एटनबरो के वृत्तचित्र 'कैन वी सेव प्लेनेट अर्थ' (क्या हम पृथ्वी को बचा सकते हैं?) में दर्शाई गई स्थिति थी? जलवायु-उपद्रव (climate chaos)? यह क्यों होता है हमारे धर्म ग्रंथों में कि राक्षसों के मरते ही प्रकृति/पृथ्वी की सुखद सामान्य स्थिति हो जाना बताया जाता है? चाहे दुर्गा सप्तशती में शुंभ का मरना हो या रामायण में रावण का! क्यों पृथ्वी ही इस 'असुविधाजनक सत्य' (एन इन्कन्वीनिएंट ट्रुथ) को बताने जाती है, अल गोर के वृत्त चित्र की तरह। यदि राक्षसों के मारे जाने के बाद नदियाँ ठीक तरह से बहने लगती हैं तो क्या उनके समय में वही कुछ हो रहा था जो अलगोर 'रिट्रीट ऑफ़ द ग्लेशियर' (हिमनदियों का पीछे लौटना) के रूप में बता रहे थे। पृथ्वी की व्याकुलता तब भी है जब 50 एकड़ प्रति मिनट की गति से वर्षा वन नष्ट हो रहे हों। क्या पृथ्वी का गौ रूप लेना सिर्फ़ कल्पना पर दबाव है? तब नीत्शे की वे पंक्तियाँ क्या हैं जिसमें वे कहते हैं कि 'पृथ्वी की त्वचा है और त्वचा में बीमारियाँ हैं।' मुझे तो जॉन होलो हार्न की पंक्तियाँ याद आती हैं कि 'एक दिन पृथ्वी रोएगी, अपने जीवन की भीख माँगेगी, खून के आँसू रोएगी, आपको चुनना है कि आप क्या करेंगे।' पृथ्वी राम के अवतरण के पूर्व क्या इसी तरह विकल नहीं थी? पृथ्वी गाय का रूप धरकर गई तो कहीं यह इजिप्ट की पौराणिकी में उल्लिखित 'ब्रह्मांडीय गाय' (celestial Cow) जैसा कुछ तो नहीं? यह 'कास्मिक काउ' (जागतिक गाय) दुनियाभर की पौराणिकियों में है। प्राचीन ग्रीक उल्लेखों में 'अर्थ मदर' (पृथ्वी मां) गाय के रूप में है। भर्तृहरि नीतिशतक में कहते हैं- 'राजन्दु धुक्षसि यदि क्षितिर्धनुमेनां' - हे राजन यदि तुम पृथ्वी रूपी गाय को दुहना चाहते हो तो प्रजा रूपी बछड़े का पालन-पोषण करो- तेनाध वत्समिव लोकमंमु पुषाण। राम यही करते हैं। इसी कारण वे भूपाल हैं। नहीं तो क्या कारण है कि धरती और देवताओं को भयभीत जानकर ब्रह्म-वाणी जब अवतार लेने की घोषणा करती है तो कहती है : हरिहउँ सकल भूमि गरुआई/निर्भय होहु देव समुदाई' कि 'मैं धरती का सारा बोझ हर लूँगा/ कि देव वृन्द निर्भय हो जाएँ।' उसके बाद ब्रह्माजी भी भू को समझाते हैं : 'तब ब्रह्मा धरिनिहि समुझावा।' रामावतार का कारण भू की यह विकलता है। यानी यह एक ऐसा संकट है जिसके ग्लोबल प्रपोर्शंस हैं। यह कोई साधारण आपदा नहीं है। इस आपदा से विश्व को राम ही मुक्ति दिला सकते हैं। राम को इसी कारण 'भूपाल चूड़ामणि' कहा गया है। जीवों पर दया धर्म है, वही भूपालन है। वाल्मीकि भी यही कहते हैं : 'आनुशंस्यं परो धर्मः' - दया करना सबसे बड़ा धर्म है। वेदव्यास यही कहते हैं- अनुक्रोशो हि साधूनां महद्धर्मस्य लक्षणम्- सज्जन पुरुषों के लिए दया करना ही महान धर्म का लक्षण है।

यह तो तुलसीदास भी जानते थे कि इस संसार में मच्छर हाथी के प्रतिस्पर्धी नहीं बन सकते । वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक ने अपनी पुस्तक संकल्प सूर्योदय में यही कहा था- 'न हि जगति भवति मशको मातंगस्य प्रतिस्पर्धी।' अतः लौकिक राजाओं के बीच राम को किसी स्पर्धा में खड़ा करना उनका उद्देश्य नहीं था। उन्होंने तुलनात्मक (कंपेरिटव) या श्रेष्ठतामूलक (सुपरलेटिव) शब्दों का इस्तेमाल नहीं किया है। वे राजाओं में श्रेष्ठ नहीं कहते, वे राजाओं में/के चूड़ामणि कहते हैं। राम को तुलना या

प्रतियोगिता की लौकिक तराज़ुओं में तोलना भी राम का निरादर है। उन्होंने यह भी नहीं कहा कि राम से बड़ा और कोई नहीं। वे राजाओं को नीच, मध्यम या उत्तम की श्रेणी में बाँटने का भी कोई प्रयास नहीं करते। वे तो चाणक्य के उस सूत्र पर चल रहे हैं : नास्त्यर्धः पुरुषरत्नस्य। कि पुरुष रत्न का कोई मोल नहीं होता है। राम के राज्य का आयाम ही दूसरा है। विनोबा (लोक नीति, पृ. 212) इसे यों परिभाषित करते हैं : 'रामराज्य याने प्रेमयोग और साम्ययोग- प्रेम और समत्व'। रामचन्द्र शुक्ल ने (गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 32) इसे यों परिभाषित करते हैं : "लोक की रक्षा 'सत' का आभास है, लोक का मंगल 'परमानंद' का आभास है। इस व्यावहारिक 'सत्' और आनंद का प्रतीक है राम-राज्य"। त्यागराज ने इसे यों बताया है :-

कारु चारु सेयुवारु कलरे
नोवलक साके नागरिनि।
ऊ रिवारु देश जनुलु
वरमुनुलप्पोंगुचु भावुकुलय्ये।
नेलकु मूड़ वानलखिल विंद्यल
नेपु गल्गि दीर्घायुलु गल्गि।
चलमु गर्व रह्तिलु गालदे
साधु त्यागराज विनुत राम।

'साकेत के स्वामी राम जैसे आपने साकेत का शासन किया है, वैसा सुन्दर प्रशासन और कहाँ देखने को मिलेगा? ग्रामीण, नागरिक और सारे देशवासी भाव से धनी होकर काननवासी मुनियों को आनंद प्रदान किया करते थे। प्रतिमास तीन बार यथेष्ट वर्षा हुआ करती थी। लोग सभी विद्याओं में पारंगत हुआ करते थे। सभी लोग दीर्घायु होकर निराडंबर और निर्मल जीवन व्यतीत किया करते थे। ऐसा साधुवाद प्राप्त करने वाला राज्य और कहाँ पाया जाएगा।' वाल्मीकि ने भी इसी तरह रामराज्य की चर्चा की है।

काले वर्षति पर्जन्यः सुभिक्षंविमला दिशः।
हृष्टपुष्टजनाकीर्ण पुरं जनपदास्ताथा।।
नाकाले म्रियते कश्चिन्न व्याधिः प्रणिनां तथा।
नानर्थो विद्यते कश्चिद् रामे राज्यं प्रशासति।।

'श्री राम के शासन करते समय मेघ समय पर वर्षा करते थे। सदा सुकाल रहता था। सम्पूर्ण दिशाएँ प्रसन्न थीं। नगर व जनपद हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों से भरे रहते थे। किसी की अकाल मृत्यु नहीं होती थी, प्राणियों को कोई रोग नहीं सताता था और कोई उपद्रव नहीं खड़ा होता था।'

जो बात ग़ौर करने की है वह यह कि वाल्मीकि और त्यागराज दोनों वर्षा की पर्याप्तता और नियमितता की चर्चा करते हैं। यह स्थिति भूमि की उर्वरा-शक्ति और पोषण क्षमता की स्वर्णिम स्थिति का परिचय देती है। यह वैसा नहीं है कि इंद्र का श्रेय इंदिरा ले ले। यह ऐसा है कि प्रकृति से समन्वय, संतुलन और समरसता की स्वाभाविक परिणति हो- भूपालन।

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये

तुलसी इन दो शब्दों में यह तो कहते ही हैं कि मुझे कोई दूसरी इच्छा नहीं है, लेकिन जिस तरह से 'नान्या' को इस श्लोक में प्रथम शब्द के रूप में ध्वनित और रेखांकित किया गया है, उससे अर्थ के बहुत से फूल बिखरते हैं। 'अन्य' नहीं है, दूसरा नहीं है। अन्य का अभिप्राय है पराया। अन्य का तात्पर्य है द्वैत। अन्य का मतलब है Incommensurability, अन्य का मतलब है incompatibility। तुलसी का एक तीव्र इन्कार इन सबके प्रति उभरता है। और देर तक हमारे मन में गूंजता रहता है। यह 'दूसरे' की अवधारणा से एक आमने-सामने की मुठभेड़ है।

अस्मिता की पूरी राजनीति से तुलसी का इन्कार है। एडवर्ड सईद अपनी पुस्तक ओरिएंटलिज़्म में बताते हैं कि किस तरह से पश्चिमी समाजों खासकर इंग्लैण्ड और फ्रांस ने पूर्व के 'अन्य' लोगों की टीका की। दासप्रथा और उपनिवेशवाद तक तब संभव नहीं है जब तक 'अन्य' का लांछन नहीं है। पश्चिम ने इसके द्वारा एक 'हीन' को ढूंढ़ा। इस 'हीन' का उद्धार श्वेत आदमी का भार था। इस कमतरी का अर्थ नृतत्वशास्त्रीय भी था और रेसिज़्म की उत्पत्ति का स्रोत भी यही है। दिखाई यह देता है कि फिरंगी संसार खोजने निकला। वास्तव में वह फिरंग का पृथकतावाद था। उसके एकांतिकवादी (isolationist) मानस ने उसे 'दूसरे' का शिकार करना सिखाया। इसके पहले तुर्कों और तातारों ने भी 'अन्य' के आधार पर संहार किए थे और वे मज़हब को परिभाषित ही 'अन्यता' में करते थे। लेकिन पश्चिमी साम्राज्यवाद ने 'अन्य' की अवधारणा को एक भू-राजनैतिक मंच (जियो-पॉलिटिकल स्टेज) दिया। उनकी सोच ही दूसरेपन के आधार पर मनमाने अत्याचार करने की थी। 'वे' लोग हमारे जैसे नहीं हैं, उनके कारोबार के तौर-तरीके हमारे जैसे नहीं हैं।

बुनियादी अंतर्विरोध ही यह था कि बिना अपने मानस में इस 'परिसीमन' (लिमिटिंग) की एक परिधि बनाए बगैर पश्चिमी साम्राज्यवाद फैल ही नहीं सकता था। यह मुख्यतः 'कैरेक्टराइज़' करने की एक प्रक्रिया थी जिसमें ऐसा नहीं था कि उपनिवेशवादी समय के किसी प्रवाह या धारा से सर्वथा स्वतंत्र होकर अचानक उपस्थित हो गए हों। उन्होंने उसके पहले दूसरेपन का तर्क ढूंढ़ा था। जब उन्होंने गुलाम बनाना शुरू किया, या अभी वर्तमान दौर में विश्व व्यापार संगठन वाली आर्थिक चढ़ाइयाँ शुरू कीं तो उन्होंने अपने 'शिकार' की अवगणना भी शुरू की। यह सिर्फ स्टीरियोटापिंग ही नहीं थी, यह एक डाउनरेटिंग भी थी। जिस हद तक भारत और उस जैसे कई देश अवगणित हुए, उस हद तक उनको जीते जाने का लायकपन (conquerability) भी बढ़ता गया। अवमूल्यन की इस कार्रवाई के लिए एक खास तरह का अंधापन जरूरी था। 'अन्य' के कारण अवगणना। अवगणना के कारण अवमानना (humiliation) थी। बल्कि अवगणना में ही अवमानना थी। गुलाब की एक पांखुरी को ही गुलाब कहा जाए तो बाकी पांखुरियों को कैसा लगे? जिस हद तक 'अन्य' को उतना ही इंसान मानने से इंकार किया गया, उस हद तक साम्राज्यवादियों का अमानवीकरण (dehumanization) होता गया। जब रेड इंडियनों का पिस्सुओं की तरह शिकार किया गया, जब ऑस्ट्रेलियाई आदिवासियों को 'हंट' किया गया या अभी जब इराक-युद्ध में 'बकरों के पुट्ठों में शूट करने' का आनंद लिया गया—सभ्यता के तमाम प्रोपेगंडा के बावजूद यह स्पष्ट हो गया कि व्यापारी सभ्यताएं कसाई-असभ्यताएं हैं। ये दुनिया के एक बड़े हिस्से को गरीब बनाती हैं। उस हिस्से से की गई लूट के आधार पर अपना सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) ज्यादा कर लेती हैं, जबकि उसमें 'घरेलू' जैसा क्या है? हद से हद वह डामेस्टिकेट करने से, पालतू बनाने से आया हुआ उत्पाद है। वह ग्रास डॉमेस्टिकेटेड प्रोडक्ट हो सकता है। भारतीय भी दुनिया को एक घर मानते रहे। लेकिन इस आधार पर हिंदुस्तानी दुनिया को लूटकर अपना घर नहीं भरते रहे और उसे 'अपना सकल घरेलू उत्पाद' नहीं बताते रहे। भारत की वसुधैव कुटुम्बकम् की अवधारणा मेरे-तेरे अपने-पराये या 'दूसरे' की विभाजनवादी अवधारणा के विरुद्ध है। वहां तो 'अयं निजः परोवेत्ति' की गणना 'लघु चेतसां' का काम है। इसलिए 'अन्य' के प्रति तीव्र असहमति का स्वर प्रकट करने वाले 'उदार चरितानां' तुलसी जैसों से ही 'रामचरित' लिखा जा सकता था। अन्य से एक ध्रुवीकरण संभव होता था और तुलसी के समय भी अन्य की आक्रामकता देखने को मिल रही थी। तुलसी जैसे वसुधैव कुटुम्बकंवादियों के लिए विश्व के भीतर विश्वों की मौजूदगी वाला 'फर्स्ट वर्ल्ड' और 'थर्ड वर्ल्ड' वाला विभक्त मानस आ ही नहीं सकता।

अस्तित्ववादियों का कहना यही था कि 'द आई इज़ आलवेज़ इन द फील्ड ऑफ द अदर' (कि 'मैं' हमेशा 'अन्य' के मैदान में रहता है)। यह एक दर्पण-वत् स्थिति की अन्यथा अंगीकृति है। (Ego-Formation occurs through mirror-stage misrecognition)। तुलसी के साहित्य में 'मैं' का जो जबर्दस्त विगलन है, वह इसी 'नान्या' के बोध के चलते हैं। भक्ति तभी संभव होती है जब 'कबीर कूता राम का' बनने को भी तैयार हो जाए। तुलसी का दैन्य उनके 'ईगो-फार्मेशन' की अनुपस्थिति को स्पष्ट करता है।

सन् 1600 के आसपास थामस केवेंडिश और जॉन डेविस जब अपने अभियानों पर निकले तो उनके जहाज का नाम था 'डिज़ायर'। जब इस भवसागर में हम उतरते हैं तो 'नानक नाम जहाज है' की स्थिति कम होती है और यह स्थिति ज्यादा कि कोई प्रबल इच्छा हमें दुनिया भर में घुमाती फिरे। इच्छा एक तरह की यायावर ऊर्जा है। तुलसी इस श्लोक में दो विरोधी बातें कहते हैं। एक ओर तो वे यह कहते हैं कि 'नान्या स्पृहा' - मुझे कोई दूसरी इच्छा नहीं है, दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि मुझे काम आदि दोषों से रहित कीजिए। यानी अस्तित्व का वैचित्र्य इस इच्छा में है कि मुझमें कोई इच्छा न रहे। बौद्ध चिंतन में इसे इच्छा का विरोधाभास

कहा गया है। निष्काम हो जाने की कामना निष्कामत्व की राह में अंतिम बाधा है। निष्कामत्व कोई इन्टेन्शल ऑब्जेक्ट नहीं है। जॉन विरवाडेर इच्छा के विरोधाभास को अपनी प्रकृति में यूरोबोरिक कहते हैं। सर्प की तरह अपनी पूंछ निगलने वाला वर्तुल। लेकिन बुद्ध कहते थे कि 'desirelessness to be got must be forgot.' यह भी कहा जा सकता है कि इस श्लोक की व्याख्या 'स्पृहा' और 'काम' का फर्क ढूंढ़कर की जाए। काम दोष है, स्पृहा नहीं। काम बांधेगा, स्पृहा मुक्त करेगी। काम जीवन में संचय करेगा, जबकि तुलसी की स्पृहा जीवन में समेटकर ठूंस-ठूंस कर सब कुछ अपने पास भर लेने की नहीं है। वे तो उसे अतिक्रांत करना चाहते हैं, जीवन की अपूर्णताओं और सीमाओं को अतिक्रांत करने की स्पृहा। काम मद है, उत्तेजना है। लेकिन तुलसी की स्पृहा चेतना है, जागरण है। काम द्वैत है, यह स्पृहा अनन्यता की है। काम ऊर्जा का स्खलन है, यह स्पृहा ऊर्जा की उत्स्फूर्ति। इच्छा का भी अपना एक दुष्चक्र है। हेडोनिस्ट लोग कहा करते थे कि इच्छा को नियंत्रित और समाप्त करने का एक ही रास्ता है - इच्छा के आगे समर्पण कर देना। एपिक्यूरिन तो इच्छा का उपचार करने के लिए इच्छा के चिंतन को एक दार्शनिक व्यस्तता की तरह नहीं देखते थे, बल्कि उसकी दैनिक एवं अर्जेन्ट मानवीय सार्थकता का महत्व-स्वीकार करते थे। मार्था सी नसबौस ने 'द थिरेपी ऑफ डिज़ायर' नामक अपनी पुस्तक में खाली इच्छा (empty desire) वाली एपिक्यूरियन सर्जरी की चर्चा की है और आत्मा के सर्पों (serpents of the soul) की भी। वे स्टोइक दार्शनिकों के आत्मा के स्वराज (सेल्फ-गवर्नमेंट ऑफ द सोल) का भी रोचक उल्लेख करती हैं। तुलसी जब 'नान्या स्पृहा' की बात करते हैं तो वे स्पृहा की इन्टेंसिटी की बात करते हैं। लोग जीवन की एक छोटी सी अवधि में हजारों इच्छाएं करते हैं। तुलसी एक के अलावा दूसरी किसी इच्छा की बात नहीं करते। आदमी की पहचान इच्छाओं की संख्या से नहीं, इच्छाओं की गुणवत्ता से होती है। संख्याएं कई बार हमारी जीवन-शक्ति की 'लीक्स' बन जाती हैं- उनसे थोड़ा-थोड़ा कुछ रिसता रहता है। कई बार वे लीक ही नहीं, ब्रेक भी हो जाती हैं। तुलसी जब नान्या स्पृहा की बात करते हैं तो वह संख्या के विरुद्ध सांख्य का विद्रोह ही नहीं है, वह जीवन को परिचलित और परिभाषित करने वाली एक केन्द्रीय थीम की बात भी करते हैं। यदि वह है जीवन में एक ड्राइव है। एक दिशाहारा भटकाव या बहाव नहीं - बल्कि एक ऐसी गति जिसमें दिक का बोध है। इसी अर्थ में यह फ्रायडियन लिबिडो से भिन्न है। उस लिबिडो का तो जैसे एक स्वतंत्र जीवन है। जिसमें प्रवाह है, दिशा नहीं है। तुलसी इच्छाओं की तुलनात्मक शक्ति की भी बात नहीं करते। वे ज्यादा ताकतवर इच्छा पर कम ताकतवर इच्छा की बलि चढ़ाने वाली बात नहीं कर रहे। वे एकमात्र/अनन्य स्पृहा की बात कर रहे हैं। यह बहुत से विकल्पों के बीच तौल करने की स्थिति नहीं है, क्योंकि तुलसी की स्पृहा है ही अतुलनीय। स्पृहाओं की सांख्यिकी में तुलसी नहीं उलझते। इच्छाओं के बहुत ही सघन जंगल में आदमी रास्ता भी भूल सकता है। इसलिए तुलसी इच्छा को विशेषीकृत कर देते हैं और एकल भी।

तुलसी इस श्लोक में स्पृहा और काम के जिन द्वन्द्वों का चित्र खींचते हैं वहां वे और बात भी स्थापित करते चलते हैं। वह यह कि बात सिर्फ कर्म की पवित्रता की ही नहीं, इच्छा की पवित्रता की भी है। कर्म तो बाहरी आलोक है, लेकिन इच्छा एक अन्तःदीप्ति है। कानून 'मेन्स रिया' (दुष्प्रेरणा) की पहचान करता है किन्तु अपराध घटित होने के लिए उसे सोच के स्तर से नीचे उतारकर जमीन पर किसी क्रिया के रूप में लाना जरूरी है। लेकिन तुलसी कानून की भौतिक सतह पर काम करने की जगह संकल्प की अन्तरात्मिक मनोभूमि पर अपनी सचेतनता दिखाते हैं। वे स्पृहा की दार्शनिक संभावनाओं की ओर देखते हैं। फ्रायड ने भी इच्छा को वस्तु या पात्र या प्रयोजन या स्रोतों के संबंध में देखने की जगह एक अमूर्त सब्जेक्टिव एसेंस की तरह देखा। उसने सपनों में भी इच्छाओं की आहट सुनने की कोशिश

की। इच्छा इस बात का प्रमाण है कि आदमी एक विभक्त और अभाव के बोध से ग्रस्त पात्र है।

हे रघुपते! मेरे हृदय में और कोई इच्छा नहीं है। **'अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहउँ निर्वान। जनम-जनम रति राम पद यह वरदानु न आन'** तुलसी कह चुके हैं। **चहउँ न सुगति सुमति संपत्ति कछु रिधि सिधि विपुल बड़ाई। हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ौ अनुदिन अधिकाई-**'विनयपत्रिका' में तुलसी शायद इसी को स्पष्ट कर रहे थे। ऋग्वेद ने तो बहुत पहले ही कहा था : 'मनुष्य विभिन्न कामनाओं से घिरा रहता है', लेकिन तुलसी ने जैसे सारी स्पृहाओं और इच्छाओं को एक ही केन्द्र में विलयित कर दिया है। सामान्यतः इच्छाएं एक तनाव निर्मित करती हैं। वे हमारी अब तक की आश्वस्ति को जैसे माया बना देती हैं। इच्छा या तो समर्पण मांगेगी या प्रतिरोध। कहीं अनुताप का तनाव होगा, कहीं अधूरेपन का, कहीं संदेह और चिन्ताएं, कहीं दमन। वीतिच्छ जातक में कहा गया : **'इच्छा हि अनन्तगोचराः'** कि इच्छा की गति अनंत है। तुलसी ने तो और ज्यादा सुस्पष्ट तरीके से जाना था कि इच्छाएं क्रमशः क्षरण करती हैं। **'कीट मनोरथ दारु सरीरा/जेहि न लाग घुन को अस धीरा'** आखिरकार हर इच्छा अपने आपमें एक अनुभव भी है-खुद को, उसकी पूरी जटिलता और गहराई में, जानने का।

लेकिन तुलसी के मन में यह स्थिति उनकी बहुत ही जागृत चेतना का नतीजा थी, अन्यथा साधारणतया यह इच्छा ही है जो विश्व को उन्मेषित करती है। प्रसाद के शब्दों में **सर्ग इच्छा का है परिणाम,** इच्छा के बिना संसार तो फ्रीज हो जाएगा - न जीने का कारण होगा, न मरने का। कई बार तो हम इच्छा 'करते' नहीं हैं, बस सहसा पाते हैं अपने अंदर, कि यह एक गुप्त इच्छा कहीं पल सी रही थी। कहीं लगता है कि इच्छाओं का, कम से कम कुछ इच्छाओं का, एक स्वतंत्र गुप्त जीवन है, कुछ इच्छाएं तो स्वतः स्फूर्त हुआ करती हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि इच्छाओं में अन्तःसंघर्ष हो। कई बार अपनी इच्छाओं के संपूर्ण पैटर्न से ही आपको एक तरह की जुगुप्सा-सी हो जाती है। कई बार इच्छा का सामाजिक स्वीकार प्रतिबन्धित होने पर हम उसका दमन कर लेंगे और उसे ही 'नान्या स्पृहा' की स्थिति समझेंगे। सोमदेव भट्ट के द्वारा कथासरित्सागर (6/5) में कही गई यह बात भुलाकर कि **'वार्यमाणस्य वांछा हि विषयेष्वभिवर्धते'-** किसी बात से रोकने पर मनुष्य की आकांक्षा उसके लिए और भी अधिक बढ़ती है। दमन दो तरह का हो सकता है : एक सचेत और दूसरा अचेत। लेकिन होता वो दमन ही है और कुछ दिनों बाद हम पाते हैं कि उस दमन में दम नहीं था, बल्कि उसने इच्छा का रूप भ्रष्ट और कर दिया, उसका चेहरा बिगाड़ दिया। कई बार हम इच्छा का दमन नहीं करते, बल्कि उसकी अतितृप्ति से इच्छा की किसी दूसरी दिशा की ओर मुड़ जाते हैं। कालीदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तल में यही कहा : **'पिण्ड खजूर से अरुचि उत्पन्न हुए व्यक्ति को इमली की इच्छा होती है'।** लेकिन यह भी 'नान्या स्पृहा' की स्थिति नहीं है। प्रतिस्थापन हो जाता है लेकिन इच्छाएं बनी रहती हैं : **'दमे मर्ग तक रहेंगी ख्वाहिशें। यह नीयत कोई आज मर जाएगी।'** (दाग़) मृत्यु-पर्यन्त कामनाओं का क्रम। बल्कि दुरतिक्रम। प्राकृत के आचारांग में कहा गयाः **कामा दुरतिकम्मा -** कामनाओं का पार पाना बहुत कठिन है। कई बार जिंदगी की व्यस्तताओं में कई इच्छाएं अदृश्य भी हो जाती हैं। कई बार इच्छाएं जैसे छाया भर की तरह ही शेष रह जाती हैं, उनका रूपाकार गायब हो जाता है। कई बार बच्चों के पढ़ाई या नौकरी पर निकल जाने से भी एक 'खाली हो गए घोंसले' जैसा भाव आता है, क्योंकि तब हमारी इच्छाओं का वही पैटर्न, जो हम अपने बच्चों में घटता हुआ देखना चाहते थे, प्रतिदिन सोचते थे कि उनके लिए यह करना है, वह करना है, सहसा अप्रासंगिक हो जाता है।

'नान्या स्पृहा' की स्थिति तब आती है जब हम अपनी समस्त इच्छाओं को सिकोड़कर किसी एक ही लाइफ-डिफाइनिंग चीज पर केन्द्रित कर देते हैं। जब हम इच्छा-विशेष पर ही नहीं, इच्छा मात्र पर, इच्छा की

प्रवृत्ति पर विचार कर, सारे विश्लेषणोपरांत, इस पूरे इच्छा के व्यायाम की निरर्थकता समझ लेते हैं। जब हमें लगता है कि देअर इज़ नो प्वाइंट इन डिज़ायरिंग। इसमें भीतर किसी खास इच्छा की मृत्यु घटित नहीं होती है, बल्कि इच्छा 'करना' समाप्त हो जाता है। हम सहसा इच्छा-व्यापार को साक्षी भाव से देखते हैं, मीर 'अनीस' की तरह महसूस करते हैं : **'साथ जाता नहीं कुछ जुज़ अमले नेक 'अनीस'/इस पै इंसान को है ख़्वाहिशे दुनिया क्या क्या?'** कि वेदव्यास (महाभारत, आदि पर्व 75/50) हमें सहसा याद आते हैं : **'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति/हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते'-** कि विषय-भोग की इच्छा विषयों का उपभोग करने से कभी शान्त नहीं हो सकती। घी की आहुति डालने से अधिक प्रज्ज्वलित होने वाली आग की भाँति वह और भी बढ़ती ही जाती है। वेदव्यास के याद आने से अर्थ, इस तरह की निष्पत्ति और निष्कर्ष पर बिना वेदव्यासी संदर्भ के पहुंचने से है। अष्टावक्र ने इसे स्पृहा का गलना कहा है : **'क्व धनानि/क्व मित्राणि क्व में विषयदस्यव/क्व शास्त्रं क्वं च विज्ञानं यदा में गलिता स्पृहा'**- कि जब मेरी इच्छा गल गई तब कहां धन है, कहां मित्र हैं, कहां मेरे विषयरूपी दस्यु (लुटेरे) हैं, कहां शास्त्र हैं और कहां विज्ञान है! वही मस्तराम का भाव : चाह नहीं, चिंता नहीं, मनवां बेपरवाह/जाको कछू न चाहिए, सो जग साहंसाह। यह स्थिति उस तरह के दिल टूटने से गुणवत्ता में बहुत फरक है जब एक तरह के डिप्रेशन में हम स्पृहा की दुनिया से तंग आ गए होते हैं। वहां अंधेरा है, यहां जागृति है। हमें सहसा नहीं बल्कि क्रमिक रूप से, धीरे-धीरे लेकिन लगातार अपने जीवन स्तर की निम्नता के प्रति एक जागरण, एक बोध होता जाता है। ओह, इच्छाओं में मैं यह कहां तक गिर गया। मैं जो सोचता था कि मैं संसार की आशा हूँ, मैं जिसे मेरे माता-पिता मानवता की धरोहर की तरह पाले थे, मैं जो एक आदर्श की तरह दिपदिपा सकता था- मैं यह कहां आ पहुंचा हूँ। ये क्या जगह है, ये कौन सा दयार है? क्या मैं यहीं पहुंचने के लिए जन्मा था? धीरे-धीरे ये सारे प्रश्न भारी होते जाते हैं। चेतना कब तक झेले इन सवालों का भार, इनका दंश। अपने अस्तित्व के अंतर्विरोधों का बोझ?

मनुस्मृति कहती है : **'अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्/यद्यद्धि कुरुते किंचित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम्'-** इस संसार में इच्छा के बिना किसी मनुष्य का कोई काम कभी भी नहीं दिखाई देता। मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब इच्छा के कारण। 'इच्छा को लोग एक भाव समझते हैं, लेकिन जरा ध्यान से देखें तो इच्छा एक अभाव है। किसी चीज का न होना, कोई अपूर्णता।' शिवानंद कहते हैं कि **'डिज़ायर इज़ पावर्टी'** कि इच्छा दरिद्रता है।

उस क्षण हम इच्छा की आध्यात्मिकता को रिकवर करते हैं। तब इच्छा एक प्रार्थना बन जाती है। तब हमारी इच्छा हमारे 'डीपेस्ट सेल्फ' तक की यात्रा पूरी कर लेती है। तब हम वहीं प्रभु की छवि पाते हैं : रघुपते हृदयेऽस्मदीये। शार्ङ्गधर संहिता (पूर्वखंड 5/49) के अनुसार 'हृदयं चेतना-स्थानभोजसश्चाश्रयो मतं' कि हृदय चेतना का स्थान है और ओज का आधार स्थल है। इच्छा की यात्रा को तो हृदय में पहुंचना ही है क्योंकि वह स्वयं उद्भूत भी वहीं से होती हैः- **'भुवनं मनसो नान्यदन्यत्र हृदयान्मनः/अशेषा हृदये तस्मात् कथा परिसमाप्यते'** कि संसार मन से भिन्न नहीं है, मन हृदय से भिन्न नहीं है, अतः समस्त कथा हृदय में ही समाप्त होती है। इच्छा की 'डीपनिंग' 'हृदयस्थो भगवान मंगलाय तनो हरिः' तक ले जाएगी। यह इच्छा का समाहुतिकरण (absolutization) है। लेकिन तुलसी ने यह भी सिद्ध किया कि इच्छा का आध्यात्मीकरण, इच्छा का अवमानवीकरण नहीं है। हृदय में स्थित विष्णु का साक्षात्कार विश्व से विलग नहीं करता। वह एकांतिक (aloof) होना नहीं है। आत्मा-केन्द्रित होने और आत्म-केन्द्रित होने में फर्क है। प्रसिद्ध उत्तर-आधुनिक धर्मशास्त्री मिशेल ड सर्टेऊ ने कहा है : 'He or she is a mystic who cannot stop wanting and with the certainty of what is lacking, knows of every

place an object that it is not that; one cannot stay there nor be content with that. Desire creates an excess. Places are exceeded, passed, lost behind it. It makes one go further, elsewhere. It lives nowhere.' तुलसी वह इच्छा करते हैं जो सबसे सम्बन्ध जोड़ती है, न कि ऐसी कि जो सम्बन्ध तोड़ती है। इसलिए वह विकास और विस्तार को सुनिश्चित करने वाली स्पृहा रखते हैं, वह स्पृहा जिससे मैथ्यू आर्नल्ड की वह पंक्ति सच लगने लगती है : 'The same heart beats in every human breast. कि वही एक हृदय हर मानव वक्षस्थल में धड़कता रहता है। बात इस हृदय की ही है और इसीलिए तुलसी 'हृदयेऽस्मदीये' शब्द के मार्फत बस उसे ही रेखांकित करते हैं। शेख सादी (गुलिस्तां, आठवां अध्याय) कहते थे : **'अज़ तने बेदिल ताअत नयायद'** कि हृदयहीन मनुष्य से उपासना नहीं होती।

तुलसी इच्छाओं का वास स्थान हृदय मानते हैं, लेकिन इस हृदय में इच्छाओं की भीड़ वे इकट्ठा नहीं करना चाहते। इच्छाओं की भीड़ इच्छाओं की एकाग्रता को, उनकी तीव्रता और उनके वेग को कम, भोथरा और दुर्बल कर देती है। बल्कि कई बार यह भीड़ क्रास-परपसेज़ पर काम करती है। इसमें युद्ध होता रहा है, न भी हो तो भी सैमुअल जॉनसन द्वारा बताई वो हालत तो होगी कि 'A man may be so much of everything that he is nothing of everything.' तुलसी चाह रहे हैं एक बिन्दु पर सारी ऊर्जाओं को मोड़ना, सीधे उस बिंदु पर जाना, न दायें देखना, न बायें। वे अनावश्यक कार्य ही नहीं, अनावश्यक कामनाओं से भी मुक्त होना चाह रहे हैं। शतपथ ब्राह्मण का निर्देश है : **'न ह्युक्तेन मनसा किंचन संप्रति शक्नोति कर्तुम्'** कि अयुक्त मन से कुछ भी करना संभव नहीं है।

●●●

सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा

मैं सत्य कहता हूँ और फिर आप सबके अन्तरात्मा ही हैं।

तुलसी कई बार बड़े आग्रह के साथ कहते हैं। बालकांड की शुरुआत में वे कहते हैं- **'सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे',** यहां भी उसी आग्रह के साथ कह रहे हैं कि **'मैं सत्य कहता हूँ।'** मार्कण्डेय पुराण में भी यही कहा गया : **'सत्यं चोक्तं परो धर्मः स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः'** कि सत्य-भाषण सबसे बड़ा धर्म है। सत्य पर ही स्वर्ग प्रतिष्ठित है, बल्कि ऋग्वेद तो स्वर्ग क्या धरती को भी सत्य-प्रतिष्ठित मानता था- **'सत्योनोत्तमिता भूमिः'** भूमि सत्य द्वारा प्रतिष्ठित है।

तुलसी जो सच कह रहे हैं वह क्या सामाजिक प्रक्रियाओं द्वारा निर्मित किया गया है? क्या वह ऐसा सच है कि जो किसी 'वस्तुनिष्ठ यथार्थ' की शुद्ध प्रतिलिपि है? या वह ऐसा है कि जिसमें हम तार्किकता और संगति देखते हैं? लेकिन तुलसी प्रथम पुरुष में क्यों बोल रहे हैं? क्या इसलिए कि वे अपने भीतर का सच कह रहे हैं, इसलिए, 'मैं' को सामने लाए हैं। यह वस्तुनिष्ठ यथार्थ की कॉपी नहीं है, यह तुलसी के 'सेल्फ' का हिस्सा है- तुलसी का यह 'मैं' किसी तरह की उपाधि (ascription) के पिंजरे से मुक्त हैं। कोई जाति नहीं, कोई प्रांत नहीं, कोई राष्ट्रीयता नहीं, कोई रंग नहीं। किसी विशिष्ट वर्ग की सदस्यता के लिए इसे नहीं गिना जा सकता। यह 'मैं' किसी दिए गए मेनू में से चुनी गई पहचान वाला 'मैं' नहीं है। इसका अपना दृष्टिकोण है, इसके अपने अनुभव हैं। लेकिन इसके बावजूद यह दूसरों से पृथक, अनमेल, असम्बद्ध 'मैं' न समझ लिया जाए, इसलिए तुलसी तत्काल कहते हैं : **'भवानखिलान्तरात्मा'**। यह कि आप सबके अन्तरात्मा ही हैं, न केवल मेरे बल्कि सबके। इसलिए यह एक समस्वर 'मैं' है। इस 'मैं' की बौद्धिक, सामाजिक, सौन्दर्यशास्त्रीय

और मनोवैज्ञानिक संरचना 'भव' और 'अखिल' की सुसंगति में है और इसलिए यह परिपूर्ण, समग्र व ईश्वर से ज्यादा इन्टीग्रली जुड़ा हुआ है 'मैं' है। वह उस 'आर्डर' (व्यवस्था) से विलग नहीं है।

ऐसा लगता है जैसे तुलसी जितना व्यक्तिगत साक्ष्य दे रहे हैं, उतना ही उस कॉस्मिक आर्डर की ओर भी हमारा ध्यान खींचना चाहते हैं। वे एक आध्यात्मिक और अंतर्मुखी लेकिन सर्वानुकूल और सनातन 'मैं' की ओर से बोल रहे हैं। उनके बोलने में एक तरह की स्व-चेतनता और स्व-संस्फूर्तता (Self-reflexivity) है, लेकिन वह आत्मपरक चेतनता प्रकृति के भौतिक विश्व और मनुष्यों के सामाजिक विश्व से जुदा नहीं कर दी गई है। उनका 'मैं' किसी तरह के पक्षाघात से ग्रस्त नहीं है। लेकिन वह इस मामले में अपनी पक्षधरता को जरूर स्पष्ट कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि यहां उनका एंगेजमेंट है। यहां किसी तरह का औपचारिक तथ्य कथन नहीं है। लेकिन यह 'मैं' किसी तरह की अस्मिताई भक्ति के रूप में नहीं लिया जा सके, इसकी सावधानी वे 'भवान खिलान्तरात्मा' कहने में बरतते हैं। गॅरेट थाम्पसन ने उचित ही लिखा : 'The search for the I is pointless, because any seeking must be done by the I and so what is sought is already presupossed.' तुलसी 'मैं' और 'अखिल' दोनों को एक सांस में बोलते हैं क्योंकि वे आत्म-रति में ग्रस्त होने का दूर तक भी संकेत नहीं देना चाहते। उनके 'मैं' और 'अखिल' एक दूसरे को प्रतिबिम्बित करते हैं। तुलसी के समेकन की यह एक शैली है।

कई बार लोग कहते हैं कि कविता में 'मैं' शैली छायावाद से आई। 'निराला' ने दावा भी किया कि 'मैंने' 'मैं' शैली अपनाई। लेकिन उसके बहुत-बहुत पहले तुलसी ने 'मैं' शैली को खूब जमकर अपनाया था। बालकांड के 43वें दोहे तक तुलसी का आत्म-कथ्य जैसा चलता है। 'मम उर', 'बंदउं, बरनउँ', 'मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा', 'मोरि ढिठाई', 'होइ हित मोरा', 'कबित बिबेक एक नहिं मोरें', 'सोइ भरोस मोरे मन भावा', 'मम भनिति', 'तेहि बल मैं रघुपति गुन गाथा', 'ताते मैं अति अलप बखाने', 'सो उमेस मोहि पर अनुकूला' आदि ढेरों उदाहरण हैं। तुलसी के इन शुरुआती कथनों में 'मैं' का जबर्दस्त निदर्शन है। सोचिए कि एक पूरी परंपरा है जो 'मैं' को खत्म करने पर तुली हुई है। यहां तक कि कबीर भी 'मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल विनास/मेरी पग का पौंखड़ा, मेरी गल की फाँस'- कहे बिना नहीं रहते। उसके सामने तुलसी उतने 'मैं'-परक हो रहे हैं, जितने मैंने ऊपर उदाहरण दिए। इसलिए तुलसीदास के इस महाप्रबंध में अपनी तरह की एक सब्जेक्टिविटी है। यह 'आत्मपरकता' अपने आप में अहंकृति नहीं है बल्कि एक तरह से 'स्व' का उद्भावन है, जयशंकर प्रसाद की कामायनी के आशा सर्ग की पंक्तियों जैसा : **'मैं हूं, यह वरदान सदृश/ क्यों लगा गूंजने कानों में/मैं भी कहने लगा, रहूँ मैं/शाश्वत नभ के गानों में।'** भारत के दार्शनिक चिंतन में 'आत्मा' पर और पश्चिमी चिंतन में 'सेल्फ' पर बहुत चर्चा हुई है। तुलसी विकारी आत्म से अविकारी आत्मा तक की दूरी एक ही पंक्ति में तय कर लेते हैं, **'सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।'** तुलसी का 'मैं' दुनिया से अन्तःक्रिया करता है, दुनिया को अनुभव करता है- वे जब भवानखिलान्तरात्मा की बात करते हैं, तो वे एक तरह के विलयित या एकीकृत (यूनिफाइड) 'आत्म' की बात करते हैं। वह एक अलग टुकड़ा नहीं है। उनके पास एक सोचने वाला 'मैं' है जो अनुभव की गई चीजों को अवधारणीकृत करता है। जब वह उन चीजों को अवधारणा में बदलता है, ज्ञान और समझ का विकास एक वृहत्तर स्तर पर होता है।

तुलसी जब यह कहते हैं कि आप सबके अन्तरात्मा ही हैं तो वे पूरी कायनात में ईश-संचार देखते हैं, हमारे यहां ईश्वर को अंतर्पुरुष, अंतर्यामी, घटघटवासी, जगदात्मा, विश्वंभर, विश्वात्मा, सर्वव्यापी, सर्वांतर्यामी आदि कहा गया तो वह भी इसीलिए कि वह सभी के भीतर है। यह सब कितना रहस्यमय है? आपके भीतर वह कौन सा तहखाना है जहां वह कोई बैठा हुआ है, वहां न तो नेत्र

जाता है, न वाणी, न मन **(न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः-** केनोपनिषद् 1/3), वह कोई जिसे न शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी गला सकता है और न वायु सुखा सकता है। हमारे भीतर एक जासूस। हमारे भीतर एक साक्षी। (**'आत्मैव ह्वात्मनः साक्षी'**- मनुस्मृति 8/84)। इससे भागकर कहां जाया जाएगा? हमारी सारी चतुराइयों के सामने यह 'निर्विकल्प'? साक्षात् न होने पर भी साक्षी, (**आत्मा साक्षी विभु-** अष्टावक्र गीता 1/12) इसे शब्दों से गफलत में नहीं रखा जा सकता, यह 'अवाक' है। इसे भेष बदलकर नहीं भरमाया जा सकता। यह अव्यक्त और अशरीरी है। इसे मारा नहीं जा सकता कि चलो इसके वध के जरिये ही इससे पिंड छूटे। (**देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत!-** हे अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीर में सदा ही अवध्य है) यही आत्मा परमात्मा है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणियों के सदृश परमात्मा में गुंथा हुआ है। (**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव-** गीता 7/7) मौलाना रूम कहते थे : **'निगह करदम् अन्दर दिले खेश्तन/दशं जाश दीदम् दिगर जान वूद'** कि अंत में मैंने अपने हृदय के कोने में दृष्टि डाली। देखता क्या हूं कि वह वहीं पर उपस्थित है। गीता में कृष्ण यही तो कहते हैं : **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति-** कि ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में विराजमान है।

भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे

लोरी पोप्पिंगा की एक कविता याद आती है :-

I long to long for Christ
Deep down inside
In the innermost part
of my life
Not just on the surface
for show
But down in my heart
Where I'll grow

I need to need him
For my daily bread
Deep down in my heart
Not just in my head
To know, really know
He's sustainer of all

And all on my own
I will fall

I desire to desire His Word
All day long
Where the praise of my heart
overflows in a song
The words of my mouth
Honestly reflect
Christ in my life
in every respect.

यह कविता मुझे 'निर्भरां भक्ति' का एक अच्छा उदाहरण लगती है। भगवान के बारे में यह मान्यता अक्सर प्रचलित है कि वे दुष्टों के दर्पदलन के लिए, **'विनाशाय च दुष्कृताम्'**, अवतार लेते हैं। कहीं यह भी कहा गया है कि साधुओं की रक्षा के लिए वे अवतार लेते हैं। **'जब जब होइ धरम कै हानी/बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।'** लेकिन सुंदरकांड के इन तीन श्लोकों में तुलसी का जोर सिर्फ भक्ति पर है। श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान का अवतार केवल धर्मग्लानि की निवृत्ति तथा धर्म संस्थापना एवं दुष्टदर्पदलन तथा साधु परित्राण के लिए जितना होता है, उतना होता है किन्तु उसके कहीं पहले और कहीं ज्यादा वह मुख्यतया अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को भक्तियोग विधान के लिए होता है। भगवान का अवतार भक्त के लिये : **'तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनम्/भक्तियोगविधानार्थ कथं पश्येमहि स्त्रियः'** (भा.पु. 1/8/20) सुंदरकांड में सीता और राम के बीच कान्त भाव की भक्ति है, हनुमान और राम के बीच सेवक और सेव्य के रिश्ते हैं - सेवा-भाव की भक्ति का आदर्श हनुमान और विभीषण के रूप में साकार हुआ - **'सर्वलोक शरण्याय विभीषणमुपस्थितम्'** (वा.रा. 6/18/16) **'राघवं शरणं गतः'** यह वही शरणागति है जिसके बारे में वैदिक काल में **'मुमुक्षुर्वे शरणमहं प्रपद्ये'** कहा गया था (श्वे. 30/6/23) में। लेकिन राम-सीता के प्रेम की बात हो या हनुमान-राम की 'सेवा' की या विभीषण-राम की शरणागति की - भक्ति में हर जगह निर्भरता का एक अनुतत्व है ही। **'तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एकु मनु मोरा'** - राम कहला भेजते हैं - कि हे प्रिये! मेरे और तेरे प्रेम का तत्व (रहस्य) एक मेरा मन ही जानता है - और साथ ही यह भी कहते हैं - **'सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं/जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं'** - कि और वह मन सदा तेरे पास ही रहता है, बस मेरे प्रेम का सार इतने में ही समझ ले। विभीषण का भक्ति का आदर्श भी छोटा नहीं है - **'अब कृपाल निज भगति पावनी/देहु सदा सिव मन भावनी'** - कि अब तो हे कृपालु! शिवजी के मन को सदैव प्रिय लगने वाली अपनी पवित्र भक्ति मुझे दीजिये, यह माँग भी निर्भरा भक्ति की मांग है क्योंकि कहा यह जा रहा है कि भक्ति भी भक्त का कृत्य नहीं है, वह भी भगवान का दान है। दूसरे, शिव और राम की एक-दूसरे में अनन्य आस्था है। स्कंदोपनिषद् में **'शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोश्च हृदयं शिवः'** कि शिव का हृदय विष्णु हैं और विष्णु का हृदय शिव हैं। शिवपुराण में भी यही कहा गया : **'ममैव हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं ह्यहम्'** - कि मेरे हृदय में विष्णु हैं और विष्णु के हृदय में मैं हूँ। (रुद्रसंहिता, सृष्टि खंड) इस तरह की अन्योन्यता तुलसी की भक्ति का आदर्श है। ध्यान दें उनके शब्द : हे रघुकुल श्रेष्ठ! मुझे अपनी परिपूर्ण भक्ति दें। निर्भरा भक्ति दें। भक्ति का तुलसी का आदर्श निर्भरा भक्ति का है। वे मानस में कहते हैं : **'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी/कहि न जाइ सो दसा भवानी'** या अत्रि के द्वारा वर्णित : **'तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुख पंकज दिए'** यह ऐसा नहीं है जैसा कि टेस्टामेंट में कहा गया कि 'No flesh should glory in his presence,' कि उसकी उपस्थिति में कोई अन्य हाड़ मांस का व्यक्ति चमकना नहीं चाहिए बल्कि हम तो रामकथा में हनुमान के तेज को पूरी दीप्तिमयता में चमकते देखते हैं। कभी राम मूर्च्छित होते हैं, तो कभी लक्ष्मण लेकिन हमेशा हनुमान उनकी रक्षा

करते हैं। भारतीय विचार पद्धति यह कहती है कि सेवक के गौरव से स्वामी का गौरव है, भक्त के गौरव से भगवान का गौरव है। इसका अर्थ यह नहीं कि हनुमान कोई अहंमन्य शख्सियत हैं बल्कि यह कि भगवत्ता उनमें प्रतिबिंबित होती है और उनकी महिमा भगवान की प्रतिद्वंद्वी नहीं है, प्रतिबिंब है। हनुमान ईसा की तरह कोई भगवद्भक्तों को बचाने वाले (Saviour) नहीं, उनका स्टेटस तो भगवान को बचाने वाले का है। अहिरावण की पूरी कथा क्या है? लेकिन यह वह भक्त है जिसमें कोई कर्ता-भाव नहीं है। यह समझता है कि वह ईश्वरेच्छा का निमित्त है। जिसने स्वयं को उदात्तता के उस स्तर पर अनुभव किया है कि स्वयं ईश्वर भी कहें - **'प्रति उपकार करौं का तोरा/सनमुख होइ न सकत मन मोरा।'** यह ईश्वर भी वह है जो अपने भक्तों को नीचा नहीं दिखाना चाहता। यह ईश्वर अपने भक्त को अपना पुत्र तो कहता है लेकिन उसके साथ ही यह भी कहता है कि : **'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं/ देखउँ करि बिचार मन माहीं।'** अपने भक्त के प्रति ऋणी होने वाला ईश्वर। भक्त पर निर्भर ईश्वर। यह वह भगवान भर नहीं है जो क्षमा करता है, नरक जाने से हमें बचाता है, जो हमारी अस्वच्छता को साफ करता है, हमारी विकृतियों को खत्म करता है बल्कि वह भगवान है जो प्रेम करता है और अपने भक्त के प्रेम के लिये ऋणी महसूस करता है। जोनाथन एडवर्ड्स (1703-1758) का एक प्रवचन है **'गॉड ग्लोरिफाइड इन मेन्स डिपेन्डेंस'** कि आदमी की निर्भरता में ईश्वर की प्रतिष्ठा है। लेकिन क्या इससे ऐसा नहीं लगता कि खुद ईश्वर का एक बहुत बड़ा अहं है जो वह अपने सामने लोगों को टिकने ही नहीं देता, जो आदमी को हमेशा अपने कदमों तले झुकाए ही रखना चाहता है, जो मनुष्य को उसकी 'औकात' बताने में मजा लेता है! क्या 'प्रभु' की इसी अवधारणा से संप्रभु की अवधारणा पनपी और उसने दुनिया भर में राजतंत्रों, तानाशाहियों और अधिनायकों का समर्थन किया? भगवान की एक ऑटोक्रेटिक व्याख्या? भगवान के 'एब्सलूट रूल' (सम्पूर्ण शासन) की कहानी? वही 'टोटलिटेरियनिज्म' कि ईश्वर हमारे जीवन के हर पहलू का नियंत्रण करता है। कि लोग अपने आपको सीमित परिवेश का 'छोटा भगवान' बनाना ही चाहते हैं और उधर सामने राम और हनुमान का वह आदर्श कि जहाँ राम हनुमान पर निर्भर हैं और हनुमान राम पर। यानि भक्ति का जो स्वरूप सुंदरकांड में सामने आता है, वह एकपक्षीय निर्भरता का नहीं है, अन्तर्निर्भरता का है। भक्ति के इस मॉडेल से उस तरह की 'मोनार्की' कभी निर्मित ही नहीं हो सकती जैसी पश्चिम के कुछ देशों में हुई। मसलन डेनमार्क-नार्वे में 1665 में 'कांगोलोवेन' (राजा के कानून) बने जिसका दूसरा कानून ही यह प्रावधानित करता था : 'The monarch shall from this day forth be revered and considered the most perfect and supreme person on the earth by all his subjects, standing above all human laws and having no judge above his person, neither in spiritual nor temporal matters, except God alone.' कि आज के दिन से सम्राट अपने समस्त प्रजाजनों द्वारा एक ईश्वर भर के अलावा सबसे पूर्ण और सबसे महत्ताशाली व्यक्ति के रूप में पूज्य और अधिमान्य समझा जायेगा, सभी मानवीय विधियों के ऊपर और स्वयं के ऊपर किसी न्यायाधीश के बिना। चाहे वह आध्यात्मिक मामले हों या सांसारिक। इस तरह का एकतंत्र निर्भरता और घुटने टेकने की उस वैचारिकता की ही परिणिति है। तुलसी ने इसकी जगह अन्तर्निर्भरता का भक्ति-प्रादर्श पेश किया। भक्त और भगवान के अन्योन्याश्रय का। एक दूसरे के प्रति उत्तरदायित्व का। एक तरह का पारस्पर्य। भक्त और भगवान का ऐक्य। **'जगद्भर्ताऽपि यो भिक्षुः भूतावासोडनिकेतनः'** जो जगत का भरण करता है, परन्तु स्वयं भिक्षु है, सब प्राणियों का आवास है परन्तु स्वयं गृहहीन है - ऐसे भगवान का ही एक आयाम भक्त है। कई लोगों ने स्वावलम्बन को 'अंतिम' मूल्य की तरह प्रदर्शित किया है। स्वावलंबन की एक झलक पर न्यौछावर कुबेर का कोष। कई लोगों ने स्वायत्तता को

एक श्रेष्ठतम जीवनादर्श के रूप में माना है। लेकिन तुलसी निर्भरां भक्ति में किसी तरह की एकांति या आत्म-रमण को उचित नहीं समझते। उनकी 'निर्भरां भक्ति' का अर्थ है सह-अनुभूति, ज्यादा परिचित अभिव्यक्ति है- सहानुभूति। उनकी भक्ति है अन्तर्सम्बन्ध। उनकी भक्ति है 'कनेक्शन'। उनकी भक्ति है सामाजिक। वह नियतियों का सम्मिलन है। वहाँ यह नहीं हो सकता कि भगवान बैकुंठ में बैठे रहें और गज को मगर पकड़ ले। वहाँ यह नहीं हो सकता कि 'यह अश्रु राम के' आते ही मन में (आते ही मन में विचार) हनुमान के दिल में उथल-पुथल न मच जाये। वहाँ भक्ति एक प्रशस्त मार्ग है, संकीर्ण नहीं। बुद्ध का प्रतीत्य समुत्पाद और महावीर स्वामी का परस्परोपजीवनं का सिद्धांत भी इसी निर्भरा भक्ति के निकट है।

निर्भरां भक्ति किसी तरह से भक्त मात्र का भगवान की ओर प्रयाण नहीं है बल्कि भगवान का भी भक्त की ओर खिंचाव है। वह भक्त का 'ईवोल्यूशन' (विकास) नहीं बल्कि भक्ति को एक 'इनवोल्यूशन' (वर्तन) की तरह पेश करना है। भक्ति एक तरह की लंबवत् गति नहीं है बल्कि वह चक्रीय है, भक्त भगवान के पीछे, भगवान भक्त के पीछे। भक्त के 'पदार्थ' में भगवान के 'प्राण'। दोनों की अंतरंगता। हनुमान किसी पाप-प्रभावक्षेत्र (dominion of sin) में नहीं हैं कि जहाँ से भगवान उनको बाहर निकालते हों। फिर भी हनुमान की निर्भरां भक्ति ही यह कहलाती है : **'अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर'** और विभीषण भी 'सहज पापप्रिय तामस देहा' कहते हैं। दोनों को अपनी श्रेष्ठता का भरम नहीं है। दोनों अधम हुये बिना स्वयं को ऐसा समझते हैं क्योंकि दोनों को लगता है कि भगवान के बिना तो वे मात्र पदार्थ ही हैं। ईश्वर ही उन्हें 'रेडीम' करता है। ईश्वर न केवल उनकी सजीवनता है बल्कि उनकी पावनता भी है। भगवान पर जितनी उनकी निर्भरता बढ़ती है, भगवान का भक्त के प्रति कंसर्न भी उतना ही बढ़ता जाता है। जब मलूकदास ने यह कहा था कि : **'अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम/दास मलूका कह गये सबके दाता राम' :** तो वे किसी तरह के आलस्य को नहीं उकसा रहे थे बल्कि वे भक्त द्वारा खुद को पूरी तरह भगवान के हवाले कर देने के एडवेंचर को बता रहे थे। सम्पूर्ण निर्भरता का एडवेंचर। तुलसी भी 'सोइ भरोस मोरें मन आवा' कहकर उसी निर्भरता को बताते हैं। **'तुलसी बिरबा बाग में सींचे से कुम्हिलाहिं/राम भरोसे जो रहहिं पर्वत पर हरिआहिं'।** यह कह देना जितना सरल है, इस भक्ति में जीवित रहना उतना ही कठिन। आदमी ईश्वर पर पूरा भरोसा कभी करता ही नहीं। कभी सेविंग्स करता है कैपिटल फार्मेशन के लिए- पूंजी निर्माण के लिए बचत। कभी धन जुटाने/लूटने की जुगत करता है। ईश्वर पर निर्भरता तो ठीक है, लेकिन अपने सुरक्षा उपाय तो करने ही होंगे। अब तुकाराम के उस अभंग की परवाह कौन करे जिसमें वे कहते हैं कि सर्वस्व न्यौछावर करने पर ही भक्ति की प्राप्ति होती है- **भक्तीची ते जाती ऐसी/सर्वस्वासी मुकावें।** निर्भरा भक्ति फिर अपने लिए कोई पृथक से रियायत नहीं मांगती, कोई अलग सिक्योरिटी नहीं। वह तो सम्पूर्ण है, विभक्त नहीं। विभक्ति है तो भक्ति नहीं है। अब निर्भरा भक्ति में तो सिर्फ **'एक भरोसो, एक बल, एक आस विस्वास'** वाली बात है- यहां संग्रह नहीं है। यहां परिग्रह भी नहीं है। बिहारी कहते थे कि **'कोऊ कोटिक संग्रहे/ कोऊ लाख हजार/मो संपत्ति यदुपति सदा, बिपति बिदारनहार।'** इसी भावना से तुलसी ने **'जो हौं सो हौं राम को'** (कवितावली, उ.कां. 107) कहा। इसी भावना से उन्होंने कवितावली में कहा : **'जागैं बुध विद्या हित पंडित चकित चित/जागैं लोभी लालच धरनि धन धाम के/जागैं भोगी भोग ही, वियोगी, रोगी सोग बस/सोवैं सुख तुलसी भरोसे एक राम के।'** निर्भरा भक्ति के अनूठे लाभ तुलसी गिनाते हैं और जागृति व तंद्रा के पूरे रूपक को इसी निर्भरा भक्ति के सहारे सिर के बल खड़ा कर देते हैं। वैराग्य संदीपनी के एक दोहे में वे निर्भरा भक्ति में निहित एकाग्रता और अनन्यता को सामने लाते हैं : **'एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास/राम-रूप स्वाती जलद, चातक तुलसी दास'**

इसी निर्भरा भक्ति के सहारे वे एक सर्वथा मुक्त मनुष्य की तरह सत्ता को चुनौती देने लायक आत्मविश्वास जुटाते हैं : **'हम चाकर रघुबीर के पटौ लिख्यौ दरबार/ तुलसी अब का होहिंगे नर के मनसबदार।'** कवि गंग ने तो इसी निर्भरा भक्ति के सहारे अकबर को चुनौती दे दी थी : **कवि गंग तो एक गोविंद भजै/कहुं संकन मानत जब्बर की/जिनको हरि की परतीति नहीं/सो करौ मिलि आस अकब्बर की।** इसलिए निर्भरा भक्ति से परावलंबन और पराश्रय को कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता। बल्कि मुझे तो यह इतिहास का व्यंग्य नहीं, निर्भरा भक्ति का न्यायोचित परिपाक ही लगता है कि रामकथा के सभी चरित्रों में राम को छोड़कर सिर्फ हनुमान ही हैं- निर्भरा भक्ति के अप्रतिम आदर्श- जिन्होंने भारतीय जन मानस में अपनी स्वायत्त सत्ता विकसित की, जिनके स्वतंत्र मंदिर भारत के कोने-कोने में बन गए- यहां तक कि सीता और लक्ष्मण तक के भी स्वतंत्र मंदिर नहीं हैं, लेकिन गांवों-कूचों-मड़ई-चौराहों-हर कहीं बस गए। हनुमान जिस समय संपूर्णतः राम पर निर्भर हुए, उसी दिन वे सर्वथा स्वायत्त हो गए। जब भक्ति अपनी पूर्णता पर पहुंचती है, उस क्षण वह उतनी उन्नत और उदात्त हो जाती है कि आराध्य से फर्क ही नहीं रह जाती। आराधक ही आराध्य हो जाता है। सम्पूर्ण विनम्रता ही सम्पूर्ण गौरव हो जाता है।

निर्भरता की यह भक्ति किसी पृथकता (isolation), किसी स्व-अजनबीपन (self-estrangement), किसी शक्तिहीनता, किसी अर्थहीनता-बोध, किसी विलगाव (alienation) से भी मुक्त करती है। व्यक्तियों, समूहों एवं वर्गों के बीच जब खाइयां पैदा हो रही हों, जब व्यक्ति के भीतर एक अप्रामाणिक व्यक्ति पैदा हो गया हो, जब परिवर्तनों की तीव्रतम गति अनुकूलन की समस्या पैदा कर रही हो, जब आदमी लगातार किसी न किसी असमंजस में पड़ा हो, जब रिश्ते दिखावटी हों और बनावटी भी, जब आदमी को अविश्वास और उदासीनता की छायाएं घेर रही हों, जब श्रमिक अपने ही द्वारा उत्पादित वस्तु पर भी अपना बस नहीं महसूस कर पा रहा हो- न केवल उत्पादन की वस्तु पर बल्कि उसकी प्रक्रिया पर भी, जब एक तरह की शक्तिहीनता का अलगाव वाला अहसास उसके चेतन-अवचेतन पर हावी होता जाता हो, जब आदमी प्रकृति से भी कट गया हो- न उसे किसी बौर के या किसी कोंपल फूटने का इन्तजार हो, न फुरसत हो नदी के किनारे शांत मन से बैठने की- तब निर्भरा भक्ति के आदर्श उपयोगिता के उजास से हमें किसी नये तरह से भर जाते हैं।

कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च

मिले तो निर्भरा भक्ति, हटें तो कामादि दोष। तुलसी ने इस पंक्ति में 'आदि' शब्द का बहुत अर्थगर्भी प्रयोग किया है। नारायण पंडित (हितोपदेश) में छः दोष गिनाते हैं : **'षड्दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता/निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता'-** निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और ढिलाई इन छः दोषों को त्याग दें। एक अन्य संस्कृत श्लोक में कहा गया : **'अलसो मन्दबुद्धिश्च सुखी च व्याधिपीड़ितः/निद्रालुः कामुकश्चैव षडेते शास्त्रवर्जिताः'** कि आलसी, मंदबुद्धि, सुखी, रोगी, निद्रालु तथा कामी- ये छह शास्त्रों द्वारा वर्जित हैं। संयुत्तनिकाय (1/1/76) में पुनः छः छिद्रों की परिगणना है- **'आलस्यं च पमादो च, अनुट्ठानं असंयमो/निद्दा तन्दा च ते छिद्दे, सत्वसो तं विवज्जये'** कि 'आलस्य, प्रमाद, उत्साहहीनता, असंयम, निद्रा और इन छः छिद्रों को पूर्णतया छोड़ देना चाहिए।' चरक संहिता में भी दोषों की अपनी गणना है : **'वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शरीरो दोषसंग्रहः/मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च'** कि वात, पित्त और कफ शारीरिक रोगों के कारण हैं और इनका नाम दोष है। रजोगुण और तमोगुण मानसिक दोष हैं। लेकिन तुलसी दो-तीन-छः की गणना में नहीं लगते। वे 'आदि' से जब अपना काम चलाते हैं तो शायद यह भी कह रहे हैं कि दोष-गणना व्यर्थ की चीज है। दोष किसी संख्या में सीमित नहीं हैं। तुलसी वाल्मीकि की तरह यहां **'त्रयो दोषाः क्षयावहाः'** तीन विनाशकारी दोषों की भी बात नहीं करते। हालांकि रामचरितमानस में तुलसी एक जगह कहते हैं : **'तात तीनि अति प्रबलखल/काम क्रोध अरु लोभ।'** लेकिन यहां वे संख्या तो खैर नहीं ही बताते, दोषों के नाम गिनाने से भी बचते हैं। स्कंदपुराण के प्रभास खंड में कहा गया है-

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहो मद्यमदादयः।
मायामात्सर्यपैशुन्यम विवेकोऽविचारणा।।
अन्धकारो यदृच्छा च चापल्यं लोलता नृप।
अत्यायासोऽप्यनायासः प्रमादो द्रोहसाहसम्।।
आलस्यं दीर्घसूत्रत्वं परदारोपसेवनम्।
अत्याहारो निराहारः शोकश्चौर्य नृपोत्तम।।
एतान् दोषान् गृहे नित्यं वर्जयन् यदि वर्तते।
स नरो मण्डनं भूमेर्देशस्य नगरस्य च।।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद्यपान, मद आदि, कपट-छल, डाह, चुगलख़ोरी, अविवेक, विचारशून्यता, तमोगुण, स्वेच्छाचार, चपलता, लोलुपता, अत्यधिक प्रयास, अकर्मण्यता, प्रमाद, दूसरों के साथ द्रोह करने में आगे रहना, आलस्य, दीर्घसूत्रता, परस्त्री से अनुचित संबंध, बहुत अधिक खाना, कुछ भी न खाना, शोक चोरी-इन दोषों से बचा रहकर जो अपना जीवन बिताता है वह मानव पृथ्वी, देश तथा नगर का भूषण है।

नारदपुराण के पूर्वभाग, प्रथमपाद में भी कहा गया-

नास्त्यत्यकीर्तिसमो मृत्युर्नास्ति क्रोधसमो रिपुः।
नास्ति निन्दासमं पापं नास्ति मोहसमासवः।।
नास्त्यसूया-समाकीर्तिर्नास्ति कामसमोऽनलः।
नास्ति रागसमः पाशो नास्ति संग-समं विषम्।।

लेकिन तुलसी 'आदि' कहकर यह तो हासिल कर ही लेते हैं कि वे दोषों की किसी भी किस्म की परिधि नहीं बांधते। उनका बस चले तो वे कबीर की तरह कहें : **'करता केरे बहुत गुण, औगुण कोई नाँहि/जो दिल खोजौं आपणौ सब औगुण मुंझ मांहि।'** हनुमान को तो वे 'सकल गुण निधानं' कह ही रहे हैं। स्वयं के दोष लेकिन उन्हें 'आदि' का आश्रय ले लेने पर विवश कर देते हैं।

तुलसी आदि से पहले जिस एक दोष को दृष्टान्त के लिए चुनते हैं, वह है काम। तुलसी शंकराचार्य की तरह यह नहीं कहते कि **'वयसि गते कः कामविकारः'** - कि अवस्था बीत जाने पर कैसा कामविकार? वे काम को मूल दोष की तरह-सा बरतते हैं और बाकी सब दोषों को उसी के आदि में गिनते हैं। वेदव्यास ने भी महाभारत के शांतिपर्व (254/1-3) में काम को यही हैसियत बख़्शी है :

हृदि कामद्रुमश्चित्रो मोहसंचयसम्भवः।
क्रोधमानमहास्कन्धो विधित्सापरिषेचनः।।
तस्य चाज्ञानमाधारः प्रमादः परिषेचनम्।
सोऽभ्यसूयापलाशो हिपुरा दुष्कृतसारवान्।।
सम्मोहचिन्ताविटपः दुष्कृतसारवान्।।
सम्मोहचिन्ताविटपः शोकशाखो भयांकुरः।
मोहनीभिः पिपासाभिर्लताभिरनुवेष्टितः।।

मनुष्य की हृदयभूमि में मोहरूपी बीज से उत्पन्न हुआ एक विचित्र वृक्ष है जिसका नाम है काम। क्रोध और अभियान उसके महान् स्कन्ध हैं। कुछ करने की इच्छा उसमें जल सींचने का पात्र है। अज्ञान उसकी जड़ है, प्रमाद ही उसे सींचने वाला जल है दूसरे के दोष देखना उस वृक्ष का पत्ता है तथा पूर्वजन्म में किए गए पाप उसके सार भाग हैं। शोक उसकी शाखा, मोह और चिन्ता डालियाँ एवं भय उसका अंकुर है। मोह में डालने वाली तृष्णा रूपी लताएँ उसमें लिपटी हुई हैं।

नारदपुराण के पूर्व भाग, प्रथम पाद (34/96) में उसे ही मूल कहा गया है :

काममूलमिदं जन्म कामः पापस्य कारणम्।
यशः क्षयकरः कामस्तस्मात् तं परिवर्जयेत्।।

काम इस जन्म का मूल कारण है। काम पाप कराने में हेतु है और यश का नाश है। अतः काम को त्याग देना चाहिए।

लेकिन यहां काम को दोष के रूप में परिगणित करने में तुलसी ने उसे ऐन्द्रिक भोगाकर्षण के सीमित अर्थ में लिया है, अन्यथा तुलसी भी भारत की उस विचार-परंपरा से परिचित हैं जहां काम को जीवन के चार पुरुषार्थों में से एक माना गया है। जयशंकर प्रसाद ने तो कामायनी ही लिखी थी। हिन्दी में जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय आदि के प्रसंगों में फ्रायड के मनोविश्लेषण के अंतर्गत 'काम' की भूमिका पर काफी चर्चा रही, लेकिन उनसे बहुत पहले जयशंकर प्रसाद ने काम पर

कामायनी के रूप में पूरी ट्रीटाइज ही लिख दी थी जो भारतीय विचार-परंपरा के अनुकूल थी। वहां प्रसाद कहते हैं- **'काम मंगल से मंडित श्रेय/सर्ग, इच्छा का है परिणाम/तिरस्कृत कर उसको तुम भूल/बनाते हो असफल भवधाम।'** हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आलोक पर्व (पृ. 18) में उसी भारतीय दर्शन-भूमि पर अधिरूढ़ होकर ही कहा था कि 'परब्रह्म की उस मानसिक इच्छा का, जो संसार की सृष्टि में प्रवृत्त होती है, मूर्त रूप ही काम है।' अन्ततः ग्रीक देवता एरास और रोमन देवता क्यूपिड की तरह, बल्कि उनसे पहले, काम को हमारे शास्त्रों ने एक देवता का दर्जा दिया, राक्षस का नहीं। ग्रीकोरोमन शास्त्रों में भी जब क्यूपिड (कामदेव) और साइके (चिति) के प्रेम संबंध जब बताए गए हैं, मसलन एप्पालियस द्वारा दूसरी शताब्दी में लिखे आख्यान में, तो वहां भी साइके अपने पति क्यूपिड को भारतीय अनंग की तरह ही देख नहीं सकती है, उसकी अर्धांगिनी होने के बाद भी उसका पति उसके लिए अनदेखा ही रहता है, वह उसके पास रात गहराने के बाद आता है और पूर्व में इऑस (उषा) की लालिमा फैलने से पहले चला जाता है। कामदेव की ही तरह क्यूपिड/एरॉस के भी पास उनके धनुष-बाण हैं। बाणभट्ट जैसे (कादंबरी के पूर्व भाग में) कामदेव के बाणों की चर्चा करते हैं- **'अप्रतीकारदारुणां/दुर्विषहवेगः कष्ट; कुसुमायुधः/ आदौ विनयादिकं कुसुमेषुशराः खंडयंति पश्चान्मर्माणि/ न च तद्भूतमेतावति त्रिभुनेडस्य शरशरव्यतां यन्न यातं याति यास्यति वा'** (अर्थात् कष्टदायक कामदेव का आयुध असह्य वेग वाला तथा प्रतिकाररहित होने से दारुण होता है। कामदेव के बाण पहले तो विनय आदि को तोड़ते हैं, फिर मर्मस्थानों को/इस विशाल त्रिभुवन में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो कामदेव के बाण का लक्ष्य हुआ नहीं है, होता नहीं है या होगा ही नहीं। ऐसे ही नटखट एरॉस के बाण हैं। क्यूपिड और साइके के सुखमय दाम्पत्य जीवन से एक 'ज्वॉय' नामक बेटी होती है। काम और चिति के समन्वय का परिणाम खुशी ही होगी। 'सर्ग इच्छा का है परिणाम' की तरह ही एरॉस ने भी अपने सुनहले जीवन देने वाले बाणों से 'अर्थ' या 'गी' के ठंडे वक्ष को भेद डाला और धरती के पथरीले सीने को हरियाली ने ढंक लिया, चिड़ियां चहचहाने लगीं, नदियों के पारदर्शी स्वच्छ जल में मछलियां खिलवाड़ करने लगीं। एक दूसरी कहानी में प्रमीथ्यु ने देवताओं की प्रतिकृति के रूप में मानव की संरचना करने मिट्टी के पुतले तैयार किए तो एरॉस ने ही उनमें जीवन फूंका था। मनुस्मृति में कहा गया कि **'अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित। यद्यद्धि कुकते किंचित् तत्रत् कामस्य चेष्टितम्'** अर्थात् इस संसार में काम के बिना किसी मनुष्य का कोई कार्य कभी भी दिखाई नहीं देता। मनुष्य जो कुछ करता है वह सब काम के कारण।'

शिव की तरह देव सम्राट ज्यूस का भी हृदय एरॉस ने अपने पुष्पबाण से बेधा था और ज्यूस यूरोपे पर आसक्त हो गया था (अपोलो-डॉरस, हाइजीनस, ओविड तथा इनसे भी बढ़कर तीसरी शती के एलैग्जेड्राइन कवि मोस्कस ने इस प्रेम कथा का वर्णन किया है) और उसके लिए 'बैल' का रूप धारण कर लिया। घुंघराले सुनहले बालों वाले नटखट देवता ईरोस ने अपोलो जैसे प्रमुख देवता का हृदय भी परनासस की एक चट्टान पर खड़े होकर स्वर्ण-बाण से बेधकर उसे डाफ्ने के प्रति आसक्त कर दिया था। एरॉस के स्वर्ण बाण जिसे बेध जाते हैं, उसे न दिन में चैन मिलता है न रात में नींद। अपोलो ज्यूस का पुत्र है। लेकिन प्रमुख देवताओं को लक्ष्य बनाने की धृष्टता के बावजूद भी एरॉस शिव के तीसरे नेत्र के खुलने के साथ कामदेव जैसा भस्म नहीं होता क्योंकि ज्यूस और अपोलो भोगवादी बताए गए हैं जबकि शिव वैराग्य और निर्लिप्तता की प्रतिमूर्ति। हमारे यहां तो कामदेव पार्वती की शिव को वरण करने की इच्छा में सहायक होते हैं, लेकिन वहां डाफ्ने अपोलो से बचने के लिए भागती चली जाती है, अपोलो उसका पीछा करता है, भागते भागते शक्तिहीन हुई डाफ्ने के पास जब अपोलो आ पहुंचता है तो उससे बचने के लिए डॉफ्ने चीख पड़ती है, अपमान से रक्षा करने की प्रार्थना 'पिता' से करती है और प्रार्थना के फलस्वरूप लॉरेल

नामक एक वृक्ष में बदल जाती है। हमारे यहां तो स्वयं काम का रूप बदल जाता है। वह अदेह, अनंगी, अशरीर, भस्मगात्र होकर रह जाता है। कामदेव को हमारे शास्त्रों में संकल्प संभव कहा गया (भास ने अविमारक में कहा- **संकल्पमानो हि विजृम्भते मदनः**) कि संकल्प करने से ही काम-भावना की वृद्धि होती है। उसे मनसिज या मनोज कहने का भी यही अर्थ है कि वह है मन का खेल। प्लेटो ने अपने सिम्पोज़ियम में काम को एक ऐसे तत्व की संज्ञा दी है जो आत्मा को सौंदर्य-ज्ञान की पुनर्स्मृति कराता है और उसे आध्यात्मिक सत्य की समझ में योग देता है। काम हमेशा अंधा ही करता हो, यह जरूरी नहीं। लेकिन जब काम दोष हो तब यह अंधा ही करता है। कालिदास ने कुमारसंभव (5/82) में कहा : **'न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते'** कि काम-वृत्ति किसी के कहने पर ध्यान नहीं देती। मेघदूत में भी कालिदास कहते हैं कि **'कामार्त्ता ही प्रकृतिकृपणश्चेत-नाचेतनेषु** कि काम से पीड़ित लोग जड़ चेतन पदार्थों के सम्बन्ध में स्वभावतः विवेकशून्य हो जाया करते हैं।' जातक (चुल्लसुक जातक) में कहा गया **'ते अन्धकरणे कामे'** कि कामभोग अंधा बना देने वाले हैं। लेकिन जो काम दोष नहीं है, वह जागृत करता है। सुकरात ग्रीक संज्ञाए एरॉज़ (प्यार) और ग्रीक क्रिया एरोटन (प्रश्न पूछना) में व्युत्पत्तिमूलक समानता की ओर हमारा ध्यान खींचते हैं। उनका कहना था कि काम में प्रश्नाकुलता खत्म नहीं हो जाती। शायद उनका कहना उस तरह के 'काम' के लिए होगा जो जीवन के अभिप्रेरकों में है लेकिन वह काम जो दोष है उसके 5 बाण- उन्माद, निष्चेष्टीकरण, मोहन, शोषण और संतपन हैं। वह काम जो दोष है, उसके लिए हत्थिपाल जातक की वही पंक्तियां सच है : **'पंको च कामा पलियो च कामा/ मनोहरा दुत्तरा मच्चुधेय्या/एतस्मिं पंके पलिपे व्यसञ्ञा/ हीनत्तरूपा न तरन्ति पारं'**। यह वह काम है जिसके बारे में अश्वघोष ने सौंदरनंद (8/267) में कहा है कि **'रमते कामसुखेन बालिशः'**- मूर्ख का मन कामसुख में रमता है। थुसाइडीस् ने 'एरॉज' को साम्राज्यवादी इच्छाओं के मूल में ठहराया था, इसलिए प्राचीन ग्रीक नगरों में युद्ध पर जाने से पहले भी कामदेव की पूजा होती थी। वहां सत्ता की ऐषणा भी 'काम' ही थी। एक सतत असंतृप्ति जिसमें आदमी न केवल ज्यादा से ज्यादा पाना चाहता है बल्कि ज्यादा से ज्यादा होना भी चाहता है। यही काम जो प्लेटो का एरॉज है, रुसो की 'खुद को फैलाने की इच्छा' (द डिज़ायर टु एक्स्टेन्ड अवर बीइंग) है, नीत्शे की 'विल टु पॉवर' है, विकृत होकर तरह-तरह के कहर ढाता है। यानी यह तो सच है कि काम न केवल मानवीय उत्कृष्टता का एक अंग है बल्कि वह आत्मा का भी एक अलंकार है, लेकिन एक दूषित काम न केवल निकृष्टता के रसातल में ले जाता है बल्कि हिंसक अमानुषिकताओं का विद्रूप भी खड़ा कर देता है। यह वह काम है जिसे रोमन कैथोलिकों ने 'लस्ट' कहा और उसे 'प्रमुख पाप' (कैपिटल सिन) की संज्ञा दी।

आजकल तो लोग दोषों को दूर करने के लिए प्रबन्धन की भाषा में SOL तकनीक का इस्तेमाल करते हैं- सब्जेक्ट, आब्जेक्ट एवं लोकेशन की। समेइल, जिन्होंने इस तकनीक पर आधारित एक पुस्तक 'ट्रीटाइज़ आफ रिवोल्यूशनरी साइकोलाजी' लिखी है, ने कहा : 'Every time that a defect is eliminated, one part of consciousness is released and secretly your Internal Master will give you wisdom about the divine.' लेकिन तुलसी की निर्भरा भक्ति सम्पूर्ण है। वहां यदि किसी को कुछ करना है तो वह ईश्वर को ही करना है, उनके 'राम' को। यदि कामादिदोष रहित भी मानस को करना है तो वह राम का ही काम है। गीता में भगवान कृष्ण ने कहा : **'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'** कि सब कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए हुए होते हैं। इसलिए तुलसी यह नहीं कह रहे कि वे स्वयं अपने मानस से कामादि दोषों को दूर करेंगे। वे उसके लिए ईश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं कि यह शुभ काम वही करे। यों तो भगवान श्रीकृष्ण ने मन को वश में करने के लिए कहा कि **'अभ्यासेन तु**

कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते,' लेकिन तुलसी अभ्यास या वैराग्य का दावा भी नहीं करते। वे करने का काम राम पर छोड़ते हैं।

मानस के शुद्धीकरण को तुलसी ने हमेशा ही बहुत महत्वपूर्ण माना। विनय पत्रिका (पद 10) में तुलसी ने कहा : **'ऐसी मूढ़ता या मन की/परिहरि राम भगति सुर सरिता आस करत ओसकन की।'** मन के हारे हार है, मन के जीते जीत, इसलिए मानस की भूमिका को तुलसी नज़र अंदाज नहीं कर सकते। मन में कितने जन्मों का कचरा जमता रहता है, कौन जाने। इस कारण तुलसी मन की क्लींज़िंग को, मन की सफाई को बहुत महत्व देते हैं। विनय पत्रिका (पद 124) में उन्होंने कहा था : **'जो निज मन परिहरै बिकारा/तो कत द्वैत-जनित संसृति-दुख संसय सोक अपारा।'** मन में बहुत से विकार भरे रहते हैं। मन पर बहुत से दोषों का दबाव रहता है। बहुत सा अपराध-बोध, बहुत सी अशुद्धताओं से वही मन बोझिल हो जाता है जो यों तो वायु के समान प्रबल वेग वाला है। मन का मार्च धीमा पड़ता जाता है। मन के दोष मन की दासता हैं। दोषों से मुक्ति एक तरह की मनोवैज्ञानिक स्वतंत्रता है। जैसे शान्त जल में ही चीजें अपने आप को ठीक से प्रतिबिम्बित कर पाती हैं, उसी तरह से शान्त मन से ही दुनिया को सही सही देखा जा सकता है। मन शान्त तभी होगा जब वह 'कामादिदोष रहित' हो। जब दोषों का यह कचरा मन के सरोवर की सतह पर नहीं हो, तभी जगत् का सही प्रत्यक्षीकरण संभव है। दोष दरार पैदा करते हैं। दोषों के कारण मन टूक टूक हो जाता है। मन के खंडहर खड़े हुए जाते हैं। कभी बचपन में जो एक निर्दोष, निश्छल, साबुत चित्त था वह खंडहर होता जाता है, उसके शिराजे बिखरते जाते हैं। मानस की शुद्धता, मानस की पूर्णता है। मानस की अमलता से मानस की अखंडता सुनिश्चित होती है। तब मन के मानसरोवर में यदि लहरें उठती भी हैं तो भी उनके संदेश को सही सही पढ़ा जा सकता है। झरना में जयशंकर प्रसाद ने यही कहा था : **'शुद्ध मानस की लहरें लोल/पंक्तियां पावन लिखीं विचित्र/छोड़ ममता पढ़ ले इसको/यही है शुभ आदेश महान।'** त्रासदी यह घटती है कि मन के दर्पण पर विकारों की काई लग जाती है। तुलसी की प्रार्थना उस काई को हटाने की है।

तुलसी 'मानस' पर बात करते हैं, वे उनमें से नहीं हैं जो 'मानस' को भी किसी की 'भूति' (physicality) ही मानते हैं, कि भावना क्या है? ब्रेन-अंचल में कुछ न्यूरान्स की फायरिंग! तुलसी ऐसा स्वीकारना अपने लिए संभव नहीं मानते। आजकल के रिडक्टिव भौतिकवादी मानते हैं कि सभी मानसिक अवस्थाओं और गुणों की व्याख्या भौतिक शास्त्रीय प्रक्रियाओं और अवस्थाओं के वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा की जा सकती है। मन भी एक तरह का शुद्ध भौतिक परिनिर्माण है। यदि मन की कोई चीज अव्याख्येय रह गई है तो भी इसलिए कि स्नायुतंत्रविज्ञान अभी पूरी तरह विकसित नहीं हुआ है। लेकिन तुलसी 'माइंड' और 'मैटर' के द्वैत में से सिर्फ 'माइंड' का उल्लेख करते हैं क्योंकि वे उस पाश्चात्य विचार के नहीं हैं जिसके अनुसार एक स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है बल्कि वे उस भारतीय लोकमान्यता के अनुरूप चलते हैं जिसके अनुसार मन चंगा तो कठौती में गंगा। पश्चिमी विचार तो अष्टावक्र छोड़िए, स्टीफन हाकिंग तक के साथ न्याय नहीं कर सकता।

फिर, तुलसी यहां संभवतः अपनी कृति 'मानस' को भी दूषणों से रहित करवाने के लिए राम का आशीर्वाद मांगते हैं, उनकी कृपा के लिए भी प्रार्थना करते हैं। वे जानते हैं कि दोषग्रस्तता मानस के पारायण में भी उतनी ही बाधक होगी जितनी उसके सृजन में। बालकांड में वे कह चुके हैं : **'अति खल जे बिषई बग कागा/एहिं सर निकट न जाहिं अभागा/संबुक भेक सेवार समाना/इहाँ न विषय कथा रस नाना/तेहि कारन आवत हियँ हारे/कामी काक बलाक बिचारे/आवत एहिं सर अति कठिनाई/सम कृपा बिनु आइ न जाई/कठिन कुसंग कुपंथ कराला/तिन्ह के बचन बाघ हरि ब्याला/गृह कारज नाना जंजाला/ते अति दुर्गम**

सैल बिसाला/बन बहु विषम मोह मद माना/नदीं कुतर्क भयंकर नाना।' जो अति दुष्ट और विषयी हैं वे अभागे बगुले और कौवे हैं, जो इस सरोवर के समीप नहीं जाते क्योंकि यहां इस मानस-सरोवर में घोंघे, मेढक और सेवार के समान विषय-रस की नाना कथाएँ नहीं हैं। इसी कारण बेचारे कौवे और बगुले रूपी विषयी लोग यहां आते हुए हृदय में हार मान जाते हैं। क्योंकि इस सरोवर तक आने में कठिनाइयाँ बहुत हैं। श्री रामजी की कृपा के बिना यहाँ आया नहीं जाता। घोर कुसंग ही भयानक बुरा रास्ता है, उन कुसंगियों के वचन ही बाघ, सिंह और सांप हैं। घर के काम काज और गृहस्थी के भांति भांति के जंजाल की अत्यन्त दुर्गम बड़े-बड़े पहाड़ हैं। मोह, मद और पान ही बहुत से बीहड़ वन हैं और नाना प्रकार के कुतर्क ही भयानक नदियाँ हैं, इतना सब कह लेने के बाद तुलसीदास पंचलाइन में पंच मारते हैं - '**जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ/तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ।'** जिनके पास श्रद्धा रूपी राह-खर्च नहीं है और संतों का साथ नहीं है और जिनको श्री रघुनाथजी प्रिय नहीं हैं, उनके लिए यह मानस अत्यन्त ही अगम है।

मानस और मानसरोवर दोनों का कुछ ऐसा संयोग रहा कि 'मानस' के साथ सरोवर एकात्म हो गया। 'अस मानस मानस चख चाही।' जब तुलसी मानस के पारायण के लिए इतनी कठिन शर्तें रखते हैं तो मानस के सृजन के लिए रचनाकार के सामने उन्होंने कितनी कठिन शर्तें रखी होंगी। 'कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च' - पहले अपने मानस को दोष रहित बनाओ, फिर अपनी कृति को दूषण रहित होने का आशीष मांगो। तुलसी चार्ल्स बौदलेयर की तरह पाप की अतल खाइयों में स्वयं गिरकर 'पाप के पुष्प' (फ्लावर्स आफ ईविल) की रचना नहीं करते। वे शुद्धमना होकर एक तपः पूत हृदय के साथ लेखनकर्म में प्रवृत्त होते हैं।

अतुलितबलधामं

जिस तरह से सुंदरकांड का प्रथम संस्कृत छन्द राम के बारे में है, यह तीसरा और अंतिम संस्कृत छंद उनके अनन्य सेवक हनुमान के बारे में है। सेव्य और सेवक के बीच, भगवान और भक्त के बीच दूसरा संस्कृत छंद है- निर्भरां भक्ति का छन्द। इन दोनों के बीच किसी तीसरे छंद की- किसी और चीज की- जैसे जरूरत ही नहीं है। इसलिये आरंभिकी में तीन ही छन्द हैं। भगवान, भक्ति और भक्त की त्रयी बनाते। यदि न्यूटन की गति के तीन नियम हैं तो यहां रघुपति के अमोघ बाणों की तरह चलने वाले हनुमान की गति से पूर्व भी तीन नियम स्थापित होते हैं। आराध्य कैसा हो, आराधना कैसी हो, आराधक कैसा हो- ये तीन छंद इन सवालों का जवाब हैं।

हनुमान को सबसे पहले 'बल' के गुण के साथ याद किया गया जबकि राम को शांति के गुण के साथ याद किया गया। यह किसी किस्म का कंट्रास्ट नहीं है, यह हम 'शान्त' अध्याय में भी देख चुके हैं। सेवक का 'बल' सेव्य की शांति का कारण है। बल एक ऐसा वर्चु नहीं है जिसकी उपेक्षा की जाए। भले ही वह निराभौतिक भी क्यों न हो। वह अपने किस्म का यथार्थवाद है। विवेकानन्द कहते थे : **'केवल एक पाप है। वह है दुर्बलता।'** राम के साथ बल की बात करना, ईश्वर के साथ 'बल' की बात करना उसे कुछ ज्यादा ही पार्थिव बनाना है। वह तुलसी को नहीं रुचता। लेकिन तुलसी अव्यावहारिक नहीं हैं। इसलिए राम के संबंध में जिस गुण को वह उल्लिखित नहीं करते, हनुमान के संबंध में उसका प्रथमोल्लेख करते हैं। राम के संबंध में जिस 'बल' का बहिरंगीकरण (exteriorization) हनुमान के रूप में दिखाया है, ईश्वर के साथ उसी बल का बहिरंगीकरण, भारतीय परंपरा में, शक्ति के रूप में हुआ, इसलिए तुलसी परंपरा से कोई बहुत फर्क

नहीं कर रहे। राम को महाबली कहना कैसा लगेगा? ईश्वर को महाबली कहना कैसा लगेगा? हमारी परंपरा उसे 'आलमाइटी' भी नहीं कहती। लेकिन हनुमान को महाबली कहा गया। जोसेफ आल्टर का उत्तरभारत की पहलवानी पर एक एदनोग्राफिक अध्ययन - द रेसलर्स बॉडी के नाम से है। उसमें एक अध्याय पहलवानी के संरक्षक देवता - हनुमान पर है। यह हनुमान की शुद्ध दैहिक प्रेरणा का निरूपण है।

अगस्त्य मुनि से श्रीराम ने विनयपूर्वक कहा था **'अतुल बलमेतद् वै वालिनो रावणस्य च/न त्वेताभ्यां हनुमता समं त्विति मतिर्मम'** कि महर्षि निःसंदेह बाली और रावण के बल की कहीं तुलना नहीं थी, परन्तु मैं समझता हूँ कि इन दोनों का बल भी हनुमान की बराबरी नहीं कर सकता था।

उससे कहीं आगे चलकर हनुमान अपने आराध्य की 'वाइटल इनर्जी' हैं। वे भक्ति और शक्ति के बीच के सेतु हैं। भक्त भगवान की ऊर्जा है। वे जिस 'बल' को रूपायित करते हैं, वह बल सिर्फ पोटेंसी नहीं है, वह एक ड्राइव भी है। उनका बल इस बात में नहीं है कि वे उसके धारक हैं, इस बात में है कि वे उसके प्रयोक्ता हैं। उनकी विशेषता बली होने में नहीं है, बल के सही उपयोग में है। बली होना 'बुली' होना- दादा होना नहीं है। आपके बल की परीक्षा आपकी बैकबोन से होती है- मेरुदंड से, आपकी दादागिरी से नहीं होती। हनुमान के साथ जितनी उनकी शक्ति याद आती है, उतनी उनकी विनम्रता भी।

हनुमान का बल अतुलित है। यानी न तो वो गोलिअथ जैसा है, न सैम्सन जैसा। न नृतत्वशास्त्रियों द्वारा वर्णित मैगनथ्रोपस या जावा मैन जैसा है। न यति जैसा। न वो स्मिथसोनियन जाइंट जैसा है, न वह 1936 में चाड में फ्रेंच पुरातत्वविदों द्वारा ढूंढ़े गये महाकार 'साओस' जाति के लोगों जैसा। न वह 1930 में बाथहर्स्ट में मिले उस जीवाश्म आदमी जैसा है जो 25 फीट लंबा और विशालकाय मनुष्य था, न वह न्यूसाउथवेल्स के ब्लू माउंटेन में मिले पद चिन्हों से प्रमाणित 20 फीट लंबे आदमी जैसा। न वह भीम जैसा है कि जो अगले युग में हनुमान की पूंछ तक नहीं हटा सके। मार्को पोलो द्वारा जंजीबार में पाए गए महाकार लोगों की प्रजाति या कार्नवाल, जो 'लैंड ऑफ द जाइंट्स' कहलाता है, के लोगों की प्रजाति भी उससे तुलनीय नहीं। कोडेक्स वेटिकेनस 3738 में चार देवताओं के द्वारा बनाए महाकार मनुष्यों क्विनामेट्जिन हुएट्लैकेम से भी उनकी तुलना नहीं, न संत क्रिस्टोफर से जिन्हें 12 से 18 फीट लंबा और लगभग आतंकित कर देने वाले देहाकार के साथ अत्यन्त दयालु और संवेदनशील स्वभाव का बताया जाता है। इतिहास में भी ऐसे कई उदाहरण हैं- हालांकि हनुमान उनमें से किसी से भी तुलनीय नहीं। मसलन, टर्की में 1950 में फरात नदी घाटी में कई ऐसी कब्रों का पता चला था जो 14-16 फीट लंबे आदमियों की थीं। फ्लिंटशायर में 1833 में सड़क बनाते समय 'जाइंट ऑफ द गोल्डन वेस्ट' कहलाने वाले वेल्श योद्धा बेनली की खोपड़ी मिली थी, हालांकि अभी यह पूर्णतः स्थापित नहीं है कि यह विशाल खोपड़ी बेनिली की है। स्पेन में वेलेंशिया में रॉय नोर्विल ने एक 22 फुट लंबे आदमी की कब्र ढूंढ़ निकाली। कांगो के पूर्व रुआंडा-उरुंडी में बातुसी जनजाति तो दुनिया के सबसे लंबे लोगों की प्रजाति कही जाती है। फिलीपींस में गर्गायन नामक जगह पर 17 फीट लंबा अस्थि जाल मिला। सर फ्रांसिस ड्रेक हों या मैगेलन या सर थॉमस कैवेन्डिश-सभी के यात्रा वृत्तांतों में महाबली, अतिशयाकार लोगों की जातियों के उल्लेख आए हैं। लाओस के पुराणों में 'यक्ष' नामधारी महाकारों के उल्लेख हैं। नोर्स पौराणिकी में ह्वौटुंग, ह्वीडमार, ह्विमथर्स, हौड, ह्यूम, ह्मिमर, हरुग्निर, हायरोकिन जैसे महाकारों के नामों की ध्वनि भी हनुमान का नाम स्मरण कराती है। इतिहास, पुराण और साहित्य (याद करें बिगब्राडनैक की दुनिया) ऐसे महाशक्तिशाली लोगों का स्मरण कराते रहे हैं। हनुमान अतिशक्तिशाली हैं- **'सुनतहिं भयउ पर्बताकारा'** हनुमान सुंदरकांड से पहले ही हो गए थे और सीता के परम संदेह पर भी वे **'सुनि कपि कीन्ह प्रकट निज देहा'**- के साथ **'कनक भूधराकार सरीरा'** के रूप में सामने आते हैं। लेकिन हैं वे अतुलित। इसलिए आज के जितने भी महाकाय दीर्घकाय लोग हैं, उन्हें अधिक से अधिक भीमकाय या भीमाकार कहा जाता है। उन्हें हनुमानकाय या हनुमानाकार

नहीं कहा जाता, उन्हें 'इनमें बेहतर', या 'ईक्वली गुड' या 'लगभग बराबर' जैसे शब्दों में नहीं बांधा जा सकता। उनकी मर्त्य मनुष्यों से कोई तुलना करके तुलसी किसी तुलनावाद (कंपेरेटिविज़्म) को प्रोत्साहन नहीं देते। वे शुरू में ही **अतुलित** बोलकर उन मूढ़ स्टैण्डर्ड्स को खारिज कर देते हैं जिनके द्वारा आदमियों या संस्कृतियों के 'ईगो' से खेला जाता है। ऐसा कर वे हनुमान को क्षणभंगुरता (transitivity) से बाहर करते हैं। मर्त्य मनुष्यों की जगह उनके लिए तो अधिकतम यही कहा गया- **पवन तनय बल पवन समाना।** अतुलित कहना हनुमान को किसी तरह से अधिकतमीकरण (Maximization) से भी परे दिखाना है और किसी तरह के इष्टतमीकरण (आप्टिमाइजेशन) से भी। हनुमान के बल वर्णन को हम अपनी भाषा की दुनियावी फांसों में नहीं उलझा सकते। किसी तरह के कंपेरेटिव या सुपरलेटिव उनके प्रसंग में व्यर्थ हैं। हनुमान सात सनातनों में हैं जबकि दुनिया के जिन महाशक्तिशालियों का हमने उल्लेख किया, वे समय के किसी बिंदु पर कीलित हैं। इसलिए हनुमान को हम विकल्प की तरह नहीं भजते- किसी च्वाइस या आल्टरनेटिव की तरह नहीं। हम हनुमान को हनुमान की तरह भजते हैं। भीम में हजार हाथियों का बल होगा, हनुमान हमें वह सांख्यिकीय संतोष भी नहीं देंगे। राम की तरह शिव को भज लो, शिव की तरह राम को, कृष्ण की तरह करीम को भज लो- एक ही बात है। पर हनुमान की तरह तो सिर्फ हनुमान को ही भजा जा सकता है। उन्हें हम इसलिए नहीं भजते कि वे और विकल्पों से ज्यादा खराब नहीं हैं। उन्हें हम इसलिए भी नहीं भजते कि वे और उपलब्ध बली विकल्पों से बेहतर हैं। हनुमान हमें यह बताते हैं कि हम सबके भीतर शक्ति का एक अपार अप्रयुक्त भंडार है और एक बार उसके प्रति जागृत हो जाने पर वही व्यक्ति जो बाली से सुग्रीव की रक्षा नहीं कर पा रहा था, स्वयं भगवान राम के लिए संकटमोचक सिद्ध हो जाता है।

हनुमान को मनचाहा रूप धरने की जो शक्ति प्राप्त हुई थी, जो उन्हें एक तरह की मार्फोलॉजिकल फ्रीडम (रूपधारण स्वातंत्र्य) मिली थी वह इन दिनों के कॉमिक सुपरहीरो की प्रेरणा का भी कारण बनी है। ऐसे कई शेपशिफ्टर सुपरहीरो हैं - जैसे मिस्टर फैंटास्टिक, प्लास्टिक मैन, इलांगेटेड मैन, बीस्ट ब्वाय, केविन सिडनी, मिस्टिक, एटम, कॉलोसल ब्वाय, जार्गांटा, हैंक पिम आदि। फैंटास्टिक फोर का नेता रिचर्ड्स अपने शरीर को किसी भी रूप में स्ट्रेच कर सकता है। जब रीड अपने साथियों के साथ चोरी से अंतरिक्ष जाने वाले एक यान में बिना कवच के प्रवेश कर जाता है और उनका यान वान एलन पट्टी से गुजरता है और वे जागतिक विकिरण का शिकार बन जाते हैं तो यान को वापस धरती पर लौटने पर विवश होना पड़ता है। रीड पाता है कि उसका पूरा शरीर लचीला हो गया है और अपनी इच्छा से वह अपने शरीर को किसी भी आकार-प्रकार का बना सकता है। प्लास्टिक मैन को एक मुनि (monk) के प्रभाव से किसी अपरिचित एसिड के शरीर में फैल जाने से शरीर को रबर की तरह खींचने, बाउंस करने और ढालने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। हनुमान की भी परिवर्त्य दैहिकी (malleable physiology) सुंदरकांड में अपने चरम पर है।

जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा,
तासु दून कपि रूप देखावा।
सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा,
अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा।।
मसक समान रूप कपि धरी ....
अति लघु रूप धरेउ हनुमाना,
पैठा नगर सुमिरि भगवाना।
बिप्र रूप धरि वचन सुनाए, ...
करि सोइ रूप गयउ पुनि तहवां ....

प्लास्टिक मैन अपने शरीर को पूर्णतः चपटा कर किसी बंद दरवाजे के भीतर घुस जाता है और अपनी उंगलियों को ताले की चाबी बनाकर उसे खोल भी सकता है। वह अपनी शरीर-संहति (body mass) और शरीर संरचना को इच्छानुसार बदल सकता है। प्लास्टिक मैन की संकल्पना हनुमान से कितनी प्रभावित है, यह उसकी प्लास्टिसिटी, अक्षत रहने की शक्ति (invulnerability), अमरता (प्लास्टिक मैन को 3000 साल से जिंदा बताया गया है), अल्ट्रासोनिक डिटेक्शन

जैसी शक्तियों से पता लगता है। राल्फ डिफनी नामधारी 'ईलांगेटेड मैन' कॉमिक सुपरहीरो की शक्तियां जिंगोल्ड नामक सोडा की उसकी मेटाह्यूमन दैहिकी के गुप्त जीन से संक्रिया होने से जागृत हुई हैं। हालांकि प्लास्टिक मैन की तुलना में उसकी रूप और आकार बदलने की क्षमता सीमित है। हनुमान की तरह इलांगेटेड मैन जासूसी करने में भी अत्यन्त दक्ष है। बीस्ट ब्वाय की रूप बदलने की क्षमता इतनी है कि उसका एक उपनाम चेंजलिंग भी पड़ गया। हनुमान यदि **'मसक समान रूप कपि धरी'** की स्थिति में आ जाते हैं तो बीस्ट ब्वाय भी संसार के किसी भी जंतु का रूप धारण कर सकता है। एक अन्य सुपरहीरोइन मिस्टीक भी रूपातिक्रांति की योग्यता से संपन्न है। वह 100 साल से ज्यादा समय से सक्रिय बताई जाती है और वह सुंदरकांड के हनुमान की तरह रात में विचरण करने वाले नाइटक्रॉलर नाम के एक अन्य सुपरहीरो की मां भी है। एटम नामक एक अन्य सुपरहीरो एक बायो-बेल्ट पहनकर रूप बदल लेता है। जिम एलन नामक एक दूसरे सुपरहीरो का म्यूटेशन एक रेडियोएक्टिव उल्का के प्रभाव से हो जाता है और उसमें अपना आकार बढ़ाने की शक्ति आ जाती है। वह 'कोलोसल ब्वाय' बन जाता है। गार्गान्टा नामक एक और सुपरहीरोइन में भी आकार बदलने की यह शक्ति है लेकिन कभी-कभार उसकी ग्रोथ उसके नियंत्रण से बाहर होकर तांडव मचा देती है। वह मूलतः एक बायोकेमिस्ट थी जिसने V-47 फार्मूला संयोगवश खुद पी लिया। डॉ. हेनरी हैंक पिम की विशेषता यह है कि वह एक छोटे से कीड़े के रूप में भी सिकुड़ सकता है, कभी जाइंट-मैन बन सकता है, कभी गोलिअथ और कभी यलोजैकेट नामक एक छोटा सा कीड़ा भी। केवल कॉमिक्स लेखकों की ही बात नहीं है। संभवतः इसी कारण हनुमान चित्रकारों के भी प्रिय चरित्र रहे हैं- वे शत्रुओं के लिए भयास्पद, बच्चों के प्रिय (उन पर बनी एनीमेशन फिल्म की लोकप्रियता इसका प्रमाण है), चिरकुमार, वैयाकरण, विद्वान क्या कुछ नहीं हैं। अभी कुछ माहों पहले भोपाल में जब अंतर्राष्ट्रीय रामायण मेला हुआ तो उसमें विभिन्न देशों की प्रस्तुतियों में हनुमान ही एक ऐसे चरित्र थे जो सभी में समान रूप से लोकप्रिय हुए। रामलीलाओं में तो यह नित्यप्रति का अनुभव है। एम.एफ. हुसैन ने हनुमान पर खूब चित्र बनाए हैं। हनुमान द डिवोटी, हनुमान द वारियर, हनुमान लंकादहन जैसे उनके हनुमत चित्रों की एक लंबी श्रृंखला है। कहीं हनुमान राम, लक्ष्मण और सीता को कंधे पर बिठाकर ले जा रहे हैं, कहीं उनकी उड़ान का जादू है। हनुमान द वारियर में हुसैन ने जानबूझकर उन्हें मुख्य चित्र के लिए सेट की गई ग्रिड से बाहर निकलते हुए दिखाया है- हनुमान की यह अतिक्रांति उनके विस्फोटक बल का ही निदर्शन है जिसे एम.एफ. हुसैन ने बहुत प्रज्ञावान तरीके से पकड़ा है। हुसैन ने एक काली पृष्ठभूमि पर हनुमान के योद्धा-स्वरूप की उजली रेखाएं खींची हैं। हनुमान 'द डिवोटी' में हुसैन ने हनुमान की भक्ति तो खैर दिखाई ही है, लेकिन उनके बाहुओं और जंघाओं में हनुमान का बल फूटा पड़ रहा है।

हुसैन किन्तु हनुमान-तत्व को समझ नहीं पाए, इसलिए उनकी हनुमान सीरीज़ हुसैन की कुंठा की अनवरत श्रृंखला का ही एक और उदाहरण है। मसलन उनके एक चित्र में नग्न सीता को हनुमान की पूंछ पर बैठा दिखाया गया है। यह शास्त्र सम्मत नहीं क्योंकि शास्त्रों में कहीं हनुमान द्वारा सीता को बचाकर ले जाते नहीं दिखाया, बल्कि सीता से हनुमान यही कहते हैं : **'कछुक दिवस जननी धरु धीरा/कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा'** ऐसा लगता है हुसैन के भीतर एक फ्रायडियन अतृप्ति बल्कि एक आसुरी अतृप्ति- रह गई है जो उन्हें इसी में एक साइकोपैथिक आनंद देती है। एक अन्य हुसैन पेंटिंग में तीन मुखी हनुमान हैं- शास्त्रों में भले ही पांच मुख बताए गए हैं लेकिन हुसैन की कलात्मक स्वतंत्रता को तर्क और तथ्य से क्या लेना देना- ये तीन मुखी हनुमान एक नग्न युगल (जिन्हें श्यामल बागची राम और सीता की नग्न आकृतियां कहे हैं), के सामने हैं और उनका खड़ा हुआ उत्तेजित लिंग उस युगल की स्त्री की ओर मुड़ा हुआ है। इसी श्रृंखला की तेरहवीं पेंटिंग में नग्न सीता नग्न रावण की जांघ पर बैठी हुई हैं और हनुमान रावण पर आक्रमण कर रहा है। हुसैन चित्र बनाते नहीं, चित्र तोड़ते हैं। हुसैन के लिए पैगंबर की पुत्री फातिमा को, मदर टेरेसा को, अपनी मां को, अपनी

बेटी को पूरे कपड़ों में दिखाना जितना जरूरी है, उतना ही हनुमान, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, भारत माता, पार्वती को नंगा चित्रित करना भी जरूरी है। हुसैन की यह सफाई कि नग्नता उनके लिए शुद्धता का प्रतीक है- अपने सिवाय बाकी दुनिया को बेवकूफ समझने का नतीजा है। यदि नग्नता शुद्धता है तो फातिमा के लिए, मदर टेरेसा के लिये, अपनी मां-बेटी के लिए यह शुद्धता क्यों नहीं बताई गई? क्या इस तर्क के मान से वे अशुद्ध और अपवित्र हैं? हुसैन को नहीं लगता कि पार्वती भी किसी की बेटी हैं और सीता भी; जगत्जननी दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती तो सबकी माँ हैं, भारत माता भी उतनी ही मां हैं, जितनी मदर टेरेसा। हुसैन जैसों के बस का रोग 'अतुलित बलधामं' कहे जाने वाले हनुमान हैं ही नहीं। जो हुसैन उस इस्लामी रूढ़ि का बहुत आदर करते हैं जिनमें ईश्वर के चित्र नहीं दिखाए जाते क्योंकि वह 'फार्मलेस' है- 'रूप' से रहित- और जो कभी यह प्रश्न नहीं करते कि पैगम्बर के भी चित्र नहीं बनाना क्या यह कहना है कि वे भी 'फार्मलेस' थे, वे हुसैन हिन्दू धर्म की स्थापित मान्यताओं के विरुद्ध और 'आइकॉन-प्रोटोकॉल' के विरुद्ध चित्र बनाने की क्रांतदर्शिता का परिचय आसानी से दे लेते हैं। यह क्रांतदर्शिता उनके कला-स्वातंत्र्य समर्थकों को जितनी नजर आती है, वह कायरता उतनी नजर नहीं आती। रूढ़ि विरोध व्यक्ति के चरित्र में होता है कि चयन में? कहां तो हनुमान की क्रान्ति कि शत्रु देश भी निःसंकोच पहुंच जाते हैं और कहां हुसैन कि जो मातृदेश भी छोड़ जाते हैं।

बहरहाल हम बात कर रहे थे हनुमान के उस बल की जिसके जरिए वे बार-बार रूप बदल लेते हैं। पौराणिकियों, लोकवृत्तांतों, विज्ञान कथाओं और फंतासियों में बार-बार शेप-शिफ्टिंग प्रसंग आए हैं। यहां तक कि पुराने गुहानिवासी मानव के चित्रों तक में आदमी और पशु के बीच अंतरण के वर्णन मिलते हैं। मसलन लॅ त्रोई फ्रेरेज़ में द सोर्सरर नामक चित्र थीरियोन्थ्रोपी या जोअनथ्रोपी में विश्वास बहुत पुराना है। कई आदिम जनजातियों और आदिम वंशों में किसी 'पशु' से मानव वंश का उद्‌गम दिखाया जाता रहा है। मिस्र की पौराणिकी में रा, सोबेक, एनुबिस आदि कई देवता हैं जिनका आधा शरीर पशु का है। कई बार ऋषियों, मुनियों, देवताओं के शाप से भी प्रभावित पात्र की शेप-शिफ्टिंग हुई है। हनुमान की भिन्न-भिन्न रूप धारण करने की शक्ति स्वैच्छिक है। हनुमान की तरह ही स्थिति फैंटास्टिक फोर के फ्रैंकलिन की है जो एक नन्हें बच्चे के शरीर में एक जीवित देवता की शक्ति रखता है। हनुमान की सुपरस्पीड की नकल द फ्लैश और क्विकसिल्वर जैसे सुपरहीरो कॉमिक पात्रों में की गई है। उनका बल भी अद्‌भुत है। जिस वज्र के घात से उनके 'हनु' पर चोट पहुंची, उसी के कारण उनकी स्मृति वज्रांग (प्रचलित नाम बजरंग) के रूप में सुरक्षित हो गई। वे 'थंडरबोल्ट' की तरह याद किए जाते हैं।

बल के अनेक रूप हैं। नीत्शे या टिलिच की दृष्टि में कुछ और एडलर या मे (1972) जैसे मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में कुछ। पार्सन्स (1963) या डाहरेन्डार्क (1959) जैसे समाज वैज्ञानिकों के हिसाब से कुछ और मार्गेन्थु (1962) और साइमन (1957) जैसे राजनीतिविज्ञानियों की आँखों में कुछ। मसलन हमारे यहाँ वेदव्यास ने महाभारत के उद्योग पर्व (37/52-55) में कहा था-

बलं पंचविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे।
यत् तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते।।
अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते।
तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः।।
यत् त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम्।
आभिजातबलं नाम तच्चतुर्थ बलं स्मृतम्।।
येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत।
यद् बालानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञाबलमुच्यते।।

अर्थात्, राजन! आपका कल्याण हो। मनुष्यों में सदा पाँच प्रकार का बल होता है, उसे सुनिए। जो **बाहुबल** नामक प्रथम बल है, वह निकृष्ट बल कहलाता है। **मंत्री का मिलना** दूसरा बल है। मनीषी लोग **धन-लाभ** को तीसरा बल बताते हैं। पिता-पितामह से प्राप्त **'अभिजात'** नामक चौथा बल कहा गया है। हे भारत! जिससे इन सभी बलों को संगृहीत किया जाता है और जो सब बलों में श्रेष्ठ बल है, वह पाँचवां **बुद्धि-बल** कहा जाता है। आश्चर्य है कि इसके सहस्राब्दियों बाद

समाजमनोवैज्ञानिक फ्रेंच एवं रेवन ने भी 1959 में पाँच तरह की 'पावर' वर्णित कीं - पोजीशनल या लेजिटिमेट पॉवर जो किसी एक खास पोजीशन पर पहुँचने पर मिलती है, रेफरेन्ट पॉवर जो निष्ठा विकसित करवाने और दूसरों को आकर्षित करने पर निर्मित होती है, एक्सपर्ट पॉवर जो ज्ञान या कौशल की विशेषज्ञता पर निर्भर होती है, रिवार्ड पॉवर जो व्यक्ति के दूसरों की पुरस्कृत करने की शक्ति पर निर्भर करती है और कोएर्सिव पॉवर जो दंडित करने नुकसान पहुँचाने की शक्ति पर मुनहसिर है। हनुमान की रेफरेंट पॉवर शुद्धतम है। **'सो सब तब प्रताप रघुराई/नाथ न कछु मोर प्रभुताई।'** उनकी एक्सपर्ट पॉवर की ओर संकेत **'पवन तनय बल पवन समाना'** में है। कोएर्सिव पॉवर तो उन्होंने लंका दहन में दिखा भी दी।

वराहमिहिर के यहाँ भी बलों की चर्चा मिलती है। उन्होंने शब्द-बल का उल्लेख किया है जिसके अंतर्गत स्थान बल (पोजीशनल स्ट्रेंथ), दिग्बल (डायरेक्शनल स्ट्रेंथ), कालबल (टेंपोरल स्ट्रेंथ), चेष्टाबल (मोशनल स्ट्रेंथ), नैसर्गिक बल (नेचुरल स्ट्रेंथ) और दृक्बल (आस्पेक्चुअल स्ट्रेंथ) शामिल हैं। हनुमान के पास भले ही इसमें हर तरह का बल हो, लेकिन स्वयं उनकी सोच दूसरी है। पॉल टिलिच ने 1954 में बल को स्व-स्थापन (सेल्फ-एफर्मेशन) के रूप में परिभाषित किया था और कहा था कि भले ही यह स्व-स्थापन स्व-समर्पण के रूप में हो। हनुमान का बल ऐसा ही है। वह राम के प्रति सम्पूर्ण समर्पण है। निष्ठा का उत्कर्ष। बीजमंत्र में तुलसी जिसे 'अतुलित बलधामं' कह रहे हैं, वही हनुमान स्वयं रावण को सुंदरकांड में किस बल की ओर ध्यान दिलाते हैं :

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया,
पाइ जासु बल बिरचति माया।।
जाकें बल बिरंचि हरि ईसा,
पालत सृजत हरत दससीसा।।
जा बल सीस धरत सहसानन,
अंडकोस समेत गिरि कानन।।

हनुमान को अष्ट सिद्धि के दाता के रूप में भी वर्णित किया गया। अणिमा, ईशित्व, गरिमा, प्राकाम्य, प्राप्ति, महिमा, लघिमा और वशित्व- ये आठ सिद्धियां हनुमान को 'अतुलित बलधामं' तो बनाती ही होंगी। लेकिन तुलसी ने हनुमान को अतिबली न बोलकर बलधामं कहा। राम के लिये उन्होंने कहा- अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। इसलिए हनुमान को उन्होंने अतुलित बलधामं कहकर स्वयं को किसी तरह के अंतर्विरोध से भी सुरक्षित रखा। राम भले ही 'अतुलित बल' से सम्पन्न हों लेकिन राम के धाम तो स्वयं हनुमानजी हैं- **'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।'**

अरस्तू ने बल को एक ऐसी शक्ति के रूप में वर्णित किया जो परिवर्तन का स्रोत है, जो उसे क्रियान्वित करने की क्षमता है और जो एक ऐसी स्थिति है जिसके बिना चीजें अपने आप में जस की तस रहें। शक्ति गति का कारण है। आश्चर्य नहीं कि अतुलित बलधामं वातजातं भी हैं। अतुलित बल है तो गति भी पवन सी है। वे ऐसे बल के स्वामी नहीं हैं जिसमें तमस हो। याद करें, तमस का एक पर्याय तीव्रबंध है। लेकिन हनुमान तो पवन की तीव्रता और क्षिप्रता वाले हैं। श्रीकृष्ण के पास एक प्रसंग में वे गरुड़ से बहुत पहले पहुँच जाते हैं और वैनतेय हांफते-हांफते जब श्रीकृष्ण के पास पहुँचते हैं तो वहाँ हनुमान को काफी पहले से बैठा पाकर उनका गर्व मोचन होता है। उनकी गति उनकी सतत उद्यमशीलता में है। तमाम किस्म के निठल्लेपन और मट्ठरी के विरोध में है। वे काहिली के नहीं, कार्यशक्ति के निधान हैं। वे बदलाव लाने वाली शक्ति हैं। सुंदरकांड में एक तरफ जब सीता नैराश्य की उस हालत में पहुँच गई हैं कि आत्महत्या ही उन्हें एकमात्र मार्ग नज़र आता है, पवनपुत्र ही उनके मनोदृश्य में परिवर्तन लाते हैं। भगवान राम को भी वे ही सीता-शोध के जरिये निर्णायक युद्ध के लिये तत्पर कर देते हैं। **'अब बिलंबु केहि कारन कीजे?'**

हेमशैलाभदेहं

देवताओं के साथ स्वर्ण की स्मृति किसी न किसी रूप में पुरानी पौराणिकियों में रही है। हीलिओस का रथ और शय्या सोने की बनी है, अपोलो के धनुष-बाण, मर्करी की छड़ी, हैरा की पादुकाएं, पालास का शिरस्त्राण, कैलिप्सो का बेल्ट, डायना का धनुष, क्यूपिड का तीर, वीनस का बेडचैम्बर सोने के बने हैं। ग्रीक देवता क्राइसस स्वर्ण का देवता है, देवराज ज्यूस का बेटा। लेकिन हनुमान की तो पूरी देह ही जैसे देखकर लगता है कि वह सोने के पर्वत की आभा है। मेघनाद का तो कवच ही सोने का था, लेकिन हनुमान का तो पूरा तन। क्यों न हो? वे सूर्य के शिष्य जो हैं। उसी सूर्य के जिनका एक नाम स्वर्णरेता है, जिनका एक नाम हिरण्यरेता है।

यह चीज मुझे चकित करती रही कि हनुमान को जगह-जगह स्वर्ण के वर्ण वाला या स्वर्ण-शरीर वाला क्यों कहा गया है और प्रायः उसके साथ स्वर्णपर्वत की याद क्यों की गई है। **'कनक बरन तन तेज बिराजा/मानहुँ अपर गिरिन्हकर राजा, हेमशैलाभदेहं, कनक भूधराकार सरीरा'** जैसे शब्द क्यों बार-बार उनके संदर्भ में आए हैं? क्या हनुमान ने गोल्डन बॉडी टैनिंग करवाई थी? सोने की एंटी-बैक्टिरियल और एंटी-इन्फ्लैमेटरी विशिष्टताएं तो हैं। प्राचीन मिस्त्रियों से लेकर रोमनों तक के समय में स्वर्ण का उपयोग सौंदर्योपचार के लिए तो किया भी जाता रहा। सोने की 'हीलिंग' और 'रिजुवेनेशन' (पुनर्स्फुरण) की शक्तियां तो हैं। जापान का गोल्ड फेशियल ट्रीटमेंट तो इसी आधार पर चलता है और पश्चिम में बहुत लोकप्रिय भी हुआ है। क्या इससे भी एक कदम आगे जाकर हनुमान ने कहीं गोल्ड थ्रेड लिफ्ट स्किन रिजुवेनेशन ट्रीटमेंट तो नहीं करा लिया था? यूरोप में डॉ. अलेक्जेंड्रा चैंबर्स जैसे कास्मेटिक सर्जन इसके तहत स्वर्ण-कणों (गोल्ड फिलामेंट्स)

को स्किन की सतह के नीचे एक जाल की तरह सी देते हैं और धागे के इर्द-गिर्द कोलाजेन व इलास्टिन फाइबर पैदा होने शुरू हो जाते हैं, स्किन का ढीलापन खत्म हो जाता है, उम्र बढ़ने का चेहरे पर दुष्प्रभाव भी खत्म हो जाता है। चेहरे, गर्दन, बांहों, टांगों, पेट आदि के लिये यह बहुत लाभदायक सर्जरी है, किंतु हनुमान के ऐसा कुछ करा लेने का कोई थोड़ा-सा भी उल्लेख नहीं मिलता।

फिर हनुमान को बार-बार 'हेमशैलाभदेहं' या 'कनक भूधराकार' कहने के पीछे आशय क्या है? क्या इसलिए कि जिस तरह से स्वर्ण सबसे लचीली/लोचदार (Malleable/ductile) धातु है, हनुमान स्वयं अपने शरीर को उस तरह से भांति-भांति के रूपों/आकारों में ढाल लेते हैं। जैसे पवनपुत्र पवन के कोप के कभी पात्र नहीं होंगे, वैसे ही गोल्ड इज नॉट अफेक्टेड बाई एयर। स्वर्ण दुनिया भर में मौद्रिक विनिमय के आर्थिक संदेशप्रेषण के काम आता है। हनुमान मौद्रिक न सही, राजनीतिक संदेश पहुंचाने के लिए ही चुने जाते हैं।

लेकिन हनुमान कनक भूधराकार इसलिए हैं क्योंकि उन्हें कनक कोट का सामना करना है। वे लंका किसी तरह के गोल्ड रश के चलते थोड़े ही जा रहे हैं जैसे कि 1803 में उत्तरी कैरोलिना में जार्ज विल के पास रीड गोल्डमाइन की खोज के वक्त लोग गये थे या केलीफोर्निया, कोलोरेडो, ओटागो, आस्ट्रेलिया, विटवाटर्सरैंड, ब्लैक हिल्स आदि में देखे गए। हनुमान लंका की ओर- उसके कनक कोट की ओर रश कर रहे हैं- लेकिन सिय-सुधि के लिये, स्वर्णान्वेषण के लिये नहीं। वे समुद्र पार भी करेंगे लेकिन फ्रिट्ज हेबर की तरह समुद्री पानी से सोना निकालने के लिये नहीं- वैसे भी ऐसी कोशिशों से जितना खर्चा होता है, उतने का तो सोना निकलता भी नहीं। हनुमान सम्पूर्णतः हेमशैलाभदेहं हैं किंतु उनकी गति 'मिडास' की सी नहीं है, रघुपति के अमोघ बाणों की सी है। मिडास की स्वर्ण-शक्ति उसका अभिशाप बन गई थी। फिर मिडास को अपोलो के शाप से गधे के कान मिले थे। ऐसी स्वर्ण-शक्ति कि जिसमें कला मर्मज्ञता और संवेदना न हो- मिडास के मिथक का अर्थ है। किन्तु ऋतंभर हनुमान की स्वर्ण-देह वरदान है। लंका के कनक कोट में जिस तरह का सोना है, उसे देखकर थॉमस हुड की पंक्तियां याद आती हैं- **'गोल्ड, गोल्ड, गोल्ड, गोल्ड/ब्राइट एंड यलो, हार्ड एंड कोल्ड।'** दरअसल स्वर्ण रावण की निधि है किंतु स्वयं हनुमान राम की निधि हैं। विलियम शेक्सपीयर ने **'सेंट-सेड्यूसिंग गोल्ड'** की बात की थी- संतों को भी लुभा-ललचा लेने वाले सोने की, लेकिन दुनिया में कोई ऐसा स्वर्ण नहीं जो इस हेमशैलाभदेहं को लुभा सके। गॉड और गोल्ड के बीच सिर्फ एक 'एल' अक्षर का फर्क है। हनुमान उस 'एल' के लस्ट- या वासना- में नहीं फंसते, वे रामकाज करने आए हैं और उसी को पूरे समर्पण व तन्मयता से करते हैं। कुछ लोगों के लिये तो स्वर्ण ही भगवान है। भगवान की ही तरह इसका भी एक आभावृत्त (हेलो) है, इसकी भी सब पूजा करते हैं, यह भी ताकतवर है और भौतिक दुनिया की चिंताएं यह भी सुलझा देता है। लेकिन हनुमान इन प्रकट समानताओं के बीच मौजूद वास्तविक फर्क को जानते हैं। वे जानते हैं कि जैसे अग्नि सोने को परखती है, सोना हमें परखता है।

और तुलसी जानते हैं कि किसी मंदिर की या किसी भवन की तो गोल्ड प्लेटिंग की जा सकती है, दांतों के बीच के अंतराल की गोल्ड फिलिंग भी हो सकती है- लेकिन किसी मानव शरीर की गोल्ड प्लेटिंग करना तो उसे 'ममी' बना देना होगा। कवियों में एक प्रथोक्ति चलती है कि आत्म-संबोधि को उपलब्ध व्यक्ति की काया स्वर्णिम हो जाती है। हनुमान एक ऐसे ही व्यक्ति हैं। आत्म-ज्ञान से भरपूर, अतः उनकी काया का हेमशैलाभ होना स्वाभाविक है। एक दूसरी मान्यता यह है कि मानव जन्मना **'कंचन काया निर्मल हंस'** होता है- **'जिस माही नाम निरंजन अंस'** क्योंकि उसमें निरंजन का अंश होता है। लेकिन जिसे हम समाजीकरण की प्रक्रिया कहते हैं, उसके दौरान फिर धीरे-धीरे इस काया और इस आत्मा पर मैल चढ़ना शुरू होता है। द पिक्चर ऑफ डोरियन ग्रे जैसा। जैसे वहां नायक के

पापों के कारण उसके शरीर की जगह उसके चित्र का विरूपण (disfigurement) होता जाता है, वैसे ही इस दुनिया में मनुष्य की देह और आत्मा दोनों को विकृतियां लगभग फाउस्टियन तरीके से शिकार बनाती जाती हैं। आदमी अपनी बुनियादी निर्दोषता, निष्कपटता और अबोधपन खोता जाता है। जिस तरह से फाउस्ट ने मेफिस्टोफिलीज से सौदा किया था, उसी तरह से मनुष्य भी जैसे-जैसे उम्रदराज होता है- कई तात्कालिक लाभों के लिए शैतान से समझौते करता है। हेमशैलाभदेहं एक ऐसे व्यक्ति का प्रतीक शब्द है जिसकी आत्मा उसकी बुराइयों से कुरूप नहीं हुई है, जो एक भ्रष्ट, असंतुलित और बेढब आत्मा का बोझ अपने कंधों पर नहीं ढो रहा, जिसके मन में अपराध-भावना नहीं है और नैतिक शुद्धता का उत्कर्ष जिसने हासिल कर लिया है। हनुमान के बचपन का अपना प्राधान्य रहा है। जिस अबोधता में वे सूर्य को लाल फल समझ बैठे थे, उनकी वह अबोधता कभी खंडित नहीं हुई, वह दुनिया के ताप से गली नहीं, वक्त की बेरहम गलियों में भी उसका क्षय नहीं हुआ। हनुमान कैरोलिन माटिल्डा की तरह मानो प्रार्थना करते हों- **ओ गॉड, कीप मी इनोसेंट, मेक अदर्स ग्रेट** : कि हे भगवान, मुझे अबोध ही रखना, बनाना दूसरों को महान। हनुमान की यह सहजता और शुद्धमनस्कता उनको सभी से भिन्न बनाती है। अबोधता का एक ही शत्रु हैः समय, लेकिन हनुमान तो स्वयं महाकाल के, रूद्र के अंशावतार हैं, इसलिए समय ने उनकी अबोधता पर विजय अर्जित नहीं की है। यदि आप अपने बचपन को सदा साथ लेकर चलते हैं तो आप कभी बूढ़े कैसे होंगे। शायद इसीलिए नानक ने **'बाल-बुद्धि पूरन सुखदाता'** कहा था कि जो अबोधमना हैं, उन्हें ईश्वर पूर्ण सुख देता है। यह शुद्धात्मा शरीर को स्वर्णाभा देने वाला गोल्ड फिलामेंट है। स्वर्ण-सदृश शुद्धावस्था में होना, अपदूषित न होना, पूर्ण होना, अविभक्त होना, अनकंडीशंड होना, समग्र होना, पावन होना, द्वैतमुक्त होना, एक ऐसी स्थिति है जिसे नानक ने **'काया कंचन कोट अपारा'** कहा है- देह को 'infinite fortress of gold' कहना इसी अर्थ में है। हनुमान के साथ कोई अहं नहीं है। ऋषियों के शाप से वे अपनी शक्तियों को भूले भी हुए हैं। इसलिए किष्किंधाकांड के अंत में जब सब अपनी-अपनी ताकत का बखान करते रहते हैं, हनुमान चुप बैठे रहते हैं- **'का चुप साधि रहेउ बलवाना।'** अतः अहंकृति उन्हें प्रदूषित नहीं कर पाती- **'देह कंचन वे बन्नीआ इन होमई माइ विगुटिया'** - नानक के शब्दों में यह स्वर्ण-शरीर अहंता के चलते विकृत होते जाता है। अहंता उसे शुद्धबुद्ध चेतना से अलगाती है। फिर बंधन पैदा होते जाते हैं। हनुमान सच्चे, सीधे, नेकनीयत, सादतमंद स्वभाव के हैं। वही स्वभाव उनके पूरे इंद्रियायतन में प्रतिबिम्बित होता है। वर्ण पर तब यह स्वर्ण है।

सेंट क्लीमेंट ने उचित ही लिखा है- **द इनोसेंट आर द गॉड्स इलेक्ट।** हनुमान सरल हैं और इसीलिए वे ईश्वर के द्वारा निर्वाचित हैं। भगवान को उन पर भरोसा है और वे कहीं ये कहते हैं कि सारा संसार मुझ पर भरोसा करता है और मैं हनुमान पर।

नानक कहते हैं कि **'काया कंचन तान त्याई सद्गुरु लाये मिलाई'** - शरीर स्वर्ण के समान हो जाता है जब सद्गुरु परमात्मा से मिला देता है, उनसे एक बना देता है। **'सदा रहे कंचन सी काया काल न कबहू बिआपाई'** गुरु गोविंदसिंह ने कहा कि तब शरीर हमेशा स्वर्णाभ रहेगा और काल भी कभी उसे जीत न पाएगा। अतः हनुमान का चिरजीवी होना इसलिए भी है क्योंकि वे 'हेमशैलाभदेहं' हैं। गुरू ग्रंथ साहिब कहते हैं : **काया कंचन सबद विचारा** कि 'शब्द' पर विचार करने से काया स्वर्णिम हो जाती है। यह शब्द 'आदि' है। कंचन काया की ज्योति उस 'निर्भय' (ईश्वर) की ज्योति में एकमेक हो जाती है- गुरुग्रंथ साहिब कहते हैं- **'गुरमुख परचै कंचन काया/निर्भय जोती जोत मिलाया'।** वहीं एक सूत्र और भी मिलता है : **'मानस जनम बाद पुन्नै पाया/देह सू कंचन चंगा राया।'** कि मानव जीवन उच्चतम् पुण्यों के बाद प्राप्त किया जाता है और यह देह तब स्वर्णिम होती है जब भगवान के

नाम का गहरा नया रंग शरीर पर चढ़ जाए। इन्हीं अर्थों में थियोसोफी परंपरा की पुस्तक 'थ्रू द गेट्स ऑफ गोल्ड' लिखी गई थी। ये स्वर्णद्वार लंकाई कनक कोट से भिन्न हैं, एकदम विपरीत।

जो लोग कहते हैं कि भक्ति परंपरा ने देह को तिरस्कृत किया वे इस हेमशैलाभदेहं को देखें। बल के तत्काल बाद देह की बात। फर्क इतना ही था कि देह आत्मा के मंदिर की हैसियत में थी। देह इंद्रियों का जेलखाना नहीं थी। नानक कहते थे- **'कंचन काया कोट विच हर हर सिद्धा'-** कि स्वर्णिम काया के किले के भीतर परमात्मा प्रकट होता है। गुरबानी में शुद्धचेतना, ज्योति-स्वरूप, सहज, 'सुन्न', आनंद बिस्माद सबद-सुरति, बाल-बुद्धि, निरहंकृति, गुरमुखता आदि को कंचन काया से जोड़ा गया था। यह हनुमान का कंचन कोट है, इसके सामने श्रीलंका के कनक कोट को रखें। इनके सामने राम के सामने घट चुके कंचनमृग प्रसंग को भी रखें और फिर हेमशैलाभदेहं के इस वीर की अपरिहार्यता के मायने समझें।

हेमशैलाभदेहं का एक अर्थ यह भी है कि सोना अग्नि में और निखरता है, विकार को प्राप्त नहीं होता। सोने का पर्याय ही है- अग्निजात। दो अन्य पर्याय हैं अग्निशेखर और आग्नेय। **'कनकहु पुनि पषान ते होई/जारेहु सहजु न परिहर सोई' - कनकहु बान चढ़इ जिमि दाहे -** विपरीत परिस्थितियां हनुमानजी के सामने आएंगी, लेकिन हनुमान की प्रतिभा उसमें और निखरेगी। विपदा हनुमान का हनुमान से परिचय कराएगी। विपत्ति उसे हैंडल करने की शक्ति का भी सृजन करती है। हनुमान इसलिए विपदाओं से भागते नहीं हैं। वे जानते हैं कि दुनिया में कोई भी दूरी इतनी बड़ी दूरी नहीं है कि विपत्ति वहां पहुंच नहीं सके। इसलिये वे स्वयं ही विपदाओं की नगरी की ओर बढ़ते हैं। वह एक 'हार्ड वर्ल्ड' है, लेकिन उसके गहरे अंधेरे में ही सितारे ज्यादा साफ दीख पड़ेंगे। कष्टों की बरसात के बिना आत्मा में कोई इन्द्रधनुष नहीं बनता। विलियम स्टेफोर्ड ने कहा था कि मैंने हर टूटी हुई चीज से पैराशूट बनाया है। हनुमान भी वैसे ही उड़ चलने के लिये प्रस्तुत हैं। उन्हें विपरीत हवाओं का भय नहीं। इसी रूप में वे सच्चे पवनपुत्र हैं। चूंकि वे संकटों से कतराते नहीं, टकराते हैं, इसलिए वे संकटमोचन भी बन जाते हैं- वे स्वयं निर्भीक हैं, इसीलिए भयभंजन भी हैं।

यह देखना दिलचस्प है कि जबकि जीसस क्राइस्ट का कहना था कि किसी ऊँट का सुई के छेद से निकलना संभव है, किसी धनवान का स्वर्ग के राज्य में प्रवेश संभव नहीं, उसके बावजूद रोमन साम्राज्य के चर्च अपने स्वर्ण-प्रेम के लिये कुख्यात रहे। सोमनाथ को स्वर्ण के लिये लूटा गया। इब्न समुराह (653 ई.) ने ईरान के जूर मंदिर की मूर्ति के सोने से बने होने और उनकी आँखों में रूबी लगे होने का उल्लेख किया है और उसे मुस्लिमों द्वारा लूटे जाने का भी। वाल्मीकि सुंदरकांड के 54वें सर्ग में जब लंकापुरी के दहन के बारे में बताते हैं तो वे यह कहते हैं : 'जलते हुए घरों से हीरा, मूंगा, नीलम, मोती तथा सोने, चांदी आदि विचित्र धातुओं की राशि पिघलकर बही जा रही है।' यह लूट का दृश्य नहीं है, हनुमान के सामने लंका के इस वैभव का कोई अर्थ नहीं है। हनुमान इस पाप से कमाए हुए माल टाल में कोई रुचि नहीं लेते। वहां के थैलीशाहों और रईसों के सामने वे बता देते हैं कि उनका धन कितना बड़ा कबाड़ है। हनुमान की नजरों में वह राशि रद्दी है। जिस हनुमान के सामने इस सब का कोई मूल्य नहीं है, उसी हनुमान के मंदिरों की ज्यादा से ज्यादा साज-सज्जा कर हम क्या सिद्ध कर रहे हैं? धर्मों में यह प्रवृत्ति काफी पुरानी है। कुवैत में अभी स्वर्ण से बने गणेश की मूर्ति पुरातात्विक उत्खनन में निकली। मुकांबिका मंदिर हो या रिचमंड हिंदू टेंपल- सभी जगह देवस्थानों को स्वर्ण से अलंकृत किया जाता है। संभवतः यह धन का कारपोरेट डिस्प्ले है। व्यक्तिगत स्वर्ण-पिपासा की निंदा और सामूहिक स्वर्ण-प्रदर्शन। सेंट जिरोम ने इस त्रासदी की ओर इशारा किया है कि **'जब क्राइस्ट नग्न छोड़ दिये गये थे, दरवाजे पर मरने के लिये, पवित्र पुस्तकें सोने और चांदी में अलंकृत की जा रही थीं।'**

यह विरोधाभास धर्मों में चलते रहे। हनुमान जिस अध्यात्म को अपने वपु में प्रतीकायित करते हैं उसकी ज्योति ही अपने आप में इतनी प्रखर है कि वह एक स्वर्ण-पर्वत लगती है।

तुलसी स्वर्ण-देह या कंचन-काया की बात ही नहीं कर रहे। वे स्वर्ण-पर्वत की बात कर रहे हैं। यह किसी उत्तुंग, उन्नतमस्तक, बुलंद अवस्था की ओर संकेत है। कल्पना कीजिए सोने के गौरीशंकर की, सोने की धौलागिरि की, सोने के काराकोरम की। शरीर है कि कंचन का कैलाश है, शरीर है कि सोने का शिवालिक है, शरीर है कि सुवर्ण का सह्याद्रि है। सोने का एक पर्याय है अमर और पृथ्वी के चिरजीविनों में एक हैं हनुमान। यह हिरण्य-हनुमान उच्चस्तरीय आदर्शों वाला है। अज़ीम, मूर्धन्य और परात्पर। जिस तरह से हनुमान की देह के संदर्भ में शिखर-श्रृंग याद कराए गए हैं, लगता है **'सिंधु तीर एक भूधर सुंदर/कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर'** या **'जेहिं गिरि चरन देइ हनुमंता' 'तैं मेनाक होहि श्रमहारी', 'गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी'** की पूर्व-भूमिकाएं बनायी जा रही हैं। जो स्वयं हेम का पर्वत है, उसे कभी हिम का पर्वत विचलित करेगा?

सोने की लंका के बारे में आलोचकों का सामान्य इंप्रेशन यह है कि वह रावण के द्वारा समृद्ध बनाई गई थी। लेकिन सच यह है कि लंका विश्वकर्मा के द्वारा इंद्र की आज्ञा पर बनाई गई थी। पहले असुर इसमें रहे, फिर यह नैऋतों के हाथ में आई और फिर राक्षसों के। भगवान विष्णु के भय के कारण असुर इसे त्याग कर रसातल की तलहटी में चले गए थे। बाद में वैश्रवण या कुबेर के नेतृत्व में नैऋतों का निवास स्थल बनी। विश्वकर्मा ने जब इसे बनाया तब ही यह **'हेमप्राकारपरिखा यन्त्र शस्त्र समावृता'** थी। तब ही यह **'रमणीया पुरी सा हि रुक्मवैदूर्यतोरणा'** थी- स्वर्ण और नीलाम निर्मित फाटकों वाली रमणीय नगरी थी। ऊपर हमने 'थ्रू द गेट्स ऑफ गोल्ड' की बात कही थी। लंका स्वर्ण की प्राचीर वाली नगरी ही नहीं थी, स्वर्ण-निर्मित कारकों वाली नगरी भी थी- **'स्वर्णप्राकार संवीता हेमतोरण संवृत्ता/मयालङ्केतिनगरी शक्राज्ञप्तेन निर्मिताः** स्वर्ण की चहारदीवारी और स्वर्ण निर्मित फाटकों वाली लंका नाम की नगरी है जिसको मैंने इंद्र की आज्ञा पर बनाया था', विश्वकर्मा कहते हैं। लंकानगरी का वर्णन करते हुए कहा- **'हेमैर्गृहशतैर्वृताम्'-** उसमें अनेक स्वर्ण निर्मित भवन थे। रावण संहिता में इसके तत्काल बाद यह कहा गया था- **'लंकामवात्य ते हृष्टा न्यवसन् रजनीचराः'** **-** 'उस लंका नगरी को देखते ही वे राक्षस वहां प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे।' इसलिए रावण को लंका के लिए श्रेय देने का कोई सुस्थापित तर्काधार नहीं है।

हनुमान के संबंध में पहले बल पर बात करने के बाद तुलसी शरीर की बात करते हैं। यानी तुलसी एक तरह की बायो-पॉवर के प्रति भी सचेत हैं। फूकाल्ट ने इसीलिए संभवतः कहा कि The body should be seen as the inscribed surface of events. इन अर्थों में हनुमान की एक देह-चर्चा भी महत्वपूर्ण हो जाती है। देह पर इतिहास की छाप होती है और संस्कृति की भी। देह वह स्थान है जिससे और जिस पर विमर्श निःसृत और मंचित होते हैं। **'देह बिसाल परम हरुआई। मंदिर तें मंदिर चढ़ धाई।'** देह की यह क्षमता लंका की सत्ता को चौंका देती है। अतः **'भयउ परम लघु रूप तुरंता'** को हम भी फूकाल्ट के 'माइक्रोफिजिक्स ऑफ पॉवर' के रूप में व्याख्यायित करना चाहेंगे। तुलसी के लिये यह देह 'आत्मा' के या 'अस्मिता' के पराएपन या विरोध के अर्थ में नहीं है। जाबालदर्शनोपनिषद् के (4/57) **शिवे देहे प्रतिष्ठिते** या कालिदास के कुमारसंभव (5/33) के **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्** की तरह ही तुलसी देह का मूल्यांकन करते हैं। यदि यजुर्वेद (29/49) में यह प्रार्थना की गई थी कि 'हमारे शरीर पत्थर के समान दृढ़ होवें - **'अश्मा भवतु नस्तनूः'** तो यहां तो देह पत्थर क्या, पर्वत है- सोने का पर्वत। हनुमान की यह चमकती देह सुंदरकांड के हाशिए पर नहीं, हृदय में है। वह आब्जेक्ट नहीं, स्वयं में सब्जेक्ट है। कुछ लोग हृदय को स्प्रिंग (वसंत या झरना) कहते

हैं और शरीर को बस कुछ स्ट्रिंग्स (स्नायुओं) का ढेर। लेकिन सुंदरकांड में हनुमान की देह का एकायामी भाष्य संभव ही नहीं है। यह देह स्वयं में ही अनेक अर्थों की वाहिका है। देह के रूपांतरणों में से प्रत्येक का एक तात्पर्य है। यानी सुंदरकांड यह भी दिखाता है कि मूर्त, भौतिक और ठोस लगती हुई काया भी कोई स्थैतिक वस्तु नहीं है, वह भी परिस्थितियों से अपनी तरह से निगोशिएट करती है। उसकी स्वर्णिमा इसी बात में है कि वह परिस्थिति-परिवर्तन में भी विकार को प्राप्त नहीं होती। देह अपने आप में अंतःक्रिया है। क्या आंख सिर्फ एक इन्द्रिय है या उसकी कोई समाजशास्त्रीय संक्रिया भी है? आंख जिस समय किसी दूसरे की आत्मा में झांक रही होती है, उसी समय स्वयं अपने आत्म को भी अनावृत्त कर रही होती है। सुंदरकांड में देह की एक विचित्र-सी गत्यात्मकता है। सुंदरकांड में देह निरूपण भी व्याख्यात्मक प्रक्रिया (इंटरप्रेटिव प्रॉसेस) का अंग है। यह शरीर कभी गोप्य है तो कभी सार्वजनीन, कभी निजी है तो कभी कूटनयिक, कभी ये सम्प्रति है तो कभी संभाव्यता। मसलन जब सीता पूछती हैं कि **'मोरे हृदय परम संदेहा'** तो हनुमान क्या करते हैं? **'सुनि कपि प्रगट कीन्ह निज देहा?'** इसके अर्थ क्या हैं? यह एक संभाव्य शरीर है। हनुमान के पास देह एक धारित वस्तु नहीं है, वह एक जीवंत कोश है, क्रिया है। गॉफमेन की ड्रामेटर्जिकल काया शायद यही है। शरीर एक पर्फार्मेंस की तरह। शरीर सोने की तरह पकता हुआ, गलता हुआ, ढलता हुआ- लेकिन कमोडिटी होने से हर जगह इंकार करता हुआ। शरीर स्वयं में एक उप-कथा बनता हुआ। सुंदरकांड के नैरेटिव में अर्थ का एक और बड़ा प्रांत स्वयं यह तनिमा है। लोग देह की इच्छाओं के बंदी होते हैं। सुंदरकांड में 'इच्छा पर देह' है और इस रूप में मुक्ति का आधार है। न केवल सीता की मुक्ति का बल्कि देह तक सीमित दृष्टि को विशाल फलक देने वाली जीवनोन्मुक्ति का।

दनुजवनकृशानुं

सुंदरकांड के शुरुआती मंत्र बीज-मंत्र हैं। वे सुंदरकांड में आगे की कथा की ओर इशारा करते हैं। यह दनुजवनकृशानुं शब्द लंका दहन की ओर इंगित ही नहीं है, यह उन सब समुद्री राक्षसियों की ओर भी संकेत है जो लंका के रास्ते पर हनुमान को बाधित करती हैं। हनुमान उन पर भी विजय प्राप्त करते हैं।

क्या समुद्री दानव कपोलकल्पित हैं? लेकिन उनको देखा जाना कई सामुद्रिकों ने वर्णित किया। सर हम्फ्री गिलबर्ट ने 1583 में न्यूफाउंडलैंड से लौटते हुये समुद्र में एक सिंह- सदृश 'मान्स्टर' (जिसकी खौफनाक चमकती आंखें थीं) को देखना रिपोर्ट किया। जुलाई, 1734 में हैंस इगेडे नामक एक डेनिश मिशनरी ने ग्रीनलैंड के पश्चिमी तट से कुछ आगे जाकर एक भयानक समुद्री प्राणी देखा जिसका आकार-प्रकार बहुत विशाल था। होमर की साइला छः सिरों वाली समुद्री नागिन है जो पास से गुजरने वाले हर जहाज से छः आदमी खा जाती है। उन्हीं की 'केरब्डीस' एक दूसरी समुद्री दानवी है जो एक दिन में तीन बार भयानक मात्रा में पानी निगलती और उगलती है और आतंकित कर देने वाले भंवर पैदा करती है। इन दोनों दानवियों के आधार पर ही आगे कुआं पीछे खाई जैसी अंग्रेजी कहावत बनी है। बाइबल में भी लेविआथन जैसा समुद्री दैत्य है। क्रेकन लोककथाओं में एक प्रसिद्ध समुद्री दैत्य प्राणी है जो नार्वे और आइसलैंड के किनारों के आसपास रहता था। उसका आकार एक बहते हुए द्वीप जैसा होता था। उसके आने से समुद्र में जो कई मील लंबी भीषण भंवर पैदा होती थी, उसमें कई जहाज डूब जाते थे। कहा जाता है कि यदि सबसे बड़े युद्धपोत पर वह आक्रमण करता तो उसे नीचे समुद्र के तल तक खींच ले

जा सकता था। ग्रीक पौराणिकियों में हाइड्रा नामक एक अन्य जल-दैत्य है जिसके अनेकों सिर हैं। कोलोसल स्क्विड नामक समुद्री प्राणी तो 39 से 46 फीट लंबी है, इसे 1925, 1981, 2003, 2005, 2007 में देखा गया। 2007 में पकड़े स्क्विड का भार 495 किलोग्राम मात्र था, आंखें 40 से.मी. चौड़ी। 1977 में दैत्याकार आक्टोपस पर 'टेंटेकल्स' नाम से एक हॉरर फिल्म बनी थी। 2004 तक 600 जाइंट स्क्विड रिपोर्ट किये जा चुके थे।

दरअसल जीववैज्ञानिकी में यह प्रवृत्ति रेखांकित की गई है कि गहरे समुद्रों के जलीय जंतुओं का आकार-प्रकार बहुत विशालकाय होता है, चाहे वह दैत्याकार आइसोपॉड हो या जापानी मकड़ी केंकड़ा, सप्तभुजा आक्टोपस हो या कोलोसल स्क्विड, जाइंट स्किंवड, डाना आक्टोपस स्क्विड्स या जाइंट ट्यूबवार्म हों। इसके पीछे के कारण अभी भी पता नहीं लगे हैं। शायद यह ज्यादा दबाव, या शरीर के तापमान में समुद्रतलीय फायदों के कारण होता हो। हनुमान को समुद्र में सुरसा मिलती है जिसमें सौ योजन बड़ा मुख कर लेने की क्षमता है, वहां उन्हें समुद्री राक्षसी भी मिलती है :

निसिचरि एक सिन्धु महुं रहई,
करि माया नभु के खग गहई।
ताहि मारि मारुतसुत बीरा,
बारिधि पार गयउ मतिधीरा।

यह समुद्री राक्षसी जल में परछाई देखकर आकाश में उड़ने वाले जीव-जंतुओं को पकड़ लेती है। हनुमान उसका संहार करते हैं। समुद्र में विराटाकार जीव-जंतु हमेशा दुष्ट प्रकृति के हों, जरूरी नहीं। यह संदेश सुरसा के माध्यम से दिया गया है। दूसरी ओर इस तरह के 'सी-मोंस्टर्स' की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया है। पूर्वी अटलांटिक में ब्लूफिन ट्यूना जैसी प्रजाति है जिसका वजन 650 कि.ग्रा. का होता है। लेकिन आज एक लाख डॉलर का उनका भाव होने के कारण वे मारी जा रही हैं। लिहाजा न केवल उनकी भी हत्या हो रही है बल्कि उन्हें एक निर्मम व्यापारिक तरीके से मारा जा रहा है। एक निर्दय हत्याकांड की अनवरत रक्तरंजना। हनुमान के द्वारा समुद्री राक्षसी का मारा जाना किसी किस्म की व्यावसायिक गतिविधि का अंग नहीं है। बल्कि वाल्मीकि ने यह लिखना जरूरी समझा **'विधाता ने ही उसे मार गिराने के लिए हनुमानजी को निमित्त बनाया था।'** यानी एक हिंसक और सांघातिक समुद्री राक्षसी के मरने पर भी कवि वाल्मीकि के मन में अपराध-बोध है। 'जिनेसिस' (बाइबल) की एक टीका के अनुसार ईश्वर ने एक नर और एक मादा लेविआथन बनाया, फिर मादा को मार दिया क्योंकि यदि लेविआथन प्रजनन में उलझ जाते, तो संसार उनके सामने नहीं टिकता। लेविआथन को सृजन के पांचवें दिन रचा गया था। लेकिन हमारे यहां हनुमान समुद्री राक्षसी को उसकी बाधा और दुष्कर्म के कारण मारते हैं, इस प्रजनन वाले आधार पर नहीं। वहां तो लेविआथन के सुंदर चमड़े से भगवान पुण्यात्माओं की रक्षा के लिए छत्र बना रहा है। इसकी तुलना में तालमुद में भगवान का लेविआथन से बेहतर रिश्ता बताया है। तदनुसार दिन के 12 घंटों में भगवान 3 घंटे बैठकर तोराह पढ़ता है, अगले 3 घंटों में बैठकर संसार का न्यायनिर्णयन करता है, फिर अगले तीन घंटे सारे संसार को खिलाता है और चौथे तीन घंटे की अवधि में वह लेविआथन के साथ खेलता है। यह कुछ-कुछ हनुमान और सुरसा जैसा है। जहां वे अपने आकार विस्तार का खेल खेलते हैं। **'जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा, तासु दून कपि रूप देखावा। सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा, अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा।'** तालमुद से विपरीत ईसाई परंपरा में लेविआथन एक दैत्य या शैतान-सम्बद्ध मोंस्टर है। सेंट थामस एक्विनास ने उसे ईर्ष्या का दैत्य कहा है। पैराडाइज लॉस्ट में मिल्टन ने लेविआथन शब्द शैतान के आकार और शक्ति को वर्णित करने के लिये इस्तेमाल किया।

दुनिया के कई देशों में समुद्री दैत्यों की कथाएं प्रचलित हैं। जापान में योफुने नुशी, वानी, इकुची, उमी न्योबो, मिजुची आदि समुद्री दैत्य हैं। तो द. अमेरिका में याकुमामा, लैकोटा में उन्क्तेहिला, इन्युइट में राइजेरुक,

चीन में रूप बदलने वाला समुद्री दैत्य शेन और पनलांग, अमेरिका में रेड इंडियंस धैर्य सिसिउत्ल नामक दो सर वाला समुद्री सर्प-दैत्य, आस्ट्रेलियन जनजातियों में मुल्जेवांक, स्लाविक लोगों में बैजिएनिक, फिलीपीन में बाकुनावा, अज्तेक में सिपाक्टली, स्काटिश लोगों में सिरीन क्रोइन और ईजी, नोर्स में जोरमुंगान्डू, फिनिश लोगों में इकू-टर्सो हैं। हनुमान को सुरसा के बाद सिंहिका नामक समुद्री राक्षसी मिलती है। वाल्मीकि रामायण में उसका यह नाम दिया है किंतु तुलसी ने अपने सुंदरकांड में उसका कोई नाम नहीं बताया। वाल्मीकि ने **'समुद्र के जल के ऊपर उठा हुआ एक विशालकाय प्राणी'** कहकर उसका वर्णन किया। हनुमान ने उसके मुख में प्रवेश करके अपने तीखे नखों से उस राक्षसी के मर्मस्थानों को विदीर्ण कर डाला। यहां से दनुज-संहार का लंकाकांड गति में आता है। हमारे यहां ख्रिस्तियों या इस्लाम की तरह शैतान लूसीफर या डेविल जैसी कोई अवधारणा नहीं है, जो राक्षसों का चिरंजीवी बॉस है। रावण राक्षसों का राजा जरूर है, लेकिन कुछ अरसे के लिये। जो ईडन के बगीचे में सांप बनकर, बुक ऑफ रिवीलेशन में ड्रेगन बनकर, गोस्पेल्स में लुभाने-ललचाने वाला बनकर, इस्लाम में इब्लिस बनकर एक केंद्रीय पाप-शक्ति के रूप में एक लगातार प्रति-सत्ता के रूप में उपस्थित रहे, ऐसा दानव-सम्राट हिंदुओं में नहीं है। उनके यहां सत्य ही एकमात्र सत्ता है, बाकी सब माया है। असुरों में राहु और केतु अवश्य ही उनके यहां भी अमर हो गए हैं, लेकिन वे केंद्रीय पापाचार सत्ता के रूप में स्थापित नहीं हैं। वे तो लघु ग्रह मात्र हैं, उनकी तुलना में साई-फाई टीवी सीरीज स्टारगेट-1 का शैतान-सोकार-ज्यादा ताकतवर दिखता है जो पूरी गैलेक्सी पर कब्जा जमाने की फिराक में है। लीजेंड फिल्म में डेविल को 'लार्ड ऑफ डार्कनेस' के रूप में चित्रित किया है। हमारे यहां तो रावण का भी एकमात्र तम के सम्राट के रूप में चित्रण नहीं है। वाल्मीकि रामायण में अरण्यकांड (50/3) में जटायु ने रावण के बारे में कहा- **'दशग्रीव स्थितो धर्मे पुराणे सत्यसंश्रय'।** रावण की मृत्यु के बाद विभीषण युद्धकांड में कहते हैं **'यह रावण-अग्निहोत्री, महातपस्वी, वेदांतवेत्ता तथा यज्ञयागादि कर्मों में श्रेष्ठशूर- परम कर्मठ रहा।'** दांते का इन्फर्नो, क्रिस्टोफर मार्लो का डॉ. फाउस्टस, जूस्ट वान डेन वोंडेल का लूसीफर, जॉन मिल्टन का पैराडाइज लॉस्ट, गोयथे का फाउस्ट, टामस मॉन का डाक्टोर फाउस्टस या विलियम गोल्डिंग का लार्ड ऑफ द फ्लाइज के डेविल जैसा रावण नहीं है। रावण दुष्ट है, पापाचार भी करता है- लेकिन है वह काल में ही कीलित। महाकाल शिव के पैर के अंगूठे से ही दब जाने पर उसके सारे कस बल निकल जाते हैं। इसलिए है वह नश्वर ही। राम विभीषण को इसी रूप में समझाते हैं- **'विभीषण बैर जीवनकाल तक ही रहता है। मरने के बाद उस बैर का अंत हो जाता है। अब हमारा प्रयोजन सिद्ध हो चुका है, अतः अब तुम इसका संस्कार करो। इस समय यह जैसे तुम्हारे स्नेह का पात्र है, उसी तरह मेरा भी स्नेह भाजन है।'**

रावण अधर्मी और असत्यवादी था, इसमें शक नहीं। अध्यात्म रामायण में कहा गया- **'अयं तु राक्षसः क्रूरो ब्रह्मातीव तामसः/परदाररतो विष्णु द्वेषी तापस हिंसकः'** अर्थात् यह क्रूर राक्षस रावण ब्रह्मघाती, अत्यन्त तपोगुणी, परपत्नीरत, विष्णुद्वेषी व तापसहिंसक है। कई लोग वाल्मीकि रामायण में एक स्थान पर उल्लिखित इस वर्णन का उल्लेख कर रावण को चरित्र प्रमाण-पत्र देते हैं - **'वहाँ कोई ऐसी स्त्री नहीं थी जिसे बल पराक्रम से सम्पन्न होने पर भी रावण उनकी इच्छा के विरुद्ध बलात्कार से हर लाया हो।'** यह सुंदरकांड में हनुमान का आब्जर्वेशन है। हनुमान जी को महल दर महल देखते हुये यह इम्प्रेशन हुआ होगा। रावण ने वेदवती और रंभा की इज्जत भी पूर्व में लूटी थी, इसका ज्ञान महल-दर-महल झांकने वाले हनुमान को कैसे हो सकता था? उसके मन में इसका अपराध बोध था। वह अशोकवाटिका में सीता को यही तो कहता है: **'परायी स्त्रियों के पास जाना अथवा बलात् उन्हें हर लाना यह राक्षसों का सदा ही अपना धर्म रहा है।'** राकेशनाथ जैसों या सरिता मुक्ता जैसी पत्रिकाओं द्वारा रावण को

आदर्श बताना अपनी तरह की विडंबना है। यह रावण सीता को अपहृत करते समय यह बताता है : **'मैं इधर-उधर से बहुत सी सुंदरी स्त्रियों को हर लाया हूँ।'** लंका में राक्षसों को एकत्र कर उसने एक तरह की 'सिन सिटी' के रूप में- पाप नगर के रूप में बसाया था। वाल्मीकि कहते हैं- **'लंकापुरी भयानक राक्षसों से उसी तरह भरी थी, जिस तरह पाताल की भोगवतीपुरी नागों से भरी रहती है। हनुमान ने वहां बहुत से घर देखे। किन्हीं में ऐश्वर्य पद से मत्त निशाचर निवास करते थे, किन्हीं में मदिरापान से मतवाले राक्षस भरे हुये थे।'** क्रूर कर्मा राक्षसों की यह बहुसंख्या सिर्फ लंका तक सीमित रहती, ऐसा न था। वह विश्व को अपने आतंक से व्याप्त कर रही थी। कई देशों के पौराणिक विश्वासों में यह भी शामिल है कि राक्षस सब जगह व्याप्त हैं। मसलन कोरिया में यह मान्यता चलती है कि राक्षस हर स्थान पर मौजूद हैं और प्राकृतिक विश्व को आच्छादित किए हैं। प्राचीन बेबीलोन में तो विभिन्न दैत्य आत्माएं शरीर के विभिन्न हिस्सों का चार्ज ले लेती थीं। सर के लिए एक, गले के लिए एक। (हमारे यहां यह दायित्व दिव्य कवचों और रक्षा स्त्रोतों के रूप में कभी मां दुर्गा तो कभी भगवान राम को दिया गया)। इजिप्ट में जिन्नों की सघन सार्वत्रिक उपस्थिति के विश्वास चलते हैं। तालमुद में तो 72 श्रेणियों में विभाजित 74 लाख पांच हजार 926 राक्षस हैं। ईसाइयत में राक्षस एक 'दुष्ट आत्मा' (ईविल स्पिरिट) है। वह आप पर कब्जा कर लेता है। अल्फांसो डे स्पिना ने 1467 में 13 करोड़ 33 लाख 16 हजार 666 राक्षस बताये थे, जोहान वेयर ने 1583 में 4 करोड़ 44 लाख 35 हजार 622 राक्षस बताये, लेकिन ईसाइयत में राक्षसों का काम मनुष्यों को पाप की ओर प्रवृत्त करना है जबकि रामकथा में रावण और उसके साथी राक्षस स्वयं पाप-प्रवृत्त हैं। ऐसा नहीं कि राक्षस को एक पृथक जाति बताकर उन्हें इतिहास में मर खप गए बताने का तुलसी का इरादा रहा होगा क्योंकि तुलसी स्वयं स्पष्ट संकेत करते हैं : **'जिन्ह के यह आचरन भवानी/ते जानेहु निसिचर सब प्रानी'** - कि जिनके ऐसे आचरन हैं उन सब प्राणियों को राक्षस ही समझना। इसलिए राम-रावण संघर्ष हमेशा प्रासंगिक बना रहता है।

लेकिन तुलसी/वाल्मीकि ने पाप नगरी की विजुअल शेपिंग उस पारंपरिक तरीके से भिन्न रूप में की है जिसमें प्राय: ऐसे स्थानों को अंधेरे के स्थान के रूप में दर्शाया जाता है। अभी जब सन् 2005 में फ्रैंक मिलर और राबर्ट रोड्रिग्ज ने सिन सिटी नामक फिल्म बनाई तो रंगीन फिल्मों के शीर्ष-युग में भी उन्होंने ब्लैक एंड व्हाइट फिल्म का-सा अनुभव दिया। सिन सिटी या पाप नगर में तमस का ऐसा प्राधान्य स्वाभाविक है। पवित्र कुरान में सही रास्ते पर न चलने वालों को 'आइस-कोल्ड डार्कनेस' के लिये अभिशप्त किया गया है। ग्रीक पौराणिकी में सबसे घृणित पापियों के लिए हेडेस से भी आगे बढ़कर 'टार्टारस' नामक जगह है जहां अंधकार की तीन परतें हैं। शेक्सपीयर ने शैतान को किंग लीयर में 'प्रिंस ऑफ डार्कनेस' कहा- 'अ मिडसमर्स नाइट ड्रीम' में उन्होंने डार्कनेस को तो जबड़े भी दिए जिनसे वो प्यार को खा जाता है। दांते ने नरक की परिभाषा 'सॉलिड डार्कनेस' (ठोस अंधेरे) के रूप में की थी। अभी डाना एन्ड्रूस ने 'नाइट ऑफ द डेमन' नामक हॉरर फिल्म बनाई तो वह भी 'अंधेरे' का इस्तेमाल करती थी। लेकिन तुलसी (और उनसे बहुत पहले वाल्मीकि) ने पाप-नगरी को चमक-दमक, तड़क-भड़क, जगमगाहट, चकाचौंध से युक्त बताकर पापाचार को एक दूसरा आयाम दिया जो ज्यादा सांप्रतिक, समसामयिक और प्रासंगिक लगता है। अध्यात्म रामायण में भी लंका को 'परम शोभनां' सुंदरकांड (2.1) में कहा गया। सारी टीमटाम के पीछे घिनौना राक्षसी चेहरा- वहीं लंका है। तुलसी इसकी असलियत का वर्णन करते हैं- **'कामरूप खल जिनस अनेका/कुटिल भयंकर बिगत बिबेका/कृपा रहित हिंसक सब पापी/बरनि न जाहिं बिस्व परितापी।'** वाल्मीकि लिखते हैं कि **'सोने के बने हुये विशाल परकोटे से घिरी हुई लंकापुरी परियों की झंकार के साथ पताकाओं से सजी थी। रावण की**

नगरी वस्त्राभूषणों से अलंकृत सुंदर युवती के समान जान पड़ती है। हनुमान जी ने उस विशाल पुरी को सतमहले, अठमहले मकानों और सुवर्णजड़ित स्फटिक मणि की फर्शों से सुशोभित देखा। उनमें वैदूर्य (नीलम) भी जड़े गये थे, जिससे उसकी विचित्र शोभा होती थी। मोतियों की जालियां भी उन महलों की शोभा बढ़ाती थीं। प्रकाशपूर्ण द्वीपों और महान गृहों ने यहाँ का अंधकार नष्ट कर दिया है।' तुलसी लिखते हैं : **'विचित्र मणियों से जड़ा हुआ सोने का परकोटा है, उसके अंदर बहुत से सुंदर-सुंदर घर हैं। चौराहे, बाजार, सुंदर मार्ग और गलियाँ हैं। सुंदर नगर बहुत प्रकार से सजा हुआ है।'** आजकल तमाम किस्म के कलुषों, दुष्कर्मों, कुकृत्यों, कुटेवों को सजधज और लकदक का लिबास ओढ़ाया जाता है। राक्षसों की बदचलनी और दुश्चरित्रता, आचारभ्रष्टता बल्कि भ्रष्टाचार से उनका ठाटबाट और शानोशौकत तो बढ़ा होगा। तुलसी ने रावणराज का परिचय देते हुए बालकांड में यही तो कहा : **'अस भ्रष्टअचारा भा संसारा।'** तो लंकापुरी होगी पुरी, होगी नगरी लेकिन तुलसी के लिये तो वह है एक जंगल। इसलिए वे उसे दनुज-वन बोलते हैं। राक्षस जिस तरह की लूटपाट में व्यस्त थे, वह एक तरह का जंगलराज ही था- माइट इस राइट। जिसकी लाठी उसकी भैंस। तमाम टीपटाप **'महालोभान्धकारावृत्तम'** है। तुलसी के शब्दों में, **'करहिं उपद्रव असुर निकाया/नाना रूप धरहिं करि माया'** ईशावास्योपनिषद् में कहा गया- **'मा गृधः कस्य स्विद् धनम्'** - किसी के धन का लालच मत करो, लेकिन रावण ने तो कुबेर की लंका पर ही कब्जा कर लिया। तुलसी के शब्दों में, **'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'** प्रत्येक लाभ के साथ उसका लोभ बढ़ता जाता था। देवी भागवत पुराण में भी यही कहा गया था - लोभ में अतीव पाप भरा हुआ है। **'लोभोऽतीव च पापिष्ठस्तेन।'** रावण ने अपना राक्षसी साम्राज्य लूट के सिद्धांत पर ही स्थापित किया था, इसलिए वह राम के त्याग को समझ ही नहीं सकता। अतः सीता का अपहरण करते वक्त वह राम को मूढ़ कहता है - **'जो एक स्त्री के कहने से सुहृदों सहित सारे राज्य का त्याग करके इस हिंसक जन्तुओं से सेवित वन में निवास करता है, उसकी बुद्धि कैसी खोटी है?'** रावण नाज़ियों की तरह लूट, छीन झपट, नोच खसोट की शासन शैली अपनाने वाला है बल्कि ध्यान से देखें तो वह पृथ्वी का पहला उपनिवेशीकरण करने वाला था - उसने आंध्रालय (ऑस्ट्रेलिया), अंगद्वीप (सुमात्रा), मलयद्वीप (मलेशिया), शंकद्वीप (बोर्नियो), यवद्वीप (जावा), वराह द्वीप (मेडागास्कर), कुशद्वीप (अफ्रीका) तक को अपने साम्राज्यवादी प्लंडर का शिकार बनाया था। रावण उसी साम्राज्यवादी परंपरा का था जिस परंपरा के चलते तब से अब तक शक्तिशाली सेनाएं नादिरशाही दिखाती आई हैं। रोम को सात बार लूटा गया, जेरुशलम को, कांस्टिनटिनोपल, बगदाद, दिल्ली, अज़्तेक सभ्यता, जर्मनी सभी को इतिहास के प्रवाह में लूटपाट का शिकार होना पड़ा। रावण के नेतृत्व में राक्षसी सेनाओं ने लूटपाट को संस्थानीकृत बना दिया था। विश्वयुद्ध के बाद रूसी सेनाओं ने जब जर्मनी को लूटा तो 25 लाख कलाकृतियां और एक करोड़ पुस्तकें व पांडुलिपियां भी लूट ली थीं। भारत की अंग्रेजों द्वारा की गई लूट जो कभी होमचार्जेस के नाम पर थी, कभी कंपनी अधिकारियों की रिश्वत वसूली के रूप में, कभी व्यापार एकाधिकार के रूप में कभी भारत के उद्योगों को खत्म कर देने के रूप में - शायद इतिहास के हालिया दौर की सबसे राक्षसी और वीभत्स स्मृति है। इस लूट के कारण करोड़ों लोग दुष्काल में मारे गए। इसलिए तुलसी स्वर्णपुरी और रत्नद्वीप कहलाने वाली लंका को दनुज वन ही कहते हैं क्योंकि वे वहां ताकत को ही तर्क के रूप में इस्तेमाल होते देखते हैं। तुलसी बताते हैं : **'आयसु करहिं सकल भयभीता/नवहिं आइ नित चरन बिनीता।'**

लेकिन हनुमान के वर्णन के लिए दनुज-वन का संदर्भ ही जरूरी नहीं है, वन-कृशानु का संदर्भ भी जरूरी है। वन शब्द तो एक तरह का 'देहरीदीपक' है जो दोनों ओर अर्थ का उजास फेंकता-फैलाता है। फारेस्ट

फायर की तरह हैं हनुमान। वैसी ही वन-अग्नि जो 1910 में मोंटाना और इडाहो में फैली थी? या उत्तरी केलीफोर्निया और दक्षिणी ओरेगान में सन् 1987 में 6 लाख 50 हजार एकड़ (2600 किमी) में फैली थी? या 1988 यलोस्टोन नेशनल पार्क में 7,93,880 एकड़ में फैली या जैसे 1825 में न्यू ब्रुन्सिवक के 30 लाख एकड़ क्षेत्र में दावाग्नि फैली? हनुमान रूपी ये दावानल-फारेस्ट फायर्स की तरह हैं क्योंकि एक तो वे पूर्व से नियंत्रित नहीं हैं, **'चले मरुत उनचास'** के कारण व्यापक हो जाते हैं, दूसरे वे पुनर्सृजन (रिजेनेरेशन) की भूमिका भी हैं। हनुमान के रूप में यह जो मूर्तिमंत प्रतिभा है, यह कोई चिंगारी भर नहीं है, यह कोई स्फुट अग्नि भी नहीं है। यह अपने प्रभाव और व्याप्ति में वृहद् है। जिनके दिमाग में धुआं भर गया है, हनुमान के रूप में प्रकट यह दावानल ही उन्हें दुरुस्त करेगा। इसीलिए हनुमान की स्तुति में **'प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यानघन'** कहा ही गया। उनकी ही एक संस्कृत स्तुति इसी कारण **'रामरोषानलज्वाल मालामिष ध्वांतचरसलभसंहारकारी'** भी कहती है। लेकिन हमारे समय के बुद्धिजीवी हनुमान को प्रथम आतंकवादी कहने से भी नहीं चूकते। ऐसे महानुभावों को संस्कृत कवि ने बहुत पहले ही समझाया था :-

यस्यौचितीं समुपदिष्टवतोडाधिपुच्छं
दम्भान्धितां धियमपेक्ष्यं विवर्धमानः
नक्तभ्वराधिपतिशेषहिरण्यरेता
लंङ्का दिधक्षुरपतत्रमहं वृणोमि

अर्थात् उचित उपदेश दे चुकने पर, जिनकी पूंछ में निशाचरराज रावण का कोपानल ही उसकी दंभ से अंधी हुई बुद्धि के सहारे बढ़कर, लंका को जलाने की इच्छा से वहां कूद पड़ा था, उन्हीं हनुमानजी का मैं वरण करता हूँ। जो व्यक्ति **'सीतारामगुणग्राम-पुण्यारण्यविहारिणौ'** है- सीता तथा राम के गुणग्रामरूपी पुण्य-वन में विहार करने वाला है, वही 'दनुजवनकृशानुं' हो सकता है। वही **'खल बन पावक'** हो सकता है।

●●●

ज्ञानिनामग्रगण्यं

हनुमान अतुलित बलधामं हैं क्योंकि वे ज्ञानिनामग्रगण्यं हैं। ज्ञान शक्ति है, यह बात घिसने की हद तक पुरानी हो चुकी है- लेकिन हनुमान का ज्ञान किसी तरह का सूचना-सामंतवाद नहीं है। ध्यान दीजिए कि ज्ञानिनामग्रगण्यं शब्द दनुजवनकृशानुं के बाद आया है। इस अनुक्रम पर जब मैं विचार करता हूँ तो मुझे कैवल्योपनिषद् का ग्यारहवां श्लोक याद आता है :

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ***ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पंडितः।।***

कि आत्मा को नीचे की अरणि तथा प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर ज्ञानी व्यक्ति ज्ञान-मंथन के अभ्यास द्वारा पाप को जला डालता है। वेदव्यास ने महाभारत के शांतिपर्व (211/17) में कहा कि जैसे आग में भुने हुए बीज नहीं उगते, उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि से अविद्यादि सब क्लेश दग्ध हो जाते हैं : **'बीजान्यान्पुपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः/ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः'** अतः हनुमान यदि ज्ञानी हैं तो इसलिए कि उनके हृदय में एक अग्नि धधक रही है। यह वही अग्नि है जिसके बारे में ऋग्वेद का पहला ही मंत्र कहता है : **'अग्निमी ले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्/होतारं रत्नधातमम्'-** कि अग्नि सबका हित संपादन करने वाला, सत्कर्म का देवता है, ऋत्विज है, बड़ी महिमा वाले कर्म को देने या ग्रहण करने वाला और रत्नों का सर्वोत्तम प्रदाता है। दानवों के जंगलराज में आग लगाने वाली अग्नि हमेशा ज्ञान से ही आती है। क्रांति के पहले किताब। शीतल, हिम के समान ठंडा, निष्क्रिय, काफी-हाउस की टाइमपास बहसों में उलझा ज्ञान यहां अभिप्रेत नहीं है। यह वह ज्ञान है जिसके सीने में आग दहका करती हो। चंद्रगुप्त के पहले का चाणक्य। एक आतिश सी हो दिल में। हनुमान तो रुद्रावतार हैं और अग्नि का एक पर्याय रुद्रगर्भ

है। अकारण नहीं कि लंकादहन के रूप में वे जो अग्न्याधान करते हैं, उसमें वायु का भी योग - **'चले मरुत उनचास'** है। अग्नि फैलती ही उसके कारण है। अग्नि को इसी कारण मरुत्सखा या वायुसखा कहा गया। हनुमान ने अपनी प्रखरता से लंका की हवा बदल दी होगी।

हनुमान के ज्ञान की ऊष्मा व्यापी तो होगी। रावण ने तमाम कोशिशें की होंगी उनकी बातों को हवा न देने की। लेकिन जो ज्ञान, जो बात हनुमान ने हवा में फेंक दी होगी- उसकी गरमाहट लंकावासियों ने महसूस तो की होगी। विचार क्या थे वे? स्फुल्लिंग थे वे। हनुमान की गति, उनकी ज्ञान-वाणी साधारण नहीं थी। हवा से बातें करते प्रबल विचार। जहां रावण स्वयं को ही सब कुछ मानता हो, जहां रावण स्वयं को देवाधिपति मानता हो- वहां एक प्रबल प्रति-विचार की अणुभा। **'सुनु रावण ब्रह्मांड निकाया/पाइ जासु बल बिरचति माया।'** यह तुलसी का दैवीकरण (divinization) है। लेकिन वाल्मीकि के हनुमान तो और बात कहते हैं। **'राक्षसराज! सुग्रीव और श्रीराम न तो देवता हैं, न यक्ष और न राक्षस ही हैं। श्री रघुनाथजी मनुष्य हैं और सुग्रीव वानरों के राजा। अतः उनके हाथों से तुम अपने प्राणों की रक्षा कैसे करोगे?'** यह मनुष्य का आत्मविश्वास है। जॉन गे ने कहीं यह कहा था- By keeping men off, you keep them on. रावण ने यही किया। मनुष्य को दूर रखकर मनुष्य को आवेशित रखा। रामकथा मनुष्य में विश्वास करती है। एक ऐसा मनुष्य जिसे न खरीदा जा सकता है, न बेचा जा सकता है, जो अधर्मी को अधर्मी कहने से नहीं चूकता। यह विचार ही अपने आप में एक विद्युतधारा है। यहां उन लोगों की पोल पट्टी खुलती है जिन्होंने राम-रावण युद्ध को आर्यों और द्रविड़ों की टक्कर बताया। यहां स्वयं वाल्मीकि इसे मनुष्य और राक्षसों की टक्कर बता रहे हैं न कि मनुष्यों की ही दो जातियों की टक्कर , न कि उत्तर और दक्षिण की टक्कर। चाणक्य ने अर्थशास्त्र (3/13/7) में कहा : **'न त्वेवार्यस्य दासभावः'**- गुलाम नहीं हो सकता आर्य। रावण के सत्तातिरेक के विरुद्ध चुनौती का यह डिस्कोर्स गहरे प्रणिधान की मांग करता है। हनुमान बल या सत्ता से ज्ञान नहीं लेते बल्कि जिसके पास सत्ता है, ताकत है, बल है; उसके समक्ष आदमी की असहमति वाले ज्ञान को सामने ले आते हैं। वे ताकत के सामने तर्क रखते हैं। वाल्मीकि के यहां तो वह लगभग सेकुलर तर्क है। वाल्मीकि के यहां हनुमान हालात, घटनाक्रम आदि से उपजी हुई सचाई को रावण के सामने लाते हैं। तुलसी के सुंदरकांड में रावण के सामने वे थोड़े से 'प्रीस्टली' (पुरोहितसम) हो गए हैं। हालांकि अपोजीशनल क्रिटिकल स्पिरिट वहां भी मौजूद है, जो रावण के पाखंड और झूठ को वहां भी फाश करती है। लेकिन वाल्मीकि की रामकथा के इस दियारे पर जो तत्कालीनता का हल्का है, जो Contemporary constituency है- उसे तुलसी ने थोड़ा सनातनी (rarefied) बना दिया है। वाल्मीकि हमसे कहीं सन्निकट, कहीं सटे हुये, कहीं इर्द-गिर्द दिखते हैं। हालांकि यदि एडवर्ड सईद के एक निबंध के शीर्षक-स्पीकिंग ट्रुथ टु पावर- का इस्तेमाल करूं तो तुलसी के यहां भी हनुमान इसी शीर्षक जैसा ही करते हैं और बुद्धिमानी से करते हैं, इसीलिए ज्ञानिनामग्रगण्यम् हैं। एडवर्ड सईद के शब्द हैं : Speaking the truth to power is no panglossian idealism : it is carefully weighing the alternatives. Picking the right one, and intelligently representing it where it can do the most good and cause the right change. सत्ता के सामने सत्य बोलना दरअसल एक प्रति-सत्ता की घोषणा है। हनुमान वही करते हैं। राक्षस के सामने मनुष्य की प्रति-सत्ता। तुलसी को लगता है कि मनुष्य का ऐसा प्रतिरोध अपने आप में एक दिव्य, एक आधिदैविक वाक्या है। वाल्मीकि कह रहे हैं कि खाक का पुतला तुम्हें मिटा सकता है, रावण! तुम कितने ही नृशंस हो, खत्म तुम्हें नृवंश ही करेगा। यह होता भी है। बालकांड के तीसवें सर्ग में वाल्मीकि के राम मारीच पर **'परम उदार मानवास्त्र'** का संधान करते हैं। एक आजानुबाहु बहुबाहु को खत्म करता है। लेकिन तुलसी को लगता है कि जो मनुष्य के भीतर की आग है, वही तो दिव्य है।

देवता को अग्निदूत कहा गया, उसे बह्निमुख कहा गया तो क्यों कहा गया? मनुष्य के भीतर का तेज, मनुष्य का आंतरिक ओज उसके भीतर के देवता की अभिव्यक्ति है। तुलसी इस अभिव्यक्ति पर ध्यान देते हैं, वाल्मीकि उस व्यक्ति पर। वाल्मीकि को जो बात डंके की चोट पर कहनी है, कहते हैं- तुलसी आदमी के भीतर हो रहे विस्फुटण के मर्म पर जाते हैं। अध्यात्म रामायण तो इस मौके पर एक कदम और आगे जाती है। वहां हनुमान सुंदरकांड में रावण को जो ज्ञान देते हैं, उसमें वे कहते हैं कि **'राक्षस! तुम देहात्म बुद्धि से भी देखो तो राक्षस नहीं हो, यदि तुम आत्म-बुद्धि से देखो तो तुम तो निर्विकार आत्मा हो- ये शरीर, बुद्धि, इंद्रिय और इनके द्वारा होने वाले दु:खों की परंपरा, ये न तुम्हारी हैं, न तुम हो।'** यानी तुलसी यह कह रहे हैं कि रावण मनुष्य के भीतर के अमृत को नहीं पहचान पा रहा लेकिन अध्यात्म रामायण के अनुसार रावण खुद अपने भीतर के अमृत को नहीं पहचान पा रहा। यों कहने को यह कि उसके नाभिदेश में अमृत है- **'नाभिदेशेऽमृतं तस्य कुण्डलाकारसंस्थितं' (युद्धकांड, अध्यात्म रामायण)।** रावण को देह के अमृत पर इतना गुमान कि अपने भीतर के अशरीरी अमृतेश्वर को भूल गया। उसे याद दिलाने पर भी वह कन्विंस नहीं होता।

इसी कारण रावण पंडित है, विद्वान है किन्तु ज्ञानिनामग्रगण्यं तो हनुमान ही हैं। रावण नहीं समझता कि उसके अंदर का कवच तो ब्रह्म (ज्ञान) है- अथर्ववेद का भी यही तो कहना था- **'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'** (1/19/4) इसलिए वह **'नाभिदेशऽमृतं'** की बात करता है। हनुमान के पास फर्क करने वाली यह अंतः प्रज्ञा है। रावण के लिए उसका पांडित्य स्वैराचार के औचित्यीकरण के लिए है। हनुमान के लिए उनका ज्ञान आत्मनिग्रह तक के लिए भी नहीं है क्योंकि उनकी सहजानुभूति ही इतनी सत्यशील है। उनका ज्ञान तो दूसरों की सेवा में और प्रबोधन में ही नहीं, दुष्टता के दमन में भी अनुरत रहता है। रावण के पास न आत्मज्ञान है, न ब्रह्मज्ञान है। उसका 'स्व' से भी स्खलन हुआ है और ईश्वर से भी। रावण द्वारा अत्याचारित जनस्थान की जनता से पूछें रावण के पांडित्य के बारे में राकेशनाथ जी। रावण की प्रशस्ति के लिए वाल्मीकि रामायण का उपयोग करने वाले श्री नाथ उसकी करतूतों के बारे में उसी वाल्मीकि रामायण का प्रमाण नहीं स्वीकार करते। बालकांड के बीसवें सर्ग में कहा गया है : **'बहुसंख्यक राक्षसों से घिरा हुआ वह निशाचर तीनों लोकों के निवासियों को अत्यन्त कष्ट दे रहा है।'** इसी प्रकार चौबीसवें सर्ग में रावण की प्रेरणा से काम करने वाले दो महान बलवान राक्षस मारीच और सुबाहू तथा मारीच की मां ताड़का के बारे में कहा गया है : **'वह भयानक आकार वाला राक्षस यहां की प्रजा को सदा ही त्रास पहुंचाता रहता है। उस दुराचारिणी ताड़का ने इस सारे देश को उजाड़ कर दिया है और वह आज भी अपने उस क्रूर कर्म से निवृत्त नहीं हुई है।'** राम ताड़का का वध यज्ञाचार के लिये ही नहीं करते। बालकांड के पच्चीसवें सर्ग के 17वें श्लोक के अनुसार **'चारों वर्णों के हित'** के लिए करते हैं। अरण्यकांड के बत्तीसवें सर्ग में वाल्मीकि रावण का वर्णन स्वयं अपनी ओर से करते हुए कहते हैं : **'धर्म की तो वह जड़ ही काट देता था और परायी स्त्रियों के सतीत्व का नाश करने वाला था।'** (12) आगे, **'वह बड़े ही रूखे स्वभाव का और निर्दयी था। सदा प्रजाजनों के अहित में ही लगा रहता था। समस्त लोकों को भय देने वाले और संपूर्ण प्राणियों को रुलाने वाले इस महाबली क्रूर भाई को राक्षसी शूर्पणखा ने उस समय देखा।'** स्वयं शूर्पणखा वाल्मीकि रामायण में कहती है : **'राक्षसराज! तुम स्वेच्छाचारी और निरंकुश होकर विषय-भोगों में मतवाले हो रहे हो।'** इसलिए ज्ञानिनामग्रगण्यं हनुमान से रावण के 'ज्ञानी' होने की कोई तुलना नहीं। शूर्पणखा तो स्वयं कहती है कि **'रावण! तुम्हारी बुद्धि दूषित है।'** उधर हनुमान राम के तेज से प्रदीप्त हैं। मारीच ने रावण को श्रीराम के बारे में अरण्यकांड के सैंतीसवें सर्ग (15) में बताया। **'श्रीराम प्रज्ज्वलित अग्नि के समान हैं। बाण ही उस अग्नि की ज्वाला है। धनुष और खंग ही उसके लिए ईंधन का काम करते हैं। तुम्हें युद्ध के लिए सहसा उस अग्नि में प्रवेश नहीं**

करना चाहिए।' मारीच ने सीता को भी **'प्रज्ज्वलित अग्नि की ज्वाला के समान असह्य'** कहा था। उन्हीं राम और सीता के आशीर्वाद से संपन्न हनुमान 'दनुजवनकृशानुं' हो जाएं, तो आश्चर्य क्या? अड़तीसवें सर्ग में मारीच इसकी भविष्यवाणी भी कर देता है- **'लंकापुरी आग की ज्वालाओं से घिर गई है और उसका एक-एक घर जलकर भस्म हो गया है।'**

फूकाल्ट की व्याख्या करते हुए एडवर्ड सईद ने यह कहा कि ज्ञान और सत्ता साथ-साथ चलते हैं। ज्ञान या सत्य चाहे वह किसी भी रूप में हो, उस समूह से सम्बद्ध रहता है जिसके पास इतनी ताकत है कि वह ज्ञान का अपना वर्शन अन्यों पर आरोपित कर सके। सन् 1910 में प्रधानमंत्री आर्थर बलफोर ने मिस्र पर ब्रिटेन के आधिपत्य का समर्थन इसी आधार पर किया था। **'हम मिस्र की सभ्यता को किसी भी अन्य देश से ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं।'** जानने से बलफोर का आशय किसी सभ्यता को उसकी शुरुआत से जानने का नहीं था, बल्कि उसे जानने के लिये समर्थ हो जाने में था। इस चीज का ऐसा ज्ञान हो जाना उस पर प्रभुत्व स्थापित करना है, उस पर प्राधिकार स्थापित कर लेना है। **'इंग्लैंड मिस्र को जानता है। मिस्र वह है जो इंग्लैंड जानता है। इंग्लैंड जानता है कि मिस्र में स्वशासन नहीं हो सकता। इंग्लैंड मिस्र पर अधिकार कर इसकी पुष्टि करता है।'** (एडवर्ड सईद) ज्ञान के जिन कोर्एसिव स्ट्रक्चर्स की बात एडवर्ड सईद ने की है, वह उपनिवेशवाद के दौर में साबित हुए जब 'पूर्व' को- उसके बारे में 'ज्ञान' को- आक्रामकों द्वारा गढ़ा गया। जोसेफ कोनरॉड ने साम्राज्यवादी प्रक्रिया को सिर्फ एक 'आइडिया' कहा- **'इसके पीछे एक आइडिया था- कोई भावुक बहाना नहीं बल्कि एक आइडिया और उस आइडिए में एक निःस्वार्थ श्रद्धा।'** जिस तरह से किसी चीज को जाना जाता है, फूकाल्ट की पुस्तक 'पावर/नौलिज' के अनुसार, उससे भी सत्ता का निर्धारण होता है।

हनुमान ज्ञानिनामग्रगण्यं हैं क्योंकि उनका 'जानना' सत्तार्थ नहीं है, सत्यार्थ है। फूकाल्ट ने 'सत्य और सत्ता' (ट्रूथ एंड पावर) नामक निबंध में लिखा कि ज्ञान कोई अमूर्त चीज नहीं है जैसा कि पश्चिमी दार्शनिक परंपरा ने मान रखा है। सत्य या ज्ञान इस दुनिया की चीज है। यह चीज यहां उत्पादित की जाती है, बहुत सी हदों के भीतर। हनुमान का ज्ञान ऐसा नहीं है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार, **'अंधकारनाशक भगवान सूर्य ने उन्हें शास्त्रों का ज्ञान प्रदान किया था। उन्होंने सूत्र, वृत्ति, वार्तिक, महाभाष्य और संग्रह- इन सबका अच्छी तरह अध्ययन किया था। अन्यान्य शास्त्रों के ज्ञान तथा छंदशास्त्र के अध्ययन में भी उनकी समानता करने वाला विद्वान नहीं था। संपूर्ण विद्याओं के ज्ञान तथा तपस्या के अनुष्ठान में देवगुरु बृहस्पति से स्पर्धा करने वाले थे हनुमान। नव व्याकरणों के सिद्धांत को जानने वाले' (उत्तरकांड)।** हनुमान को राम किष्किन्धाकांड के चौथे सर्ग में यों वर्णित करते हैं। **'जिसे ऋग्वेद की शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेद का अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेद का विद्वान नहीं है वह इस प्रकार सुंदर भाषा में वार्तालाप नहीं कर सकता। निश्चय ही इन्होंने समूचे व्याकरण का कई बार स्वाध्याय किया है क्योंकि बहुत सी बातें बोल जाने पर भी इनके मुंह से कोई अशुद्धि नहीं निकली।'**

इन सब बातों से स्पष्ट है कि हनुमान का ज्ञानार्जन पॉवर रिलेशंस के लिये नहीं था। लेकिन वह अपने किस्म का ऊर्जायन था। ज्ञान वहां सत्ता नहीं है, ऊर्जा है। भगवान सविता उन्हें जो चैतन्य देते हैं, उससे वे शास्त्री व श्रुतिधर ही नहीं बनते, वे ज्ञानमणि बनते हैं- प्रज्ञात्मा। वेदविद्य ही नहीं, विश्ववेदा। उनका जो ज्ञातव्य है वह कोई इंद्रिय गोचर चीज ही नहीं है, वह अतीन्द्रिय भी है। हनुमान की उस विशेषता का रावण मजाक उड़ाता है। **'बोला बिहसि महा अभिमानी, मिला हमहि कपि गुर बड़ ग्यानी।'** अध्यात्म रामायण के सुंदरकांड में तो हनुमान की यह अंतर्दृष्टि और प्रखर बताई गई है। वहां रावण के सामने वे अध्यात्म के गहरे प्रश्नों को खड़ा करते हैं। रावण के सामने वहां भी ये सवाल नहीं, उसका अहंकार ही खड़ा है। हनुमान यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान सत्ता के लिये नहीं, सेवा के लिये है।

चूंकि हनुमान के ज्ञान का संप्रयोज्य भिन्न है, इसलिए वे रावण की तरह संज्ञानात्मक पक्षाग्रहों (cognitive bias) के शिकार भी नहीं हैं, वे उसकी तरह प्रासंगिक सूचनाओं को नजरअंदाज भी नहीं करते। रावण एक पुरानी बात पर ही लंगर डाले खड़ा है। ब्रह्मा के वरदान पर। वह जानना चाहता नहीं कि सच की अपनी गतिशीलता है। वह एक तरह के स्व-सेवी पक्षाग्रह में मुब्तिला है जिसमें अपने खिलाफ खड़े होने वाले खतरों की अवगणना है। असत्कृत सच सिर्फ इसी कारण से और खतरनाक हो जाता है कि उसके लिए तदनुसार तैयारी नहीं की गई होती है। वह हालात पर भी गौर नहीं करता है और परिदृश्य में नए उभर रहे व्यक्तियों पर भी नहीं। आजकल जिसे आइडिया-फिक्सेशन कहा जाता है, रावण उसका अच्छा उदाहरण है। ज्ञानिनामग्रगण्य हनुमान तो नागपाश से बंधे हैं-छूट भी जाएंगे लेकिन रावण अपने बनाए फंदों से कब छूटेगा? तब कि जब बहुत देर हो चुकी होगी। अभी तो उस फिक्सेशन का इतना असर है कि **'लागेसि अधम सिखावन मोही'** कहने लगा है रावण। हे अधम! मुझे शिक्षा देने चला है। सुन्दरकांड में उसके द्वारा बार-बार किए जाने वाले चरण-प्रहार एक तरह के कॉग्निटिव क्लोजर के प्रतीक हैं। बुद्धि की बंदिश के। कहां तो एक ओर आशुगामी हनुमान, और कहां एक ओर रिकार्ड की सुई की तरह अटक गया रावण। ज्ञान में गति हो तो ही ज्ञानियों में अग्रगण्यता पाई जा सकती है। हनुमान के ज्ञानग्रहण का जो सूर्य-संबंधी रूपक है, वह इसी गतिशीलता का प्रतीक है। वाल्मीकि रामायण (उत्तरकांड तैंतीसवां सर्ग) के अनुसार, **'हनुमान शंकाएं पूछने की इच्छा से सूर्य की ओर मुंह रखकर महान ग्रंथ धारण किये उनके आगे-आगे उदयाचल से अस्ताचल तक जाते थे।'** यह भी देखिए कि अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने सूर्य को 'बौद्धिक तैजस के स्रोत' (Source of intellectual illumination) के रूपक के लिए इस्तेमाल किया है। 'the domain where truth and reality shine resplendent' प्लेटो के शब्द हैं। प्लेटो ने कहा :'

'The Sun ..... not only furnishes to visibles the power of visibility but it also provides for their generation and growth and nature though it is not itself generation...... In like manners, then ...... the objects of knowledge not only receive from the presence of the good their being known but their very existence and essence is derived to them from it, though the good itself is not essence but still transcends essence in dignity and surpassing power.'

हनुमान के संदर्भ में ज्ञान और सूर्य के रूपक के गहरे दार्शनिक अर्थ हैं, हनुमान आजकल की कंपनियों में रखे जाने वाले चीफ नॉलिज आफिसर की तरह नहीं हैं। हनुमान किसी तरह की ज्ञानार्थिकी (नॉलिज इकॉनामी) या ज्ञानाधृत आर्थिकी के संदर्भ में सुन्दरकांड में नहीं आए हैं। ज्ञान यहां न कोई प्रोडक्ट है, न कोई टूल। वे ज्ञान के प्रबन्धक नहीं हैं, ज्ञान के अगुआ-लीडर हैं। वे ज्ञान का संधारण नहीं करते, नवाचार करते हैं। वे प्रभाव के वृत्त को अपने व्यक्तित्व के तेजःपुंज से प्रकाशित करते हैं जबकि आजकल के 'मुख्य ज्ञानाधिकारी' अपनी पोजीशन का इस्तेमाल करते हैं। ब्रूसलिन ने प्रबंधन और नेतृत्व का फर्क यही बताया था कि 'A leader optimises upside opportunity, a manager minimises downward risks.' हनुमान 'अपसाइड अवसरों' को इष्टतम सीमा तक ले जाते हैं, इसकी गवाही समुद्र संतरण के रास्ते में आने वाले अपसाइड भूधर देंगे। वे ऐसे अग्रणी हैं-लीडर हैं-जो सेवक की सर्वोत्तम मिसाल भी हैं। हनुमान का ज्ञान उनकी जीवनचर्या में प्रतिबिम्बित होता है। सूर्य की तरह उसे रौशन करता है, बोझिल नहीं करता। सूर्य रथ के साथ-साथ हनुमान का चलना और ज्ञान प्राप्त करना महत्वपूर्ण संकेत है। भगवद्गीता में भगवान के द्वारा सबसे पहले सूर्य को ज्ञान देने की बात कही। गीता में कृष्ण कहते हैं कि ज्ञान सूर्य के समान चमकता है और परमतत्व को प्रकाशित कर देता है- **'तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।'**

ऋग्वेद में (1/113/16) **'सूर्यायाजन्म यत्र प्रतिरन्तु आयुः'** में ज्ञान-सूर्य के चारों ओर अपना तेज प्रकाश फैलाने की बात कहीं गई। सूर्यवंशी राम के प्रयोजनों को सिद्ध वही कर सकता था और सूर्यवंशी राम की सेवा भी वही कर सकता था, जिसने ज्ञान भी सूर्य से ही प्राप्त किया हो। सूर्य को हमारे यहां एक नाम मित्र दिया गया। आर्मीनियन पौराणिकी में मिहर, पर्शियन पौराणिकी में मिथ्र, रोमन पौराणिकी में मिथ्रा नाम उनके लिये चलता है। संस्कृत में सूर्य को मिहिर, मेह, मैत्रेय भी कहा गया। ज्ञान ही संभवतः हमारा सबसे अच्छा मित्र है। अवेस्ता में मिथ्र को सत्यरक्षक, सत्यभाषी, हजारों कानों, दस हजार आंखों वाला, सशक्त, सदाजागृता कहा गया। बेबीलोनिया और असीरिया की पौराणिकी में 'शमाश' सूर्यदेवता हैं जो न्याय-बोध के देवता हैं: वे पाप और अन्याय को प्रकाश में लाते हैं। हम्मुराबी ने अपनी संहिता के लिए प्रेरणा इन्हीं शमाश से प्राप्त की। वे राक्षसों के चंगुल से पीड़ितों को छुड़ाने वाले देवता हैं। यहां उनका सहचर 'अट्गिमख' है जो संभवतः अग्निमुख है, यहां उनका साथी केतु है जिसका अर्थ न्याय है, प्राचीन मिस्र में एटन/आटेन सूर्य देवता है जो 'जीवन देने वाला' है लेकिन एटन सूर्य की परिधि (डिस्क) भर है। वास्तविक सूर्य 'रा' है (संस्कृत में रित सूर्य का एक नाम है) जिसे मूल देवता कहा गया और बाकी सब देवों को उसी के विभिन्न रूप और प्रकटीकरण। वह प्रकाश, ऊष्मा, वृद्धि, विकास का देवता है। पुराने नॉर्स में 'सोल'और पुरानी उच्च जर्मन में सुन्ना सूर्य देवियां हैं। ग्रीक और रोमन पुराणों में अपोलो आलोक, सत्य शुद्धीकरण, भवितव्य, औषधि (ध्यान दें कि संस्कृत में सूर्य का एक नाम औषधिगर्भ है), स्वास्थ्य, संगीत, कविता (ध्यान दें कि संस्कृत में सूर्य का एक नाम कवि भी है) और कला को प्रतीकायित करने वाले सूर्य देव हैं। अपोलो हीलिओस (संस्कृत में सूर्य को हेलि कहा गया) नामक एक पूर्व सूर्य-देव से एकाकार और समीकृत हो गए हैं। हीलिओस 'सर्व-दृष्टा' हैं। सभ्यता से सूर्य को जोड़ने की बात इंका पौराणिकी के सूर्य देवता 'इन्ती' में भी है जो सभ्यता के देव भी हैं। उन्हें 'जीवनदाता' भी कहा गया। मय सभ्यता में 'आह् किन' सूर्य देवता हैं जो अंधकार से जुड़ी हुई पाप शक्तियों को नष्ट करते हैं। स्लाविक देवता बेलोबोग सूर्य देवता हैं जो तमस के विरोधी हैं। इस तरह प्रायः सभी पौराणिकियां सूर्य को ज्ञान से जोड़ती रही हैं। हमारे यहां भी श्री सूर्यमंडलाष्टकं में भी **'यन्मण्डलं ज्ञानघनं'** या **'यन्मण्डलं गूढ़मति प्रबोधं'** कहा गया है। उन्हें सरिता या सवितृ या कर्मसाक्षी या वेदोदय के नाम दिया जाना ज्ञान से सूर्य के रिश्तों का ही स्वीकार है।

यह ध्यान दें कि तुलसी ने हनुमान को ज्ञानियों में अग्रगण्य कहा, ज्ञानियों में आगे गिने जाने योग्य; लेकिन ज्ञानियों में आगे नहीं कहा। वे हनुमान को किसी तरह की फर्स्ट आने वाली चूहादौड़ में शामिल नहीं करवाना चाहते। आजकल की स्कूली शिक्षा की तरह बच्चों पर लगातार प्रथम बने रहने का दबाव हनुमान पर नहीं है। उनकी योग्यता उनका पोटेन्शियल है, उनका विभव। किन्तु वह उनकी मजबूरी नहीं है। लेकिन ज्ञान की अग्रता पर जोर दूसरी तथाकथित अग्रताओं से छुटकारे की भी घोषणा है। एकनाथ को इस मुकाम पर याद करें :- **'हो कां वर्णामाजी अग्रणी जो विमुख हरिचरणी त्याहूनि खपच श्रेष्ठ मानी जो भगवद्भजनीं प्रेम'** कि भगवद्भजन से प्रेम करने वाला चांडाल उत्तम वर्ग के उस मनुष्य से श्रेष्ठ है जो प्रभु के चरणों से विमुख हो।

ज्ञानिनामग्रगण्यं हनुमान को अपना सेवक रखना हनुमान की ओर ही संकेत नहीं है, खुद राम की ओर भी संकेत है। राम की सोफोक्रेसी में ज्ञानियों का शासन होगा। मूढ़ों से सर्विस और बड़ी मुसीबत है। प्रशासन की आधुनिक शैलियों में सिद्धान्ततः तो आज भी सोफोक्रेसी के तत्वों को शामिल किया जाता है, लेकिन जहाँ कहीं भी इनसे समझौता होता है, वहाँ ज्ञान के स्थान पर परिचय, पैसा, प्रभाव, शासन को विकृत करने लगते हैं। सोफोक्रेसी का सिद्धांत तो एनवर सेवकेट ने 1874 में प्रतिपादित किया और ऑटोमन साम्राज्य ने ज्ञान-शासन की इस प्रशासनिक फिलासफी को उत्साह से अपनाया भी। श्री राम ज्ञानिनामग्रगण्यं हनुमान को अपना प्रिय सेवक बनाकर अपनी प्राथमिकताओं को सहस्राब्दियों पहले स्पष्ट कर रहे थे।

सकलगुणनिधानं

इस छन्द में तुलसी हनुमान को पहले हेमशैलाभदेहं कह चुके हैं, अब सकलगुणनिधानं कह रहे हैं। माने सिर्फ ग्लिटर की बात नहीं है, गुण की बात है। आनंदवृंदावन चम्पू (8/15) में कर्णपूर में कहा गया : **'न च निकषपाषाणशकलं बिना निजगुणमाविष्करोति काञ्चनी रेखा'-** सुवर्ण की रेखा भी कसौटी के पत्थर के टुकड़े बिना अपने गुण को प्रकट नहीं कर पाती। कसौटी हनुमान के समक्ष आती भी है। सुंदरकांड उसी कसौटी की कहानी है। पता नहीं क्यों भारत के बारे में जातिप्रथा की बदनामियां फैलायी गयीं। यह देश जाति की नहीं, गुण की पूजा करता है। क्षेमेन्द्र ने दर्पदलन में (1/14) कहा - **'गुणाधीनं कुलं जात्वा गुणैष्वाधीयतां मतिः'** कि कुलों के सम्मान का कारण गुण है, अतः गुणों में बुद्धि लगानी चाहिए। इसके ठीक पहले वाले श्लोक में उन्होंने कहा था- **'गुणवत्कुलजातोऽपि निर्गुणःकेन पूज्यते दोग्ध्रीकुलोद्भवा धेनुर्वन्ध्या कस्योपयुज्यते।'** कि गुणवान कुल में उत्पन्न होकर भी यदि कोई स्वयं गुणहीन है, तो वह पूजा का पात्र नहीं हो सकता, जैसे दुधारी गाय से उत्पन्न होकर भी यदि गौ वन्ध्या है तो उसका उपयोग कौन करेगा? भवभूति ने उत्तर रामचरित में कहा (4/11) **'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः'** - गुणियों में गुण ही पूजा के स्थान होते हैं, लिंग अथवा वय नहीं। एक अन्य उदाहरण में यह कहा गया-

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते पितृवंशो निरर्थकः
वासुदेवं नमस्यन्ति वसुदेवं न मानवाः

कि गुण सर्वत्र पूजे जाते हैं, पिता का वंश निरर्थक है। मनुष्य वासुदेव को नमस्कार करते हैं, वसुदेव को नहीं। शुक्रनीति में कहा गया था-

कर्मशीलगुणाः पूज्यास्तथा जातिकुले न हि।
न जात्या न कुलेनैव श्रेष्ठत्वं प्रतिपाद्यते।।

कर्मशील और गुण से मनुष्य जैसा पूज्य होता है, वैसा जाति और कुल से नहीं क्योंकि श्रेष्ठता तो न जाति से प्राप्त होती है, न कुल से ही।

'सकलगुणनिधानं' के रूप में हनुमान के गुण पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया लेकिन जिन लोगों ने दासप्रथा, रेड इंडियन रिजर्वेशंस, सेग्रीगेशन, आवासीय विद्यालयों का पृथक ढांचा, इंटर्नमेंट कैंप बनाए, उन लोगों से हम जातिप्रथा पर उपदेश भी ग्रहण करने पर बाध्य हैं। अमेरिका की 'इंडियन वार्स' जैसे जातिवादी युद्ध भारत की धरती पर कब लड़े गए? आंसुओं की पट्टी (ट्रेल आफ टीयर्स) की उन्हें कोई याद नहीं दिलाता जब बर्बर तरीके से अमेरिकी इंडियनों को 'पुनर्स्थानित' करने के नाम पर उन्हें सं.रा. अमेरिका की मात्र 4 प्रतिशत भूमि तक सीमित कर दिया गया था। क्या हमारे देश में कभी ऐसी ट्रेल आफ टीयर्स के उदाहरण सुनने में आए? भारत में कब 'किल द इंडियन, सेव द मैन' जैसे अभियान चले? आपको ये अतीत की बात लगती है तो इंडियनों के क्षेत्र वेस्टर्न शोशोन में ही एक हजार से ज्यादा आण्विक विस्फोट परीक्षण क्यों हुए? अमेरिका के दक्षिणी हिस्से में सन् 1865 तक जनसंख्या का एक-तिहाई दास था? भारत में यह स्थिति कब थी? सन् 1950 में भारत का संविधान आया, 'महान प्रगतिशील' सं.रा. अमेरिका में जुलाई 1948 में राष्ट्रपति हैरी एस. ट्रुमेन के कार्यपालिकीय आदेश 1981 से जातीय पार्थक्य (रेशियल सेग्रीगेशन) खत्म किया गया। वहां 1964 में सिविल राइट्स एक्ट आया। हिस्पानिक जनता को क्या वहां जातीय घृणा आज भी झेलनी नहीं पड़ती। क्या सं.रा. अमेरिका के पैसिफिक राज्यों के इमिग्रेशन कानून एशियाइयों के विरुद्ध नहीं थे? क्या वहां श्वेतों के विरुद्ध अश्वेतों को टेस्टिफाई करने से प्रतिबंधित नहीं किया गया था? क्या वहां 1882 में चाइनीज एक्सक्लूजन एक्ट नहीं लागू किया गया था जो 1943 तक चीनियों का अमेरिका में प्रवेश रोके रहा? क्या जापानी अमेरिकी नागरिकों के विरुद्ध इसी अमेरिका में इंटर्नमेंट कैंप द्वितीय विश्वयुद्ध में लगाना जातिवाद का घृणित नमूना नहीं था?

ओरगॉन टेरिटरी में उस वक्त 'कोड़ा कानून' (लैश लॉ) पारित किया गया था जिस वक्त देश के शेष हिस्सों में दासता मिटाई जा रही थी। यह कोड़ा कानून सभी कालों को साल में दो बार कोड़े मारने का प्रावधान करता था। 1857 में न्यू ओरगॉन में राज्य संविधान ने अफ्रीकी अमेरिकियों के विरुद्ध प्रतिबंधात्मक प्रावधान किये, क्या वह जातिभेद नहीं था? अभी 2006 में फोंटाना स्कूल दंगे करीबन 500 लैटिनों और काले विद्यार्थियों के बीच क्यों हुए? या इसी साल कैलीफोर्निया भर में लैटिनों और काले लोगों के बीच हुए दंगे। क्या अमेरिकी 'घृणापराध' (हेटक्राइम्स) जाति के आधार पर ही नहीं हो रहे हैं? अब एक उदाहरण अमेरिकी फिल्मों का ही ले लें। जातीय पूर्वाग्रहों के समकालीन अध्ययन पर जैक शाहीन ने 'रील बैड अरब्स' नामक एक पुस्तक लिखी है जिसमें 900 फिल्मी अरब चरित्रों का सर्वेक्षण है। इनमें से एक दर्जन सकारात्मक चरित्र थे, 50 संतुलित और शेष बुरे, निर्दयी, हृदयहीन, असभ्य, धर्मान्ध और पैसों के पीछे पागल। यही हाल ईरानियों का है। क्यों पीसमेकर फिल्म में एक पात्र बिना किसी प्रसंग के 'फक ईरान' बोलता है? क्यों मैडहाउस फिल्म में पत्नी अपने ईरानी पति को 'रेत के चूहे' (सैंड रैट) बोलती है? ऐसे हजारों उदाहरण हैं। जिस देश की नींव डालने वाले जार्ज वाशिंगटन भेड़ियों की तरह बर्बरों के रिटायर होने की बात करते थे, जहां राष्ट्रपति एडम्स 'इंडियनों और नीग्रो के मिश्रित झुंडों' से निपटने के लिये फ्लोरिडा जीतते और सेमीनोल युद्ध करते थे, जहां रूजवेल्ट बर्बरों के विरुद्ध युद्ध को सभी युद्धों में सबसे अच्छा मानते ही नहीं थे बल्कि 'विश्व की प्रभुताशाली जातियों' के शासन को मजबूत करने की खुलेआम पैरोकारी करते थे, वहां क्या आप गुंडों की गैंग वायलेंस के जाति आधारित होने की शिकायत करेंगे? क्या 'जिम क्रो कानूनों' जैसा कोई कानून हमारे यहां कभी भी बना? क्या चंद्रभान प्रसाद जो मैकॉले की इसलिये पूजा करते

हैं कि उसने शूद्रों को शिक्षा दिलाई- हालांकि ऐतिहासिक प्रमाण इसके ठीक उल्टे हैं (और वे प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि अंग्रेजों से पहले की जिस भारतीय शिक्षा में 4 शूद्र और एक ब्राह्मण छात्र का अनुपात होता था, अंग्रेजी शिक्षा ने शूद्र विद्यार्थी को लगभग निर्वासित कर दिया क्योंकि हर कोई आम्बेडकर की तरह सामंती संरक्षण नहीं पा सकता था)। वे 'जिम क्रो कानूनों' जैसे कोई दृष्टान्त भारत में गिनाएंगे? मुझे उम्मीद है कि वे कानून और व्यक्तिगत रुचि-अरुचि-पूर्वाग्रहों का भेद समझते होंगे। लेकिन अपने देश, अपने समाज और अपनी संस्कृति के विरुद्ध घृणा भरने का एक अभियान भारत में फिर भी चलाया ही जाता रहता है। क्या वे संयुक्त राज्य अमेरिका में 1934 से 1968 तक प्रचलित रेडलाइनिंग व्यवस्था जैसा कुछ भारत के किसी कानून में दिखाएंगे? क्या आज भी अमेरिका एक आवासीय दृष्टि से सेग्रीगेटेड समाज नहीं है? अभी 2008 में हेम्पस्टीड हाईस्कूल में दंगे हुए जो हिस्पानिक और काले बच्चों के बीच दो दिन चले।

क्या अमेरिका की जगह यूरोप की बात की जाए? 'श्वेत आदमी का भार' सिद्धांत पूरी दुनिया पर थोपने वालों की? खुद उनके भीतर के जातिवाद की। 1862 में लंदन में लगे नीना साइनबोर्ड्स 'नो आयरिश नीड एप्लाई' की याद दिलाएं? आस्ट्रेलिया में 2005 में सिडनी के क्रोन्युला दंगे, 2004 के पाम द्वीप दंगे या 2004 में रेडफर्न दंगे क्या जातिवाद से मुक्त थे? या बेल्जियम में 2006 में ब्रुसेल्स के दंगे या 2007 में बल्गारिया के सोफिया में हुए रोमा दंगे या मांट्रियल (कनाडा) में अभी 2008 में हुये दंगे? या इटली में 2006 में हुए चीनी विरोधी 'मिलान दंगे' या 2008 में कास्टेल बोल्टर्नो दंगे? या नीदरलैंड में 2007 में एम्स्टर्डम में हुए मोरक्कन डच युवा दंगे या रूस में कोंडोपोगा के 2006 के दंगे? या स्पेन में आल्मीरिया (2008) और मेड्रिड (2007) के जातीय दंगे? या ब्रिटेन में विंडसर और ड्यूसबरी के 2006 के दंगे या बर्मिंघम के 2005 के दंगे। अकेले 2001 में वहां ओल्डहैम-बर्नली, ब्रेडफोर्ड, स्टोक आन ट्रेंट और लीड्स में जातीय दंगे हुए। बोस्निया हर्जीगोविना में 'जातीय सफाई' का आधार क्या था या फिर बोल्शेविक शासन द्वारा तीन से पांच लाख डॉन कोसाक को रूसी गृहयुद्ध में जातीय नफरत के आधार पर ही 1919-1920 में मौत के घाट उतारा हो, ने का तथ्य। सोवियत यूनियन में बेलारूस, उक्रेन, यूरोपियन रूस से पोल्स को जातीय नफरत पर ही खदेड़ा गया था। उन्होंने 1,72,000 कोरियाई लोगों को भी जातीय आधार पर ही खदेड़ा था। तब मार्क्सवाद साम्यवाद के सिद्धांत कहां रह गए थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जर्मन नागरिकों को मध्य और पूर्वी यूरोप से खदेड़ा जाना अभिलिखित इतिहास की सबसे दुखद एद्निक क्लीजिंग मानी जाती है। इसमें एक करोड़ पैंतीस लाख से 1 करोड़ 65 लाख तक जर्मन खदेड़े गये थे और 5 से 30 लाख तक इस प्रक्रिया में मारे भी गए। कोसोवो में 8 लाख कोसोवर अल्बानियनों को खदेड़ा गया। अभी कुछ साल पहले बोत्स्वाना में कालाहारी गेम रिजर्व से बुशमैनों को वहां की सरकार ने साफ किया। यह कह रहे थे उसके राष्ट्रपति : 'कैसे हम एक कम्प्यूटर युग में पाषाणकालीन प्राणियों को रहने दे सकते हैं।' वेनेजुएला और कोलंबिया की सीमा पर बारी नामक आदिवासी जनजाति की सफाई भी चर्च, आर्मी और ऑइल कंपनी के मिले-जुले खेल की भयावह त्रासदी है।

मैंने मुस्लिम इतिहास के उदाहरण जानबूझकर नहीं दिए हैं। मुस्लिम वर्तमान के उदाहरण जरूर दिए देता हूं। पूर्वी तिमोर में इंडोनेशियन सेना के अत्याचारों की याद करे। 2003 से अभी तक इराकी गृहयुद्ध में 22 लाख इराकी पड़ोसी देशों में विस्थापित हुए और 20 लाख देश के भीतर ही भीतर, 1987 में इराक में 14 लाख ईसाई थे, अब सिर्फ 5 लाख बचे हैं। मांडेयन और याजिदी समुदाय वहां खत्म होने की कगार पर हैं। सूडान के मिलिशिया के अत्याचारों में 25 लाख अफ्रीकियों को डार्फर से खदेड़ दिया। कश्मीर से काश्मीरी पंडितों को खदेड़ा जाना भी इसी प्रसंग में याद कर लें।

क्या इन सब मामलों में ऐसा नहीं हुआ कि जाति

देखी गई, किन्तु गुण नहीं देखा गया। किन्तु रामकथा यह स्थापित करने के लिये है कि रामकृपा गुणाश्रित है- वह जाति के आधार पर भेदभाव नहीं करती। यों देखा जाए तो रावण महर्षि पुलस्त्य और मुनिश्रेष्ठ विश्रवा का क्रमशः पौत्र और पुत्र है। लेकिन रामकृपा उसे नहीं मिली। मिली हनुमान को जिनके मन में यह हीनता बोध था **'कहहू कवन मैं परम कुलीना/कपि चंचल सबहीं विधि हीना, प्रात लेइ जो नाम हमारा, तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा',** लेकिन भगवान की कृपा के अन्यतम पात्र वे ही हैं, रावण नहीं : **'अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर/कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर।'**

गुण की बात यहां विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। आनंदवृंदावन चम्पू में कर्णपूर ने एक श्लोक में कहा है-

निर्मलेऽपि सुजनाः स्वचरित्रे दोषमेव पुरतः प्रथयन्ते।
उज्ज्वलेऽपि सति धाम्नि पुरस्ताद् धूममेव वमति स्फुटमग्निः।।

कि अपना चरित्र निर्मल होने पर भी सज्जन अपना दोष ही सामने रखते हैं। अग्नि का तेज उज्ज्वल होने पर भी वह पहले धुआं ही प्रकट करता है। हनुमान भी ऐसे ही हैं। **'साखामृग के बड़ि मनुसाई/साखा ते साखा पर जाई।।'** ऐसे गुणी व्यक्ति की पूजा क्यों नहीं होगी। कालिदास ने रघुवंश में यही तो कहा- **'पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते'** कि गुणों का आदर सर्वत्र होता ही है। भारवि ने किरातार्जुनीय में कहा- **'सुलभा रम्यता लोके दुर्लभ हि गुणार्जनम्'-** संसार में रम्यता तो सुलम है किंतु गुण की प्राप्ति दुर्लभ है। यह भारतीय संस्कृति गुणों का आदर करने वाली संस्कृति है। ऊंचे पद पर बैठा हुआ रावण नहीं, हनुमान जैसा 'सकलगुणनिधानं' यहां आदरणीय और वरेण्य है। चाणक्य ने यही जबर्दस्त घोषणा ही तो की थी 'हैव्स' के दर्प को चुनौती देते हुए-

गुणैरुत्तमतां याति, नोच्चैरासन-संस्थितः
प्रासाद शिखरस्थोऽपि, काकः किं गरुडायते

कि मनुष्य गुणों से उत्तम बनता है, न कि ऊंचे आसन पर बैठा हुआ उत्तम होता है। जैसे ऊंचे महल के शिखर पर बैठकर भी कौआ कौआ ही रहता है, गरुड़ नहीं बनता। सत्तासीनों को कौआ कहने का जो आत्मविश्वास चाणक्य में था, वही बल्कि उससे भी कहीं अधिक हनुमान में था। चातुर्वर्ण्य रचना भी भगवान ने 'गुणकर्म विभागशः' की थी। हितोपदेश में नारायण पंडित ने भी यही कहा :

जातिमात्रेण किं कश्चिद्धन्यते पूज्यते क्वचित्।
व्यवहारं परिज्ञायं बध्यः पूज्योऽथवा भवेत्।।

कि क्या कोई जातिमात्र से मार डाला या पूजा जाता है? समझदार व्यक्ति को चाहिए कि पहले उसका व्यवहार समझे, तब मारे या उसकी पूजा करे। शूद्रक ने मृच्छकटिकम् में यह कहा- **'किं कुलेनोपादिष्टेन शीलवेमात्र कारणम्'** कि कुल की प्रशंसा करने से क्या? इस लोक में शील ही महानता का कारण है।

हनुमान की विशेषता यही है, यही शील उनकी महत्ता का कारण है। हनुमान के रूप में हमारे सामने हमारी परंपरा ने एक ऐसा आदर्श रखा जिसने बहुत सी दुविधाएं खत्म कर दीं। वे सकलगुणनिधानं हैं, तुलसी इतना ही कहते हैं, लेकिन ये गुण हैं कितने? तुलसी इस पचड़े में नहीं पड़ते, वे सकल कहकर काम चलाते हैं। लोग तो संख्या बताकर गुण चर्चा करते हैं। जूडायो-ख्रिस्ती-इस्लामिक परंपराओं में फेथ (श्रद्धा), होप (आशा) और चैरिटी या लव (करुणा या प्रेम) के तीन गुणों को केंद्रीय बतलाया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् (5/2/3) 'एतत् त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दया मिति' कहकर दम, दान और दया इन तीन गुणों को सीखने की बात कहता है। पश्चिम में भारत के 'गुण' जैसा कोई शब्द नहीं है। गुण नैतिकता तक सीमित नहीं है। गुण प्रकृति तत्व हैं सत्व, रजस और तमस के रूप में दिव्य, द्रुत और द्युतिहीन (डिवाइन, डायनेमिक और डार्क) जबकि नैतिकता कल्टीवेटेड होती है। यदि शिव का त्रिशूल त्रिगुणात्मक है तो रुद्रावतार हनुमान सकलगुणनिधानं क्यों न होंगे।

'गुण' शब्द के अंग्रेजी 'वर्चु' जैसे अनुवाद की अपनी असमर्थताएं हैं लेकिन उसके कुछ उपयोग भी हैं। वर्चु शब्द लैटिन वर्ट्स से बना है, जिसका मतलब पौरुष या साहस है। मन को भटकाने वाली लिप्ताओं के बावजूद वर्चुअस बना रहना पौरुष या साहस के एक अलग, असाधारण और अप्रतिम स्तर की मांग करता है। हनुमान पौरुष और साहस के प्रतीक-पुरुष हैं तो इसीलिए कि वे सकलगुणनिधानं हैं।

हम संख्या की बात कर रहे थे। ग्रीक दार्शनिकों ने चार प्रधान गुणों की चर्चा की थी- न्यास, साहस, प्रज्ञा और समंजन (मॉडरेशन/टेम्परेंस)। रामकथा में हनुमान इन चारों कार्डिनल गुणों को रूपायित करते हैं। सुग्रीव और लक्ष्मण के बीच संबंधों के एक नाजुक मुकाम पर वे ही तो मॉडरेशन करते हैं। बौद्धों में चार गुण 'ब्रह्मविहार' के रूप में दर्शाए गए हैं। एक मैता (मैत्री), दो करुणा, तीन मुदित (शुद्धानंद), चार उपेखा (अनासक्ति)। योगवाशिष्ठ भी संतोष, सत्संगति, विचार और शम इन चार गुणों को ही रेखांकित करता है- **'संतोष, साधुसंगश्च विचारोऽथ शमस्तथा। एत एव भवाम्भो घावुपायास्तरणे नृणाम'-** मनुष्यों के लिये संतोष, सत्संगति, विचार और शम ये चार भवसागर पार करने के साधन हैं।

वेदव्यास ने छः गुणों की बात की- **'षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन/सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृति'** कि मनुष्य को कभी भी सत्य, दान, कर्मण्यता, असूयारहितता, क्षमा तथा धैर्य- इन छह गुणों का त्याग नहीं करना चाहिए। महायानियों में सद्धर्मपुंडरीक छः पारमिताओं की चर्चा करता है। दान पारमिता, शील पारमिता, क्षांति पारमिता, वीर्य पारमिता, ध्यान पारमिता, प्रज्ञा पारमिता। शास्त्रों ने सात गुणों की चर्चा की थी- **'तपश्च दानं च शमो दमश्च ह्वीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा/स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सन्तो द्वाराणि सप्तैव महान्ति पुसाम्'-** कि साधु पुरुषों ने तप, दान, शम, दम, लज्जा, सरलता तथा प्राणियों पर दया- ये सात स्वर्ग के महान द्वार बताए हैं। प्रेडेन्टिअस ने 410 ई. के आसपास लिखे अपने महाकाव्य में भी सात स्वर्गीय गुण बताए- पवित्रता, संयम, औदार्य, चेष्टा, धैर्य, दया और विनम्रता। फिर उन्होंने आठ गुणों को भी मनुष्य की ख्याति बताने वाला कहा- **'अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति/प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च/पराक्रमश्चाबहुभाषिता च/दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च'** कि बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रियनिग्रह, शास्त्र-ज्ञान, पराक्रम, शक्ति के अनुसार दान और कृतज्ञता- ये आठ गुण पुरुष की ख्याति बढ़ा देते हैं। बौद्धों में अष्टांग पथ सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाक्, सम्यक कर्मान्त, सम्यक आजीव, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि की बात करना है। फिर वेदव्यास 'स्वर्ग के महान हेतु' के रूप में दस गुणों का उल्लेख करते हैं-

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम्
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशमे स्वर्गयोनमः

सत्य, उत्तम स्वभाव, शास्त्र ज्ञान, विद्या, कुलीनता, शील, बल, शूरता और रूपकात्मक (मेटापोरिकल) बात कहना ये दस स्वर्ग के हेतु हैं। व्यास की यह अंतिम विशेषता 'चित्रभाष्यं' गजब है। जगत् के मेटाफर को समझ लिया जाये तो स्वर्गोपलब्धि क्यों न हो? थेरावेदा बौद्धों ने भी 'दसा परामियो' की चर्चा की- दान परमि यानी औदार्य, आत्मदान; शील परमि यानी समीचीन आचरण, निखाम्मा परमि यानी त्याग, प्रज्ञा परमि यानी अंतर्दृष्टि, वीर्य परमि यानी ऊर्जा, श्वांति परमि यानी सहिष्णुता और स्वीकृति भाव, सत्य परमि यानी सच्चाई, अधित्थान परमि यानी संकल्पशीलता, श्वेता परमि यानी मैत्री, उपेखा परमि यानी अनासक्ति या स्थित प्रज्ञता।

बेंजामिन फ्रैंकलिन की आत्मकथा में 13 गुण बताए गए हैं जिन पर वह प्रतिदिन खुद को जांचता था : (1) संतुलन : इतना मत खाओ कि प्रमाद आए, इतना मत पियो कि चढ़ जाए। (2) मौन : वही बोलो जिससे दूसरों का या तुम्हारा भला हो। टुच्ची वार्ताओं में मत पड़ो। (3) संकल्प : वही करने के लिये दृढ़प्रतिज्ञ हो जो तुम्हें करना चाहिए। (4) अनुक्रम : अपनी सभी

चीजों को उपयुक्त स्थान और समय पर सुनिश्चित करो। (5) सादगी : कुछ भी बेकार मत करो। (6) परिश्रम : समय मत गंवाओ, कुछ न कुछ उपयोगी करते रहो। सारे अनावश्यक काम बंद करो। (7) गांभीर्य : कोई हानिप्रद छल मत करो, अबोधता से और न्यायपूर्वक सोचो। (8) न्याय : किसी के साथ गलत मत करो, उन्हें नुकसान पहुंचाकर या उन्हें वे लाभ न देकर जिन्हें देना तुम्हारा कर्तव्य है। (9) समंजन : अतियों पर मत जाओ। (10) निर्मलता : शरीर, कपड़ों और आवास में गंदगी मत सहन करो। (11) प्रशांतिः छोटी-छोटी चीजों से विचलित मत हो, उन दुर्घटनाओं से भी न हो जो होती रहती हैं या अवश्यंभावी थी। (12) विनम्रताः जीसस और सुकरात जैसे बनो। (13) पावित्र्य : तमस, दुर्बलता, खुद या दूसरे की शांति या ख्याति को क्षति, इनसे बचो।

शेमनो ने 18 गुणों की चर्चा की- (1) औक्टोरिटस यानी आध्यात्मिक सत्ता, (2) कोमिर्टास यानी खुलापन, मैत्रीभाव, (3) कांस्टैनटिनम यानी मानसिक और शारीरिक सहन शक्ति, (4) क्लीमेंशिया यानी करुणा, (5) डिग्निटस यानी प्रतिष्ठा-बोध, (6) डिसिप्लिन यानी अनुशासन, (7) फर्मिटस यानी दृढ़ता, (8) फ्रूगेलिटस यानी सादगी, (9) ग्रेविटस यानी गरिमा-बोध, (10) हानेस्टस यानी गणमान्यता, (11) ह्यूमेनिटस यानी मानवता, (12) इंडस्ट्रिआ यानी परिश्रम, (13) लस्टिशिया यानी न्याय, (14) पायटस यानी कर्तव्यपरायणता, (15) प्रूडोन्शिया यानी प्रज्ञा, (16) सैल्यूब्रिटस यानी स्वास्थ्य/पवित्रता, (17) सेवेरिटस यानी आत्म-नियंत्रण और (18) वेरिटस यानी सत्य।

चीन में मार्शल नैतिकता को लेकर दस गुण हैं- विनम्रता, निष्ठा, आदर, सत्यधर्मिता, विश्वास, साहस, सहन करने की क्षमता, धैर्य, संकल्प और अटूट लगन। हनुमान को मार्शल कलाओं में अभिरुचि लेने वाले अपना आदर्श यों ही नहीं मानते रहे होंगे। उनमें इन्हीं गुणों का संघात उन्होंने महसूस किया होगा। मध्यकाल में शिष्टाचार, भक्ति, करुणा, पवित्रता, शांति और सहिष्णुता की जरूरत मार्शल सेवाओं को पड़ रही होगी।

तुलसीदास इन गुणों की संख्या के चक्कर में नहीं पड़े। उन्होंने 'सकलगुणनिधानं' कहा क्योंकि हनुमान के संदर्भ में संख्या स्वयं में ही नश्वर और तुच्छ लगती है। प्लेटो का कहना था कि गुण शब्द अपने आप में 'एकल चीज' है और पृथक-पृथक गुण स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में नहीं रह सकते। उदाहरण के लिए, प्रज्ञा के बिना वीरता कैसे रह सकती है, वह बेवकूफी बन जायेगी। तुलसी भी संभवतः इस तरह के पार्थक्य की अर्थहीनता पहचानते रहे होंगे। इसलिये उन्होंने गुणों की फ्रेगमेन्टेड चर्चा करने की जगह 'गेस्टाल्ट' पर, समग्र पर, सकल पर ध्यान केंद्रित किया। अक्षत पर, अविकल पर। गुण के संदर्भ में तुलसी किसी तरह की असंसक्त बौद्धिक चर्चा नहीं करते। उनके लिये गुणों में अनैक्य और असंगठन स्वयं अपने आप में एक अवगुण है। हनुमान के रूप में उन्होंने हमें एक ऐसी प्रतिमूर्ति दी है जिसमें गुणों का समग्रण और संगमन है। प्रायः यह होता है कि एकाधिक गुण आम लोगों के पास भी होते हैं। कई महान प्रतिभाओं में भी गुणों की संभूति होती है लेकिन हनुमान में गुणों की जो समासक्ति है, जो निखिलता है, जो अविच्छिन्नता और एकसूत्रता है, तुलसी सकलगुणनिधानं शब्द से हमारा ध्यान उसकी ओर खींचते हैं। सिर्फ अशेषता की ओर ही नहीं, एक संपूर्ण समास की ओर। अरस्तू ने वर्चु को एक 'बैलेंस पाइंट' की तरह देखा है, एक तरह के 'गोल्डन मीन' की तरह। लेकिन अरस्तु वर्चु को दो अतियों की बुराई के मध्य बिन्दु की तरह चुनता है जबकि हमारे यहां 'सत्व' को 'सत्' माना गया- अस्तित्व में, होने में। पश्चिमी जीवनदृष्टि गुण को नैतिकता से जोड़कर विखंडन की शुरुआत करती है। नैतिक प्रतिमानों की वैसे ही कोई सार्वभौम, सार्वकालीन प्रवर्तनीयता नहीं है जैसी कि सौंदर्य प्रतिमानों की नहीं है। चौथी सदी के स्पार्टा में जो चीज वर्चु थी, वह 21वीं सदी के शिकागो में भी वर्चु रहे, यह संभव नहीं क्योंकि नैतिकताएं देश और काल सापेक्ष होती हैं। आज तीसरे विश्व की नैतिकताओं को प्रभावित करने के लिए

प्रभुताशाली देश अपने सांस्कृतिक संसाधनों का निर्यात इसीलिए कर रहे हैं- क्योंकि उन्हें मालूम है कि नैतिकताएं परिवर्त्य हैं।

लेकिन गुण की भारतीय अवधारणा नैतिकता से काफी हद तक अलहदा है। भारत के शास्त्रीय साहित्य में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध को पंचमहाभूतों के गुणों के रूप में वर्णित किया गया। सांख्य दर्शन में सत्व, रजस और तमस के तीन गुण प्रकृतिपरक थे। न्याय दर्शन में 24 गुण हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, पारत्व, अपारत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, ज्ञान, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। सांख्य एक ऐसे चिरजीवी वटवृक्ष की बात करता है जिसे तीन गुणों द्वारा पोषित किया जाता है। गुण प्रकृति के घटक हैं। प्रकृति की धातु। राधाकृष्णन जी ने प्रकृति को तीन गुणों के बीच संतुलन (equilibrium) के रूप में व्याख्यायित किया था। यहां भारतीय जीवन दर्शन में गुण हमारे स्वभाव के मेरुदंड की तरह लगते हैं। हनुमान सभी गुणों का संतुलन (equilibrium) हैं, इसी अर्थ में वे सकलगुणनिधानं भी हैं।

●●●

वानराणामधीशं

कई बार लगता है कि रामायण का रचयिता क्या दुनिया का प्रथम जूलाजिस्ट था या क्या वह भी डिज़्नी कैरेक्टर्स रच रहा था? वानर, ऋक्ष, भालू राम की सेना में क्या नहीं हैं? हनुमान को रामकथा में वानर, कपि- और प्लवग कहा जाता रहा है। प्रायः हनुमान मंदिरों के आसपास मैंने बंदरों की भीड़ भी देखी है। एक कोई असामान्य सा, रहस्यमय सा संबंध रहा सा लगता है। लेकिन ठीक उसी समय मुझे अंग्रेजों के द्वारा हनुमान का वर्णन मंकी-गॉड के रूप में करना याद आता है और मुझे उनकी साजिशी व मखौलिया प्रवृत्ति भी साथ-साथ याद आती है और मेरा मन उदास हो जाता है। जो लोग आज स्पाइडरमैन, वोल्वराइन, डेअरेडेविल और बैटमेन के रूप में मकड़ी, भेड़ियों और चमगादड़ों को सर पर बिठाए हुए हैं, वे हनुमान को मंकी-गॉड कहकर वाक्केलि करने का संतोष भी ले लेते हैं। वानरों को आर्यों की एक उपजाति न मानकर उन्हें बंदर मानना और वहां भी बंदर-ईश्वर के रूप में उनकी चर्चा करना- (जबकि हनुमान ने कभी 'गॉड' होने का दावा (क्लेम) ही नहीं किया और हमेशा 'विनम्र सेवक' होने में स्वयं को कृतार्थ अनुभव करते रहे) अपने आप में व्याख्या के विलक्षण फरेब हैं। **'वने भवं वानं, वानं राति गृहणातीति'** - इस रूप में वन्य निवासी, वन के फलफूल खाने वाले, निरामिष भोजी व्यक्ति को वानर कहते हैं। संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ के अनुसार, **'वने भवं फलादिकं राति'** का अर्थ है और आप्टे के संस्कृत शब्दकोष के अनुसार, **'वानं वनसंबंधि फलादिकं राति गृहति।'** इस तर्क से सुग्रीव, अंगद, हनुमान आदि की वानर सेना वन में रहकर शाकोपजीवी चर्या अपनाती रही तो उनका समुदाय वानर कहलाया।

पिक्चर्स ऑफ इंडिया, पृ. 169-291 में एक अंग्रेज विद्वान भी संस्कृत के इन शब्दकोषों के अनुसार की गई व्याख्या को मानकर लिखते हैं कि **'संस्कृत शब्दकोषों में वानर उसे कहा गया है जो वन में रहे और अपना जीवन वन के फल-फूल खाकर काटे। दरअसल ये वे लोग थे जो इसी तरह अपनी जिंदगी बिताते थे और भील तथा गोंड आदिवासियों के सदृश रहते थे। वर्तमान आदिवासी समाजों की तरह उस समय भी वनवासी कुल विभिन्न पशुओं/वनस्पतियों को गोत्रमूल के रूप में पूजते थे और उन्हीं के नाम से पुकारे भी जाते थे।'** आर.वी. रसेल वानर और रीछ को तेरह सबसे ज्यादा प्रचलित टोटमों में (गोत्रों में) शामिल करते हैं। जैन रामायण के हिसाब से चलें तो उस समय की जातियों के पहचान-ध्वज वानर ऋक्ष आदि रहने से उन्हीं के आधार पर नाम हुए। आज रूसी ध्वजा पर रीछ और ब्रिटिश ध्वजा पर सिंह का चिन्ह होने से लायंस और बीअर्स के रूप में उस देश के निवासियों की बात होती है। फादर बुल्के ने छोटा नागपुर के उरांव और मुंडा जातियों में तिग्गा, हलमान, बजरंग, गड़ी नामक वानर अर्थधारी गोत्र ढूंढ़ निकाले। बसोर, रेद्दी, भैना, खंगार, बरई आदि जातियों में भी वानर द्योतक गोत्र थे। लेकिन इससे भी आगे बढ़कर सोचा जा सकता है कि क्या वे जॉन ईटन की तरह के 'जंगल बार्न' कुछ थे? या टार्जन जैसे? यदि 'जार्ज ऑफ द जंगल' का जार्ज उदार हृदय होने के साथ-साथ मंद-बुद्धि न रहा होकर प्रज्ञावान रहा होता तो हनुमान-सा कुछ-कुछ होता? निराला ने **राम की शक्ति पूजा** में शिव-शक्ति संवाद में हनुमान का वास्तविक परिचय यों दिया :- 'करने को ग्रस्त समस्त व्योम कपि बढ़ा अटल/लख महानाश शिव अचल हुए क्षण-भर चंचल/श्यामा के पदतल भारधरण हर मन्द्रस्वर/बोले – 'सम्बरो देवि, निज तेज, नहीं वानर/यह – नहीं हुआ श्रृंगार-युग्म-गत, महावीर, अर्चना राम की मूर्तिमान अक्षय-शरीर, चिर-ब्रह्मचर्य-रत, ये एकादश रुद्र धन्य, मर्यादा-पुरुषोत्तम के सर्वोत्तम अनन्य, लीलासहचर, दिव्यभावधर, ...।'

यह 'कपि' शब्द क्या है? किं जल पिवतीति कात् आत्मान पाति रक्षतीति, कंपते वापात सदा वा कपि-यानी मद्यादि को छोड़कर शुद्ध जल का पान करने वाला, समुद्र जल में भी अपनी आत्मा की रक्षा करने वाला और पापों से सदैव डरने वाला व्यक्ति कपि कहलाता है। यदि कपि का अर्थ बंदर होता तो जाम्बवान को कपीन्द्र क्यों कहा जाता? ऐसा ही एक नाम प्लवग है जो संभवतः हनुमान की कूदने और छलांग लगाने की क्षमता के कारण पड़ा होगा। प्लवग का एक मतलब है नौकाओं से तैरने वाला। मुंडकोपनिषद् 1/2/7 के अनुसार प्लव का अर्थ : जलतरण साधन है : **नाशयेच्च शनैः पश्चात् प्लवं सलिलपूरवत्- सर्व ज्ञान प्लवेनैव वर्जिनं संतरिष्यसि-भग** 4/36 लेकिन हनुमान यदि बंदर ही होते तो उनके सभी नाम इसी की स्मृति कराते जबकि ऐसा है नहीं। अनिल कुमार, अनिलात्मज, अंजनीनंदन, अंजन, अंजनासुत, किशोरनंदन, केसरीकिशोर, बजरंग, महावीर, मारुति, हनुमान, संकटमोचन, वायुपुत्र जैसे बहुत से उनके नाम बंदर वाले सांयोगिक पर्यायों से समानता नहीं रखते। स्वयं सुग्रीव के भाई बाली को 'परम तेजस्वी और प्रतापी वानर' तो कहा गया किंतु वह 'देवराज इंद्र का पुत्र' भी है। यह जरूर है कि वानर/कपि बाली हनुमान छवि कवि-कलाकारों को कल्पना की उन्मुक्त उड़ान भरने देने के काफी काम आई। जब पंख लगे तो हनुमान की पूंछ भी आई। तुलसीदास के समय तक आते-आते हनुमान की बंदर वाली छवि व्यापक लोकस्वीकृति पा चुकी थी और न केवल भारत बल्कि संपूर्ण दक्षिण एशिया/दक्षिण-पूर्व एशिया में इसी रूप में स्थापित हो चुकी थी। वाल्मीकि रामायण में **'कपीनां किल लांगूलमिष्टं भवति भूषणम्'** कहकर पूंछ का महत्व स्थापित किया जा चुका था। अध्यात्म रामायण में **'वानराणां हि लांगूले महामानो भवेत्किल'** कहा गया था। वाल्मीकि रामायण में **'संवेष्ट्यमाने लाङ्गूले व्यवर्धत महाकपिः/ शुष्कमिन्धनमासाद्य वनेष्विव हुताशनः'** कहकर पूंछ और हनुमान के चमत्कार को फिर बताया गया है।

गोकुल राजाराम की अंग्रेजी कहानी 'लार्ड ऑफ द एप्स' हनुमान को हर बंदर में मौजूद बताती है और कहती है कि किसी एक बंदर को मारना भी हनुमान को उतना ही मारना है जैसे किसी एक इंसान को मारना ईश्वर को किसी हद तक मारना है। लेकिन तब लगता है कि हनुमान यदि वाकई पूंछ वाले बंदर रहे होते तो वे ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को अच्छी तरह जानने और व्याकरण के शुद्धतम प्रयोग की योग्यता से कैसे सम्पन्न थे? (वा.रा. किष्किंधाकांड 3/28-29) कैसे वे याज्ञिक ब्राह्मणों की तरह अरणियों से अग्नि निकालकर हवनकुंड में स्थापित करते थे? (वा.रा. किष्किंधाकांड 5/14)। तब हनुमान क्या थे? क्या वे हनुमानव थे? एक तरह की मिसिंग लिंक? ह्यूमन और हनुमान। या प्लेनेट ऑफ दे एप्स की तरह कोई ऐसा क्षेत्र किष्किंधा था जहां अतिविद्वान और समर्थ एप्स रहते थे? कोई अल्ट्रा-इंटेलिजेंट एंथ्रोपॉयड एप्स? 1993 में स्थापित ग्रेट एप प्रोजेक्ट के बोर्ड मेंबर डॉ. पेड्रो ए. यन्तेरियन का कहना है कि जैवशास्त्रीय दृष्टि से एप्स और हमारे डी.एन.ए. का फर्क 0.5 प्रतिशत मात्र है। चिंपाजी एवं हमारे बीच 1.23 प्रतिशत मात्र का। ग्रेट एप पर्सनहुड मूवमेंट भी उन्हें 'पर्सन' की तरह देखता है। 18वीं सदी में फ्रेंच कलाकार सिंजेरी पेंटिंग बनाते थे जो वानर के मानव सदृश चित्रणों पर ही आधारित थी। 'साको मा' जैसा पवित्र वानर संप्रदाय दुनिया की बहुत सी जनजातियों में है जहां वानर न केवल एक धार्मिक आइकॉन है बल्कि अपने आप में एक कल्ट फिगर है। पहले पशुओं के ब्रेन फंक्शन भर की बात की जाती थी, लेकिन अब न्यूरोथियोलॉजिस्ट एक ज्यादा एकात्मक दृष्टि से काम कर रहे हैं। जूल्स बर्न के 'द मिस्टीरियस आइलैंड' की तरह क्या किष्किंधा भी कोई ऐसा एकांत क्षेत्र था कि जहां जूपिटर जैसा ओरांगउटान था, और यहां हनुमान जैसा? या एलन मूर के टॉम स्ट्रांग का सुपर-इंटेलीजेंट एप किंग सोलोमन किसी हद तक हनुमान से प्रेरित हैं? किष्किंधा क्या वैसी ही वैकल्पिक पृथ्वी (आल्टरनेट अर्थ) है जिस पर कार्ल केसेल द्वारा लिखित 'मार्वल एप्स' (चमत्कारी कपि) रहते हैं? ये लोग 1967 में प्रसारित 'जार्ज ऑफ द जंगल' सीरीज की एक कड़ी 'बिग फ्लॉप एट द बिग टॉप' जैसे यदि लगते भी हों- बाली के द्वारा मार भगाए जाने पर ऋष्यमूक पर्वत पर नैराश्य की हालत में रहते हुए- तो भी एक दिन ये विश्वोन्मुक्ति का कारण बनेंगे। वैसे हनुमान की जो जन्म कथा है कि हैं वे पवन के भी पुत्र और वनवासी केसरी के भी। तो मुझे कई बार वह 'फेरल चाइल्ड' जैसी कथा लगती है- मनुष्य के बच्चे जो वनप्राणियों के बीच पले और ज्यादा शक्ति, प्रज्ञा और नैतिकताओं से सम्पन्न निकले क्योंकि उनके भीतर 'अनकरप्टेड' (अभ्रष्ट) शुद्ध मानवता का प्रतिनिधित्व हुआ। गिलगिमेश महाकाव्य में नायक गिलगिमेश का मित्र एंकिदु ऐसा ही वन्य-शिशु है। रोमनकथाओं में रोम की स्थापना करने वाले भाई ऐसे ही वन्य-शिशु हैं।

पता नहीं क्यों लेकिन कपि-पूजा एक वैश्विक प्रवृत्ति है। प्राचीन पेरू में मोशे लोगों ने अपनी कलाओं में वानर का बहुत वर्णन किया है, कुशाइत न्यूबियंस में वानर-देवता है। उत्तरी यूरोप, खासकर इंग्लैंड में 15वीं सदी तक बंदरों का पता न था और जैसे ही वे यहां आए, उन्होंने तत्काल एक पवित्र और रहस्यवादी भूमिका ग्रहण कर ली। ग्रीक कला में बंदर प्रायः नहीं मिलते। आक्रोतिरी के चार मिनोअन भित्तिचित्रों में बंदर 'सर्वेन्ट्स ऑफ द डिविनिटी' (दिव्यता के सेवक) के रूप में दिखाए गये हैं। नेपल्स की खाड़ी में दो द्वीपों (इश्चिया और प्रोचिडा) को एप आईलैंड्स (कपि-द्वीप) कहा जाता है। चीन और हांगकांग में अभी भी मंकी-गॉड फेस्टिवल चलता है। बुद्धत्व के बहुत पहले से चीन में कपि-वृतांत चले आ रहे हैं। चीन के कुछ हिस्सों में वानर को 'स्वर्ग समान महान ऋषि' की तरह पूजा जाता है। 16वीं शती के चीनी ग्रंथ 'पश्चिम की ओर यात्रा' का नायक भी एक वानर है। जापानी शिंतो-बुद्धत्व में वानर ईश्वर का संदेशवाहक है- जैसे हनुमान राम के- या स्वयं किसी ईश्वर का भौतिक प्रकटीकरण है- जैसे हनुमान शिव के अवतार हैं। वहां की लोककथाओं में

वानर दैत्यों से हमारी रक्षा करने वाला माना गया है। सुदूर पूर्व में शूमाखर के अनुसार, वानर-देवता उत्तरदायित्व, भक्ति और मोक्षमार्ग को प्रशस्त करने वाले माने गए हैं। हमारे यहां हनुमान वेद-विद्या विशारद, कलाओं और संगीत के ज्ञाता हैं, उसी तरह मैक्सिको और ग्वाटेमाला के मय समाज में वानर-देवता कलाओं, संगीत, लेखकों और शिल्पियों के संरक्षक हैं। जिस तरह से हमारे यहां हनुमान और सूर्य का एक विशिष्ट संबंध है, उसी तरह से मैक्सिको की अज्तेक पौराणिकी में वानर-देवता को सूर्य-सम्बद्ध बताया गया है। मय सभ्यता के वानर-देवता, हून-वाट्ज और हून-चोएन हनुमान के समान नाम-ध्वनि रखते हैं। चीन और जापान की कलाकृतियों में वानर को अश्वारोही की तरह दिखाया गया है। तिब्बती पुराणकथाओं के अनुसार तिब्बती लोग वानर-वंश के हैं। बोधिसत्व अवलोकितेश्वर ने यह आदिमूल वानर तिब्बत भेजा था। पुनः यहां इस वानर का नाम हा-लू-म-दा है जो हनुमान नाम से ध्वनि साम्य रखता है। यह चीज हमें थोड़ी विस्मित भी करती है कि दुनिया भर के अधिकांश मिथकीय वानरों के नाम 'ह' से क्यों शुरू होते हैं? मैं यह नहीं कह रहा हूं कि दुनिया में हर जगह वानर-पूजा होती होगी। कई जगह हैं जहां मंकी-मान की गुंजाइश नहीं क्योंकि वहां 'मंकी-बिजनेस' चलता है। एक फिलिप्पिनो कहावत है कि 'एन इंटेलिजेंट मंकी केन स्टिल बी आउटस्मार्टेड।' लेकिन यह कहावत संभवतः हनुमान जैसों को नहीं जानती। इसकी तुलना में जापानी कहावत- 'सारू मो की कारा ओचिरू' यानी 'वानर भी पेड़ से गिरते हैं।' यह बताती है कि कोई भी पूर्ण नहीं है। क्रियो कहावत कि बंदर का पजामा कितना ही तंग हो, पूंछ के लिए जगह होती ही है, निरपेक्ष सी है। बंदर क्या जाने अदरक का स्वाद वाली हिंदी कहावत में भी थोड़ी सी गर्हणा तो है। पाश्चात्य कहावतें कि : 'ही मैरीड अ मंकी फॉर इट्स मनी, द मनी वेंट एंड द मंकी स्टेड अ मंकी' या 'एवरी वन नोज़ द मंकी, बट द मंकी नोज नो वन' (फिनलैंड) या 'अ मंकी ड्रेस्ड अप इज़ स्टिल अ मंकी', प्योर्टोरिको की कहावत कि 'आल दो द मंकी माइट ड्रेस इन सिल्क, मंकी इट स्टिल इज़' भी ऐसी ही है। ये सारी कहावतें उस दुनिया इसी का पता देती हैं कि वहां वानर का मखौल ही उड़ाया जाता है। लंका में जातुधान भी ऐसा ही करते थे। वैसे हनुमान स्वयं वानर के रूप में किसी तरह का अहंकार पाले बिना स्वयं कैंडिड तरीके से स्वीकार लेते थे कि 'प्रात लेइ जो नाम हमारा/तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा।'

हनुमान ने बचपन में सूर्य को खाने के लिए या बड़े होने पर समुद्र पार करने के लिए 'स्पेस' का या हवाई मार्ग का उपयोग किया हो, लेकिन यह भी देखें कि स्पेस ट्रेवल के जीवशास्त्रीय प्रभावों का अध्ययन करने के लिये भी आधुनिक समय में भी वानरों को भेजा गया। सं.रा. अमेरिका ने 1948 से 1961 के बीच कई मंकी फ्लाइट्स भेजीं। 1969 और 1985 में भी भेजीं। फ्रांस ने 1967 में अंतरिक्ष में दो मंकी फ्लाइट्स भेजीं। सोवियत संघ/रशिया ने भी कई बार 1983 से 1996 के बीच ऐसा किया। अर्जेंटीना ने 1969 में एक वानर को अंतरिक्ष भेजा था। अभी तक 32 वानर अंतरिक्ष भेजे गए हैं।

लेकिन हनुमान को तुलसी ने वानरों का राजा या वानरों में श्रेष्ठ कहा, उसे उन्होंने वानर-ईश्वर (मंकी गॉड) नहीं कहा। यह फर्क फिरंगी यात्रियों से लेकर विद्वानों ने कभी नोट नहीं किया। मसलन 1676 में ज्यां बाप्टिस्ट ट्रेवर्नियर ने मथुरा जाते हुए मंदिरों में जो मूर्तियां देखीं तो उसे उनमें एप्स की बहुलता दिखाई दी और इतने सारे विकृतांग दृश्यों को देखते रहना उसे काफी 'कुरूप' (अगली) लगा। एप्स की यह बहुलता दरअसल हनुमानजी की मूर्तियां थीं जिसे ट्रेवर्नियर नहीं समझ पाया था। इसी प्रकार 1699 में फ्रैंको बर्नियर ने आधे मनुष्य आधे पशु जैसे जिन एप्स देवताओं की पूजा होते देखकर वितृष्णा महसूस की थी, वे भी यही हनुमानजी थे। उन्हें ईश्वर को मनुष्य के अलावा किसी और रूप में देखना असंभव लगता था क्योंकि उनके अनुसार ईश्वर की इमेज में बस मनुष्य को ही गढ़ा गया था। लेकिन भारतीयों को यह ज्यादा बर्बर लगता रहा कि

अन्य सभी प्राणियों को ईश्वर की छवि के संदर्भ में पूर्णतः तिरस्कृत कर दिया जाए। दूसरी ओर हालात काफी भिन्न थे। लॉ क्रेकिनियर ने भारत यात्रा के बाद कहा कि हिंदू सचमुच ही ऐसे वहशियों को पूजते हैं जो उनमें सबसे दुष्ट (Vilest) हों। चार्ल्स ब्रासेस को तो हनुमान की पूजा उसी तरह से एक 'फेटिश' (पुर्तगाली में कृत्रिम और झूठा काम) लगी जैसे बच्चों का गुड़ियों से खेलना। मोनियर विलियम्स को भी 1883 की अपनी पुस्तक 'भारत में धार्मिक विचार और जीवन' में यह अजीब लगा था कि पूरे भारत में हर तरह के बंदरों और एप्स की पूजा होती है। उसने हनुमान को ग्राम देवों की श्रेणी में रखा था। हनुमानजी का वर्णन करते हुए उसने कहा कि अधिकतर भारतवासी एक मानसिक रोग के जीवन भर शिकार रहते हैं। इस रोग को दैत्यभय (डेमनोफोबिया) कहते हैं। हनुमान के प्रति भारत के आम नागरिक की भक्ति उसे भक्ति नहीं, भय लगा। और हनुमान भी उसे दैत्यों के संहारक नहीं, दैत्य लगे। अभी हाल में जब लंदन में लगान फिल्म लगी तो हनुमान को उसके सब-टाइल्स में 'एप' के रूप में दिखाने के प्रयास पर हंगामा हो गया और नेशनल हिंदू स्टुडेंट्स फोरम उसके खिलाफ खड़ी हो गई। विलियम क्रुक ने मिर्जापुर के जिलाधिकारी के रूप में कार्य करते हुए दो भागों में 'द पापुलर रिलीजन एंड फोकलोर ऑफ नार्दर्न इंडिया' नामक पुस्तक लिखी जिसमें उसने हनुमान को सेकंड-रेट देवता कहा, हालांकि अगले ही पृष्ठ पर वह 'आदर-योग्य देव-परिषद्' (रिस्पेक्टेबल डिवाइन कैबिनेट) में उनकी प्रोन्नति का भी उल्लेख करता है। उसका यह भी कहना है कि हनुमत पूजा हिंदू आस्था के आरंभिक युगों से नहीं प्रवाहित हुई। वह हिन्दुत्व के 'पतन' का प्रतीक है। उसके अनुसार उनकी 'rude image, smeared with oil and red ochre'- बर्बर स्मृतियों को आहूत करती है। सर अल्फ्रेड लॉयल का विचार तो और सुनने लायक था। उनके अनुसार हिंदुओं में बंदरों के प्रति श्रद्धा हनुमान-पूजा से नहीं निकली। हनुमान-पूजा बंदरों की पूजा से निकली। ऐसे लोग मुझे मि. इंडिया फिल्म में वाल्कॉट के चरित्र से बेहतर नहीं लगते जो बजरंग बली की सोने की मूर्ति स्मगल करना चाहता है। इन्हें भी हनुमान का इससे ज्यादा एहतराम नहीं है। मसलन हैंस बेकर कहते हैं कि हनुमान का 'कल्ट' इस देश में अपेक्षया बाद में आया और यह वैष्णवत्व के भीतर एक हाशिए की चीज है। (अयोध्या, 1986 : II : 126) लेकिन हैंस बेकर जैसे विदेशी लेखक भारतीय चरित्रों के बारे में हमेशा द्वन्द्व की भाषा में ही बोल सकते हैं, हनुमान जो वनवासी/आदिवासी हैं, उन्हें 'अपेक्षया बाद में' बताने की क्या तुक? हमारी परंपरा उन्हें - राम और हनुमान को- भक्त और भगवान को एक दूसरे में 'लय' देखती है, लेकिन हैंस बेकर उन्हें इसी उथले तरह से ही व्याख्यायित कर पाते हैं, जिन्हें वह 'मार्जिनल' (हाशिए का) कह रहे हैं, वह हनुमान- यदि सिर्फ उसके मंदिरों को गिन लिया जाए तो अपने स्वामी से ज्यादा संख्या में मौजूद मिलेंगे। वे रघुपति के प्रिय भक्त हैं, उन्हें 'माइनर डीटी' (गौण देवता) बताने वाले भारत की सतही पहचान ही रखते हैं। श्री हैंस बेकर की चतुराई इसमें भी दिखती है कि वे हनुमान को 'वैष्णवत्व के भीतर' का बताते हैं जबकि हनुमान स्वयं रुद्रावतार हैं, बल्कि 1978 में जर्नल ऑफ एशिया स्टडीज़ में लाओनार्ड वालकॉट ने बिहार और उत्तरप्रदेश के भोजपुरी क्षेत्रों के अध्ययन में पाया कि हनुमान का शिव से और उनकी तत्वभूता शक्ति से घनिष्ठ साहचर्य है। पश्चिमी दिमाग चीजों को उनके डिपार्टमेंट्स में बांटता है। कभी वह हनुमान को जैवरूपीय देवता (जूमार्फिक) कहता है, कभी पशुमानव (थीरियोमार्फिक), कभी वह उसे टोटेमिक या गोत्र देवता कहता है, कभी उसे दूसरी पीढ़ी वाला देवता कहता है, कभी मध्यवर्गीय (मिडिल क्लास) देवता और कभी रक्षक पशु देवता (ट्यूटलरी)।

फिरंगी जिसे गौण या दूसरी श्रेणी का देवता बता रहे थे, महाभारत के वनपर्व के रामोपाख्यान अध्याय में उस हनुमान को सीता का वर मिला था- **'पुत्र! राम की कीर्ति के साथ तुम्हारा अनंत जीवन होगा और मेरे**

प्रसाद से सदा तुम्हारे लिये दिव्य भोग उपस्थित रहेंगे'- 'रामकीर्त्या समं पुत्र जीवनं ते भविष्यति/ उपस्थास्यन्ति हनुमन्निति स्म हरिलोचन।। दिव्यास्त्वाभुपभोगाश्च मत्प्रसादकृताः सदा।' उसके बावजूद ये सब विलायती सद्‌वचन हैं। इनका क्या करें? क्या आपको रुडयार्ड किपलिंग के 'द मार्क ऑफ द बीस्ट' की याद करनी चाहिए? उस कथा में भारत में नया आया फ्लीट नामक व्यक्ति नए साल की पार्टी में खूब शराब पी लेता है और हनुमान की मूर्ति के माथे से अपनी सिगार जलाता है। अचानक एक नंगा कोढ़ी 'सिल्वर मैन' मूर्ति के पीछे से निकलता है और फ्लीट की छाती से अपना सिर छुलाता है। उसके बाद फ्लीट उसी नशे में घर पहुँचता है और धीरे-धीरे स्वयं उसका एक पशु के रूप में क्रमिक रूपांतरण शुरू हो जाता है। सहसा उसकी सूंघने की शक्ति बढ़ जाती है, वह कच्चा मांस खाने लगता है, उसकी बोलने की शक्ति चली जाती है और वह एक भेड़िए की तरह गुर्राने लगता है। उसका साथी स्ट्रिकलैंड यह निष्कर्ष निकालता है कि यह सब हनुमान जी की मूर्ति को दूषित और अपमानित करने का परिणाम है। वह उस 'सिल्वर मैन' की खोज में निकलता है, उसे पकड़ता है और कुछ लोगों के साथ मिलकर गरम गन-बैरल से यंत्रणा देता है। सुबह होने पर वह 'बुरी आत्मा' को साथ ले जाने के निर्देश के साथ उसे छोड़ता है। सिल्वर मैन फिर फ्लीट की छाती को छूता है। फ्लीट अपनी सामान्य हालत में लौट आता है और सो जाता है। स्ट्रिकलैंड हनुमान के मंदिर जाता है ताकि पुरोहितों से परामर्श कर मूर्ति के दूषण को दुरुस्त किया जा सके, लेकिन पुरोहित कहते हैं कि मंदिर में ऐसा कुछ हुआ ही नहीं। फ्लीट को भी अब उस बारे में कुछ भी याद नहीं है। अब स्ट्रिकलैंड और उसके साथी महसूस करते हैं कि सिल्वर मैन को यंत्रणा देने के साथ ही उन्होंने 'सभ्य इंग्लिशमैन' होने की योग्यता भी खो दी है।

इस वृत्तांत में हनुमान के माध्यम से किपलिंग ने संभवतः यह भी स्थापित किया कि भारत को जानना विदेशियों के लिये असंभव है। ऊपर जिन लोगों के सद्‌वचन उद्धृत किये गये हैं, वे संभवतः ये न मानें, लेकिन उनके वचन ही इस बात के प्रमाण हैं कि हनुमान उनकी समझ के लिये कितने नामुमकिन हो चुके हैं। विदेशी क्या, लक्ष्मी परसौद, जिन्होंने 'बटरफ्लाई इन द विंड' (1990) लिखी - अपनी पुस्तक में हनुमान का छोटा सा उल्लेख करते हैं तो उससे यही सिद्ध होता है कि उन्हें मालूम ही नहीं कि 'अट्रेक्टिव बेरी' समझकर हनुमान ने सूर्य को खाया था, चंद्रमा को नहीं। वी.एस. नाईपॉल ने 'अ हाउस ऑव मि. विश्वास' में हनुमान को एक महत्वपूर्ण प्रतीक भूमिका दी (1961) लेकिन उनका हनुमान 'थोड़ा दुष्ट' (slightly sinister) है और थोड़े से द्विमुखी (एंबीवेलेंट) स्वभाव का भी। वहाँ एक 'हनुमान हाउस' भी है।

कई लोगों को हनुमान कथा डार्विन के सिद्धान्त की स्मृति दिलाती है जिसमें मनुष्य का विकास वानर से हुआ लेकिन यह बहुत सतही समानता है। डार्विन में वानर अविकसित 'प्रारंभ' है, हनुमत्कथा में हनुमान सुविकसित सनातन है। हनुमान को वानर के रूप में मानना जिन्हें कठिन पड़ता है, उन्हें हनुमान की पूंछ परेशान करती है। लेकिन जो हनुमान को वानर मानना चाहते हैं, क्या उन्हें हनुमान का व्यक्तित्व, उनकी अमूर्त चिंतन की क्षमता, नैतिक निर्णयन शक्ति, उनका धर्मानुभव याद नहीं आता? क्या वानरों या पशुओं का व्यक्तित्व होता है? क्या हम उनके व्यक्तित्व के न्यूरोसाइंस में वैसे ही घुस सकते हैं जैसे हनुमान के? चिंपांजी तो कांक्रीट/मूर्त चीजों के साथ कुछ कर लेता है तो बहुत बड़ी बात मानी जाती है किंतु हनुमान तो अमूर्त अवधारणाओं में इतनी सहज निपुणता बरतते हैं। क्या किसी आम बंदर में शर्म, लज्जा, अपराध-बोध जैसे भाव आएंगे? नैतिक निर्णयन - सच और झूठ ही नहीं, अच्छा या बुरा फर्क करना क्या किसी आम बंदर के लिए संभव है? लेकिन हनुमान तो सुग्रीव को भी प्रबोधते हैं। वे रावण को धर्मोपदेश देते हैं- **'सुनु रावण ब्रह्मांड निकाया, पाई जासु बल बिरचति माया, जाकें बल बिरंचि हरि**

ईसानि पालत सृजत हरत दस सीसा, जा बल सीस धरत सहसानन, अंडकोस समेत गिरि कानन।' उनके धर्मानुभव व संज्ञानात्मक क्षमता का वह स्तर क्या वानरों को आज भी उपलब्ध है? बंदर लोफिंग कर सकता है, लेकिन लंका-अभियान जैसा कुछ उससे संभव तो छोड़े, अपेक्षित भी है क्या? बंदर क्या अग्निहोत्र करते हैं? क्या वेदमंत्रों से उनकी मैत्री दृढ़ होती है? क्या वे वेदवेत्ता होते हैं? क्या उनमें राजतिलक, औषधियुक्त जल से स्नानयज्ञ, हरनयज्ञ, पतिव्रता और शास्त्रों की विदुषी स्त्रियां होती हैं? हनुमान को वानर समझना जितने प्रति प्रश्नों को जन्म देता है, उनको वानर न समझना उतने सवालों को नहीं। डार्विन वानर से मनुष्य का आरंभ दिखाते हैं, वाल्मीकि बालकांड के सत्रहवें सर्ग में देवताओं से वानरों का आरंभ दिखाते हैं: **'भगवान ब्रह्मा के ऐसा कहने पर देवताओं ने उनकी आज्ञा स्वीकार की और वानर रूप में अनेकानेक पुत्र उत्पन्न किए। देवराज इंद्र ने वानरराज बाली को पुत्ररूप में उत्पन्न किया, तपने वालों में श्रेष्ठ भगवान सूर्य ने सुग्रीव को जन्म दिया। बृहस्पति ने तार नामक महाकाय वानर को उत्पन्न किया जो समस्त वानर सरदारों में परम बुद्धिमान और श्रेष्ठ था। तेजस्वी वानर गंधमादन कुबेर का पुत्र था। विश्वकर्मा ने नल नामक महान वानर को जन्म दिया। अग्नि के समान तेजस्वी नील साक्षात् अग्निदेव का ही पुत्र था। रूप-वैभव से संपन्न दोनों अश्विनीकुमारों ने मैन्द और द्विविद को जन्म दिया था। वरुण ने सुषेण नामक वानर को उत्पन्न किया और महाबली पर्जन्य ने शरभ को जन्म दिया। हनुमान नामवाले ऐश्वर्यशाली वानर वायुदेवता के औरस पुत्र थे। सभी वानरों में सबसे अधिक बुद्धिमान और बलवान थे। इस प्रकार कई हजार वानरों की उत्पत्ति हुई।'**

विचित्र लगता है। लेकिन कुल जमा कहना क्या है कवि का? कि उनकी उत्पत्ति डिवाइन है, कि उनकी निसर्ग की शक्तियों से हुई, कि उनके जीवन का प्रयोजन भी भगवत्ता की सुस्थापना है। क्या ऐसा मानने में भी दिक्कत होती है। वानर को संस्कृत में भी अधिप्राणी या प्रधानका: या प्राणीप्रमुख क्यों कहा गया? क्या इस वाइल्डरनेस के और भी गहरे अभिप्राय हैं? क्या शहरों के नैतिक भौतिक प्रदूषण के विरुद्ध यह एक दिव्य आरण्यक संसार जानबूझकर रचा गया? यह दिव्यता इहलोक से कुछ और ज्यादा प्रामाणिक रिश्ते ढूंढ़ती है और उसमें एक तरह का आनुष्ठानिक मूल्य (संक्रामेंटल वेल्यू) संचरित करती है। किष्किंधा का निर्बाध लैंडस्केप और लंका की 'पुरी' -नगरी- अपने तरह का द्वैत पैदा करती हैं। हमारी प्रतिदिन हजारों हैक्टेयर कांतारभूमि कम करती हुई दुनिया में उस दिव्यता की एक स्मृति ही शेष रह जाएगी क्या? यह वह संस्कृति है जो घर और जंगल में फर्क नहीं करती। यह जंगल को ही घर मानती है। यह ठीक उस बाइबल मॉडेल का प्रतिलोम है जिसमें वन्यत्व (Wilderness) को शैतान से जोड़ा गया : 'Then was Jesus led up of the Spirit into the wilderness to be tempted of the devil.' (मैथ्यू-4:1) दूसरी ओर वाल्मीकि रामायण के सत्रहवें सर्ग में कहा गया: महात्मा, ऋषि, सिद्ध, विद्याधर, नाग और चारणों ने भी वन के विचरने वाले वानर-भालुओं के रूप में वीर पुत्रों को जन्म दिया.... उन्होंने नाना प्रकार के पर्वतों और जंगलों का आश्रय लिया। रामकथा एक तरह के आर्गेनिक अगजग की कल्पना करती है। क्या यह हमें उस दुनिया में अविश्वसनीय लगती है जहां हम इस भुवनांड को एक मशीन की तरह स्वीकार करना चाहते हैं? जिस तरह से रावण का पूंजीवाद इस दुनिया के विरोध में पड़ता है, उसी तरह से हमारे समय में पूंजीवाद के उदय के साथ प्रकृति की आत्मा की मृत्यु हुई और प्रकृति को उपकरण बनाने के काम ने गति पकड़ी। प्रकृति की उदात्तता और सुषमा, उसकी मृदुलता और मिठास, उसकी ताकत और विशालता, उस पर विस्मय और पैशन सब कुछ का क्षरण होता जाए और यदा कदा कुछ 'एन्काउन्टर्स विद द वाइल्ड' होते रहें, रामकथा की दुनिया ऐसी नहीं है। वह ऐसी दुनिया है जहाँ अरण्य का होना बर्बरता का होना नहीं है। दरअसल

वानर, ऋक्ष, भालू सहित तमाम पशु पक्षियों, सरीसृप, कृमि कीटों का होना ही इस बात का सबूत है कि सृष्टि सिर्फ हमारे लिए नहीं बनाई गई। रावण तो एंथ्रोपोसेन्ट्रिक क्या, खुद पर केन्द्रित जीवनदृष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। यह सिर्फ 'लॉर्ड मैन' की बात ही नहीं है- जो अपने आप में एक खंडित और बड़बोली कल्पना है- यह तो रावण की अहंकेन्द्रित (शोविनिष्ट) शासनशैली की बात है। रामकथा वनवास की ही कथा नहीं है, वनावास की भी कथा है। अरण्यकांड और किष्किंधाकांड की। आज डेव फोरमेन (कन्फेशंस ऑफ एन ईको-वारियर) और किस्ट्रोफर मेन्स (ग्रीन रेज) इस एंथ्रोपोसेन्ट्रिज्म को पर्यावरण संकट का मूल कारण मानते हैं।

'वानराणामधीशं' शब्द पशुओं के प्रति रामकथा के पूरे ट्रीटमेंट की ओर हमारा ध्यान खींचता है। यहां किसी किस्म का प्रजातिवाद (speciesism) नहीं है। यहां कोई प्रोजेक्ट टाइगर भी नहीं चलाया गया है, यहां कोई पशु कल्याणवाद (animal welfarism) भी नहीं है। जीवन के सहज प्रवाह में बस वे हैं और उनसे नेह के नाते हैं। कभी जटायु की तरह, कभी ऋक्ष की तरह, कभी वानर की तरह। आज औद्योगिकीकरण और नगरीकरण ने बहुत हद तक पशुओं को हमारे दैनंदिन जीवन में नजर से दूर हटा दिया है। अब वे कार्टून फिल्मों में ज्यादा दीख पड़ते हैं, या पालतू या परिसरबद्ध पशुओं की तरह। अब तो एक तरह की दूरदर्शनी वाइल्ड लाइफ है- कभी एनीमल प्लेनेट, कभी नेशनल ज्योग्राफिक, कभी डिस्कवरी चैनल पर चमकती हुई। स्टीव बेकर ने 1993 में जब 'पिक्चरिंग द बीस्ट' पुस्तक लिखी तो उसने यह भी लिखा कि 'Culture shapes our reading of animals just as much as animal shape our reading of culture' रामकथा इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। इसने पशु-पक्षियों के प्रति हमें एक सांस्कृतिक दृष्टि और संवेदना दी। इसी कारण आज हनुमान मंदिरों के प्रांगण में मनुष्य और वानर साथ-साथ नजर आते हैं। एक तरह के शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में, वहां आज कोई फिरंगी होता तो इतने सारे बंदरों के बीच मंदिर की सीढ़ियां ही नहीं चढ़ पाता। रामकथा एंथ्रोपोमार्फिज़्म का इस्तेमाल करती है। ईसप की कथाओं में भी वह था। क्या मनुष्य और पशु का यह मेल हमें बहुत असंभव प्रतीत होता है? आज हम शनैः-शनैः साईबोर्ग युग की तरफ बढ़ रहे हैं। एक ऐसे युग की तरफ जब प्रकृति और मशीन का मेल हो रहा है, जब जैविकीय और इलेक्ट्रो-मेकेनिकल प्रक्रियाएं ज्यादा से ज्यादा अंतःविलयित हो रही हैं, माइंड और मैटर के बीच के सेतु तैयार हो रहे हैं, आर्गेनिक और सिंथेटिक का मिलन हो रहा है। 1970 में ही प्रसिद्ध जापानी रोबोटिस्ट मसाहिरो मोरी ने 'अनकैनी वैली' नामक अपनी अवधारणा में मशीन/रोबोट आदि के मनुष्यवत व्यवहार की संकल्पना की थी। एक तरह के ट्रांसह्यूमेनिज़्म की। क्या रामकथा का 'ट्रांस' उससे बड़ा है? रामकथाओं में प्रकृति और प्रकृति, जैविकीय और जैविकीय का मिलन है। हनुमान ह्यूमेनायड बताए गए हैं। शायद भविष्य में भी कहीं ऐसा हो कि एक स्थिति ऐसी आए कि यंत्र-मानवों की जगह पशु-पक्षियों की गर्माहट भरी उपस्थिति की कीमत आदमी फिर समझे। फिलिप के. डिक के उपन्यास 'डू एंड्रोयाड्स ड्रीम ऑफ इलेक्ट्रिक शीप' में ऐसा ही कुछ दृश्य खींचा गया है। शापिरो ने इस उपन्यास की समीक्षा में यही कहा था- 'To disassociate themselves from androids, humans must associate themselves with animals. Accordingly, Decard attempts to retire rogue androids in order to be able to afford a live pet, which he wants in order to distinguish himself from androids.' डेकार्ड इस उपन्यास का नायक है जो बाद में यंत्रमानवों से ऊबकर पशुओं से अपना साहचर्य बढ़ाना चाहता है। यह होगा तो रामकथा एक नई प्रासंगिकता को उपलब्ध होगी।

●●●

रघुपतिप्रियभक्तं

हनुमान भगवान राम के प्रिय भक्त हैं। तो क्या भगवान भक्तों में पक्षपात करते हैं? क्या भगवान अपने भक्तों से तुलनात्मक प्यार करते हैं? क्या भगवान राम के कुछ प्रिय भक्त थे और कुछ अप्रिय भक्त? क्या भक्त भी अप्रिय हो सकता है? कि जैसे परिवार के बच्चों में स्पर्धा चलती है कि डैडी की गोदी में बैठने का अधिकार तो बस मुझे है। हनुमान के साथ भी ऐसा ही कुछ होता है क्या? क्या 'चोज़न पीपुल' के विचार को वैधता इसी से मिली? क्या भगवान 'फेयर' हैं? क्या भगवान से 'ईक्विटेबल' होने की आशा की जानी चाहिए? क्या भगवान के भी डबल स्टैंडर्ड हैं?

लेकिन ध्यान रखें कि यह श्लोक राम के बारे में नहीं है, हनुमान के बारे में है। भगवान ने हनुमान के साथ कोई पूर्वाग्रह नहीं रखा बल्कि हनुमान ने सेवा की मेरिट में, प्रावीण्य में यह स्थान स्वर्जित किया है। बाकी भक्त होंगे भक्ति में श्रेष्ठ, लेकिन हनुमान ऐसे भक्त हैं जो अपने आराध्य के भी संकटमोचक हैं। वे ही **'कै द्विज रूप लिवाय महाप्रभु सो तुम दास के सोक निवारो'** हैं, वे ही **'दे प्रभु मुद्रिका सोक निवारो'** हैं, वे ही **'आनि सजीवन हाथ दई तब लछिमन के तुम प्रान उबारो'** हैं, वे ही **'आनि खगेस तबै हनुमानजू बंधन काटि सुत्रास निवारो'** हैं, वे ही **'अहिरावन सैन्यसमेत संहारो'** हैं। यह हनुमान की अद्वितीयता है। स्वयं राम के शब्दों में **'सुनु कपि तोहि समान उपकारी/नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी।'**

हनुमान का यह रघुपतिप्रियभक्तं होना निराला को राम की शक्तिपूजा में भी याद आया था : **'फिर मधुर दृष्टि से प्रिय कपि को खींचते हुए/बोले प्रियतर स्वर से अंतर सींचते हुए/चाहिए हमें एक सौ आठ, कपि, इन्दीवर/कम से कम, अधिक और हों, अधिक और सुंदर/जाओ**

देवीदह, उषःकाल होते सत्वर, तोड़ो, लाओ वे कमल, लौटकर लड़ो समर/अवगत हो जाम्बवान से पथ, दूरत्व, स्थान/प्रभु-पद-रज सिर धर चले हर्ष भर हनूमान।' और देखिए निराला का तपःपूत मन- 'तुलसीदास' लिखने वाला मन- कि वहां भी हनुमान राम की चरणधूलि सर पर धारे बिना रवाना नहीं होते। कहते हैं कि निराला अपनी स्पर्धा तुलसीदास से करते थे। इस हनुमानोल्लेख में **'प्रिय कपि'** और **'प्रभु पद रज सिर धर चले चले हर्ष भर हनूमान'** में निराला ने जिस बारीक आब्ज़र्वेशन का परिचय दिया है, कोई शक नहीं कि वे इसके काबिल थे। इस स्पर्धा के काबिल। हनुमान को कमल लाने का काम सौंपने में महाप्राण कवि ने हनुमान और राम की उसी अंतरंगता को चीन्हा है। 'चले हर्ष भर' में **'चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा'** की प्रतिध्वनि है। यह संवेदना की समकक्ष उदात्तता से निर्मित प्रतिगूंज है। यह कोई अंतर्पाठ्यत्व (इंटरटेक्स्चुअलिटी) मात्र नहीं है। जिस तरह से तुलसी की कविता ने स्वतंत्र और स्वायत्त अर्थप्रणाली का दावा नहीं किया, निराला की कविता भी नहीं करती होगी। यह कविता हमें टेक्स्चुअल रिश्तों के एक नेटवर्क में व्यस्त कर देती है, सही है। लेकिन निराला के पावन और सुविकसित सांस्कृतिक मानस से भी हनुमान की यही छवि निकली होगी।

हनुमान भगवान के प्रिय भक्त हैं, यह किसी तरह का भक्ति-पदक नहीं है। किसी समय रोमन कैथोलिक आस्था में भक्ति के लिए आर्थोडॉक्स और एंग्लिकन चर्च श्रद्धालुओं को मैडल दिया करते थे। यह धातु का बना होता था। प्रायः गोल सिक्के के आकार का। यह मैडल दिया जाना प्राचीन और मध्यकालीन चर्च में बहुत दुर्लभ था किन्तु पुनर्जागरण (रिनैसां) की आरंभिक अवधि में इनका दिया जाना शुरू हो गया था। सोलहवीं और सत्रहवीं शती के कैथोलिक योरोप में भक्ति-पदक देने का प्रचलन कई शहरों में फैल गया था। स्वयं पोप पदक देने लगे थे। किसी पदक पर सलीब बनी होती थी तो किसी पर यूकारिस्ट के चमत्कार। लेकिन हनुमान जिस भक्ति परंपरा के हैं, वहां पदक देकर भक्ति को पुरस्कृत नहीं किया जाता। भक्ति अपने आप में ही सबसे बड़ा धन है। मीरा जिस खुशी में निमग्न रहती थीं- **पायो जी मैंने रामरतन धन पायो-** हनुमान भी भक्ति की उसी तन्मयता में कृतार्थ महसूस करते रहते थे।

हनुमान रघुपतिप्रियभक्तं इसलिए हैं कि राम उनके जीवन की परिभाषा हैं। उनके हृदय में राम बसते हैं। **'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।'** वे यह इसलिए हैं कि पृथ्वी पर उनके आने का प्रयोजन ही 'रामकाज' है- **'रामकाज लगि तब अवतारा।'** वे कभी भी कर्ता होने का श्रेय नहीं लेते, इसलिए कोई कर्म उन्हें बांध नहीं पाता। वे जानते हैं कि कर्ता तो राम हैं। वे समुद्र पार भी करते हैं तो **'चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा।'** वे चलते भी हैं तो **'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना/एही भाँति चलेउ हनुमाना।'** उन्हें हमेशा प्रमुख चिन्ता राम की ही रही आई- **'राम काजु करि फिरि मैं आवौं।'** **'जलनिधि रघुपति-दूत'** के रूप में उन्हें सही ही देखता है और सुरसा भी उन्हें **'राम काजु सब करिहहु'** का आशीर्वाद देती है। वे लंका में प्रवेश भी करते हैं तो **'हृदय राखि कोसलपुर राजा'** ही। वे इतने महान होने पर भी इतने सरल हैं और खुद को कुछ भी नहीं मानते, जो भी हैं रघुपति हैं- **'अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।'** उनका आत्मविश्वास इस एक चीज से ही प्रबल और पुष्ट होता है :- **'मोहू पर रघुबीर।'** उनके लिए दुनिया में होने का सबसे बड़ा आश्वासन यही रघुबीर हैं। अस्तित्व की चरम चरितार्थता। सीता उन्हें सही ही पहचानती हैं : **'जाना मन क्रम वचन यह कृपा सिंधु कर दास।'** वे पहचान के उन अत्यन्त भावुक और कृतकृत्य क्षणों में उन्हें 'हरिजन' कहती हैं। सबसे बड़ा गौरव। आजकल सुनते हैं कि दलित चिंतक इस बात पर गांधीजी की लानत मलानत करते हैं कि उन्होंने समाज के एक विशेष वर्ग को हरिजन कहा। उन्हें यह 'पेट्रोनाइज़िंग' शब्द लगता है, बल्कि केरल में हुए एक दलित अधिवेशन में इस शब्द

को मीडिया एवं राजनीतिक हलकों से प्रतिबंधित करने की मांग की गई। हनुमान के साथ ऐसा नहीं होता बल्कि सीता उन्हें इसी आधार पर आत्मीय मानती हैं। संभवतः यह इसलिए कि यहां हरिजन शब्द एक जाति विशेष के अर्थ में नहीं आया बल्कि बात एक कदम ज्यादा ही है, भगवान के साथ। **'जाति पांति पूछे नहिं कोई/हरि को भजे सो हरि का होई।'** हमारी संस्कृति में यह स्मृति मूलतः जाति के कोष्ठक से बाहर निकलने की स्मृति है। भीखा साहब ने कहा : **'सो हरिजन जो हरि गुन गैनो'** या धरनीदास ने कहा : **'हरिजन हरि के हाथ बिकाने'** या दादू ने कहा : **"पुहुप प्रेम बरसै सदा, हरिजन खेलैं काग/ऐसा कौतग देखिये 'दादू' मोरे भाग।"** सभी में 'भक्त' या हरिजन की एक ऐसी श्रेणी बताई है जो जाति पांति आदि कृत्रिम विभाजनों के बहुत ऊपर है।

लेकिन गांधीजी की मंशा पर नव-बौद्ध दलितों का इस आधार पर प्रहार कि यह शब्द चूंकि हिंदू है, इसलिए डिस्प्रेस है; एक त्रासद अन्याय है। मध्यकालीन संत दार्शनिक रामानुज ने कई पिछड़े वर्गों को 'तिरुकुलत्तर' नाम दिया- 'पवित्र वंश के लोग'। यदि वह स्वीकार्य था, तो गांधी की वैसी ही कोशिश को 'डिरोगेटरी', 'इंसल्टिंग' और 'अगेंस्ट द डिग्निटी आफ दलित्स' क्यों कहा जा रहा है? शासकीय सेवा में किस शब्द को अधिकृत और किसे अनधिकृत माना जाए, यह तय करना शासन का विशेषाधिकार है, लेकिन गांधी के सदाशयी अशासकीय प्रयास को अपमानास्पद कहना अपने आप में भयावह है। जैसा सीता के साथ हुआ कि **'हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी/सजल नयन पुलकावलि बाढ़ी'** क्या गांधीजी के साथ नहीं हुआ था? गांधी के शब्द-प्रयोग के औचित्य पर दार्शनिक वाद विवाद हो सकता है? एक जाति-निरपेक्ष शब्द को जाति-सापेक्ष बना देने पर प्रश्न उठाए जा सकते हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखा जाए तो- फिर भले ही वह व्युत्पत्ति शब्द की हो या हमारी, हम सब हरिजन हैं। इसलिए किसी वर्ग-विशेष को यह नाम देने में दिक्कत है। लेकिन गांधी इस शब्द के माध्यम से मनुष्य मात्र की मूल डिविनिटी को रेखांकित करना चाह रहे थे। वे दलितों को 'चिल्ड्रन ऑफ लेसर गॉड' (किसी कमतर भगवान के बच्चे) मानने को तैयार नहीं थे, इसलिए उन्हें यह शब्द भाया। कुंठाओं की राजनीति करने वाले किसी के सद्प्रयासों पर भी मंतव्य के प्रश्न उठाकर मनुष्य के एक वर्ग की चिंता पर अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहते हैं और संवेदनाओं की बाड़ाबंदी करने में अपनी ओर से जुटे भी हुए हैं। हनुमान का दृष्टान्त यह स्थापित करता है कि हरिजन वह नहीं जिसे हरिजन माना गया- भक्ति के संसार में डीम्ड डेफिनिशन नहीं चलती- बल्कि वह है जिसे हरिजन जाना गया। सीता के साथ यह होता है : **'हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी।'** शायद दलित संवेदना का आग्रह भी यही है। मानिए नहीं, जानिए। जानेंगे तो मानने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। बहरहाल, हनुमान **'उर आनहु रघुपति प्रभुताई'** के धनी हैं और अपने **'समर भयंकर अतिबल बीरा'** स्वरूप से सीता को कन्विंस करने के बाद भी मार्के की बात कह ही देते हैं : **'सुनु माता साखा मृग नहिं बल बुद्धि बिसाल/प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल।'** सीता भी उन्हें **'आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना।'** रघुपतिप्रिय और रामप्रिय। श्लोक की सार्थकता इस प्रसंग में देखते ही बनती है। सीता भी समझती हैं कि हनुमान की असल शक्ति उनका राम के प्रति यह अटूट विश्वास है, इसलिए वे जब उन्हें आज्ञा भी देती हैं तो यही :- **'रघुपति चरन हृदयँ धरि तात मधुर फल खाहु।'** हनुमान अपने अपार शौर्य के बावजूद नागपाश में बंधना स्वीकार भी करते हैं तो इसलिए : **'प्रभु कारज लगि कपिहिं बंधावा।'** रावण को अपना परिचय भी वे इसी रूप में देते हैं: **'जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि/तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि।'** इस संसार में राम ही हनुमान का पारपत्र हैं या परिचय-पत्र। वे राम नाम के बिना वाणी को व्यर्थ मानते हैं, वे **'राम विमुख संपति प्रभुताई'** का होना न होना एक बराबर मानते हैं। हनुमान का **'सबद किलकिला'** तभी गूंजता है जब वे **'करि आए प्रभुकाज'**

की खुशी से आप्लावित होते हैं। राम के वे प्रिय हो जाते हैं क्योंकि उन्होंने राम की प्रिय की खोज की। जो राम के हृदय में थीं, उन्हें ढूंढ़ने वाले हनुमान को राम ने यही वर दिया कि वे सीता सहित उनके हृदय में जा बैठें। पूरी बात हृदय की है। इसीलिए **'कपि उठाइ प्रभु हृदयँ लगावा/कर गहि परम निकट बैठावा।'** हनुमान में कर्ता-भाव न होने की प्रवृत्ति सुंदरकांड में उभर कर सामने आती है। वे कार्मिक स्वर्ण-सूत्रों में, ग्रंथियों में, जंजीरों में नहीं बंधे। जब सीताजी को वे कनक भूधराकार सरीरा बताते हैं तो ऐसा नहीं कि सीताजी को कन्विंस करने के लिए वे कोई गर्वोक्ति करते हैं या खुद को बधाई देने वाले कोई बड़े बोल बोलते हैं। वे कहते हैं : **'सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल/प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल'** कि हे माता! सुनो, वानरों में बहुत बल बुद्धि नहीं होती/परंतु प्रभु के प्रताप से बहुत छोटा सर्प भी गरुड़ को खा सकता है। अत्यन्त निर्बल भी महान् बलवान को मार सकता है। फिर रावण के सामने तो वे राम के बल को अपनी नहीं, सबकी शक्ति भी वे कहते ही हैं और राम के सामने सिर्फ उसी सच का सत्यकथन वे करते हैं : **'सो सब तव प्रताप रघुराई/नाथ न कछू मोरि प्रभुताई'।** वे यह सब किसी नकली विनम्रता के चलते नहीं कह रहे हैं। इसमें मालिक को खुश करने जैसी बात भी नहीं है। वे रावण के सामने भी वही बोलते हैं। यह मो त्ज़ु के द्वारा स्थापित 'वरिष्ठ से सहमति' का सिद्धान्त नहीं है जिसके अंतर्गत वरिष्ठ से थोड़ा सा भी विचलन स्वीकार्य नहीं होता।

भगवान का प्रिय भक्त कौन है? हनुमान में भगवान ने जैसे प्रिय भक्त के उन सभी मानदंडों को साकार होते देखा जो उन्होंने अपने कृष्णावतार में गीता में स्पष्ट किये। वह एक लंबा सा वर्णन है, लेकिन वह इस मामले में सर्वथा प्रासंगिक है। वे कहते हैं :-

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च/निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी/संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः/मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः/यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः/हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः/अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः/सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः/यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति/शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः/समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः/शीतोष्ण सुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः/तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टोयेन केनचित्/अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।'

जो सब प्राणियों से द्वेष न करने वाला, सबका मित्र, दयावान, ममतारहित, निरहंकारी, सुख और दुःख को समान मानने वाला, क्षमाशील, सदा संतुष्ट, योगी, संयमी और दृढ़निश्चयी है और जिसने अपने मन और बुद्धि को परमात्मा को अर्पण कर दिया है, वह भक्त मुझे (परमात्मा को) प्रिय है। लोग जिससे उद्विग्न नहीं होते, जो लोगों से उद्विग्न नहीं होता और जो हर्ष, क्रोध, भय तथा उद्वेग से मुक्त रहता है, वह मुझे (ईश्वर को) प्रिय है। जो ईश्वरभक्त इच्छारहित, पवित्र, दक्ष, उदासीन, व्यथारहित और सकाम कर्मों का आरंभ न करने वाला है, वह मुझे (परमात्मा को) प्रिय है। जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा शुभ और अशुभ का जो त्यागी है, वह भक्त मुझे (परमात्मा को) प्रिय है। जो शत्रु और मित्र के विषय में तथा मान और अपमान के विषय में सम है, सर्दी-गर्मी और सुखदुःखादि द्वन्द्वों में सम है, आसक्ति से रहित है, जो निन्दा और स्तुति को समान समझने वाला है, जो मौन धारण करता है, जो मिल जाए, उसी से संतुष्ट रहता है, जिसका अपना कोई स्थान नहीं है, जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसा जो भक्त है, वह मुझे (परमात्मा को) प्रिय है।

कुछ पाठों में 'रघुपतिवरदूतं' भी मिलता है कि वे रघुनाथ जी के श्रेष्ठ दूत हैं। संदेश देने की श्रेष्ठता। दूत कार्य की श्रेष्ठता। हितोपदेश में कहा गया है कि **'भक्तो गुणी शुचिर्दक्षः प्रगल्भोदव्यसनी क्षमी/ब्राह्मणः परममर्मज्ञो दूतः स्यान्प्रतिभानवान्'** कि दूत का भक्त,

गुणी, कार्यकुशल, ढीठ, शुद्ध हृदय, अव्यसनी, क्षमाशील, ब्रह्मज्ञानी, परममर्मज्ञ और प्रतिभा-सम्पन्न होना आवश्यक है। (हितोपदेश 3/19, नारायण पंडित)। हनुमान एक दूत हैं, संप्रभु के नहीं, प्रभु के। संप्रभु (Sovereign) के दूत तो सांसारिक हैं, उनकी अधिमान्यता और रैंक की अलग औपचारिकताएँ हैं। लेकिन प्रभु के दूत का अपना वैशिष्ट्य है। वे साधारण दूत नहीं, वरदूत हैं। हनुमान जो दूत-कर्म करते हैं वे प्रॉफेट्स की, पैगंबरी की परंपरा से भिन्न हैं। इसलिये उन्हें 'वरदूतं' कहना इन सब पैगंबरों से किसी तरह की स्पर्धा को आमंत्रित करना नहीं है। वे मूसा नहीं हैं, ईसा भी नहीं। वे भगवान के दूत हैं, प्रवक्ता नहीं। प्रॉफेट के लिये ईश्वर ने कहा था : 'I will put my words in his mouth and he will speak to them all that I command him.' हीब्रू शब्द नवि का अर्थ 'भगवान का मुख' होना होता है। यहूदी मान्यता के अनुसार भगवान के 6 लाख पुरुष और 6 लाख महिला संदेशवाहक थे, जिनमें से 48 पुरुष पैगंबरों ने मनुष्यता को स्थाई संदेश दिये। तालमुद सात महिला पैगंबरों के नाम बतलाता है - सारा, मरियम, देवोराह, हल्दाह, हान्ना, एबीगाली एवं ईश्थर - जिनके संदेश सभी पीढ़ियों के लिये प्रासंगिक हैं। यहूदियों में पैगंबरों का एक वर्ग 'शाउटर्स' के नाम से भी विख्यात है - 'चीखने वालों' के नाम से। ईसाइयत में ईश्वर के संदेश का ग्रहण एक तरह का सत्योद्‌घाटन (revelation) है और उस संदेश को देना एक भवितव्योक्ति (prophecy)। प्रभु यीशु इसी अर्थ में प्रॉफेट हुये। कुरान में पैगंबर मुहम्मद के अलावा मूसा, डेविड, जीसस आदि की भी गणना की गई है। आदम, नूह और अब्राहम भी। हालाँकि कुरान में 25 पैगंबरों का ही नामोल्लेख है, लेकिन एक हदीस यह कहती है कि इतिहास में 1,24,000 प्रॉफेट्स हुये हैं। लेकिन कुछ ही पैगंबरों पर पवित्र किताबें नाज़िल हुई हैं - तौरात, ज़बुर, इंजील और कुरान और ये ही रसूल (संदेशवाहक) हैं, हालाँकि अन्य पैगंबर भी ईश्वर का संदेश तो लाते ही हैं। इस दौर में तो बहुत सारे लोग हैं जो एक तरह की 'प्रॉफेटीयरिंग' में लगे हुये हैं, खुद को पैगंबर जैसा पेशकर माल बनाने में लगे हुये हैं। वरदूतं हनुमान के लिये तो सोने की लंका भस्म कर देने लायक है, लोभ की जगह नहीं। लेकिन ये प्रॉफेटीयर हरि के नाम पर हरे-हरे नोटों को इकट्ठा कर रहे हैं। झूठे मसीहाओं/पैगंबरों से सतर्क रहने की समझाइश इस्लाम में भी है, ईसाइयत में भी है।

हनुमान को कहीं भी इस तरह के दौत्य में लगा हम नहीं देखते। वे तो ऐसे दूत हैं जो जॉब-ओरिएन्टेड हैं। सुंदरकांड में वे सीता को राम का संदेश सुनाने के लिये गये हैं। राम हनुमान सहित बहुतों को सीता-शोध के लिये भेजते हैं, लेकिन विश्वास-शोध का ही नहीं, दौत्य का भी - उन्हें हनुमान पर ही है, इसलिये तुलसी ने किष्किंधाकांड में कहा - **'पाछें पवन तनय सिरु नावा/जानि काज प्रभु निकट बोलावा/परसा सीस सरोरुह पानी/करमुद्रिका दीन्हि जन जानी/बहु प्रकार सीतहि समुझा एहु/कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु/हनुमत जन्म सुफल करि माना/चलेउ हृदयँ धरि कृपानिधाना।'** हनुमान को वाल्मीकि ने भी किष्किंधाकांड के चौरासीवें सर्ग में राम से अंगूठी प्रदान करवाई है और राम ने वहाँ कहा भी है : 'वीरवर! तुम्हारा धैर्य, उद्योग, पराक्रम और सुग्रीव का संदेश - ये सब मुझे इस बात की सूचना-सी दे रहे हैं कि तुम्हारे द्वारा कार्य की सिद्धि अवश्य होगी।' वहाँ भी सीता-समाचार की ही अपेक्षा है।

वरदूतं में कहीं एक वरण का भाव है। हनुमान के अलावा भी दूत अलग-अलग दिशाओं में भेजे गये हैं। पूर्व में विनत यूथपति एक लाख वेगवान वानरों के साथ भेजा गया है, पश्चिम में सुषेण के नेतृत्व में दो लाख वानर भेजे गये हैं, शतबलि एक लाख वानरों के साथ उत्तर दिशा में भेजे जाते हैं और दक्षिण दिशा की ओर चुनिंदा ही सही किन्तु अनेक वानरों को भेजा गया है। वे सब अंगद के नेतृत्व में हैं। किन्तु राम अपनी करमुद्रिका देने के लिये एक ही को चुनते हैं। राम ने हनुमान को यह गौरव जानबूझकर दिया है। वह उनकी शक्ति पर,

भक्ति पर, युक्ति पर विश्वास का नतीजा है। वाल्मीकि का कहना है : 'महातेजस्वी श्रीरामचंद्र जी कार्यसाधन के उद्योग में सर्वश्रेष्ठ हनुमान जी की ओर दृष्टिपात करके अपने को कृतार्थ-सा मानते हुये प्रसन्न हो गये। उनकी सारी इंद्रियाँ और मन हर्ष से खिल उठे।' यह स्थिति सिर्फ एक दूत के संबंध में दिखाई गई है। बर्गेन इवांस ने कहीं कहा है : 'There is wisdom in the selection of wisdom.' राम हनुमान का 'वरण' कर इसी प्रज्ञा और त्रिकालज्ञता का परिचय देते हैं। अन्ततः हमारा चयन हमारे चरित्र का भी प्रतिबिम्ब है। जिसे हम चुनते हैं, वह हमारी मूल्य-पद्धति का भी प्रतिनिधित्व करता है। च्वाइस, न कि चांस, हमारी नियति को निर्णीत करती है। राम एक ऐसे व्यक्ति को चुनते हैं जिसमें शक्ति है, प्रज्ञा है, लेकिन जो स्वयं उसके प्रति बिल्कुल भी कांशस नहीं है बल्कि जो उसे भूला हुआ है। राम उसे वर-विश्वास सौंपकर उसके भीतर के उस शक्ति-स्रोत को सदा के लिये जागृत कर देते हैं कि वह हमेशा के लिये उनके सहित सबका संकटमोचन हो जाता है।

यह सही है कि राम ने हनुमान को दूत बनाकर भेजा था। लेकिन हनुमान की एक दूसरी भूमिका भी थी- न सिर्फ सीता को संदेश देने की बल्कि स्वयं रावण को संदेश देने की। एक से दूत काव्य परंपरा की नींव पड़ी, दूसरी से भारतीय प्रशासनिक परंपरा के एक बहुत महत्वपूर्ण अंग-दूत-के महत्व का सांस्कृतिक स्थापन हुआ। एक ओर वे सीता को **'राम दूत मैं मातु जानकी/ सत्य सपथ करुना निधान की'** कहते हैं, दूसरी ओर वे रावण को **'जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि/तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि'** कहते हैं। वे कोई नॉन-रेसिडेंट (अप्रवासी) दूत नहीं हैं, न वे ऐसे दूत हैं जो बड़े लंबे समय के लिए आए हैं। मसलन, अनातोली डोब्रीनिन की तरह 24 साल (वाशिंगटन में सोवियत राजदूत) तक या प्रिंस बांदर बिन सुल्तान की तरह 22 साल (वाशिंगटन में सऊदी अरब राजदूत) बिताने का उनका कोई इरादा नहीं है। बल्कि वे तो बहुत जल्दी में हैं। उनकी 'अवधि' पहले ही बीत चुकी है। इसलिए बहुत जल्द वे अपने दुहरे दायित्व की पूर्ति कर लेना चाहते हैं। वे आए तो शांति से अपना काम करने के लिए थे, लेकिन शायद विज़िबिलिटी और लाइमलाइट उनकी नियति में थीं। जब ऐसी परिस्थितियां निर्मित हुईं तो उन्होंने तुरंत अपनी स्ट्रेटेजी बदली। दूत के लिए जो अंग्रेजी शब्द 'डिप्लोमेट' है, वह ग्रीक शब्द डिप्लोमा से बना है, जिसका शब्दशः मतलब है : दो भागों में फोल्ड किया हुआ-हनुमान दुहरा दूत कार्य कर ही रहे हैं। वे एक तरफ राम-सीता के प्रेम अभिव्यक्ति और दूसरी ओर रावण को संदेश देने का काम सुंदरकांड में कर दिखा रहे हैं। डिप्लोमा का एक अर्थ अध्ययन और पाठ्यक्रम पूरा करने से जुड़ा हुआ है और हनुमान तो 'ज्ञानिनामग्रगण्यं' हैं ही। भगवान राम किष्किंधाकांड में उन्हें ऋग्वेद की शिक्षा, यजुर्वेद के अभ्यास, सामवेद की विद्या से सम्पन्न और वैयाकरण भी कहते हैं। उस पुराने समय में दूत की बहुत सी कूटनीतिक इम्यूनिटीज़ थीं और उनमें से एक प्रोटोकॉल यह था कि दूत अवध्य समझे जाते थे। दूतों को सुरक्षित निकलने (सेफ पैसेज) देना आज भी एक मान्य परंपरा है। राजराज चोल के दूत की गिरफ्तारी और उसके साथ किए गए दुर्व्यवहार ने चेर-चोल के बीच कांडालुर युद्ध भड़का दिया था। चंगेज़ खान और मंगोलों तक ने दूत के विशेष स्टेटस को स्वीकार किया था। रावण राम के दूत तो क्या खुद अपने दूत का आदर नहीं करता। **'जब तेहिं कहा देन बैदेही/चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही।'** रावण के दूत जब जासूसी में पकड़ लिए जाते हैं तो लक्ष्मण तो 'दया लागि हँसि तुरत छोड़ाए' की विशाल हृदयता या प्रोटोकॉल-पालन की तत्परता दिखाते हैं, लेकिन रावण तो पूंछ में आग लगाकर **'अंग भंग करि पठइअ बंदर'** का मजा तो ले ही लेता है। दूत को हालांकि विदेशी धरती के कानूनों के अनुसार दंडित नहीं किया जाना परंपरा से मान्य रहा है और 1961 से वियना कन्वेंशन ऑन डिप्लोमेटिक रिलेशंस के बाद तो यह संहिताबद्ध हो गया है। एक लेख में कहा गया : 'So why do we agree

to a system in which we're dependent on a foreign country's whim before we can prosecute a criminal inside our own borders? The practical answer is: because we depend on other countries to honour our own diplomats' immunity just as scrupulously as we honour theirs.' (एक नवंबर, 2005 को द स्ट्रेट डोप में लेख (What's the story on diplomatic immunity)। लेकिन हनुमान पर तो लंका के हिसाब से ही मुकदमा चलाया जाता है। पूरी लंका उनको दिए जा रहे त्रास का मजा लेती है: **'कौतुक कहँ आए पुरबासी/मारहि चरन करहिं बहु हांसी।'** हनुमान का जुलूस निकालकर सभी को उन्हें अपमानित और संत्रस्त करने का हक दिया जाता है। यह दूत चाहता तो मार्जिन्स में रहना है, लेकिन हालात उसे लोक-मुद्दा बना देने पर तुले हैं। पुरवासियों का संत्रास में मज़ा लेना थोड़े ही समय में एक दुःस्वप्न बन जाता है। वाल्मीकि प्रहस्त, महापार्श्व, वज्रदंष्ट्र, शुक, सारण, मेघनाद, रश्मिकेतु, सूर्यशत्रु आदि 25 राक्षसों के घरों में आग लगना वर्णित करते हैं, तुलसी संपूर्ण नगर को, हालांकि वाल्मीकि भी लंकापुरी का दग्ध होना वर्णित करते हैं। तो यह दूत लंका की व्यवस्था का खोखलापन फाश कर गायब हो जाता है और वहां के नागरिकों के आत्मविश्वास को हमेशा के लिए खत्म भी कर देता है। तुलसी इस दूत के वैशिष्ट्य को पहले ही रेखांकित कर देते हैं:- **'जासु नाम जपि सुनहु भवानी/भव बंधन काटहिं नर ग्यानी/ तासु दूत कि बंध तरु आवा/प्रभु कारज लगि कपिहिं बँधावा।'** शास्त्रों में कहा गया कि 'दूतों को संकेत, आकार और चेष्टा से दूसरों के चित्त को जानने वाला, विश्वसनीय, शीघ्रगामी, वाचाल और मितभाषी होना चाहिए।' **इंगिताकारचेष्टाभिः परचित्तप्रवेदिनः/आप्ताः सुशीघ्रगा दूता वाग्मिनो मितभाषिणः।** हनुमान इन आवश्यकताओं की पूर्ति तो करते ही हैं, वे सीता और राम के प्रेम के सुसंवाद भी बहुत मार्मिक ढंग से प्रेषित करते हैं। पवनपुत्र हनुमान क्या उस जमाने की एयरमेल थे? भगवान राम लीलावपु हो पृथ्वी पर उतरे है। उनके और सीता के बीच हनुमान जब संदेश प्रेषण करते हैं तो लगता है क्यों संदेश प्रेषण को 19वीं सदी की कवयित्री एमिली डिकेन्सन ने 'पार्थिव आनंद' कहा था- ज्वॉय ऑफ अर्थ- ऐसा आनंद जो देवताओं को अनुपलब्ध है क्योंकि उनकी तो सोची हुई तरंगें स्पेस में तुरंत ट्रेवल करती हैं। फर्क यही है कि यहां आनंद का क्षण नहीं है, वेदना का वक्त है। हनुमान दोनों ओर की वेदनाओं के साक्षी हैं और दोनों के उद्विग्न हृदयों को धैर्य और आश्वस्ति भी वे ही उपलब्ध कराते हैं।

वातजातं

आकाश को तो वैसे ही मरुत्पथ कहा गया, मारुति के द्वारा आकाश मार्ग से लंका-प्रस्थान उसी के आनुरूप्य में है। वानराणामधीशं हनुमान के जन्म या ओरिजिन के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, किन्तु वातजातं में तुलसी ने इसके कुछ संकेत दिए हैं। हनुमान को अनिल कुमार, अनिलाध्वज, अनिल, पवनकुमार, पवनज, पवनतनय, पवननंद, पवनपुत्र, पवनसुत, पवनात्मज, प्राभंजनि, मरुत्सुत, वायुजात, वायुपुत्र, वायुसुत जैसे नाम इसी के चलते मिले हैं। हमारी परंपरा प्रकृति के तत्वों से विलक्षण पुरुषों की उत्पत्ति के माध्यम से क्या कहना चाह रही है? क्या इसके माध्यम से हनुमान की असेक्सुअल उत्पत्ति बताई जा रही है? विलक्षण पुरुषों के साथ हमारे शास्त्रकार सहज नहीं रह पाए हैं और उन्होंने उनके जन्म या आविर्भाव के बारे में तरह-तरह के रूपक गढ़े हैं। कविता की भाषा ही रूपकात्मक है। इसलिए वहां एक तरह का 'माइथोपोइक' वर्णन है। वहां कल्चर (संस्कृति) और नेचर (प्रकृति) के बीच एक तरह की मध्यस्थता की गई है। इस मध्यस्थता का काम मिथकों को दिया गया है। हनुमान हमारी संस्कृति में हैं और वायु प्रकृति में। पवन का अर्थ है- पवित्र करने वाला लेकिन हमारे समय में हम उसे भी दूषित बना चुके हैं। प्रकृति का प्रदूषण संस्कृति के अपदूषण से ही पनपता है। इसलिए कोशिश यह की गई थी कि प्रकृति को भी संस्कृति में ही समाहित कर लिया जाए। वायु का एक नाम प्राण है, एक नाम सर्वत्रग, एक नाम संचारी। हनुमान वातजात होने से वायु के इन तीनों नामों को चरितार्थ करते हैं। **'राखे सकल कपिन्ह के प्राना'** में प्राण शब्द साकार होता है। सर्वत्रग को **'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना/एही भांति चलेउ हनुमाना'** में प्रमाणित किया गया है। संचारी तो वे हैं ही। हर जगह पहुंच जाते हैं। न उन्हें

सुरसा रोक सकती है, न सिंहिका, न लंकिनी। वायु को भारत में पंच महाभूतों में माना गया है। जापान में गोडाई-वायु, जल, आकाश, अग्नि और पृथ्वी की अवधारणा भारत से ही प्रेरित है और तिब्बत की बौन वायु, जल, आकाश, अग्नि, पृथ्वी की अवधारणा भी। चीन में 'ची' की अवधारणा वात जैसी है। वह हर जीवन्त चीज का अंशीभूत है, एक तरह की जीवनशक्ति है, एक तरह का आध्यात्मिक संप्राणन, एक चेतन तत्व, ऊर्जा-प्रवाह। हनुमान तो लक्ष्मण के लिए भी संजीवनी हैं। हनुमान वानर दल के लिए ही नहीं, वानर सेना के लिए भी ऊर्जा प्रवाह हैं। जब मेघनाथ साक्षात् काल बनकर रणक्षेत्र में आता है और उसके विकट प्रहार से लक्ष्मण भी मूर्च्छित हो जाते हैं और सभी व्यग्र और चिंतातुर दीख पड़ते हैं तो जाम्बवान की जिज्ञासा सिर्फ हनुमान के बारे में है : 'उत्तम व्रत के पालक विभीषण! यह तो बताओ, जिनको जन्म देने से अंजना देवी उत्तम पुत्र की जननी और वायुदेव श्रेष्ठ पुत्र के जनक माने जाते हैं, वे वानरश्रेष्ठ हनुमान कहीं जीवित हैं?' जाम्बवान का यह प्रश्न सुनकर विभीषण पूछते हैं : 'ऋक्षराज! आप दोनों महाराजकुमारों को छोड़कर, सुग्रीव, अंगद को छोड़कर केवल पवनकुमार हनुमानजी को क्यों पूछ रहे हैं?' तो विभीषण की बात सुनकर जाम्बवान ने कहा- 'राक्षसराज! सुनो, मैं पवनकुमार हनुमानजी को क्यों पूछता हूं- यह बता रहा हूं। यदि वीरवर हनुमान जीवित हों तो यह मरी हुई सेना भी जीवित ही है- ऐसा समझना चाहिए और यदि उनके प्राण निकल गये हों तो हम लोग जीते हुए भी मृतक के ही तुल्य हैं। तात यदि वायु के समान वेगशाली और अग्नि के समान पराक्रमी पवनकुमार हनुमान जीवित हैं तो हम सबके जीवित होने की आशा की जा सकती है।' इस प्रसंग में बार-बार 'वायुदेव श्रेष्ठ पुत्र के जनक, पवनकुमार, वायु के समान वेगशाली शब्द आना साभिप्राय है।' हनुमान वायुपुत्र हैं तो प्राणसंचार भी करते हैं। वाल्मीकि इसी सर्ग में आगे भी कहते हैं- 'वीर हनुमान अपने पिता के ही तुल्य पराक्रमी और तीव्रगामी थे।' या 'वानरसिंह पवनकुमार हनुमान महान वेग से युक्त थे। वे सम्पूर्ण दिशाओं को शब्दायमान करते हुए वायु के समान वेग से आगे बढ़े।' प्राचीन ग्रीक और मध्यकालीन चिकित्सा पद्धतियों में वायु को रक्त से जोड़ा गया था। मेघनाद के प्रहारों से रक्तरंजित हो चुके वानर सैन्य समूह को वायु पुत्र की ही मदद मिल सकती थी। 'स्वर्णिम उषा की हर्मेटिक प्रणाली' के अंतर्गत वायु को सक्रियता से जोड़ा गया। उसमें वायु को 'पूर्व' से भी जोड़ा गया है। हमने वायु पुत्र पर पश्चिमी विद्वानों के कमेंट्स पहले उल्लिखित किए हैं, उससे लगता है कि हनुमान पूर्व की पहचान की तरह लगते हैं। मिस्र में 'शू' नामक वायु का देवता है जो श्वासी या शीघ्रग जैसे वायु-पर्यायों की याद दिलाता है। शू जीवन की श्वास- ब्रेथ ऑफ लाइफ- है, वह सभी जीवंत चीजों का 'वाइटल प्रिंसिपल' है। वह मरे- से हुओं का उत्साह ऊपर उठाता है, अथवा मृतकों का आत्मोन्नयन करता है। हमारे यहां वायु को अग्निसखा कहा गया जबकि शू स्वयं प्रकाश और वायु दोनों है। शू वातावरण का देवता है, वह आकाश और पृथ्वी के बीच की जगह है, वह जीवन और मृत्यु के बीच का सेतु है। हनुमान वातजातं है, इसलिए वे ये सब भी हैं। ग्रीक ईथर, केओस और एरीबोस तीनों वायु के ही दिव्य पर्सोनिफिकेशन हैं। वायुमंडल के तीन स्तरों के प्रतिनिधि। 5वीं सदी ईसा पूर्व में डायोजीनस एपोलोनिएट्स ने वायु को बुद्धि एवं आत्मा से जोड़ा था। हनुमान बुद्धिमतां वरिष्ठं तो हैं ही। बृहदारण्यक में कहा गया है कि एक बार देवताओं के बीच श्रेष्ठता की स्पर्धा हुई तो पाया गया कि मनुष्य अन्य देवों के बिना जिंदा रह सकता है- भले ही अपाहिज हो जाए। लेकिन वायु देवता के बिना नहीं रह सकता। अन्य देवता तब तक ही काम कर सकते हैं जब तक कि वे पवन के द्वारा प्रचोदित हैं। एक अन्य घटना प्रसंग में वायु पुनः ऐसे अकेले देवता बताए गए हैं जो पापासुरों के आक्रमण से अप्रभावित रहते हैं। हनुमान भी रावण, मेघनाथ आदि से संग्राम में अप्रभावित रहे बताए गए। छांदोग्य में कहा गया कि ब्रह्मा को नहीं जाना जा सकता, सिवाय वायु को उद्गीथ की तरह

जानने के।

हनुमान वातजातं हैं, यह पढ़कर मुझे कनाडा के लेखक केनेथ ओपेल के 'वातजात' (airborn) नामक उपन्यास की याद आती है। उसमें बहुत से ऐसे बड़े आकार के प्राणी हैं जो हवा में ही जन्मे हैं, हवा में हमेशा रह सकते हैं, जमीन को छुए बिना। इसी लेखक का स्काईब्रेकर भी ऐसी ही विलक्षण शक्तियों वाले नायक का फंतासी उपन्यास है। हनुमान अपनी तरह के स्काईब्रेकर हैं। कई बार वे अपना रूपाकार इतना बड़ा कर लेते बताए गए हैं मानो आकाश छू लेंगे। रोमन पौराणिकी में वेन्टी के नाम से जो पवन देव हैं, वे 'वात' की ध्वनि ही लगते हैं। ग्रीक पौराणिकी में एनीमोई के रूप में उत्तरी हवा, दक्षिणी हवा, पूर्वी हवा, पश्चिमी हवा के चार मुख्य देवता और आग्नेय हवा, ईशान हवा, नैऋत्य हवा, वायव्य हवा के चार गौण देवता बताए गए हैं।

किंतु ग्रीक पौराणिकी और भारतीय पौराणिकी में संस्कार का अंतर देखते बनता है। भारत में वायु और अंजना के समागम की कथा में पवनदेव कहते हैं : 'मैंने अव्यक्त रूप में तुम्हारा आलिंगन कर मानसिक संकल्प के द्वारा तुम्हारे साथ समागम किया है। इससे तुम्हें बलपराक्रम से सम्पन्न एवं बुद्धिमान पुत्र प्राप्त होगा। वह महान धैर्यवान, महातेजस्वी, महाबली, महापराक्रमी तथा लाँघने और छलांग मारने में मेरे समान होगा।' ग्रीक पौराणिकी में उत्तर हवा के देवता 'बोरिअस' हैं, वे एक एथेनियन राजकुमारी ओरिथिया का अपहरण कर लेते हैं और शुरू में उससे अनुनय विनय करते हैं किन्तु बाद में उसके न मानने पर उसे एक बादल में बंद कर अपहृत कर ले जाते हैं और फिर उससे बलात्कार करते हैं। उससे उन्हें दो पुत्रों- ज़ेटीज़ और कैलिस और दो पुत्रियों - किओनी और क्लियोपेट्रा - की प्राप्ति होती है। एथेंस के पुराने मर्तबानों में बोरिअस ओरिथिया का अपहरण और बलात्कार करते हुए बताए गए हैं। बाद में वे इसी कारण एथेंस के रक्षक भी बन गए बताए गए हैं और जब एथेंस पर ज़ेरेक्स नामक ईरानियन राजा का आक्रमण होता है और एथेंसवासी बोरिअस से प्रार्थना करते हैं तो बोरिअस चक्रवातों को पैदा कर 400 ईरानी जहाजों को डुबो देते हैं। प्राचीन एथेंस में 'वायुओं की मीनार' भी निर्मित की गई थी। अधिकतर ग्रीक देवता बलात्कार को एक प्रायः प्रचलित विधि की तरह इस्तेमाल करते हैं। उनका सर्वोच्च देवता ज्यूस अपनी पुत्री पर्सीफ़नी का एक सर्प या दैत्य के रूप में बलात्भोग करता है। ओकिनास की पुत्री प्रतिकार की देवी नेमेसिस भी ज़्यूस की कामुकता का शिकार होती है। वह ज़्यूस से बचने के लिए कई रूप और स्थान बदलती है, लेकिन ज़्यूस पृथ्वी, आकाश, समुद्र में सब कहीं उसका पीछा करता है। पॉसायडन नामक एक दूसरा महाशक्तिशाली देवता अनिच्छुक डिमीटर का अश्व के रूप में बलात्भोग करता है जिससे वनकन्या डेस्पोइना तथा अद्भुत घोड़े एरियन का जन्म होता है। अपोलो नामक देवता ड्रायापे नामक वनदेवी सुंदरी का कछुआ बनकर शीलभंग करता है। जब सुंदरी ड्रायापे अनजाने में उस छोटे से कछुए को देखकर प्रसन्न होकर उसे अपने वक्ष से लगा लेती है तो अपोलो तत्काल एक फुंकारता हुआ सांप बन जाता है। ड्रायापे की सखियां डर से भाग जाती हैं और अपोलो पर्वत की एक गुफा में ले जाकर ड्रायापे का भोग करता है। अपोलो नदी के देवता पीनियस की सुंदरी पुत्री डाफ्ने को देखकर भी कामाकुल हो जाता है। डाफ्ने प्राणपण से दौड़ती है, अपोलो पूरे वेग से उसका पीछा करता है और निकट से निकटतर आता चला जाता है। डाफ्ने अपमान से रक्षा करने के लिए पिता का प्रार्थना में आह्वान करती है और हमेशा के लिए लॉरेल नामक एक पेड़ में परिवर्तित हो जाती है। कज़ान्ड्रा का भोग न कर पाने पर अपोलो उसे शाप ही दे देता है। अपोलो और हयासिन्थस का 'गे' रिश्ता भी था। पश्चिमी पवन जेफ़िरास और हयासिन्थस के भी 'गे' रिश्ते हैं। वहां वायु का यह देवता षड्यंत्रकारी है और अपोलो के फेंके हुए लौहचक्र को अपने वेग से ऐसे पलटता है कि चट्टान की जगह वह हयासिन्थस के सिर से जा टकराता है और अपोलो के सामने प्राणत्याग देता है। अपोलो की होमोसैक्सुअल प्रवृत्तियां हिम्मेनाओस के प्रति भी मिलती

हैं। हेडीज़ नामक एक अन्य देवता भी पर्सीफनी का बलात् अपहरण और भोग करता है। हेमीज नामक देवता ओसीडियस की पत्नी पेनीलोपी का एक मेष के रूप में जबरन संभोग करता है। पैन नामक एक अन्य देवता अपने सारे प्रयासों के बावजूद ईको नामक अप्सरा का भोग करने में असमर्थ रहता है तो कुछ ग्वालों को अभिशप्त कर उनसे ईको को मरवा डालता है। पैन पिट्स नामक एक अन्य देवी को भी कामुक होकर संत्रस्त करता है और वह भी वृक्ष में परिवर्तित होकर जान बचाती है। वह ऐसी ही कामुक भोग की कोशिश सिरिन्क्स नामक शर्मीली युवती से करता है और वह सरकंडे का वृक्ष बनकर जान बचाती है। युवतियां प्रायः इन देवताओं की वासना से भागती दिखाई गई हैं और हमेशा के लिए वृक्षों में परिवर्तित होती हुई। ओरियन तो एक नहीं (एटलस और प्लेयोनी की) सात लड़कियों पर एक साथ आसक्त होकर उनका पीछा करने लगता है और वे उससे बचने के लिए दूर भागती जाती हैं और देवतागण दया करके पहले उन्हें कबूतरों में और बाद में नक्षत्रों में बदल देते हैं। टेरियस अपनी पत्नी की कमसिन भोली-भाली बहन फिलोमेला का निर्जन वन के घने वृक्षों की ओट में सतीत्व बलात् भंग ही नहीं करता, उसकी जीभ भी काट लेता है ताकि वह कुछ बोल न सके, उसे थ्रेस ले जाकर कारा में कैद कर देता है और अपनी पत्नी को उसकी मौत का झूठा समाचार दे देता है।

इनकी तुलना में वायु और अंजना का रिश्ता बहुत संयत और मर्यादित है। हनुमान वायु के मानसपुत्र की तरह उभरते हैं। जब अंजना घबड़ाकर पूछती है कि कौन है जो मेरे पातिव्रत्य का नाश करना चाहता है। तब पवनदेव कहते हैं कि 'मैं पवनदेवता हूँ। सुश्रोणि! तुम्हारे एकपतिव्रत का नाश नहीं कर रहा हूँ। अतः तुम्हारे मन से यह भय दूर हो जाना चाहिए।' वायुदेव के बारे में स्वयं ब्रह्मा का भी वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड में यही कहना है : 'वायुदेव स्वयं शरीर न धारण करते हुए समस्त शरीरों में उनकी रक्षा करते हुए विचरते हैं। वायु के बिना यह शरीर सूखे काठ के समान हो जाता है। वायु ही सबका प्राण है। वायु ही सुख है और वायु ही यह सम्पूर्ण जगत् है। वायु से परित्यक्त होकर जगत् कभी सुख नहीं पा सकता। वायु ही जगत् की आयु है।' वायु का अदैहिक होना किसी दैहिक रिश्ते की संभावना को ही खत्म करता है। पुनः यह वायु-वर्णन सिद्ध करता है कि उनके पुत्र में किस तरह के जेनेटिक गुण आएंगे?

यह ध्यान देने की बात है कि तुलसी ने हनुमान को केसरीनंदन कहने की जगह वातजातं कहा। वे यह कहना चाहते हैं कि मनुष्य भौतिक प्रकृति (मटीरियल नेचर) का टुकड़ा भर नहीं है और दुनिया भी भौतिक पिंडों का घूमता हुआ संग्रह मात्र नहीं है। थामस हॉब्स की दुनिया से तुलसी के तर्क की दुनिया एकदम भिन्न है। हाब्स का विश्व एक भौतिक नियतिवादी प्रणाली (Material deterministic system) है। किंतु तुलसी का विश्व मानस-गुणों का, मानसिक संकल्प - की प्रधानता का विश्व है। वे संभवतः यह स्थापित करना चाहते हैं कि प्रज्ञा-पुत्र होना ज्यादा महत्वपूर्ण है, शारीरिक क्रोमोसोम की जगह प्रज्ञा परंपरा ही ज्यादा सार्थक है। वातजातं का इंगितार्थ वही है : **'जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान।'** यह विवेक - वंशानुक्रमता है। प्रतिभा की प्रजाति। बुद्धि की बिरादरी। दरअसल 'जातं' में यदि किसी जाति की ओर संकेत भी है तो जाति का संस्कृतमूल 'ज्ञाति' ही था। वातजातं कहना दरअसल गुण का गोत्र बनाना है। यह खूबियों की ख़ानदानियत है। व्यक्तियों में भी तात्विक गुण होते हैं। किसी के भीतर अग्नि तत्व प्रबल होता है - वह यदि सात्विक हुआ तो लक्ष्मण हो जाता है, तामसिक हुआ तो रावण। किसी के भीतर पृथ्वी तत्व प्रबल होता है - जैसे सीता जो पृथ्वी से उपजीं और पृथ्वी की तरह ही अथाह धैर्य धारण किया। उसी तरह हनुमान में वायु तत्व प्रबल है। वे उन्हीं की तरह सहजसंचारी, निरूप और प्राणाधार हैं। वातजातं कहकर तुलसी उनकी क़ाबिलियत का कुल और कबीला बताते हैं। बाब डायलन का वह गीत याद करें- **'उत्तर, मेरे मित्र, हवाओं में बह रहा है/उत्तर**

हवाओं में बह रहा है' (द आन्सर माई फ्रेंड इज़ ब्लोइंग इन द विंड/द आंसर इज़ ब्लोइंग इन द विंड) हनुमान राम की, वानर दल की, सत्व की शक्तियों की समस्याओं का हवाओं में बह रहा उत्तर हैं। शास्त्र कहते हैं : **'आत्मा वै जायते पुत्रः।'** हनुमान वायु के इसी अर्थ में सही आत्मज हैं।

इसी कारण तुलसी उन्हें यहां आंजनेय भी नहीं कहते। कथा आती है कि रावण को हराने के बाद जब श्रीराम लौट रहे थे तो किष्किंधा उतरने पर हनुमान ने अपनी मां के दर्शन की आज्ञा मांगी। उनके साथ राम, लक्ष्मण, सीता, जाम्बवान आदि भी चल पड़े। जब हनुमान ने राम के अभियान की कथा सुनाई तो कहते हैं कि मां अंजना ने उन्हें धिक्कारा कि तुझे मेरा दूध पिलाना निरर्थक हुआ। तूने मेरे दूध को लज्जित कर दिया। तेरे जीवित रहते परमप्रभु श्रीराम को सेतुबंधन और राक्षसों से युद्ध करने का कष्ट उठाना पड़ा। मां अंजना के द्वारा बार-बार अपने दुग्ध की प्रशंसा को लक्ष्मण अतिशयोक्ति समझ रहे थे तो मां अंजना ने अपने स्तन को दबाकर दुग्ध की धारा समीपस्थ पर्वत शिखर पर छोड़ी और भयानक शब्द के साथ वह पर्वत फटकर दो भागों में विभक्त हो गया। अंजना कोई साधारण स्त्री नहीं हैं। लेकिन तुलसी यहां अंजनानंदन या आंजनेय कहने के लोभ का वैसा ही संवरण करते हैं जैसा कि केसरीपुत्र कहने के। वे वातजातं कहकर उसी मानसिक संकल्प के सिलसिले की तरह हनुमान को वर्णित करते हैं और वे भौतिक गुणसूत्रीयता की जगह विद्या-वांशिकता को वरीयता देते हैं। लांगफेलो ने 'अ सॉम ऑफ लाइफ' में कहा- 'Art is long and Time is fleeting.' कि विद्या अनन्त है और समय उड़ रहा है। हनुमान ने कला को-विद्या को- पाने के लिये स्वयं उड़ान भरी और वायुदेव उसमें हनुमान के सहायक-प्रेरक हुए।

हनुमान मानसिक संकल्प के परिणाम हैं। योगवासिष्ठ (3/70/30) में कहा गया है कि **'संकल्पमात्रकलनैव जगत् मनोविलास।'** हनुमान की संकल्पशक्ति राम का सबसे बड़ा शस्त्र है। 'पवन का संकल्प' यदि इस रूपक का आधुनिक अनुवाद करें तो उसका अर्थ होगा- 'फ्री विल'। हनुमान उसी के प्रतीक हैं। पवन की उन्मुक्तता भी उनमें हैं और पवन का वेग भी। संकल्प के लिये लैटिन शब्द 'वालन्टास' स्वैच्छिक का अर्थ भी देता है। हनुमान कहीं भी नियतिवादी नहीं हैं। वे बाधाओं को अपने संकल्प और संवेग से चूर-चूर कर देते हैं। संकल्प दरअसल पशुत्व से ऊपर उठना है। वह जैव-प्रेरणा से कहीं आगे की चीज है। पशुओं में वह प्रज्ञात्मक लोच (intellectual flexibility) नहीं होती। वे अपने काम का औचित्य निर्धारण नहीं करते। वे सहज होते हैं, तर्क प्रवण नहीं। हनुमान हैं। इसलिए उन्हें वानर मात्र के रूप में देखना उनकी अवगणना है। उनकी ज्ञाति उनकी इच्छाशक्ति में है। उनमें, यदि मैं सुसान वोल्फ के शब्द उपयोग करूं, 'the ability to act in accordance with the true and the good' है। हनुमान कहीं यह भी स्थापित करते हैं कि स्वतंत्रता स्वैराचार नहीं है बल्कि वह एक तरह की प्रज्ञा-प्रतिबद्धता है। लोगों के पास प्रायः शक्ति की कमी नहीं होती, संकल्प की कमी होती है। हनुमान में तो दोनों ही गुणों का प्राचुर्य है। कहा जाता है कि 'When the will is ready, the feet are light.' हनुमान इसी कारण स्फूर्ति और लाघव का प्रदर्शन कर पाते हैं। वायु जैसे किसी अदृश्य शक्ति की तरह उनके साथ-साथ चलते हैं। 'जात पवनसुत देवन्ह देखा', 'सुनत बचन कह पवनकुमारा', 'तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ', 'अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा', 'ताहि मारि मारुतसुत बीरा', 'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी', 'चलेउ पवनसुत बिदा कराई', 'पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ', 'जीति न जाइ प्रभंजनजाया', 'हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत अनचास', 'हरष समेत पवनसुत लयउ', 'नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी', 'पवनतनय के चरित सुहाए', जैसी पंक्तियों में आये पवनसुत शब्द साभिप्राय हैं। हर बार वहां पवन के पुत्र होने की कथा का जस्टिफिकेशन है। अंग्रेजी में 'अस लाइट अस एयर', 'अस स्विफ्ट अस एयर', 'अस फ्री अस एयर' जैसी उक्तियों में जिस हल्के

होने, क्षिप्र होने, मुक्त होने की बात कही गई है, हनुमान वही सब कर दिखाते हैं। हनुमान द्रुत हैं, फुर्तीले हैं, लघु रूप भी धार लेते हैं और यदि पाश में बंधते भी हैं तो वह भी उनका खुद का सुचिंतित निर्वाचन है।

विंड पावर (पवन ऊर्जा) हनुमान को इनर्जेटिक भी बनाती है। हनुमान की विशेषता यह है कि उनके पास जितनी योग्यता है, उतनी ऊर्जा भी है। **'राम काज कीन्हें बिनु मोहि कहां विश्राम'** की बात अक्षरशः पालन करने वाले हनुमान के कर्त्तव्य में यह निरन्तरता उनके ऊर्जा-स्तर के कारण ही बनी रहती है। हम लोग तो जिंदगी में कई बार जिंदगी से थक जाते हैं। हमारे जिंदा रहते हुए भी कहीं कुछ जैसे हमारे भीतर मर जाता है। हनुमान की अंतःऊर्जा के चलते इस तरह की निराशाओं को उन पर हावी होने का मौका नहीं मिलता। नार्स कहावत : 'अ ब्वायज़ विल इज़ द विल ऑफ द विंड' - (कि लड़कपन के संकल्प हवाई होते हैं) पवनपुत्र के द्वारा दिखाई जाने वाली मानसिक दृढ़ता और संकल्प के एकदम विपरीत है। हनुमान हवाई किले नहीं बनाते, न हवा में बातें करते हैं। वे कनककोट किलों को भी जीतते हैं और हवा से बातें करते हैं। दरअसल ईश्वर की हवा तो लगातार बह रही है, लेकिन क्या हमने अपने जीवन-जहाजों के मस्तूल खड़े किए हैं? सेनेका का कथन है : 'If a man does not know what port he is steering for, no wind is favourable to him.' हनुमान यह जानते हैं कि उनके जीवन का लक्ष्य क्या है- **'रामकाज लगि तव अवतारा'** और इस कारण उनके लिए प्रत्येक हवा सहायक है- **'हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास।'** वे मरुत अग्नि का प्रसारण सर्वत्र कर देते हैं- **'एक बिभीषन कर गृह नाहीं' -** सिवाय विभीषण के घर के। मुझे बरबस याद आ जाते हैं सिराज औरंगाबादी : **'चली सम्ते-ग़ैब से इक हवा कि चमन सुरूर का जल गया/मगर एक शाखे निहाले- गम जिसे दिल कहें वो हरी रही।'** हनुमान वैसे नहीं हैं कि अनुकूल हवा के मौके पर ही अपना मस्तूल ऊंचा करें, कि जैसा एक अंग्रेजी कहावत में सलाह दी गई है : "Hoist your sails when the wind is fair". बल्कि उनका पवनपुत्र होना इसी अर्थ में ही प्रमाणित है कि वे प्रतिकूल परिस्थितियों में भी विचलित होते नहीं देखे गए। राम की शक्तिपूजा में निराला ने हनुमान के इसी रूप को चित्रित किया है :-

'ये अश्रु राम के' आते ही मन में विचार,
उद्वेल हो उठा शक्ति-खेल सागर अपार,
हो श्वसित पवन-उनचास, पिता-पक्ष से तुमुल,
एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,
शत घूर्णावर्त, तरंगभंग उठते पहाड़,
जल राशि-राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़,
तोड़ता बन्ध-प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत-वक्ष
दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष।
शत-वायु-वेग-बल, डुबा अतल में देश-भाव,
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव
वज्रांग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुंचा, एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टाहास।

पवन पुरानी मृत पत्तियों को हटाता है और पंख लगे बीजों को प्रस्फुटित करता है। वे बीज जो ठंडे और निचले हैं, जो अपनी ही कब्र में जैसे सो रहे हैं। सपना देखती हुई पृथ्वी पर शंखनाद करता है वह पवन, जो अनियंत्रणीय है जो वन्यात्मा है (वाइल्ड स्पिरिट) ये सारी बातें प्रसिद्ध आंग्ल कवि शेली ने अपनी 'ओड टू द वेस्ट विंड' कविता में लिखी थीं। क्या हनुमान ऐसे ही नहीं हैं? बार-बार वे एक लस्त-पस्त हो चुके वानर दल में या फौज में जीवनी का संचार करते हैं। वे एक उत्स्फूर्ति पैदा कर देते हैं। **'हरषे सब बिलोकि हनुमाना/ नूतन जन्म कपिन्ह तब जाना।'** जब वे समुद्र संतरण करते हैं तो उनका पदलाघव देखते बनता है : **'सिंधु तीर एक भूधर सुंदर/कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर।'** क्या आपको जेम्स ज्वायस की कविता 'मई की हवाएं' याद आती है? 'विंड्स आफ मे, दैट डांस आन द सी/ डांसिंग अ रिंग-अराउन्ड इन ग्ली।' हनुमान वैसे ही तो समुद्र पर नृत्य करते हुए प्रसन्नतापूर्वक चलते हैं : **'चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा।'**

जब हनुमान की एकाग्रता, लक्ष्य के प्रति उनका एकान्त समर्पण देखने में आता है, जब यह देखने में आता है कि **'राम काज लगि तब अवतारा/सुनतहिं भयउ पर्बताकारा'**, तो लगता है कि यह जानना किसी भी जीवन का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है कि वह किस ओर जा रहा है। लक्ष्य दिमाग की मांग नहीं है, वह आत्मा की मांग है। पवनपुत्र लक्ष्य के प्रति एकाग्रता से अपने प्रयत्न की इंटेंसिटी अर्जित करते हैं। **'राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम'।** किष्किन्धाकांड के अंत में उनका जो 'विज़न' विकसित होता है, उसको वे एक 'वेंचर' में बदल देते हैं। वे अपनी राह में आए बड़े-बड़े पर्वतों को भी अपने स्टेपिंग स्टोन्स-सा बना लेते हैं : **'जेहिं गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरन्ता।'** लोग कहते हैं कि हवाएं आवारा होती हैं। होती भीं, लेकिन जब उन्हें एक दिशा मिल जाती है तो वे एक शक्तिशाली तूफान बन जाती हैं। एक उर्दू कवि ने लिखा है : **'हवा को आवारा कहने वालों/कभी तो सोचो/कभी तो लिखो/हवाएं क्यों अपनी मंजिलों से भटक गई हैं/न उनकी आँखों में ख्वाब कोई/न ख्वाब में इंतिजार कोई/न उनके सारे सफ़र में सुब्हे यकीन कोई/न शामे-एतबार कोई/न उनकी अपनी जमीन कोई/न आसमां पे कोई सितारा/न कोई मौसम/न रोशनी की लकीर कोई/न उनका अपना सफीर कोई/जो उनके दुख पर किताब लिखे/मुसाफिरात का अजाब लिखे।'**

इस कविता को पढ़िए और वातजातं को इसकी रोशनी में देखिए। हनुमान किन्हें दिशा और दृष्टि, प्रेरणा और शक्ति दे रहे हैं?

●●●

नमामि

हमारे यहां लोग प्रणति करते-करते, साष्टांग प्रणाम करते-करते मूर्ति क्या, मंदिर क्या, नदी-पथ की भी परिक्रमा कर लेते हैं। आमचोक सेन्यी मठ (आमडो) का एक तिब्बती सन्यासी जोडपा नामग्याल तिब्बत से भारत तक अप्रैल 2007 में साष्टांग प्रणाम मुद्रा में आया था। कुंभ के अवसर पर ऐसे दृश्य आम होते हैं। क्या ये नमन एक श्रेष्ठतर आध्यात्मिक शक्ति के सामने निजी या वैयक्तिक अहं का अधित्यजन है या अधिग्रहण? सही नमन तब ही है जब अहं का लंबवत् अयन धरती पर बिछ जाए- क्षैतिज। पूर्णतः विलयित। एक बड़े सत्य के समक्ष।

तुलसीदास हनुमान को नमस्कार कहते हैं। नमः शब्द साधारण शब्द नहीं है। नमस्ते की शारीरिक मुद्रा भी साधारण नहीं है। उसके गहरे प्रतीकार्थ हैं। नमस्ते मुद्रा भी है और मंत्र भी। नमामि का अर्थ है : मैं नमन करता हूं। दीपक चोपड़ा ने 'बुद्ध : अ स्टोरी ऑफ एनलाइटनमेंट' में नमस्ते का अर्थ बताया है कि 'मैं आपके भीतर के उस परमात्मा को प्रणाम करता हूं कि जो मेरे भीतर भी है। वह तुम्हारे भीतर जो दिव्य है, उसका स्वागत करता है।' जब हम नमस्ते करते हैं तो हमारे दोनों हाथ मिलते हैं। लिलिआस फोलन ने भारत की बहुत सी यात्राओं में बहुत से अनुभव हासिल किए। उन्हें पता लगा कि इसका अर्थ है कि आपकी आत्मा और मेरी आत्मा एक ही है, नमस्ते सब कोई करते हैं। राजा भी करते हैं, ऋषि भी, आम आदमी भी। इसकी तुलना में हैंडशेक जैसी पाश्चात्य परंपरा काफी फर्क करती है। वहां राजा हाथ नहीं मिलाते थे, पोप आज तक हाथ नहीं मिलाते हैं। हाथ मिलाने का एक सामंती इतिहास रहा है। जब दो सामंत एक-दूसरे से मिलते थे, तो उन्हें यह बताना होता था कि उनके हाथ में हथियार नहीं है। वह शांति का संकेत

है। हालांकि लोगों ने हाथ मिलाने को भी शक्ति प्रदर्शन का जरिया बना लिया है। कुछ लोग अपना प्रभुत्व जताने के लिये बहुत जोर से हाथ मिलाते बल्कि हाथ दबाते हैं। इसकी तुलना में जो लोग 'डेडफिश हैंडशेक' करते हैं, वे कमजोरी प्रदर्शित करते हैं।

लेकिन नमामि में नमना ही है, शक्ति-स्थापना जैसा कुछ भी नहीं। यह अपने को रिक्त कर देना है ताकि भगवत्ता से खुद को भर सकें। सुंदरकांड को शुरू करने से पहले नमामि कहकर तुलसी अपनी तैयारी बताते हैं कि उन्होंने खुद को खाली कर दिया है। लोग खुद को खुद से इतना भर लेते हैं कि उनसे ज्यादा खोखला और खलास कोई नजर नहीं आता। तुलसी 'नमामि' कहकर दरअसल नहा रहे हैं, स्वयं को स्वच्छ कर रहे हैं। उनका 'मैं' जहां खत्म होता है, रामकथा अपने सूत्र वहीं से फिर पकड़ती है।

नमामि समर्पण की स्पिरिट है। हनुमान की दुनिया में दाखिला। कई लोगों का अहं ही उनका साम्राज्य है। इतना बड़ा कि उसमें सूरज कभी नहीं डूबता। हनुमान की दुनिया खुद एक सेवक की, भक्ति की दुनिया है। तुलसी भक्त के भक्त हैं। इसलिए अब जब एक भक्त पर स्पॉटलाइट होगी- सुंदरकांड में - तुलसी स्वयं को विदड्रा कर लेते हैं। कहें कि निमज्जित कर लेते हैं। बल्कि ऐसा लगता है कि यदि समुद्र संतरण पर रवाना होने से पहले यदि हनुमान जाम्बवंत का आशीर्वाद लेते हैं तो सुंदरकांड की कथा शुरू करने से पहले तुलसी स्वयं हनुमान का आशीर्वाद लेते हैं। ऊपर मैंने नमन शब्द की जो व्याख्या की, उसके अनुसार इस आशीर्वाद के जरिए तुलसी जितना हनुमान के भीतर उतरते हैं, हनुमान तुलसी के भीतर भी उतना ही उतरते हैं। हनुमान के भीतर जो 'दिव्य' है, वह तुलसी का भी 'इष्ट' है।

ऐसा लगता है कि प्रथम तीन संस्कृत श्लोकों के बाद और हनुमान के समुद्र संतरण से पूर्व तुलसी ने बाकायदा पूरा सर झुकाकर, घुटने मोड़कर बल्कि संभवतः साष्टांग प्रणाम किया। हनुमानाष्टकम् में 'अतुलित बलधामं नमामि/स्वर्णशैलाभ देहं नमामि/दनुजबलकृशानुं नमामि/ज्ञानिनामग्रगण्यं नमामि/सकल गुणनिधानं नमामि/वानराणामधीशं नमामि/रघुपतिप्रियभक्तं नमामि/वातजातं नमामि' में सुंदरकाण्ड के इस तीसरे श्लोक के आठ विशेषणों से वंदना की गई है। उन्हें साष्टांग प्रणाम करना भी इस कारण लाजमी लगता ही है। झुकना आदर के कारण। वैसे नहीं जैसे दुष्यन्त ने कहा : 'ये सारा जिस्म झुककर बोझ से दोहरा हुआ होगा, मैं सज़दे में नहीं था आपको धोखा हुआ होगा' बल्कि ये तो तब जब तुलसी पूर्णतः रिक्त और निर्भार हो गए, तब तुलसी का यह मेटानोइआ - यह सर झुकाना, यह हनुमान की मूर्ति के समक्ष नमन, माथे को पृथ्वी पर छुआना, यह हनुमान पर लिखते-लिखते श्रद्धा का उमड़ आना संभव हुआ।

तिब्बत में तंत्र की शुरुआती क्रियाओं में एक लाख बार सर झुकाना भी है ताकि अहं को जीता जा सके। कोरिया के झेन बौद्ध प्रतिदिन 1080 नमन करते हैं- वहां के आम बौद्ध प्रतिदिन 108 नमन। तुलसी चूंकि भक्त के भी भक्त हैं और उस भक्त के जो पूर्ण समर्पण का आदर्श हैं, तो उन्हें इतनी बार प्रणति की जरूरत नहीं है। लेकिन प्रणति आध्यात्मिक यात्रा का एक महत्वपूर्ण प्रस्थान-बिंदु है। यह तुलसी अवश्य जानते हैं। हिंदुओं का मूलमंत्र **'ॐ नमः शिवाय'** नमन का ही मंत्र है, दुर्गा को **'नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः'** के रूप में नमन किया ही गया। **'नमामीशमीशान निर्वाणरूपं'** ईश्वर को नमन है- शिव को।'

कुरान मजीद में बत्तीसवें अध्याय (सूरा) का नाम ही प्रणति है : अल-सज़दा। अरबी शब्द सुजूद कुरान में करीब 90 बार आया है। प्रणति का यह महत्व दुनिया के अधिकतर धर्मों में है। सभी पूर्वी चर्चों में ग्रेट लेंट के समय या पवित्र हफ्ते के दौर में प्रणति की जाती है। कोप्टिक, आर्मीनियन, एमिरेटीन और इथियोपियन आर्थोडॉक्स चर्चों में दैनिक प्रार्थनाओं के साथ-साथ प्रणति की जाती है। यहूदियों में भी प्रणति का महत्व चाहे वह कराइत पंथ हो या एश्केजाजी आर्थोडॉक्स पंथ- हमेशा बरकरार रहा। जेरूशलम मंदिर में तो घुटना

मोड़कर झुका ही जाता है। आधुनिक जूडाइज्म में भी 'हाई होली डेज' (अति पवित्र दिनों) में घुटने मोड़कर झुका जाता है। ताल्मादि हाराम्बम नामक पंथ में प्रणति यहूदियों की नित्य पूजा का अंग है। महाभारत में युद्ध शुरू होने से पहले युधिष्ठिर शत्रु पक्ष के गुरुजनों के पैर छूकर आशीर्वाद लेते हैं और उनकी विनम्रता पहले ही दिन दुर्योधन के भाई युयुत्सू को इतना कायल कर देती है कि वह पांडवों में जा मिलता है।

बौद्धों के द्वारा दुहराया जाने वाला **'नमो तस्सो भगवती अर्हतो'** नमन ही है। बुद्ध प्रणति के चार अर्थ हैं : एक, देने का भाव व्यंजित करना, अपनी आस्था या श्रद्धा का अर्पण। दो, दूषणों से खुद का शुद्धीकरण, तीन, ध्यान की तैयारी और चार, गुण-संग्रह। झेन पंथ में भी प्रणति को विशेष महत्व दिया गया है। पूर्वी आर्थोडॉक्स चर्च में हिंदुओं की तरह साष्टांग प्रणाम, पंचांग प्रणाम आदि छः तरह के प्रणमन हैं। जैनों में यह **'नमो अरिहंताणं'** आदि के रूप में आया है। तुलसी का यह नमन लोक-नमन है। उन्होंने प्रचलित शब्द 'नमामि' का इस्तेमाल किया है। किसी विशिष्ट पारिभाषिक या गोपनीय नमन का सहारा उन्होंने नहीं लिया। मसलन मिसौरी में 1930 के दशक में 'डान-पुत्र' नामक एक सैन्य संगठन था जिसके नमन का एक विशिष्ट ढंग होता था, सिर्फ उसके ग्रुप के सदस्यों के बीच प्रचलित। आजकल का सहारा-प्रणाम, लेकिन तुलसी किसी सांगठनिक औपचारिकता की जगह सीधे प्रणाम कहते हैं। नमामि। यह चीनी कौटौ नहीं है कि जिसमें प्राधिकार के सामने झुका जाता है। हमारे यहाँ तो प्राधिकार या सत्ता- विद्वत जनों के आगे झुकती रही है। न सिर्फ ब्राह्मणों के आगे बल्कि सम्राट हर्ष ने तो राज्यारोहण के समय अपने सेनापति सिंहनाद के पांव छूकर नमन किया था। यह तो भारत के एक अद्भुत सेवक के प्रति भारत के एक अद्भुत लेखक के मन की कृतज्ञता, श्रद्धा और स्वीकृति भाव है जो इस नमामि में ध्वनित हो रहा है। झेन गुरू फिलिप कोपलौ 'एक सच्चे झेन मठ' के अनुभव बताते हैं कि 'शुरू-शुरू में अपने 'रोशि' (संस्कृत ऋषि?) के सामने प्रणति करना मुझे बड़ा अटपटा लगता था। मुझे बताया गया कि यह आदर और नम्रता का प्रतीक है। लेकिन मुझे लगता था कि इस सबका झेन से क्या रिश्ता है? मेरे रोशि मेरे भीतर के विचारों को पहचान तो रहे थे, लेकिन उन्होंने कुछ कहा नहीं और मेरे 'दोकुसन' (प्रणाम मुद्रा) को शांत मुस्कराहट से देखते रहे। फिर एक दिन जब मेरी मुद्राएं कुछ ज्यादा ही अटपटी हो रही थीं, अचानक वे चिल्ला उठे : कोपलौ-सां, जब तुम दोकुसन में नमन करते हो तो तुम मेरे सामने नहीं बल्कि अपने बुद्ध-स्वभाव के सामने झुक रहे होते हो।' यह है नमन का असली अर्थ। जब जरा गर्दन झुकाई देख ली। लेकिन यह गर्दन तो अकड़ी रहती है। कोपलौ ने इस प्रणति को 'अहं के मस्तूल का क्षैतिजीकरण' कहा है- horizantalizings of the mast of ego, मन और हृदय का शुद्धीकरण। उनमें लचीलापन और विस्तृति आना। एक कृतज्ञता भाव। तुलसी जब हनुमान को नमामि कहते हैं तो उनकी विनम्रता पाठक में प्रतिबिंबित होती है, पाठक के हृदयाकाश का विस्तार होता है। यानी विनम्रता का संचार हनुमान से- तुलसी से- पाठक तक में होता है और जिस तरह से इस श्लोक के बाकी शब्द सुंदरकांड के कथाक्रम से कहीं न कहीं जुड़ते हैं, यह नमामि शब्द भी जुड़ता है। बाकी शब्द तो विशेषण हैं तो गुणवाहक होंगे। लेकिन यह शब्द 'क्रिया' होने पर भी हनुमान के गुण को वहन करता है। हनुमान स्वयं बार-बार 'नमामि' की मुद्रा में हैं- **'यह कहि नाइ सबन्हि कहुं माथा/चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा।'** यह तब जब हनुमान समुद्र-संतरण के लिए अपने साथियों से विदा लेते हैं। इनमें ऋक्षराज जैसे बड़े भी हैं और उनके प्रति उनकी विनम्रता स्वाभाविक भी यदि मान ली जाए तो आगे जाकर सुरसा के साथ उनका व्यवहार देखें : **'मागा बिदा ताहि सिरु नावा।'** परिणाम भी आशीर्वाद ही होता है : **'आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान'**। **'चरन कमल सिरु नाइ कपि गवनु राम पहिं कीन्ह।'** और राम के सामने तो उनकी भावविह्वलता की बात ही क्या : **'चरन परेउ प्रेमाकुल**

त्राहि-त्राहि भगवंत।' और **'बार बार प्रभु चहइ उठावा/ प्रेम मगन तेहि उठब न भावा।'** हनुमान की विनम्रता हमारी संस्कृति का आभूषण है, सिर्फ सुंदरकांड का नहीं। अंग्रेजी का ह्यूमिलिटी (विनम्रता) शब्द जिस लैटिन शब्द ह्यूमिलिस से बना है, उसका अर्थ है : ज़मीन का, ज़मीन से जुड़ा। हनुमान पवत्र पुत्र होने के बावजूद जमीन से जुड़े हुए हैं। सेंट जेम्स ने सही ही कहा है : God resisteth the proud, and giveth his grace to the humble. भगवान ने रावण का प्रतिरोध किया और अपनी कृपा हनुमान को दी। बाईबल ने मूसा की विनम्रता को भी बड़े आग्रह से याद किया है : 'For Moses was a men exceedingly meek above all men that dwelt upon earth.' हनुमान सिर्फ राम के सामने ही 'मैं' से मुक्त नहीं हैं, रावण के सामने भी हैं। रावण से बातचीत के पूरे प्रसंग में वे कभी अपना नाम नहीं बताते। अंगद जब रावण के दरबार में पहुँचकर उसे हकीकत से रूबरू कराने की कोशिश करता है तब रावण राम की सेना के बारे में बाकी योद्धाओं के नाम लेता है - **'सिल्प कर्म जानहिं नल नीला'** किन्तु हनुमान का नाम न लेकर बस यह कहता है : **'है कपि एक महा बलसीला।'** उसे हनुमान का कर्म याद है : **'आवा प्रथम नगरु ते जारा'** किन्तु नाम नहीं। यही बात मंदोदरी के साथ है। जब वह आखिरी बार रावण को समझाने की कोशिश करती है तो कहती है : **'पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा/जाके दूत केर यह कामा/कौतुक सिंधु लांघि तव लंका/आयउ कपि केहरी असंका।'** यहाँ भी हनुमान का नाम न लेकर वह 'कपि केहरी' ही कहती है। हनुमान अपना नाम-परिचय नहीं देते, ठीक लेकिन रावण जिसका गुप्तचर-बल इतना प्रबल है, उसे भी हनुमान का नाम न मालूम होने का क्या अर्थ है? हनुमान का 'मैं' इतना गायब है। वे जैसे राम की ही शक्ति हैं। उन्होंने अपने आपको राम में इतना घुला लिया है कि उनकी कोई पृथक संज्ञा नहीं रह गई है। उनका यह नाम-नेपथ्य वस्तुतः उनकी अहंता-मुक्ति की पूर्णता है। शुरू में अशोक वाटिका के रक्षकों को भी बस इतना ही मालूम है : **'नाथ एक आवा कपि भारी'** : और बाद में लंका के नागरिकों को भी यही याद है। **'जब तें जारि गयउ कपि लंका'** : सिर्फ कपि, कहीं भी हनुमान नाम नहीं। हनुमान के लिये ही क्या शेक्सपीयर ने कहा था कि नाम में क्या रखा है, जिसे हम गुलाब कहते हैं, वह किसी अन्य नाम से भी वैसी ही सुगंध देगा। लेकिन तुलसी के हनुमान 'अन्य नाम' तक नहीं छोड़ते। वे तो नाम को त्याग, नमामि की यात्रा करते हैं।

दरअसल सुंदरकांड के बहुत सारे विनम्र और सीधे सादे पात्रों के बीच रावण एक बहुत ही अहंकारी, उद्धत, धृष्ट, इल-मैनर्ड आदमी के रूप में अलग दिखाई देता है। मसलन विभीषण : **'करि प्रणाम पूंछी कुसलाई', 'नाइ सीस करि विनय बहूता', 'भ्राता चरन सीसु तेहिं नावा', 'पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन', 'अस कहि करत दंडवत देखा', 'देखेउ नयन विरंचि सिम संख्य जुगल पद कंज।' 'पद अम्बुज गहि बारहिं बारा'** या वानर दल **'आइ सबन्हि नावा पद सीसा'** या सीता **'मन क्रम वचन चरन अनुरागी',** या मंदोदरी **'रहसि जोरि कर पति पग लागी'** या स्वयं राम **'प्रथम प्रनाम कीन्ह सिरु नाई'** या रावण के दूत **'तुरत नाइ लछिमन पद माथा'** या **'नाइ चरन सिरु चला सो तहाँ'** और अन्त में, समुद्र भी- **'सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे'** और **'चरन बंदि पाथोधि सिधावा।'** तुलसीदास ने पैर छूने को भारतीय समाज और संस्कृति में सदा-सदा के लिए स्थिर कर दिया था। चरणस्पर्श श्रद्धा और करुणा की संधि है। पैर नींव है और जब हम अपने से बड़ों के पैर छूते हैं तो हम अपनी नींव या आधार की ओर लौटते हैं। उससे संभवतः एक ऊर्जा प्रवाह भी अन्तरित होता है। यह सामने वाले की अवस्था, प्रौढ़ता, नोबिलिटी और दिव्यता का भी सम्मान है और उसकी सदिच्छाओं और आशीषों से भरी सकारात्मक शक्तियों का अभिग्रहण भी। सिर पर आशीष भरे हाथ की विद्युत और अतिकंपन का अपना अलग महत्त्व है। रावण बार-बार विभीषण को, माल्यवंत जैसे सभासद् या दूतों को पैरों से ठोकर मारता रहता है और ये बाकी सारे पात्र

नम्रता, मैनर्स, एटिकेट, कर्टसी, के दृष्टान्त बने रहते हैं।

उचित ही है कि प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने नम्रता को एक ऐसा मेटा-एटिट्यूड कहा जो किसी नैतिक अभिकर्ता (मॉरल एजेंट) के परिप्रेक्ष्य को उचित बनाता है। हनुमान आदि जिन पात्रों में नम्रता है, वे किसी हद तक यथार्थवादी भी हैं जबकि रावण का जैसे दुनिया की हकीकतों से रिश्ता ही टूट गया है। वह एक खुद की बनाई दुनिया में रहता है। गर्व ने उसे कृत्रिम बना दिया है जबकि नम्रता ने हनुमान को 'रियल' बना दिया है। इसलिये आश्चर्य यह है कि नीत्शे ने विनम्रता को एक 'झूठा गुण' कहा जो कमजोरियों और छुपी और प्राधिकार का गर्व होगा- प्रदर्शन और प्रमाद के लिए नहीं, सच्चा गर्व।

लेकिन यदि सच्चा गर्व नीत्शे को एक गुण लगता है तो सच्ची नम्रता हनुमान का गुण है : **'साखामृग कै बड़ि मनुसाई/साखा तें साखा पर जाई।'** रामचरितमानस के पात्रों में नम्रता का यही स्वर बार-बार सुनाई देता है। ध्यान दें, यह स्वर, इसी पिच और इसी वॉल्यूम में पहले कहां सुना था : **'यहि हमारि अति बड़ सेवकाई/लेहि न बासन बसन चुराई'** केवट के यहां। कोई आश्चर्य नहीं कि नम्रता को ब्रूना मार्तिनूज़ी ने नेतृत्व का गुण कहा। सेवक का नहीं, नेता का। अग्रणी की नम्रता से अधिक आकर्षक और चमत्कारी क्या होगा? उसका अर्थ है कि लीडर का दिमाग सही सलामत सही जगह पर काम कर रहा है। ब्रून 'इंटेंस प्रफेशनल विल' और 'एक्सट्रीम पर्सनल ह्यूमिलिटी' को साथ-साथ चलता पाती हैं- कई कंपनियों के Level-5 लीडर्स के अध्ययन में। नम्रता खुद को नीचे गिराना नहीं है, बल्कि खुद को गहरा बनाना है। नम्रता रिश्तों को बहुव्यापी प्रसारित भी करती है। यानी नम्रता हमें एक साथ गहराती और फैलाती है। हनुमान और रावण इन दोनों को जब मैं साथ रखके देखता हूं तो मुझे बरबस संत आगस्तीन याद आते हैं : अहंकार ने देवदूतों को शैतानों में बदल दिया जबकि नम्रता मनुष्यों को देवदूत बनाती है। (It was pride that changed angels into devils, it is humility that makes men as angels.) रावण, '(बिहँसा) जगतविदित अभिमानी' और हनुमान 'बोला बचन बिगत अभिमाना।'

हनुमान की नम्रता या तुलसी की नम्रता उन्हें अपने आराध्य के निकट ले गई। अहं कहीं कोई एक विभाजक रेखा खींचता है, वह कहीं दूर करता है किन्तु नम्रता नज़दीकियां बढ़ाती है। मोनिका बाल्डविन ने नम्रता के बारे में यह कहा कि 'It creates in us a capacity for the closest possible intimacy with God.' क्या हनुमान और राम के बीच यही 'सबसे ज्यादा संभव घनिष्ठता' नहीं है? ऐसी कि जिसे देखकर स्वयं भगवान शंकर भी मग्न हो जाएं- **'प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा/सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा।'** भारतीय परंपरा भी अद्‌भुत है। हनुमद्‌पुराण में इस अत्यन्त विनम्र हनुमान को भगवान कृष्ण सत्यभामा, गरुड़ तथा सुदर्शन का गर्वहरण करने के लिये स्मरण करते हैं। इन तीनों का गर्व दूर होता है। हनुमान भीम और अर्जुन का गर्व भी दूर करते हैं और शनि का भी।

नमामि के अंतिम शब्द के साथ जैसे तुलसी शायद कह रहे हों- 'भगवान, तुम जानते हो, मैं तुम्हारा हूं। और अब सब तुम पर मैंने छोड़ भी दिया है।'

जामवंत के बचन सुहाए, सुनि हनुमंत हृदय अति भाए

जाम्बवान, परंपरा कहती है, ऋक्ष हैं। रीछ के लिए प्रोटो-इंडो-यूरोपियन संज्ञा है- ऋक्तोस, ग्रीक है आर्कटोस, वेल्श है आर्थ, हिट्टी है-हरटगा। सामान्यतः ध्रुवीय रीछ, अमेरिकन काला रीछ और ग्रिजली रीछ मनुष्य के लिए खतरनाक बताए गए हैं। उनकी छः प्रजातियां तो मांसाहारी हैं। उनकी मनुष्य से यदि कोई दोस्ती भी हुई है तो तब जब उन्हें बाड़े में बंद कर नृत्य करने, मुक्केबाजी करने या साइकल चलाने के लिए प्रशिक्षित किया गया। फिर चाहे वो ब्रूनो हो या क्नुट। रहे वे पिंजड़े में ही। उन्हें उनके मांस, वसा, फर और शरीरांगों के औषधि उपयोग के चलते मारा भी जाता रहा। उनका बड़ा आकार उन्हें 'बड़ा शिकार' (बिग गेम) बनाता रहा। उनका शिकार और अंतर्राष्ट्रीय अवैध व्यापार आज यह स्थिति ले आया है कि आई यू सी एन ने उनकी छः प्रजातियों को वल्नरेबल या विपदाग्रस्त घोषित कर दिया है।

इस पृष्ठभूमि में देखें कि किष्किंधाकांड में उन्हीं ऋक्ष के एक पूर्वज जाम्बवान न केवल वानरों की बल्कि राम की विपदा दूर करने का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। रीछ सामान्यतः एक एकांतप्रिय प्राणी (सॉलिटरी एनीमल) है और प्रायः संध्याजीवी और रात्रिजीवी स्वभाव तथा दिनचर्या का अनुगामी है। लेकिन यहां वह पूरे यूथ का नेतृत्व कर रहा है। जोसेफ कैम्पबेल ने यह पाया कि प्रायः फिशिंग और हंटिग ट्रायब्स में ऋक्ष-पूजा प्राचीन/प्रागैतिहासिक काल में प्रचलित थी। प्रागैतिहासिक फिन्स और उनके साथ अधिकतर फिन्नो-यूग्रिक लोग रीछ को अपने पितरों की आत्मा समझते थे। रीछ आज भी फिनलैंड का राष्ट्रीय पशु है और कई जनजातियों में वह अत्यन्त आदरणीय पशु रहा है। यहां भी जाम्बवान इस समूह के बड़े-बूढ़े हैं और इस रूप में वे सभी के

सम्मान और श्रद्धा के पात्र भी रहे हैं। आज रूस और जर्मनी का राष्ट्रीय पर्सोनिफिकेशन है-रीछ। लुइसियाना, न्यू मैक्सिको और वेस्ट वर्जीनिया का राज्य पशु रीछ है। पारम्परिक रूसी परीकथा-मोजार्को-का अहंकारी नायक ईवान जब एक रीछ मां और उसके बच्चों को मारने की कोशिश करता है तो स्वयं उसे दंड मिलता है और मानव समाज से भी वह अलग निकाल दिया जाता है।

एक स्काटिश परीकथा 'नार्वे का भूरा रीछ' नाम से है जिसमें एक ऐसी लड़की के एडवेंचर्स बताए गए हैं जिसका प्रेमी जादू से रीछ बना दिया गया है। चीन में भी पहले ऋक्ष पूजा चलती थी और आइनू संस्कृति में भी। कोरियन लोग रीछ को अपना पूर्वज और प्रतीक-पशु मानते हैं। एक कोरियन वृत्तांत के अनुसार भगवान ने एक रीछनी को गहरी परीक्षा में डाला और जब वह उस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गई तो भगवान ने उसे एक औरत बना दिया और उससे शादी भी कर ली। दुनिया के ठेठ उत्तरी भागों में रीछ को आज भी 'लार्ड आफ द एनीमल्स' के रूप में समादृत किया जाता है। उत्तरी अमेरिका, यूरेशिया और ध्रुवीय क्षेत्रों में प्रचलित कुछ वृत्तांत तो रीछ को एक विशिष्ट खाल में रहने वाला मानव मानते हैं। उत्तरपूर्व साइबेरिया में रेन्डीयर पालने वाले समूहों का तो यह विश्वास भी है कि रीछ आदमी की भाषा समझता है। इसलिए उसके बारे में बुरा सोचने की भी मनाही है। फिनलैंड, लपलैंड, कोरिया, उत्तरी मंचूरिया, उत्तरी जापान आदि में ऋक्ष कल्ट और ऋक्ष पर्व मनाए जाते हैं। अतः रीछ को एक आदर योग्य स्थान राम के राष्ट्रमंडल में मिलना बहुत स्वाभाविक है। इसकी तुलना में ख्रिस्ती परंपरा में रीछ एक खतरनाक टोटेम प्राणी है जिसे संत कार्बिनियन पालतू बनाते हैं। संत रोमेडियस की कक्षा में भी एक रीछ का प्रमुख उल्लेख है जिसे संत पालतू बनाते हैं। ये कथाएं ऐसा बताती हैं कि रीछों पर ख्रिस्ती मत ने सिविलाइज़िंग प्रभाव डाला है। लेकिन राम के राष्ट्रमंडल में ऐसा नहीं है। यहां तो ऋक्षराज जाम्बवान ज्ञान दे रहे हैं, उत्साह और प्रबोधन भी। आजकल स्मोकी रीछ को 'ओनली यू केन प्रिवेंट फॉरेस्ट फायर्स' अभियान में जंगलों के रक्षक के रूप में सं.रा. अमेरिका में पेश किया जा रहा है। जाम्बवान जंगल के ही क्या, एक ऐसी सभ्यता के रक्षक हैं जो वन्यप्राणियों और वनवासियों को एक सूत्रता में संग्रथित करती है।

आज जब हम सुंदरकांड में जाम्बवंत के सुहाने वाले वचन का उल्लेख सुनते हैं या किष्किंधाकांड के अंत में जाम्बवान का प्रोत्साहक उद्‌बोधन और मार्गदर्शन सुनते हैं तो मुझे लगता है कि शायद यह आज की उस दुनिया का प्रतिलोम है जिसके तहत निराशाजनक भविष्यवाणी या नकारात्मक गतिविधि को- बीअरिश- कहा जाने लगा है। क्या यह सांस्कृतिक प्रतिध्रुव है कि जहां जाम्बवान सत्य की प्रतिमूर्ति हैं वहीं अमेरिका के पश्चिमी राज्यों में-भूतपूर्व डकोटा टेरिटरी में-बीअर ट्रेकिंग का मतलब झूठ बोलना हो गया है। झूठ बोलना ही नहीं नशे में गाफिल रहना भी। आस्ट्रेलिया में बुंडाबर्ग रम के विज्ञापनों में ध्रुवीय रीछ का इस्तेमाल होने लगा है। ब्रिटिश होफमीस्टर बीयर के विज्ञापनों में जार्ज द बीअर का उपयोग जमकर हुआ। बीयर और बीअर का उच्चारण साम्य मुसीबत बन गया और हमारा जागरण का उद्‌गाता वहां अल्कोहल एडवर्टाइजिंग के लिए इस्तेमाल होने लगा। हाम और लाबाट की अल्कोहल कंपनियां अपने विज्ञापनों में रीछ का ही प्रयोग करती हैं।

पहले ऐसा नहीं था। पहले रीछ के नाम पर अपना नाम या वंश नाम रखना गौरव की बात समझी जाती थी। रूसी और दूसरी स्लाविक भाषाओं में रीछ के लिए 'मेदवेद' शब्द चलता है और मेदवेदेव सरनेम उसी से बना है। 'आर्थर' शब्द का अर्थ है रीछ-जैसा और मैकमोहन शब्द का अर्थ आयरिश गैलिक में होता है- रीछ का बेटा, अंग्रेजी और जर्मनी में अति प्रचलित शब्द 'उर्सुला' का अर्थ है-छोटी रीछ। स्कैंडीनेविया में ब्योर्न का अर्थ है रीछ, और कई पुरुषों का नाम भी ब्योर्न है। पूर्व यूरोपीय यहूदी लोग 'बेर' नामक नाम रखते हैं जो 'बीअर' शब्द का यिद्दश रूप है। स्विस राजधानी बर्न रीछ के नाम पर है और बर्लिन भी। वह तो अमेरिकी राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्ट ने मिसीसिपी में एक रीछ

को शूट करने से मना नहीं किया होता तो टेडी बीअर इतना लोकप्रिय भी नहीं होता। हालांकि रूज़वेल्ट ने जिसे शूट करने से मना किया था, वह एक बूढ़ा रीछ था लेकिन कार्टूनिस्ट क्लिफोर्ड बैरीमेन ने जिसे प्रसिद्ध बनाया वह बच्चों का प्रिय हो गया। जाम्बवान भी बूढ़े हैं - **'जरठ भयउं अब कहइ रिछेसा।'**

रीछों का प्रतीकशास्त्र दुनिया भर के अलग-अलग समुदायों में है। शामानिज़्म में रीछ टोटेम प्राणी या पॉवर एनीमल हैं और वे हमारी खोई प्रज्ञा और आत्मा के उद्देश्य को उद्घाटित और सक्रिय करते हैं। जाम्बवान भी यही करते हैं-**'रामकाज लगि तब अवतारा/सुनतहिं भयउं पर्बताकारा'**। रीछों की शीतनिद्रा उन्हें 'ड्रीमिंग द ग्रेट स्पिरिट' के प्रतीक के योग्य बनाती रही है। इसलिए उन्हें स्वप्नदर्शी और विज़नरी भी माना जाता रहा है। अधिकतर पौराणिकियों में रीछ की छवि एक ऐसे प्राणी की है जो स्नैप फैसले नहीं लेता-जो सारी उपलब्ध सूचनाओं को एकत्र करता है, उन्हें अपनी शांत जगह पर ले जाता है, उस सूचना का सावधानी से अध्ययन करता है और उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करता है तब जाकर एक सुचिंतित निर्णय पर पहुंचता है। जाम्बवान उस निर्णय की ओर किष्किंधाकांड के अंत में उद्घोष करते हैं। सुंदरकांड के ठीक प्रारंभ में पहला शब्द 'जामवन्त' का होना यह स्थापित करता है कि हर अन्त में एक नया प्रारंभ है। शुरुआत और अंत दोनों ही एक ही दशा के दो पहलू हैं। जॉन मार्क्स टेंपलटन ने शायद ठीक ऐसे ही किसी परिदृश्य के लिए लिखा होगा- 'We can coast downhill, but mountain climbing is the journey of the soul.' हनुमान को यही रास्ता जामवन्त जी दिखाते हैं। **'सिंधु तीर एक भूधर सुंदर'** से लेकर **'जेहिं गिरि चरन देइ हनुमंता'** में यही माउंटेन क्लाइंबिंग है। लक्ष्य की ऊंचाई हमारी आत्मा का भी उत्कर्ष है। इसलिए लक्ष्य की बात सुनते ही हनुमान पर यही असर होता है- **'सुनतहिं भयउं पर्बताकारा।'** तब महती दायित्व महती शक्ति भी देता है- **'मानहुं अपर गिरिन्ह कर राजा।'** यह आत्मा का रिवोल्यूशनाइज़ होना है।

जिस तरह से चन्द्रमा का ज्वार पर असर होता है, उस तरह से जामवन्त के वचनों का हनुमान पर असर हुआ। उन 'डॉउन मोमेंट्स' में जब **'पार जाइ कर संसय राखा'** की हालत थी, सहसा इन वचनों से ऊर्जा का संचार हो गया। जामवन्त ने हनुमान को एक परिप्रेक्ष्य दिया और एक 'बिगर पिक्चर' भी दी। जामवन्त ने यह नहीं बताया कि उन्हें जीवन से क्या उम्मीद करनी चाहिए बल्कि उन्होंने यह बताया कि जीवन उनसे क्या उम्मीद करता है। ध्यान दें कि 'राम की शक्तिपूजा' में भी निराला ने भी जाम्बवान से यही करवाया है। राम का प्रबोधन। राम जो कि महाशक्ति द्वारा रावण को अंक में लिये देखते हैं - जिन्हें लग रहा है कि 'अन्याय जिधर, है उधर शक्ति', उन्हें जाम्बवान ही हैं कि 'शक्ति की मौलिक कल्पना' करने का प्रबोधन देते हैं : **'कह हुए भानुकुलभूषण वहाँ मौन क्षण-भर/बोले विश्वस्त कण्ठ से जाम्बवान - 'रघुवर,/विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण,/हे पुरुष-सिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,/आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर/तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर;/रावण अशुद्ध होकर भी यदि कर सका त्रस्त/तो निश्चय तुम हो सिद्ध करोगे उसे ध्वस्त,/शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,/छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो, रघुनंदन!'** और जाम्बवान के वचनों से हमेशा ही सभा खिल जाती है तो निराला भी यह पहचानते हैं:-

खिल गयी सभा। 'उत्तम निश्चय यह, भल्लनाथ!'
कह दिया वृद्ध को मान राम ने झुका माथ।

जाम्बवान के रूप में वृद्धों की अनुभव-पगी राय के पहलू को रामकथा में छुआ गया है।

'वचन' शब्द महत्वपूर्ण है। शब्द तो सृष्टि में प्राण फूंकने वाला है, उसके कण-कण में रमने वाला। क्यों बाइबल में जिनेसिस का पूरा पहला अध्याय ईश्वर के शब्द और उसके बाद उन्हीं के अनुरूप विश्व की विभिन्न चीजों के निर्माण पर आधारित है। उसने कहा 'लेट

देअर बी लाइट' और प्रकाश हो गया। जामवन्त के शब्द वस्तुतः ensouling होते हैं। **'कवन सो काज कठिन जग माहीं/जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं।'** सीमाओं, सरहदों और बंधनों से- फेंसेस से- बांधे हुए जीवन को संभावनाओं का विस्तार मिलता है। जीवन चेतना है। यदि हम अपनी सीमाओं की चेतना हैं तो हम वैसे ही होंगे। यदि हमें अपनी संभावनाओं की चेतना है तो हम वैसे ही होंगे। आज विज्ञान कहता है कि 'ब्रह्मांड में कोई सीमा नहीं है'- 'देअर इज़ नो लिमिट इन द यूनिवर्स'- तब जाम्बवान् के ज्ञान ने कहा था-**'कवन सो काज कठिन जग माहीं/जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं।'** प्रयोजन का बोध सहसा जैसे कुंडलिनी जागृत कर देता है। **'कनक बदन तन तेज बिराजा'** इसलिए है क्योंकि आगे जाकर **'कनक कोट बिचित्र मनि'** का सामना करना है। हनुमान ने अपने स्वप्न का मानसिक ब्ल्यूप्रिंट तैयार कर लिया है। अब बाकी सब चीजें तो -अ मैटर ऑफ टाइम-हैं।

जाम्बवान के वचनों को हनुमान ने सुना। तुलसी '**सुनि**' को पंक्ति में सबसे पहले रखते हैं। यह सुनना पांच संवेदनों में से एक की संक्रिया मात्र नहीं है, यह सुनना अपनी श्रवणेन्द्रियों को वैसे इस्तेमाल करना है जैसे कोई कैमरामेन अपने कैमरे को इस्तेमाल करता है। अपने लेंस को एडजस्ट करना ताकि सेटिंग्स ठीक-ठीक दिखें और फोकस भी। हनुमान भी वैसे ही सुनते हैं। फ्रैंक टाइगर ने कहा था कि : 'All wise men share one trait in common : the ability to listen.' आज के दौर के पिंग-पांग वार्तालापों में सुनने पर इतनी श्रद्धा कहां। हनुमान सुनते हैं और सीखते हैं। वे सीखने के लिए ही सुनते हैं। पहले वे जाम्बवान से कहते हैं : **'जामवंत मैं पूँछउँ तोही/उचित सिखावनु दीजहु मोही।'** **'उचित सिखावनु'** के लिए उनकी उत्सुकता और जिज्ञासा उनके सुनने में भी गुणवत्ता लाती है। उनके लिए सुनना एक लर्निंग स्किल है। कई बार कुछ रिश्ते इसलिए स्वस्थ नहीं रह पाते क्योंकि उस रिश्ते के एक या अधिक पक्ष ने 'सुनना' नहीं सीखा था। जाम्बवान और हनुमान के बीच स्वस्थ रिश्ते के पीछे वार्ता की इस गिव-एंड-टेक का प्रभावी रूप से सक्रिय रहना है।

हनुमान सुनते ही नहीं, एप्रीसिएट भी करते हैं। 'हृदय अति भाए' में वही बात है। यह किसी किस्म के बौद्धिक संज्ञान की बात नहीं है। यह 'हृदय' को संप्रेरित करने की बात है। 'समझने' को 'हृदय' से जोड़ना एक विरोधाभास है। लेकिन संभवतः वही विरोधाभास जिसके चलते गीता में भगवान कृष्ण ने कहा : **'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य तिष्ठितम्'** कि ज्ञानरूप, जानने योग्य और ज्ञान से प्राप्त होने वाला परमात्मा सबके हृदय में स्थित है। हनुमान और जाम्बवान की चर्चा **'कहिहै सब तेरो हियो, मेरे हिय की बात'** जैसी है- यदि हम बिहारी के रीतिकालीन प्रसंग में इस प्रसंग को काढ़कर भक्ति की फ्लडलाइट में रखें। हनुमान को जब कर्मठता के इस महाअध्याय को शुरू करना है तो हृदय की प्रेरणाओं को ध्यान में रखना है। रामचंद्र शुक्ल ने (चिंतामणि, भाग 1, पृ. 157) कहा कि 'मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूलवृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्क बुद्धि या विवेचना से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते।' हनुमान तो सुंदरकांड में कर्म के तुमुल संग्राम में उतरने चले हैं। सोहनलाल द्विवेदी के गीत 'पूछ लो अपने हृदय से इस हृदय के प्रश्न सारे' की तरह जाम्बवान और हनुमान के बीच हार्दिक वार्तालाप हो जाता है और इसी कारण सिर्फ 'भाए' की नहीं, 'अति भाए' की स्थिति पैदा होती है।

श्री रमण गीता के अनुसार **'अशेषा हृदय तस्मात् कथा परिसमाप्यते'** कि समस्त कथा हृदय में ही समाप्त होती है। यह बात सच भी है। लेकिन फिलहाल सुंदरकांड कथा हृदय से शुरू होती है।

●●●

ढोल गँवार सूद्र पसु नारी/सकल ताड़ना के अधिकारी

कई बार प्रसंग और संदर्भ से बाहर निकली एक पंक्ति- व्यर्थ के कलह, कलुष और कलंक का कारण बन जाती है। बचपन से ही जब कविता का अर्थ हम लोगों से स्कूल में लिखवाया जाता था तो प्रसंग और संदर्भ सहित ही लिखवाया जाता था। शायद इसलिए कि चीजों को आउट ऑफ कान्टेक्स्ट उद्धृत करने की राजनीति में आगे जाकर हम नहीं उलझें। कॅन्टेक्स्ट टेक्स्ट के वाचन की अनिवार्यता है। सिर्फ पठन, पाठन, पारायण और टीका में ही नहीं बल्कि जीवन में, विकास के मॉडेल्स के औचित्य निर्धारण में संदर्भ-संवेदनशीलता (Context-sensitivity) एक मूल्य और मानक सी बन गई है। सांदर्भिकता (sensitivity) का तर्क यही है कि हर चीज एक संदर्भ के भीतर है। सन्दर्भ संज्ञान की सरहद है। सीमांतिकी (Semantics) की सीमा। प्रत्येक टेक्स्ट की अब स्थिति एक संप्रेषण- जनपद की चौहद्दी में है। शब्द का मुल्क है। कवि का इलाका। यदि हमें कवि की वाचा की यह परिभूमि ही नहीं मालूम है, वे सारे सांदर्भिक तत्व ही नहीं मालूम हैं जिन्होंने उस कथ्य को आकार दिया है तो अक्सर यह दुर्घटना घटती है। यदि पाठक को प्रसंग-प्रदेश की भौगोलिकी का ज्ञान नहीं है तो वह स्वयं अपने पूर्व-ज्ञान, पूर्वानुभवों, पूर्वानुभूतियों, विश्वासों का उपयोग अर्थान्वयन में करता है। किसी कथन का एक अपना पर्यावरण होता है। मैं शब्द के मौसम की बात नहीं कर रहा, मैं किसी कथन की जलवायु की भी बात नहीं कर रहा। मैं उस पूरी पारिस्थितिकी की बात कर रहा हूं, जो किसी 'अभिव्यक्त' को निर्णीत करती है। कविता का एक लोकाकाश होता है, भाषा का भी। भाषा का एक सेक्टर फैक्टर होता है। एक ही शब्द बुलैट का मिलिट्री में अलग अर्थ होगा, सॉफ्टवेयर की दुनिया में अलग और वित्त की

दुनिया में अलग।

रामचरितमानस लोक भाषा में लिखी गई। तुलसीदास जैसे महापंडित का यह एक सचेत निर्णय था। **'भाषानिबन्धमति मंजुलमातनोति'** के साथ-साथ **'भाषा भनिति भोरि मति मोरी':** भाषा में लिखने का निर्णय। **'भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने:'** 'सब भाषा भनिति प्रभाउ', 'भाषाबद्ध करबि मैं सोई।' ये सब उद्धरण इस बात के प्रतीक हैं कि तुलसी का संकल्प संस्कृत में नहीं, हिन्दी भाषा में बल्कि अवधी में लिखने का था। वे **'ग्राम नगर दुहुँ कूल'** गांव और शहर के दोनों दूरवर्ती किनारों के लिए लिखने का संकल्प लिए थे। अवधी हिन्दी के मानकीकरण के पूर्व देश की दूसरी बड़ी काव्य भाषा थी। ब्रज के बाद। मध्यकाल में इसका प्राधान्य न केवल रामचरितमानस से बल्कि मलिक मुहम्मद जायसी की पद्मावत से भी स्थापित हुआ था। लखनऊ, बाराबंकी, फैजाबाद, लखीमपुर खेरी, सीतापुर, रायबरेली, हरदोई, सुल्तानपुर, गोंडा, उन्नाव, प्रतापगढ़, फतेहपुर, बलरामपुर, बहराइच आदि-आदि में अवधी आज भी बोली जाती है। इसलिए इन पंक्तियों के बारे में यदि कोई अर्थ निकालना होगा तो यह अर्थ वही होगा जो उस जनपद में बोली जाने वाली भाषा 'अवधी' में होता है, वह अर्थ संस्कृत शब्दकोष से प्राप्त नहीं किया जाएगा, लोकभाषा स्रोतों से प्राप्त होगा।

इन पंक्तियों को लेकर काफी कुछ कहा गया है। ज्यादातर आरोप नारी या शूद्र के बारे में हैं। कहा गया है कि तुलसीदास इन दोनों वर्गों के प्रति पूर्वग्रहग्रस्त और असहिष्णु थे। मुझे समझ नहीं आता कि पशु अधिकारों के रक्षक क्यों चुप हैं? एनीमल लिबरेशन फ्रंट और पीपुल फॉर द एथिकल ट्रीटमेंट ऑफ एनीमल्स (PETA) क्यों चुप है? क्या 'खग मृग तरुवर श्रेणी' वाला सर्वात्मवाद सुंदरकांड के अंत तक समाप्त हो गया? उस सुंदरकांड में जिसके नायक कपिश्रेष्ठ हनुमान हैं? इन पंक्तियों को लेकर न केवल तुलसीदास, भगवान राम या लक्ष्मण, बल्कि स्वयं हिन्दुत्व के खिलाफ प्रवाद फैलाए गए। तुलसीदास के इस उद्धरण को 'बदमाशी भरा' (notorious) तक कहा गया। इनमें से काफी कुछ प्रवाद तो सुनी सुनाई बातों पर आधारित थे। मसलन एक ब्लॉगर अनिमेष का कहना था कि ये शब्द राम के द्वारा नहीं, लक्ष्मण के द्वारा कहे गए थे। लक्ष्मण थोड़े 'टेंपरामेंटल' रहे हैं तो राम को बचाने के लिए उन पर आरोप मढ़ देना अनपढ़ों के लिए आसान पड़ता है। एक ब्लॉगर-नेपाल के विस्वो पाउडेल- यह पाकर राहत की सांस लेते हैं कि यह बात न तो राम के और न लक्ष्मण के द्वारा कही गई बल्कि एक अन्य पात्र 'समुद्र' द्वारा आत्म-पीड़क (self-fleggatory) टोन में कही गई। एक अन्य ब्लॉगर अग्निवीर कहते हैं कि- "In any case bringing "Naari' in same category as Dhol, Gavaar, shudra, Pasu even while talking of education rights is humiliating. Regardless of what Tulsiji intended, this example of equating women with animals, drum etc. is in poor taste. What if I say" Drums, Uncivilized, Animals, Idiots and Pandits need training. Technically correct, but in bad taste." एक अन्य सज्जन इस पंक्ति को उद्धृत कर कहते हैं : 'Tulsidas did not have much regard for women.' हालांकि हास्य कवि सुरेन्द्र शर्मा ने इसका जवाब अपने ही अंदाज में दिया : 'मैंने घड़ारी से बोला/तुझे रामायण के इस दोहे का मतलब पता है। ढोल गंवार शूद्र पशु नारी/सकल ताड़ना के अधिकारी/घड़ारी बोली : अजी इसका मतलब है/इसमें एक जगह मैं हूँ चार जगह आप हैं।'

मजाक एक तरफ। यह कहा जा सकता है कि इंटरनेट पर कहीं जा रही बातों को गंभीरता से नहीं लिया जाना चाहिए क्योंकि इसकी एक वेबसाइट www.thaindian.com/forums तो इस कथन का रचयिता चाणक्य को मानकर उनकी मज़म्मत करती है। इस तरह के अज्ञान की बहुतायत है। एक अन्य वेबसाइट http://blogs.ibibo.com/viewcomments.aspx? में इसका अर्थ यह किया गया है कि : "Meaning

that animals, illiterates, lower castes and women should be subjected to beating. Thus women were compared with animals and were married off at an early age'. सागरिका घोष अपने एक लेख में कहती हैं :

'The famous poet Tulsidas once said : Dhol Gawar, Shudra, Pashu Nari/Sakal Tadna ke adhikari (Women, animals and shudra (lower-caste) should be thrown out of society.' एक अन्य सज्जन www.indiamike.com में लिखते हैं : 'This is what I have read myself and i don't need any vatican translation for this. Dhol, ganwar, Shudra, pashu, nari, sakal tadna ke adhikari, Drum (music instrument), fellas from Village, dalits (low Caste) livestock and women should be beaten everyday.' इन पंक्तियों का आशय 'प्रतिदिन पीटने' या 'इन वर्गों को समाज से बाहर फेंकने' का लिया जाएगा, तुलसीदास जी ने अपने भयंकरतम दुःस्वप्न में भी इसकी कल्पना नहीं की होगी। फिर इनमें पाकिस्तानी कड़ियां भी आ जुड़ेंगी, एक वेबसाइट www.paklinks.com/gs/religion_scriptures में तो इस पंक्ति के आधार पर यह 'गपशप' चला दी गई है कि आधुनिक संसार में क्या हिन्दुत्व एक अनुकरण योग्य धर्म है कि नहीं ("Is Hinduism a followable religion in the modern world') ?

इसका एक उत्तर तो डॉ. राज पंडित ने तुलसीकृत रामायण की उन पुरानी पांडुलिपियों के सहारे देने की कोशिश की है जो त्रिनिदाद एवं टोबैगो की सनातन धर्म महासभा के धर्माचार्य के पास हैं। ये पांडुलिपियां उनके प्रपितामह साथ लेकर आए थे जब उन्हें अंग्रेजों ने मजदूरों के रूप में वेस्ट इंडीज भेजा था। इसे 1813 में खिडिरपुर संस्कृत प्रेस ने छापा था और बाबूराम सारस्वत ने इसका संपादन किया था और उसमें इस पंक्ति की व्याख्या यह कहकर की गई 'ढोल, गवैंहा, सेवक, पशु एवं नारी सब उपदेश के पात्र हैं', 'All deserving of instruction.' यहां ताड़ना का अर्थ 'उपदेश' किया गया है और मारने-पीटने (beating या chastisement) के रूप में नहीं। लेकिन ताड़ना का 'उपदेश' के रूप में अर्थ भी संस्कृत शब्दकोष की उपज है, वह अवधी के लोक भाषाई स्रोतों से नहीं आया है। फिर ढोल का उपदेश कल्पनाशक्ति पर कुछ ज्यादा ही दबाव डालता है। अमूल्य गांगुली थोड़ा और करीब पहुँचते हैं जब वे लिखते हैं : 'The line can have more than one interpretation. For instance, a drum is beaten not to create a discordant noise but to top out a rhythm. Only a skillful player has the art to elicit musical notes from a drum. So it can be argued that the purpose of taran is not just thrasing someone, but to impart training as an animal is trained or a person is educated.'

दलित चिंतकों ने इसे शूद्र की ताड़ना को तुलसी का समर्थन ठहराया। श्री सूरजभान तो एक महत्वपूर्ण संवैधानिक पद पर अधिष्ठित थे। राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग के अध्यक्ष पद से उन्होंने कहा और रामचरितमानस की इस पंक्ति का उदाहरण देते हुए कहा कि ऐसे उद्‌गारों को शास्त्रों से हटा दिया जाना चाहिए। - 'should not be allowed in print in a society with a constitution giving equal rights to all." 1983 में एक सांसद श्री राजनाथ सोनकर शास्त्री ने रिलीजस स्क्रिप्चर्स अमेंडमेंट बिल भी प्रस्तुत किया था। मुझे आज तक यह समझ नहीं आया कि **'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू/आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू'-** 'जिसे करोड़ों ब्राह्मणों की हत्या लगी हो, शरण में आने पर मैं उसे भी नहीं त्यागता' जैसे कथनों के आधार पर अब तक किसी ने तुलसी को ब्राह्मण विरोधी क्यों नहीं बताया? किसी ने जैसे उस एक कथन को शास्त्र से निकालना चाहा, वैसे इस एक कथन को क्यों नहीं

निकलवाना चाहा? पहला कथन तो समुद्र जैसे जड़ पात्र के द्वारा तुलसी ने कहलवाया है- **'इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी!'** वह भी ऐसे जड़ पात्र के द्वारा जो गहरी आत्म-ग्लानि में ग्रस्त है। लेकिन **'कोटि बिप्र बध'** वाला उद्‌गार तो साक्षात 'प्रभु' को कहते हुए बतलाया है। संवेदना का यह कौन सा ध्रुवान्त है जिसके तहत एक का 'ताड़न' भी सहन करने योग्य नहीं और दूसरे का 'वध' भी आपत्ति के लायक नहीं लगता। संवेदना की इस सरहद पर 'एक' और 'कोटि' का भी फर्क समाप्त हो जाता है। कोटि बिप्र बध तो एक तरह का जेनोसाइड हुआ। तो क्या तुलसी ब्राह्मणों का पोग्राम करवाना चाहते थे? जातीय नरसंहार? एद्‌निक क्लीजिंग? यदि वह एक कोटि (श्रेणी) है तो यह कोटि भी कोटि है। संख्या नहीं, वर्ग। संवेदना के ये कौन से कोष्ठक हैं? करुणा के ये कौन से कारागार हैं? क्या इनकी पूर्ति यह कहकर हो सकती है कि तुलसी ने अन्यत्र 'द्विज-पद-प्रेम' की बात कहकर इसका परिहार किया है? तो वह परिहार गुह, निषाद, केवट, शबरी आदि से क्यों नहीं संभव हुआ? क्या तुलसी को इसकी आशंका रामचरितमानस लिखते समय बहुत पहले से नहीं थी? कि **'पैहहिं सुख सुनि सुजन सब खल करिहहिं उपहास'**- कि उनकी इस रचना को सुनकर सज्जन सभी सुख पावेंगे और दुष्ट हंसी उड़ावेंगे। संवेदना का स्वस्तिक एक गतिमय स्वस्तिक है। उसकी गति चक्रानुगमन करती है और वही विष्णु का सुदर्शन चक्र हो जाता है। यदि ईश्वर की करुणा जातिभेद करती होती तो ईश्वर भी करुणा का कोटा निर्धारित कर रहा होता। 'कोटि' से कोटे तक पहुंचने में वक्त कितना लगता है। लेकिन तुलसी वर्ग-भेद का लक्ष्य लेकर नहीं चल रहे। उनके रामराज में जो बात सबसे ज्यादा ध्यान देने योग्य है, वह है 'सब' शब्द का उपयोग। **'सब नर करहिं परस्पर प्रीती।' 'सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।'** सब निर्दंभ धर्मरत पुनी/नर अरु नारि चतुर सब गुनी'/सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी/सब कृतग्य नहिं कपट सयानी।' यदि तुलसी की निष्पत्ति किसी पूंजीवादी, किसी वर्ग-वैषम्यवादी, किसी सर्वहारा की तानाशाही वाले समाज की होती तो वे 'सब' की यह रट नहीं लगा रहे होते। वे 'सब उदार सब पर उपकारी' भी नहीं कह रहे होते।

बल्कि यदि 'शूद्र-ताड़ना' (beating of slaves) उनका उद्देश्य रहा होता तो वे हम्मूराबी-संहिता (1800 ई.पू.) जैसी कोई रचना कर रहे होते, हमारे यहां भी Chattel slavery जैसी कोई चीज होती। मोरिटेनिया में अभी अगस्त 2007 में दासता को आपराधिक बताने वाला कानून आया है। वहां जनसंख्या का 20 प्रतिशत दासत्व की स्थिति में था। नाइज़र में अभी भी दासता चलती है। एक नाइजीरियन अध्ययन के अनुसार उस देश में 8 प्रतिशत जनसंख्या दासत्व की आज शिकार है। म्यानमार में 8 लाख लोग (अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के एक अध्ययन के अनुसार) इसके शिकार हैं। 1926 के दासता अधिवेशन की प्रतिज्ञाएँ क्या कह रही थीं?

कुछ लोगों ने इस पंक्ति की व्याख्या इस तरह से की है कि वह व्याख्या नहीं, सफाई अधिक लगती है। जरूरत टीका की है लेकिन दिए स्पष्टीकरण जा रहे हैं। मसलन एक बन्धु यह कहते हैं कि तुलसी के समय हिन्दी में अंग्रेजी का हाइफन नहीं होता था। इस कारण तुलसी के जिन शब्दों को 5 वर्ग समझा जाता है- ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी वे वस्तुतः तीन वर्ग हैं : एक ढोल, दूसरा गंवार-शूद्र और तीसरा पशु-नारी। ये तीनों प्रताड़ना, दंड, पिटाई के योग्य हैं। हर शूद्र पिटाई के लायक नहीं है। पहले एक विशेषण उसे क्वालिफाई करता है। हर नारी भी पिटाई के लायक नहीं है। पहले एक विशेषण उसे भी क्वालिफाई करता है। गंवार-शूद्र और पशु-नारी पृथक-पृथक संज्ञाएं नहीं हैं। उनके बीच विशेषण-विशेष्य संबंध है।

यह व्याख्या इन पंक्तियों की कर्कशता को कम करने की और उन्हें सह्य बनाने की कोशिश है। एक तरह की नैरोकास्टिंग। लेकिन यह उचित नहीं है, औचित्यीकृत है। एक पल को इसे मान भी लिया जाए कि बात गंवार-शूद्र के बारे में कही जा रही है तो उससे समाधान जितना नहीं होता, सवाल उतने ज्यादा उठते

हैं। प्रतिप्रश्न ये है कि यदि गंवार शूद्र ताड़ना के काबिल हैं तो गंवार-ब्राह्मण क्यों नहीं? मनु तो अपमान को ब्राह्मण का पथ्य कहते थे। स्मृतियों में तो यहाँ तक कहा गया कि अर्चित और पूजित ब्राह्मण दुही जाती हुई गाय के समान खिन्न हो जाता है। गंवार ब्राह्मण को तो शास्त्रों में पंक्तिदूषक ब्राह्मण या अपांक्तेय ब्राह्मण के रूप में वर्णित किया गया है। वेदव्यास ने महाभारत के वनपर्व में **'चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते'** क्यों कहा था? देवी भागवत में **'यस्त्वाचार विहीनोऽत्र वर्तते द्विजसत्तमः'** को बहिष्कार योग्य क्यों कहा गया? गंवार-शूद्र ही क्यों, गंवार-वैश्य और गंवार-क्षत्रिय को भी ताड़ना मिलनी चाहिए। बात तो आचरण की है। वाल्मीकि ने यही तो कहा था : **'कुलीनमकुलीन वा वीरं पुरुषमानिनम्/चारित्र्यमेव व्याख्याति शुचि वा यदि वाशुचिम'**- मनुष्य का चरित्र ही यह बतलाता है कि वह कुलीन है या अकुलीन, वीर है या कायर, अथवा पवित्र है या अपवित्र तो गंवार शूद्र को किसी विशेष ताड़ना का हिस्सा बनाना कवि तुलसीदास का अभिप्रेत नहीं हो सकता था।

यही बात पशु-नारी के संदर्भ में है। क्या तुलसी उत्तरपूर्वी कंबोडिया के जंगलों में अभी जनवरी 2007 में पाई गई उस स्त्री के बारे में बात कर रहे थे जो 6 साल की उम्र में जंगलों में खो गई, 19 साल जंगलों में जानवरों के बीच रही और जब पुलिस ने उसे बरामद किया तो वह पूर्णतः जानवरों जैसी हरकतें कर रही थी? क्या वे 'वाइल्ड वोल्फ वूमन' (जंगली भेड़िया-स्त्रियों) के बारे में प्रतिक्रिया दे रहे थे? क्या तुलसी अरस्तू की तरह स्त्री को 'आत्म विहीन' प्राणी मान रहे थे? क्या नारी की 'एनीमलिटी' पुरुष के पशुत्व से विशेष बदतर है? तुलसी पशु-पुरुष को प्रताड़ना योग्य क्यों नहीं मानते? क्या तुलसी 'पशु-नारी' के रूप में किन्हीं 'गुरिल्ला नारियों' को ताड़ना योग्य बता रहे थे? स्त्रीवादी लेखिका एलिजाबेथ स्पेलमेन ने 'सोमाटोफोबिया' नामक एक मानसिक व्याधि की चर्चा की है जिसमें स्त्री को पशु से समीकृत किया जाता है। क्या तुलसी इस सोमाटोफोबिया के शिकार थे? क्या 'पशु-नारी' शब्द अपने आप में ही पशु और मनुष्य के बीच में किसी द्वैत के होने का परिचायक नहीं है? शैव दर्शन में पशुपति की संकल्पना 'पशु' की व्याख्या किस तरह से करती है? क्या अंग्रेजी में स्त्रियों को 'कैटी' (Catty), श्रू (Shrew), काउ (cow), बिच (bitch), डम बन्नी (Dumb bunny), ओल्ड क्रौ (old crow), विक्सन (vixen) कहने वाले अभिधान इसी 'पशु-नारी' के बारे में हैं? जोरू के गुलाम के लिए अंग्रेजी में जो 'हेन्पेक्ड' शब्द चलता है वह स्त्री को 'मुर्गी' मानता है। ये तो नकारात्मक अर्थों वाले शब्द हैं लेकिन 'फॉक्सी' जैसे स्त्री-विश्लेषण भी स्त्री की पशु-पहचान को ही उभारते हैं। तो तुलसीदास किसी सैक्सुअल हैरासमेंट के समर्थक थे? क्या तुलसीदास भारत में पशु और मनुष्य के बीच सांस्कृतिक रिश्तेदारी से अनभिज्ञ थे? पशु नारी हमेशा ही नकारात्मक हो, यह भी कैसे मान लिया जाए? मेरी वेब का उपन्यास 'गोन टू अर्थ' (1917) पढ़िए जिसमें उसने हेज़ेल नामक एक ऐसे स्त्री पात्र की रचना की है जिसमें जंगली निर्दोषिता और ऊर्जस्विता है, जो अपने आसपास के सामाजिक विश्व को जैसे 'बिलांग' ही नहीं करती, क्या वह 'पशु-नारी' ताड़ना योग्य लगती है? हेज़ेल पशुओं की मूक वेदना को समझती है और एक छोटी लोमड़ी को बचाने की कोशिश में प्राण भी दे देती है। क्या तुलसी जैसा संवेदनशील कवि ऐसी प्रकृत सहज नारी की प्रताड़ना के बारे में कभी सोच भी सकेगा? जब 'बैटमैन', स्पाइडर मैन, एनीमल मैन आदि के रूप में आधुनिक कॉमिक हीरो लोकप्रिय हो रहे हैं तो पशु-नारी में ऐसी क्या कमी है कि आधुनिक व्याख्याकार उसे प्रताड़नीय समझ रहे हैं? एनीमल मैन बडी बेकर के पास टाइरेनोसॉरस रेक्स की शक्ति, चिड़िया की उड़ान, मछली की तरह तैरने की योग्यता, मक्खी के रिफ्लेक्सेस, मकड़ी की तरह दीवार पर चढ़ने, सांप की फुर्ती, कीड़े की तरह अपने शरीरांगों को फिर से उगाने की शक्ति, काकरोच की तरह का टिकाऊपन, आदि-आदि अनेक जानवरों की शक्तियां हैं। यदि बेकर के विशेष आकर्षण का कारण वे पशु

शक्तियां रही हैं तो स्त्री में पशु की शक्तियों का होना क्या एक विशेष विकर्षण का विषय हो सकता है? अपनी पंक्तियों के लिंगाधारित अर्थान्वयन (फैलोसेन्ट्रिक कन्स्ट्रक्शन) पर तुलसी क्या सतपाल महाराज जी को बधाई देंगे?

भारत की इस आधार पर लानत मलानत करने वाले कि यहां स्त्री को ताड़ना के काबिल ही बताया गया है, स्वयं यह नहीं बताते कि उनके यहां यह क्यों कहा गया कि-

A Spaniel, A Woman
And a walnut tree
The more you beat them
The better you be

इसलिए इस तरह की पंक्तियों के आधार पर सांस्कृतिक या धार्मिक श्रेष्ठता के दावे उपहासास्पद लगते हैं। बल्कि इस अंग्रेजी उक्ति में 'बीट' शब्द के बारे में कोई अर्थ-विषयक भ्रम नहीं है। मैं बाइबल के 'महाप्रयाण' (Exodus) से उद्‌धृत करूंः 'When a man sells his daughter as a slave, she will not be freed at the end of six years as the men are. If she does not please the man who bought her, he may allow her to be bought back again.' दासों को मारने के बारे में वहां क्या कहा गया : 'When a man strikes his male or female slave with a rod so hard that the slave dies under his hand, he shall be punished. If, however, the slave survives for a day or two, he is not to be punished, since the slave is his own property.' इसी में ईश्वर न केवल बेटियों को दासी बनाकर बेचा जाने को ही संस्वीकृति नहीं देता बल्कि यह भी बताता है कि इसे कैसे किया जा सकता है। तोराह में तो कोई औरत पति की अनुमति के बिना कोई संकल्प तक नहीं ले सकती। 'जिन शहरों को भगवान की कृपा से तुम जीत लेते हो, उनके सभी आदमियों और बच्चों को मार डालो, लेकिन औरतों को अपने भोग के लिए रखो।' (Deuteronomy 20:13-15) 'यदि कोई औरत बलात्कार का शिकार होने पर भी चिल्लाती नहीं है तो उसे मार डाला जाए।' (Deuteronomy 22:23-24) कोई बलात्कारी अपनी 'शिकार' को उसके पिता से 50 शेकेल में खरीद सकता है। (Deuteronomy) इसलिए तुलसी की पंक्ति के आगे सांस्कृतिक श्रेष्ठता के दावे ठहर नहीं सकते। एक्लेसिआस्टिकस की तरह सुन्दरकांड नहीं कह रहा है कि 'sin began with a woman and thanks to her we all must die.' (25:18, 19, 33) जेफर्सन डेविस, जो अमेरिका के कान्फेडरेट राज्यों के अध्यक्ष थे, ने कहा था कि दास प्रथा सर्वशक्तिमान ईश्वर के द्वारा आदेशित व्यवस्था है। यह बाईबल में संस्वीकृत है- 'दोनों टेस्टामेंटों में- जिनेसिस से लेकर रिवीलेशन तक- यह सभी युगों में अस्तित्व में रहा है।' एक अन्य पादरी अलेक्जेन्डर कैंपबेल ने कहा कि 'बाईबल में दास प्रथा को वर्जित करने वाला एक छन्द नहीं है, किंतु उसे नियम और विधान में बांधने वाले ढेरों छंद हैं। इसलिए दास प्रथा गलत नहीं है।' जिस समय ब्रिटेन और अमेरिका में दास प्रथा का दौर था, उस समय उसे जीसस और बाईबल के संदर्भों से उचित ठहराया जाना आम था।

जो लोग ताड़ना का अर्थ पिटाई या प्रताड़ना से लगाते है, वे अवधी समझना तो खैर छोडें, सुन्दरकांड के उस प्रसंग को भी नहीं समझते जिसमें यह पंक्तियां प्रयुक्त हुई है। इन पंक्तियों का संदर्भ यह है कि राम समुद्र से रास्ता मांग रहे है। वे विभीषण की सलाह पर चल रहे है, हालांकि लक्ष्मण की राय किंचित् भिन्न है। विनय करने के खिलाफ है। तीन दिन बीत जाने पर भी जड़ जलधि नहीं पसीजता। तब राम "सकोप" बोलते है कि बिना भय के प्रीति नहीं होती। शठ के साथ विनय का कोई अर्थ नहीं। "ऊसर बीज भए फल जथा" वे लक्ष्मण को आदेश देते हैं कि "लछिमन बान सरासन आनू"- कि वह उनके धनुष बाण लेकर आये ताकि वे "सौषौं बारिधि"- समुद्र को सुखा दें। फिर राम के प्रत्यंचा तानते ही समुद्री जीव जन्तु सब अकुलाने लगते हैं। राम

समुद्र को दंड देने को प्रस्तुत हैं।

अब समुद्र प्रकट होता है वह उन्हें बताता है कि वह जड़ है। वह उन्हें उनकी मर्यादा की भी याद दिलाता है लेकिन यह सब वह राम के आशंकित दंड के परिहार के लिये कहता है यदि उसका लक्ष्य दंड के आमंत्रण का होता तो वह तो राम पहले ही करने को सन्नद्ध हो चुके थे। उसका अभिप्रेत तो उस सन्नद्धता का निवारण है। यदि वह "सकल ताड़ना के अधिकारी" में प्रयुक्त ताड़ना को दंड के अर्थ में लेता कि वह दंडनीय है, तो वह राम की सन्नद्धता को ही जस्टिफाई कर रहा होता। कि चलो हमें पीट लो। हम तो पिटने के ही लायक है, लेकिन वह तो राम को उनकी उस मनोदशा से 'डिस्सुएड' करना चाहता है। इसलिये यह कहना कि इन वर्गों के माध्यम से वह स्वयं को भी पिटाई-योग्य मानना बताना चाह रहा है, प्रसंग के एकदम उलटा पड़ता है।

कई बार मुझे यह भी संदेह होता है कि इस पंक्ति में समुद्र यदि ताड़ना को दंड के अर्थ में ले रहा होता तो वह अपने को किस स्थान, किस श्रेणी में रखता। क्या समुद्र एक ढ़ोल है? नहीं। क्या समुद्र गंवार है? विभीषण उसे "प्रभु तुम्हार कुलगुर जलधि" कहते हैं? इसी कुलगुर शब्द से ही 'शूद्र' की कोटि भी निराकृत होती है। क्या समुद्र पशु है। समुद्री जीव-जन्तु उसमें है, लेकिन वह उनसे अधिक है और नारी तो वह है नहीं। तो वह इन सब वर्गों के अप्रासंगिक नाम गिनाता ही क्यों है? क्या वह राम का ध्यान भटकाना चाहता है? क्या वह यह कहना चाहता है कि पिटाई के अधिकारी तो ये सब लोग है, मैं नहीं? क्या यह वह चतुराई है जो अपने को दोष मुक्त करने के लिये दूसरे को प्रस्तुत कर देती है? क्या अपराध की अन्याक्रांति की यह कोशिश राम को भरमा पायेगी? तब क्या समुद्र राम के दंड के आतंक से इतना अकबका गया है कि आंय बांय सांय बके जा रहा है? राम उससे पूछ न लेंगे कि औरों की छोड़ों, अपनी कहो। फिलहाल तो राम वैसे ही कुपित हैं। ऐसे में समुद्र द्वारा यह कहने की थोड़ी सी कोशिश कि दंड का भागी या पात्र मैं नहीं, कोई और है तो राम के क्रोधानल को और भड़का देगी। तो समुद्र दंड के निवाराणार्थ ऐसी कोशिश, राम के तत्सामयिक मूड को देखते हुए, करने का जोखिम मोल नहीं ले सकता। तब इसका-इस उक्ति का-प्रसंग की संगति में अभिप्रेत अर्थ क्या है?

इन वर्गों के विरुद्ध किसी भी तरह की नकारात्मकता समुद्र को उनके ब्रेकिट में नहीं ले जा सकती। वह अपना दोष भुलाने के लिये दूसरे के सर मढ़ने जैसी चेष्टा होगी। समुद्र इनके ब्रेकिट में तभी आ सकता है जब वह इनके बारे में कुछ सकारात्मक बोल रहा हो। तब वह कह सकता है कि जैसे ये सब हैं, वैसा ही मैं भी हूं। जैसे तुम इन सबका ध्यान धरे हो, वैसे मेरा भी ध्यान धरो। गुह, निषाद, केवट, शबरी को प्रेम करने वाले राम के सामने वह गंवार और शूद्र को पीटने के लिये कहेगा और खुद पिटाई न खा जायेगा? जटायू को मुक्ति देने वाले-और "बानर भालु बरूथ" की सेना बनाने वाले राम के सामने वह पशु की पिटाई की बात करेगा और खुद पिट न जायेगा? सीता तो छोड़ें जो कैकेयी के विरुद्ध भी ऐसा एक शब्द नहीं बोलने की सावधानी रखते हैं जो उसके मन को दुखाये, उन राम के सामने वह नारी को ताड़ना का अधिकारी कह जायेगा और बचकर चला जायेगा। कम से कम इस चौपाई को जिस संदर्भ में प्रयुक्त किया गया है, वहां नकारात्मक अर्थ की गुंजाइश किसी तरह नहीं दिखती। समुद्र तो एक सीधी सी बात कह रहा है। वह चीजों की अंतर्भूत प्रकृति की बात कर रहा 'प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही' में शिक्षा की बात है, संस्कृति की बात है। फिर वह यह भी कहता है : मरजादा पुनि तुम्हरी कीन्ही। किंतु मर्यादा भी आपकी ही बनाई हुई है। मर्यादा यानी चीजों का स्वभाव। यह प्रकृति और संस्कृति का द्वन्द्व है। इसे रेखांकित करते हुये समुद्र अचानक जातिभेदी या वर्णभेदी या मेल शोविनिस्ट या पशु विरोधी बात क्यों करने लगेगा? वहां तो कोई ऐसा पाज़िटिव अभिप्राय होना चाहिये जो राम की क्रोधाग्नि को शीतल करे। राम एक आधुनिक युवक हैं- उनकी संवेदनायें सर्वग्राही और सर्वस्पर्शी है। उनके सामने किसी तरह के धृष्ट पूर्वाग्रह की बात कहने का

दुसाहस कोई साधारण समय में नहीं कर सकता, तब की तो बात ही अलग है जब राम एक "फाउल मूड" में हों।

कई लोग तो इन पंक्तियों को जस्टिफाई करने के लिये और भी बड़ी जुगत भिड़ाते है। बड़े-बड़े पांडित्य के बोझ से ये पंक्तियां झुकी जाती हैं। एक सज्जन ने ये पांच वर्ग देखे और इनके ठीक ऊपर पंचतत्वों की भी चर्चा देखी। गगन समीर अनल जल धरनी को उन्होंने ढोल गंवार शूद्र पशु नारी से जोड़ दिया। उसी क्रम में। अब गगन ढोल बन गया। यह साम्य एकदम अटपटा भी नहीं है। ढोल के भीतर शून्य है और शून्य में स्वन है। धरनी को नारी से जोड़ना भी सहज लगता है। नारी धरित्री तो है ही। लेकिन बौद्धिक कसरत तो समीर को गंवार से, अनल को शूद्र से, जल को पशु से जोड़ने में करनी पड़ती है और वह तमाम प्रज्ञा-प्राणायाम के बावजूद कोई बहुत कन्विंसिंग नहीं जान पड़ती। आखिरकार समीर गंवार कैसे हो सकता है। मारुति के अध्याय में मरुत गंवार? अनल को शूद्र कहने का एक प्रगतिशील अर्थ तो संभव है कि जो सेवा करता है उसके भीतर एक अग्नि धधका करती है। वह अग्निधर्मा है, वह आलोकधन्वा है। लेकिन इन विशारद ने उसे इन अर्थों में तो लिया नहीं। जल को पशु कहना भी विश्वसनीय नहीं जान पड़ता। फिर पंच तत्वों का ताड़ना से क्या रिश्ता? बौद्धिक जिमनास्टिक्स में ताड़ना का एक संस्कृत अर्थ घर्षण ले लिया गया। अग्नि तो घर्षण से पैदा हुई ही। गगन लेकिन बिग बैंग से हुआ। जल और समीर तो इतने प्रत्यक्षतः घर्षणपरक नहीं लगते।

तुलसी जब **'ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी/सकल ताड़ना के अधिकारी'** बोलते हैं तो उसमें प्रयुक्त 'ताड़ना' शब्द का अर्थ संस्कृत शब्द कोषों से निकालने की जगह उस अवधी भाषा से निकालना चाहिए जिसमें रामचरितमानस लिखा गया। मैं जब लखनऊ गया तो वहां मैंने एक वृद्धा मां को अपनी बेटी को- जो मायके बाल-बच्चों समेत अपनी मां से मिलने आई थी- विदा के वक्त यह कहते देखा कि : 'बाल बचियन को ताड़ियत रहियो।' उसके कहने के लहजे से मैं जो समझा वह शायद यह था कि 'टेक केअर ऑफ द चिल्ड्रन।' इस 'ताड़ना' में कंसर्न है, इस ताड़ना में सलाह है और सद्‌भाव भी। लेकिन जिन लोगों ने संस्कृत- अंग्रेजी के शब्दकोष, शब्दार्थ-कौस्तुभ आदि को पढ़ा है वे इस लोक-परंपरा से निःसृत अभिव्यक्ति के पास नहीं पहुंच सकते। समुद्र वैसे भी डरा हुआ है। उसके मनोभाव के अनुकूल है कि वह भगवान से कहे कि वह ध्यान रखने के काबिल है, 'केअर' करने के काबिल है। यदि पीटना ही उसका अभिप्रेत होता तो 'ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी' से उसे क्या सहायता मिल रही थी क्योंकि वह तो विप्र रूप रखकर आया था? विप्र रूप का तुलसी हनुमान-विभीषण प्रसंग में भी उपयोग कर चुके हैं : **'बिप्र रूप धरि बचन सुनाये।'** इसलिए विप्र का रूप रखकर शूद्र की बात करने का कोई अर्थ नहीं। समुद्र स्वयं को राम के सामने एक ऐसे व्यक्ति की तरह पेश करता है जो विशेष अवधान के लायक है। विशेष खातिर तवज्जो के लायक। बच्चों की देखभाल करते रहना, यह भाव अवधी 'ताड़ियत रहियो' में है किन्तु संस्कृत ताड़ना में नहीं है। अवधी ताड़ना में एक चिंता, एक खयाल, एक अवेक्षा का भाव है। यह तुलसी की चित्तवृत्ति के अनुकूल भी है। उस चित्तवृत्ति के जिसने सीता, निषाद, हनुमान जैसे पात्रों के पुनर्सृजन में हृदय का पूरा सत्व उड़ेल दिया था।

●●●

तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई
सहि दुख कंद मूल फल खाई
जब लगि आवौं सीतहि देखी
होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी

हनुमान जी कहते हैं कि हे भाई! तुम लोग दुःख सहकर, कंदमूल फल खाकर तब तक मेरी राह देखना जब तक मैं सीताजी को देखकर न आऊँ। काम जरूर होगा क्योंकि मुझे बहुत ही हर्ष का अनुभव हो रहा है।

क्या वाणी को कर्म का समानुपाती नहीं होना चाहिए? सुंदरकांड को हम पहले ही कर्म-सौंदर्य का कांड कह चुके हैं। पता नहीं क्यों कर्मकांड शब्द एक तरह के नकारात्मक अभिप्राय में रूढ़ हो गया जबकि सुंदरकांड एक विधायी कर्म-कांड है। कर्म का अध्याय। तुलसी अपनी वाणी को भी इसका प्रमाण बनाते हैं। अपने प्रबंध काव्य की संरचना में उन्होंने जो प्रक्रम अपनाया था, उसमें यह था कि कांडों में श्लोकों के बाद 'आदि' में सोरठा या दोहा विश्रांति के लिए रखा जाए। हालांकि यह जरूर प्रश्न किया जा सकता है कि आरंभ में आराम की क्या जरूरत है। लेकिन तुलसी के जो संस्कृत श्लोक अध्यायों के आरंभ में आते हैं, वे दरअसल बीजमंत्र हैं, उनमें कथा-सार के इंगित हैं और जैसा कि हमने पहले देखा वे काफी अर्थ-संभरित हैं। इसलिए उनका वहन करते-करते गिरा को विश्राम देने की मानसकार की रूढ़ि स्वाभाविक है। बालकांड में 'जो सुमिरत सिधि होइ गन नायक करिबर बदन। करउ अनुग्रह सोइ बुद्धि रासि शुभ गुन सदन' नामक गणेश पूजक सोरठा आदि में है। अयोध्याकांड की शुरूआत में वह प्रसिद्ध दोहा है जिसे हनुमान चालीसा की शुरूआत में रखा गया: "श्रीगुरु चरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि/बरनउँ रघुबर बिमल जसु जो दायकु फल चारि"। अरण्यकांड 'उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति' नामक सोरठे से शुरू किया गया। किष्किन्धाकांड में भी सोरठा ही संस्कृत श्लोकों के बाद आता है: 'मुक्ति जन्म महि जानि ग्यान खानि अघ हानि कर'। लंकाकाण्ड में 'लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चंड' के दोहे से शुरूआत है और जिसमें परमाणु को श्रीराम के अस्त्र के रूप में वर्णित करने की बात मुझे चकित भी करती रही है। उत्तरकांड में 'रहा एक दिन अवधि कर अति आरत पुर लोग' वाले दोहे से आरंभ किया गया है। सिर्फ सुंदरकांड में दोहा या सोरठे का विश्रांत आरंभ न रखकर यह स्पष्ट किया गया है कि यह कांड असाधारण है। यह अध्याय कर्म के सातत्य का अध्याय ही नहीं है, यह अध्याय कर्म को एक अवधि के भीतर करने के पुरुषार्थ और संकल्प का भी अध्याय है। इसलिए बात 'तब लगि' और 'जब लगि' की हो रही है, 'ड्रीम विद अ डेडलाइन' है यह। इसलिए आरम्भ और श्रांति की औपचारिकताओं में पड़ना ही नहीं है। आगे कथाक्रम में दोहे-सोरठे आते रहेंगे, लेकिन शुरू से ही हनुमान यह साफ कर देंगे कि 'राम काजु कीन्हे बिनु मोहि कहाँ बिश्राम'। उसके पहले कथा-वर्णन के एक प्रोटोकॉल से डिपार्चर लेकर तुलसी शुरू में ही अपने इरादे जाहिर कर देते हैं कि गति की सघनता का काल आ पहुंचा है। गति की इस गहनता में सीधे ब्रासटैक्स पर आना होगा।

यह देखने के लिए तुलसी ने हनुमान के मुख से 'परिखेऊ' शब्द का इस्तेमाल किया है। यह इसलिए कि यह अब जितनी प्रतीक्षा है, उतनी परीक्षा है। 'मोहि परिखेहु' मेरी — हनुमान की — राह तकने की बात ही नहीं है, यह अनुमान का टेस्ट है। इन्तिज़ार इम्तिहान भी है। उनका भी जिनका किया जाता है, उनका भी जो करते हैं। हनुमान में कितनी कूवत है, यह परखा जाने का वक्त आ गया है। पानी को पार कर आग का एक खेल है, हनुमान का इन्तजार करता हुआ। वह हनुमान जो पिछले कई दिनों से शांत-सा पड़ा हुआ है। वह हनुमान जिसका बचपन इतना 'प्रामिसिंग' था लेकिन जो बाद में अपनी ही आंखों के सामने सुग्रीव को बाली द्वारा पीटते और खदेड़े जाते हुए देखता रहा और कुछ न कर सका। उस हनुमान के 'विभव' को चार्ज करने के लिए ही जैसे राम का विश्वास और जाम्बवान के वचन काम आते हैं। हनुमान की अंतःशक्ति भी अभिशप्त थी। उसे भी अपने स्वरूप की पुनर्स्मृति जरूरी थी। यह स्वरूप-संज्ञान अर्जुन के द्वारा गीता में भगवान कृष्ण के स्वरूप-संज्ञान से भिन्न है। यह यशोदा के द्वारा कृष्ण के स्वरूप-संज्ञान से भी अलहदा है और परशुराम के द्वारा राम के स्वरूप-संज्ञान से भी पृथक है। यहां हनुमान को अवतार के नहीं, स्वयं अपने स्वरूप का संज्ञान हो रहा है। हमारी दिक्कत जिन्दगी में यही नहीं है कि हम दूसरों की जिन्दगी के दिव्य मंतव्य को नहीं समझ पाते, हमारी दिक्कत यह भी है कि हम खुद अपनी जिन्दगी के मायने

नहीं पता कर पाते हैं। हममें से प्रायः हरेक का बचपन एक तरह की ईश्वरीय आशा को प्रतिबिम्बित करते हुए एक विराट प्रामिस का बचपन है जिसे हम लगातार सामाजीकृत और लगातार साधारणीकृत करते चलते हैं। हनुमान का भी एक कुल हो गया, लेकिन हनुमान का 'केवल' कहां गया? हनुमान भी एक समुदाय के सदस्य हो गए, लेकिन हनुमान की स्व-संबोधि कहां गई? वह क्या था जिसने हनुमान की अतिक्रांति को एक लंबे समय के लिए ठंडा कर दिया? क्या जितने समय हनुमान शांत थे, उतने समय उनके भीतर का वायु-वेग परिपक्व हो रहा था? कि जब वह एक नए दिशाबोध के साथ गतिमान हों तो इस संचित बल और धैर्य का विपुल ईंधन काम आए? गगनगामी हनुमान ही आकाशमार्ग से लंका पहुंचेंगे, जिनके पदन्यास से इतिहास के अचल शिलाखण्ड-बल्कि भूधर-भी पिघल जाएंगे। उनकी प्रतीक्षा के शुरू होते ही उनकी परीक्षा भी शुरू हो जाएगी। सबसे पहले तो देवता ही परखेंगे। कहीं जंग तो नहीं लग गई उस बाल-प्रतिभा को? इतनी दीर्घ शीतनिद्रा रही है कि एक पल को निष्क्रियता सी लगती है। साधारण मनुष्य हनुमान पर शक करे तो अपराध हो, स्वयं देवता पक्का कर लेना चाहते हैं। सब देख लें उन्हें, सब निरख-परख लें उन्हें। वे हर परीक्षा को प्रस्तुत हैं।

हनुमान यहाँ एक अवधि को निरवधि में परिवर्तित कर रहे हैं। निरवधि यानी अपार या जिसे संस्कृत में अकूपार भी कहा गया है। अकूपार यानी समुद्र। समुद्र-संतरण से पहले की एक अनिवार्य कार्रवाई। वानर-दल के मनोबल पर उस डेडलाइन का तनाव है, (**'मास दिवस महँ आएहु भाई'।** हे भाई महीने भर में वापस आ जाना) जो उनके राजा सुग्रीव ने तय की है। यह शब्दशः डेडलाइन है : अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाएँ/ आवइ बनिहि सो मोहि मराएँ : जो अवधि बिताकर बिना पता लगाये ही लौट आवेगा उसे मेरे द्वारा मरवाते ही बनेगा। (यानी मुझे उसका वध करवाना ही पड़ेगा)। यह सिर्फ समय का निर्धारण नहीं है, समय के भीतर एक तनाव का उत्पादन है। सुग्रीव "भाई" जरूर कह रहे हैं लेकिन समय-सीमा को सुनिश्चित कर एक राजन्य कार्यवाही भी कर रहे हैं। यह एक रचनात्मक तनाव का सृजन हैं। उनका 'भाई' शब्द एक कड़वी दवा पिलाने से पहले की युक्ति लगता है। मानो एक कठोर राजकीयता को नरमाई से मंडित किया जा रहा है। लेकिन जो थ्रेट इस डेडलाइन में है, ध्यान दें, तो भीतर रीढ़ तक सिहर जाएं। सुग्रीव के शब्दों में जो निरुपायता-सी है, वह जो एक निर्विकल्प-सा है, वह जिस हद तक ठंडा है, उस हद तक उसमें भीषण तनावों की सरगर्मी है। वहाँ जैसे कोई और रास्ता ही नहीं है। मार्ग ढूँढ़ों नहीं तो सारे मार्ग खत्म हो जायेंगे। वह कोई साधारण दफ्तरी टी.एल. नहीं है। टाइम लिमिट। वह तो समय के साथ सांसों का सौदा है। किष्किंधा कांड में वानरगण मन में विचार कर रहे हैं : इहां विचारहिं कपि मन माहीं/बीती अवधि काज कछु नाहीं : कि अवधि तो बीत गयी, पर काम कुछ नहीं हुआ। अंगद के नेत्रों में तो जल भी भर आता है। "दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी" : कि "दोनों ही प्रकार से हमारी मृत्यु हुई।" कि "उहाँ गएँ मारिहि कपिराई।" कि वह तो एक राजाज्ञा है। बात सुग्रीव की व्यक्तिगत नहीं है, वह 'कपिराई' (वानरराज) की आज्ञा है। राजाज्ञा। यह दुख है। यह टेंशन है। वह सीमा एक बिजली की तरह कौंधती है। वह सीमा एक कटार की तरह चुभती है। हम लोग आज के युग में भी डेडलाइनों के तनाव झेलते हैं। एक तरह के 'रश' में रहते हैं जो जिन्दगी के रस को सोखता चला जाता है। हमारा समय कनेक्शन का है। ई-मेल, मोबाइल, इंटरनेट, फोन-कॉल्स, मीटिंग, आंगतुक, अतिथि, हमारा तनाव उस कनेक्शन से पनपता है। वह 'मिस्ड काल', अनुत्तरित मेलों और एसएमएस का ढेर इकट्ठा होते रहने का तनाव है। सरदर्द के शुरूआती लक्षण, संक्षिप्त स्मृति-भ्रंश, फोकस में लैप्स, अनिद्रा-या उससे भी आगे बढ़कर एक तरह की मूर्छना (anaesthetization) और आत्म-विस्मृति सी। एक तरह का 24×7 वातावरण। आदमी की हर समय एक फैक्स उपस्थिति। साथ ही एक तरह का खोयापन। दूसरी ओर यह वानर-समुदाय है। इसके सामने 'डेडलाइन'

है, बहुवचन में नहीं, एकल। इसका दुख कनेक्शन से नहीं, उसकी गैरमौजूदगी से पनपा है। इस समय उनका साथ राम-लक्ष्मण, सुग्रीव किष्किन्धा सभी से छूट गया है। ये भी एक तरह की मूर्छना के शिकार हैं। डेडलाइन की डेडलीनेस के। भले ही यह दुख हमारी आजकल की जिन्दगी के तनावों और दुश्चिन्ताओं की तरह मल्टीलेयर्ड नहीं है, लेकिन है वह एक भारी दुःख। हमें आज अपनी जिन्दगी घड़ी के द्वारा निर्धारित और नियमित लगती है, लेकिन सुग्रीव के द्वारा भेजे गये वानर-दल भी टाइम-प्रेशर्ड थे। फ्रीडमैन, रोसेनमन एवं कैशेल (1958) के एक प्रयोग में, जो टैक्स लेखाकारों पर किया गया था, पाया गया कि डेडलाइन्स के दवाब में काम करने पर उनका सीरम कोलेस्टरोल बहुत बढ़ गया और ब्लड-क्लॉटिंग लेटेन्सी घट गई। एड्रीनलिन स्तर और रक्तचाप भी प्रभावित हुआ। हनुमान अपने साथियों की मनोभौतिकी को अच्छी तरह समझते हैं। समय-सीमा का तनाव समय के ही किसी भावी चमकीले बिन्दु पर अपने साथियों का ध्यान एकाग्र कर देने से निकलेगा, यह वे जानते हैं। उनकी शुरू से ही अपने साथियों की मनःस्थिति पर नजर है: 'मन हनुमान कीन्ह अनुमाना/मरन चहत सब बिनु जल पाना।' 'बोलि न सकहिं नयन बह नीरा।' समय के आयाम को वे एक सीमा नहीं, शक्ति बनाना चाहते हैं। इसलिए वे डेडलाइन को लाइफलाइन बना देते हैं। 'जब लगि' 'तब लगि' तात्विक रूप से अवधि की, सीमा की कैद आरोपित न करना है। हनुमान सुग्रीव के साथी रहे हैं। वे जानते हैं कि सुग्रीव की मुसीबतों की जड़ यही अवधि है। काश कि बालि कोई अवधि नहीं देता। काश कि बालि यह नहीं कहता कि "परिखेसु मोहि एक पखवारा/नहि आवौं तब जानेसु मारा।" किष्किंधा में बाद में हुए सारे उत्पातों की जड़ बालि का यही अवधि-निर्धारण था। बालि राक्षस का पीछा करते हुए गुफा में यह वाक्य बोलकर घुसा था और बाद में सुग्रीव ने जब उसे मृत मान लिया तो रिश्तों में भयानक खटास आ गई थी। डेडलाइन बीत जाने पर मुझे डेड मान लेना, यह कहा था बालि ने। हनुमान ने एक निष्पक्ष प्रेक्षक की तरह की अवधि-निर्धारण के विद्रूप को देखा था और इसलिए अब वे यह गलती नहीं दुहराना चाहते।

हनुमान उस ससीम को "तब लगि" और "जब लगि" के जरिए एक भविष्य दे देते हैं। एक अपार भविष्य। अवधि बीते हुए का पुनर्संग्रह (रिकलेक्शंस) नहीं रह जाती, वह भविष्य का दायित्व बन जाती है। वह पीछे देखने की यंत्रणा नहीं है, वह सामने और आगे देखने की बात हो जाती है। 'मास दिवस महँ आएहु भाई' के "भाई" को संतुलित करता है "तब लगि मोहि परिखेउ तुम्ह भाई"। इस भाई में बन्धुत्व है, उस भाई से तो मुम्बई के भाई याद आते। कविता में संबोधन भी साभिप्राय होता है। (गीता में जब भगवान कृष्ण ने 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' कहा तो वे अर्जुन को, भारत जिसका पर्याय है, सम्बोधित नहीं कर रहे थे, वे तो भारत नामक इस देश को सम्बोधित कर रहे थे। इस गीता नामक अद्भुत ग्रंथ में अर्जुन को कहीं कौन्तेय, कहीं धनंजय और कहीं पार्थ कहा गया है, लेकिन इस ग्रंथ का एक सावधान अध्ययन इस हिसाब से भी होना चाहिए कि कहां-कहां कृष्ण 'भारत' से मुखातिब होते हैं। यह गीता कहां-कहां भारत को प्रबोधन है। जब-जब भी धर्म की ग्लानि होगी तब-तब के लिए स्वयं भगवान द्वारा भारत को आश्वस्त किया गया है। इसी आश्वासन के चलते भयंकर से भयंकर मुसीबत के वक्त भी इस देश ने हिम्मत नहीं हारी। अर्जुन चले गये हैं, लेकिन यह देश रह गया है। अजर, अमर, अक्षय और अविनाशी। इसलिए सम्बोधन साभिप्राय होता है। खासकर कविता में सम्बोधन की अपनी वैज्ञानिकी है।) हनुमान अपने साथियों को आगे की ओर देखने को कहते हैं। डिज़रायली की तरह उन्हें भी विश्वास है : Everything comes if only a man will wait.

हनुमान अपने साथी-दल को जब प्रतीक्षा करने को कहते हैं तो मुझे जोसेफ कैंपबेल की वह पंक्ति याद आती है : We must be willing to get rid of the life we've planned, so as to have the life that

is waiting for us. एक जिन्दगी है जो हमारी प्रतीक्षा कर रही है। हमारी योजनाओं से कहीं आगे की जिन्दगी। हमारी नियत की गई सीमाओं से कहीं पार की, हमारी सोच से सिवा, हमारे अनुमान से आगे। ऐसा नहीं है कि हम ही इंतजार करते हैं। खुशी भी कहीं, वक्त के किसी मुकाम पर, हमारा इंतजार कर रही है। या हो सकता है कि उस मुकाम पर भी वह ठहरी न हो। वह भी हमारी ओर चल रही हो। यदि हम जिन्दगी को स्वीकार करें तो एक न एक दिन वह प्रतीक्षा भी सफल होगी। जूल्स रेनार्ड का कहना है : Everything you want is out there waiting for you to ask. Everything you want also wants you. अतः वानर दल की प्रतीक्षा हनुमान के लौटने की प्रतीक्षा ही नहीं है। यह वह प्रतीक्षा है जिसके पूरे होने पर जीवन फिर वैसा नहीं रह जायेगा। उसमें एक तरह का आयामी बदलाव आ जायेगा। प्रतीक्षा आलस्य नहीं है। प्रतीक्षा धैर्य है। एंथनी मार्तुची की कविता याद आती है : "As the mind waits, listens and wanders/Looming in the shadows in the twilight of the day/With closed eyes and no words to say." यही स्थिति वानर-दल की भी है। वे इंतजार करेंगे। शायद इस कविता की तरह ही उनका इंतजार भी निःशब्द होगा। बाद में फलवती हुई यही प्रतीक्षा उनमें प्राण-संचार करेगी। नूतन जन्म कपिन्ह तब जाना। हनुमान अपने साथियों की प्रतीक्षाजन्य क्लान्ति की संभाव्यता को भी जानते हैं। कैसे हर दिन उनके आसपास गोधूलि छायाएँ लम्बी होती जायेंगी। कैसे कई बार वे विषण्णता में पलकें मूंद लेंगे। कैसे कई बार उनके पास कोई शब्द नहीं रह जायेंगे। वह दुःख उन्हें सहन करना होगा। कुमार अंबुज की एक कविता की शुरूआती पंक्तियां हैं : "इंतज़ार करते हुए हम सबसे अलग होते जाते हैं/पहुंचते हैं भविष्य के सुंदर दृश्यों में/ लुढ़कते हैं वर्तमान की तीखी ढलानों से/और पहुँचते हैं ऐसी शांत घाटी में/जो सबसे ज्यादा अशान्त करती है हमें/किसी का इंतजार करते हुए एक बोझिल बेचैनी हमारे आसपास/एक अदृष्ट पक्षी, जैसे गरुड़, की तरह मंडराती है।" वानरदल के साथ यह एक बोझिल बेचैनी तब तक रहेगी जब तक हनुमान लौट नहीं आते।

जैक लंडन कहीं लिखता है : You can't wait for inspiration/You have to go after it with a club. हनुमान अक्षरशः यही कर रहे हैं। गदा लेकर वे चल देते हैं। वे इंतजार नहीं करते। जो करते हैं, उनके लिए भी वे प्रतीक्षा शब्द का इस्तेमाल नहीं करके, परीक्षा शब्द का इस्तेमाल करते हैं। स्वयं हनुमान की परीक्षा। वानर-दल की प्रतीक्षा-अवधि वस्तुतः हनुमान की परीक्षा-अवधि है। इसलिये हनुमान कहते हैं कि तब तक मुझे, हे बंधुगण, परखना - तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई - हनुमान के लिये एक निकष तैयार हुआ है। हनुमान के लिये एक कसौटी निर्मित हुई है। उस हनुमान के लिए जिन्होंने सिंहनाद करके कहा था : मैं इस खारे समुद्र को खेल में ही लांघ सकता हूँ और सहायकों सहित रावण को मारकर त्रिकूट पर्वत को उखाड़कर यहाँ ला सकता हूँ : "सिंहनाद करि बारहिं बारा/लीलहिं नाघऊँ जलनिधि खारा/सहित सहाय रावनहि मारी/आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी।" क्या वह हनुमान की गर्वोक्ति थी? क्या हनुमान का दंभ उसमें झलकता था? क्या हनुमान गाल बजाने वालों में से हैं? क्या हनुमान अपने मुँह मियां मिट्ठू बन रहे हैं? ठीक है कि जाम्बवान की शिक्षा के अनुसार हनुमान जी का काम अत्यन्त सीमित हो गया है : 'एतना करहु तात तुम्ह जाई/सीतहि देखि कहहु सुधि आई।' उन्हें सिर्फ सीताजी को देखकर लौट आना है और उनकी खबर कह सुनानी है। लेकिन जो बड़े बोल वे बोल चुके हैं, उनका क्या? सुंदरकांड का घटनाक्रम सिद्ध करता है कि वह कोई दर्पोक्ति नहीं थी। वह "एतना करहु" भी हनुमान की बहुत परीक्षाएँ लेता है। शास्त्र कहते हैं : "तस्मादुक्तं परीक्षयेत्"- कहे हुये की परीक्षा करनी चाहिये। हनुमान खुद को परीक्षा के लिये प्रस्तुत करते हैं।

सुंदरकांड हनुमान की परीक्षा का कांड है। पहले ही दोहे के बाद यह परीक्षा शुरू हो जाती है। "जात पवनसुत देवन्ह देखा/जानैं कहुँ बल बुद्धि बिसेषा।"

देवताओं ने पवनपुत्र को जाते हुये देखा, उनकी विशेष बल बुद्धि को परखना चाहा। सुरसा इस परीक्षा में हनुमान को दूसरे दोहे से पहले ही उत्तीर्ण घोषित करती है : "मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा/बुधि बल मरमु तोर मैं पावा।" उसके बाद तो कदम-कदम पर हनुमान परखे जायेंगे। हर बाजी मौत की बाजी है। अंग्रेजी में एक्ज़ामिनेशन शब्द का अर्थ परीक्षा है और एक्ज़ानिमेशन शब्द का अर्थ मृत्यु है। चाहे 'निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई' हो या चाहे 'जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा' - एक के बाद एक इम्तहान आते जायेंगे हनुमान को आजमाने के लिये।

हनुमान की विशेषता भी यही है। वे इन सब कंटकों और संकटों को एक तरह के परीक्षा-भाव से लेते हैं। जैसे ये भी एक टेस्ट है उनका। बचपन में उन्होंने बहुत पढ़ाई की है। बहुत परीक्षाएँ भी दी होंगी। अस्वाभाविक नहीं कि उनका यह मनोविज्ञान ही बन गया हो। पढ़ने वाले बच्चों के साथ अक्सर ऐसा ही होता है। वे मुसीबतों को एक मौका मानने लगते हैं। खुद का प्रावीण्य सिद्ध करने का अवसर। जो कल तक स्लेट पेंसिल पर था, जो कल तक कागज कापी पर था - वह अब सहसा पूरे जीवन के कैनवस पर फैल जाता है। सही विद्यार्जन वही है जो जिन्दगी के इम्तहान में हमें फ्लाइंग कलर्स के साथ दिख पड़ने योग्य बनाये। पवनपुत्र फ्लाइंग हैं हीं। उनका ज्ञानार्जन किताबी नहीं था। वह जिन्दगी की चुनौतियों के लिये उनमें सामर्थ्य का विकास करता था। हनुमान को हर परीक्षा उत्तीर्ण करने का आत्मविश्वास आ गया था : खोटा खरा परखिये, दादू कसि कसि लेई/साँचा है सो राखिये, झूठा रहण न देई।

हनुमान की परीक्षा कोई मातृ-भाव से लेगा, कोई शत्रु-भाव से लेगा। यहाँ हनुमान वानर-दल को बंधु-भाव से अपने इस बंधु हनुमान को परखने के लिये कह रहे हैं। जीवन के हर रिश्ते में परीक्षा है। कई बार हमें लगता है कि रिश्ता तो वह है कि जहाँ परखे जाने का तनाव न हो, जहाँ हम खुद को खोल सकें, जहाँ हमें हर कदम पर आंका न जा रहा हो। लेकिन रिश्ता क्या - धीरज धर्म मित्र अरु नारी/आपद काल परखिअहिं चारी - धैर्य, धर्म, मित्र और स्त्री तक की भी परख होती है। बंधु भी हों, भाई हों - लेकिन परखने की इस नियति से सुरक्षा नहीं है और हनुमान इतने कमजोर स्नायुओं के नहीं बने हैं कि वे परख से भाई होने के आधार पर उन्मुक्ति (exemption) माँगें। संबंध इन दिनों तो परीक्षा के विरुद्ध एक कवच की तरह इस्तेमाल होते हैं। लोग परीक्षाओं में, प्रतियोगी परीक्षाओं में, रिश्तों की जोड़-तोड़ भिड़ाते हैं। एक तरह का भाई भतीजावाद चलता है। लेकिन हनुमान अपने भाइयों से कहते हैं - तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई। 'भाई' होकर एक परीक्षा मुन्नाभाई एम.बी.बी.एस. के अंदाज में भी दी जा सकती है। लेकिन हनुमान बन्धुत्व के एक बहुत ही उच्चादर्श को निबाहते हैं।

इस बिंदु पर जहाँ हनुमान थोड़े अंतराल के लिये अपने भाइयों से बिछड़ रहे हैं, प्रतीक्षा परीक्षा में ग्रेजुएट हो जाती है। यहाँ अंगद, जाम्बवान सहित सारे वानरदल के धैर्य की परख भी होनी है। अभी कुछ देर पहले यही वानर-बंधु अधीर और उद्विग्न हो गये थे। अस कहि लवन सिंधु तट जाई/बैठे कपि सब दर्भ डसाई। लवण सागर के तट पर कुश बिछाकर बैठे हुये सब बानर। (वैसे यह लवणसागर क्या था? 'डेड सी' जहाँ लवण ही लवण बचा है? डेड सी का उल्लेख है भी बहुत पुराना। बाइबल में भी अब्राहम (ब्रह्मा?) के समय से उसका वर्णन मिलता है। महासागरों से 8.6 गुना ज्यादा खास दुनिया का सबसे गहरा हाइपरसेलाइन क्षेत्र जिसमें 33.7 लवणता है। प्रागैतिहासिककाल से यह अस्तित्व में है।) उनका धैर्य चुक रहा था। इसलिये हनुमान इस तरह से बोलते हैं कि वानरदल की प्रतीक्षा उनके धैर्य-धन की परीक्षा में परिणत हो जाती है। सम्पाती भी तो सुंदरकांड से किंचित् देर पहले किष्किंधाकांड के लगभग अंतिम चरण में वानर-दल से यही कहता है - मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा। मुझे देखकर मन में धैर्य धरो। अंगद उसके पहले कह ही रहे थे : 'मरन भयउ कछु संसय नाहीं।' अब मरे। इसलिये हनुमान यदि किसी प्रतीक्षा का संकेत देते हैं तो वह धैर्यधारण का ही संकेत है।

अभिनंद ने अपने रामचरित (3/35) में यही तो कहा : "सर्वस्वभूत विसृजन्ति वासकार्यातिपपिनधैर्यमार्याः" कि धीर पुरुष कार्य सिद्धि में विलंब होने पर भी अपने सर्वस्वभूत धैर्य को नहीं छोड़ते। जिसे अंगद एक अन्त की तरह देख रहा था, हनुमान उसे एक नई शुरूआत की तरह देखने का कह रहे हैं। अतीत कितना ही कड़ा रहा हो, लेकिन हम हमेशा नये रूप में चीजों का आरम्भ कर सकते हैं। तुलसी सुंदरकांड में जैसे प्रारंभिक चौपाइयों में हमें यही अनुभव कराते हैं। एक ऐसे समाज में जहां इंस्टैंट कॉफी ही नहीं, कैमरे भी हैं, जहां पैकेज्ड केक हैं और फ्रोजन डिनर, वहां धैर्य का यह पुरातन-सनातन आह्वान एक नया महत्व प्राप्त कर लेता है।

हनुमान जानते हैं कि केवल उनका समुद्र-संतरण के लिये प्रयाण भी विभाजन की किसी लकीर की पूर्व-भूमिका नहीं बनना चाहिये। वे मिल्टन के सानेट की उस पंक्ति की भावना का एहतराम करते हैं : They also serve who only stand and wait. कि जो केवल खड़े रहते हैं तथा प्रतीक्षा करते हैं, वे भी सेवा करते हैं। वाल्मीकि रामायण में जाम्बवान यही तो कहते हैं : स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमनं तवः कि तुम्हारे आने तक हम सब एक पैर से खड़े रहेंगे। इसलिये हनुमान जब भाई कहते हैं तो वे यह भी संकेत देते हैं कि टीम स्पिरिट को अखंडित रखने के लिये वे सचेत हैं। किष्किंधा के सामूहिक प्रयाण से अब सुंदरकांड में हनुमान का इंडीवीजुअल ब्रिलिअंस दीख पड़ता है। लेकिन हनुमान 'भाई' शब्द का प्रयोग कर यह कह रहे हैं कि नेतृत्व भी एक रिलेशनशिप है। हनुमान एक वैयक्तिक दृष्टान्त स्थापित करने जा रहे हैं लेकिन जाने से पहले 'भाई' कहकर वे एक कॉमन परपस और शेयर्ड विज़न की भी सच्चाई को स्थापित कर जाते हैं। मलयज के एक कविता संग्रह का शीर्षक है : "अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ।" हनुमान अभी तक ऐसा ही करते रहे हैं। वे अपने को मिटाते रहे हैं, लेकिन अब जब उनकी प्रतिभा का सूर्य छुपाए नहीं छुपेगा, वे 'भाई' कहकर अपनी निजता को फिर ओझल करना चाहते हैं।

क्या दुख सहने में कंद मूल फल खाने की कोई भूमिका है? क्या डिप्रेशन और डाइट में कोई रिश्ता है? कि अवसाद में व्यक्ति ज्यादा खाता है? क्या रूट्स की कोई स्वास्थ्यदायी भूमिका है? व्रतों में रूट्स और फ्रूट्स से ही क्यों काम चलाया जाता है? क्या जितनी देर तक हनुमान लौटकर नहीं आते, उतनी देर तक वानर किसी व्रत पर हैं? क्या हनुमान का प्रवास वानरों का उपवास है? यह दुख सहने में 'डाइट' की विशेष चर्चा हनुमान जी क्यों कर रहे हैं? दुख तो एक मानसिक अनुभूति है, लेकिन उसकी क्या कोई फिज़ियोलॉजिकल या बॉटनिकल थिरेपी है? कंदमूल वस्तुतः भंडारण अंग (Storage organs) हैं, उनमें ऊर्जा (इनर्जी) का संग्रहण होता है। स्टार्च या कार्बोहाइट्रेट की शक्ल में। इतने दिनों के भावी-संभावी इन्तजार में वानरों को करना भी शक्ति संकलन ही है। एक उत्तर तो यह है कि हनुमान ने वानरों का वह अनशन खत्म किया जिसके तहत वे "अस कहि लवन सिंधु तट जाई/बैठे कपि सब दर्भ डसाई" की प्रायोपवेशन मुद्रा में आ गये थे। वाल्मीकि रामायण में इस प्रसंग में कहा गया थाः "परिवार्याङ्गदं सर्वेव्यवसन्प्राथमासितुम्/तद्वाक्यं बालिपुत्रस्य विज्ञायरलवगर्षभाः/उपस्पृश्योदकं सर्वे प्राङ्मुखाः समुपाविशन्/दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु उदक्तीरं समाश्रिताः" अर्थात् अंगदजी को चारों ओर से घेरकर वे सब प्रायोपवेशन के लिये प्रस्तुत हो गये। अंगदजी के वचन समझकर वे सब वानर जल का आचमन कर पूर्वमुख करके बैठ गये। समुद्र के उत्तर तट पर जाकर दक्षिणाग्रमुख बिछाये हुये कुश पर वे बैठ गये। "समुद्र तीर्थपति है, उसके तट पर कुश पर बैठकर प्राण त्यागना श्रेष्ठ है", ऐसा मानकर बैठे हुये वानरों को अब हनुमान "सहि दुख कंद मूल फल खाई" के लिये सहमत कर लेते हैं। वे प्रायोपवेशन व्रत छुड़ा देते हैं। तो एक तर्क व्रत के समाप्त होने का है। दूसरा तर्क एक व्रत के शुरू होने का। दुख तो सहना ही है क्योंकि जब तक हनुमान लौटकर सीता को देखने का समाचार नहीं देते तब तक खिन्नता, अधीरता, अवसाद,

उद्विग्नता, बेचैनी, तनाव, स्ट्रेस सब बना ही रहेगा। इसलिये हनुमान यह नहीं कर रहे कि गुड बाई। वे जानते हैं कि 'गुड' तो तभी संभव होगा जब वे सुसमाचार लेकर वापस आयेंगे। इसलिये वे औपचारिकता के लिये भी पार्टिंग वर्ड्स (विदाई वचनों) में 'मस्त रहने' की बात नहीं करते कि खुश रहो अहले-वतन हम तो सफर करते हैं। सफर तो उनका शुरू हो रहा है, लेकिन अहले-वतन की वास्तविकता से वे भली प्रकार परिचित हैं। वे उनके 'खुश रहो' कहने से खुश नहीं होंगे। वे तो सिर्फ उनकी लक्ष्य-सिद्धि से ही खुश होंगे। हनुमान का जोर सहने पर है : "जैसी परै सो सहि रहे, कहि रहीम यह देह/धरती ही पर परत है, सीत घाम और मेह।" हनुमान को अपने साथियों से फिलवक्त यही एक आशा है : सहने की क्षमता की। तेलुगु कवि आदिभट्ल नारायणदासु का कहना है कि "ओर्चिन नीकु लोटोदवदेन्नटिकिन्" - यदि तुममें सहनशक्ति हो तो तुम्हें किसी बात की कमी नहीं होती। हनुमान इसी सहनशक्ति पर बल दे रहे हैं। हनुमान दुःख की उदात्तता और शोधक शक्ति से परिचित हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने दुःख पर लिखे अपने एक निबंध में कहा है : "विश्वजगत् में जैसे तेजः पदार्थ हैं, वैसे ही मनुष्य के चित्त में दुख है। वही आलोक है, वही ताप है, वही गति है, वही प्राण है, वही चक्रपथ से घूम-घूमकर मानव समाज में नये-नये कर्मलोक और सौंदर्यलोक की सृष्टि कर रहा है। दुःख के इस ताप ने ही कहीं प्रकट होकर तो कहीं प्रच्छन्न रहकर मानव-संसार के सम्पूर्ण वायु-प्रवाह को गतिवान कर रखा है। दुःख के सिवा और किसी उपाय से हम अपनी शक्ति को नहीं जान सकते और अपनी शक्ति को जितना ही कम करके जानेंगे, आत्मा का गौरव भी उतना ही कम करके समझेंगे और हमारा यथार्थ आनंद भी उतना ही अगंभीर रह जायेगा।" इसलिए दुख की वास्तविकता को हनुमान भुलाते नहीं हैं। वे सिर्फ उसे सहन करते जाने की अपील करते हैं। अशोक वाजपेयी की एक कविता है : 'उम्मीद जब कभी निकलती है घर से/दुख से कहकर जाती है कि वह जल्दी उसी के पास/वापस आयेगी/इससे हमेशा उम्मीद को दुख पर भरोसा है/वही घर की देखभाल करता है जब उम्मीद चली जाती है/पता नहीं कहां और कितनी देर के लिये।' यहां हनुमान उम्मीद हैं और वानर दल जैसे दुख का विग्रह।

हनुमान कहते हैं कि जब तक मैं सीता को देखकर नहीं आता, तब तक मेरी राह तकना। मुझे लगता है काम हो जाएगा क्योंकि मुझे विशेष हर्ष का अनुभव हो रहा है। हनुमान एक सकारात्मक सोच के व्यक्ति हैं। वे बादलों का काला पहलू नहीं देखते बल्कि जैसा कि अभी पहले दोहे तक की चौपाइयों से पता चलेगा, वे तो बादलों पर चलते हैं। हनुमान भविष्य के बारे में "नास्टेल्जिक" हुए जा रहे हैं। काम होगा- यह विश्वास उनके भीतर की उस चिड़िया का गीत है जो भोर होने से पहले ही गाने लगती है। उसके गाने से सबेरा नहीं होता लेकिन उसका गाना इस बात का संकेत है कि सबेरा होने वाला है। विश्वास तथ्य का रचयिता प्रतीत होने लगता है। जो देखना चाहता है, फूल उसके लिए खिलेंगे ही। घटनाक्रम आगे सिद्ध करेगा कि हनुमान इन वानरों के लिए मूर्तिमान बसंत बन जाएंगे। मुरझाए चेहरे फूलों से खिल जाएंगे। जब हनुमान कहते हैं कि काम होगा तो वह उनका कान्फीडेंस ही नहीं है, वह उनका फेथ भी है। इसी बिन्दु पर जब हम "होइहि काज" की बात कर रहे हैं तो हमें यही भी ध्यान रखना होगा कि हनुमान के स्वयं के फेथ की तो जितनी बात है, उतनी तो है ही -उससे भी बड़ी बात यह है कि स्वयं भगवान राम को उन्हीं पर फेथ है : "पाछें पवन-तनय सिरू नावा/जानि काज प्रभु निकट बोलावा" — दोनों जगह "काज" शब्द का प्रयोग विशेष सार्थक है। रामाज्ञा प्रश्नावली में कहा गया है "जान सिरोमनि जानि जिय, कपि बल बुद्धि निधान। दीन्हि मुद्रिका मुदित प्रभु, पाइ मुदित हनुमान।" हनुमान के "हरष विसेषी" का इस "पाइ मुदित हनुमान" से उत्तर मिलता है। अध्यात्म रामायण में (4/6/29) भी भगवान राम हनुमान को मुद्रिका देते हुए यही कहते हैं कि हे कपिश्रेष्ठ! इस कार्य

में केवल तुम्हीं समर्थ हो। मैं तुम्हारा समस्त पराक्रम भलीभांति जानता हूँ। अच्छा जाओ, तुम्हारा मार्ग कल्याणकारक होः अस्मित कार्य प्रमाण कि त्वमेव कपिसत्तम/जानामि सत्वं ते सर्व गच्छ पन्थाः शुभस्तव हनुमान की सकारात्मता विचारों की एडिटिंग से, उनके सम्पादन से नहीं आती। वह सहज है। हनुमान विश्वास की सीमातिक्रांति करते हैं। एक बिलीफ बैरियर को तोड़ते हैं। रोजर बैनिस्टर सिंड्रोम को। [मानवीय अस्तित्व की कितनी शताब्दियों तक यह माना जाता रहा कि एक मील की दूरी चार मिनट से कम समय में तय नहीं हो सकती है। 1954 में रोजर बैनिस्टर ने यह दूरी इससे कम समय में पूरी कर दिखायी। एक साल के भीतर भीतर 37 अन्य धावकों ने और अगले साल 300 से ज्यादा धावकों ने।] हनुमान विश्वास की सरहद के उस पार हैं जहां उन्हें लगता है कि यह कार्य किया जा सकता है। 'काम होगा' में जो विधायी भाव है, उसके विधायी प्रभाव भी हैं। एक बार यदि यह विश्वास जम जाए कि कोई कार्य होने की जद में है तो वह कार्य हो भी जाता है। एक बार हनुमान के हृदय में यह श्रद्धा भाव आ गया कि काम संपन्न होगा ही कि उनके भीतर वैसी ही अग्नि प्रज्वलित हो उठती है जैसे विमान प्रस्थान से पूर्व उसके भीतर का ईंधन। हनुमान चल पड़ते है, निकल पड़ते है। ऋग्वेद (10/151/1) में उचित ही कहा गया था कि "श्रद्धयाग्नि : समिध्यते" कि श्रद्धा से अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है। यह विश्वास- "होइहि काजु" का विश्वास-हनुमान का प्रस्थान-बिन्दु बन जाता है। यह एक आग पैदा कर देता है भीतर। बृहदारण्यक उपनिषद् इसीलिए कहता है- श्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितः श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है ऋग्वेद (10/151/5) में इसलिए ऋषि की प्रार्थना है- श्रद्धे श्रद्धापयेह न :- हे श्रद्धा। हमें इस विश्व में अथवा कर्म में श्रद्धावान कर। श्रद्धा पाजीटिव थिंकिंग है। उसके बिना सफलता नहीं मिलती। स्वयं तुलसी रामचरितमानस में अन्यत्र कहते हैं : "कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।" और यह विश्वास करना साधारण बात नहीं है। जब साथियों में संशय पैदा हो गया हो, जब प्रायोपवेशन की स्थिति आ गई हो, तब हनुमान जिस तरह से "कार्य होगा" का दृढ़ विश्वास प्रकट करते है, उसे देखकर टी.एस. इलियट की पंक्ति याद आती हैः- It takes application and a kind of genius to believe anything. (द एनिमी, जनवरी 1927) कि किसी बात पर विश्वास करने के लिए अध्यवसाय और एक विशिष्ट प्रकार की प्रतिभा आवश्यक है। हनुमान उसी प्रतिभा से संपन्न हैं।

एक बांग्ला कविता में हनुमान इसका श्रेय भगवान राम को देते हैः आभार कि फलेर अभाव/पेयेधि जे फल, जनम सफल। मोक्षफिलेर वृक्ष राम हृदये/श्री रामकल्पतरुभूले बसे रई। जखत जे फल वांछा, सेई फल प्राप्त हई- कि मुझे क्या फल की कमी है? मुझे जो फल प्राप्त है, उससे मेरा जन्म सफल हो गया है। मोक्ष-फल के वृक्ष भी राम मेरे हृदय में है। मैं श्रीराम रूपी कल्पवृक्ष के मूल में बैठा हूँ जब जिस फल की इच्छा होती है वह फल मुझे उसी समय प्राप्त हो जाता है।" हनुमान को विशेष हर्ष भी शायद इसी कारण हो कि भगवान राम ने जिस कारण उनको विशिष्ट रूप से व्यवहृत किया था- सिर्फ उन्हें ही मुद्रिका देना, सिर्फ उन्हें ही सीता को संदेश के लिए कहना-अब उसके होने का वक्त आ गया। ट्रस्ट विद डेस्टिनी का वक्त।

हनुमान एक विशेष हर्ष की बात करते हैं, एक स्पेशल ज्वॉय की। कार्य सिद्धि पर जो हर्ष होता है वह तो होता ही है। कार्यारंभ पर यह एक विशेष प्रसन्नता का अनुभव कार्य-सिद्धि का सूचक ज्योतिषशास्त्र में माना जाता है। अंगिराऋषि कहते है : ऊषा प्रशस्यते गर्गः शकुनं च बृहस्पतिः। अङ्गिरा मन उत्साहो विप्रवाक्यं जर्नादन- कि जिस समय मन में उत्साह हो, उसी समय चल देने से कार्य सिद्ध होगा। मन में प्रमोद की यह बात वाल्मीकि ने भी लिखी है : "बुद्धया चाहं प्रपश्यामि मनश्चेष्टा च मे तथा/अहं दक्ष्यामि वैदेही प्रमोदध्वं प्लवङ्गमा" (4/67/26) हनुमान जी ने कहा है कि मैं बुद्धि से देख रहा हूं और वैसा ही मेरे मन में उत्साह

है कि मैं जानकी जी को देखूंगा। वानरों! प्रसन्न होओ। इसी कारण शास्त्रों में "उत्साहरंभमात्रेण जायन्ते सर्वसम्पदः" कहा गया कि उत्साह के आरंभ मात्र से ही सब संपदाएं उत्पन्न होती है, वाल्मीकि सुंदरकांड (12/10) में यही कहते है : अनिर्वेद : श्रियो मूलमनिर्वेदः परं सुखम्- कि उत्साह ही श्री का मूल कारण है। उत्साह ही परमसुख है। वाल्मीकि इसी क्रम में ये भी कहते हैं कि "अनिर्वेदो हि सतत सर्वाथैषु प्रर्वतकः" कि उत्साह ही प्राणियों को सब कामों में सदा प्रवृत्त करता है। हनुमान का प्रवर्तक भी यही "हरष विसेषी" है जो शायद "रामकृपा भा काज विसेषी" के कारण है। कार्य विशिष्ट है तो हर्ष भी विशिष्ट है। हनुमान किसी तरह के 'आशावादी' नहीं है वे यह नहीं कहते कि मुझे आशा है कि काम होगा। वे प्लेनस्पीकिंग करते हैं कि काम होगा। आप उसे 'आउटकम एक्सपेक्टेन्सी' कहेंगे या भविष्यकथन ? यह उनके भीतर एक खुशी सी क्या है? वह आगे की ओर देखने से पैदा हुई है। रवीन्द्रनाथ टैगोर की एक प्रसिद्ध कविता है : "थेके थेके पिछन पाने चास ने बारे बारे/नेई - ये रे भय त्रिभुवने, भय शुधु तोर निजेर मने/अभय-चरण शरण करे, बाहिर हये जारे" यानी रह रह कर पीछे की ओर बार-बार न देख/अरे, त्रिभुवन में कहीं भी भय नहीं है, भय है केवल तेरे अपने मन में/अभय-चरण की शरण ग्रहण कर बाहर चला जा।' हनुमान पीछे न देखकर भविष्य में देख रहे हैं। उनके मन में भय नहीं, हर्ष है। राम तो उनके मूल प्रेरक हैं ही। तब वे बाहर निकलने को प्रस्तुत हैं ही। हनुमान 'काम होगा' की घोषणा किसी 'डिविनेशन' के तहत नहीं करते, किसी होराशास्त्र या हथेली/माथे की रेखाएं पढ़ने के आधार पर नहीं करते बल्कि वे अपने 'विशेष हर्ष' के प्रमाण पर करते है। पुराने रोमों में आगर्स लोग चिड़ियों की उड़ान के आधार पर शगुन (omen) व्याख्या करते थे। यहां पवनपुत्र अपने मन की फ्लाइट के आधार पर यह कह रहे हैं। मन की यह फ्लाइट कुछ देर में खुद पवनपुत्र की फ्लाइट मे ंअनूदित हो जाने वाली है। हनुमान का मुहूर्त विचार वस्तुतः उनका मन विचार है। वे नक्षत्रों की ओर नहीं देखते, वे कार्टोमेंसी (ताश के पत्तों के आधार पर भविष्यवाणी) की ओर प्रवृत्त नहीं होते। वे मन की शुद्ध सात्विक प्रेरणा के आधार पर ही लक्ष्य-सिद्धि के बारे में आश्वस्त रहते हैं। 'हिन्दू समाज के पथभ्रष्टक तुलसीदास' पुस्तक के लेखक ने तुलसीदास पर अंधविश्वास भड़काने के आरोप लगाए थे, लेकिन यहां देखिए कि हनुमान किसी तरह के ग्रहशास्त्र को, टोनहाई को, बिब्लिओमैंसी को, अंकशास्त्र को, वास्तु को या फेंगशुई को प्रमाण के रूप में क्यों नहीं वरतते? क्यों वे मन की विशिष्ट उमंग के आधार पर ही लक्ष्य प्राप्ति की अभिनिश्चिति समझते हैं? हनुमान की भीतरी प्रेरणाएं ही अनुप्राणक का काम करती है, ऊर्जायक का। मायूसी और पस्ती की परिस्थितियों पर हनुमान मनःस्थिति की विजय दर्ज करते है। यजुर्वेद में संभवतः इसीलिए मन को प्रजापति और विश्वकर्मा कहा गया था। (प्रजापति विश्वकर्मा मनो गंधर्वः)। शौनकीयनीतिसार में इसलिए कहा गयाः 'तन्मंगलं यत्र मनः प्रसन्नम'- जहां मन प्रसन्न है, वहीं मंगल है। मंगल के दिन पूजे जाने वाले मंगलमूरत मारुतनंदन हनुमान मनस्वी हैं, मनीषी हैं, इसीलिए मन में उठे हर्ष से पूर्वानुमान करते हैं।

यह कहि नाइ सबन्हि कहँ माथा
चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा
सिन्धु तीर एक भूधर सुंदर
कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर
बार-बार रघुबीर सँभारी
तरकेउ पवनतनय बल भारी

श्री हनुमानजी ऐसा कह सबको सिर नवा हर्षित होकर और श्रीराम को हृदय में धारण करके चले। समुद्र के किनारे एक सुंदर पहाड़ था। श्री हनुमानजी खेल-खेल में उसके ऊपर चढ़ गए। भगवान श्रीराम का बारम्बार स्मरण करते हुये अत्यन्त बलशाली हनुमान उछले।

एंड्रू जे. होम्स ने wisdom in small doses में एक महत्वपूर्ण बात लिखी है- It is well to remember that the entire population of the universe, with one trifling exception, is composed of others कि यह याद करना अच्छा होता है कि खगोल की सारी जनसंख्या, एक छोटे से अपवाद के अलावा, दूसरों से ही बनी है। इसलिए हनुमान **सभी को** माथा झुकाकर प्रणाम करते हैं। सभी को ये शब्द महत्वपूर्ण हैं। यह प्रणाम अखिल को प्रणाम है। यह प्रणाम सर्वमिदं को है। यह माथा झुकाना सिर्फ बड़ों के लिये नहीं है। यह प्रणति सिर्फ अंगद जैसे दल नायक के प्रति नहीं है कि जो पद में सीनियर है। यह विनय सिर्फ जाम्बवान जैसे लोगों के लिये नहीं है कि जो उम्र में वरिष्ठ है। यह नमन तो सबको है। यह सिर्फ अर्हन्तों को, सिद्धों को, आचार्यों को, उपाध्यायों को और सभी साधुओं को नमस्कार नहीं है। यह माथा झुकाना 'चयन' पर आधारित नहीं है। यह वैसा ही है जैसा ऋग्वेद में (1/2713) है : 'नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नमो आशिनेम्य' कि हम बड़े विद्वानों, कम गुण वालों, युवकों और वृद्धों को नमस्कार करते हैं। यह यजुर्वेद (16/32) की तरह 'नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः' है कि बड़ों को नमस्कार है और छोटों को नमस्कार है। यह स्कंद पुराण की तरह का नमस्कार है : 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं परमात्मस्वरूपकम/स्थावरं जंगमं चैव प्रणमामि जगन्मयं' कि ब्रह्म से स्तम्ब (तृण) तक परमात्मस्वरूप हैं। जगद्रूप अचर और चर **सभी को** मैं प्रणाम करता हूं।

हनुमान का यह नमन बाहर को देखकर नहीं है, यह भीतर से है। यह हमारे मौलिक सांस्कृतिक भाव का नमस्कार है। सामने कौन खड़ा है, इसको नापकर नहीं है बल्कि अंतर्तम के कोने तक धन्यता के एक भाव से भर जाने पर है। यह पद रंजन नहीं है, यह पद-चर्या नहीं है, ओहदे का अभिनंदन नहीं है। यह डेजिग्नेशन देखकर धोक देना नहीं है। हनुमान का माथा नवाना उनकी ताबेदारी का अंग नहीं है। वे मनसब देखकर मान देने वालों में से नहीं हैं। वे यह नहीं देखेंगे कि यह कमीशंड आफिसर है तो इसे कोर्निश किया जा सकता है। वे यह नहीं सोचेंगे कि यह राजपत्रित अधिकारी है। इसलिए इसकी पायबोसी कर लो। पद के आधार पर पादवंदन। कुरसी को कर्टसी दिखाना तो सरल है। दंडाधिकारी के सामने दंडवत होना तो आसान है। लेकिन हनुमान उनमें से नहीं हैं। वे नमन का निर्वाचन नहीं करते।

हनुमान वय के आधार पर विनमन का स्ट्रेटेजिक चुनाव भी नहीं करते। वे आयु को आदाब बजा लेने वालों में से नहीं हैं। बुजुर्गों की बंदगी अच्छी बात है, लेकिन शास्त्रों में यह कहा गया है कि तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते कि तेजस्वियों की आयु नहीं देखी जाती है, बल्कि एक समय तो ऐसा था कि कम उम्र में जीवन को होम कर दिया जाता था। जगनिक ने अपने आल्हखंड में यही तो कहा था- बारह बरसि लै कूकर जीवे, औ तेरह लै जिये सियार/बरस अठारह छत्री जीवे, आगे जीअन को धिक्कार। मनुस्मृति कहती है : 'न तेन वृद्धों भवति येनास्य पलितं शिरः/यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः' कि केश श्वेत होने से कोई वृद्ध नहीं होता। जो युवा होते हुए भी अध्ययनशील है, देवगण उसी को वृद्ध मानते हैं। इसलिए हनुमान उम्र के आधार पर माथा नहीं झुकाते।

दरअसल हनुमान विभंगि को विभाजन का मार्ग नहीं बनाते। उनका विनय वर्गीकरण नहीं करता। वे सकल को प्रणाम करते हैं, इसलिए विकल नहीं होते। समष्टि का सम्मान 'सबन्हि कहँ माथा' में है। जो अक्षत का अभिवंदन करेगा, उसे कोई क्षति कहां से होगी? जो अखंड को अर्पित है, उसे खंडित करने की ताब रावण भी कहां से लायेगा? हनुमान एक निरवशेष नमन करते हैं। तुलसी वाल्मीकि की तरह सूर्य, इन्द्र, पवन और ब्रह्मा आदि को सर नवाने की बात नहीं करते। वे समग्र को नमन करवाते हैं और तुलसी का यह डिपार्चर साभिप्राय है, डेलीबरेट है। वे अक्सर समस्त को न्यस्त करते हैं प्रणाम में। बालकांड की याद करें- 'अस कहि

चलेउ सबहिं सिर नाई/सुमन धनुष कर सहित सहाई' या अंगद को देख लें। बंदि चरन उर धरि प्रभुताई/अंगद चलेउ सबहिं सिरु नाई। यह तुलसी की एक 'केवल-प्रणाम' व्यवस्था है। सर्वतोमुखी और समंत। यह एक अंतःभूत कृतार्थता से उपजती है। एक गहरी कृतज्ञता इस अग जग के प्रति जो मानवीय अस्तित्व के अल्टीमेट फाउंडेशंस को स्पर्श करती है। राम हों, अंगद हों, हनुमान हों- इंडीवीजुअल ब्रिलियंस के किसी पल से पहले तुलसी के यहां वे 'सर्व' को प्रणाम करते हैं। यह तुलसी का सर्वोदय है। हनुमान का यह सभी को सर झुकाना सर्वात्मा के स्वर में अपने विशिष्ट व्यक्तिवाद का विस्मरण भी है। यह जितना समास है, उतना ही समत्व भी है। गीता में भगवान कृष्ण ने जो कहा था 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'- कि जो मुझे सर्वत्र और सभी को मुझमें देखता है, हनुमान वही हैं। यह एक योगयुक्त आत्मा का परिणाम है। 'सर्वभूतस्थ मात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि/ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः कि जिसकी आत्मा योगयुक्त हुई है, वह सर्वत्र समदृष्टि से देखता है।' वह सब प्राणियों में आत्मा को और सब प्राणियों को आत्मा में देखता है (गीता)। योग का मतलब है जुड़ना। हनुमान यों सभी से जुड़ते हैं। वैयक्तिक प्रतिभा के महाविस्फोट के ठीक पहले यह फ्यूजन गौरतलब है।

हनुमान को यह चुनौती फेस करने को मिली। कापुरुष होता तो कहता- व्हाय मी ओनली? मुझे ही क्यों इसमें उलझा दिया? वीर होता तो गर्व से भर जाता : मी ओनली? देखो कोटि कोटि वीरों में मुझे ही चुना गया। यह एक्सक्लूजन उस वीर को गौरव के भाव से लबालब कर देता। लेकिन हनुमान वीर नहीं, महावीर हैं। इसलिये वे एक्सक्लूजन के क्षण को 'नाइ सबन्हि कहँ माथा' के जरिए इन्क्लूजन का क्षण बना लेते हैं। वे ग्रेट इसीलिए हैं क्योंकि वे हृदय के कोने-कोने से इस 'काज' के लिये सबके प्रति ग्रेटफुल महसूस करते हैं। उनको लगता है कि यह अवसर सभी की शुभ-संकल्पना के उनकी ओर डायरेक्ट होने से आया। उपकृति का यह भाव हनुमान के भीतरी आध्यात्मिक और नैतिक स्वास्थ्य का परिपाक है। यह 'एटीट्यूड ऑफ ग्रेटिट्यूड' जो हनुमान को माथा झुकाने को प्रेरित करता है, यही हनुमान के अक्षय गौरव का कारण बनेगा।

कई लोग इस माथे पर बड़ी माथापच्ची करते हैं। 'हेड हैल्ड हाई' पर तने रहते हैं। यह 'गर्व भरा मस्तक'। कई का कहना है कि वे सिवाय अल्लाह के कहीं सर नहीं झुकाते। खौफे-खुदा का दिल से भुलाना/मेरे बस की बात नहीं/और कहीं पे सर को झुकाना, मेरे बस की बात नहीं। लेकिन ऊपर जिस समत्व दृष्टि की बात कही गई है, वह पूछती है कि अल्लाह के सिवा है ही क्या? फारसी में जामी का कहना यही तो था : 'दीद के आलम जे समक ता समा/नेस्त बजुज वाजिबो मुमकिन बमा' कि पृथ्वी से लेकर आकाश तक संपूर्ण विस्तार में सही और संभव ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। तो बात यह नहीं कि 'उसके सिवा कोई पूज्य नहीं' बल्कि इसकी है कि उसके सिवा कुछ है ही नहीं। कबीर कहें 'सब घट मेरा साइयां सूनी सेज न कोई।' 'दादू कहें सब घट माहीं रमि रह्या।' सहजोबाई कहें 'सब घट व्यापक राम है।' नारद पुराण **(पूर्वभाग, प्रथम पाद 3/80)** के अनुसार 'वासुदेवात्मकं सर्वं जगत् स्थावर जंगमम्/आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तस्माद न्यन्न विद्यते' कि ब्रह्माजी से लेकर कीट पर्यन्त यह सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत् वासुदेव स्वरूप है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसलिए हनुमानजी तो सबके सामने सर झुका लेते हैं, भले ही कुछ लोग देश के सामने, देश के झंडे के सामने सर न झुकाएं। वहां मान्यता यह है कि ईश्वर के सामने सब मनुष्य बराबर हैं। कोई किसी के सामने एडवांटेज की स्थिति में नहीं है। इसलिए किसी के सामने माथा नवाना उसे ग्लोरिफाई करना है। लेकिन यहां तो एक दृष्टि यह है कि सबमें उसकी ग्लोरी है, उसका नूर है। सृष्टि की हर शै उसी की आब से रौशन है। ऐसे में अल अजहर फतवा कमिटी के शेख अतिय्या सक्र का फतवा कहां चलेगा? अली बाबा का एक गीत है 'हुस्न न जाने सर को झुकाना इश्क न जाने डरना।' हनुमान डरना तो खैर

नहीं जानते लेकिन सर को झुकाना जानते हैं। एक शायर को डर है कि 'पत्थर के आगे सर न झुकाना कि वो देवता हो जायेगा।' लेकिन आदमी देवता हो जाये और पत्थर देवता हो जाए इससे बेहतर बात क्या होगी? उससे बेहतर नमस्कृति क्या है कि जो कृति को कर्ता बना दे। कृति की संस्कृति यही है जो एक नमन से पत्थर को प्राण दे देती है। इस चीज को रोका ही कैसे जायेगा? एक शायर कहता है- 'सर झुकाना अगर जुर्म होगा, हम निगाहों से सजदा करेंगे।' दूसरा कहता है 'जो मिली नजर तो सर झुकाना अच्छा लगा।' इस पर कैसे किसी का बस चलेगा। यह प्रेम की बात है, फलसफे की बात है, एकात्मभाव की बात है तो हनुमान सबके सामने माथा नवाते हैं। यह गुड मैनर्स की बात नहीं है, यह गुड स्पिरिचुअलिटी है- अच्छी आध्यात्मिकता। यह राजनीति नहीं थी कि हनुमान उस शायर की तरह शिकायत करते : 'सर झुकाना मुझे गवारा न था/मैं चाहता भी तो कैसे सियासत करता' हनुमान माथा सबको नवाते हैं, राजनीति होती तो चुनाव करती। इसलिए हनुमान जैसी दृष्टि वाले क्या करें? 'सर झुकाना तुझे तौहीन सरीखा लगता है/आदाब का मुझको तो बस यही सलीका लगता है।' हां, राजनय के वक्त तो हनुमान रावण को कोई नमन नहीं करते।

हनुमान प्रसन्न होकर, उत्साहित होकर प्रस्थान करते हैं। संेट आगस्टींन ने उचित ही कहा है : There is something in humility which strangely exalts the heart. शायद इसी को सिंधी लोकोक्ति में यह कहा गया है कि 'निमे सो गौरो' (जो झुके, वह गौरव वाला/गुरु/वजनवाला)। अभी हनुमान की— विनम्र हनुमान की — उदात्तता, ऊंचाई और गौरव देखने में आयेगा, जब ऊंचे-ऊंचे पर्वत उनके सामने झुकते चले जायेंगे। बिहारी ने अपने दोहे में कदाचित, यही कहा था : 'नर की अरु नलनीर की, गति एकै करि जोई/जेतो नीचे ह्वै चलै, तेतो ऊँचे होई।' अभी हनुमान महेन्द्र पर्वत के 'भूधर सुंदर' को कौतुक में ऊपर चढ़ देख लेंगे, अभी मैनाक पीछे रह जायेगा। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी यही तो कहा था- 'होता है सर को नवा, नर जग में सिरमौर/बनता है बन्दन किये, वंदनीय सब ठौर।' हनुमान की यह अगाध विनयशीलता है जो उनके जीवन को उत्कर्ष के उच्चतम सोपानों तक ले गई। एक कन्नड़ लोकोक्ति है : 'नयविद्दल्लि भयविल्ल' कि जहां विनय है, वहां भय नहीं। हनुमान की निर्भीकता उनकी अहंता से नहीं, उनकी विनम्रता से पनपती है। इस अर्थ में वे अद्‌भुत हैं। इस अर्थ में उनका हृदय सत्व से भरा हुआ है। इसी विनम्रता से उनके मन में वो उदात्तता (exaltation) और उत्साह है जिसकी चर्चा सेंट आगस्टीन ने की है।

इस कारण प्रस्थान के वक्त हनुमान के मन में हर्ष है। वहां आशंका नहीं है, अवसाद नहीं है, संदेह नहीं है, भय नहीं है। सेल्फ-डॉउट उनमें नहीं है, यह तो हम 'सिंहनाद करहिं बारहिं बारा' के वक्त देख ही चुके हैं। आत्मसंशय को आत्मा पर झुर्रियां डाल देने का मौका नहीं दिया हनुमान ने। जब फेथ होगा तो फीअर कैसे होगा? जब 'हिय धरि रघुनाथा' है तो फिर और कुछ मन में धरकर रखने की गुंजाइश ही कहां है? तुलसीदास ने इसी सुंदरकांड में यह कहा- 'तब लगि हृदयँ बसत खल नाना/लोभ मोह मच्छर मद माना/जब लगि उर न बसत रघुनाथा/धरें चाप सायक कटि भाथा।' यहां लोभ, मोह, मत्सर, मद की जगह भय, अवसाद, आशंका, संशय जैसे शब्दों का भी उपयोग किया जा सकता है। शिवानंद जी अपने एक प्रवचन में कहते थे- Fear checks the flow of blood, and even poisons the blood. Laughter and cheerfulners increase the circulation of blood. They are blood-tonics. कि रक्त के प्रवाह को भय अवरुद्ध कर देता है और रक्त को विषाक्त तक कर देता है। हँसी और प्रफुल्लता रक्त परिसंचरण में वृद्धि करते हैं। वे रक्त के लिये शक्तिवर्धक हैं।' हनुमान 'पाजिटिव फ्रेम ऑफ माइंड' के साथ, रचनाधर्मी मानस के साथ प्रयाण करते हैं। एकदम सही 'मूड' में। किष्किंधाकांड में भी 'चलेउ हृदय धरि कृपा निधाना' की बात कही गई थी।

लेकिन अंगद आदि वानरों का शोकाकुल होना इस बात का प्रमाण है कि कृपानिधान का अवधान कहीं खंडित हो गया। सम्पाती इसे पहचान गया था, इसलिए उसने याद दिलाया था : 'राम हृदय धरि करहु उपाई।' उसी के अनुरूप अब 'हियँ धरि रघुनाथा' है। फर्क भी है। पहले निकलते समय 'जनकसुता कहुँ खोजहु जाई' की बात थी, 'सुधि' की बात थी ('अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये') तो 'कृपानिधाना' को मन में धारण करना स्वाभाविक था क्योंकि उस थ्रेट में सिर्फ कृपानिधान राम ही एकमात्र जीवनोपाय रह जाते, सुग्रीव ने तो विकल्पहीनता स्पष्ट कर दी थी। किंतु अब जब शत्रुदेश जाना है, राक्षसों से घिरी हुई सीता को देखने (सिर्फ सुधि के लिये नहीं) तो 'रघुनाथा' और 'रघुवीर' की स्मृति ही मौजूं स्मृति है। रघुवंशीय श्रीराम का विग्रह एक ऐसी परम्परा की स्मृति दिलाता है जो अन्याय और अतिचार के विरुद्ध लड़ाई को एक पारिवारिक दायित्व समझती हैं। वह इस कठिन समय में जैसे हमें रि-मॉरलाइज करती है। हमारे भीतर के संकल्प को किसी भी पक्षाघात से बचाती है। यही कारण है कि हनुमान उड़ते हैं। कूदकर पर्वतों पर चढ़ जाते हैं। भय तो फ्रीज करता है। लेकिन हृदय में रघुनाथ को धारण किये हुए निर्भीक हनुमान गति और प्रगति के प्रतिमान बन जाते हैं। हनुमान के साथ सुविधा यह है कि भगवान उनके लिये कोई अमूर्त अवधारणा नहीं हैं। उनकी जीवंत प्रतिमूर्ति हनुमान की प्रेरणा है। वाल्मीकि ने अरण्यकांड में यही तो कहा : रामो विग्रहवान् धर्मः - कि राम धर्म के मूर्तिमान रूप हैं। राम को धारण करके चलने वाले हनुमान धर्म को धारण करके चलते हैं। धारयति इति धर्मः। इसलिए अपने सर्जनशील प्रयास का आनंद वे साथ-साथ लेते चलते हैं। तुलसी साहिब के शब्दों में 'जगमग अंदर में हिया, दिया न बाती तेल/ परम प्रकाशक पुरुष का कहा बताऊँ खेल।' या सुंदरदास के शब्दों में 'सखुन हमारा मानिये मत खोजे कहुँ दूर/ साई सीने बीच है 'सुंदर' सदा हुजूर।।' या जो रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा : 'तोमारि आसन हृदय पद्मे/राज जैनो सदा राजे गो 'कि मेरे हृदय के पद्य पर मानो सदा तुम्हारा ही आसन अवस्थित है। एक तो हनुमान का हृदय और उसमें भी रघुनाथ का धारण। लक्ष्य-सिद्धि कैसे न हो।

हर्ष और उत्साह को लेकर चलने वाले हनुमान की चाल के बारे में सुंदरकांड में जब-जब भी चौपाइयां और दोहे पढ़ता हूं तो मुझे बीथोवेन के द्वारा वर्णित सिंफनी के सृजन की प्रक्रिया याद आती है : From the glow of enthusiasm I let the melody escape. I pursue it. Breathless I catch up with it. It flies again, it disappears, it plunges into a chaos of diverse emotions. I catch it again, I seize it, I embrace it with delight ..... I multiply it by modulations and at the last, I triumph in the first theme. There is the whole symphony. हनुमान भी उत्साह की चमक के साथ आकाश में छूटते हैं, उड़ते हैं, कभी सुरसा के मुख में गायब से हो जाते हैं। फिर कभी सिंहिका में खुद को प्लंज करते हैं, फिर प्रसन्नता से अपनी गति को पुनः पकड़ते हैं, कभी अपने रूपों को मॉड्यूलेट करते हैं और अंत में जीत दर्ज करते हैं। हनुमान की गति की अपनी सिंफनी है।

समुद्र के किनारे एक सुंदर पहाड़ था। तुलसी किसी कारण से उसका नाम लेने से बचे हैं, वाल्मीकि ने इसका नाम महेंद्र पर्वत लिया है। समुद्र के किनारे पहाड़ तो क्या, समुद्र में भी पहाड़ हैं। आयरलैंड में गोर्टागोवन केरी समुद्र के किनारे का पर्वत है। न्यूजीलैंड में ऐसे पर्वत हैं जो महासागर के किनारे हैं। ताइवान में सी हाई पर्वत है। कनाडा में केप ब्रेटन हाईलैंड्स नेशनल पार्क के पर्वत समुद्र से मिलते हैं। अलास्का गल्फ कोस्ट पर भी ऐसे कई पर्वत हैं। ऑस्ट्रेलिया में ग्रेट ओशन रोड पर चले जाएं और पर्वतों को समुद्र से मिलता हुआ देखें। ऐसा ही एक सुंदर पर्वत हनुमान ने देखा। तुलसी को संभवतः महेंद्र नाम पर संदेह था, महेंद्र पर्वत पूर्वी घाट में है जो उड़ीसा में पड़ता है, गंजाम जिले के पूर्वी हिस्से में लेकिन एक महेन्द्र पर्वत तमिलनाडु

में भी है। अक्षांश 8^0 22' 60 N और देशांस $77^0$30' OE में। वर्तमान तमिलनाडु के अत्यन्त दक्षिण में। महेन्द्र मलय के समुद्र में डूब जाने के ऐतिहासिक उल्लेख है। संत थिरूमल्लिकेथेवर के वर्णन में महेंद्र पर्वत का उल्लेख है। सथ्थान्नार के 'कूथ्या नूल' के अध्याय 'थारी नूल' में भी महेंद्र पर्वत का उल्लेख मिलता है और प्रसिद्ध तमिल ग्रंथ सिलप्पदिकरम् में भी। समुद्र में महेन्द्र पर्वत का एक बड़ा हिस्सा डूबा होने का भी उल्लेख आता है और हनुमान इसी महेन्द्र पर्वत पर चढ़े थे। चार मुनियों को भगवान शिव ने आगमों का उद्‌घाटन इसी मलय पर्वत पर किया था। तमिल शैव संत मानिक्क-वासागर ने भी इसकी पुष्टि की है। बहरहाल आज शिव के इस उल्लेख को ही फैंसी स्टोरी बता दिया जाये तो आश्चर्य नहीं। इसलिये तुलसी ने महेन्द्र पर्वत का नामोल्लेख न करते हुए सिर्फ एक सुंदर भूधर की चर्चा की है जिस पर हनुमान कौतुक में ही चढ़ गये। भौगोलिक रूप से समुद्र संतरण का यह सही प्रारंभ-बिंदु है। इस सुंदर पर्वत से इस कांड की शुरूआत होने से इसका नाम सुंदरकांड हुआ, ऐसी कल्पना भी पंडितों ने की है। जो हो, इस पर्वत पर हनुमान बल से नहीं चढ़े। कौतुक में कूदकर चढ़ गये। भगवान शिव के पर्वत पर बल प्रदर्शन की कल्पना भोंडी होती। हनुमान स्वयं रूद्रावतार हैं। इसलिए महेन्द्र पर्वत पर उनका कूदकर चढ़ना शक्ति-प्रदर्शन की तरह नहीं बल्कि उनकी बाल सुलभ जिज्ञासा और कौतूहल-वृत्ति के परिपाक के रूप में दिखाया गया है। हनुमान के पौरुष प्रदर्शन के रूप में तब भी नहीं जब तुलसी ने इस भूधर का नाम भी नहीं लिया। कौतुक तो हनुमान बचपन से ही करते रहे हैं। जब कौतुक में वे सूर्य को गोलक समझकर मुंह में रख सकते थे तो अभी तो पर्वत पर कूदकर चढ़े ही हैं। वयस्क हो जाने पर भी हनुमान की विस्मय वृत्ति सर्वथा- खत्म नहीं हुई, यह बड़ी बात है क्योंकि समाजीकरण की प्रक्रिया में यही 'सेंस ऑफ वंडर' सबसे पहले खत्म हो जाता है। दुनिया जैसे हमें रटी-रटाई लगने लगती है।

किसी ने उचित ही लिखा है : You cannot discover new oceans unless you have the courage to lose sight of the shore. राम-रावण युद्ध में रूद्रावतार तटस्थ नहीं रह सकते थे। यों तो रावण स्वयं शिवभक्त है। उसने कैलाश पर्वत उठाया था तो उसका जवाब यह रूद्रावतार महेन्द्र पर्वत से छलांग लगाकर देने वाला है। संयुक्त राज्य अमेरिका के कोलोरेडो राज्य के कैनयान में रहने वाले ईगल पक्षियों के साथ यह होता है कि उनके बच्चों को जब मां घोंसले में जन्म देती है, तो वह घोंसले को आयरनवुड वृक्ष की ब्रांच से बनाती है और उसे पाने के लिये कई बार दो सौ मील तक दौड़ जाती है। उस ब्रांच में चूंकि कांटे होते हैं, इसलिए वह उसे पत्तियों, पंखों और घास की परत से ढांप देती है। बाद में जब बच्चे बड़े होने लगते हैं और घोंसले में जगह की कमी पड़ने लगती है तो वह घोंसले के आयरनवुड से पैडिंग हटाती जाती है ताकि उसके बच्चे घोंसले के ऊपरी किनारे की ओर उस आयरनवुड की चुभन से बचने के लिये चढ़ते रहें। फिर जब वे घोंसले के ऊपरी किनारे पर पहुंचते हैं तो वहां से यही मां उन्हें हल्का सा धक्का देती है। कैनयन की कंदराओं/ खाइयों में गिरते उसके बच्चे अपने पंख खोलते हैं और उस एडवेंचर और वंडर-सेंसे वे पहली उड़ान भरना सीखते हैं। हनुमान को धक्का देने की जरूरत नहीं पड़ती लेकिन वेंचर और वंडर का मिलाजुला अनुभव उनका भी है, जब वे "कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर" का नजारा पेश करते हैं। वे भी अज्ञात टेरिटरी में अपनी जोखिम भरी यात्रा शुरू करते हैं। उनको भी लगता है कि वे भी भगवान के- उन के जिन्हें हृदय से धारण कर वे चले हैं- द्वारा कुछ इस तरह से शिल्पित किए गए हैं कि वे सफलता के उच्च शिखरों को न केवल छू सकेंगे बल्कि उन पर पांव धर सकेंगे और जीवन में पूर्णता तथा संतोष के अहसास का क्रमशः बढ़ता आनंद भी वे ले सकेंगे। इसलिए उन्हें बार-बार रघुवीर का स्मरण होता आएगा। कौतुक एक इंपल्स है। हनुमान उसी इंपल्स में भूधर सुन्दर पर चढ़ जाते हैं। तोड़ दो यह क्षितिज में भी देख लूं उस ओर क्या है।/जा रहे जिस

पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है।

हनुमान की पृच्छा और खोज-वृत्ति तो वैसे भी लीजेन्डरी रही है। उनकी जिज्ञासा और विस्मय-बोध ने ही उन्हें इस योग्य बनाया है कि राम ने सीता-शोध के लिए उन्हें ही चुना। अभी यह जो कौतुक कूद है, यही कभी उनके मन की कौंध बन जाएगी। उनकी यही वृत्ति उनके अध्याहार में विकसित होगी। इसलिए सुंदरकांड में पहली बार आया यह 'सुन्दर' शब्द अकारण नहीं है। यह पार्वत्य-सुषमा भर नहीं है, यह तो उस कर्म-सौंदर्य का लांचिंग प्लेटफार्म है जो हम इस सुन्दरकांड नामक अध्याय में आगे देखेंगे। सिन्धु तीर पर भूधर सुन्दर वस्तुतः जीवन की गहराई और ऊंचाई दोनों आयामों का मिलना है। हनुमान के कर्मों में जितनी गहराई है, उतनी ऊंचाई भी। इसकी प्रस्तावना के रूप में जैसे जीवन-नाट्य की यह स्टेज सेट की गई है। समुद्र की सामने पड़ी गहराई और भूधर की सामने खड़ी ऊंचाई। भूगोल जैसे हनुमान के मनःपिंड का प्रतिबिम्ब हो गया है।

कौतुक का अर्थ अभिलाषा, कुतूहल, इच्छा, हर्ष, आह्लाद, क्रीड़ा, आमोद, प्रमोद, औत्सुक्य, उत्कंठा आदि है। हनुमान जो "हरषि हिय" चले हैं, बहुत स्वाभाविक है, हर्ष, आह्लाद, क्रीड़ा, आमोद के शुरूआती दौर में भूधर सुन्दर को उसी रौ में कूदकर चढ़ जाएं। उनके भीतर हर्ष की एक नैसर्गिक भावना का उच्छालन और उत्स्फूर्ति हो, शक्ति-शो नहीं हो। वहां अकेले में वे नुमाइश भी क्या करेंगे जबकि वे तो सबके सामने भी चुप साध कर बैठे रहते हैं। तुलसी का कवि भी भूधर सुन्दर के सौंदर्य को मुजरा थोड़े ही बनने देगा, यदि दूर से भी वहां शिव-स्मृति की सुगंध आती हो। अभी तो सफर की शुरुआत है, उत्साह है और उत्कण्ठा हिलोरें मार रही है तो उसके आवेग में दन्न से ऊपर तक चढ़ा जा सकता है। वह जो शुरुआत में किलकिल है, केलि है, कल्लोल है, वही लौटते में "सबद किलकिला" में परिणत हो जाएगी। अभी की यह जो कुदक्कड़ी है, पूंछ में आग लगने पर यही काम आनी है। अभी तो यह कूच का वक्त है (या कूंद का?) और एक तरह का क्विक मार्च है या पोल वॉल्ट जैसा कुछ है लेकिन अभी का यह उत्पल्व तब सार्थक होगा जब लंका दहन की धमाचौकड़ी होगी। उछल कूद को संस्कृत में अकांड तांडव कहते हैं। लंका दहन के वक्त वह प्रकांड तांडव में बदल जाएगी। अभी तो यह भूधर-सुन्दर है और हनुमान उसका लुत्फ लेते हुए कुदक फुदक भर रहे हैं। पर्वत का नैसर्गिक सौंदर्य। लेकिन लंका में राक्षसी अत्याचार की अप्राकृतिक कुरूपता उनकी प्रतीक्षा कर रही है तब वहां भी यही धमचक होगी, किन्तु भिन्न परिणतियों के साथ।

शिव के पर्वत पर भी हनुमान को बार बार राम ही याद आते हैं। बार बार रघुवीर संभारी। यह अनन्यता है राम और शिव की। हनुमान रघुनाथ को हृदय में लेकर चले थे, लेकिन ऐसा तो वानर दल के साथ एक बार हो चुका है कि वे राजाज्ञा से जब सीता-शोध पर निकले तब भी भगवान को मन में बसाकर चले थे और राह में कुछ भूल-सा गए। परिस्थितियों के त्रास से बदहवास हो गए और संपाती के द्वारा राम को हृदय में रखने की सीख पाए। इसलिए हनुमान अब किसी खुशफहमी में नहीं रहना चाहते। वे बार-बार राम का सुमिरन करेंगे। शत्रुदेश की ओर प्रयाण है, इसलिए राम की योद्धा छवि का स्मरण करेंगे। संभारि श्री रघुवीर धीर प्रचारि कपि रावन हन्यो (लं.दो. 94)। इस ध्यान से विजय हासिल होती है। वैसे हनुमान के हृदय में राम की सशस्त्र मूर्ति हमेशा विराजमान है। "जासु हृदय आगार बसहि राम सर चाप धर।" इसीलिए बार-बार कहा गया है। दरिया साहब के शब्दों में" सकल ग्रन्थ का अर्थ है, सकल बात की बात/दरिया सुमिरन राम का कर लीजै दिन रात।" इसलिए बारम्बार हनुमान का राम-स्मरण चलता रहेगा। राम ही सब शुभ कर देते हैं। पलटू यही तो कहते थे 'पलटू शुभ दिन शुभ घड़ी याद पड़े जब नाम/लगन मुहूरत झूठ सब और बिगाड़ै काम। यहां हनुमान तो नाम ही नहीं, छवि/रूप भी साथ लेकर चले हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अतिप्रचलित श्लोक में यही तो कहा गया है- यः स्मरेत पुण्डरीकाक्षं स बाह्यभ्यन्तरः

शुचिः- कि जो कमलनयन भगवान का स्मरण करता है, वह बाहर और भीतर से सर्वथा पवित्र हो जाता है। ईश्वर का यदि बार-बार स्मरण करें तो बारबार संभालता भी वही है- तुलसी की बलि, बार बार ही संभार कीबी (क्र.उ. 80) गरीबदास ने भी यही कहा थाः "दिल के अंदर देहरा, जा देवल में देव/हरदम साखीभूत है, करो तासु की सेव।" हनुमान के भीतर तो राम सदा साक्षीभूत हैं, उसके बाद भी हनुमान बार बार राम स्मरण करते हैं। इसका अर्थ जितना हनुमान के लिए है, उससे कहीं ज्यादा हम नश्वर मनुष्यों के लिए है। हनुमान जैसे तपःपूत हृदय के स्वामी जब भगवान का बार बार स्मरण करते हैं तो हमारे लिए क्या कहें? पवन तनय की सांस सांस में राम हैं। पवन प्राण है, लेकिन पवनपुत्र के प्राणाधार राम हैं। हनुमान अपना भारी बल उन्हीं से प्राप्त करते हैं। उनकी प्लुति ईश्वर प्रदत्त भारी बल से ही संभव होती है। वह पशु-बल नहीं है, वह ईश्वरीय बल है। उसकी गुरुता इसी में है।

जेहिं गिरि चरण देइ हनुमंता
चलेउ सो गा पाताल तुरंता
जिमि अमोघ रघुपति कर बाना
एही भांति चलेउ हनुमाना
जलनिधि रघुपति दूत बिचारी
तैं मैनाक होहि श्रमहारी

जिस पर्वत पर हनुमानजी पैर रखकर चले, वह तुरंत ही पाताल में धँस गया। जैसे श्री रघुनाथजी का अमोघ बाण चलता है, उसी तरह हनुमानजी चले। समुद्र ने उन्हें श्री रघुनाथजी का दूत समझकर मैनाक पर्वत से कहा हे मैनाक! तू इसकी थकावट दूर करने वाला हो (अर्थात अपने ऊपर इन्हें विश्राम दे)।

द न्यूयार्क टाइम्स की 15 फरवरी 1882 की एक खबर है। उत्तरी कैरोलिना में बाल्ड पर्वत के बारे में। अचानक एक भीषण क्रेश की आवाज बास्करविले निवासियों को सुनाई पड़ी, मीलों दूर तक बाल्ड पर्वत का आधा मील बराबर शिखर यकायक गायब हो गया। यह समाचार। और देखें, एक सुसमाचार बाइबिल में मैथ्यू (17:20 NKJV) में प्रभु यीशु कहते हैं। 'For assuredly, I say to you, If you have faith as a mustard seed, you will say to this mountain, Move from here to there, and it will move; and nothing will be impossible for you.' कुरान में एक सूरा कहता है : Call to mind also when we entered into a covenant with you, and lifted up the mountain over you- "Take hold", said we. इन्हीं सब सुसमाचारों के बाद कुछ बेरहम खबरें। तीन दिसंबर 2007 को गूगल अर्थ ने 470 पर्वत शिखरों के गायब हो जाने की रिपोर्ट दी। संयुक्त राष्ट्र को प्रस्तुत एक रिपोर्ट में यह कहा गया कि डीप-सी ट्रालिंग से सामुद्रिक पर्वतों को नुकसान हो रहा है। इस रपट के अनुसार दुनिया में एक लाख से अधिक सी-माउंट्स हैं। लेकिन वैज्ञानिक डाटा सिर्फ 40 का ही उपलब्ध है। अधिकतर समुद्री पर्वत डीप-सी ट्रालिंग से क्षतिग्रस्त हो रहे हैं। क्या हनुमान के पैरों के भार से भी समुद्री पर्वतों को यही नुकसान हो रहा था? और उनकी बाहर निकली हुई 'टिप' पानी में समाती जा रही थी? लेकिन हनुमान तो प्रकृति पुत्र हैं। उनके हाथों अनजाने में भी ऐसा कैसे हो सकता है? जो अभी तट पर छूटे अपने साथियों को कंद मूल फल जैसी नैसर्गिक चीजें खाने की राय दे रहा था, क्या वह निसर्ग के प्रति किसी तरह के चरण-स्कन्दन की दृष्टि रखेगा। किसी चीज को पैरों तले कुचलने की? वह हनुमान का पदन्यास है, पद-दलन नहीं। इसलिए तुलसी ने 'चरन देइ' शब्द का प्रयोग किया है, ताकि उसे किसी तरह की पायमाली के अर्थ में नहीं लिया जाये। हनुमान रौंदने वालों में नहीं है। वे तो परित्राण करते हैं, उबारते हैं, परिमोक्ष देते हैं। इसलिए उनके यहां 'गिरि' को एक व्यक्तित्व-सा देते हुए यह कहा गया है कि वह तुरन्त पाताल को चला गया। यह जैसे चरण स्पर्श के बाद प्रस्थान की बात है। ई. लॅ जोली का कहना है कि Nature is a ladder, a means of ascending higher, leading to the creator. ये पर्वत प्रकृति की वैसी ही सीढ़ी हैं। हनुमान उनसे गुजरते हुये अधिक से अधिक उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं। लेकिन अपना उत्कर्ष वे किसी के उद्दमन में नहीं पायेंगे। उनका पादक्षेप उनके भीतर के संगीत, उनके अंतः राग, उनकी लय के अनुक्रम में है। गिरि का संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में एक अर्थ बादल भी दिया हुआ है। इसलिये पर्वतों पर पांव भी वे ऐसे रखते होंगे जैसे बादलों पर रख रहे हों। 'हरषि हियँ धरि रघुनाथा' चले हैं तो पांव तो वैसे भी जमीन पर न पड़ते होंगे। बाइबल की पूर्व उद्धृत उक्ति कहती है कि विश्वास के बल पर आप पर्वतों को मूव कर सकते हो तो 'बार-बार रघुबीर सँभारी' वाले हनुमान के चरण छूकर पर्वत भी पाताल मूव कर जाते होंगे। लेकिन लैंडस्केप और कथा-चरित्र के बीच किसी तरह के शक्ति-संबंध की स्थापना, कि हनुमान को किसी विजय-भाव का अनुभव हो, तुलसी का उद्देश्य नहीं है। ये पर्वत उनके लिये सत्ता के सोपान (pedestals of power) नहीं है।

साइमन स्कैमा ने अपने एक निबंध 'लैंडस्केप एन्ड मेमोरी' में लिखा है कि पर्वतों को मनुष्य की छवि में ढालना लंबे समय से दुनिया की कई संस्कृतियों का काम रहा है। दुनिया के कई देशों में पर्वत-पौराणिकी प्रचलित रही है। चीन में कुनलुन नामक पहाड़ है जहां स्वर्ग-सम्राट और 100 देवताओं का निवास है। कुनलुन अमरता का स्थान है। एंडीज पर्वत श्रृंखला के कई शिखर आज भी पूजे जाते हैं। मसलन माउंट औसांगेट। पेरू में क्यौल्लुर रिट आई तीर्थयात्रा आज भी चलती है। ग्रीक मिथकों में ओलंपस पर्वत भी देवस्थली माना गया। देसी अमेरिकी मिथकों (काउलिट्ज इंडियन्स की लोककथाओं) में रैनियर पर्वत की कथा चलती है जिसकी दो पत्नियां थीं- एडम्स गिरि और सेंट हेलेन्स गिरि। एक

बार दोनों पत्नियों में वाद-विवाद हो गया। सेंट हेलेंस गिरि क्रुद्ध और ईर्ष्यालु हो गई, उसने अपना 'टॉप' गिराया और रेनियर पर्वत का सिर उड़ा दिया। बाइबल बताती है कि जेरीजीम पर्वत समरिटन की आस्था और पूजा का केंद्र था। भारत में भी पर्वतों का भारी जिक्र रामायण-महाभारत-पुराणों आदि में है। इस मामले में शायद हम सबसे ज्यादा समृद्ध हैं। हमारे यहां पर्वतों का साधारण उल्लेख, जैसा कि इस पंक्ति में है, भी मिलता है और ऐसे पर्वतों का उल्लेख भी है कि जिनका अपना व्यक्तित्व और पहचान है। यहां तो बस इतनी सी बात है कि हनुमान जिस पर्वत पर चरण रख दे रहे हैं, वह धँसकर पाताल चला जाता है। यह हनुमान जैसे पर्वतारोही की असीम क्षमता है। विलियम आर्थर वार्ड नहीं कहते थे कि 'एक सच्चा पर्वतारोही पर्वत से भयभीत (intimidated) नहीं होता, वह तो उनसे प्रेरित होता है। पर्वत जीतने के लिये बनाये गये हैं- "Mountains are created to be conquered" हनुमान भी निर्भीक हैं पर्वतों के सामने। एक के बाद राह में आये पर्वतों पर वे उदारता की जीत हासिल करते हुए आगे बढ़ते जा रहे हैं। विलियम ब्लेक की कविता भी कुछ ऐसी ही थी : Great things are done when men and mountains meet/This is not done by jostling in the street. तो यहां वही हो रहा है। 'हनुमैन' माउंटेंस से मिल रहे हैं। पर्वत उनके चरण छूकर पाताल लोकवासी हो रहे हैं। हनुमान को पर्वतों पर डी.एच. लॉरेन्स की तरह गुस्सा नहीं आता। लॉरेन्स कहता था : I can't do with mountains at close quarters- they are always in the way, and they are so stupid, never moving and never doing anything but obtrude themselves. लेकिन तुलसी के सुंदरकांड के पर्वत इतने 'स्टुपिड' नहीं हैं। वे तो रास्ते में भी नहीं खड़े रहते, पाताल चले जाते हैं। वे 'नेवर मूविंग' की श्रेणी में नहीं हैं। वे 'बाधा' भी नहीं हैं। लगता है जैसे इन पहाड़ों का एक जीवन है। उनकी एक सप्राण अनुक्रिया-प्रणाली है। फ्रेडरिक नीत्शे मजाक में कहता था कि In the mountains, the shortest way is from peak to peak but for that you must have long legs. हनुमान के पास लगता है वही 'लंबे पैर' हैं। इसलिये 'जेहिं गिरि चरन देइ हनुमंता' की बात आई है। हनुमान की एक विराट काज्मिक उपस्थिति सी इस प्रसंग में दिखाई गई है। हैती में एक कहावत चलती है कि पर्वतों के पार फिर पर्वत हैं। वह हालत यहां हो रही है और हनुमान एक के बाद एक पर्वतों को पार करते हुए जा रहे हैं। हनुमान के सिलसिले में ऐसा लगता है कि जैसे प्रकृति भी उनको सहयोग कर रही है। जैसे प्रकृति को भी उनकी सदाशयता और उदात्तता का पता है और वह उनकी राह में उलझनें पैदा करने की जगह उनके काम को ज्यादा से ज्यादा सुसाध्य और सुकर बनाना चाहती है।

जी.जे. योर्के ने कहीं लिखा है कि Mountains to us are what we image them to be and not what they are. अर्थात 'पर्वत हमारे लिये वही है, हम अपनी कल्पना में जैसी उनकी छवि देखते हैं और न कि वैसे-जैसे वे हैं।' इस सिद्धांत के बाद सुंदरकांड की इन पक्तियों को पढ़ें तो हमारा काम ज्यादा अच्छा बन पड़ेगा। तब बहुत से नये आयाम खुलेंगे और ये गिरि वैसे गिरि नहीं रह जायेंगे। न महेंद्र पर्वत वैसे रहेगा न मैनाक। सवाल यह आयेगा कि क्या तुलसी की कविता में आये ऐसे उल्लेखों को हम सिर्फ अतिशयोक्ति मानें और एक काव्यालंकार की तरह इसे बरतकर बात वहीं खत्म कर दें? या कि इसे एंथ्रोपोमार्फिज्म का प्रकार मानें और जगती व जीवन के रहस्यों को समझने की एक नई दृष्टि मानें? एक हालिया अंग्रेजी कवि की पर्वत पर लिखी एक कविता से हम इसे और अच्छी तरह समझ पायेंगे :

"Anthropomorphism has its place.
It's a starting point at least.
So I'll say if I have eyes, then a mountain has eyes
and whatever happens after that is poetry

where I become lost
and there are no conditions, no
consequences.
There only the mountain.
I am the Mountain.
I go into these hills as into my self
leaves fallen from trees are my skin.
Watery springs gossip sweet news,
gurgling falling from my throat,
calling, calling, calling : come,
always, I AM here, I AM/Mountain all
around, above, below and within.
Come, I AM/singing, the sound
that is always here ....."

इलैन मारिया अप्टन की लिखी यह कविता पर्वत को भी जैसे एक आत्म, एक व्यक्तित्व देती है। तुलसी के संसार में भी पर्वत जैसे निष्प्राण तत्व भी जैसे सस्पन्द हो जाते हैं। जैसे तुलसी की आँखें हैं तो पर्वतों की भी आँखें हो जाती हैं। जैसे तुलसी हनुमान के पैर छूते हैं, पर्वत हनुमान के पैर छूकर धन्य हो जाते हैं। जैसे तुलसी और प्रकृति के तत्वों के बीच जब यह एकात्म स्थापित हो जाता है तो जो कुछ बचता है, उस सबके बाद, तो वह सिर्फ कविता है। मानवीय गुणों का सन्निधान भौतिक वस्तुओं में कर दिखाने वाला यह एंथ्रोपोमार्फिज्म (नृरूपवाद) संवेदना का एक स्तर है। हो सकता है कि नृरूपनिषेध (anthropodenial) ज्यादा तार्किक लगता हो, लेकिन इस एंथ्रोपोमार्फिज्म का एक हाइपरतर्क है। वह बाइबल में ही नहीं है बल्कि जार्ज आरवेल के एनीमल फार्म जैसे आधुनिक उपन्यासों तक में है। तुलसी संवेदना की जिस परंपरा में पोषित हुये थे वहां यह बिल्कुल भी अटपटा नहीं लगता था कि स्वयं जलनिधि कुछ कहे, स्वयं मैनाक पर्वत कोई अनुक्रिया करे। स्वयं जूडाइज्म में पर्वतों को झगड़ा करते हुए बताया गया है। जब पर्वतों ने सुना कि भगवान किसी पर्वत पर 'तोराह देंगे' तो उनमें लड़ाई होने लगी। हरेक ने कहा कि भगवान तोराह मुझ पर देंगे। पर्वत अपनी-अपनी जगहों से स्पर्धा में भागने लगे। टेबर पर्वत ने कारमेल पर्वत से कहा कि तुम अपनी जगह लौटो क्योंकि भगवान ने तुम्हें नहीं बुलाया। कारमेल पर्वत ने उलटकर यही टेबर को कहा कि तुम्हें वापस लौटना चाहिये क्योंकि भगवान ने तुम्हें नहीं बुलाया। भगवान ने उनका झगड़ा सुना। बोले- तुम लोग आपस में क्यों झगड़ते हो? मैंने तो सिनाई पर्वत को चुना है।

एल्डो लिओपोल्ड का एक प्रसिद्ध निबंध है- 'थिंकिंग लाइक अ माउंटेन' (पर्वत की तरह सोचते हुए)। इस निबंध में वे भूगर्भीय (जिओलॉजिकल) के प्रति समानुभूति का आग्रह करते हैं। आजकल जो पर्यावरणीय नैतिकता का आंदोलन चला है, उसका आग्रह भी कमोबेश यही है। लिओपोल्ड का निबंध शुरू होता है एक सुदूर कैनयन में 'प्रत्येक जीवित वस्तु' जिस-जिस तरह से भेड़िए की गुर्राहट को सुनती है, उन सबके एक रोमांटिक रिकन्स्ट्रक्शन से। फिर लिओपोल्ड कहता है कि सिर्फ पर्वत ही इतना लंबा जिया है कि भेड़िए की गुर्राहट को 'आब्जेक्टिवली' सुन सके। पर्वत मानवीय गति (पेस) पर नहीं चलते, लेकिन उनकी अपनी चेतना है। वे अतिमानवीय (सुपरह्यूमन) हैं, और एक संक्षिप्त लेकिन संघनित इतिहासीकृत मानवीय क्षितिज की पृष्ठभूमि में ज्यादा देर तक 'जीते' हैं। उनके पास एक 'ज्यादा गहरा अभिप्राय' है। और चीजों, प्राणियों, संघटनाओं के प्रति 'सीक्रेट अभिमत' भी है। तुलसी के पर्वत भी ऐसे ही लगते हैं। पर्वत को मानव के रूप में देखने वाली तुलसी-दृष्टि ग्रीक शिल्पज्ञ डाइनोक्रेट्स की उस दृष्टि से एकदम भिन्न पड़ती है जो आल्थोस पर्वत को मानव आकार में काट-छांटना चाहता था। यह दृष्टि उन तालिबान के भी विरुद्ध है जो बामियान पर्वत की बुद्ध प्रतिमाओं को तोड़ने-फोड़ने में संतोष करते हैं। यह दृष्टि मानती है कि पर्वत देखते हैं। यह दृष्टि मानती है कि वे हम पर निर्णय भी करते हैं।

लेकिन तुलसी पर्वत की कोई अहंतामूलक लंबवतीयता (egotistical verticality) की छवि नहीं

खींचते। वे पर्वत को किसी ऐसी टोपोग्राफिकल टेमेरिटी (भौगोलिक दुस्साहस) के रूप में देखते ही नहीं कि जो किसी तरह की पृथक सुप्रीमेसी की संस्मृति है बल्कि ऐसा देखते हैं मानो वह भगवद्कार्य में लगे हनुमान की सहायक उपस्थिति है। इसलिये गिरिश्रृंग हनुमान के चरणों का संस्पर्श पाकर पाताल चले जाते हैं या मैनाक पर्वत विश्रांतिस्थल के अवसर की तरह उभरते हैं। पर्वत महाकारिता (gigantism) के प्रतीक न रहकर सहकारिता के प्रतीक बन जाते हैं। तुलसी जैसे एक तरह का 'करेक्शन फॉर स्केल' कर रहे हैं। आकार की वृहत्ता का सवाल जैसे गायब हो जाता है। सम्बन्ध की महत्ता ही जैसे नाभिक पर आ जाती है। पर्वत भी जैसे उसी भगवद् परिवार का सदस्य बने दीख पड़ते हैं। यह हनुमान की ग्रीन रिलेशनशिप, हनुमान की हरित रिश्तेदारी है। राजेश जोशी की एक कविता है : 'स्वप्न अगर आसमान में थे/तो पहाड़ों के सबसे करीब थे/स्वप्न अगर कहीं लुककर बैठ गए थे/तो हमें विश्वास था/वे पहाड़ों में कहीं छुपे होंगे/हम स्वप्नों की खोज में गये थे/पहाड़ों की ओर/और हम जानते थे/पहाड़ दोगले नहीं हुये हैं/वे हमारी हिफाजत करते रहेंगे।' चीनी क्रांति का इतिहास देखें तो उसमें चिङ-काङ-शान पहाड़ एक प्रतीक चिन्ह की तरह उभरते हैं। माओत्से-तुङ्ग ने अपनी विख्यात कविता 'चिङ-काङ-शान पर फिर से चढ़ते हुए' लिखकर पूंजीवादियों से संघर्ष का रास्ता बुलंद किया था। पर्वत हनुमान के जरिए गति को प्राप्त होते हैं। और हनुमान स्वयं गति प्राप्त करते हैं। लेकिन 'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना/एही भांति चलेउ हनुमाना' में चलने के कारण संभवतः हमें गति का इम्प्रेशन आता है जबकि 'जिमि अमोघ' पर ध्यान दें तो संभवतः हम देख सकेंगे कि तुलसी स्पीड की नहीं, एक्यूरेसी की बात कर रहे हैं। गति की ही नहीं, दिशा की भी बात कर रहे हैं। वाल्मीकि ने गति पर ध्यान दिया है, तुलसी ने एक्यूरेसी पर। वाल्मीकि कहते हैं: "जैसे श्रीरामचंद्रजी का छोड़ा हुआ वाण वायुवेग से चलता है, उसी प्रकार मैं रावण की लंकापुरी में जाऊँगा। तुलसी उसे "अमोघ" कहते हैं क्योंकि उन्हें वायुवेग में कोई कविता नहीं लगती। पवनपुत्र तो पवनवेग से चलेंगे ही, उसमें रामचन्द्र जी का क्या? रामबाण की विशेषता तो उसका अमोघ होना ही है। हनुमान उसी की भांति चले। बिरहोर तथा सन्थाल आदिवासियों की लोक कथा के अनुसार तो राम द्वारा चलाए गए बाण के आधार पर हनुमान ने समुद्र पार किया था। तुलसी के लिये डिफाइनिंग बात है : अमोघ होना, अचूक होना। लक्ष्याभिमुख होना। इसलिए गमन की कसौटी लक्ष्यानुगमन है। हनुमान दिङ् मूढ़ होकर नहीं चल रहे। हनुमान की पहचान क्या है? हनुमान स्वयं 'शरकरत्रृजुः' कहाने वाले भगवान राम की ओर से लक्ष्य की ओर ताककर छोड़ा हुआ बाण हैं। भगवान राम के हाथ में कमान है। भगवान के हाथ गुण हैं और उसी के आधार पर वे हनुमान का प्रक्षेपण करते हैं। धनुर्वेदी राम का सर्वश्रेष्ठ नरकुल है यह वानर। क्या राम को अपने किसी बाण के संधान में, चाहे वह शलाका हो या पुष्कर, वह संतोष मिला होगा जो हनुमान के प्रेषण में मिला। हनुमान राम की 'बेस्ट बेट' हैं। राम के बाण कभी नहीं चूकते। कभी निष्फल नहीं होते। वाल्मीकि रामायण में लिखा है : यथाराघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः/...सर्वथा कृतकार्योऽसमेष्यामि सहसीतयाः हनुमान भी कृतकार्य होकर ही लौटेंगे। उन्हें कोई अवरुद्ध नहीं कर सकेगा। हनुमान उन लोगों में से नहीं है जो स्पीड रिकार्ड बनाने में लगे हैं लेकिन जिन्हें यह पता नहीं कि वे जा कहां रहे हैं। हनुमान चले हैं तो उनकी वेलोसिटी की बात भी नहीं है, उनकी वैलिडिटी की भी बात है। लक्ष्यसिद्धि में उन्हें काम क्षिप्र तरीके से भी करना है और इस अहसास के साथ भी कि सफलता के अलावा और कुछ भी प्रेय नहीं है। वह सिर्फ गति का द्रुत होना ही नहीं है, वह प्रिसीजन भी है। 'एही भांति' कहकर तुलसी हनुमान के चलने के बारे में किसी भी दूसरे उपमान का ही निषेध नहीं करते, किसी भी दूसरे प्रेरणा-बिन्दु और किसी भी दूसरे तौर-तरीके का भी निषेध करते हैं। दूसरे इस वाक्य के माध्यम से तुलसी सेवक और सेव्य के बीच, भक्त और भगवान एक

किस्म की empathic accuracy का होना भी स्पष्ट कर रहे हैं। यह मनोवैज्ञानिकों का इंटरपर्सनल रिअक्टिविटी इंडेक्स (IRI) है। रघुपति और हनुमान के बीच के रिश्ते जिस रसायन से संचालित हैं, हनुमान का प्रयाण भी उसी से संचालित है। राम हनुमान को जितनी अच्छी तरह 'पढ़' सकते हैं, उनकी अबोली भावनाओं को जितनी अच्छी तरह समझ सकते हैं, उन दोनों के बीच जो एक 'इंटरसब्जेक्टिव मीनिंग कांटेक्स्ट' (एक अंतर्निजीय अर्थ-संदर्भ) है- उसके चलते हनुमान का अपने बाण के रूप में शरव्य की ओर जो उत्क्षेपण होगा, वह व्यर्थ नहीं होने का। वह अपने उद्देश्य को उपलब्ध करेगा ही। 'धृतशरधनुषं' राम को मन में धारे चले हनुमान उतने ही अमोघ हो जाते हैं जितने राम के शर। 'आत्तसज्जधनुषाविषुस्पृशावक्षयाशुगनिषङ्ग' (जिन्होंने संधान किया हुआ धनुष ले रखा है, जो बाण का स्पर्श कर रहे हैं तथा अक्षय बाणों से युक्त तूणीर लिये हुए हैं वे) राम के सर्वश्रेष्ठ आयुध हनुमान हैं। उन 'वरचापबाण हस्तं' राम को हृदय में धारण कर हनुमान जब लंका की ओर नभोगमन करते हैं तो वे किसी विपथगामिता की आशंका के दूर-दूर तक भी शिकार नहीं होंगे। राम 'निषंगचापसायकं' हैं, हनुमान के रूप में अपने अमोघ बाण का पुरस्सरण करते हुए।

अमोघ का एक अर्थ अपराजेय है। हनुमान भी अजेय होकर चले हैं। अमोघ का एक अर्थ है : "वह कि जिसका कोई विकल्प न हो।" हनुमान का कोई विकल्प नहीं है, यह किष्किंधाकांड में सम्पाती-भेंट के बाद वानर-दल में जो आपस में चर्चा हुई, उसमें स्पष्ट हो चुका है। "निज निज बल सब काहूँ भाषा/पार जाइ कर संसय राखा"- कि सब किसी ने अपना-अपना बल कहा, पर समुद्र के पार जाने में संदेह प्रकट किया। स्वयं ऋक्षराज जाम्बवान बोले- "जरठ भयउँ अब कहइ रिछेसा/ नहिं तन रहा प्रथम बल लेसा" कि अब मैं बूढ़ा हो गया। शरीर में पहले वाले बल का लेश भी नहीं रहा। अंगद ने कहा- "अंगद कहइ जाउँ मैं पारा/जियँ संसय कछु फिरती बारा"- कि मैं पार तो चला जाऊँगा परन्तु लौटते समय के लिये हृदय में कुछ संदेह है। कुल मिलाकर हनुमान ही एकमात्र और अद्वितीय विकल्प की तरह उभरे हैं। अतः वे अमोघ इस रूप में भी हैं। प्रोटो-इंडो-ईरानियन मिथकशास्त्र में अमोघ उसे कहते हैं जिसके कई शुभ गुण हों- मतलब जो स्वास्थ्य, प्रज्ञा और धन-धान्य का सुख देता हो। हनुमान भी सुखदाता हैं और रघुबीर के बाण तो मोक्षदाता हैं ही।

यह ध्यान दीजिये कि भारतीय जनमानस में रामबाण एक औषधि की तरह, एक अचूक औषधि की तरह प्रसिद्ध है। यह अजीब बात है कि संहारक शक्ति को एक उपचारक शक्ति के रूप में याद रखा जाये। व्याधियों का निदान करने में पूर्ण प्रभावी शक्ति के रूप में। जैसे अंग्रेजी भाषा में पैनासिआ शब्द है जो उपचार (हीलिंग) की ग्रीक देवी के नाम पर प्रचलित हुआ और अंग्रेजी भाषा में "हील-आल हर्ब" के अर्थ के लिये रूढ़ हो गया। एक ऐसी औषधि जो सभी बीमारियों को ठीक कर दे। खैर वह तो हमारे यहाँ के अश्विन कुमारों/ धन्वन्तरी की तरह चिकित्सा के क्षेत्र की एक विशेषज्ञ प्रतिभा थी, लेकिन रामबाण के साथ बात ही दूसरी है। वह व्यक्ति नहीं है, अस्त्र है। एक आयुध आयुर्द्रव्य बन जाये, यह असाधारण बात है। ध्वंसास्त्र को आरोग्य के लिये जनस्वीकृति मिलना अनूठा है। वह भी मात्र प्रभावी औषधि की तरह ही नहीं, सभी तरह की आधि-व्याधियों का लक्ष्यवेधी निराकरण करने वाली दवा की तरह। क्या रावण और उसके राक्षस उस समय के सबसे बड़े दुःख, दर्द, ताप, शाप थे? या रामबाण ही कुछ ऐसा था जिसकी एक थिरेप्टिक वैल्यू थी? राम होने का अर्थ यही है कि जिसके वेपन क्योर भी करते हों? राम के स्तर से हम आज जैविक शस्त्रों के उस युग तक आ गये हैं जब अस्त्रों से व्याधियाँ फैलाई जाती हैं। कृमि-युद्ध का दौर, जब पैथोजेन्स (बैक्टीरिया वायरस आदि) के जरिये शत्रु-देशों से लड़ा जाता है। उसके ठीक कंट्रास्ट में रामबाण। ट्रोजन के युद्ध का ग्रीक शास्त्रों में जो विवरण मिलता है, वहाँ बाणों और भालों के अग्रभाग में विष मिलाने का भी जिक्र है जबकि रामबाण को

लोग तमाम व्याधियों के विष से मुक्ति दिलाने वाले रूप में याद रखे हुये हैं। अब तो जो जैविक अस्त्र हैं वे एंथ्रेक्स, इबोला, प्लेग, हैजा, क्यू बुखार, टाइफस, पीला बुखार, जापानी बी एंसेफलाइटिस, स्मालपॉक्स, रिफ्ट वैली फीवर, माइकोसिस आदि-आदि कई बीमारियाँ फैला सकते हैं, लेकिन रामबाण पाप-ताप-शाप हारक बेचूक दवा के रूप में लोक-मन में जगह बनाये हुये हैं।

हनुमान उसी रामबाण की तरह प्रस्थित हुये। जगत का कल्याण करने वाली शक्ति की तरह। वे भी एक वंडर-ड्रग हैं। उनके चमत्कार आगे देखने में आयेंगे। जब सीता रावण को कहती है कि "खल सुधि नहिं रघुबीर बान की"- तो उनके शब्द बड़े प्राफेटिक हैं। रावण को वाकई नहीं पता है कि रघुबीर का छोड़ा हुआ यह एक बाण हनुमान के रूप में पहुँच गया है और सीता को रावण द्वारा दिये जा रहे त्रास का साक्षात् करने के बाद वह चुप नहीं बैठेगा। ऐसा सबक सिखाकर जायेगा कि बाद तक भी राक्षस याद रखें। हनुमान सीता को आश्वस्त भी रामबाण की स्मृति दिलाकर ही करते हैं : 'राम बान रबि उएँ जानकी/तम बरुथ कहँ जातुधान की' कि 'हे जानकी जी! रामबाण रूपी सूर्य के उदय होने पर राक्षसों की सेना रूपी अंधकार कहाँ रह सकता है।' यह बताता है कि स्वयं हनुमान को रामबाण पर कितना विश्वास है। हनुमान उसी रामबाण की तरह चले जिसकी सामर्थ्य पर उन्हें इतना भरोसा रहा आया।

प्रकृति हमारे सद्प्रयासों की खामोश साक्षी नहीं है। ऐसा नहीं है कि यदि हम रामकाज कर रहे हों तो प्रकृति उदासीन या निरपेक्ष रहेगी। यदि हम पूर्णतः सत्त्व बुद्धि के हैं तो प्रकृति हमारे काम के लिये आवश्यक ऊर्जा का संचार भी हममें करेगी और हमें मदद भी करेगी। जॉन म्यूर ने एक जगह लिखा है और साधारण परिस्थिति के मानव के लिये लिखा है : Climb the mountains and get their good tidings. Nature's pace will flow into you as sunshine flows into trees. The winds will blow their own freshness into you and the storms their energy, while cares drop off like autumn leaves. कि पहाड़ चढ़ो और उसके उपहारों का आस्वाद लो। प्रकृति की गति आपमें वैसे ही प्रवाहित होने लगेगी जैसे सूरज की चमक पेड़ों में प्रवहमान होती है। हवायें अपनी ताजगी तुममें फूंक देंगी और तूफान अपनी ऊर्जा जबकि चिंताएँ पतझड़ के पत्तों की तरह झर जायेंगी।' हनुमान के साथ यही हो रहा है। वे पहाड़ चढ़ लिये हैं। प्रकृति का आशीर्वाद उन्हें मिल रहा है। भगवान को प्रसन्न करने की ही बात नहीं है, भगवान ने भी हमें प्रसन्न करने में प्रकृति को नियोजित कर रखा है। समुद्र की तरंगें तट पर अठखेलियाँ कर रही हैं। दूर सूरज सिंधु में कहीं डूब सा रहा है। ठंडी हवा के झोंके छूकर जा रहे हैं, आसमान पर कोई अरुण राग सा फैला हुआ है, दिन भर के श्रम के बाद पंछी वापस अपने नीड़ों में जा रहे हैं कतारबद्ध होकर और उनकी उड़ान के पैटर्न से दिङमंडल पर मुस्कान सी बिखरती है, पृथ्वी की कविता कभी खत्म हुई सी नहीं लगती। क्या ये सब प्रमाण नहीं है कि ईश्वर हनुमान के हृदय में है और उनके साथ-साथ चल रहा है। हनुमान रघुपति के दूत हैं। वे भगवान का संदेश लेकर जा रहे हैं। निरन्तर पूरी तन्मयता से रामकाज की दिशा में प्रवहमान व्यक्ति को प्रकृति भी पहचान लेती है। 'निकल रही थी मर्म वेदना/करुणा विकल कहानी सी/उधर अकेली प्रकृति सुन रही/हँसती सी पहचानी सी' - जयशंकर प्रसाद की कामायनी में यह 'पहचान' की बात प्रकृति के संदर्भ में एक भिन्न प्रसंग में आई है जब वेदना की बात है। हनुमान तो हर्ष और उत्साह से भरे जा रहे हैं। प्रकृति तब उन्हें भी अकेली सुन रही है। प्रकृति तब भी उन्हें पहचान पा रही है कि वे रामदूत हैं। प्रकृति हमें लगातार अपने लाभांशों का वितरण करना चाहती है। प्रकृति के बैंक्स (किनारे) हमें हमारा बैलेन्स (संतुलन) लौटाते हैं, हमें तरुओं के हिलने से मिल रही हवा में आय होती है - हमें जो अपने डिविडेंड्स, अपने बैंक बेलेंस और अपनी आय का हिसाब किताब करने में मुब्तिला हैं। हम जो हनुमान की तरह रामकाज में नहीं लगे, अपनी

स्वार्थपरता में रत हैं, उन तक पर प्रकृति के आशीष शांत भाव से बरसते रहते हैं, भले ही हममें उन आशीषों का आस्वाद लेने की संवेदना न हो। रघुपतिदूत हनुमान तो 'मोस्ट डिज़र्विंग' हैं। तब प्रकृति अपनी जीवनदायी, ऊष्मादायी, सुखदायी भूमिका का निर्वाह क्यों न करे? प्रकृति क्यों न उनका विचार करे? क्यों न उन्हें पहचाने? क्या सिर्फ मनुष्य के पास ही काग्निटिव साइंस है? क्या प्रकृति की अपनी प्रज्ञा नहीं है? क्या जब हम मैदानों को देखते हैं तो कभी हमें यह ख्याल आता है कि यह मैदान भी हमें देख रहा होगा? क्या जब हम जंगल से आती हुई ध्वनियों को सुनते हैं तो कभी हमें यह अहसास होता है कि जंगल भी कहीं हमें सुन रहा होगा - हमारी सांसों की आहट को, हमारी पदचाप को? क्या हम ही फूलों को देखकर कविता लिखते हैं या कि पांखुरियों के ऊपर भी कोई उद्गीथ अंकित है? क्या सिर्फ 'सरमन ऑन माउंटेन' ही घटित हुआ, पर्वत पर प्रवचन कि एक गीता तरुओं में और तितलियों में, बादलों में और सितारों में, पत्थरों में और नदियों में कहीं गूँज रही है? प्रकृति की अपनी प्रज्ञा है। प्रकृति का अपना काग्नीशन। हनुमान की रिकाग्नीशन या पहचान भी उसी में से संभव होती है। समुद्र पहचान लेता है कि ये हनुमान हैं, रघुपति के दूत और मैनाक पर्वत को सलाह देता है कि वह हनुमान के श्रम और क्लान्ति का हरण करे। मैनाक पर्वत की कथा तुलसी ने तो अति संक्षेप में कही है, वाल्मीकि ने विस्तार में कही है। मैनाक का एक नाम गिरिसुत भी है। पर्वत पुत्र को पवनपुत्र की परिश्रान्ति को दूर करना है। इतनी दूरी तय की है हनुमान ने कि प्रकृति को भी लगने लगता है कि अब थक गये होंगे वे। अब थोड़ा निढाल हो गये होंगे वे। इतना उद्यम किया है। इतनी जीतोड़ कोशिश की है, खुद प्रकृति गवाह है, खुद यह समुद्र साक्षी है। देख रहा है वह हनुमान का उद्योग, उनकी मशक्कत, उनकी मेहनत। जलनिधि है। किसी के पसीने की बूंदें निकलती होंगी, पहचान जायेगा। वह भी खारा है, ये बूंदें भी खारी हैं। मस्तक पर चमकते ये स्वेद बिंदु उसे समझ में आयेंगे क्योंकि उसे ही तो पार करने का परिणाम है यह। उसे लगता है कि यह रामदूत थोड़ा क्लांति निवारण कर ले। थोड़ा अवकाश, थोड़ा आराम ले ले। कैजुअल लीव। या वह भी न सही तो एक रिसैस, मध्यावकाश। इसलिये वह मैनाक पर्वत को हनुमान की विश्रांति-व्यवस्था को कहता है। प्रकृति के मन में भी हनुमान की कर्मठता और जुनून के प्रति एक आदर का भाव है। शायद इसीलिये कि हनुमान की गति समुद्र को अपनी गति और ऊर्जा की याद दिलाती हो। डेविड डे की एक कविता है:

> ***The First horses were made of sea foam.***
> ***They rode their waves to the beaches***
> ***Then broke loose and dashed for the shore***
> ***Wild horses, raging with pride -***
> ***Look how much of the untamed sea***
> ***Is within them still.***

समुद्र की उस 'जंगली घोड़े' वाली गति और ऊर्जा से भी तेज जा रहे पवनतनय के प्रति समुद्र में समानुभूति और सत्कार भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है। लेकिन ध्यान दें कि तुलसी इस आधार पर समुद्र की हनुमान के प्रति संवेदनशीलता नहीं बता रहे हैं।

एक संस्कृत श्लोक है : "रत्नाकरैः किं कुरुते स्वारत्नैर्विन्ध्याचलः किं करिभिः करोति/ श्रीखंडखण्डैर्मलयाचलः किं परोपकाराय सतां विभूतयः" समुद्र अपने रत्नों से, विंध्याचल अपने हाथियों से और मलयाचल चंदन के टुकड़ों से क्या करता है? सज्जनों की विभूतियाँ परोपकार के लिये होती हैं। यहाँ कथा-प्रसंग में समुद्र है और विंध्याचल/मलयाचल की जगह मैनाक पर्वत है। लेकिन बात वही है। प्रकृति की अंतर्हित सज्जनता की। प्रकृति के भीतर भरे परोपकार भाव की। ध्यान यह दीजिये कि समुद्र उपकार-भावना के तहत यह नहीं कह रहा, विचार कर कह रहा है। ध्यान दें कि ऋग्वेद में कहा गया है कि न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः - कि देवता परिश्रमी के अतिरिक्त किसी

की सहायता नहीं करते। (4/33/11)। यहाँ देवता न सही, जलनिधि सही। लेकिन परिश्रमी सहायता का स्वत्व अर्जित कर ही लेता है। लेकिन ध्यान दें कि समुद्र यह भी विचार नहीं कर रहा। उसके लिये तो यह काफी है कि ये हैं हनुमान। रघुपति के पठाए हुए। ईश्वरीय ग्लोरी के ही एक स्पार्क। उस कृपा सिन्धु की ही एक तरंग। यह सिन्धु उन कृपासिन्धु के दूत के प्रति सत्कार-भाव से भरना ही था।

यदि यहाँ पर हमें यह याद आता हो कि होमर की ग्रीक कविताओं में आंकीनोस जितना पानी है, उतना व्यक्ति, एफ्रोडाइट जितना पत्थर है, उतना व्यक्ति; तो अस्वाभाविक नहीं। यहाँ जलनिधि भी जितना जल है उतना व्यक्ति। मैनाक जितना पहाड़ है, उतना व्यक्ति। कविता जितना मैजिक होती है, उतना मेटाफर। इसलिये यदि 'चरन देने' से गिरिश्रृंग पाताल में चले जाते हों या समुद्र से कहने से मैनाक पर्वत ऊपर उठ आता हो और यह सब कुछ जादुई लगता हो तो घबराइये मत। कविता को यों ही जीवन फूंकने वाली विद्या नहीं कहा गया। यह एनीमाइजेशन (जीवनदाय) है। यह साहित्यिक इकॉलाजी है, एक ऐसे युग में और जरूरी जहाँ आदमी भी एक चीज हो गया है, जहाँ जीते जागतों को मशीन के एक पुर्जे में घटा दिया जा रहा हो; वहाँ तुलसी के इन रूपकों ने एक नई अर्थवत्ता प्राप्त कर ली है। रस्किन ने मानवीकरण को शायद इसीलिये विस्मयंकर आदर्शवाद (grotesque idealism) और संवेदनात्मक संभ्रांति (pathetic fallacy) कहा था। तुलसी के जरिये सुंदरकांड की यह पंक्तियां जब हम पढ़ते हैं तो लगता है कि हम एक ज्यादा से ज्यादा अमानवीय होते जा रहे समय में आशा का एक स्रोत मानवीकरण में ढूँढ़ रहे हैं।

●●●

हनुमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम।।

हनुमान जी ने उसे हाथ से छू दिया, फिर प्रमाण करके कहा- भाई! श्रीरामचन्द्र जी का काम किये बिना मुझे विश्राम कहां?

स्पर्श। शरीर के पांचों संवेदनों में अकेला कि जो देह के किसी अंग विशेष में स्थानीकृत नहीं है, जो कि पूरे शरीर में है। उसमें भी हाथ से स्पर्श जिसके बारे में विज्ञान कहता है कि हमारी अंगुलियों की प्रत्येक पोर में लगभग 100 टच रिसेप्टर्स होते हैं। हनुमान अपने हाथों में मैनाक पर्वत को छू देते हैं। तुलसीदास ने यहां वाल्मीकि के विस्तृत जादुई कथा प्रसंग को अत्यंत संक्षिप्त कर दिया है। जो उन्होंने 'सार सार को गहि रहे' के अनुसार रखा है, उसमें इस प्रसंग के फैंटास्टिक, जादुई, अलबेले, अजब-गजब वर्णन हटा दिए हैं। मसलन वाल्मीकि रामायण में मैनाक ने हनुमान से यह कहानी कही : "सत्ययुग में पर्वत पंखधारी होते थे। चारों तरफ गरुड़ की तरह उड़ा करते थे। इनके गिरने के समय देवताओं और मनुष्यों को दब जाने का भय होता था। अतएव क्रोधित हो देवराज इन्द्र ने हजारों पर्वतों के पंख काट डाले। वे इसी इच्छा से मेरे पास भी आए किन्तु तुम्हारे पिता वायु ने शीघ्र ही मेरी सहायता की और समुद्र में मुझे लाकर छुपा दिया, जिससे मैं इस विपत्ति से बच गया।" इसका अर्थ यह हुआ कि मैनाक अभी भी पंखधारी पर्वत है, अभी भी आकाशगामी है, हनुमान तक पहुंच सकता है, उन्हें धारण कर सकता है, हनुमान के पिता पवन देव का ऋणी है और इसी कारण यह सोचता भी है कि श्री हनुमान जी की पूजा से वायु देवता संतुष्ट होंगे- पूजिते त्वयि मर्मज्ञे पूजां प्राप्नोति मारुतः/ तस्मातत्वं पूजनीयो मेश्रृणु चाप्यत्र कारणम्।" वाल्मीकि यह भी कहते हैं कि "मैनाक ने मनुष्य रूप धारण कर हनुमान जी से विश्राम करने के लिए प्रार्थना की।" उन्होंने मैनाक का परिचय यों भी दिया कि "इसे समुद्र ने पाताल का विशाल द्वार रोकने के लिए रखा है, जिससे उसमें से असुर न निकल पावें।" उन्होंने हनुमान जी से सत्कृत होने पर मैनाक की परेशानियों का यों अंत होना बताया कि हनुमान से सत्कृत होने पर इन्द्र ने भी उसे अभयदान दिया : "उवाच वचनं धीमान्परितोषात्सगद्गदंम्/ सुनाभं पर्वतश्रेष्ठं स्वयमेव शचीपतिः/हिरण्यनाभ शैलेन्द्र परितुष्टोऽस्मि ते भृशम्/अभयं ते प्रयच्छामि गच्छ सौम्य यथासुखम्।"

वाल्मीकि इस तरह के फैंटास्टिक वर्णन को कथाक्रम में संभवतः राहत की एक सांस की तरह देते हैं लेकिन तुलसी को ये सब वर्णन कथाधारा में अनावश्यक विलंब से लगे होंगे। यदि हनुमान वर्कोहलिक हैं तो उनके पास इन सब गल्पों को सुनने के लिए अवकाश कहां? जब वे कह ही यह रहे हैं कि भगवान का काम पूरा किए बिना मुझे किसी तरह की विश्रान्ति योग्य नहीं है तो कथा के प्रवाह को तोड़ने वाले प्रजल्पों और गढ़ंतों को वे स्थान क्यों देंगे? हनुमान प्रकटतः 'हेस्ट' में हैं, ऐसे में उनके कथन मात्र से नहीं बल्कि कथा के अपने निर्वाचन से भी तुलसी उस द्वैध को दूर करते हैं। क्या हनुमान इस तरह की श्रुतानुश्रुतियों को सुनने में वक्त खराब करते हुए दिखाए जाएं जबकि अभी उनके पास सांस लेने की फुरसत नहीं है? इसलिए तुलसी यहां कल्पना की 'इकॉनामी' जानबूझकर बरतते हैं। ऐसा नहीं है कि तुलसी को फैंटेसी से कोई विशेष घृणा है या कविता में उसकी उपयोगिता को लेकर उन्हें कोई शंका है। वे सुपरनेचुरल का उपयोग करते भी रहे हैं। लेकिन फिलवक़्त उन्हें लगता है कि अतिप्राकृत को सुपरसीड करके ही वे हनुमान की उस सुपरस्पीड के साथ न्याय कर पाएंगे जो समुद्रसंतरण के दौरान वे दिखाना चाहते हैं। इसलिए वे इस फैंटास्टिक साहित्यिक विरासत को सर्वथा त्याग देते हैं ताकि वायुपुत्र को हवाई बातों में समय गंवाते न दिखाना पड़े। इससे उनका वर्णन और अधिक विश्वसनीय बन गया है। क्योंकि यदि वाल्मीकि की तरह वे कहें कि मैनाक पाताल के दरवाजे को 'लॉक' करने के लिए रखे गए हैं तो "चलेउ सो गा पाताल तुरंता" की स्थिति कैसे आ पाएगी? कई बार कविता कल्पना के उपयोग से ही नहीं, कल्पना के त्याग से भी संभव होती है। तुलसी यह किसी आधुनिकता के आग्रह में नहीं कर रहे। तुलसी को तर्काधारित संसार कितना अपभ्रष्ट हो सकता है, उसका पूरा संज्ञान है। हमारे आधुनिक समय में, जबकि पारंपरिक उत्तरों को ज्यादा से ज्यादा जीर्ण और जर्जर माना जाता है, तुलसी साहित्यिक प्रयोगधर्मिता के लिए

फंतासी के विकल्पों का इस्तेमाल करने से नहीं चूकेंगे लेकिन सुंदरकांड में कथा की इस स्टेज पर हनुमान को किसी तरह की भी ठिलुअई करते दिखाना तुलसी को स्वीकार नहीं। वह उनके इस समयातीत वाक्य "राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहां बिश्राम" को अप्रामाणिक और अविश्वसनीय बना देगा। यह वाक्य तो राम के प्रति विश्वास (बिलीफ) का वाक्य भी है, ऐसे में विश्वास के सस्पेंशन की युक्तियों की जरूरत क्या है? लिहाजा तुलसी पंखधारी पर्वतों, इंद्र, वायुदेव, पर्वतों के पंख काट डालने के अभियान, अभयदान आदि सारे विवरणों को हटा देते हैं।

जो बच जाता है वह प्रकृति के भीतर सात्विक मनुष्य की मदद करने की इच्छा और उस इच्छा मात्र के प्रति मनुष्य की कृतज्ञता। वह कृतज्ञता हनुमान हाथ के स्पर्श से व्यक्त करते हैं। पारंपरिक व्याख्याकार जब इसे यों बताते हैं कि हनुमान ने मैनाक को पिता का मित्र जानकर पूज्य दृष्टि से उसे प्रमाण किया तो वे यह नहीं देखते हैं कि तुलसी ने उन सब कथानकों को छोड़कर किस 'कविता' की रक्षा की है। मुझे हनुमान के कर-स्पर्श से कार्ल पैटर्न की एक कविता "लिसन, हैंड्स" याद आती है :-

If my fingers can
Learn From that firm, calm trudging
only at night - there may come a time
When my two hands will be as loose
As the Buddha's plans reposing, going
Nowhere and wide open to everything

हनुमान की उंगलियों में, हनुमान के हाथों में बुद्ध की वही मैत्री और करुणा है। उनका स्पर्श बहुत कुछ खोलता है। उनको अभिज्ञान है कि प्रकृति के तत्वों के भीतर उनके प्रति सद्‌भाव है। इसलिए उनका मैनाक को छूना पिता के मित्र से मैत्री की बात नहीं है, वह प्रकृति से मैत्री और आदर की बात है। मित्र कौन है : A friend is a hand that is always holding yours, no mater how close or far apart you may be. A friend is someone who is always there and will always always, care.

(मित्र वह हाथ है जिसने हमेशा तुम्हारे हाथों को थामा हुआ है, चाहे तुम कितने ही करीब या दूर क्यों न हो। मित्र वह है जो हमेशा वहां है और हमेशा हमेशा हमारी 'केअर' करेगा।) हनुमान मैनाक की उस 'केअर' की भावना को पहचानते हैं। यह हाथ का परस काफी है। इसे जरूरत नहीं है, कसकर पकड़ने की। यह परस ही पर्याप्त कंफर्ट है। यह एक हाथ में पकड़ा हुआ क्षण। सितारे की तरह उज्जवल। फूल की तरह कोमल। विलियम ब्लैक इसे ही "अपने कर की हथेली में असीम को पकड़ना" (hold infinity in the palm of your hands) कहता होगा। यह परसभर है, पकड़ना नहीं है। हनुमान समुद्र पार कर रहे हैं तो वे समुद्री बालू का राज भी जानते हैं। उसे खोले हुए हाथ की हथेली पर रखो, टिकी रहेगी। उसे कसकर मुट्ठी में बंद कर लो, फिसल जाएगी। तो हनुमान सिर्फ टच करते हैं। खोले हुए हाथ से।

और फिर प्रणाम भी करते हैं। स्पर्श में यदि केअर है तो प्रणाम में कद्र। स्पर्श में यदि अपनापन है तो प्रणाम में अदब। मैनाक अभिनंद्य भी है, आत्मीय भी। तुलसी ने हनुमान और मैनाक को बात करते हुए नहीं दिखाया है। लेकिन लगता है दोनों के बीच एक टेलीपैथी है। मैनाक की सद्‌भावना को, उसके ज्यादा गहरे अभिप्रायों को हनुमान जानते-से हैं। इसलिए वे उन्हें प्रणाम करते हैं, आदर दिखाते हैं। हनुमान का हाथ साधारण नहीं है। वह हाथ वैसा ही है जैसा एक ऋग्वैदिक ऋषि ने कहा था : अयं में हस्तोभगवानयं मे भगवत्तरः/ अयं में विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः" यह मेरा हाथ ऐश्वर्यवान है, सब रोगों को औषधिवत् दर करने वाला है, सुखयुक्त स्पर्श वाला है। (10.60.12)। हनुमान ऐसे "शिवाभिमर्शनः" हाथ से मैनाक को स्पर्श करते हैं। अन्ततः ऐसे ही कर-स्पर्श से सेवा-संकल्प सिद्ध होते हैं। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने उचित ही कहा था : 'हाथ को तब हाथ कोई क्यों कहे/हो सका न जब

लोक सेवा में निरत/दे सका जब दान दीनों को नहीं/जो न पाया पूज पूजित को सतत'। हनुमान अपने उसी सार्थक हाथ से मैनाक को संस्पर्श भी करते हैं और प्रणमन भी। यह उनका विदाई का अभिवादन है, लेकिन है यह आदर से भरा हुआ।

कितना फर्क हो गया है। पहले पर्वत खुद हनुमान की विश्रांति का आग्रह करता था और दोनों के बीच परस्पर आदर का भाव था। आज लोग पर्वतों को मनबहलाव, विश्राम और आमोद प्रमोद की चीज़ बनाए हुए हैं। अतः आज 'रिस्पेक्ट द माउंटेन' जैसे स्वयंसेवी संगठन आल्प्स जैसे पर्वत को बचाने का अभियान चलाए हुए हैं जो पर्यटकों के द्वारा फैलाए जा रहे कचरे के दुष्प्रभावित होता जा रहा है। प्रतिवर्ष एक करोड़ लोग आल्प्स में मज़ा लेने आते हैं। प्लास्टिक कचरा तो है ही। हर स्की लिफ्ट के नीचे तीस हजार से ज्यादा सिगरेटों के टुकड़े भी औसतन प्रतिवर्ष मिलते हैं। तो पहले पर्वत विश्रांति का आग्रह करता था, अब पर्वत स्वयं विश्रांति चाहते है। हिमालय न्यास की संरक्षक एलिजावेथ हॉली कहती है : "Not just Everest but the whole of the Khumba Valley needs a sustained rest." "केवल एवरेस्ट बल्कि पूरी खुमबा घाटी को सुस्थिर विश्रांति की जरूरत है।" एवरेस्ट पर पहुंचने वाली पहली महिला जुंको ताबेई कहती हैं Everest has bcome too crowded. It needs a rest. The local envirenment is in danger and the dignity of the mountain is being undermined कि "एवरेस्ट बहुत भीड़ वाला हो गया है। उसे विश्रांति चाहिए। स्थानीय पर्यावण खतरे में है और पर्वत की प्रतिष्ठा कम होती जा रही है।" हनुमान पर्वत की प्रतिष्ठा का कितना ध्यान रखते हैं, यह उनके कर- स्पर्श और प्रणाम से स्पष्ट है, लेकिन आधुनिक युग में पर्वतों पर टनों कचरा है। टिन, एल्युमिनियम, कैन, भोजन सामग्री, ग्लास, कपड़े, कागज, टेंट, फालतू इलेक्ट्रॉनिक सामान, सेटेलाइट डिशें, सीरिंज, दवाओं की शीशियां क्या नहीं छोड़कर लोग वहां नहीं आते! मैनाक को भी विश्वास होगा कि वह ताजा हवा और प्रशान्ति तो हनुमान को दे सकेगा। लोग भी इन्हीं कारणों से पर्वतों पर जाते हैं, लेकिन आज तो स्वयं पर्वतों को हेल्थ चेकअप की जरूरत है। प्रेरणा हनुमान से लेने की जरूरत है जो थोड़े से सुकून के लिए भी पर्वत को कष्ट नहीं देते। कमर सीधी करने के लिए भी वहां नहीं रुकते।

हालांकि तुलसी उनके न रुकने के पीछे कोई पर्यावरणीय कारण नहीं बताते। जो एकमात्र कारण हनुमान के दिमाग में आता है वह उनकी कर्मयोगी प्रकृति का आवश्यक परिणाम है। राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम। यह एक वाक्य कर्मठता से जीवन जीने को प्रतिबद्ध लोगों का आदर्श वाक्य बन गया है। हनुमान को लक्ष्यसिद्ध किये किसी भी तरह का आराम आलस्य ही लगेगा। वेणुगोपाल की एक कविता है : 'एक अदद ललचाती हुई छांह/एक अदद फुसलाता हुआ फूल/एक अदद बहलाता हुआ प्यार/एक अदद बतियाता हुआ साथ/ये रिश्ते तक/स्पीड-ब्रेकर बन सकते हैं/अगर आप/अपने रास्ते पर/अपने ढंग से/चलना चाहते हैं/तो!' हनुमान मैनाक को भी स्पीड ब्रेकर नहीं बनने देंगे। उन जैसे अध्यवसायी व्यक्ति को सुख लक्ष्योपलब्धि में ही मिलता है। जलनिधि और मैनाक पर्वत उनकी मदद करते हैं क्योंकि प्रकृति कर्मण्य और पुरुषार्थी लोगों की मदद करती ही है। ऋग्वेद (1/90/6) के अनुसार "मधुवाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः/ माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः" - कि सत्कर्मशील व्यक्ति के लिये हवाएँ मधु बहाती हैं, नदियों में मधु बहता है तथा औषधियाँ मधुमय हो जाती हैं। हनुमान के समक्ष यह स्थिति भी विश्राम न लेने का एक और कारण बन जायेगी।

अब जमाना दूसरा है। आज होते हनुमान तो एर्गोमेनिया के शिकार कहे जाते। लोग कहते कि वे वर्काहोलिक हैं। लोग उनमें कोई व्यक्तित्व-विकार (पर्सनालिटी डिस्आर्डर) ढूँढ़ने लग जाते? क्या हनुमान भी मनोवैज्ञानिक वेन ओएट्स की तरह "कन्फेशंस आफ अ वर्काहोलिक" (1971) लिख दिये होते?

क्लीनिकल शोधकर्ता प्रोफेसर ब्रायन राबिंसन की दो धुरियों - कार्यारंभ वाले कार्योन्मादी और कार्य-पूर्ण करने वाले कार्योन्मादी- में से वे किस श्रेणी में आते? संभवतः उस श्रेणी में जिसे राबिन्सन ने ब्यूलिमिक या रिलेंटलेस (अप्रतिहत कार्योन्मादी) कहा है जो कार्यारंभ से कार्यपूर्ति तक भिड़ा ही रहता है। मैनाक पर्वत उन्हें बीच में 'लीज़र' देना चाहता है। लेकिन लीज़र की सार्थकता तब है जब उसका लाभ लेने वाले की लीज़र-संतृप्ति (satisfaction) हो। हनुमान को तुष्टि होगी नहीं। जैसा उनका स्वभाव है, उन्हें ग्लानि और हो जायेगी। तो हनुमान विश्राम के आग्रह/अनुरोध को ठुकरा देते हैं। तब हनुमान क्या कंपल्सिव वर्कर हैं? क्या काम उनका नशा (एडिक्शन) है? लेकिन कुछ फर्क लगता है। हनुमान तो चिरंजीवी है जबकि जापान में जहाँ कार्योन्माद एक गंभीर सामाजिक समस्या है और उसके कारण लोग 'अर्ली डेथ' (जल्द मौत) का शिकार हो रहे हैं। वह भी काम करते हुए। इस संघटना को जापानी में 'करोशी' कहा गया है। लेकिन हनुमान तो अमर हैं। कार्योन्माद तो उमर घटाता है। कार्योन्माद तो रिश्तों की असफलता है, लेकिन यह हनुमान तो पर्वत तक से आत्मीयता कायम कर लेते हैं। तब यह कार्योन्माद नहीं, कर्तव्यपरायणता है। किलिंजर ने कार्योन्माद पर किये गये एक प्रयोग (1991) के बाद कहा कि "Peak performances are a form of ecstasy, and the accompanying surges of adrenaline acts like a drug." तो कार्य-लक्ष्य की उपलब्धि महा-उत्तेजना का एक प्रकार है और उससे उमड़ने वाली एड्रीनलिन एक तरह का नशा है।

राम काज की बात महत्वपूर्ण है। रामकाज के लिए रघुपति को हृदय में रखकर चले हैं हनुमान। कार्य भी है और विश्वास भी। कर्म और श्रद्धा साथ-साथ। बाइबल में बिना कर्म के श्रद्धा को आत्मा के बिना शरीर कहा गया है। प्रभु के कार्य का यह महत्व हैः What does it profit my brethren, if someone says he has faith but does not have works? Can faith save him? Faith by itself, if does not have works, is dead. Do you notice that faith was active with His works and through works faith was made perfect? You see then that a man is justified by works and not by faith only. For as the body without the spirit is dead, so faith without work is dead also. [इसका क्या लाभ, मेरे भाइयों, यदि कोई कहे कि उसे श्रद्धा है, पर काम नहीं हैं। क्या श्रद्धा उसे बचा सकती है? इस प्रकार श्रद्धा, यदि उसके पास काम नहीं हो, मृत है। क्या तुम देखते हो कि श्रद्धा उसके (अब्राहम के) कामों के साथ सक्रिय थी और काम के द्वारा श्रद्धा सम्पूर्ण बनाई गई। देखें कि आदमी का औचित्य कामों से होता है, सिर्फ श्रद्धा के द्वारा नहीं। क्योंकि जैसे शरीर आत्मा के बिनामृत है, श्रद्धा भी काम के बिना मृत है।] हनुमान रामकाज को लक्ष्य की तरह सामने रखकर चले हैं। भगवान का काम प्रकट तौर पर यह है कि सीता को देखकर उन्हें राम का संदेश कहना, राम की मुद्रिका उन्हें देना और सीता का संदेश राम तक पहुंचाना। जब तक हनुमान यह कर नहीं लेंगे, चैन से उन्हें बैठना नहीं है। अभी जो जलनिधि मैनाक पर्वत को उनका श्रम हरण करने को कह रहा है- वह खातिर जमा रखे, जब रामकाज हो जाएगा तो किसी दूसरे को नहीं, स्वयं जलनिधि को ही हनुमान श्रम हरण करने का मौका देंगे। "पूंछ बुझाइ खोइ श्रम धरि लघु रूप बहोरि"। दूसरे, जिंदगी में जो काम हम करते हैं, क्या हम उन्हें रामकाज मानकर करते हैं? रामकाज के रूप में किसी कार्य को परिभाषित करने की कुछ पूर्व-शर्तें हैं? क्या वह काम भगवत्कार्य की-सी पवित्रता, गरिमा और उदात्तता रखता है? क्या उस कार्य के प्रति हममें कर्ता-भाव है या हम उसे भगवान को सौंपकर कर रहे हैं? क्या हमें लगता है कि इस कार्य के जरिए शिव-संकल्प ही चरितार्थ हो रहा है? वह किसी ने कहा है न कि It is good to do the Lord's work, but better still to do His will. कि भगवान का काम करना अच्छा है किन्तु उससे भी

अच्छा है भगवान के संकल्प को क्रियान्वित करना। भगवत्कार्य के लिए जिस प्रतिबद्धता और उच्चतर स्तर के बलिदान की जरूरत होती है, क्या वह हममें है? भगवान का कार्य भगवान की ही शक्ति से संभव है। यह शक्ति ईश्वरीय प्रेरणा और ईश्वरानुराग से ही आती है। यदि हम अपने बूते पर भगवान का काम करने चलेंगे तो एक आध्यात्मिक बर्नआउट के शिकार हो जाएंगे।

लेकिन आज की दुनिया को सबसे बड़ा खतरा उन से है जो अपने काम को रामकाज की तरह पेश करते हैं। मसलन 1992 में अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने क्या कहा था? And so to every sailor, soldier, airman, and marine who is involved in this mission, let me say you are doing God's work. सोमालिया मिशन के वक्त बोले गए शब्द। हिटलर ने क्या लिखा था "मेरा संघर्ष" में : I believe that I am acting in accordance with the will of the Almighty Creator; by defending myself against the Jew, I am fighting for the work of the Lord. इसी गौड्स वर्क (बुश) और वर्क आफ द लार्ड (हिटलर) के भरम में क्रूसेड भी लड़े गए, जिहाद भी। आज पनपे रैडिकल इस्लामी आतंकवादी बाम्बर्स सब भगवान का काम करने का दावा पेश करते हैं। निर्दोषों और नागरिकों को मारना खुदा के काम की तरह बताया जाने लगा है। ऐसे में जबकि अपने निहित स्वार्थों और एजेंडाओं को अल्लाह का काम बताया जा रहा हो, हनुमान उनमें से हैं जो रामकाज को अपना एजेंडा ही नहीं, अपने अस्तित्व का सार बना लेते हैं। रामकाज को अपना काम कहना भक्ति है। अपने काम को रामकाज कहना आध्यात्मिक बर्नआउट है बल्कि आजकल के आत्मघाती बांबरों को देखें तो शायद वह भौतिक बर्नआउट भी है। वह झूठ, फरेब, मक्कारी और अमानुषिकता है जबकि रामकाज पवित्रता, गरिमा और उदात्तता है। कमीनगी और करूणा में जमीन आसमान का फर्क है। उत्पीड़न और उपकार में भी। हाल में हुए अमेरिकी चुनावों में उपराष्ट्रपति पद की उम्मीदवार सारा पालिन को लग रहा था कि ईराक पर अवैधानिक तरीके से किया गये आक्रमण द्वारा भगवान का काम किया जा रहा था। लोग अपनी बर्बरता भी प्रभुकाज के रूप में प्रस्तुत करने से बाज नहीं आएंगे। लेकिन यह सिर्फ जीवन लेने वालों तक ही नहीं, जीवन देने वालों के बीच भी है। उनमें से कई बार लोगों को ऐसे ही लगता है कि वे भगवान का काम कर रहे हैं। आनुवंशिकी (जेनेटिक्स) में काम कर रहे लोगों का, जैवयंत्रियों (बाओ-इंजीनियरों) को, उर्वरता विशेषज्ञों (फर्टिलिटी एक्सपर्ट्स) को ऐसी ही लगा था। पानोस जावोस नामक वैज्ञानिक जो पहला मानवीय क्लोन बेबी बनाने का प्रयोग कर रहा है, यही कहता है : "Why is that right and doing God's work wrong? God said to Adam and Eve go out and populate the world. He did not say how to do it. Therfore I am doing God's work."

आईंस्टीन की बड़ी इच्छा थी कि वह भगवान को काम करता हुआ पकड़े (टु कैच गॉड एट वर्क)। भगवान का कार्य क्या है? यह समझने के लिए श्रद्धा जरूरी है। यह वह श्रद्धा है जो किसी तरह की कंडीशनिंग/ब्रेन वायरिंग/इनडॉक्ट्रिनेशन का नतीजा नहीं है, जो किसी कैंप में कच्ची उमर के - इम्प्रेशनेबल उमर के - बच्चों को प्रशिक्षण देने का फल नहीं है, जो लोग "डिवाइन कमांड" बताने की खेती करते हैं, वे लोग कमांडो तैयार करते होंगे। लेकिन रामकाज क्या है, यह समझने की प्रेरणा का अन्तःस्फुरण ही होता है और वह सहज ही होता है। वह मस्तिष्क में ठूंसकर भरना नहीं है, वह हृदय को खोलना है। वह जीवन के प्रति फ्रस्टेशन नहीं है बल्कि आशाओं के मैत्रीपूर्ण अन्तरिक्ष का जगना है। इसलिए रामकाज में स्वस्ति होगी, करुणा होगी, विश्व-कल्याण होगा। वह मतिभ्रम नहीं है, मनश्चक्षु है, मनश्चेतना है।

हनुमान नहीं रुकते क्योंकि इनर्शिया का नियम भी है : It is easier for something in motion to stay in motion. conversely, once an object

(or person) is at rest, it is easier to stay at rest. हनुमान की शुरुआत हो चुकी है। उन्होंने अच्छी गति भी पकड़ ली है। अब रुककर वे अच्छे खासे प्रवाह और लय को बिगाड़ें क्यों? सातत्य के अपने लाभ हैं। जब वे चिरन्तन का काम कर रहे हैं तो उन्हें स्वयं भी अविरत और अविरल रहना होगा। रामकाज उस अक्षर का कार्य है, उस नित्य का। तो जरूरी यह भी है कि वह अविराम हो और अनवरत भी। अतः विश्राम न लेने का तर्क रामकाज होने से उभरता है। उनमें एक हेतुहेतुमद्भाव है। अवधि तो वैसे ही बीत गई है, ऐसे में विश्राम की गुंजाइश बची ही कहां। अब तो सिद्धार्थ हुए बिना कोई मुक्ति नहीं है, कोई गति नहीं है। बेहतर है गति बनाए रखो। चरैवेति चरैवेति। चरामेति, चरामेति। अब इस जुनून से ही जय होगी। अब तो जो लौ लग गई है, वही लब्धकाम करेगी। वैसे भी, यह जो यात्रा है - यह चरितार्थ होने के लिए चैतन्य, चपलता और चुस्ती चाहती है। किसी तरह की ढील यहां महंगी पड़ेगी। रामकाज की गरिमा ही ऐसी है कि उसमें गफ़लत को कोई जगह नहीं है। यहां जितना चलना है, उतना अविचलित रहना है। अभी तो बहुत संकट आएंगे, परीक्षा की घड़ियां आएंगी, वीरव्रती हनुमान के सामने। हनुमान अभी न मद्धम होंगे, न म्लान। संकल्पसिद्धि से पहले हनुमान के यहां शिथिलता की कोई गुंजाइश नहीं। कर्त्तव्यपालन के प्रति गंभीरता हनुमान की पहचान है - पसीना उन्हें भीतर की पोरों से नहलाता है। वह उन रंध्रों तक पहुंचता है, जहां कोई शॉवर कभी नहीं पहुंच सकता। वही उन्हें स्फूर्त बनाए रखता है। पाब्लो पिकासो भी यही कहते थे : जब मैं काम करता हूं, रिलैक्स करता हूं। जब कुछ नहीं करता तो थक जाता हूं।

जात पवनसुत देवन्ह देखा
जानैं कहुँ बल बुद्धि बिसेषा
सुरसा नाम अहिन्ह कै माता
पठइन्हि आइ कही तेहिं बाता
आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा
सुनत बचन कह पवनकुमारा

देवताओं ने पवनपुत्र हनुमानजी को जाते हुए देखा। उनकी विशेष बल-बुद्धि को जानने के लिये (परीक्षार्थ) उन्होंने सुरसा नामक सर्पों की माता को भेजा, उसने आकर हनुमानजी से यह बात कही कि आज देवताओं ने मुझे भोजन दिया है। यह वचन सुनकर पवनकुमार हनुमानजी ने कहा-

gods तो god ही रहेंगे, God नहीं बन जाएंगे। देव तो देव ही रहेंगे। भगवान नहीं हो जायेंगे। तो वे यह भी करेंगे कि जिस पर भगवान ने भरोसा किया है, उसकी जांच-पड़ताल करें। जिसे भगवान ने योग्य समझा है, ये उसकी अर्हता की जांच करेंगे। भगवान भरोसे में रह सकते हैं, लेकिन देवता तो अपनी ओर से दरयाफ्तगी करेंगे ही। राम तो जानते हैं, लेकिन देवता तो टोह लेंगे। उनकी आंखों में तो बहुत से सवालिया निशान हैं। रावण के हाथों पराजित और खदेड़ दिये गये देवताओं के मन में अब हर चीज के प्रति शंका है। हर चीज के प्रति अंदेशा है। वे अस्थिर हो गये हैं और अशांतचित्त भी। उनके भीतर एक उद्वेग और एक खटका बना ही रहता है। जब तक वे सत्ता में थे, अशंक थे, बेफिक्र थे, निर्द्वन्द्व थे। लेकिन रावण के हाथों एक के बाद एक पराजय झेलकर अब वे आश्वस्ति के उस भाव से भी दूर हो गये हैं। व्यग्र हैं, व्याकुल हैं। ऐसी उन्मन अवस्था में वे यह नहीं सोच पाते कि ये राम के दूत हैं। यह समझ जड़ जलनिधि में है, यह समझ देवताओं में नहीं है। इस हद तक असर है आघात का। वे नहीं समझ पाते कि यह रूद्रावतार है। वे नहीं याद कर पाते कि यह वही हनुमान है जिसने बचपन में ही देवताओं को अपनी जागतिक शरारतों से छठी का दूध याद करा दिया था। राम ने जब हनुमान ही को मुद्रिका सौंपी तो उसके साथ उन्हें अपना एतबार भी सौंपा। लेकिन देवताओं को बहुत सी बदगुमानी है। इसलिए वे अपनी तसल्ली कर लेना चाहते हैं। जब उन्होंने पवनपुत्र हनुमान को जाते हुए देखा तो इतना तो वे पहचान गये कि हनुमान की आनुवंशिकी क्या है, कि हनुमान किस वंश के हैं, किसके पुत्र हैं। लेकिन इसके बाद भी उन्हें संतोष नहीं हुआ। पवनपुत्र होने के अर्थ का विशद वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। देवपुत्र होने, मारुति होने की महत्ता से तो अवगत हो गये। वह अपने आप में कोई छोटी बात नहीं है। वायुदेव देवताओं में अपनी श्रेष्ठता पहले ही सिद्ध कर चुके हैं। यह हनुमान उन्हीं वायु का पुत्र है। महाकार जलनिधि और मैनाक तो उसकी सहायता के भाव से आगे आते हैं, लेकिन अनाकार, अशरीरी कहलाने वाले देवता सहायता नहीं, परीक्षा के भाव से व्यस्त हैं। पृथ्वी के समुद्र और पर्वत तो सहानुभूति रखते हैं लेकिन गगनचर, द्युनिवासी, दिव्य (celestial) कहलाने वाले देवता किसी भावुकता में नहीं पड़ते। वे तो ठोंक बजाकर देख लेना चाहते हैं।

देखना चाहते हैं हनुमान की बल बुद्धि। बल और बुद्धि। 'अतुलितबलधामं' में हम हनुमान के बल की चर्चा कर ही चुके हैं। बुद्धि को भी देखना चाहते हैं। वेदव्यास ने महाभारत के शांति पर्व (1112/17) में कहा- 'बुद्धिमूलं तु विजयं मनुरब्रवीत्'- कि मनु का कथन है कि विजय का मूल बुद्धि ही है। चूंकि देवता हनुमान की विजय चाहते हैं, अतः उनकी बुद्धि के बारे में पहले तसल्ली कर लेना चाहते हैं। हारे हैं, इस कारण इस मामले को लेकर वे किसी तरह की गफलत में नहीं रहना चाहते। वैसे तो देवता स्वयं बुद्धि के प्रदाता हैं, जैसा कि श्री हर्ष ने (नैषधीय चरित, 14/9) कहा : 'देवा हि नान्याद्वितरन्ति किन्तु/प्रसद्यते साधुधियं ददन्ते' अर्थात देवता प्रसन्न होने पर और कुछ तो नहीं देते, सद्बुद्धि ही प्रदान करते हैं। इसलिए देव-परीक्षा ठीक ही है। यदि कोई कमीबेशी रही तो देवता सोचते हैं कि वे ठीक कर देंगे। शुकसप्तति (कहानी 6, श्लोक 63) में कहा गया है : 'यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्/ बुद्धिः तस्यापकर्षन्ति' कि देवता जिसे दुःख देना चाहते हैं, उसकी बुद्धि हर लेते हैं। यहां देवता हनुमान का पराभव नहीं, उनकी विजय देखना चाहते हैं, इसलिए वे बुद्धि हरण नहीं करेंगे। हां, बुद्धि-परीक्षण अवश्य करेंगे। दण्डी ने दशकुमार चरित, षष्ठ उच्छवास में लिखा है : 'दुष्कर साधनं प्रज्ञा'- कि कठिन कार्य का साधन बुद्धि है। चूंकि हनुमान तो उस रावण से भिड़ने जा रहे हैं जिसने देवताओं तक को पराजित कर दिया, इसलिए कार्य तो कठिन है ही। उस हेतु बुद्धि भी ऐसी चाहिए जो देवों से भी विशेष हो, उनसे भी दो कदम आगे। तभी तो हनुमान की जीत की संभावना बनेगी। यदि वह बुद्धि ऐसी ही है जितनी देवताओं की, तो शायद उसे भी रावण के हाथों हार मिले। इसलिए हनुमान की बुद्धि

देवोत्तर ही होनी चाहिए।

देवता यदि ध्यान देते तो अभी अभी 'राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहां बिश्राम' कहकर आगे निकले हनुमान की बुद्धि के बारे में इसी कारण सन्तुष्ट हो जाते। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में (1/10/29) यही कहा थाः 'कृता च कलुषा बुद्धि रूपधाभिश्चतुर्विधा/ नागत्वान्तर्निवर्तेत् स्थिता सत्त्ववतां धृतो' कि चतुर्विध उपधाओं (धार्मिक, आर्थिक, काम-संबंधी तथा भय-संबंधी गुप्त उपायों द्वारा अमात्यों की परीक्षा को चाणक्य ने 'अर्थशास्त्र' में 'चतुर्विधा उपधा' कहा है) से भेद को प्राप्त कराई हुई धीर पुरुषों की बुद्धि निश्चित अभिप्रेत फल को प्राप्त किये बिना कभी विराम नहीं लेती। हनुमान भी इसलिए अविराम और अप्रतिहत हैं। वे न केवल मैनाक पर्वत को ऐसा कह चुके हैं बल्कि सुरसा को भी यही कहेंगे- 'राम काजु करि फिरि मैं आवौं।' उनके भीतर जो लगातार लक्ष्यानुगमन की जो प्रवृत्ति है, वह उनके असाधारण बल की ही नहीं, उनकी असाधारण बुद्धि की भी सूचक है। कालिदास ने लोकतंत्र की परिभाषा ही यही दी है- और ध्यान दें कि 'डेमोक्रेसी' शब्द के आविष्कार से पहले उनका 'लोकतंत्र' शब्द आया था- कि 'अविश्रमोऽयं लोकतंत्राधिकारः' कि लोकतंत्र के अधिकार (कर्त्तव्य) में विश्राम नहीं है। ऐशोआराम वाले राक्षसी तंत्र की तुलना में हनुमान लगातार कर्मरत लोकतंत्राधिकारी हैं।

नारायण पंडित (हितोपदेश, 4/7) ने कहा है : "उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान" कि आपत्ति उपस्थित होने पर जो उसका प्रतिकार कर लेता है, वह बुद्धिमान है। इसलिए देवता सुरसा को एक आपत्ति की तरह हनुमान के सामने पेश करते हैं। बुद्धि की परिभाषा मनोवैज्ञानिकों ने समस्या-समाधान की दक्षताओं (प्राब्लम साल्विंग स्किल सेट) के रूप में की ही है। हनुमान आगे चलकर सिद्ध करेंगे कि सुरसा नामक इस आपदा का ही नहीं और भी बहुत सी आपत्तियों का प्रतिकार करते हुए वे सतत आगे बढ़ते जाते हैं और अपने लक्ष्य को उत्तीर्ण करते हैं। इन सबमें जितना उनका बल काम आता है, उतनी उनकी मेधा और मनीषा भी। इसलिए उन्हें "बुद्धिमतां वरिष्ठं" कहा गया है। हनुमान की विलक्षणता ने बहुत से मोर्चे और चुनौतियां जीती हैं। यदि तेलुगू साहित्यकार पिंगलि सूरन्ना (प्रभावती प्रद्युम्न) ने कभी यह कहा : "अच्चपु बुद्धि कि लेवगम्यमुल्" कि स्वच्छ बुद्धि के लिए कुछ भी अगम्य नहीं है तो वह इसी कुशाग्र और प्रगल्भ किंतु साथ ही एकदम निर्मल विवेक के धनी हनुमान पर ही खरा उतरना था। जौन मोर्ले ने जब यह कहा कि Simplicity of character is no hindrance to subtlety of intellect. चरित्र की सादगी बुद्धि की सूक्ष्मता के लिए कोई बाधा नहीं है तो वह हनुमान जैसों के लिए ही कहा होगा। हनुमान जितने प्रबुद्ध हैं, उतने पवित्र भी। हनुमान की बुद्धि उस तरह की दुनियादार दानिशमंदी नहीं है जिससे आजकल के नटवरलाल काम चलाते हैं। वह अपने साथ उद्देश्य की पावनता लिए हुए है। हनुमान हृदय से इतने निर्मल हैं कि उसके कारण उनकी बुद्धि की आभा और बढ़ जाती है।

यह ध्यान देने की बात है कि देवता हनुमान की आध्यात्मिकता की परीक्षा नहीं लेते। वे उनके दो भौतिक तत्वों - बल और बुद्धि - की परीक्षा लेते हैं। हनुमान के भीतर जो ईश-तत्व है, जो "हिय धरि रघुनाथ" वे चले हैं, उनमें उस ईश-तत्व की परख करने का उत्साह और प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हुई जबकि हनुमान अपने बल और अपनी बुद्धि के लिए सारे रसायन और रस इसी एक अमृतकुंड से प्राप्त करते हैं। इसका एक कारण तो शायद वह रहा होगा जो एक अंग्रेजी विद्वान ने कहा कि We cannot afford to eliminate altogether the intellecutal element from our spiritual life. लेकिन दूसरी बात जो महत्वपूर्ण लगती है कि जिसे हम "दिव्य" (celestial) भी कहते हैं, वह भी इस बात के बारे में ज्यादा उत्सुक है कि हमारा 'पार्थिव' कैसा है? जिसे हम सांसारिक कहते हैं, वह इतना भी तुच्छ नहीं है। देवता हनुमान के कैवल्य और तथागति को जानने के लिए व्यग्र नहीं है, वे तो बहुत ऐहिक और बहुत

लौकिक तत्वों बल और बुद्धि की जांच करना चाहते हैं। हेनरी एमिएल ने उचित ही कहा : The decisive events of the world take place in the intellect. कि इस संसार की निर्णायक घटनाएं बुद्धि के भीतर घटती हैं। आज के युग में भी यही बात है। आज भी यह 'बौद्धिक संपदा' (intellectual capital) ही है जो किसी व्यक्ति या किसी कंपनी को अपनी प्रतिस्पर्धियों की तुलना में लाभ की हालत में रखती है - एक competitive edge देती है। बुद्धि को पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों ने अलग-अलग रूप में परिभाषित किया है। स्टर्नबर्ग और साल्टर के लिए बुद्धि का अर्थ है : लक्ष्याधारित अनुकूलन व्यवहार (Goal-directed adaptive behaviour). हनुमान सतत लक्ष्य-केन्द्रित रहते हैं, यह तो मैनाक और सुरसा दोनों ही गवाही देंगे। हार्वर्ड गार्डनर को बुद्धि "समस्या-समाधान दक्षताओं" की तरह लगती है। हनुमान एक के बाद एक समस्याओं का निराकरण करते चले जाते हैं। डेविड वेश्लर बुद्धि को एक ऐसी समग्र क्षमता के रूप में देखता है कि जो अपने पर्यावरण से प्रभावशील तरीके से संक्रिया करती है। उद्देश्यपूर्वक कार्य करती है। हनुमान पर्यावरण से वैसी ही समझदारी के साथ पेश आते हैं। काम भी वे सोद्देश्य करते हैं। सिरिल बर्ट बुद्धि को एक तरह की अंतर्भूत सामान्य संज्ञानात्मक योग्यता मानता है जबकि लिंडा गॉटफ्रेडसन उसे संज्ञानात्मक जटिलताओं को साधने की शक्ति के रूप में देखती हैं। हनुमान की संज्ञानात्मक क्षमता भी अद्वितीय है। वे हमेशा नए ज्ञानार्जन में लगे रहते हैं।

यह भी ध्यान दें कि तुलसी हमेशा बल और बुद्धि की बात साथ-साथ करते हैं। हनुमान चालीसा में भी "बलबुधि विद्या देहु मोहिं" में भी बल और बुद्धि दोनों को साथ रखा गया है। तुलसी दोनों को साथ रखकर दोनों की अंतःनिर्भरता की भी बात करते हैं। शेख सादी ने (गुलिस्तां, आठवां अध्याय) में लिखा है : 'राये बेकुव्वत मक्रो फुसूनस्त व कुव्वत बेराय जेहल व जुनून' कि बुद्धि बिना शक्ति के छल और कल्पना मात्र है और शक्ति बिना बुद्धि के मूर्खता और उन्माद है। तुलसी बराबर जिन्दगी के इन दो पहलुओं का संतुलन ही नहीं बनाए रखते बल्कि समन्वय भी बनाए रखते हैं। यानी तुलसी वेद व्यास की तरह यह नहीं कह रहे कि "ये तु बुद्धया हि बलिनस्ते भवन्ति बलीयसः/प्राणमात्रबला ये वै नैव ते बलिनो मताः" कि जो बुद्धि में बली होते हैं; वे ही बलिष्ठ माने जाते हैं। जिनमें केवल शारीरिक बल होता है, वे वास्तव में बलवान नहीं समझे जाते। तुलसी बल और बुद्धि को समरस करते हैं। वे उन्हें एक दूसरे में घोलते हैं। जिस तरह से तुलसी के बहुत बाद आए लेकिन आधुनिक पुनर्जागरण के तुलसी जैसे ही प्रवर्तक विवेकानन्द ने बल और शक्ति पर जोर दिया, उसी तरह से मध्ययुग में तुलसी ने लगभग वैसी ही सांस्कृतिक और राजनीतिक संक्रांति के दौर में बल-संवर्धन और शक्ति-संग्रह पर जोर दिया। इस हद तक कि हनुमान की प्रथम विशेषता "अतुलित बलधामं" बताई। तुलसी का "बल बुद्धि बिसेषा" इस अर्थ में विशिष्ट है कि वहां बल और बुद्धि का मणिकांचन योग है।

तो देवता हनुमान की बल-बुद्धि की परीक्षा करते हैं। बुद्धि-परीक्षण कोई अभी हाल के आई.क्यू. टेस्ट या साइकोमीट्रिक्स टेस्ट की तरह आधुनिक युग मात्र की उपज नहीं है। देवताओं ने हनुमान की बुद्धि-परीक्षा ली ही थी। स्टेनफोर्ड-बिने आधुनिक बुद्धि-परीक्षण के जन्मदाता होने का दावा कर सकते हैं, रैवन की 'प्रगतिशील (प्रोग्रेसिव) मैट्रिसेस' भी बुद्धि-परीक्षा करती है, वेश्लर का 'वयस्क बुद्धि पैमाना' भी है। लेकिन हनुमान का परीक्षण इस मायने में विशेष है कि वह जितना बुद्धि का परीक्षण है, उतना बल का भी। वह मूलतः इन दोनों की जुगलबंदी का परीक्षण है। वह तयशुदा (fixed) बुद्धि का मापन नहीं है, वहां बुद्धि स्फटिकीकृत (crystallized) नहीं है, वह द्रवित (fluid) है और गतिशील भी। ऐसा परीक्षण देवों के ही बस की बात है। वैसे भी आजकल के बुद्धि-परीक्षण अपनी-अपनी आलोचनाएं आमंत्रित कर रहे हैं। स्टीफन जे. गोल्ड ने अपनी पुस्तक 'द मिसमेज़र ऑफ मैन' (आदमी का गलत मापन) में ऐसे

परीक्षणों की धज्जियां भी उड़ाई हैं। यही बात शारीरिक शक्ति परीक्षणों की भी है। पुलमैन का दैहिक शक्ति परीक्षण हो या पुलिस व सेना में होने वाले शारीरिक शक्ति परीक्षण-वे सब देवताओं के द्वारा की जा रही रामभक्त हनुमान की परीक्षा से भिन्न हैं। यह बल और बुद्धि के संयुक्त डायनेमिक्स का परीक्षण है।

यह स्वयं तुलसी के शब्दों में विशेष बल और विशेष बुद्धि का परीक्षण है। यह खोज विशिष्टता और वरिमा की है। यह खोज उस 'गिफ्ट' की है जो किसी को बेजोड़ बनाती है, अप्रतिम बनाती है, जो अन्तर पैदा करेगी। देवता उस असाधारणता की तलाश में है। उस एकमात्रता की खोज में। वे न औसत और न स्टैण्डर्ड योग्यता देख रहे हैं। जोसेफ रेंजुली ने गिफ्टेडनेस की परिभाषा में कार्य पूरा करने में जिस उच्चस्तरीय प्रतिबद्धता और उच्च स्तरीय रचनात्मकता का उल्लेख किया (करेंट रिसर्च ऑन द सोशल एंड इमोशनल डेवलपमेंट ऑफ द गिफ्टेड एंड टेलेन्टेड-1978), हनुमान उसी समर्पण और निष्ठा और सकारात्मकता का परिचय देते हैं। रावण की चुनौती साधारण नहीं है। उस जैसा साम्राज्यवादी, उस जैसा आतंकी, उस जैसा निरंकुश कम ही देखने में आता है। रावण संहिता में उसके बारे में कहा गया : 'तान् भक्षयित्वा तत्रस्थान् महर्षीन् यज्ञमागतान्/वितृप्तो रुधिरैस्तेषां पुनः सम्प्रदायों महीम्' कि रावण उस यज्ञ में बैठे ऋषियों को खाकर तथा उनके रक्त को पीकर पूर्ण रूप से तृप्त होकर पुनः पृथ्वी पर भ्रमण करने लगा।' यही संहिता यह भी बताती है कि रावण ने मनुष्यों, ऋषियों, दानवों तथा देवताओं की कन्याओं का जबरदस्ती अपहरण कर लिया था। रावण जिस किसी कन्या या स्त्री को सुंदर और दर्शनीय स्वरूप में देखता था, उसके बंधुजनों को मारकर उसे अपने पुष्पक विमान में बिठा लेता था। वे सभी कन्याएं अपना एक समान दुःख होने के कारण आंसू बहा-बहाकर रोती थीं। ब्रह्मा से मिले वरदान के सहारे उसने ऐसी सत्ता स्थापित की कि इन्द्र और यम भी उसके सामने ठहर नहीं सके। ऐसे रावण की लंकापुरी में जाने वाले व्यक्ति के भीतर विशेष प्रतिभा, जिसे आजकल बहुसंभाव्यता (multipotentiality) और 'अत्यन्त उत्तेजित बना देने योग्य शक्तियां' (over excitabilities) कहा जाता है, होना चाहिए।

हनुमान में जिस विशेषता को देखा जा रहा है, वह किसी भेड़ चाल के भी विरुद्ध पड़ती है। हनुमान के पास जो एक अतुल्य प्रतिभा का उजास है, वह देखादेखी वाली गतानुगतिकता को खारिज करता है। बल और बुद्धि की विशेषता उनकी मौलिकता में है। फ्रैंज काफ्का ने मौलिक होने के लिये सलाह दी थी कि शुरू करो उससे जो सही है, न कि उससे जो स्वीकार्य है। हनुमान का राम को मन में रखकर निकलना और उनके द्वारा सौंपे गये कार्य को पूरा करने की राह में आगा पीछा कुछ भी न देखना इस बात का सबूत है कि वे 'सही' की दिशा में ही अग्रसर होते हैं। यही उनकी खासियत है। वे आसान राहों को नहीं चुनते। वे अनुकरण में भी प्रवृत्त नहीं होते। उनकी स्पिरिट में, उनके अंतर्तम में कहीं कोई एक फोर्स है- एक प्रेशर जो उन्हें उन दिशाओं में जाने को प्रेरित करता है जहां कोई मस्ती नहीं है, बल्कि जहां हर पल एक एडवेंचर है, एक थ्रिल है। हनुमान को जिनसे भिड़ना है, भागना नहीं। इसी अर्थ में वे अनूठे हैं, बेमिसाल हैं। खतरों के खिलाड़ी हैं। खतरों में उनकी पर्फार्मेंस कैसी रहती है, देवता इसे देखना चाहते हैं और इसलिए अचानक धम्म से सुरसा को उनके सामने खड़ाकर देते हैं। लेकिन खतरों के बारे में हनुमान की फिलासफी, हो सकता है, वेणुगोपाल की उस कविता की तरह हो : खतरे पारदर्शी होते हैं/खूबसूरत/अपने पार भविष्य दिखाते हुए/जैसे छोटे से गुदाज़ बदन वाली बच्ची/किसी जंगली जानवर का मुखौटा लगाए/धम्म से आ कूदे हमारे आगे/और हम डरें नहीं/बल्कि देख लें/उसके बचपन के पार/एक जवान खुशी/ऐसे ही कुछ होते हैं खतरे/अगर डरें तो खतरे और अगर/नहीं तो भविष्य दिखाते/रंगीन पारदर्शी शीशे के टुकड़े।

सुरसा सर्पों की माता थी। उसे देवताओं ने भेजा था। क्या रोमन लेखक ईलियन (222ई.) ने 'ऑन द

नेचर ऑफ एनीमल्स' नामक पुस्तक में एपिरस के जिस सर्प-अभयारण्य (serpent sanctuary) का वर्णन किया है (जो देवाधिदेव अपोलो को समर्पित था), यह सुरसा वहीं से आई है? सर्पों की माता कद्रू और विनता भी हैं। लेकिन यह सुरसा है। नागों की नहीं, सर्पों की मां। देसी अमेरिकी इंडियंस में भी एक लोककथा है, सर्पों की मां मोहाक के बारे में। हमारी सर्पों की मां हनुमान को तरह-तरह के भ्रम में डालेगी, लेकिन दैविक प्रयोजनों से। यह उस तरह से नहीं है जैसा कि ईसाइयत में सर्प की ईडन वाली भूमिका थी। वहां भी वह भरम में डालता है, लेकिन शैतानी प्रयोजनों से। भारत में सर्पों के साथ शिव की स्मृति का जो एक साहचर्य-सा रहा है वह उनके बारे में वैसे विचार पनपने ही नहीं देता जैसे लूसीफर के कारण पश्चिमी दुनिया में पनपे हैं। बहरहाल क्या सुरसा उन क्रिप्टोजूलाजिकल समुद्री सर्पों की तरह है जो कई देशों की पौराणिकी में स्थान बनाये हैं? नोर्स मिथकों में जोरमनौंड्र या मिडगार्डसोरमेन नामक एक समुद्री सर्प इतना विशाल है कि पूरे विश्व को घेरे हुए हैं। कुछ नोर्स कहानियां बताती हैं कि समुद्री जहाज के यात्री इसकी पीठ को द्वीपों की श्रृंखला समझ लेने की भूल कर जाते हैं। स्कैंडीनैवियन दंतकथाओं में भी समुद्री सर्पों के उल्लेख हैं। खासकर नार्वे में। स्वीडिश कथाकार ओलौस मेग्नस की पुस्तक 'कार्टा मैरिना' में कई समुद्री सर्पों का वर्णन हैं जिनमें से एक तो अत्यन्त विशाल है। 1555 में लिखी उसकी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ द नार्दर्न पीपुल' में नार्वेजियन समुद्री सर्प का भयावह रूपांकन किया गया है। दुनिया भर के अनेक तटीय देशों के यहां समुद्री सर्पों की कहानियां बिखरी पड़ी है। उन्हें हर युग में देखा गया बताया जाता है। 1889 और 1892 के बीच में हेग के रॉयल जीवशास्त्रीय एवं वानस्पतिक उद्यान के निदेशक एन्टून कार्नेलियस ऑडेमांस ने समुद्री सर्पों के बारे में तब तक प्रकाश में आई सारी रपटों का संग्रह किया, उन्हें कालानुक्रम से संयोजित किया, उनमें से गलत पहचान के मामलों को, धोखाधड़ी आदि को अलग किया। उसके बाद भी उसके पास 162 ऐसे मामले रह गये जिन्हें उसने अपनी पुस्तक 'द ग्रेट सी-सर्पेंट' में संग्रहीत किया। समुद्री सर्पों का अस्तित्व आज भी अंतिम रूप से प्रमाणित नहीं हो पाया है। लेकिन उनकी कथाएं लगातार चलती रही हैं।

बेबीलोन व्होर्स नामक एक संगीत बैंड का गीत 'सर्पों की माता' पर है :

And don't you never give all thy heart
Don't believe the voices of the dead
On moonless nights
This from a coin from the ground
This for what's is already mine
— Never ever look behind
Our mother of the serpents

× × ×

This for their gold and silk
Opium, honey and milk
Up on the navel of the world
Beneath the Mother of Serpents
The fear of life.

कि

और तुम कभी नहीं अपना पूरा दिल देना
न भरोसा करना मरे हुओं की आवाजों का
चंद्ररहित रात्रियों पर
यह जमीन पर पड़े हुए एक सिक्के से है
यह तो उसके लिये जो शुरू से मेरा है
— कभी नहीं देखना मुड़कर पीछे
सर्पों की हमारी माता।

× × ×

यह उनके स्वर्ण और उनके रेशम के लिये
अफीम, शहद और दूध के लिये
दुनिया की नाभि के ऊपर
सर्पों की माता के नीचे
डर जीवन का

सुरसा भी डराती है, कहती है कि आज देवताओं ने मुझे आहार दिया है कि हनुमान को वह खा जायेगी।

त्यागराज ने अपने नमस्कारं स्तोत्र में हनुमान को 'सुरसा रिपु' कहा है। लेकिन हनुमान सुरसा से उस तरह का द्वेष नहीं रखते कि उसे अपना शत्रु समझें या स्वयं को उसका शत्रु समझें। स्वयं सुरसा भी देव-प्रेषित है। इसलिए वह एक नकारात्मक प्रतीक नहीं है, वह विरोधी भी नहीं है। सर्पों को प्रायः अभिभावकों के रूप में हमारे यहां देखा गया है, किसी मंदिर, किसी खजाने के संरक्षक की तरह। अंगकोरवाट (कंपूचिया) के मंदिरों में पत्थर के कितने नाग बने हुये हैं। हनुमान भी सुरसा को इसी अभिभावक भाव से देखते हुए 'माई' कहते हैं। यह सुरसा एडगर एलन पो की प्रसिद्ध कहानी 'द मास्क ऑफ एमन्टिलाडो' के सर्प की तरह तुच्छ बदलाखोर नहीं है, प्रतिशोधी स्वभाव की नहीं है। यह मुख्यतः हनुमान की परीक्षा लेने के उद्देश्य से अवतरित हुई है। टफ परीक्षक है, लेकिन उससे अधिक नहीं। ग्रीक कथाओं में हेराक्लीस के दूसरे कार्य (लेबर) के अंतर्गत वह महानायक समुद्र में मिलने वाले एक नौ सिर की हाइड्रा को मारता है। लेकिन वहां यह हाइड्रा वाकई जहरीली है, इतनी कि उसकी सांस से लोग मर जाते हैं। हनुमान हेराक्लीस नहीं और सुरसा भी हाइड्रा नहीं है, भले ही स्वयं हाइड्रा पृथ्वी-देवी की संतति की संतति हो और सुरसा भी दैवीय प्रेषण हो, दोनों समुद्र में हों और एक-दूसरे का आमना-सामना कर रहे हों। प्राचीन मिस्र के मिथकों में रेनेनुटेट और वाडजेट नामक दो सर्प-देवियां हैं। पाताल के प्रवेश द्वार की रक्षिका। सुरसा को देव-प्रेषित तो कहा गया, लेकिन देवी नहीं कहा गया। उसका परिचय बस 'अहिन्ह के माता' की ही तरह है। 'समुद्र मध्ये सुरसा विभ्रती' को वाल्मीकि ने 'एवमुक्ता हनुमता सुरसा कामरूपिणी' कहा। अन्यत्र 'धन्य सुरसा सुखदायिनी' का भी उल्लेख मिलता है।

समुद्र की गहराइयां रहस्यमय और विचित्र हैं। फिर उनमें सुरसा का प्रकटीकरण। हनुमान के बल परीक्षण और बुद्धि परीक्षण दोनों के लिये। मुझे जोसेफ हेंडरसन और मॉड ओक्स की पुस्तक 'द विज़्डम ऑफ द सर्पेन्ट' (सांप की बुद्धिमत्ता) याद आती है। उसमें यह लेखकद्वय कहते हैं- The snake is the root of this power still continued in the unconscious. In so far as it becomes conscious, it implies no certain knowledge but only an intution of liberation for the suffering ego emerging from the coil of illusion in the world of blind passion, and so is a kind of hermetic finger pointing the way to same sort of spiritual salvation. (सर्प हमारे अवचेतन में अभी तक जारी शक्ति का मूल है। जब यह चेतन हो जाता है तो इसका अर्थ कोई तयशुदा ज्ञान नहीं है, बल्कि अंधे भावावेग की दुनिया में माया की कुंडलियों से उभरते हुये पीड़ित अहं के लिये मुक्त होने की अंतःप्रेरणा है और इस कारण यह किसी तरह के आध्यात्मिक मोक्ष की ओर इशारा करती हुई अर्थ-गंभीर उंगली है।)

इस परीक्षा के बाद हनुमान को फिर हर्षानुभव होगा, फिर उनकी अन्तःप्रेरणा चमकेगी। उनके चेतन-अवचेतन में कोई द्वैत नहीं है। वे पूर्णतः एकाग्र होकर अपने कार्य के लिये प्रस्थित होंगे। आध्यात्मिक मोक्ष के लिये नहीं, अपने पर सौंपे गये दायित्व को निबाहने। फिर भले ही निबाहने की अंतिम फलश्रुति किसी तरह का आध्यात्मिक मोक्ष हो। वैसे यदि मोक्ष का अर्थ किसी तरह की दायित्व-मुक्ति है तो वह हनुमान के लिये तो कम से कम कभी नहीं है। हनुमान चंद अमर लोगों में यदि हैं, यदि वे चिरंजीवी हैं तो इसका अर्थ यह भी है कि उन्हें हर युग में किसी न किसी तरह के राम काज के दायित्व को निबाहते ही रहना है। सहर्ष।

सुरसा हनुमान की राह में सीधे नहीं आ गई है, उसे भेजा गया है। देवताओं के द्वारा भेजा गया है। स्त्री को भेजा गया, हनुमान की बल बुद्धि की परीक्षा लेने, यह महत्वपूर्ण बात है। जो लोग तुलसी को नारी विरोधी बताने में अपनी तमाम ऊर्जा खर्च कर चुके हैं, जिन्होंने कागज पर कागज खर्च कर दिये हैं, उन्हें इस मुकाम पर बुलाइये। हनुमान जैसे महावीर की परीक्षा देवताओं में से ही कोई किसी तरह का रूप धारण कर क्यों नहीं ले

लेता। यह ठीक है कि देवता रावण से हार चुके हैं, लेकिन यह तो सिर्फ प्रारंभिक परीक्षा है, स्क्रीन टेस्ट है। इस तक को करने के लिये भी देवता प्रस्तुत नहीं। ऐसे देखा जाये तो देवताओं द्वारा परीक्षा लिये जाने के वृत्तांतों से पुराण और महाकाव्य भरे पड़े हैं। लेकिन इस परीक्षा के लिये स्त्री का चयन यह बताता है कि जिस परंपरा ने इस हेतु सुरसा को चुना, वह परंपरा स्त्री को न बल में और न बुद्धि में हीन मानती है। लोमकस्सप जातक में कहा गया : बलं चन्दो बलं सुरियो बलंसमणब्राह्मण/ बलं वेला समुदस्स बलाति-बलं इत्थियो। कि चन्द्रमा बलवान है, सूर्य बलवान है, श्रमण व ब्राह्मण बलवान हैं, समुद्र की लहरें बलवान हैं परंतु सबसे अधिक बलवान स्त्रियां हैं। हनुमान सूर्य का बल बचपन में ही जांच लिये, समुद्र की लहरों का बल अभी देखते ही आ रहे हैं और अब इस बल को उनके सामने परीक्षार्थ ला खड़ा किया गया है। इसलिए यह ऐसा नहीं है कि अबला से बल-परीक्षण करवाया जा रहा है। यह 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी' वाली बात नहीं है। एक सज्जन इसकी व्याख्या यह कहकर करते हैं कि स्वयं देवतागण इनके बल और बुद्धि की परीक्षा करने में असमर्थ हैं, इसलिये उन्होंने स्त्री को भेजा, कारण कि स्त्री अवध्य हैं। वैसे स्त्री के अवध्य होने की धारणा भारतीय परम्परा में रही है। वेदव्यास ने महाभारत के आदि पर्व (157/31) में कहा है : 'अवध्यां स्त्रियमित्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये' कि धर्मज्ञ विद्वानों ने धर्म-निर्णय के प्रसंग में स्त्रियों को अवध्य बताया है। (ग़ज़ब है, उसी भारत में कन्या भ्रूण हत्या की निर्लज्ज अमानुषिकताएं!)। लेकिन इस व्याख्या में एक तो यह कि 'स्वयं देवता क्यों नहीं परीक्षा करते' के प्रश्न का निराकरण एकदम सतही है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। दूसरे स्वयं राम ताड़का का वध कर ही चुके हैं, इसलिए अवध्यता की कसौटी कोई कसौटी नहीं। वैसे भी जब ऐसी नौबत आती, तब देवता अपने मूल रूप में आ जाते। उन्हें इससे कौन रोकता। एक कहते हैं कि राक्षस बली और मायावी होते हैं। सुरसा माया और बल, दोनों से परीक्षा लेने में समर्थ होगी, लेकिन रूप तो देवता भी धार सकते हैं। इंद्र तो गिरिभेदी हैं, वज्रधर हैं, विश्वगोप्ता है, सहस्रग हैं, सहस्रयोनि हैं, सहस्रलोचन हैं। फिर समुद्र-संतरण करते हुये हनुमान की परीक्षा तो वरुण भी ले सकते थे। वे पाशपाणि हैं, अंबुराज हैं। हां, मरुत तो हनुमान की परीक्षा लेंगे नहीं। वे अपने बेटे की सामर्थ्य को जानते हैं। सूर्य तो हनुमान को बचपन में ही भुगत चुके हैं। बहरहाल, देवताओं के पास विकल्प तो बहुत से थे। उन्होंने सुरसा को ही क्यों चुना? एक व्याख्या यह की जाती रही कि सर्प चूंकि पवनभोजी होते हैं और हनुमान चूंकि पवनपुत्र हैं, इसलिए सुरसा ही उनकी सही परीक्षा ले सकती हैं। उचित है, लेकिन तब वे बड़े बड़े नाम- अनन्त, वासुकि, पद्मनाभ, कम्बल, शंखपाल, धृतराष्ट्र, तक्षक आदि भी थे। यह कष्ट सुरसा को ही क्यों दिया गया? इसमें बात उस अवध्यता की नहीं है। इसमें कहीं स्त्रियों के प्रति उस तरह की मान्यता का खंडन जरूर निहित है कि 'रोदनं स्त्रीणां बलम्' कि रोना स्त्री का बल है। यह सुरसा रो नहीं रही है। वह तो हनुमान की परीक्षा बल और बुद्धि के क्षेत्रों में ले रही है। सुरसा हनुमान को यह कहकर डरा रही है कि देवताओं ने हनुमान को उसके आहार के रूप में भेजा है। यदि हनुमान के पास 'गिफ्ट' है और उसकी परीक्षा करनी है तो सुरसा को शायद यही कहना है कि स्वयं हनुमान उसके लिये देवताओं की ओर से दी गई 'गिफ्ट' हैं। लेकिन यह जो 'समुद्रमध्ये सुरसा बिभ्रती राक्षसं वपुः' है, जो राक्षस का रूप रखकर समुद्र में फिर रही हो, वह आहार के लिये देवताओं का आभार प्रकट करे तो हनुमान जैसे तीक्ष्ण बुद्धि के लोग शक जरूर करेंगे। राक्षसी भाषा तो वह होती है कि 'नर कपि भालु अहार हमारा'। लेकिन इस सुरसा की भाषा में थोड़ा-सा फर्क है। बारीक-सी कोई चीज। जो 'बाता' को 'वचन' के स्टेटस तक प्रोन्नत कर देती है और जिसे 'पवनकुमारा' का शुरुआत में विनम्र प्रत्युत्तर चाहिये।

●●●

राम काजु करि फिरि मैं आवौं
सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं
तब तव बदन पैठिहउँ आई
सत्य कहउँ मोहि जान दे माई
कवनेहुँ जतन देइ नहिं जाना
ग्रससि न मोहि कहेउ हनुमाना

मैं राम का कार्य करके लौट आऊं और सीता का पता प्रभु को बतला दूं, उसके बाद मैं तेरे मुख में स्वयं प्रवेश कर जाऊंगा। हे मां, मैं सत्य कहता हूं, मुझे जाने दे। इस पर भी जब सुरसा ने कितने ही यत्न करने पर जब उन्हें जाने नहीं दिया तो हनुमान बोले कि अब तू मुझे खा ही न ले?

हनुमान की एकमात्र चिन्ता रामकाज है। वह उनकी प्राथमिकता नहीं, वह उनकी अनन्यता है। वह सुरसा से भी वही कहते हैं। उन्हें अपने अस्तित्व की अंतिमता उसमें ही लगती है, जैसे उसी में उन्हें अपना जीवन होम कर देना है। मुझे इस बिंदु पर पवन करण की कविता याद आती है :- "इससे पहले कि क़त्ल कर दे/मैं उसे उन उड़ानों के बारे में/बतलाना चाहता हूं/मेरे भीतर जिन्होंने/अपने ठिये बना रखे हैं/मैं उन यात्राओं को लेकर/उसके सामने् अपनी चिन्ता/रखना चाहता हूँ/जिनकी राह में/मैं निशान की तरह लगा हूं" राम भक्ति के साथ उनमें लक्ष्य की दृढ़ता भी है। एक बार पहले उसे हासिल कर लें, उसके बाद फिर चाहे जो हो। लेकिन उसके पहले किसी भी तरह की शिथिलता स्वयं उन्हें स्वीकार नहीं। सुरसा की इच्छा यदि हनुमान को ग्रास बनाने की भी है तो हनुमान उस इच्छा को अवैध नहीं ठहरा रहे। उनकी दृष्टि सिर्फ उसकी टाइमिंग पर है। उसके पहले कोई उन्हें लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं कर सकता। ऋग्वेद (10/27/5) के शब्दों में कहें तो 'न वा उ मां वृजने वारयन्ते/न पर्वतासो यदहं मनज्ञे' अर्थात मुझे कोई भी गन्तव्य-मार्ग से नहीं हटा सकता। जब मैं चाहता हूं तब विशाल पर्वत भी मुझे नहीं रोक सकते'। यह हनुमान सिद्ध कर ही चुके हैं। जेहिं गिरि चरन देइ हनुमंता/चलेउ सो गा पाताल तुरन्ता। जब महेन्द्र और मैनाक इसमें सफल नहीं तो सुरसा ही कैसे हो जाएगी। कालिदास अभिज्ञान शाकुंतल में कहते हैंः प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः कि प्रचण्ड वायु में भी पहाड़ विचलित नहीं होते। यहां जो ध्यान देने की बात है कि प्रचण्ड पहाड़ों से भी वायुपुत्र विचलित नहीं होता। हनुमान जब भूगोल के सामने नहीं हारते तो जैविकी के सामने कैसे विचलित हो जाएंगे। सोमदेव ने (कथा सरित्सागर) शायद हनुमान के लिए ही कहा है कि वीरों का चित्त-रत्न वज्र से भी खंडित नहीं हो सकता। 'वज्रादपि हि वीराणां चित्तरत्नमखण्डितम्'। राम का छोड़ा हुआ अमोघ बाण पहले अपने शरव्य की सिद्धि करेगा, फिर किसी और चीज की फिक्र करेगा। वह जो बात है वह 'एकचित्ता लभेत् सिद्धिं' की बात है। एकचित्त होकर कार्य करने और सिद्धि को प्राप्त करने की। एक बार दृढ़ प्रतिज्ञ होकर जो कार्यसूत्र हाथ में ले लिया तो मृत्यु भी तब तक स्वीकार नहीं जब तक कि उस काम को कर न लिया जाए। संयुत्तनिकाय में कहा गया 'यदि कोई कर्म करने योग्य है तो उसे दृढ़ता के साथ कर लेना चाहिए'। (कयिरा वे कयिराथेनं, दल्हमेनं परक्कमे।) इसलिए लोभ शरीर का नहीं है, लोभ जीवन का नहीं है। वह तो किसी भी दिन त्याज्य है। लेकिन रामकाज को कर लेने की जो लालसा है, उसकी संतृप्ति किए बगैर तो शरीर और जीवन भी नहीं त्यागे जा सकते। रामकाज हनुमान का जीवनधर्म है, उसके पहले तो वे देहपात भी न होने देंगे। पहले हनुमान के श्रम-संचित सब फल राम के चरणों पर गिर जाएं, फिर जो होना हो सो हो। यह बात तो क़ौल के पक्का होने की बात है। हनुमान को बलिदान से इंकार नहीं है लेकिन वह बकरे की तरह खूंटे से बंधकर नहीं होगा। वह संकल्प को सत्य बनाने के बाद होगा। रामकाज के बाद प्राण न्यौछावर करने में हनुमान को कोई दिक्कत नहीं। जीवन के प्रति उनमें कोई ऐसा मोह नहीं है कि जो वचन से हटकर किसी भी तरह के विश्वासघात पर आधारित हो।

पहले हमने उन लोगों की बात की थी जिन्होंने 'रामकाज' के नाम का दुरुपयोग किया। हिटलर से लेकर बुश तक। लेकिन रामकाज से प्रेरणा पाकर प्राण न्यौछावर करने वाले लोग भी हैं। मदनलाल धींगरा के शब्द याद करें' As a Hindu, I feel that a wrong done to my country is an insult to God. Her cause is the cause of Sri Ram. Her services are the services of Sri Krishna. (हिंदू के नाते मैं यह अनुभव करता हूं कि मेरे देश के साथ किया गया अन्याय ईश्वर का अपमान है। मेरे देश का कार्य भगवान राम का कार्य है। उसकी सेवाएं ही श्रीकृष्ण की सेवाएं है।) जोन ऑफ आर्क को भी यही विश्वास था कि वह ईश्वर का काम कर रही हैः "Since God had commanded me to go, i must

do it." (चूंकि ईश्वर ने मुझे प्रयाण का आदेश दिया है, मुझे इसे करना ही है।) उसे लगता था कि वह भगवान के द्वारा चुनी गई है और भगवान के मिशन पर है। जो वह कर रही है, वह देशभक्ति नहीं है, ईश भक्ति है। गांधी जी भी इसी तरह से ईश-निर्भर थेः Who am i? I have no strength save what God gives me. He will give me the strength and show me the way. (मैं कौन होता हूं? मेरे पास कोई शक्ति नहीं है, सिवाय उसके जो ईश्वर मुझे देता है। वही मुझे ताकत देगा और रास्ता दिखाएगा। क्या नज़रबंदी के दौरान सुभाषचंद्र बोस को वह डिवाइन कमांड नहीं मिली जिसके पालन में वे अज्ञातवास में निकल गए? अधिकतर लोगों ने जब देश के लिए मरना पसंद किया तो वह ईश्वर और राष्ट्र का फ्यूज़न था। होता यह है कि मुक्ति (साल्वेशन) की मांग स्वतंत्रता (फ्रीडम) की मांग में बदल जाती है क्योंकि दोनों में निर्बन्ध होने का लक्ष्य है, निरवरोध होने का लक्ष्य है। हनुमान के सामने सुरसा क्या अवरोध पैदा कर सकेगी? हनुमान को वह किन बंधनों की बेड़ियां में जकड़ सकेगी? हनुमान को पाश में बंधना भी होगा तो अपनी मरजी से बंधेंगे, उस स्थिति में बंधेंगे जब उन्हें "महिमा मिटइ अपार" का ध्यान आएगा। अभी तो उन्हें सुरसा भगवत्कार्य में एक बिलम्ब सी लग रही है और इस कारण भगवान की 'कॉलिंग' के प्रति किसी तरह की अवहेला को अतिक्रांत करना ही उन्हें प्रथम कर्त्तव्य सा लगता है। इसलिये वे पहले यह और बाद में वह जैसा निर्धारण करना चाह रहे हैं।

हनुमान को तो यह छोटा लगेगा कि रामकाज के लिए वह एक बार ही मर सकते हैं। विष्णु के पद पर उनके सौंपे दायित्व का पूर्ति-पुष्प अर्पित करके ही वे विष्णुपद को प्राप्त करेंगे। तब तक के लिए तो उनके प्राण भी जैसे एक धरोहर हैं, एक न्यास हैं। उन्हें अन्यत्र कहीं न्यस्त नहीं किया जा सकता। यह तो तब एक धर्मच्युति होगी। तो जो हाफिज़ ने कहाः 'दर मज़हबे तरीक़त खामी निशाने कुफ्रस्त.' कि धर्म में देर करना धर्म के विरुद्ध है; हनुमान के लिए कुल मिलाकर बात इसी विलंब की है। जिस विलंब के चलते विश्राम मंजूर नहीं है, उस विलंब के चलते सुरसा का ग्रास भी नहीं बना जा सकता। हनुमान जानते हैं कि उनका जीवन उनके खुद के निमित्त नहीं तो फिलवक़्त वह सुरसा के निमित्त भी नहीं हो सकता। मत्स्यपुराण में एक कटुसत्य (211/21-22) कहा गया है किः "न हि प्रतिक्षिते मृत्युः कृतमस्य च वाकृतम्" कि मृत्यु किसी की यह प्रतीक्षा नहीं करती कि उसने जीवन में अपना उद्देश्य पूर्ण कर लिया है या नहीं। हनुमान अपने उद्देश्य को पूरा किए बिना सुरसा को अपनी मृत्यु भी नहीं बनने देंगे। उनकी ध्येयनिष्ठा का मानदंड यही है। यह उनकी Sincerity भी है।

हनुमान जीवन की नश्वरता से परिचित हैं। इसलिए उन्हें प्राण-रक्षा का मोह नहीं है। लेकिन वे प्रण-रक्षा किसी भी कीमत पर करेंगे। जीवन तो कुशा की नोंक पर हिलती हुई बूंद की तरह अनित्य और क्षणभंगुर है। मलूकदास ठीक ही कहते हैंः 'इस जीने का गर्व क्या, कहां देह की प्रीत/बात कहत ढह जात है, बारू की सी भीत।' इसलिए हनुमान को "देह की प्रीत" नहीं है। सुरसा की भूख निवारणार्थ वे उसे, यह देह अर्पित भी कर देंगे। लेकिन उन्हें 'नेह की प्रीत' अवश्य है। भगवान राम के नेह की। इसलिए पहले वे रामकाज करना चाहेंगे। सीता की सुधि प्रभु को सुनाना चाहेंगे; उसके बाद सुरसा का कौर बनेंगे। पहले कौल, फिर कौर। पहले अपनी उस एक हसरत को पूरा कर लें। पहले उस अभीष्ट को प्राप्त कर लें। तुकाराम कहते थेः "निश्चयांचे बल/तुका म्हणे तेंचि फल "कि तुकाराम कहता है कि निश्चय का बल ही तो फल की प्राप्ति है। तो हनुमान की बल परीक्षा में सबसे पहले निश्चय के इसी बल की ही तो परीक्षा हो रही है। शिवानंद कहते हैं : Will is the king of mental powers कि संकल्प शक्ति सभी मानसिक शक्तियों की शिरोमणि है। सुरसा हनुमान के इसी संकल्प की परीक्षा ले रही है। मनुस्मृति के अनुसार "यज्ञाः संकल्पसंभवाः", अतः हनुमान अपने जीवन-यज्ञ को अपने संकल्प से संभव वनाएंगे।

जान दे देना, सुरसा के हाथों, कोई पराक्रम की बात नहीं। पराक्रम की असल परीक्षा तो रामकाज में है। इसलिए हनुमान की वरीयता हनुमान की वरिमा की परख करेगी। दुःसाध्य कार्य में ही पराक्रम की परीक्षा होती है। (कार्ये दुःसाध्य एव स्यात् क्षत्रियस्य पराक्रमः - स्कंदपुराण) अतः अभी सुरसा की इच्छापूर्ति में कोई तेजस्विता नहीं है। हनुमान जैसे उन्नतचेतस् मनुष्य के लिए रामकाज ही वरेण्य हैं। एक ही चीज समय के हिसाब से भिन्न भिन्न रूप में व्याख्यायित होती है। हनुमान यदि सुरसा की इच्छा के आगे अभी समर्पण करते हैं तो वह उनकी भीरुता होगी। यदि रामकाज के बाद करते हैं तो वह उनका निर्वेद होगा। हनुमान सुरसा को कहीं यह भी बता रहे हैं कि बात सुरसा के निश्चय की नहीं है, हनुमान के स्वयं के निर्वाचन की है। यह हनुमान की मजबूरी नहीं है, यह हनुमान की फ्रीडम आफ च्वाइस है। सुरसा उन्हें आहार बनाना चाहती है, लेकिन उसकी इच्छा प्रभु इच्छा से पहले नहीं है। हनुमान पहले तो प्रभु की इच्छा को ही पूरा करने के लिए ही कृत संकल्पित हैं। बाद में उन्हें कोई शिकायत नहीं रहेगी, यदि वे पहले ईश्वरेच्छा का मान धरने में सफल हो गए। सुरसा के सामने अभी समर्पण 'कायर' का काम होगा, बाद में वही 'कृतार्थ' का काम होगा। ईश्वरेच्छा की पूर्ति वीर का निर्वाचन है। एक गुजराती कवि के शब्दों में 'हरिनो मारग छे शूरानो' कि भगवान का मार्ग शूरवीरों का है। इसलिए हनुमान के बल परीक्षण में लगी सुरसा को हनुमान की ओर से जो उत्तर मिलता प्रतीत होता है, वह है "बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा" कि ईश्वर की इच्छा ही बलवान होती है। लेकिन ऐसा मानने वाला यह हनुमान पुरुषार्थी है, भाग्यवादी नहीं। यह ऐसा वैराग्य को चुनने से नहीं कहता, वीरता को चुनने से कहता है। हनुमान सुरसा को यह जता रहे हैं कि हर हालत में चुनाव मेरा ही है। यदि मैं ग्रास बनूंगा तो सुरसा के अवरोध से नहीं, अपने औदार्य से। मजबूरी से नहीं, मजबूती से। हनुमान उसी विनम्रता में अपनी शक्ति का भी संकेत दे देते हैं।

लेकिन सुरसा ने 'आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा' कहकर हनुमान को एक नैतिक संकट में जरूर डाल दिया था। सुरसा के द्वारा सुरन्ह की बात कुछ सुर में लगती है। हनुमान को वह देवप्रदत्त भक्ष्य कहती है तो वह क्षुधा के अपने नैसर्गिक दावे का उल्लेख करती है। हनुमान उसे एकदम न नहीं कह सकते। हनुमान का स्वभाव वैसा है नहीं। वे परोपकार में सब कुछ होम कर देने वालों में हैं। अपनी देह भी। "परहित लागि तजइ जो देही/संतत संत प्रसंसहि तेही।" हनुमान जिस परम्परा के हैं, वह तो रन्तिदेव का सम्मान करती है। वहां तो लोकमत में यह बद्धमूल हैः 'सरवर तरवर संतजन चौथो बरसण मेह/परोपकार के कारणे इण चारां धरि देह' इसलिए हनुमान सुरसा को निराश नहीं करना चाहते। वे स्वयं इस विचार के हैं कि 'सब के देह परमप्रिय स्वामी' इसलिए सुरसा की भूख के लिए वे उसका तिरस्कार नहीं करेंगे, लेकिन वे उसके लिए अवकाश अवश्य मांगेगे- उनकी डिबेट टाइमिंग पर होगी। मैरी कैथरीन बेट्सन के शब्द हैंः The timing of death, like the ending of a story, gives a changed meaning to what preceded it. कि मृत्यु की घड़ी, किसी कहानी के अंत की तरह, उस सब को एक नया अर्थ दे देती है जो इस घड़ी से पहले हुआ था। रामकाज करके मरना अर्थपूर्ण तरीके से मरना है। रामकाज अनकिया छोड़ जाना जन्म जन्म का पश्चाताप है। हनुमान सुरसा ये यही समय मांग रहे हैं। उनके बल की एक परीक्षा इसमें थी कि वे 'बलि' के लिए तैयार हैं या नहीं। उनके बल की दूसरी परीक्षा इसमें थी कि वे भूख की गरिमा के प्रति कितने सावधान हैं। क्या उनमें यह विवेक है कि वे हंग्री (भूखे) और हंटर (शिकारी) में फर्क कर सकें? आचारांग चूर्णि में कहा गया हैः 'छुहा जाव सरीर, ताव अत्थि' अर्थात् 'जब तक शरीर है तब तक भूख है' या चूंकि हनुमान इस समय स्वयं समुद्र में हैं तो वे समझ सकेंगे कि समुद्रानल (बड़वानल) की तुलना में जठरानल क्या महत्व है- 'आगि बड़वागि तें बड़ी है आग पेट की।' हनुमान में भूखे को निरादृत न करने की सुबुद्धि है।

"राम काजु करि फिर मैं आवौं" को हनुमान आशा नहीं कह रहे, सत्य कह रहे हैं। भोजन की ही बात चल रही है तो बेकन (एपोथेग्म) के शब्द ज्यादा उपयुक्त होंगे : Hope is a good breakfast, but it is a bad supper. कि आशा नाश्ते के रूप में अच्छी है, भोजन के रूप में नहीं। हनुमान उम्मीद नहीं बंधा रहे, वे तो 'सत्य कहहुं' के रूप में जैसे एक हलफनामा दे रहे हैं। बेंजामिन फ्रेंकलिन की तरह हनुमान भी जानते होंगे : He that lives upon hope will die fasting. कि जो आशा पर जिंदा रहता है वह व्रत करता हुआ मरेगा। हनुमान के शब्दों में एक तरह का सुनिश्चय है। यह उनके कान्फीडेंस का भी सूचक है। रामकाज करके वे लौटेंगे, सीता की खबर राम को देंगे - जैसे ये वह जानते हैं। पैन्डोरा के बक्से से 'आशा' ही निकली थी और उसी के बाद से जैसे दुनिया अस्तव्यस्त हो गई। सर राबर्ट किनकैल्डी की एक प्यारी-सी कविता है :-

It's all one thing - both tend into one scope/
To live upon Tobacco and on Hope
The one's but smoke, the other is but wind

हनुमान को लगता है कि सुरसा को आशा की बातें बोलना उसे हवाई लगेगा। उसे लगेगा कि पवनपुत्र हवा में बात कर रहे हैं और हवाई किले बना रहे हैं। वायुपुत्र वायवी बातें कर रहे हैं। भूख के वक्त आशा की बातें न केवल हवाबाजी लगती हैं बल्कि त्रासद भी लगती हैं। आशा के खयाली पुलाव वहाँ काम नहीं आयेंगे जहाँ भूख है। राबर्ट जी. इंगरसोल ने कहा है : Hope is the only universal liar who never loses his reputation for veracity. (आशा ही एक सार्वभौम मिथ्यावाची है जो सत्यापन के लिये अपनी प्रतिष्ठा कभी नहीं खोती) हनुमान उसका सहारा लेने की जगह हलफिया बात कहते हैं। कोई दावा नहीं, कोई मन मोदक नहीं। 'सार्वभौम मिथ्यावाची' का प्रश्रय नहीं।

हनुमान लौटने की बात करते हैं, वापसी की। उसी सुरसा के पास लौटने की जो संभवतः और प्रकटतः उन्हें नुकसान पहुँचायेगी। अपने तईं उन्हें पीड़ा देगी। लेकिन हनुमान लौटेंगे। लिलियन स्मिथ की पंक्तियाँ हैं :- The human heart dares not stay away/ From that which hurt it most/There is a return journey to anguish/That few of us are released from making. अर्थात (मानव हृदय उससे दूर रहने का दम नहीं भरता/जिसने उसे सबसे ज्यादा दुखित किया/पीड़ा की ओर एक वापसी यात्रा है/जिसे करने से हममें ये बहुत कम बच पाते हैं)

तो हनुमान भी सुरसा के द्वारा अभिकल्पित पीड़ा की ओर एक वापसी यात्रा करेंगे। लेकिन उनके मन में बहुत तसल्ली होगी। काम्येष्टि का सुख। मनोरथ पूरा होने की संतृप्ति। अब सुरसा को दिये वचन की पूर्ति का परितोष। कृतकाम हनुमान जिन्होंने सीता-संदर्शन कर लिया है, जिन्होंने श्रीराम को सीता-संवाद दिया है, और लंका में अपने शौर्य की धूम मचा दी है - अब यदि सुरसा के सामने प्रस्तुत होंगे; तो उन्हें चिंता नहीं। लेकिन हनुमान के द्वारा रामकाज की जो व्याख्या की जा रही है, नियति को वह मंजूर नहीं है। सिर्फ लंका से लौटना और सीता-समाचार राम को सुनाना भर उनके होने का अभिप्रेत नहीं है। उन्हें तो अभी युद्ध में राम-लक्ष्मण की सहायता करनी है, संजीवनी बूटी से लेकर अहिरावण तक के बहुत से प्रसंगों में ही नहीं, बल्कि आगे आने वाले एक लंबे समय तक। न केवल उनकी बल्कि अर्जुन और भीम की। और कालान्तर में भी उन्हें चिरन्तन संकटमोचन का कार्य करना है। इसलिए हनुमान तो स्वयं जीवन के एक अज्ञात अंचल की ओर चल निकले हैं। नियति ने उन्हें जिस कार्य के लिए आहूत किया है, उसमें सुरसादि के पास जीवन की आहुति देने से बहुत बढ़कर किए जाने वाले एडवेंचर हैं। अब हनुमान के जीवन का गुरुत्व केन्द्र स्थानांतरित हो रहा है। वे सुग्रीव-सेवक से अब रामभक्त बन गए हैं। अब उनके जीवन में कहीं एक दूरवर्ती द्वीप होगा, कहीं विराट पर्वत, कहीं समुद्र की उत्ताल तरंगें, कहीं सुरसा-सिंहिका- लंकिनी, कहीं रावण-राज्य में अपने ही जैसे किसी रामभक्त से सर्वथा अपूर्वकल्पित मिलन, कहीं मां

सीता के चरणों में शीश नवाने का सुख, कहीं लंकादहन के अतिमानवीय अनुभव। अभी हनुमान तक को पता नहीं है रामकाज के पूरे आयाम। खुलते खुलते खुलेंगे। जीवन अब एक लगातार रोमांच बन गया है।

हनुमान सुरसा से 'माई' कहकर जाने देने का अनुरोध करते हैं। पारंपरिक व्याख्याकार यह कहते हैं कि ऐसा कहकर हनुमान सुरसा को दयार्द्र करना चाहते हैं ताकि वह उन्हें जाने दे। लेकिन यदि ऐसा है तो सुरसा भी सर्पों की माता है जो अपने ही बच्चों को खा जाती हैं। कई जीवों की प्रजातियां हैं जो अपने ही बच्चों को खा जाती हैं- ध्रुवीय भालू, हैम्स्टर, भेड़िया मकड़ी, बीटल्स की एक प्रजाति, कई मीन प्रजाति, कुछ सरीसृप प्रजाति। इसलिए 'माई' कहने से किसी तरह के लाभ की अभिप्राप्ति की आशा हनुमान जैसे वीर के लिए उपयुक्त नहीं है। सर्पों की माता सर्प से अधिक खूंखार होगी। रुडयार्ड किपलिंग की कविता हैः-

When Nag the basking cobra hears the careless foot of man
He will sometimes wriggle sideways and avoid it if he can
But his mate makes no such mention where she camps besides the trail
for the female of the species is more deadly than the male

इसलिए हनुमान जब 'माई' कहते हैं तो उसके पीछे उनका स्वार्थ नहीं है बल्कि एक तो कथा-प्रसंग में ही उसे 'सर्पों की माता' कहा है तो हनुमान द्वारा 'माई' कहना प्रकृत लगता है। दूसरे, हनुमान की स्त्रियों को मां कहने की प्रकृति तुलसी के यहां है ही। दूसरी रामकथाओं में जब हनुमान अशोकवाटिका में सीता से मिलते हैं तो उन्हें 'कल्याणी' जैसे सम्बोधन से पुकारते है। जबकि तुलसी के यहां वे माता हैं। हनुमान के मन में यह जो मातृभाव है, यह सद्-स्त्रियों के प्रति ही है। अतः 'माई' कहकर हनुमान फिर "आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा" से पैदा हुए शक को एक बार फिर कसौटी पर रखते हैं। हनुमान यह शब्द "निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई" के लिए नहीं प्रयुक्त करते। इसी तरह 'नाम लंकिनी एक निसिचरी' के प्रति भी वे इस तरह का सद्भाव नहीं प्रकट करते। सुरसा को 'माई' कहकर हनुमान उसे जिस मातृपद पर अभिषिक्त करते हैं, उसमें उनके हृदय की उदात्तता झलकती है और पहचानने की बुद्धि भी। लक्ष्मीनारायण मिश्र (नारद की बीणा, पृ. 117) ने कहा हैः "स्त्री किसी भी अवस्था की क्यों न हो, प्रकृति से माता है और पुरुष किसी भी अवस्था का क्यों न हो, प्रकृति से बालक है।" हनुमान सुरसा के प्रकरण में इसे मानते हुए से प्रतीत होते हैं।

हनुमान ने यत्न तो बहुत कर लिए, लेकिन सुरसा ने उन्हें जाने नहीं दिया। कई तरह से समझाने की कोशिश कर ली लेकिन सुरसा का गत्यवरोध जारी रहा। 'साम' समझ में नहीं आया। 'दाम' कन्विंस नहीं कर सका। वो एक हिंदी लोकोक्ति है ना "पंचों का कहना सिर आंखों पर, मगर परनाला यहीं गिरेगा।" सो सुरसा अपने हठ पर अडिग। आप जो चाहे कोशिश कर लो। ज्यौं ज्यौं भीजे कामरी त्यौं त्यौं भारी होय। हनुमान की यह जो परख हो रही है, यह लंका में भी काम आएगी। वहां भी वे पहले इसी तरह से रावण को समझाने की कोशिश करेंगे। वहां भी रावण इतना ही जिद्दी और अड़ियल बना रहेगा। हनुमान को 'हेडस्ट्रांग' दशानन के दुराग्रह को झेलना पड़ेगा। वह भी उतना ही अड़ियल बना रहेगा (शायद कुछ ज्यादा ही), जितना यह सुरसा। हनुमान को हठोन्मत्त लोगों से किस तरह पेश आना हैं, यह सुरसा देखना चाह रही है। रावण की अकड़ और ऐंठ के तो आयाम ही दूसरे होंगे, वह तो और अधिक उग्र और कट्टर होगा। सुरसा के यहां की जा रही मनुहार और अरदास जैसे काम नहीं आ रही, वैसे ही रावण के दुराग्रह के सामने हनुमान की सारी समझाइश अरण्यरोदन ही साबित होगी। हनुमान को 'हेडी' दसशीश के सामने खड़ा होना है जो इसी तरह उनके कहे हुए पर कान नहीं देगा। उस पर उनके अठकौसल काम नहीं आएंगे, जो सही नसीहत और

मशवरा सुना अनसुना कर देगा। हनुमान मल्टी-हेडेड हाइड्रा से नहीं भिड़ रहे, वे तो सुरसा से भिड़ रहे हैं। इस परीक्षा में पास होकर वे मल्टी-हेडेड रावण से टक्कर लेंगे।

अन्ततः हनुमान किंचित अमर्ष में भर जाते हैं और कहते हैं- तो ठीक है, अब तू मुझे खा के ही बता। वाल्मीकि रामायण में इस बिंदु पर हनुमान को "कुपित" बतलाया गया है किन्तु तुलसी ने सिर्फ "कहेहु" से काम चलाया है और यह पाठक पर छोड़ दिया है कि वह अनुमान लगाए कि हनुमान यह क्रोध से बोल रहे हैं या खीझ से, कटुता से बोल रहे हैं या चुनौती से, अप्रसन्नता में बोल रहे हैं या तमककर। तुलसी को यह उचित नहीं लगा होगा कि हनुमान को क्रोधावेश में दिखाया जाए। इसलिए उन्होंने 'कुपित' शब्द से परहेज किया है। वे सुरसा से कहते हैं कि चल, अब तू खा ही ले। वाल्मीकि की रामायण में वे यह कहते हैंः तुम अपना मुंह इतना बड़ा बना लो जिससे मेरा भार सह सको। तुलसी के यहां हनुमान अपनी तरफ से सुरसा को यह नहीं सुझाते, जो एक बेहतर काव्य-निर्णय है। तुलसी के यहां तो अब यह है कि सुरसा कह रही है कि मैं तुझे खाऊंगी और हनुमान कह रहे हैं कि खा के बता। जब सुरसा सर्पों की माता के रूप में हनुमान को ग्रास बनाने को कहती है तो सहज ही यह प्रश्न उठता है कि क्या सर्प मनुष्य को खा सकते हैं? 4 अक्टूबर, 2006 को एक खबर छपी थी कि एक 20 फीट के पाइथन ने कंबोडियन बच्चे को निगल लिया। एक रेटिकुलेटेड पाइथन द्वारा आदमी खाने की फोटो भी एक बार दुनिया भर के अखबारों में छपी थी। रेमोना एंड डेस्मंड मौरिस की पुस्तक 'मैन एंड स्नेक्स' (1965) में एक पाइथन का उल्लेख है जो एक आदमी की टांग तक ही खा पाया था। एनाकोंडा के बारे में भी ऐसी कहानियां चलती हैं। बाइबल के सहायक जो कुछ यहूदी शास्त्र हैं उनमें एक जगह यह भी उल्लेख आता है कि भगवान ने एक बार मूसा को खा डालने के लिए सर्प भेज दिया था। वैसे यहां सुरसा खा नहीं रही है बल्कि खाने का कहकर हनुमान को डराने की कोशिश भर कर रही है। सर्पों द्वारा मनुष्य को खाने के प्रकरण दुर्लभ हैं, हालांकि वे पूर्णतः असंभव या अघटित नहीं हैं। लेकिन कहते हैं कि मनुष्य के कंधे सांपों के सामने सबसे बड़ी परेशानी पैदा करते हैं, आदमी को निगलने में।

तो हो सकता है इन्हीं सब कारणों से हनुमान अब सीधे सीधे बल की ही बात पर आ जाते हैं। दम है तो करके बता। वे जानते होंगे कि कर तो पायेगी नहीं। फिर उनका अपना आत्मविश्वास तो प्रबल है ही।

जोजन भरि तेहिं बदनु पसारा
कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा
सोरह जोजन मुख तेहिं ठयऊ
तुरत पवनसुत बत्तिस भयउ
जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा
तासु दून कपि रूप देखावा

उसने योजन भर मुंह फैलाया, तब हनुमान जी ने अपने शरीर को उसने दूना बढ़ा लिया। उसने 16 योजन का मुंह किया, हनुमान जी तुरन्त ही बत्तीस योजन के हो गए। जैसे-जैसे सुरसा अपने मुंह का विस्तार बढ़ाती थी, हनुमानजी उसका दुगुना रूप दिखलाते थे।

सांपों के मुंह के पास और शरीर की साइड्स पर अपेक्षाकृत छोटे स्केल हुआ करते हैं जिसके कारण वे अपने मुख का विस्तार कर सकते हैं और अपनी चौड़ाई की तुलना में काफी बड़ा शिकार निगल सकते हैं। वैज्ञानिकों ने कोलंबिया की एक कोयला खदान में सन 2008 मे एक विशालकाय सर्प का जीवाश्म ढूंढा। दक्षिण अमेरिका के अमेजन रेन फारेस्ट की कोयला खदान में पाया गया यह जीवाश्म 43 फीट लंबा और 2500 पौंड वजन के सांप का था। टाइटन बोआ 13 मीटर और 1140 किलोग्राम का था। अर्जेन्टीना में एक सांप का जीवाश्म मिला जिसके दो पैर थे और जिसने एक वैज्ञानिक विवाद पैदा कर दिया कि सांप कहाँ विकसित हुए-समुद्र में या धरती पर। इस सांप का शरीर बताता है कि वह धरती पर रहा। दूसरी ओर वैज्ञानिकों का यह भी कहना है कि तकनीकी रूप से पानी में विशालकाय सर्पों को पनपने में ज्यादा सुविधा होती है। सुरसा भी समुद्र में है। थाईलैंड में पाए गए प्रागैतिहासिक सर्प जीवाश्म दैत्याकार सर्पों के थे। बोर्नियों की बालेह नदी में 20 फरवरी 2009 को एक दैत्याकार सर्प दिखा जिसके बारे में स्थानीय निवासी कह रहे हैं कि उनके पुराणों में वर्णित नाबू नाग वापिस आ गया है। यह 100 फीट का सांप है जिसके फोटो लंदन टेलीग्राफ में प्रकाशित हुए हैं। 2002 में न्यूयार्क के ब्रांक्स जू में 26 फीट और 275 पौंड के पाइथन सांप के मरने की खबर प्रकाशित हुई थी। इंडोनेशिया में 49 फीट का पाइथन पकड़ा गया जिसका वजन 990 पौंड था। एनाकोंडा पर पिछले कुछ सालों से जीवविज्ञानियों का ध्यान ज्यादा केन्द्रित हुआ है। अमेजन के रेन फारेस्ट के स्थानीय निवासियों का विश्वास है कि एनाकोंडा नदी के नीचे बसे एक मायावी शहर में रहता है और आदमी या औरत का रूप धारण कर सकता है। वहां की लोककथाओं का एक नायक कोबरा नौरेटो ऐसा ही एक एनाकोंडा है। अफ्रीका से कम से कम सात देशों में "क्रोइंग क्रेस्टेड कोबरा" की कहानियां चलती हैं जो अत्यन्त विशालकाय और विषैला सर्प है। सुरसा भी एनाकोंडा कथाओं की तरह शेपशिफ्ट करती है। ग्रीस पुराणों में गार्गन सर्प-स्त्रियां भी खतरनाक हैं। ग्रीक पुराणों में एच्डिना एक-अर्धस्त्री अर्ध-सर्प दैत्य है। एथेन्स का पहला पौराणिक राजा आधा सांप -आधा मनुष्य था। ग्रीक मिथकों में लामिया नामक एक आधी-स्त्री आधी-सर्प दैत्य है जो बच्चों को खा जाती है। अज़्तेक अंडरवर्ल्ड में मिक्टलैन नामक विशाल पाइथन के रहने के मिथक चलते हैं। ग्रीक दैत्याकार सर्पिणी साइला की बारह सर्प-गर्दन कहानियों में बताई गई हैं। उत्तरी अमेरिका के जूनी आदिवासियों में एक समुद्र-देवता कोलविसी सर्प ही है। उत्तरी अमेरिकी सर्प-देवताओं में भी शेपशिफ्टिंग की विशेषता है। वे मनुष्य भी बन सकते हैं और दोनों की विशेषताओं व शक्तियों का प्रयोग कर सकते हैं। अज्तेक कहानियों में आटालिक्यू नामक सर्प-देवी है। उत्तरी अरीजोना में होपी इंडियंस में यह कथा चलती है कि "सर्प बन्धुओं" ने अरीजोना, केलीफोर्निया, मैक्सिको और सेंट्रल अमेरिका में भूमिगत शहर बनाए और बसाए।

क्या सुरसा Reptilian humanoid थी जिसकी चर्चा इन दिनों विज्ञान कथाओं में बहुत हो रही है? क्या वह देवताओं के द्वारा भेजी गई होने से किसी तरह की Reptilian alien थी? क्या सुरसा वही है जिसे डेविड वॉन ऐक जैसे आधुनिक ब्रिटिश लेखक ने "इल्युमिनाटी" कहा है, जो Reptilian humanoids हैं? क्या आज उड़न तश्तरियों का अध्ययन करने वाले लोग उनके प्राणियों की सर्पाकृति की चर्चा नहीं करते? क्या देवों के द्वारा भेजी गई सुरसा किसी तरह का अंतरिक्षीय (extraterrestrial) संपर्क था? डेविड वॉन ऐक के सर्पाकृति लोगों की तरह सुरसा की रुचि भी सत्ता परिवर्तन में है,लेकिन वह उनके सर्पाकृति लोगों की तरह तमस की शक्तियों का साथ नहीं दे रही है और किसी "षडयंत्र" का हिस्सा नहीं है। गौर करने की बात यह है कि वह देवताओं के द्वारा भेजी गई और उसने समुद्र में स्थान बनाया। एक क्रिप्टो-हंटर हैं जॉन रोड्स। उनका कहना है In quest of the answer to the age-old question, "Are We Alone?" We' ve

been conditioned to stare into space when thinking about "Aliens" and "E.T.s". This is a distraction. We should also be searching under Earth's surface, in the thousands of miles of underground tunnels, caverns and cave systems. That's where we will one day discover other forms of intelligent life and our visiting extraterrestrial's bases of operations. (युगों- पुराने प्रश्न कि "क्या हम अकेले हैं?" के उत्तर की खोज में हमें अंतरिक्ष की ओर घूमने तथा "एलियंस" और "ई.टी." के बारे में सोचने की आदत पड़ गई है। यह एक ध्यान बँटाने वाली बात है। हमें पृथ्वी की सतह के नीचे, कई हजार मीलों फैली भूमिगत सुरंगों, गुफाओं तथा कंदरा-प्रणालियों में भी खोज करनी चाहिए। यही वह जगहें हैं जहां एक दिन हम "बुद्धिमान जीवन" के अन्य रूपों तथा अंतरिक्षीय प्राणियों के काम करने के ठिकानों का पता लगा सकेंगे।) सुरसा क्या इसी तरह के किसी ठिकाने में रह रही है? क्या हनुमान का सुरसा के रूप में किसी ऐसी ही अंतरिक्षीय सर्पाकृति से सामना हुआ था? क्या "सुर-सा" शब्द का अर्थ ही अपने आप में किसी extraterrestrial का संकेत नहीं करता?

सुन्दरकांड की ये पंक्तियां इसलिए जीवन के कुछ अद्भुत और अनुद्घाटित पहलुओं की ओर संकेत कर देती हैं। अब यही देखिए, सुरसा अपने मुख को योजन-भर बड़ा कर लेती है। एच.जी. वेल्स ने "द फूड आफ द गॉड्स एंड हाऊ इट केम टु अर्थ" (भगवान का भोजन और वह कैसे इस पृथ्वी पर आया) नामक अपने उपन्यास में एक तरह के भोजन का उल्लेख किया है जिससे विस्तार (ग्रोथ) की प्रक्रिया अचानक बहुत तेजी से बढ़ जाती है। इसी तरह बर्ट गोर्डन द्वारा निर्देशित फिल्म 'द फूड ऑफ गॉड्स' में ब्रिटिश कोलंबिया के किसी एक सुदूरवर्ती द्वीप में जमीन से अचानक एक पदार्थ निकलने लगता है जिसे ढूंढने वाले दंपत्ति उसे 'ईश्वर का भोजन' कहते हैं किन्तु उसे खाकर चूहे, मक्खियां, कीड़े सब विशाल आकार के हो जाते हैं। (बर्ट गोर्डन ने आधुनिक समय में विशालीकरण (enlargement) पर आधारित कई फिल्में बनाई हैं।) यहां सुरसा भोजन के कारण नहीं बल्कि भोजन की प्रत्याशा में अपने बदन का विस्तार कर लेती है। विज्ञान कथाओं, हॉरर फिल्मों आदि में आदमियों और प्राणियों का दैत्याकार में विस्तारित हो जाना प्रायः दिखाया जाता रहा है। कई फिल्में हैं। अटैक ऑफ द फिफ्टी फूट वूमैन में तो एक स्त्री ही है। विलेज ऑफ द जाइन्ट्स (महाकार लोगों का गांव), द अमेजिंग कोलोसॅल मैन (विस्मयकारी विशाल आदमी) और देम जैसी कई फिल्मों में "बदनु पसारा" की यह घटना घटती है। और हनुमान की तरह चुनौती के उत्तर में "कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा" की संघटना अभी हाल में आई जापानी फिल्म "दाई-निप्पान-जिन" (बड़ा आदमी जापान) में है जिसका मुख्य पात्र विशाल आकार के दैत्यों से लड़ने के लिए अपने शरीर को मनचाहे अत्यन्त बड़ा कर सकता है। तो हनुमान भी, यदि सुरसा अपने मुख को योजन भर बढ़ाती है, अपने शरीर का दुगुना विस्तार कर लेते हैं। इस तरह वे सुरसा के मुख में आ ही नहीं पाते हैं। तुलसीदास ने पहली बार में योजन भर बढ़ना बताया है जबकि वाल्मीकि ने सुरसा को पहली बार में खुद को दस योजन का बढ़ाते हुए बताया है। तुलसीदास ने हनुमान की प्रतिक्रिया को 'दुगुने' के रूप में अंकित किया है। यह शेयर स्टॉक्स के डबल डाउन होने जैसा नहीं है। सुरसा को भी कोई चाक्षुष (आप्टिकल) रूप से हनुमान 'डबल फ्रीक्वेंसी' पर नहीं दीख रहे होंगे बल्कि वाकई हनुमान ने अपना आकार बढ़ाया होगा। क्या यह कोई ऐसा खेल चल रहा है जिसमें हनुमान स्टेक्स को डबल करते जा रहे हैं? जबकि वाल्मीकि ने दस-दस के मान से वृद्धि रखी है :- "सुरसा ने तुरन्त अपना मुख दस योजन का बना लिया। तब हनुमान जी भी तत्काल दस योजन के हो गये। यह देखकर सुरसा ने अपना मुख बीस योजन बड़ा कर लिया। तब हनुमान जी ने अपने शरीर को तीस योजन बड़ा बना लिया। तब सुरसा ने

अपने मुख को चालीस योजन ऊँचा कर लिया। यह देखकर हनुमान जी पचास योजन ऊँचे हो गये। तब सुरसा ने अपना मुख साठ योजन का बनाया। फिर तो वीर हनुमान सत्तर योजन ऊँचे हो गये। अब सुरसा ने अस्सी योजन मुँह बना लिया। तदनंतर हनुमान जी नब्बे योजन ऊँचे हो गये।" वाल्मीकि ने पता नहीं क्यों यह स्केलिंग रिलेशनशिप इतने विस्तार से बताई है जबकि तुलसी ने इसमें भी लाघव प्रदर्शित किया है। वे बस एक बार यह कहते हैं कि "सोरह जोजन मुख तेहि ठयउँ तुरत पवनसुत बत्तिस भयउँ," हालांकि सुरसा की प्रतिक्रिया हमेशा दुगुनी के क्रम में नहीं होगी। शायद कुल मिलाकर बताया यह जा रहा है कि हनुमान की लोकोमोटरी लचक अद्वितीय है और वे एक परिवर्त्य दैहिकी (malleable physiology) से सशक्त हैं। हम हनुमान के बल के इस पहलू के बारे में पहले भी चर्चा कर चुके हैं। हमने शुरू में सांपों के मुंह के पास पाये जाने वाले स्केलों की बात की थी। उस स्केल के साथ यह एक स्केलिंग हैं। सुरसा के साथ स्केल है 16 का। कई संस्कृतियों में हल्की वस्तुओं के भार मापन में 16 का उपयोग किया जाता रहा है। ब्रिटिश लोग एक पौण्ड में 16 औंस का होना मानते हैं। चीनी लोग एक जिन में 16 लिआंग का होना मानते हैं। पुराने समय में भार मापन बीम बेलेंस के जरिए जब किया जाता था तो अनाज के ढेर को 16 बराबर हिस्सों में विभाजित किया जाता था। चीनी ताओवादी अंगुलियों पर ट्रायग्राम और हेक्साग्राम की गणना अंगुलियों की 'टिप' और जोड़ों को अंगूठे की टिप से छूकर करते हैं। इस तरह हर हाथ में 16 तक की गिनती हो जाती है। तुलसी भी 16 के हिसाब से चल रहे हैं। हमारे यहां पूर्णता का संकेत 16 कलाओं में माना जाता है। सुरसा और हनुमान के बीच शारीरिक बल के मापन का खेल चल रहा हो या किसी तरह की बौद्धिक गणना का, 16 एक मुफीद संकेत है। यदि दोनों के बीच बौद्धिक शतरंज भी चल रही हो तो भी 16 का ही मान रहेगा- एक राजा, एक वजीर, दो ऊंट, दो घोड़े, दो हाथी और 8 पैदल। पारंपरिक रूप से यह भी माना जाता है कि 16 घंटे का जागना और 8 घंटे का सोना होना चाहिए। तो अब सुरसा हनुमान को भावी चुनौतियों के लिये जगा रही होगी। वैसे अधिकतर संस्कृतियों में 16 का अर्थ 'कमिंग ऑफ एज' से लिया जाता है और उस पर कई गाने बने हैं। अब हनुमान के लिये रोमांच का वही युग आन पहुंचा है। जवाब में हनुमान अपनी बत्तीसी दिखाकर सुरसा का अभिमान भंग करते होंगे। सुरसा यदि हाथों से गणना करने वाली है तो हनुमान 32- बिट की आधुनिक डाटाबस का इस्तेमाल करते होंगे। रुब्बालाह में बुद्धि के 32 मार्ग बताए गए हैं। हमारे यहां भी सिंहासन बत्तीसी चलती है। द्वात्रींशत्पुत्तलिका। तुलसी ने 16 का स्केल इसीलिए जानबूझकर चुना होगा। हिंदुओं में 16 संस्कार होते हैं, 16 उपचार पूजा होती है। यदि सुरसा को अन्ततः मातृभाव का ही सिद्ध होना है तो षोडषमातृ का पूजन का संकेत भी यहीं पर है। शायद सुरसा हनुमान का षोडष दल कमल पूर्णतः जागृत करना चाहती हो। या उन्हें भविष्य का संकेत देना चाह रही हो। ज्योतिष में षोड्ष वर्ग होते ही हैं।

पता नहीं बत्तीस का सर्पों से क्या संबंध है? पर भारत में मुंबई से 220 मील दूर, कोल्हापुर के पास, सांगली जिला मुख्यालय के 60 किलोमीटर पश्चिम में बत्तीस (32) शिराला नाम की एक जगह है। यह स्थान सर्पोत्सव के लिये प्रसिद्ध है। यह उत्सव नागपंचमी के दिन मनाया जाता है और लाखों लोग इसमें भाग लेने आते हैं। इस दिन एक बड़ा जुलूस पकड़े गये सर्पों के साथ निकाला जाता है। ऊपर हमने षोडष दल कमल की बात की थी। यह बत्तीस शिराला योग-तंत्र से सम्बद्ध रहा है और 12 सालों में एक बार यहां नाथपंथी संप्रदाय के सारे लोग इकट्ठा होते हैं।

वाल्मीकि 10 के गुणा से आगे बढ़ते हैं जो डेसीमल सिस्टम है और जिससे 100 तक पहुंचना सीधा दिखाई देता है। तुलसी 'दून' का प्रयोग करते हैं और binary system में दो की पावर भी 100 होती है, ठीक उसी तरह से जैसे 10 की पावर डेसीमल

सिस्टम में होती है। कम्प्यूटर साइंस के युग में दो की पावर महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वाइनरी सिस्टम में 'दो' ही आधार का काम करता है। दो की पावर्स कम्प्यूटर मेमोरी की भी पावर्स हैं। लगभग सभी प्रोसेसर रजिस्टर का 'आकार' वही हो जो दो की पावर्स हैं और सबसे ज्यादा इनमें 32 ही है। प्राचीन भारत में दो को दो समानान्तर रेखाओं के रूप में लिखा जाता था। चीनी और जापानी भाषा में आज तक ऐसे ही लिखा जाता है। हनुमान सुरसा के समानान्तर होकर उसे चुनौती दे रहे हैं।

वाल्मीकि धनात्मक वृद्धि करते हैं, तुलसी गुणात्मक। वाल्मीकि का ध्यान योग पर है, तुलसी का ध्यान प्रोडक्ट पर है। तुलसी के हनुमान वाकई जल्दी में हैं, इसलिए योगों को दुहराते जाने की जगह वे सीधे गुणांक के जरिए अपनी वर्चस्व स्थापना कर लेते हैं।

यह पहलू आगे जाकर लंका में बहुत काम में आने वाला है और इसी कारण सुरसा हनुमान को यह व्यायाम करा रही है। हनुमान हर तरह का रूप धारण कर सकते हैं और इसी कारण लंका में सिद्धकाम हो सकेंगे। वहाँ कभी उन्हें "मसक समान रूप कपि धरी" करना पड़ेगा और कभी "कनक भूधराकार सरीरा" के रूप में अपने को प्रदर्शित करना पड़ेगा। आज के दौर का डीसी कॉमिक्स का हीरो प्लास्टिक मैन भी ऐसा क्या कर पायेगा? हालांकि हनुमान और प्लास्टिक मैन में बहुत समानताएँ हैं। हनुमान प्रारंभ में बहुत शरारत करते थे। प्लास्टिक मैन भी जब तक "पेट्रिक ओ'ब्रायन" नामक एक साधारण आदमी था तब तक अपराध करता रहा है। हनुमान को अपनी शरारतों के कारण ठोडी पर वज्र का घाव हुआ और ओ'ब्रायन को भी कंधे पर गोली लगी और एक अलग ही एसिड उसके घाव के जरिये शरीर में मिल गया। होश में आने पर वायु के द्वारा पर्वत की गुफा में छिपा दिये गये हनुमान को असाधारण शक्तियाँ मिलीं। होश में आने पर पर्वत की एक रिट्रीट में एक साधु की तीमारदारी के बाद शरीर में घुल गये एसिड के कारण ब्रायन को भी अपने शरीर को किसी भी आकार में कर लेने की शक्तियाँ प्राप्त हो गईं। हनुमान राम की ओर - सत्य की ओर - हो गये, प्लास्टिक मैन भी 'लॉ एंड आर्डर' के लिये कृतसंकल्प हो गया। अब हनुमान राक्षसों को सबक सिखाते हैं, प्लास्टिक मैन अपराधियों को। हनुमान की तरह प्लास्टिक मैन भी 'टाइटन' आकार का हो सकता है। हनुमान की तरह उसकी शक्ति भी मापी नहीं जा सकती। कैरीकेली उसके बारे में कहती हैं :- "Immeasurably powerful. Absolutely nuts." हनुमान की तरह उसकी भी लंबे होने की शक्ति (elongation) चमत्कारी है। हनुमान की ही एक प्रेरणा डीसी कॉमिक्स के एक-दूसरे पात्र 'इलांगेटेड मैन' में दिखाई देती है। इलांगेटेड मैन भी सिर्फ इंसान नहीं है, बल्कि हनुमान की तरह मेटाह्यूमन है जिसके शरीर में एक 'गुप्तजीन' है। यह जीन जिंगोल्ड पी लेने से सक्रिय हो गया है और इसने उसे ये सब सुपर शक्तियाँ दे दी हैं। अब वह अपने शरीर को अतिमानवीय लंबाई और आकार तक बढ़ा सकता है। हनुमान की तर्कशक्ति (deductive reasoning) जिस तरह प्रबल है और जैसे वे लंका में एक जासूस की तरह घुस जाते हैं, उसी तरह से इलांगेटेड मैन की भी तर्कशक्ति और गुप्तचरी क्षमता अतिविकसित है।

हनुमान को इन पंक्तियों में पवनसुत कहना उनके भीतर इसी मेटाजीन होने की ओर संकेत है। डीसी कॉमिक्स में भी प्रायः नायकों के भीतर यह मेटाजीन सुप्त पड़ा रहता है, जैसे हनुमान के भीतर भी पड़ा रहता है और असाधारण भौतिकी स्ट्रेस के वक्त क्रियमाण हो जाता है - जैसे हनुमान में हो गया। उस असाधारण स्ट्रेस के वक्त जब वानर थक हार चुके थे।

सुरसा के लिये प्रसरणशील होना स्वाभाविक है। संस्कृत कोशों में तो 'फैलने वाले' को विसर्पी या संसर्पी कहा भी गया है। तो सुरसा अपने मुख का प्रकृत प्रसार करेगी ही। प्रशंसा हनुमान की करनी होगी जिनकी जवाबी कार्रवाई सुरसा को हतप्रभ कर देती है। सुरसा के संबंध में यदि 'बदनु' की बात कही गई तो हनुमान के संबंध में 'रूप' की बात की गई है। यह सिर्फ इसलिए

नहीं कि भक्षक तो मुंह से ही खायेगा और भक्ष्य को समूचा ही निगलेगा। बल्कि इसलिए भी सुरसा मुंह भर फैलायेगी, खाने का उपक्रम नहीं करेगी। हनुमान की परीक्षा ली जा रही है, कि उन्हें खाया जा रहा है। इसी प्रकार हनुमान के आकार की नहीं, रूप की बात कही गई है। भिन्न-भिन्न रूप धारण करना, जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं, कामरूपी राक्षसों से लोहा लेने के लिए, एक सफल प्रति-आतंकवाद के लिये एक आवश्यक योग्यता है। जैसे को तैसा के अंदाज में। इसलिए 'जस जस' और 'तासु' के मायने हैं। वे क्रमशः के अर्थ में नहीं है। वाल्मीकि का विवरण कमोबेश यही इम्प्रेशन देता है। तुलसी ने जानबूझकर इसीलिए न केवल वह वर्णन हटाया है बल्कि भाषा भी ऐसी रखी है कि वह टिट फॉर टैट की- शठे शाठ्यं समाचरेत् - की सी ध्वनि दे।

सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा
अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा
बदन पइठि पुनि बाहेर आवा
मागा बिदा ताहि सिरु नावा
मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा
बुधि बल मरमु तोर मैं पावा

सुरसा ने सौ योजन का मुख किया। तब हनुमानजी ने बहुत ही छोटा रूप धारण कर लिया और वे उसके मुख में घुसकर तुरत बाहर निकल आये और उसे सर नवाकर विदा मांगी। (उसने कहा-) मैंने तुम्हारी बल-बुद्धि का भेद पा लिया है, जिसके लिये देवताओं ने मुझे भेजा था।

सुरसा का मुख सौ योजन का हो गया। सही अर्थो में बिग माउथ। अंग्रेजी में बिग माउथ मुंहजोर को भी कहते हैं और किसी घृणास्पद व्यक्ति को भी। सुरसा भी बड़बोली होगी। गाल बजाने वाली। कम से कम अभिनय तो वैसा कर ही रही है। किपलिंग की एक कविता है : I've a head like a concertina/I've a tongue like a button stick/I've a mouth like an old potato. लेकिन सुरसा का मुख सिर्फ एक पुराने आलू की ही तरह नहीं है। वह भयावह हो गया है। समुद्र का स्वयं का विस्तार 100 योजन का है और स्वयं सुरसा का मुख भी सौ योजन। कल्पना करें, पूरे समुद्र पर फैला हुआ एक उदग्र रौद्र सर्प-मुख। अंग्रेजी कहावत है- बिग बोस्ट, स्माल रोस्ट। तो सुरसा भी बिगमाउथ के रूप में शेखी बघार रही होगी (बाद में रावण भी यही करेगा, इसलिए उसका अभ्यास करवाया जा रहा है।) लेकिन अंग्रेजी कहावत 'बिग थंडर, लिटिल रेन' के अनुसार उसकी बड़ी गर्जना-तर्जना भी हनुमान पर असर नहीं छोड़ पा रही होगी। वैसे भी सिर बड़ा हो जाने से बुद्धि थोड़े कोई बड़ी हो जाती है। फ्रेंच में एक कहावत है- 'बिग हेड, लिटिल विट।' अतः सत जोजन आनन अभी हो या कोई दशानन बाद में, हनुमान उनसे प्रभावित नहीं होते। एक इतालवी कहावत के उस सत्य को वे जानते हैं कि Big mouthfuls often choke. सुरसा के साथ भी ऐसा हो सकता है। अतः हनुमान निर्भीक हैं।

सुरसा अब बड़ी होते-होते समुद्र के पूरे विस्तार तक फैल गई है। हनुमान सुरसा से ज्यादा से ज्यादा बड़े होने की स्पर्धा नहीं कर रहे हैं। उनका काम छोटे होने से चल जायेगा। वे पवन की गति से तुरत छोटे हो जायेंगे और सुरसा को संभलने का मौका दिये बिना अपनी विपद से पार भी हो जायेंगे। कबीर कहते थे कि 'बड़ा भया तो क्या भया जैसे पेड़ खजूर/पंथी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर।' सुरसा की तरह बड़े होते रहने में कोई सार नहीं है। हनुमान तुरत अत्यन्त छोटे हो जाते हैं। शब्द जो प्रयोग किया गया है, वह है 'अतिलघु रूप' लंका में यह 'अति लघु रूप' जो सुरसा को फेस करते समय आखिरी हथियार बना, हनुमान की पहली जरूरत होगी। बिना इसके तो हनुमान प्रवेश की कल्पना भी नहीं कर सकेंगे। सुरसा को हनुमान की परीक्षा करते हुए उनकी इस शक्ति का भी ज्ञान प्राप्त करना है, तभी देवगण कन्विंस हो सकेंगे। हनुमान महतो महीयान हो सकते हैं तो अणुरणों अणीयान भी हो सकते हैं। शक्ति तो एटम में भी है, बैक्टीरिया में भी और कम्प्यूटर चिप्स में भी। हनुमान की महिमा से हनुमान की अणिमा कम नहीं है। हनुमान 'लेश' होकर, 'रंच' होकर भी विघ्न को पराजित कर लेते हैं। उनकी गागर में सागर भरा है। हनुमान का 'अति लघु रूप' स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर में होना है। स्थूल के लिए देशकाल के बंधन है किंतु सूक्ष्म शरीर पर इस तरह के बंधन नहीं रहते। स्थूल शरीर के परमाणुओं की संरचना ऐसी नहीं कि पदार्थ विज्ञान की मर्यादा से बाहर जाए। लेकिन सूक्ष्म शरीर की शक्ति कई गुना प्रबल होती है। आध्यात्मिक शरीर संरचना विज्ञान में सूक्ष्म शरीर सत्रह सूक्ष्म उपादानों से बना बताया जाता है : 'बुद्धि कर्मेन्द्रिय प्राण पंचकैर्मनसाधिय/शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्म तल्लिगमुच्यते।।' अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, मन व बुद्धि इन सत्रह अवयवों से सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है।

दयाराम ने सतसई में लिखा है : 'लघुता में प्रभुता बसे/प्रभुता लघुता भान/दूब धरे सिर वानबा/ताल खड़ाऊ कौन' कि लघुता में प्रभुता निवास करती है और प्रभुता लघुता का भवन है। दूब लघु है तो उसे विनायक के मस्तक पर चढ़ाते हैं और ताड़ के बड़े वृक्ष की कोई खड़ाऊं बनाकर भी नहीं पहनता। तो हनुमान 'लघु' में समस्या का समाधान ढूंढ़ते हैं। एक जर्मन कहावत है : small saints too work miracles. छोटे सन्त भी चमत्कार कर सकते हैं। हनुमान भी यही चमत्कार कर दिखाते हैं। 'छोटे रूप में' वे सुरसा के सौ योजन यानी समुद्र के पूरे विस्तार तक फैले हुये व्याल-मुख में घुसते हैं और जब तक कि वह अपने जरूरत से ज्यादा फैला

लिए मुख को समेटे, बाहर भी निकल आते हैं। लैटिन लोकोक्ति में सही कहा गया : small things have their own peculiar charm. छोटी चीजों का अपना एक विशिष्ट आकर्षण होता है। हनुमान अपने भीतर वही आकर्षण होना सिद्ध करते हैं।

हनुमान जब लघु रूप धारण कर सुरसा के विशाल मुख में घुसते हैं और सफलतापूर्वक बाहर निकल आते हैं, तो उससे हमें कई संकेत मिलते हैं। पहला तो यह कि हनुमान लगातार 'दुगुन विस्तारा' वाली नीति नहीं अपनाते रहेंगे। वे यदि लघु रूप होकर काम निकल सकता है तो निकालेंगे। रहीम ने सही ही कहा था : रहिमन देख बड़ेन को लघु न दीजिए डारि/जहां काम आवे सुई कहा करे तरवारि। इसलिए हनुमान को यह समझ है कि कहां 'सुई' ज्यादा कारगर रहेगी। हनुमान अपने इस कृत्य से दो मान्यताओं की- उनकी जो आज दुनिया भर में छाई हुई हैं- धज्जियां बिखेर देते हैं। एक मान्यता यह कि 'ग्रोथ इज गुड।' विस्तार अच्छा है। हनुमान कहते हैं, ग्रोथ की भी एक सीमा होनी चाहिए। पृथ्वी के पास अनन्त समय तक चलने वाले संसाधन नहीं हैं। दूसरी मान्यता थी कि 'बिगर इज बैटर'। हनुमान कहते हैं कि छोटा बनकर भी बहुत सी सफलताएं अर्जित की जा सकती है। शूमाखर जिन्होंने एक चीनी कहावत को अपनी पुस्तक का शीर्षक बनाते हुए 'स्माल इज ब्यूटीफुल' (छोटा सुंदर है) जैसी अद्‌भुत पुस्तक लिखी, ने कहा है : Ever bigger machines, entailing ever bigger concentrations of economic power and exerting ever greater violence against the environment, do not represent progress : they are a denial of wisdom. Wisdom demands a new orientation of science and technology towards the organic, the gentle, the non-violent, the elegant and beautiful.

Greed and envy demand continuous and limitless economic growth of a material kind, without proper regard for conservation and this type of growth cannot possibly fit into a finit environment.

अर्थात्‌ ज्यादा से ज्यादा बड़ी होती हुई मशीनें, जिनसे आर्थिक बल का ज्यादा से ज्यादा बड़ा एकत्रीकरण होता है और पर्यावरण के विरुद्ध ज्यादा बड़ी हुई हिंसा होती है, प्रगति का प्रतिनिधित्व नहीं करती। वे बुद्धि का निषेध हैं। बुद्धि विज्ञान और प्राविधिकी का प्रकृत, भद्र, अहिंसक, गरिमावान और सुंदर के प्रति नये सिरे से उन्मुख होने में है। लालच और ईर्ष्या भौतिक तरह की लगातार एवं अमर्याद आर्थिक संवृद्धि चाहती हैं जिसमें प्रकृति के संरक्षण के प्रति उचित सम्मान का भाव नहीं है और इस तरह की संवृद्धि एक सीमित पर्यावरण में संभवतः फिट नहीं हो सकती।

हनुमान ज्यादा से ज्यादा बड़े हुए जाने में ही विजय नहीं ढूंढ़ते, न उसे अपने बल का प्रमाण बनाते हैं। उन्हें भी यह बुद्धि का निषेध लगता है। उन्हें भी लगातार एवं अमर्याद संवृद्धि नहीं चाहिए। सुरसा के बड़े मुख में समाते हुये लघु हनुमान वही हैं जिन्हें शूमाखर ने 'स्मालनेस विदिन बिगनेस' कहा था। हनुमान का तुरत छोटा हो जाना वही 'immediate technology' वही 'तत्काल तकनीकी' है जिसकी चर्चा शूमाखर ने की थी। वह एक तरह की स्वैच्छिक लघुता है। उसमें कहीं 'वृहदाकार निगमों के मर्यादाहीन बल' (unbridled power of large corporations) के प्रति असम्मति है। वह लगातार बढ़ना 'यह दिल मांगे मोर' जैसा है। हनुमान का लघु होना जीवनशैली का सरलीकरण है, जीवनशैली की सादगी है। सुरसा का लगातार बड़ा होना 'बिग मनी' का बढ़ना है। वह वही स्थिति लाता है जिसके कारण आज दुनिया के तीन सबसे बड़ों के हाथ में समस्त न्यूनतम विकसित राष्ट्रों की जनसंख्या (600 मिलियन लोगों) की तुलना में ज्यादा पैसा है। हनुमान इसके विरोध में स्वैच्छिक लघुता को उपाय बताते हैं। जीत बड़े से बड़े होते जाने में नहीं है। 'प्रभुता से लघुता भली, प्रभुता से प्रभु दूरि/चींटी लै शक्कर चली, हाथी

के सिर धूरि'। यह अकारण नहीं है कि सुरसा और महंगाई आम जनता के शब्दकोश में एकमेक हो गए हैं। सुरसा जब तक आहार की बात कर रही थी, हनुमान को न केवल उससे सहानुभूति थी बल्कि 'माई' कहकर वे उसके प्रति आदर भी व्यक्त कर रहे थे और स्वयं को रामकाज के बाद उसके समक्ष समर्पित करने के लिये तैयार थे। लेकिन जब सुरसा यह प्रदर्शित करने लगी कि 'Her free choice of consumption should dictate the course of life' तो हनुमान असहमत हो गये। वह प्रदर्शन उपभोक्तावादी दर्शन बन गया, वह एक 'conspicuous consumption' बन गया। इतना बड़ा कि वह पूरे समुद्र में अकेला ही दिखाई देने लगा। समुद्र में तो और भी जीव होंगे लेकिन सिर्फ एक सुरसा का फैला हुआ मुंह। हर्ट्ज ने अपनी पुस्तक 'साइलेंट टेकओवर' में बड़े मल्टीनेशनल की ऐसी ही प्रभुता की चर्चा की होगी। आज विश्व के 46 दरिद्रतम देशों की संयुक्त आय की तुलना में विश्व की पांच सबसे बड़ी कंपनियों के वार्षिक सेल्स ज्यादा बड़े हैं। विश्व के 20 प्रतिशत सबसे धनी विश्व के सकल प्राइव्हेट कंजम्पशन का 76.6 प्रतिशत उपयोग कर रहे हैं। विश्व के सबसे दरिद्र 20 प्रतिशत के पास उसका सिर्फ 1.5 प्रतिशत है। (वर्ल्ड बैंक डेवलपमेंट इंडिकेटर्स 2008)। इसको और विभाजित करें तो विश्व के 10 प्रतिशत दरिद्रतम लोगों के पास दुनिया के कुल निजी उपभोग का 0.5 प्रतिशत है और 10 प्रतिशत संपन्नतम के पास समस्त उपभोग का 59 प्रतिशत है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा जारी 1995 के उपभोग-आंकड़ों का उपयोग करें तो सुरसावादी उपभोग के पहलू और अच्छी तरह उजागर होंगे। तदनुसार विश्व के 20 प्रतिशत संपन्नतम लोग 87 प्रतिशत वाहनों का भोग करते हैं, सबसे गरीब 20 प्रतिशत के पास सिर्फ 1 प्रतिशत है। प्रथम के पास विश्व का 84 प्रतिशत कागज उपभोग है, दूसरे के पास 1.1 प्रतिशत है। टेलीफोन लाइनों का 74 प्रतिशत अगले के पास है, 1.3 प्रतिशत पिछले के पास। कुल ऊर्जा का 58 प्रतिशत अगले के हाथ है, 4 प्रतिशत इस दूसरे के पास। विश्व के कुल मांस-मछली का 45 प्रतिशत सबसे धनी खाते हैं, 5 प्रतिशत सबसे दरिद्र। उपभोग के ही कुछ और पहलू देखें। वैश्विक प्राथमिकताओं का ढांचा यों है :-

वैश्विक प्राथमिकता

		अमेरिकन डालर्स (बिलियंस)
1.	सैन्य व्यय	780
2.	नार्कोटिक ड्रग्स	400
3.	यूरोप में अल्होलिक ड्रिंक्स	105
4.	यूरोप में सिगरेट	50
5.	जापान में बिजनेस एंटरटेनमेंट	35
6.	यूरोप और सं.रा. अमेरिका में पालतु पशुओं के लिये भोजन	17
7.	यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका में परफ्यूम	12
8.	यूरोप में आइसक्रीम	11
9.	सं. रा. अमेरिका में कॉस्मेटिक्स	8
10.	सभी के लिये बुनियादी शिक्षा	6
11.	सभी के लिये जल और स्वच्छता	9
12.	सभी महिलाओं के लिये प्रजननमूलक स्वास्थ्य	12
13.	स्वास्थ्य एवं पोषण	13

(स्रोत : द स्टेट ऑफ ह्यूमन डेवलपमेंट, यूनाइटेड नेशंस मानव विकास रिपोर्ट, 1998, प्रथम अध्याय, पृ. 37)

इन उपभोग आंकड़ों का अर्थ क्या है? कि सभी के लिये बुनियादी शिक्षा पर दुनिया भर में जितना खर्चा किया जाता है, उससे कहीं ज्यादा पैसा सं.रा. अमेरिका में कास्मेटिक्स के सामान के लिये होता है। सभी के लिये जल और स्वच्छता पर जितना खर्चा दुनिया भर में होता है, उससे कहीं ज्यादा राशि यूरोप और अमेरिका में पालतू कुत्ते-बिल्लियों पर खर्च कर दी जाती है। दुनिया भर में महिलाओं की रिप्रोडक्टिव हेल्थ पर खर्च और यूरोप व सं.रा. अमेरिका में परफ्यूम पर खर्च बराबर है। वैश्विक स्वास्थ्य एवं पोषण पर व्यय यूरोप में सिगरेट

पर व्यय का लगभग एक तिहाई है। वाकई सुरसा की तरह मुंह खुलता जा रहा है विश्व के धनिकों का। परिणामतः पेट भी फूलता जा रहा है, गाल भी। सं.रा. अमेरिका में सेंटर फॉर डिसीज कंट्रोल (व्याधि नियंत्रण केंद्र) के मानकों के अनुसार 67 प्रतिशत अमेरिकी ओवरवेट हैं। वहां पच्चीस साल से ऊपर के 10 में से 8 लोग ओवरवेट हैं। इसलिए यही बात नहीं है कि सिर्फ बच्चे ही मुटा रहे हैं। यदि दर्शन ही यह हो कि हमें उपभोग की खुली छूट है और रामकाज नहीं बल्कि इसी खुली छूट के अनुसार जीवनक्रम का निर्धारण होना है तो यही स्थिति पनपेगी। हनुमान इस दर्शन का प्रतिरोध करते हैं और अपनी ओर से इस कुचक्र से बाहर आने का विकल्प भी प्रस्तुत करते हैं। लघुता का स्वैच्छिक वरण। सारी कीमती चीजें छोटे पैक में आती है। यह कहा जा सकता है कि यह व्याख्या चीजों को कुछ ज्यादा दूर तक खींचना है। इस प्रसंग का अर्थव्यवस्था के आदर्श से कोई ताल्लुक नहीं है। ज्ञानेंद्रपति की एक प्रसिद्ध कविता भी कुछ ऐसी ही है : "हाँ, मान्यवर, मैं यह कसम खाकर कहने को तैयार हूँ/कि मेरी उभरी नसें और यहाँ-वहाँ/गुझटा हुआ मांस/मेरे अपने देह-तंत्र में आते हैं/और आपका उदर आपका अपना है/और ये दोनों दो बिल्कुल अलग-अलग चीज़ें हैं और उनके बीच/कोई सम्बन्ध नहीं है।" यही कवि अपनी दो-पंक्तियों की एक कविता में भी कुछ ऐसा करता है, कि जो इसी प्रसंग में मुझे याद आता है : "मुखिया का मुख जितना बड़ा है/दुखिया का दुख उतना बड़ा है।" क्या वह एक गलत स्मृति है, गलत साहचर्य? लेकिन सुरसा हनुमान को उदरस्थ तो करने की इच्छा व्यक्त कर ही चुकी है। वह उन्हें एक सपाटे में लील जाना चाहती है। बहुत आसान लगता है यह इस दुनिया के उदर पिशाचों को। हनुमान कहते हैं, इतना आसान भी नहीं है "अतिलघु" को गपक जाना। यह अत्यन्त छोटे का आत्मविश्वास है। लेनिन ने जनवरी 1911 में गोर्की को लिखे गए अपने पत्र में यही कहा था कि पूंजीवाद जहां भी गया, मेहनतकशों को चट कर गया। (wherever capitalism went it devoured the workers.) उन्होंने कहा : हम कहते हैं कि पूंजीवाद तुम्हें निगल जाता है, सबको निगल जाएगा और तब तक निगलता रहेगा जब तक आप उसे उलट नहीं देते। (we say : capital devours you, will devour everyone and go on devouring until you overthrow it.) क्या यह बात दूर की कौड़ी लगती है? लेकिन सुरसा हनुमान को "कनककोट लंका" के लिए परख रही है। लंका पूंजी की अपवित्र भंडार नगरी थी। वाल्मीकि रामायण के अनुसार "सुवर्ण के बने हुए द्वारों से उन नगरी की अपूर्व शोभा हो रही थी। उन सभी द्वारों पर नीलम के चबूतरे बने हुए थे। वे सब द्वार हीरों, स्फटिकों और मोतियों से जड़े गये थे। मणिमयी फर्शों उनकी शोभा बढ़ा रही थीं। उनके दोनों और तपाए सुवर्ण के हाथी शोभा पाते थे। उन द्वारों का ऊपरी भाग चांदी से निर्मित होने के कारण स्वच्छ और श्वेत था। उनकी सीढ़ियां नीलम की बनी हुई थी।" रावण इस लूटी हुई दौलत के शिखर पर बैठा हुआ पूंजीपशु है। उसकी पूंजी अपराध के बाद अपराध करके इकट्ठा हुई है। उसको अपने असंख्य अपराधों की सजा भी नहीं मिल सकी है। क्या यह पूंजी-प्राचुर्य आज भी अपराधों के जरिए सुनिश्चित नहीं होता? पॉल हॉकेन ने 80 दशक में फार्चून 500 कंपनियों में से 115 को गंभीर अपराधों में लिप्त पाया था और यह भी आश्चर्य से रेखांकित किया था कि प्रायः वे सभी कुछ अर्थदंड के साथ बच निकले? कानून की धज्जियां उड़ाने के बाद भी वे कभी बंद नहीं हुए। इसके अलावा कई कंपनियों के आर्थिक अपराधों का तो पता भी नहीं लगा। रसेल मोखिबर ने कारपोरेट क्राइम एंड वायलेंस नामक पुस्तक लिखी है। उसके अनुसार कारपोरेशन प्रतिवर्ष 28,000 लोगों को मारते और एक लाख तीस हजार लोगों को गंभीर रूप से क्षतिग्रस्त करते हैं- खतरनाक और दोषपूर्ण चीजें बेचकर। प्रतिवर्ष एक लाख कर्मचारी टॉक्सिन के एक्सपोज़र और कार्यस्थल के खतरों के कारण मरते हैं। लेकिन रावण की तरह उन्हें कभी दंड नहीं मिलता। सुरसा हनुमान की न केवल जीवन-दृष्टि देखना चाहती

है, बल्कि वह ऐसे रावणों को दंडित करने की हनुमान की योग्यता देखना चाहती है।

हनुमान के सामने देवताओं की भेजी हुई सुरसा जब परीक्षा लेने के लिए प्रस्तुत हुई होगी तो वह यह छोटे बड़े होने का जादू मात्र नहीं था। वह वाकई बलबुद्धि की परीक्षा थी। जितनी बलबुद्धि की, उतने बुद्धिबल की। यदि इस परीक्षण के गहरे अभिप्राय नहीं प्राप्त किए जाते हैं और उसे सिर्फ एक सतही तरीके से लिया जाता है तो इस परीक्षण के समुद्र में भी होने का कोई अर्थ नहीं। अर्थ गहरा है। समन्दर की तरह और उतना व्यापक भी। हनुमान समुद्र संतरण कर लेते हैं किन्तु तुलसी के अर्थ-सिंधु का संतरण इतना सरल नहीं है। सुरसा हनुमान की अर्थ-दृष्टि परखती है, वह हनुमान की जीवन-दृष्टि परखती है। हनुमान अपने बौद्धिक चातुर्य का ही परिचय नहीं देते, वे अपनी बौद्धिक शुचिता का भी परिचय देते हैं। इसी कारण वे सुरसा की परीक्षा उत्तीर्ण कर पाते हैं।

बाहर निकलने के बाद हनुमान सुरसा से विदा मांगते हैं। वे ऐसा नहीं करते कि सुरसा की अतिक्रान्ति करने के विजय दर्प में आगे बढ़ जाएं। विजय के क्षण में जो विनम्र है, वही महावीर है। कालिदास रघुवंश (11/89) में कहते हैं : निर्जितेषु तरसा तरस्विनां/शत्रुषु प्रणतिरेवेकीर्तये अर्थात् जब कोई पराक्रमी अपने बल से अपने शत्रुओं को जीत लेता है तो उसका प्रणाम भी उसकी कीर्ति ही बढ़ाता है। हनुमान न केवल विदा मांगते हैं बल्कि सुरसा को प्रणाम भी करते हैं।

श्रेष्ठता की पहचान तब होती है जब जीत में विनय हो और हार में ग्रेस। हनुमान इसी का परिचय देते हैं। तिरुवल्लुवर ने अपने महान ग्रंथ तिरुक्कुरल (985) में कहा था : 'बलवान का बल उसकी विनयशीलता में है। शत्रुओं को परिवर्तित करने के लिये बुद्धिमान का शस्त्र यही है।' सुरसा को हनुमान के इस बल का भी परिचय मिल गया है। बल्कि शुक्रनीति विनय को बुद्धि का प्रमाण मानती हैं। जब उसमें यह कहा गया- 'नयस्य विनयो मूलं' कि 'नीति का मूल विनय है।' हनुमान विनय से विजय को अलंकृति देते हैं। वे विजय से फूल नहीं उठते, नम होते हैं। वे शौर्य को शील से प्रतिष्ठित करते हैं। वे वीर्य्य को इस तरह से एक अलग ही रागात्मकता से अभिषिक्त कर देते हैं। जब हनुमान विदा मांगते हैं और सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं तो वे विजय को मधुर और नित्य बना देते हैं। मिल्टन ने पैराडाइज लॉस्ट में (प्रथम सर्ग) लिखा है : Who overcomes/By force hath overcome but half his foe. कि जो बल से विजय प्राप्त करता है, वह शत्रु पर आधी विजय ही प्राप्त करता है। हनुमान का प्रणाम उनकी विजय को पूर्ण करता है और उसे एक अलग ही उज्ज्वलता देता है। इसी बिन्दु पर आकर हम कालिदास की विक्रमोर्वशीय में प्रयुक्त उस उक्ति का मर्म समझ सकते हैं कि जिसमें कहा गया है कि - 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः' कि निश्चय ही विन्रमता विक्रम का अलंकार होती है। यह विनम्रता किसी तरह की निष्क्रियता नहीं है क्योंकि यह हनुमान के उद्योग के बाद आई है। यह बताती है हनुमान के चारित्रिक गांभीर्य को। जो कटे पर नमक छिड़कने पर विश्वास नहीं रखता; जो जीत के बाद मद नहीं करता, निवृत्त होता है; जो विजय को विषय नहीं बनने देता कि उसमें बंधे। उसे तो उससे भी आगे जाना है। सुरसा जान जाती है कि यह वह व्यक्ति है जिसके लिये बहादुरी का अर्थ उद्दण्डता नहीं है।

ऐसे व्यक्ति को तब सुरसा अपने सही परिचय के योग्य पाती है और फिर हनुमान के सामने यह सत्य उद्‌घाटित करती है कि मुझे देवताओं ने भेजा था, तुम्हारे बुद्धि बल का मर्म पाने के लिये। सो मैंने पा लिया है। मैं भी कृतकार्य हुई। देखिये कि पहले सुरसा को भेजने में 'जाने कहुँ बल बुद्धि बिसेषा' था। बल पहले और बुद्धि बाद में। लेकिन अब 'बुधि बल मरमु तोर मैं पावा' कहा गया। यानी बुद्धि पहले और बल बाद में। हनुमान का बल तो बाहरी होने से देवताओं को पहले दीख पड़ता था लेकिन जब हनुमान से सही तरह से एनकाउंटर हुआ तो हनुमान की बुद्धि भी दीख पड़ी जो बल का मर्म थी, जो हनुमान का आभ्यंतरिक तेज

थी। अब देवता हनुमान की अन्तःशक्ति को साक्षात्कृत करते हैं। वेदव्यास ने महाभारत के शांतिपर्व में जो कहा था 'बलं बुद्धया पाल्यते वर्धमानम्' सो सुरसा देख पाती है कि हनुमान के बल का पालन बुद्धि के द्वारा होता है। हनुमान सुरसा के अंदर घुसे, इसी बुद्धि के कारण। माघ ने शिशुपाल वध में उचित ही कहा था- 'स्पृशन्ति शरवत्तीक्ष्णाः स्तोक मन्तर्विशन्ति च/बहुस्पृशापि स्थूलेन स्थीयते बहिरश्मवत्' अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि वाले लोग बाण की भांति बहुत थोड़ा स्पर्श करते हैं, किन्तु अन्तःप्रविष्ट हो जाते हैं और मन्द बुद्धि वाले लोग पत्थर की भांति बहुत स्पर्श करने पर भी बाहर ही रह जाते हैं। हनुमान वाकई अन्तःप्रविष्ट हुए और उसके प्रतिफल में सुरसा ने भी उनका मर्म पाया और यह एक वृत्त पूरा हुआ। सुरसा स्थूल से सूक्ष्म तक पहुंची। तब पाया कि यह शख्स तो तप, तेज, विद्युत और ओज का भंडार है।

तब ऐसे निर्मल मर्म वाले हनुमान के सामने सुरसा अपने आने का मर्म भी खोलती है। हनुमान को यह बताना कि उनकी बुद्धि और बल का मर्म पाने में ब्रह्मांडीय शक्तियां रुचिशील हैं, सुरसा को जरूरी लगता है। सुरसा पृथ्वीतर शक्तियों का प्रेषण थी। हनुमान की शिनाख्त करने ही नहीं, आजमाइश करने के लिये वह समक्ष आ खड़ी हुई थी। हनुमान का जायजा ही नहीं लिया जा रहा था, उनकी जांच भी की जा रही थी। अब हनुमान का प्रावीण्य जान लिया गया है और वे उत्तीर्ण घोषित कर दिये गये हैं। एक महाकाशीय मुआयने में, एक ग्लोबल टेस्ट में एक सुपरीक्षित हनुमान अब दिवस्पतियों द्वारा वाचस्पति घोषित हुए हैं। देव भी अब हनुमान के बल के 'असल' को जान गए हैं, उनकी मेधा की मार्मिकता को पकड़ पाए हैं। मर्म का एक अर्थ यदि संयुति स्थल होता है तो अब वे हनुमान में बुद्धि और बल की संयुति को जान पाए हैं। अब हनुमान का मूल तत्व उनके हाथ लगा है। हनुमान की बुद्धि का भावार्थ, हनुमान के बल का सार। सुरसा मुआयने से मायने तक पहुंचती है। हनुमान की बलबुद्धि के फलितार्थ पर। जो अभी इतना बड़ा हो गया था, उसका निचोड़ क्या है? जो अभी इतना लघु हो गया था, उसका बीज क्या है? विभव क्या?

राम काजु सब करिहहु
तुम्ह बल बुद्धि निधान।
आसिष देइ गई सो
हरषि चलेउ हनुमान।।

(सुरसा कहती है कि) तुम श्रीरामचंद्रजी का सब कार्य करोगे क्योंकि तुम बल-बुद्धि के भण्डार हो। यह आशीर्वाद देकर वह चली गई, तब हनुमानजी हर्षित होकर चले।

पहले दोहे में हनुमान का संकल्प था कि रामकाज किए बिना वे विश्राम नहीं करेंगे, यह संकल्प ही नहीं था, यह उन्होंने कर के भी दिखाया। पहले दोहे में संकल्प था तो इस दूसरे दोहे में स्वस्ति है, शुभाशीष है। शायद सुरसा भी यही समझ गई है कि हनुमान ने रामकाज का एक सीमित अर्थ ही लगाया है- 'सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं'। इसलिए अपने आशीष में वह 'राम काजु सबु करिहहु' कहती है। इस आशीर्वाद में यह 'सबु' शब्द महत्वपूर्ण है। यह रामकाज के हनुमानित/अनुमानित उस तात्पर्य के फलक को विस्तृति देता है जिसके तहत हनुमान सीता की खबर प्रभु को सुनाने मात्र को अपने अस्तित्व की पूर्णाहुति मान रहे थे। यहां से हनुमान अब इटर्निटी के हुए जाते हैं क्योंकि अब उन्हें 'सब रामकाज' करना है। अब कोई एक कार्य रामकाज मात्र नहीं है अब यहां से हनुमान अमृत और समष्टि के हुए। यहां से वे निर्विशेष के हुए। जो नित्यों का भी नित्य है, जो चेतनों का भी चेतन है, उस राम के सब काज को करने का आशीर्वाद हनुमान को मिला है। अब वे सर्वजनीन हो गए। अब वे खालसा को उपलब्ध हुए। जितने सामाजिक, उतने सामासिक। राम नामक व्यक्ति को अतिक्रांत कर, किसी खास जमघट के भी आगे जाकर सब रामकाज करने की असीस अब माई से मिली है।

यह 'सब' की आशीष तब मिली जब हनुमान 'अति लघु रूप' हो गए। जब वे अणु हुए तो विराट हो गए। जब वे शकल हुए तो सकल हो गए। जब वे बिन्दु हुए तो सिन्धु छोटा पड़ गया। कण होना क्षुद्र होना नहीं है। रघु के लिए लघु है। राघव के लिए लाघव है। जब राम स्वयं 'समस्त' के हैं- ध्यान करें, स्कंदपुराण के उत्तराखंड में, नारद-सनत्कुमार संवाद, "श्रीरामः शरणं समस्त जगतां" और "रामस्य सर्वं वशे" की बात; ध्यान करें, श्रीरामपूर्वतापनीय उपनिषद् (1/6) का वह श्लोकः "रामन्ते योगिनोडनन्ते नित्यान्दें चिदात्मनि/इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते।।" कि जिस अनन्त, नित्यान्द और चिन्मय पर ब्रह्म में योगी लोग रमण करते हैं, वही 'राम' पद से प्रतिपादित होता है"- तो हनुमान भी सब रामकाज करते हुए किसी स्थान और काल की, कोटि और समूह की सीमा में नहीं रहेंगे। सब रामकाज में कितनी चीजों का अन्तरावेश हो जाता है, वहां कोई बाड़ नहीं रहती। वह तो समवेत है। अपने बल की पुनर्स्मृति के बाद सुरसा हनुमान को पहले रेसिस्टेंस की तरह मिलती है। यह पहला प्रतिरोध हनुमान को मांजने के लिए है। यहां द्वेषी नकारात्मकता से नहीं भिड़ा जा रहा है बल्कि दिव्य सकारात्मकता से हनुमान को मांजा जा रहा है। कुमार अंबुज की एक कविता है : 'कोई है जो मांजता है.../चमकाता हुआ रोम-रोम/रगड़ता/मैं जैसे एक पुराना तांबे का पात्र/मांजता है जिसे कोई अम्लीय कठोर/और सुंदर भी बहुत/एक स्वप्न कभी कोई स्मृति/एक तेज़ सीधी निगाह/एक वक्रता/एक हँसी मांजती है मुझे/माँजते चले जाने की/अणु-अणु तक पहुंचती माँजने की यह धमक/दौड़ती है नसों में बिजलियाँ बन/धोता है कोई फिर/अपने समय के जल की धार से।' हनुमान को भी सुरसा अच्छा रगड़ती है। सुरसा के पास भी एक स्वप्न है- देवताओं से उसे शेयर करती है वह। हनुमान का 'अति लघु रूप' धरना क्या "अणु-अणु तक पहुंचती मांजने की धमक" जैसा कुछ है?

हनुमान सफल हुए हैं कि सकल हुए हैं, हनुमान उत्तीर्ण हुए हैं कि उत्तरदायी हुए हैं, उन्होंने सुरसा को उत्तर दिया और वर पाया उत्तरोत्तर उत्कर्ष का, जब सुरसा सब रामकाज करने को कहती है तो हनुमान के सामने, यदि मैथिलीशरण गुप्त की पंक्ति (द्वापर, पृ. 52) का उपयोग करूं, यही भाव उमड़ता होगा- "अहा! हमारे आगे कितना कर्म क्षेत्र पड़ा है"। उन जैसे कर्मठ आदमी के लिए यह स्थिति विशेष उत्साह प्रद है। "राम काजु सबु करिहहु" भव्यतम प्रेरणा है।

माघ ने शिशुपालवध (15/41) में जब यह कहा कि "प्रभुचित्तमेव हि जनोऽनुवर्तते" कि लोग अपने स्वामी के चित्त के अनुसार काम करते हैं," तो शायद वे एक लौकिक बात कह रहे थे, लेकिन इस प्रभु को श्रीराम के अर्थों में लें तो हनुमान उन्हीं का अनुवर्तन

करेंगे, उन्हीं का काम। अब तो वे राममय हो गए हैं। रविदास के शब्दों में 'काम' या 'काज' क्या है- "रसना राम संभारिये, श्रवनहिं सुनिये राम / नयने निरखहु राम कूं, रबीदास यहि काम" हनुमान रामानुवर्ती हैं। मंगल शक्ति के अधिष्ठान राम के काम में ही उनकी सांस-सांस समर्पित हैं।

हनुमान मूलतः कर्मशूर हैं। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' उन पर एकदम फिट होता है। इसलिए वे रामनाम पर नहीं, राम-काम पर, रामकाज पर केन्द्रित हैं। तुलसीदास ने 'रामनाम मनिदीप धरु जीह देहरी द्वार/तुलसी भीतर बाहरेहु जौ चाहसि उजियार' और भक्तों के लिए कहा होगा। हनुमान तो "रामकाज मनिदीप धरु" वाले हैं। रामकाज ही उनके भीतर बाहर उजाला करता है। वे गजब के कर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं। मैं यह नहीं कह रहा कि रामनाम और रामकाम में कोई द्वैत है या दोनों में अंतर्विरोध हैं। दोनों एक दूसरे की पुष्टि ही करते हैं। मैं यह भी नहीं कह रहा कि हनुमान के मन में रामनाम का अजपा जाप नहीं चलता होगा। वे तो 'कर में काम, मनमें राम' वाले तुकाराम-अभंग के आदर्श होंगे, लेकिन जिस तरह से बारबार रामकाज के प्रति उनकी अनन्यता दिखाई गई है, वे एक भारी कर्मयोगी की तरह उभरते हैं। मैं योगी कह रहा हूं, इसका अर्थ यह है कि उनके कर्म को किसी वियोग में नहीं देख रहा। 'काज' के पहले 'राम' का योग है। हनुमान को देखकर अक्ष्युपनिषद् (द्वितीय खंड, श्लोक 3) का वह सूत्र याद आता हैः "योगस्थः कुरुकर्माणि नीरसो वाथ मा कुरुं" कि योगस्थ होकर कर्मों को करो, नीरस होकर कर्म मत करो, हनुमान ऐसे ही हैं। उनके कर्मों में राम का योग है। उनका योग रामकाज है जिसे वे नीरस होकर नहीं "हरषि" के साथ करते हैं। राम उनके अधिष्ठान हैं, काज उनका अनुष्ठान है। 'राम' के कारण उनका काम उन्हें इस विश्व के साथ समरस कर देता है। रामकाज करने वाले हनुमान 'सब' के साथ एकात्म होते हैं, उनकी 'चिति' में 'मिति' नहीं रह जाती। ध्यान दें कि हनुमान का कामकाज महज कर्मकांड नहीं है वह तो सुंदरकांड है। हनुमान के कर्म सौंदर्य की नींव राम ही हैं। उनका रामकाज ही परमात्मा को अर्पित पुष्प है। उनका रामकाज ही प्रभु को दिया गया नैवेद्य हैं। रमण महर्षि के शब्दों में "ईश्वरार्पित नेच्छया कृतम/ चित्तशोधकं मुक्तिसाधकं" कि ईश्वर को अर्पित करके तथा इच्छा त्याग कर किया गया कर्म चित्तशोधक तथा मुक्तिसाधक होता है। हनुमान का काम रामार्पित है, उनकी स्थिति वैसी ही है। तन काम में, मन राम में।

रामकाज राम का काम ही नहीं है। रामकाज राम के लिए काम ही नहीं है वह राम के द्वारा करवाया गया काम भी है। स्वामी रामदास (रामदास स्पीक्स खण्ड 3, पृ. 106) कहते हैं : We should not renounce work but divinize it. We must do everything in all humility in full submission to the will of the divine कि हमें कर्म का त्याग नहीं, उसका दिव्यीकरण करना चाहिए। हमें हर कर्म पूर्ण विनम्रता से तथा ईश्वर-इच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण से करना चाहिए। हनुमान इसके आदर्श उदाहरण हैं। उन्हें कभी नहीं लगता कि ये सब उनका किया हुआ है। वे इसका कर्ता राम को ही मानते हैं 'तव प्रभावँ बड़वानलहि जारि सकई खलु तूल'। समुद्र-संतरण करने पर बड़वानल से तो उनका अच्छा परिचय हो गया होगा। इसी कारण वे इस उपमा का चुनाव करते हैं, लेकिन कुल मिलाकर बात "तव प्रभाव" की है। राम हनुमान के अंतर्यामी हैं और वही उनसे 'काज' कराते हैं। रामकाज वह कार्य है जिसमें अहं का तिरोभाव है, जिसमें 'मैं' नहीं है, जिसके पूरे होने पर आत्मश्लाघा नहीं है, धन्यवाद है, कृतज्ञता है। हनुमान तो "रामभरोसो रामबल रामनाम विश्वास" वाले हैं। उनका आत्मविश्वास यही "रामनामविश्वास" है, वे 'अतुलित बलधामं' इसी 'रामबल' के कारण हैं।

इसी बिन्दु पर सुरसा हनुमान को बल बुद्धि निधान होने का प्रमाण पत्र देती है। वह आई ही "जानैं कहुं बल बुद्धि बिसेषा" के लिए थी। अब उसने परख कर ली है तो उसे सर्टिफाई भी किए दे रही है। certain होने के बाद का certificatin है उसका। जिस हनुमान की

चार्जिंग "राम काज लगि तव अवतारा" से हुई थी, उसी हनुमान को अब "राम काजु सबु करिहहु" का प्रसाद मिला है। उसने कर्तृत्व का आशीर्वाद दिया कुछ ऐसे कि जैसे वह हनुमान का कर्मलेख हो, उनकी प्रकट नियति (मेनीफेस्ट डेस्टिनी)। 'तुम सब रामकाज करोगे'। यह कोई साधारण बात नहीं है। रामकाज कोई सरल कार्य नहीं है। वह समुद्र में कूद पड़ना है। वह आग का खेल है वह चुनौतियां झेलना है, वह इम्तहान देना है। और यह सब प्रसन्नवदन होकर करना है, पुलकित मन के साथ। हनुमान का पुरुषार्थ हनुमान का प्रारब्ध लेख बन जाता है, सुरसा जैसे एक भविष्यवाणी सी करती है। ऐसे कि जैसे वह अटल है, ऐसे कि जैसे वह ब्रह्मलिखित है। लेकिन ऐसा वह हनुमान की पेशानी देखकर नहीं कहती है। वह हनुमान की सामर्थ्य और प्रज्ञा के बारे में पूरी तरह आश्वस्त हो जाने के बाद कहती है। वह हनुमान का ललाट नहीं देखती, गुरदा देखती है, कलेजा देखती है। वह देखती है कि हनुमान कितने अक्षोभ्य हैं और कितने नैष्ठिक हैं। वह उनके हौंसले और जीवट से प्रभावित होती है। उसे लगता है कि हनुमान ऊर्जा के आलय हैं। उसे लगता है हनुमान बुद्धि के भंडार हैं। पावर हब और हब ऑफ इंटेलेक्चुअल कैपिटल। हनुमान के पौरुष्य और प्रतिभा से वह इतनी प्रभावित होती है कि उसे लगता है कि रामकाज तो होकर ही रहेगा। इसके पहले हमने खतरों के प्रसंग में वेणुगोपाल की एक कविता की चर्चा की थी कि अगर हम डरें नहीं तो खतरे वे रंगीन पारदर्शी शीशे के टुकड़े हैं जो भविष्य दिखाते हैं। अब 'रामकाज सब करिहहुँ' का भविष्य एकदम स्पष्ट और पारदर्शी है। हनुमान की महातेजस्विता देवताओं के संशयों के बादलों का निवारण कर देती हैं। देवता भी "दैव" पर, प्रारब्ध पर भरोसा नहीं रखते। परीक्षा पर रखते हैं।

लेकिन यह भी देखिए कि भविष्यकथन और आशीर्वचन दोनों कैसे एकमेक हो जाते हैं। सुरसा दुआ दे रही है कि दिव्य वाणी मुखरित हो रही है! हनुमान ने अभी-अभी सर नवाया था। प्रणति पर आशीर्वाद तो मिलता ही है। अब वे विदा हो रहे हैं तो शुभकामनाएं भी सुरसा की ओर से मिल रही हैं। सुरसा का कथन एक तरह की नांदी है, एक तरह का स्वस्ति-वाचन है लेकिन वह सिर्फ एक इष्ट कामना नहीं लगती है, वह भवितव्य का उद्‌घोष सा लगता है। बोला ही वह कुछ इस तरह से गया है। हनुमान ने सीस नवाया तो असीस पाया। सिर झुकाया तो झरने लगी आशीर्वाणीः-

May the sunshine bright on your windowpane/May the rainbow be certain to follow each rain/May the hand of a friend always be near you/And may God fill your heart with gladess to cheer you और हनुमान भी हृदय में वही 'ग्लैडनेस' और 'चीयर लेकर चलते हैं, जिसकी इस आयरिश कविता में अपेक्षा की गई है। आशीर्वाद एक तरह के दिव्य निक्षेप (divine deposits) हैं, एक तरह के न्यास और एक तरह के प्राणोत्तेजक भी। हनुमान में फिर से एक नया जोश भर जाता है। जागतिक शक्तियों की ओर से प्रेषित सुरसा का स्नेहिल आशीर्वाद राम के अमोघ बाण की तरह से प्रेषित हनुमान को एक और 'बूस्टर' की तरह प्राप्त होता है। यही सुरसा अभी हनुमान की इतनी कठिन और कठोर परीक्षा ले रही थी, यही अब आशीर्वाददायिनी हो गई है। अस्कर वाइल्ड ने एकदम ऐसी ही स्थिति के लिये लिखा था : What seems to us bitter trials are often blessing in disguise. (जो हमें कड़वी परीक्षा लगती हैं, वे वस्तुतः भेष बदलकर मिले आशीष हैं)।

आयरलैंड में संत पैट्रिक दिवस मनाया जाता है क्योंकि उसने आयरलैंड से सारे सांपों को भगा दिया था। हनुमान ने सुरसा को भगा दिया था। संत पैट्रिक समीर (breeze) को सुनते थे, हनुमान पवनपुत्र हैं ही। संत पैट्रिक आयरिश समुद्रों से आती हुई आवाजें सुनते थे, हनुमान समुद्र में से आते हुए सुरसा के सुर सुन रहे हैं। सर्प-माता सुरसा को देखकर हनुमान डर के मारे भाग नहीं खड़े होते, बल्कि उसका मंतव्य समझने की कोशिश करते हैं। आखिरकार वह आकाशीय शक्तियों

की ओर से भेजी गई है। ज्ञानेंद्रपति की एक कविता है : "कोई मेरा हाथ पकड़कर कहता है : भागो! भागो! साँप! साँप!/मैं कहता हूं : संदेशवाहक है यह जानते हो तुम/वह कहता : लेकिन यह संदेश नहीं सुनते हम/ हमारे लिए टेलीग्राफ ध्वनियों में मानी है/ट्रांसमीटरों की कोड-भाषाओं में है मतलब/हम नहीं सुनते यह फुंकार।" हनुमान सुनते हैं। यह भी उनकी परख का ही अंग है। जिस तरह से वे सुरसा के सामने निःशंक खड़े रहते हैं, उसी तरह से रावण के आगे राक्षसों से भरे उसके दरबार में भी उन्हें बेफ़िक्र और बेलौस खड़े रहना है - "देखि प्रताप न कपि मन संका/जिमि अहिगन महुं गरुड़ असंका।" जब "अहिन्ह की माता" के सामने किसी उद्वेग और व्यग्रता का प्रदर्शन नहीं करते तो "अहिगण" के सामने किसी संशय और दुश्चिन्ता में कैसे पड़ेंगे? बाल्मीकि ने तो सुंदरकांड के तीसरे सर्ग में स्पष्ट लिखा है कि "उस नगरी (लंका) की रक्षा के लिए बड़े-बड़े सर्पों का संचरण होता रहता है, इसलिए वह नागों से सुरक्षित सुंदर भोगवतीपुरी की तरह जान पड़ती थी।" एक अन्य श्लोक में वाल्मीकि फिर सांपों की याद करते हैं :- "हाथों में शूल और पट्टिश लिये बड़ी-बड़ी दाढ़ों वाले बहुत से शूरवीर घोर राक्षस लंकापुरी की उसी प्रकार रक्षा करते थे, जैसे विषधर सर्प अपनी पुरी की करते हैं।"

हनुमान की ज़िद के आगे सुरसा कहीं नहीं ठहरती। हनुमान के जुनून और ज़ज़्बे को रोकना उसके लिए मुमकिन नहीं रह जाता। हनुमान के इस पहलू को उनका अदम्य साहस और निर्भीकता कहा जा सकता है। लेकिन हनुमान की नज़रों में यह उनका रामकाज के प्रति लगाव है। उसे कर पाने की ज़िद सारे डरों पर हावी हो जाती है। वह जिद उन्हें ताकत देती है। चूंकि वे हर कीमत पर अपने इस एक सपने को जिंदा रखे हुए हैं, इसलिए बाकी दुःस्वप्नों को मरना ही है। हनुमान की ज़िद यही 'रामकाज' है। प्रमोद त्रिवेदी की एक कविता है : 'सबकी अपनी अपनी जिद।' वे कहते हैं : "पानी को ज़िद/वह काटता रहता है पत्थर/दिन-रात/और एक दिन कामयाब हो जाता है/हवा/बदल देती है चट्टान को/रेत में/अपनी इस ज़िद में वह हो जाती है/अंधड़!/ अपनी ज़िद में अंकुर/पराजित कर देता है/धरती की तमाम परतें/दबा हो मिट्टी में/पर हो जाता है वही एक दिन-/सघन छाया/अपनी ज़िद में ही/वह उठता है आकाश छूने के लिए/और देता है चुनौती/तमाम ऊँचाइयों को/ "हनुमान को पानी, हवा और अंकुर की भांति 'रामकाज' के अपने लक्ष्य के प्रति स्वाभाविक आग्रह है। वह कोई 'आब्सेशन' जैसा मनोविकार नहीं है। लेकिन उनके भीतर एक लौ जरूर जली हुई है। अपने अभिप्रेत के आगे वे भय के किसी प्रेत को नहीं ठहरने देते। वह ज़िद कोई अस्थाई भभक नहीं रहे, वह कोई तात्कालिक लहर नहीं रहे, इससे बेहतर क्या होगा? इसलिए सुरसा जब "रामकाज सब" कहती है तो वह उनके स्वप्न का विस्तार करती है। रामकाज की तरंग को वह जैसे एक सिंधु बना देती है। संचारी भाव अब स्थायी भाव हो जाता है। अब वह कोई एक मुराद नहीं रह गई है कि सीता की सुधि प्रभु को सुनाना है। अब कोई एक मुद्दा नहीं है। अब हनुमान सिंगल-इशू वाले हनुमान नहीं रहेंगे। रामकाज के लिए उनका अवतार हुआ, लेकिन रामकाज सिर्फ सीता-समाचार-सम्प्रेषण तक नहीं है, वह तो उसके बाद भी और उसके आगे भी है। सुरसा के सामने जिस उत्कटता से उन्होंने कहा था कि "रामकाज करके मैं लौट आऊँ", जिस तरह से सबसे पहले रामकाज शब्द को रखा था; अब सुरसा उनकी उसी मनोभिलाष को मान्यता देती हुई सबसे पहले "रामकाज सब" की पूर्ति का ही आशीर्वाद देती है। हनुमान इसी कारण गद्गद् हो जाते हैं। विभोर। रामकाज बहुत सारे हैं। निरवधि हैं, निस्सीम हैं। और हनुमान को सृष्टि-पर्यन्त उनमें रमे रहना है। हनुमान को आहार बनाने के घोषित उद्देश्य से आई सुरसा यों उनकी मनस्तृप्ति करके जाती है।

हनुमान जब तक परीक्षा दे रहे थे, यहां तक कि परीक्षा परिणाम के वक्त तक भी, तब तक सुरसा के लिए वे 'तोर' थे - बुधि-बल मरमु तोर मैं पावा। लेकिन

जब आशीष की बारी आती है तो सुरसा के मन में हनुमान के प्रति सिर्फ स्नेह ही नहीं उमड़ता, सम्मान भी उभरता है। इसलिए 'तोर' अब 'तुम्ह' हो जाता है। एक संस्कृत श्लोक के अनुसार 'अन्तर्धृतगुणैरेव परेषां स्थीयते रूदि' कि दूसरों के हृदय में अपने धारण किए गए सद्‌गुणों से ही स्थान पाया जा सकता है।

हनुमान हर्षित हो जाते हैं। भविष्य के प्रति निरूपायता का अहसास दुःख पैदा करता है, भविष्य के प्रति आश्वस्ति हर्ष। जब हम जानते हों कि कुछ टूट गया है, किंतु हमें ठीक-ठीक पता न हो कि उसको कैसे फिक्स करना है; जब हम अधोपतन तो देख रहे हों, लेकिन उसे उलटना तो छोड़ें, रोक भी नहीं सकते हों, अर्थव्यवस्था, मंदी, बेरोजगारी, राजनीति, सांप्रदायिकता, भ्रष्टाचार, नैतिक रुग्णता, आतंकवाद चिंताओं के सारे क्षेत्र जहां बदस्तूर हों, हमारे समाधान जब लक्षणों का इलाज कर पाते हों, मूल बीमारी का नहीं, टाइटैनिक डूब रहा हो और हम उसके किसी कमरे की इधर-उधर लुढ़कती कुर्सियों को संभालने में लगे हों, जब हम एक सरहद तक पहुंच गए हों और उससे और आगे जा ही न पा रहे हों; तब दुख है। लेकिन जब कोई हमें भविष्य के प्रति न केवल आश्वस्त करे, बल्कि हमें एक सोद्देश्यता में आवेष्टित कर दे तो हर्ष होगा ही। हनुमान इस समुद्र में पत्थर मारकर लहर पैदा करने नहीं आए, वे समुद्र पार कर रामकाज सम्पन्न करने के लिए आए हैं।

निसिचरि एक सिन्धु महुँ रहई।
करि माया नभु के खग गहईं।
जीव जन्तु जे गगन उड़ाहीं।
जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं।
गहइ छांह सक सो न उड़ाई।
एहि विधि सदा गगनचर खाई।
सोइ छल हनुमान कहँ कीन्हा।
तासु कपटु कपि तुरतहिं चीन्हा।
ताहि मारि मारुतसुत बीरा।
बारिधि पार गयउ मतिधीरा।

समुद्र में एक राक्षसी रहती थी। वह माया करके आकाश में उड़ते हुये पक्षियों को पकड़ लेती थी। आकाश में जो जीव जंतु उड़ा करते थे, वह जल में उनकी परछाई देखकर उस परछाईं को पकड़ लेती थी, जिससे वे उड़ नहीं सकते थे। इस प्रकार वह सदा आकाश में उड़ने वाले जीवों को खाया करती थी। उसने वही छल हनुमानजी से भी किया। हनुमान ने तुरंत ही उसका कपट पहचान लिया। पवन पुत्र धीरबुद्धि हनुमान जी उसे मारकर समुद्र के पार गए।

पहले शुभकामना। फिर परीक्षा। अब वास्तविक चुनौती। यह एक जल-राक्षसी है जो छायाग्राही है और पक्षियों को/आकाशगामियों को खा जाती है। क्या हम इस तरह की सिंधुवासी राक्षसी का सतही अर्थ ही लें या जूडिथ हालबर्सटम की तरह यह मानें कि Monsters are meaning machines. कि राक्षस एक अर्थ-यंत्र हैं। (Skin Shows : Judith Halberstam) इसलिये यह निशिचरी भी किसी अर्थहीन तरीके से इस कथाक्रम में नहीं आई। तुलसी की तुलना में वाल्मीकि ने इसके अर्थ को डि-कोड करने के लिये ज्यादा संकेत दिये हैं। हम अभी उन संकेतों की चर्चा करेंगे, लेकिन उसके पहले राक्षसों के बारे में जाइजेक की एक बहुत ही महत्वपूर्ण टीप पर आपका ध्यान आकर्षित करना उपयोगी होगा- "The analysis that focuses on the ideological meaning of monsters overlooks the fact that, before signifying something, before serving as a vessel of meaning, monster embody enjoyment qua the limit of interpretation, that is to say, nonmeaning as such" अर्थात वह विश्लेषण जो दैत्यों के विचारधारात्मक अर्थ पर एकाग्र है, इस तथ्य की अवहेलना करता है कि कुछ मतलब लगाने से कहीं पहले, अर्थ का पात्र बनकर सेवा करने से कहीं पहले, दैत्य एक तरह का आनन्द भी हैं- व्याख्या की सीमा से पार जाने का यानी अर्थमुक्ति का आनंद। इसलिए व्याख्या का उन्माद हर जगह प्रेय नहीं है। कथाक्रम में ऐसे मुकाम भी आते हैं जब कविता अर्थ-राहित्य का भी लालित्य रचती है। दैत्य-कथाएं वह एक आनंद भी हैं। सिंहिका प्रसंग कथापट पर एक नाट्य प्रस्तुत करता है। यह हनुमान के सामने आ रहे संकटों को दृश्य बनाता है, लेकिन उसी के साथ-साथ यह प्रसंग बहुत 'कोडेड' शब्दावली में भी है। इस कूटलेखन का उन्मीलन अपने आप में रोचक है। प्रायः दैत्य हमें बहुत कुछ प्रदर्शित सा करते लगते हैं। Demon हैं तो demon-strate भी करेंगे। लेकिन तात्कालिक दृश्यता के पार दैत्य कथाओं के रूपक अर्थ की बहुत सी परतें लेकर चलते हैं। क्या समुद्र की यह राक्षसी हमारे अंदर के किसी अतल (subterrarean depths) की प्रतीक है जो शुभ कर्मों का विरोध करती है? क्या यह अर्जुन की एंटीथीसिस-सी कुछ है जो पानी में परछाईं देखकर लक्ष्य-संधान कर लेता था और 'जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं' देखकर अपना शिकार करती है? क्या इसका विवरण पढ़कर एकदम नहीं लगता कि यह 'निसिचरि' ठीक उस वैम्पायर जैसी है जिसके मेटाफर को कार्ल मार्क्स ने भी व्याख्यायित किया था। कार्ल मार्क्स को यह उस पूंजी की तरह लगा था जो श्रमिकों का भक्षण करती है। अपनी पुस्तक 'पूंजी' के अध्याय 10 में उन्होंने कहा कि capital is dead labour, which, vampire-like, lives only by sucking living labour, and lives the more, the more labour it sucks. कि पूंजी एक मृत श्रम है जो किसी वैम्पायर की तरह जीवित श्रम को चूस कर जिंदा रहती है और जितना यह श्रम को चूसती है उतना ज्यादा जीती है। यह 'निशिचरी' भी इसी तरह खा जाती है। कार्ल मार्क्स ने यह भी कहा : "The capitalist devours the labour-power of the worker, or appropriates his living labour as the life-blood of capitalism ...... By incorporating living labour-power into the material constituents of capital, the latter become an animated monster." पूंजीवादी आदमी मजदूर की श्रम-शक्ति को निगल जाता है, या उसके जीवित श्रम को पूंजीवाद के जीवन-रक्त की तरह विनियुक्त करता है। जीवित श्रम-शक्ति को पूंजी के भौतिक संघटकों में संवलित कर यह पूंजीवादी आदमी एक जीता जागता दैत्य हो जाता है।' क्या यह जीवित श्रम शक्ति वही है जो गगनचर से प्रतीकायित हुई? क्या पूंजीवादी इसे खा नहीं जाते? मुझे इस प्रसंग को पढ़कर स्टीफन सोमर्स की फिल्म 'डीप राइजिंग' की याद आती है। साउथ सीज में फिल्माई गई यह मूवी एक ऐसे समुद्री दैत्य के बारे में है जो लोगों को खा जाता है। जॉन गुलाजेर की फिल्म 'फीस्ट' (महाभोज) के दानवों के

बारे में वह वाक्य दर्शकों में कैसी सिहरन पैदा करता था- 'दे आर हंग्री, यू आर डिनर' (वे भूखे हैं और तुम भोजन हो)। जीपर्स क्रीपर्स-II नामक एक फिल्म में एक ऐसा ही नरभक्षी दैत्य है प्रत्येक 23 साल के बाद अपनी भूख मिटाने के लिए सतह पर आता है। उस फिल्म में एक वाक्य था- 'ही कैन टेस्ट योर फीअर' (वह तुम्हारे भय का आस्वाद ले सकता है)। माइकेल डेविस की सन् 2003 में आई फिल्म 'मोंस्टर मैन' की टैगलाइन थी- 'ऑन दिस हाइवे, द रोडकिल इज ह्यूमन।' हनुमान को अपने आकाशीय हाइवे पर यह राक्षसी मिलती है जिसका शिकार आदमी है। इस महापथ पर दुर्घटना सिर्फ 'गगनचर खाई' के रूप में है। 'फीस्ट' के दैत्य की तरह यह निशिचरी भी हनुमान को डिनर बनाना चाहती है, लेकिन जीपर्स क्रीपर्स-II की तरह वह इतनी भाग्यशाली नहीं कि हनुमान के भय का आस्वाद ले सके। यह निशिचरी जो रामकथा में आती है, सिर्फ मनुष्यों का नहीं बल्कि पक्षियों (गगनचर खाई) का भक्षण करती है।

इस प्रारंभिकी के साथ हम तुलसी और वाल्मीकि के द्वारा वर्णित इस sea-monster के विविध पहलुओं पर बात करेंगे। वाल्मीकि ने इस sea-monster का नाम सिंहिका बताया है। तुलसी ने उसे कोई नाम नहीं देकर 'निसिचरि एक' से काम चलाया है। वाल्मीकि ने उसे इच्छानुसार रूप धारण करने वाली कहा है, तुलसी इस बारे में चुप्पी मार गए हैं। दोनों ही इस राक्षसी की एक विशेषता का विस्तृत विवरण देते हैं- वह है उसकी छाया ग्राहिता। वाल्मिकि के अनुसार हनुमान को उसे देखकर सुग्रीव के द्वारा समुद्र में ऐसी छायाग्राही राक्षसी के अस्तित्व के बारे में बताना याद आता है : 'उस विकराल मुख वाली राक्षसी को देखकर पवनकुमार हनुमान सोचने लगे- वानरराज सुग्रीव ने जिस महापराक्रमी छायाग्राही अद्‌भुत जीव की चर्चा की थी, वह निःसंदेह यही है।' तुलसी ने कोई सुग्रीव-संदर्भ नहीं दिया है बल्कि यह कहा है कि 'तासु कपट कपि तुरतहिं चीन्हा।' वाल्मीकि के यहां उस राक्षसी के द्वारा कारित हनुमान का क्षणिक विषाद् भी दिखाया गया है, तुलसी ने उसे स्थान नहीं दिया है। वाल्मीकि के यहां- 'अपने हृदय में ऐसा सोचकर उस राक्षसी ने हनुमान जी की छाया पकड़ ली। छाया पकड़ी जाने पर वानरवीर हनुमान ने सोचा- अहो! सहसा किसने मुझे पकड़ लिया, इस पकड़ के सामने मेरा पराक्रम पंगु हो गया है। जैसे प्रतिकूल हवा चलने पर समुद्र में जहाज की गति अवरुद्ध हो जाती है, वैसी ही दशा आज मेरी भी हो गई है?' तुलसी ने हनुमान के इस क्षणिक अवसाद को कोई तवज्जो नहीं दी है। वाल्मीकि के यहां फिर वही मुख का बढ़ना, हनुमान का लघु रूप धारण कर उसके मुख में गिरना, भीतर जाकर अपने तीनों नखों से उस राक्षसी के मर्मस्थानों को विदीर्ण कर वेगपूर्वक बाहर आना विस्तार से वर्णित है। तुलसी ने चीन्हने के तत्काल बाद 'ताहि मारि' के दो शब्दों से काम चला लिया। मुंह के बढ़ने फैलने और हनुमान के छोटे हो जाने से बाहर निकल आने का रूपक पूर्व में सुरसा प्रसंग में प्रयुक्त किया जा चुका है। तुलसी उसे फिर वापरने में रुचि नहीं दिखाते। वाल्मीकि के यहां एक 'अद्‌भुत जीव' के इस तरह मारे जाने पर कहीं एक ग्लानि-बोध भी है जिसे वे यह कहकर कम करने की कोशिश करते हैं कि 'विधाता ने ही उसे मार गिराने के लिये हनुमानजी को निमित्त बनाया था।' सिंहिका के मारे जाने पर हनुमान को वाल्मीकि के यहां आकाश में विचरने वाले प्राणियों का साधुवाद भी मिलता है।' 'कपिवर। तुमने यह बड़ा ही भयंकर कर्म किया है, जो इस विशालकाय प्राणी को मार गिराया है। अब तुम बिना किसी विघ्न बाधा के अपना अभीष्ट कार्य सिद्ध करो। वानरेन्द्र! जिस पुरुष में तुम्हारे समान धैर्य, सूझ, बुद्धि और कुशलता- ये चार गुण होते हैं, उसे अपने कार्य में कभी असफलता नहीं होती। इस प्रकार अपना प्रयोजन सिद्ध हो जाने से उन आकाशचारी प्राणियों ने हनुमान जी का बड़ा सत्कार किया।' तुलसी के हनुमान को कहां विश्राम कि वे गगनचरों का रिसेप्शन अटेंड करें। उनकी बधाइयां बटोरें। तो तुलसी ने इस साधुवाद प्रसंग को गोल कर दिया है। वैसे भी हनुमान अपने प्रभु

से ही साधुवाद लेंगे, इन लोकलाइज्ड कृतज्ञता ज्ञापनों से उन्हें क्या?

यह बात देखने की है कि हनुमान को सुर और असुर दोनों का सामना करना पड़ता है। सुर परखते हैं तो असुर वास्तविक संकट का प्रतिनिधित्व करते हैं। सुर की ओर से सुरसा और असुर यह सिंहिका। सुरसा को हनुमान के हाथों प्रणाम मिलता है, इस निशिचरी का हनुमान के हाथों प्राणान्त होता है। सुरसा के मूल में स्वस्ति थी, लेकिन इस राक्षसी के मूल में शठता। सुरसा नेकनीयत और पाकदिल थी, यह राक्षसी कुचाल और कारसाजी से भरी हुई थी।

इस राक्षसी और सुरसा दोनों ही के रूप में स्त्री के ही दो भिन्न रूपों को सामने लाया गया। एक माता के समान स्त्री जो पुत्र को परेशानी में भी डालती है तो उसकी पुष्टि के लिये और दूसरी यह पिशुन स्त्री जो धूर्त और दुमर्नस्क है। ग्रीक मिथकों में वर्णित मेड्यूसा नामक राक्षसी है जिसका एक दृष्टिपात आदमी को पत्थर की तरह जड़ बना सकता है। उसी तरह यह राक्षसी है जो लोगों की छाया पकड़कर उन्हें जड़ और गतिहीन कर देती है। यहां ब्रेंडोटी की वह पंक्ति याद आती है कि The female body shares with the monster the privilege of bringing out a unique blend of fascination and horror. कि स्त्री शरीर और दैत्य में एक समानता है कि दोनों में आतंक और आकर्षण का एक अद्वितीय मेल है। लेकिन ब्रेंडोटी की तरह यहां राक्षसत्व का कोई लिंगीकृत विश्लेषण अप्रासंगिक होगा क्योंकि यह निशिचरी अपनी सेक्सुअलिटी का किसी भी तरह से स्थापन करती नहीं बताई गई है। मेड्यूसा की ही तरह पाइथन राक्षसी भी है जिसका डेल्फी पर अपोलो नामक ग्रीक देवता संहार करता है। स्फिंक्स भी उसी तरह से खून की प्यासी है, जैसे यह निशिचरी। भारत में यों तो राक्षसों की संख्या बहुत है, लेकिन कुछ राक्षसनियां भी हैं। ताड़का, कैकसी, कुंभीनसी, पूतना, शूर्पणखा, सिंहिका आदि। वैसे भारत में सद्भावी राक्षसियां भी हैं। त्रिजटा, मंदोदरी, सुलोचना, विनता, वृंदा, सरमा, हिडिम्बा इसी सदाशयी राक्षसनियों के वर्ग के भीतर आती हैं। सिंहिका वह क्रूरकर्मा राक्षसी है जो अपने तरह से शिकार करती है। सुरसा नभ से आई थी, सिंहिका नभचरों का शिकार करती है। सुरसा, सिंहिका और लंकिनी के रूप में हनुमान के सामने तीन स्त्री चुनौतियां आती हैं। आकाश, जल और स्थल के तीनों आयामों पर। हनुमान तीनों से उत्तीर्ण होकर ही लंका में प्रवेश कर पाते हैं।

अधिकतर अनुभव यह क्यों रहा है कि राक्षस या दैत्य प्रायः रात को ही हंट करते हैं, प्रायः डार्क में ही रहते हैं। उन्हें निशाचर या तमचर संस्कृत में कहा ही गया। 'वरवोल्व्स' भी रात्रि के ही रक्तपिपासु प्राणी हैं। अपनी जिंदगी के भयावह अनुभवों या कल्पनाओं को हम आज भी नाइटमेअर्स ही बोलते हैं। 1966 में एक फिल्म आई थी- 'द नेवी एंड द नाइट मोंस्टर्स।' उसमें अंटार्कटिका की ओर एक वैज्ञानिक अभियान ऑपरेशन डीप फ्रीज आरंभ होता है। वे कुछ असामान्य से दिखने वाले पेड़ों की प्रजातियां ढूंढ निकालते हैं। जल्द पता लगता है कि वे पेड़ तो रात में सक्रिय होने वाले हत्यारे और अम्ल उगलने वाले दैत्य हैं। एरिक हैडॉक की भयावह कल्पना 'मोंस्टर्स ऑफ द मून' भी उस दैत्य के बारे में हैं जो धूप से घृणा करता है और रात में अत्यन्त भीषण और शक्तिशाली हो उठता है। अरेबियन नाइट्स में तो ऐसे अनजान स्थानों और दैत्यों की कहानियां हैं ही। 1981 की अमेरिकी 'हॉरर नाइट' की टैगलाइन थी- 'प्रे फॉर डे।' इन निशाचरों के सामने भी यही होता होगा- लोग दिन के लिये प्रार्थना करते होंगे। जॉन न्यूलैंड द्वारा निर्देशित फिल्म 'डोंट बी अफ्रेड ऑफ द डार्क' भी अंधेरे के आतंक की फिल्म है। 2007 की फ्रेंच एनीमेशन फिल्म 'फीयर्स ऑफ द डार्क' भी अंधेरे के भयों पर बनी है। तुलसी इसीलिए इस राक्षसी के लिये निशिचरी शब्द का प्रयोग करते हैं।

दक्षिण पूर्वी देसी अमेरिकियों में ऐसे सर्पाकार समुद्री दैत्य की कथा चलती है जिसे वे 'वाटर-पैंथर' कहते थे और जो समूचे आदमी को निगल जाता था।

1877 में ओकलोहामा में मिले एक विशालकाय प्राणी के ढांचे के बारे में यह शंका व्यक्त की गई थी कि वह यही 'वाटर-पैंथर' था। जापान में ऐसे विचित्र दैत्याकार प्राणियों को 'काइजू' कहते हैं। वहां गॉडजिला, मोथरा, रोडान जामेरा जैसे कई प्राणी हैं। मोथरा एक स्त्री दैत्य है। 1953 में एक फिल्म बनी थी 'द बीस्ट फ्रॉम 20,000 फैदम्स'। सिंहिका की तरह इस फिल्म का मोंस्टर भी गहरे जल के अतल में (शीतनिद्रा में 100 मिलियन साल से) सोया हुआ है। आर्कटिक सर्कल में एटम बम के परीक्षण से वह जाग जाता है और न्यूयार्क सिटी पर कहर बरपा देता है। मैगालोडोन (2002) फिल्म में उत्तरी अटलांटिक में एक विशाल ऑइल रिग बनाई जा रही है और समुद्र के बहुत भीतर तक खोदा जा रहा है। इससे समुद्र तल की फॉल्ट लाइंस फट जाती हैं और एक mirror ocean दीख पड़ता है जो लाखों सालों से सामान्य समुद्र के नीचे छुपा हुआ था। तब उनका सामना होता है इतिहास के सबसे खूंखार समुद्री दैत्य मैगालोडोन से। होमर ने केरिब्डिस को एक ऐसी समुद्री राक्षसी बताया था कि जो अपनी सांस से जहाज को खींच लेती है। उसी की एक दूसरी समुद्री राक्षसी साइला छः सिर वाली सर्पिणी है जो पास से गुजरते छः जहाजों से छः लोगों को खींचकर खा जाती थी। तुलसी की यह समुद्री राक्षसी छाया को खींचकर अपना शिकार करती है।

लेकिन छाया को अवरुद्ध करके जीवों को अवरुद्ध करने का यह रूपक क्या है? यह छाया है क्या? सुमित्रानंदन पंत ने पल्लव में छाया के बारे में कहा था : 'कहो, कौन हो दमयंती सी/तुम तरु के नीचे सोई?हाय! तुम्हें भी त्यागा क्या/अलि! नल सा निष्ठुर कोई?' लेकिन यहां तो छाया को त्यागा नहीं जा रहा बल्कि उसे पकड़ा जा रहा है और उसका अवरोध कर खगों को खाया जा रहा है। क्या यह वही छाया है जिसके बारे में भारत की सांस्कृतिक परंपरा के, नवयुग में सबसे प्रतिनिधि हिन्दी कवि जयशंकर प्रसाद ने कहा था कि 'अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।' क्या इस छाया के अवरोध से सिंहिका अपने हित साधती है। हमारी परम्परा में छाया को सूर्य की पत्नी कहा गया है। अरुणप्रिया और सूर्याणी 'निशिचरी' की दुश्मनी सूर्य पत्नी से होगी ही, उसकी दुश्मनी आन्तर स्पर्श और भाव समर्पण से होगी ही। राबर्ट लुई स्टीवेंसन की एक कविता है - 'मेरी छाया' जिसमें वह कहते हैं : I have a little shadow that goes in and out with me/And what can be the use of him is more than I can see. यह छाया हमारी साथी है। यह छाया जब प्रकाश ज्यादा होता है तब ज्यादा गहरी होती है। राक्षसी की दुश्मनी प्रकाश से है, अतः छाया से भी है। छाया को पकड़कर वह जीव को निरूपाय कर देती है। इस बिन्दु पर प्राचीन ग्रीस के गीतकार कवि पिन्डार के शब्द याद आते हैं- मनुष्य छाया के स्वप्न हैं- Men are the dreams of a shadow. इसलिए छाया का पकड़ा जाना जीव का पकड़ा जाना है।

यहां सिंहिका छाया को पकड़ रही है और वहां देसी अमेरिकन विश्वासों में छाया-पुरुषों की बात कही गई है, शैडो पीपुल की जो कभी पकड़े नहीं जाते। कुछ विचारकों का कहना है कि छाया-पुरुष एक 'थॉटफार्म' का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि हमसे भी अलग 'एक और यथार्थ' (अदर रियलिटी) है जिसका 'आयाम' कभी-कभी हमारे आयामों से ओवरलैप कर जाता है। वे अस्तित्व के एक-दूसरे ही तल (plane) पर मौजूद हैं। चार्ल्स ब्रायन ने 'शैडो बिइंग्स' में इन लोगों को हमारे मल्टीवर्स (खगोल) को बनाने वाले समानान्तर संसारों के बीच फंस गए लोगों की तरह देखा है जो हमारे संसार में भौतिक रूप से रह नहीं सकते और सिर्फ छाया-रूपों में दीख पड़ते हैं। क्या सिंहिका जीवों के साथ-साथ रहने वाले उस 'थॉट फार्म' को पहले पकड़ती है? क्या वह जीव के इर्द-गिर्द मौजूद प्रभामंडल को- कान्तिमयी छाया को- पकड़कर जीव को असहाय बना देती है? हर व्यक्ति के साथ एक छायामूर्ति होती है। कवि त्रिलोचन ने अपने एक सॉनेट में कहा है - 'जल के हिल जाने पर जैसे तल की छाया/

हिलने लगती है वैसे ही मेरे मन के/हिल जाने पर मेरा छाया पुरुष गगन के/प्रभा-लोक में हिलने लगता है। समझाया/ तुमने मुझे मर्म जीवन का- मैंने पाया/तुम जल हो मैं निहित बिम्ब हूं, उड़ते घन के/प्रतिबिम्बों पर सुस्थिर, तार हृदय के खनके/साँस साँस से जीवन जग कर आगे आया।' सिंहिका को संभवतः इस छाया पुरुष को नियंत्रित करने और उसके माध्यम से व्यक्ति को काबू में करने की तकनीक मालूम है। हर प्राणी के आसपास मौजूद 'इलेक्ट्रो-फोटोनिक ग्लो' को पकड़ने की प्राविधिकी। येल के शरीर विज्ञान के प्रोफेसर हैराल्ड सैक्सटन बर प्राणियों के इर्द-गिर्द रहने वाली 'L-field' की बात करते थे, एक बायो-इलेक्ट्रिक फील्ड की, एक लाइफ-फील्ड जिसमें सकारात्मक तरीके से हस्तक्षेप कर जीव के विकास, मूड व स्वास्थ्य में बेहतरी लाई जा सकती है और नकारात्मक तरीके से हस्तक्षेप कर सिंहिका प्राणियों को मार भी सकती है। प्रो. हैरॉल्ड के बहुत नियंत्रित परिस्थितियों में किये गये इन प्रयोगों का आज तक खंडन नहीं हुआ। वे इसे इलेक्ट्रो-डायनेमिक फील्ड कहते थे। सिंहिका जीवों की ऊर्जा और सक्रियता को खंडित करती है, सबसे पहले इस फील्ड पर काबू पाकर। यह फील्ड एक तरह की बाहरी परिधि (outward circumference) है। जिसे समय-समय पर अनेक वैज्ञानिकों ने अलग-अलग तरह के नाम दिये हैं। रूपर्ट शेल्ड्रेक ने इसे मार्फिक फील्ड कहा है : There is a field within and around a morphic unit which organizes its characteristic structure and pattern of activity. वेदों के आधार पर शेल्ड्रेक ने 'Akashic records' (आकाशीय अभिलेखों) की चर्चा की। ध्यान दें कि सिंहिका को 'गगन' के प्रति केन्द्रित कहा गया है। तुलसी जैसा सावधान कवि इसी पर जोर देने के लिये 'नभु के खग' शब्द का प्रयोग करता है। खग तो होते ही आकाशचारी हैं, एमू, कीवी, पैंग्विन, शुतुर्मुर्ग जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर। लेकिन आकाशिक फील्ड पर बल देने के लिये 'नभु के खग', 'जे गगन उड़ाही' और 'गगनचर' जैसे शब्दों का इस्तेमाल किया गया है। आकाश जिसे महाशून्य कहते हैं। ध्यान दें कि हनुमान अभी सुरसा को पार कर आ रहे हैं। सुरसा का एक अर्थ संस्कृत में आकाशगंगा भी है। सिंहिका इस soniferous ether को विचलित करती है। हनुमान जब उस पर विजय प्राप्त करते हैं तो 'आकाशचारी प्राणी' प्रसन्न हो जाते हैं, क्योंकि किसी किस्म के एस्ट्रल प्रोजेक्शन के जरिए सिंहिका उस 'आकाशिक अभिलेखागार' में, उस यूनिवर्सल कम्प्यूटर में, अस्तित्व के उस अभौतिक तल में खलल डाल रही थी। ध्यान दें कि वाल्मीकि ने कहीं भी पक्षियों को खाने का जिक्र नहीं किया है, प्रसन्नता के संदर्भ में उन्होंने पक्षी शब्द का इस्तेमाल न करके 'आकाशचारी प्राणी' शब्द का इस्तेमाल किया है। वे किसी चिड़िया भर की बात नहीं कर रहे हैं। यह राक्षसी कोई चिड़ीमार नहीं है। तुलसी 'जीवजन्तु' शब्द को काम में लाते हैं, पखेरू शब्द को नहीं। तुलसी ने भी जानबूझकर खग शब्द का ही प्रयोग किया है। खग यानी 'ख' (आकाश) में 'ग' (गमन) करने वाला। यह 'छाया' या 'प्रभामंडल' या 'फील्ड' जो आकाश में स्थित हैं; इसकी अपनी बायो-इनर्जेटिक्स है। हनुमान की इस फील्ड को पकड़े जाने पर हनुमान का अनुभव जैसे इस जैव-ऊर्जायन से रहित हो जाने का अनुभव है : 'अहो! सहसा किसने मुझे पकड़ लिया, इस पकड़ के सामने मेरा पराक्रम पंगु हो गया है। जैसे प्रतिकूल हवा के चलने पर समुद्र में जहाज की गति अवरुद्ध हो जाती है, वैसी ही दशा आज मेरी भी हो गई है।' यानी सिंहिका हनुमान के 'vital principle' को दुष्प्रभावित करती है। एर्विन लाज्लो ने अपनी पुस्तक 'साइंस एंड द आकाशिक फील्ड' में इसे 'ए-फील्ड' कहा है। भारतीय योगी इसे ही 'प्राण' कहते थे, यह प्राण आकाश में ही स्पन्दित है। इसे लाज्लो ने कास्मिक माइंड (जागतिक मन), यूनीवर्सल कांशसनेस (खगोलीय चेतना), जीरो-पाइंट इनर्जी (शून्य-बिंदु ऊर्जा) के रूप में व्यक्त करने की कोशिश की है। अथर्ववेद में इसी प्राण को नमस्कार किया गया है- 'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे; जिसके अधीन यह सब कुछ' है, उस प्राण को नमस्कार है। इसे

ही जाबालोपनिषद में प्राणायामेन साक्षात् प्रत्यग्ज्योतिर्व्यवस्थितः (6/16) कहा गया कि प्राणायाम से प्रत्यक् ज्योति का- शुद्ध आत्मतत्व का साक्षात्कार हो जाता है। वॉन रीखेनबाख ने अपने प्रयोगों के दौरान पाया कि विद्युत, चुंबकीयता और ऊष्मा की तरह एक और शक्ति है जिसे सभी जीव विकिरण करते हैं और उसने इसे 'ओडिक फोर्स' का नाम दिया। फ्रांज मेस्मर ने जीवों (animate beings) के शरीर में मौजूद एक 'ईथरीअल मीडियम' का जिक्र किया जिसे उसने 'एनीमल मैग्नेटिज्म' (जीव-चुम्बकीयता) के रूप में देखा। सिंहिका मैग्नेटोसेप्शन में निपुण है, वह जैसे कीलित करके रख देती है- 'गहइ छांह सक सो न उड़ाई'- ध्यान रहे कि पक्षियों में मैग्नेटोसेप्शन की शक्ति सबसे ज्यादा होती है। सिंहिका उनसे भी प्रबल है और गति, दिशा, अक्षांश व लोकेशन ढूंढ़ने की उनकी चुंबकीय क्षेत्र शोधन क्षमता को स्तम्भित कर देती है। थियोसोफिस्ट ने प्राणियों के 'एस्ट्रल डबल' की बात की थी। लगता है, सिंहिका इसी का जड़ीकरण करती है। मेड्यूसा नामक ग्रीक सर्प-राक्षसी की निगाह जिस पर पड़ती थी, वह पत्थर हो जाता था। यही सिंहिका करती है। एक तरह की जामिंग। एक तरह का जमना। पहले कीलित करती है, फिर किल करती है।

हनुमान नहीं कीलित होते। वे प्राणों के प्राण पवनदेव के पुत्र हैं। वे ही इस राक्षसी के मायाचक्र को तोड़ने में सर्वाधिक सक्षम हैं। वे रूद्रावतार हैं, तो उनके 'लिंग-शरीर' को कौन पकड़ सकता है? प्राण के इस आयाम से वे अच्छी तरह परिचित हैं। वे तो जैसे को तैसा जवाब देते हैं। सिंहिका प्राणियों के 'आभामंडल' को, उनकी प्राण-शक्ति को, उनकी छायाभा को प्रभावित करती है तो हनुमान के बारे में वाल्मीकि कहते हैं : 'हनुमानजी ने प्राणों के आश्रयभूत उसके हृदयस्थल को नष्ट कर दिया, अतःवह प्राणशून्य होकर समुद्र के जल में गिर पड़ी।' हनुमान को इसीलिए 'ताहि मारि' के तत्काल बाद तुलसी ने मारुतसुत कहा है। आखिरकार वायु को प्राण या प्राणयोनि संस्कृत में कहा ही गया है। वायु पुत्र ही इस सामर्थ्य से सम्पन्न हैं कि वे इस राक्षसी के मायाचक्र को वैसे ही तोड़े जैसे यह राक्षसी जीवों के आभाचक्र को तोड़ती है। हनुमान के पास इसकी प्रकृत शक्ति है जबकि सिंहिका माया करती है, कोई ट्रिक करती है- 'करि माया नभु के खग गहई', कुछ करती है। हनुमान के पास ज्ञान है, सिंहिका के पास विज्ञान है।

किसी जालंधरी विद्या का। कोई शांबरी संप्रयोग। कोई अभिमंत्रण। कोई और तरह का, लेकिन प्रयोग। इसे कोई स्तंभनी विद्या जरूर आती है। उसके माध्यम से यह उस स्थिति को सिद्ध करती है जिसे 'स्तोभ' कहा जाता है। एक विजड़न की स्थिति। एक तरह का कुंठन। उसके सहारे वह उड्डयनशील प्राणियों को स्तब्ध करती है, खगाखेट करती है। वह कोई मंत्र ही हो जरूरी नहीं। वह यंत्र भी हो सकता है। कोई मशीन जिसके सहारे वह व्योमगामी प्राणियों का बंधन कारित करती है। तुलसी ने 'करि माया' में 'करि' पर बल देकर यह जताया है कि यह कोई स्वाभाविक चीज नहीं है, इंजीनीयर की गई है। वैसा करके वह आकाशविहारियों को हिरासत में ले लेती है। उसकी गिरफ्त के पीछे कोई 'विधि' है। तुलसी उसे 'एहि विधि' के रूप में संकेतित भी करते हैं। वह कोई उपाय है, कोई जतन जुगत है जो पहले 'करि माया' से भी इंगित किया गया है। कोई तकनीक, कोई प्रणाली, कोई संक्रिया, जिसके जरिए इस तरह का कीलन संभव हो पाता है, जिसके जरिए यह मैग्नेटोसेप्शन सिर्फ एक रिसेप्शन ही नहीं रहता है, एक डिसेप्शन भी हो जाता है। 'गहई' में रिसेप्शन (ग्रहण) को सूचित किया गया है। 'सोई छल' में डिसेप्शन को। हनुमान को गाड पर भरोसा है, इस राक्षसी को फ्राड पर। 'माया', 'छल' और 'कपट' ये तीन शब्द इस राक्षसी के शस्त्र के रूप में वर्णित किए गये हैं। एक बहुत घिस चुकी सी बात है कि आप सबको मूर्ख बनाते हमेशा नहीं रह सकते। कभी न कभी कोई न कोई तो मिल ही जायेगा जो आपके प्रपंच में नहीं पड़ेगा। हनुमान वैसे ही एक शख्स की तरह आ जाते हैं। हनुमान के बारे में तो तुलसी बहुत पहले बता चुके : 'कालनेमि कलि कपट

निधानू/नाम सुमति समरथ हनुमानू।' तो हनुमान कपट पहचानने में सर्वथा समर्थ हैं। पलटू साहब कहते थे : 'पलटू मैं रोवन लगा, हेरि जगत की रीति/जहूं देखो तहँ कपट है, कांसो कीजै प्रीति।' समुद्र-संतरण के बीच में सुरसा ने प्रारंभ में थोड़ा-सा छल किया था। लेकिन वारिधि के इस किनारे तो छल ही छल है। लेकिन हनुमान इस राक्षसी की चक्रिका को, उसके फंद फरेब को, उसके कूटचक्र को तुरत पहचान जाते हैं। उन जैसे 'मतिधीरा' को चकमा देना मुमकिन ही नहीं। उन पर इस राक्षसी का स्पैल नहीं चलता। उसकी वशिमा असर ही नहीं करती। बाद में मेघनाद से सुंदरकांड में भिड़ते समय भी ऐसा होता है। 'उठि बहोरि कीन्हेसि बहुमाया/ जीति न जाइ प्रभंजन जाया।' (तुलसी जब माया शब्द को कपटाचरण के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं तो उसके 'करि' या 'कीन्हेसि' जैसे क्रियावाची शब्द लगाते हैं। जब माया को 'प्रकृति' के अर्थ में, ईश्वर की विभूति के अर्थ में इस्तेमाल करते हैं तब ऐसा नहीं होता। तब तो 'मैं अरु मोर तोर तैं माया' या 'माया कटक प्रचंड' या 'सो माया बस भयउ गोसाईं' या 'माधव असि तुम्हारि यह माया' जैसे प्रयोग हैं।) हनुमान का निग्रह यह राक्षसी कर नहीं सकती। मारुतसुत को वह क्या दम दिखाए? क्या दमपट्टी करे उनसे? हनुमान उसके यंत्राविष्टन में नहीं आते। उन्हें अवसन्न करने में इस राक्षसी का कोई अभिचार काम नहीं आता। पर्शियन पुराकथाओं में भी एक ऐसे 'एवर स्टेशनरी' स्थान का जिक्र आता है जिसमें सब जड़ीभूत हो जाता है, लोग चित्रलिखित से खड़े रहते हैं। वायुवेगधारी हनुमान उसे अतिक्रान्त कर जाते हैं। यह पार करना राक्षसी को मारे बिना संभव नहीं था। हनुमान इतने सारे खगों की जान बचाने के लिये इस राक्षसी को मारते हैं।

छाया का संबंध कलाकारी से, सृजनात्मकता से रहा है। प्लिनी ने कहा कि चित्रकला तब जन्मी होगी जब आदमी की छाया के किनारे-किनारे आदिमानव ने किसी आउटलाइन को ट्रेस करना चाहा होगा। प्लिनी के बाद एक अन्य लेखक एथेनागोरस ने शिल्पकला को भी किसी दीवार पर उभरी छाया से प्रेरित आरंभ के रूप में प्रस्तावित किया। लिओन बेटिस्टा अल्बर्टी ने, आश्चर्य नहीं कि, अपनी पुस्तक 'डे पिक्चरा' (1435) में नार्सिसस को चित्रकला का आविष्कारक बताया था और उसके फूल में परिणत हो जाने की कथा का अर्थ भी यही लगाया था कि चित्रकला सभी कलाओं का पुष्प है। क्विन्टिलियन ने उसके भी बहुत पहले सूर्य के द्वारा बनाई गई छायाओं को पेंटिंग की प्रेरणा का सबसे शुरूआती बिंदु बताया था। बार्टोलोम म्यूरिलो की 1660-65 की तैल कैनवास पर बनाई गई पेंटिंग, जिसका शीर्षक ही है : "चित्रकला की उत्पत्ति", छायाओं की इसी संघटना पर है। छाया जब कला या कविता में आती है तो वह अनुभव को अमर बनाती है। यह राक्षसी तो छाया पकड़कर जीव को उड़ने में सर्वथा असमर्थ बना देती है। एक चट्टान चट्टान नहीं रह जायेगी यदि कोई उस पर कुहनी टिकाकर उड़ने लगे। तब वह खजुराहो की मुग्धा हो जायेगी या मीनाक्षी मंदिर का यक्ष। छाया शरीर नहीं है। यह शरीर का 'अन्य' है या उसका डबल। वह कोई दृष्टि भ्रम नहीं है, बिम्ब है। कविता में छाया सिर्फ ऐन्द्रिक संवेदन को सघन नहीं बनाती बल्कि कवि के द्वारा प्रत्यक्षीकृत सत्य को भी एक मानसिक घटना में बदलती है। वह 'आदतन' को 'अभिनव' में बदल देती है, एक नये प्रकाश में हम उन्हीं चीजों को चकित होकर देखते हैं। छाया शरीर से पृथक नहीं है, वह उसका प्रतिफल है। कविता में छाया भाव के संग आती है, एक अन्तःक्रिया में। वह भाव की फोटो मात्र नहीं है। निशिचरी जब छाया पकड़ती है तो क्या वह कला का निषेध नहीं है? क्या इमेज से ही इमेजिनेशन नहीं बनी होगी जो आकाश में उड़ती है पंछी होकर? क्या यह राक्षसी कल्पना की उड़ान की विरोधी है? कहाँ तो एक वह अति कि नार्सिसस 'जल बिलोकि' अपनी ही छाया के प्रेम में पड़ गया और कहाँ यह छाया को ही जकड़ लेने वाली निष्ठुरता? यह राक्षसी उस तरह की "शैडो-कैचर" नहीं है जिस तरह से आजकल फोटोग्राफरों को कहा जाता है और इसी नाम से मैरिअन

विगिन्स ने एडवर्ड एस. कर्टिस नामक प्रसिद्ध फोटोग्राफर की जीवनी भी लिख दी है - शैडो-कैचर। यह राक्षसी ट्रिक फोटोग्राफी नहीं करती बल्कि ट्रिक्स चलती है।

यदि गगनचर शब्द को एकदम सीमित कर सिर्फ पक्षी के अर्थ में ही रखा जाए तो हनुमान खगों की इस 'किलिंग स्प्री' पर रोक लगाते प्रतीत होते हैं। पक्षियों के इस लगातार हो रहे संहार पर। किन्तु क्या आज हम पक्षियों के संहार को इतिहास की तीव्रतम गति में होता हुआ नहीं देख रहे। मेडागास्कर की हाथी चिड़िया गायब हो चुकी है। किंग द्वीप और कंगारू द्वीप के एमू, लेब्राडोर बत्तख भी संहारी जा चुकी है और मारीशियन बत्तख भी। हिमालयन क्वेल खत्म हो गयी और न्यूजीलैंड की क्वेल भी। लैपविंग अब जावा से ही नहीं, दुनिया से जा चुकी है और एस्किमो कर्ल्यू भी। रेड रेल जहां से सिधारी और सेंट हेलेना क्रेक भी। मेस्केरीन कूट खत्म हुई और बरमूडा नाइट हेरोन भी। चैथम द्वीप की पेंगुइनें नहीं बचीं और जमैका पेट्रेल का मर्सिया पढ़ दिया गया। सेंट हेलेना की बत्तख अब शेष नहीं है और वो 'यात्री कपोत' (पैसेंजर पिज़न) भी नहीं जो कभी दुनिया की सबसे कॉमन चिड़िया थी। एक झुंड में 2.2 बिलियन चिड़ियाएं। इसे 'भोजन' के लिये काटकर खा गये लोग। डोडो जैसा सुंदर पक्षी उपनिवेशवाद ने निगल लिया। नार्फाक द्वीप का तोता 'काका' बाकी नहीं है, सेशल्स का तोता पाराकीट भी समाप्त। न्यूजीलैंड का 'हँसता उल्लू' अब रोने के लिये भी नहीं। मैक्सिको के इंपीरियल कठफोड़वा नष्ट हुए, हवाई के हनीक्रीपर्स भी। अरबी शुतुर्मुर्ग, इटैलियन ग्रे बैट्रिज और सिसली की काली फ्रेंकालिन का अता पता नहीं मिलता। इंडोनेशिया के तिमोर की 'कौकल' (कोकिल) अब नहीं है, कोरिया की समुद्री ईगल भी और सुमात्रा की बुलबुल भी।

भारत में भी गिद्ध पक्षी, गरुड़ और ग्रेड इंडियन बस्टर्ड जैसे बहुत से पक्षी लुप्तप्राय हैं। 1225 विहग प्रजातियों में से 78 लुप्त होने की कगार पर हैं इस देश में, जहां कभी जटायु को भगवान राम का स्नेह-स्पर्श मिला था और जहां हनुमान पक्षियों के संरक्षक की भूमिका में उतरे थे। आज की तारीख में दुनिया भर में 2001 तथा भारत में 138 पक्षी-प्रजातियों ऐसी हैं जो अत्यन्त संकटग्रस्त से लेकर लगभग 'threatened' की श्रेणी में आती हैं। लंका के पास इस राक्षसी का होना यह बताता है कि लंका की ईको-सिस्टम बिगड़ रही है। पक्षी पर्यावरण के स्वास्थ्य के सबसे बड़े सूचक हैं। पक्षियों का चहचहाना सिर्फ हमें नींद से जगाने के लिए नहीं है बल्कि एक तरह की आश्वस्ति भी है कि अभी दुनिया का अंत नहीं हुआ है, अभी जिन्दगी में सौंदर्य बाकी है। अपनी समुद्री सीमा पर ऐसी पक्षी-घाती राक्षसी के पाए जाने पर भी लंका राज्य की तरफ से कुछ नहीं किए जाने से भी यह संकेत मिलता है कि रावण को परवाह ही नहीं है कि उसके बाहर ठीक-ठाक दिखते पर्यावरण में भीतर भीतर कितना घुन लग चुका है। अब बाहरी तौर पर भले ही बन-बाग-उपबन-वाटिका मिल जाएंगे, लेकिन बात कहीं बिगड़ती सी भी लग रही है। कहां कौलरिज का प्राचीन नाविक एक अल्बिट्रास के मारे जाने का अभिशाप भोगता और ढोता है और कहां यह "सदा गगनचर खाहिं" का दैत्यत्व? कहां तो एमिली डिकेंसन ने कहा : I hope you love birds too. It is economical, It saves going to heaven. पक्षी एक तरह का स्वर्गिक आनंद हैं, किन्तु रावणों को कहां फुरसत कि वे पनकुकरी या पनडुब्बा की अठखेलियां देखें, कि वे समुद्र काक या पनेवा की शरारतें जानें। बात उनकी उपेक्षा की नहीं, बात उनकी उस राक्षसी प्रवृत्ति की भी है कि जो सामुद्रिक चिड़ियाओं का शिकार करती रहती है। हमारी परंपरा में पनतिरी चिड़िया को शिवहंस कहा गया, बगुले को सरोत्सव, हंस को विधिवाहन। ये जलपक्षियों के प्रति संस्कृति का सम्मान था। यहां थैंक्सगिविंग के लिए टर्की पक्षी को रोस्ट नहीं किया जाता था। अमेरिकन टी.वी. पर शेफ फिलिप कोरिक बारह पक्षियों को एक साथ रोस्ट करते हुए दिखाई देते हैं। फ्रांस में 19वीं शती की शुरुआत में एक शाही भोज में 17 चिड़ियाओं की रोस्टिंग करके 'रोटी सैन्स पेरेल' (रोस्ट विदाउट ईक्वल) परोसा गया

था। रोटी रोटी का फरक है। रोटी ही नहीं जैसा हमने ऊपर कहा, यह सम्मान पक्षियों के नाम से भी दिखता था। कोयल को गंधर्व कहना और मैना को कांदबरी कहना एक पोएटिक संस्कृति थी। अंतर्राष्ट्रीय पक्षी विज्ञानी कांग्रेस तो अभी पिछले 15 साल से यह कोशिश कर रही है कि अंग्रेजी में पक्षियों के असम्मानजनक (offensive) नाम बदले जाएं। हनुमान द्वारा इस राक्षसी को मारना भी उनके रामकाज का हिस्सा है। जो राम जटायु को गति देते थे, उनके भक्त हनुमान वह स्थिति कैसे सहन कर सकते हैं कि पक्षियों की गति ही रुक जाए। उन्हें खा लिया जाए रोस्ट करके या बिना रोस्ट किए। हनुमान पर्यावरण-पुत्र हैं। यहां उनकी पर्यावरण-रक्षा के दायित्व को दिखाया गया है। आगे हम उनका पर्यावरण-प्रेम देखेंगे।

●●●

तहां जाइ देखी बन सोभा।
गुंजत चंचरीक मधु लोभा।
नाना तरू फल फूल सुहाए।
खग मृग बृंद देखि मन भाए।
सैल बिसाल देखि एक आगें।
ता पर धाइ चढ़ेउ भय त्यागें।

वहां जाकर उन्होंने वन की शोभा देखी। मधु (पुष्परस) के लोभ से भौरें गुजार कर रहे थे। अनेकों प्रकार के वृक्ष फल-फूल से शोभित थे। पक्षी और पशुओं के समूह को देखकर तो वे मन में (बहुत ही) प्रसन्न हुए। सामने एक विशाल पर्वत देखकर हनुमानजी भय त्यागकर उस पर दौड़कर जा चढ़े।

हनुमान प्रकृति के पुत्र हैं। अब वह क्षण आता है जब प्रकृति की सुषमा के एक दूसरे आयाम से साक्षात्कृत होने का मौका उन्हें मिलता है। समुद्र से धरती पर आने का आनंद। बायरन के शब्दों में कहूं कि There is a rapture on the lonely shore. समुद्रतट के अकेले किनारे हर्षोन्माद है। चंचरीक गूंज। कई तरह के द्रुम, सुमन, फल, विहग, चतुष्पद, गिरिश्रृंग। वे स्वयं वन में रहते रहे हैं तो अब वन में आ पहुंचना उनके लिये प्रकृतिस्थ होने का एक मौका है। हनुमान वहां जाकर वन की शोभा देखते हैं। वाल्मीकि ने इस अवसर पर इतना ही लिखा है "रास्ते में हरी-हरी दूब और वृक्षों से भरे हुए मकरंदपूर्ण सुगान्धित वन देखते हुए वे मध्यमार्ग से जा रहे थे। तेजस्वी वानरशिरोमणि हनुमान वनों से आच्छादित पर्वतों और फूलों से भरी हुई वन-श्रेणियों में विचरने लगे।" अधिकतर लोगों ने, जब वे थोड़ी देर के लिये भी वन में रुके हैं, एक नवीकृत दृष्टि एवं उद्देश्य की स्पष्टता (clarity of purpose) प्राप्त की है। कुछ लोगों को वनों में घर जैसा अहसास हुआ है। सिंहली भाषा (आखिर हनुमान वहीं तो पहुंचे हैं) में पेड़ को 'रुकुला' (rukula) भी कहा गया है जिसका अर्थ घर भी है। अलेक्जेंडर पोर्टिअस ने 'फॉरेस्ट फोकलोर, माइथोलॉजी एंड रोमांस' नामक अपनी पुस्तक में श्रीलंका का वर्णन करते हुए कहा है- The whole of the interior of Ceylon is one huge tropical forest where trees peculiar to the Tropics are found growing side by side with those of the Temperate Zone। तुलसी वन की बात करते हैं, पेड़ों की नहीं। वे वृक्ष-विशेष की बात नहीं करते। वे समुदाय की बात करते हैं, किसी वृक्ष-प्रजाति की नहीं। पुनः बायरन के शब्दों में There is society, where none intrudes/By the deep sea and music in its roar। गहरे समुद्र के किनारे समाज है जिसमें किसी की घुसपैठ नहीं और समुद्री गर्जन में संगीत है। तुलसी तो संगीत के लिये अरण्य-अलिन्द को, वनभ्रमरों को चुनते हैं। अरण्य हमारी संस्कृति का केंद्र हैं। इन्हीं में हमारी संस्कृति का पालन-पोषण और विकास हुआ है। हमारी संस्कृति की मूल पहचान उसका ग्रामीण या शहरी होना नहीं है जैसा कि पाश्चात्य इतिहासकारों ने हड़प्पा सभ्यता को शहरी और आर्य सभ्यता को ग्रामीण बताकर सिद्ध करना चाहा। हमारी संस्कृति आरण्यक है। ऋग्वेद के ऋषियों ने वन में ही अपने मंत्र रचे। आरण्यक तो नाम से ही वनों का सृजन लगते हैं। महावीर और बुद्ध को वन में ही ज्ञान प्राप्त हुआ। जॉन म्यूर ने शायद इसीलिए कहा होगा कि The clearest way into the universe is through a forest wilderness. वन एक अलग ही तरह की सार्वभौमता का अहसास जगाते हैं। जब हम उनसे होकर गुजरते हैं तो वे भी हमसे होकर गुजर रहे होते हैं। प्रकृति की शांत ऊर्जा जैसे हमारे भीतर भरती जाती है। वन पवित्रता के प्रतिनिधि नहीं हैं, साक्षात् पावित्र्य हैं। वहां यदि हनुमान ने 'देखी बन सोभा' या 'खगमृग बृंद देखि' या 'सैल बिसाल देखि' तो ऐसा नहीं है कि सिर्फ हनुमान ही दृष्टा होंगे। जंगलों का पूरा वन्य जीवन तरु, पक्षी, पशु, भ्रमर, पर्वत भी उन्हें देख रहा होगा। ऐसी जगहों पर आप अकेले भी जाएं तो आप अकेले नहीं होते। पता नहीं कितनी आँखें अपनी-अपनी जगह से आपको देख रही होती हैं। हनुमान चूंकि स्वयं वनवासी रहे हैं, इसलिए वह सेंस ऑफ मिस्ट्री तुलसी ने नहीं बताया। इस वन में तो जैसे एक संगीत तैर ही रहा है। 'गुंजत' में वही बात है। इतनी दूर से चले आए हनुमान की सारी थकान, सारी क्लान्ति इस वन-सुषमा को देखकर जैसे दूर हो गई होगी। हालांकि पवनपुत्र थकान जैसे शब्दों से अपरिचित है। अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने कहा थाः Trees can reduce the heat of a summer's day, quiet a highway's noise, feed the hungry, provide shelter from the wind and warmth in the winter. You see, the forests are the sanctuaries, not only of Wildlife, but also of the human spirit. And every tree is a compact between generations.

हनुमान को प्रकृति के बीच आकर दिल से खुशी होती है। उन्हें भ्रमरों की गुंजन भी अच्छी लगती है। भट्टिकाव्य में भी कहा गया (2/19) : ऐसा कोई भ्रमर न था जो मधुर गुंजार न कर रहा हो और ऐसी कोई गुंजार न थी जो मन को न लुभा रही हो। 'न षट्पदोऽसौ न जुगुंज यः कलं/न गुंजितं तन्न जहार यन्मनः।' हनुमान मधुकर की उस मधुर ध्वनि से मुदित हो जाते हैं। यदि ये मधु को इकट्ठा करने वाले भ्रमर हैं तो ये मादा भ्रमर ही होंगे। हनुमान रास्ते भर स्त्री-शक्ति के ही विभिन्न रूपों से ही मिलते आये हैं। उन्हें कभी सुरसा मिली है तो कभी सिंहिका। आगे जाकर लंकिनी मिलेगी। मादा मधुप को 'वर्कर' मधुप कहा जाता है। श्रमिक भृंग। उनका श्रम असाधारण होता है। एक पौंड मधु इकट्ठा करने के लिये वे 55,000 मील उड़ती हैं और बीस लाख फूलों पर बैठती है। हनुमान स्वयं लांग डिस्टैन्स कव्हर कर आ रहे हैं। आगे भी वे ऐसा ही करेंगे। पूर्व में वे ऐसा करते ही रहे थे। हनुमान स्वयं वर्कर श्रेणी के हैं। आगे जाकर उन्हें भी कीट की तरह छोटा रूप ही धारण करना है। श्रमिक भृंग-कॉलोनी में सबसे छोटे होते हैं। वैसे तो इन षट्पादों में बड़े आकार वाली megapis भी होती हैं, लेकिन दक्षिण एशिया में पाई जाने वाली Apis florea जैसी बहुत छोटी पुष्पंधय भी होती हैं। Apis florea इतिहास में काफी पुराने भी माने जाते हैं। वे 'श्रृंगार-युग्म गत' कभी नहीं होते।

यह ध्यान दीजिए कि मधु को इकट्ठा करने वाले चंचरीक सामाजिक जीव होते हैं। वे एक कॉलोनी में रहते हैं और उस कॉलोनी में कई हजारों-50 से 60 हजार-श्रमिक-भृंग होते हैं। उनकी सम्पूर्ण कॉलोनी के बने रहने में हर सदस्य की अपनी भूमिका और अपना कर्त्तव्य होता है। वे अकेले जीवित नहीं रह सकते हैं। उनका श्रम-विभाजन समूह की आवश्यकतानुसार होता है। षट्पाद हनुमान को सबसे पहले नोटिस में आते हैं क्योंकि हनुमान भले ही इंडीवीजुअल ब्रिलियंस के अद्वितीय मुकाम पर हों, लेकिन हैं वे राम-रत समुदाय के ही अंग। वे हैं उस समाज के ही सदस्य। उस रामभक्त समाज की उत्तरजीविता के लिये समर्पित। उनका सब कुछ दूसरों के लिये है। लाला लाजपतराय कहा करते थे : No form of labour is degrading which serves social ends and which society needs. कि ऐसा कोई भी श्रम छोटा नहीं है जो सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो और समाज को जिसकी आवश्यकता हो। ये शहद की मक्खियां समाज को कितना लाभ पहुंचाती हैं, यह इसी से स्पष्ट है कि एक अनुमान के अनुसार हर साल बेहतर फसल पैदा होने-मात्रा और गुणवत्ता- में bee pollination के योगदान से अमेरिका को 14 बिलियन डॉलर का फायदा मिलता है। राजनीति विज्ञानियों ने हमेशा से इस मिलिन्द-समाज को मानव-समाज के आदर्श के रूप में देखा है। चंचरीक-समाज से प्रेरित मानव-समाज की यह छवि अरस्तू और प्लेटो, वर्जिल और सेनेका, इरास्मस और शेक्सपीअर, मार्क्स और तोल्सतॉय में मिलती है। रामभक्तों के उस कॉमनवेल्थ में भगवान ने जो श्रम-विभाजन किया है, उसमें हनुमान को जो कार्य मिला है इसके लिये वे सारा श्रम करेंगे। श्रमिक चंचरीक पहले नये स्थल को scout करते हैं, कोष्ठ को साफ करते हैं, 'रानी' की सेवा करते हैं, कचरा हटाते हैं, मधु को हैंडल करते हैं, प्रवेश पर पहरा देते हैं, वातानुकूलन (एयर कंडीशन) करते हैं, वेंटीलेंट करते हैं- पचासों तरह के काम। पवनपुत्र के काम भी कम नहीं।

इन मधूकों की गुंजार दरअसल इनके पंखों की फड़फड़ाहट है। इनका संगीत इनके श्रम से ही निकलता है। हनुमान जितने परिश्रमी हैं, उतने बड़े संगीत विशारद भी हैं। हनुमान को जीने की रागिनी उनके श्रम से ही मिलती है। उनका श्रम उनका सृजन है। उनका कर्म, उनकी क्रिएटिविटी। ये मधुकारी श्रमिक जब मधु और मकरंद के साथ जब अपने छत्ते पर लौटते हैं, तो वे अपना नृत्य भी करते हैं। (वॉन फ्रिस्च को भृंग-भाषा बल्कि उनकी नृत्य-भाषा की अवधारणा पर 1973 में मेडिसिन का नोबल पुरस्कार मिला था।) हनुमान जब सफल होकर लौटेंगे तब उनके 'सबद किलकिला' में

वही नृत्य और हर्ष होगा। वे भी जैसे waggle dance करेंगे। वही waggle run जो ये अलिंद करते हैं। प्राचीन ग्रीक लोग मधुमंडित ओंठों को सुवक्तृता और prescience से जोड़ते थे। डेल्फी की स्त्री-पुरोहित का नाम 'डेल्फिक बी' था। अथर्ववेद में ऋषि की अश्विन कुमारों से प्रार्थना यही है कि ऐ अश्विनो, उज्ज्वलता के देवो, मुझे मधुमंडित करो ताकि मैं लोगों के बीच ताकत से बोल सकूं। (91/258)। हनुमान को आगे जाकर रावण दरबार में यही 'फोर्सफुल स्पीच' देनी है। मेबिन्जिअंस का शाही प्रतीक भ्रमर था जिसे वे अमरता का अर्थ देने वाला मानते थे। नेपोलियन ने इसी कारण सैन्य वर्दी में गरुड़ और मधुप का प्रतीक चिन्ह प्रयुक्त किया था। हनुमान भी चिरंजीवी हैं।

हमारे भारतीय साहित्य में भृंग को प्रायः प्रेम के संदर्भ में देखा गया है। प्रेमी के हृदय की धड़कन की तुलना भँवरे की गुंजन से की गई है। प्रबोध कुमार सान्याल का बांग्ला उपन्यास 'बिबागी भ्रमर' है ही इसी भ्रमर के नाम से। हनुमान का मन-मिलिन्द भी राम के पद्-पद्म में रमा हुआ है। एमर्सन (जर्नल्स, 1843) का कहना था कि We put our love, where we have put our labour कि हमने जहां श्रम किया है, वहीं हम प्रेम करते हैं। हनुमान के संबंध में यह बात शायद उल्टी है। उनका श्रम उनके प्रेम का परिपाक है। खलील जिब्रान ने कहीं कहा है : 'श्रम प्रेम को प्रत्यक्ष करता है। जब तुम प्रेमपूर्वक श्रम करते हो तब तुम अपने आप से, एक-दूसरे से और ईश्वर से संयोग की गांठ बांधते हो।' हनुमान के यही गांठ बंधी हुई है। उनका श्रम उनकी रामभक्ति का साक्षात्कार है।

आर्य किसी नकारात्मक सोच के, जीवन से पलायन करने वाली सोच के कभी नहीं रहे। वेदों में 'मधु' को उनकी जीवन-दृष्टि की इसी सकारात्मक के प्रतीक के रूप में लिया गया है। ऋग्वेद (1/90/7-8) में वैदिक ऋषि की प्रार्थना ही यही है कि : 'मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिकं रजः/मधु द्यौरस्तु नः/मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः/माध्वीर्गावो भवन्तु नः' कि हमारे लिये रात्रि व उषा मधुर हों, पृथ्वी की धूलि मधुर हो, हमारा पिता स्वर्ग मधुर हो। हमारे लिये वनस्पतियां मधुर हों, सूर्य मधुर हो और पशु मधुर हो। ऋग्वेद में यह जो मधु सूक्त है, यहां मधु अस्तित्व के उस आनंद (delight of Existence) की तरह प्रस्तुत किया गया है जो समस्त प्रत्यक्षीकरण (manifestation) के मूल में है। वहां कहा यह गया है कि सत्यशोधक के लिए भौतिक समीर और psychic breath - प्राण- मधुर बहते हैं। पवनपुत्र के लिये जो सत्यशोधक हैं, 'मधुवाता ऋतायते' की बात सौ फीसदी सच है। उनके लिये जो वो समुद्र-संतरण करके आए हैं, और जो "जलनिधि रघुपति दूत बिचारी/तैं मैनाक होहि श्रमहारी" के अनुभव से भी गुजरते है। 'मधु क्षरन्ति सिन्धवः' की बात भी सोलहों आने खरी है। 'मधु' वेदों में आनंद-सैद्धांतिकी (Doctrine of Bliss) का प्रतिनिधि है। वृहदारण्यक उपनिषद् में भी मधु-विद्या है। 'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु। अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु/इदं सत्यं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु। इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु' (2/5/1-11, 12, 13) कि यह पृथिवी समस्त भूतों का मधु है और सब भूत इस पृथिवी के मधु हैं। यह धर्म समस्त भूतों का मधु है तथा समस्त भूत इस धर्म के मधु हैं। यह सत्य समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस सत्य के मधु हैं। यह मनुष्य जाति समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस मनुष्य जाति के मधु हैं।' इस प्रकार यह उपनिषद् मधु को अस्तित्व के सार (Essence of Existence) की तरह पेश करता है। यह जीवन के स्वीकार की अवधारणा है। यह निसर्ग या प्रकृति का- रात्रि व उषा का, पृथ्वी की धूल और वनस्पतियों का, सूर्य से लेकर पशुओं तक का स्वीकार है। यह न जीवन से पलायन है और न प्रकृति से। यहां धर्म मधु है, न कि मधु ही धर्म। इसलिए यह कोई पलायनवादी मधुशाला नहीं है। यहां मधु संचित करने में रमे हुए भ्रमर हनुमान का ध्यान वन में सबसे पहले खींच

पाते हैं तो शायद इसीलिए कि हनुमान भी पलायन नहीं कर रहे, हनुमान भी पूरी निष्ठा के साथ हृदय में हर्ष धारण कर अपना काम कर रहे हैं। हृदय में हर्ष क्या ड्रांक्टिन ऑफ ब्लिस की ही एक अभिव्यक्ति नहीं? सच्चे परिश्रम के बाद मधु मिलता ही है।

तुलसी जब वानस्पतिक सौंदर्य का वर्णन करते हैं तो उनका पहला जोर 'नाना' शब्द पर होता है। यह जोर एक ऐसे वानस्पतिक वातावरण पर नहीं है जो सिंगल-ट्री से आब्सेस्ड हो। एक ही पेड़ लगाने के वर्तमान मोहावेश से जैसे तुलसी इस एक शब्द 'नाना' से सावधान करते हैं। अभी कई देशों में वातावरण को कार्बन-मुक्त करने के लिये मिथेनॉल को एक समाधान के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है लेकिन उसमें यह सवाल भी पूछा जा रहा है कि क्या एक ही पेड़ को सब तरफ लगाना जैव-विविधता का विरोधी नहीं होगा? तुलसी 'नाना' कहकर बाद में होने वाले यूकेलिप्टस के क्रेज के प्रति खबरदार कर रहे थे। वे 'बायो-मॉस' के पक्ष में थे- एक तरह के वानस्पतिक जनतंत्र के पक्ष में। जिसमें नाना तरु फल फूल हों, खग मृग 'वृंद' हों। कर्नाटक/केरल के पश्चिमी घाटों के उस क्षेत्र में, जहां 40,000 हेक्टेयर भूमि से ट्रापिकल सदाबहार वन साफ कर दिये गये थे, यूकेलिप्टस का रोपण किया था। Cortecium salmonicolor फंगस ने इस एकल-वृक्षारोपण का फायदा लिया और रोपणों को साफ कर डाला। सामाजिक वानिकी की अवधारणा संभवतः मनुष्यों के समाज का वृक्षारोपण के लिये इस्तेमाल करने पर विश्वास करती थी, लेकिन स्वयं तरुओं की सामाजिकता के प्रति उतनी उत्सुक नहीं थी। उसे पेड़ की औद्योगिकता दिखती थी, पेड़ों की सामाजिकता नहीं। वनों के पुनर्जीवन पर बल देने की जगह एकल-वृक्ष चयन को संयुक्त राष्ट्र के खाद्य एवं कृषि संगठन ने दुनिया भर में प्रोत्साहित किया। हमारे यहां 'जीवन' शब्द में ही 'वन' शामिल था। लेकिन अब प्राकृतिक वनों को साफ कर किए जाने वाले 'मोनोकल्चर' को सब्सिडी थी। हाल में यह भी देखा गया कि उद्योगों को 2.5 मिलियन वन भूमि सब्सिडाइज्ड दरों पर देने की योजना आई। मोनोकल्चर को तो हमारी जीवन दृष्टि में एक तरह का विरोधाभास (oxymoron) माना जायेगा क्योंकि कल्चर 'मोनो' कैसे हो सकती है? जिसे हम संस्कृति कहते हैं, उसका अर्थ ही एक तरह की सामूहिकता में है। लेकिन चीन, वियतनाम, फिलीपीन्स, अर्जेन्टीना, लातीनी अमेरिका, मैक्सिको, कोस्टारिका, बेनेजुएला आदि कई दक्षिण देशों में प्राकृतिक वनों के स्थान पर औद्योगिक पल्पवुड प्लांटेशन को अंतर्राष्ट्रीय संगठनों और निगमों द्वारा समर्थित और वित्तपोषित किया जा रहा है और अब हाल में इथानोल प्लांटेशन के जरिए फिर वही 'नाना' के प्रतिकल्प की प्रतिरोधी प्रवृत्तियां हावी हो रही हैं।

हमारा समय यदि हम बहुलतावाद का कहते हैं तो यह क्यों होता है कि खेती और वानिकी में 'बहुलता' निरंतर न्यून होती जा रही है? वन और उपवन से अब हम पौधारोपण तक चले आये हैं। एकल वृक्षारोपण या एकल फसल पैथोजेन (वानस्पतिक विषाणु) के प्रति ज्यादा संवेदनशील होती है और एक पैथोजेन सारे वृक्षारोपण को नष्ट कर सकता है। विविधता में ही सुरक्षा है। तुलसी को जो सुहाया है या उनके प्रिय हनुमान को- वह यह वैविध्य, यह नैसर्गिक समृद्धि, यह प्रकृति-प्राचुर्य है। एडवर्ड एच. सिम्पसन ने विविधता के मापन के लिये (1949 में) अपना सूचकांक प्रस्तुत किया और शैनन ने भी। दोनों का ही मानक अपनाया जाये या नहीं, यह स्पष्ट है कि हनुमान एक जैव-विविधता अंचल में पहुंच गये हैं। आधुनिक पर्यावरणशास्त्र के शब्दों में हनुमान को जो चीज़ प्रसन्न करती है- वह "तरु, फल, फूल" का होना (incidence) नहीं, उनका प्राचुर्य (abundance) है। वैसे भी वन और वानर के रिश्ते काफी अंतरंग होते हैं। हनुमान वनचर हैं, इसलिये वनों में तरु फल फूल होना उनके मन में स्वाभाविक आह्लाद भरता है। जबकि न्यू साउथ वेल्स में यूकेलिप्टस के पेड़ों को देखकर प्रसिद्ध वनस्पतिशास्त्री एबट किन्नी की टिप्पणी यह थी कि The general effect of the Eucalyptus 'bush' and forests is monotonous and depressing.

कि यूकेलिप्टस झाड़ियों और जंगल का औसत प्रभाव बड़ा नीरस और अवसादपूर्ण होता है। इसी के साथ-साथ यह भी याद रहे कि एलवुड कूपर ने यूकेलिप्टस वृक्षों के रोपण की अनुशंसा करते वक्त कहा था : With such shelter California would become the paradise of the world. लेकिन हुआ यह कि चार्ल्स शिन ने औसत केलीफोर्नियन भावनाओं को अभिव्यक्ति देते हुये कहा कि Instead of the garden art that everyone wanted to see, Berkeley became for years a wilderness of tall, crowded Eucalypti and all its natural beauties were obscured. कि "उस उद्यान कला की जगह, जिसे हर कोई देखना चाहता, बर्कले लंबे, भीड़ भरे यूकेलिप्टसों का एक जंगल-सा बन गया और उसकी सारी प्राकृतिक सुन्दरताएँ ढक गईं।" हनुमान को तो जंगल न डिप्रेसिंग लग रहा है और न उसकी प्राकृतिक सुन्दरता किसी तरह से ढंक गई है। जीवन के जिस रिच स्पेक्ट्रम ने हनुमान का दिल खुश कर दिया, वह हम सभी का भी करता रहता बशर्ते हम उतने सम्वेदित होते। अब तो जैसे जैसे जैव-वैविध्य घटता जा रहा है, जीवन का यह सुहानापन और मनभायापन भी क्रमशः घट रहा है। आज हम सालाना 30,000 तरु, खग, मृग प्रजातियों (बूंद) से वंचित हो रहे हैं पर हम यह नहीं देखते।

हनुमान तो फिर भी देखते हैं। तीन पंक्तियों में तीन बार देखना क्रिया का प्रयोग है। ये वे हनुमान हैं जो फिर भी आँख भरकर प्राकृतिक सौंदर्य को देख लेते हैं जबकि वे इतने व्यस्त हैं। 'राम काजु कीन्हें बिनु मोहिं कहा बिश्राम' वाले हनुमान हैं। वे सुरसा को भी अपनी जल्दी में होने की बात कहते हैं। 'राम काजु करि फिरि मैं आवौं' तो उनकी व्यस्तता जग जाहिर है। फिर भी वे प्रकृति के इस पावन सौंदर्य को देख ही लेते हैं। 'देखी बन सोभा', वन-सोभा को देखते हैं। 'सैल बिसाल देखि एक आगे' विशालकाय पर्वत को देखते हैं हम लोग कम से कम हनुमान की तरह व्यस्त तो नहीं, फिर भी हमारी स्थिति क्या है? What is this life if full of care/We have no time to stand and stare/No time to stand beneath the boughs/And stare as Long as sheep or cows/No time to see, when woods we pass/Where squirrels hide their nuts in grass/No time to seee, in broad daylight/Streams full of stars, like skies at night. हेनरी डेवीज़ ने यह शिकायत तो पिछली सदी की शुरुआत के आसपास दर्ज कराई थी। तब से अब तक तो ज़िंदगी की पेस और बढ़ ही गई है। जिस तरह से कवि गिलहरी को घास में फली छुपाते देखने की बात कर रहा है, हनुमान चंचरीक जैसे छोटे से कीट के गुंजन की बात करते हैं। इन्हें अब कौन देखता है? अब या तो हम कम्प्यूटर मानीटर पर 'स्टेअर' करते रहते हैं या टी.वी. के पर्दे पर या कभी 'मॉल' के कांच से झांकती वस्तुओं पर। अब हमें जीवशास्त्र भी पढ़ना हो तो वह भी प्रकृति की क्रोड़ में नहीं होगा, प्रयोगशाला (लैबोरेट्री) में होगा। देखना dissect करना हो गया है। हमारे 'मॉलों' की ऊंचाई बढ़ रही है, पहाड़ियों का भले ही क्षरण हो रहा हो। और हम हैं कि देख ही नहीं पाते।

हमारे आसपास पृथ्वी के इतिहास का सबसे तीव्र जैव-विनाश हो रहा है लेकिन हमें दिखता नहीं है। हेकर शुकिंग एवं पेट्रिक एन्डरसन का एक निबंध है : 'व्हाइसेस अनहर्ड एंड अनहीडेड' इसमें वे कहते हैं : We are not hearing the voices of the dying species, as we pay no attention to the myriad life forms with which we share the planet. मिसौरी बोटेनिकल गार्डनस के निदेशक पीटर रैबन (1989) का अनुमान है प्रतिदिन 100 प्रजातियों का सर्वनाश हो रहा है' लेकिन हमें नहीं दिखता। We have lost sight of the fact. एक अनुमान है कि पिछले 2000 लाख वर्षों में हर शताब्दी में औसतन 90 प्रजातियों का नाश प्राकृतिक विकासात्मक प्रक्रियाओं के तहत हुआ है और विकास (ईवोल्यूशन) ने नए जीवन-रूपों को इससे ज्यादा संख्या में जन्म दिया। लेकिन आज प्रजातियों की

मानवकृत (न कि प्राकृतिक) विनाश-दर इस पृष्ठभूमि से 40 हजार गुना ज्यादा कही जा रही है। अपने ही हाथों से घटती हुई चीज हमें नहीं दिखती। इस्लामिक फाउंडेशन फॉर इकोलॉजी के संस्थापक फज़लुन खालिद का कहना है कि "हम यह नहीं देखते कि हम स्वयं प्रकृति का अंग हैं और प्राकृतिक विश्व का नष्ट होना हमारा खुद का नष्ट होना है"। इस दृष्टि-दोष के कन्ट्रास्ट में हनुमान के 'देखने' को रखिए। हमारी अनदेखी के सामने हनुमान के विज़न को रखिए।

हनुमान को प्रकृति के इस परिदृश्य में किसी तरह का हस्तक्षेप करते हुए नहीं बताया गया है। वे सिर्फ देखते हैं। देखने को बार-बार रेखांकित करके तुलसी यह जताना चाह रहे हैं कि प्रकृति के सारे वैभव का अर्थ, उसके होने का तर्क मनुष्य-सापेक्ष नहीं है। कोई खग है, तो उसके अस्तित्व का अपना उत्सव है। कोई मृग है तो उसकी उपस्थिति अपने आप में ही एक पर्व है। तरु इसलिए नहीं हैं कि वे मनुष्य के लिए उपयोगी हैं, उनकी सत्ता की अपनी पर्याप्ति है। आते हुए कदमों से जाते हुए कदमों से भरी रहेगी रहगुज़र जो हम गए तो कुछ नहीं। यह एक चित्रपटल है जिसमें जंगल है, उसमें गुनगुन करते भ्रमर हैं, उसमें तरह-तरह के पेड़-पौधे हैं, फल-फूल हैं, पक्षी चहचहा रहे हैं, मृग कुलांचें भर रहे हैं, पर्वत श्रृंग हैं, वे मनुष्य-मात्र के लिए नहीं है। कई फूल निर्जन में खिल रहे होते हैं। कहीं न कहीं। वे इन्सान का इंतजार नहीं कर रहे। वे तो इस सर्ग के घटक हैं। सृष्टि की इस महाकविता के उतने ही शब्द जितना कोई मनुष्य है।

वनस्पति और प्राणी जगत ये दो अलग-अलग बातें नहीं हैं, भले ही दो अलग-अलग पंक्तियों में कही गईं हों। "नाना तरु फल फूल सुहाए' है, इसी कारण 'खग मृग बृंद देखि मन भाए' है। दक्षिण अमेरिका का एक वर्ग कि.मी. का वर्षा-वन सैंकड़ों तरह की पक्षी प्रजातियों और हजारों तरह की कीट-प्रजातियों का घर है। दक्षिण-पूर्व एशिया का एक दस हैक्टेअर का वर्षा-वन भूखंड जितनी वृक्ष प्रजातियों को संधारित करता है, उतने संपूर्ण उत्तरी अमेरिका में नहीं हैं। पेरु में एक अकेले वृक्ष का सर्वेक्षण किया गया तो पाया कि उसमें जितनी चीटियों की प्रजातियां हैं उतनी पूरे ग्रेट ब्रिटेन में नहीं हैं। हनुमान ने आर्गेनिक डायवर्सिटी की जो ट्रेज़री, जो निधि देखी- वह संभवतः ट्रापिकल वर्षा-वन ही होगा। वह स्वाभाविक जीन बैंक या प्राकृतिक फार्मेसी रही होगी।

यह ध्यान देने की बात है कि तुलसीदास ने व्यक्तिवाची संज्ञाओं (प्रापर नाउन्स) की जगह जातिवाची नाम (कॉमन नाउन्स) लिए हैं। वे महेन्द्र पर्वत का नाम नहीं लेते हैं जबकि वाल्मीकि कहते हैं "महापराक्रमी हनुमान के द्वारा दबाया जाता हुआ महेन्द्र पर्वत जल के स्रोत बहाने लगा, मानो कोई मदमस्त गजराज अपने कुंभस्थल से मद की धारा बहा रहा हो।" और फिर वाल्मीकि एक लम्बा सा वर्णन करते हैं जबकि तुलसी "सिन्धु तीर एक भूधर सुन्दर" से काम चला लेते हैं। तुलसी ने राक्षसी का नाम भी नहीं लिया जबकि वाल्मीकि कहते हैं "इस तरह जाते हुए हनुमानजी को इच्छानुसार रूप धारण करने वाली विशालकाया सिंहिका नाम वाली राक्षसी ने देखा" तुलसी सिर्फ "निसिचर एक सिंधु महुँ रहई" कहते हैं, इसी प्रकार अब वे "सैल बिसाल देखि एक आगें" कहते हैं जबकि वाल्मीकि इस पर्वत का भी नाम लेते हैं। "महाबली हनुमान जी अलंघनीय समुद्र को पार करके त्रिकूट नामक पर्वत के शिखर पर स्वस्थ भाव से खड़े हो लंकापुरी की शोभा देखने लगे"। तुलसी तीनों जगह 'एक' शब्द का प्रयोग करते हैं इस तरह से वे एक प्रतिनिधित्व का निर्माण करते हैं। लगता है वाल्मीकि ने एक जीवनी लिखी है, लेकिन तुलसी ने संज्ञाओं को भी एक संबंध की तरह ग्रहण किया है। वाल्मीकि को जो राम-यात्रा लिखनी है, उसमें विभिन्न पड़ावों की अपनी विशिष्टता (पर्टिकुलैरिटी) है, लेकिन तुलसी के यहां चीजें ज्यादा अप्रत्यक्ष एवं सुझावात्मक (suggestive) है। वाल्मीकि के यहां कई बार चीजें यथातथ्य हैं, तुलसी के यहां वे एक तरह की दृश्य सतहें (perceptible surfaces) हैं जो वर्णन से कहीं ज्यादा

इंगित हैं, और उनके भीतर गहरे में कुछ और छायाएं भी हैं।

बहरहाल, हनुमान को एक विशालकाय पर्वत देखने को मिलता है और वे उस पर निर्भीक होकर चढ़ जाते हैं। हनुमान को कोई एक्रोफोबिया (ऊंचाइयों से मनोविकृत भय) नहीं है, हनुमान को पर्वतों से भी भय नहीं लगता। आज अमेरिका अकेले में दो लाख पचास हजार लोगों को यह 'पार्वतीय-भय' ग्रसे हुए हैं। इसमें पेट में दर्द, धड़कन बढ़ जाना, कभी भी दुर्घटना हो जाने की आशंका आदि-आदि बहुत से लक्षण पाए जाते हैं। यह फोबिया पर्वतों का चित्र देखकर या किसी मूवी में पर्वत-देखकर भी हो सकता है। सिर्फ देखकर ही नहीं, उसके बारे में किसी को बात करते हुए सुनकर भी हो सकता है। क्या पर्वत अजनबीपन (स्ट्रेंजनेस) का अहसास कराते हैं? या क्या वे हमारी अत्यन्त लघुता (insignificance) को रेखांकित करते हैं? जॉन रस्किन ने पर्वतीय अवसाद (mountain gloom) नामक जो एक डार्क पेंटिंग रची है, वह अपना डर पैदा करती है। स्वयं इंग्लैंड और यूरोप के अधिकतर हिस्सों में पर्वत असुविधाजनक, सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से घृणित और खतरनाक माने जाते रहे। आज तो मनुष्य ने पर्वतों की सबसे ऊंची चोटियों को भी छू लिया है, लेकिन पहले जब पर्वतों पर इतना मानवीय परिवहन नहीं था, तब हनुमान को पर्वतों से निर्भीक खेलते हुए दिखाना अलग बात है। एक समय था जब यूरोप की साहित्यिक कल्पना में पर्वत "प्रकृति की शर्म और व्याधि" ("Nature's Shames and Ills") थे। वे प्रकृति के अन्यथा सुन्दर चेहरे पर व्रण, फुंसी, फफोड़े ("Warts, Wens, Blisters, Imposthumes) की तरह थे। प्रायः प्रकृति में हम वही देखते हैं जो प्रकृति में देखना हमें दिखाया जाता है। ईसा की प्रथम सात शताब्दी तक यूरोप में साहित्य पर्वतों को बंजर (barren), दुर्गम (inaccessible) और अहंकारी (insolent) बताता रहा। जबकि हनुमान त्रिकूट पर भयमुक्त होकर चढ़ते हैं। शायद इसलिए भी कि भारत के पर्वतों को शिवत्व से ओतप्रोत देखा गया। भारत में पर्वत पार्वती का वास स्थान है। छोटी-छोटी पहाड़ियों तक पर देवी मंदिर हैं। पर्वतों पर भय त्याग कर चलने वाला यह भारतीय निडर क्यों न होगा? उसके तिरुपति पर्वत पर हैं। गोवर्धन धारी कृष्ण भी आएंगे। यह वह देश है जहाँ सुमेरु को सुरगिरि कहा गया। नीलगिरि को कृष्णाचल। एवरेस्ट को गौरीशंकर।

मुझे केट सेरेडी के शब्द याद आते हैं : kill the snake of doubt in your soul, crush the worms of fear in your heart and mountain will move out of your way. हनुमान ने हृदय के भीतर भय के कीड़ों को निकाल दिया है और इसलिए वे दौड़ कर इस विशाल पर्वत पर चढ़ गए हैं। दौड़ना एक धावक का काम है। पर्वतारोहण एक ऐसा क्षेत्र है जहां ट्रेक की ख्याति एथलीट से ज्यादा हुआ करती है। पर्वतों पर चढ़ना सरल नहीं है। वहां हम जीवन और मृत्यु के सीमांतों पर खड़े होते है। जीने के एक थ्रिल के साथ। रीनोल्ड मेस्नर ने पर्वतों से जुड़े भय के कारण पर प्रकाश डालते हुए एक महत्वपूर्ण बात कही Mountains are not fair or unfair, they are just dangerous. कि पर्वत अच्छे बुरे नहीं होते। वे सिर्फ खतरनाक होते हैं। माल्कम डाली ने कोलोरेडो श्रृंखला के शिखर डायमंड के बारे में एक ही बात कही थी। It is high, cold, steep and most of all, intimidating कि वह ऊंचा, ठंडा और भयास्पद है। डंकन फर्गुसन का कहना है : When you climb, you always are confronted with edge. चढ़ना धार से आमना सामना करवाता है। लाओनेल टेरे का मानना था कि It is not the goal of grand alpinism to face peril, but it is one of the tests one must undergo to deserve the joy of rising for an instant above the state of crawling grubs. पर्वतों पर चढ़ने का लक्ष्य खतरे का सामना करना नहीं है यह तो एक क्षण के लिए रेंगने वाली स्थिति से ऊपर उठ खड़े होने का आनंद है, एक क्षण को यह महसूस करना कि हम सिर्फ मिट्टी के ही नहीं बने हमारे भीतर भी अग्नि है।

उमा न कछु कपि के अधिकाई।
प्रभु प्रताप जो कालहि खाई।
गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी।
कहि न जाइ अति दुर्ग विसेषी।
अति उतंग जलनिधि चहु पासा।
कनक कोट कर परम प्रकासा।

(शिवजी कहते हैं कि) हे उमा! इसमें वानर हनुमान की कुछ बड़ाई नहीं है, यह प्रभु का प्रताप है जो काल को भी खा जाता है। पर्वत पर चढ़कर उन्होंने लंका देखी, बहुत ही बड़ा किला है, कुछ कहा नहीं जाता। वह अत्यन्त ऊंचा है, उसके चारों ओर समुद्र है। सोने के परकोटे (चहारदीवारी) का परम प्रकाश हो रहा है।

तुलसी की आधुनिकता कथा के इन छोटे छोटे ट्रीटमेंट तक में देखी जा सकती है। इसके पहले के अध्याय में हमने इस बात को रेखांकित किया था कि तुलसी के यहां प्रसंग प्रातिनिधिक (Representational) हो जाते हैं। वे इतिहास नहीं, कविता लिख रहे हैं लेकिन आधुनिक कविता। वे जब 'सैल बिसाल देखि एक आगें' कहते हैं तो उसे त्रिकूटाचल नहीं कहते। वे जब "प्रभु प्रताप जो कालहि खाई" लिखते हैं तो वे यह नहीं लिखते कि त्रिकूट या लंब पर्वत पर रावण ने काल को पहरे पर नियुक्त कर रखा था। पहले के पर्वत को तुलसी ने "भूधर सुन्दर" भले ही कहा हो, लेकिन "विशाल" तो इसी पर्वत को कहा है। इस पर्वत पर वे दौड़कर चढ़े थे क्योंकि नीचे तराई में जंगल ही जंगल था। वहां उसकी शोभा देखी जा सकती थी, लेकिन क्षेत्रीय आब्जर्वेशन के लिए कोई ऊंचा स्थान ही चाहिए था। रावण ने, कथा कहती है, इस पर्वत पर काल को प्रहरी की तरह तैनात कर रखा था। क्या यह अज़्तेक पौराणिकी वे वर्णित मिक्टलैनटेचुट्ली जैसा कोई मृत्यु-देवता था? देखें कि टेनोकटिटलेन के महामंदिर में गरुड़-भवन के प्रवेश द्वार पर इसी देवता की प्रहरी मुद्रा में मूर्ति क्यों लगी हुई है? उसकी भुजाएं आक्रामक मुद्रा में कुछ यों उठी हुई है मानो वह उसके सामने आने वालों को चीर कर रख देगा। मैक्सिको सिटी के म्युजियम में इस प्रहरी काल-देव की प्रतिमा आज भी रखी हुई है। मेसोपोटामिअन पौराणिकी में नर्गल नामक काल-देव हैं जो बेबीलोनियन कलाओं में मंदिरों और महलों के सामने संरक्षकों की तरह नियुक्त रहता था। इस कालदेव को 'क्रोधित राजा' की तरह प्रस्तुत किया गया है। कौलिन ड प्लांसी और जोहान वैर ने नर्गल को नरक (Hell) की सीक्रेट पुलिस का चीफ बताया है। यह ध्यान रहे कि अब्राह्मिक 'नरक' की अवधारणा ईसाई 'नरक' की अवधारणा से भिन्न है। हर्क्युलिस को रोकने के लिए भी थानाटोस (ग्रीक काल-देवता) इसी तरह खड़ा मिलता है। हर्क्युलिस उसे चकमा देकर निकल जाता है। रोमन पौराणिक संदर्भों में हर्क्युलिस अपने मित्र की पत्नी को छुड़ाने के लिए मोर्स (रोमन काल-देवता) से लड़ता है। डोरमैन का अर्थ भी पहरेदार ही होता है और मार्वेल कामिक्स में डौरमैन नामक चरित्र एंजेल ऑफ डेथ बना ही है। तुलसी इन सब की जगह सिर्फ एक हल्का सा संकेत काल की ओर करते हैं। यह संकेत काल के बारे में ऊपर किए गए सारे वर्णन के बिना भी उतना ही कारगर है। यह तो एक सिद्धान्त का सा उल्लेख है कि प्रभु प्रताप काल को भी ग्रास बना लेता है और हनुमान बस उसी प्रताप का प्रतिबिम्बन हैं। यहां तुलसी काल के किसी तरह के मानवीकरण के लोभ में नहीं पड़ते। तुलसी सुंदरकांड में कई जगह कॉमन नाउन का इस्तेमाल करते हैं, यहां काल के प्रसंग में उसे किसी दैविक व्यक्तिमत्ता (divine personhood) देने के लिए प्रापर नाउन का इस्तेमाल करने से वे बचते हैं और उस रूपक के सार को निकाल लाते हैं जो ज्यादा विश्वसनीय लगता है। "बेग जीत्यो मारुत प्रताप कोटि मार्तण्ड कालऊ करालता बड़ाई जीत्यो बावनो।" हनुमान पर प्रभु की ग्रेस है, अतः "कालउ करालता" का भय उन्हें नहीं व्यापता। प्रभु प्रताप को स्वयं हनुमानजी भी सुंदरकांड में सीता से मिलने के वक्त रेखांकित करते हैं। "प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल।" और राम से मिलने के वक्त भी इसी तरह की बात कहते है : "तव प्रभाव बड़वान- लहिं जारि सकहिं खलु तूल।" तुलसी ने हनुमान से अन्यत्र भी प्रभु प्रताप के बारे में यह स्वीकारोक्ति कराई है : "पटकौं मीच नीच मूषक ज्यौं सबहिं को पाप बहावौं/तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु विलंब न लावौं।"

'जो कालहि खाई' में काल को खाने का शब्द प्रयोग थोड़ा अटपटा लगता है। लेकिन वह शायद "कालो जगद्‌भक्षक : की एंटी थीसिस दिखाने के लिए है। चूंकि काल सभी को खा जाता है, इसलिए सोच यह प्रस्तुत की गई है कि वह भी प्रभु प्रताप के सामने नतमस्तक है। शेक्सपीअर की पंक्तियां हैं : Devouring time blunt thou the lions paws/And make the Earth devoure her own sweet brood. कि समय सब

कुछ खा जाता है। कठोर और कोमल चीजों को। पृथ्वी अपने बच्चों को खा जाती है। Tempus Edax Rerum कि समय सब चीजों को खा जाता है। हनुमान जिस प्रभु-प्रताप से आप्यायित हैं, वह इस काल को भी ग्रास बना लेता है। इसी कारण हनुमान जी उसे भी अतिक्रान्त कर जाते हैं जिसके बारे में कहा गया "कालो हि दुरतिक्रम" : इसी कारण हनुमान उसे लांघ जाते हैं जिसके बारे में भारवि ने किरातर्जुनीय (9/13) में कहा : काल की आज्ञा अनुल्लंघनीय है : लंघयते न खलु कालनियोग : यह सब संभव ईश-महिमा से ही हो पाता है। हनुमान का कर्ता-भाव है ही नहीं। 'करोमीति बिहन्मीति मूर्खो मुह्यति केवलम्' - 'मैं करता हूं' या 'मैं नष्ट करता हूं' यह सोचना तो मूर्ख की अज्ञानता मात्र है। गर्ग संहिता भी यही कहती है : "अहं करोमि कर्ताहं हर्त्ताहं पालकोउरयहम्/ यो वदेच्चेदृशं वाक्यं स विनर्श्यात कालतः" - मैं करता हूं, मैं कर्ता-संहर्त्ता-पालक हूं, जो ऐसी बात कहता है, वह काल से ही विनाश को प्राप्त होता है। (35/14-15)। हनुमान पर काल का वश नहीं क्योंकि हनुमान प्रभु-प्रताप से ही करते हैं जो भी करते हैं।

तुलसी ने इस प्रसंग में सबसे पहले उमा का नाम लेकर पुनः यह याद दिला दी कि यह रामकथा उमा-शिव संवाद के रूप में चल रही है। काल के बारे में कुछ बोलना हो तो महाकाल से बड़ा कौन अधिकारी होगा? आखिरकार रामकथा सुनाना भी हो तो शिवजी की प्रेरक उमा ही हैं : "प्रस्न उमा कै सहज सुहाई/छल बिहीन सुनि सिव मन भाई" (बा.) और "उमा बचन सुनि परम बिनीता/रामकथा पर प्रीति पुनीता।" (बा.) उमा स्वयं भी काल की गति के बारे में भुक्तभोगी रही है। पूर्वजन्म में वे सती थीं और उन्हें अपने ही पिता के यज्ञ में देहत्याग करना पड़ा था। उसका मूल कारण भी प्रभु प्रताप ही था। वे शिवजी ही थे जो सती के द्वारा राम के बारे में यह कहने पर कि "खोजइ सो कि अग्य इव नारी/ग्यानधाम श्रीपति असुरारी" (कि ज्ञान के भंडार, लक्ष्मीपति और असुरों के शत्रु भगवान विष्णु क्या अज्ञानी की तरह स्त्री को खोजेंगे) और राम की परीक्षा का निर्णय करने पर यह कहने पर प्रस्तुत हुए कि "होइहि सोइ जो राम रचि राखा।" सती ने सीता का रूप धारा किंतु राम उन्हें पहचान गए और पूछने लगे कि वृषकेतु शिवजी कहां हैं। लौटते वक्त सती ने "प्रभु प्रताप" देखा - देखे जहँ तहँ रघुपति जेते/सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते/सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता/देखि सती अति भईं सभीता। "लौटकर शिवजी के पास जब वे आईं तो शिवजी के हृदय में द्वन्द्व उत्पन्न हो गया :" सतीं कीन्ह सीता कर वेषा/सिव उर भयउ विषाद बिसेषा/जौं अब करउँ सती सन प्रीती/मिटइ भगति पथु होइ अनीती। "सती के जिस शरीर ने सीता का रूप धारण किया, उससे अब शिवजी की भेंट नहीं हो सकती। अतः शिव समाधि में चले जाते हैं। काल का विपर्यय यहां देखने को मिलता है। शिवजी की समाधि क्या सतासी हजार वर्ष चली थी? तुलसी कहते हैं" "बीतें संबत सहस सतासी" और उधर मृत्यु लोक में समय का जो डायमेंशन चल रहा है, वहां अभी वनवासी राम के दूत हनुमान लंका तक ही पहुंचे हैं। इस बीच दक्ष-यज्ञ विध्वंस हो गया, सती ने यज्ञाग्नि में अपना शरीर भस्म कर नया जन्म उमा के रूप में हिमाचल के यहां ले भी लिया। फिर शिव को पति के रूप में पाने के लिए पार्वती/उमा का तप चला - "संबत सहस मूल फल खाए/सागु खाइ सत बरष गवाएँ/बेल पाती महि परइ सुखाई/तीनि सहस संबत सोइ खाई" - 4000 वर्षों से ज्यादा समय तक तो यह व्रत चला। फिर राम के समझाने पर शिवजी ने पार्वती से विवाह कर लिया। उसके पहले कामदेव भस्म भी हो गया। फिर शिव पार्वती विहार करते हुए विपुल समय बिता दिए - "एहि विधि बिपुल काल चलि गयऊ।" कार्तिकेय का जन्म हो गया। तब एक दिन शिवजी के पास पार्वती अपने उसी मूल प्रश्न के साथ गईं जिससे इतना वितण्डा उठा था : "रामु सो अवध नृपति सुत सोई/की अज अगुन अलखगति कोई/" कि ये राम वही अयोध्या के राजा के पुत्र हैं या अजन्मा, निर्गुण औरअगोचर कोई और राम हैं? "जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरहँ मति भोरि" यदि वे राजपुत्र हैं तो ब्रह्म

कैसे? और यदि ब्रह्म हैं तो स्त्री के विरह में उनकी मति बावली कैसे हो गई? "अब यदि राम-वनवास मर्त्यलोक में 14 साल का है, तो यह अधिलोक में 87000+4000+......... वर्ष से भी अधिक है क्या? या कि राम, लक्ष्मण और सीता को सती ने किसी टाइम-वार्प में देखा? किसी काल-जाल में? आईंस्टीन की थियरी थी कि Time and space form a continuum which bends, folds or warps from the observer's point of view. एक गत्यात्मक टाइम-वार्पिंग। क्या ये दो समानान्तर ब्रह्मांड हैं? क्या यह क्वांटम मैकेनिक्स की 'बहु-विश्व व्याख्या' है? क्या यह कुछ सह-सम्बन्ध विरोधाभास (Co-relation paradox) है? 5वीं शती ई.पू. में ग्रीस के सोफीवादी विद्वान एंटीफॉन ने लिखा था कि समय एक यथार्थ (hypostasis) नहीं है, एक अवधारणा (noéma) या एक पैमाना (metron) है। बौद्धों के यहां भी समय एक भ्रांति है। जे.एम.ई. मैकटैगार्ट ने 1908 में एक पुस्तक द अनरिअलिटी ऑफ टाइम के नाम से लिखी थी। क्या सती किसी तरह की कालयात्री (time-traveller) थीं? जैसे देश (space) के दो बिंदुओं के बीच घूमा जाता है, वैसे ही भविष्य या अतीत के भिन्न बिंदु तक भी घूमा जा सकता है। काल-यात्रा इन दिनों तो अधिकतर विज्ञान-कथाओं का कथानक है। एच.जी. वेल्स की 'टाइम मशीन' (1895) से इस तरह की विज्ञान-कथाओं की शुरुआत हुई थी। क्या सती राम लक्ष्मण सीता के भविष्य में प्रवेश कर गई थीं? भौतिकी में तो तीन विधियों के सहारे अतीत में यात्रा भी सैद्धान्तिक रूप से संभव है। एक, प्रकाश की गति से अधिक तीव्र स्पेस (देश) यात्रा, जागतिक डोरियों (cosmic strings) और कृष्ण विवर (black holes) का उपयोग, कीट छिद्रों (worm holes) और अल्क्यूबिअर वार्प ड्राइव के जरिए। भविष्य में यात्रा भी भौतिकीविदों के अनुसार सैद्धान्तिक रूप से 4 विधियों से संभव है :- विशिष्ट आपेक्षिकता सिद्धान्त के अंतर्गत Time dilation का उपयोग कर, दो, सामान्य आपेक्षिकता के अंतर्गत Time dilation का उपयोग कर; तीन- किसी खोखल (hollow), उच्च-संहति वस्तु (high-mass object) के भीतर रहकर, चार, किसी कृष्ण-विवर के क्षितिज के ठीक बाहर रहकर। क्वाटंम टेलीपोर्टेशन में भी यह संभावना बताई गई है। साइडर ने इटर्नलिज़्म या फोर-डायमेंशनलिज़्म पर अपने सिद्धान्त के अंतर्गत (2001) कहा है कि Time is just another dimension, that future events are ''already there'', and there is no objective flow of time. सती-शिव-उमा के इस पूरे प्रसंग में भावी घटनाओं के "आलरेडी देअर" होने और "समय के वस्तुनिष्ठ प्रवाह के न होने" की बात सिद्ध होती है। इसलिये महाकाल शिव और उनकी शक्ति उमा काल के बारे में यह कहने के लिये कदाचित सबसे उपयुक्त व्यक्ति हैं। 1997 के एक शोधलेख में मैट वाइसेर ने एक उपकल्पना प्रस्तुत की थी कि A complex Roman ring configuration of an N number of wormholes arranged in a symmetric polygon could still act as a time machine. वेदव्यास ने विष्णु-चक्र से काल के इस प्रवाह की तुलना की थी : "मन्वन्तरयुगेडजस्रं संकल्पा भूतसम्प्लका/चक्रवत परिवर्तन्ते सर्वं विष्णुमयं जगत्।" कि मन्वन्तर, युग, कल्प और प्रलय - ये निरन्तर चक्र की भांति घूमते रहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय है। उस प्रभु का प्रताप काल को ग्रास बना सकता है और हनुमान उस प्रभु-प्रताप से सम्पन्न हैं।

इसी हनुमान ने, जो 'कालहिं खाई' की शक्ति से, ईश्वरीय तेज से संपन्न है अब लंका को देखा जिसे काल का भय न हो, उसे उसके सामने लंका है। इसका किला अकथनीय रूप से अति विशिष्ट है। दुर्ग होने का अर्थ ही है कि लंका एक सैन्य राज्य है। रावण राज्य एक तरह का गैरीसन स्टेट था जहां हिंसा के विशेषज्ञ लोग समाज का सबसे शक्तिशाली वर्ग हुआ करते थे। रावण का राज्य किसी संविदा का परिणाम नहीं था। वह युद्ध से निर्मित हुआ था। उसने एक प्रभावशाली मिलिट्री मशीनरी इकट्ठी की जो न केवल उसकी सत्ता को निर्मित

करती थी बल्कि उसे निरन्तर भी बनाए रखती थी। उसने दमन (coercion) के साधनों को एकाधिपत्यीकृत किया था। उसने एक शिकारी सत्ता की स्थापना की थी। यह दुर्ग और यह प्राचीर उसके एक सतत अलार्म का प्रतीक थी, उसके अनाश्वस्त (Uneasy) रहने की। जिसे ब्रह्मा का इतना अतिव्यापी वरदान प्राप्त हो, उसे भी एक तरह का पृथक्कीकरण (insularity) चाहिए पड़ा सुरक्षा के लिए। जहां राम सारी जातियों जनजातियों को अपने पक्ष में मिला रहे थे और उन्हें अपने साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर काम कर रहे थे, रावण लंका को दुर्गम्य बनाए जा रहा था। उसकी यह दीवार क्या Wall Street जैसी किसी चीज का प्रतीक थी? बाइबल में पैसे को 'डिफेन्स' बनाने वाले और प्रज्ञा को डिफेन्स बनाने वाले के बीच में फर्क किया गया है। यह कहकर कि : For wisdom is a defense, even as money is a defense; but the excellency of knowledge is that wisdom preserves the life of him who has it. प्रज्ञा और बुद्धिमत्ता अपने धारक की जीवन-रक्षा करती हैं, स्वर्ण-प्राचीरें नहीं करतीं। स्वर्ण प्रकृति के नियमों के हिसाब से बहुत अच्छा परिचालक (Conductor) है, लेकिन स्वर्ण-प्राचीर एक अप्राकृतिक चीज है जो स्वर्ण को अवरोधक (insulator) की भूमिका दे रही है। 'सोसायटी ऑन द रन' में वर्नर पीटर्स ने लिखा है : The more aspect of human life money determine, the fewer are the nonmonetary alternative, the stronger then the drive becomes for the acquisition of money, and so forth even more narrowing, foreclosing and escape. इसलिए स्वर्ण यदि प्राचीर है तो वह इसलिए कि वह "नैरोइंग" है, कि वह "फॉरक्लोज़िंग" है - किसी भी 'एस्केप' के विरुद्ध। स्वर्ण यथार्थ के विरुद्ध भी एक दीवार खड़ी करता है।

इस दुर्ग को किले (Fort) के रूप में नहीं देखा जा सकता। फोर्ट शब्द लैटिन फोर्टिस से बना है जिसका अर्थ होता है- स्ट्रांग, मजबूत लेकिन दुर्ग का अर्थ है जहां जाना कठिन हो, ऐसे तो श्रीलंका में आज भी किले दीख पड़ते हैं। मसलन नेगोम्बो का किला जो एक लैगून और एक समुद्री अंतःप्रवेश (inlet) के बीच की जमीन पर है। इसी द्वीप में समुद्र किनारे ही टैंगाल किला है। एक अन्य किला मन्नार के द्वीप पर है। उन लोगों के द्वारा निर्मित गाले का किला 400 साल के बाद भी आज तक एकदम नया और पालिश्ड लगता है। लेकिन रावण की लंका का दुर्ग इन सबसे बहुत न्यारा था। ये दुर्ग तो डच/पोर्तुगीज़ सेनाओं द्वारा बनाए गए हैं। रावण की लंका का दुर्ग रोमन कास्त्रा से भी फर्क था। हालांकि कास्त्रा भी मिलिट्री टाउन ही हुआ करते थे, उनमें भी प्राचीर और खाई हुआ करती थी, लेकिन अपनी भव्यता और ऐश्वर्य में रावण के लंका-दुर्ग को वे कोई बराबरी नहीं कर सकते थे। अधिकतर यूरोपीयन कास्त्रा नदियों के किनारे बने होता है और उनके पास एक नदी-नेवल-कमांड हुआ करती थी, जबकि रावण का यह दुर्ग समुद्र किनारे था और संभवतः सिंहिका उसकी नेवल कमांड रही होगी और आकाश से आने वाले यानों को अपने राडार से डिटेक्ट करने और उन्हें अवरुद्ध करने की क्षमता उसके पास रही होगी। रावण संहिता में जिस गिरि पर हनुमान चढ़े हैं, उसके मध्य में बादल के समान नीलवर्ण बताया गया है जिसको चारों तरफ से इस तरह टांका गया है कि वहां पर कोई पक्षी भी न प्रवेश कर पाए "शिखरे तस्य शैलस्य मध्यमेडस्बुदसन्निभे/शकुनैरपि दुष्प्राये टङ्कच्छिन्न चतुर्दिशि" क्या यह किसी तरह का सेफ्टी नेट था, आकाश में टंगा हुआ। किसी तरह के वायुमार्गीय आक्रमण के विरुद्ध। रोमन किलों की तो काष्ठ की चहारदीवारी होती थी जबकि यहां तो 'कनक कोट' था। इस स्वर्णिम प्राचीर की तुलना में न तो चीन की दीवार आ सकती थी, न हेड्रिअन की 8 वर्षों में बनी 75 मील फैली दीवार, न क्रेमलिन की प्रसिद्ध दीवार न ईरान में गोर्मन की ग्रेट वाल, न लंदन की रोमन दीवार और न गल्पों में ख्यात अटलांटिक दीवार। यह ध्यान रहे कि चाहे सिन्धु घाटी सभ्यता के नगर हों, या सुमेर के उरूक या जेरिको, या असीरियनों के बनाए नगर हों

या कोट दीजी जैसे पुराने नगर, या मध्यवर्ती योरोप में सेल्ट द्वारा बनाए गए 'ओपिडा' जैसे किला-नगर हों, या एथेंस की "लांग वाल्स" हो, रोम की औरेलिअन दीवारें हों या कास्टेनटिनोपल की थियोडोशियन दीवारें- सभी इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन नगर लंका के इस पैटर्न के अनुसार प्राचीर जरूर रखते थे, हालांकि लंका की तरह स्वर्ण-परकोटा कहीं नहीं था। पौलेंड में बना दुनिया का सबसे बड़ा ईंट का गौथिक किला भी लंका के सामने कहीं नहीं ठहरता। बाद में कुछ आधुनिक नगरों में प्राचीरें स्टील और कांक्रीट की भी बनाई गई। बर्लिन की दीवार का उद्देश्य अवैध आव्रजन रोकना था जबकि नीदरलैंड्स की दीवारें समुद्री जल के विरुद्ध प्रतिरक्षा की दीवारें थीं। समुद्र के किनारे दुर्ग बनाने की परंपरा लंका के बाद भी चली आई। कोंकण-कुलाबा के किले भी ऐसे ही थे और सिंधु दुर्ग तो नाम के अनुरूप ही था। केरल का बैकाल किला भी ऐसा ही और गोआ के एगोडा दुर्ग से गोल्डन बीच का आनंद लिया जा सकता है। लंका का किला ऐसा कि समुद्र उसे चारों ओर से घेरे हुआ था। प्राचीन ट्राय नगर अपनी सुरक्षा दीवारों के लिए प्रसिद्ध था। होमर के महाकाव्य में बताई गई ये दीवारें इतनी मजबूत थीं कि ट्राय का घेरा नौ साल तक चला था और ट्रोजन घोड़े वाली चालाकी से ही वे अंदर घुस पाए थे, उसे तोड़कर नहीं भारत में धौलावीरा, वारंगल, जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, रायगढ़, मुंबई, लखनऊ, अहमदाबाद, आगरा, दिल्ली आदि में भी सुरक्षात्मक चहारदीवारियां रही हैं। श्री लंका का दुर्ग और प्राचीर इन सबसे अलग थी। लंका के मिलिट्री इंजीनीयर्स की प्रतिभा कुछ विशिष्ट ही रही होगी। वाल्मीकि ने इस दुर्ग का वर्णन कुछ यों किया है : "उसके चारों ओर खुदी हुई खाइयां उस नगरी को शोभा बढ़ा रही थीं, सीता को हर लाने के कारण रावण ने लंकापुरी की रक्षा का विशेष प्रबन्ध कर रखा था। उसके चारों ओर भयंकर धनुष धारण करने वाले राक्षस घूमते रहते थे। वह महापुरी सोने की चहारदीवारी से घिरी हुई तथा पर्वत के समान ऊंचे भवनों से भरी हुई थी। विश्वकर्मा द्वारा बनायी हुई लंका मानों उसके मानसिक संकल्प से रची गयी एक सुंदरी स्त्री थी। चहारदीवारी और उसके भीतर की वेदी उसकी जघनस्थली जान पड़ती थीं, समुद्र की विशाल जलराशि और वन उसके वस्त्र थे, शतघ्नी और शूल नामक अस्त्र ही उसके केश थे और बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएं उसके कर्णभूषण-सी प्रतीत होती थीं, कपिवर हनुमान जी ने विश्वकर्मा द्वारा निर्मित तथा राक्षसराज रावण द्वारा सुरक्षित उस पुरी को आकाश में तैरती-सी देखा।" रावण संहिता में उसके आर्किटेक्ट विश्वकर्मा ने इसके निर्माण के डिटेल्स यों दिए हैं : वहां पर सौ योजन लंबी तथा तीस योजन चौड़ी स्वर्ण-प्राचीर और स्वर्ण निर्मित तोरणों वाली लंका नाम की नगरी है, जिसको मैंने इन्द्र की आज्ञा पर बनाया था। वहां उसके "दृढ़ प्रकार परिखा" की तारीफ की गई है। वहां लंका दुर्ग में निवास करने पर शत्रुओं के लिए "दुर्धर्ष" बन जाने की बात भी कही गई है, "लंका दुर्ग समासाद्य राक्षसैबर्हुभिर्वृत्ताः/भविष्य दुराधार्षाः शत्रूणां शत्रुसूदनाः" दुर्ग बनवाया था इन्द्र ने, हथिया लिया रावण ने। दुर्ग मिला था कुबेर को (आर्थिक सुरक्षार्थ), हाथ पड़ा रावण के (सैन्य शक्ति के उपयोगार्थ)।

अब यह दुर्ग कुबेर या इन्द्र वाला नहीं रह गया। यह तो जैसे फ्रेंज़ काफ्का का "द कैसल" हो गया। काफ्का के नायक 'के.' की तरह रावण का भी लंका में रहने का कानूनी हक नहीं था, "this legal claim to live therein was not valid, yet, taking certain auxiliary circumstances into account, he was permitied to live." विश्रवा ने भी रावण को लंका पर दावा ठोंकने के लिए डांटा था, लेकिन उसकी क्रूर प्रकृति के कारण उन्होंने कुबेर को सलाह दी थी कि वो लंका को छोड़कर अन्य नगरी बसा ले। काफ्का का यह अधूरा उपन्यास सत्ता के दुरुपयोग (Abuse of power) की कहानी कहता है, लंका का दुर्ग भी काफ्का के उपन्यास की ब्यूरोक्रेसी और सुन्दरकांड में प्रदर्शित लंका की नौकरशाही (सचिव वैद गुरु तीनि जों प्रिय बोलिहिं भय आस) भी तुल्य है। जिस तरह से काफ्का परायेपन

(alienation) को इस कृति में प्रदर्शित करते हैं, विभीषण भी लंका के वातावरण में खुद को एलियनेटेड महसूस करता है : "जिमि दसनन्हि मँह जीभ बिचारी"। विभीषण और माल्यवान भी "Seemingly endless frustrations of man's attempts to stand against this system" झेलते हैं।

सारे दुर्ग अपने आप में एक संस्था होते हैं, वे स्टेट का प्रतिबिम्बन तो करते हैं, स्टेटस का भी करते हैं। लंका जितना दुर्ग है, उतना कनक कोट भी। वह सिर्फ सैन्य नहीं है, वह स्वर्ण भी है। वह जितनी मिलिट्री है, उतनी मुद्रा है बल्कि इन दोनों का गठजोड़ है। वह ब्रूट फोर्स तो है, धन की धाक भी है।

मुझे "कनककोट कर परम प्रकासा" इन पंक्तियों में तुलसी व्यंग्य करते हुए दिखते हैं। वहां कनककोट का परम प्रकाश हो रहा था। परम प्रकाश हमारे यहां गहरा आध्यात्मिक शब्द हैं। गीता में भगवान कृष्ण ने 'ज्योतिषां रविरंशुमान' स्वयं को कहा था। मैं ज्योतियों में सूर्य हूँ वेदव्यास ने महाभारत के भीष्मपर्व में कहाः "ज्योतिषामपि तज्ज्योति" वह परमात्मा ज्योतियों की भी ज्योति है। यह भी कहा गया कि 'तस्मात् सूर्यो विराजते' कि उन्हीं के प्रकाश से सूर्य प्रकाशित होते हैं। योगवाशिष्ठ उसे "विभात्यवभासात्मा" यानी प्रकाश स्वरूप परमात्मा कहता है। तुलसी साहिब ने इसी के लिए कहा था। "जगमग अन्दर में दिया, दिया न बाती तेल/परम प्रकाशक पुरुष का, कहां बताऊँ खेल" लेकिन लंका में परमप्रकाशक तो यही कनककोट है। फ़ारसी के भक्त कवि ज़ामी कहते हैं : अज़ हर तरफ जमाले मुतलक़ ताबाँ/ऐ बेखबर अज़हुस्ने मुक़ैयद चे कुनी" कि उस ईश्वर का जो प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ है उससे बेखबर मनुष्य! इस नाशवान सौन्दर्य से तू क्या करेगा। दादू कहते हैं : 'तेजपुंज की सुन्दरी तेजपुंज का कंत/तेजपुंज की सेज पर, 'दादू' वन्या बसंत'। उसी परमप्रकाश के लिए ग़ालिब ने कहा थाः 'सद् जल्व हूबहू है जो मिज़गां उठाइए/ताकत कहां है दीद का अहसां उठाइए' उस परम प्रकाश को पलकें उठाकर देखने की ताकत भी हम नश्वर मनुष्यों में कहाँ? फारसी के ही एक और भक्त कवि शब्सतरी के शब्दों में : ख़िरद रा नेस्त ताबे नूरे आं रूए/बरै अज़ बह् रे ऊचश्मे दिगर जूए। अर्थात बुद्धि उस मुख के प्रकाश को देखने की शक्ति नहीं रखती, इस कारण उस प्रकाश को देखने के लिए एक दूसरी ही आँख की खोज कर। 'नानक के अनुसार इसी एक परमप्रकाश से तो सारा जग उपजा है। ज्योतिर्लिंगों की कल्पना भी उसी परम प्रकाश की ही अभिव्यक्ति है। उस परम ग्लोरी की जगह लंका में तो पैसे की ही चमक दमक है। वहां तो सोडा प्रोडक्शंस की मूवी "नो मनी नो ग्लोरी" का शीर्षक ही सिद्धांत बनकर चल रहा है। वहां गॉड में ग्लोरी की जगह गोल्ड में ग्लोरी है। कनककोट के परम प्रकाश ने उस परमप्रकाश को विस्थापित कर दिया है। अभी 17 अप्रैल 2009 को द फर्स्ट पोस्ट की खबर थी कि किस तरह से कागजी मुद्रा की दुनिया में उथल-पुथल होते देखकर अमेरिकियों ने गोल्ड को ही गॉड मान लिया है। महावीर स्वामी ने जिसे परम ज्योति कहा था non-personal effulgence जिसे 'आदित्यवत् प्रकाश्यति तत्परम्' कहा गया, जिसे बहाई संत ताहिरह ने 'इशराक़े-रब्बानी कहा था' जिसका वर्णन करते हुए कहा थाः One sees light all around, such a Man, perceiving the divine light, becomes speechless with wonder and says : Ah! what is this : ("हर तरफ प्रकाश दिखाई देता है-परम प्रकाश देखने पर व्यक्ति विस्मय से अवाक् हो जाता है उसके मुंह से बस यही निकलता हैः आह! यह क्या है") तुलसी व्यंग्य करते हैं कि लंका में तो बस सोने का ही परम प्रकाश है। बस झकाझक पैसा हमारी संस्कृति में ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों का एक पर्याय परम है। हमारे यहां ईश्वर का एक पर्याय परम है और प्रकाश को ईशान कहते हैं लेकिन लंका में सोने की इंतिहा है। हमारे यहां पारमिता जिस अर्थ में खिलती है, लंका में उसका कोई मान नहीं। हमारा परम तत्व कोई दूसरा है, हमारे यहां मोक्ष को परम पद कहते हैं, हमारे यहां परम पुरुष से कोई और ही आशय है, हमारे यहां परम सत्ता

के मायने अलग हैं, हमारे यहां ओऽम परमाक्षर है। लंका में परम तत्व स्वर्ण है। लंका में परम पद वह सिंहासन, वह कुर्सी है जिस पर रावण विराजता है, लंका में परम पुरुष रावण है, लंका में परम सत्ता दरअसल एक तरह का सत्तातिरेक है, लंका में रावण की 'Writ' ही परमाक्षर है। इसलिए हनुमान के परमार्थ को लंका से समीकृत नहीं कर सकते। वहां लंका में कंचन की कांति है, ज़र में जोर है, सोने की चटक मटक है।

तुलसी के कमाल देखिए। यहां तीन पंक्तियों में समान प्रकृति के तीन शब्द चार बार हैं- अधिकाई, अति,[2] परम लेकिन हनुमान के यहां उसका निषेध है और रावण के दुर्ग और प्राचीर के संबंध में उनकी पुष्टि (affirmation) विपक्ष को ग्रेट बताकर - उसकी महत्ता का उल्लेख कर तुलसी उसके किसी तरह के अवगणन (under-estimation) से बचते हैं चुनौती की वरिमा का भी ध्यान रखते हैं- दुर्ग अतिविशिष्ट है- यह कोई सुपरस्पेशियलिटी दुर्ग है-, अत्यन्त ऊंचा है और कनककोट की एक्सट्रीम (सर्च) लाइट है। प्रतिपक्ष की ओवरसाइज़िंग के सामने "न कछु कपि के अधिकाई" है। वह स्वयं शिव की ओर से बोला गया है और हनुमान स्वयं रुद्रावतार हैं तो शिव किसी भी तरह की आत्म-स्तुति में लिप्त कैसे होंगे? दूसरे, थामस कार्लायल की तरह तुलसी का यह भरोसा नहीं है कि The history of the world is but the biography of great men. तुलसी नायकत्व की स्थापना नहीं कर रहे, ईश्वरत्व की स्थापना कर रहे हैं: वे हीगेल, नीत्शे या स्पेंग्लर की तरह 'हीरोइक' की बात न कर 'दिव्य' की बात कर रहे हैं। वहां शायद कहीं यह विचार भी है कि प्रभु की बात और प्रभूति (अधिकता) की बात में फर्क है। उस 'अधिकाई' में एक इतर है, एक दीगर है। हनुमान की विभूति को विभु की ही शक्ति बताकर तुलसी हनुमान के प्रति किसी किस्म के गैरपन को खत्म करते है। हर्कुलिस और हनुमान में यही फर्क है। हर्कुलिस की उपलब्धियां एक हीरो की उपलब्धियां हैं। हनुमान की विजयें एक Self-effacing मनुष्य की विजयें हैं। हनुमान ने खुद को खुरच (erase) नहीं लिया है। खुदा को अपने भीतर भर लिया है- हनुमान द्वारा अपना सीना चीर दिखाने के पीछे भी यही रूपक है। उन्होंने सियाराम को अंकित कर रखा है। उनका खुद का हृदय अहंता और कर्ताभाव के छोटे से धूलिकण से भी रहित है, इसलिए प्रभु की द्युति उसमें पूरी तरह से प्रतिबिम्बित होती है। फारसी के एक लेखक के शब्दों में "चो तू बेरु शुदी ऊ अन्दर आयद/बतो बेतो ज़माले खुद नुमायद" कि जब तेरे हृदय से अहंकार निकल गया, उस समय वह अन्दर आ जाएगा। तुझ पर उसका प्रकाश स्वयं प्रकट हो जाएगा" उस परम प्रकाश के सामने कनककोट का यह परम प्रकाश कहां ठहरेगा।

कनक कोट बिचित्र मनि
कृत सुन्दरायतना घना।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथीं चारु
पुर बहु बिधि बना।
गज बाजि खच्चर निकर पदचर
रथ बरूथन्हि को गनै।
बहुरूप निसिचर जूथ अतिबल
सेन बरनत नहिं बनै।

विचित्र मणियों से जड़ा हुआ सोने का परकोटा है, उसके अन्दर बहुत से सुन्दर-सुन्दर घर हैं। चौराहे, बाजार, सुन्दर मार्ग और गलियां हैं। सुन्दर नगर बहुत प्रकार से सजा हुआ है। हाथी, घोड़े, खच्चरों के समूह तथा पैदल और रथों के समूहों को कौन गिन सकता है। अनेक रूपों के राक्षसों के दल हैं, उनकी अत्यन्त बलवती सेना वर्णन करते नहीं बनती।

इस बिन्दु पर पहुंचकर कथा की रिद्म बदलती है। यहां तुलसी ने जैसे एक स्टेज की सेटिंग की है। कथा-लय में यह परिवर्तन साभिप्राय है। अब हनुमान जो वनचर थे, सहसा एक नगर बल्कि राजधानी से साक्षात्कृत होते हैं। सुन्दर सहज अगम अनुमानी/कीन्हि तहाँ रावन रजधानी। यह हनुमान की कर्त्तव्य भूमि है। अब हनुमान लंका में 'चेक इन' करने वाले हैं। कथा में यह एक बड़ा पट-परिवर्तन है। छन्द बदलकर तुलसी इस बदले हुए परिदृश्य की ओर ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। यह काम वाल्मीकि ने सर्ग परिवर्तन के जरिए अपने सुन्दरकांड में किया था। तुलसी के प्रबंध की योजना वैसी नहीं है, इसलिए वे छंदान्तरण से काम चलाते हैं।

लेकिन 'काम चलाना' कहना इसलिए उचित नहीं है क्योंकि तुलसी का छंद-चयन इस तब्दीली के तर्क को स्पष्ट करता है। नगरों में जीवन की 'पेस' बहुत ज्यादा है, अतः छंद भी स्वरोन्नति के जरिए तेज गति से इसका अनुवर्तन करता है। यह स्पीड की दुनिया है। 'सिविलाइजेशन इन अ हरी' की दुनिया। यहां जितनी हड़बड़ी है, उतनी गड़बड़ी है। जिसे देखो वो भागा जा रहा है। इस छंद में एक तरह की एक्सीलेरेटिंग है। एक शब्द दूसरे शब्द को एड़ लगता हुआ। बी.बी.सी. मुक्त विश्वविद्यालय ने कुआलालांपुर और सिंगापुर इन दो शहरों पर सिटीज़ इन अ हरी फिल्म बनाई थी। अब वनभूमि की मंथरता नहीं है। अब तो शहर का रश है, चूहा दौड़। रस उसी में ही है। जिस तरह से शहरी जीवन में अब एक मल्टी-टास्किंग, चैनल बदलने वाली, फास्ट-फारवर्डिंग प्रजाति पनपी है, उसी तरह से यह छंद मल्टी-टास्किंग का आभास "कहुं" शब्द से देता है। चैनल-फ्लिपिंग का भी इस छंद में लगातार आभास-सा होता चलता है। यह छंद शहरी जीवन का, 24x7 साइज की आशिमा का छंद है। उन लोगों की दुनिया के प्रकट होते वक्त एक दम उपयुक्त, निशाचर होने से जिनकी प्राकृतिक सर्केडियन (circadian) रिद्म पूरी तरह गड़बड़ा चुकी, जो कैफेन पर निर्भर रहकर अपने जीवन को विषाक्त कर चुके, जिनकी प्राकृतिक निद्रा का पैटर्न बिगड़ चुका होगा, जो सिर्फ तत्क्षण कॉफी, फॉस्ट फूड रेस्त्रां और स्पीड डेटिंग में ही भरोसा नहीं रख रहे बल्कि जो जेम्स ग्लीक द्वारा अपनी पुस्तक 'फास्टर : द एक्सीलरेशन ऑफ आलमोस्ट एवरीथिंग' में वर्णित "हड़बड़ी-रुग्णता" (Hurry sickness) के शिकार हो चुके, जिनके दिमाग इसलिए ही विकृत हो चुके क्योंकि उन्हें कभी "थीटा-स्टेज" नसीब ही नहीं हुई होगी कि जब ब्रेनवेव्स (मानस-तरंगें) शांत और रचनात्मक हालत में हो। जार्ज बीयर्ड की क्लासिक पुस्तक "अमेरिकन नर्वसनेस" इस तरह के जीवन के उस भय को अभिवेदित करती है जिसके अनुसार "कुछ मिनटों का विलम्ब जीवन भर की आशाओं पर पानी फेर देगा"। वह जीवन जिसमें स्पीड का ही ईथोस पल रहा है। नगरीकरण के प्रसिद्ध लेखक ल्यूइस ममफोर्ड आधुनिक युग का मूल-यंत्र स्टीम इंजिन को नहीं, घड़ी को मानते हैं। वैज्ञानिक स्टीफन जै गूल्ड व्यंग्य के साथ लिखते है : If we continue to follow the acceleration of human technological time so that we end in the black hole of oblivion, the earth and its bacteria will only smile at us as a passing evolutionary folly. "यदि हम मानवीय प्राविधिकीगत समय का गत्वरण करते रहना जारी रखते हैं ताकि हमारा अंत विस्मृति के कृष्ण-विवर में हो तो पृथ्वी और इसके जीवाणु एक दिन में हमें एक 'क्षणिक विकासमूलक मूर्खता' के रूप में याद कर मुस्कराएंगे।"

वन के बहुत सेंसुअस और काव्यात्मक समय में रहे हनुमान अब निशाचरों के नगर में आ पहुंचे हैं, यह लयोत्क्रम से घोषित हो जाता है। यह छन्द परिस्थितिवश स्वयं हनुमान पर आ पड़ी सेंस आफ अर्जेंसी को भी संज्ञापित कर रहा है। जब भी सघन कार्यव्यापार दिखाना हो या परिदृश्य में हुए किसी बड़े परिवर्तन को प्रकाशन करना हो, तुलसी छंद-परिवर्तन की इस युक्ति को अपनाते हैं।

कनककोट की व्याख्या हम पूर्व में दो बार कर चुके हैं। अब यहां तुलसी यह भी सूचित करते हैं कि यह "विचित्र मणिकृत" है। पहले बालकांड में इस 'विचित्र' शब्द का इस्तेमाल नहीं था। तब कहा गया था कि "खाई

सिन्धु गभीर अति चारिहुँ दिसि फिरि आव/कनककोट मनि खचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव" कि उसे चारों ओर से समुद्र की अत्यन्त गहरी खाई घेरे हुए है। उस (दुर्ग) के मणियों से जड़ा हुआ सोने का मजबूत परकोटा है, जिसकी कारीगरी का वर्णन नहीं किया जा सकता"। यह विश्वकर्मा के निर्माण के वक्त था। रावण के आक्युपेशन के बाद अब यह "विचित्र" हो गया है और वह "खचित" इस "कृत" में बदल गया है। पहले तो स्वाभाविक मणियां थीं। उन प्राकृतिक मणियों में रहीं होंगी :- इन्दु मणि, कामद मणि, पारस मणि, नागमणि, कुंजरमणि, विदुर मणि, आवर्त मणि, मुक्तामणि, विक्रांत मणि, नीलकांत मणि, मर्कत मणि, पीतमणि, वज्रमणि। लेकिन अब "विचित्र मणि" है? क्या यह कोई आर्टिफिशियल मनी है? क्या अब यह कूटकृत हो गयी थीं? किस लिहाज से स्ट्रेंज थी वह ? पीटर लैंग जिन्होंने एथिकल इन्वेस्टमेंट (नैतिक निवेश) नामक पुस्तक लिखी है, क्या कुछ संकेत देते हैं? वे कहते हैं Bank and governments create artificial currency which is ninety times more than the value of total goods and services the world has. This money only "exists" in the form of figures on computer records, but plays havoc with the global economy. Why there is apparently not enough money to put right many of the wrongs in the society, is because so much of the money is being used to make money out of money. It is being invested where it can make money out of trading in money as a commodity rather than being used to finance the provision of goods and services people need. ("बैंक और सरकारें कृत्रिम मुद्रा निर्मित करती हैं जो विश्व के पास मौजूद वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य की तुलना में 90 गुना ज्यादा है। यह राशि सिर्फ कम्प्यूटर अभिलेखों पर कुछ अंकों की शक्ल में ही "मौजूद" है किन्तु यह विश्व अर्थव्यवस्था का नाश किए दे रही हैं। आज समाज की बहुत सी गलतियों को दुरुस्त करने के लिए पैसा नहीं है क्योंकि इतना ज्यादा पैसा पैसे को पैदा करने में जा रहा है। यह वस्तु की तरह पैसे के ही व्यापारण में निवेशित किया जा रहा है, लोगों के लिए जरूरी चीजों और सेवाओं के वित्तयन के लिए नहीं"।)

क्या यह वैचित्र्य नहीं है? यह विचित्र मणियां एक ऐसी दुनिया की दीवाल (वाल स्ट्रीट) पर लगी हैं जहां पैसा न होने पर भी पैसा है। क्या इस विचित्र मनी से हमें अपने समय की वर्चुअल वेल्थ याद आती है? क्या आज दुनिया में ऐसे अमीर बहुसंख्या में नहीं हैं कि जो कोई उत्पादक काम नहीं करते, कोई उद्योग धंधा नहीं चलाते, सिर्फ दफ्तर में बैठ कम्प्यूटर और फोन पर सट्टा और सौदा करते हैं? खेतों, खदानों, कारखानों, चारागाहों, दुकानों, घरों में दुनिया का स्वाभाविक उत्पादन और मूल्यसृजन होता है किन्तु डिराइवेटिव, वायदा कारोबार और सट्टेबाजी का वैचित्र्य उन्हें अमीर बनाए है जिन्होंने उत्पादन और मूल्य सृजन की स्वाभाविकता को ताक पर रख दिया है। ध्यान दें कि तुलसी ने इन 12 पंक्तियों में सजावट (शोभा) और शक्ति के दो आयामों को तो वर्णित किया है, लेकिन लंका में आर्थिक गतिविधियों के नाम पर सिर्फ 'बाजार' का उल्लेख किया है। उत्पादन की इकाइयों का उल्लेख नहीं है, लंका में न खेत खलिहान हैं न कारखाने, सिर्फ बाजार है जो वही प्रदान करता है जिन्हें आजकल की भाषा में फायनेन्शियल सर्विसेज (वित्तीय सेवाएं) कहा जाता है। लंका में आर्थिक गतिविधियों की दृष्टि से बाजार की ही एकमात्र उल्लेखनीय उपस्थिति है। बाजार के इस तरफ सजावट है, बाजार के उस तरफ ताकत है।

क्या यह मनी का वही वैचित्र्य है जिसे नोबल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिक अर्थशास्त्री फ्रेडरिक सोडी ने "आर्थिक विरोधाभास" (Economic paradox) कहा था? आर्थिक प्रक्रियाओं का Pons asinorum? द रिडल आफ द स्फिंक्स? लंका में बस सोना सोना सोना है। वाल्मीकि के वर्णन में तो लंका सुनहले रंग के खंभे, सोने की जालियों से विभूषित नगरी है "सोने के विचित्र फाटक सब ओर से सजी हुई राक्षसों की उस लंका को

और भी उद्दीप्त कर रहे थे।" सोने के प्रासाद तो हैं ही। लेकिन वही स्वर्ण आब्शेसन विकृति है। सोडी का कहना है :- The value of money should not depend as the quantity of a single commodity such as gold. The index number of the general price level, or its reciprocal, the purchasing power of money, should be maintained constant by regulating the total quantity of money in circulation, volume being varied in order to maintain the price level costant. (पैसे का मूल्य स्वर्ण जैसी किसी एक ही वस्तु की मात्रा पर निर्भर नहीं होना चाहिए। सामान्य कीमत स्तर का सूचकांक या इसकी समकक्ष जनता की क्रय शक्ति को भी सुस्थिर बनाया जाना चाहिए, प्रचलन में मौजूद पैसे की कुल मात्रा को नियमित कर।)

आज तक दुनिया में जितना भी स्वर्ण खनित किया गया है, उसकी मात्रा 1,42,000 टन प्राक्कलित की गई है। यदि एक औंस सोने की कीमत एक हजार अमेरिकी डालर है या 32,500 डॉलर प्रति किलोग्राम है तो आज तक खोदे गए सोने का सकल मूल्य 4.5 ट्रिलियन डॉलर होगा। यह राशि अकेले अमेरिका में संचरणशील मुद्रा से भी कम है। अतः स्वर्ण को मुद्रा का आधार बनाना अवास्तविक होता है। स्वर्ण को मानक बनाने का अर्थ है कि मुद्रा की मात्रा स्वर्ण की आपूर्ति से तय की जाएगी। ऐसी मौद्रिक नीति आर्थिक मंदी के वक्त अर्थव्यवस्था को स्थिर करने में मददगार नहीं होगी। लंका में सोने की फसीलें और फाटक, स्वर्ण-प्रासाद और स्वर्ण-स्तंभ बताते हैं कि यहां स्वर्ण अपने आप में मिशन है- कनक को आवरण बनाने में जो असामान्यता है उसे तुलसी ने 'विचित्र' शब्द से इंगित किया है। 20वीं शती के सबसे बड़े अर्थशास्त्री कीन्स ने veil of money (धन के आवरण) की चर्चा की है। लीफमैन (1917), शबर्टसन (1922), क्लासिंजर (1990) और लैडलर (1990) ने जर्मनी में की थी। अर्विंग फिशर ने 19वीं शती के आखिरी चरण में इस शब्द का प्रयोग किया था। शूम्पीटर (1908, 1912) ने भी इस शब्द का प्रयोग किया था। यदि मुद्रा एक वस्तु, एक कमोडिटी है -स्वर्ण की तरह और यदि मुद्रा व वस्तुओं (goods) के बीच एक चिपचिपापन (stickiness) नहीं है बल्कि एक आवरण है तो ऊपर वर्णित वैचित्र्य होते ही रहेंगे। ए.सी. पिगोउ (A.C. Pigou) ने अपनी पुस्तक The veil of money में लिखा हैः- money functions as a veil, hiding from the view the true conditions of an economy, distorting and obscuring even the basic features and characteristics of an economic system. ("पैसा एक आवरण की तरह काम करता है- निगाहों से किसी अर्थव्यवस्था की हकीक़तों को छुपाते हुए, किसी अर्थव्यवस्था के बुनियादी पहलुओं और व्यवस्थाओं को विकृत करते हुए या उन पर पर्दा डालते हुए"।) अतः हनुमान कनककोट को जब लंका की सबसे पहली विशेषता के रूप में जब नोट करते हैं तो हो सकता है कि वह सिर्फ एक चहारदीवारी की बात नहीं हो।

लंका में घरों का, यानी जनसंख्या का घनत्व ज्यादा था जिसे तुलसी ने "सुन्दरायतना घना" शब्द से प्रकट किया है। यह कृषि का घनत्व नहीं है, यह भौतिक विज्ञानी (physiological) घनत्व नहीं है। इन दो शब्दों में तुलसी आवासीय घनत्व की बात कर रहे हैं। यानी लंका अभी शहरी विस्तार (Urban sprawl) का शिकार नहीं हुई है। वह घनी बसी हैं। शहर भीतर ही भीतर संघनन कर रहा है किन्तु समीपवर्ती अंचलों और क्षेत्रों का अपने में अंतर्नियोग नहीं कर रहा है। लगता है विश्वकर्मा जितना कर गए कर गए। उससे आगे रावण ने क्षेत्रवृद्धि नहीं की। तो लंका की एक विशेषता यह है कि उसका आवासीय घनत्व इतना ज्यादा है कि शुरु में ही हनुमान को ध्यान आ जाता है। हनुमान वन में रहे हैं। वहां 'स्पेस' की-स्थान/देश की अवधारणा कुछ दूसरी है। वहां एक घर इस पहाड़ी पर होता है, दूसरा उस पहाड़ी पर, लेकिन लंका में संभवतः कालोनी-कल्चर है। यह एक तरह की काम्पेक्ट सिटी है। ऐसा लगता है कि लंका के नगर-नियोजकों को जनसंख्या के घनत्व

को लेकर बहुत माथा-पच्ची करने की जरूरत नहीं महसूस होती थी और उनका ज्यादातर ध्यान सेटलमैंट्स की ईस्थेटिक्स पर रहता था। क्या ऐसी नीति दीर्घकालिक (सस्टेनेबल) हो सकती थी? लंका के लोगों की जीवन दृष्टि 'सुन्दरायतन' और 'कनककोट' से प्रतिध्वनित होती है। पहले में सुन्दर आयतन-साइज के ब्यूटीफिकेशन — की बात है। इसलिए 'सुंदरायतना' के पहले कृत जोड़ा गया है। यह स्वाभाविक सौन्दर्य नहीं है, मेक-अप है। यह 'Done up' है। इसलिए कृत है। यह सत्यं को सुंदरं से समीकृत करने वाली जीवन शैली नहीं है। वहां ब्यूटी की इंजीनियरिंग है। उसमें संगीत नहीं है, गणित है। आयतन और घनत्व वगैरा। यह प्रश्न रह ही जाता है कि क्या शहरी जीवन का सौंदर्य कास्मेटिक बेहतरी से वाकई सुनिश्चित किया जा सकता है।

ऊपर हमने जिस कनककोट की बात की है क्या उसका एक आधुनिक अनुवाद न्यूयार्क टाइम्स के स्तंभ लेखक थामस फ्रीडमैन के 'गोल्डन स्ट्रेट जैकेट' में है? फ्रीडमैन ने यह बात बाजार के सर्वतोभावी होने के संदर्भ में कही थी। क्या चारों राहों का उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम का मिलन बाजार के मुकाम पर ही होना है? तुलसी 'चौहट्ट हट्ट' कहकर मार्केट का डंका क्यों बजा रहे हैं। क्यों बता रहे हैं कि बाजार का लंका में यह घोष न केवल एकमात्र है बल्कि चतुर्दिक है। फ्रीडमैन ने बाजार को एकमात्र विचारधारा अगस्त 1998 में कहा : I don't think there will be an alternative ideology this time around. There are none. (मैं नहीं समझता कि इस बार कोई वैकल्पिक विचारधारा है। कोई भी नहीं है।) 1992 में फ्रांसिस फुकुयामा की प्रभावशाली कृति 'इतिहास का अंत' (द एंड ऑफ हिस्ट्री) आई जिसने कहा कि बाजार की विचारधारा ने अंततः किसी भी संभव विकल्प (viable alternative) का अंत कर दिया है और यह मनुष्य के विचारधारात्मक विकास का अंतिम बिंदु (एंड प्वाइंट) है। 1998 में ब्लैयर हॉक्सबी ने घोषणा की कि 'बाजार वह साधन है जिसके जरिए अपूर्ण मनुष्य, दीर्घावधि में, भगवान की प्रज्ञा के पास पहुंच सकता है।' सन 2000 में थामस फ्रैंक अपनी पुस्तक 'वन मार्केट अंडर गॉड' -"भगवान के मातहत एक ही बाजार" के साथ आए और यह स्थापित करने लगे कि "बाजारों के खिलाफ प्रतिरोध करना अपनी व्यक्तिमत्ता (personhood) को समर्पित करना है और उसे मानवजाति के परिवार से बाहर ला खड़ा करना है।" इसे ही डेनियर येरगिन ने 'बाजार सर्वानुमति' (Market consensus) कहा है। लंका में आल रोड्स लीड टु द मार्केट। तुलसी चौहट्ट की बात हट्ट से पहले क्यों कहते हैं? फिर हट्ट के बाद सुबट्ट बीथीं पर क्यों आ जाते हैं? क्या इन शब्दों को किसी भी किस्म के साहचर्य में न देखा जाए? न किसी किस्म के अनुक्रम में? क्या करें शब्दों के अरेंजमेंट की गैरइरादतन परिणतियों का? कि नहीं, वे स्वतंत्र शब्द हैं और उनके बीच कोई निर्भरताएं नहीं हैं? यह तो तुलसी लंका शहर का एक पर्यटक को परिचय भर दे रहे हैं? कि इस परिचय की न कोई जड़ है न शाखा? कि इस परिचय की कोई सामाजिक या नैतिक मंजिल नहीं है? कि यह परिचय नगर की भौगोलिकी और बस्ती के लेआउट का है? कि जिस नगर में सोने का इतना ढेर सारा वैभव हो, वहां का चौक भी कोई छोटी-मोटी चीज थोड़े रहा होगा। वह दुनिया के सबसे बड़े चौक थियानमैन चौक से बड़ा ही रहा होगा। या मैक्सिको के मोन्टेरी शहर के मैक्रोप्लाजा से बड़ा होगा। या पौलेंड के वारसा शहर के परेड चौक से। ये तीनों दुनिया के तीन सबसे बड़े चौक हैं। चउहट्ट हट्ट का अत्यन्त साधारण अर्थ ही लेना है तो उसका अर्थ चौराहे की हाट होगा। वह कोई स्पेनिश प्लाजा या इटैलियन पिआजा जैसा कुछ होगा या आधुनिक सुपर प्लाजा जैसा? या कालगेरी के क्रासरोड्स मार्केट जैसा।

लेकिन हनुमान पर्यटक तो हैं नहीं, पर्यवेक्षक हैं। उनकी नजर से कुछ चीजें कैसे चूकेंगी? बाजार में चारों ओर से राहें मिलती हैं या बाजार से राहें निकलती हैं? कि बाजार पर्यवसान है या उद्‌गम? या इन दोनों में से कुछ नहीं, वह अपने आप में न्यूट्रल है। बाजार से निकलने वाली सबसे अच्छी राह या स्ट्रीट कौन सी है? वाल स्ट्रीट? दलाल स्ट्रीट? लंदन का स्टॉक एक्सचेंज पेटर्नोस्टर चौक पर है। फ्रांस का क्विनकैंपो स्ट्रीट में।

यह ध्यान दें कि वाल्मीकि के वर्णन में - और यह वर्णन तुलसी की अपेक्षा अधिक विशद है- बाजार का कहीं उल्लेख नहीं है। तुलसी ने उसका उल्लेख जरूरी समझा तो वह अकारण तो नहीं रहा होगा। क्या मुगलों के समय तक बाज़ार हावी नहीं हो गया था। क्या बाज़ार के प्रति एलियनेशन नहीं फैलने लगा था जिसका एक संकेत "बाज़ार से गुजरा हूं खरीददार नहीं हूं" में मिलता है? तुलसी के बालकांड में रावण द्वारा आधिपत्य लिये जाने से पूर्व की लंका नगरी की विस्तृत चर्चा है, लेकिन बाजार का उल्लेख वहां नहीं है। तो यह मार्केट-इकॅानामी रावण ने स्थापित की होगी।

कृपया इस टेक्स्ट की पहली पंक्ति के 'कृत' और दूसरी पंक्ति के 'बना' शब्द पर ध्यान दें। यह ब्यूटीफुल और ब्यूटिफाइड के बीच का फर्क है। लंका एक सुंदर शहर नहीं है, सौन्दर्यीकृत शहर है। 'बहु विधि बना' के अनुसार तो इसे सुंदर बनाने में तरह-तरह के पापड़ बेलने पड़े- से लगते हैं। विश्वकर्मा की विरासत सुंदर रही होगी, लेकिन राक्षसी शासन की छाया-माया ने उसे विद्रूप कर दिया होगा। अब रावण ने उसके सौंदर्यीकरण की कोशिशें की होंगी। सौंदर्य एक स्थिति है। सौंदर्यीकरण एक प्रक्रिया है। यहां शहर का अलंकरण (embellishment) हो रहा है। 'सिटी ब्यूटीफुल' आंदोलन से असहमति जताते हुये कास गिलबर्ट ने 1909 में हुई अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ आर्किटेक्ट्स की वार्षिक बैठक में कहा था : Let us have the city useful, the city practical, the city liveable, the city sensible, the city anything but the city beautiful. रावण का ध्यान 'चारुपुर' बनाने पर है। शैली पर ज्यादा, सार पर नहीं। उसका शहर जीने योग्य (liveable) तो है नहीं- कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं- उसका यह शहर सेंसिबल भी नहीं है। पहलवानी ही ज्यादा है, ज्ञानाराधन का उल्लेख नहीं है।

शहर में बहुत तरीकों से चौराहों को सुंदर बनाया गया होगा। चौरस्तों की लैंडस्केपिंग पर काफी दिमाग खर्च किया गया होगा। बाजारों को भी इन चौपथों के अनुक्रम में अलंकृत करने के जतन किये गये होंगे। बाजार का अणुव्रत सौंदर्य था, ईक्विटी नहीं? सुपर मार्केट्स होंगे, मॉल जैसी कोई चीजें। सुंदरता पर ध्यान होगा ताकि ग्राहक आवेग-क्रय (impluse buying) कर सके। बहुत सुंदर डिजाइन किये गये मॉल जिन्हें देखकर ग्राहक कह सके यह माल नहीं, कमाल है। बाजार में सौंदर्यीकरण का ध्यान पैकेजिंग का ध्यान है। बाजार को तरह-तरह से सुंदर बनाना ताकि ग्राहक को चमत्कृत भी किया जा सके। फुसलाया भी जा सके। आधुनिक शॉपिंग का मंत्र-डैजल, डिलाइट एंड सेड्यूस।

इन 12 पंक्तियों की योजना पर ध्यान दीजिए। 4-4 पंक्तियों के तीन छंद। प्रथम दो की दो पंक्तियों में सजधज और नुमाइश है और बाद की दो पंक्तियों में शक्ति का वर्णन है। तीसरे छंद में सौंदर्यीकरण और शोभायन की बात पूरी तरह गायब हो गई है। पहली दो पंक्तियों में सौंदर्य को दी गई सतही श्रद्धांजलि भी तीसरे छंद में नहीं है। उसका स्थान प्रचंड पट्ठों और महाकाय मुस्टंडों की एक ऐसी फौज के वर्णन ने ले लिया है जो निहायत क्रूर है। प्रथम छन्द की अंतिम दो पंक्तियों से ही सैन्य शक्ति वर्णन का प्रारंभ हो जाता है। ध्यान दें कि अयोध्या और जनकपुरी के वर्णन में तुलसी ने उनकी सैन्य-शक्ति का उल्लेख नहीं किया। लेकिन रावण के राज्य का तो पारिभाषिक इंस्ट्रुमेंट ही सैन्य-शक्ति है। वहां सैन्य-शक्ति अन्य सभी अवगुणों की प्रॉक्सी है। हनुमान लंका की इस वरीयता को पहचान जाते हैं। डिजरायली ने 'लार्ड जार्ज बेंटिंक-अ पालिटिकल बायोग्राफी' में कहा कि जहां भी विशाल स्थायी सेना है, वहां की सरकार तलवार की सरकार है (Wherever there is a vast standing army, the government is the government of the sword) यहां तो लंका में "भट कोटिन्ह" है। रावण की सत्ता कब्जे और काबू में करने वाली मानसिकता की सत्ता है। वहां हाथ में बागडोर नहीं, चाबुक है। रावण की युद्धातुरता की संतृप्ति के लिए इतनी विशाल सेना रखी गई है। लंका सोने की जरूर है, लेकिन इस सोने का उपयोग सैन्य संधारण के लिये हो रहा है। रावण की मानसिकता एक द्वीपीय

मानसिकता है। उसे नहीं लगता कि इस पृथ्वी के प्रति भी उसके कुछ उत्तरदायित्व हैं। मुझे 16 अप्रैल 1953 में डी.डी. आइजन हॉवर द्वारा समाचार संपादकों की अमेरिकन सोसायटी के शब्द याद आते हैं : Every gun that is made, every warship launched, every rocket fired signifies in the final sense, a theft from those who hunger and are not fed, those who are cold and are not clothed. This world in arms is not spending on money alone. It is spending the sweat of its laborers, the genius of its scientists, the hopes of its children. This is not a way of life at all in any true sense. Under the clouds of war, it is humanity hanging on a cross of iron. हर निर्मित बंदूक, हर प्रेषित युद्धकयान, हर प्रक्षेपित रॉकेट, अंतिमतः उन लोगों से की गई चोरी है. जो भूखे हैं और जिन्हें खिलाया नहीं गया, जो ठंड झेल रहे हैं और जिनके पास कपड़े नहीं हैं। यह शस्त्र-संसार सिर्फ पैसा ही खर्च नहीं कर रहा। यह अपने श्रमिकों का पसीना, अपने वैज्ञानिकों की प्रतिभा, अपने बच्चों की उम्मीदें भी खर्च कर रहा। यह किसी सही मायने में ज़िंदगी जीने की राह नहीं है। युद्ध के बादलों के तले, यहां मानवता लोहे के सलीब पर जूझ रही है।

रावण की सेना, तुलसी के अनुसार, अगण्य है। उसमें हाथी भी हैं, घोड़े भी हैं, रथ भी हैं, खच्चर भी हैं, पदाति भी हैं। कई वैज्ञानिकों ने नोट किया है कि मनुष्य के अलावा हाथी ही एक ऐसा प्राणी है जिसके पास मौत की समझ या उसकी अवधारणा है। हाथी जिस तरह से अपने साथी हाथियों की लाशों की कब्रों पर वार्षिक भ्रमण करते हैं और जिस तरह से मृत्यु के उनके कर्मकांड हैं, उन्हें मौत के वाहकों के रूप में प्रोग्राम किया जा सकता है। दूसरे, हाथियों के बारे में विरोधी पक्ष के सैनिकों को जानकारी भी कम रहती थी। आज तक भी हाथी के जीवन के बहुत से पहलुओं के बारे में वैज्ञानिक सुनिश्चयन नहीं हो सका है। अपने आकार के आतंक (awe) और अपने व्यवहार के मनोविज्ञानगत रहस्य के चलते हाथी एक प्रभावी किलिंग मशीन के रूप में युद्धों में इस्तेमाल होते रहे। हन्नीबाल की गजसेना ने जब द्वितीय प्यूनिक युद्ध के लिये आल्प्स पर्वत को पार किया था, तो रोमन लोग आतंक से थर्रा गये थे।

अनगिनत वैदिक लड़ाइयों में भी हाथी का उपयोग बताया गया है। भारत से ही हाथियों को युद्ध में इस्तेमाल करने की तकनीक ईरान पहुंची। अलक्षेंद्र महान को एक अक्टूबर 331 ई.पू. गौगामेला के युद्ध में ईरानी गज सेना का सामना करना पड़ा था। मैसीडोनिया की सेनाएं गज सेना से विस्मित रह गई थीं। अलक्षेंद्र उनसे इतना प्रभावित हुआ कि बाद में उसने अपनी विश्व-विजयिनी सेना में कई हाथियों को शामिल कर लिया। गौगामेला में उसे 15 हाथी झेलने पड़े थे, पोरस के साथ युद्ध में 85 हाथी। उस समय मगध सेना में 6000 हाथी थे और चंद्रगुप्त मौर्य के शासन में 9,000 हाथियों की सेना थी। यह जानकर कि मगध की गज-सेना इतनी विशाल है, अलक्षेंद्र का भारत में आगे बढ़ने का उत्साह जाता रहा था। सैल्यूकस ने 500 भारतीय सैन्य हाथियों के बदले भारत का जीता हुआ हिस्सा चंद्रगुप्त को वापस कर दिया था। कौटिल्य ने सैन्य हाथियों को युद्ध के लिये दिये जाने वाले 7 प्रशिक्षणों का उल्लेख किया है। ये थे : उपस्थान, संवर्तन, सम्यण, वधावध, हस्तियुद्ध, नागरायण और संग्रामिका। माघ ने शिशुपाल वध (18/32) में कहा है : दांतों की टकराहट की ध्वनियां करते हुए, सिर उठाए हुए और पूंछों को झुकाए हुये व उठाए हुए और अपनी सूंडों के सिरों को एक-दूसरे के कोमलस्थलों पर मारते हुये हाथी युद्ध कर रहे हैं : अन्योन्येषां पुष्करैरामुशन्तो/दानोद्भेदानुच्चकैर्भुग्नवालाः/उन्मूर्धानः संनिपत्यापरान्तैः/प्रायुध्यन्त स्पष्टदन्तध्वनीभाः। सैल्युसिड साम्राज्य ने गज सेना के इस्तेमाल से ही अपने विरुद्ध हुये विद्रोहों को रोका था। रावण के सैन्य हाथियों की संख्या तो तुलसी के अनुसार गिनी ही नहीं जा सकती थी। यह ध्यान रखें कि प्लिनी द एल्डर (45ई.) में अपने 37 खंडों के इतिहास में 6वीं किताब में मेगस्थनीज के द्वारा किये गये उस उल्लेख को शामिल किया है कि श्रीलंका के हाथी ज्यादा बड़े, ज्यादा दुर्धर्ष

और युद्ध के लिये ज्यादा उपयुक्त माने जाते थे और उनकी इसी श्रेष्ठता के कारण श्रीलंका के हाथियों का व्यापारण खूब जमकर होता था। लगता है, रावण की राजसेना के जीन्स बाद में भी लंकाई हाथियों में संक्रमित होते रहे होंगे। 1558 में कोलंबो (श्रीलंका) में पुर्तगाली किले का घेरा डालते समय राजा राजसिंह प्रथम ने 2200 हाथियों का उपयोग किया था। उसकी गजसेना का अधिकारी गजनायक हुआ करता था।

तुलसी ने हनुमान को रावण की सैन्य क्षमताओं में जो दूसरी बात नोट करते हुए दिखाया है, वह है अश्व-शक्ति। हार्स-पावर। अरविंद घोष (सीक्रेट ऑफ द वेदा, पृ. 44) के अनुसार अश्व का मतलब हमेशा घोड़ा ही नहीं होता। अश्व या अश्वपति ऊर्जा के प्रतीक हैं। शास्त्रों में प्रथम अश्व उच्चैः श्रवा सागर मंथन से प्रकट हुआ बताया है जो इन्द्र को प्राप्त होता है और जो उसे स्वर्ग ले जाते हैं। बाद में असुरों/दनुजों में उसे इन्द्र से छीनने का संघर्ष भी चलता है। दुर्गा सप्तशती में शुंभ और निशुंभ उसे इन्द्र से छीन लाए गए बताए हैं। आर्यों का अश्वमेध यज्ञ प्रसिद्ध रहा है। मरुत ऋग्वेद में अश्वों की सवारी करते बताए गये हैं। हयग्रीव विष्णु के अवतार हैं और उनका सिर अश्व का है। ऋग्वेद में अश्विनों का 376 बार उल्लेख है। उन पर 57 ऋचाएं हैं। कुछ लोगों ने अश्व-शक्ति के इस्तेमाल को घुमन्तू संस्कृतियों से जोड़ा, लेकिन, जैसा कि हम देख रहे हैं, रावण जैसी सैटल्ड रक्षसंस्कृति भी घोड़ों का उपयोग युद्ध कला में करती थी। अमेरिका में देशी आदिवासियों की कई जनजातियां घोड़ों का उपयोग युद्ध में करती थीं, लेकिन वे भी घुमन्तू नहीं, सेटल्ड थीं। आर्यों को इस आधार पर भारत से बाहर से आई हुई घुमन्तू जाति बताने का षड्यंत्र चलाया गया। यदि ऐसा ही था तो घुमंतू के सुस्थिर हो जाने पर उसका उपयोग खत्म हो जाना चाहिए था। अब तो दुनिया भर में युद्ध कला बहुत आधुनिक और यांत्रिक हो गई है, लेकिन अभी भी विश्व भर के देशों की सेनाओं में अश्व-प्रभाग हैं। बल्कि कई बार तो महत्वपूर्ण मोर्चों पर उनकी कमी खलती है। उत्तरी अफ्रीका के अभियानों में जार्ज पैटन जैसे जनरल ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान महसूस किया कि Had we possessed an American cavalry division with pack artillery in Tunisia and in Sicily, not a German would have escaped. यदि हमारे पास ट्यूनीशिया और सिसली में अमेरिकी अश्व सेना का डिवीजन होता, तो एक भी जर्मन बचकर नहीं जा पाता। अभी जंजावीड मिलिशिया ने दारफर के युद्ध में, इस 21वीं सदी में, उनका कुशलता के साथ इस्तेमाल किया है। द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मन सेना ने साढ़े सत्ताईस लाख घोड़ों का इस्तेमाल यातायात के लिये किया और सोवियतों ने 35 लाख घोड़ों का। खच्चरों का उपयोग भी सेनाएं परिवहन-प्रयोजनों के लिए करती रही हैं और तुलसी ने लंका में उनकी भी अगणित संख्या बताई है। खच्चरों का साहित्य में सेना वर्णन में कम ही उल्लेख किया गया है। तुलसी द्वारा उन्हें गज-बाजि के साथ-साथ उल्लेख करना एक बड़ी बात है क्योंकि प्रायः खच्चर उपहास के ही पात्र रहे हैं जबकि वैज्ञानिकों का कहना है कि खच्चर में एक ओर तो गधे की गंभीरता, धैर्य, सहनशक्ति और गहरी पाद-पकड़ (sure-footedness) रहती है, दूसरी ओर घोड़े की शक्ति, ऊर्जा और साहस भी रहता है। वे घोड़े की तुलना में दबावपूर्ण स्थितियों में धीरज जल्दी नहीं खोते और बीमारियों तथा कीड़ों के प्रति उनकी प्रतिरोधक शक्ति भी ज्यादा है। घोड़े की तुलना में वे ज्यादा बुद्धिमान और जिज्ञासु भी होते हैं। गज-बाजि-पदचर-रथ तो चतुरंगिणी सेना के चार क्लासिक अंग रहे हैं, लेकिन तुलसी ने इनके साथ 'धैर्य-धन' खच्चर को भी उल्लेख्य माना, यह महत्वपूर्ण है। यह विशेष भी है।

गज-बाजि-खच्चर के बाद तुलसी पदातिका का उल्लेख करते हैं। रावण की इन्फेंट्री का। पदचर आज तक भी सेनाओं का प्रमुख अंग है। किसी का कहना है कि The infantry doesn't change. We're the only arm [of the military] where the weapon is the man himself. चतुरंगिणी में चौथा पक्ष रथ का है। रथ ऋग्वैदिक देवताओं के समय से रहा। उषा रथ पर सवार बताई गई हैं और अग्नि। संभवतः ऋग्वैदिक

रथ बहुत बड़े होते थे क्योंकि वहां सरस्वती नदी को रथ के समान बड़ी कहा गया। सुल्ब सूत्रों में रथ की ऊंचाई-लंबाई-चौड़ाई के वर्णन भी मिलते हैं। ऋग्वैदिक रथों में पहियों की संख्या भी भिन्न-भिन्न है। अश्व के अलावा, हमारे धर्मशास्त्रों में, हाथियों द्वारा भी खींचे जाने वाले रथ बताए गए हैं। भारत के कई हिस्सों में रथोत्सव भी मनाया जाता है। जब मंदिर के देवता नगर-भ्रमण करते हैं। ऐरावतेश्वर मंदिर के रथ अपनी भव्यता में अद्वितीय हैं। यह पुनः ध्यान देने की बात है कि रथ को भी इतिहासकारों के षड्यंत्र का शिकार होना पड़ा जब सिंधु घाटी सभ्यता को वैदिक सभ्यता से भिन्न बताने के लिये रथ भी एक आधार बताया गया। बाद में प्रो. बी.बी. लाल ने हड़प्पन सभ्यता में भी रथ का अस्तित्व और उपयोग सिद्ध कर दिखाया। भगवान सिंह और एस.आर. राव ने भी हड़प्पन सभ्यता में रथ के साक्ष्य जुटाए हैं। कुमारस्वामी ने अश्व और रथ को प्रतीक की तरह प्रयुक्त हुआ बताया है : Psycho-physical complex on which the atman stands or in which it is seated. (Horse Riding in Rigveda). रावण के यहां रथ सैन्य-शक्ति के ही अंग बताए गये हैं। रावण का रथ और राम का रथ अलग-अलग है। तुलसी ने उसका बहुत सुंदर उल्लेख किया है। 'रावनु रथी बिरथ रघुवीरा' के कारण विभीषण अधीर हो जाते हैं। तब कृपानिधान राम कहते हैं कि जिससे जय होती है, वह रथ दूसरा ही है। 'जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना'। राम शौर्य और धैर्य को रथ के पहिए, सत्य और शील को ध्वजा व पताका, बल, विवेक, दम और परोपकार को चार घोड़े, क्षमा, दया, समता को डोरी, ईश भजन को सारथी, वैराग्य को ढाल, संतोष को तलवार, दान को फरसा, बुद्धि को प्रचंड शक्ति, विज्ञान को धनुष, निर्मल व अचल मन को तरकश, शम-यम-नियम को बाण, विप्र गुरु पूजा को कवच कहते हैं। हनुमान रावण की सेना-बरूथ- को देखते हैं। लेकिन यह सेना सिर्फ एक संख्यात्मक बल है। राम का आयाम एकदम भिन्न है।

रामकथा में राम-रावण युद्ध के समय देवताओं द्वारा राम को रथ पहुंचाने की घटना को पढ़कर मुझे बरबस 1968 में एरिक वॉन डानिकेन के द्वारा लिखित पुस्तक Chariots of the Gods? : Unsolved Mysteries of the Post (देवताओं के रथ? : अतीत के अनसुलझे रहस्य) की याद आती है। उसके अनुसार प्राचीन सभ्यताओं को प्राविधिकी और धर्म उन आकाशी यात्रियों द्वारा सौंपे गए जिन्हें स्वागतस्वरूप देवता कहा गया। उसके अनुसार जिस तरह से दक्षिणी प्रशांत महासागर की कई जनजातियों ने अधिक विकसित अमेरिकी और जापानी सैनिकों को देवता समझ लिया था, आश्चर्य नहीं कि पृथ्वी के बाहर के अंतरिक्ष यात्रियों को, जो दूसरे ग्रहों से आए, मनुष्यों ने देवता समझ लिया हो। इन्हीं यात्रियों से प्राविधिकियां प्राप्त कर मिस्त्र के पिरैमिड, विलृशायर के पत्थर और ईस्टर द्वीप के माओई प्रस्तराकृतियां बनाई गई होंगी। एक मध्यकालीन कार्टोग्राफर पीरी रीस का नक्शा पृथ्वी को ऐसे दिखाता है जैसे रिमोट सेंसिंग का लाभ मिला हो। पेरू की नाज्का रेखाएं ऐसे दिखती हैं मानो अंतरिक्ष से आने वाले यात्रियों की एयर-फील्ड हों। इसलिए हो सकता है कि 'प्राचीन एस्ट्रोनॉट्स' ने राम को भी रथ देकर उनकी मदद की हो।

लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि राम ईश्वर हैं और देवताओं से कहीं अधिक और वृहत्तर है। यहां देवता दानिकेन की तरह 'अधिक विकसित अंतरिक्षीय सभ्यता' का प्रतिनिधित्व नहीं करते। वे तो राम के कर्तृत्व की प्रतीक्षा में हैं। 'सभय देव करुनानिधि जान्यो', 'हाकाकार सुरन्ह जब कीन्हा' जैसी अभिव्यक्तियां यह स्पष्ट भी करती हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि हनुमान द्वारा इस अवसर पर नगर-निरीक्षण करते हुए चतुरंगिनी सेना को आब्जर्व करना वाल्मीकि ने नहीं दिखाया है। उन्होंने बस इतना कहा है कि 'हाथों में शूल और पट्टिश लिए बड़ी-बड़ी दाढ़ों वाले बहुत-से शूरवीर घोर राक्षस लंकापुरी की उसी प्रकार रक्षा करते थे, जैसे विषधर सर्प अपनी पुरी की करते हैं।' आगे हनुमान की सोच के रूप में भी उन्होंने यह कहलाया है : 'रावण के सैनिक हाथों में अस्त्र-शस्त्र लिए इस पुरी की रक्षा करते हैं।' इस चीज

को तो तुलसी ने 'करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं' के रूप में नवीं पंक्ति में दिखाया है। लेकिन उनके इस वर्णन की तीसरी और चौथी पंक्ति स्पष्टतः 'बरूथ' और 'जूथ' यानी सेना की पंक्ति हैं। तुलसी एक ऐसे समय में रह रहे थे जब सत्ताएं मूलतः सैनिक ताकत के बूते पर बनती और जारी रहती थीं। सत्ताएं सुलहकुल भी करती थीं और चित्तौड़ के किले में 30,000 नागरिकों की हत्याएं भी करती थीं।

ये निशिचर बहुरूप हैं। पारंपरिक व्याख्याकारों ने इसका अर्थ यह कहकर किया है बहुरूप से काम रूप एवं श्वान, शूकर, श्रृंगाल, गर्दभ, अश्व, व्याघ्र, अज आदि के समान मुख वाले अनेक रूप रंग और आकार के निशाचर समझना चाहिए। लेकिन बहुरूप का एक अर्थ आइडेंटिटी फ्रॉड करने वाले विविध प्रकार के लोगों से है। आज हम व्यापार/वाणिज्यिक पहचान बदलने वाले बंदों को देखते हैं जो ऋण पाने के लिये बैंकों में दूसरे के नाम और पहचान का इस्तेमाल करते हैं, जो अपराध करने के लिए दूसरा भेष धारण कर लेते हैं, जो आईडेंटिटी क्लोनिंग करते हैं, जो दूसरे की पहचान से माल और सेवाएं पाते रहते हैं, जो इंपर्सोनेशन करते हैं, जो 'अकाउंट टेक ओवर' करते हैं, जो नकली पहचान पत्र बना लेते हैं, जो 'हैकिंग' करते हैं। विकसित सभ्यताओं में अक्सर ऐसा होने लगता है। इसीलिए सं.रा. अमेरिका में, Identity theft and Assumption Deterrence Act का प्रारूप सामने आया है। सन् 2003 में अमेरिकी जनसंख्या के 4.6 प्रतिशत लोग पहचान-चोरी ID Theft के शिकार हुए थे। एक अनुमान के अनुसार सन् 2002 में 52.6 अरब डॉलर का नुकसान पहचान-चोरी से हुआ था। इससे लगभग 91 लाख अमेरिकी प्रभावित हुए थे। केलीफोर्निया और विस्कोंसिन राज्यों ने तो रूप बदलने वाले इन तत्वों से नागरिकों को बचाने के लिये ऑफिस ऑफ प्राइव्हेसी प्रोटेक्शन बना दिया है। ऑस्ट्रेलिया में सन् 2001 में इससे 4 अरब ऑस्ट्रेलियन डॉलर की चोरी हुई। यूनाइटेड किंगडम के गृह विभाग का आकलन है कि वहां इससे प्रतिवर्ष 1.2 अरब पौंड का नुकसान होता है। फ्रेडरिक फोरसिथ के उपन्यास द डे ऑफ द जैकाल में (जो आतंकवाद पर आधारित शुरूआती उपन्यासों में से एक है)। हत्यारा तीन व्यक्तियों के रूप चुराता है- एक मरे हुए बच्चे का जन्म प्रमाण-पत्र हासिल कर उसे पासपोर्ट के लिए इस्तेमाल करता है, एक बार एक डेनिश पादरी का पासपोर्ट हासिल कर स्वयं को वैसा प्रदर्शित करता है और एक बार अमेरिकी टूरिस्ट बन जाता है। हैरी पॉटर एंड द गाब्लेट ऑफ फायर में बार्टी जूनियर नामक पात्र एक अन्य पात्र मैड-आई मूडी का रूप धारण कर लेता है। अमेरिका के 25 प्रतिशत आर्थिक अपराध आइडेन्टिटी फ्राड के अपराध हैं। इंपोस्टर्स तो इतिहास में हुए, कम्प्यूटर वाली समकालीन दुनिया में जिस पासवर्ड-प्रपंच को केविन मिट्निक ने 'सोशल इंजीनियरिंग' कहा, वह भी 'बहुरूप निशिचर' का ही एक रूप है। बादिर बंधुओं ने तो जन्मजात अंधे होते हुए भी 90 के दशक में रूप धारण की एक और बहुलता का प्रदर्शन किया जब इस्रायल में उन्होंने एक वृहद 'फोन और कम्प्यूटर फ्रॉड स्कीम' स्थापित की। यूजरनेम, क्रेडिट कार्ड आदि के मामलों में मछली फंसाने की संगणकयुगीन तकनीक को 'फिशिंग' (Phishing) कहा जाता है।

रामकथा यह कहती है कि सिर्फ आर्थिक अपराधों के नहीं, आतंक के फेसिलिटेटर के रूप में भी आइडेन्टिटी फ्राड काम आता है। राक्षस बहुरूप धारण करके ही आतंक फैलाने में सफल होते थे। स्वयं रावण भी विप्र साधु का भेष धरकर ही सीता का हरण कर पाता है। 'आइडेंटिटी फ्रॉड : अ क्रिटिकल नेशनल एंड ग्लोबल थ्रेट' नामक अध्ययन का प्रकाशन सन् 2003 में हुआ था। राक्षसों की छद्मवेशी विद्या उनके उद्देश्यों की सफलता के लिये अपरिहार्य है। वे उन्नत देशों की पहचान-प्रबंधन-प्रणालियों (आइडेन्टिटी मेनेजमेंट सिस्टम्स) को तरह-तरह के स्वांग रचकर भेद देते हैं। तुलसी इन्हें 'जूथ' कहते हैं, यानी किसी एक व्यक्ति की बात नहीं है, यह एक ग्रुप है जो इसे बहुत संगठित तरीके से कर रहा है। इसे तुलसी 'अतिबल' भी कहते हैं। लेकिन ये जूथ अतिबल एकवचन में नहीं हैं। ये बहुत है। ये लश्करे-तैयबा भी हैं, सिमी भी, इंडियन मुजाहिदीन भी, अबू

निदाल आर्गेनाइजेशन, अल-बद्र, अल-कायदा, अंसार-अल-इस्लाम, दीनदार अंजुमन भी, फतह-अल-इस्लाम, हूजी, हरकत-उल-जिहाद-उल-इस्लामी, हमास, हरकत-उल-मुजाहिदीन, हेज़बोल्लाह, तालिबान, हिज़ुबल मुज़ाहिदीन, जैश-ए-मोहम्मद, सिपह-ए-सहबा आदि आदि भी। ये अतिबल जूथ नष्ट भी उसी राम के हाथों होंगे जिनके पास विश्वामित्र के द्वारा दी गई अतिबला विधा है। वाल्मीक बालकांड के बाईसवें सर्ग में इसके बारे में बताते हैं- 'बला और अतिबला नाम से प्रसिद्ध इस मंत्र-समुदाय को ग्रहण करो। इसके प्रभाव से तुम्हें कभी थकावट का अनुभव नहीं होगा, ज्वर नहीं होगा, तुम्हारे रूप में किसी प्रकार का विकार या उलटफेर नहीं हो पायेगा।' **बहुरूप** निशिचरी का यह ठीक विपक्ष है। विश्वामित्र इन्हें देते हुए कहते हैं- 'मेरी तपस्या से परिपूर्ण होकर ये तुम्हारे लिये **बहुरूपिणी** होंगी- अनेक प्रकार के फल प्रदान करेंगी।' इसलिए राम न बहुरूप से हताश होंगे, न अतिबल से, न जूथ से-समूह से। लंका के राक्षसी आतंकवाद की खासियत यह है कि वह जहां 'आर्गेनाइजेशन' पर आधारित है वहीं वह 'नॉन-स्टेट एक्टर्स' का खेल नहीं है। इसे नेटवर्किंग की जरूरत पड़ती है, इसलिए ग्रुप इसे एक स्वाभाविक इकाई लगता है। अकेले तो जिंदगी में बेरोजगारी है, भटकन है लेकिन 'जूथ' में 'यूथ' (युवा) को एक तरह की बांडिंग मिलती है, दिशा मिलती है, आदर्श मिलता है, मान्यता मिलती है, पूरकता मिलती है, 'बिलांग' करने का अहसास मिलता है। ये आतंकवादी नेटवर्क स्ट्रक्चर्स पर काम करते हैं। वे संगठित अपराध-तंत्रों के सहयोग पर भी काफी हद तक निर्भर रहते हैं। यह 'अकेले भेड़िए का आतंकवाद' नहीं है। यह डेविड कोपलैंड[1] या बरूच गोल्डस्टीन[2] का आतंकवाद नहीं है। यह 'लीडरलेस टेररिज़्म' भी नहीं है, बल्कि यहां तो लीडरों का लीडर रावण बैठा हुआ है। 'अतिबल सैन' का मतलब ही यही है कि इसे सेना का सपोर्ट है। भारत के सैन्य प्रमुख दीपक कपूर ने 25 मार्च 2009 को इस संभावना से इंकार नहीं किया कि पाकिस्तानी सेना आतंकियों की मदद करती है। इसका प्रमाण उन्होंने 40 से 50 आतंकवादी शिविरों का ठीक नियंत्रण-रेखा के पास होकर सक्रिय होने में देखा जो बिना पाकिस्तानी सेना की मिलीभगत के संभव ही नहीं है। बार-बार पाक सेना आतंकियों को भारतीय सेना में घुसपैठ करने में मदद देने के लिए रणनीतिक कवर-फायरिंग करती है। पाक सेना ने कश्मीर में सक्रिय आतंकियों को सहायता देने के लिये एकाग्र एक संचार-संजाल की स्थापना पाक-अधिकृत कश्मीर में कर रखी है। पाकिस्तानी आर्मी रेंजर्स आतंकियों को प्रशिक्षित करते हैं। 26/11 के आतंकियों को पाक सेना द्वारा प्रशिक्षित किया गया है, ऐसी रपटें भी सामने आई हैं। इसलिए 'जूथ अतिबल सैन' इन तीन अभिव्यक्तियों में साहचर्य, अनुक्रम और संगति बैठती है। वाकई इन दुष्ट तंत्रों का वर्णन पूरा-पूरा करना संभव नहीं है। इसलिए हमारी तरह तुलसी भी विस्तार भय से यह उल्लेख यहीं रोकते हैं।

---

1. इसने अप्रैल 1999 में लंदन के काले, एशियन और 'गे' समुदायों पर बमबारी करने का 12 दिन का अभियान चलाया और 129 लोगों को घायल कर दिया। 3 को मार डाला।
2. इसने 25 फरवरी 1994 के दिन हे ब्रोन में अचानक गोलियां चलानी शुरू कर दीं। 29 लोग मारे गए। कम से कम 100 घायल हुए।

बन बाग उपबन वाटिका
सर कूप बापीं सोहहीं।
नर नाग सुर गंधर्व कन्या
रूप मुनि मन मोहहीं।
कहुँ माल देह बिसाल सैल
समान अतिबल गर्जहीं।
नाना अखारेन्ह भिरहिं बहुबिधि
एक एकन्ह तर्जहीं।

बन, बाग, उपवन, फुलवाड़ी, तालाब, कुएँ और बावड़ियां सुशोभित हैं। मनुष्य नाग, देवताओं और गन्धर्वों की कन्याएं अपने सौंदर्य से मुनियों के भी मनों को मोहे लेती हैं। कहीं पर्वत के समान विशाल देह वाले बड़े ही बलवान, मल्ल (पहलवान) गरज रहे हैं, वे अनेकों अखाड़ों में बहुत प्रकार से भिड़ते और एक दूसरे को ललकारते हैं।

तुलसी हरियाली और जल के न केवल अन्तः संबंधों को इस पंक्ति में उजागर करते हैं बल्कि उन दोनों की अपनी-अपनी विविधता को भी। वे न केवल प्रकृति की हरीतिमा के अलग-अलग रूपों को सामने लाते हैं, बल्कि पृथ्वी के जीवनाधार जल के भी विभिन्न संधारकों की उपस्थिति को रेखांकित करते हैं। इन अलग-अलग तरह की हरियाली के जरिए वे बहुत प्रकार के उद्यानों का इम्प्रेशन पाठक के मन पर अंकित करना चाहते हैं। उद्यान होते भी कई प्रकार के हैं : बोन्साई गार्डन, अल्पाइन गार्डन, नर्सरी, ग्रीनहाउस, बाल उद्यान, आंग्ल लैंडस्केप गार्डन, फ्रेंच फार्मल गार्डन, मुगल गार्डन, कम्युनिटी गार्डन, कॉटेज कार्डन, ओर्चर्ड, प्लांटेशन, रूफ गार्डन, बटरफ्लाई गार्डन, झेन गार्डन तरह-तरह के। हनुमान को चार तरह की हरियालियाँ दिखाई पड़ते हैं : वन (फारेस्ट), बाग (पार्क), उपवन (गार्डन) और वाटिका (फ्लावर गार्डन)। लंका नगर में वन का मतलब है कि लंका में अर्बन फारेस्ट्री का प्रचलन है। हम देख चुके हैं कि लंका में आवासीय घनत्व कितना ज्यादा है। ऐसे में शहरी वेजीटेशन के विविध प्रकारों की उपलब्धता महत्वपूर्ण है। शहर की हरित स्पेस 'सुंदरायतना घना' के बावजूद बची रह गई है, यह महत्वपूर्ण है। 'बन' प्रकृति की कला है। बाग-उपवन-बाटिका मनुष्य की। एक स्वाभाविक है, दूसरे प्रसाधित। सहज और अलंकृत के बीच 1:3 का अनुपात है। वन अर्बन फारेस्ट के अलावा अर्बन वाइल्ड्स भी हो सकते हैं, जिन्हें आजकल 'पैसिव पार्क' (निष्क्रिय बगीचा) कहा जाता है। बाग शहरी पार्क हैं जिनका अभिकल्पन, संचालन और संधारण शहर के नियामकों के द्वारा होता है। सरकारें या निजी क्षेत्र के लोग कुछ जमीनों को 'प्रमोद-स्थली' (Pleasure grounds) के रूप में निर्धारित कर देते हैं जहां शहरी लोग 'घने घरों' के बीच प्रकृति के मरुद्यान का आनंद लेते हैं। न्यूयार्क सिटी का सेंट्रल पार्क देखिए। गगनचुंबी अट्टालिकाओं से घिरा हुआ है। फिर आजकल प्रतिवेश-पार्क (नेबरहुड पार्क) की एक नयी अवधारणा चली है जिसके तहत कॉलोनी में ही एक छोटा-सा पार्क बना दिया जाता है- एक तरह का पॉकेट पार्क जिसमें कुछ हरियाली होती है, आउटडोर्स सिटिंग है, बच्चों के खेलने के लिए झूले आदि रहते हैं। पड़ोसी-पार्कों के अलावा बड़े राष्ट्रीय पार्क होते हैं। लंका में विलपट्टू नेशनल पार्क है जो 1, 31,667 हेक्टेयर में फैला हुआ है। याता नेशनल पार्क 97880 हेक्टेयर में है। लेकिन नेशनल पार्क प्रायः वन की श्रेणी में आते हैं, न कि उद्यान की। याता पार्क में जंगल है, 'बीच' है, नदी है, एशियाई हाथी है, जंगली सुअर है, जल गाय है, भूरे लंगूर हैं। संसार में सबसे ज्यादा तेंदुए इसी नेशनल पार्क में है। विलपट्टू का अर्थ है झीलों की भूमि और श्रीलंका के इस सबसे बड़े पार्क में प्राकृतिक झीलों की बहुतायत है। यह बहुत पुराना क्षेत्र रहा है। 543 ई.पू. राजकुमार विजय ने यहीं कुवेनी से शादी की थी। ये 'नेशनल पार्क' वन की श्रेणी में आते हैं, जबकि शहरी पार्क बाग की। लंका में दोनों हैं। इसके अलावा उपवन अलग हैं। पुराणों में 24 तरह के उपवन हैं। वे तो छोटे-छोटे कुसुमाकर हैं- क्रीड़ा कानन। वे गृहोपवन के रूप में घर पर भी हो सकते हैं और पब्लिक गार्डन के रूप में सार्वजनिक भी। राबर्ट हार्ट ने एक एकड़ के आठवें भाग में घर के बाड़े में फारेस्ट गार्डनिंग की थी। उपवन मनुष्य-निर्मित हैं। वे किसी महारण्य की तरह ईश्वर की कृति नहीं होते। लेकिन वे शहरी मनुष्य की ओर से एक तरह की प्रतिपूर्ति हैं। श्रीलंका में पेराडेनिया में रॉयल बॉटेनिकल गार्डन्स है। सन् 1371 से इसका इतिहास मिलता है। डॉ. हेनरी त्रिमेन ने यहां 'म्युजियम ऑफ इकॉनोमिक बॉटनी' स्थापित किया था। श्रीलंका में नुबारा एलिया शहर से 10 कि.मी. हाकगाला बॉटेनिकल गार्डन है। इसे किंवदंतियों में रावण का प्रमोद-उद्यान बताया गया है। यहीं अशोक वाटिका भी बताई जाती है जहां रावण ने सीता को रखा था। वाटिका एक तरह का गुलशन है, फुलवारी, एक निकुंज, एक लता मंडप, एक गुलिस्तां, एक बाड़ी। वन बिना लगाए उपजता है- 'फूलहि फरहि/सदा तरु कानन/रहहिं एक संग गज पंचानन'। बाग के लिये कहा गया है- 'भूप बागु बर देखेउ जाई/जहँ बसंत

रितु रही लोभाई/लागे बिटप मनोहर नाना/ बरन-बरन बर बेलि बिताना' : उपवन के लिये वर्णन कुछ यों हैं : सुंदर उपवन देखन गये/सब तरु कुसुमित पल्लव नये। वाटिका तो फुलवारी है ही : 'सुमन वाटिका सबहि लगाई/विविध भांति करि जतन बनाई/लता ललित बहु भांति सुहाई/फूलहिं सदा बसंत की नाई।' एक दूरारूढ़ कल्पना यह है कि वाटिका फूलती है, बाग फलता है और वन पल्लवित होता है- सुमन वाटिका बाग वन बिपुल बिहंग निवास/फूलत फलत सुपल्लवित सोहत पुर चहुँ पास।

यह वर्णन आश्चर्य की बात है। संभवतः रावण की कृतघ्नता को उजागर करने के लिए ऐसा वर्णन हो। इतनी सब हरियाली है, धरती रावण को इतना देती है और फिर भी वह धरती पर इतना अत्याचार करता है। डगलस विलियम जेरोल्ड के शब्द याद करूं कि Earth is here is so kind, that just tickle her with a hoe, and she laughs with a harvest. धरती की इस कृपालुता के ठीक सामने- ठीक प्रतिध्रुव में रावण की क्रूरता है जिससे धरती दारुण दुख झेल रही है। बालकांड में तुलसी धरती की इस दुरावस्था के बारे में कहते हैं : अतिसय देखि धरम कै ग्लानी/परम सभीत धरा अकुलानी/गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही/जस मोहि गरुअ एक परद्रोही। राबर्ट हार्बिसन ने Eccentric paces में लिखा है : Gardens always mean something else, man absolutely uses to say another. उपवनों का हमेशा कुछ और ही मतलब होता है, आदमी उसके माध्यम से कुछ और ही कहता है। रावण के साथ भी यही है। वह वाटिकाओं को प्रिज़न की तरह इस्तेमाल करता है। अशोक वाटिका सीता की कैद है। यही चीज उसके पतन का कारण बनती है। ईडन के बगीचे को आदिम प्रिज़न के रूप में देखने के साथ पतन की शुरूआत हुई थी। रूडयार्ड किपलिंग का कहना था- 'ग्लोरी ऑफ द गॉर्डन' नामक कविता में- कि Oh, Adam was a gardener, and God who made him sees/That half a proper gardner's work is done upon his knees. लेकिन रावण तो घुटनों पर नहीं झुकता। वह तो पूरी सृष्टि को अपने सामने घुटनों पर झुका देखना चाहता है। उद्यानों की हरीतिमा से भी 'हरि' के बारे में वह कुछ नहीं सीखता। बैरोकयुगीन उद्यानों की तरह, लगता है, उसके उद्यान भी कृत्रिमता, औपचारिकता और दिखावेपन (ostentation) के लिये थे। जॉन ब्रिंकेरहॉफ जैक्सन (The Necessity for Ruins) में लिखते हैं : The 17th Century garden was designed as a spectacle- a spectacle not of natural beauties or of a collection of rare objects, but of spatial harmony and order. The 17th century garden was essentially an artificial environment designed to give form and place and visibility to the actions of a particular group of people. रावण के उद्यान भी, लगता है, एक सुहाने वाले स्पेक्टेकल- या दृश्य थे। वे एक कृत्रिम वातावरण के 'उत्पाद थे।' रावण के द्वारा अशोक वाटिका का इस्तेमाल सीता को 'इन्डीसेंट प्रपोज़ल' देने में करते देखकर क्या बरबस सैम लीवलीन (Sam Liewelyn) के उस कथन की याद नहीं आती कि In garden, beauty is a by-product. The main business is sex and death. 'उद्यान में, सौंदर्य एक सह-उत्पाद है। उद्यान का मुख्य व्यापार सेक्स और मृत्यु है।' रावण यहां सीता को प्रथम उद्देश्य (की कभी भी पूरी न हो सकने वाली कामना) के लिये रखा हुआ है। वह उन्हें मृत्यु की धमकी और धौंस भी देते रहता है, हालांकि मृत्यु तो हनुमान के अशोकवाटिका पहुंचने पर अक्षयकुमार सहित बहुत से राक्षसों की होनी ही है।

इस हरियाली के पीछे सर, कूप, वापी की आकर्षक उपस्थिति है। सर से आशय सरोवरों और जलाशयों से है। लगता है लंका में उस समय भी 'सर' बहुत संख्या में होते थे। सर हेनरी वार्ड ने जो श्रीलंका के गवर्नर थे और 1934 में जिन्होंने "कलेक्टेड मिनट्स ऑफ ब्रोहिअर" नामक पुस्तक में लिखा :- It is possible that in no

other part of the world are there to be found within the same space, the remains of so many works of irrigation, which are at the same time, of such great antiquity, and of such vast magnitude as Ceylon. Probably no other country can exhibit works so numerous, and at the same time so ancient and extensive, within the same limited area, as this island. (दुनिया के किसी भी दूसरे हिस्से इतनी कम जगह इतनी प्राचीनता और इतनी विशालता के सिंचाई के इतने सारे निर्माण कार्य नहीं मिलते जितने श्रीलंका में। संभवतः कोई अन्य देश इतनी ज्यादा संख्या में इतने पुरातन और विस्तृत निर्माण कार्य सिंचाई के क्षेत्र में नहीं दिखा सकता जितने इस द्वीप के सीमित क्षेत्रफल में दीख पड़ते हैं।) जलाशयों को सिंहली में 'बेवा' कहते हैं। पांडुवेवा, अभयवेवा जैसे 44 बड़े प्राचीन 'सर' लंका में थे। 'आज भी खरे हैं तालाब' पुस्तक में अनुपम मिश्र लिखते हैं कि - 'सागर, सरोवर और सर नाम चारों तरफ मिलेंगे। सरोवर कहीं सरवर भी है। सर संस्कृत शब्द सरस से बना है और गांव में इसका रस सैकड़ों बरसों से सर के रूप में मिल रहा है।' वे आगे बताते हैं, 'बीकानेर जिले की बीकानेर तहसील में 64, कोलायत तहसील में 20 और नोखा क्षेत्र में 123 गांवों के नाम 'सर' पर आधारित है।' एक तहसील लूणकरणसर के नाम में ही सर और यहां अन्य 45 गांवों का नामकरण सर पर है। दो-चार गांव ऐसे भी हैं जिनके नाम में सर है लेकिन वहां सरोवर नहीं है। गांव में सरोवर बन जाए ऐसी इच्छा नामकरण के समय रहती ही थी, ठीक उसी तरह जैसे बेटे का नाम राजकुमार, बेटी का नाम पार्वती आदि रखते समय माता-पिता अपनी संतानों के इनके गुणों की कामना कर लेते हैं। लंका में तो 'सर' की बहुलता है। मैं दशानन के दस सर की बात व्यंग्य में भी नहीं कर रहा हूं। यह पता नहीं है कि ये जलाशय प्राकृतिक थे या मनुष्य-निर्मित। वैसे दुनिया के ज्यादातर प्राकृतिक जलाशय उत्तरी गोलार्द्ध हैं। दुनिया की साठ प्रतिशत झीलें कनाडा में हैं। फिनलैंड को तो 'हजार झीलों की जगह' कहा ही जाता है। फिनलैंड में 1,87,888 झील हैं जिसमें से 60,000 बड़ी हैं। मिनेसोटा राज्य (सं.रा. अमेरिका) को 'दस हजार झीलों की स्थली' कहते हैं और कनाडा का मनीटोबा प्रांत एक लाख झील अपने यहां होने का दावा करता है। कई झील कृत्रिम भी होती हैं जो मुख्यतः जल-विद्युत के प्रयोजनों से बनाई जाती हैं। श्रीलंका के उत्तरी गोलार्द्ध में न होने से यहां प्राकृतिक जलाशय बहुत अधिक संख्या में होने की आशा तो नहीं की जा सकती। अब कोलंबो शहर के ठीक बीच में बेथरा झील है। यह निर्मित झील है। कोलंबो की दियावान्ना ओया (संसद-झील) भी बहुत सुंदर है। नई संसद इसी के एक द्वीप पर बनाई गई है। लंका में हनुमान कुंओं की शोभा भी देखते हैं। कुंओं के द्वारा भूमिगत जल का दोहन किया जाता है। कुंओं की शोभा से कहीं एक अर्थ कुंओं के अलंकरण से भी होगा। पश्चिमी उक्रेन में कुंओं को बहुत अलंकृत किया जाता है। जिस तरह से भारतीय संस्कृति में पनघट सामाजिकता और सामुदायिकता के संघनन का केंद्र रहा, उसी तरह से पश्चिमी उक्रेन में कुएं सामाजिक स्थल हैं और बहुत सी सामाजिक परंपराएं तथा संक्रियाएं कुंओं के इर्द-गिर्द ही घटती है। वेल्श में कुंओं के द्वारा स्वास्थ्य-लाभ की लोककथाएं चलती हैं। पश्चिमी दुनिया में एक विश्वास कुंओं में मनौती मानने का भी चलता है। वेल्स जैसे कुछ नगर कुंओं के नाम पर ही बसे। इसके अलावा हनुमान लंका में सुंदर बावड़ियां भी देखते हैं। ये बावड़ियां शोभा देती हैं। इसका अर्थ यह भी है कि बावड़ियों का अस्तित्व सिर्फ उपयोगितावादी दृष्टि से नहीं था, बल्कि उनकी ईस्थेटिक्स पर भी ध्यान दिया जाता था। मोरक्को की अलजदीदा बावड़ी हो या इस्तंबूल की येरेबतान बावड़ी या बेसिलिका बावड़ी या पुर्तगाल के सिल्वेस की बावड़ी, सभी दिखने में बहुत सुंदर हैं। इस्तंबुल तो जैसे बावड़ियों का ही नगर है। भारत में प्राचीन काल से ही सुंदर बावड़ियां बनाने की परंपरा चली आई। लंका में प्रकृति की शोभा, इस तरह से

बिखरी पड़ी है। हरियाली और जल दोनों इस शोभा का प्रत्यक्षीकरण हैं। प्रकृति के इस औदार्य का प्रतिदान रावण क्या देता है? वह तो 'रवि ससि पवन बरुन धनधारी' सबके पीछे हठपूर्वक पड़ गया- 'हठि सब ही के पंथहिं लागा'। इसे ही राक्षसत्व कहते हैं।

अगली पंक्ति लंका में स्त्री की उपस्थिति के बारे में है और उसमें खास बात यह है कि राक्षसों के द्वीप में राक्षसनियों का कोई उल्लेख नहीं है। ऐसा क्यों किया गया है? यह चीज शक पैदा करती है। जिनका उल्लेख है, वे सब लंका में बाहर से लायी गई हैं। इसके क्या आशय हैं? क्या लंका में कन्याओं का इस्तेमाल उनके व्यामोह से लोगों को तपभ्रष्ट करने में होता था? क्या वहां विभिन्न कोटियों की लड़कियां श्रेष्ठ प्रकृति के पुरुषों को भरमाने में खपाई जाती थीं? स्थविरों का स्थैर्य भंग करने में? क्या राक्षसी संस्कृति अपने प्रयोजनों के 'साफ्ट सेल' में उन्हें व्यवहृत करती थी? यह तो स्पष्ट है कि राक्षसों का घोषित ध्येय है मुनियों के काम में बिगाड़ करना। वे इसके लिए उनके यज्ञ में विध्वंस करेंगे, वे जप, योग, वैराग्य, तप सबका नाश करेंगे। तुलसी ने बालकांड में कहा: 'जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनइ दससीसा। आपुनु उठि धावइ रहै न पावइ धरि सब घालइ खीसा' (जप, योग, वैराग्य, तप यज्ञ में (देवताओं के) भाग पाने की बात रावण कहीं कानों से सुन पाता तो उसी समय स्वयं उठ दौड़ता। कुछ भी रहने नहीं पाता, वह सबको पकड़कर विध्वंस कर डालता। तुलसी कहते हैं कि उनका काम कुल मिलाकर यह था : "जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला।" तो ऐसे में आश्चर्य नहीं कि लंका के राक्षस सेक्स और सिडक्शन को भी अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिए इस्तेमाल करते हैं। स्वयं आतंकी राक्षसों का एक बड़ा संबंध सेक्स और सिडक्शन से है। 9/11 के आरोपी मुहम्मद अट्टा और उसके साथी प्रायः नाइटक्लबों और बारों में जाते थे। 9/11 के एक दिन पहले अट्टा ने रात एक क्लब में पीते और वूमेनाइजिंग करते हुए गुजारी थी। निशाचरों के लिये नाइट क्लब बहुत युक्तिसंगत लगते हैं। ओमय्यद खलीफाओं में से यजीद (680-684 ई. तक की खिलाफत) पियक्कड़ और लंपट दोनों था। फिलिस्तीनी आतंकवादी युवा, टीन-एज इस्रायली लड़कियों का बलात्कार करते हैं। बलात्कार उनके लिये आतंक का ही एक अस्त्र है। यह अस्त्र फिलिस्तीनी लड़कियों पर भी आजमाया जाता है। बलात्कार के बाद 'ऑनर किलिंग' की बात आती है। परिवार का सम्मान बचाने के लिये बलात्कृता लड़कियों के 'स्युसाइड टेररिस्ट' बनने के उदाहरण भी सामने आये हैं। ईराक में समीरा जैसम नामक एक 51 वर्षीय महिला को पुलिस ने गिरफ्तार किया जिसने 80 महिला आत्मघाती बांबर्स तैयार किये थे। उसकी कार्य पद्धति यह थी कि वह पहले उनका बलात्कार करवाती थी और फिर उन्हें कन्विंस करती थी कि वे शर्म को शहादत में बदल दें, कि फिदाईन होना ही उद्धार (redemption) का मार्ग है। अल्जीरिया में पुरुष आत्मघाती आतंकवादियों के रिक्रूटमेंट के लिये भी बलात्कार की तकनीक को सफलतापूर्वक आजमाया गया। डॉ. अनत बर्को, जिन्होंने 'द पाथ टु पैराडाइज़, द इनर वर्ल्ड ऑफ स्युसाइड बांबर्स एंड देअर डिस्पैचेस' जैसी पुस्तक लिखी, काफी अध्ययन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचीं कि There is always a woman behind the female suicide bomber, who functions like a pimp or a Madam in a brothel. स्त्री आत्मघाती बांबर के पीछे हमेशा एक औरत होती है जो किसी वेश्यालय में एक दलाल या एक 'मादाम' की तरह काम करती है। एक अल्जीरियन आतंकवादी अबू बशीर अल आसिमी ने 'द सन' में इस बात की पुष्टि की The sexual act on young recruits aged between 16 to 19 was a means to urge them to commit suicide operations ...... intense social stigma and fear of more gay sex attacks leaves them prepared to die. अल्जीरिया में तिजी औजाऊ प्रांत में मारे गये कुछ युवा आतंकवादियों के शव परीक्षण से भी यह सिद्ध हुआ कि वे यौन दुराचार

के शिकार हुये थे।

लेस्टर ए सोबेल ने 'राजनीतिक आतंकवाद' शीर्षक से एक पुस्तक लिखी है जिसमें कहा गया है कि Biographical materials of same reliability hint at a strong connection between sex and terrorism that is worthy of the closest study. राक्षस राज रावण के राज में अपहृता और बलात्कृता स्त्रियों की भरमार थी। रावण-संहिता में इसका विस्तृत उल्लेख मिलता है : 'निवर्तमानः संहृष्टो रावणः स दुरात्मवान/जह्ने पथि नरेन्द्रर्षिदेवदानव कन्यकाः' उसने (रावण ने) रास्ते में मनुष्यों, ऋषियों, दानवों और देवताओं की कन्याओं का जबर्दस्ती अपहरण कर लिया। तुलसी के 'नर नाग सुर गंधर्व कन्या रूप मुनि मन मोहहिं' में क्या यही कन्याएं हैं? क्या रावण ने निरन्तर अत्याचार के जरिए उनकी अनुगामिता (compliance) हासिल कर ली है? क्या बलात्कार को उसने भी पालतू बनाने के उपकरण (instrument of domestication) की तरह इस्तेमाल किया है? क्या अब लंका में अपहृत कर लाई गई मनुष्यों, नागों, देवताओं और गंधर्वों की कन्याएं वही करती हैं जो यह राक्षस करवाना चाहता है? अपने रूपजाल से मुनियों के मन को भ्रष्ट करना? क्या इस रावण ने उन कन्याओं के मनोबल को इतना तोड़ दिया है कि वे पालतू फरमाबरदार आत्मा (docile deferential soul) ही रह गई हैं? रावण संहिता को पुनः उद्धृत करूं तो 'नाग गंधर्व कन्याश्च महर्षि तन्याश्च याः/दैत्य दानव कन्याश्च विमाने शतशोडरूदन्' कि गंधर्व, नागों, महर्षि, दानवों, दैत्यों और देवताओं की सैकड़ों कन्याएं विमान में बैठी रो रही थीं। इसी में उसके बलात्कार का भी उल्लेख है। इदं त्वसदृशं कर्म परदाराभिमर्शनम्/यस्मादेष परक्यासु रमते राक्षसाधमः- परन्तु यह जो परस्त्रियों के साथ बलात्कार कर रहा है, यह दुष्कर्म इसके योग्य नहीं है। यह अधम राक्षस परस्त्रियों के साथ रमण करता है। रावण के बलात्कार के बारे में अन्यत्र कहा गया है : 'कामभोगाभिसंरक्तो मैथुनायोपचक्रमे।' 'अरण्यकांड में 47वें सर्ग में स्वयं रावण अपने मुख से कहता है कि : मैं इधर उधर से बहुत सी सुंदरी स्त्रियों को हर लाया हूं। सुंदरकांड में बीसवें सर्ग में फिर उसकी स्वीकारोक्ति है कि "परायी स्त्रियों के पास जाना अथवा बलात् उन्हें हर लाना यह राक्षसों का सदा ही अपना धर्म रहा है, इसमें संदेह नहीं।" रावण के द्वारा इनका अपहरण मानस में बालकांड की इन पंक्तियों में भी व्यक्त हुआ है :- देव यक्ष गंधर्व नर किन्नर नाग कुमारि/जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदरि बर नारि।। (182 (ख))

राक्षसराज रावण की लंका में आकर अन्ततः न केवल उनके मनोरथ का नाश होता है बल्कि धीरे-धीरे वे भी पतन के उसी पथ पर चल पड़ती हैं। यह ध्यान देने की बात है कि तुलसी ने रावण संहिता की तरह दानवों/दैत्यों की कन्याओं का उल्लेख नहीं किया। उन्होंने राक्षस-कन्याओं का भी उल्लेख नहीं किया। तुलसी इसी एक अनुल्लेख से अपहृता कन्याओं की ओर इशारा कर देते हैं और उन्हें सेंसुअल फैंटेसी- "मोहहि"- उत्तेजित करने के काम में झोंक देने का संकेत देते हैं। इन युवतियों को सेड्यूस करने के काम में लगाया हुआ है। उन्हें रूपाजीवा बना दिया गया है। 'रूप मुनि-मन मोहहीं' में सिर्फ रूप की बात नहीं है, मोह की बात भी है। मोह में छल है, प्रवंचना है, भ्रम है। मुनि भी इनके 'स्पैल' में आ जाएं, ऐसा रूप। मुनि-मन भी यहां 'सरेंडर' कर दे। क्या नवारे की मार्गराइट यही नहीं कहती - No man hath it is his power to over - rule the deceitfulness of a woman. कि औरत की छलना की अवज्ञा करने की शक्ति किसी पुरुष के पास नहीं। जैसे राक्षस माया पैदा करते हैं, वैसे ही ये कन्याएं मोह पैदा करती हैं। तपःपूत मन तक में। नताली बार्नी यही तो कहती थी : Most virtue is a demand for greater seduction. कि ज्यादा 'मुनिमन', ज्यादा लुब्धन। ध्यान दें कि तुलसी 'कन्या' शब्द का इस्तेमाल करते हैं, स्त्री शब्द का नहीं। सामान्यतः स्त्री शब्द की बड़ी कोटि में कन्या भी निहित हो जाती लेकिन तुलसी 'कन्या' नामक उप-विभाजन का विशेषोल्लेख करते हैं।

आतंकवादी समाज में कन्याओं की स्थिति यह है जहां उनकी अबोधता (School girl innocence) और वल्नरेबिलिटी का इस्तेमाल शत्रु पक्ष को सेड्यूस करने में होता है। वे आतंक की 'शिकार' (Victim) हैं और उसकी सहयोगी भी। संभवतः उन्हें एक तरह की यौन-दासता में लगा दिया गया है। मुनियों की अवदमित सेक्सुअलिटी के लिए क्या वे एक तरह के चारे की तरह प्रयुक्त हो रही हैं? नाम और रूप के महत्व पर दार्शनिक चर्चा और शास्त्रार्थ में व्यस्त रहने वाले ऋषियों पर कन्या रूप की वशिमा? इस विषय से उस 'विषय' तक? रूपसियों के रूप-माधुर्य में सन्यस्त को व्यस्त कर देने की चाल? एक तरफ बहुरूप, दूसरी ओर रूप। दोनों से एक ही मतलब साधने की कोशिश? वह भी कन्या-रूप! ब्लूम ऑफ यूथ का निवेश? आजकल के आतंकी क्या कमसिन उमर की लड़कियों को इसी तरह नहीं खरचते?

यह देखना दिलचस्प है कि नर नाग सुर गंधर्व कन्या भी लंका में नहीं होतीं और मुनि भी वहां नहीं होते। कन्याओं का तो अपहरण कर लंका ले आए जाने का जिक्र जगह-जगह है, लेकिन मुनियों-ऋषियों-साधु-सन्यासियों को लंका लाए जाने की चर्चा एकदम नहीं है। राक्षसी संस्कृति ब्रेन गेन में थोड़े ही यकीन रखती है। वह तो आग लगाने और सब कुछ भस्म कर देने में भरोसा रखती है। जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं/नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं। आग लगाने के लिए विस्फोट करते होंगे। इसलिए मुनियों को लंका में लाए जाने की संभावना शून्य है। फिर ये मुनियों को व्यामोह में कहां डालती होंगी? या फिर यह एक विभव, एक पोटेन्शियलिटी को बताने वाली बात है, लेकिन 'मोहहीं' क्रिया तो वर्तमानकालिक है कि ऐसी वशिमा की क्षमता वाली कुमारिकाएं यहां हैं। पाणिनी के 'भूते भविष्यति च वर्तमानबद्धा' और 'वर्तमान सामीप्ये वर्तमानबद्धा' इस सूत्र के अनुसार वर्तमानकालिक क्रिया भूत और भविष्य के अर्थ में भी काम आती है। लेकिन यदि यह एक भावी-संभावी क्षमता की भी बात है तो वह भी क्या संकेत करती है? मुनियों को विभ्रमित करने की कुव्वत के पीछे आशय क्या है? यदि वे मुनियों को व्यामोह में डालती हैं और मुनि यदि लंका में हैं नहीं, तो इसका अर्थ यही है कि इन कन्याओं को लंका के बाहर इन उद्देश्यों के लिए ले जाया जा रहा है। यानी कहीं एक ट्रेफिकिंग है लड़कियों की। जैसे हमारे आधुनिक समय में चीनी और जापानी लड़कियों का 'पीला दास-परिवहन' होता है, या नेपाली लड़कियों को यौन-यातायात में भेजा जाता है, या 'श्वेत-दासता' का वह सिंड्रोम जिसमें अंतर्राष्ट्रीय अपराधी समूह यूरोप से लड़कियों का अपहरण कर उन्हें शिकागो के वैश्यालयों में बेचते हैं, भारत में गांवों-शहरों से अपहृत लड़कियों का परिवहन कर उन्हें न केवल महानगरों में बल्कि शेखों की सेवा में पहुंचा दिया जाता है। यही राक्षसत्व है। यहां लंका में भी अपहृत लड़कियों की ट्रेफिकिंग है। फर्क सिर्फ इतना है कि यह लंका राज्य के रणनीतिक दूरगामी लक्ष्य को साधने के लिए एक विशेष आयाम में है। जापानी सेना के लिए द्वितीय विश्वयुद्ध में लगभग दो लाख लड़कियों को 'कंफर्ट वी मैन' के रूप में सैन्य वैश्यालयों में उतारा गया था। इनमें से कई लड़कियां जापान, कोरिया के अलावा, चीन, फिलीपीन्स, थाईलैंड, वियतनाम, मलेशिया, ताइवान, इंडोनेशिया, बर्मा, मकाऊ, न्यूगिनी जैसी जगहों से अपहृत कर लाई गई थीं। नर-नाग-सुर-गंधर्व कन्या में जो वैविध्य है, वह भी कुछ ऐसा ही है। लंका जैसा कि हम देख चुके हैं कि एक सैन्य राज्य है, वहां भी लड़कियों का अपहरण कर उन्हें लंका के स्टेट आब्जेक्टिव्स के लिए नियोजित कर दिया जाता होगा। 1998 की संयुक्त राष्ट्र रिपोर्ट में लड़कियों के अपहरण और दुर्नियोजन की इस जापानी 'कंफर्ट वीमेन स्कीम' को तत्कालीन जापानी सरकार के द्वारा मानवता के विरुद्ध किया गया अपराध बताया था और यहां राक्षसराज रावण भी जो कर रहा है, वह सृष्टि के विरुद्ध अपराध है, जापानी सेना के अपराध से भी ज्यादा वृहद (कांप्रेहेंसिव) है क्योंकि वह सिर्फ मनुष्यों के खिलाफ नहीं है, देवताओं के भी खिलाफ है, नागों और गंधर्वों के भी खिलाफ है।

अगली पंक्ति इस बारे में है कि कहीं पर्वत के समान विशाल शरीर वाले बड़े ही बलवान मल्ल गरज रहे हैं। 'देह बिसाल सैल समान' को अभी कुछ समय बाद 'कनक भूधराकार सरीरा' से मिलना है। 'अतिबल' से 'अतिबला' विद्या प्राप्त राम निपटेंगे। 'देह बिसाल सैल समान' पहलवान राक्षसों के साथ दिक्कत ये ही है कि वे गर्जना करते रहते हैं। 'कनक भूधराकार सरीरा' की विशेषता यही है कि वे प्रायः चुप्पी मारकर बैठे रहते हैं- 'का चुप साधि रहेहु बलवाना'। हां, जब उन्हें ठीक तरह से प्रेरित किया जाए तब वे गर्जन तो क्या, सिंहनाद भी कर सकते हैं। 'सिंहनाद करि बारहिं बारा।' इन 'देह बिसाल सैल समान' के समक्ष थोड़े समय में ही 'देह बिसाल परम हरुआई' सामने आने वाले हैं। ये होंगे पर्वत के समान विशालकाय, लेकिन हैं जड़। उनमें वो 'परम स्फूर्ति' नहीं है, जो हनुमान के पास है। वे हनुमान जो 'सैल बिसाल देखि एकक आगें/ता पर धाइ चढ़उ भय त्यागें' का उत्साह और शक्ति रखते हैं, उनके सामने ये 'देह बिसाल सैल समान' कर ही क्या लेंगे। वे तो गर्जना-तर्जना ज्यादा करते रहते हैं, लेकिन शायद यह कुछ वैसा ही है जैसा 'थोथा चना बाजे घना' कहावत में इंगित किया गया है। जब दुर्गा सप्तशती के मध्यम चरित्र में महिषासुर भी इसी तरह से कुछ ज्यादा ही गरजने लगता है तो दुर्गा यही कहती हैं : 'गर्ज-गर्ज क्षण मूढ़ मधु यावत्पिबाम्यहम्/मया त्वयि हतेऽत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु।' कि हे मूर्ख तू क्षण भर के लिये भले ही गर्जना कर ले किन्तु तेरे मृत्यु को प्राप्त होने पर शीघ्र ही देवता भी गर्जन करेंगे।

क्या राक्षसों की यह गर्जना 'हाइपरबोल' की प्रतीक हैं? क्या इन गर्जनाओं से आतंकियों के (बिन लादेन हों या जवाहिरी या उमर) टेपों की याद आती है जिनमें वे जब तब धमकियां जारी करते रहते हैं? क्या यह गर्जना इनकी शेखी की प्रतीक हैं? इस पंक्ति में तो यह भी स्पष्ट नहीं है कि यह गर्जना की किसके विरुद्ध जा रही है। राक्षसी स्वभाव को तो यह जरूरी भी नहीं। वह तो शत्रु-भाव में ही जिन्दा रहता है। यदि शत्रु नहीं भी होंगे तो भी वह उन्हें खोज लेगा। यदि शत्रु नहीं भी होंगे तो भी वह उन्हें 'आविष्कृत' (invent) कर लेगा। वह लगातार चुनौतियां देता रहेगा। वह लगातार डंके की चोट पर पूरी निर्लज्जता के साथ अपनी राक्षसी प्रकृति का प्रदर्शन करता रहेगा। वह अपने 'अतिबल' के अभिमान में गर्जता है। याद करें कि महिषासुर भी बल और पराक्रम के मद से उन्मत्त होकर गर्जने लगता है- ननर्द चासुरः सोऽपि बलवीर्यमदोद्धतः- इधर इनकी देह पर्वत के समान है, उधर वह महिषासुर देवी के ऊपर पर्वतों को फेंकता है- चिक्षेप चण्डिकां प्रतिभूधरान्- वह पहलवानी मानसिकता है जहां गर्जना, युद्ध, द्वन्द्व, संघर्ष के ही 'स्पोर्ट' हैं। वहां 'गेम' का अर्थ ही 'शिकार करना' है। बल इकट्ठा कर लिया है तो अब दुनिया भर को जताना भी है। गर्जने के इस प्रमाद का सामना जल्द ही 'केहरिनाद' से होगा। 'गर्जहि' का यह राक्षसी घोष अनुत्तरित नहीं रह जाएगा। इसका प्रत्युत्तर 'गर्जहि भालु महाबल कीसा' से आयेगा। 'वे' कटकटहिं मर्कट विकट भट' एकत्र होंगे। उनके बारे में दूत आकर रावण को समाचार देंगे : 'गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका/मानहुँ ग्रसन चहत हहिं लंका'। लेकिन इन सबसे लापरवाह राक्षस मल्ल फिलहाल तो गर्जना कर ही रहे हैं।

मल्ल भी 'देह' की साधना करते हैं, ऊपर सुंदरियां भी 'देह' की, रूप की ही प्रतिमान है। लंका में 'मन' को साधने वाले साधक नहीं हैं। इन कन्याओं और मल्लों का उल्लेख जितना मिलता है, उतना ही हमारा ध्यान कहीं इस ओर आकृष्ट होता है कि तन की साधना लंका में ज्यादा है, मन की साधना अनुल्लिखित है। वहां ऋषि नहीं हैं, अवधूत नहीं हैं, निरस्तराग नहीं हैं। इसलिए लंका सीता की एकदम एंटीथीसिस है। सीता तो विदेह के नगर से आई हैं। वैदेही हैं और यहां तो देहाभिमानियों की गर्जना है। सीता तो गतसंग और निवृत्तात्मा विदेहराज की जीन्स रखती हैं और लंका अनुषंग और संसक्ति, व्यसन और कषाय की नगरी है। इसी कारण वाल्मीकि रामायण में सीता रावण को पहले पहल यही कहती हैं कि "क्योंकि मैं एक महान कुल में उत्पन्न हुई हूं और

ब्याह करके एक पवित्र कुल में आई हूं।' रावण से ऐसा कहकर यशस्विनी विदेह राजकुमारी ने उसकी ओर अपनी पीठ फेर ली।" इस वर्णन में वाल्मीकि ने भी 'विदेह राजकुमारी' शब्द प्रयोग किये हैं। वैदेही के संस्कारों से एकदम अलग लंका में दंडी नहीं हैं। परिव्राजक नहीं हैं, मुमुक्षु नहीं हैं। वहां तो 'रूप' का 'मोह' है और ताकत की गड़गड़ाहट। लंका के बाहुयोधी महाबाहु राम के शत्रु-शिविर में हैं। वे तरह-तरह के मार्शल आर्ट्स में पारंगत हैं। कोई बाहुयुद्ध में तो कोई पाश में, कोई दांवपेंच में तो कोई अंगमर्दन में, कोई सूमो में तो कोई जुजुत्सू में, कोई मुष्टि युद्ध में तो कोई किसी और तरह की शैली में। यों राक्षसों के अखाड़े भी एक तरह के नहीं हैं। वे कई तरह के अखाड़ों में लड़ते हैं। उनका भिड़ना भी कई तरह से है। वे एक-एक को ललकारते हैं। आज भी मल्ल विद्या तमाम तरह की है। ग्रीको-रोमन कुश्ती हो फ्री स्टाइल या सांबो कुश्ती। यूरोप में बैक-होल्ड कुश्ती होती है, उज्बेकिस्तान में कुराश कुश्ती होती है, इटली में लोट्टा कांपिडानीस, इंडोनीशिया में पेंजांग, ग्यूलट। लंकाशायर में 'लोक कुश्ती' होती है, चीन में शुआई जिआओ नामक कुश्ती की शैली है। भिड़ने के 'बहुबिध' तरीके। अलग-अलग देशों के 'नाना अखाड़े, नाना कुश्ती'। वस्तुतः अंग्रेजी शब्द एकेडेमी की व्युत्पत्ति भी उसी भारोपीय शब्द से है जिससे अखाड़ा शब्द की व्युत्पत्ति है। ये सहोदर शब्द हैं। इसलिए ये 'नाना अखारेन्ह' वस्तुतः मिलिट्री अकादमियां रही होंगी। ग्रीक शब्द एकेडमी का अर्थ कुश्ती-क्षेत्र (owrestling arena) भी है और शाब्दिक विवाद का स्थान (place for verbal debate) भी। तो लंका के ये बहुत से अखाड़े युद्ध कौशल के प्रशिक्षण केंद्र रहे होंगे। इन्हें 'नाना' कहा गया है तो संभवतः एयरफोर्स की एकेडमी अलग होगी, नेवी की अलग, आर्मी की अलग होगी, कोस्टल गार्ड्स की अलग, मर्चेन्ट मैरीन्स की अलग। वहां अलग-अलग तरीके से युद्ध करने का गणाभ्यास होता होगा। मार्शल कलाओं में कुंगफू भी है और जूडो भी, कराटे भी है और केन्डो भी, ताइक्वांडो भी है और निन्जुत्सु भी। लेकिन यहां तो लड़ने के 36 चीनी तरीकों की ही बात नहीं है बल्कि सैन्य संघर्षों की ड्रिल की भी बात है। इन सैन्य अकादमियों में कई स्पर्धाएं भी होती होंगी। 'भिरहिं बहुबिधि' में उसका भी संकेत है। भिड़ने के तरीकों में एनकाउंटर का तरीका है, एन्सर्किलमेंट का भी और ढेरों युद्ध-शैलियां हैं। यहां अखाड़ा कोई रेसलिंग स्कूल नहीं है। न ही वह कोई जिम है। वह सैनिकों/यौद्धिकों की अकादमी है। यह इसी से स्पष्ट है कि मल्ल का एक अर्थ योद्धा भी है। यहां लंका के योद्धाओं का वर्णन है। ये योद्धा अपनी हुंकार भरते हैं। लंका का सैन्यीकरण लगभग संपूर्ण है। तुलसी लंका की किलेबंदी को ही नहीं दिखाते, उसकी सेना को ही नहीं दिखाते बल्कि उसके जंगजू सैनिकों की कवायद को भी दिखाते हैं। इन युद्धार्थियों की दहाड़, इनका हल्ला हनुमान के ध्यान में तुरत आता है। 'नाना अखारेन्ह' आजकल के संन्यासियों के वे अखाड़े नहीं हैं जो कुंभ के अवसर पर दिखाई देते हैं। रावण की लंका के अखाड़े हैं जहां सांग्रामिक एक-दूसरे को ललकारते हैं और एक-दूसरे से जमकर भिड़ते हैं। ये अखाड़े कसरत भर के नहीं है। ये किसी दंगल के लिये नहीं हैं। इनमें तरह-तरह के अभ्यास हैं। हनुमान शत्रु-सेना के शक्ति केंद्रों को अपने लंका-निरीक्षण में देख लेते हैं, यह महत्वपूर्ण बात है। 10 पंक्तियों के लंका-वर्णन में 6 पंक्तियां सेना पर हैं। वाल्मीकि के वर्णन में अंतःपुर की स्त्रियों के वर्णन पर काफी समय जााया किया गया है, लेकिन तुलसी के वर्णन में राज्य की सैन्य-सामर्थ्य (military might) ज्यादा हावी हो गई है। तुलसी के समकालीन अकबर तक आते-आते हरम का आकार छोटा होता गया होगा। (यानी बहुत छोटा नहीं। मात्र 5000 स्त्रियां) राज्य की सामाजिक मान्यता कमतम जरूर हो गई थी। उसकी स्थापना से लेकर संधारण तक में सैन्य-सामर्थ्य की ही प्रमुख भूमिका साफ दिख पड़ रही थी। अकबर ने उसी असल ताकत का बार-बार जलवा दिखाया था। हालांकि बेहोश पड़े हेमू का सर काट लेना अकबर की कोई बड़ी बहादुरी नहीं थी,

पर हेमू के पकड़े गये सैनिकों के सिर काटकर उन्हीं सिरों का विजय स्तंभ बनवाने की तैमूर और चंगेज खान वाली शक्ति-प्रदर्शन-परंपरा का पालन सैन्य आतंक की स्थापना अवश्य थी। सैनिकों के सिर काटकर उन नरमुंडों की मीनार बनाने की यह विचित्र परंपरा जहांगीर और शाहजहां के समय में भी जारी रही थी, यह पीटर मुंडी नामक अंग्रेज यात्री ने अकबर के 75 साल बाद भी नोट किया। चित्तौड़-विजय के बाद किले में मौजूद 30,000 किसानों-कारीगरों का कत्लो-आम भी उसी आतंक का ही एक और प्रदर्शन था। अलाउद्दीन खिलजी को क्रूर और अकबर को उदार बताने वाले चित्तौड़ विजय के बाद इन दोनों के व्यवहार को देखें। 1303 ई. में खिलजी ने जब चित्तौड़ किले पर कब्जा किया तो ऐसा कोई भयानक आतंक बरपा नहीं किया था जो 24 फरवरी 1568 के दिन अकबर ने चित्तौड़-दुर्ग पर विजय के वक्त किया। ऐसा कि 50 साल बाद आने वाले अंग्रेज यात्री सर थामस रो ने दुर्ग को खाली (deserted) पाया। क्या बीसवीं सदी में क्रूर नाजियों ने भी कभी इतनी बड़ी संख्या में युद्धबंदियों को मारा?

तुलसी ने एक गैरीसन स्टेट को प्रत्यक्ष देखा था। रावण की 'आर्म्स' (भुजाएं) उसकी आर्मी ही थी। सेना, दरअसल तुलसी के समय तक, सत्ता का हस्ताक्षर हो चुकी थी। हेरल्ड लैसवेल ने जब गैरीसन स्टेट का प्रत्यय दिया तो उसने उसे हिंसा के विशेषज्ञों की समाज में बढ़ती हुई केन्द्रीयता की अंतिम परिणति (eventual result of the increased centrality in society of the specialists on violence) कहा था। ये 'माल देह बिसाल सैल समान अतिबल गर्जहीं' क्या हिंसा के वैसे ही विशेषज्ञों की ओर संकेत नहीं था? लैसवेल को शंका थी कि In directing society toward a state of constant readiness for major war, this would force the militarization of the civil order as distinctions between civilian and military institutions were eliminated कि 'समाज को बड़े युद्ध के लिये सदैव तैयार रखने की दिशा तय करना नागरिक व्यवस्था के सैन्यीकरण की बाध्यता पैदा करता है क्योंकि नागरिक व सैनिक संस्थाओं के बीच के फर्क खत्म होते जाते हैं।' रावण की लंका में इसी कारण सिविलियन उपस्थिति का उल्लेख बहुत कम है, वहां स्त्रियां भी 'कंफर्ट वीमेन' से अधिक नहीं हैं।

करि जतन भट कोटिन्ह
बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहुँ महिष मानुष धेनु
खर अज खल निसाचर भच्छही।
एहि लागि तुलसीदास
इन्ह की कथा कछु एक है कही।
रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि
त्यागि गति पैहहिं सही।

भयंकर शरीर वाले करोड़ों योद्धा यत्न करके (बड़ी सावधानी से) नगर की चारों दिशाओं में (सब ओर से) रखवाली करते हैं। कहीं दुष्ट राक्षस भैंसों, मनुष्यों, गायों, गदहों और बकरों को खा रहे हैं। तुलसीदास ने इनकी कथा इसीलिए कुछ थोड़ी-सी कही है कि ये निश्चय ही श्री रामचन्द्र जी के बाण रूपी तीर्थ में शरीरों को त्यागकर परमगति पावेंगे।

यह एक रक्ष-संस्कृति है। एक दो हजार लोग नहीं, करोड़ों लोग रक्षा के व्यवसाय में लगे हुये हैं। इसका विस्तार भी बहुत रहा होगा। भाषा भूगोल को भी बताती है। मलय भाषा में उन्हें राक्सासा और जापानी में रासेटसुट कहा जाता है। अकेले एक लंका द्वीप में करोड़ों राक्षस रक्षा-कर्म में नियत हैं। 'वयं रक्षामः' के मूल मंत्र के साथ। रक्षा लंका का आब्सेशन है। निश्चित रूप से जब लंका इतने 'करोड़ों' लोगों को रक्षा के काम पर रखती होगी तो उसका रक्षा व्यय भी बहुत ज्यादा होता होगा। यह रक्षा व्यय फ्रांस, इटली और स्पेन की तरह होगा, जो अपने रक्षा व्यय में घरेलू पुलिस फोर्स के संधारण की लागत को भी शामिल करते हैं। तो नगर की चारों दिशाओं में रक्षा करने वाले सिर्फ सीमा सुरक्षा बल के लोग ही नहीं होंगे, घरेलू पुलिस भी होगी। लंका में वाल्मीकि रामायण के अनुसार पूर्व में दस हजार भट हैं, दक्षिण द्वार पर एक लक्ष भट, पश्चिम द्वार पर दश लक्ष और उत्तर द्वार पर शतकोटि भट हैं। लगता है, लंकाधिपति रावण चीन, मैक्सिको, रूस की तरह अपने रक्षा व्यय को दूसरे-दूसरे बजट शीर्षों में नहीं छुपाता। वह आण्विक हथियारों, प्रक्षेपास्त्रों और युद्धक विकास को विज्ञान-व्यय नहीं कहता। सैनिकों (भटों) के प्रशिक्षण को शिक्षा बजट में शामिल नहीं करता, सेवानिवृत्त सैनिकों (भटों) की पेंशन को कल्याण मद में नहीं दर्शाता। सं.रा. अमेरिका की तरह नाभिकीय अस्त्रों पर हो रहे खर्चों को ऊर्जा विभाग के बजट में नहीं दिखाता। ईराक और अफगानिस्तान युद्धों पर हुए ज्यादातर खर्चों को आपातकालीन विनियोग निधियों के जरिए नहीं बुक करता। इसलिए 'भट कोटिन्ह' इतनी सी लंका में दिखाई देते हैं। सन् 2009 में अमेरिका का रक्षा व्यय साढ़े छह खरब अमेरिकन डॉलर था। दुनिया में सबसे ज्यादा। दूसरे क्रम पर चीन में 70 अरब अमेरिकन डॉलर ही मिलिट्री खर्च था। अब सवाल यह है कि अमेरिका को किससे खतरा है? रावण के कारावास में लोकपाल इत्यादि सभी देवता हैं। ब्रह्मा और शिव को भी नित्य पुजाने के लिये आना पड़ता है। तब लंका को क्यों 'भट कोटिन्ह' रखने पड़ते हैं? सं.रा. अमेरिका शायद इसका उत्तर दे सके। विश्व के कुल मिलिट्री व्यय का आधा तो उसी का है। 1944 में अमेरिका और 1986 में ईराक का सैनिक खरीदों पर व्यय उनके सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 41 प्रतिशत था। छोटे से ईरान में आज एक करोड़ तेरह लाख नब्बे हजार सैनिक हैं। तो लंका में सैनिकों की तैनाती में बहुत वेस्टफुल व्यय भी होता होगा। वाल्मीकि के विवरण से पता लगता है कि रावण को सर्वाधिक भय उत्तर दिशा से था। इसलिए वहीं सर्वाधिक प्रतिहारों का जमावड़ा था। 'कोटिन्ह' के साथ तुलसी ने कोई निश्चित संख्या नहीं दी है। अतः यहां 'कोटि' शब्द करोड़ की जगह असंख्यवाची है जो मूलतः लंका के शासन के गहरे डिफेन्स-आब्सेशन को उद्‌भासित करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। वाल्मीकि का विवरण रक्षा की मल्टी-फ्रंट स्ट्रेटेजी को बताता है और इसको भी कि रावण को खतरा तो चारों दिशाओं से था। एक आतंकी राज्य स्वयं भी आतंक की ही एक मनःस्थिति में रहता है। एक आतंकी राज्य की 'राष्ट्रीय सुरक्षा रणनीति' ही यह होती है कि खतरे की आशंका मात्र के आधार पर ही शक्ति प्रयोग कर सके। यहां खतरे की शंका भी स्वयं रावण के भीतर ही है और आतंकियों का कैडर भी खुद उसी के द्वारा तैयार किया हुआ है। लंका इन्हीं आतंकियों की शरण्य का प्रांतर (constituency of terror) है। एक स्थायी युद्ध (permanent warfare) की स्थिति में, इसलिए इतने सारे योद्धा बने ही रहते हैं लंका में। यह राक्षस स्टेट क्या Rogue state है? एक Rogue superpower? विश्व के विभिन्न समुदायों को सबसे बड़ी थ्रेट? आधुनिक युग की भी यही स्थिति है न, कि 'रक्षा'- सामर्थ्य वस्तुतः आक्रमण के उद्देश्य से रखी जाती है। जार्ज मोनबिओट ने ब्रिटेन के रक्षा-बजट पर कमेन्ट करते हुए गार्डियन में छपे 28 नवम्बर 2006 के अपने लेख में यही लिखा था। In other words, our "defence" capability does not exist to protect us...... They exist to go abroad and cause trouble. रावण की करोड़ों भटों की सेना 'रक्षहिं' की

स्थानीयता के बावजूद दूर-दूर तक मुसीबत पैदा करती है। रावण की दुश्मनी दुनिया भर से है। पहले तो उसने अपने भाई वैश्रवण (कुबेर) से लड़ाई की। फिर वह नन्दनकानन तथा देवताओं के उद्यानों में पहुंचकर उन्हें उजाड़ने लगा। पर्वतों को इन्द्र द्वारा छोड़े गये वज्र की भांति तोड़ देता था तथा पेड़ों को वायु के समान उखाड़ देता था। 'उद्यानानि विचित्राणि नन्दनादीनि यानी च/ तानि गत्वा सुसंक्रुद्धो भिनत्ति स्म दशाननः/नदींगज इव क्रीडन वृक्षान् वायुरिव क्षिपन/नगान, वज्र इवोत्सृष्टो विध्वंसयति राक्षसः' तो राक्षस विध्वंस करते थे, रक्षा नहीं। क्षत्रिय रक्षा करते थे। रक्षा के नाम पर ध्वंस करने वाले राक्षस थे। किस किस से दुश्मनी? पर्वतों से, पेड़ों से, प्रकृति से? रावण किस किससे नहीं लड़ा। यक्षों से उसका युद्ध हुआ। 'तीनों लोकों को रुलाने वाला' होने के कारण उसका नाम रावण हुआ। वेदवती पर अत्याचार उसके अंत का कारण बना। वह राजा मरुत से विजयी हुआ। महेन्द्र, वरुण, सुरथ, गाधि, गय, दुष्यन्त, पुरुरवा, अनरण्य वरुण-पुत्रों को उसने परास्त किया। रम्भा से बलात्कार किया, इन्द्र लोक पर चढ़ाई की, रूद्रों से युद्ध किया। रावण की युद्धखोरता (belligerence) आज के दौर में किसकी याद दिलाती है? कौन सा राज्य विश्व-पर्यावरण का दुश्मन है? उद्यानों से, पेड़ों से, पर्वतों से सर्वाधिक दुश्मनी किसकी चल रही है?

ध्यान दें कि रक्षा का यह भाव स्वाभाविक नहीं था। यह 'करि जतन' है। प्रयत्न करके। सायास। दूसरे यह रक्षा का भाव भी नहीं है, रक्षा की मशीनरी है। वेदव्यास ने महाभारत में कहा था : सत्य से धर्म की रक्षा होती है, योग से विद्या की। सफाई से रूप की रक्षा होती है, सदाचार से कुल की। 'सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते/मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते।' लेकिन रावण 'करि जतन भट कोटिन्ह विकट तन' से नगर की रक्षा कर रहा है। राज्य-संचालन में निपुण और कूटनीति के पर्याय माने जाने वाले चाणक्य का भी यही कहना था कि धन से धर्म की रक्षा की जाती है, योग या अभ्यास से विद्या की, कोमलता से राजा की रक्षा होती है और श्रेष्ठ स्त्री द्वारा घर की रक्षा होती है : 'वित्तेन रक्ष्यते धर्मो, विद्या योगेन रक्ष्यते/मृदुना रक्ष्यते भूपः, सत्स्त्रिया रक्ष्यते गृहम्।' लेकिन 'मृदुना रक्ष्यते भूपः' की जगह रावण 'विकटतम भट' से नगर की रक्षा करवा रहा है। महाभारत से चाणक्य तक आते-आते धर्म की रक्षा तो सत्य की जगह वित्त से होने लगी। लेकिन राज्य के संचालन में मृदुता की अपेक्षा बनी रही। रावण के अंजाम से ही शायद यह सीख ली गई होगी।

रावण के राज की क्रूरता को दिखाने के लिये ही अगली पंक्ति है : कहुं महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं। भैसों, मनुष्यों, गायों, गदहों और बकरियों को दुष्ट राक्षस खा रहे हैं। नगीब महफूज, जिन्हें 1988 में साहित्य का नोबुल पुरस्कार जीता, का मानना था कि 'Food offers a better explanation of human behavior than sex.' कि सेक्स की तुलना में भोजन मानव व्यवहार की बेहतर व्याख्या करता है। यह देखने की बात है कि तुलसी ने मनुष्य-भक्षण को विशेष वरीयता नहीं दी है। उन्होंने तो राक्षसों के भक्ष्य बताते हुये बीच में मनुष्य का नाम भर ले दिया। हिंसा यदि हिंसा है तो वह जितनी बकरियों को मारकर खाने में है उतनी मनुष्य का मांस खाने में। लेकिन नरमांस के साथ सामाजिक कलुष (social stigma) शायद इसलिए ज्यादा है क्योंकि वह स्वजातीय का है। लेकिन यदि किसी की करुणा का विस्तार स्वजातीय सीमा से अधिक है तो उसे इसके लिये दोषी कैसे ठहराया जा सकता है? फिर राक्षस तो मनुष्य को अपने से वैसे ही हीनतर मानते हैं जैसे मनुष्य भैंसों, गायों, गधों, बकरियों को। अल-नासिर एक्सपोर्ट्स प्राइव्हेट लिमिटेड एस.एस. ब्रदर्स तो 'फ्रेश फ्रोजन बोनलेस बफेलो' हलाल मीट बेचते हैं, रावण के निशाचर तो सीधे ही खा जाते हैं। वहां बफेलो बर्गर या बफेलो जर्की जैसी रेसिपी नहीं हैं। गौमांस भक्षण करने वाले विश्व के चार बड़े देशों संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्राजील, जापान और चीन में भी बीफ की तरह-तरह की रेसिपी चलती हैं। कोशेर बीफ हो या हलाल बीफ- अब तो 'आर्गेनिक बीफ' भी है- और एक

फ्रेंच डिश तो कच्चे बीफ की है, जिसे प्याज, काली मिर्च और सॉस के साथ परोसा जाता है। 'धेनु' के प्रति श्रद्धा का पश्चिमी इतिहासकारों को इतना ही अर्थ समझ में आया कि आर्य चरवाहा जीवन (pastoral life) जीते थे, इसलिए यह श्रद्धा उनमें चली आई। इन्हें सिंधु शहरों की सीलों पर उसकी उपस्थिति क्या गड़रिया जिंदगी लगती थी? लेकिन तुलसी तो गधों और बकरों के भक्षण की बात भी कर रहे हैं। मो यान अपने एक उपन्यास 'द रिपब्लिक ऑफ वाइन' में जिस 'लिकरलैंड' की बात करते हैं, उसकी भी यही विशेषता है कि वहां सब कुछ खाया जा सकता है : 'What dragon meat is to heaven, donkey meat is to the human world. Donkey meat is aromatic; donkey meat is delicious; donkey meat is a true delicacy. When you stand on Donkey Avenue, you see delicacies that cover liquorland like clouds, more than the eyes can take in : Donkeys are slaughtered on Donkey avenue, deer are butchered on Deer Avenue, Oxen are dispatched on Oxen street, sheep are killed on Sheep Alley, hogs meet their end in pig abattoirs, horses are felled in Horse Lane, dogs and cats are put to the knife in dog and car markets ...... in mind-boggling numbers, so many the heart is disturbed, the mind thrown into turmoil, the lips chapped, the tongue parched.' (स्वर्ग में ड्रेगन के मांस का जो महत्व है, मानव-संसार में खर मांस का। खर मांस सुंगधित, स्वादिष्ट होता है। खर मांस एक सच्चा व्यंजन है। जब आप खर-मार्ग पर खड़े होते हैं तो आप ऐसे व्यंजन देखते हैं जो मदिराभूमि को बादलों की तरह आवृत्त किए हुए हैं : आंखें जितना देख सके, उससे ज्यादा : खर-मार्ग पर खर मारे जाते हैं। मृग-मार्ग पर मृग कत्ल किए जाते हैं, बैल वीथी पर बैलों को ऊपर पहुंचा दिया जाता है, भेड़ पथ पर भेड़ें मारी जाती हैं, सुअरों को भी मौत का सामना शूकरालय में करना पड़ता है, घोड़े अश्व-पथ पर मार गिराए जाते हैं, कुत्ते और बिल्ली अपने बाजारों में छुरी की नोंक उतारे जाते हैं, दिमाग चकरा देने वाली इतनी ज्यादा संख्या में कि हृदय विचलित हो जाता है, दिमाग घूम जाता है, ओंठों में दरार पड़ जाती है, जीभ सूख जाती हैं) रावण का राज्य क्या "मदिरा का ऐसा ही गणतंत्र" नहीं है? रिपब्लिक ऑफ वाइन, बल्कि उससे भी आगे बढ़कर। यहां मानव-मांस भी खाया जाता है।

तुलसीदास को राक्षसों के वर्णन में किसी तरह की आनंदानुभूति नहीं होती है, बल्कि वे थोड़ा असहज महसूस करते हैं। इसलिए वाल्मीकि की तुलना में न केवल उनका लंका-वर्णन 'थोड़ा' है बल्कि उन्होंने अपने छंद की गति भी कुछ इतनी तीव्र रखी है मानो वे यह सड़ांध वाला क्षेत्र जल्दी से पार कर जाना चाहते हैं। अपने छंद की 'गैलपिंग' का राज मानो वे यहां इस बिंदु पर खोलते हैं।

तुलसी के हृदय का सत्व इस नारकीय स्थिति को ज्यादा देर बर्दाश्त भी कैसे कर सकता था? न तो तुलसी की शोभा का आदर्श यह था, न ही शक्ति का। तुलसी के लिये चार्ल्स बॉदलेअर की तरह 'पाप के पुष्प' (फ्लावर्स ऑफ ईविल) लिखना संभव नहीं था- कि वे स्वयं आनुभूतिक प्रामाणिकता के लिये जान-बूझकर व्यसनों और बुराइयों के दलदल में जा धँसते। वे डी सादे या स्विनबर्न नहीं हो सकते थे। लंका तुलसी की नैतिक मूलवृत्ति (moral instinct) के विपरीत है। तुलसी के सत्व का एक अपना व्याकरण है। लंका पर विहंगम दृष्टिपात भी उनमें एक तरह की जुगुप्सा पैदा करता है। कथा के कथन का दायित्व निभाना है तो वे अनिच्छा से इन अपकर्मों को भी दिखाते हैं। लेकिन अब यह वे निमग्न रहकर नहीं करते, उबर आते हैं। 'एहि लागि तुलसीदास' सहसा जैसे तुलसी का विरत हो उठना है। 'तुलसीदास' के रूप में अपना नामोच्चारण अचानक जैसे अपनी असंपृक्ति के प्रति सचेत हो जाना है। एक तरह का साक्षी भाव, यकायक जैसे चेतना की

धारा (स्ट्रीम ऑफ कांशसनेस) भंग हो गई हो।

लंका के दुर्दृश्य देखकर कोई भी विरक्त हो सकता है। तुलसी का जी उचाट हो जाना भी उतना ही स्वाभाविक है। आदमियों को खाया जाता देखकर होने वाली वितृष्णा उससे कुछ अधिक ही होगी जो इंडियाना जोंस उर्फ टेंपल ऑफ डूम में तरह-तरह के जीवों को उदरस्थ करते देखकर नायिका को होती है। आदमी की हैसियत भी जहां गधों-बकरों से ज्यादा नहीं और हिंसाचार भी सिर्फ आदमियों के प्रति नहीं बल्कि तरह-तरह के जीवों के प्रति। तुलसी को लगता है, जैसे वे किसी रौरव में हैं। इन्फर्नो में। तुलसी के ये शब्द क्या दांते के द्वारा वर्णित नरक के आखिरी गढ्ढे की याद नहीं दिलाते? O reader, do not ask of me how I/grew faint and frozen then- I cannot write it :/all words would fall far short of what it is. तुलसी को इस लंका के वर्णन में ही अपराध-बोध होने लगता है। मानो पाप की इस नगरी के बारे में कहना भी उसको 'शेअर' करना है या उसका प्रचार करना है। तुलसी जैसे एक बागड़-सी लगा कर बैठे हैं और पाप-राज्य की किसी आनुभूतिक गतिकी (experiential dynamics) से वे बचे रहना चाहते हैं। अतः वे यहां संक्षेपण की प्राविधिकी का इस्तेमाल कर रहे हैं। उनका लंका-वर्णन एक तरह का संक्षेपिका-लेखन (precis writing) है। वे बहुत कुछ छोड़ते हैं और इंगितों में अपनी बात कहकर निकल जाना चाहते हैं। वे लंका की नृशंसता के विशद वर्णन नहीं करते। एक 'समरी' तैयार करते हैं, एक मिनिएचर। और आगे बढ़ जाना चाहते हैं। अमेरिकन मनोवैज्ञानिक एम. स्कॉट पैक ने 'ईविल' को 'मिलिटेन्ट इग्नरेंस'- उग्र अज्ञान कहा था। 'भच्छहीं' में वही उग्रता है।

तुलसीदास इसके ऊपर की दस पंक्तियों में वर्णनात्मक (descriptive) थे। अब 'रघुवीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही' में वे अनुशंसनात्मक (prescriptive) हैं। वे कहते हैं कि रघुवीर के बाणों के तीर्थ में ये राक्षस शीघ्र ही अपने शरीर का त्याग करेंगे। पहले वे वर्तमान का वर्णन करते हैं, फिर वे भावी को भी बताते हैं। वे सिर्फ 'है' को ही नहीं बताते, 'चाहिए' (ought) को भी बताते हैं। वे 'है' को भावी के कारण-रूप में स्थापित करते हैं। ऊपर की दस पंक्तियां 'तथ्य' हैं, बाद की 'रघुबीर सर तीरथ...' वाली पंक्ति मूल्य है। पहले निरीक्षण है, फिर निष्कर्ष। दोनों में से कोई भी एक-दूसरे से अलग नहीं है। एक यथार्थ है- कड़वा ही सही, (एहि लागि तुलसीदास वाली पंक्ति में स्वयं तुलसी का मुंह कड़वा हुआ लगता ही है) दूसरा उसकी परिणति। एक के भीतर हकीकत का सच है, दूसरे के भीतर उम्मीद और आस्था का सच। एक प्रफेन है, दूसरा सेक्रेड। 'रघुवीर सर तीरथ' की पवित्रता और लंका का कालुष्य। दोनों आमने-सामने हैं। तुलसी यदि राक्षसों की कहानी थोड़ी-बहुत बताते हैं तो इसी विश्वास से कि यह अपावित्र्य भी राम के प्रताप में शीघ्र ही धुल जायेगा। भगवान के बाण जैसे तीर्थ हैं जिनमें इन राक्षसों के कालुष्य का भी प्रक्षालन हो जाता है। बहुत जल्द इन निशाचरों का 'एनकाउंटर विद द होली' ('पवित्र' के साथ मुठभेड़) होने वाला है। 'In fact, a god's mettle was measured by his face-to-face confrontation with demons in their own domain.' यहां भी ऐसा ही होने वाला है। एक योद्धा ईश्वर के हाथों इन निशाचरों को जीवन्मुक्ति मिलने वाली है। राक्षसों को परम गति ज्ञान/जागरण (enlightenment) से नहीं होती, वह तो बाणों की भाषा से ही समझ आती है लेकिन महत्व इसका है कि राक्षसों तक को मुक्ति मिलती है। विष्णु से जो प्रेम करता है, अनन्य प्रेम उसे तो मुक्ति मिलती ही है। जो विष्णु से लड़ता है, उसे भी। 'राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्वान' (20 (क) अरण्यकांड)। भगवान से लड़कर मरने वाला भी परम पद को प्राप्त होता है, यह भारतीय दर्शन परंपरा में बहुत गहरे पैठी धारणा है। दुर्गा सप्तशती में यही स्थिति दुर्गा के बाणों से मरने वाले राक्षसों की है। सप्तशती में कहा गया है : "एभिर्हतैर्जगदुपैति सुखं तथैते/कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम्/

संग्राममृत्युमधिगम्य दिवं प्रयान्तु/मत्वेति नूनमहितान् विनिहंसि देवि" देवि! इन राक्षसों के मरने से संसार को सुख मिले तथा ये राक्षस चिरकाल तक नरक में रहने के लिए भले ही पाप करते रहे हों, इस समय संग्राम में मृत्यु को प्राप्त होकर स्वर्गलोक में जायें, निश्चय ही यही सोचकर आप शत्रुओं का वध करती हैं"। रावण भी जब मरता है तो उसका तेज प्रभु के मुख में समा जाता है- तासु तेज समान प्रभु आनन। टिलिच ने 'डायनेमिक्स ऑफ फेथ' में 'निशाचर-वृत्ति' की परिभाषा यों दी है : The demonic is the Holy (or the sacred) with a minus sign before it, the sacred antidivine. The demonic is more than human, yet it has no being of its own. It derives from negating the holy by using the power of the holy against itself. (राक्षसत्व परमपावन (या पवित्र) है, सिर्फ उसके पहले एक ऋणात्मक चिन्ह है, यह पवित्र प्रति-दिव्य है। राक्षसत्व मनुष्य से कुछ ज्यादा है, तब भी वह अपने आप में कुछ नहीं है। यह परमपावन का निषेध है, उसी की शक्ति का खुद अपने खिलाफ इस्तेमाल कर।) अतः रावण का तेज अंततः राम के मुख में समाएगा ही। उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इसी बिन्दु पर हिंदू-दर्शन 'शैतान' की उन गैर-भारतीय संकल्पनाओं से भिन्न हैं जो शैतान की एक समानान्तर उपस्थिति मानती हैं। रावण-पत्नी रावण के मरने पर यही कहती हैं- तुम्हहू दियो निजधाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं—इतने पर भी जिन निर्विकार ब्रह्मा श्री रामजी ने तुमको अपना धाम दिया, उनको मैं नमस्कार करती हूं।

तुलसी इस पापाचार के परिदृश्य से निराश नहीं होते। वे इस सड़ांध (profanum) को देखते हैं, लेकिन उन्हें हमेशा विश्वास है कि यह खत्म होने वाला है। बाइबल कहती है कि 'The wages of sin is death.' पाप की उजरत मृत्यु है। तो निशाचरों को यह उजरत देनी ही पड़ेगी। तुलसी को यह 'फेथ' बना हुआ है। इसी फेथ ने उन्हें इंटीग्रिटी दी है। वे साबुत रहे हैं, अखंड रहे हैं। दारुण परिस्थितियों में भी इस विश्वास के कारण वे कहीं दरके नहीं हैं।

पुर रखवारे देखि बहु,
कपि मन कीन्ह बिचार
अति लघु रूप धरौं निसि,
नगर करौं पइसार।।
मसक समान रूप कपि धरी।
लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी।।

कपि श्री हनुमानजी ने नगर में बहुत- से रक्षकों को देखकर मन में विचार किया कि मैं बहुत ही छोटा रूप धारण करूं और रात में ही नगर में प्रवेश करूं। कपि श्री हनुमानजी मच्छर के समान रूप धारण करके और नृसिंह भगवान का स्मरण करके लंका नगरी के अंदर जाने को प्रस्थित हुए।

सुंदरकांड के इस अंश को मैं बहुत ईर्ष्या के साथ पढ़ता हूं। आज जब बांग्लादेशी घुसपैठियों के समाचार पढ़ता हूं, यह पढ़ता हूं कि वह घुसपैठ भी "ग्रेटर इस्लामिक बांग्लादेश" बनाने की किसी योजना का अंग है,यह पढ़ता हूं कि अकेले असम में 55 लाख बांग्लादेशी घुसपैठिए हैं, पश्चिम बंगाल में 80 लाख और त्रिपुरा में 4 लाख बांग्लादेशी बिना अनुमति के रह रहे हैं ,यह पढ़ता हूं कि ' 'छिद्रित सीमा" (Porous borders) का युग है, यह देखता हूं पाकिस्तानी घुसपैठिए जब तब हमारी सीमाओं को लांघकर यहां वहां बम फोड़कर निर्दोष नागरिकों की जान ले लेते हैं; तो सुंदरकांड का यह अंश और याद आता है जब मच्छर के समान "अति लघु रूप" धारण कर और वो भी रात के वक्त चलने पर हनुमान लंकिनी की तेज नजरों से नहीं बच पाते। यह "नगर करौं पइसार" पढ़कर मुझे एंट्रीज्म (entryism) की याद भी आती है और "अर्बन एक्सप्लोरेशन" के आधुनिक सिद्धांत की भी। हनुमान का घुसना किसी डेमोग्राफिक पैटर्न के क्रमशः, सुनियोजित और शान्त बदलाव की कोशिश नहीं थी - उनके घुसने के बारे में आतंकवाद, प्राविधिकी और गृहभूमि सुरक्षा पर बनी अमेरिकी सीनेट न्यायपालिका की उप-समिति के रिपब्लिकन अध्यक्ष सीवेटर जोन एल काइल के ये शब्द कि infiltration is part of a larger pattern of subversion प्रयुक्त नहीं किए जा सकते। संयुक्त राज्य अमेरिका की लोकसभा (कांग्रेस) के सदस्य स्टीप किंग ने एक पुस्तक ही घुसपैठियों पर लिखी। शीर्षक था : "बाइटिंग द हैंड दैट फीड्स यू." (उस हाथ को काटना जो आपको खिलाता है।) उसने जिस तरह से आंकड़ों को प्रस्तुत किया है, उससे पता लगता है कि अनधिकृत आप्रवासी प्रतिदिन कितनी हत्याएं करते हैं,सड़क दुर्घटनाएं करते हैं, कितनी हेरोइन, मारिजुआना, कोकैन आदि नशीले पदार्थों की तस्करी करते हैं, यौन अपराधों में कितने अमेरिकी बच्चों को शिकार बनाते हैं। इसी की तर्ज पर हमारे देश में भी कहीं कहीं वे आप्रवासी भी हैं जो आतंकवादियों को पनाह देते हैं,जो संभवतः भारत का बाल्कनीकरण करने की किसी दूरवर्ती रणनीति का अंग हैं, जो कई जगह हमारी नाजुक पर्यावरणीय प्रणालियों का नाश कर रहे हैं। यू.एस.ए. टुडे की एक रपट के अनुसार सीमा पारकों (बार्डर क्रासर्स) का एक तिहाई ही पकड़ा जाता है।

इसके मुकाबले हनुमान तो अपराधी और तस्कर भी नहीं हैं। फिर वे "अति लघु रूप" भी रख लेते हैं। फिर भी पकड़े जाते हैं। उस समय की चुस्ती के मुकाबले आज क्या हालत है? टेक्सास के विधायक टॉम डी ले ने निष्कर्ष निकाला कि The holes that remain on our border security systems are not small. They are gaping, and they are glaring to our terrorist enemies. They are coming for us. कि हमारी सीमा सुरक्षा व्यवस्थाओं में छोटे छिद्र नहीं हैं। वे बड़े हैं और हमारे आतंकी शत्रुओं को साफ दिखाई देने वाले हैं। वे हमारी ओर आ रहे हैं।' इसके ठीक विपरीत लंका में "स्माल" रूप रखकर आने वाले हनुमान भी पहचान लिए जाते हैं। आज अधिकतर देश अनधिकृत घुसपैठियों से परेशान हैं। अंगोला को कांगोवासियों के घुस आने की शिकायत है,चिली को पेरूवियन और बोलीवियन से शिकायत है। चीन को उत्तरी कोरियन और मंगोलियन से, ग्रीस को अल्बेनियन से, ईरान को अफगानों से, रूस को जार्जियनों, अजरबैजानियों, उज्बेकों से, सऊदी अरब को ईराकियों से, तुर्की को आर्मीनियाइयों से, वेनेजुएला को कोलंबियाइयों से। ऐसा भी नहीं है कि राष्ट्रों ने इसके विरूद्ध प्रयास न किए हों। अधिनियम पारित किए हैं, अंतर्राष्ट्रीय समझौते किए हैं, सऊदी ईराक बैरियर बना है, इजराइल ने वेस्ट बैंक बैरियर बनाया है, भारत - बांग्लादेश बैरियर बन रहा है। लेकिन घुसपैठिए तब भी कई बार पकड़ाई में नहीं आते। इधर "पुर रखवारे" "निसि" में भी "मसक समान" को पकड़ लेते हैं, उधर दिनदहाड़े आदमियों का कारवां आ घुसता है और पता नहीं चलता।

इस दोहे में सबसे पहले 'पुर' शब्द आता है। फिर उल्लेख है बहुत से आर्म्ड गार्ड्स का। ओ फ्लेहर्टी

(2005) में लिखता है : One of the oldest reasons why cities were built : military protection against marauding barbarian armies is one reason why people have come together to live in cities. बेलारूस की भाषा में तो शहर के लिए जो शब्द rope (hoard) है, उसका वहां शाब्दिक अर्थ है 'फोर्टिफाइंग बस्ती' या 'स्ट्रांगहोल्ड से है। 'पुर' और 'दुर्ग' के अर्थ का एकीकरण संस्कृत में भी हुआ। वहां इन्द्र को इसीलिए पुरन्दर कहा गया - दुर्ग - ध्वंसक।

'पुर' शब्द लंका के सिटी-स्टेट होने का आभास भी देता है। इसका अर्थ यह नहीं कि लंकाधिपति का राज्य एक नगर भर तक ही सीमित था। हमने पूर्व में उनके द्वारा स्थापित साम्राज्यवादी विस्तार की चर्चा की है। तुलसी ने भी लंका को उस साम्राज्य की 'रजधानी' कहा है। लेकिन पुराने समय में ग्रीक सिटी स्टेट भी रहे ऐसे ही हैं। अलक्षेन्द्र का साम्राज्य भी बहुत विस्तृत था। सिटी-स्टेट एक प्रधान नगरीय केन्द्र (मेजर अर्बन सेंटर) के इर्द गिर्द पनपता था। यह "उच्च स्वायत्तता" (हाई-ऑटोनामी) वाला संप्रभु शहर होता था। सिंगापुर आज सिटी-स्टेट का सबसे अधिक 'पूर्ण' उदाहरण है जो शहर भी है और संप्रभु भी लेकिन लंका-सा साम्राज्यवाद उसमें नहीं है। आज की लंका से भी उस 'पुर' को समीकृत करना कठिन है क्योंकि अब तो लंका स्वयं शहरों का समूह है। कोलंबो, नेगोंबो, मोराटुवा, त्रिंकोमाली, कोट्टे, कैंडी, कालमुनै, जाफना, गाले, दाम्बूला, कोटिकवट्टा, अनुराधापुर, रत्नपुर, पुत्तलम आदि आदि ढेरों शहर हैं। इसके अलावा कस्बे तो कितने ही होंगे। तब क्या समूची लंका का "पुर" होना रावण के समय का शहरी फैलाव (urban sprawl) था? और तब भी कम घनत्व वाला आज जैसा फैलाव नहीं था। "सुन्दरायतना घना" से स्पष्ट है कि तत्कालीन लंका उच्च घनत्व के शहरी फैलाव हाई-डेंसिटी अर्बन स्प्रॉल का उदाहरण थी।

'पुर' या 'नगर' को रखने वाले बहुत से लोग हैं। जिसे देखो, नगरीकरण के व्यामोह में विद्ध है। भले ही यह नगरीकरण राक्षसी हो जाए। आखिरकार हनुमान जी को इसके पहले की बारह पंक्तियों में पुर-परिचय ही तो कराया गया है। अब इस दोहे के ठीक आरंभ में 'पुर' शब्द को रखकर 'नगर' के आधारभूत (फंडामेंटल) प्रश्न को फिर प्राधान्य दिया गया है। नगर के फिनॉमिना को संग्रह- जनित प्राचुर्य (accumulation) से पिछली बारह पंक्तियों में तो जोड़ा ही गया था, यहां भी 'बहु' का उपयोग कर उसी भाव को पुष्ट किया गया है जो "बहु विधि" "बहुरूप", "बहु विधि" के रूप में इसके ठीक पहले प्रकट हुआ है। "चारु पुर बहु बिधि बना" "बहुरूप निसिचर जूथ अतिबल" और "नाना अखारेन्ह भिरहिं बहुविधि" में क्या अति-संग्रह मुखर होता है? amassment का प्रतीक। ये बहुत ज्यादा रखवारे इसलिए हैं क्योकि यहां हुआ पूंजी संचय भी दूसरों को बेदखल करके ही हुआ है - accumulation by expropriation. अतः अब उतनी ही बड़ी संख्या में 'रखवारे' चाहिए। यदि लंका रावण-राज में दूसरों से छीने हुए धन का कोष है तो उसे लगातार यह भय भी बना रहेगा कि कोई प्रति-क्रांति न हो जाए, कोई दूसरा उससे छीन न ले, यह भय 'रखवारे' खड़ा करता है - एक दो नहीं, बहुत से - क्योंकि भय भी असामान्य है। ध्यान दें कि रावण के धन-संचय में 'युद्ध' एक महत्वपूर्ण उपकरण है। युद्ध उसके लिए बड़े बिजनेस का ही उपकरण नहीं था। युद्ध ही उसका बड़ा बिज़नेस था। नगरीकरण आज भी बहुत कुछ दूसरों से छीनकर ही होता है। जब 70 प्रतिशत ग्रामीण आबादी के पास राष्ट्रीय स्वास्थ्य बजट का 6 प्रतिशत जाता हो और 30 प्रतिशत शहरी आबादी के पास 94 प्रतिशत तो लगता है कि नगरीकरण की प्रक्रिया ही कुछ ऐसी है कि उसमें दूसरों को expropriate करना ही है। ऐसे नगर में 'अति लघु' होकर ही प्रवेश संभव है।

हनुमान को माइक्रोस्कोपिक स्वरूप धारण करना पड़ता है। लिलिपुटियन स्वरूप रखकर दैत्यों के नगर में प्रवेश। हनुमान बिग ब्रदर के देश में है। उसकी आर्वेलियन सर्वीलेंस सिस्टम से कोई नहीं बच पाता। वे भी नहीं जो

"अति लघु रूप" धारण कर आए हैं और "मसक समान रूप" जिन्होंने धारण किया हुआ है। आज ताइवान, थाइलैण्ड, सं. राज्य अमेरिका, सिंगापुर, यू.के., चीन मलेशिया और रूस इन आठ देशों को "Endemic surveillance societes" कहा जाता है। अमेरिका सिविल लिबर्टीज़ यूनियन कहता है : We are fast approaching a genuine surveillance society in the United states - a dark future where every move, our every transaction, our every communication is recoreded, compiled, and stored away, ready to be examined and used against us by the authorities whenever they want.

हनुमान जी इस तरह के समाज में अति लघु रूप रखकर रात के वक्त निकल चलने की सोचते हैं, लेकिन वे नहीं बच पाते । क्या यह "ग्लॉस कंज्यूमर" का समाज है? ऐसा समाज जिसमें दूसरे हमें आर पार देख सकते हैं? हम जो फोन पर बातें करते हैं, हम जो ई मेल करते हैं, हम जो नेट सर्फिग करते हैं - हम लगातार ट्रेस किए जा रहे हैं। यह नहीं कि ऐसी निगरानी सरकारें ही करती हैं, अब तो निजी कंपनियां भी करने लगी हैं। अनुश्रवण का शब्दशः अर्थ यह हो गया है कि आपके कहे हुए को वह भी सुन रहा है, जिससे न आप कतई सम्बोधित हैं और न जो आप की दीवार के उस पार है। वह दूरस्थ और अपनी सुविधा के स्थान पर है अब जो लोग "ध्वनि-धारा" (आडियो स्ट्रीम) को पकड़ रहे हैं, वे अनुश्रवण का एक नया ही आयाम कायम कर रहे हैं। मोबाइल फोन के स्वनन-संकेतों के सहारे अब यह तक बताया जा सकता है कि आप कब किस रास्ते से किस दुकान गए और वहां कितनी देर ठहरे। रूस में SORM-2 कानून किसी भी संचार (इलेक्ट्रॉनिक या पारंपरिक) की सम्पूर्ण निगरानी के लिए लागू होता है। लंका में भी संचार की संपूर्ण निगरानी होती है।

हनुमान मच्छर के समान रूप धारण करते हैं। हनुमान न कहकर तुलसी उन्हें कपि कहना पसंद करते हैं। मच्छर जैसा रूप कपि ने रखा। हम इस पर आगे चर्चा करेंगे। बहरहाल बाल्मीकि रामायण के अनुसार विडाल के आकार के छोटे बन्दर का रूप था- सूर्ये चास्ते गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः/वृष दंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शन (वा.रा. 5/2/47) बृद्धधर्मपुराण (पू.ख.अ. 20/2), पद्मपुराण (बंगीय पाठ 1842 पृ. 1126) आदि में भी विडाल का रूप ही बताया गया है। अध्यात्मरामायण (5/3/20) चटक पक्षी का रूप बताती है। उत्तरपुराण भ्रमरतुल्य (68/298) बताती है। धनंजयकृत गणकचरित्र के अनुसार हनुमान क्रमशः भ्रमर विडाल तथा ज्योतिषी का रूप धारण करते हैं। गैर-भारतीय रामकियेन के अनुसार राक्षसरूप धारण करके हनुमान ने लंका प्रवेश किया था। तुलसी इन सबसे भी कहीं छोटा रूप धारण करना बताते हैं - 'मसक' या मच्छर का। सबसे छोटा। तुलसी उसे "अति लघु रूप" कह चुके हैं। तुलसी के ही समकालीन मार्टिन लूथर ने सबसे पहले "infinitesimus" शब्द का उपयोग किया था जिससे infinitesimals की अवधारणा आई। जिसका एक अर्थ "अति लघु" (extremely small) है और एक गणितीय अर्थ है - ऐसा चर या संक्रिया जो लगातार शून्य तक एक सीमा के रूप में पहुंचती हो (A variable or function continuously reaching zero as a limit.)

प्रसिद्ध गणितज्ञ अब्राहम रॉबिंसन ने infinitesimals की गड़बड़ करने वाली विशेषता का उल्लेख किया है, उसकी disturbing property का। हनुमान "अति लघु" हैं तभी वे लंका में गड़बड़ कर पाएंगे। रॉबिन्सन के अनुसार Infinitesimals have the disturbing property that while they are not nothing, no sum of them is ever greater than finite number, so the number sequence that includes them is not archimedean. तो हनुमान उसी डिस्टर्ब करने वाली प्रापर्टी का परिचय इस सुंदरकांड में देंगे। मच्छर के समान रूप। मच्छर छोटा-सा होने के बाद भी घातक है, हनुमान भी लंका के लिए

घातक हैं। घातक होने का यह भाव न तो विडाल से आ पाता, न भ्रमर से और न चटक पक्षी से। तुलसी मच्छर से यह संभव कर पाते हैं। मलेरिया, डेंगू, फाइलेरिया जैसे विभिन्न प्राणघाती रोग मच्छर के जरिए ही फैलते हैं। मच्छर के सामने विज्ञान भी परास्त हो गया है। मच्छर विभिन्न दवाओं के विरुद्ध इतनी जल्दी प्रतिरोधक शक्ति विकसित कर लेता है। दुर्दम्य हनुमान को इसी कारण मच्छर-समान कहा गया। हनुभाव के प्रभाव का वायरस फिर विभीषण, मंदोदरी माल्यवंत, शुक ही नहीं बल्कि आम लंकावासियों में भी फैल जाता है और रावण की कितनी ही कोशिशों के बावजूद खत्म ही नहीं होता। ये सब वही भाषा बोलने लगते हैं जो हनुमान ने रावण के समक्ष बोली थी। वायरस भी एक तरह का माइक्रोआर्गेनिज्म है।

यह बात ध्यान देने की है कि हनुमान ने सुरसा से भी जो मोर्चा जीता था, वह 'अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा' के जरिए ही जीता था। यहां भी उन्हें सुरसा के सामने अपनाई गई रणनीति की याद आती है। यह 'अति' पर विशेष बल क्यों है? क्या हनुमान कोई extremophile हो गये थे? Extremophile वे अतिसूक्ष्मजीव हैं जो उन हालात में भी जीवित रह लेते हैं जो अधिकतर जीवन-रूपों के लिए विनाशक हैं। हनुमान भी लंका में घुस रहे हैं। राक्षसों के उस क्षेत्र में जो अन्यों के लिए सांघातिक है। लेकिन हनुमान यहां न केवल स्वयं जीवित रहेंगे बल्कि मुमुर्षु सीता को भी सजीव कर जाएंगे। या हनुमान नैनोबेक्टीरिया की तरह हो गये थे? तुलसी के समय ये सब संकल्पनाएं प्रचलित नहीं हुई थीं। इसलिए वे 'अति लघु रूप' कहकर रह गए। 'अति लघु रूप' हनुमान के द्वारा अर्जित समस्त सिद्धियों में से लघिमा सिद्धि नहीं है। वह तो 'देह बिसाल परम हरुआई' में दिखेगी। यह अणिमा सिद्धि है जिसके तहत हनुमान 'मसक समान रूप कपि धरी' में सफल होते हैं। काष्ठ जिह्वास्वामी ने हनुमानजी की इस अणिमा-सिद्धि की ही चर्चा की है : 'हनुमत तह लघु रूप बने/अनिमा के परभाव जने।। अपुना जस के तस ही हैं/पै लोगन छोट सरूप गने।। अनिमा के प्रभाव ही से/तौ निकट वस्तु में दूर पने।। कोउ विडाल सम कोउ मसक सम कहत तहां संदेश जने/बड़ी नजर काहू की छोटी भये नजर के भेद घने।।' यहां स्वामी जी विभिन्न राम-कथाओं में उपलब्ध लघु-रूप हनुमानों की विभिन्नताओं को दर्शकों के दृष्टि-भ्रम की परिणति बताकर निवारित करते हैं। अणिमा क्या एक तरह का आप्टिकल इल्यूजन पैदा करती है? अणिमा-सिद्धि क्या सिर्फ एक तरह का दृष्टिगत पुनर्संगठन (perceptual organization) है? शायद नहीं। अणिमा-सिद्धि उससे महत्तर संघटना है। लेकिन यह सही है कि देखना किसी हद आत्मपरक (subjective) हैं। 'द होली ग्रेल' में टेनीसन उदाहरण देकर सिद्ध करता है कि जब देखी गई वस्तु सार्वभौम भी हो तो भी दिखाई देना आत्मपरक ही है। देखने (seeing) का वैयक्तिक (individual) होना असंभव नहीं। यह सिर्फ उत्तल या अवतल दर्पण की बात नहीं है, इसकी है कि कोई दृश्य कैसे दूसरों के द्वारा भासित होता है? लेकिन वाल्मीकि के यहां यह दूसरों के द्वारा भासित होना नहीं है, वहां तो 'ततः शरीरं संक्षिप्य तन्महीधर-संनिभम' की बात कही गई है। वहां तो 'सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारूति' : कहा गया है कि शरीर या देह को हनुमान ने संक्षिप्त कर लिया।

तुलसी के द्वारा हनुमान को मच्छर-समान लिखने पर पंडितों के सामने मुद्रिका का सवाल आया। क्या वह हनुमान से बड़ी नहीं दिख रही होगी? शास्त्रीय विद्वानों ने इस पर बड़ी दूर की कौड़ी लाने में दिमाग खपाया। वेदांत भूषण जी ने फरमाया कि यूरोपीय भ्रमणकारियों ने नारवे प्रदेश में भारतीय गोरैया पक्षी के बराबर मच्छर इसी शताब्दी में देखे हैं। 24 जनवरी 1996 के आउटलुक के अंक में टॉलीगंज के चमगादड़-बराबर मच्छरों की चर्चा है। वह मजाक में थी। लेकिन वेदांत भूषणजी का फरमाना तो कहीं प्रमाणित नहीं हुआ। विश्व का सबसे बड़ा मच्छर Toxo rhynchites speciosus है जिसकी मादा की खून चूसने वाली लंबाई 1.5 इंच तक है। इसलिए गोरैया पक्षी वाली बात जमती नहीं। वेदान्तभूषण

वाकई बड़ी दूर की- नार्वे की-कौड़ी लाए। सिर्फ एक मुद्रिका की खातिर इतनी माथापच्ची।

राम की मुद्रिका साधारण तो नहीं हो सकती बल्कि सुंदरकांड में मुद्रिका की बड़ी केंद्रीय भूमिका है। घनघोर अनियंत्रण, अवसाद और संज्ञाघात के पलों में सीता के समक्ष यह मुद्रिका प्रकट होना लगभग वैसा ही है जैसे नृसिंह का खंभे से प्रकट होना। मुद्रिका में भी वही चैतन्य है जो खंभे में था। कई अवतार यह सिद्ध करने के लिए हुए कि चैतन्य मनुष्यों के किसी वर्ग-विशेष में नहीं है। लेकिन नृसिंहावतार यह सिद्ध करने के लिए हुआ कि चैतन्य उसमें भी है जिसे हम अचर और स्थावर कहते हैं। यह ईश्वर के सर्वव्यापकत्व (omnipresence) की स्थापना का अवतार था। हिरण्यकशिपु की प्रहलाद को यही चुनौती तो थी कि क्या तेरा विष्णु इस खंभे में भी हैं। प्रहलाद की आस्था थी कि वह सर्वत्र है। हिरण्यकशिपु जब प्रहलाद को खंभे से बांधता है और कहता है : 'ओ अति दुर्भाग्यशाली प्रहलाद, तूने हमेशा मेरे अलावा किसी परमात्मा की बात की, वह परमात्मा जो सबसे ऊपर है, जो सबका नियंता है, जो सर्वव्यापी है। लेकिन कहां है वह? यदि वह हर जगह है तो वह मेरे सामने इस खंभे में क्यों नहीं है।' प्रहलाद का उत्तर था कि वह था, वह है और वह होगा। विष्णु का तो अर्थ ही व्याप्ति से है। वह घटघटवासी है। स्तंभ से नृसिंह का प्रादुर्भाव बहुत दृढ़ता से स्थापित करता था कि जिसे हम अचेतन या पदार्थ कहते हैं वह भी चैतन्य है। उसी प्रकार राम की मुद्रिका भी चिद्रूपा है और सीता के विषाद के अवसन्न क्षणों में उसका प्राकट्य उन्हें सस्पंद कर देता है। जिसे गीतावली में कवि ने यों कहा है : 'कि यो सीय प्रबोध मुदरी दियो कपिहि लखाऊ।' जिन्हें हम जड़ कहते हैं, वे भी न केवल ऊर्जा को धारित करते हैं, बल्कि उन्हें संचरित भी करते हैं। मुद्रिका सीता को एक तरह से चेतना लाभ कराती है। सीता जैसे एक तरह से अपना आपा ही खो बैठी थीं। मुद्रिका से जैसे उनकी सुध बुध लौटती है। प्रहलाद पर हिरण्यकशिपु के अत्याचार भी उतने ही सांघातिक थे। प्रहलाद जब कहते हैं कि 'वह खंभों में भी है और सबसे छोटी शाख में भी है' तो हिरण्यकशिपु अपनी गदा खंभे पर ही दे मारता है और विष्णु एक भयानक ध्वनि के बीच प्रकट होते हैं। इसलिए आश्चर्य नहीं कि हनुमान को बरबस लंका प्रवेश के समय नृसिंह भगवान की याद आती है। हनुमान के राम इसीलिए तो राम हैं कि वे रमैया हैं। सर्वत्र रमण करते हैं। नृसिंह के जरिए यही स्थापना की गई थी। नृसिंह का अवतारत्व इस मौके पर हनुमान के लिए एक महत्वपूर्ण स्मृति-बिंदु है। म्यानमार में मनुसिहा और थाईलैंड में थेपनोरसिंह भी मनुष्य और सिंह का मेल है। स्फिंक्स के प्रतीक भी ऐसे ही थे। दक्षिण भारत के पुरुषमृग और तमिल के पुरुषमिरुकम भी मनुष्य और सिंह के मेल हैं। लेकिन नृसिंह में सिंह का चेहरा और नाखून है और शरीर मानवाकार है। इस मायने में नृसिंह सबसे अलग हैं। वैसे भी यह नृसिंह अवतार ही अपने आप में विलक्षण है। नृसिंह अवतार पर काफी काम करने वाले देबोराह सोइफर, का मानना है कि विष्णु के वेदों में जो लक्षण हैं, कमोबेश उनके अवतारों में भी वे ही लक्षण हैं लेकिन नृसिंह अवतार का कोई पूर्व-रूप (precursor) वैदिक सामग्री में नहीं मिलता। सिवाय एक वाक्य पद के जो एक शिष्ट (bening) विष्णु के भयावह (savage) पक्ष की संभावना को संपूर्णतः खत्म नहीं करता। नृसिंह के द्वारा वर्णित विष्णु का यह हिंसक (violent) पहलू ध्यान देने की बात है। यह पुस्तक नृसिंह का रूप धरने वाले 'विष्णु की वैदिक जड़ों के (Enigma) की बात करती है। पर यह भी मानती है कि नृसिंह का रूप (figure) कहां से आया, यह एक बिना सुलझा हुआ रहस्य है।'

लेकिन नृसिंह की यह भिन्नता ही वह कारण है जिसके चलते हनुमान को लंका प्रवेश के पहले सिर्फ नृसिंह याद आते हैं। लंका में हनुमान को कुछ खूंखार (savage) काम करने हैं। कुछ वज्र और हिंस्र काम। लंका दहन कुछ ऐसा ही प्रसंग है जो दारुण और विकराल है। उदग्र, तुमुल और त्रासक। विकट और विषम। तो शायद यह नियति का संयोग हो कि हनुमानजी

को भी लंका प्रवेश के ऐन मौके पर सभी अवतारों में से एक यह प्रचंड और भीष्म नृसिंह ही याद आए। जब हनुमान लंका के आकाश में 'मंदिर ते मंदिर चढ़ धाई' उड़ रहे होंगे तो ब्रह्मपुराण में एक सघन घन (dark cloud) की तरह दिखने वाले, उस जैसी ऊर्जा से प्रकाशित और वैसे ही क्षिप्र नृसिंह की स्मृति हमें बरबस ही आ जाएगी।

नृसिंह की एक और विशेषता है। किसी भी अन्य अवतार में असत् के विनाश के लिए उचित 'देश' और उचित 'काल' का वह बोध नहीं है जो उनके अवतरण को परिभाषित-सा करता हो। नृसिंह हिरण्यकशिपु का वध ही नहीं करते, वे इस कार्य की समय-विशिष्टि और स्थान-विशिष्टि का भी ध्यान रखते हैं। हनुमान जब लंका में घुस रहे हैं तो उन्हें भी इन बारीकियों का ध्यान रखना होगा। परशुराम-राम-कृष्ण आदि अवतारों की तरह बचपन से लेकर आयु का विस्तृत प्रतिफलन नृसिंह में नहीं है। वे तो प्राकट्य के साथ ही अवतार का प्रयोजन पूरा करने लगते हैं। सुंदरकांड में हनुमान से भी बस यही अपेक्षा है कि वे रामकाज पर ही केन्द्रित रहें।

नरसिंह का एक सीधा अर्थ शूरवीर से है। नरनाहर होने से। नर शार्दूल होने से, पुरुष केसरी होने से, शेर अफगन होने से, हनुमान को लंका में अपनी वही जवांमर्दी, वही जाँबाजी ही तो दिखानी है। इसलिए नृसिंह का स्मरण आना अच्छा शगुन ही हुआ। वैसे भी 'पुरुषसिंह दोउ बीर' जैसी उद्‌भावना भगवान राम के लिए ही थी। अतः 'पुरुषसिंह' और 'नरहरि' समान ही हुए। दोउ बीर यानी राम लक्ष्मण। वैसे भी नर लक्ष्मण है और 'हरि' राम, अतः नरहरि में राम लक्ष्मण का स्मरण भी आ ही जाता है। हिरण्यकशिपु ने जब ब्रह्मा के वर से मृत्यु द्वार को अवरुद्ध कर दिया था तो नृसिंह ने उसे खोला था। रावण ने भी मृत्यु-द्वार को ब्रह्मा के ही वर से अवरुद्ध कर दिया है। इसलिए लंका के द्वार पर ही हनुमान को बरबस नृसिंह भगवान याद आ जाते हैं। वे तो स्तंभ को भी द्वार बना देते हैं। रावण तो 'नर बानर केहिं लेखे माँहीं' के मद में ग्रस्त था। नर (राम) और वानर (हरी)। अब दोनों ही मृत्यु द्वार खोलने के लिए आ रहे हैं। इसलिए 'नरहरि' का स्मरण स्वाभाविक ही है। यह कारण न समझकर कुछ पंडितों ने ऐसी व्याख्या भी की है जो अवतारों के बीच में भी वनअपमैनशिप के खेल करती है। एक सज्जन का कहना है कि नरसिंह को ध्यान रख रामभक्त हनुमान चले तो पकड़े गये। भक्ति में एक निष्ठता चाहिए। इन व्याख्याकारों के मान से हनुमान का नृसिंह को याद करना भी एक गुनाह हो गया और हनुमान सरीखों की एकनिष्ठा पर प्रश्न होने लगे। ऐसी व्याख्याएं जबरन की विभाजनपरक मानसिकता की व्याख्याएं हैं जिससे राम और नृसिंह दोनों एक-दूसरे के लिए अस्वीकार्य और प्रतिकूल परिणामी हो जाएं! यदि नृसिंह को सुमिरने से लंकिनी 'स्पाट' कर लेती है तो 'कोसलपुर राजा' को हृदय में रखकर चलने से तो 'नागपाश बांधेहि सो चलहु' की स्थिति आ जाती है। उसका क्या मतलब हुआ? नृसिंह का इस प्रसंग में स्मरण साशय है जैसा कि हमने ऊपर की अपनी व्याख्या में देखा। इसलिए हमने ऊपर इनके तात्विक अभेद्य की भी चर्चा की है।

नृसिंह की हमारी जातीय स्मृति एक अदम्य और दुरतिक्रम, दुर्धर्ष और उत्कट अवतार की है। उनका स्मरण हनुमान करते हैं क्योंकि लंका में उनकी उपस्थिति भी उतनी ही तूफानी और दुर्दम होने जा रही है। यदि लंका में 'पुर रखवारे' हैं तो हनुमान सबसे बड़े रक्षक को क्यों याद नहीं करेंगे : 'त्वयि रक्षति रक्षके किं अन्ये' वेदान्त देशिका में नृसिंह के लिए यही तो कहा था : जिसकी रक्षा वे करते हैं, उन्हें किसी और रक्षक की जरूरत क्या?

नाम लंकिनी एक निसिचरी।
सो कह चलेसि मोहि निंदरी।।
जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा।
मोर अहार जहाँ लगि चोरा।।
मुठिका एक महाकपि हनी।
रुधिर बमत धरनीं ढनमनी।।
पुनि संभारि उठी सो लंका।
जोरि पानि कर बिनय ससंका।।

लंकिनी नाम की एक राक्षसी थी। वह बोली कि मेरा निरादर करके कहां चला जा रहा है। अरे सठ, तू मेरा मर्म नहीं जानता कि जहां तक चोर हैं वे मेरा आहार हैं। श्री हनुमान ने एक घूंसा मारा जिससे वह खून उगलती हुई पृथ्वी पर लुढ़क पड़ी। फिर वह लंकिनी अपने को संभालकर उठी और डरती हुई हाथ जोड़कर विनती करने लगी।

यह सिर्फ भारत में नहीं है बल्कि ग्रीस से लेकर चीनी सभ्यताओं तक में यह विश्वास है कि हर नगर की एक संरक्षिका देवी या देवता या आत्मा होती है। जापान में हर शहर का एक 'उजिगामी' (individually enshrined tutelary deity) होता/होती है। बेबीलोन और असीरिया में भी यह था। एरिडु शहर के इआ, उर शहर के नन्नार और लारसा शहर के शमाश रक्षक थे। चीन में भी यह मान्यता है कि संरक्षक देव/देवी शहर पर 'वाच' रखते हैं। चीनी सभ्यता के इतिहासकारों ने शहर रक्षकों की इस परंपरा को दैवीय नौकरशाही (divine bureaucracy) कहा है। उनका कहना था कि :- 'There in fact may also be a relation between the city god and official.' चीन के कई शहरों में नगरीय देवता का एक मंदिर भी पाया जाता है। क्विंग वंश के समय से 'सिटी गॉड' (शिंग वोंग) की यह परंपरा हर चीनी शहर में चली आ रही है। शंघाई शहर की रक्षा जिनशान नामक एक आत्मा (spirit) करती है। हर शहर की पहरेदारी के लिए एक शेंगुआंग है। ईसप की एक कथा में एक आदमी की जब कुल्हाड़ी गुम जाती है और आसपास के मजदूर भी जब उसका पता नहीं बता पाते तो उस आदमी को यही विश्वास है कि The thief would not pass undetected by the shrewder gods of the town. ग्रीस में थिअई पोलिकोई (Theoi Polikoi) शहरी देव थे- हेस्तिया, यूनोमिया आदि। वहां हर नगर राज्य का एक खास देवता/देवी होती थी। कई नगर-राज्यों ने उनके लिए मंदिर भी बनाए थे। लंकिनी भी इसी तरह इस नगर की रक्षिका है। लेकिन लंका शहर की 'स्पिरिट' है तो राक्षसी ही। इसलिए तुलसी कहते हैं : नाम लंकिनी एक निशिचरी। जब हनुमान '**निसि** नगर करौं पइसार' की सोचते हैं तो उसके प्रति-द्वन्द्व में मिलनी भी 'निसिचरी' ही थी। मुझे एबिअल सिल्वर एवं जॉन विलियम कोलेन्सो की पुस्तक 'द होली वर्ड इन इट्स ओन सिटी'- याद आती है जिसमें कहा गया है : Every sinful heart has its Babel, and every wicked people, their base city and tower. कि हर पापात्मा का अपना बुर्ज है और हर दुष्ट जनसमूह का अपना आधार-शहर और बुर्ज। लंका उस समय के पापात्माओं और दुष्ट लोगों का आश्रय स्थल थी। एक ऐसी जगह जहां भोग की संस्कृति ही प्रधान थी। रावण का इसीलिए तो कहना था- 'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती।' मेरे शहर में तपस्वियों से प्रेम! रावणों के शहर में तपस्वियों पर स्नेह की संभावना शून्य है। वहां तो भोग (consumption) की अति है और परिग्रह (acquisitiveness) की भी।

यह ध्यान दें कि 1880 में अंग्रेजी कलाकार और समीक्षक जॉन रस्किन ने एक पत्र में लिखा था : Cities are loathsome centres of fornication and covetousness - the smoke of sin going up into the face of heaven like the furnace of sodom. कि शहर दुराचार और वासना के घृणित केंद्र हैं- पाप का धुंआ उनमें आकाश की ओर वैसे ही उठता रहता है जैसे सोडोम की भट्टी हो। पश्चिमी सामाजिक आलोचना में शहर को सोडोम (पैशाचिक नगरी) की तरह वर्णित करना आम हो गया है। शहर को इस आलोचना में शिथिल नैतिकताओं, पापों और लंपटताओं का स्थान माना जाता है।

लेकिन तुलसी नगर मात्र का इस तरह से सामान्यीकरण नहीं करते, इसलिए वे 'लंका' का नाम लेते हैं। उनकी परंपरा में नगर मायावी भी होते हैं- मय द्वारा बनाए हुए- , दिव्य/अद्भुत भी- विश्वकर्मा द्वारा बनाए हुए और अयथार्थ भी- गंधर्वों द्वारा बनाए हुए। निर्माण से कहीं ज्यादा किसी नगर के चरित्र को परिभाषित करता है वहां पर रहने वाले लोगों का स्वभाव। लंका यों तो विश्वकर्मा के द्वारा बनाई गई थी, लेकिन रावण-राज में उसकी प्रकृति राक्षसी हो गई। लंकिनी इसी प्रकृति, इसी स्पिरिट की सूचक है, वह शहर की 'कोर' है। यह भी ध्यान दें कि मायावी नगरी बनाने वाले 'मय' ने अपनी पुत्री का विवाह रावण से किया था। 'सर्वं हेममयं पुरम्/ वज्रवैदूर्य चित्रं च मायया निर्मितं मया' के रूप में रावण-

संहिता में मय, अपना परिचय रावण को देता है। जेक्लीन टाइविट् के शब्दों में : The big city, the residential neighbourhood .... each must have its own heart or nucleus or core .... The core is not the seat of civic dignity ..... Somewhere, whether planned or not planned, a place exists that provides a physical setting for the expansion of collective emotion. क्या लंकिनी भी लंका की आत्मा का मूर्तिमंत रूप है? क्या वह भी एक तरह की 'genius loci' है? लंका की? हनुमान इसके पहले लंका का एक विहगावलोकन कर चुके हैं- इसके हाट-बाजार-कॉरीडोर-सिटी सेंटर-ओपन स्पेस-सैन्य-समूह-वन-बाग-अखाड़े-सबका। लेकिन इन सबके बाद भी कुछ ऐसा है जो लंकिनी को यह कहने को विवश करता है कि 'जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा।' यह कौन सा मर्म है जिसकी बात लंकिनी कर रही है? वह लंका की छवि की बात नहीं कर रही, मर्म की बात कर रही है। यह मर्म क्या है?

मेडिसिन जूलियस कैवीन ने Genius loci पर एक बहुत ही प्यारी और प्रसिद्ध कविता लिखी है। इस कविता के शुरुआती शब्द इस प्रकार हैं:-

What wood-god, on this water's mossy curb,
Lost in reflections of earth's loveliness,
Did I, just now, unconsciously **disturb?**
I, who haphazard, wardering at a guess,
Came on this spot, wherein, with gold and flame
of buds and blooms, the season writes its name

यहां हनुमान भी अनजाने में लंकिनी को **डिस्टर्ब** कर देते हैं और लंकिनी उन्हें इसी कारण 'शठ' भी कहती है।

रोमन पौराणिकी में genius loci किसी स्थान की संरक्षिका आत्मा (protective spirit) को कहते हैं। आज हम उसे किसी स्थान की अस्मिता के रूप में व्याख्यायित कर सकते हैं। एलेक्जेंडर पोप ने अपनी एक कविता में कहा था :

Consult the genius of the place in all
That tells the waters to rise or fall

'ड्रेस्डन फाइल्स' जैसी आधुनिक फंतासी रचनाओं में genius loci एक बुद्धिमान आत्मा (spirit) या जादुई शक्ति के रूप में दर्शाई गई है जो किसी स्थान से बंधी (bound) रहती है। लंकिनी भी ऐसी ही प्रतीत होती है। बुद्धिमान तो वह है ही जो अणिमा-सम्पन्न हनुमान तक को पहचान लेती है। या इसे उलटा कर लें और genius loci को यदि हम किसी स्थान की अनुभूति (Sense of place) के रूप में व्याख्यायित करें- जैसा कि आधुनिक स्थापत्य-कला में किया जाता है- तो शायद इस प्रसंग से अर्थ यह निकलता है कि लंका में प्रवेश से पहले हनुमान ने उसकी 'फील' ली।

वर्मोन ली की पुस्तक 'Genius Loci' इस मामले को समझने में हमें और मदद करती है : Genius loci. A divinity, certainly, great or small as the case may be. But, for mercy's sake, not a personification, not a man or woman with mural crown and attributes, and detestable definite history, like the dreadful ladies who sit round the place de la Concorde. The Genius loci, like all worthy divinities, is of the substance of our heart and mind, a spiritual reality. And as for the visible embodiment, why that is the place itself or the country. वह उसे एक ऐसी दिव्य शक्ति के रूप में वर्णित करता है जिसे सिर्फ एक मानवीकरण के रूप में नहीं समझा जा सकता। वह तो एक तरह का आध्यात्मिक यथार्थ है, मन-मस्तिष्क का अभ्यंतर सार है, जिसका मूर्त प्रत्यक्षीकरण वह जगह स्वयं है। वाल्मीकि ने भी "नगरी स्वेन रूपेण" कहकर लंका का परिचय "नगरी की अधिष्ठात्री देवी" के रूप में ही दिया है। आगे स्वयं

लंका यह कहती है कि : 'अहं हि नगरी लङ्का स्वयमेव प्लवङ्गम/सर्वतः परिरक्षामि अतस्ते कथितं मया।' (वानर! मैं स्वयं ही लंका नगरी हूँ, अतः सब ओर से इसकी रक्षा करती हूँ। यही कारण है कि मैंने तेरे प्रति कठोर वाणी का प्रयोग किया है।) लंका में प्रवेश के पूर्व हनुमान के लिए जरूरी है कि वे लंका के अन्तस्तत्व को पहचान लें, उस आंतरिक तथ्य को जान लें जो लंका को परिभाषित करता है। हनुमान इस विवक्षित को, इस अंतर्हित को, इस अंतर्भाव को समझे बिना लंका में प्रवेश करें तो यह बात ठीक नहीं होगी। लंका को इसमें अपनी अवमानना लगती है, अपनी अपकीर्ति लगती है।

और यह सही भी है यह कल्पना करना कि लंका जैसी नगरी का कोई genius loci ही नहीं होगा, उसकी सरासर अवहेलना है। हनुमान का ऐसा इरादा न भी रहा हो, तो भी लंकिनी उसे एक लांछना की ही तरह लेती है। इसलिए वह कहती है कि मेरी अनदेखी करके तू कहां चला जा रहा है। लंका की genius loci उसकी निर्मिति में नहीं, उसके निवासियों में थी। उसके भवनों में नहीं, उसकी भावना में। वह भावना जो रावण की प्रभावना में अनुरंजित है। यह बात अगली पंक्ति से स्पष्ट होती है जब वह कहती है : 'जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा।' तो बात इसी 'मरमु' की है जिसे मैं genius loci कह रहा हूं। लंकिनी लंका के उसी अंतरंग, उसी सब्सटेंस, उसी अन्तःभूत बीज की, उसी लुब्बेलुआब की बात कर रही है। अध्यात्म रामायण भी यही कहती है : तत्र लंकापुरी साक्षात् वेषधारिणी (5/1/43)। वाल्मीकि भी यही लिख रहे थे : नगरी स्वेन रूपेण ददर्श पवनात्मजम् (5/3/20)। अहं हि नगरी लंका स्वमेव प्लवंगम (वाल्मी. 5/3/30)। यह लंकिनी, इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि, स्वयं लंका की अधिष्ठात्री देवी है। लेकिन लंका की धरती पर ही रावण ने कब्जा नहीं किया है, लंका की आत्मा को भी उसने कैप्चर कर लिया है। यह लंकिनी उसी कैप्चर की प्रभावना में बोल रही है। औपनिवेशन के प्रभाव धीरे-धीरे औपनिवेशित के भीतर गहरे तक उतर जाते हैं। फिर वह अपने शासकों के स्वर में बोलने लगता है। फ्रांत्ज फैनन ने अपनी पुस्तक 'ब्लैक स्किन, व्हाइट मॉस्क' में कहा था :- Every colonized people - in other words, every people in whose soul an inferiority complex faces with the language of the civilizing nation the colinized is elevated above his jungle status in proportion to his adoption of cultural standards of the colonizer. लंकिनी- विश्वकर्मा द्वारा निर्मित लंका की आत्मा, जहां पुलस्त्य, विश्रवा, कुबेर जैसे लोग रहे हों- अब रावण की भाषा में बोल रही है। हनुमान उसे 'सठ' लग रहे हैं। शठ शब्द का अर्थ कुछ लोगों ने मूर्ख के अर्थ में किया है किन्तु वाल्मीकि के यहां 'मामनिर्जित्य दुर्बुद्धे राक्षसेश्वरपालिता/न शक्यमद्य ते द्रष्टुं पुरीयं वानराधम' प्रयुक्त शब्द दुर्बुद्धि और अधमता पर जोर देते हैं जो 'दुष्ट' के भावार्थ में अधिक अनुकूल है। उसकी चेतना की औपनिवेशिक कलरिंग हो चुकी है। उसे हनुमान 'चोर' नजर आते हैं। इसलिए यह genius loci स्थापत्य में दृष्टव्य नहीं है, आधिपत्य में है। यह विडम्बना ही है कि लंकिनी हनुमान से कहती है कि 'जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा।' सच तो यह है कि वह स्वयं एक आत्म-विस्मृति की शिकार है। फैनन ने अपनी पुस्तक 'द रेचेड ऑफ द अर्थ' में कहा था कि 'Colonialism forces the colonized to constantly ask the question : Who am I in reality.' यहां तो ये प्रश्न भी समाप्त हो गए हैं और लंका ने अपनी उसी परिभाषा को कहीं गहरे तक मान लिया है जो उसे रावण ने दी है। उसने इस 'मास्क' को ही अपनी पहचान स्वीकार लिया है। इसलिए वाल्मीकि रामायण में लंकिनी अपना परिचय यों देती है : 'मैं महामना राक्षसराज रावण की आज्ञा की प्रतीक्षा करने वाली उनकी सेविका हूँ। मैं दुर्धर्ष हूँ और इस नगरी की रक्षा करती हूँ।' 'अहं राक्षसराजस्य रावणस्य महात्मनः/ आज्ञा प्रतीक्षा दुर्धर्षा रक्षामि नगरीमियाम्।'

मुझे लगता है कि लंकिनी इसी मर्म की बात कर रही है न कि इसकी कि चोर उसका आहार हैं। वे तो किसी भी राक्षसी पहरेदार के होंगे। क्या उसे सीक्योरिटी गार्ड या डोरकीपर या वॉचडाग के रूप में ही बस दिखाया जाना तुलसी का अभिप्रेत था? बात इसकी थी कि क्या हनुमान लंका की छवि से कहीं अधिक महत्वपूर्ण उसके मर्म से साक्षात्कृत हुए हैं? यदि नहीं तो यह लंका की भी डाउनरेटिंग है कि यह वह नगर है जिसकी कोई पहचान नहीं, कोई आत्मा नहीं, कोई 'सेल्फ' नहीं। यह मात्र कुछ भवनों और शिल्पों और निवासियों का समुच्चय है। यदि हनुमान इस शहर को सोललेस और अनफीलिंग मान कर चले तो इसका मतलब है कि लंका में पहुँचकर भी लंका से उनका डिस्कनेस्ट है।

इसलिये लंकिनी का जोर 'मर्म' पर है, लंका के 'एसेंस' पर। लंका के 'essentia' पर। लेकिन जब लंकिनी ने हनुमान को शठ कहा तो उसके कहने के तेवर से एक सरस्वतीकृत अर्थ भी निकल आया। ऐसा लगा कि वह कह रही हो कि तू मेरे शठ मर्म को नहीं जानता। क्या यह शठ मर्म वही Wicked heart है जिसके बारे में बाइबल में कहा गया : The heart is deceitful above all things and beyond cure. Who can understand it? जिसके बारे में बाइबल में कहा गया : 'The wicked heart set to do evil.' ओल्ड टेस्टामेंट अक्सर एक शठ हृदय की बात करती है। लंका 'दुष्ट हृदय' नगर है। अधिकतर शहर अपनी चूहा दौड़ में हृदय की सहज-स्वस्थ प्रेरणाएँ भूलते जाते हैं और संवेदनाएँ छीजती चली जाती हैं। जोसैया स्ट्रांग ने 'द चैलेंज ऑफ द सिटी' इसी थीम पर लिखी थी। लंका भी वही चुनौती फेंकती लगती है। स्ट्रांग की पुस्तक की तारीफ करते हुये जे.एस. बुड्सवर्थ ने यही लिखा था कि Unless certain tendencies are checked at once, it is appalling to think what will result with the growth of the city. लेकिन जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं कि तुलसी सामान्यीकरणों में विश्वास नहीं करते, वे लंका नाम के एक विशेष रूप से राक्षसी हो चुके नगर की बात जरूर कहते हैं। सामान्यतः ऐसी दारुण हृदय नगरियों के बारे में तो यह कहा जाता है कि 'बच के निकल जा इस बस्ती से करता मुहब्बत कोई नहीं।' यहाँ हनुमान तो उसमें घुस रहे हैं। साभिप्राय जानबूझकर महावीर हैं वे। दुष्टता से कतराते नहीं हैं, भिड़ते हैं।

इस प्रसंग में चौपाई की दूसरी अर्धाली मुझे और रहस्यपूर्ण लगती है। लंकिनी कहती है कि 'मोर अहार जहाँ लगि चोरा।' तुलसी ने सीधे-सीधे यह क्यों नहीं कहा कि चोर मेरा आहार है। यह 'जहाँ लगि' की बात क्यों आई? क्या यह 'जहाँ लगि' मोर अहार के लिये ज्यादा उपयुक्त नहीं बैठता? 'चोर' के संदर्भ की अपेक्षा? तुलसी देहली दीपक का कुशल उपयोग करते हैं। यह हम अभी-अभी 'सठ' शब्द के प्रयोग में देखे ही हैं। फिर यहाँ 'जहाँ लगि' भी कुछ ऐसा ही दोहरा प्रकाश फैलाता लग रहा है।

लंका का आहार ही, लंका का खानपान ही चौर्य कर्म से चलता है। वह एक ऐसा राज्य है जो लूटपाट से ही रावण-राज में पनपा। अधिकतर साम्राज्यवादी शक्तियाँ इस पृथ्वी के इतिहास में 'प्लंडर' के सिद्धान्त पर ही चली हैं। नव-साम्राज्यवाद भी जीन-रॉबरी से लेकर पेटेन्ट पाइरेसी पर आधारित रहा है। जब पोप के 'बुल' निकले थे तो वह लूट के आधार पर ही विश्व-विजय के लिये निकले थे। तब भी यूरोपीय बादशाहों ने 'पेटेंट' जारी किया था, अब भी पेटेन्टों के बीच बाओ-पाइरेसी (जैव-चोरी) जारी है। पहले उन्होंने दुनिया भर की जमीनों, संपदाओं और प्राकृतिक संसाधनों के जरिए अपनी बुभुक्षा शान्त की और अब बौद्धिक संपदाओं की चोरी की उनकी भूख प्रत्यक्ष दिखाई देती है। लंका में सत्ता का आदर्श ही चोरी है : 'Power is stealing from the many to the few.' (Wendell Philips). लंका में एक शिकारी पूंजीवाद (predatory capitalism) स्थापित किया गया। सोने की लंका ऐसे ही नहीं हो गई सोने की। जब दुनिया भर का धन लूटा गया, लंका का पेट भरा गया। कार्ल मार्क्स ने भी भुक्खड़ पूंजीवादी

मशीन (voracious capitalist machine) की बात की थी। लंका का साम्राज्य एक सर्वभक्षी धनलोलुपता का साम्राज्य था। एक ऐसी सर्वग्रासी अर्थेच्छा का जो दुनिया भर के किसी भी सुख, संसाधन और संतोष को 'हरी आँख' से देखता था। लंकिनी भकोसने की उसी उत्कट वासना का इजहार इस अर्धाली में करती है। जहां तक चोर हैं वहां तक मेरा आहार है। अपहरण और तस्करी, दस्युता और सबसे घटिया किस्म की भड़िहाई से ही लंका अपना पोषण प्राप्त करती थी। भारतीय जीवनादर्श यह रहा था कि मनुष्य अपनी जरूरत से ज्यादा जितना भी लेता है, वह चोरी करता है। लंका स्पष्टतः इसका प्रतिलोम थी। धनाध्यक्ष कुबेर को अपदस्थ करके लंका पर आधिपत्य करने वाले रावण के राज में 'बाढ़े खल बहु चोर जुआरा/जे लंपट परधन परदारा' की बात तुलसी ने बालकांड में शुरू में ही की थी। इसलिए लंकिनी को चोर से क्या आपत्ति होती? यदि वह हनुमान को चोर समझती होती तो भी 'चोर चोर मौसेरे भाई' के न्याय से उसे बहुत ऐतराज की गुंजाइश नहीं थी। या फिर यह उस स्पेनिश और डेनिश कहावत वाला मामला है कि 'चोर को सब चोर लगते हैं', इसलिए लंका को हनुमान चोर लगते है।' अन्यथा वे जो ज्ञानिनामग्रगण्यं हैं, वे जो सकलगुणनिधानं हैं- वे चोर कैसे हो सकते हैं? या वे लग भी कैसे सकते हैं?

इसलिए हनुमान के सामने जब वह अपना शठ मर्म उद्घाटित करती है, तो वह अपने भोजनभट्ट होने का गान नहीं कर रही, न वह यह कह रही है कि चोरों को वह उदरस्थ कर जाती है बल्कि वह लंका के मूल पिंड में जो चौर्य कर्म है, अपहृति है- उसकी ओर हनुमान का ध्यान खींच रही है। इस तरह की वृत्ति स्वाभाविक रूप से हनुमान की असहमति और अमर्ष को आमंत्रित करती है। लिहाजा हनुमान की एक मुट्ठी तो उसे झेलनी ही पड़ती है। क्योंकि इस तरह के राज्य-कर्म के सामने--इस तरह के राज्य-मर्म के सामने-हनुमान को भी फिर अपना महाकार ही प्रकट करना पड़ता है। इसलिए 'अति लघु रूप' हनुमान 'महाकपि' में प्रोन्नत और परिणत हो जाते हैं। सतोगुणी सुरसा के सामने हनुमान रूपांतरण का यह खेल दिखा चुके हैं तो रजोगुणी लंकिनी की क्या बिसात? छोटा दिखने के कारण कई बार लोगों को हल्के में ले लिया जाता है। लेकिन हनुमान की लघिमा और महिमा उनके लिए संकल्पात्मक है। वह उनकी मजबूरी नहीं है, वह उनकी फ्रीडम ऑफ च्वाइस है। अन्यथा हनुमान तो प्रकृति से ही महान हैं और चाणक्य की तरह हम भी जानते हैं कि 'प्रकृति महतां जात्यं तेजो न मूर्तिमपेक्षते' कि जो प्रकृति से ही महान हैं उनके स्वाभाविक तेज को किसी (शारीरिक) आकार-प्रकार की अपेक्षा नहीं होती है। 'बूटी कैपिटलिज्म' की प्रतीक लंका को हनुमान यह जताते हैं कि वह उन्हें छोटा आंकने की भूल न करे। छोटों की नियति हमेशा ही उसके सामने पिटते रहने की नहीं है। यदि वे संकल्पबद्ध हो जाएं- तो एक घूंसा ही काफी है। वे पीट भी सकते हैं। 'मुठिका' उसी मुठभेड़ की प्रतीक है। 'अति लघु' हमेशा राक्षसों की मुट्ठी ही थोड़े गरम करता रहेगा। वह मुठभेड़ करेगा। कभी उसका भी पाणिघात होगा। जब उसकी संकेतनी, उसकी ज्येष्ठा, उसकी अनामिका, उसकी कणिका और उसका करवीर मिलकर एक हो जाएंगे तब थोड़े से मुकियाने से ही 'शिकारी पूंजीवाद' के प्रकट स्वरूप उलटी करने लगेंगे। जब एक रपट्टा पड़ेगा तो उसी में वे दस गुलाटियां खा जाएंगे। हमारे समाज के 'अति लघु' की ही हमेशा धुनाई ही होती रही है। हमेशा उसी का ताड़न किया जाता रहा है, उसी की कुटाई होती रही है। एक बार जो उसने एक होकर, संकल्पित होकर प्रहार किया तो धरती घूम जाएगी। आततायियों की आँखों के सामने। तब उन्हें उस 'अति लघु' का 'महाकपि' होना समझ में आएगा। अन्यथा अभी तो उसे मसक के समान मसल दिया जाता है। अन्यथा अभी तो वे आदमी नहीं हैं, कीड़े-मकोड़े हैं। 'अति लघु' जब तक अलग-अलग है, तब तक ही वह अति लघु है। जब वह 'एक' हुआ तो वह तत्काल 'महा' भी हो जाता है। तब उसके शोषकों को पटकनी खाना पड़ती है। तब वे चारों खाने चित्त हो जाते हैं। तब आसमान में उड़ रहे लोगों के नीचे

से जमीन खिसक जाती है। फिर तो उन्हें खून की उलटियां होने लगती हैं।

अब यह हनुमान जी का मुष्टि-प्रहार अपने आप में अद्‌भुत है। यह जब होता है तो हमेशा सामने वाले को विमूर्छित कर देता है। मेघनाद को इसी सुंदरकांड में एक क्षण के लिए संज्ञाहीन इसी एक मुष्टिका के वार ने कर दिया- 'मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई/ताहि एक छन मुरुछा आई।' कुंभकर्ण लंकाकांड में इसका स्वाद चखता है- 'तब मारुतसुत मुठिका हन्यो/पर्‌यो धरनि ब्याकुल सिर धुन्यो।' रावण भी 'मुठिका एक ताहि कपि मारा/परेउ सैल जनु वज्र पहारा/मुरुछा गै बहोरि सो जागा/कपि बल बिपुल सराहन लागा।' हनुमान का पंच झेलना सरल नहीं है। सभी उससे नॉक आउट हो जाते हैं। मुष्टिका-युद्ध (fist fighting) सुमेरियन से लेकर मेसोपोटेमिअन चित्रों तक में दिखाई देता है। बाद में बॉक्सिंग एक पूर्णतः उन्नत खेल-कला में परिणत हो गया। हनुमान खेल नहीं कर रहे, यह उनके घूंसे से लंकिनी को पता लग गया। लिहाजा वह अब गंभीर और विनीत भी हो गई। एक पाणिघात ने "जोरि पानि कर" की स्थिति में पहुंचा दिया, लेकिन महत्व की बात यह है कि हनुमान की 'मुठिका' जहां दूसरों को बेहोश कर देती है, लंकिनी के होश ठिकाने आ जाते हैं। जब हनुमान के पंच से अच्छे अच्छों की सिट्‌टी पिट्‌टी गुम हो जाती है, लंकिनी को उससे आत्म-स्मृति होती है, आत्म-संज्ञा। उसकी चेतना पर चढ़ी जिस औपनिवेशिक कलई की बात हमने ऊपर की है, वह उतर जाती है। हमने ऊपर लंकिनी की जिस आत्म-विस्मृति की चर्चा की है, वह अब खत्म हो जाती है। हनुमान कहीं यह जानते हैं कि लंकिनी के साथ न्याय उसकी मूर्च्छा से नहीं होगा, उसके चैतन्य से ही होगा। इसलिए रजोगुणी लंका को उनकी मुठिका आत्म-संज्ञान कराती है। इसलिए जब वह फिर संभलकर उठती है तब उसे "सो लंका" कहकर तुलसी उसी आत्म-चैतन्य की ओर इशारा करते हैं।

मुझे सोवियत उपन्यासकार लिओनिद लेनोव की पुस्तक "चोर" (थीफ) के एक नायक की बात याद आती है। उसने कहा था : "बचपन में कुछ ऐसा हुआ कि केवल मुष्टिका-लड़ाइयों में ही मैंने सच्चे दोस्त पाए... और वह कभी गलत नहीं गया। क्योंकि ऐसी लड़ाइयों में ही पूरा मानव-चरित्र उभरकर सामने आता है।"

यहां भी "जहां लगि चोरा' में वही चोर-प्रसंग है और लंकिनी भी मुष्टिका प्रहार झेलने के बाद मित्रवत और सकारात्मक हो जाती है और उसका पूरा चरित्र उभरकर सामने आता है। लंका को अन्ततः एक बार फिर अपने को संभालना होगा। इस बीच लंका का बहुत अधोपतन हुआ है, अवनति हुई है। लंका की यह अधोगति हनुमान की मुठिका से बहुत पहले ही हो गई। हनुमान का पाणिघात तो उसे अपने को फिर से रिआर्गेनाइज करने का मौका दे रहा है। वह अपने को रिकलेक्ट करे। यह अंग्रेजी शब्द रिकलेक्ट भी दिलचस्प है। इसमें जहां अपने को पुनर्संग्रहीत करने का भाव है, वही याद करने का भी। 'हम क्या थे, क्या हो गए अभी।' कभी इसी तेवर में भारत-भारती गायक मैथिलीशरण गुप्त ने बोला था। अब लंका के लिए भी यही पुनर्स्मरण जरूरी है। इस अधोकाष्ठा से ऊपर उठना ही है। जब वह यह अभ्युत्थान करेगी तभी "सो लंका" होगी जिसे विश्वकर्मा ने बड़े चाव से बनाया, पौलस्त्य-विश्रवा की लंका। "सो लंका" जिसकी 'Genius loci' अपभ्रष्ट नहीं हुई हो। लंका की मूल स्पिरिट का जैसे हनुमान जी थोड़ा-सा रैनोवेशन कर देते हैं। लंका अपने को फिर से सहेजती है। उस पुनर्संवरण के बाद ही उसका उत्थान संभव है।

तब वह करबद्ध होती है। हनुमान के आघात से उसके मन में दुर्भावना नहीं आती। वह अपना मन मैला नहीं करती बल्कि उसके मन का मैल दूर हो जाता है। बिना किसी अदावत के, बिना किसी लाग डाट के वह अंजलिबद्ध होकर हनुमान के सामने निवेदन करती है। उसके मन में शंका हो सकती है पर कटुता अब नहीं है, उसके बोलने में कोई ग्रंथि-भाव नहीं है। बहुत सौमनस्य और सद्‌भाव के साथ वह हनुमान को प्रणति करती है।

यह ध्यान दें कि मेघनाद, कुंभकर्ण, रावण, हनुमान का घूंसा खाने के बाद भी अपना दौर्मनस्य नहीं छोड़ते किन्तु लंका छोड़ देती है। हनुमान और राम की किसी देश-विशेष या स्थान-विशेष से कोई स्थाई कशाकशी नहीं रह सकती। यह प्रसंग तो जैसे लंका के भवितव्य का पूर्वाभास-सा है। बाद में जब लंका से रावण का आततायी साया उठ जाएगा, सारी बदनीयती और कारसाज़ी खत्म हो जाएगी, सहृदयता, स्निग्धता और शुद्धमनस्कता स्थापित होगी- तब इसकी पूर्णाहुति होगी। अभी तो लंका गुज़ारिश कर रही है। लंकिनी लंका की स्पिरिट है, genius loci है, उस पर आक्रांता राक्षसों के कारण कुछ समय के लिए मालिन्य और कालुष्य आ सकता है। किन्तु वह अस्थाई है। अंततः उसे अपने मूल स्वरूप को प्राप्त करना ही है। चूंकि उस तत्सामयिक मालिन्य के कारण उससे कुछ धृष्टता हो गई, इसलिए वह थोड़ी-सी शंका और ऊहापोह में है, थोड़े से शशोपंज में। उसकी विनय भले ही हिचक भरी हो किन्तु अब न केवल उसकी स्मृति लौटी है बल्कि भवितव्य का आभास भी हो गया है।

●●●

जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा।
चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा।।
बिकल होसि तैं कपि कें मारे।
तब जानेसु निसिचर संघारे।।
तात मोर अति पुन्य बहूता।
देखेऊँ नयन राम कर दूता।।
तात स्वर्ग अपबर्ग सुख
धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि
जो सुख लव सतसंग।।

(लंकिनी बोली) रावण को जब ब्रह्माजी ने वर दिया था, तब चलते समय उन्होंने मुझे राक्षसों के विनाश की यह पहचान बता दी थी कि जब तू बंदर के मारने से व्याकुल हो जाय, तब तू राक्षसों का संहार हुआ जान लेना। हे तात! मेरे बड़े पुण्य हैं जो मैं श्री रामचंद्रजी के दूत (आप) को नेत्रों से देख पायी।

हे तात! स्वर्ग और मोक्ष के सब सुखों को तराजू के एक पलड़े में रखा जाय, तो भी वे सब मिलकर (दूसरे पलड़े पर रखे हुए) उस सुख के बराबर नहीं हो सकते जो लव (क्षण) मात्र के सत्संग से होता है।

क्या प्रत्येक घटना का कोई पूर्व निर्धारण-सा होता है? क्या यह खगोल कुछ संकेत करता है कि जिनमें आने वाले कल का चित्र छिपा रहता है? चीजों का भविष्यांकन करने के लिए क्या हमें कुछ चिन्ह वाकई मिलते हैं? यहां लंकिनी किसी लॉजिकल डिटर्मिनिज़्म की बात नहीं करती है। कहां बंदर का उसे मारना और कहां राक्षसों का विनाश? लेकिन यहां यह तो दिखता है कि चीजें किसी न किसी तरह से पूर्वाभिनिश्चित (Preordained) हैं। रावण को जब ब्रह्मा ने वर दिया था तो उसी में ही उसकी मृत्यु भी प्रावधानित कर दी थी। हिरण्यकशिपु की कथा हो या रावण की या ऐसी ही और कथाएं-वे सब जीवन की एक अस्वाभाविक तृष्णा की कथाएं हैं। मनुष्य अनन्त के बारे में सोच सकता है, लेकिन है वह एक प्राणी ही। रावण/हिरण्यकशिपु जैसे लोग जो शक्ति का संचय करने में भला-बुरा, आगा-पीछा कुछ नहीं देखते, मृत्यु के मुकाम पर अपने को अशक्त महसूस करते हैं और यह चीज उन्हें न केवल अस्वीकार्य है बल्कि अपमानास्पद भी लगती है। यह ध्यान देने की बात है कि हमारे यहां राक्षस अमृत नहीं पा सके। वे नश्वर हैं और मर्त्य हैं। इसलिए एक के बाद एक राक्षसों ने तप से या और विधि से अमरता के आसपास का वरदान पाना चाहा। महादेवी वर्मा ने सप्तपर्णा (पृ. 49) में कहा है कि "असाधारण प्रतिभा को चमत्कारिक वरदान की आवश्यकता नहीं होती और साधारण को अपनी त्रुटियों की इतनी पहचान नहीं होती कि वह किसी पूर्णता के वरदान के लिए साधना करे।" रावण ने तो यमराज पर ही आक्रमण कर दिया था। यमलोक पर किया गया उसका आक्रमण काल को जीतने की उसकी वासना का ही प्रमाण था। तपस्या के अलावा पराक्रम से भी मृत्यु पर विजय पाने की कोशिश का एक उदाहरण यह है, तो एक दूसरा उदाहरण स्वयं रावण-पुत्र मेघनाद का है, जो रावण संहिता के अनुसार, इन्द्र को छोड़ने के बदले में, अमरत्व चाहता है, किन्तु ब्रह्मा ने उसे भी यही कहा : नास्ति सर्वामरत्वं हि कस्यचित् प्राणिनो भुवि। पक्षिणश्चतुष्पदो वा भूतानां वा महौजसाम् कि इस पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाला कोई भी प्राणी, चाहे वह पक्षी, चतुष्पद अथवा महातेजस्वी मनुष्य ही क्यों न हो, अमर नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्मा ने हमेशा एक अपवाद की दरार रखी और मृत्यु उसी दरार से ही कभी हिरण्यकशिपु को, कभी रावण को और कभी मेघनाद को मारती रही। लेकिन राक्षसराज रावण ने जो वर मांगा, वह उसके द्वारा जगत् को शत्रु-भाव से ही देखने की परिणति थी। उसने यजुर्वेद के (36/18) उस श्लोक को वर की तरह नहीं मांगा कि :- मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।/मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।। कि हे देव! सभी प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, मैं भी सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं। वह तो यह वर मांगता है कि 'हम काहू के मरहिं न मारे'। वह ब्रह्मा से ब्रह्मलोक नहीं मांगता। वह ब्रह्मा से जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति नहीं मांगता। उसके भीतर पदार्थ भावना की इतनी दृढ़ता हो चुकी है कि वह इसी पृथ्वी पर लगातार सबको जीतते हुए बना रहना चाहता है। महोपनिषद् (2/41) में कहा गया : "वासना तानवं ब्रह्म-मोक्ष" लेकिन वह ब्रह्मा से मोक्ष नहीं मांगता, वासनाओं की क्षीणता उसका लक्ष्य नहीं है। यदि मोक्ष की परिभाषा वासनाओं की क्षीणता है तो अमरता का रावणी आग्रह वासनाओं की सबसे ज्यादा प्रबलता का परिणाम है। भोग की इच्छा का सबसे ज्यादा बलवती हो जाना। वह आवागमन से मुक्ति यों नहीं चाहता कि हमेशा ब्रह्मलोक में रहे। उसके लिए आवागमन से मुक्ति का अर्थ पार्थिवता को ही हमेशा के लिए पक्का कर लेना है। तप भी तृष्णा के चरम के लिए। परम शक्ति के अशेष आनंद के जिस आंदोलन को रवीन्द्रनाथ टैगोर ने मुक्ति कहा था, उसमें रावण की रुचि नहीं है। वह तो यमराज को परास्त करना चाहता है। वह 'नर वानर केहि लेखे मांही' के अहंकार में है, अतः उन्हें छोड़ सभी शत्रुओं से जीत चाहता है। ब्रह्मा से ब्रह्मविद्या नहीं मांगता, ब्रह्माण्ड विजय मांगता है। तब ब्रह्मा भी रावणों और मेघनादों को अमरता का ब्लैंकेट वर नहीं देते। हर बार ब्रह्मा के पास कोई और बिन्दु है

साबित करने के लिए। हर बार मृत्यु ने सिद्ध किया कि वह सार्वभौम है, निरपवाद है और किसी न किसी बहाने से आ ही धमकती है। जीवन में आखिर कब तक मृत्यु को बरजना (denial of death) है?

अब लंकिनी जो कहती है वह एक तरह से नियति की अवश्यंभावना (irrevocability of destiny) है। यदि ऐसा हुआ है तो ऐसा होगा ही। लेकिन यह एक तरह की ऐसी समवर्तिता (Synchronicity) है जो कार्य-कारण सम्बन्ध से शासित नहीं है। चीजें कई बार कारणा (Casuality) से ही साथ-साथ नहीं होतीं। वे कई बार साथ-साथ होती हैं तो किसी आंतरिक सार्थकता (मीनिंग) के कारण। यानि कारणा से नहीं, धारणा से। कार्ल गुस्ताव युंग ने इसे ही "temporally coindicent occurences of acasual events" कहा है। उसने 1952 में एक शोधपत्र भी प्रस्तुत किया था सिंक्रोनिसिटी पर "An Acasual connecting principle" के नाम से। बंदर के हाथों मुक्का खाकर लंकिनी का विकल होना राक्षसों के नाश के संदर्भ में अकारणात्मक (Acasual) है। लेकिन दूसरी ओर यह भी जरूरी है कि जब ऐसा मुक्का लंकिनी खायेगी और उसकी बेचैनी जोर पकड़ेगी ठीक उसी से पहचाना जाएगा कि राक्षसों का अंतकाल आ पहुंचा। यह एक असम्बद्ध-सी चीज भी एक तरह की पुष्टि है। कब्बाली साहित्य में एक जादुई वृक्ष को सींचने और दैत्यों के संहार के बीच में संबंध है। लंकिनी को मुकियाना हनुमान की कोई बड़ी मार्शल उपलब्धि नहीं है। बल्कि वाल्मीकि रामायण तो यह कहती है कि "ततः संवर्तयामास वामहस्तस्य सोऽउ.गुलीः/मुष्टिनाभिजघ्यानैनां हनुमान्क्रोधमूर्च्छितः/स्त्री चेति मन्यमानेन नातिक्रोधः स्वयंकृतः" कि हनुमान जी इसे जो घूंसा मारा वह एक तो बाएँ हाथ की मुट्ठी से मारा, दूसरे साधारण क्रोध करके मारा। अतः इस घटना से राक्षसों के विनाश का कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं। लेकिन शायद समय का जो प्रवाह है, इसमें ये चीजें एक के बाद आती हैं।

यह विश्वास की बात नहीं है, अनुभव की बात है कि सृष्टि में संकेत भरे पड़े हैं। स्थान-स्थान पर इंगित हैं। जो नहीं है वह है उनके प्रति संवेदित होने, जाग्रत होने, सजग होने की क्षमता। वह विवेक जो इन संकेतों को परखने, पहचानने की योग्यता रखता हो। कुरान मज़ीद में भी जगह-जगह ईश्वर के द्वारा सृष्टि भर में निहित और व्याप्त कर दिए गए चिन्हों की चर्चा है। ये चिन्ह किसी रैशनल तरीके से व्याख्यायित नहीं होते। इनमें 'एसोसिएशन' या 'साहचर्य' का मनोविज्ञान काम करता है। एक तरह की अन्तः प्रेरणा का। सृष्टि माया की तरह रची गई हो न हो, प्रतीक की तरह रची जरूर लगती है। माया भी इसलिए कि यह रहस्य है, विराट प्रहेलिका है। थोड़े-थोड़े अन्तर पर बीजक मंत्र हैं। उन्हें यूक्लिड के प्रमेयों की तरह नहीं पढ़ें, उन्हें उनके अंतर्हित उद्देश्यों और अभिप्रायों की फ्लैश में देखें। उन्हें आकस्मिक संयोग भी नहीं मानें, उनके पीछे ईश्वर के किसी शिल्प की जांच करें। कुरान में छंदों को आयत कहा गया। आयत का अर्थ ही संकेत है। वह परमात्मा जितना deus absconditus है, उतना deus revelatus भी। वह उद्घाटित भी होता है। प्रारंभिक सूफी कहते भी थे कि In everything is a witness to Him. इस्लामी मान्यताओं में यह रहा कि पत्थर से लेकर हर चीज कहती है : हमारे पार देखो (सीक बियांड अस)। कपि के रूप में हनुमान उसी प्रकृति का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसकी गतिविधियों में कई संकेत छिपे हुए हैं। जब कुरान में कहा गया कि ईश्वर अंबर और अवनी का प्रकाश है तो उसका अर्थ भी यही था कि उससे हमारी आंखें खुल जाती हैं, चीजों के मायने समझ में आने लगते हैं। पवित्र कुरान की चंद पंक्तियां मैं उद्धृत करना चाहूंगाः- उसके चिन्हों में यह भी/कि उसने तुम को रचा/धूलि से और तब तुम होकर भरपूर/बिखर गए और फैल गए/यहाँ वहां और दूर-दूर/उसके चिन्हों में यह भी कि उसने तुम्हारा सहचर/इन सबके बीच दिया/तुम शान्ति से सम्पन्न हो/इस हेतु तुम्हारे हृदयों में/दया और आकर्षण/खींच दिया/उसके चिन्हों में यह भी/कि आकाश और अदिति/और तुम्हारी सभी भाषाओं के

प्रकारों की निर्मिति/और तुम्हारे सभी रंगों का यह भान/ कि जो जानते हैं अक्सर/वे जानते हैं उनमें उसके निशान/(जो नहीं जानते वे झगड़ते होंगे भाषा और रंग के भेद पर)/उसके चिन्हों में यह भी/यह महामोहा निद्रा जो तुम लेते हो/रात्रि में और दिन में/और उसकी विपुलता के बीच/यह तुम्हारी गवेषणा/सच इन्हीं में तो चिन्ह/उनके लिए जो कान लगाकर सुनते हैं/और उसके चिन्हों में/ वह तुम्हें दिखाता है यह विद्युल्लता भय की और आशा की/ तुम्हें अभ्र से भेजते हुए वृष्टि/सस्पन्द करता है इस पृथ्वी को जब यह मर जाती है/भरता है उर्वरता और समृद्धि/सच ही नहीं सब में प्रतीक है/उनके लिए जो विज्ञ है/और उसके चिन्हों में यह/कि महाशून्य और मेदिनी/उसकी आज्ञा पर ठहरे हुए/कि जब वह तुम्हें बुलाता है/सिर्फ़ एक आह्वान पर/तुम सीधे चले आते हो धरती से। कुरान में कहा गया कि काफ़िर वह है जो ईश्वर के चिन्हों को नहीं समझता, नहीं ज़ज़्ब करता। हनुमान के संस्पर्श से लंकिनी का कुफ्र, लंकिनी का व्यामोह दूर होता है। कुरान कहती है- 'उसके साथ अदृश्य की चाबियां हैं।' विरंचि ने लंकिनी को एक कुंजी दी थी जिसके सहारे वह अदृश्य भविष्य का ताला खोल सकती है। कहां वानर के थप्पड़ से व्याकुल होना और कहां राक्षसों का सर्वनाश लेकिन आधुनिक विज्ञान इसे CMPE कहता है। (Conjunctions of meaningfully parallel events) एक तरह की सुपर-सिंक्रोनिसिटी। ऐसी घटनाएं जो 'चांस' नहीं हैं बल्कि मानव की बुद्धि को भी अतिक्रांत करने वाली किसी विराट प्रज्ञा द्वारा संगठित हैं। लंकिनी इसी विराट प्रज्ञा को 'विरंचि' कहती है। प्लूटार्क ने इसी विरंचि या 'फार्चून' के मद्देनज़र कहा था : It is no great wonder if in long process of time while fortune takes her course hither and thither, numerous coincidences should spontaneously occur. लंकिनी विरंचि के द्वारा बताए गए चिन्ह के आधार पर 'राइटिंग ऑन द वाल' को पढ़ लेती है, अन्यथा तो 'दुरवगाहा गतिर्दैवस्य' है (भाग्य की गति जानी नहीं जाती : हर्ष- रत्नावली, चतुर्थ अंक)। यह सुपर सिंक्रोनिसिटी तुलसी के द्वारा प्रयुक्त किए गए 'जब' में भी है। यानी रावण को ब्रह्मा का वर मिलने और उसी समय विरंचि द्वारा लंकिनी को रावण का अंत बताने में भी। यहां भी एक तरह का साहचर्य है। ब्रह्मा की 'स्कीम ऑफ थिंग्स' में दोनों ध्रुव हैं। आरंभ है तो अंत भी। शक्ति का उत्कर्ष भी है तो शक्ति का पराभव भी। ब्रह्मा का वृत्त खींचने का अपना तौर-तरीका है। रावण भी इस बात को जानता था कि विरंचि ने क्या लिख दिया है। लेकिन अपने अभिमान में उसने सोचा कि बुढ़ापे में बुद्धि भुलक्कड़ हो जाने से बुढ्ढे ब्रह्मा ने ऐसा लिख दिया होगा : जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला/बिधि के लिखे अंक निज भाला/नर के कर आपन बध बाँची/ हसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची/ सोउ मन समुझि त्रास नहिं मोरे/लिखा बिरंचि जरठ मति भोरे। अहंकार व्यक्ति को दीवार पर लिखी इबारत पढ़ने से रोक देता है।

हनुमान के द्वारा सुरसा, सिंहिका और लंकिनी का सामना कुछ लोगों ने स्त्री को साधक के मार्ग में आने वाली सात्विक, तामसिक और राजसिक माया की बाधा के रूप में दर्शाना माना है। यह सही है कि हनुमान के सामने आईं ये तीनों स्त्रियां हैं। लेकिन स्त्री को साधना के मार्ग की बाधा कहना स्वयं अपनी अवदमित वासना की अभिस्वीकृति है। बाईबल ने भी एक छंद में भी यही कहा : "More bitter than death is the woman, she is a snare, her heart is a net, and her arms are chains." या एक अन्य पश्चिमी मान्यता के अनुसार : God makes the woman a snare, utilizes her seduction, and through her bring about the Fall of the man he has doomed ठीक है यदि पुरुष साधक के मार्ग में स्त्री बाधा है तो सारी स्त्रियां तो स्वयमेव ही मोक्षाधिकारिणी हुईं, क्योंकि पुरुष को कभी बाधा के रूप में परिभाषित नहीं किया गया। उनकी और साधना की राह में तो कोई बाधा नहीं हुई। ध्यान यह भी दें कि इन तीनों में से कोई भी हनुमान को लुभाने और भटकाने की कोशिश नहीं करती। एक उन्हें खा जाने,

दूसरी मार डालने और तीसरी उसकी राह रोकने सामने आती हैं। वे सेड्यूस नहीं करतीं। सेड्यूस का अर्थ है : to lead astray लैटिन व्युत्पत्तिशास्त्रीय इस अर्थ से विपरीत सुरसा/लंकिनी हनुमान को उद्यत करती हैं। वे femme fatale की तरह सामने नहीं आतीं। वे न कोई अप्सरा हैं, न किसी और ललचाऊ-लुभाऊ भूमिका में- किसी temptress या किसी Siren की तरह। ग्रीक पुराण शास्त्र की "Siren" (पक्षी-स्त्रियां जो सेड्यूस करती हैं) के ठीक उल्टे यहां जो "तामसी माया" की तथाकथित प्रतीक है, वह तो "करि माया नभ के खग गहहिं" वाली है। पक्षी-स्त्री नहीं, पक्षियों को खाने वाली। जो लोग सिंहिका को प्रलुब्ध करने वाली माया के रूप में दिखा रहे हैं, पंडिताऊ होने के बावजूद भी उनकी दृष्टि भारतीय नहीं है। ग्रीक है। वे अपनी सुंदरता, आकर्षण, देह-यष्टि आदि का उपयोग कर सम्मोहित कर देने वाली स्त्रियां नहीं हैं। इन तीन में से दो तो सिर्फ एजेंट हैं; एक देवताओं की, दूसरी राक्षसों की। हनुमान उन्हें नहीं मारते जो एक एजेंसी की तरह दूसरे के द्वारा सौंपे गए दायित्व का निर्वहन भर कर रही हैं, हनुमान उसे मारते हैं जिसकी प्रवृत्ति ही दुष्टता की है। सुरसा सात्विक है, वह Seductress नहीं है। वह हनुमान के बुद्धि-बल को जाँचती है। दूसरी ओर लंकिनी सिर्फ अपने कर्तव्य का निर्वाह कर रही है। राजधानी की स्पिरिट होने या राजाज्ञा के द्वारा सौंपे गए धर्म का पालन करने से वह राजसिक है, लेकिन माया नहीं है। लेकिन गोल्डमैन एंड गोल्डमैन (1996) की व्याख्या तब भी यही है कि : Three Females represent sexually voracious "bad mothers" who seek to engulf or "eat" the hero, who phallically responds to them by alternately swelling and shrinking in size. इसी प्रकार Phillip Lutgendorf 'हनुमान्स टेल : द मेसेज ऑफ अ डिवाइन मंकी' नामक पुस्तक में एक हिंदी टीका का उल्लेख करते हुए वे यह कहते हैं कि वह टीका 'सेक्सुअल इमेजरी' का अप्रत्यक्ष संदर्भ देते हुए बताती है कि देवता हनुमान की औरतों के जरिए परीक्षा इसलिए करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि रावण के अंतःपुर में तलाश करते हुए हनुमान के सामने विलासी नग्न स्त्रियां आएंगी जिनमें कामुक नागकन्याएं भी होंगी। इसलिए सुरसा भी नागिन है और सिंहिका भी कोई sea-monster है। चूंकि सर्प तो शिव के आभूषण हैं, रूद्र-हनुमान ऐसे प्रलोभन आमंत्रणों से अविचलित रहते हैं। मनोविश्लेषणात्मक अध्ययनों में सांपों को एक काम प्रतीक माना गया है। कुछ अध्ययनों में तो सांप ही phallic symbol माना गया है। हार्ग्रेव जेनिंग्स के अनुसार सांप कामना (desire) का प्रतीक है। लेकिन सांपों का यौनार्थान्वयन कई विद्वानों ने नकारा है। उनका कहना है कि सर्प का कोई लिंगार्थ (phallic meaning) नहीं है। Wohlegemuth ने अपनी पुस्तक 'क्रिटिकल एक्जामिनेशन ऑफ साइको-एनेलिसिस' में लिखा कि सांपों की कोई यौनानंदात्मक अर्थवत्ता (Erotic Significance) नहीं है। सांप वस्तुतः अमरता के प्रतीक हैं, सेक्स के नहीं। पश्चिमी सेक्सोन्मुखता और पूर्वी मायामय स्त्री विरोध दोनों ही न हनुमान के साथ न्याय करते हैं, न नारी के साथ। पंडिताऊ अर्थ 'तिन्ह महं अति दारुन दुखद मायारूपी नारि' के जरिए स्त्री को ही माया कहकर तुलसी के स्त्री-विरोधी होने के कुप्रचार को ही समर्थन देता है। पउमचरियं के अनुसार लंकासुंदरी के साथ हनुमान रात भर प्रेमक्रीड़ा करते हैं। विमलसूरि की पउमचरियं रामकथा के पवित्र चरित्रों की गरिमा को गिराने के उद्देश्य से ही लिखी गई, स्वामी करपात्री जी का यह आरोप था। यानी या तो तुलसी की रामकथा की स्त्री-विरोधी व्याख्या की जाएगी या फिर हनुमान जैसे महावीर को (जो निराला के शब्दों में कभी 'श्रृंगार-युग्म-गत' नहीं हुआ) (उसके एकदम विपरीत) रति-रत तक बताने की धृष्टता की जायेगी। इन तीनों स्त्रियों से जबकि हनुमान की सर्वथा asexual मुठभेड़ होती है। ये वे स्त्रियां नहीं हैं जो 'भुजलता फंसाकर नर तरु से झूले सी झोंके खाती हैं।' कालिदास ने कहा था 'प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणम्' कि स्त्रियां प्रत्युत्पन्न मति होती हैं। कालिदास ने यह भी कहा कि 'निसर्गनिपुणाः स्त्रियः' कि स्त्रियां स्वभाव

से ही चातुर होती हैं। ये तीनों भी ऐसी ही हैं लेकिन इनके बौद्धिक चातुर्य, शक्ति, साहस, कर्तव्यपरायणता को देखने की जगह यह कुपाठ करना कि वे माया की तरह बाधक हैं, अपने किस्म की विडंबना है। उनमें से एक तो हनुमान की ही ओर है, बस प्रकट कुछ दूसरी तरह से होती है। तीसरी भी, एक तरह की (नगर) देवी है और हनुमान तो उसकी पुनर्स्मृति को जाग्रत करने वाले ऐसे व्यक्ति हैं जिनका लव-मात्र का सत्संग भी उसे अतुलनीय सुख देता है। हालांकि बजरंग बाण में यह कहा गया है कि 'आगे जाइ लंकिनी रोका/मारेउ लात गई सुर लोका।' जबकि रामचरित मानस में वह स्वर्गवासी ("गई सुरलोका") नहीं होती, बल्कि फिर से संभलकर खड़ी हो जाती है। चालीसा में 'लात मारने' की बात है, मानस में मुष्टिका-प्रहार की। लंकिनी के सुरलोक में जाने की बात न तो वाल्मीकि रामायण में है न अध्यात्म रामायण में। आनंदरामायण में लंका देवी हनुमान से सीता के रहने के स्थान का रहस्य प्रकट करती है। सिर्फ सिंहिका नामक एक 'निसिचरी' ही हनुमान की बाधा है लेकिन वह केवल हनुमान की बाधा नहीं है बल्कि आकाश मार्ग से जाने वाले हर जीव-जन्तु के मार्ग की बाधा है। ध्यान दें कि ये तीनों ही सशक्त स्त्रियां हैं। ये शेक्सपीयर के 'फ्रेलिटी, दाई नेम इज वूमैन' की तरह दुर्बल स्त्रियां नहीं हैं। जहां 'स्त्री' की सुध लेना लक्ष्य हो, वहां स्त्री को बाधा मानने का आग्रह अपने ही अंतर्विरोध से परास्त हो जाता है।

यहां कपि के मारने से लंका विकल होती है। उसके पहले हनुमान सुरसा से भी नहीं डरे थे जो "अहिन्ह की माता" थी। जबकि वैज्ञानिक अध्ययनों में यह बात सामने आई है कि वानर सांपों से बहुत डरते हैं। वानरों की एक प्रजाति में सांप की उपस्थिति कई तरह की भयातंकित प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है। जे. जोसलिन एवं उनके सहकर्मियों के प्रयोगों में भी यह बात सिद्ध हुई। खासकर जंगली बंदरों में तो संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं बहुत तीव्र थीं। राबर्ट एम. यर्क्स ने चिंपाजियों पर किए गए अपने प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकाला कि सांप से उनका भय किसी तरह की सामाजिक कंडीशनिंग का परिणाम नहीं है क्योंकि यह भय उन चिंपाजियों में भी देखा गया जिन्हें शुरू से एकांत में रखा गया था। पी. शिलर भी सांप की नज़दीकी में चिंपाजियों के शॉक या भय को रेखांकित करते हैं। लेकिन हनुमान कहीं भी ophidiphobia से ग्रस्त नहीं दिखते। यह वानर असाधारण है। जब उस पर सर्प-भय हावी नहीं होता तो सर्प-राग भी क्या होगा? अब यदि लंकिनी सामने है तो हनुमान उसे भी अपनी शक्ति की एक झलक तो दिखला ही देते हैं। यह झलक जैसे लंकिनी के सामने समय के बहुत से पर्दों को खोल देती है। उसके सामने अतीत भी खुलता है और भविष्य भी। उसे 'ब्रह्म वर' और 'विरंचि-चिन्ह' की याद भी आती है और राक्षस-संहार का भवितव्य भी जैसे उसके सामने प्रकट हो जाता है। रामचरितमानस में, अध्यात्म रामायण की तरह ब्रह्माजी ने लंकिनी से जो संक्षिप्त रामायण कही थी वह उस तरह से नहीं बताई क्योंकि एक तो उससे कथा-प्रवाह मंथर होता जबकि सुंदरकांड में घटनाक्रम सुपरसोनिक स्पीड से चलना है, दूसरी ओर स्वयं हनुमान को उनके 'भावी' के बारे में बताकर लंकिनी उनके रोमांच में व्यतिक्रम भी पैदा नहीं करना चाहती। लेकिन रामचरितमानस में 'राम कर दूता' इन शब्दों का प्रयोग कर उन्होंने यह जरूर जता दिया कि लंकिनी विधि की रचना के प्रति जागरूक है। वह जानती है कि राम का लक्ष्य क्या है और रामदूत की भूमिका क्या है? तुलसी वाल्मीकि से थोड़े आगे चलते हैं और अध्यात्म रामायण से थोड़ा कम। वाल्मीकि तो बस 'किसी वानर से पराजित होने' का संकेत बताकर निवृत्त हो लेते हैं- 'यदा त्वां वानर कश्चिद्विक्रमाद्वशमानयेत/तदा त्वया हि विज्ञया रक्षसां भयमागतम'- (5/3/47-48)- जबकि अध्यात्म रामायण में रामायण की संक्षेपिका है। तुलसी इन दोनों के बीच का एक 'गोल्डन मीन' ढूंढ़ लेते हैं। यह मध्य-बिन्दु तुलसी के कथा-वर्णन में दिखाए संतुलन और प्रिसीजन का प्रमाण है। अध्यात्म रामायण (5/1/57) में वह कहती है कि आज बहुत दिनों के बाद मुझे संसार

बंधन से मुक्ति देने वाली राघव की स्मृति हुई है। उनके भक्त का अति दुर्लभ सत्संग मिला है। मैं धन्य हूं। जबकि वाल्मीकि रामायण में हनुमान से पराजित हो वह कहती है, स्वयंभू ने कहा है कि तुम्हारी पराजय के बाद राक्षसों का विनाश होगा।' ठीक भी है। यदि 'स्पिरिट' पहले पराजित हो जाती है तो बाकी सब चीजें तो उसकी अनुगामिनी है। ऊपर हम लंका की 'स्पिरिट' की चर्चा कर चुके हैं, लंकिनी लंका का प्राण तत्व है। स्पिरिट को लैटिन में प्राण ही कहते हैं। सांस। वृहदारण्यक उपनिषद (1/2/6) में कहा गया कि प्राण ही यश और शक्ति है। हनुमान निशिचरों के राज्य को इस Vital Principle को ही पराजित कर देते हैं तब राक्षसों का नाश तो होगा ही।

अब लंकिनी हनुमान को आदर से तात बोलती है। इसलिए नहीं कि वह हनुमान की शक्ति से भयाक्रांत हो गई है। इसलिए नहीं कि रक्त निकला तो विरक्त हो गई, कि मार पड़े धम धम, विद्या आवे छम छम बल्कि इसलिए कि अब उसकी स्मृति भी लौट आई है और उसे भावी-संभावी का विजन भी हो गया है। इसलिए अब वह हनुमान के असली स्वरूप से बिना उनके बताए अवगत हो जाती है। यह कि वे राम के दूत हैं। इस संज्ञान के बाद वह उनका अवरोध नहीं करती। क्या इसलिए कि उसे अब विरंचि की इच्छा मालूम है और वह अपने कर्तव्यजनित प्रतिरोध की व्यर्थता जान गई है? या इसलिए कि प्राचीन धर्मों में दूत अवध्य माना जाता था- 'सदैवावध्यभावेन दूतः' मार्क जेनिस व केरोलिन ईवांस ने अपनी पुस्तक 'रिलीजन एंड इंटरनेशनल लॉ' में इस धार्मिक विश्वास का उल्लेख किया है कि Envoy was the personification of the sending state and its gods. ग्रीस में यह मान्यता चलती थी कि दूत (heralds) देवों द्वारा भेजे जाते हैं। यदि लंकिनी लंका का personification है तो हनुमान दूत की भूमिका में प्रेषक राज्य का personification हैं। अतः दोनों 'सम' पर आ गए। वाल्मीकि ने इसे यों संकेतित किया है कि हनुमान ने भी लंकिनी की तरह का रूप बना लिया। वस्तुतः वह दोनों का एक जैसा 'रोल' होना है। ब्रह्मावैवर्त पुराण में जब हनुमान लंका के बारे में बात करते हैं तो उसे 'वानरी के बच्चे के समान' कहते हैं- 'मर्कटीडिम्भतुल्यां च लंका पश्यामि सुव्रते'। अब वह हनुमान के डिप्लोमेटिक मिशन को जान जाती है। 'राम कर दूता'।

हनुमान के दर्शन आसान नहीं हैं। निश्चित रूप से लंका का यह गौरव-बोध समीचीन है कि उसने बहुत पुण्य किए तभी तो रामदूत हनुमान को आँख भर देख पाई। हनुमान एक जन-देवता हैं और जैसा कि हम पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं कि उनके मंदिरों की संख्या अगणित है। वे लोक परंपरा के देवता है। 'वीर' के रूप में ग्राम-देवता हैं। जगह-जगह उनके अखाड़े हैं। मनसा वे करोड़ों भारतीयों को सम्बल की तरह उपलब्ध हैं, लेकिन लंकिनी अपने को अत्यन्त पुण्यवती इसलिए मानती है कि वह उन्हीं हनुमान को साक्षात् देख पाई। 'स्मर परमं तं हनुमन्तम' वाले हनुमान लंकिनी को स्मृति तो लौटाते ही हैं। लेकिन लंकिनी पुण्यशालिनी इसलिए हैं क्योंकि वे स्मरण नहीं, दर्शन से उसे उपलब्ध हुए। तुलसी स्वयं अपने अनुभव से जानते हैं कि हनुमान के दर्शन कितने दुर्लभ हैं। लेकिन यहां ध्यान में आते हैं 'अति' और 'बहूता' शब्द। ये दोनों शब्द समानार्थी होने के बावजूद तुलसी ने प्रयुक्त किए हैं। तुलसी की कविता पुनरावृत्ति दोष से ग्रस्त तो नहीं हो सकती। तुलसी जैसे शब्दों के सावधान शिल्पी ने फिर भी इन्हें प्रयुक्त किया तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लंका के लिए हनुमान को देखने की खुशी कितनी और क्यों प्रभूत है? प्रसन्नता के अतिरेक को वाणी भी कैसे संभाल पाए? यह प्रसन्नता स्वर्ग और मोक्ष के सुखों से भी बढ़कर है। फिर लंकिनी संभवतः यह भी जानती होगी कि स्वयं राम अपने दूत के लिए कितनी कठिन कसौटी रखते होंगे। अग्निपुराण में भगवान राम जब लक्ष्मणजी को राजनीति का विस्तृत उपदेश करते हैं (अध्याय 238 से 242) तो राजदूत के गुणधर्मादि लक्षण भी बताते हैं- प्रगल्भः स्मृतिमान् वाग्मी शस्त्रे शास्त्रे च निष्ठितः/अभ्यस्तकर्मा नृपतेर्दूतो भवितुमर्हति।। (247/7) यानी निर्भीक प्रवक्ता, शुद्ध-

स्मरणशक्ति-चैतन्य, अनन्यथा-वाक्, युद्ध-कला-कुशल, शास्त्र-परिनिष्ठित और अनुभव-सम्पन्न व्यक्ति ही राम के अनुसार दूत पद के अनुरूप होता है। हनुमान में चूंकि राम की इस कसौटी पर खरा उतरने वाली योग्यताएं थीं, इसलिए उनकी विशिष्टता थी। राम का दूत होना असाधारण होना है। इसलिए पुण्यों को बहुत और अति होना जरूरी था। महाकवि विश्वनाथ भट्ट ने 'साहित्य दर्पण' में दूत के तीन भेद बताए हैं जिनमें से 'निसृष्टार्थ दूत' की श्रेणी भी है। यानी वह दूत जो स्वामी का काम पूरा करने के लिए विपक्ष को अपनी तरफ से समझाइश दे, डराए, लालच दे और उसमें भेदोत्पन्न करें। हनुमान ऐसे ही दूत हैं। लंकिनी को डरा देते हैं और अपने स्वामी के काम को पूरा करने के लिए निःस्वार्थ तरीके से एकाग्र भाव से सर्वस्व लगे रहते हैं। राम का दूत-रावण को अपना यही परिचय हनुमान जी देते हैं। 'दूतोऽहमिति विज्ञाय राघवस्यामितौजसः/श्रूयतामेव वचनं मम पथ्यमिदं प्रभो।'

लंका की खुशी, जिसके लिए तुलसी ने 'अति' और 'बहूता' दोनों शब्दों का प्रयोग किया, मुख्यतः एक साक्षात्कार और एक सत्संग की खुशी है। यह दोहा 'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख ......' मुख्यतः दो बिंदुओं का दोहा है, एक सत्संग का, दूसरे 'क्षणांश' का। शास्त्रीय व्याख्याकारों को इस बात पर बड़ी माथापच्ची करनी पड़ी है कि लंकिनी का सत्संग हनुमान से हुआ कहां। तो उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि मुक्का मारते समय लंकिनी को जो क्षणिक स्पर्श हुआ, वही सत्संग है और वही उसके लिए इतना बड़ा सुख है कि जो स्वर्ग और अपवर्ग दोनों से ज्यादा पड़ता है। यह अर्थान्वयन सत्संग शब्द को 'साधु व्यक्ति के साथ' के रूप में व्याख्यायित करने से हो रहा है। इसे पंडितों ने स्पर्श-सत्संग कहा है- सठ सुधरहि सत संगति पाई/पारस परसि कुधातु सुहाई। पंडितों का यह भी कहना है कि हनुमान के मुक्के से या लात से भी सत्संग का प्रभाव पैदा होता है। जैसे यहां लंकिनी को मुष्टिका-स्पर्श से सत्संग हुआ है, वैसे ही पद्मपुराण के पातालखंड अश्वमेघ यज्ञ प्रसंग में राजा सुबाहु की छाती में जब हनुमान ने लात मारी तो मूर्च्छा से जागकर सुबाहु यही कहते हैं :- साधुओं का संग होने पर इस पृथ्वी पर क्या-क्या नहीं मिल जाता। मैं महामूढ़ था किंतु संत प्रसाद से ही आज मेरा ब्रह्मशाप से उद्धार हुआ।' तो पिटाई को क्या ये लोग सत्संग कहते हैं? उन्हें क्या पिटकर ही अकल आती है। पिटाई (spanking) की परिणति तो विलियम मोटली के उपन्यास 'नौक आन एनी डोर' के केन्द्रीय चरित्र निक की तरह होती है जो बचपन की पिटाइयों के कारण अपराध की दुनिया में चला जाता है। दुर्व्यवहार से हत्या तक। इसलिए बात मुष्टिका-प्रहार जनित अनुपालन (compliance) की नहीं है। इससे भी कहीं अधिक, यहां तो लंका को 'सत्य का संग' हुआ है। एसोसिएशन विद द ट्रुथ। सहसा लंका के सामने अतीत और भविष्य दोनों का सच आ गया। लंकिनी को 'देखउँ नयन राम कर दूता' से नयन धन्य हो जाने की खुशी ही नहीं है बल्कि 'सत्यं वै चक्षुः' [शतपथ ब्राह्मण (1/3/1/27)] की भी खुशी है कि सत्य ही नेत्र है। लंकिनी के सामने तो जैसे त्रिकाल सत्य का उद्घाटन हो जाता है। वह त्रिकालदर्शिनी हो जाती है। अश्वघोष ने सौंदरनन्द (16/43) में कहा कि 'दग्धं जगत् सत्यनयं हृदृष्ट्वा/प्रदह्याते संप्रति धक्ष्यते च।' कि सत्य को न देखने के कारण यह संसार जला है, इस समय जल रहा है और जलेगा। लंकिनी के सामने सत्य प्रत्यक्ष हो जाता है तो उसके मन में अत्यन्त गहरा सुख छा जाता है। सत्य का मिलना जैसे किसी आँख का मिलना है। ऋग्वेद (1/164/16) कहता है- 'पश्यदक्षणवान्न वि चेतदन्धः' कि आँख वाला ही सत्य को देख सकता है। इसी मुहाने पर 'देखउँ नयन राम कर दूता' का अर्थ स्पष्ट होता है। मुक्तिबोध की कविता 'खोल आँखे' में भी यही बात थी- वह ज्ञान-लिप्सा-क्षितिज-सपना/रे वही तुझ में अनेकों स्वप्न देगा/औ, अनेकों सत्य के शिशु/नव हृदय के गर्भ में द्रुत/आ चलेंगे। सत्य का यह उद्घाटन जैसे लंकिनी के भीतर की सारी कटुता खत्म कर देता है। सत् का अर्थ ईश्वर भी है और सत्य भी। सत्य ही ईश्वर है और ईश्वर ही

सत्य है। हरिकल्पतरु में अचिंत्यानंदजी ने सत्संग की तुलना सूर्यकांत मणि से की है जो सूर्य किरणों को केन्द्रित कर आग पैदा कर सकता है। तुलसीदास ने अन्यत्र भी सत्संग की प्रशंसा की है- बिनु सतसंग विवेक न होई (मानस 1/3/4)। यह प्रशंसा भी सत्संग के ज्ञानात्मक प्रभाव का ही वर्णन करती है। तुलसी सत्संग से भक्ति का प्रभाव भी देखते हैं : भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी/बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी। सतसंग की ट्रांसफार्मेशनल वैल्यू का उल्लेख भी वे अन्यत्र कर चुके हैं- 'सठ सुधरहिं सत संगति पाई/पारस परस कुधातु सुहाई।' प्रश्नव्याकरण सूत्र (2/3 सच को भगवान कहता है : तं सच्चं भगवं (प्राकृत) और भगवत रसिक कहते हैं : 'सांच बिना हरि हाथ न आवें।' दरअसल स्वर्ग कर्म का, शुभ कर्म का परिपाक है, अपवर्ग या मोक्ष ज्ञान का और सत्संग भक्ति का। लंकिनी के द्वारा तुलसी भक्ति को श्रेष्ठ बताते हैं, यह स्वाभाविक है।

चाणक्य नीति सूत्राणि (519) में कहा गया है कि 'सत्संगः स्वर्गवासः' कि सत्संग स्वर्ग में वास है, लेकिन यहां लंकिनी क्षणांश भर के सत्संग को स्वर्ग से भी बढ़कर बताती है। गालिब को तो जन्नत की हक़ीकत मालूम थी (हमको मालूम है जन्नत की हक़ीकत लेकिन/दिल के खुश रखने को ग़ालिब यह खयाल अच्छा है।) लेकिन लगता है कि लंकिनी को भी मालूम है। दाग भी कहते थे : 'जिसमें लाखों बरस की हूरें हों/ऐसी जन्नत का क्या करे कोई।' तो तुलसी की लंकिनी पल-भर के सत्संग को स्वर्गादपि ज्यादा अहमियत देती है। उमर खैयाम की रुबाइयात (239) में एक को उद्धृत करें तो शायद स्वर्ग से यह तुलना ज्यादा समझ आएगी : ख्वाही कि बेदानी ब यक़ीं दोजख़ रा। दोज़ख बजहाँ सोहबते नाअहल बुवद।। कि यदि तुम चाहते हो कि यह निश्चित रूप से जानो कि नरक क्या है तो जान लो कि अज्ञानी व्यक्ति की संगति ही नरक है। इसी का विपर्यय करें तो सुसंगति स्वर्ग है। सत्संगति स्वर्ग से भी अधिक है। मरे बिना स्वर्ग नहीं मिलता, लेकिन भवभूति (उत्तररामचरित 2/11) में सही ही कहते हैं कि- स्वर्ग में भी सौतिया डाह बना रहता है- 'ऊँच निवास नीच करतूती/देखि न सकहिं पराइ बिभूती।' कोई ज्यादा तपस्या कर ले तो इन्द्र ईर्ष्या से विचलित हो जाते हैं- स्वर्गहु मिटत न सावत। 'सत्संगजानि निधनान्यपि तारयन्ति' कि सत्संग से उत्पन्न मरण भी मनुष्य का उद्धार कर देता है। सत्संग को लंकिनी अपवर्ग से भी बेहतर कहती है। महोपनिषद् (4/39) भी कहता है- 'यथा संभवत्सत्संगमिमं मोक्षपथक्रमम्'। सत्संग में विचरण करते हुए मोक्षपथ का क्रम।

आज हमें यह आश्चर्यजनक लगता है कि तुलसी सत्संग पर इतना बल क्यों दे रहे हैं। बल्कि समूची भारतीय परंपरा में सत्संग पर इतना बल कैसे है? जिस तरह से लार्ड कर्जन ने कभी 'आनेस्टी' शब्द का ठीक-ठीक पर्याय भारतीय भाषाओं में नहीं मिलने पर भारतीयों को मूलतः बेईमान मान लिया था, उसी तरह से 'सत्संग' का ठीक-ठीक पर्याय अंग्रेजी में नहीं मिलने पर उनके लिए क्या कहा जाए? ऋग्वेद में यहाँ तक कहा गया कि 'देवो देवेभिरा गमत्' कि परमेश्वर विद्वानों की संगति से प्राप्त होता है। (1/1/5) भर्तृहरि ने नीतिशतक (23) में कहा : 'जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं/मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति/चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं/सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्' कि सत्संगति बुद्धि की जड़ता को हरती है। वाणी में सत्य का संचार करती है। सम्मान में वृद्धि करती है। पापों को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है और दशों दिशाओं में कीर्ति फैलाती है। बताओ, सत्संगति मनुष्य के लिए क्या नहीं करती? गर्ग संहिता में (62/9) कहा गया कि गंगा पाप का, चंद्रमा ताप का और सत्संग दैन्य अभिशाप - तीनों का तत्काल नाश कर देता है। तुलसी कहते हैं कि 'सत्संगति मुद मंगल मूला/सोइ फल सिधि सब साधन फूला।' इसके मुकाबले में अंग्रेजी में ऐसा कोई शब्द नहीं जो सत्संग की तमाम अर्थच्छवियों को पकड़ पाता हो। न कंपनी में वो बात है, न एसोसिएशन विद द ट्रुथ में वो बात है। तो यह एक डिफाइनिंग फर्क है। 'सत्संग' जैसी किसी अवधारणा

का पश्चिमी सभ्यता में अभाव और भारत में उसका इतना प्रभाव कि उसके सामने स्वर्ग और मोक्ष भी तुच्छ लगें।

ध्यान रखें कि लंकिनी 'लव' भर के सत्संग की महिमा बता रही है। एक निमिष का भी एक अंश। स्वर्ग और अपवर्ग दोनों स्थाई सुख हैं। लेकिन सत्संग जरूरी नहीं कि स्थाई हो। वह अत्यन्त क्षणिक भी हो सकता है, लेकिन चाहे उसे 'कम्युनिअन विद गॉड' कहें या 'कंपनी विद ट्रुथ' कहें - उससे जिस गहराई का संघनीभूत सुखानुभव होता है, वह अतुल्य है। इसलिये मानस में तुलसी अन्यत्र भी कहते हैं : धन्य घरी जब होइ सत्संगा। महादेवी वर्मा ने (दीपशिखा, चिंतन के कुछ क्षण) कहा कि 'जीवन की गहराई की अनुभूति के कुछ क्षण ही होते हैं, वर्ष नहीं।' वशिष्ठ और विश्वामित्र के बीच जब 'तपस्या और सत्संग में से कौन श्रेष्ठ' वाला विवाद चला तो शेषनाग के सामने उसका निराकरण सत्संग की श्रेष्ठता के रूप में ही हुआ था। वहाँ भी "पल भर के सत्संग का फल" सारी तपस्या पर भारी सिद्ध हुआ था। यही 'लव' भर का सत्संग शौनकादि 88000 ऋषियों ने सूत जी को स्वर्ग और पुनर्भव से ज्यादा महत्व का बताया था : तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्/भगवत्संगसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः (भा. 1/18/13)। तुलसी तुलनात्मक बात करते हैं। तुलसी तुला की बात करते हैं। तुलसी तूल की बात करते हैं और इस क्रम में सत्संग की श्रेष्ठता को निःशंक रूप से स्थापित करते जाते हैं।

●●●

प्रबिसि नगर कीजे सब काजा।
हृदयँ राखि कोसलपुर राजा।।
गरल सुधा रिपु करहिं मिताई।
गोपद सिंधु अनल सितलाई।।
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही।
राम कृपा करि चितवा जाही।।

कोशलपुर के राजा (रामचन्द्रजी) को हृदय में रखकर नगर में प्रवेश करके सब कार्य कीजिए। हे गरुड़! जिस पर श्री रामचंद्रजी ने कृपा करके दृष्टि की, उसे विष अमृत हो जाता है, शत्रु उससे मित्रता करता है, समुद्र उसे गौ के खुर के समान हो जाता है, अग्नि शीतल हो जाती है और सुमेरु पर्वत रेणु (बालू के कण या धूल) के समान (हल्का) हो जाता है।

नगर-जीवन के अपने खतरे हैं। हार्दिकता और भक्ति दोनों को यहां ज्यादा वज़न नहीं दिया जाता। मेट्रोपोलिस के "अनिवार्यतः बौद्धिक चरित्र वाली मानसिक जिंदगी" (Essentially intellectualistic character of the mental life of metropolis) का विस्तृत उल्लेख जार्ज सिमेल ने "मेट्रोपोलिस एंड मेंटल लाइफ" में किया है। उनका यह लेख शहरी बौद्धिकता पर आधारभूत और क्रांतदर्शी अध्ययन माना जाता है। उन्होंने इसमें 'तार्किकता के केन्द्रीय स्थान' (locus of reason) की चर्चा की है। भावनात्मक प्रतिक्रियाओं की जगह यहां एक मानसिक प्राधान्य (mental predominance) है। शहरी दबावों के विरुद्ध आंतरिक जीवन की सुरक्षा के लिए नागरिक मनुष्य के लिए यह अनुक्रिया जरूरी हो जाती है। व्यापारिक-वाणिज्यिक गतिविधियां ज्यादा होने से 'मौद्रिक अर्थव्यवस्था' का संघनन भी शहर में ही ज्यादा होता है। अतः वहां व्यक्तियों और वस्तुओं से व्यवहार में एक "मैटर-ऑफ-फैक्ट" प्रवृत्ति पनप जाती है। यह भी जरूरी हो जाता है कि गुणात्मक मूल्य मात्रात्मक भाषा में परिणत कर दिए जाते हैं। दुनिया एक गणितीय समस्या के रूप में देखी जाती है। इसके हर अंग के लिए कोई न कोई गणितीय फार्मूला चाहिए होता है। समय वहां एक झरना नहीं रह जाता। उसे भी कई-कई खांचों में बांध दिया जाता है। लोग ज्यादा रिजर्व रहते हैं और एक विचित्र अजनबियत के शिकार हो जाते हैं। बल्कि सिमेल तो यह भी कहता है कि 'वे खुद से भी एक तरह की दूरी बना लेते हैं - 'self-distantiation' के शिकार हो जाते हैं।' एक तरह का अनात्म विकसित होता है जो अध्यात्म का प्रति-विचार सा है।

यह अकारण नहीं है कि तुलसी 'प्रबिसि नगर' पर बल देते हैं। वन्य नैसर्गिकता में पले हनुमान को वे उनके आस्थामूलों में शहर में भी दृढ़ बने रहने की सलाह देते हैं। यानी उनकी नीति यह नहीं है कि रोम में वही करो जो रोमन लोग करते हैं, कि कोई सैद्धांतिक पोजीशन लेने की जरूरत नहीं है, कि लंका में आए हो तो लंका के राजा के हिसाब से काम करो, कि थोड़ी-सी मिलावट (dilution) कर लो, कि शहर में ऐसे ही जिया जाता है, कि यहां का यही प्रोटोकाल है, कि किसी किस्म के नैतिक आदर्शवाद के भरम में मत पड़ो, कि थोड़ी सी राजनीतिक लोच दिखा लो, कि यही व्यावहारिकता है, कि इसे धोखा क्यों कहते हो? कि इसे निष्ठा की कमी क्यों कहते हो? शहरी जीवन की इसी छलना पर कभी शायर ने कहा था : 'सौ खुलूस बातों में सौ करम खयालों में/बस जरा वफा कम है तेरे शहर वालों में।' इसी बात पर काउपर ने कभी कहा था कि ईश्वर ने गांव बनाए और मनुष्य ने नगर। इसी पर मार्कुस टेरेन्टियस रस्टिका ने कहा कि Divine Nature gave the fields, human art built the cities. कि दिव्य प्रकृति ने खेत दिए और मानव कला ने नगर। इनका अर्थ ही यह है कि नगर में ईश्वर अनुपस्थित है। इसलिए लंका में घुसने के बाद हृदय में राम की मौजूदगी जरूरी है। सोमरसेट मॉम यही तो कहता था कि गांव में रात का अंधेरा भी मित्रवत और परिचित लगता है, लेकिन शहर-उजालों की चकाचौंध के साथ-अप्रकृत, द्वेषपूर्ण और भयंकर है। जैसे कोई भयानक गिद्ध ऊपर मंडरा रहा हो, हमारी ताक में।' लंकिनी शहर के उस तुमुल कोलाहल कलह में हृदय की बात - 'कोशलपुर राजा'- का ध्यान रखने को कहती है। 'कोशलपुर राजा' का, भगवान का ध्यान क्या रखेंगे (लंका) शहर के लोग? खातिर गजनवी यही तो कहते हैं : कैसी चली है अब के हवा तेरे शहर में/बंदे भी हो गए हैं खुदा तेरे शहर में। ईश्वर का नाम हृदय में धारण करना 'नगर' के दुष्प्रभावों से बचने के लिए जरूरी है।

हृदय में अयोध्या के राजा को नहीं, कौशलपुर के राजा को रखकर चलना यहां साभिप्राय कहा गया है। अयोध्या तो वह स्थान है जो युद्ध से विरत है। (Not to be warred against) अयोध्या कोसल राज्य की राजधानी थी। लेकिन यहां नगर की नहीं, राज्य की बात हो रही है। कौशलपुर राजा ही यहां ज्यादा प्रासंगिक हैं। वे ही हनुमान की कुशल रखेंगे और उन्हीं के प्रताप से हनुमान के कौशल की जब परीक्षा होगी तो हनुमान उसमें उत्तीर्ण होंगे। जो राम से विरोध रखता है, उसकी

कैसी कुशल? 'राम विरोध कुसल जसि होई/सो सब तोहि सुनाइहि सोई।' दूसरे, कौशलपुर राजा पारिभाषिक रूप से लंकापति रावण से भिन्न है। राम का राज्यादर्श रावण के राज्यादर्श से भिन्न है। लंका में यदि मारुतसुत परिवर्तन की हवाएं लेकर आए हैं, एक वैकल्पिक राज्यादर्श का अहसास लोगों को यदि वे कराना चाहते हैं तो ही उनके लंका प्रवेश की सार्थकता है। सीता की खोज उनका एक कार्य है, लेकिन वह 'सब काजा' नहीं है। उस एक कार्य को करने की धुन में उनके द्वारा बाकी सब काज भी होते चलेंगे। बात सिर्फ माता सीता की 'सुधि' की नहीं है, राजत्व के सिद्धांत की भी है। रामायण एक पति द्वारा अपहृता पत्नी की पुनर्प्राप्ति की कहानी नहीं है वह 'किंगशिप' के मॉडेल पर भी बहस करती है। इसलिए लंका में प्रवेश के वक्त हनुमान को कोशलपुर राजा का हार्दिक संधारण अनुशंसित किया गया है। अन्यथा राम तो हमेशा से ही हनुमान के हृदय में हैं। बाद में जब कभी पूछा जायेगा तो बहुत शब्दशः सीना चीरकर भी हनुमान इसे दिखा देंगे। वे तो लंका की ओर प्रस्थान ही राम को हृदय में रख किये थे- 'चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा।' लेकिन लंकिनी को राम और रघुनाथ के पर्यायों से समाधान नहीं है। यदि वह वाकई लंका की 'स्पिरिट' है तो वह स्वयं वैसे राजत्व की प्रबल अवदमित आकांक्षा रखती होगी जो कोसलपुर में राजा देता है। यह भी देखें कि राम तब तक राजा नहीं हुए थे। उनके राज्याभिषेक से पहले ही उनका वनवास हो गया था। इसलिए जब लंकिनी हनुमान को कोसलपुर राजा का ध्यान रखकर चलने को कहती है तो वह वस्तुतः उन्हें अपने लक्ष्य, अपनी आकांक्षा, अपने स्वप्न का ध्यान धरने को कहती है। वह उन्हें एक भावी-संभावी की ओर प्रवृत्त करती है। लेकिन व्याख्याकार 'हृदय राखि कोसलपुर राजा' की टीका कुछ यों करते हैं कि हनुमान जैसे तपः पूत हृदय के साथ अन्याय हुआ दीखता है। तदनुसार श्री हनुमान जी लंका में घर घर श्रीसीताजी को खोजेंगे। लंका में त्रैलोक्य सुन्दरियां देख पड़ेंगी, यथाःदेव जच्छ गंधर्व नर किन्नर नागरकुमारि/जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदर नर नारि, उनको देखकर इनका चित्त न बिगड़ जाए, इस के लिए लंकिनी ने उन्हें यह मूलमंत्र बताया। यह टीका उस हनुमान के बारे में जो अपने लक्ष्य में अप्रतिहत और एकाग्र है!! जिसके ब्रह्मचर्य और संयतजीवन की मिसाल नहीं मिलती! जिनके बारे में आदि शंकराचार्य यदि पंचरत्नस्तोत्र लिखते हैं तो उसकी शुरूआत ही इससे करते हैं : 'वीताखिलविषयेच्छं' जिनके हृदय से समस्त विषयों की इच्छा दूर हो गयी है", जिन्हें नमस्कार ही हमारी परंपरा में यों किया गया है : अंजनीगर्भसम्भूतो वायुपुत्रो महावलः/कुमारो ब्रह्मचारी च तस्मै हनुमते नमः।। जिन्हें जन्मसिद्ध ब्रह्मचर्य उपलब्ध है, उनके बारे में ऐसी टीका भी एक प्रमाद है।

एक और अर्थ जो विभेदाचार और फूट को बल देता है वह यह किया गया कि हनुमान जब नरहरि का स्मरण करके चले तो लंकिनी द्वारा पकड़े गए। अतः लंकिनी उन्हें यह जताती है कि तुम तो बस राम को ही मन में धारकर चलो। वि.त्रि. जी लिखते हैं : 'यहां भाव यह है कि संकट आ पड़ने पर भी इष्टदेव के ध्यान में परिवर्तन करना अच्छा नहीं। हनुमानजी राम को हृदय में धारण करके चले, पर लंका में प्रवेश के समय नृसिंह जी का स्मरण किया तो छिपना चाहते हुए भी पहिचाने गये। देवी उपदेश देती है कि हृदय में कोसलपुर के राजा को धारण करो, सब कार्य सिद्ध होगा।' यदि नरहरि के स्मरण से हनुमान पहिचाने गए और यह यदि 'अच्छा नहीं' था तो राम को हृदय में धार कर चलने से तो अक्षकुमार, मेघनाद, नागपाश, 'मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी', पूंछ में आग लगाने जैसे अप्रिय प्रसंग हुए। नरहरि के स्मरण से तो एक घूंसे में लंकिनी को अकल आ गई और राम को धार कर चलने से एक छोटे युद्ध और पुत्र-वध के बाद भी रावण को अकल नहीं आई। यह तर्क पद्धति ही गलत है। यह तुलसी के समन्वयवाद के अनुकूल भी नहीं है और भारतीय सर्वदेववाद के अनुकूल भी नहीं है।

यह जरूर है कि 'मदिरालय जाने को घर से चलता है पीने वाला/किस पथ से जाऊं असमंजस में है वो भोलाभाला/ अलग-अलग पथ बतलाते सब किंतु मैं ये बतलाता हूं/राह पकड़ तू एक चला चल पा जाएगा

मधुशाला।' किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि विष्णु के ही एक रूप का पवित्र ध्यान दुष्परिणाम की ओर ले जाएगा। हमारे भारत में ऐसे कई हिंदू हैं जो जितनी श्रद्धा से एक देवता को याद करते हैं, उतनी से दूसरे को भी। मैंने देखा है कि ऐसे कई हिंदू भी हैं जो सोमवार शिव, मंगलवार हनुमान जी, बुधवार गणेश जी, गुरुवार विष्णु, शुक्रवार देवी, शनिवार शनि भगवान और रविवार सूर्यनारायण की पूजा करते हैं। हमारे संस्कार जीवन की पूरकता के संस्कार हैं, प्रतिस्पर्धा के नहीं। नरहरि का स्मरण रामकाज की पूरकता के लिए होगा। नृसिंह और राम विष्णु के ही दो रूप हैं, अतः उनमें प्रतिस्पर्धा संभव ही नहीं है। ईश्वर का एक ही रूप स्वयं ईश्वर को सीमित करना है। उस असीम और अनंत के साथ हमारी यह एक नासमझी ही हुई। लेकिन जो हनुमान राम का असल स्वरूप जानते हैं - 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया' वाला प्रबोधन याद करें - वे उसको एक फ्रेम में ही कैसे आबद्ध रखेंगे। वह राम इतना संकीर्ण होगा कि नरहरि का स्मरण करने मात्र से अपने भक्त का रामकाज बिगाड़ देगा? इष्टदेव की अवधारणा को किसी संप्रदायवाद (Sectarianism) के लिए दुर्नियोजित नहीं किया जा सकता। इष्टदेव की अवधारणा धार्मिक बहुवचनीयता (religious pluralism) की अवधारणा है। राम हनुमान के फेवरिट हैं, लेकिन हनुमान उस नरहरि के विरुद्ध कैसे कल्पित किए जा सकते हैं जो उन्हीं की तरह पशु और मनुष्य के सर्वश्रेष्ठ की संधि पर खड़े हैं।

दरअसल यहां 'हृदय राखि कोसलपुर राजा' नृसिंह की एंटीथीसिस में नहीं, लंकापति रावण की एंटीथीसिस में है। कोसलपुर राजा की विशिष्टता ही यह है कि वह हृदय पर राज्य करते हैं, रावण एक भौगोलिक खंड पर राज्य करता है। राम तो 'किंग ऑफ हार्ट्स हैं' और यह कोई ताशपत्ती के खेल के नहीं। रावण राज हृदयहीन राज्य है। हनुमान इसी आधार पर तो रावण से कई गुना बेहतर हो जाते हैं। रामानुजाचार्य कहते थे :- 'येषां हृदयस्थो भगवान् मंगलायतनो हरिः/नित्योत्सवस्दा तेषां नित्सश्रीर्नित्यमंगलम्' कि जिसके हृदय में मंगलमय भगवान विष्णु का आवास है, उनके यहां सर्वदा उत्सव, सर्वदा लक्ष्मी और सर्वदा मंगल का निवास रहता है, उसी नाते लंकिनी हनुमान को उनकी मूल शक्ति की याद दिलाती है। शाङ्‍र्गधर संहिता (पूर्वखंड 5/49) में कहा गया है कि 'हृदयं चेतनास्थानमोजसश्चाश्रयो मतम्' कि हृदय चेतना का स्थान है और ओज का आधार स्थल भी है। हनुमान की चेतना और ओज के केन्द्र में जब कोसलपुर राजा विराजे हैं तो लंका का राजा कहां ठहर सकेगा। राम जब हृदय में होंगे तो वे हमारी जरूरतें भीतर से ही जानते होंगे, उन्हें बताने की जरूरत न होगी।

फिर लंकिनी संभवतः यह भी जानती है कि 'मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूलवृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्कबुद्धि या विवेचना से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते।' (रामचंद्रशुक्ल : चिंतामणि, भाग 1, पृ. 157) हनुमान को चूंकि लंका प्रवेश करने के बाद कर्म के सघन क्षेत्र में रमना है तो हृदय में राम का भावाकुल संधारण जरूरी है। डॉक चाइल्ड्रे का कहना है : True Creativity quite simply starts with balancing your emotions and activating the power of the heart. Through practicing emotional mangement from the heart, you tap into the highest form of Creativity possible - recreating your perceptions of reality. उसका यह भी कहना है कि Clearly it is not intellectual prowess or Mensa that would rule the world. More than once we all have been bored to tears by the intellectual aloofness, adrift in a conceptual universe of his or her own Creation... Could presence be heart-generated in the world of personal magnetics? Such people have an ineffable quality about them; they are "present", surprisingly attentive and undistracted. A fullness, a centeredners, a wholeness rediates from them. You can build presence. It is the natural radiance of heart security." हनुमान इसी हृदय से परिचालित हैं। वह हृदय जो दिव्य छवि से

प्रतिबिम्बित है। लंकिनी 'राम कर दूता' की इस शक्ति को जानती है। एक पत्थर हो गये शहर में ऐसा व्यक्ति आ रहा है जिसके पास एक धड़कता हुआ दिल है और जिस दिल में ईश्वर है। लंकिनी ऐसे व्यक्ति को सारे असीस क्यों न दे?

यह लंकिनी का आशीष है। कुछ-कुछ उसी तरह का जिस तरह का सुरसा से हनुमान को मिला था। मातृ-सत्ता के दो-दो आशीर्वाद से सम्पन्न हनुमान का लक्ष्य है, सबसे पवित्र मातृशक्ति-सीता-का आशीर्वाद पाना : 'आसिष तब अमोघ बिख्याता।' तुलसी का यह नारी के प्रति अत्यन्त श्रद्धा वाला रुख है, लेकिन इसकी बजाय नारी को 'माया' के रूप में वर्णित कर तुलसी के साथ ही अन्याय नहीं किया जाता है बल्कि नारी के साथ भी अन्याय किया जाता है। ठीक है कि हनुमान को रास्ते में तीन स्त्रियां मिलीं। सात्विक, तामसिक और राजसिक प्रकृति की। सात्विक और राजसिक से उन्होंने आशीर्वाद अर्जित किया और तामसिक को वह गति दी जिसकी वह अधिकारिणी थी। इसलिए एक तो यह तय है कि तुलसी नारी के प्रति कोई दुर्भावना नहीं रखते थे। दूसरे यह भी कि वे नारी को उसकी अर्हता के हिसाब से ट्रीट करते थे। यानी नारी मात्र के कोष्ठक में होने के कारण सिंहिका कोई ऐसा संरक्षण भी अर्जित नहीं कर सकती जिसकी वह पात्र नहीं। अर्थात् नारी की वैयक्तिकता का अवधान तुलसी को तब भी था। लेकिन तुलसी भले ही नारी को किसी सर्वसामान्य कोष्ठक में न खींचते हों, खुद उन्हें त्रुटिपूर्ण और हड़बड़ सामान्यीकरण में खींचने वालों में निंदक भी हैं और टीकाकार भी।

एक हार्दिकता और आध्यात्मिकता से भरी जीवन-दृष्टि शहरी जीवन के विषैलेपन (toxicity) से हमारी रक्षा करती है। शहरी हवा जहरीली है, वायु-प्रदूषण के कारण। जेम्स गार्बरिनो (प्रोफेसर, कार्नेल यूनिवर्सिटी) 20वीं सदी के अमेरिका में "सामाजिक जहरीलेपन" (Social toxicity) की बात करते हैं। फोर्डहैम यूनिवर्सिटी के 'सामाजिक नीति संस्थान' द्वारा 16 मानकों पर आधारित सामाजिक जहरीलेपन के सूचकांक की गणना की जाती है। उसमें किशोर आत्महत्याएँ, ड्रग्स का सेवन, ड्राप आउट दर, बेरोजगारी आदि चीजें शामिल हैं। राचेल कार्सन ने 'साइलेंट स्प्रिंग' में भौतिक जहरीलेपन (डीडीटी आदि से कारित) का वर्णन किया था। लेकिन इस संस्थान का सामाजिक विष के बारे में निष्कर्ष यह है कि : Social life is more risky now than it was just 40 years ago, the level of social and cultural poison is higher. लंका में यह सामाजिक और सांस्कृतिक विष कितना व्याप चुका है, यह "कौतुक कहँ आए पुरबासी/मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी" से स्पष्ट होता है। पर्यावरण में टॉक्सिन्स की अधिकता के आधार पर फोर्ब्स द्वारा अमेरिकन मेट्रोपोलिटन क्षेत्रों की गणना की जाती है। अभी 2001 में अटलांटा सबसे जहरीला शहर पाया गया था। ड्रेटायट दूसरे और शिकागो तीसरे नंबर पर था। अटलांटा में पर्यावरणीय कचरा हजारों टनों में है। यह एक भौतिकवादी और उपभोक्तावादी जीवन दृष्टि का परिणाम है जिसने शहरों का यह हाल कर दिया है। इसका सामना करने के लिये सिविलाइजेशनल मॉडेल को ही परिवर्तित करना होगा और हार्दिकता और आध्यात्मिकता को केन्द्र में रखने वाली जीवन शैली की वकालत करनी होगी। अज्ञेय ने भी अपनी प्रसिद्ध कविता में शहर के 'विष' की चर्चा की थी : "साँप! तुम सभ्य तो हुए नहीं- नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया। एक बात पूछूं - (उत्तर दोगे?) तब कैसे सीखा डँसना/विष कहाँ पाया।" यहाँ यह ध्यान दें कि लंकिनी को सबसे पहले गरल का ध्यान याद आता है। अब यह सामाजिक, सांस्कृतिक, भौतिक, पर्यावरणीय जहरीलापन हनुमान पर असर नहीं करे, यह आशीर्वाद वह हनुमान को देती है। अब यह सिर्फ अतीत में ही नहीं हुआ कि विषधरों की माता सुरसा हनुमान के प्रति मातृवत हो गई बल्कि आगे भी होगा कि जब नागपाश में भी हनुमान बंधेंगे तो स्वेच्छया और मुक्त भी जब चाहेंगे तब हो जायेंगे। गरल उनके लिये राम-कृपा से सुधा समान हो जायेगा। वह सामाजिक विष जिसके कारण 'बाजहि ढोल देहिं सब तारी' की हालत थी, इस सामाजिक ज्ञानामृत में रूपांतरित हुआ कि 'साधु अवग्या कर फल ऐसा/जरइ नगर अनाथ कर जैसा।' यह लंकिनी के आशीर्वाद की फलश्रुति थी।

कालिदास ने रघुवंश (8/46) में यही तो कहा : 'विषयप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया' कि ईश्वर की इच्छा से कहीं विष अमृत और कहीं अमृत विष हो जाता है।

रावण-राज में शहरी जीवन, दूसरी विशेषता है- एंटीपैथी, शत्रुता का भाव, एक तरह का 'एनीमस'। राक्षसों का यह शत्रुत्व समस्त जगत के प्रति है - "बरनि न जाहिं बिस्व परितापी।" वे आपस में एक-दूसरे के प्रति विशेष स्वागत का भाव नहीं रखते। सत्ताधीश की चाटुकारिता भर करते हैं : 'कहहिं सचिव सब ठकुर सोहाती।' और 'बचन कहहिं सब गाल फुलाई।' माल्यवंत, प्रहस्त और विभीषण जैसे लोग वहां शठ कहलाते हैं। विभीषण भी वहां लात खाते हैं और शुक जैसे दूत भी। कटुता और अहंकार। नर बानर केहि लेखे मांही/जग जोधा को मोहि समाना। सिग्मंड फ्रायड ने शत्रुत्व भाव/घृणा को भी एक ईगो-स्टेट ही माना है। हनुमान दुश्मन देश में घुसते हैं और वहां रिपु-देश की संरक्षिका लंकिनी प्रारंभिक कटुता के बाद उनसे मैत्री-भाव स्थापित कर लेती है। शत्रु-देश में हनुमान विभीषण के रूप में मित्र का संधान कर ही लेते हैं। दोनों से हनुमान की मैत्री राम के संदर्भ में ही होती है।

रामकृपा से सिंधु भी गोपद के समान हो जाता है। इसका अर्थ यही नहीं है कि बड़ी चुनौती छोटी हो जाती है। इसका अर्थ यह भी है कि वह समुद्र जिसमें सिंहिका जैसे हिंसक और नृशंस जीवों का खतरा रहता है, रामजी की कृपा से वह गोपद के समान कल्याणकारी हो जाता है। ध्यान दें कि शास्त्रों में यह कहा गया है कि (जागतिक) गाय के चार पदों पर सतयुग, तीन पदों पर त्रेता, दो पदों पर द्वापर और एक पद कलयुग स्थिर है। रघुवंश में कालिदास ने कहा है कि गाय के पैरों से उड़ने वाली धूल भी तीर्थ-तरंग के सदृश पापनाशा है। (Rising from her holy footsteps, lightly curled the dust around but it purified the monarch, like the tirtha's sacred wave.) एक अन्य श्लोक गोपद में हिमालय का अधिवास मानता है। गो-पद गाय पर लिखी कविता भी हो सकता है क्योंकि पद का एक अर्थ काव्य-पंक्तियों से भी है और अंग्रेजी व ग्रीक में भी फुट के ये ही दो अर्थ हैं : चरण और काव्य-पंक्तियां। खतरनाक और हिंस्र सिन्धु रामकृपा से कविता की तरह मधुर बन सकता है। एक अन्य श्लोक में गोपद में चारों वेदों का निधान माना गया है। एक अन्य उल्लेख गाय के आगे के पैरों में त्वष्टा और अर्यमा ऋषि का और पीछे के पैरों में भगवान महादेव का वास होना बताता है। गाय के खुरों में अदिति का वास बताया गया है। इसलिए भगवत्कृपा से जब सिंधु गोपद के समान छोटा होता है तो वह शिव भी होता है। हनुमान ने सिंधु को पार भी गोपद की तरह ही किया। इस आशीर्वाद के बाद तो जब हनुमान लौटकर सिंधु पार जाते हैं तो वाकई लोग भूल ही जाते हैं कि जिस तरह से पहुंचते वक्त समुद्र-संतरण हुआ था, उस तरह से लौटते वक्त तो नहीं हुआ। वह तो गोपद के समान 'नाघि सिंधु एहि पारहि आवा/सबद किलिकिला कपिन्ह सुनावा' की एक अर्धाली में निपट गया। बाद में लंकाकांड में भी 'यह लघु जलधि तरत कति बारा/अस सुनि पुनि कह पवनकुमारा' में भी वही राम-प्रताप-प्रसंग आया है। यदि वाल्मीकि रामायण के षट्त्रिंश सर्ग में सीताजी द्वारा हनुमान की जो प्रशंसा 8वें श्लोक में की गई है, उसे पढ़ें तो हम इस आशीर्वाद की फलसिद्धि को समझ सकते हैं। श्लोक यह है: "शतयोजन विस्तीर्ण सागरो मकशलयः/विक्रम श्लाघनीयेन क्रमता गोष्पदीकृतः" अर्थात् तुम अपने पराक्रम के कारण प्रशंसा के योग्य हो क्योंकि तुमने मकर आदि जंतुओं से भरे हुए सौ योजन विस्तार वाले महासागर को लांघते समय उसे गाय की खुरी के बराबर समझा है।

रामकृपा से अग्नि भी शीतल हो जाती है। अग्नि शब्द लैटिन इग्निस, रूसी ओगोन और अंग्रेजी इग्नाइट में दीख पड़ता है। अग्नि का स्वभाव है, गरम करना। अग्नि पांच तत्वों में से एक है। ग्रीस के चार क्लासिकल तत्वों में। हमारे यहां तो देवता हैं अग्नि। हम अग्निहोत्र के देश हैं। सिसिली में एड्रानस को अग्नि-देवता माना जाता है। बेबीमोनिया में गैरा नामक अग्नि-देवता है। तो ईशकृपा से ये अग्निदेव भी प्रसन्न, शान्त और शीतल हो जाते हैं। प्राचीन रोमन धर्म में वल्कन के रूप में ऐसे ही

अग्नि-देवता की कल्पना की गई जो लाभदायक है। ये अग्निदेव हनुमान के लिए शीतल हो जाते हैं। इसका कारण स्वयं तुलसी ने शिवजी के मुंह से यह बताया : ता कर दूत अनल जेहिं सिरिजा/जरा न सो तेहि कारन गिरिजा' (हे पार्वती ! जिन्होंने अग्नि को बनाया, हनुमानजी उन्हीं के दूत हैं। इसी कारण वे अग्नि से नहीं जले।) स्वयं हनुमान उन सीता के लिए जिन्हें 'देखिअत प्रगट गगन अंगारा' और 'पावकमय ससि' और 'नूतन किसलय अनल समाना' के दुष्चक्र से गुजरना पड़ा, वैसे हो जाते हैं जिन्हें देख सीता कहती हैं कि 'तोहि देख सीतल भई छाती।' ध्यान दें कि वाल्मीकि रामायण में यह कारण बताया गया है कि अग्नि श्री सीताजी की आज्ञा से शीतल हो गई क्योंकि सीता ने कहा कि 'यदि मैंने पति की सेवा की है, यदि मैंने तपस्या की है, यदि मैं एक श्रीरामजी की पत्नी हूँ, तो अग्नि! तुम हनुमानजी के लिए शीतल हो जाओ।' - 'यद्यस्ति पतिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः/यदि वास्त्येक पत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः' (वा. 3/53/29) वाल्मीकि और तुलसी का यह फर्क दिलचस्प है। वेदव्यास ने महाभारत के सभापर्व, 31/48 में अग्निदेव को 'अनिल संभवः' कहा है यानी जिसका उद्‌भव वायु से हुआ है। तब अनिल के पुत्र हनुमान के लिए तो 'अनल सितलाई' होगा ही। वाल्मीकि रामायण के त्रिपंचाशः सर्ग में (सुंदरकांड) वायु की इस पितातुल्य भूमिका से अग्नि का शीतल होना कहा गया है: "हनूमज्जनकश्चैव पुच्छानलयुतोऽनितः/ववौ स्वास्थ्य करो देव्याः प्रालेयानिलशीतलः" (32) कि हनुमान के पिता वायुदेवता भी उनकी पूंछ में लगी हुई आग से युक्त हो बर्फीली हवा के समान शीतल और देवी सीता के लिए स्वास्थ्यकारी होकर बहने लगे। हनुमान भी यह जानते हैं कि सीता की दया, राम के तेज, पिता की मैत्री के प्रभाव से अग्नि मुझे जला नहीं रही : सीतायाश्चानशंस्येन तेजसा राघवस्य च/पितुश्च मम सख्येन न मां दहति पावकः। कुरान में अब्राहम के लिए ईश्वर ने यही कहा था : We said : O fire, be coolness and peace for Abraham (सूरा अल-अन्बिया 21 : 69)। पॉल ग्लिन ने चमत्कारों पर एक पुस्तक ही इस शीर्षक से लिखी : 'हीलिंग फायर ऑफ क्राइस्ट।'

इसी क्रम में यह भी कहा गया कि सुमेरू पर्वत भी उस व्यक्ति के लिए रेणु के समान हो जाता है जिसे भगवान राम कृपा कर देख लेते हैं। हनुमान मैनाक पर्वत और महेन्द्र पर्वत को भी इसी रामकृपा के कारण पार कर सके और अब त्रिकूटाचल पर स्थित लंका। आगे वे संजीवनी के लिए पर्वत को ऐसे उठा लाएंगे जैसे बच्चा धूल उठाता है। सुमेरू साधारण पर्वत नहीं है। बौद्ध जागतिकी में केन्द्रीय विश्व-गिरि है। वसुबंधु के अभिधर्मकोष भाष्यम के अनुसार सुमेरू 80,000 योजन ऊँचा है और सात समुद्रों और सात पर्वतीय दीवारों के बीच में स्थित है। सूर्य सिद्धांत इसे 'भूगोल मध्य' बताता है। (वैसे भूमध्यरेखा पर तंजानिया में मेरू नामक एक पर्वत वाकई स्थित है।) पुराणों में मेरू पर्वत और वायु पर्वत दोस्त बताए गए हैं। यहां 'गरुड़ सुमेरु रेनु' बोलने में गरूड़ एक सम्बोधन की तरह लगता है लेकिन लगता है तुलसी के ध्यान में कहीं गरुड़ और सुमेरु की मिथकीय मित्रता भी थी। इस मिथक के अनुसार नारद ऋषि ने एक बार वायु देवता को सुमेरु पर्वत का दर्प भंग करने को कहा। वायु अपनी पूरी शक्ति से एक वर्ष तक बहे किन्तु सुमेरु को गरुड़ ने अपने पंखों में छिपा लिया। एक साल के बाद गरुड़ ने थोड़ा विश्राम किया तो पर्वत का शिखर टूटकर समुद्र में गिर गया और लंका द्वीप बन गया। अब इस लंका को तो हनुमान ने रामकृपा से वाकई धूल में मिला दिया। सुमेरु को देवी भागवत पुराण में स्वर्ण का बना बताया है और लंका भी सोने की है और हनुमान के सामने सोने का मूल्य धूल के बराबर ही है। थाई पौराणिकी में सुमेरु पर्वत को विश्व का स्तंभ और ब्रह्मांड का केंद्र बताया गया है। वह सुमेरु एक प्रतीक के रूप में आज भी 108 मनकों वाली माला में है।

ध्यान दें कि तुलसी किसी भौगोलिक पर्वत का नाम न लेकर एक पौराणिक पर्वत का नाम ले रहे हैं। एक मिथकीय पर्वत के रामकृपा से 'रेणु सम' हो जाने में अधिक आसानी है। हनुमान को आगे 'कज्जल गिरि जैसा' रावण भी मिलेगा। हनुमान रामकृपा से उसका भी

मानमर्दन कर सकेंगे। नीतिशतक में 'मेरू : स्वल्प शिलायते' कहा ही गया था। रावण को पर्वत के समान बताते हुए तुलसी ने विस्तृत चित्र खींचा था : 'भुजा विटप सिर सृंग समाना/रोमावली लता जनु नाना/मुख नासिका नयन अरु काना/गिरि कंदरा खोह अनुमाना।' वाल्मीकि भी रावण के पर्वताकार शरीर का वर्णन सुंदरकांड के दशम सर्ग में करते हैं :- ताभ्यां स परिपूर्णाश्यामुआभ्यां राक्षसेश्वरः/शुशुभेऽचलसंकाशः श्रृंगाभ्यामिव मंदरः (22) "उन बड़ी-बड़ी और गोलाकार दो भुजाओं से युक्त पर्वताकार राक्षसराज रावण दो शिखरों से संयुक्त मंदराचल के समान शोभा पा रहा था।" हनुमान इसी पर्वत का मान मर्दन करते हैं और लंका के उन भवनों को भी जला देते हैं जिनकी तुलना वाल्मीकि ने मेरू पर्वत से की थी : मेरुमन्दरसंकाशैरूल्लिख। द्र्भरिवाम्बरम्। कूहागारैः शुभागारैः सर्वतः समलंकृतम्।।

रामकृपा जीवन के इस बीहड़ में, इस मरुस्थल में, इस खौफ में इतनी बड़ी आश्वस्ति है। कई बार वह उन जगहों से बचा ले जाती है जहां से निस्तार संभव ही नहीं था। सूरदास कहते हैं 'जा पर कृपा करे करुनामय, ता दिसि कौन निहारे?/जो जन निस्चै करि सेवे, हरि निज विरद सँवारे।' सूरदास प्रभु अपने जन कौं, उर तैं नैकु न टारे। लेकिन यहां तुलसी तत्वों के प्रकृति-परिवर्तन के बारे में कह रहे हैं। यह जिस विश्वास से निःसृत हुआ है, वह है ज्ञानिनां सर्वतः शिवः। वर्ड्सवर्थ इसी विचार से कहते थे : 'विद जेंटल हैंड/टच-फॉर देअर इज अ स्पिरिट इन द वुड्स।' सर टामस ब्राउन (रेलिजिओ मेडिसी 16) का मानना था कि 'नेचर इज़ द आर्ट ऑफ गॉड।' पॉल लिटिल का कहना है : God is outside, over and above Natural law, and is not bound by it. इसलिए कई चीजें जो हमें प्रकृति की व्यवस्था का उल्लंघन लगती हैं, वस्तुतः प्रकृति के कुछ ऐसे नियमों का प्रकटीकरण हो सकती हैं जो अभी तक मानवीय प्रज्ञा के सामने उद्घाटित नहीं हुए। जितना हम चीजों का अपनी तरह से फार्मूलेशन करते जाते हैं, उतना ही 'अतिप्राकृत' की संभावना बढ़ती जाती है।यह ध्यान दें कि शिवजी से उस पंक्ति को इसलिए कहलाना पड़ा क्योंकि तत्वों के स्वभाव में अतिप्राकृत परिवर्तन हो रहा था। गिरिजा स्वयं 'प्रकृति' हैं, अतः उन्हें सम्बोध्य बनाया गया है। अग्नि प्रहलाद के लिए भी शीतल हुई थी, अब्राहम के लिए भी, लंकिनी के आशीर्वाद के बाद रामकृपा से हनुमानजी के लिए भी हुई। पदार्थ भी क्या सब्जेक्टिव हो सकता है? लेकिन पौराणिकी में ऐसे उदाहरण हैं। वस्तुतः पदार्थों/तत्वों को 'देव' बनाने की पौराणिकी उनमें 'सब्जेक्टिविटी' तलाशने की ही तृष्णा का परिणाम है। इसी कारण ऋग्वेद में कहा गया है कि अग्नि पुरोहित हैं, यज्ञदेव हैं, ऋत्विज हैं, होता हैं, रत्नधाता हैं। पदार्थ भी ईश्वर के ही हाथ के उपकरण हैं। जो संवेदना समस्त जगत को ईश्वर में व्याप्त देखती है, वही संवेदना पदार्थ को भी व्यक्तित्व देती है। मुझे जे.डी सेलिंगर (टेडी, 1954) की याद आती है। I was six when I saw that everything was God, and my hair stood up, and all". Teddy said." It was on a Sunday, I remember. My sister was a tiny child then, and she was drinking her milk, and all of a sudden I saw that she was God and the milk was God. I mean, all She was doing was pouring God into God, if you know what I mean. टेडी की यह कथा भी पदार्थ में पुरुष को देखने की कथा है। लेकिन हम लोग ईशकृपा को भी मनोवैज्ञानित (psycholize) करना चाहते हैं। ईशकृपा कोई भावना नहीं है, ईशकृपा एक ऊर्जा है। राम की कृपा करके जो दृष्टि पड़ती है, उस दृष्टि में विद्युत है, तरंग है। उसकी ऊर्जायन-क्षमता का कोई मापन नहीं है। अतः उसमें सिंधु के विस्तार या पर्वत की गुरुता की कोई ऐसी सीमारेखा नहीं है जहां जाकर ईश्वर की यह ऊर्जा खलास हो जाती है।

अति लघुरूप धरेउ हनुमाना
पैठा नगर सुमिरि भगवाना।।
मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा
देखे जहँ तहँ अगनित जोधा।।

तब हनुमान जी ने बहुत ही छोटा रूप धारण किया और भगवान का स्मरण करके नगर में प्रवेश किया। उन्होंने एक-एक महल की खोज की। जहां-तहां असंख्य योद्धा देखे।

इतने संक्षेप में तुलसी ने उसे रखने की कोशिश की है जिसके लिए वाल्मीकि ने 9 सर्ग और 370 श्लोक लगाए हैं। इस संक्षेप से तुलसी ने घटनाक्रम को एक्सीलेरेट तो किया है, स्वयं को तथा हनुमान को बहुत से नैतिक अंतर्द्वन्द्वों से बचाया है। इन पंक्तियों में दो बार तुलसी आत्म-स्वीकार करते हैं कि उनकी सरस्वती साथ नहीं दे रही और उनसे वर्णन करते नहीं बन रहा। तुलसी वाल्मीकि को संक्षिप्त ही नहीं करते बल्कि उनसे इन पंक्तियों में एक रैडिकल डिपार्चर भी लेते हैं। तुलसी के मनस्तत्व को समझने के हिसाब से ये पंक्तियां बहुत उपयोगी हैं। तुलसी के निर्वाचन का अपना मनोविज्ञान है और वह इसमें ही नहीं झलकता कि वे क्या कहते हैं, बल्कि इसमें भी झलकता है कि वे क्या कहने से बचते हैं। 'मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा' को वाल्मीकि के 'भवनाद् भवनं गच्छन् ददर्श कपिकुंजर' में ढूंढा जा सकता है।

सबसे पहले अति लघु रूप पर आएं। बीच में लंकिनी द्वारा बाधित होते वक्त हमारा यात्री 'महाकपि' हो गया, लेकिन अब वे अति लघु रूप हो गए हैं। अब वे भगवान का स्मरण कर लंका में घुसते हैं। हमारे समाज में जो अति लघु है, वह अदृश्य है। यह गरीबी की अदृश्यता (Invisibility of poverty) है। शहरों में जो ग्रामीण गरीब माइग्रेंट्स है, वे कब आ जाते हैं, पता ही नहीं लगता। बेवरिज कमिटी (ब्रिटेन) हो या राबर्ट वॉकर द्वारा डेनमार्क की गरीबी की चर्चा हो- दोनों ने गरीबी की अदृश्यता बताई है। टूज़ (Tooze) और मर्फी ने १९९६ में अपने एक अध्ययन में कहा कि 'Poverty has been rendered 'invisible' in International political Economy- (IPE). सौरिन (Saurin) का निष्कर्ष है कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन और परिणामतः अंतर्राष्ट्रीय क्रिया और व्यवहार के सामने आए प्रकारों ने जो पहले से ही शक्तिशाली है, उसके प्रति श्रद्धा में अपने घुटने पूरी तरह से टेक दिए हैं। वास्तविक तथ्य यह है कि विश्व की 85 प्रतिशत जनसंख्या के कार्य और उसका अस्तित्व अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की उचित और पर्याप्त व्याख्या के लिए कोई मायने ही नहीं रखता। देखें कि कमर्शियल चैनलों में कहीं दरिद्रता दिखाई पड़ती हैं? कहीं दलितों का जीवनक्रम दिखता है? कहीं जनजातियों का संत्रास दिखता है? कहीं शोषण की चक्की में पिसते ग्रामीण दिखते हैं? असमानता 'टेकन फार ग्रांटेड' है। एइन डेबेरे (Eoin Devereux) ने अपनी पुस्तक 'डेविल्स एंड एंजेल्स : टेलीविजन, आइडियोलॉजी एंड कवरेज ऑफ पावर्टी' में कहा है : The invisibility or narrow portrayal of poverty is in itself an important feature of fxhow television engages in the reproduction of ideology through dissimulation. 1910 में चार्ल्स एडवर्ड रसेल लिख रहे थे कि 'Poverty was difficult to arouse people because of its invisibility.' यह अदृश्यता समाज के छोटे आदमी को कोने में पटक दिये जाने (marginalization) से आती है। अत्यन्त छोटा आदमी जिसके पास रहने को छत नहीं है, वह किसी का टी.जी. नहीं है। 'आयरलैंड काम्बेट पावर्टी एजेंसी' का भी यही निष्कर्ष है : '..... A third facet is invisibility, the tendency of the privileged to act as though people who are poor simply do not exist, aided and abetted by isolating them in the mass media.' देखा जाए कि गरीबी अपनी ही अदृश्यता की शिकार (victim) है। वह न केवल दरिद्रता है बल्कि सामाजिक रिश्तों से कट जाना है। सामाजिक क्षितिज पर अत्यन्त छोटा आदमी दिखाई ही नहीं पड़ता। एक संस्कृत श्लोक में कहा गया है : 'हे दरिद्रम नमस्तुभ्यं सिद्धाऽहं त्वत्प्रसादतः/ पश्याम्यहं जगत् सर्वं न मां पश्यति कश्चन।।' कि हे दरिद्रता तुम्हें नमस्कार है। तुम्हारी कृपा से मैं सिद्ध हो गया हूँ। मैं सब जगत् को देखता हूँ किंतु मुझे कोई नहीं देखता। तो मुझे यही लगता है कि लंका में हनुमान एक अत्यन्त दरिद्र आदमी का रूप लेकर घुसे होंगे। गरीब का तो भगवान ही सहारा है, सो उन्होंने भगवान का ही नाम लिया होगा। बाइबल में कहा गया है : For you

have been a defense for the hopeless, a defense for the needy in distress. यह भी कि The unfortunate commits himself to you; You have been the helper of the orphan .... O Lord you have heard the desire of the humble; You will strengthen their heart, You will incline Your ear to vindicate the orphan and the opprersed. महात्मा गांधी ने दरिद्रनारायण की अवधारणा को भी ऐसे ही व्याख्यायित किया था : दरिद्रनारायण का अर्थ है गरीबों का ईश्वर, गरीबों के हृदय में निवास करने वाला ईश्वर।' सोने की लंका में आए हनुमान उसी भगवान का स्मरण करते हैं।

यहां तुलसी उपाधि के उस विवाद को भी निपटाते हैं जो 'लंकहि चलेऊ सुमिरि नरहरी' और 'हृदय राखि कोसलपुर राजा' के बीच खड़ा कर दिया गया है। ये दोनों अंततः उसी भगवान की उपाधि हैं। संत आनंदघन कहते थे- 'राम कहो, रहमान कहो/कान्ह कहो, महादेव रे!/पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा/सकल ब्रह्म स्वयमेव रे!' यही बात रैदास कहते थे :'कृष्ण करीम, रहीम राम हरि/जब लगि एक न पेखा/वेद कतेव कुरान पुराननि/तब लगि भ्रम ही देखा।' तुलसी कभी नरहरी का स्मरण करवाते हैं तो कभी कोसलपुर राजा का- तो वे स्वयं ही अध्यात्म के अद्वैत को जानते हैं, लेकिन टीकाकार उन्हें बख्शें तब न! समन्वय की भारतीय चेतना के सबसे अच्छे प्रतिनिधि को किन रपटीली जगहों पर फँसाया जा रहा है। असल बात तो ईश्वर का स्मरण है। पलटू कहते थे : 'पलटू शुभ दिन शुभ घड़ी, याद पड़े जब नाम/लगन मुहूरत झूठ सब, और बिगाड़े काम।' तो हनुमान ने लंका में घुसने के लिए लगन और मुहूर्त विचार नहीं किया। भगवान का स्मरण ही शुभ दिन और शुभ घड़ी है। जगन्नाथ महात्मा कहा करते थे : 'सांस सांस सुमिरन करै, जपै जगद्गुरू जाप/जगन्नाथ संसार की, कछू न व्यापै ताप।' हनुमान ने जब भगवान का स्मरण कर नगर-प्रवेश किया तब उन पर लंका का ताप भी क्या व्यापेगा? भले ही उनकी पूँछ में आग लगा दी गई हो, लेकिन भगवान-स्मरण से उनके लिए यह ताप भी शीतल हो जाएगा। दैवज्ञ पंडित सूर्य (नृसिंह चम्पू, 2/19) में लिखते हैं:- 'यो यत्र स्मरति हरिं सतत्र पश्यत्यक्शयममुम्'- कि जो जहां भी उसका स्मरण करता है, वह वहीं उसका दर्शन कर लेता है।

हनुमान ने प्रत्येक घर में शोध की। वे घर-घर गए। मंदिर शब्द यहां घर के पर्याय के रूप में तुलसी ने प्रयुक्त किया है। घर शब्द के और भी पर्याय हैं : गृह, आयतन, आलय, आवास, धाम, निकेत, निलय, भवन, निवास, सद्म, सदन, वेश्म आदि। लेकिन तुलसी ने राक्षसों के घरों के लिए मंदिर शब्द ही चुना। एक टीकाकार ने इसका कारण यह लिखा है कि "भवनागारमन्दिरम् आदि सोलह नाम घर के हैं। सब पर्यायवाची शब्द हैं। चाहे मंदिर कहिए, चाहे भवन कहिए, बात एक ही है। पद्यरचना में जो शब्द उपयुक्त होता है, वही रखा जाता है।' 'भवन भवन प्रति करि सोधा' अथवा 'गयऊ दसानन मंदिर माही' लिखने से छंदो-भंग होता, इसलिए मंदिर लिखा और 'मंदिर एक पुनि दीख सोहावा' लिखने से भी छन्दो भंग होता, कवि को इन बातों पर ध्यान रखना चाहिए।"

लेकिन छन्दोभंग के तर्क से इसलिए सहमत नहीं हुआ जा सकता क्योंकि मात्रा निर्वाह के लिए मंदिर की चार मात्राओं के मुकाबिल आलय आदि शब्द है और भवन के लिए सदन, निलय, धाम आदि पर्याय हैं। लेकिन तुलसी राक्षसों के घरों को मंदिर और विभीषण जैसे भक्त के घर को भवन कहते हैं।

मंदिर शब्द पूरी दुनिया भर के ऐसे समानार्थी शब्दों की याद दिलाता है जहां 'घर' देवताओं का 'पवित्र आवास' दोनों अर्थों की प्रतिच्छवियां साथ-साथ हैं। प्राचीन मिस्र में प्रचलित शब्द pr का अर्थ घर भी होता है और एक 'पवित्र संरचना' भी। सुमेर में É शब्द था जिसका अर्थ घर भी था और देवालय भी। रोमन सभ्यता में और लैटिन 'टेम्पलम' में भी यही दोनों अर्थ हैं। पैगन टेमेनोस में भी। तमिल में कोइल शब्द का अर्थ राजा का निवास है और देवस्थान भी। हीब्रू का he<u>k</u>al शब्द

का अर्थ बड़ा घर और पूजा भवन दोनों है।

तब तुलसी ने भी मंदिर शब्द का प्रयोग राक्षस-गृहों के लिए किया है तो सोच-समझकर ही किया होगा। क्या यह इसलिए था कि जैसा वाल्मीकि ने कहा : 'शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै/ स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान् ददर्श सः' कि राक्षसों के घरों में बहुतों को उन्होंने वहां मन्त्र जपते हुए सुना और कितने ही निशाचरों को स्वाध्याय में तत्पर देखा। लेकिन अगली ही पंक्ति, बल्कि अगले शब्द में ही वाल्मीकि भी एक इशारा करते हैं : 'रावण स्तवसंयुक्तान गर्जतो राक्षसानपि' कि कई राक्षसों को रावण की स्तुति के साथ गर्जना करते देखा। राक्षसगृहों के बारे में वाल्मीकि यह भी बताते हैं कि 'प्रज्ज्वाल तदा लंका रक्षोगणगृहैः शुभैः/सिताभ्रसदृशैश्चित्रैः पद्मस्वस्तिकसंस्थितैः। वर्धमानगृहैश्चापि सर्वतः सुविभूषितैः' कि उन गृहों में कोई स्वस्तिक संस्थान था और कोई वर्धमान संज्ञक था। वराहमिहिर की संहिता में स्वस्तिक घर वह है जिसमें सिर्फ पूर्व दिशा की ओर द्वार नहीं होता और जो पुत्र व धन देने वाला होता है, और वर्धमान नामक घर वह है जिसमें दक्षिण के सिवा तीन अन्य दिशाओं में द्वार हों, वह धन देने वाला होता है। 'दक्षिणद्वाररहित वर्धमानं धनप्रदम्/प्राग्द्वाररहितं स्वस्तिकास्यं पुत्रधन प्रदम्' यानी राक्षसों की कामना धन और जनसंख्या वृद्धि दो की ही थी क्योंकि वाल्मीकि ने लंका में गृहों के दो दूसरे प्रकारों सर्वतोभद्र और नन्द्यावर्त का उल्लेख नहीं किया।

तो राक्षसों के घरों में पूजा तो होती थी, लेकिन वह, कुछ ऐसा लगता है कि, खुद को ही खुदा मानने वाली पूजा थी। एक तरह का ईगो-मैनिया। एक तरह का नार्सीसिज्म। बल्कि नार्सीसस तो स्वयं के प्रेम में था। राक्षस तो स्वयं की पूजा में थे। Self-preoccupation का चरम। आत्म-श्रद्धा आत्म-पूजा से भिन्न है। आसुर मान्यता तो यह थी कि 'ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान सुखी'। यह है selfism की अतिदंभ (एरोगैंस) और शेखी (overbearingness)। 1970 के दशक के अमेरिका में 'मी-जेनेरेशन' (मैं-पीढ़ी) की बात होती थी। लंका में उसकी पराकाष्ठा थी। कबीर ने यही कहा- 'मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल विनास/मेरी पग का पैंषडा, मेरी गल की फास।' दादू की वाणी से भी यही सत्य निःसृत हुआ था : 'जहां राम तहं मैं नहीं, मैं तहं नाही राम/दादू महल बारीक है, द्वै को नही ठाम्।' यहां लंका में बड़े-बड़े महल हैं, बारीक नहीं। किन्तु वहां खुद से ही इंडल्जेंस है। यहां वह स्थिति नहीं है कि 'मैं हूं' वरदान सदृश कानों में गूंजता हो, कि 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'अनलहक़' का अद्वैत हो- यहां तो घमंड इस तक है कि देवता भी बंदी हैं। डोरोथी सोले ने कहा है कि with the disappearance of God the ego moves forward to become the sole divinity. (द साइलेंट क्राई)। लंका में यही हुआ है। वहां राक्षस स्वयं को पूज्य मान रहे हैं। भागवत में कहा गया है कि भगवान की पूजा ही स्वधर्म है ('स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य') लेकिन लंका में 'स्व' की पूजा ही धर्म है, भगवत्पूजा है।

बल्कि स्थिति और भी बदतर है। वहां तो 'रावणस्तव संयुक्तान' की स्थिति है। रावण की ही स्तुति होती है। 1933 से 1979 तक ईरान में 'किंग ऑफ किंग्स' का राष्ट्रगीत चलता था। कुछ सभ्यताओं में मरने के बाद राजा को देवता मान लिया जाता था। लेकिन रावण की तो जीते जी स्तुति हो रही है। चाणक्य अर्थशास्त्र में कहते थे : 'नात्मप्रियं हितं राज्ञः' कि आत्मप्रियता में राजा का हित नहीं है।' तो यह नहीं कि राजा ईश्वर की छाया है, यह कि राजा स्वयं ईश्वर है, बल्कि वाल्मीकि के जिस श्लोक की ऊपर हमने सहायता ली है, वहां राक्षसों को स्तुति भी गर्जना के साथ करते हुए बताया गया है। ईश्वर की प्रार्थना तो निःशब्द भी हो जाती है और सस्वर भी। लेकिन स्तुति में गर्जना तो सिर्फ राक्षसों के यहां ही पाई जाती है। रावण-राज की विशेषता है यह।

वाल्मीकि और तुलसी के इस वर्णन में एक फर्क और भी है, वह यह कि तुलसी के हनुमान हर घर में ढूँढते हैं जबकि वाल्मीकि के हनुमान कुछ विशिष्ट

भवनों में। वे प्रहस्त, कुंभकर्ण, विभीषण, महोदर, विरुपाक्ष, विद्युज्जिह्व, विद्युन्मालि, वज्रदंष्ट्र, शुक, सारण, इंद्रजित, जम्बुमालि, सुमालि, रश्मिकेतु, सूर्यशत्रु, वज्रकाय, धूम्राक्ष, सम्पाति, विद्युतरूप, भीम, घन, विघन, शुकनाभ, चक्र, शठ, कपट, ह्वस्वकर्ण, द्रंष्ट्र, लोमश, युद्धोन्मत्त, मत्त, ध्वजग्रीव, विद्युज्जिह्व, द्विजिह्व, हस्तिमुख, कराल, पिशाच, शोणिताक्ष के महलों में जाते हैं और उसके बाद रावण के राजभवन में प्रवेश करते हैं।

इस अंतर पर कुछ प्रश्न उठते हैं। सम्पाति जब उन्हें यह कह चुका था कि 'तहँ असोक उपबन जहँ रहई/सीता बैठि सोच रत अहई', तब उन्हें उपवन ही देखने थे, वे 'मंदिर-मंदिर प्रति करि सोधा' क्यों जरूरी समझते थे। वे घर/महल क्यों देख रहे थे? वाल्मीकि संपत्ति के द्वारा अशोक उपवन का उल्लेख नहीं कराते। तब वाल्मीकि के यहां तो राक्षस- गृहों को देखना स्वाभाविक है, लेकिन तुलसी के यहां हर घर देखने का अर्थ यही है कि हनुमान तुलसी के यहां कोई कसर नहीं छोड़ना चाहते। वाल्मीकि के हनुमान में एक पूर्वग्रह-सा है कि सीता बड़े नामोल्लेख्य राक्षसों के घरों में ही हो सकती हैं, छोटी जगहों में नहीं। शायद यह इस विचार से निःसृत हुआ हो कि रावण सीता को झुग्गी-झोपड़ियों में रखने से रहा। जो सीता पर्णकुटीर में राम के साथ खुश रहती थीं, रावण-दृष्टि में, वाल्मीकि के यहां, वह महलों में ही रखे जाने योग्य थी। तुलसी के यहां हनुमान समझते होंगे कि रावण का उद्देश्य तो सीता को छिपाना है, तो वह उन जगहों पर भी रख सकता है जो प्रकटतः और प्रथमदृष्टया असंभाव्य प्रतीत होती हैं। इसलिए यहां हनुमान कोई चांस नहीं लेना चाहते। तुलसी crypsis ('देखे जाने से बचाना' - avoidance of observation) की पद्धतियों से ज्यादा वाकिफ लगते हैं। रावण सीता को दिखने से बचाने के लिए किसी भी जगह पर रख सकता है।

संपाति ने अशोक वाटिका में सीता के होने के बारे में कहा अवश्य था, लेकिन स्वयं अशोक वाटिका कहां है, यह नहीं बताया था। वाटिका कोई जरूरी नहीं है कि लोक-वाटिका ही हो, वह निजी भी हो सकती है और निजी वाटिका कोई जरूरी नहीं कि छोटी ही हो। आज एक अशासकीय संगठन रूरल कम्यून्स महाराष्ट्र में ग्रामीणों को फॉरेस्ट होम गार्डन्स बनाना सिखा रहा है। अभी लॉस एंजिल्स में इन्डोर फॉरेस्ट की अवधारणा बड़ी लोकप्रिय हुई है। भारतीय वास्तुशास्त्र में भी गृहोपवन के रूप में उपवन का एक प्रकार बताया गया है। पुराने महलों में भी बड़े-बड़े उपवन हुआ करते थे। इस्तंबूल में 40 पैलेस गार्डन्स बताए गए हैं। वहां 'पुराने पैलेस' में 8000 और नये पैलेस में 12,000 माली होते थे। अशोक वाटिका कोई पैलेस गार्डन भी हो सकती थी और कोई होम गार्डन भी। आखिरकार बकिंघम पैलेस गार्डन 42 एकड़ में फैला हुआ और उसमें एक झील भी है। रिचमंड रॉयल पार्क तो 955 हैक्टेयर में फैला हुआ है। ऐसे कई उदाहरण दिए जा सकते हैं जहां महल और वाटिका एक ही परिसीमा (enclosure) का अंग होती हैं। हनुमान को शक रहा होगा कि सीता किसी गृहोपवन में भी रखी गई हो सकती है। इसलिए हनुमान घर-घर खोजते फिरे।

अब खोजने के लिए तुलसी ने 'सोधा' शब्द का इस्तेमाल किया। हनुमान 'सर्च' कर रहे थे। वह एक तरह का legwork है। हनुमान भी अपनी तरह से राहों के अन्वेषी हैं। लंका यदि शत्रु-शक्तियों का नगर है तो हनुमान के लिए जरूरी है कि जब सीता की खोज के लिए घरों की छानबीन करनी ही है तो लगे हाथ वह बहु-उद्देश्यीय तहकीकात हो जाए। इसलिए हनुमान घरों का जो जायजा ले रहे हैं, वह सिर्फ सीता की तलाश ही नहीं है, घरों की स्क्रूटिनी भी है। हर घर की अन्वीक्षा। जुस्तजू जिसकी है, उसको तो अभी तक उन्होंने पाया भी नहीं है, लेकिन इस बहाने से उन्होंने लंका आर-पार देख ली है।

हनुमान को यहां-वहां अगणित योद्धा ही दिखाई दिए। हनुमान स्वयं महावीर हैं, स्वयं सुविक्रम है, स्वयं चित्रयोधी हैं तो उनकी दृष्टि भी लंका के लड़ैतों पर ही पड़ी। (हनुमान की जोड़ का कोई प्रतियोद्धा तो वहां न

था, योद्धा जरूर है।) समान की नजर समान पर ही पड़ती है। Things of a kind seem to hang out together. चूंकि हनुमान के दिमाग में सोच ही उन संघर्षों के बारे में चल रही है जो अपरिहार्य और आसन्न है, अतः उनकी नजर भी वहीं वहीं पड़ रही है। यह एक तरह से आने वाले संघर्ष की प्रिव्यू है। इस माहौल में उनकी दृष्टि के राडार की फ्रीक्वेंसी भी योद्धाओं से ही मैच करेगी। लिओ पोस्टमैन ने 'पर्सनल वेल्यूज एज़ सेलेक्टिव फैक्टर्स इन पर्सेप्शन' नामक निबंध में यह सिद्ध किया है कि "What one sees, what one observes is inevitably what one selects from a near infinitude of potential percepts." इसलिए हनुमान जी को यहां-वहां योद्धा ही दिखाई दिए, जबकि वाल्मीकि के यहां हनुमान को बहुत-सी उन्मत्त रमणियां भी दिखाई देती हैं। तुलसी लंका को एक सैन्यवादी (गैरीसन) राज्य प्रतिपादित करना चाहते हैं जबकि वाल्मीकि उसे अय्याशों के राज की तरह। गैरीसन स्टेट 'सुप्रीमेसी ऑफ द स्पेशलिस्ट ऑन वायलेंस' के रूप में हैरोल्ड लासवेल के द्वारा परिभाषित किया गया है। सुप्रीमेसी ऑफ द सोल्जर की तरह। इसलिए तुलसी के हनुमान एक अधिक सैन्यवादी राज्य में घुस गए हैं। यह स्पार्टा से भी ज्यादा सैन्योन्मुख राज्य है। मार्टिन लूथर किंग जू. ने 4 अप्रैल 1967 ने कहा था :- A nation that continues to spend more money on military defense than on programs of social uplift is approaching spiritual death. लंका की भी आध्यात्मिक मृत्यु हो चुकी है। जिस तरह से अमेरिकी मिलिट्री समूह आजकल 'फुल-स्पेक्ट्रम डामिनेंस' (सम्पूर्ण प्रभुत्व) की बात करता है, उस तरह से लंका में हनुमान का जहां-तहां बस योद्धा ही दीख पड़ते हैं। जबकि वाल्मीकि के यहां 'हनुमान जी की दृष्टि में कुछ ऐसी स्त्रियां भी आयीं, जो अपने रूप-सौंदर्य से प्रकाशित हो रही थीं। वे बड़ी लजीली थीं और आधी रात के समय अपने प्रियतम के आलिंगनपाश में इस प्रकार बंधी हुई थीं जैसे पक्षिणी पक्षी के द्वारा आलिंगित होती है। वे सब-की-सब आनंद में मग्न थीं। दूसरी बहुत-सी स्त्रियां महलों की छतों पर बैठी थीं। वे पति की सेवा में तत्पर रहने वाली, धर्मपरायण, विवाहिता और कामभावना से भावित थीं। हनुमान जी ने उन सबको अपने प्रियतम के अंक में सुखपूर्वक बैठी देखा। कितनी ही कामियां सुवर्ण-रेखा के समान कान्तिमती दिखायी देती थीं। उन्होंने अपनी ओढ़नी उतार दी थी। कितनी ही उत्तम वनिताएं तपाए हुए सुवर्ण के समान रंगवाली थीं तथा कितनी ही पति वियोगिनी बालाएं चन्द्रमा के समान श्वेत वर्ण की दिखाई देती थीं। उनकी अंगकांति बड़ी ही सुंदर थी। तदन्तर वानरों के प्रमुख वीर हनुमान जी ने विभिन्न गृहों में ऐसी परम सुंदरी रमणियों का अवलोकन किया, जो मनोभिराम प्रियतम का संयोग पाकर अत्यन्त प्रसन्न हो रही थीं। फूलों के हार से विभूषित होने के कारण उनकी रमणीयता और भी बढ़ गयी थी और वे सबकी सब हर्ष से उत्फुल्ल दिखाई देती थीं। उन्होंने चंद्रमा के समान प्रकाशमान मुखों की पंक्तियां, सुंदर पलकों वाले तिरछे नेत्रों की पंक्तियां और चमचमाती हुई विद्युल्लेखाओं के समान आभूषणों की भी मनोहर पंक्तियां देखी।

तदनन्दर हनुमानजी ने कालीनपर बैठी हुई सहस्त्रों सुन्दरी स्त्रियां देखीं, जो रंग-बिरंगे वस्त्र और पुष्पमाला धारण किये अनेक प्रकार की वेषभूषाओं से विभूषित थीं। आधी रात बीत जाने पर वे क्रीड़ा से उपरत हो मधुपान के मद और निद्रा के वशीभूत हो उस समय गाढ़ी नींद में सो गयी थीं। उन सोयी हुई सहस्त्रों नारियों के कटिभाग में अब करधनी की खनखनाहट का शब्द नहीं हो रहा था। हंसों के कलरव तथा भ्रमरों के गुञ्जारवसे रहित विशाल कमल-वन के समान उन सुप्त सुन्दरियों का समुदाय बड़ी शोभा पा रहा था।

पवनकुमार हनुमानजी ने उन सुन्दरी युवतियों के मुख देखे, जिनसे कमलों की-सी सुगन्ध फैल रही थी। उनके दाँत ढँके हुए थे और आँखें मुँद गयी थीं। रात्रि के अंत में खिले हुए कमलों के समान उन सुन्दरियों के जो मुखारविन्द हर्ष से उत्फुल्ल दिखायी देते थे, वे ही फिर रात आने पर सो जाने के कारण मुँदे हुए दलवाले

कमलों के समान शोभा पा रहे थे। उन्हें देखकर श्रीमान महाकपि हनुमान यह सम्भावना करने लगे कि 'मतवाले भ्रमर प्रफुल्ल कमलों के समान इन मुखारविन्दों की प्राप्ति के लिये नित्य ही बारंबार प्रार्थना करते होंगे- उन पर सदा स्थान पाने के लिये तरसते होंगे;' क्योंकि वे गुण की दृष्टि से उन मुखारविन्दों को पानी से उत्पन्न होने वाले कमलों के समान ही समझते थे।

रावण की वह हवेली उन स्त्रियों से प्रकाशित होकर वैसी ही शोभा पा रही थी, जैसे शरत्काल में निर्मल आकाश ताराओं से प्रकाशित एवं सुशोभित होता है। उन स्त्रियों से घिरा हुआ राक्षसराज रावण ताराओं से घिरे हुए कान्तिमान् नक्षत्रपति चन्द्रमा के समान शोभा पा रहा था। उस समय हनुमानजी को ऐसा मालूम हुआ कि आकाश (स्वर्ग) से भोगावशिष्ट पुण्य के साथ जो ताराएँ नीचे गिरती हैं, वे सब-की-सब मानो यहाँ इन सुन्दरियों के रूप में एकत्र हो गयी हैं। क्योंकि वहां उन युवतियों के तेज, वर्ण और प्रसाद स्पष्टतः सुन्दर प्रभावाले महान् तारों के समान ही सुशोभित होते थे।

मधुपान के अनन्तर व्यायाम (नृत्य, गान, क्रीड़ा आदि) के समय जिनके केश खुलकर बिखर गये थे, पुष्पमालाएँ मर्दित होकर छिन्न-भिन्न हो गयी थीं और सुन्दर आभूषण भी शिथिल होकर इधर-उधर खिसक गये थे, वे सभी सुन्दरियां वहां निद्रा से अचेत-सी होकर सो रही थीं। किन्हीं के मस्तक की (सिंदूर-कस्तूरी आदि की) वेदियाँ पुछ गयी थीं, किन्हीं के नूपुर पैरों से निकलकर दूर जा पड़े थे तथा किन्हीं सुन्दरी युवतियों के हार टूटकर उनके बगल में ही पड़े थे। कोई मोतियों के हार टूट जाने से उनके बिखरे दानों से आवृत थीं, किन्हीं के वस्त्र खिसक गये थे और किन्हीं की करधनी की लड़ें टूट गयी थीं। वे युवतियाँ बोझ ढोकर थकी हुई अश्वजाति की नयी बछेड़ियों के समान जान पड़ती थीं। किन्हीं के कानों के कुण्डल गिर गये थे, किन्हीं की पुष्पमालाएँ मसली जाकर छिन्न-भिन्न हो गयी थीं। इससे वे महान वन में गजराजद्वारा दली-मली गयी फूली लताओं के समान प्रतीत होती थीं। किन्हीं के चन्द्रमा और सूर्य की किरणों के समान प्रकाशमान हार उनके वक्षःस्थल पर पड़कर उभरे हुए प्रतीत होते थे। रे उन युवतियों के स्तनमण्डल पर ऐसे जान पड़ते थे मानो वहां हंस सो रहे हों।

दूसरी स्त्रियों के स्तनों पर नीलम के हार पड़े थे, जो कादम्बर (जलकाक) नामक पक्षी के समान शोभा पाते थे तथा अन्य स्त्रियों के उरोजों पर जो सोने के हार थे, वे चक्रवाक (पुरखाव) नामक पक्षियों के समान जान पड़ते थे। इस प्रकार वे हंस, कारण्डव (जलकाक) तथा चक्रवाकों से सुशोभित नदियों के समान शोभा पाती थीं। उनके जघनप्रदेश उन नदियों के तटों के समान जान पड़ते थे। वे सोयी हुई सुन्दरियाँ वहां सरिताओं के समान सुशोभित होती थीं। किङ्किणियों (घुँघरुओं) के समूह उनमें मुकुल के समान प्रतीत होते थे। सोने के विभिन्न आभूषण ही वहाँ बहुसंख्यक स्वर्ण कमलों की शोभा धारण करते थे। भाव (सुप्तावस्था में भी वासनावश होने वाली श्रृंगार-चेष्टाएं) ही मानो ग्राह थे तथा यश (कान्ति) ही तटके समान जान पड़ते थे। किन्हीं सुन्दरियों के कोमल अंगों में तथा कुचों के अग्रभाग पर उभरी हुई आभूषणों की सुन्दर रेखाएँ नये गहनों के समान ही शोभा पाती थीं। किन्हीं के मुख पर पड़े हुए उनकी झीनी साड़ी के अञ्जल उनकी नासिका से निकली हुई साँस से कम्पित हो बारंबार हिल रहे थे।

नाना प्रकार के सुन्दर रूप-रंगवाली उन रावण पत्नियों के मुखों पर हिलते हुए वे अञ्जल सुन्दर कान्तिवाली फहराती हुई पताकाओं के समान शोभा पा रहे थे। वहां किन्हीं-किन्हीं सुन्दर कान्तिमती कामिनियों के कानों के कुण्डल उनके निःश्वासजनित कम्पन से धीरे-धीरे हिल रहे थे। उन सुन्दरियों के मुख से निकली हुई स्वभाव से ही सुगन्धित श्वासवायु शर्करानिर्मित आसव की मनोहर गन्ध से युक्त हो और भी सुखद बनकर उस समय रावण की सेवा करती थी। रावण की कितनी ही तरुणी पत्नियाँ रावण का ही मुख समझकर बारंबार अपनी सौतों के ही मुखों को सूँघ रही थीं। उन सुन्दरियों का मन रावण में अत्यन्त आसक्त था, इसलिए

वे आसक्ति तथा मदिरा के मद से परवश हो उस समय रावण के मुख से भ्रम से अपनी सौतों का मुख सूँघकर उनका प्रिय ही करती थीं (अर्थात वे भी उस समय अपने मुख-संलग्न हुए उन सौतों के मुखों को रावण का ही मुख समझकर उसे सूँघने का सुख उठाती थीं। अन्य मदमत्त युवतियाँ अपनी वलयविभूषित भुजाओं का ही तकिया लगाकर तथा कोई-कोई सिरके नीचे अपने सुरम्य वस्त्रों को ही रखकर वहाँ सो रही थीं। एक स्त्री दूसरी की छाती पर सिर रखकर सोयी थी तो कोई दूसरी स्त्री उसकी भी एक बाँह को ही तकिया बनाकर सो गयी थी। इसी तरह एक अन्य स्त्री दूसरी की गोद में सिर रखकर सोयी थी तो कोई दूसरी उसके भी कुचों का ही तकिया लगाकर सो गयी थी।

इस तरह रावण विषयक स्नेह और मदिराजनित मद के वशीभूत हुई वे सुन्दरियाँ एक-दूसरी के ऊरु, पार्श्वभाग, कटिप्रदेश तथा पृष्ठभाग का सहारा ले आपस में अंगों-से-अंग मिलाये वहां बेसुध पड़ी थीं। वे सुन्दर कटिप्रदेश वाली समस्त युवतियाँ एक-दूसरी के अंग स्पर्श को प्रियतम का स्पर्श मानकर उससे मन-ही-मन आनंद का अनुभव करती हुई परस्पर बाँह-से-बाँह मिलाये सो रही थीं। एक-दूसरी के बाहुरूपी सूत्र में गुँथी हुई काले-काले केशों वाली स्त्रियों की वह माला सूत में पिरोयी हुई मतवाले भ्रमरों से युक्त पुष्पमाला की भाँति शोभा पा रही थी।

माधवमास (वसन्त) में मलयानिल के सेवन से जैसे खिली हुई लताओं का वन कम्पित होता रहता है, उसी प्रकार रावण की स्त्रियों का वह समुदाय निःश्वासवायु के चलने से अञ्जलों के हिलने के कारण कम्पित होता-सा जान पड़ता था। जैसे लताएँ परस्पर मिलकर माला की भाँति आबद्ध हो जाती हैं, उनकी सुन्दर शाखाएँ परस्पर लिपट जाती हैं और इसलिए उनके पुष्प समूह भी आपस में मिले हुए-से प्रतीत होते हैं तथा उन पर बैठ हुए भ्रमर भी परस्पर मिल जाते हैं, उसी प्रकार वे सुन्दरियाँ एक-दूसरी से मिलकर माला की भाँति गुँथ गयी थीं। उनकी भुजाएँ और कंधे परस्पर सटे हुए थे। उनकी वेणी में गुँथे हुए फूल भी आपस में मिल गये थे तथा उन सबके केशकलाप भी एक-दूसरे से जुड़ गये थे।

यद्यपि उन युवतियों के वस्त्र, अंग, आभूषण और हार उचित स्थानों पर ही प्रतिष्ठित थे, यह बात स्पष्ट दिखायी दे रही थी, तथापि उन सबके परस्पर गुँथ जाने के कारण यह विवेक होना असंभव हो गया था कि कौन वस्त्र, आभूषण, अंग अथवा हार किसके हैं। रावण के सुखपूर्वक सो जाने पर वहां जलते हुए सुवर्णमय प्रदीप उन अनेक प्रकार की कान्तिवाली कामिनियों को मानो एकटक दृष्टि से देख रहे थे। राजर्षियों, ब्रह्मर्षियों, दैत्यों, गन्धर्वों तथा राक्षसों की कन्याएँ काम के वशीभूत होकर रावण की पत्नियाँ बन गयी थीं। उन सब स्त्रियों का रावण से युद्ध की इच्छा से अपहरण किया था और कुछ मदमत्त रमणियाँ कामदेव से मोहित होकर स्वयं ही उसकी सेवा में उपस्थित हो गयी थीं।

पत्नियों के प्रेमी उन महाकाय राक्षसराज के घर में हनुमानजी ने उसकी पत्नियों को भी देखा, जो उसके चरणों के आस-पास ही सो रही थीं। वानरयूथपति हनुमानजी ने देखा, उन रावणपत्नियों के मुख चन्द्रमा के समान प्रकाशमान थे। वे सुन्दर कुण्डलों से विभूषित थी तथा ऐसे फूलों के हार पहने हुए थीं, जो कभी मुरझाते नहीं थे। वे नाचने और बाजे बजाने में निपुण थीं, राक्षसराज रावण की बाँहों और अंग में स्थान पाने वाली थीं तथा सुन्दर आभूषण धारण किये हुए थीं। कपिवर हनुमान ने उन सबको वहाँ सोती देखा। उन्होंने उन सुन्दरियों के कानों के समीप हीरे तथा नीलम जड़े हुए सोने के कुण्डल और बाजूबंद देखे। ललित कुण्डलों से अलङ्कत तथा चन्द्रमा के समान मनोहर उनके सुन्दर मुखों से वह विमानाकार पर्यंक तारिकाओं से मंडित आकाश की भाँथि सुशोभित हो रहा था। क्षीण कटि प्रदेश वाली वे राक्षसराज की स्त्रियां मद तथा पतिक्रीड़ा के परिश्रम से थककर जहाँ-तहाँ जो जिस अवस्था में थीं वैसे ही सो गयी थीं। विधाता ने जिसके सारे अंगों को सुन्दर एवं विशेष शोभा से सम्पन्न बनाया था, वह कोमल भाव से

अंगों के संचालन (चटकाने-मटकाने आदि) द्वारा नाचने वाली कोई अन्य नृत्यनिपुणा सुन्दरी स्त्री गाढ़ निद्रा में सोकर भी वासनावश जाग्रत-अवस्थी की ही भाँति नृत्य के अभिनय से सुशोभित हो रही थी। कोई वीणा को छाती से लगाकर सोयी हुई सुन्दरी ऐसी जान पड़ती थी, मानो महानदी में पड़ी हुई कोई कमलिनी किसी नौका से सट गयी हो।

दूसरी कजरारे नेत्रों वाली भामिनी काँख में दबे हुए मड्डुक (लघुवाद्य विशेष) के साथ ही सो गयी थी। वह ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे कोई पुत्रवत्सला जननी अपने छोटे-से शिशु को गोद में लिये सो रही हो। कोई सर्वांग सुन्दरी एवं रुचिर कुचोंवाली कामिनी पटहको अपने नीचे रखकर सो रही थी, मानो चिरकाल के पश्चात् प्रियतम को अपने निकट पाकर कोई प्रेयसी उसे हृदय से लगाये सो रही हो। कोई कमललोचना युवती वीणा का आलिङ्गन करके सोयी हुई ऐसी जान पड़ती थी, मानो कामभाव से युक्त कामिनी अपने श्रेष्ठ प्रियतम को भुजाओं में भरकर सो गयी हो।

नियमपूर्वक नृत्यकला से सुशोभित होने वाली एक अन्य युवती विपञ्ची (विशेष प्रकार की वीणा) को अंग में भरकर प्रियतम के साथ सोयी हुई प्रेयसी की भाँति निद्रा के अधीन हो गयी थी। कोई मतवाले नयनों वाली दूसरी सुन्दरी अपने सुवर्ण-सदृश गौर, कोमल, पुष्ट और मनोरम अंगों से मृदंग को दबाकर गाढ़ निद्रा में सो गयी थी। नशे से थकी हुई कोई कृशोदरी अनिन्द्य सुन्दरी रमणी अपने भुजपाशों के बीच में स्थित और काँख में दबे हुए पणव के साथ ही सो गयी थी। दूसरी स्त्री डिंडिम को लेकर उसी तरह उससे सटी हुई सो गयी थी, मानो कोई भामिनी अपने बालक पुत्र को हृदय से लगाये हुए नींद ले रही हो। मदिरा के मद से मोहित हुई कोई कमल नयनी नारी आडम्बर नामक वाद्य को अपनी भुजाओं के आलिङ्गन से दबाकर प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न हो गयी। कोई दूसरी युवती निद्रावश जल से भरी हुई सुराही को लुढ़काकर भीगी अवस्था में ही बेसुध सो रही थी। उस अवस्था में वह वसन्त-ऋतु में विभिन्न वर्ण के पुष्पों की बनी और जल के छींटे से सींची हुई माला के समान प्रतीत होती थी। निद्रा के बल से पराजित हुई कोई अबला सुवर्णमय कलश के समान प्रतीत होने वाले अपने कुचों को दोनों हाथों से दबाकर सो रही थी।

पूर्ण चन्द्रमा के समान मनोहर मुखवाली दूसरी कमललोचना कामिनी सुन्दर नितम्बवाली किसी अन्य सुन्दरी का आलिङ्गन करके मद से विव्हल होकर सो गयी थी। जैसे कामिनियाँ अपने चाहने वाले कामुकों को छाती से लगाकर सोती हैं, उसी प्रकार कितनी ही सुन्दरियाँ विचित्र-विचित्र वाद्यों का आलिङ्गन करके उन्हें कुचों से दबाये सो गयी थीं। उन सबकी शय्याओं से पृथक् एकान्त में बिछी हुई सुन्दर शय्या पर सोयी हुई एक रूपवती युवती को वहाँ हनुमान जी ने देखा। वह मोती और मणियों से जुड़े हुए आभूषणों से भलीभाँति विभूषित थी और अपनी शोभा से उस उत्तम भवनों को विभूषित-सा कर रही थी। वह गोरे रंग की थी। उसकी अंगकान्ति सुवर्ण के समान दमक रही थी। वह रावण की प्रियतमा और उसके अन्तःपुर की स्वामिनी थी। उसका नाम मन्दोदरी था। वह अपने मनोहर रूप से सुशोभित हो रही थी। वहाँ कोई स्त्रियाँ क्रीड़ा करने से थकी हुई थीं तो कोई गीत गाने से। दूसरी नृत्य करके थक गयी थीं और कितनी ही स्त्रियाँ अधिक मद्यपान करके अचेत हो रही थीं। बहुत-सी स्त्रियाँ ढोल, मृदंग और चेलिका नामक वाद्यों पर अपने अंगों को टेककर सो गयी थीं तथा दूसरी महिलाएँ अच्छे-अच्छे बिछौनों पर सोयी हुई थीं।

वानरयूथपति हनुमान जी ने उस पान भूमि को ऐसी सहस्त्रों रमणियों से संयुक्त देखा, जो भाँति-भाँति के आभूषणों से विभूषित, रूप-लावण्य की चर्चा करने वाली, गीत के समुचित अभिप्राय को अपनी वाणी द्वारा प्रकट करने वाली, देश और काल को समझने वाली, उचित बात बोलने वाली और रति क्रीड़ा में अधिक भाग लेने वाली थीं। दूसरे स्थान पर भी उन्होंने ऐसी सहस्त्रों सुन्दरी युवतियों को सोते देखा, जो आपस में रूप-सौन्दर्य की चर्चा करती हुई लेट रही थीं। वानरयूथपति

पवनकुमार ने ऐसी बहुत-सी स्त्रियों को देखा, जो देश-काल को जानने वाली, उचित बात कहने वाली तथा रतिक्रीड़ा के पश्चात् गाढ़ निद्रा में सोयी हुई थीं। उस अन्तःपुर में स्त्रियों की बहुत-सी शय्याएँ सूनी पड़ी थीं और कितनी ही सुन्दरियाँ एक ही जगह एक-दूसरी का आलिङ्गन किये सो रही थीं। निद्रा के बल से पराजित हुई कोई अबला दूसरी स्त्री का वस्त्र उतारकर उसे धारण किये उसके पास जो उसी का आलिङ्गन करके सो गयी थी। उनकी साँस की हवा से उनके शरीर के विविध प्रकार के वस्त्र और पुष्पमाला आदि वस्तुएँ उसी तरह धीरे-धीरे हिल रही थीं, जैसे धीमी-धीमी वायु के चलने से हिला करती हैं। उस समय पुष्पक विमान में शीतल चन्दन, मद्य, मधुरस, विविध प्रकार की माला, भाँति-भाँति के पुष्प, स्नान-सामग्री, चन्दन और धूप की अनेक प्रकार की गन्ध का भार वहन करती हुई सुगन्धित वायु सब ओर प्रवाहित हो रही थी। उस राक्षसराज के भवन में कोई साँवली, कोई गोरी, कोई काली और कोई सुवर्ण के समान कान्तिवाली सुन्दरी युवतियाँ सो रही थीं। निद्रा के वश में होने के कारण उनका काममोहित रूप मुँदे हुए मुखवाले कमल पुष्पों के समान जान पड़ता था।"

इस विस्तृत उद्धरण को मैं सिर्फ इसलिये दे रहा हूँ क्योंकि इससे वाल्मीकि एक भोगवादी राज्य की छवि पूरी तरह से स्थापित कर देते हैं। यहाँ वाल्मीकि का उद्देश्य हनुमान को 'पीपिंग टॉम' बनाना नहीं है। न हनुमान किसी तरह के 'वोयूर' हैं या 'स्कोपोफिलिया' नामक किसी मनोवैज्ञानिक व्याधि से ग्रस्त हैं। न यह किसी तरह की पुरुष - 'गेज़' का मामला है जिससे स्त्री को लिंगीकृत वस्तु बनाना (sexual objectification) हो। स्वयं वाल्मीकि इस चीज के प्रति सचेत हैं और इस कारण वे ये पंक्तियाँ लिखते हैं- "उन सोती हुई स्त्रियों को देखते-देखते महाकपि हनुमान धर्म के भय से शंकित हो उठे। उनके हृदय में बड़ा भारी संदेह उपस्थित हो गया। वे सोचने लगे कि इस तरह गाढ़ निद्रा में सोयी हुई परायी स्त्रियों को देखना अच्छा नहीं है। यह तो मेरे धर्म का अत्यन्त विनाश कर डालेगा। मेरी दृष्टि अब तक कभी परायी स्त्रियों पर नहीं पड़ी थी। यहीं आने पर मुझे परायी स्त्रियों का अपहरण करने वाले इस पापी रावण का भी दर्शन हुआ है (ऐसे पापी को देखना भी धर्म का लोप करने वालाा होता है।) तदनन्दर मनस्वी हनुमान जी के मन में एक- दूसरी विचारधारा उत्पन्न हुई। उनका चित्त अपने लक्ष्य में सुस्थिर था; अतः यह नयी विचारधारा उन्हें अपने कर्तव्य का ही निश्चय कराने वाली थी। वे सोचने लगे- 'इसमें संदेह नहीं कि रावण की स्त्रियाँ निःशंक सो रही थीं और उसी अवस्था में मैंने उन सबको अच्छी तरह देखा है, तथापि मेरे मन में कोई विकार नहीं उत्पन्न हुआ है।' सम्पूर्ण इन्द्रियों को शुभ और अशुभ अवस्थाओं में लगने की प्रेरणा देने में मन ही कारण है; किन्तु मेरा वह मन पूर्णतः स्थिर है (उसका कहीं राग या द्वेष नहीं है; इसलिए मेरा यह परस्त्री-दर्शन धर्म का लोप करने वाला नहीं हो सकता। विदेहनन्दिनी सीता को दूसरी जगह मैं ढूँढ़ भी तो नहीं सकता था; क्यों स्त्रियों को ढूँढते समय उन्हें स्त्रियों के ही बीच में देखा जाता है। जिस जीव की जो जाति होती है, उसी में उसे खोजा जाता है। खोयी हुई युवती स्त्री को हरिनियों के बीच में नहीं ढूँढ़ा जा सकता है।"

वे सही ही कसौटी रखते हैं : 'मन में विकार उत्पन्न होना।' विकार का अर्थ है दृष्टि में लिबिडिनल निवेश। हनुमान में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। वे देखने में मजा या रस भी नहीं ले रहे। लेकिन इस वर्णन से यह जरूर पता चलता है कि हनुमान जिस राज्य में प्रवेश कर गये हैं वह वस्तुतः एक तरह का Hedonist state है।

●●●

गयउ दसानन मंदिर माहीं।
अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं।।
सयन किएँ देखा कपि तेही।
मंदिर महुँ न दीखि बैदेही।।

वे रावण के घर में गये। वह (ऐसा) अत्यंत विलक्षण था कि कहा नहीं जा सकता। कपि (श्री हनुमानजी) ने उसे सोते हुए देखा, पर महल में विदेह कुमारी को नहीं देखा।

हनुमानजी का दशानन-गृह-गमन। हनुमानजी रावण के घर गए। लेकिन रावण को यहां दशानन कहा गया है। दशावतार विष्णु का प्रतिद्वन्द्वी दशानन। टेन कमांडमेंट्स का प्रतिकल्पी दशानन। दशरथ के पुत्र की प्रति-सैद्धांतिकी। दशानन जिसका आतंक दसों दिशाओं में था। दशानन कि जिसके कई चेहरे हैं। दशानन कि जिसके चेहरे पे चेहरा है। प्राइमा फेसाई ही जो धूर्त लगता है, या लगता है कि उसकी सिर्फ फेस वैल्यू ही है। रोमन मिथक शास्त्र के जानुस को लेकर शब्द बना है- जानुस-फेस्ड यानि दोमुंहा। रावण की क्या गति जो वह दसमुंहा है। रावण तो मुंहजोर है। उसके दरबारी भी मुंह देखी बात करते हैं। सिर्फ हनुमान हैं जो अभी तो दसवदन को देखकर चले जा रहे हैं किन्तु आगे चलकर उसे मुंहतोड़ जवाब देंगे। अपनी मुंहफट शैली में। तब रावण कितना ही ब्रेव फेस रखने का प्रयास करें, लेकिन वह स्ट्रेट फेस ही नहीं रख पायेगा।

"फेस" को विद्वान एक शारीरिक अंग न मानकर एक समाजशास्त्रीय अवधारणा मानते हैं। ब्राउन एवं लेविन्सन ने कहा : 'Face is something that is emotionally invested, and than can be lost, maintained, or enhanced, and must be constantly attended to in interaction. In general, people cooperate in maintaining face, in interaction, such cooperation being based on the matual vulnerability of face' चीनी विद्वान लिन युहांग ने चीन में "आनन" के मनोवैज्ञानिक अर्थ की अच्छी चर्चा की है : Interesting as the Chinese physiological face is, the psychological face maks a still more fascinating study. It is not a face that can be washed or shaved, but a face that can be "granted" and "lost" and "fought for" and "presented as a gift". Here we arrive at the most curious point of Chinese social psychology. Abstract and intangible, it is yet the most delicate standared by which Chinese social intercourse is regulated.

रावण के दस-वदन को हमें भी इसी अर्थ में लेना होगा। रावण दस तरह की बातें बनाता होगा। रावण दस तरह के मुंह बनाता होगा। चीन में चेहरे के लिए एक शब्द है : mianzi जिसका अर्थ है : सामाजिक प्रतिष्ठा, चीन में चेहरे के लिए दूसरा शब्द है lian जिसका अर्थ है : नैतिक चरित्र। रावण की सामाजिक प्रतिष्ठा संकट में थी। उसके सामने नैतिक चरित्र विख्यात था। राम के साथ युद्ध में रावण को loss of face तो होना ही था। प्रसिद्ध समाजशास्त्री अर्विंग गाफमैन की दो रचनाएं 'मुख' पर है। एक लेख है : On Face of Work : An Analysis of Ritual Elements of social Interaction दूसरी किताब है : Interaction Ritual : Essays on Face-toFace Behaviour. गॉफमेन के अनुसार मुख का एक मुखौटा (mask) है जो सामाजिक इंटरएक्शन की विविधता के अनुसार बदलता रहता है। रावण का आनन-आधिक्य उसकी अविश्वसनीयता का रूपक हो सकता है।

लेकिन रावण दसमुख ही नहीं, दसशीश भी है। यह polycephaly की अवधारणा है। रावण की तरह, ग्रीक पौराणिकी में, कई चरित्र हैं जो मल्टी-हैडेड हैं। एक हाइड्रा है, दूसरा हेके तो तीसरा आनचिरेस है जो दैत्य है। 50 सिरों और सौ भुजाओं वाले लाडोन ड्रेगन है जिसके 100 सिर हैं। ध्यान दें कि राम रावण से युद्ध करने पर उसके दस नहीं, सौ सिर काटते हैं। वाल्मीकि के शब्दों में "उसके कटते ही पुनः नया सिर उत्पन्न दिखाई देने लगा, किंतु उसे भी श्रीराम के वज्र-तुल्य सायकों ने काट डाला। इस प्रकार एक-से तेज वाले उसके सौ सिर काट डाले गये, तथापि उसके जीवन का नाश होने के लिए उसके मस्तकों का अंत होता नहीं दिखाई देता था।"

तो क्या रावण का दसशीश होना किसी तरह के Supernumerary body part वाली कहानी है? एक रामकथा में कहा गया है कि कैकसी को राक्षस पति ने

एक रत्नहार पहनाया, जो पूर्व काल में मेघवाहन को दिया गया था। उस हार में प्रतिबिंबित नौ अन्य मुख दीख पड़े, अतः बालक का नाम दसमुख पड़ा। यह कथा कोई असामान्य शारीरिक विकास की कथा नहीं लगती। यदि आस्कर वाईल्ड ने कहा कि आदमी का चेहरा उसकी आत्म-कथा है तो रावण का चेहरा ऐसा ही होगा। रेनरमारिया रिल्के ने कहीं कहा है : I have never been aware before how many faces there are. There are quanitities of human beings, but there are many more faces, for each person has several. [Notebooks of Malte Laurids Brigge] शायद यह बात रावण के साथ एक अन्याय हो कि उसके दसमुख होने पर उसे इतना बुरा भला कहा जा रहा है, जबकि हिन्दू धर्म शास्त्रों में चर्तुमुख, पंचानन, षडानन आदि भी हैं, जो भगवान के रूप में पूजित हैं। यह अन्तर किया जा सकता है कि ब्रम्हा और विष्णु तो सनातन हैं, अनादि हैं, अजन्मा हैं, लेकिन रावण के दस मुख तो जन्म से ही हैं तो क्या रावण किसी Congenital disorder का शिकार था? 1990 में हुए अबिगेल एवं ब्रिटेनी हेंसल जैसा जो मिनेसोटा में जन्मा दो मुंहवाला dicephalus dipus था। या 2000 में तुर्की के एयसे एवं सेमा की तरह या 2003 में भारत के सोहना और मोहना की तरह? बहुशीर्ष प्राणियों का हर सर अपने दिमाग वाला होता है। किन्तु किसी तरह वे अपने अंगों पर नियंत्रण को शेयर करते हैं। प्रायः यह बहुत कठिन काम होता है। ऐसे प्राणी प्रायः बहके-बहके अंदाज में डगमग-डगमग गति करते हैं क्योंकि उनके पृथक-पृथक दिमाग एक दूसरे से लगातार "बहस" करते चलते हैं। प्रायः वे जन्म लेने के कुछ ही समय बाद मर जाते हैं, हालांकि ऐसे उदाहरण भी हैं कि कुछ प्राणी 20 साल तक भी जिये। रावण लेकिन चकराया हुआ और बावला नहीं है, वह परम् विद्वान है। शायद दस परम् विद्वान भी सिर भिड़ायें तब भी उससे पार न पायें। फिर भी रावण के सभी सरों की विशिष्टता और व्यक्तिमत्ता नहीं है। जैसे स्कंध/ कार्तिकेय के छः मुख की है जो ईशानं, सातपुरुषं, वामदेवं, अगोरमं, सत्योजातं और अधोमुखं के नाम से जाने जाते हैं। रावण दशानन तो है, लेकिन बुद्ध की सी दशपारमिताएं उसकी नहीं हैं। बुद्ध ने जिन्हें दस बुराईयां कहा, क्या रावण के दस सिर उन्हीं दस बुराईयों के प्रतीक थे? तीन शरीर की बुराई, चार जिव्हा की और तीन मन की। शरीर की तीन बुराईयां- हत्या, चोरी और व्याभिचार, चार जिव्हा की- झूठ, छिद्रान्वेषण, गाली और प्रलाप, तीन मन की- लोभ, घृणा और त्रुटि। रावण यदि वाकई दस सिर वाला होता तब तो वाकई "अतिविचित्र" लगता। लेकिन उसके दस सिरों पर कोई बहुत बड़ी टीका-टिप्पणी नहीं है। इतने बड़े जन्मतः विकार पर कोई बड़ी चर्चा रामकथा में न होना बताता है कि यह किसी शारीरिक वैचित्र्य के कारण उसे "दसशीश" नहीं कहा गया। बाईबिल में दस सिर वाले ड्रेगन का उल्लेख है जो "ऐन्टी-क्राइस्ट" की तरह, ईश्वर से पूर्ण पृथकता के केन्द्र की तरह है। A creature with multiple minds. जिस तरह से इस दैत्य की व्याख्या ईश्वर का विरोध करने वाली सभी सामाजिक-राजनीतिक प्रणालियों के प्रतीकात्मक निरूपण (Symbolic representation of all Socio-political Systems) से की गई है, क्या रावण की भी वैसी ही व्याख्या होनी चाहिए? बाईबिल में दस का अंक एक पार्थिव पूर्णता (earthly completeness) के लि प्रतीकायित हुआ है जो दिव्य संपूर्णता के विरोध में दिखती है। पाईथागोरस के लिए 'दस का अंक' मानवीय ज्ञान के 'पूर्ण' (whole) का प्रतीक था। रावण के ज्ञान के विषय में कहानियां प्रचलित हैं ही। बाईबिल में ईश-प्रेम के विरुद्ध दस महत्वपूर्ण शक्तियों की बात की गई है, और उन दस बुराईयों की भी जो ईश्वर के राज्य से दूर रखती है। या ये दस सिर उन दस दुष्ट आत्माओं (evil spirits) के प्रतीक है जिनका वर्णन गुप्त सिद्धांत (cabal) में है?

तुलसी रावण के दस मुखों को विचित्र न कहकर उसके घर को विचित्र कहते हैं। अतिविचित्र। विचित्र के

प्रयोग से यह स्पष्ट नहीं होता है कि वे उसे अटपटा (queer) कह रहे हैं, या अपरूप (odd) या विलक्षण या रंगीन या कौतुकभरा (curious) या असामान्य (weired)। क्या रावण का वह भवन डेविल्स ट्रांएगल जैसी कोई जगह थी या ओकद्वीप के रहस्मय मनीपिट जैसी? क्या रावण कोई ऐसा राजा था जिसका भवन उसकी सनकों और झक का परिचायक होने से विचित्र हो गया था? राजा लोग यदि वैचित्र्य पर उतर आएं तो कोई हद नहीं? क्या रावण का सौध सोपोट (पौलेंड) के कुक्ड हाउस की तरह था या ओहियो की बास्केट बिल्डिंग जैसा या रोटरडम के क्यूबिक हाउसेज की तरह? या वियतनाम के पूर्व-राष्ट्रपति की बेटी के क्रेजी हाउस जैसा था या प्राग की डांसिंग बिल्डिंग जैसा? या बर्सिलोना के माइंड हाउस जैसा या प्राग की डासिंग बिल्डिंग जैसा? या नियाग्रा फाल्स के पास रिप्ले की बिल्डिंग जैसा? या सिनसिनाटी के मशरूम हाउस जैसा? या चिली के एरेन्ट गेस्ट हाउस जैसा? तुलसी हमारी कुछ मदद नहीं करते, वे तो रावण के प्रासाद को "अति विचित्र" कहकर आगे बढ़ लेते हैं। अब हम कल्पना करने के लिए स्वतंत्र हैं कि रावण का यह अति विचित्र हर्म्य कैसा रहा होगा, बल्कि वाल्मीकि इस मामले में हमें बहुत ज्यादा सहायता करते हैं। उनका वर्णन रावण की अट्टालिका को अत्यंत कीमती बताता है। क्या वह महान टी वी निर्माता आरोन स्पेलिंग के 56 हजार वर्गफीट में फैले "दमेनर" (लास एंजिल्स) से ज्यादा कुछ महंगा भवन था जिसे 2006 में 130 मिलियन डॉलर में बेचा गया था वह आस्पेन कोलो में 95 एकड़ के क्षेत्र में फैले हाला रांच की तरह कुछ था जिसके मालिक अमेरिका में पूर्व सऊदी राजपूत प्रिंस अब्दुल अजीज हैं? या वह ड्रेकुला के कैसल की तरह था? तुलसी का इन सब प्रश्नों पर एक ही जवाब है : "कहि जात सो नाही" लेकिन वाल्मीकि तो बहुत विस्तार से बताते हैं कि "उसमें मणियों की सीढ़ियां बनी हुई थी और सोने की खिड़कियां उसकी शोभा बढ़ाती थी। उसकी फर्श स्फटिक मणि से बनायी गयी थी, जहां बीच-बीच में हाथी के दांत द्वारा विभिन्न प्रकार की आकृतियां बनी हुई थी। मोती, हीरे, मूंगे, चांदी और सोने के द्वारा भी उसमें अनेक प्रकार के आकार अंकित किए गए थे। मणियों के बने बहुत से खंबे जो समान, सीधे, बहुत ही ऊंचे और सब ओर से विभूषित थे, आभूषण की भांति उस हवेली की शोभा बढ़ा रहे थे।" यह वर्णन बहुत सारे श्लोकों में बहुत आगे तक चलता है। वाल्मीकि महल के भीतर ही बने एयरपोर्ट का भी बहुत विस्तार से वर्णन करते हैं जिसमें पुष्पक विमान खड़ा रहता था। तुलसी को जैसे इस वर्णन से उपरति सी है। हालांकि अपने समय में उन्होंने सुल्तानों की इशरतगाहों के बारे में बहुत सुना होगा लेकिन तुलसी के हृदय का सत्व ही कुछ ऐसा है कि उनसे इन केलिगृहों, इन ऐश्वर्य भवनों, इन रंगमहलों का वर्णन करते नहीं करता। बात उनके कवित्व की क्षमताओं की नहीं है उनके मन की ढलान ही उस तरफ नहीं है। वाल्मीकि निःसंकोच रावण के रंगभवन में व्याप्त इन्द्रियपराणता और सुखासक्ति का उल्लेख कर देंगे, पर तुलसी कहेंगे, 'सॉरी, थैंक्स'। तुलसी को उन गुलछर्रों और रंगरेलियों की ओर संकेत करना भी गैर जरूरी लगता है। उन्होंने जिस तरह का मनोनिग्रह किया है, उनकी निवृत्ति जिस तरह की है, उसके चलते वे इस अय्याशी और मौज-मस्ती के विस्तृत वर्णन तो छोड़िये, इंगित भी न करना चाहेंगे। वाल्मीकि ऋषि हैं और वे भी अपनी तरह से निरवद्य और निर्लिप्त हैं- पर रावण को एक यथातथ्य दृष्टि से वर्णित करने में उन्हें अपनी वीतकामता से कोई समझौता हुआ नहीं लगता। तुलसी तो ऐसे प्रसंगों में "कहि जात सो नाहीं" ऐसे बोलते हैं, जैसे ईश्वर को अनिर्वचनीय कहते समय। शायद एक बारीक फर्क के साथ। ईश्वरत्व का वह क्षण तो वचन में लाने योग्य नहीं है, पर ऐश्वर्य का यह क्षण तो कहा ही नहीं जाता, तुलसी से। रावण के अंतःपुर में स्त्रियों के वे अंतरंग दृश्य जहां "रावण की कितनी ही तरूणी पत्नियां रावण का ही मुख समझकर बारंबार अपनी सौतों के ही मुखों को सूंघ रही थी। वे सुंदरियां एक दूसरे से उक्त पार्श्वभाग,

कटिप्रदेश तथा पृष्ठभाग का सहारा ले आपस में अंगों से अंग मिलाये वहां बेसुध पड़ी थी।" वे सुंदर कटिप्रदेश वाली युवतियां एक दूसरे के अंगस्पर्श को प्रियतम का स्पर्श मानकर उससे मन ही मन आनंद का अनुव करती हुई पस्पर बांह में बांह मिलाये सो रही थी।' यह सब और ऐसे लंबे अर्द्ध-लेस्बियन विवरण वाल्मीकि सहज कर लेते हैं, लेकिन तुलसी इन सबको उलांघ जाते हैं। वे रावण के भवन के अजूबेपन पर 'अति' की संक्षिप्ततम टिप्पणी करते हैं, लेकिन उसके आंतरिक जीवन की इस रंगीन मिजाजी ौर विलासिता पर कोई टीप नहीं जड़ते। तुलसी को इन सब विवरणों को उपेक्षा कर आगे की राह लेना ही बेहतर लगता है।

और तुलसी जो भी कहते हैं, इशारों में कहते हैं। यानी हम हमें ही सोचना होगा कि जब हनुमान 'मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा' कर रहे हैं तो 'दशानन-मंदिर' के रूप में रावण के घर का नामोल्लेख और विशेषोल्लेख ही यह बताता है कि रावण का घर Conspicuous है। शायद यह भव्यता के कारण हो या वैभव के कारण या वैचित्र्य के कारण। लेकिन उसमें कुछ ऐसा जरूर है कि वह अलग से नजर आता है। फिर हनुमान को यह बताने के लिए यह दशानन मंदिर है, किसी गाइड की जरूरत नहीं है। वे स्वयं ही पहचान जाते हैं।कुछ भवन का प्रताप होगा और कुछ बुद्धिनिधान हनुमान का आब्जर्वेशन। मात्र इतने इंगित से तुलसी उतने बड़े विवरण को बचा लेते हैं। उनका दूसरा संकेत है, पुर को विचित्र और रावण के मंदिर को अतिविचित्र कहने में। 'कनक कोट विचित्र मनि कृत सुंदरायतना घना' में उन्होंने शहर के बारे में कहा, लेकिन अब रावण के प्रासाद को 'अति विचित्र कहि जात सो नाहीं' कहने में वे इशारा यह कर रहे हैं कि यह 'करेला ऊपर से नीम चढ़ा' वाला मामला है। शहर तो जो है सो है, ही, घर यह रावण का तो और बढ़कर। और दोनों ही वर्णनों में तुलसी का जोर लंका की समृद्धि पर कम और वैचित्र्य पर ज्यादा है। तुलसी संवेदना के जिस शिखर पर हैं, वहां से धन-सम्पदा के ये दिखावे उन्हें कौतुक ही लगते होंगे। हनुमान जिस तपःपूत, निस्तराग और वीतमोह मानस के स्वामी हैं, वहां इस तरह की टीमटाम की नुमाइश, राजसिकता का यह 'शो', वैभव का यह वल्गार डिस्प्ले सिर्फ अड़बंग ही लगेगा। एक तमाशा, एक कारगुजारी, इससे ज्यादा कुछ नहीं। अतः 'कहि जात सो नाहीं' में यह भी संकेत है कि अटपटा कहने के अलावा और कुछ कहने को है ही नहीं तो कहें क्या? रावण के पास दिखाने के लिए यही दौलत है, जिसके बारे में हर्बर्ट जार्ज वेल्स कहते थे कि 'Money-money like everything else-is a deception and a disappointment.' जिसके बारे में देवी भागवत (9/40/46) में कहा गया कि ऐश्वर्य विपदा बीजं ज्ञान प्रच्छन्नकारण्। मुक्ति मार्ग कुठारश्च भक्तेश्चव्यवधायकम्।। कि ऐश्वर्य तो विपत्तियों का बीज है। उससे ज्ञान ढक जाता है। वह मुक्ति-मार्ग का कुठार है, भक्ति-मार्ग में बाधक। बृहदारण्यकोपनिषद् (2/4/2) में कहा गया था कि 'अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेन' की धन से अमृतत्व की आशा नहीं है। अतः हनुमान को ये सब चोंचले नहीं लुभाते और तुलसी भी इन चोंचलों को कहने लायक नहीं पाते।

उस रावण-सौध में हनुमान ने रावण को सोते हुए देखा। यह एक अर्द्धाली मात्र वाल्मीकि द्वारा 23 श्लोकों में किए रावण के शयन के वर्णन के सामने रखें। यह भी देखें कि तुलसी ने और किन किन के सोने का वर्णन नहीं किया। वाल्मीकि ने सुंदरकांड के नवें और दसवें सर्ग को सोने पर ही खर्चा किया है। बल्कि एकादश सर्ग का भी एक बड़ा हिस्सा उसी में जाता है। बहुत सी सुंदरियों के अस्त व्यस्त सोने का इतना वर्णन कि स्वयं हनुमान के भीतर एक गिल्ट पैदा हो जाए। फिर हनुमान अपने मनोविश्लेषण (psychoanalysis) और अपने तर्क (logic) के सहारे उससे बाहर आते हैं- 'न तु मे मनसा किंचिद् वैकृत्यमुपपद्यते' कि 'मेरे मन में कोई विकार नहीं उत्पन्न हुआ है'। मनोविकार की बात उस समय भी वाल्मीकि के सामने थी और हनुमान अपना मन सुव्यवस्थित होने की गणना भी करते हैं। तुलसी के

हनुमान सिर्फ रावण को सोया देखते हैं और उन 'सहस्त्रों' को नहीं जिनका विशद वर्णन वाल्मीकि ने किया।

तुलसी सिर्फ रावण को गाफिल बताते हैं जबकि वाल्मीकि उसके साथ उस परिवेश की अन्य उपस्थितियों को भी। तुलसी अपने एकोल्लेख से रावण के सोने को मेटाफरिकल बना देते हैं।

रावण सो रहा है और रावण की प्राब्लम ही यह है कि वह सो रहा है। जब पूरी दुनिया में उसके एजेन्ट उत्पाद मचाए हुए हैं, वह मजे की नींद सो रहा है। पता नहीं दूसरों को व्यथित और आतंकित कर लोग कैसे सो लेते हैं? यह वो चीज नहीं है कि किस-किस की फिक्र कीजिए, किस-किस को रोइए/आराम बड़ी चीज है, मुंह ढ़क के सोइए। यहाँ तो यह है कि दुनिया की फिक्र कर रहे हैं, तरह-तरह के त्रास देने में और फिर ऐश से सो रहे हैं। सोमदेव भट्ट ने शायद इन्हीं परिस्थितियों में लिखा होगा- 'स्वपन्त्यज्ञा हि निष्चेष्टाः कुतो निद्रा विवेकिनाम्' कि अज्ञानी व्यक्ति ही निश्चित होकर सोते हैं, विवेकियों को निद्रा कहां। बल्कि गीता का तो कहना यह है कि 'या निशा सर्वभूताना तस्यां जागर्ति संयमी' कि जो सभी प्राणियों के लिए राहत है, संयमी उसी में जागता है। लेकिन अपने अपने अत्याचारों से आम आदमी की नींद हराम करने वाला रावण खुद की सेहत पर फर्क नहीं डालता। वह जमकर नींद निकालता है। उसका शयन विष्णु का शयन नहीं है। विष्णु की नींद तो अद्भुत है। यह संसार स्वयं विष्णु का स्वप्न है। विष्णु की नींद भी विधायिनी है। रावण की नींद तो दूसरों को सताकर आई हुई एक सैडिस्ट नींद है। अरूण कमल ने कहीं कहा है कि नींद मनुष्य का मनुष्य पर विश्वास है, लेकिन रावण की तो राक्षसी नींद है। वहां तो अपनी सुरक्षा के लिए प्रहरी है और दूसरों की नींद खराब करने के लिए अत्याचार के एजेन्ट हैं। ऐसे राक्षसों की नींद भी आम आदमी का दुःस्वप्न है। जॉन कीट्स नींद पर लिखी अपनी कविता में नींद से आग्रह करते हैं कि वह उन्हें उनके जिज्ञासु अन्तःकरण से बचाए। रावण की नींद भी अन्तरात्मा की आवाज से खुद को बचाकर हासिल की गई नींद है। कीट्स नींद से "आत्मा के भरे थैले" (hushed casket of my soul) को सील कर देने की अपेक्षा करते हैं। रावण की नींद भी ऐसी है, अपनी आत्मा को बंद कर देने के कारण आई हुई नींद। रावण के दस दस सिरों में भरी हुई नींद। निद्रा में ये तो रावण का पूरा जीवन ही बीता है। एक तरह की मोह-निद्रा में वह हमेशा ही गाफिल रहा है, लेकिन इस अवसर पर उसकी नींद की प्रतीकात्मकता कुछ और ही तरह से मुखर होती है।

मुझे याद है कि फिल्म 'दो सितारे' में संगीतकार अनिल बिसवास और गीतकार राजिन्दर किशन ने मिलकर सुरैया के स्वरों से सजे एक मार्मिक गीत को आकार दिया थाः 'सो जा रे सो जा, बेटे गरीब के/दुनिया के सुख नहीं तेरे नसीब के/भूख तेरे बचपन की साथी, आंसू तेरे खिलौने/ तू निरधन का लाल है तेरे कांटों भरे बिछौने।' रावण की संतृप्त नींद के पीछे बहुत से लोगों की नींदें उड़ गई हैं, चैन खो गया है, वे भूखे हैं, उनकी आंतें कुलबुलाती हैं। यहां रावण जब सो रहा है तो उसके सोने के दृश्य के तत्काल बाद के श्लोकों में वाल्मीकि उसके खाने पीने की ऐश-सामग्री का विस्तृत चित्रण करते हैं। "उन सबके बीच में महाबाहु राक्षसराज रावण विशाल गोशाला में श्रेष्ठ गौओं के बीच सोये हुए सांड की भांति शोभा पा रहा था। उस महाकाय राक्षसराज के भवन में कपिश्रेष्ठ हनुमान ने वह पावनभूमि देखी, जो सम्पूर्ण मनोवांछित भोगों से सम्पन्न थी। उस मधुशाला में अलग-अलग मृगों, भैंसों और सुअरों के मांस रखे गए थे, जिन्हें हनुमानजी ने देखा। वानसिंह हनुमान ने वहां सोने के बड़े-बड़े पात्रों में मोर, मुर्गे, सुअर, गेंडा, साही,हरण तथा मयूरों के मांस देखे जो दही और नमक मिलाकर रखे गये थे। वे अभी खाए नहीं गए थे।" खाने-पीने के इस ऐशो-आराम का विवरण अगले 13 श्लोकों में भी चलता है। दूसरी तरफ उसके राक्षसी आतंक से प्रपीड़ित, उसके भोग के एकाधिकारवाद के सदमें उठाते लोग हैं : "भूखे बालक अकुलाते हैं/मां की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं" और

यह भी कि "पत्थर उबालती रही मां तमाम रात/बच्चे फरेब खाके चटाई पे सो गए।" दिले-नादां नामक फिल्म में शकील ने गुलाम मोहम्मद के संगीत और तलत के स्वर में जो लिखा था वो वंचितों की दुनिया का सच था और है :- "ये रात सुहानी रात नहीं, ऐ चांद सितारों सो जाओ/ऐ रन्ज-ओ-अलम से बेगानों/तुम मेरा फसाना क्या जानो/वो चोट लगी है सीने पर/मजबूर हूं आंसू पीने पर।" रावण तो रंजो-अलम से बेगाना होकर सो रहा है। उधर सीता के लिए 'हर नयी रात, नया दर्द लिए आती है। नींद आंखों से बहुत दूर हुई जाती है।' सीता की यह व्यथा राक्षसी अत्याचारों और (उप+) भोक्तावाद की मार झेल रहे सर्वहारा में साधारणीकृत होती है : 'हे बुझा बुझा सा दिल बोझ सांस पर/जी रहे हैं, फिर भी हम सिर्फ कल की आस पर।' हनुमान उसे आने वाले कल का संदेश हैं। तब तक तो प्रतिदिन खौफ में कटती रातें थी। हर दिन उठते तो ऐसा लगता कि चलो एक दिन की और मोहलत मिली। इस सब के बीच आश्वास की श्वास की तरह चले आए है पवनपुत्र। ममता तो यह कहती है कि 'राम करे, ऐसा हो जाए, मेरी निंदिया तोहे मिल जाए/मैं जागूं, तू सो जाए।' लेकिन यहां रावण "राम करे" को मानता तो बात ही क्या होती। वे तो हनुमान हैं जो जाग रहे हैं। सिर्फ हनुमान जिनके भीतर की खिड़की खुली हुई है, अन्यथा वाल्मीकि तो रावण के अंतःपुर में सोने वालों का बड़ा ही विस्तृत वर्णन करते जाते हैं- "कितनी ही सुंदरियां एक ही जगह एक दूसरी का आलिंगन किए सो रही थीं। निद्रा के बल से पराजित हुई कोई अबला दूसरी स्त्री का वस्त्र उतारकर उसे धारण किए उसके पास जा उसी का आलिंगन करके सो गई थी। कोई दूसरी युवती निद्रावश जल से भरी हुई सुराही को लुढ़काकर भीगी अवस्था में ही बेसुध सो गई थी। क्षीण कटि प्रदेश वाली वे राक्षसराज की स्त्रियां मद तथा रतिक्रीड़ा के परिश्रम से थककर जहां तहां जो जिस अवस्था में थीं वैसे ही सो गयी थीं।" सोने का यह वर्णन वाल्मीकि इतने देर तक खींचते हैं कि एकमात्र जागने वाले की अद्वितीयता प्रत्यक्ष होने लगती है। भारत भूषण अग्रवाल की कविता जिनके लिए याद आती है : "हम न सोयेंगे, हमारा कार्य है अवशिष्ट/अपनी प्रगति का अब भी अधूरा लेख/जागरण चिर जागरण ही है हमारा इष्ट।" शायद उन्हीं के लिए ऋग्वेद में कहा गया है : 'यो जागार तमृचः कामयन्ते' (जो जागरुक रहता है, उसी को ऋग्वेद के मंत्र अर्थात् सभी शास्त्र चाहते हैं। शायद उन्हीं के लिए सामवेद में कहा गया "यो जागार तमु सामानि यन्ति" (जो जागरूक रहता है, उसी को साम (स्तुति, आदर आदि) प्राप्त होते हैं"))।

जब तुलसीदास 'शयन किए देखा कपि तेही' लिखते हैं तो एक साथ बहुत से संकेत कर जाते हैं। एक तो, शयन की प्रधानता का। सबसे पहले ही इस अर्द्धाली में शयन शब्द लाते हैं ताकि वाल्मीकि ने सोने वालों का कई सर्गों में जो विस्तृत-विशद वर्णन किया है, उसको कोर्निश पर लिया जाता है। दूसरे, 'हमारे पांव पांव, आपके पांव चरण' की तर्ज पर यह कि रावण द ग्रेट "शयन" कर रहे हैं। वे एक दृष्टा-भाव, साक्षी-भाव भी सामने लाते हैं कि लंका की सरकार सो रही है, पूरी बेहयाई में सो रही है- यह हनुमान देख लेते हैं। और फिलहाल वे कोई जजमेंट, कोई मूल्यांकन, कोई आलोचना, कोई समीक्षा नहीं करते। सिर्फ आब्जर्वेशन। हेनरी डेविड थोरो ने शायद इसीलिए कहा था कि The question is not what you look at, but whaty you see.

●●●

भवन एक पुनि दीख सुहावा।
हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा।
रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ।।

फिर एक सुंदर घर देखा, उसमें (एक) हरि-मंदिर पृथक से बना हुआ था। वह घर श्री रामजी के आयुध से अंकित था, उसकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती। वहां नवीन तुलसी के वृक्षसमूह देखकर कपीश (हनुमानजी) आनंदित हुए।

विंस्टन चर्चिल ने कहीं कहा है कि we shape our buildings; thereafter they shape us विभीषण का घर हो या रावण का- दोनों ने अपने-अपने घरों को निर्मित किया और दोनों के भवनों ने दोनों को। आश्चर्य नहीं कि घर को अंग्रेजी में Personage भी कहते हैं। घर में व्यक्ति झलकता है। विभीषण का घर तो ऐसा था कि जिसे देखकर कहा जा सके: "Ne vile fano" टेम्पेस्ट के शब्द : 'there's nothing ill that can dwell in such a temple; 'तुलसी यहां शिल्प के फलसफे पर बात कर रहे हैं। रावण का घर इतना 'लाउड', इतना 'ग्लेरिंग' इतना 'ओवरब्राइट' रहा होगा कि वह हनुमान को बिना किसी के बताए समझ में आ गया कि यह 'दशानन-मंदिर' है। वह इतना 'Showy' घर था। नुमाइशी और दिखावटी। अंग्रेजी नाटककार नोएल कोवार्ड ने सही ही लिखा था : The higher the buildings, the lower the morals. तुलसी बहुत कैजुअल तरीके से इस स्थापत्य का वर्णन नहीं करते। वे भवन को मंदिर और मंदिर को भवन कहकर एक twisted logic की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर ही जाते हैं। भवन कुछ को शामिल करते हैं, कुछ को वर्जित (exclude)। रावण के मंदिर में हरि नहीं है, विभीषण के भवन में है। तुलसी स्थापत्य की वक्तृता का इस्तेमाल करते हैं। विभीषण का भवन बहुत non descript है, undistinguished, बस एक भवन। विभीषण के व्यक्तित्व की विनम्रता जैसे उसमें प्रतिबिंबित होती है, विभीषण का भवन वैसा स्व-सचेत (सेल्फ-कांशस) भवन नहीं है जैसा रावण का है। उस भवन का खुदा तो खुद रावण है, वही उसका स्वयंभू-देव इसलिए वह दशानन-सौध 'मंदिर' कहा गया है। ली कार्बुज़ियर कहता था कि घर रहने की एक मशीन है। यहाँ लंका में यदि वह मशीन न हो, मंदिर भी हो (ऐसा मंदिर जहां असुर स्वयं की आराधना अर्चना के लिए प्रतिष्ठित हो) तो भी उसको आबाद करने वालों की मंशा का विज्ञापन उसमें होता ही है। बेचलार्ड (Bachelard) ने भवन को 'a tool for analysis of human soul' कहा था, उसने कहा था : 'Our soul is an abode and by remembering `houses' and `rooms' we learn to `abide' in ourselves.' विभीषण के साथ ऐसा नहीं है, उसके घर में तो हरि-मंदिर दिखता है, वहां 'स्वयं' को हरिमय कर दिया गया है।

लेकिन विभीषण जिस लंका में है, वहां के भवन विलय (fusion) की नहीं, स्थापन (assertion) की भाषा बोलने के लिए बनाए गए हैं। प्रसिद्ध शिल्प-दार्शनिक बैटो (Batteux) का कहना था कि If a building demands grandeur, majesty and elegance, it is always in consideration of the master who must live in it. तो लंका में तो ऐसे 'मास्टर' बहुत हैं, दास, सेवक या भक्त नहीं हैं- विभीषण के सिवा। इसलिए विभीषण का भवन nondescript और undistinguished होने के बावजूद अद्वितीय होने के अर्थ में 'एक' हो जाता है। हनुमान से भी वे यही पूछते हैं तुम्हें हरिदासन्ह महुँ कोई और हनुमान भी उन्हें सेवक होने के कारण ही आश्वासन देते हैं, "सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती/करहिं सदा सेवक पर प्रीती"। विभीषण का घर हनुमान को 'सुहावा' लगता है। सुंदर की जगह 'सुहावा' शब्द का इस्तेमाल कर तुलसी विभीषण के 'भवन' को नहीं, हनुमान की 'आँख' को वरीयता देते हैं। यह appearance का मामला नहीं है, being का मामला है। हनुमान का सौंदर्य-बोध उनके मूल्य-बोध की संगति में है। हनुमान को यह भवन अच्छा लगा है। प्रीतिकर। तुलसी घर का अलंकरण नहीं बता रहे, घर का प्रभाव बता रहे हैं। प्रभाव जो हनुमान पर पड़ा, हनुमान जिनके संस्कार दूसरे किस्म के हैं, जो भवनों के ethical status को भी अनुस्यूत करते हैं।

वहां एक अलग तरह का मंदिर बना हुआ था। विष्णु का मंदिर। भारत के स्थपतियों ने मंदिरों के निर्माण में बहुत रचनात्मकता का परिचय दिया है। मंदिर के लिए अंग्रेजी में Priory शब्द है जो कहीं किसी प्राथमिकता का भी स्मरण कराता है। विष्णु का मंदिर विभीषण की प्राथमिकता थी। लेकिन यह भी

दृष्टव्य है कि लंका में 'हरि-मंदिर'। यही बात उसे अलग करती है। रावण के शासन में विभीषण प्रति-सत्ता के एक स्फुल्लिंग को उस हरि-मंदिर के रूप में जीवित रखे हुए हैं। अन्यथा रावण के निरंकुश प्रभुत्व में प्राधिकार के सामने समर्पण के सिवा कोई चारा नहीं था। सत्ता के अत्यंत केंद्रीयकरण और दमनात्मक पॉवर स्ट्रक्चर के सामने यह एक हरि-मंदिर और यह एक नन्हा तुलसी का पौधा एक प्रतियोधी भूमिका में खड़े हुए हैं। लंका में बहुवचनीयता (Pluralism) नहीं है। भिन्नता के नाम यह एक हरि-मंदिर बना हुआ है। अधिनायक के आघातों के सामने सब पस्त और पराभूत हैं। रावण की टफनेस, उसकी हिंस्रता, उसकी विभीषिकाओं, उसके सिनिसिज्म के सामने वैकल्पिकताओं को ठौर कहां है? 'द विल टु पॉवर ओवर अदर्स' को अल्फ्रेड एडलर ने एक सेंट्रल न्यूरोटिक लक्षण कहा था जो रावण में चरम पर पहुंचा हुआ था। इसलिए आश्चर्य नहीं है कि लंका में विष्णु का यह इकलौता मंदिर बचा हो। 'भिन्न' को हनुमान के द्वारा नोटिस करना ही यह बताता है कि रावण ने अपने यहां बहुधर्मी जीवन-शैलियों (Multiple lifestyles) का किस व्यापक हद तक संहार किया था। सिर्फ एक विष्णु-मंदिर का होना यह दर्शाता है कि रावण-राज में धार्मिक इन्सुलेशन किन हदों तक पहुंच गया था। लंका की रचना एयरटाइट अवधारणात्मक कैप्सूल की तरह रावण ने कर ली थी। धार्मिक डाइवर्सिटी की गुंजाइश कमतम हो चली थी। भिन्नताओं (differences) को कोई आस्पद ही उपलब्ध न था। इतरताओं (divergences) का इस हद तक उन्मूलन हुआ कि वे peculiarity लगने लगी थीं। प्रायः यह देखा गया है कि अपने समय की निरंकुश ऑटोक्रेसीज के खिलाफ विष्णु हमेशा चुनौती बनकर आते रहे हैं। हिरण्यकशिपु के साथ भी यही बात थी। स्वयं को संप्रभु ही नहीं, प्रभु तक समझ लेने की जिस मनोवृत्ति की ओर 'दशानन-मंदिर' में इंगित किया गया, वह हिरण्यकशिपु में भी थी- 'खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सुस्त्वामीश्वरो मदपरोडवतु कं हरामि' (कि मेरे पिता ने अन्याय करने की इच्छा से हाथ में खड्ग लेकर जो कहा कि 'मुझसे अतिरिक्त यदि कोई ईश्वर है तो तेरी रक्षा करे - मैं तेरा सिर काटता हूं : प्रहलाद कृतनृसिंहस्तोत्रम्)' दोनों ही मामलों में अति पर पहुंची हुई अहंता है जिसे व्यक्तित्व परीक्षण में आजकल F-scale (एक यानी फासिस्ट) कहते हैं, उसमें सबसे ज्यादा का स्तर- और उसकी टकराहट बार-बार विष्णु से है। कभी हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु विष्णु के दुश्मन हैं, कभी रावण और कुंभकर्ण और कभी शिशुपाल व दन्तवक्र। भागवतपुराण इसका कारण विष्णु के जय-विजय नामक द्वारपालों को मिले शाप में ढूंढ़ता है, लेकिन मुझे लगता है कि विष्णु की कथा में कहीं कुछ ऐसा जरूर है जो अपने समय की सबसे बड़ी स्वैराचारी सत्ताओं को उकसाता और खिजाता रहा है। शिव की तो रावण स्तुति कर भी ले, लेकिन विष्णु से तो जन्मना (congenital) ही बैर सा है उसका। कुछ कुछ instinctive शत्रुता। चक्रपाणि की चक्रवर्तियों से यह गुणसूत्रीय (inbred) अनबन हमारी परंपरा का एक बहुत ही प्रगतिशील पहलू है। यह पृथ्वी के अधिनाथों का जगन्नाथ से दौर्मनस्य! तेरा विष्णु इस खंभे में है क्या, बता? सत्ता का कोई ऐसा चरण है जहां विष्णु की उपस्थिति भी नागवार लगने लगती है। एकछत्रों को शेष-छत्रधारी स्वीकार्य नहीं होते। एकाधिपतियों को सकलेश्वर सहन नहीं होता।

रावण मंदिरों को तोड़ता तो नहीं था- ईसाइयत/इस्लाम के प्रारंभिक चरण में जैसा देखने में आया- लेकिन लगता है कि वह मंदिरों को, हरि मंदिरों को बनने ही नहीं देता था। गाजा के क्रिश्चियनाइजेशन के वक्त मंदिर तोड़े गए थे। लोअर इजिप्ट में क्रिश्चयनों ने मंदिर तोड़े थे। जेरूसलम ने मंदिरों को तोड़ा जाना देखा। 331 ई. में मंदिरों की संपत्तियां जब्त कर ली गई थी। 356 ई. में मंदिर बंद करवा दिए गए। 386 ई. में सीरिया, मिस्र और अफ्रीका में मंदिर ढहाए गए। 391 ई. में रोम में घरों में भी ईसाइयत-पूर्व पूजाएं बंद करवा दी गई। अलेक्जेंड्रिया के मंदिर भी इसी साल तोड़े गए। 392 ई. में ईसायत-पूर्व आराधना-पद्धतियों के प्रत्येक

प्रकार को साम्राज्य भर में नष्ट कर दिया गया। कार्थेज के प्रसिद्ध मंदिर को ढहा दिया गया। सर्पिया के मंदिर और ग्रीको-रोमन देवताओं के मंदिर व ग्रेशियन मंदिर तोड़े गए। उपनिवेशवादी समय में टेक्सकोको, मैक्सिको, ट्लैक्सकेला और हूजोट्जिंगो के मंदिरों को तोड़ा गया। रावण के समय में मंदिरों को तोड़ने की बात तो नहीं थी। लेकिन विष्णु-मंदिरों के निर्माण पर बैन अवश्य लगाया आभासित होता है।

यह गोआ में पुर्तगालियों के द्वारा मंदिर बनाने पर बैन लगाने जैसा है। सिर्फ इस फर्क के साथ कि गोआ में सन् 1540 के बाद सभी मंदिरों को ढहाने का बड़ा अभियान भी पुर्तगाली शासकों ने हाथ में लिया था। सन् 1548 में तो घरों में मूर्तियां रखना तक अवैधानिक बना दिया गया था। मंदिरों से जुड़ी जमीनों को चर्च की पैट्रिमनी बना दिया गया था। सऊदी अरब में बाइबल या गैर-इस्लामी धार्मिक पुस्तक को लेकर चलना या गैर मुस्लिम पूजा की सार्वजनिक नुमाइश प्रतिबंधित है। सऊदी अरब में इस्कॉन मंदिर नहीं बन पाए। वहां वेलेन्टाइन दिवस मनाना, उस दिन लाल फूल बेचना प्रतिबंधित है। वहां सलीब चढ़े ईसा की इमेज नहीं दिखाई जा सकती। औरतों की जागिंग व जिम से लेकर पोकेमौन तक वहां बैन ही बैन हैं। यूरोपीय शक्तियां उपनिवेशवादी दौर में स्वयं कितनी धर्मान्ध थीं, यह पत्र क्र. 9 दिनांक 9 अक्टूबर, 1857 (लार्ड कैनिंग, वायसराय ऑफ इंडिया को लिखा पत्र द्वारा ब्रिटिश प्रधानमंत्री पार्मस्टन (1784-1865) स्पष्ट करता है: Every civil building connected with Mahommedan tradition should be levelled to the ground without regard to antiquarian veneration or artistic predilection. क्या वे 845 ई. के चीनी शासक वू से किसी तरह बेहतर थे जिसने बौद्ध मठ-मंदिरों को भग्न किया था और बौद्ध धर्म पर ही प्रतिबंध है लगा दिया था। भारत ने मध्यकाल में ईस्वी सन् 1562 से पूर्व भी मंदिर निर्माण पर प्रतिबंध देखे थे और सन् 1659 में भी नये मंदिर बनाने पर प्रतिबंध देखा।

क्या रावण ने विष्णु-मंदिरों को भी कुछ इसी तरह प्रतिबंधित कर रखा था? तब वह विभीषण का कुछ क्यों नहीं कर सका? विभीषण के इस open act of defiance पर वह चुप क्यों रह गया? क्या हिरण्यकशिपु और रावण दोनों के ही प्रकरणों में हम यह नहीं देखते कि प्रतिरोध ठीक उनके परिवार के बीच पनपता है। कभी बेटे तो कभी भाई के माध्यम से एक प्रति-सैद्धांतिकी पनपती है। हिरण्यकशिपु तो अपने बेटे को इस कारण मार डालने की कोशिश भी करता है। लेकिन रावण विभीषण को काफी हद तक सहता है, जब तक कि पानी उसके सर से ऊंचा नहीं हो जाता : 'जिअसि सदा सठ मोर जिआवा' में वही बात है। रावण संभवतः यह जानता है कि जिस तरह से ब्रह्मा से उसने नर-वानर के अलावा किसी से भी न मारे जाने का वरदान मांगा है और उसे लगातार एंजाय कर रहा है, उसी तरह से विभीषण ने भी उसी ब्रह्मा से हरि-भक्ति का वरदान मांगा है। जिस तरह से वह स्वयं को मिले वरदान में किसी तरह का dilution नहीं चाहता, उसी तरह से वह विभीषण के वरदान में कोई फेरफार नहीं कर सकता है और इसीलिए विभीषण की यह खुली चुनौती पनपती चली जाती है।

यह भिन्नता ऐसी है, न कि शास्त्रीय व्याख्या जैसी जिसके तहत भिन्न बनावा का अर्थ घर से पृथक होने से लगाया। रावण के यहां पूर्व में वर्णित प्रतिबंधों जैसी स्थिति थी, यह तो कहा ही गया है : तोहि बहु विधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना (बालकांड)। रावण के समय धार्मिक प्रताड़ना (religious persecution) की पराकाष्ठा हो गई थी। तुलसी टार्चर और देश निकाले को इस प्रताड़ना के दो प्रमुख हथियारों के रूप में वर्णित करते हैं। क्या रावण ने सोवियत संघ से काफी पहले एक atheist state बनाने की कोशिश की थी? लेकिन कुछ जगहों पर स्वयं उसे पूजा करते दिखाया गया है? क्या वह किसी एंटी-क्लेरिकल स्टेट की स्थापना कर रहा था? क्या जिस तरह से सोवियत संघ ने धार्मिक सामग्रियों के प्रकाशन पर संपूर्ण बैन लगा दिया और

घरों में कुरान रखने पर भी प्रतिबंध लगा दिया था, रावण ने भी ऐसा ही किया था? क्या कम्युनिस्ट अल्बानिया के नास्तिक राज्य की तरह उसने भी धार्मिक गतिविधियों और प्रोपेगंडा पर उसने बैन लगा दिया था? धार्मिक साहित्य भी वहीं की तरह प्रतिबंधित कर दिया था? जिस तरह से 1946 में अल्बानिया से सारे विदेशी रोमन कैथोलिक क्लर्जी निकाल दिए गए थे, रावण ने भी ऐसा ही कुछ किया था? या जैसे फ्रेंच क्रांति के जैकोबिन काल में तीस हजार चर्च पुरोहित निर्वासित कर दिए गए थे, रावण ने भी वैसा ही किया था? क्या स्पेन के 'रेड टेरर' (लाल आतंक), जिसमें 6832 चर्च पुरोहित मार डाले गए थे, जैसा कोई आतंक रावण ने भी बर्पा किया था? रावण-राज में भी इसी कारण हरि-मंदिर गायब हो गये होंगे। यह एक बचा रहा ब्रह्मा की विशेष कृपा से- तो इतना conspicuous हो गया कि तुरंत यह विशिष्टता हनुमान की नजर में आ गई।

क्या तुलसीदास अपने समय की शासकीय असहिष्णुताओं की ओर संकेत करते हैं? कुछ फर्क तो है और सीता की शोध में वाल्मीकि और तुलसी का यह भेद अकारण नहीं हो सकता। वाल्मीकि के हनुमान सीता के शोध में प्रकृति के और तुलसी के हनुमान प्रतिरोध के अवधारणात्मक मंच से अनुस्फूर्त होते हैं। वाल्मीकि के हनुमान बहुत समय में महल में खर्च करने के बाद यह सोचते हैं कि 'इधर यह बहुत बड़ी अशोक वाटिका है, इसके भीतर बहुत बड़े-बड़े वृक्ष हैं। इसमें मैंने अभी तक अनुसंधान नहीं किया। रघुनाथजी की प्रियतमा राजरानी रामा सती साध्वी जानकी वन घूमने-फिरने में बहुत कुशल हैं। वे अवश्य इधर आएंगी' - 'वनसंचारकुशलता ध्रुवमेष्यति जानकी वनवासरता नित्यमेष्यते वन चारिणी;' श्री राम की प्यारी पत्नी सती साध्वी जनकनंदिनी सीता पहले निश्चय ही वनवासी जंतुओं से सदा प्रेम करती रही होंगी। वनेचराणा सततं नूनं स्पृहयते पुरा, शुभलक्षणा सीता के लिए यह सुंदर अशोक वाटिका भी सब प्रकार से अनुकूल ही है : 'शुभायाः पार्थिवेन्द्रस्य पत्नी रामस्य सम्मता,' इसके बाद पन्द्रहवे सर्ग में अशोकवाटिका की प्राकृतिक सुषमा का प्रभूत वर्णन है। यानि वाल्मीकि यह कहते प्रतीत होते हैं कि सीता भवन में नहीं, वन में हैं। जब उसके पति वन में हैं तो वह भवन में कैसे रह सकती है? सीता तो प्रकृति की कृति कन्या है जन्म से। फिर राम के साथ इतने वर्षों तक वे वन-विचरण भी करती रही हैं। उन्होंने अपना पति भी अपने संस्कारों के अनुरूप ही पाया था। वाल्मीकी के हनुमान सीता के मनोनिसर्ग का विश्लेषण करते हुए पूर्वानुमान करते हैं किन्तु तुलसी के हनुमान लंका के सामाजिक मनोविज्ञान का अध्ययन करते हुए उस ढर्रे से 'भिन्न' पर ध्यान केंद्रित करते हैं। वाल्मीकी के हनुमान प्रकृति पर जाते हैं, तुलसी के हनुमान संस्कृति पर। वाल्मीकी के हनुमान 'अनुकूलता' ढूंढ़ते हैं, तुलसी के हनुमान विचलन (Deviation)। तुलसी के समय तक प्रतिरोध-आंदोलन (Resistant movements) जड़ जमाने लगे थे। अकबर की सत्ता चतुर जरूर थी, और एक व्यापक सर्वानुमति तैयार करने का प्रपंच भी रखती दिखाई देती थी, लेकिन राणा प्रताप आदि के रूप में प्रतिरोध के ध्रुव उस चतुराई को बेनकाब भी करते जाते थे। तुलसी ने विभीषण को प्रतिरोध के न्यूक्लियस की तरह देखा। उन्होंने उसे कोई 'पैसिव ऑनलुकर' की तरह नहीं देखा। हरि मंदिर को घर के ठीक सामने लगाना और नव तुलसिका वृंद का रोपण और रामायुध का अंकन सरेआम रावणाज्ञा का व्यतिक्रम (Infringement) था। रावण के द्वारा भूभौतिकी का जो सैन्य शोषण किया जा रहा था, उसके विरोध में विभीषण के यहां असहमति का एक बिरवा पनप रहा था। रावण का आतंक, उसके आक्रमण का सर्किल जब पूरी दुनिया को अपनी गिरफ्त में ले रहा था, तब ठीक उसी की नाक के नीचे यह एक पक्षांतर पोषित रहो रहा था। रावण के यहां धार्मिक प्रताड़ना की परिणति निर्वासन (Expulsion) में होती थी। रूस में धारा-57 बुद्धिजीवियों के निष्कासन में काफी प्रयोग में आई थी और रावण के समय में भी यंत्रणा के अलावा डिपोर्टेशन की यह प्रणाली बहु-प्रचलित थी। विभीषण के रूप में

प्रातिकूल्य का एक पौधा जमीन फोड़कर कूल तोड़कर निकला था। वह आजकल की तरह का भूमिगत प्रतिरोध नहीं था। वह कोई गिरोहबाजी या गुटबंदी नहीं थी। वह बस 'एक' था और 'भिन्न' था। देर-सबेर उसे भी निष्कासन का दंड भुगतना था। अकेले सुंदरकांड में माल्यवंत, विभीषण और शुक को यह सजा भुगतनी पड़ती है। कइयों की तो मृत्यु भी कारित हो चुकी थी। यह Extermination भी रावण के अत्याचारों का प्राथमिक उपकरण था। विभीषण विश्वासघात नहीं कर रहा था। वह विश्वास-पद्धति के अपने स्वातंत्र्य का खुला उद्‌घोष कर रहा था।

वह यह संकेत स्पष्ट दे रहा था कि रावण की सैन्य ताकत से कहीं ज्यादा उसे रामायुध पर विश्वास है। वह कोई Traitor नहीं था, देशद्रोही नहीं था। दांते की इन्फर्नो में नवें और सबसे निम्न श्रेणी का नरक विश्वासघातियों के लिए आरक्षित हैं। जूडास को स्वयं लूसीफर ने अपने तीन में से एक मुख से खाया था। विभीषण विश्वासभंजक नहीं था। वह रावणी संस्कृति के द्वारा किये जा रहे आक्रामक समरूपीकरण (Homogenization) को चुनौती दे रहा था। ठीक सत्ता-केंद्र के सामने। वह दलबदलू भी नहीं था। शुरू ही से वह हरि-भक्ति में रत था। अपने घर में यह तीन सहज दृष्टव्य चीजें- हरि-मंदिर, रामयुध और तुलसी-रखकर वह यह भी जता रहा था कि यह कोई Misprision या treason की बात नहीं है। यहां गोपनीयता और छुपाना नहीं है, यहां भूमिगत कुछ नहीं है। यह तो अपने विश्वास पर जीने का साहस है। यह "बहुमत की तानाशाही" के समाने नतशीश न होना है। अलग होना अहंकारी होना नहीं है, वह तो दूसरों की विशिष्टताओं को भी मान देना है। ब्रम्हा ने विभीषण को जीवन का एक उपहार दिया है। विभीषण बस उसे मुरझाने या बासी पड़ने नहीं दे रहा। वह उसे नित्य नवीन बनाये रखना चाहता है। जेम्स रे ने कहा थाः The most difficult battle you ever fight is the battle to be unique in a world that will marshal its every force to keep you the same. विभीषण रावण को सूट करने के लिए खुद को ट्रिम नहीं करता।

अधिकतर लोग 'अन्य लोग' होकर जीते हैं। दूसरे के विचारों को अपनाकर, अनुकरण और अनुपालन की जिंदगी जीते हुए। ये लोग एक सतत दुहरेपन (constant duplicity) में रहते हैं। विभीषण 'एक' और 'भिन्न' होकर रहता है। रावण उसको चुप नहीं कर पाया है। विभीषण उसके निर्देशन में नहीं चलता है। एक आंतरिक निर्देशन में चलता है। जॉन मेसन ने कहा था कि You were born an original. Don't die a copy. मौलिकता में एक किस्म की आध्यात्मिक जीवन-ऊर्जा है। विभीषण रावण को impersonate नहीं करना चाहता और इसके लिए शर्मिन्दा भी नहीं है।

उसने तो ठोक कर अपने भवन पर रामायुध लगा रखे हैं। राम के शस्त्र, धनुष-बाण। यह एक तो अपनी आस्था-पद्धति का स्पष्ट द्योतक है क्योंकि मान्यता यह चलती है कि जो जिस देव का उपासक है, वह उसका चिन्हधारण भी करेगा। अपने घर पर उसके शस्त्रों का चिन्हांकन भी करवाएगा। 'पशुपुत्रादि का-सर्वा-गृहोपकरणानि च/अंड्कयेच्छडंख्यक्राभ्यां नाम कुर्याच्च वैष्णवम्" कि पशु, पुत्र घर और घर की सब सामग्री आदि को भी आयुधांकित करा देना वैष्णवों का धर्म है। यह भी कहा गया किः 'मुनेरस्मिन् भारते वर्षे चापबाणांकिता नराः/स्वपरं कुलसाहस्त्रं तारयन्ति सुखेन वैः' और यह भी कि 'यो नाडि.कतोधनुश्शरैर्नच मंत्र राजस्योपासको न स जनो रघुनन्दनस्य'। धनुष-बाण ग्रीक आर्टेमिस और अपोलो की भी खासियत है, रोमन डायना और क्यूपिड की भी। जर्मन मिथकों में आने वाले एजिलाज, आर्मेनिया के मिथकों में हैक, बोबीलोनिया के मार्डुक, पर्सिया के आराश सभी धनुर्धारी थे। बाद में विलियम टेल, पाल्नेटोक या राबिनहुड के वृत्तान्तों में भी धनुर्विद्या ही प्रमुख रही। परशुराम, द्रोण, राम, एकलव्य और अर्जुन धनुर्विद्या के भारतीय स्मृति-पुरुष हैं, हमारे यहां धनुर्वेद और धनुर्विद्या विलास जैसे ग्रंथ लिखे गए। लेकिन धनुष-बाण में राम के अद्‌भुत कौशल का मुकाबला नहीं है। राम के शरों

का प्रताप मारीच से लेकर मंदोदरी तक सब जानते हैं। स्वयं रावण भी: 'छत्र मुकुट ताटंक सब हते एकहीं बान।' बाण-संधान में राम का कोई मुकाबला हैं।

लेकिन जो रामायुध हैं, असल में वो क्या हैं? स्वयं राम ने लंकाकांड में इन रामायुधों के बारे में बताया है :- "बिरति चर्म संतोष कृपाना/दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा/वर बिग्यान कठिन कोदंडा/अमल अचल मन त्रोन समाना/सम जम निमय सिलीमुख नाना। कि वैराग्य ढाल है और संतोष तलवार है। दान फरसा है, बुद्धि प्रचंड शक्ति है, श्रेष्ठ विज्ञान कठिन धनुष है निर्मल और स्थित मन तरकस के समान है। शम, यम और नियम- ये बहुत-से बाण हैं। विभीषण की जीवन-शैली में वैराग्य, संतोष, दान, बुद्धि, विज्ञान, मनस्थैर्य, शम, यम, नियम ये सब हैं। विभीषण का घर देखकर ही हनुमान को यह पता चल जाता है कि यह जिस व्यक्ति का घर है वह निर्वेद और संतोष, दान और प्रज्ञा पर, नियम-संयम से रहने वाला है। दुनिया भर से सब कुछ लूट लाने वाले, मनोरोगी की हद तक परिग्रही (aquisitive) रावण की प्रति-सैद्धान्तिकी उसी व्यक्ति के पास होगी जो वैराज्य का आदर्श लेकर चलता हो, एक तरह की अविषयासक्तता में। विभीषण के मनोनिग्रह से ही रावण के परिग्रह को चुनौती मिल सकती है। हनुमान ये असल "रामायुध" इस घर में देखकर प्रसन्न होते हैं। विभीषण के घर के चप्पे-चप्पे पर इनकी छाप है।

यह वह "शोभा" है जो हनुमान के हृदय को इतना आप्लावित करती है कि उसका वर्णन करते नहीं बनता। "दसानन-मंदिर" का वैचित्र्य "कहि जात सो नाहीं" और विभीषण के "गृह" की शोभा "बरनि न जाइ"। एक वैचित्र्य में ही खुश है, दूसरा नहीं। रावण का घर "फैंटास्टिक" होगा, लेकिन दिल को छूने वाला सौंदर्य तो विभीषण के गृह में ही है। ली कार्बुजियर ने सही ही कहा था : You employ stone, wood and concrete, and with these materials you build houses and palaces: that is construction. Ingenuity is at work. But suddenly you touch my heart, you do me good: This is beautiful. That is architecture. रावण का स्थापत्य वह होगा जिसे आजकल 'आर्किटिक्चर ऑफ द एब्सर्ड' कहा जाता है। रावण के महल से कौतुक-वृत्ति संतुष्ट हो सकती है, लेकिन विभीषण के घर से हनुमान की वयस्क आंखों और हृदय को तृप्ति मिलती है। कल्पना की कूदें रावण के शिल्प में होंगी लेकिन हृदय की हार्मनी विभीषण के गृह में है। रावण का भवन उत्तेजक है, विभीषण का आह्लादक।

और फिर उस पर तुलसी। तुलसी जो ब्रह्म वैवर्त पुराण के अनुसार राधा की विस्तुति है। तुलसी जो विष्णुप्रिया है, तुलसी जो पापघ्नी है और पावनी भी। जिसे वैष्णवी भी कहा गया और देवदुंदुंभी भी। हमारे यहां तुलसी को विष्णु मंदिरों के पास अनिवार्यतः उगाने की परंपरा है। वैष्णव जन कार्तिक मास में तो तुलसी की प्रतिदिन पूजा करते हैं। गंधर्वतंत्र में तुलसी-पौधों से भरे क्षेत्र को आराधना के लिए आदर्श और ध्यान के लिए एकदम उपयुक्त माना है। वाराणसी के तुलसी मानस मंदिर में अन्य देवी देवताओं के साथ-साथ तुलसी को भी प्रतिष्ठित किया गया है। भगवान विष्णु को तुलसी की मंजरी सबसे प्रिय है। कार्तिक शुक्ल पक्ष एकादशी को प्रतिवर्ष तुलसी विवाह त्यौहार मनाया भी जाता है। जब भगवान कृष्ण को तौला जा रहा था तो सत्यभामा के सारे आभूषण कम पड़ गए थे किंतु रुक्मिणी के द्वारा रखे गए एक तुलसी दल ने पलड़ा झुका दिया था। देव-दानवों के समुद्र मंथन के समय धरती पर छलके अमृत से तुलसी उत्पन्न हुई। श्रीकृष्ण अथवा विष्णुजी तुलसी पत्र से प्रोक्षण किए बिना नैवेद्य स्वीकार नहीं करते। विष्णु की षोडषोपचार पूजा में तुलसी का होना आवश्यक है। तुलसीदल वैराग्य (detachment) का प्रतीक है। रावण के तमाम स्वर्ण-भंडार से कहीं ज्यादा भारी तुलसीदल है। ब्रह्म वैवर्त पुराण में एक श्लोक हैः 'नरा नार्यश्च तां दृष्ट्वा तुलनां दातुमक्षमाः/ तेल माम्ना च तुलसी तां वदन्ति पुराविदः' कि जब

मनुष्य ने यह पौधा देखा तो किसी के साथ इसकी तुलना न कर सका। अतः पुरातत्वविदों ने इसे तुलसी कहा। (प्रकृति खंड, 15)। तुलसी के पौधे में सभी देवताओं के निवास करने की बात भी शास्त्रों में की गई है। विभीषण के हरि-मंदिर के पास हरिप्रिया का होना तो आवश्यक है ही।

तुलसी को विभीषण की इस उपस्थिति से कुछ अपना भी जुड़ता नजर आता है। इसलिए वे विभीषण के घर तुलसी की उपस्थिति दर्शाते हैं। क्या तुलसी भी मध्यकाल में भारतीय प्रतिरोध के वैसे ही विनम्र स्वर बनके उतरे थे जैसे रावणकाल में विभीषण। कृष्णदास निराला के द्वारा लिखी गई तुलसीदास कविता के प्राक्कथन में कहते हैं: "मन की अत्यंत ऊंची उड़ान से उन्होंने देख लिया किस प्रकार भारत की सभ्यता एक जाल में फंसी हुई है, जैसे सूर्य की आभा को राहु ने ग्रस लिया हो। इस भारतीय संस्कृति को एक लहर की तरह मुस्लिम सभ्यता आक्रान्त किए हुए थी। इसी विदेशी सभ्यता की लहर के ऊपर वह आलोकमय सत्य का लोक है जो इस समय हिंदुओं की दृष्टि से ढंका हुआ है। तुलसीदास के प्राण इस अज्ञान का नाश करने को विकल हो गए।"

तुलसी के समूहों का लंका में होना एक रैडिकल नव्यता है। इसकी नव्यता लंका की उस पृष्ठभूमि में ही अच्छी तरह समझी जा सकती है जहां आसुरी उपस्थिति की एक अपनी जड़ता जारी है। इस अर्थ में तुलसी-वृंद वहां जिस नवता का प्रतिनिधित्व करते हैं, वह अपने आप में स्वतंत्रता की शांत घोषणा है। याद करें कामायनी के श्रद्धा सर्ग की पंक्तियाँ: "पुरातनता का यह निर्मोक/सहन करती न प्रकृति पल एक। नित्य नूतनता का आनंद/किए है परिवर्तन में टेक/प्रकृति के यौवन का श्रृंगार/करेंगे कभी न बासी फूल/मिलेंगे वे जाकर अतिशीघ्र/आह उत्सुक है उनको धूल।" तुलसी के नवल-दल "नूतनता का वही आनंद" लिए हुए विभीषण के घर में हैं। आसुरी सत्ता की लौह श्रृंखलाओं के बीच तुलसी के सुकोमल पौधों का होना एक बहुत बड़ा आश्वासन है। तुलसी फर्क है। तुलसी भिन्नता है और भयहीनता भी। तुलसी परिवर्तन है और कंट्रास्ट भी। यदि राक्षसों की गैंग है तो उसके प्रतिध्रुव की तरह तुलसी के भी वृंद हैं। तुलसी आने वाले कल की ओर हमें खोलती है। तुलसी लंका की संभावना है। उसकी नवलता प्रतीक है कि लंका का रिनुअल हो सकता है। उसके बीज लंका में हैं। लंका होगी एक प्राचीन नगरी। वह अपने वैचित्र्य में जीर्ण शीर्ण भी हो रही होगी। समृद्धि और ऐश्वर्य की भी एक रटन्त बन जाती है, एक ढर्रा। जीवन की अभिनवता, उसका हरा-भरापन कहीं खोता चला जाता है। लंका में विभीषण का घर ऐसा है जहां यह नावीन्य और हरीतिमा दिखती है। एक शाद्वल द्वीप जो अतीत की fixity से अभिभूत नहीं है बल्कि भावी के खुलेपन का प्रतीक है। रावण के राज में तुलसी का खिलना खिलना नहीं है, खुलना है एक विकल्प का। वह कोई अकारण उग आई वनस्पति की 'नवलता' नहीं है। डोनाल्ड ए. क्रोस्बी ने इसीलिए कहा था : So-called novelty is itself just casuality inh disguise, a reflection of our ignorance fo underlying causes तो तुलसी के पनपने के पीछे का संदेश यदि रावण पढ़ नहीं पाता है और अपने राज में इस 'नवीनता' के पीछे की अदम्यता की अवगणना करता है तो यही राक्षसत्व है। नवतुलसिकावृंद चांस नहीं है, चैलेंज है। स्कन्दपुराण में तुलसी के बारे में यह क्यों कहा गया: "मणिकांचन पुष्पाणि तथा मुक्तामयानि च/तुलसीदलमात्रस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम।।" एक ओर रत्न, मणि तथा स्वर्णनिर्मित बहुत-से फूल चढ़ाये जायें और दूसरी ओर तुलसीदल चढ़ाया जाए तो भगवान तुलसीदल को ही पसंद करेंगे। सच पूछा जाय तो ये तुलसीदल की सोलहवीं कला की भी समता नहीं कर सकते।' रावण के पास मणिकांचन और मुक्ता तो बहुत हैं। लेकिन तुलसी मुक्ता नहीं, मुक्ति है। तुलसी स्तोत्र में "नमो मोक्षप्रदे देवि" के रूप में उसे प्रणति यों ही नहीं अर्पित की गई। तुलसी दशानन मंदिर को भी "कहि जात सो नाहीं" कहते हैं और विभीषण के घर को भी "बरनि न जाई" कहते हैं। एक का वैचित्र्य अवर्ण्य है,

दूसरे की शोभा। मणिकांचन मुक्ता कौतुक पैदा कर देंगे, लेकिन हैं वह nonlife ही। तुलसी जीवन है। भगवान को कौस्तुभ भी उतना प्रिय नहीं है जितना कि तुलसी-पत्र-मंजरी। पद्मपुराण ने यही तो कहा- 'तावदयर्जन्ति भूतानि कौस्तुभानि भूतले/यावत्र प्राप्यते कृष्णा तुलसी विष्णुवल्लभा'।

तुलसी जैविक है, रावण का स्वर्ण-भवन नहीं। तुलसी वनस्पति नहीं है, विचार है। संवेदना, भाव, प्रयोजन, स्वातंत्र्य, भाषा और संस्कृति है। उनका embodiment तुलसी में गत्यात्मक सत्ता है। तुलसी का क्लोरोफिल एक वैकल्पिक विश्व का जीवनरक्त है। शास्त्र जब यह कहते हैं कि "तुलस्यां सकला देवा वसन्ति सततं यतः" तो वे आसुरी प्रवृत्तियों से तुलसी की स्वाभाविक एंटीथीसिस का भी उद्‌घोष करते हैं। तुलसी में देवों का वास और लंका राक्षसों का आवास। तुलसी लंका में "नई" है क्योंकि लंका में उसे अतीत में स्थान नहीं मिला। 'नव' शब्द का एक समयगत (टेम्पोरल) आयाम है। संभवतः तुलसी की राक्षस-राज में विशेष वर्जना हुई हो। जिस तुलसी को "धर्म्या धर्मानना देवी देवीदेवमनः प्रिया" कहा गया, संभव है कि अधर्मियों के राज में उसको अप्रिय माना गया। अधिनायकों की भी अपनी झक और सनक होती है। जर्मनी में जन्मी अमेरिकी राजनीति दार्शनिक हाना आर्ने ने सही कहा थाः The new always happens against the overwhelming odds of statistical laws and their probability, which for all practical, everyday purposes amount to certainty, the new therefore always appears in the guese of a miracle.

हनुमान 'कपिराई' हैं, इसलिए तुलसी के वृंद देखकर उनको स्वभावतः खुशी होती है। राक्षसराज को जो देखकर अमर्ष होता है, कपिराज को वही देख हर्ष होता है। लेकिन वह एक प्राकृतिक सौंदर्य पर किया गया हर्ष ही नहीं है, वह "कपिराज" का हर्ष एक राजनीतिक संभावना का हर्ष भी है। इसलिए तुलसी हनुमान के लिए "कपिराज" शब्द का प्रयोग करते हैं। हालांकि कपिराज तो सुग्रीव हैं। लेकिन 'वानराणामधीशं' हनुमान को 'कपिराई' कहकर तुलसी तुलसी के माध्यम से प्रतीकायित होने वाले पॉलिटिकल पोटेन्शियल की ओर इशारा करते हैं। मैक्सिम गोर्की (माँ) के शब्द याद आते हैं: पृथ्वी स्वयं इस नए जीवन को जन्म दे ही है और सारे प्राणी इस आने वाले जीवन की विजय चाह रहे हैं। अब चाहें रक्त की नदियां बहें या रक्त के सागर भर जाएं परन्तु इस नई ज्योति को कोई बुझा नहीं सकता।" हनुमान का हर्ष इसी संदर्भ में विशेष है। वह सिर्फ इसलिए नहीं है कि रामायुध और तुलसी वाटिका देखकर पल-भर को उन्हें यहां सीतावास का आभास हुआ या किसी रामभक्त के निवास का, बल्कि इसीलिए हुआ क्योंकि लंका में रावण की प्रति-सैद्धान्तिकी पनप रही है, विकस रही है। रावण का Counter propostition राम के अवतार की प्रयोजन-पूर्ति है।

इस दोहे की भाषा कुछ कुछ अर्थ का देहली-दीपक पैदा करती है। कभी लगता है कि जितना हनुमान वहां नव तुलसिका वृंद को देख हर्षित हुए, उतना ही नव तुलसिका वृन्द हनुमान को वहां देख हर्षित हुआ। जैसे तुलसी विष्णु प्रिया है, वैसे ही हनुमान राम को प्रिय हैं। तुलसी-तरू हनुमान को 'ग्रीट' कर रहे हैं। वनस्पति को वायु तो प्रिय है ही। वायुपुत्र तुलसी के लिए ताजगी की बयार है। "नव तुलसिका वृंद" हनुमान के पहुंचने की खबर से और फ्रेश हो जाता है। आकाश के नीले स्वप्न और धरती के धूसर धैर्य के बीच कहीं तुलसी और हनुमान एक दूसरे के हर्ष का कारण बन गए हैं। ह्वाल्ट ह्विटमैन ने कहीं सही ही लिखाः I believe a leaf of grass is no less than the journey-work of the stars. तुलसी के पत्ते हनुमान को इस भोगवादी देश में जिस आध्यात्मिक सुकून का अनुभव कराते हैं, उसके चलते हनुमान का हर्ष सहज लगता है। आखिर कब तक शहर में कांक्रीट के जंगल देखो। एक शिकारी शहर में। उच्च घनत्व की एकरसता। एस्फाल्ट की ऊब। एक तरह का मृत भार (डेड लोड)। केंटीलीवर।

थकान। हनुमान की श्रांति उस सबके बीच तुलसी-कानन की सुषमा देखकर हर्ष में बदल जाती है। सीता की खोज में 'मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा' में घर घर वही बीम, फ्रेम डिजाइन के कई संरचनात्मक गणित देखते हुए और अपने शोध के असल लक्ष्य जगज्जननी सीता को न देखते हुए हनुमान हताश तो हुए होंगे। किंचित क्लान्त भी। इतनी मशक्कत और इतने खटने के बाद भी सीता के न मिलने से। ठीक उसी क्षण उस तुलसी का दर्शन जिसके बारे में शास्त्र कहते हैं: "लक्ष्मी प्रियसखी देवी द्योर्भूमिरचलाचला" जब लक्ष्मी की प्रिय सखी के दर्शन हो गए तो शुभ हुआ। अब लक्ष्मी अर्थात सीता के दर्शन हो ही जाएंगे। अध्यवसायी और पुरुषार्थी हनुमान को प्रयत्न से इंकार नहीं है। लेकिन लंका की रचना तो एक ऐसे नगर के रूप में हुई है जहां द वर्ल्ड इज़ टू मच विद अस। वहां तुलसी एक ऐसी उपस्थिति है जो पृथ्वी की मौलिक उर्वरता और अपार्थिव की इतरता का प्रतीक है: "तुलस्यानापरं किंचिद्दैवंत जगतीतले/यथा पवित्रितो लोको विष्णुसंगेन वैष्णवः।"

●●●

लंका निसिचर निकर निवासा।
इहँ कहाँ सज्जन कर बासा।।
मन महुँ तरक करैं कपि लागा।
तेहीं समय बिभीषनु जागा।।
राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा।
हृदयँ हरष कपि सज्जन चीन्हा।।
एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी।
साधु ते होइ न कारज हानी।।

लंका में तो निशाचर समूह का वास है। यहां सज्जन कहां रहते हैं? कपि (हनुमान) मन में तर्क करने लगे। उसी समय विभीषणजी जागे। राम नाम का उन्होंने स्मरण किया। कपि ने उनको सज्जन जाना और हृदय में हर्षित हुए। इससे हठ करके (अर्थात अपनी ओर से) जान पहचान करूंगा। साधु से कार्य में हानि नहीं होती।

लंका में जेंटलमेन कहां? लंका में नोबुलमेन कहां? लंका में भद्र लोग कहां? ये प्रश्न हनुमान के मन में उठने लगते हैं। इन पंक्तियों में तीन बार सज्जन/साधु की चर्चा है। यह संदर्भ इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह तुलसी की भद्रता की अवधारणा पर प्रकाश डालता है। यहां तुलसी किसी ब्लू-ब्लडेड भद्रता की बात नहीं कर रहे हैं। किसी कुलीन आदमी का अनुमान उनके हनुमान नहीं करते। हाई-बोर्न का। वे नहीं सोचते कि अभिजात ही जेंटलमेन होते हैं। यहां 'टाइटल्ड' लोगो को -रायबहादुर, सर, लार्ड को - सज्जन नहीं कहा गया है। विभीषण इसलिए सज्जन नहीं हैं कि वे लंका की सिविल लाइन में रह रहे हैं।

हनुमान ऋजुता देख रहे हैं, रैंक नही। वे कृतात्मा को चीन्ह रहे हैं, कुलक को नहीं। यहां डेजिग्नेशन का महत्व नहीं है, डिवोशन का हैं। लंका तो फितरती और बदनीयत लोगों से भरी पड़ी है। वहां तो एक से एक खुर्राट लोग हैं। चालबाज और मक्कार। वहां कोई पुण्यबुद्धि, कोई नेकदिल इंसान भी रह सकता है, हनुमान को विस्मय होता है।

तुलसी 'मेनोरिअलिज्म़' की या 'बैरॅनी' की गणना नहीं करते। उनके यहां सज्जनता सरनेम नहीं है। वे सामन्त को नहीं, सुमनस्क को जेंटलमेन कहेंगे। जबकि लैटिन में जेंटलमेन शब्द की धातु 'जेंटिलिस' किसी 'रेस' (जाति) को ही संकेतित करती है। भारत में सज्जनता शैली नहीं है, शील है। शास्त्र कहते हैंः अकुलीनः कुलीनश्च मर्यादा यो न लंघयेत्/धर्मापेक्षी मृदुदन्तिः सकुलीनशतैर्वरः।। कि अकुलीन हो या कुलीन, जो मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, धर्म में तत्पर रहता है, मृदु है, जितेन्द्रिय है, वह सैंकड़ों कुलीनों से बढ़कर है। कबीर ने तो अपने समय की 'ओलिगार्की' के खूब मजे लिएः 'कुल खोया, कुल ऊबरें, कुल राख्या कुल जाइ/ राम निकुल कुल भेंटि लै, सब कुल रहया समाई।' कुल शब्द के साथ यह केलि कबीर की चटखारे लेने की अपनी अदा थी। कबीर ने कुल के आधार पर शासक होने की नहीं, दास होने की विशेषता को श्रेष्ठता कहाः "कबीर कुल तौ सो भला, जिहि कुल उपजै दास/जिहिं कुल दास न ऊपजै,सो कुल आक पलास।" विभीषण ऐसे ही 'दास' थे। यह ईश्वर का 'servitude' था। राबर्ट मिशेल्स ने एक सैद्वान्तिकी विकसित की कि हर राजनीतिक प्रणाली एक किस्म की 'ओलिगार्की' में ही अन्ततः ढल जाती है। विभिन्न उदाहरणों से उन्होंने अपने इस 'लौह-नियम' को सिद्व किया। इसलिए तुलसी और कबीर राजनीतिक प्रणाली पर नहीं, बल्कि आध्यात्मिक प्रणाली पर जोर दे रहे हैं। राजनीति को चुनौती तो अध्यात्म से ही मिलेगी।

सहजोबाई ने साधु की यह परिभाषा की थीः तन जग में मन हरि के पासा/लोक भोग सूं सदा उदासा। हनुमान हरि-मंदिर से आस्था, रामायुध से नैतिकता और नव तुलसिका वृंद से वैराग्य का पूर्वानुमान कर ही लेते हैं, लेकिन जब वे विभीषण को रामनाम का स्मरण देखते करते हैं तो उनका विश्वास पक्का हो जाता है।

क्या हनुमान धोका खा जाते? यदि घर में हरि-मंदिर बना लेने से, घर में धनुष-बाण की छाप लगा लेने से, तुलसी के पौधे उगा लेने और सुबह उठकर राम का नाम ले लेने से सज्जन के रूप में 'आइडेन्टिटी' निर्मित हो सकती है तब तो यह बड़ा सस्ता सौदा है। कोई भी आसानी से सज्जन 'बन' सकता है और बना सकता है। लेकिन इसी संदेह को दूर करने के लिए तुलसी सबसे पहले 'लंका' का नाम लेते हैं। 'लंका निसिचर निकर निवासा।' लंका में विभीषण को सज्जनता का पाखंड भी रचने की जरूरत नहीं है। यही नहीं कि वहां सज्जनता को कोई मूल्य, प्रीमियम और महत्व नहीं है बल्कि यह कि वह एक निर्योग्यता है। विभीषण के समाजीकरण में बाधा। यह सिक्का वहां चलता ही नहीं। स्टैंथल ने सही कहा है कि : only great minds can afford a simple style इसलिए हनुमान का अनुमान सही है। लंका के परिवेश में विभीषण के रहन-सहन के तौर तरीके 'गो विद द फ्लो' वाले नहीं हैं। यह बताता है कि विभीषण conformist नही हैं। वे 'बैंडवैगन एफेक्ट' से ग्रस्त नहीं हैं। 'जहां दम वहां हम' की अवसरवादिता

उनमें नहीं हैं। वे भेड़चाल, जिसके लिए अंग्रेजी में एक नया शब्द 'sheeple' गढ़ा गया है, में शामिल नही होते। धारा के विपरीत बह सकने का नैतिक साहस उनमें है। वे विलासिता नहीं, गरिमा पर बल देते हैं। फैशन नहीं, रिफाइनमेंट पर। उनका घर उनकी ग्रेस, उनकी जीवन-लय, उनकी शुभ के साथ हार्मनी का परिचायक है। लंका में तो पाप, पिशुनता, धूर्तता के लिए एक तरह की सर्वानुमति बन गई है। हिंसाचार, ईश्वर-द्वेष, क्षुद्राशयता को लेकर एक तरह का सोशल एग्रीमेंट हो चुका है। लंका में यदि गुलामी नहीं है तो मौन का एक दुष्चक्र (spiral of silence) तो है ही।

लंका तो एक 'ईविल एंपायर' है। सिर्फ उतना नहीं जितना प्रेसीडेन्ट रीगन को सोवियत संघ लगता था या जितना अभी 2007 में लिखी गई पुस्तकः 'द ईविल एंपायरः 101 वेज दैट इंग्लैंड रूइन्ड द वर्ल्ड' के लेखक स्टीवन ए. ग्रास को इंग्लैंड लगा था। लंका में पापाचार की सामाजिक परंपराएं अच्छी तरह स्थापित हो गई थीं और असत् का एक तरह सामाजिक आदर्शीकरण (idealization) ही हो गया था। सामाजिक सम्बन्धों और संरचनाओं का आधार 'पाप' था। पाप उस साम्राज्य और समाज की क्रॉनिक कंडीशन बन गया था। वहां उस रावण का एकछत्र निरंकुश राज्य चलता था, जिसने दूर-दूर तक आक्रमण करके वैकल्पिक पद्धतियों को नष्ट किया था। उस जगह पर विभीषण किसी दबे-छिपे ढंग से नहीं, बहुत गोचर, बहुत दृश्यमान, बहुत pronounced और बहुत conspicuous तरीके से अपनी भिन्नता को रेखांकित कर रहा था। उसे अलग-थलग पड़ जाने का डर नहीं था। उसे दमन का डर नहीं था, उसे अपने आसपास के सामाजिक पर्यावरण से खारिज और निरस्त कर दिए जाने का डर नहीं था। जहां सब जगह राक्षस हों, वहां यह एक सज्जन व्यक्ति जो धर्माचरण करता था, रह रहा था। कैसे? क्या यह कोई माया तो नहीं? कई बार नॉन-कन्फार्मिस्ट होना भी एक फैशन हो जाता है! क्या यह शौक तो नहीं था, बस अलग दिखने का? वह भी एक तरह का फितूर होता है। हनुमान के मन में यह तर्क पैदा हुआ होगा कि क्या इस भवन का बाशिंदा किसी खब्त के चलते तो 'डिफ्रेंट' नहीं दिखना चाह रहा है। आजकल के केच-अप सॉस के विज्ञापन की तरह। ट्वीन फैशन जहां अलग दिखने का क्रेज है। या यह मेरीडिथ वेस्ट का आदर्श सच कर के दिखा रहा है : If you want to stand out, don't be different; be outstanding. तभी वह सज्जन होगा। अन्यथा भिन्न दिखने की एक मनोबाध्यता भी होती है और उसकी ख्वाहिश एक अहंकार का फल भी होती है। मुंबई सिनेमा में "कुछ हटके" एक बड़ा लोकप्रिय शब्द है। तो हनुमान को लगा होगा कि कहीं यह सब इस सब का खेल तो नहीं? लेकिन ऐसी यदि झक भी है तो भी वह एक लोकतंत्र में ही संभव है। रावण के एकाधिकारवादी शासन में तो सभी नागरिकों से असहमति के अधिकारों का परित्यजन करवा लिया गया है।

कहीं यह भवन रावण का ब्लफ तो नहीं है? हो सकता है यह लंका का शो-रूम हो। एक तरह की कान्फीडेंस-ट्रिक जहां सामने वाले का विश्वास जीतकर उसे धोखा दिया जाता है। हो सकता है इस भवन का मालिक कोई कॉन-आर्टिस्ट हो। रावण वही था- सीता-हरण के समय। मारीच वही था। इन सबने अपनी कलाकारी दिखाई थी। बाद में कालनेमि भी एक नटवरलाल के रूप में ही हनुमान के सामने आया था। तो हो सकता है कि यहां भी वैसा ही कोई जाल रचा गया हो। फरेब और ठगी राक्षसों के बहुत आजमाए हुए हथियार हैं। सामने सोने का मृग दिखता है, पीछे धांधली। सामने भिक्षुक होता है, पीछे 420। सामने तो "सर मंदिर वन बाग बनाया" होता है, पीछे छलना। कालनेमि मंदिर भी बनाता है, बन-बाग भी। तो यहां हरि-मंदिर भी कूटकपट हो सकता है और तुलसी-वाटिका भी। बाईबिल में कहा गया है शैतान के बारे में: When he lies, he speaks his native language. जब वह असत्य भाषण करता है, अपनी मातृभाषा बोलता है। उसमें कहा गया कि Demons are inherently deceptive. कहा गया कि No wonder, for even Satan disguises

himself as an angel of light. तो कहीं ऐसा तो नहीं कि इस भवन के निवासी ने खुद को आलोक-दूत के रूप में प्रस्तुत करने के लिए यह ताम-झाम जमा रखा है। डार्क-लार्ड ग्रिओस (Sgrios) के मंदिरों की तरह यह मंदिर भी छल और प्रवंचनाओं का मंदिर तो नहीं है?

हनुमान मुख्यतः एक तार्किक व्यक्ति है। वे तर्क-वितर्क करने के बाद ही किसी कदम को उठाते हैं और ये तर्क-वितर्क उनके मन के भीतर ही चलते रहते हैं। बात संशय की नहीं है, तर्क की है। वे अपनी निरीक्षित चीजों की संभव या प्रस्तुत व्याख्याएं अपने भीतर तौलते रहते है। पूर्वाग्रह नहीं, तर्क। इसलिए लंका की कुख्याति के बावजूद यहां कोई सज्जन व्यक्ति निवास करता है, उनका तार्किक मन इस संभावना को जीवित रखता है। अरस्तू ने (निकोमैकियन एथिकस) कहा थाः जिस प्रकार शरीर में दृष्टि है, उसी प्रकार आत्मा में तर्क हैः हनुमान की आस्था जितनी दृढ़ और अचल है, उनका तर्क भी उतना सशक्त है। वे एक सोचते हुए व्यक्ति हैं। कभी 'मन महुँ तरक करे कपि लागा' और कभी "करहु विचार करौं का भाई"। हनुमान तर्कशील हैं, हालांकि कपि होने के नाते उनसे 'इंस्टिंक्चुअल' होने की अपेक्षा की जा सकती है।

हनुमान के लिए विभीषण बहुत सामयिक व्यक्ति हैं। उनके साथ कभी "तेहि समय विभीषनु जागा" की स्थिति है तो कभी "तेहि समय विभीषनु आए" की बात है। विभीषण का यह प्रसंग तुलसी को वाल्मीकि से भिन्न करता है, यह हम पहले कह चुके हैं। तुलसी को भक्ति में, दैन्य भक्ति में, विभीषण हनुमान की स्पिरिट के व्यक्ति लगे हैं। हनुमान भी "अस मैं अधम सखा सुनु" कहते हैं और विभीषण भी "सहज पापप्रिय तामस देहा" का निवेदन करते हैं। एक को लगता है "प्रातलेई जो नाम हमारा/तेहि दिन ताहि न मिले अहारा" तो दूसरे को लगता है "जथा उलूकहि तम पर नेहा"। क्या इनका दैन्य एक भक्त का दैन्य है या यह भारत की दलित जातियों का दैन्य है? कहीं कोई सुर मिलता-सा है। तुलसी ने क्या इनके माध्यम से दलितों के दुःख और आत्महीनता को वाणी दी थी? ये दलित भी ऐसे कि अपने समय की निरंकुश सत्ताओं के सामने नहीं झुकते। न हनुमान बाली के सामने, न विभीषण रावण के सामने। ठीक उसी तरह जैसे कबीर अपने समय में बादशाह के आगे नहीं झुके। लेकिन फिर भी दैन्य का एक भाव निरंतर दोनों के मन को मथता हुआ। फिर भी "निसिचर बंस जनम सुरत्राता" का अवबोध वंश और जन्म के आधार का कहीं कोई काटता हुआ-सा अहसास जो जब तब झलक जाता है। तुलसी इसे कांशस तरह से जानते हैं, इसलिए रामचरितमानस में यह कहते भी हैं कि "जद्यपि जग दारून दुःख नाना/सबतें कठिन जाति-अवमाना।" इसलिए वे अपनी तरह से इन प्रसंगों को कुछ इन स्वरों में ढालते हैं कि वे दलित दैन्य से 'सम' पर लगे। अन्यथा सती के प्रसंग में यह कहने की क्या जरूरत थी? या स्वयं विभीषण के जो ऋषि पौलस्त्य के वंश के हैं या स्वयं हनुमान के जो वायुदेव के पुत्र हैं। वे कुछ कुछ भारत की उन दलित जातियों के सुर में बोलते हैं जिनके कुल-वंश भी आर्ष उत्पत्ति के हैं। मनुस्मृति शूद्रों की उत्पत्ति ऋषि से बताती है। फिर भी वे दलित हैं।

तुलसी न तो दैन्य के निवेदन का मौका छोड़ते हैं, न निराकरण का। इसके बावजूद हमारे आधुनिक आलोचकों को तुलसी से जाने कैसी एक खीझ सी है। न केवल तुलसी से बल्कि सगुण धारा-मात्र से। निर्गुण और सगुण में से निर्गुण पर ही दलित संतों का विशेषाधिकार था, ऐसा मानकर भारतीय समाज को विभेदित करने वाले बंधु यह प्रचार करने में लगे रहे कि सगुण की पूजा करना दलितों के लिए वर्जित भी था और व्ययसाध्य भी, लेकिन उन्होंने यह नहीं देखना चाहा कि हिंदुओं का ईश्वर मानसपूजा से ही तृप्त हो जाता है। निर्गुण नहीं, सगुण ईश्वर के लिए भी मानसपूजा का विधान है। शंकराचार्य के द्वारा रचित शिवमानसपूजा के स्तोत्र को देखें जहां वे नवीन रत्नखण्डों से रवचित सुवर्णपात्र में घृतयुक्त खीर, दूध और दधि सहित पांच प्रकार का

व्यंजन कदलीफल, शर्बत, अनेकों शाक, कपूर से सुवासित और स्वच्छ किया हुआ मीठाजल और तांबूल-ये सब मन के द्वारा ही बनाकर प्रस्तुत करते हैं। 'मनसा परिकल्पयामि' पूजा का भी परंपरा में उतना ही सम्मान है। 'संकल्पेन समर्पित तव विभो पूजां गृहाण प्रभो' ;कि संकल्प से सब आपको समर्पण करता हूं, प्रभो! मेरी यह पूजा ग्रहण कीजिए।; - यह विचार ईश्वर को, सगुण ईश्वर को 'साधन' से मुक्त करता है और दरिद्र, दलित, विपन्न सभी के लिए सहज उपलब्ध बनाता है। वह ईश्वर की पूजा को कर्मकांड से भी मुक्त करता है क्योंकि शंकराचार्य उसी शिवमानसपूजा में यह भी कहते हैं : "यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्" कि मैं जो-जो भी कर्म करता हूं, वह सब आपकी आराधना ही है। अतः जिन लोगों को पूजा के पैटर्न को लेकर भी एक तरह के संस्कृताइजेशन का आरोप लगाना है, उनके लिए भी यहां गुंजाइश नहीं छोड़ी गई। यही शंकर 'वेदसार शिवस्तवः' में एक और मार्के की बात कहते हैं : 'त्वदन्यो वरेण्यो न मान्यो न गण्य': कि ईश्वर ;शिव; के अतिरिक्त न कोई श्रेष्ठ हैं, न माननीय है और न गणनीय है। इस एक वाक्य से श्रेष्ठिवर्ग को उनकी औकात दिखाते हैं, उन लोगों को भी जो पद्मश्री, पद्मभूषण आदि की तरह मान्यता की एक कृत्रिम प्रणाली निर्मित करते हैं और उन्हें भी जो गणमान्य नागरिकों की सूची में अपना नाम लिखाने सिर्फ इसलिए मचले पड़ते हैं कि गवर्नर साहब के भोज में उन्हें भी आमंत्रित किया जाए। जो परंपरा भस्म को विभूति कहती थी, वह विभूति के इन चोंचलों और उपादानों से भी मुक्त करती थी। यहां निर्गुण और सगुण एक दूसरे को खारिज नहीं करते थे। रूद्राष्टक में जहां 'निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं' कहा गया था, वहीं 'प्रसन्नाननं नीलकण्ठं दयालं मृगाधीश चर्माम्बरं' भी कहा है। यह मूढ़ों का विचार है कि निर्गुण की पूजा मध्यकालीन संत इसलिए कर रहा था कि वह सगुण के मंदिर में नहीं जा सकता था। न मंदिर के पट उसके लिए बंद थे, न सगुण पर उसकी कोई कम श्रद्धा थी। शंकर ने शरीर को मंदिर कहा था और मंदिर में जाए बिना हिंदू नहीं रह सकते, ऐसी कोई निर्योग्यता हिंदू परंपरा ने कभी लागू नहीं की। यहां तो ईश्वर खंभे में ही प्रकट हो जाता था, मंदिर तो दूर की बात है। जहां स्वयं शिव ही 'चितिरजो धवलीकृत विग्रहं' (जिनका शरीर चिता की धूलि से धूसर है) के रूप में माने जाते हैं, वहां चाण्डाल पर या डोम पर निर्योग्यताएं लागू कैसे हो सकती थीं? वहां मन्त्र, यन्त्र, स्तुति, आवाहन, ध्याय, स्तुति कथा, मुद्रा की अपेक्षा नहीं थी, बस देवी के अनुसरण की अपेक्षा थी : "न मन्त्रं नो यन्त्रं" तदपि च न जाने स्तुति महो/न चाव्हानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथा :/न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनं/ परं जाने मातस्वदनुसरणं क्लेशहरणं। देवी जिस शिव से विवाह करती हैं, उनका वर्णन एक सर्वहारा, एक विपन्न, एक वंचित की तरह करना क्यों जरूरी समझा गया - जो चिता का भस्म रमाए हैं, विष खाते हैं, नंगे रहते हैं, शिवमहिमा स्त्रोत में यह क्यों कहा गया कि वरदानी शंकर! बूढ़ा बैल, खटिए का पावा, फरसा, चर्म, भस्म, सर्प कपाल - बस इतनी ही आपके कुटुंब पालन की सामग्री है। श्री विश्वनाथ जटाजूट बांधे हैं, हाथ में खप्पर लिए हैं- इस पर सोशल डायनेमिक्स के स्वयंभू क्या कहेंगे? क्यों ये स्वयंभू इस बात को नकारते हैं कि यदि कर्मकांड की विरचना तत्कथित ब्राह्मणवाद का लक्ष्य रहा होता तो बार-बार उनके भजनों में "न जानामि दानं न च ध्यानयोगं/न जानामि तन्त्रं न च स्तोत्रमन्त्रम्/न जानामि पूजां न च न्यासयोगम्" या "आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम्" जैसे उद्‌गार क्यों आए होते? दास परमहंस ब्रह्मानंद ने जब यह कहा कि जप, तप, यज्ञ अथवा उत्तम तीर्थों के सेवन में क्या रखा है अथवा अधिक शास्त्रावलोकन के पचड़े में फंसने से ही क्या होना है? रे मनुष्यो बस श्री कमलापति को भजो ;किमु जपैश्च तपोभिरूताध्वरैरपि किमुत्तमतीर्थनिषेवणैः/किमुत शास्त्रकदम्बविलोकनैर्भजत रे मनुजाः कमलापतिम्। तो उनका कथन क्या कबीर से कम क्रांतिकारी थी? ईश्वर की कल्पना द्विजबन्धु के रूप में नहीं, दीनबंधु के रूप में इस परंपरा में की गई थी। यहां तो ईश्वर से साक्षात् भी

दीनबंधु के रूप में ही मांगा जाता था। दृग्गोचरो भवतु मेऽघ स दीनबंधुः। यदि इस परंपरा में यह कहा गया कि 'यन्नामकीर्तनपरः श्वपचोऽपिनूनं/हित्वाखिलं कलिमलं भुवनं पुनाति" कि भगवान के नाम कीर्तन में तत्पर चाण्डाल निश्चय ही सम्पूर्ण स्तोत्रं में उन्हें 'भिखारी' (भिक्षुकोऽपि) कहा गया। भिक्षुक को विश्वनाथ बनाना क्या सर्वहारा की तानाशाही से कहीं आगे की चीज नहीं है?

कलिमल को त्यागकर जगत् को पवित्र कर देता है, तो इस परंपरा की प्रगतिधर्मिता को लांछित करने का षड्यंत्र क्यों चलाया गया? यदि रैदास का उलाहना सच्चा था कि 'भगत हेत का का नहिं कीना। हमरी बेर भये बलहीना' तो श्रीमन्मोक्तिकरामोदासीन शिष्य ब्रह्मानंद का यह उपालंभ क्यों झूठा था कि : 'हे प्रभो! तुमने पर्वत-वृक्षादि स्थावरों, दैत्यों, वानरों और दूसरों को भी संसार सागर के पार कर दिया। इस समय क्यों सो गए - "नगा दैत्याः कीशा भवजलधिपारं हि गमिता स्वया चान्ये स्वामिन्किमिति समयऽस्मिछयितवान्?" प्रह्लाद ने नृसिंह की स्तुति के द्वारा क्या घोषणा की थीः कि "धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरू, बुद्धि और योग- ये सभी गुण परम पुरुष श्री हरि की आराधना के साधक नहीं हो सकते, और भक्ति से तो वे गजेन्द्र पर भी प्रसन्न हो गए थे जो ब्राह्मण उपर्युक्त बारह गुणों से युक्त हैं किंतु भगवान कमलनाभ के चरणकमलों से विमुख है, उससे तो मैं उस चाण्डाल को श्रेष्ठ समझता हूं जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण श्री हरि में लगा रखे हैं। वह अपने कुल को पवित्र कर देता है?" बाल की खाल निकालने वाले "कुल को पवित्र कर देता है" के आधार पर यह कहेंगे कि इसका अर्थ ही यह है कि चांडाल कुल अपवित्र ही है। किंतु इसी छिद्रान्वेषी मति को ध्यान में रखते हुए मैंने पहले वह स्तोत्र उदृधृत किया था कि जहां चाण्डाल जगत को भी पवित्र कर देता है। तुलसीदास ने राम को "भजामि भाववल्लभं कुयोगिनां सुदुर्लभं" कहा था कि वे तो सिर्फ भाव के भूखे हैं और कुयोगियों के लिए विशेष रूप से दुर्लभ हैं। कृष्ण तो ग्रामीणों के लिए देवराज इन्द्र का मान-मर्दन कर देते हैं। हिंदुओं का 'सगुण' कभी ग्रामीणों के साथ खड़ा है तो कभी वनवासियों के। वह अपने समय के सबसे बड़े सत्ता-उन्मादों को सफलतापूर्वक चुनौती देता है। वह हारता नहीं, वह सलीब पर नहीं चढ़ता। जिनके साथ करोड़ों जनता की आशाऐं हिलोर लेती हों, वह हारना अफोर्ड कैसे करेगा? वह एक जनोन्मुखी ईश्वर है। इसलिए उसकी आस्था के प्रथम स्थान गणपति हैं, गणेश हैं - 'गण' या 'जन' के प्रभु हैं। वे गणेश "गणनाथमनाथबन्धुं" के रूप में प्रातः स्मरण किए जाते हैं। वहां सूर्यदेव भी "सर्वजनेषुपूजितं" हैं, किसी वर्ग-विशेष या जाति-विशेष की बपौति नहीं है।

शंकराचार्य ने अपनी 'परापूजा' में जो प्रश्न पूछे हैं, वे अच्छे से अच्छे क्रांतिकारी चिंतक ने भी नहीं पूछे। सुनिए : "जो सबका आधार है, उसे आसन किस वस्तु का दें? जो स्वच्छ है, उसको पाद्य और अर्घ्य कैसे दें? और जो नित्य शुद्ध है, उसको आचमन की क्या अपेक्षा? निर्मल को स्नान कैसा? जो वर्ण और गोत्र से रहित है, उसके लिए यज्ञोपवीत कैसा? निर्लेप की गंध कैसी? निर्वासनिक को पुष्पों से क्या? निराकार के लिए आभूषण क्या? निरंजन को धूप से क्या? सर्वसाक्षी को दीप कैसा? अनंत की परिक्रमा कैसी?'' **मन्यो धनाभिजनरूपतपः श्रुतौजस्तेजः प्रभावबल-पौरूषबुद्धियोगाः/नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो/ भक्त्या तुतौष भगवान् गजयूथपाय/विप्राद्द्विषड्-गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्द मुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्/ मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः।**

तब शंकराचार्य को किसी बुद्ध, किसी कबीर, किसी आम्बेडकर की तरह बरतने में दलित चिंतकों को क्यों दिक्कत होती है? शंकराचार्य थे तो एक 'चाइल्ड प्रोडिजी'। उनके पास तो घोषित करने के लिए अपनी प्रतिभा के अलावा कुछ न था। उनके प्रश्नों की उग्रता और ताप को कम कर क्यों आंका गया? क्या उनके प्रश्नों में पूजा के 'पैटर्निज्म' के खिलाफ असंतोष नहीं

था? क्या वे औपचारिकताओं के बजाए मूल मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित नहीं करवाना चाह रहे थे?

लेकिन हमारे दलित चिंतक तर्क का मुकाबला विशेषण से वैसे ही करते हैं जैसे मार्क्सवादी करते थे। वहां विरोधियों को बूर्ज्वा या संशोधनवादी कहकर निपटा दिया जाता था, यहां वे ब्राहाणवादी, मनुवादी कहकर खदेड़ दिए जाते हैं। शंकराचार्य हों या तुलसी सभी इसके शिकार होते रहे हैं। तुलसी की भावभरित जीवन दृष्टि सहानुभूति और संवेदना के किसी मुकाम पर दुर्लक्ष्य नहीं करती। हनुमान और विभीषण के इस संवाद में तुलसी का लहजा दो दीन व्यक्तियों बीच की चर्चा में यह बात सामने लाता है कि ये दीन लोग सत्ता के सामने नहीं झुकते, लेकिन सत्य के सामने अत्यन्त विनीत हैं। संप्रभु के सामने ये तने रहते हैं, लेकिन प्रभु के सामने इनका कार्पण्य और अकिंचनता सच्ची है। विभीषण इसीलिए अभिनंद्य हैं। इसीलिए विभीषण का जागरण तुलसी के भीतर की दैन्य-चेतना का जागरण है। वे स्वयं को विभीषण के प्रांगण में खिला हुआ यों ही नहीं दर्शाते हैं- नव तुलसिका वृंद तहँ देखि हरख कपिराई। विभीषण जागते हैं, तुलसी जागते हैं लेकिन पूर्वाग्रहों और कुंठाओं के मारे हमारे विद्वतवर नहीं जागते। विभीषण काफी रात रहते जागते हैं क्योंकि बाद में रावण द्वारा सीता को धमकाने-चमकाने और सीता द्वारा आत्म-हत्या तक के लिए उद्यत हो जाने के प्रसंग भी रात के हैं। त्रिजटा इसलिए सीता को 'निसि न अनल मिलि सुनु सुकुमारी' कहती है तो विभीषण को रात के काफी रहते जागने की आदत है। यानी यह 'बीती विभावरीजागरी' का मामला नहीं है, यह तो 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' का मामला है। निद्रा का लंबा होना जरूरी नहीं है, गहरा होना जरूरी है। निद्रावधि का कोई नियत पैमाना नहीं है। निद्रावश्यकताएं एक बड़ी हद तक वैयक्तिक हैं। विभीषण का 'बॉडी क्लॉक' कुछ इसी तरह से नियत हुआ होगा।

विभीषण जागते ही राम राम का स्मरण करते हैं। विभीषण को नही मालूम कि कोई उन्हें 'वाच' कर रहा है। विभीषण का राम-सुमिरन दिखावे के लिए नहीं है। मलूकदास ने कहाः 'सुमिरन ऐसा कीजिये, दूजा लखै न कोय/ओंठ न फरकत देखिये, प्रेम रखिये गोय'। विभीषण का भी स्मरण कुछ ऐसा ही होगा, हनुमान मनोपाठ में निष्णात होंगे तो उन्होंने बूझ लिया। वैसे भी ईस्थर हिक्स आदि का एक सिद्वान्त है कि You are manifesting the essence of what you are thinking about. कि तुम जो सोच रहे होते हो, उसके सार को प्रकट भी कर रहे होते हो। तुलसी यह नही कहते कि राम नाम का उच्चारण किया या जाप किया। वे कहते हैं, स्मरण किया। छांदोग्योपनिषद् (7/13(1)) ने कहा :'स्मरो वावाकाशाद् भूयः स्मरण ही आकाश की उपेक्षा उत्कृष्ट है। यह बड़ा रहस्यमय कथन है। सिर्फ स्वर ही आकाश में नहीं व्यापता, सिर्फ वाणी ही स्पेस को नहीं छाती। स्मरण आकाश (स्पेस) को भी उत्तीर्ण कर जाता है। स्वर तो फिर भी शारीरिक है, उसकी तरंगों की प्रभविष्णुता की फिर भी एक सीमा है। लेकिन स्मरण की मनस्क्रिया, उसकी मानस- तरंगें- जो देह की सीमाओं से आबद्ध नहीं हैं- वे किस सीमा तक जाती होंगी, अभी तक पता नहीं चल सका। हनुमान तक तो वे गयी हीं। स्मरण की अपनी विद्युत् होती है। हनुमान के साथ विभीषण का कुछ कम्पनात्मक सहयोजन (Vibrational alignment) सा हुआ लगता है। जप में तो फिर भी 'ध्वनि' होती है। रूप गोस्वामी ने भक्ति रसामृत सिंधु (पूर्व विभाग 2/49 कारिका) में जप की परिभाषा ही यह दी कि- 'मंत्रस्य सुलघूच्चारो जप इत्याभिधीयतेः कि मंत्र का मंद स्वर से उच्चारण करना 'जप' कहलाता है। इसलिए जप तो फिर भी 'सेंसरी' है। स्मरण की उर्जा का संघनन और प्रसरण के आयाम तो एकदम अलग है। तुलसीदास जी ने "जपहि नाम जन आरत भारी/मिंटही कुसंकट होहिं सुखारी।" स्मरण तो 'वाक्' की शक्ति से कुछ विशेष ही है। सुमिरन को कुरान में 'धिक्र' (Dhikr) कहा गया है। सूरत अल बक़ारा में अल्लाह का कथन यों आया हैः "मेरा सुमिरन करो और मैं तुम्हारा स्मरण करूंगा। तुलसीदास ने रामचरितमानस में यह भी कहाः "कबहूँ

काल न व्यापिहितोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही।।" कुरान के अनुसार सुमिरन हृदय की पॉलिश कर देता है। बुखारी के अनुसार, अबू मूसा-अल-अशंरी ने बताया कि पैगंबर ने कहाः सुमिरन करने और न करने वाले के बीच जिंदा और मुर्दा का फर्क है। इब्न अब्बास ने कहाः अल्लाह ने हर 'आब्लिगेशन' की एक सीमा तय की है, सुमिरन की नहीं। अतालिया-अस-सकंदरी ने कहाः The best way to approach His presence is by reciting the Name "Allha," in the heart or on the tongue, or by reciting any of His Name (मिफ्ताह-अल-फलाह)। अल्लाह ने कुरान में एक सूरे में कहा : And remember the Lord in the self with humility and fear, and without loudness of speech, in the mornings and evenings. विभीषण वही कर रहे हैं। बिना "लाउडनेस आफ स्पीच" के स्मरण। आयशा में अल्लाह की ओर से यह आया है कि मौन सुमिरन "लाउड" स्मरण से 70 गुना ज्यादा अल्लाह को पसंद है।

मानवीय जीवन एक तरह के एम्नेशिया में रहता है। आदमी इस सांसारिकता के बहाव में विचलित हो जाता है। भूल जाता है कि उसका जीवन ईश्वर के कमांड में है। तरह तरह की भ्रांतियों और आत्म-छलनाओं वह जब देखो तब फँसा रहता है। यह विस्मरण ही पाप का आधार है। यही है तम की मैट्रिक्स। इस विस्मरण का अर्थ ही है ईश्वर से पार्थक्य। इस विस्मरण से ही घटती है सारी दुर्घटनाएं। अलेक्जेंडर सोल्झेनिल्सिन ने कहीं कहा है : Over half a century ago, when I was still a child. I recall hearing a number of older people offer the following explanation for the great disasters that had befallen Russia: "Men have forgotten God; that's why all this is happening." Since then I have spent will-nigh fifty years working on the history of our revolution. In the process. I have read hundreds of books, collected hundreds of testimonies, and have already contributed eight volumes of my own towords the effort of clearing away the rubble left by the upheaval. But if I were asked today to formulate as concisely as possible the main cause of the ruinous revolution that swallowed up some sixty million people, I could not put it more accurately than to repeat; "Men have forgotten God; That's why all this happened." विभीषण का सुमिरन नींद से उठते ही है। इसका अर्थ ही है कि ईश्वर की स्मृति उन्हें हमेशा बनी रहती है। उनका सुमिरन अपनी अलग वाइब्रेटरी ऊर्जा रखता है, जिसका प्रभाव हनुमान को संस्पर्शित और सिक्त कर जाता है। शायद इसलिए और भी कि हनुमान भी उन्हीं संस्कारों और मनोरचनाओं के हैं जो विभीषण के हैंः भक्ति के, रामानुराग के संस्कार। अलस भोर में ईश्वर का स्मरण खुद को उससे 'कनेक्ट' करना है। उस दिव्यता के सिग्नल्स से मन की लहरों की मैचिंग। अपने मन के रेडियो को दिव्यता की उस फ्रीक्वेंसी पर "ट्यून इन" करना। अपने 'स्त्रोत' से जुड़ना। बाईबिल में (मार्क :1 : 35) एक पंक्ति आती हैः Rising very early before dawn, he left and went off to a deserted place, where he prayed. इस्लाम इसी तरह फ़ज्र की परंपरा है। अरबी में फ़ज्र का मतलब ही उषा है। उसे ईश्वर की सबसे प्रियवंदना कहा गया है क्योंकि तब अन्य सब सोए रहते हैः एस्ट्रानॉमिकल भोर सिविल भोर से फर्क रहती है। एस्ट्रानॉमिकल भोर को सामान्यतः रात में ही शुमार किया जाता है। टाइटन देवी 'इयोस' जो इसी समय की देवी है, ने अपनी "गुलाबी उंगलियों" से स्वर्ग के द्वार खोले थे। तुलसी ने साफ साफ वक्त नहीं लिखा है। हो सकता है कि रात अभी काफी बाकी हो। ये तो "तेहि समय" कहते हैं, यानी जब हनुमान मन में तर्क करने लगे। हो सकता है कि विभीषण की नींद बीच में टूट गई हो। लेकिन जब भी उनकी आंख खुलती है तो वे रामस्मरण करते हैं,

यह तय है। इसीलिए हनुमान हृदय में हर्षित होते हैं क्योंकि विभीषण के नाम स्मरण के साथ ही उसके हृदय की इनके हृदय से बात हो गई है। सिद्धांत यह है कि : As a man thinketh in his heart, so is he; विभीषण का हार्दिक सुमिरन विभीषण की सज्जनता का अनाहत संदेश हनुमान के पास ले जाता है। सुंदरदास (उक्ति अनूप पृ. 175) ने कहा थाः 'शुद्ध हृदय जाकौ भयो, उहै कृतारथ जान/ सोई जीवनमुक्त है, सुंदर कहत बखान।' विभीषण के रामनाम सुमिरन से हनुमान का हृदय उत्फुल्ल होने लगता है, क्योंकि विभीषण शुद्ध हृदय से राम-स्मरण कर रहे हैं। अपने निविड़ एकांत में बिना हनुमान की उपस्थिति से अवगत हुए, बिना उन्हें इम्प्रेस करने की इच्छा से अभिचलित हुए। क्षत्रचूड़ामणि में सज्जन की यही परिभाषा दी गई है कि सज्जन प्रत्यक्ष और परोक्ष में समान व्यवहार करते हैं : 'प्रत्यक्षे च परोक्षे च सन्तो हि समवृत्तिकाः।

अभी तक के सुंदरकांड-पाठ में हमने यह "हृदय-हरख" कितनी बार सुना है। उससे यह तो स्पष्ट होता है कि हनुमान बहुत ही 'जॉली' नेचर के हैं। लेकिन यह भी है कि उनका भीतर ही भीतर यों हर्षित महसूस करना एकदम अकारण भी नहीं होता। अभी विभीषण के घर से उन्हें काफी सकारात्मक स्पंदन महसूस हुए हैं। अब वे पहचान गए हैं कि यह कोई सज्जन व्यक्ति है। उन चिन्हों से वे चीन्ह लिए है। भास (अविमारक, 1/6) का एक श्लोक हैः "छन्ना भवन्ति भुवि सत्पुरूषा कथंचित्/ स्वैः कारणैगुरूजनैश्च नियम्यमानाः/ भूयः परव्यसनमेत्य विभोक्तुकामा/ विस्मृत्य पूर्वनियमं विवृता भवन्ति।" अर्थात् सज्जन कुछ अपने विशेष कारणों से तथा गुरूजनों के नियंत्रण से पृथ्वी पर छिपे रहते हैं परन्तु दूसरों को आपत्ति से मुक्त करने के समय अपने पूर्व नियम को त्याग कर प्रकट हो जाते हैं।" लगभग उसी तरह विभीषण प्रकट हो गए हैं। हनुमान के लिए विभीषण और विभीषण के लिए हनुमान। हनुमान की आपदा यह है कि उनके ऊपर पूरे वानर-दल की अपेक्षा का भार है और सुग्रीव की डेडलाइन भी। विभीषण की आपदा यह है कि "जिमि दसनहुँ मँह जीभ बिचारी" उसको रहना पड़ रहा है। विभीषण को राम सुमिरन करते देखकर हनुमान ने इतना तो distinguish कर लिया है कि यह रामानुरागी है और सज्जन है। दादूदयाल यही तो बोलते थेः दादू शीतल जल नहीं, हेम न शीतल होई/दादू शीतल संतजन, रामसनेही सोई।" हनुमान सज्जन होने के आधार पर पड़ताल करते हैं। लंका में तो उसी से फर्क पैदा हो जाता है। आजकल की दुनिया में भी तो कुछ ऐसा है। इसी कारण आर्थर फ्रीड ने कहा था : Don't try to be different. Just be good. To be good is different enough. इस कारण हनुमान जो अभी तक सायास और साग्रह छुपे हुए थे, अब तय कर लेते हैं कि इस व्यक्ति से पहचान की जा सकती है। यह सज्जन है, यानी ज्ञानेश्वर के शब्दों में चलां कल्पतरूचे अख/ चेतना चिंतामणीचे गांव/ बोलते जे अर्णव पीयूषाचे/ चन्द्रमे जे अलांछन/मार्तंड जे तापहीन/ते सर्वांही सदा सज्जन/सोयरे हेतु यानी चलते फिरते कल्पवृक्षों के अंकुर हैं, चैतन्य चिंतामणी का ग्राम है, अमृत का बोलता हुआ समुद्र हैं, कलंकहीन चंद्रमा हैं, तापरहित सूर्य हैं, सभी लोगों के सदा के सगे संबंधी हैं और प्रिय हैं। ऐसे सज्जन व्यक्ति से जान-पहचान करना हनुमान सुनिश्चित कर लेते हैं। परिस्थितियों के सारे तर्क इस बात के विरोध में हैं कि हनुमान अपनी पहचान उजागर करें। ठेठ लंका के बीच खड़े हैं हनुमान। मंदिर मंदिर जहँ तहँ अगनित जोधा के बीच। दशानन मंदिर के निकट, जब भोर भी होने को है। हनुमान एक 'कैलकुलेटेड रिस्क' लेने का निर्णय करते हैं। "हठि करिहऊँ" में वही deliberate intent होने का भाव है। हनुमान की यात्रा में यह एक टर्निंग पाइंट है। हनुमान एक क्रासरोड पर आकर खड़े हो गए हैं।

अब वे जानबूझकर- सोच समझकर एक फैसला लेते हैं। ईस्थर हिस्क, जैरी हिक्स और लुई हे ने 'द अमेजिंग पॉवर आफ डेलिबेरेट इंटेंट' नामक एक पुस्तक लिखी है। यह भी 'डेलीबेरेट इंटेंट' का ही मामला है जो "हठि करिहहुँ" से व्यक्त होता है।

बिप्र रूप धरि बचन सुनाए।
सुनत बिभीषन उठि तहँ आए।।
करि प्रनाम पूँछी कुसलाई।
बिप्र कहहु निज कथा बुझाई।।

हनुमान जी ने ब्राह्मण का रूप धरकर वचन सुनाए। सुनते ही विभीषण जी उठकर वहीं आए। प्रणाम करके कुशल पूछी - हे विप्र अपनी कथा समझाकर कहिए।

यह पचाना आज के दलित-चिंतकों के लिए कठिन पडेगा कि जो "अस मैं अधम सखा" कहने वाले हनुमान ही "विप्र रूप" धारण कर लेते हैं।

ब्राह्मणों और ब्राह्मणवाद के विरुद्ध घृणा का जो पूरा एक व्यवस्थित तंत्र रचा गया है, उसे हनुमान की ये अनुत्तरदायी हरकतें कैसे बर्दाश्त होंगी! उनकी 'दलिस्तान.आर्ग' नामक वेबसाइट का तो दावा यह है कि "वर्तमान शैव-सम्प्रदाय सिर्फ दलितों और आदिवासियों तक ही सीमित रह गया है। बहुत ही कम शिव मंदिर बचे हैं और ब्राह्मणवाद (वेदवाद और वैष्णववाद) उत्तरी भारत के प्रधान धर्म है। शैव संप्रदाय दक्षिण भारत में फल-फूल रहा है -तमिलनाडु में खासकर यह इस कारण से क्योंकि एक शूद्र होलोकॉस्ट (नरसंहार) हुआ था जिसके चलते देशज शूद्रों के द्वारा बनाई गई शैव सभ्यता और शैव मंदिर वैष्णव आर्यों द्वारा साफ कर डाले गए।"

इस दुष्टता की कहीं कोई स्पर्धा है क्या? उन्हें इतिहास के प्रमाण नहीं चाहिए, उन्हें पुरातात्विक साक्ष्य नहीं चाहिए, उन्हें वर्तमान के अकाट्य और प्रत्यक्ष प्रमाणों से भी कोई मतलब नहीं। उनका कथन उनके गहरे भारत-द्वेष की कंदरा से निकलता है। वे मुश्किल में पड़ ही जाते हैं जब वे शिव के अवतार हनुमान को रामकाजु में यूँ जुटे देखते हैं। 'दलित व्हाइस' नामक एक पत्रिका तो ब्राह्मणों को यहूदियों की संतान बताते हुए उन पर fanaticism और arrogance का आरोप वैसे ही लगाती है जैसे यहूदियों पर लगाए गये थे। यदि शूद्रों ने शताब्दियों अत्याचार सहे तो 1000 साल का विदेशी शासन क्या ब्राह्मणों पर कहर बन कर नहीं टूटा? क्या किसी को ख्वाजा मसूद बिन सा' द बिन सल्मान द्वारा जालंधर के युद्ध का 'दीवान-ए-सलमान पुस्तक में किया गया वर्णन याद हैः "Not one Brahmin remained unkilled or uncaptured, their heads were levelled with the ground." क्या फीरोजशाह बहमनी (1398-99) ने 2000 ब्राह्मण स्त्रियों का अपहरण नहीं किया था (तवारीख-फरिश्ता)? क्या पेरियार के वक्त ब्राह्मणों पर हिंसक आक्रमण नहीं हुए जिन्होंने उन्हें सामूहिक पलायन (मॉस माइग्रेशन) के लिए वैसे ही बाध्य कर दिया जैसे आज काश्मीरी पंडितों को कर दिया गया हैं। जजिया ब्राह्मणों पर ही प्रथमतः और प्रमुखतः लगाया जाता था। गोआ के पुर्तगालियों ने ब्राह्मणों का ही नरसंहार किया था। इतिहासकार हसन की "हिस्ट्री ऑफ काश्मीर" सिकंदर बादशाह के द्वारा ब्राह्मणों के नरसंहार का विस्तृत विवरण देती है। क्या बाबर के गवर्नर लाहौर ने पुनियाल में दत्त ब्राह्मणों को चुन चुन कर खत्म नहीं किया था?

इन दिनों बौद्धों को ब्राह्मणों से भिड़ाने की कुचालें चली जा रही हैं, बिना यह जाने कि वसुबंधु सारिपुत्र, कश्यप, शांतिदेव, नागार्जन, अश्वघोष, बुद्धघोषाल, कुमारजीव, नागसेन, बोधिधर्म आदि बौद्ध विद्वान ब्राह्मण ही थे। जब धम्मपाद में बुद्ध का यह मन्तव्य लिखा गया किः- न जटाहि न गोत्तेन न जञ्या होति ब्राह्मणो/ यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुखी सो च ब्राह्मणो/झायिं विरजम् आसीनं कतकिञ्जम् अनासवं/उत्तमत्थम् अनुप्पतं् तम् अहं ब्रूमि ब्राह्मणं। न जटा से, न गोत्र से, न जाति से कोई ब्राह्मण बनता है। ब्राह्मण वह है जिसमें सत्य और धर्म रहता है, वही पवित्र है। मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं जो ध्याता है, वासनाओं से मुक्त है, स्थिर, पूर्णकार्य है, निर्दोष है और जो उच्चतम ध्येय को प्राप्त कर चुका है। (26/11, 26/12)

आगे, पुब्बेनिवासं यो वेदि सग्गापायंच पस्सति/ अथो जातिक्खयं पत्रो। अभिञजावोसितो मुनि/ सब्बवासितवसानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।। मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं जो अपने पूर्व अस्तित्वों को जानता है, जो स्वर्ग और नर्क देखता है, जो अस्तित्वों के आखिरी छोर पर पहुंच चुका है, जो ऐसा ऋषि है जिसका ज्ञान पूर्ण है और जो समस्त प्राप्तव्य को उपलब्ध हो चुका है।

और, थेर गाथा में कहा गया कि- न ब्राह्मणो बहिवण्णो, अन्तो वण्णोहि ब्राह्मणो। (21/40) अर्थात् बाहर के दिखावे (वर्ण) से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अन्तर की शुद्धि(वर्ण) से ही ब्राह्मण होता है। और

उदान (1/9) में कहा गयाः- 'य उदकेन सुची होती, बहवेत्थ न्हायती जो' कि स्नान तो बहुत लोग करते हैं परन्तु पानी से कोई शुद्ध नहीं होता।

लेकिन क्या यह कोई ऐसी बात थी जो तत्कथित ब्राह्मणवाद के द्वारा पूर्व में ही नहीं कही गयी हो। वेदव्यास ने महाभारत के वन पर्व 313/111 में जो यह कहाः 'चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते/योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः। चारों वेद पढ़ा होने पर जो दुराचारी है, वह अधमता में शूद्र से भी बढ़कर है। जो अग्निहोत्र में तत्पर और जितेन्द्रिय है, उसे ब्राह्मण कहा जाता है। विष्णुपुराण (318/24) मे जो कहाः "मैत्री समस्त भूतेषु ब्राह्मणस्योन्तयं धनम्" कि सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव ही ब्राहाण का उत्तम धन है, क्या वह उपेक्षणीय है? या यह कथन कि 'विद्यया याति विप्रत्वं' विद्या से विप्रत्व को पाता है। जयशंकर प्रसाद ने चंद्रगुप्त में ब्राहाण की जो परिभाषा प्रथम और चतुर्थ अंक में दी वह इसी 'ब्राह्मणवादी' जीवन- परंपरा का निचोड़ हैः- "ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है, और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है, प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है- त्याग और क्षमा, तप और विद्या, तेज और सम्मान के लिए है- लोहे और सोने के सामने सिर झुकाने के लिए हम लोग ब्राह्मण नहीं बने हैं।" "मैं ब्राह्मण हूं। मेरा साम्राज्य करूणा का था, मेरा धर्म प्रेम का था, आनंद समुद्र में शांति-द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण मैं, चंद्र-सूर्य नक्षत्र मेरे द्वीप थे, अनन्त आकाश वितान था, शस्य श्यामला कोमला विश्वंभरा मेरी शय्या थी। बौद्धिक विनोद कर्म था, संतोष धन था। मेघ के समान मुक्त वर्षा-सा जीवनदान, सूर्य के समान अबाध-आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना, यही तो ब्राह्मण का आदर्श है।"

हनुमान इसलिए बार-बार विप्र बनते हैं। वे वाकई अमृत होकर जीते हैं, वे स्वेच्छा से माया-स्तूपों को ठुकराते हैं, वे लोहे और सोने के सामने सिर नहीं झुकाते। कई बार उनके संदर्भ में आया हैः 'बिप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊँ,' या 'बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जिमि पोत'। विप्र का अर्थ मेधावी भी होता है और शुभकर्ता भी। लेकिन ब्राह्मण के रूप में एक वर्ग-विशेष का अर्थ देने से पहले एक व्युत्पतिशास्त्रीय अर्थ वप्+र अर्थात् साधु के रूप में है। मनुस्मृति में विद्वान और तपस्वी मुनि के लिए विप्र शब्द का प्रयोग हुआ है।

इसलिए जब पालिग्रंथ 'स्पुत्तनिपात' में यह कहा गया कि 'न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणे/ कम्मुना वहलो होति कम्मुन्ना होति ब्राह्मणो" (1/7/27), तो उसे ब्राह्मणवाद के विरुद्ध क्रांतिकारी उद्घोष के रूप में महिमामंडित करने से पहले यह देखना चाहिए कि स्वयं तथाकथित ब्राह्मणवाद भी बहुत पहले से यही कह रहा थाः- 'न जात्या न कुलेनैव श्रेष्ठव्यं प्रतिपद्यते' (शुक्रनीति 2/56)। यह भी देखना चाहिए कि जाति के लिए डॉ. अम्बेडकर जितने तिरस्कार से भरे हैं, विनायक दामोदर सावरकर भी उससे कम नहीं हैः "वस्तुतः आज की जातियों में से हजारों उपजातियाँ केवल प्रान्त, भाषा, धर्म-मत अथवा खान-पान, जैसे मुर्गा व बकरा खाना, शाकाहार खाना, शाकाहार करना, लहसुन-प्याज़ खाना, तम्बाकू खाना पीना, खड़े खड़े बुनना या बैठे बैठे बुनना, चंदन का पात्र पटक देना या पक्षी के अण्डे पर पांव रख देना आदि वाहियात एवं बचकाने कारणों से अस्तित्व में आयी हैं। इस जाति-बहिष्कार के खड्ग ने एकात्म-एकजीव-अखंड राष्ट्र शरीर के टुकड़े टुकड़े करके उसे हजारों खण्डों में विभक्त कर दिया है।" मजा देखिए कि जो परंपरा अनासक्ति और निर्वेद की थी, उसको शोषक बताने के कैसे कैसे कुचक्र रचे गए। ऐसी परंपरा कि जो अहं यः स भगनेव यस्त्वं सोऽहं सनातनः (विष्णु पर्व, 14/48, हरिवंशपुराण) के सिद्धांत को प्रचारित करती थी कि "जो मैं हूं, वह आप ही हैं, जो आप हैं, वह सनातन पुरूष मैं ही हूं," जो तेजोबिन्दु उपनिषद् (2/39) में यह कहती आई थीः सर्व चिन्मात्रमेव कि सब कुछ चैतन्य मात्र ही है- जिस परंपरा ने कबीर को यह

कहने का - कि "हम सब मांहि, सकल हम माहि 'और रैदास को यह कहने का कि 'तोही मोही, मोही तोही, अंतरू कैसा- विश्वास दिया, उसे दलितों का दुश्मन बताया गया। जो परंपरा यह कहती थी कि 'यो हि यस्यान्न मश्नाति स तस्याश्नाति किल्विषम्" कि जो जिसका अन्न खाता है, वह उसका पाप भी खाता है'; उस परंपरा को दूसरे के मुंह का निवाला छीन लेने का आरोपी बनाया गया। जिस परंपरा में विप्र को अकिंचन होना सिखाया गया हो- 'अनन्तसुखमाप्नोति तद् विद्वान यस्त्वाकिंचनः' कि जो अकिंचन है, वह विद्वान अनन्त सुख पाता है- उस परंपरा को इस बात के लिए जिम्मेदार ठहराया गया कि जो पददलित हैं, जो पीड़ित है, उनकी दुर्दशा का दायित्व इन्हीं लालची पेटू ब्राह्मणों का है। ऐसे में (CPIML) का यह दावाः-कि Brahmanism is an ideology of graded inequality and oppression. Its origins lie in the Vedic period, thousands of years ago. A class that has emerged and established its rule, "ब्राह्मणवाद श्रेणीकृत असमानता और दमन की विचारधारा है। इसकी उत्पत्ति वैदिक काल में हजारों साल पहले हुई। एक वर्ग उभरा और उसने अपनी सत्ता स्थापित की" :- हास्यास्पद और अनपढ़ लगता है। देखें कि इस एक बिन्दु पर साम्राज्यवादी और मार्क्सवादी, दलित चिंतक, मिशनरी और अल्पसंख्यकवादी सब एक हो जाते है। गेल ओम्वेद मिल्ली गजट में 'हावी' ब्राह्मणवाद के विरुद्ध मुस्लिम दलित एकता की वकालत इस आधार पर करते हैं कि बौद्ध धर्म की पराजय के बाद इस्लाम ने ही भारत में शताब्दियों तक समानता (egalitarianism) और बंधुत्व (ब्रदरहुड) के मूल्यों को जिंदा रखा। सैय्यद शहाबुद्दीन भी मिल्ली गजट में दलित-मुस्लिम गठजोड़ की संभावनाओं की चर्चा करते हैं और इस बात पर दुःख जताते हैं कि 'शूद्र ब्राह्मनिकल व्यवस्था में ही एकोमोडेशन चाहते हैं, समानता के मूल्य इन भले मानुसों के लिए उस वेद में नहीं है जो यह कहता है: "असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उदवतः/ प्रवतः समंबेहु." (हमारी मातृभूमि में रहने वालों में ऊंचनीच की असमानता नहीं है। समता बहुत है।), 'वसुधैव कुटुंबकम' के सिद्धांत में इन्हें बंधुता नहीं दिखती, उन्हें शंकराचार्य के उस उद्घोष में 'मूल्य' नहीं दिखता कि It has been established that every one has the right to the knowledge and that the supreme goal is achieved by that knowledge alone. कि "यह स्थापित सत्य है कि प्रत्येक को ज्ञान का अधिकार है और महत्तम लक्ष्य ज्ञान मात्र से ही प्राप्त किया जाता है।" (भाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद् 2.2) यह व्यक्ति तुलसीदास जो स्वयं "बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन जानत हो चारिकल चारि ही चनक को," (कवितावली) की स्थिति में किसी ऐसी परंपरा का, यदि वह वाकई रही होती तो, समर्थन कैसे कर सकता था? तुलसी से ज्यादा मारा मारा कौन फिरा? जो स्वयं "द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पा हूँ" (विनय पत्रिका 275) वह सर्वहारा के साथ खड़ा ही होगा। जो "फिर्‌यौ ललात बिनु नाम उदर लगि दुखड दुखित मोहि हेरे" (विनय पत्रिका 275) था, उसमें किसी लुटेरी व्यवस्था का साथ देने की इच्छा का दुराग्रह क्यों होगा जबकि वह पूरे जीवन-भर 'संतन' को 'सीकरी' से 'काम' न होने की मान्यता पर चलता है। वह सर्वहाराओं के उन स्वनामधन्य शुभ 'चिंतको' में नहीं था जो व्यवस्था के उच्छिष्ट पर पलते हैं। वह सच्चा ब्राह्मण था जो 'भिक्षां देहि' का जीवन किसी बाहरी निर्देश से नहीं जिया, बल्कि अपने हालात और हकीकतों के के कारण जिया। जिस तरह से ये सभी 'बंधु' एक हुए हैं, उससे इतना तो स्पष्ट है कि ब्राह्मणवाद की बोगी से इनके जरूरत कुछ हित सधते हैं। अन्यथा क्रूसेड, विच ट्रायल्स इनक्वीजीशन, जेनोसाइड, उपनिवेशवाद, एटम-बम, स्लेवरी, नव-साम्राज्यवाद, जजिया, ईजियन द्वीप में इस्लामी आक्रामकों द्वारा 27,000 ईसाइयों का नरसंहार, कांस्टिनटिनोपल से लेकर दिल्ली तक मध्यकालीन मुस्लिम आक्रामकों के सामूहिक हत्याकांड, 1840-1860 के बीच खलीफाओं के हत्याकांड (1847 में 30,000

असीरियन क्रिश्चियनों को मार डालना, लेबनान, दैर-अल- कमार, जाजिन, हस्बैया, राशय्या, जाह्ला दामस्कस के भयावह नरसंहार जहां पहले ईसाइयों को शस्त्र जमा करने को कहा गया और बाद में सामूहिक किलिंग में 'रस' लिया गया), 1870 के दशक के बाल्कन-हत्याकांड (जहां कभी 12,000 ईसाई एक साथ मार डाले गए, तो कभी 9000), 1890 के दशक के नरसंहार (जहां कभी इंस्तंबूल में 6000 आर्मीनियन ईसाइयों को) 'बूचर' किया गया तो कभी 3 लाख असीरियन ईसाइयों का 24 अप्रैल 1915 से शुरू हत्याकांडों की श्रृंखला (जब आटोमन मुस्लिम शासकों द्वारा 15 लाख आर्मीनियनों और 2.50 लाख असीरियनों की हत्या की गई); हिरोशिया, नागासाकी लेनिन-स्टालिन के रूस, माओ के चीन, कम्पूचिया में 'ड्राप इयर', नक्सली नरसंहार - ये सब समानता (egalitarianism) और बंधुत्व (brotherhood) के वाकई ऐसे उदाहरण हैं जिन्हें वैदिक समय से लेकर अभी तक ब्राह्मणवाद कभी जिंदा नही रख पाया, लेकिन जिन्हें इन 'बंधुओं' ने कभी खत्म न होने दिया। इस परिप्रेक्ष्य में पुनः CPI(ML) के उस कथन के अगले हिस्से को पढ़िए- Its outlook of graded superiority and inferiority has infected, to a greater or lesser degree, each and every caste and religious community. कि 'इसके श्रेणीकृत श्रेष्ठता और हीनता के दृष्टिकोण ने ज्यादातर और कमतर रूप में मगर हर जाति और धार्मिक समुदाय को संक्रमित किया।' यहां "Its" का अर्थ ब्राह्मणवाद से है। लेकिन 'ईच' एवं 'एवरी' पर ध्यान दें और ध्यान दें 'रिलीजस कम्युनिटी' शब्द पर। माने यह कि ऊपर गिनाए गए इन सारे शुभकामों के लिए भी ब्राह्मणवाद ही जिम्मेदार रहा होगा- यदि इनकी मानें तो। बुद्धि के ये जमींदार आगे कहते हैं : Marx has spoken about this advance as a process involving the elimination of all classes and class distinctions generally, all the relation of production on which they rest, all the social relations corresponding to them, and all the ideas that result from these social relations. This understanding was further deepend by Mao Tse Tung, especially through the Great Proletariat Cultural Revolution. In India, the task of continuing the revolution, all the way up till communism, is crucially dependent on advancing and deepening the struggle against Brahmanism and its concrete manifestations. अर्थात, "मार्क्स ने इस प्रगति को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में बताया जो सभी वर्गों और वर्ग विशिष्टताओं को सामान्य तौर पर समाप्त करती है, सभी उत्पादन-संबंध जिन पर वे निर्भर हैं, उससे मिलते सभी सामाजिक रिश्ते, और सभी विचार जो इन सामाजिक रिश्तों का फल हैं। यह समझ आगे माओ-त्से-तुंग द्वारा गहरी की गई, खासकर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के जरिए। भारत में क्रांति को जारी रखने का काम- साम्यवाद के लक्ष्य तक- ब्राह्मणवाद और इसके ठोस स्वरूपों के विरुद्ध संघर्ष को बढ़ाने और गहरा करने पर अत्यंत महत्वपूर्ण रूप से निर्भर है।" तो यह स्पष्ट है कि ब्राह्मनिज्म़ रावण के समय से ही एक ऐसी सत्ता रहा है जिससे और जिसके मूर्त प्रतीकों से संघर्ष किए बिना न तो उनकी प्रगति (advancing) होती है, न 'खुदाई' (deepening)। उनकी यानी शेष सभी "समानता" और "भाईचारे" की विचारधाराओं की। सोचिए तो कहां उनके पास स्टालिन, किम-इल-सुंग, माओत्सेतुंग, होचीमिन्ह, पोल पोट जैसे लोग हैं और ये 'ब्राह्मनिकल व्यवस्था जिसमें कभी वशिष्ठ, कभी विश्वामित्र, कभी शंकराचार्य, कभी कणाद, कभी चाणक्य हुए ! पढ़ें, स्टीवन रोसफील्ड की पुस्तक 'रेड होलोकॉस्ट'। पढ़ें, अलेक्ज़ेण्डर याकोवलेव का वह निष्कर्ष; "The truth is that in punitive operations, Stalin did not think up anything that was not there under Lenin: executions, hostage taking, concentration

camps, and all the rest." अर्थात "सत्य यह है कि दंडात्मक अभियानों ने स्टालिन ने ऐसा कुछ अतिरिक्त नहीं सोचा जो लेनिन के समय नहीं था : हत्याएं, बंधक बनाना, यातना शिविर और अन्य चीजें।" तो लेनिन थे इन सब भयावहताओं के जनक। 'मर्डर्स बाई गवर्नमेंट' पुस्तक के लेखक रूडोल्फ जोसेफ रमेल का निष्कर्ष है : Of all religions, secular and otherwise, Marxism is by for the bloodiest-bloodier than the Catholic Inquisition, the various catholic crusades, and the Thirty Years War between Catholics and Protestants. In practice, Marxism has meant bloody terrorism, deadly purges, lethal prison camps and murderous forced labor, fatal deportations, Man-made famines, extrajudicial executions and fraudulent show trials, outright mass murder and genocide. अर्थात "सभी धर्मों में, चाहे वे पंथनिरपेक्ष हों या अन्य, मार्क्सवाद सबसे ज्यादा खूनी था, कैथोलिक सूलियों, विभिन्न कैथोलिक जिहादों, प्रोटेस्टेंटों और कैथोलिकों के बीच चले तीस वर्षीय युद्ध आदि से ज्यादा खूनी। व्यवहार में मार्क्सवाद का अर्थ था खूनी आतंकवाद, रक्तरंजित "शुद्धि" अभियान, नाशक कैद-शिविर, हत्यारे जबरिया श्रम शिविर। मार डालने वाले निर्वासन, मनुष्य-निर्मित अकाल, न्यायप्रणाली के बाहर के वध, छल पूर्ण दिखाऊ मुकदर्म, शुद्ध नरसंहार, वृहद पैमाने पर हत्या कर्म।" ध्यान दें, इन सबसे खूनी उदाहरणों में ब्राह्मणवाद का एक भी उदाहरण नहीं। जिन माओ के लिए CPI (ML) इतनी उतावली हुई जा रही है, उनके बारे में अब जो अधिकृत अध्ययन सामग्री मिलती है वह बताती है कि उन्होंने 1948 में ही गणना कर ली थी कि "One-tenth of the peasants (or about 50,000,000) would have to be destroyed." यानी "किसानों का दसवां हिस्सा (यानी पांच करोड़) नष्ट कर देने पडेंगे।" पांच करोड़ लोगों को नष्ट कर देने की गणना करने वालों को आदर्श मानने वालों को ब्राह्मणवाद से संघर्ष करना तो जरूरी लगेगा ही। तो हनुमान विप्र के ही रूप में खड़े होने का एक साग्रह और सुचिंतित निर्णय लेते हैं। रावण के राज में विप्र रूप में खड़े होने का दुस्साहस! वह विप्र जो 'भूख रूपी रोग की चिकित्सा भिक्षा रूपी औषधी खाकर करता है।' (क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यताम्)। वह जो विद्या से विप्र बना है। हमारे यहां तो कई लोगों के दिल पर इसी बात पर सांप लोट जाए कि हनुमान विप्र ही क्यों बने, कुछ और क्यों नहीं। लेकिन हम पहले ही विप्र का अर्थ स्पष्ट कर चुके हैं। हनुमान विभीषण के स्वभाव का पूर्वानुमान करके ही विप्र बने हैं। जैसे इनका 'एसेंस' है, वैसा उनका रूप है। लेकिन आजकल जिस तरह की सनकी और तर्कातीत दलित चर्चा चलती है, उसमें इसे यदि हनुमान का पूर्वाग्रह नहीं तो तुलसी का शूद्र-विरोधी और ब्राह्मणवादी रूख जरूर कहा जाएगा। वी.टी.राजशेखर तो "ब्राह्मनिज़्मः फादर आफ फासिज़्म, रेसिज्म, नाज़िस्म "नामक अपनी पुस्तक में ब्राह्मणवाद को फासीवाद, नाज़ीवाद और नस्लवाद का पिता बता चुके हैं तो क्या वे तुलसी को बख्शेंगे। हद दर्जे की बौद्धिक बेईमानी से ग्रस्त इन लोगों के सामने यह एक व्यक्ति खड़ा है। श्री राजशेखर ब्राह्मणवाद को नस्लवाद का पिता कहते हैं जबकि डॉ. आम्बेडकर का कहना था कि पंजाब का ब्राह्मण और पंजाब का चमार एक ही स्टॉक के हैं। जाति प्रथा एक ही नस्ल के लोगों का सामाजिक विभाजन हैं। आंद्रे बेटले जैसे समाजशास्त्रियों ने जाति को नस्लवाद का रूप बताने को 'राजनीतिक रूप से mischievous कहा था। श्री राजशेखर और CPI (ML) से बेहतर तो पाकिस्तानी-अमेरिकन समाजशास्त्री आयशा जलाल हैं जिन्होंने 'डेमोक्रेसी एंड अथोरिटेरियनिज़्म इन साउथ एशिया' पुस्तक में निष्कर्ष निकाला है : As for Hinduism, the hierarchical principles of the Brahminical social order have always been contested from within Hindu society, suggesting that equality has been and continues to be both valued and

practiced. अर्थात "जहाँ तक हिंदूवाद का संबंध है, ब्राह्मनिकल सामाजिक व्यवस्था के अधिक्रम-आधारित सिद्धान्तों को हमेशा हिंदू समाज के भीतर से ही चुनौती दी जाती रही, जिसका अर्थ यह है कि उसमें समानता की कीमत समझी भी जाती रही और उसका व्यवहार भी किया गया।" यह तो अंग्रेजों का अज्ञान था जिन्हें हिंदुओं के लिए किसी 'लॉ-बुक' की तलाश थी और उन्होंने मनुस्मृति को हिन्दुओं की 'ला-बुक' बता दिया। वरना मनुस्मृति ढेरों स्मृतियों में से बस एक स्मृति थी। दक्षिण भारत में तो वैसे भी उसे कोई जानता नहीं था। जिस वैदिक पीरियड को CPI (ML) कोस रहा है, स्वयं डॉ. आम्बेडकर उसमें जाति प्रथा नहीं ढूंढ पाए थे। जार्ज एल हार्ट ने अपनी पुस्तक 'अर्ली एविडेंस फॉर कास्ट इन साउथ इंडिया' में जाति को ब्राह्मणों से पहले अस्तित्व में आया बताते हैं। प्रारंभिक तमिल ग्रंथ समानता की अवधारणा पर बात करते हैं। संत वल्लूवर कहते हैं 'पिरापोकुम एला उयुर्कुम' यानि जन्मतः सब बराबर हैं। संत ओवैयार का कहना था कि दुनिया में दो ही जाति हैं। एक, जो सकारात्मक योग देती हैं। दूसरी जो नकारात्मक योगदान करती है। फाह्यान ने बहुत से शूद्र राजा अपनी यात्रा में देखे थे और उसे कोई दमनात्मक जाति-'व्यवस्था' देखने को नहीं मिली। बाद में भी अनेक विद्वानों ने जातिप्रथा को गत्यात्मक और लचीली पाया। महाभारत के अनुसार शूद्रों की सेना होती थी। स्त्रोत सूत्र के अनुसार शूद्र सैनिक अश्वमेध यज्ञ के पवित्र घोड़े को लेकर चलता था। राजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ के वक्त शूद्रों को सम्मानित अतिथियों की तरह बुलाया। भविष्य पुराण एक दर्जन शूद्र ऋषियों की सूची देता है। महाभारत के अनुशासन पर्व में शूद्र ऋषियों की सूची है। जैमिनी ब्राह्मण और तैतिरीय संहिता के अनुसार राजा को चारों वर्णो-शूद्र समेत-का समर्थन प्राप्त करना बाध्यकर था। महाभारत के अनुसार शूद्र यज्ञ करते थे और भिक्षा भी देते थे। उनका भी उपनयन होता था और उनके भी संस्कार थे। शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से ऋग्वेद की कुछ ऋचाएं क्षत्रिय राजाओं ने भी प्रणीत की थी। राजा सुदास और राजा पैजवन शूद्र थे। यदि "परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वथावजम" को किसी तरह की हेठी शूद्रों के लिए माना जाता है तो यह व्याख्या की गलती है? आज की तारीख में वह 'सर्विस सेक्टर' के रूप में चीन्हा जाता है। राजा दशरथ की पत्नी सुमित्रा को शूद्र बताया जाता है। यानी कथित रूप से शेषनाग के अवतार लक्ष्मण और तेजोमूर्ति शत्रुघ्न के रक्त में यह अनुतत्व था। योग उपनिषद ने तो वर्ण का भी विरोध किया था। जब युवान च्वांग दक्षिण भारत की यात्रा पर था तो उसने देखा कि जाति प्रथा बौद्धों और जैनों में भी थी। जाति के लिए अंग्रेजी शब्द 'कास्ट' पुर्तगाली शब्द 'कोस्टा' से लिया गया है जिसका अर्थ होता हैः ब्रीड या रेस। लेकिन भारत में विभिन्न जातियों की ब्रीड या रेस तो एक ही है। हनुमान जब विप्र का रूप धारण करते हैं तो मौके की नज़ाकत को देखकर करते हैं। वे परिस्थितियों की मांग का उत्तर दे रहे हैं। ऐसा नहीं है कि उन्हें अन्य वर्णो/जातियों के रूप से परहेज है। फिर विप्र एक तरह से विद्याध्यायी है, तो लगता है; उन्होंने किसी पढ़ाकू-से दिखने वाले व्यक्ति का रूप धारा होगा। वह रूप धारकर उन्होंने मन को मीठे लगने वाले वचन कहे। हनुमान की वाणी से राम भी प्रभावित हो गए थे। ऋग्वेद में कहा गया है कि 'सक्तुमिव तितडना पुनन्तो/यत्र धीरा मनसा वाचमकृत/ अत्रा सखायः सख्यानि जानते/भद्रैषां लक्ष्मीर्निहितरधिवाचि' कि जैसे सत्तू को सूप से परिष्कृत करते हैं, वैसे ही मेधावी जन अपने बुद्धिबल से परिष्कृत की गई भाषा को प्रस्तुत करते हैं। विद्वान लोग वाणी से होने वाले अभ्युदय को प्राप्त करते हैं, उनकी वाणी में मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है। (10/71/2) हनुमान की वाणी में इतनी शुद्धता थी कि राम उसमें व्याकरण की कोई त्रुटि नहीं ढूंढ पाये थे। गंग कवि (गंग कवित्त, 396) ने कहा था : 'आदमी को मोल एक बोल में पिछानिये; राम ने हनुमान के महत्व को उनके वचन से ही पहचाना था। यहां भी हनुमान 'सुहाने' वाले मधुर और कोमल वचन बोलते हैं। ये वे मधुर वचन नहीं है जो हमारी रिसेप्सनिस्ट

या एयरहोस्टेस बोलती हैं। यहां तो हनुमान खुद ही 'रिसीव' किये जाने की प्रतीक्षा में है। कान्वेंट में सिखाये जाने वाले 'स्वीट स्पीच' के दस मैनर्स- सॉरी, प्लीज़, थैंक्स- की बात यह नहीं है। औपचारिकताएं तो उद्घाटित हो जाती हैं। लेकिन वाणी-माधुर्य जो हृदय की सरलता का परिपाक होता है, वही विभीषण जैसे संत को सुहा सकता है। वेदों ने वाणी की इस मधुरता पर बहुत बल दिया है। अथर्ववेद (1/34/2) की प्रार्थना हैः 'जिव्हायाः अग्रे मधु मे जिव्हामूले मधूलकम्'- मेरी जीभ के अग्र भाग में मधुरता रहे। मेरी जीभ के मूलभाग में मधुरता रहे। अथर्व आगे भी कहता हैः 'सम्यंच सव्रता भूत्या वाचं वदत भद्रया' अर्थात् सौहार्द वाले, समान व्रतवाले होकर भद्र भाव से वचन बोलो'। इन निर्देशों का हनुमान यहां पालन कर ही रहे हैं। सौहार्द उनमें उत्पन्न हो ही गया है। 'हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा'। उनका और विभीषण का व्रत भी समान है। दोनों को एक ही टेक लगी हुई है। अथर्व (1.34.3) मे 'वाचा वदामि मधुमद्' की बात करता है। इसकी भी कि 'मधोरस्मि मधुतरो मधुधनमधुमत्तरः' (1.34.4) सामवेद (610) की प्रार्थना हैः 'मा वो वचांसि परिचक्ष्याणि वोचम्' (हे देवो! मैं तुम्हारे द्वारा न सुनने योग्य वचन न बोलूं)। हनुमान जब पहले पहले राम-लक्ष्मण का परिचय प्राप्त करने के लिए, सुग्रीव के निर्देश पर, उनके पास पहुंचे तो उनकी मधुर वाणी सुनकर राम ने लक्ष्मण से कहाः 'संस्कार क्रम सम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्/ उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्' कि ये संस्कार और क्रम से सम्पन्न, अद्भुत, अविलंबित तथा हृदय को आनंद प्रदान करने वाली कल्याणमयी वाणी का उच्चारण करते हैं। (वाल्मिकि रामायण, किष्किंधाकांड, तृतीय सर्ग, 32)। इसके तुरत बाद वे यह भी कहते हैं कि 'अनया चित्रंया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया/ कस्य नाराध्यते चित्तमद्यतासेररेरपि': हृदय, कंठ और मूर्धा- इन तीनों स्थानों द्वारा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होने वाली इनकी इस विचित्र वाणी को सुनकर किसका चित्त प्रसन्न न होगा। वध करने के लिए तलवार उठाये हुए शत्रु का हृदय भी इस अद्भुतवाणी से बदल सकता है।' बाइबिल में जो यह कहा गया कि 'Keep the toungue from evil, and thy lips from speaking guile'. हनुमान भी अपनी वाणी को दुष्टता और छल से मुक्त रखते हैं। उनके वचन उनके हृदय का दर्पण हैं। हनुमान विप्र बने तो वचन से ही अपना आकर्षण रचते है। शतपथ ब्राह्मण ने "वाग्वै ब्रह्म" कहा था तो यह ब्राह्मण वाक् का ही जादू रचता। उन्होंने कुछ वचन बोले। क्या बोले, तुलसी इसका उल्लेख नहीं करते। वाल्मीकि के यहां यह प्रसंग ही नहीं है। अध्यात्म रामायण में भी नहीं है। इसलिए हनुमान क्या बोले होंगे, अनुमान ही किया जा सकता है। लेकिन जैसा कि शतपथ ब्राह्मण ने कहाः 'वाचो वा इदं सर्व प्रभवति'-वाणी से ही यह सब उत्पन्न होता है, तो हनुमान के वचनों से ही विभीषण के यहां हलचल हुई। मलूकदास ने कहा थाः 'मानुष बैठे चुप करे, कदर न जाने कोय/ जबहीं मुख खोलै कली, प्रगट बास तक होय' तो हनुमान जैसे ही मुखरित हुए, उनकी उपस्थिति की सुगंध विभीषण तक पहुंच गई। विभीषण उसे सुनते ही उठकर वहां आए : उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरंन्निबोधतः Arise! awake! seek out the great ones, and get understanding. कथा उपनिषद् का आव्हान्। हनुमान क्या 'वेक अप' काल दे रहे थे? हो सकता है। इसके पूर्व तक विभीषण भक्ति का स्वप्न देख रहे हों। मीठा-सा इक ख्वाब। लेकिन भक्ति को शक्ति की जरूरत है। प्रातः की, ऊर्जा की। हनुमान विभीषण को उसी ऊर्जा की ओर ले जाएंगे। जेब डिकर्सन ने कहीं कहा है : I can see the orange haze on the horizon as the morning exhales a yawn, and seems to be ready to rise. उठना अवसर की मधुर खुशबू को लेना है। और लगता है विभीषण या तो सुबह बहुत जल्दी जगते हैं या हनुमान ने उन्हें आधी निद्रा में जगा दिया। लेकिन नींद टूटने पर विभीषण क्रुद्ध नहीं होते। वे झुंझलाते भी नहीं। अभी 14 जून, 2010 को अखबारों में खबर थी कि अहमदाबाद में एक शख्स ने रविवार की भोर में नींद डिस्टर्ब करने पर अपने पड़ोसी के

जवान लड़के को मार डाला और उसके पिता को घायल कर दिया। नींद डिस्टर्ब होने पर पत्नियों को भी पीट दिया जाता है। वो न भी हो तो भी नींद का एक नशा रहता है, जिसे माहोवाल्ड, बंडली, हुर्विट्ज और शेंक ने जे फोरेन्सिक साइंस 1990 के एक अध्ययन में यों परिभाषित किया है : "a disturbance of consciousness occuring on sudden arousal from sleep, characterized by confusion, disorientation and misinterpretation of reality". अर्थात "नींद से अचानक जागने पर चेतना का विचलन जिसमें संभ्रम, एकाग्रता की कमी और यथार्थ की गलत व्याख्या होती है।" विभीषण प्रज्ञावान पुरूष हैं। तो अचानक बीच में जागने पर भी उन्हें न अमर्ष होता है, न संभ्रम और न वे यथार्थ की कोई गलत व्याख्या करते हैं। उन्हें तो जागते ही राम राम सुमिरन की आदत पड़ी हुई है। यह स्मरण उन्हें जैसे अस्तित्व के केन्द्र में ले आता है, उन्हें सुस्थिर बना देता है। थियोडोर रोएथक की 'द वेकिंग' नामक एक कविता है : I wake to sleep and take my waking slow/I learn by going where I have to go. हो सकता है कि विभीषण भी ऐसे ही जागते हों। धीरे धीरे उठते हों। राम नाम का स्मरण करने के बाद बाहर हो रहे वचन-ध्वनन को सुनकर विभीषण ने शय्या त्यागी। हनुमान के वचन तो वैसे ही ऊर्जित (revitalize) करने वाले हैं। वे तो उज्जागरण और प्रेरण के लिए पर्याप्त हैं। सोये हुए विभीषण को हनुमान के इस उद्बोध का विशेष महत्व है। इसके बाद से विभीषण का जीवन बदल जाना है। अब विभीषण न केवल हनुमान को दिशा देंगे बल्कि हनुमान के परिचय से एक दिशा और दृष्टि स्वयं भी पाएंगे। वे हनुमान को सीता का पता बताएंगे और हनुमान से राम का पता पाएंगे। ग्रूचोमार्क्स का मजाक चलता था कि Believe me you have to get up early if you want to get out of bed. विभीषण भी उसी तरह उठे हैं। हनुमान के रूप में उनके जीवन का एक नवप्रभात हो रहा है। हनुमान के रूप में उनके द्वार पर एक अवसर आया है। लेकिन उठना तो उन्हें ही होगा, द्वार तो उन्हें ही खोलने होंगे: Even when opportunity knocks, a man still has to get up off his seat and open the door. हनुमान के वचनों को विभीषण ने सुना। सुनकर ही वे उठ खड़े हुए। इतने में ही उनके जीवन का मेटाफर घट रहा था। उसके पहले-हनुमान के वचनों के पहले भी वे राम नाम में डूबे हुए थे। लेकिन फिर भी उनका जीवन उस तरह से ही नहीं बीत रहा था जैसे उसे बीतना चाहिए था। हनुमान के वचनों ने विभीषण को उठा दिया। बाब मोर्ले की कविता याद आती है : Get up, stand up for your right. /Get up, stand up. Don't give up the fight. अर्जुन महाभारत युद्ध से पहले निराश होकर बैठकर गया था तो कृष्ण ने उठने का मंत्र फूंका। यहां विभीषण को हनुमान के वचन उठाते हैं। उठकर विभीषण वहां आते हैं। वे द्वार पर आए अतिथि को देखकर उसे प्रणाम करते हैं। हनुमान विभीषण के लिए वाकई अतिथि हैं। अचानक आ गए हैं और समय भी असामान्य ही है। 'अतिथि देवो भवः' के संस्कार। वही जिनको लेकर-जिस देश में गंगा बहती है-का नायक कहता है: 'मेहमां जो हमारा होता है, वो जान से प्यारा होता है।' मनुस्मृति में कहा गया है कि 'सूर्यास्त के पश्चात् भी जो अतिथि आ जाए, उसका अनादर कभी ना करे। अतिथि सत्कार से 'धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वग्र्य' अर्थात् धन, यश, आयु और स्वर्ग की प्राप्ति होती है जो बिना तिथि के अनाहूत स्वयं आ जाए, अतिथि उसी की संज्ञा है। हनुमान ऐसे ही हैं। चाणक्य सूत्र में उल्लेख है कि "उठकर अतिथि का स्वागत करना, कुशल पूछना, स्नेहपूर्वक वार्तालाप करना, समुचित सेवा करना तथा जाने पर कुछ दूर उसके साथ जाना अतिथि सत्कार का अनिवार्य अंग है।" चाणक्य सूत्र का यह भी कहना है कि 'आए हुए अतिथि का सौम्य दृष्टि, सौम्य मुख तथा सौम्य वचन से पूजन करना चाहिए।' तो यह ब्राम स्टोकर की कहानी 'ड्रेकुलाज गेस्ट' की तरह अतिथि का डरावना अनुभव नहीं है। भारतीय संस्कृति में अतिथि तो घर का आभूषण

माना गया है। पूर्व की दुनिया ऐसी ही थी, बल्कि एक अफ्रीकन कहावत तो अतिथि के कदम घर पड़ने को 'औषधि' बताती है जो बीमार को ठीक कर देती है। हनुमान विभीषण को वाकई स्वस्थचित्त कर देते है। 'पूछी कुशलाई' और 'प्रणाम' के साथ साथ आने पर मुझे लगता है कि विभीषण ने भी 'हाउ आर यू' जैसी कोई बात कही होगी। बांग्ला के 'भालो आछें' या 'कामों आछें' जैसी या गुजराती के 'केम छोः' जैसी। या असीरियन (मध्य पूर्व) में जैसे कहा जाता हैः 'काई पूक स्पाई ला' (आप ठीक हैं?) या माली की भाषा बांबरा की तरह 'टोरो टे' (कोई गड़बड़ नहीं? No trouble?) या इथियोपिया की भाषा 'बिलेन' की तरह 'ब्रि जार डाहनामा' (क्या हालत ठीक हैं : Is the situation ok) मोरीटेनिया की भाषा 'हासनियो' में वे पूछते हैं : 'एय्याक एल अव्ये' (क्या वहां शांति है : इज देअर पीस) पश्चिम अफ्रिका की 'हौसा' नामक भाषा में पूछा जाता हैः 'या ऐकी' (आपका काम कैसा है?) दक्षिणी प्रशांत की भाषा 'निऊ' में पूछते हैंः 'मालोलो नकाई अ को' (आप स्वस्थ हैं?)। मध्य अफ्रीका की भाषा 'सोगा' में वे पूछते हैंः 'एगु फायो' (क्या आपके घर सब ठीक है)। चीनी भाषा ताशकोरघानी में उनका पूछना होताः 'ता तार्न दुरूस्तो' (आपका स्वास्थ्य कैसा है)। स्काटलैंड की भाषा एबर्डीन में पूछा जाता हैः 'फिट लाइफ'? लुनयानकोले नामक भाषा में प्रश्न किया जाता हैः 'मुगुमायर': अर्थात् क्या आप निर्भय हैं? 'हौसा' नामक भाषा में पूछते हैंः आपका काम कैसा है। दरअसल "कुसलाई पूछने" के तरीकों में दुनिया भर में स्थानीय सांस्कृतिक प्रभाव झलकते हैं। कुछ संस्कृतियों में 'परिवार' को एक कुशलता-मानक माना गया है। माली में वे पूछते हैंः आई सोमोगो का केने? अर्थात् आपका परिवार कैसा है? सोगा में पूछते हैंः 'अगु फायो' यानी क्या घर में सब लोग ठीक हैं? कुछ संस्कृतियों में 'चलना' महत्वपूर्ण है। हमारे यहां भी 'कैसा चल रहा है' में वही भाव है जो बोस्नियन के 'कोको इडे' में हैः 'हाउ इज इट गोइंग?' : फिजी में वे पूछते हैंः "ओ लाइ वै" (आप कहां जा रहे हैं) ग्वाटेमाला की एक भाषा 'क्विशे' में भी यही पूछते हैं। स्वाजीलैंड में स्वासी नामक भाषा में भी यही पूछते हैं। जांबिया की सिलोजी में उल्टा पूछते हैंः आप कहां से आ रहे हैं? कुछ संस्कृतियों में 'अच्छी नींद' को कुशलता-मानक माना गया है। दक्षिण अफ्रीका की भाषा चिशोना में वे पूछते हैंः 'म्वरा रा हरे?' (आप कैसे सोये) या 'मरारा सी?' (क्या आप अच्छी तरह सोये)? शायद इसके पीछे कहीं यह बात हो कि कुशल रहने पर ही आदमी ढंग से सो सकता है। अकुशलता और चिन्ता जगाए रखती है। इसी पहलू को एक दूसरे तरीके से भी उठाया जा सकता है। वह यह कि जागरण की गुणवत्ता कैसी है? कुछ संस्कृतियों में जागने को कुशलता को परिचायक माना गया है। ग्वाटेमाला की भाषा कांजोबल में पूछा जाता हैः 'आप कैसे जागे?' कीन्या की भाषा कासीगौ में पूछा जाता हैः आप अच्छी तरह तो जगे न? अफ्रीका की भाषा लुओ में भी वे यही कहते हैंः 'डिद यू वेक अप वेल टुडे?' ग्वाटेमाला की एक अन्य भाषा 'माम' में कहते हैंः हाउ डिद यू वेक अप? सोने व जागने के अलावा 'खाने' को भी कुछ समाज कुशलतावाचक मान लेते हैं। जैसे आस्ट्रेलिया की देशज भाषा काला कावा या में पूछते हैं 'क्या आपने खा लिया?' वहीं की एक अन्य भाषा कौरारेग में पूछते हैंः 'आपने खा लिया क्या?' दक्षिण-पूर्व एशिया की भाषा लाहू में पूछा जाता हैः माह पोंग सा विक (क्या आपने खा लिया)। आस्ट्रेलिया की एक अन्य भाषा 'माबुइआग' में कहा जाता हैः 'नि ऐदन पर्थेमा अ' यानी 'क्या आप खा चुके?' थाई भाषा में भी ऐसा ही है।

यहां तुलसी हमें पता नहीं देते कि हनुमान से विभीषण ने कुशलता कैसे पूछी? आप कैसे हैं? आप स्वस्थ तो हैं? आप ठीक हैं? कैसा हाल है आपका? वगैरह वगैरह। तुलसी सभी तरह की संभावनाओं को जिन्दा रखते हैं। इसको भी कि विभीषण का हनुमान से कुशल पूछना कुछ औपचारिक शब्दों का उच्चारण भर नहीं हो। उन्हें चिन्ता हो कि इतनी रात गए कोई उनके दरवाजे पर आया हो, तो निश्चित ही उसको कोई बड़ी

और 'प्रेसिंग' जरूरत होगी। यहां हनुमान कामू के 'द गेस्ट' हैं या उन्हीं के ही 'द स्ट्रेंजर'? शायद दोनों ही नहीं। विभीषण के लिए अजनबी भी अतिथि ही हैं। वेदव्यास ;महाभारत के वन पर्व, 2/56 में; निर्देशित करते हैंः 'चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम्/ उत्थाय चासनं दद्यादेव धर्मः सनातनः' कि गृहस्थ का यही सनातन धर्म है कि घर आए व्यक्तियों को प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखे, मन से उनके प्रति उत्तम भाव रखे, मीठे वचन बोले तथा उठकर आसन दे। यह देखने की बात है कि सनातन धर्म को अतिथि सत्कार शब्द से इस श्लोक में कैसे समीकृत किया गया है। पूर्वी सभ्यताओं में अतिथि के प्रति एक तरह का आदर-भाव है, जबकि पश्चिम में अतिथि एक रहस्य, एक सस्पेंस, एक संदेह को प्रतीकायित करता है। अब चाहे वह 'ड्रेकुलाज गेस्ट' जैसी हॉरर कथाओं के कारण बनी छवि हो या ग्रेगरी बोलियर के उपन्यास 'द मिस्ट्री गेस्ट' या जोसेफ शेरिडन के 'द ईविल गेस्ट' के कारण बनी। जबकि अफ्रीकन कहावत है : Visitor's foot falls are like medicine, they heal the sick. यह भी ध्यान दें कि हमारे यहां स्ट्रेंजर को भी गेस्ट ही माना जाता है। नारदपुराण (पूर्व भाग, प्रथम पाद, 27/73) में कहा गया हैः अज्ञातगोत्र नामानं अन्य ग्रामादुपागतम्/ विपश्चितोऽतिथि प्राहुर्विष्णुवत तं प्रपूजयेत्।। कि जिसका नाम और कुल-गोत्र पहले से ज्ञात न हो और जो दूसरे गांव से आया हो, ऐसे व्यक्ति को विद्वान पुरुष अतिथि कहते हैं। हनुमान इसी तरह के अतिथि हैं। भास (प्रतिमा नाटक, 5/8 के पश्चात्) का कहना थाः वाचानुवृत्तिः खल्वतिथिसत्कारः- मीठे वचनों से स्वागत ही सच्चा अतिथि- सत्कार होता है। विभीषण हनुमान का उन्हीं मीठे वचनों से स्वागत करते हैं। वे हनुमान को विप्र कहकर सम्बोधित करते हैं। हनुमान ने परिचयार्थ जो भी रूप रखा है, यह उसकी अंगीकृति है। विप्र शब्द की आज के दौर में सामाजिक-आर्थिक चरितार्थता है। इस शब्द को आज के जातिवादी विमर्श की ही एक इंस्ट्रुमेंटेलिटी मान लिया जाएगा, जबकि यह विमर्श अपने आप में ही हमारी मेंटेलिटी का प्रतिबिम्ब है, जिसके सहारे तमाम तरह की अतार्किकताओं को आदर मिलता है। लेकिन विभीषण के सामने खड़े विप्र हनुमान किसी आर्थोडोक्सी के समर्थन के लिए प्रस्तुत नहीं हुए हैं। विप्र शब्द का प्रयोग यहां बहुत खुला हुआ है। इसका मतलब यह नहीं है कि तुलसी को ब्राह्मण के फिलहाल रूढ़ अर्थ से कहीं आपत्ति थी। तुलसी द्वेष के उस डायनेमिक्स में कभी नहीं रूचिशील हुए या होते जो आजकल के तथाकथित दलित चिंतकों ने चला रखा है। मुझे यह समझना मुश्किल है कि जातिवाचक शब्दों का उपयोग सिर्फ अनुसूचित जाति के विरुद्ध ही क्यों गलत है और अन्यों के विरुद्ध क्यों नहीं। किसी भी जाति के व्यक्ति को यदि जातीय सदस्यों के कारण, बाधक और घृणास्पद पूर्वग्रह झेलने पड़े तो प्रत्येक पर आपत्ति होना चाहिए। आपत्ति किसी भी व्यक्ति के अंतर्हित तेज के विरुद्ध स्टीरियोटाइपिंग की किसी भी तरह की सक्रियता पर होनी चाहिए। लेकिन यहां तो वह सूडानी कहावत चल रही हैः 'Ana wa akhi a'la ibn a' my' wa ana wa ibn a'my' a'la al-ghareeb' कि मैं और मेरा भाई अपने कज़िन के खिलाफ हैं और मैं और मेरा कज़िन अजनबी के खिलाफ है। छोटे दिमागों वाली छोटी हदबंदियां। शिकायत तो विरोध की इस मैट्रिक्स से होना चाहिए। शिकायत तो उस मानसिकता से होनी चाहिए जो जातीय सदस्यता के आधार पर परायेपन का एक कुचक्र तैयार करती है। एक सूडानी कहावत है कि Wileadan ma wileadak ma bigool abu. यानी एक लड़का जो तुम्हारा बेटा नहीं है, वह तुम्हें अब्बा नहीं कहेगा। यह मानसिकता आत्मीयता और प्रेम की सामूहिकताओं और उनकी कैदों को निर्मित करती है।

विभीषण के सामने खड़े हनुमान वो विप्र हैं जिनकी चर्चा भगवान बुद्ध के धम्मपाद के अंतर्गत एक पूरे अध्याय में 'ब्राह्मण-वग्गा' शीर्षक के तहत की गई है। इतिहास के मैनीपुलेटर्स ने बुद्धिज़्म को ब्राह्मनिज़्म के विरुद्ध खड़ा किया जबकि बौद्ध धर्म के दार्शनिक

अधिकांशतः ब्राह्मण थे। बुद्ध के उत्तराधिकारी वसुबंधु और उनके मुख्य षिष्य सारिपुत्र और महाकष्यप ब्राह्मण थे। महायान के संस्थापक नागार्जुन और अष्वघोष ब्राह्मण थे। थेरावाद के सुधारक बुद्धघोष, वज्रयान के प्रवर्तक पद्मसंभव, झेन बौद्ध धर्म के संस्थापक शांतिदेव, चीन में बौद्धधर्म को ले जाने वाले कुमारजीव, नालंदा के बौद्ध विद्वान आर्यदेव और शांतरक्षित ब्राह्मण थे। पीटर मेसफील्ड ने उचित ही ध्यान दिलाया कि आरंभिक बौद्धों के शास्त्र बताते हैं कि वे अधिकतर ब्राह्मण परिवारों से ही आए थे और परिवर्तन की ओर ले जाने वाला धम्म-चक्खु लगभग एकांतिक रूप से ब्राह्मण उत्पत्ति के लोगों को ही दिया गया था। ऐसे में व्ही.टी. राजशेखर जैसे दलित चिंतकों की यह दुष्ट स्थापना देखें कि "केरल के एक बौने ब्राह्मण, आदि शंकर ने ब्राह्मणवाद के पुनर्जीवन का काम बौद्ध धर्म को नष्ट कर, बौद्धों और उनके तपस्वियों को शारीरिक रूप से नरसंहारित कर और बौद्ध विहारों को हिन्दू मंदिरों में बदल कर किया।" इन राजशेखरों को शंकराचार्य की बौद्धिक प्रखरता और तेजस्विता से सहानुभूति न हो, समझ में आता है। लेकिन इन्हें स्वयं बौद्ध धर्म से कोई बड़ी सहानुभति हो, ऐसा भी नहीं है। ये लिखते हैं: "मौर्य युग में बुद्ध धर्म ब्राह्मणों का सबसे बड़ा शत्रु था। इसने ब्राह्मणवाद को लगभग उन्मूलित कर दिया।" ये बौद्ध धर्म को राज्य-सरंक्षण, शत्रुता और उन्मूलन की टर्म्स में देखते हैं। नागार्जुन और कुमारिल भट्ट जैसे बौद्ध दार्शनिकों की कीमत इस तरह के फतवेबाज लोगों के सामने बस इतनी ही है: "कुमारिल भट्ट, नागार्जुन जैसे ब्राह्मणों ने धम्म की धमनियों में भिक्खुओं के भेष में जहर घोल दिया।" डॉ. एस. राधाकृष्णन इन महाशयों के लिए "mischievous scholar" हैं क्योंकि उन्होंने स्पष्ट घोषित किया कि बुद्ध हिन्दू जन्मे और हिन्दू मरे। खिताब और फतवे बांटने का काम इन जहरीले दिमागों में लगातार चलता है। ब्राह्मणवाद का उन्मूलन इस देश में कब हुआ? यदि 'भिक्खु' जहर है तो आज भी बौद्धों में भिक्खु होते हैं। भगवान बुद्ध के संदेशों को ही इन फतवेबाजों ने पढ़ लिया होता! ब्राह्मन-वग्गा में भगवान बुद्ध ब्राह्मणों के लिए कहते हैं : One should not a brahman beat / nor for that should He react/ shame! who would a Brahman beat,/ more shame for any should they react. यह वही एप्रोच है जो मनुस्मृति में मनु ने अपनाई है। यानी एक तरफ दूसरों से कहना कि ब्राह्मण को न मारो और दूसरी तरफ ब्राह्मण से स्वयं यह कहना कि "अपमान ब्राह्मण का पथ्य है। सम्मानित और पूजित ब्राह्मण दुही जाति हुई गाय के समान खिन्न हो जाता है।" (मनुस्मृति)। ब्राह्मण को बुद्ध ने राग-द्वेष से मुक्त, धीरवान, क्रोधमुक्त और निर्भार और द्वेषियों के बीच भी मित्रतापूर्ण कहा है। ब्राह्मणों के प्रति बुद्ध के मन में कोई जातीय, वादीय या वर्गीय घृणा नहीं थी, जैसी कि इन महानुभावों में है। कुमारिल भट्ट और शंकर की विद्वत सफलता (dialectical success) को एक पल के लिए भी स्वीकारने की बौद्धिक ईमानदारी इन बंधुओं में नहीं है। जिस अवधि को आज की ये साक्षात् दुष्टताएं मारकाट का पीरियड समझाती हैं, वह समय दिङ्.नाग, धर्मकीर्ति, चंद्रकीर्ति, वसुबंधु जैसी अद्भुत प्रतिभाओं की सक्रियताओं का समय है। ओलिवेल (Olivelle) ने जिन दो चीजों को ब्राह्मनिज़्म की ही परम्परा का अंतर्द्वन्द्व कहा था, यहां उसे दो धर्मो के क्रूसेड में पेश करने वालों का मज़मा लगा हुआ है। ब्राह्मण बौद्ध धर्म में अर्हतों और संतों की एक सम्मानित उपाधि है। बुद्ध का बहुत-सा दर्शन उनके पूर्व के सांख्य दर्शन की अनुगूंज है। इन दोनों के बीच असमंजनकारी कुछ नहीं था। यदि होता तो कंपूचिया के महान राजा जयवर्मन सप्तम् ने 12 वीं शती में अंगकोर-युग में ता प्रोह्म मंदिर जैसी स्थापत्य रचना न बनवाई होती जिसमें ब्राह्मणवाद और बुद्धवाद दोनों का एकत्रण है। वहां विष्णु भी है, समुद्र मंथन भी और वहां बुद्ध की तिरछी मुद्रा में मूर्ति भी है। भगवद्गीता ने 'ब्रह्म-निर्वाण' कहा था। उपनिषद ने ब्रह्म पकड़ा, बुद्ध ने निर्वाण। वृहदारण्यक उपनिषद में जो 'चेतना की असीम और अनंत संहति' है वही दिध्घनिकाय में 'अदृश्य, अनंत

और सर्वत्र ज्योतित चेतना' है। कपिल मुनि का जितना सम्मान हिंदुओं में है, उतना बौद्धों में। बौद्ध धर्म दुनिया के दूसरे देशों में इसलिए फैला कि वहां की प्रथाओं और विश्वासों से उसकी विशिष्ट (distinctive) पहचान थी, लेकिन अपने गृह-देश में उसकी किसी स्थापना को भारतीय वैचारिकी के वैविध्य-भरे परिदृष्य में समाहित नहीं किये जा सकने की स्थिति कभी नहीं थी। जिस तरह से सांख्य, न्याय और मीमांसा ने हिन्दुत्व को किसी न किसी तरह उपांतरित किया, बुद्ध ने भी किया। बौद्ध धर्म भारत में हिंदुत्व में लवलीन हो गया, पर दूसरे देशों में वह इतनी सहजता से संस्यूत और निमग्न नहीं हो सकता था। वहां उसकी उपपत्तियों और ऊहाओं, उसकी तर्कना और उसके व्यूहों का कोई पूर्वेतिहास नहीं था। भारत में जो चीज परंपरा थी (या उसका विस्तार थी), अन्य देशों में वही चीज एक घटना थी। इसे हिन्दुत्व द्वारा 'बौद्धत्व' को उदरस्थ कर लेने के रूप में प्रचारित करना या किसी ऐसे नरसंहारात्मक उन्मूलन की कल्पना करना जैसा कि पश्चिमी सभ्यताएं करती रहीं, दोनों ही भारत के साथ कलुषित किस्म के द्रोह हैं। वर्णाश्रम वर्णो की कोई बहुत स्थैतिक (static) व्याख्या करता रहा हो, इतिहास में इसके प्रमाण नहीं है। ब्राह्मणों को 'शासक' की भूमिका न देकर 'क्षत्रिय' को यह भूमिका दी गई बताई जाती है, लेकिन शुंग, कण्व, कदम्ब, वाकाटक, सातवाहन राज्यवंश तो ब्राह्मणों के थे। शूद्रों को तो स्वयं डॉ. अम्बेडकर ने मूलतः क्षत्रिय वर्ण का माना था। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में शूद्र शासकों के उदाहरण भरे पड़े हैं। हिन्दुत्व को मिटाया नहीं जा सका क्योंकि हिंदुत्व कभी जड़ (stationary) नहीं था। जिस पुरूष सूक्त को वर्ण-व्यवस्था का प्रारंभिकतम उल्लेख बताया जाता है, वह वस्तुतः 'विराट' पुरूष है। उसके 'शीर्ष' (heads) भी एक नहीं है, अनेक हैं, असंख्य हैं। वहां 'वर्ण' शब्द का उल्लेख भी नहीं है। वह उल्लेख ही समाज-शरीर की जैविकी का है, उनकी अंतर्निर्भरता का है। यदि यह वर्ण-व्यवस्था जन्माधारित होती तो ऐसा कैसे होता कि मनु के पुत्र प्रियव्रत के दस बेटों में से 7 राजा बनते और तीन (महावीर, कवि और श्रवण) ब्राह्मण। कैसे ऋग्वेद के 10वें मंडल के ढेरों मंत्रों का मंत्र-दृष्टा ऋषि कवश-ऐलुष शूद्र के रूप में जन्मकर ऋषि-वर्ण हो गया या मातंग ऋषि हो गए। तो हनुमान कवश-ऐलुष के रूप में भी खड़े हो सकते हैं या मातंग के रूप में भी। अगस्त्य के रूप में भी हो सकते हैं और ऐतरेय के रूप में भी। व्यास के रूप में भी, वशिष्ठ के रूप में भी। महत्व व्यक्ति का है, वर्ण का नहीं। इसलिए तुलसी "निजकथा" की बात करते हैं। हे विप्र खुद की कथा समझाकर कहो। वर्ग की कथा नहीं, वर्ण की कथा नहीं। जाति की कथा नहीं। निज कथा। समझाना जरूरी है, नहीं तो लोगबाग पहले ही नासमझी में क्या क्या भ्रम और द्वेष फैला चुके हैं।

की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई।
मोरें हृदय प्रीति अति होई।।
की तुम्ह रामु दीन-अनुरागी।
आयहु मोहि करन बड़भागी।।
तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुनग्राम।।

क्या आप हरिभक्तों में से कोई हैं? (क्योंकि) मेरे हृदय में (आपके प्रति) अत्यन्त प्रीति (स्वतः स्वाभाविक ही) हो रही है। (अथवा) क्या आप दोनों पर अनुराग (प्रेम) करने वाले श्री रामचन्द्र जी ही (तो नहीं) हैं जो मुझे बड़ा भाग्यवान् बनाने आए हैं। तब हनुमान जी ने सब रामकथा और अपना नाम कहा। सुनते ही दोनों के शरीर पुलकित हो गए और श्री राम जी के गुणसमूह का स्मरण करके दोनों के मन मग्न हो गए।

ज्वायस ए. कौंसिल की एक पुस्तक 'हू आर यू' इन पंक्तियों को पढ़कर मुझे याद आती है। इस पुस्तक में लेखक कहता है : Only the Devil can steal your true ID, who you really are. If he can steal who we are, he will kill our initiative and destroy our life. Wanting to know who you are takes work, so the thief would rather take what we own and trick us into submission; there by falsifying who we are. The devil is the same way, He wants to steal from you, and put you in a position of lack, uncertainty, and of not knowing who you are. कि सिर्फ शैतान ही तुम्हारी सही पहचान चुरा सकता है, आप वास्तव में कौन हो? यदि वह हमसे वह चुरा सकता हैं जो हम हैं तो वह हमारी पहलशक्ति की हत्या कर देगा और हमारा जीवन नष्ट कर देगा। हम क्या हैं यह जानने की चाह भी काम करवाती है तो चोर हमसे वह ले लेता है जो हमारा स्वत्व है और हमें झुकवा लेता है, 'हम जो हैं, उसे झुठलाते हुए शैतान भी ऐसा ही करता है। वह हमसे चुरा लेता है और आपको अभाव, अनैश्चित्य और 'आप कौन हैं' के अज्ञान की हालत में डाल देता है।" लेकिन जो शैतान नहीं हैं, जो ईश्वरभक्त है, राममय है-वह आपकी पहचान चुराता नहीं, आपकी पहचान अपने कौतूहल में भी आपको बता देता है। सच्ची पहचान वह नहीं जो दुनिया ने हमारी 'छवि' के रूप में गढ़ रखी है। यहां जिस पहचान की बात हो रही है, वह एक 'निर्मित उत्पाद' नहीं है, 'सान' की बात है। गढ़ी नहीं। बड़ी पहचान। या तो हरिदासों में से एक या स्वयं हरि। या तो भक्त या भगवान। भक्त भी भगवान में एकमेक हो जाता है। प्रेम गली अति सांकरी ताहि मे दो न समाय।

बाइबल की पंक्तियां (जॉन 3:2) हैं : Beloved what manner of love the father has bestowed upon us, that we should be called the sons of God: therefore the world does not know us, because the world did not know him. Beloved, now are we the sons of God, and does not yet appear what we shall be : but we know that, when he shall appear, we shall be like him; for we shall see him as he is बाइबल 'हू आर यू' के परिचय में ईशपुत्र और ईश-सदृश दोनों के होने की जैसी संभावनाएं व्यक्त करती है, वैसे ही हनुमान का परिचय जानने के लिए विभीषण उन्हें ईश्वर-भक्त और ईश्वर दोनों ही तरह की संभावनाओं में पूछते हैं। हनुमान रामभक्त हैं और राममय हैं। विभीषण 'तुम कौन' तो पूछते हैं, लेकिन 'holier than thou' के भाव से नहीं बल्कि उसे भक्त/भगवान के स्तर तक ले आते हैं। यह 'तत्वमसि' का छांदोग्य औपनिषदिक सिद्धांत ही है। 'तू ही वह है' जिसे उद्दालक और श्वेतकेतु के बीच हुए संवाद में बार बार एक टेक की तरह दोहराया गया है। ठीक वैसे ही जैसे राबर्ट ए. हीनलेन की विज्ञान-कथा पुस्तक 'स्ट्रेंजर इन अ स्ट्रेंज लैंड' में "दाऊ आर गॉड" (तुम भगवान हो) के वाक्य-खंड को बार बार दोहराया गया है। देखा जाए तो हनुमान भी 'स्ट्रेंजर इन अ स्ट्रेंज लैंड' ही हैं। अजनबी शहर के अजनबी रास्तों पर चलते हुये। लेकिन जैसा कि अवधूत गीता में कहा गया हैः तत्वमस्यादिवाक्येन स्वात्मा हि प्रतिपादितः कि तत् त्वम असि जैसे वाक्यों से अपने आत्म का ही प्रतिपादन होता है। विभीषण हनुमान में जैसे अपना आल्टर ईगो ढूंढ लेते हैं। अपनी ही आत्मा का दर्पण। यों श्रीगणेश होता है। दोनों के बीच। त्वमेव प्रत्यक्षं तत्वमसि। पहला सूत्र तत्वमसि, वह तू है। दूसरा त्वं तदसि, तू वह है और तीसरा त्वं ब्रह्मस्मिः तू ब्रह्म है। तो विभीषण के लिए क्या तुम हरिदासों में से कोई हो या स्वयं राम (ब्रह्म) हो? संन्यास उपनिषद में कहा गयाः तुभ्यं मह्यमन्ताय अर्थात तू और मैं अनन्त हैं। आगे 'तुभ्यं मह्यंचिदात्मे' कि तू और मैं चिदात्मा हैं। हनुमान और विभीषण दोनों ही चिदात्मा हैं।

विभीषण पूछते हैं कि क्या हनुमान हरिदासों में से कोई हैं? क्या वे वह हैं जिन्हें हिब्रू में ओबादिआ, या

अरबी में अब्दुल्लाह या जर्मन भाषा में गोट्सचाक कहा जाता हैः भगवान का सेवक। वे पोप की तरह तो नहीं ही होंगे क्योंकि उनकी उपाधि तो सर्वस् सर्वोरम डी (सर्वेन्ट आफ द सर्वेन्ट्स आफ गॉड) है जिसका अर्थ हरिदासानुदास होगा। ईसाइयों में जब किसी को संत बनाने की प्रक्रिया होती है तो उन्हें 'सर्वेन्ट आफ गॉड' की पहली उपाधि मिलती है।

दक्षिण भारत में हरिदास नामक एक भक्ति आंदोलन छः शताब्दियों तक चला। खासकर कन्नड़ में, विजयदास, गोपालदास, जगन्नाथ दास, प्रसन्न वेंकट दास, प्रणेशदास, वेणुगोपाल दास, महीपति दास, मोहनादास आदि इस आंदोलन में हुए। 13वीं शती से 18वीं शती तक बल्कि आज तक यह हरिदास आंदोलन हरिभक्ति को आम जनता तक पहुंचाता रहा। यह "दास साहित्य" कन्नड़ साहित्य का गौरवपूर्ण अध्याय रहा है। कर्नाटक संगीत के विकास में भी इन हरिदासों का बड़ा प्रधान रोल था।

सर्वेन्ट ऑफ गॉड इस्रायल भी था और मूसा भी। सही अर्थो में हरिदास होना अपने आप को बहुत उदात्त और बहुत महत्वपूर्ण बना लेना है। हर्मन हेस ने भी 'जर्नी टु द ईस्ट' उपन्यास लिखा है जिसमें 'लियो' नामक एक भृत्य है। वह उस यात्रा-कथा का नायक है। एक ऐसा सेवक जो तमाम तरह की छोटी छोटी सेवाएं करता है, वह एक असाधारण उपस्थिति का व्यक्तित्व है। उस यात्रा में तब तक सब ठीक चलता है जब तक लियो गायब नहीं हो जाता। वह समूह टूट जाता है, बिखराव का शिकार हो जाता है, यात्रा छोड़ देनी पड़ती है। बाद में उस समूह में से एक उसे ढूंढ निकालता है। बाद में पता चलता है कि जिस लिओ को सब लोग नौकर समझ रहे थे, वह वस्तुतः उस संप्रदाय का मार्गदर्शक और अध्यक्ष था जिसने यह यात्रा प्रायोजित की थी। एक महान और उदात्त नायक जिसने सेवा को जीवन बना रखा है। राबर्ट के ग्रीनलीफ, हेमिल्टन बीजली, जूली बेग्स, लैरी स्पीयर्स ने 'सर्वेन्ट लीडर' की जो अवधारणा प्रस्तुत की थी, हनुमान उसके आदर्श उदाहरण हैं। हनुमान कोई नेता होने की इच्छा से सेवक नहीं हैं। वे सेवा में ही कृतार्थ होते हैं। वे सान्त्वना देते हैं। अंगद आदि वानरों के दल को, विभीषण को, सीता को। उनके भीतर एक आंतरिक शुचिता है। वे किसी पोजीशनल अथॉरिटी के कारण अपना कार्य सम्पन्न नहीं करते। ठीक उसी तरह से जैसे उनके प्रभु राम भी पोजीशनल अथारिटी को त्यागकर वनवास ग्रहण करते हैं। हनुमान ने कभी कोई प्राधिकार-पृच्छा नहीं की। उन्हें लगता था कि उनसे कहीं अधिक कोई बलवान शक्ति उन्हें सेवा के लिए सक्षम बनाती है। वे इस बात को बार बार कहते भी हैं।

इस 'हरिदास' वाली बात से हनुमान और विभीषण दोनों की संपृक्ति (alignment) भी होती है। 'हरिदासन्ह' कहकर विभीषण जैसे एक स्वधर्मी ढूंढ लेते हैं। एक कोई अपने जैसा। अजनबी शहर में यह जैसे आत्म की तलाश है। इस तलाश में हनुमान के लिए तो एक सर्वथा नये और अपरिचित होने के कारण अजनवियत है। लेकिन विभीषण के लिये तो यह स्थिति एक तरह के आत्म-पराएपन से पैदा हुई है। वे तो आउटसाइडर हो गए हैं। अति-परिचय के कारण, न कि अपरिचय से। इसलिए विभीषण-हनुमान जब मिलते हैं तो दोनों को लगता है कि यह कोई अपने सा मिला। आगे जाकर हनुमान इसीलिए विभीषण को 'भ्राता' कहेंगे। नारदभक्तिसूत्र (72) में कहा ही गया है : नास्ति तेषु जाति विद्यारूपकुल धन क्रियादिभेदाः- कि भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि का भेद नहीं होता है।

एक कोमलमना हनुमान जो ईश्वर से पृथक कुछ भी नहीं हैं, जो विभीषण के इन leading questions को पूरी तरह डिजर्व करते हैं, जिनके व्यक्तित्व में पवित्रता ही ने जैसे आकार ले लिया है। वे ऐसे सेवक हैं जिनके बारे ही में जैसे बाइबल में कहा गया है : The Lord redeemeth the soul of his servants : and none of them that trust in him shall be desolate. भगवान ने ही उनकी आत्मा को इतना प्रशस्त और उज्ज्वल बनाया है। हनुमान की संगति में विभीषण, जिन्हें लंका का शासक आभिजात्य उपहास में निरादृत करता रहा है, अपने आपे को पुनरूपलब्ध करते हैं।

लियो टॉल्स्टाय ने शायद हनुमान जैसे चरित्रों को देखकर ही कहा था कि 'जीवन सेवा का स्थान है'। (Life is a place of service)। हनुमान को प्रथमतः रामभक्त या राम सेवक कह कर विभीषण भक्ति को पहले रखते हैं। बाद में वे सारूप्य, सादृश्य या सायुज्य की परिणति वाली पंक्ति कहेंगे। तुलसीदास ने दोहावली (111) में कहा ही है; 'तुलसी रामहुँ ते अधिक रामभगत जिय जान।' हरिदास होना कोई छोटी मोटी बात नही है; 'सोइ सर्वग्य गुनी सोइ ग्याता/सोइ महि मंडित पंडित दाता/ धर्म परायन सोईकुल त्राता/रामचरन जा कर मन राता।' हरिदास होना गजब का आत्मविश्वास पैदा करता है। राजाओं को चुनौती देने वालाः हम चाकर रघुबीर के पटो लिख्यौ दरबार/तुलसी अबका होहिंगे नर के मनसबदार।"

हनुमान को देखकर विभीषण का अभिवादन वसवेश्वर की उस कन्नड़ कविता की याद दिलाता है; 'कंड भक्तिरिगे कै मुगिवातने भक्त' कि वही भक्त है जो भक्त को देखते ही हाथ जोड़ता है। हनुमान को देखकर विभीषण के हृदय में सहज रूप से ही प्रीति उमड़ आती है। व्यासदास की कविता याद आती है; 'जो सुख होत भक्त घर आये/सो सुख होत नहीं बहु संपति, बाँझहिं बेटा जाये।।' हनुमान के हरिभक्त होने का अनुमान या प्रमाण विभीषण को अपने हृदय में दिखाई देता है। कोई वेवलेंथ है जो मिल रही है। तुकाराम सही कहते हैं:- अनुभव चिन्ता चित्त जाणो। प्रेम चित्त से चित्त का अनुभव है। 'यही प्रीति का तर्क तुलसीदास आगे भी देते है 'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।' ये एक साथ दो तर्क हैं: हृदय का और प्रेम का। कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम् में भी यही तर्क दिया गया है कि 'सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तयः- कि संदेह के स्थानों पर सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं। (1/21) जहां तक 'प्रीति' की बात है, वह भी "अति प्रीति" है। यह साधारण प्रीतिकर अनुभव नही है। यहां तो पता नहीं क्यों मन को बहुत भला लग रहा है। भवभूति ने उत्तर रामचरित (6/32) में यही कहा कि "हृदयं त्वेव जानाहि प्रीतियोगं परस्परम्" कि पारस्परिक प्रीति योग को हृदय ही जानता है।

दूसरे यह भी संभव है कि यह अर्द्धाली "मोरे हृदय प्रीति-अति होई" एक तरह से देहली दीपक है और यह "की तुम्ह रामु दीन अनुरागी" के लिए भी उतनी ही लागू होती हो। प्रीति से ही तो भगवान प्रकट होते हैं। स्वयं तुलसी ने मानस में (1/185/3) में कहा : "हरि व्यापक सर्वत्र समाना/प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना।" या मानस में ही अन्यत्र कहा कि "अग जगमय सब रहित बिरागी/प्रेम तें प्रभु प्रगटई जिमि आगी" (1/185/4) प्रेम के कारण प्रभु की अभिव्यक्ति नृसिंह अवतार में हुई और असंख्य रूपों में हो चुकी है। सच है कि खुदा तक है मुहब्बत की रसाई/औ तुमको यकीं हो तो मुहब्बत ही खुदा है (सीमाब)। बाइबल में तो 'गॉड इज लव" (1 जॉन 4:8) कहा ही गया है। गांधी का सिद्धान्त : Where love is, there god is also.

महत्व की बात यह है कि तुलसी के विभीषण सिर्फ अपनी प्रीति की बात नहीं करते, ईश्वर की प्रीति की भी बात करते है। सी.एस. ल्यूइस कहते थे : Though our feelings come and go, God's love for us does not ईश्वर भी अपने सृजन से प्यार करता है। लेकिन ईश्वर को एक सामान्य तरीके से प्रेमिल तुलसी नहीं बता रहे, वे उन्हें विशेषतः 'दीन-अनुरागी' कह रहे हैं। दरिद्र नारायण, दीनानाथ, दीनदयाल के रूप में ईश्वर की मान्यता बाइबल में भी कई अभिव्यक्तियां इसी प्रकार की हैं; Ps 140:12 में I Know that the Lord will maintain the cause of the afflicted and justice for the poor. या Is 25:4 में for you have been a defence for the helpless, a defence for the needy in his distress. या Ps 10:14 में The Unfortunate commits himself to you, you have been the the helper of the orphan .... O Lord, You have heard the desire of the humble, You will strengthen their heart, You will incline your

ear to vindicate the orphan and the oppressed. या ल्यूक 6:20-21 में Blessed are you who are poor, for yours is the kingdom of God या जेम्स 2:5 में कहा गया : Did not God choose the poor of this world to be rich in faith and heirs of the kingdom which we promised to those who love Him? क्या विभीषण जैसे बहुत से लोग पीड़ित (afflicted) नहीं हैं? क्या वे न्याय का इंतजार नहीं कर रहे? क्या वे असहाय नहीं हैं और ईश्वर उनका 'डिफेंस' नहीं हैं? जरूरतमंद और विपदग्रस्त लोगों का? दुर्भाग्यशालियों और अनाथों का? क्या ईश्वर उनका दिल मजबूत नहीं करता? क्या ईश्वर विनम्र की इच्छा नहीं सुनता और उन दलित लोगों पर कान नहीं देता? ईश्वर की गरीबों के प्रति पक्षधरता क्या Prov. 19:17 में नहीं है जहां कहा गया कि He who is gracious to a poor man lends to the Lord, and He will repay him for his good deed.

ईश्वर की पक्षधरता गरीबों, दीन, दुखियों, असहायों, पीड़ितों के प्रति हो तो वे गरीब, दीन, दुखी, असहाय और पीड़ित रहे ही क्यों? यदि ईश्वर वाकई दीन-अनुरागी है तो उन्हें दीन क्यों बनाए हुए है ? लेकिन सच यह भी है कि विपत्ति और दैत्य में ईश्वर ही सबसे बड़ा सहारा होता है। एक तो स्वयं दुख ही, दैन्य ही संस्कारित करता है और इतना तो कर ही देता है कि दूसरों से वैसे ही दुख में सहानुभूति करना हम सीख सके। ईश्वर दीन के हृदय में ज्यादा गहरे में अवतरित होता है। गांधीजी जब दरिद्रनारायण की बात करते थे तो हमें लगता था कि दरिद्रता को महिमा मंडित कर रहे हैं। शायद इस आलोचना से बचने के लिए उन्होंने कहा कि उन भूखे लोगों के लिए रोटी ही भगवान है। लेकिन तुलसी तो सीधे उन्हें दीन-अनुरागी कहते हैं और अपने को उस ड्यूटेरोनामी के कथन के ठीक विरोध में खड़ा करते हैं जो कहती थी कि : It is the godless that end up in the gutter. बनार्ड शॉ के 'पिग्मैलियन' में प्रो. हिगिंस जब अल्फ्रेड डूलिटिल से पूछते हैं कि "हैव यू नो मॉरल्स, मैन?" तो उसका जबाव होता है कि "कांट अफोर्ड देम, नीदर कुड यू इफ यू वर एज पुअर एज मी।" लेकिन तुलसी के दीन जिस तरह से राम अनुरागी हैं, उसी तरह से उनके राम दीन-अनुरागी हैं। विदुर के घर का खाना, सुदामा के चावल, शबरी के बेर, केवट की अटपटी बैन पसंद करने वाले। ईश्वर उनको पसंद करता है जो पेज-3 पीपुल नहीं हैं। जो 'एस्क्वायर' या 'कॉस्मोपॉलिटन या 'ग्लैमर' जैसी पत्रिकाओं के मुखपृष्ठ पर नहीं दिखते। ईश्वर को दीन-अनुरागी मानने का विचार उस विचार से कही बेहतर है जो गरीबी को ईश्वर का दंड मानता है, यह उस विचार (थामस वाट्सन, द बीटिट्यूड्स, पृ. 152) से भी कहीं बेहतर है कि 'Consider why the wise God has suffered an inequality in the world. It is for this very reason because he would have mercy exercised. If all were rich, there were no needs of alms,nor could the merciful man could have been so well known.' कि बुद्धिमान भगवान में दुनिया में असमानताएं इसलिए रची ताकि दया का व्यवहार हो सके। यदि सभी धनी होते तो कौन किसे भिक्षा देता और दयावान कैसे इतने प्रसिद्ध होते? लेकिन तुलसी दया की नहीं, अनुराग की बात कर रहे हैं। दंड का तर्क गरीबी के 'होने' के प्रति जितना हृदयहीन है, उतना ही दया का तर्क भी, तुलसी 'बुद्धिमान' भगवान की बात नहीं करते, अनुरागी भगवान की बात करते हैं। प्रेम में पड़े हुए भगवान की। विदुर या सुदामा, शबरी या केवट उन्हें प्रिय लगते हैं, दयापात्र या दयनीय नहीं। यदि निर्धनता 'पाप' है तो यह पाप 'दूसरों' का कितना है। यदि निर्धनता 'दया' के लिए है तो' वी आर कंपलीट, यू आर नॉट' के अहसास क्यों नही फैलेंगे? यह भी ध्यान दे कि तुलसी निर्धन या गरीब के अर्थ में 'दीन' शब्द का प्रयोग नही कर रहे हैं। दीन शब्द आश्रयहीन, वल्नरेबल, अरक्षित, अशक्त, निर्बल के अर्थ में प्रयोग आ रहा है।

दरिद्रनारायण की बात यहां विभीषण नहीं कर रहे हैं, वे दीनानाथ की बात कर रहे हैं। कोई आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित होने के बाद भी मन में दीन महसूस करता

रह सकता है। भौतिक रूप से मजबूत होने के बावजूद किसी के मन में दैन्य का बादल उमड़ता घुमड़ता रह सकता है। दीन होने पर ही हम समझ पाते हैं कि ईश्वर हमारे लिए कितना जरूरी है। लेकिन यह दीन होना कोई स्थूल और सतही संघटना नहीं है। दैन्य अनुभव का विषय है। विभीषण वित्तीय असुरक्षा के शिकार थोड़े ही हैं। वे तो राजवंश के हैं। अपर्याप्तता की अनुभूति उन्हें क्यों बनी रहे? वे तो पृथ्वी के सबसे शक्तिशाली सम्राट के भाई हैं। यदि वे शाही लाइन पर चलने लगें तो ऐश्वर्य और विलासिता का कौन सा विभाग उनके लिए वर्जित है? लेकिन वे उससे असहमति के त्रास को भुगतने का चुनाव करते हैं। यह चुनी हुई दीनता है। ईसाइयत का विश्वास है किः "Humble yourselves under the mighty hand of God, that he may life you up in due time." विभीषण रावण के ताकतवर हाथो के नीचे दबकर, उसके तलुए सहलाकर लूट के माल में हिस्सा-बांट कर मजे में रह सकते थे। लेकिन वे चुनते हैं दुख को, तकलीफ को, मुसीबत को,अपने भाई के हाथों मिलने वाले उपहास और यंत्रणा को। रावण के राज में एक रामभक्त की आस्तित्विक विडंबना। एक निरन्तर तमस के बीच रहना, लगातार राम जपते जपते। जैसे कि बस वही एक डोर है, जैसे कि बस वही किरण है जो किन्हीं अनचीन्हे रंध्रों से फूट पड़ रही है। दीन होना, ऊपर जैसे हमने कहा कि, भौतिक नहीं है। उससे और आगे बढ़कर कह सकते हैं कि वह पारिस्थितिक भी नहीं है। यह सिर्फ ऐसा नहीं है कि रावण के आततायी दुःशासन में विभीषण जैसे लोग दीन हो गए हैं बल्कि ऐसा है कि उनके स्वभाव में ही वह अहं और वह आत्म-उत्थापन (self-exaltation) नहीं है। यह एक मौलिक दैन्य है जो राम के अनुराग का पात्र होता है। यह मौलिक दैन्य ही वास्तविक पवित्रता है और इसी पवित्रता में विभीषण की प्रतिष्ठा है। दैन्य का मतलब भीतर से इतना रिक्त, इतना सर्वहारा, इतना शून्य हो जाना है, इतना निरंक कि उसमें ईश्वरागमन किंचित भी अवरोधित न हो। केवट व्यवसाय या जाति से दीन नहीं है। अपनी प्रकृति से है। शबरी की दीनता भी उसके मनोनिसर्ग की दीनता है। दीनता किसी तरह की आत्म-निषेध नहीं है, दीनता किसी किस्म की धुकधुकी या घबराहट नहीं है, दीनता अपने बारे में आत्महीनता नहीं है, दीनता आत्म-श्रद्धा के अभाव को नहीं कहते। दीन होना अबोध होना, खुला होना, धीरजवान होना, सहिष्णु होना, विनीत होना है। दीनता जिस व्यक्ति का प्राकृतिक परिधान है, राम उसी के प्रति अनुरक्त होते हैं। मनोविश्लेषणवादी 'ईगो' को मनुष्य का सर्वाइवल किट कहते हैं और उनके अनुसार यह 'अहं' (ईगो) ही हमें गतिमान रखता है। लेकिन विभीषण की दीनता उन्हें स्थिर रखती है, उन्हें इस सृष्टि के वास्तविक केन्द्र से जोड़े रखती है, उनके सामने धुंध नहीं पैदा होने देती। एक चमचमाती स्पष्टता उनमें उनकी दीनता के कारण संभव होती है। वह उन्हें एक तरह की मुक्ति या स्वतंत्रता का भी बोध कराती है। जब हर कोई कुछ खास होने के झमेले में पड़ा हुआ है, कुछ नही होना कितना मुक्तिकारी, कितना शांतिपूर्ण होता है। दीन होने से विभीषण पवित्र नहीं हुए। पवित्र होने से वे दीन हुए हैं। दीनता उनकी पवित्रता की पांखुरियों का खुलना है।

वे अपने ईश्वर की परिभाषा भी दीनानुरागी के रूप में ही करते हैं। उनका ईश्वर घमंडियों का ईश्वर नहीं है। तुलसी ने यही कहा था : 'दास तुलसी दीन पर एक राम ही के प्रीति'। यह भी कि "नाथ सकल साधन मैं हीना/कीन्हीं कृपा जानि जन दीना" तुलसी के इन दीन शब्द-प्रयोगों से स्पष्ट है कि दीनता उनके लिए एकांततः ईश्वर-निर्भरता की अवस्था है। तभी भगवान दीन-बंधु होते हैं। दीन होना मिट्टी हो जाना है। हरिवंशराय बच्चन की पंक्तियां हैं : 'मिट्टी दीन कितनी, हाय/हृदय की ज्वाला जलाती/अश्रु की धारा बहाती/और उर-उच्छावास में यह कांपती निरूपाय/' विभीषण के हृदय में भी एक ज्वाला जल रही है। विभीषण भी मिट्टी की तरह है। कोई दर्पोद्धत दावे वे नहीं करते। वे तो जैसे बिछ से गए हैं अपने प्रभु के इंतजार में।

मुझे याद है बचपन की एक कविता जो हमारी

पाठ्यपुस्तक में हुआ करती थी :'मैं ढूंढता तुझे था जब कुंज और वन में/तू ढूंढता मुझे था तब दीन के वतन में/तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था/मैं था तुझे बुलाता संगीत में भजन में/' विभीषण की आह और उच्छावास दीनानाथ भगवान कैसे नहीं सुनेंगे? राम से बढ़कर शूरवीर कौन और शूरवीर की परिभाषा हमारे यहां तो यही कह की गई हैः 'सूरा सौ पहचानिये जू लड़ै दीन के हेत।' राम का तो धरती पर अवतार ही 'दीन के हेत' हुआ-'भये प्रकट कृपाला दीनदयाला।' वैसे रहीम का मानना भी यही था : 'दीनबंधु बिन दीन की को रहीम सुध लेत।' विश्वास तो यही रहा न कि 'मो सम दीन न दीन हित तुम समान रघुबीर' या 'नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो/मो समान आरत नहीं आरति हर तोसों।।' (विनयपत्रिका, 79)

तो केदारनाथ अग्रवाल की कविता की तरह 'दीन हो गया क्षीण' की स्थिति भगवान कभी आने नहीं देंगे। भगवान स्वयं न आए तो उनकी ओर से उनका संदेश लेकर कोई आ ही जाएगा। लेकिन जो भी आएगा, विभीषण को तो भगवान जैसा ही लगेगा। उन्हें लगेगा कि जैसे उनके भाग्य जाग गए। उन्हें लगेगा कि वे धन्यभाग हुए। हर्ष कवि ने रत्नावली में ठीक ही कहा था - द्वीपादन्य स्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोडप्यन्तात्। आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमर्भिमुखीभूतः।। अर्थात् पक्ष में होने पर भाग्य दूसरे द्वीप से भी, समुद्र के मध्य से भी, दिशाओं के अन्त भाग से भी, अभीष्ट को शीघ्र लाकर मिला देता है। विभीषण के पक्ष में भाग्य आ जाने पर शब्दशः यही हो रहा है। परिमल पद्मगुप्त (नवसाहसांक चरित 10/2) भी ऐसा ही कहते हैं कि जब भाग्य अनुकूल होता है तब जिनके बारे में कुछ सोचा भी न गया हो, ऐसी सब संपत्तियां अपने आप आ जाती हैं।' - "अधिरोहति स्वयंमचिन्तिताडप्य हो शुभसम्पदपराङ्.मुखे विधौ" सोमदेव भट्ट (कथा सरित्सागर 6/4) के शब्दों में अनुकूल दैव असाध्य कार्य को भी अनायास ही सिद्ध कर देता है : 'असाध्यं साधयत्यर्थ हेलयाभिमुखो विधिः' शास्त्र यह कहते रहे हैं कि 'अनुकूले सति धातरि भवत्यनिष्टादपीष्टम विलम्बम्' कि भाग्य अनुकूल होने पर अनिष्ट से भी शीघ्र ही इष्ट की सिद्धि होती है। जयशंकर प्रसाद ने तितली (पृ. 71) में यही लिखा था न कि 'नियति दुस्तर समुद्र को पार कराती, चिरकाल के अतीत को वर्तमान से क्षण भर में जोड़ देती है और अपरिचित मानवता - सिंधु में से उसी एक से परिचय करा देती है, जिससे जीवन की अग्रगामिनी धारा अपना पथ निर्दिष्ट करती है।'

विभीषण की नियति ने हनुमान को दुस्तर समुद्र पार कराया। विभीषण की नियति ने हनुमान से उनका वह परिचय कराया कि विभीषण के जीवन की अग्रगामिनी धारा का पथ निर्दिष्ट हो गया। रहीम ने कहा ही :'दीन चहैं करतार जिन्हें सुख, सो-तो 'रहीम' हरे नाहिं हारे' लेकिन ध्यान दें कि तुलसी किसी भाग्यवाद का प्रचार नहीं कर रहे हैं। वे तो राम के आने को उन्हें बड़भागी 'करने वाला' मान रहे हैं। 'करन' की बात है। भगवान घर पर आए तो, उन्हें सौभाग्यशाली कर ही दिया। कैथरीन हेपबर्न ने एक बार कलाकारों के बारे में कहा था कि वे मन ही मन इस बात पर विस्मित होते होंगे कि वे जहां हैं वहां अच्छे होने के कारण हैं या 'बड़भागी' होने के कारण। विभीषण की विनम्रता इसमें है कि वे खुद को बड़भागी ही मानते हैं, 'अच्छा' नहीं बल्कि आगे तो वे 'सहज पापप्रिय तामस देहा' भी कहेंगे ही। भाग्य इस विश्वास में है कि हम 'बड़भागी' हैं। विभीषण को यह अहसास है।

कार्डिनल इंपीरियल ने कहा था कि 'ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसे उसके जीवन में एक बार भाग्य विजिट नहीं करता।' यहां उस तरह से तुलसी नहीं कह रहे कि हनुमान या राम विभीषण को एक बार विजिट करने आए हैं। इंपीरियल का सिद्धांत यह है कि यदि भाग्य पाता है कि वह मनुष्य उसे 'रिसीव' करने को तैयार नहीं है, तो दरवाजे के रास्ते आया हुआ भाग्य खिड़की के रास्ते निकल जाता है। खैर, विभीषण की तैयारी पूरी थी। लेकिन यह मामला एक बार विजिट का नहीं है। यह तो विभीषण जैसों के लिए बार बार आता क्योंकि

विभीषण का स्वार्जन कम नहीं है। डॉ. फेलिक्स रेग्नाल्ट का सिद्वान्त यह है कि "नियति वास्तव में है। केवल हमें लगता है कि नियति किसी बाध्य कारक की परिणति है जबकि वह खुद हममें स्थित है। सौभाग्य या दुर्भाग्य हमारे चरित्र पर निर्भर है। दुर्भाग्य उसी पर आता है जो उस पर भरोसा करता है। जो यह सोचता है कि वह एक भाग्यशाली सितारे के भीतर पैदा हुआ है, कि उसके जन्म के वक्त परियां उस पर रहमदिल थीं- वह भाग्य के द्वारा चाहा जाता है। यह सत्य है कि उसकी नियति उसके हाथ में है, उस विश्वास में है जो उसे साहस और दृढ़ता देता है।" Fate actually exists. Only we believe that fate is due to some external cause, where as it exists in ourselves; good luck or ill luck depend upon one's character. The latter strikes him who believes in it. The man, who thinks he was born under a lucky star, that the fairies were kind to him at birth, or that a fetish guards him, is favored by fortune, so they say. It is true, but he holds his own fate in his hands, in the faith which gives him courage and perseverance." लेकिन विभीषण का 'फेथ' अपने भाग्य में नहीं है, ईश-कृपा में है। वे यह नहीं सोचते कि वह किसी सौभाग्यशाली नक्षत्र में पैदा हुए हैं या उनके जन्म के समय परियां उन पर उदार थीं: उनके भीतर साहस और धैर्य 'भाग्य' के कारण आया। ईश्वर के कारण ही वे बड़भागी होते हैं। हनुमान या राम उन्हें 'करने' के लिए आए हैं, उन्हें यह लगता है। उन्हें अपनी भक्ति का भी आश्वास नहीं है।

राम की प्रत्यभिज्ञा जब वे दीन अनुरागी के रूप में करते हैं तो वह सिर्फ ईश्वर की तरह नहीं है, वह एक ऐसे राम के बारे में है जो गुह-निषाद, केवट, शबरी, सुग्रीव सहित वन-जातियों से प्यार करने वाला है। राम की इस रूप में पहचान इस बात की भी प्रतीक है कि विभीषण के पास खबरें पहुंच रही हैं। यह राम वह व्यक्ति है जो राजसत्ता का एक भिन्न आदर्श सामने रखकर चल रहा है। यह भिन्न है रावण के उस सत्तादर्श से जो दीन अनुरागी नहीं, स्वर्णानुरागी है। इसलिए सत्ता के जिस विकल्प की तलाश विभीषण को है, वह उन्हें राम में प्रतीकायित होती दिखती है। तब उन्हें लगता है कि उनके भाग्य खुल गए। एक द्वितीय आत्म-सा उन्हें मिल गया, एक द्वितीय व्यक्तित्व। दोनों ही यानी राम और विभीषण निर्वासित हैं। एक सहमत हो गया तो निर्वासित हुआ। दूसरा असहमत हो गया तो निर्वासित हुआ। एक तो भौतिक रूप से बाहर निकला, दूसरा मानसिक रूप से बाहर कर दिया गया। एक बाहर हो जाने के बाद भी भीतर बना रहा, दूसरा भीतर रहने के बाद भी बाहरी बना दिया गया। इस एक पर दूसरे को विश्वास है। इस एक को दूसरा एक ऐसे परिवेश के विकल्प के रूप में सोचता है जिसमें वह घिरा हुआ है और जिससे निकलने की उसकी तड़प प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इस एक के कारण ही विभीषण रावण की चरम विजय और प्रतिष्ठा की पराकाष्ठा के समय भी यह विश्वास लेकर चलते हैं कि दूसरा विश्व संभव है। याद करें, ब्राजील के पोर्टो अलेग्रे में 'द्वितीय विश्व सामाजिक मंच' की बैठक में नाओमी क्लीन ने क्या कहा था : We grew up with a message of impossibility. It was impossible to confront poverty, impossible to have a foreign policy independent of the United States .... Everything was impossible. But today, the world has changed. There is a new generation and now, It is possible. It is possible that people participate in choices as in Porto Alegre....we are constructing an alternative to a culture which says that no other society is possible. अर्थात् "हम असंभाव्यता के एक संदेश के तहत बड़े हुए। गरीबी से लड़ना असंभव था, सं.रा. अमेरिका से स्वतंत्र होकर विदेश नीति बनाना असंभव था... हर चीज असंभव थी। लेकिन आज दुनिया बदल गई है। यह एक नई पीढ़ी है और अब हां, यह संभव है।

यह संभव है कि लोग विकल्पों में भागीदारी करें ..... हम एक ऐसी संस्कृति के लिए विकल्प की निर्मिति कर रहे हैं जो यह कहती है कि कोई अन्य समाज संभव नहीं है।" राम में उन्हें इस संभावना का मूर्त्त रूप दिखाई देता है। बात सत्ता के विरोध की नहीं है, विकल्प की है। 'एंटी' न होकर 'आल्टर' होने की। राम एक लोकप्रिय संप्रभुता का प्रतिनिधित्व करते हैं, रावण इंडीवीजुअल संप्रभुता का। राम सत्ता के उस प्राधिकार को छोड़कर आ रहे हैं जो वंशानुगत था। वे अब अपना प्राधिकार दीन के अनुराग में अर्जित कर रहे हैं। वे प्राधिकार की स्थापना दीनों में कर रहे हैं। वे व्यक्ति की जगह एक 'कलेक्टिव' को अपना प्यार दे रहे हैं। यह 'प्रशासित की संस्वीकृति' वाला सिद्वांत है। रावण ने दुनिया भर से लूट कर अपने घर को भर लिया है, राम ने अपने घर को ही छोड़कर दुनिया का हो जाना पसंद किया है। राजनीति में कूदने से पहले गांधी जी ने भारत को जानना जरूरी समझा था और इसके लिए ट्रेन के डिब्बे में बैठकर भारत यात्रा की थी। शायद उनका ऐसा करना राम से अभिप्रेरित रहा जिन्होंने राज संभालने से पहले राज छोड़कर दुनिया देखना, आम लोगों के बीच रहकर उनकी व्यथा-कथा को अपना बनाना उचित समझा। आमजन की कथा ही रामकथा बन गई।

उस क्षण हनुमान ने रामकथा भी कही तथा अपना परिचय भी बताया। उसको सुनकर दोनों के तन पुलकित हो गए और गुण राशि राम का स्मरण कर दोनों के मन मग्न हो गए। तब का यह शब्द इस पूरे वाकये का एक महत्वपूर्ण समय-बिंदु है। तब यानी जब विभीषण को 'प्रीति अति होई' और जब उन्होंने राम की सही पहचान 'दीन अनुरागी' के रूप में की। यहां जिस प्रीति की बात है, वह ग्रीक शब्द 'Xenia' से वर्णित होने वाली प्रीति नहीं है जो वस्तुतः सत्कारमूलक होती है। यह प्रीति तो वह है जिसके लिए स्वयं तुलसी ने यह कहा है: 'कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा/लछिमन रामचरित सब भाषाः यह वह प्रीति है जिसमें दो के बीच में कुछ नहीं रहता। तभी जाकर रामचरित या रामकथा का पता लगता है। कोई न देख सका जिसको दो दिलों के सिवा/मुआमलात कुछ ऐसे भी दरम्यां गुजरे। इसके लिए ग्रीक उत्पत्ति का एक आंग्ल-पर्याय 'अगेपिज्म' ही उचित शब्द हैं। इस तरह के प्रेम में/बस यह प्रेम ही एकमात्र 'अल्टिमेट' वैल्यू है और बाकी सारे मूल्य इसी से निःसृत हैं। तुलसी प्रेम को छुपाने वाला नहीं, ईश्वर को प्रकट करने वाला तत्व मानते हैं। मानस में (1/185/3) वे कहते हैं : 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना/प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना'। आगे भी उनका मानना यही है कि 'अग जगमय सब रहित बिरागी/प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।' ईश्वर की व्याख्या करते हुए स्वामी मुक्तानंदजी ने ठीक ही कहाः उसका स्वभाव भी प्रेम, उसकी कृपा भी प्रेम, उसका देना भी प्रेम है, उसका लेना भी प्रेम है। तुलसी भी कहते हैं : 'रामहि केवल प्रेम पिआरा/जानि लेउ जो जाननि हारा'। नंददास रूप मंजरी में कहते है कि 'जदपि अगम तें अगम अति, निगम कहत है जाहि/तदपि रंगीले प्रेम तें, निपट निकट प्रभु आहि।। भक्ति काव्यधारा का यह मूल विश्वास है। प्रेम की शक्ति में आस्था। गोविंदस्वामी का यह विश्वास रहाः प्रीतम प्रीत ही तैपैये/जदपि रूप गुन सील सुधरता, इस बातन न रिझैये। भक्ति मानती है कि यह मेरे ह्दय में अत्यन्त प्रीति हो रही है तो या तो इसका केन्द्र समधर्मा हरिभक्त है या स्वयं श्री राम हैं। प्रमाण स्वयं यह दिल के भीतर प्रबल हो आया भावावेग है, यह अतीव है। लेकिन यह होता कैसे होगा? निराला परिमल (215) में हमें बताते हैं : प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है/ सदा ही निःसीम भू पर/प्रेम की महोर्मि-माला तोड़ देती क्षुद्र द्वार/ जिसमें संसारियों के सार क्षुद्र मनोवेग/ तृण-सम बह जाते है।" यहां तो अनुमान है, तब यह हाल है। अन्यथा राम के प्रत्यक्ष दर्शन पर तो" उर कछु प्रथम वासना रही/प्रभु पद प्रीति सरित सों बही।" देखिए कि प्रीति की बात वहां भी की गई है। प्रीति के लिए अपने ह्दय का प्रमाण ही पर्याप्त है। ईश्वर प्रेमानंदस्वरूप है। इसलिए तुलसी को लगता है कि जब राम स्वयं अनुरागी हैं और विभीषण का ह्दय स्वयं प्रेम से व्याप्त हो रहा है- "तब" ही सबसे अच्छा

मुहूर्त है-रामकथा का।

यहां तो हनुमान जी ने रामकथा कही है, वरना हनुमान तो ऐसे है जो रामकथा सुनने में रस लेते हैं। " रामकथामृत मधु निपिवन्तं " के रूप में उनकी आराधना की ही जाती है और जन विश्वास है कि जहां रामकथा चल रही होती है, वहां स्वयं हनुमान किसी न किसी रूप में विराजमान रहते जरूर हैं। इस लोकश्रुति के आधार पर मुझे यह लगता है कि हनुमान भी अनन्तरूपा हैं क्योंकि रामकथाएं तो इस देश और उसके बाहर भी लाखों लोगों के द्वारा समवर्ती रूप में कही जा रही होती हैं और हनुमान को एक ही समय उनमें से हरेक में मौजूद होना होता है। सिद्धि की शक्तियों में से एक यह भी है। लेकिन यह विश्वास भारत में राम-कथा के गायन और श्रवण को एक अलग ही किस्म की सार्थकता से संवलित करता है। एक अपनी ही गरिमा, प्रतिष्ठा और पवित्रता से। जो श्रोतृमंडली हनुमान जैसे के कर्णावधान से श्रृंगारित है, उसका गौरव ही दूसरा है।

किसी ने कहा है : श्रुत्वा रामकथां रम्यां शिरः कस्य न कम्पते अर्थात् राम की रम्य कथा सुनकर कौन आनंद से अपना सिर नहीं हिलाता? तुलसी ने रामचरितमानस की शुरूआत में ही रामकथा के महत्व का वर्णन किया है। रामकथा स्वयं अपने आप में एक ऐसी वर्णना है जो मन को मगन और तन को पुलकित रखने की सामर्थ्य रखती है। यह सामर्थ्य जितना वक्ता को तन्मय करती है, उतना श्रोता को भी। इसका कहीं एक आशय यह भी है कि वक्ता का मनोनिवेश श्रोता को भी अंतर्लीन कर देता है। या इसका उलट यह भी है कि श्रोता का एकाग्रण और प्रणिधान वक्ता को भी भावमग्न और समाधिस्थ कर देता है। रामकथा को कहने और सुनने की सार्थकता उस आत्मविस्मृति में है जो इसके व्याख्याता और श्रावक दोनों को आप्लावित कर लेती है।

यह अकारण नहीं है कि रूडयार्ड किपलिंग ने कहा किः Fiction is truth's elder sister. Obviously, No one in the world knew what truth was till someone told a story अर्थात् कथा सत्य की बड़ी बहन है। स्पष्टतः जब तक किसी ने कहानी नहीं कही थी तब तक संसार में कोई नही जानता था कि सत्य क्या है? जो भी हो हनुमान तो सत्य के वाहक ही हैं। रामकथा भी भारतीय मानस ने कथा या कल्प की तरह स्वीकार नहीं की। वह एक शाश्वत सत्य की तरह हमें उपलब्ध है। हनुमान ने वही रामकथा विभीषण को बताई। वे विभीषण को राम की आपबीती बताते हैं। स्वाभाविक है कि बताने का यह काम बहुत तटस्थ, निरपेक्ष, उदासीन तरह से न हो। हो सकता है कि राम की जीवनगाथा बताते हुए हनुमान के नेत्रों से प्रेमाश्रु बह रहे हों, उनका कंठ गद्गद् हो आया हों, अपनी सुधबुध न रह गई हो और उसे सुनते सुनते विभीषण भी पूरी तरह से अभिभूत हो गए हों। एक समाधि-सी लग गई हो दोनों की।

रामकथा को हनुमान लंका लेकर पहुंचे हैं। रामकथा के दक्षिण की ओर जाने की पहली संघटना। इसके बाद तो रामकथा सम्पूर्ण दक्षिण एशिया, कहें कि दक्षिण-पूर्व एशिया में फैल गई। महाकवि योगीश्वर द्वारा प्राचीन जावानी भाषा में विरचित रामायण का काबीन, सेरतराम, सेरतकांड, राम केलिंग, कंपूचिया की रामकेर्ति, लाओस की फ्रलक फ्रलाम (रामजातक), ब्रह्मचक्र, लंका नोई, ख्वाय थोरफी, थाईलैंड की तासकिन रामायण, सम्राट राम प्रथम की रामायण, सम्राट राम द्वितीय की रामायण, सम्राट राम चतुर्थ की रामायण, सम्राट राम षष्ठ की रामायण में रामकथा आई। मलेशिया में सेरी राम, हिकायत सेरी राम, पातानी रामकथा और हिकायत महाराज रावण रामकथा का वर्णन करती हैं। बर्मा में रामवत्थु सहित 16 रामकथा-रचनाएं हैं। श्रीलंका में कुमारदास ने संस्कृत में जानकीहरण नामक रचना की थी और सिंहली भाषा में मलयराज कथाव के नाम से रामकथा रची गई। हनुमान के बाद से रामकथा का दक्षिण में प्रभाव जोर पकड़ गया। रामकथा वाचन अब तो भारत के कोने-कोने में घटता है। कभी श्री शाश्वत जी भार्गव जैसे बहुत कम उम्र के वाचक की खबर

सुनाई पड़ती है तो कभी फारूखी रामायणी जैसे सांप्रदायिक सद्भाव के जीते जागते दृष्टांत रामकथा सुनाते है। यह भी ध्यान रखें कि जनश्रुति यह चलती है कि हनुमान जी ने पत्थर पर रामकथा लिखी थी, लेकिन महर्षि वाल्मीकि की चिन्ता का समाधाान करने के लिए उन्होंने वह रामकथा समुद्र में डुबो दी। हनुमान के द्वारा लिखित रामकथा से वाल्मीकि की सामर्थ्य का कवि भी हतप्रभ हो गया था और उन्हें इस बात का अवसाद हो आया था कि हनुमान के कृतित्व के सामने उनकी रामकथा को संसार में कौन पूछेगा? तब हनुमान ने अपनी रचना को सिंधु-समर्पित कर वाल्मीकि की फिक्र दूर की थी। हनुमान की प्रतिभा अद्वितीय थी, इसमें कोई शक नहीं। जिस रामकथा पर हनुमान का निजनाम अंकित हो वह कैसी अद्‌भुत रामकथा होगी। संभवतः इन्हीं वक्ता (हनुमान) और इन्हीं श्रोता (विभीषण) को ध्यान में रखकर तुलसीदास जी ने बालकांड की शुरूआत में ही कह दिया था : "श्रोता वकता ग्याननिधि कथा राम के गूढ़" (30ख)। हनुमान ने विभीषण के सामने वह रामकथा कही जो उनके निजनाम की थी। बाद में वाल्मीकि के शोक का समाधान करने के लिए उसे तो नष्ट होना था। विभीषण इस अर्थ में एक अद्‌भुत भाग्यशाली व्यक्ति हैं। उन्हें वह सुनने को मिला जिससे शेष संसार वंचित रह गया। विभीषण सचमुच ही "बड़भागी" हैं कि उन्होंने वह रामकथा सुनी जिसे बाद के सभी कालों के लिए लुप्त हो जाना था। उस रामकथा ने उनके सारे संशयों को दूर कर दिया। तुलसी ने सही ही कहा था - 'रामकथा सुन्दर करतारी। संशय विहग उड़ावन हारी।' हनुमान की व्याकरण शुद्धता, भाषायी लालित्य, शब्दोच्चारण के प्रावीण्य पर तो राम पहले मिलन में में ही मुग्ध हो गये थे। वे हनुमान जब विभीषण को रामकथा सुना रहे होंगे तो उनका मन तो पुलकित होना ही था, उन्हें तो मगन होना ही था।

ऐसा इसलिए भी कि हनुमान की रामकथा वाल्मीकि से भी सांप्रतिक है। वह तब है जब राम अभी पृथ्वी पर घट ही रहे हैं। उनकी कथा अभी चल ही रही है। उनके अस्तित्व की ऊष्मा और सौरभ अभी बना ही हुआ है। इसलिए हनुमान की कथा अभी 'गर्म' है। यह रामकथा असाधारण है। स्वयं तुलसी ने रामकथा के बारे में कहा है : "बुध विश्राम सकल जनरंजनि/रामकथा कलि कलुष विभंजनि/रामकथा कलि पंनग भरनी/पुनि विवेक पावक कहुँ अरनी/रामकथा कलि कामद गाई/सुजन सजीवनी मूरी सुहाई/सोई वसुधातल सुधा तरंगिनि/भय भंजनी भ्रम भेक भुअंगिनी/असुर सेन सम नरक निकंदिनि/ साधु विबुध कुल हित गिरिनंदिनि/संत समाज पयोधि रमा सी/विस्व भार भर अचल छमा सी/जम गन मुँह मसि जग जमुना सी/जीवन मुकुति हेतु जनु कासी/ रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी/तुलसीदास हित हिये तुलसी सी/सिवप्रिय मैकल सैल सुता सी/सकल सिद्वि सुख संपति रासी/सदगुन सुरगन अंब अदिति सी/रघुबर भगति प्रेम परमिति सी/रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारू/ तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारू।।" तो हनुमान सुंदरकांड में बिभीषण को वही रामकथा सुनाते हैं जो सब मुनष्यों को प्रसन्न करने वाली है, पृथ्वी पर अमृत की नदी है, सब सिद्‌धियों की तथा सुख-संपत्ति की राशि है। इस रामकथा को सुनाने की भी एक वरिमामय परंपरा है : रामकथा मुनिबर्ज बखानी/ सुनी महेस परम सुख मानी/रिषि हरिभगति सुहाई/कही संभु अधिकारी पाई/ इस परम्परा में आगे चलकर सुंदरकांड में हनुमान को रामकथा वर्णन का मौका मिला है और वे इसका पूरा रस ले भी रहे हैं।

हनुमान ने रामकथा को कहने में हमेशा जो एक विशिष्ट सुख पाया है वे उससे तो मुदित होंगे ही, इससे भी होंगे कि उन्हें सुनने के लिए विभीषण जैसा संस्कारी और रामानुरागी व्यक्ति मिला। स्टोरीटेलिंग की यह एक वाचिक परम्परा है जिसके संस्थापक स्वयं हनुमान थे। यह कथावाचकों की उस लंबी चौड़ी परम्परा से भी अलग है। यहां तो 'वन-ऑन-वन स्टोरीटेलिंग' है। यहां तो लगता है जैसे श्रोता की भी कथा में भागीदारी हो गई है।

स्टीफन डेनिंग ने उचित ही कहा है कि

Storytelling was more than one tool : it was at least a whole array of tools, tools that could help achieve multiple purposes such as sparking people into action, communicating who you are, transmilting values, sharing knowledge and leading into the future. अर्थात् "कथावाचन सिर्फ एक यंत्र से अधिक है : यह यंत्रों का एक बड़ा क्षेत्र है, यंत्र जो बहुत से उद्देश्यों को उपलब्ध करने में मदद करते हैं जैसे लोगों को कर्म के लिए संस्फूर्त करना, उन्हें यह संप्रेषित करना कि आप कौन हो, मूल्यों को अन्तरित करना, ज्ञान बांटना और भविष्य की ओर लिए चलना।"

हनुमान का रामकथा वाचन भी यही करता है। वह विभीषण को कर्मरत कर देता है, उसे यह भी संप्रेषित करना है कि स्वयं हनुमान क्या हैं, उन्हें कुछ मूल्यों को अंतरित करता है, उनसे ज्ञान को शेअर करता है और उन्हें भविष्य की ओर लिए चलता है, रामकथा एक मेटानैरेटिव है और इसलिए जितना आनन्द हनुमान को उसे कहने में आता है, उससे ज्यादा उसे सुनने में विभीषण को आता है। रामकथा फेयरीटेल नहीं है। यहां तो कदम-कदम पर असफलताएं हैं और कष्ट लिखे हुये हैं। लेकिन शायद उसी कारण रामकथा विभीषण के लिए इतनी प्रेरक बन पाई है। निराला के राम यही तो कहते हैं : 'धिक जीवन जो पाता ही आया सदा विरोध'। लेकिन इन्हीं विरोधों ने राम की जिजीविषा की परीक्षा ली और उन्हें उदात्त बनाया। राम का यह स्वर निराला में एक और जगह फूटा जब सरोज स्मृति में बड़े विषण्ण मन से उन्होंने कहा : 'दुख ही जीवन की कथा रही।' इसलिए हनुमान जब विभीषण को दुखों और विरोधों के ऊपर उठकर आने वाले राम की कथा सुनाते हैं तो विभीषण उन्हें अपने अत्यन्त समीप पाते हैं। उन्हें अपने संकटों में संभावनाएं दिखाई देने लगती हैं।

हनुमान पहले रामकथा कहते हैं, फिर अपना नाम बताते हैं। सामान्यः कोई भी पहले अपना नाम बताता और फिर रामकथा कहता। लेकिन हनुमान की बात कुछ और ही है। उन्होंने नाम बता दिया, यही बहुत बड़ी बात है। वो भी इसलिए क्योंकि विभीषण ने पूछा था। अन्यथा हनुमान बहुत ही आत्म-संलोपक (self-effacing) किस्म के जीव हैं। विभीषण की पृच्छा के प्रति शिष्टाचार निभाने के उद्देश्य से उन्होंने निज नाम बता दिया। वे नार्सीसस के एकदम विपरीत हैं। मूसा जैसी विनम्रता उनमें है, जिसके तहत उन्होंने कहा था : हू एम आई (Ex. 3:11)। हनुमान तो अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व तक नहीं माने, वे तो अपने भगवान राम की इच्छाओं के सामने समर्पित हैं। वे तो जोसेफ बी. सोलोवीतचिक के, जो हमारे समय के सबसे गहरे धर्मचिन्तक हैं, द्वारा परिभाषित इस अवधारणा के ही कहीं नजदीक हैं कि सत का एक ही रूप है, ईश्वर। वह और हम (बिइंग) एक ही हैं। यथार्थ और आदर्श, ठोस और पार (ट्रांसेंडेंटल) सब उसमें अस्तित्ववान हैं।' हनुमान के लिए राम ही सर्वस्व हैं। वे राम में हैं और राम उनमें हैं। अब्राहम तो खुद को "धूल और राख" (dust and ashes) मानते थे। हनुमान के लिए तो रामनाम ही सब है, निजनाम की बात आती ही नहीं। स्कन्दपुराण में कहा गया है। 'रामनामैव नामैव नामैव मम जीवनम।' "रामनाम ही मेरा जीवन है। हनुमान के साथ भी ऐसा ही है। रामनाम ही उनका जीवन है। तुलसी ने दोहावली (18) में निजनाम और रामनाम की यही तुलना की है : 'मोर मोर अब कहँ कहसि तू को कहु निज नाम/कै चुप साधाहि सुनि समुझि कै तुलसी जपु राम।।' भिखारीदास (काव्य निर्णय, 25 वां उल्लास) कहते हैं कि 'दास' कहे पैहलाद उबारत रामहुँ ते पैहले किहि ठॉई/राम बड़ाई न नाम बड़ौ भयो राम बड़ौ निज नाम बड़ाई।" और कबीर भी : आदि नाम निज मूल है, और मंत्र सब डार/ कह कबीर निज नाम बिनु, बूड़ि मुआ संसार।। इसलिए रामकथा को पहले और निजनाम को बाद में रखकर तुलसी हनुमान के उस मनोभाव के प्रति अपनी सतर्कता का परिचय देते हैं।

'नाम'- यह शब्द पुरानी अंग्रेजी अफ्रीकांस, डच, जर्मन, इंडोनीरीयन, क्रियोमलय, सामी आदि भाषाओं में

है, यह फ्रेंच में 'नाम' के रूप में है। हनुमान के लिए बात इस नाम की नहीं है, काम की है। महत्व उसी का है। रामकाज का। नृतत्वशास्त्री नाम रखने को पर्सेप्शन पर आर्डर (व्यवस्था) का आरोपण कहते हैं। विभीषण हनुमान को देखे तो हैं, अब नाम जानकर उनमें शायद हनुमान को अपने मनः जगत में प्लेसमेंट करने में आसानी हुई होगी। रिचर्ड वाट्सन गिल्डर ने कहा था कि My name may have buoyancy enough to float upon the sea of time. हनुमान के नाम में तो वाकई यह buoyancy है क्योंकि उनका नाम तो समय के सिंधु में फ्लोट करता रहा। जैसे वे चिरंजीवी हैं, वैसे ही उनका नाम भी है। लेकिन हनुमान उस अंग्रेजी गीत 'माइ नेम, से माई नेम' जैसा कोई आग्रह भी नहीं कर रहे है। वे तो बस नाम पूछा तो नाम बता देते है। उनका बताना कोई अहं- संवेदी (ego syntonic) बताना नहीं है। फिर भी हम लोग हनुमान जी के नाम के बारे में यह जरूर कह सकते हैं कि 'बस तेरा नाम ही मुकम्मल है। इससे बेहतर भी नज़्म क्या होगी।' हनुमान भी रामकथा कहने के बाद अपनी कथा नहीं कहते। अपना सिर्फ नाम कहते हैं। उनका नाम ही मुकम्मल है और कथा, सो रामकथा में ही वह निहित है। उससे पृथक कुछ नहीं।

जब हनुमान ने रामकथा कही तो तुलसी ने कहा कि युगल तन में पुलक भर गई। अब रामकथा को सिर्फ मन को पुलकित करने वाला नहीं कहा जा सकता। वह तन को भी हर्षित और उत्फुल्लित करती है। सोचिए कि हनुमान ने अभी तक कोई विश्राम नहीं लिया है। सोचिये कि विभीषण सुबह की अलस स्थिति में है। रामकथा ने सहसा दोनों के ही शरीरों में स्फूर्ति का संचार कर दिया। प्राचीनकाल से ही कथावाचन को सिर्फ मनोरंजन नहीं माना गया, एक मेडिसिन भी माना गया। समझा गया कि कथाएं चंगा (heal) करती हैं। हमारे यहां पंचतंत्र इस बात का उदाहरण है कि किस तरह कथाएं सुनाकर राजपुत्रों के तन-मन-बुद्धि को दृढ़ किया गया था।

वे राम जो गुणों के ग्राम हैं, गुणराशि हैं, का स्मरण करने लगे। या, वे राम के गुणसमूहों का स्मरण करते हुए आनंदित होने लगे। वे स्मृतिलीन हो गए। राम के स्मरण ने उनका मर्मस्पर्श कर लिया । दिल धड़कने का सबब याद आया। वो तेरी याद थी अब याद आया। याद और वह भी राम की । सहजोबाई की पंक्तियां इसी राम, इसी स्मरण और और इसी गुण चर्चा के बारे में है : जब लग रहे शरीर में, राम सुमिरि गुन गाय/जग देखत तुम जावगे, तुम देखत जग जाय, दरिया साहब मारवाड़ वाले की सलाह पर मानों ये दोनों- हनुमान और विभीषण- चल ही रहे होंः सकल ग्रंथ का अर्थ है, सकल बात की बात/ दरिया सुमिरन राम का, कर लीजै दिन रात।।

क्षेमेन्द्र ने कहीं कहा है कि 'साधुरेव प्रवीणः स्यात् सद्गुणामृतचर्वणैः' कि सद्गुण रूप अमृत का आस्वाद लेने में प्रायः सत्पुरूष ही कुशल होते हैं। तो यदि विभीषण और हनुमान स्वयं सत्पुरूष हैं तो उन्हें राम के सद्गुण क्यों नहीं याद आते? गुण व्यक्ति की मूर्ति हैं, गुण छवि हैं। राम का शौर्य, धैर्य सत्य, शील, बल, विवेक, दम, परहित, क्षमा, कृपा, समता, विरति, संतोष, दान, बुद्धि, विज्ञान, अमलता, अचचंल मन, शप, यम, नियम, विप्र, पूजा, गुरू पूजा ये सब उन्हें याद आए होंगे। ये ही गुण जीवन संग्राम में राम का रथ बने हैं। राम की यशोप्रतिमा इन्हीं गुणों से निर्मित है। 'कालहु जीति निमिष मँह आनऊँ' में शोर्य है राम का। इसके विपरीत सीता को चुराकर ले जाने वाला रावण कापुरूष है। "जौं नहिं फिरहिं धीर दौउ भाई/सत्यसंघ दृढ़व्रत रघुराई" में धैर्य प्रकट होता है राम का। दूसरी ओर रावण का अधैर्य तो सीताहरण के प्रसंग में ही प्रत्यक्ष है। हनुमान और विभीषण दोनों को लगता है कि राम कितने धैर्यवान हैं कि अपनी पत्नि के अपहर्ता से सीधे बदला लेने की जगह वे वनवासियों को उसके अत्याचारों से भिड़ने के लिए तैयार करने के लांग-टर्म लेकिन सामाजिक सार्थकता वाले काम में लगे हैं। सत्य तो राम की बुनियादी प्रतिज्ञा है ही। 'राम द्विर्नभाषते' या 'सखा

वचन मम मृषा न होई।' बाद में विभीषण पहचानेंगे हीः 'राम सत्य संकल्प प्रभु सभा कालबस तोहि। वही रावण तो कपट का साक्षात् उदाहरण है। "सो दससीस स्वान की नाई/इत उत चितइ चला भड़िहाई।" सूना पाकर कुत्ता चुपके से बर्तन भाड़ों में मुंह डालकर कुछ चुरा ले जाता है, रावण भी वैसे ही सीता को चुराने चला। इसी कारण उसमें शील भी नहीं है, जबकि राम के बारे में तुलसी ने ठीक ही लिखा कि 'तुलसी कहूं न राम से साहिब सीलनिधान। राम ने अपने पिता के वचनों का मान रखने के लिए सिंहासन त्यागना उचित समझा जबकि रावण ने कितनी ही स्त्रियों के साथ बलात्कार किया। सूर्पणखा अरण्य कांड में जब रावण को कोसती है :- 'करसि पान सोबसि दिनु राती कहकर, तो वह "राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा वाले" उसके शासन की आलोचना भी करती है। बल तो राम में सहज है। अरण्यकांड में राम न केवल कहते हैं कि "रिपु बलवंत देखि नहि डरहीं/ एक बार कालहु सन लरहीं।" बल्कि एक दुर्धर्ष युद्ध में खरदूषण की विशाल सेना का ध्वंस कर सिद्ध भी करते हैं, जबकि रावण स्वयं अपने बल के बारे में शंकित है और उसके बारे में बाहरी तौर पर वाचाल भीः सूपनखहि समुझाइ करि बल बोलेसि बहु भांति/गयउ भवन अति सोच बस नीद परइ नहिं राति।।' विवेक के संबंध में यही कंट्रास्ट है। राम तो "प्रभु करूनामय परम विवेकी" हैं ही। इसलिए सत्तासीन बालि को न चुनकर खदेड़ दिये गए सुग्रीव को चुनते हैं। रावण तो 'हित अनहित मानहु रिपु प्रीता" है। विभीषण तो साफ कहते हैंः तब उर कुमति बसी विपरीता।' राम 'दम' के निर्वाह में भी आगे हैंः 'राम सुजान विषय रस रूखे।' जबकि रावण वृद्ध मंत्री माल्यवान और प्रहस्त आदि के प्रति भी आविष्ट होकर कटु वचन कहता है। परहित की कसौटी पर राम को क्या कहें। उनका तो अवतरण ही इस पृथ्वी पर इसलिए हुआ। अहिल्या से लेकर और कितने कितने असंख्य लोगों ने उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। रावण तो 'विश्वद्रोहरतखल' है। क्षमा के संदर्भ में राम "निज अपराध रिसाहि न काऊ" की सैद्धान्तिकी पर चलते हैं जबकि रावण तो न विभीषण, न माल्यवान, न मारीच, न कालनेमि, न प्रहस्त और न शुक को क्षमा करता है। राम की कृपा निरन्तर बरसती रहती है जबकि रावण 'हिंसक, देवपरितापी' है। राम 'सब मम प्रिय सब मम उपजाए' का समता भाव रखते हैं और रावण विप्र और देव तक का विरोधी है। राम में वैराग्य भाव यहां तक है कि वे सिंहासन को ठुकराकर अपने व्यक्तित्व के पुनरान्वेषण के लिए वनगमन कर जाते हैं और रावण में स्वर्णासक्ति से लेकर महिलासक्ति तक सब कुछ है। राम तो 'राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं। आज जब हम देखते हैं कि किस तरह लोग वंश-विरासत का विनियोग अपने हित में काम करने में लगे हैं, तब राम "बाप के राज" को कैसे आसानी से छोड़ जाते हैं। यहां हमारे आसपास लोग हर कहीं "बाप का राज" समझकर मशगूल हैं। रावण की आसक्ति एक राज्य से दूसरा राज्य जीतने और एक स्त्री के बाद दूसरी को हासिल करने में है। राम की यह विरति वही है जिसे पंतजलि के योगसूत्र में 'उपेक्षा' कहा गया। राम की संतोषी-वृत्ति तो पर्णकुटीर का भी आनंद ले लेती है जबकि रावण स्वर्ण-महल में भी बुभुक्षित है। राम तो दान का विग्रह ही हैंः 'जो संपति सिव रावनहि दीन्ह दिये दस माथ/सोइ संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्ह रधुनाथ।' राम को दान देते हुए भी संकोच होता है और रावण को तो acquisitive (परिग्रह का विग्रह) ही होना सुहाता है। लूटना/प्लंडर वही उसकी नीति है। राम की बुद्धि-राम तेज बल बुद्धि बिपुलाई/सेष सहस सत सकहिं न गाई'-अवर्ण्य है और रावण की मूढ़ता एकदम प्रत्यक्ष। रावण राम को मूर्ख समझता है- जौं असि मति सहाय कृत कीसा- जब ऐसी बुद्धि है तभी तो वानरों को सहायक बनाया है जबकि राम लगातार रावण की विद्वता का आदर करते चलते हैं। दूसरे को मूर्ख समझने वाला मूर्ख होता है। दरअसल आप इस कंट्रास्ट के लिये भले ही इस तुलना का उपयोग कर लें लेकिन तुलना करते-करते ही यह लगने लगता है कि राम को किसी आपेक्षिक तरीके से देखना राम को

हल्का बनाना है। राम की श्रेष्ठता इसमें थोड़ी है कि वे रावण से बेहतर हैं। राम को रावण के ऊपर कोई अंक थोड़े ही स्कोर करने हैं। उनका आयाम ही अलग है।

राम गुणों के समूह हैं। उनकी नैतिक श्रेष्ठताएं हनुमान और विभीषण दोनों को आकर्षित करती हैं क्योंकि उनके कारण वे रावण की सत्तातिरिक्तता का विकल्प नजर आते हैं। विकल्प, न कि प्रतिकल्प। उनके गुणों की स्वतंत्र सत्ता है। इन सबके बावजूद उनमें एथिकल ईगोइज्म का लेश नहीं है। उनमें गुणधर्मिता है लेकिन गुणों की हठधर्मिता नहीं है। राम ने अपनी प्रतिष्ठा-पूंजी (रेपुटेशन कैपिटल) जिन सद्‌गुणों के सहारे निर्मित की है वह जिन्दगी के मार्केट प्लेस के लिये नहीं है। वह तो निर्वासितों और अनागरिक बना दिए गए जीते जागते प्राणियों का अकेला धन है। राम तीन धर्मशास्त्रीय गुण-श्रद्धा, आशा और दया- ही नहीं रखते हैं, न ही चार 'कार्डिनल' गुण-बुद्धि, न्याय, संयम और साहस-मात्र रखते हैं। तुलसी उनकी संख्या नहीं गिनाते है, बस उन्हें गुण ग्राम कहकर संतुष्ट हो लेते हैं। राम की निजी मेरिट्स जो सामाजिक अंतःक्रिया में वरदान बनकर आती हैं। राम का गुण-प्राचुर्य राक्षसी परिवेश के अंधेरे में ज्योति की तरह सामने आता है।

लेकिन तुलसी राम को सर्वगुण संपन्न न कहकर गुणग्राम कहते हैं। हालांकि तुलसी के समय न तो इमेजिन टीवी था, न उस पर आने बालाजी टेलीफिल्मस का सीरियल शो 'सर्वगुणसंपन्न'। लेकिन तब भी तुलसी भारतीय परिवारों की बहू से की जाने वाली उस अतिवादी अपेक्षा को देखते तो होंगे ही और अपार बौद्धिक होने के कारण उससे अपनी तरह की ऊब भी उन्हें हुई होगी। जिन्हें वह ईश्वरावतार मानते थे, उन्हें तो वे सर्वगुणसंपन्न कह ही सकते थे लेकिन उन्हें भी गुणग्राम ही कहकर उन्होंने अपनी उस ऊब को भी स्पष्ट किया। एक अतिवादी अपेक्षा अपने आप में दमनात्मक है। अव्यावहारिक तो वह है ही। उसका दुष्परिणाम यह है कि वह असहिष्णु बनाती है। यह ठीक है कि मनुष्य को प्रतिपल नैतिक उत्कर्ष के शिखर को छूने की कोशिश करनी चाहिये, लेकिन सर्वगुणसंपन्नता के चक्कर में वर्तमान गुणों का संज्ञान न लेना अपने आप में अन्याय है। परफेक्शनिज्म और डिप्रेशन के संबंधों पर इन दिनों काफी काम हुआ है। सर्वगुणसंपन्नता का स्वयं या दूसरे में न होना उनकी सामाजिक कनेक्टेडनेस में व्यवधान उत्पन्न करता है। उच्च मानकों के लिये न केवल आदर जरूरी है बल्कि प्रयत्न भी जरूरी है ; लेकिन उनकी सभी संदर्भो में एक बहू से अपेक्षा करना उसे यकीनन मनस्ताप से ग्रस्त करेगा। लोगों की श्रेष्ठताओं को सह लेने में कौनसी श्रेष्ठता है, लोगों की मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूति में हमारी श्रेष्ठता है। राम को तुलसी ने मानस में जगह-जगह गुणग्राम कहा है। वे अतिवादी आशाओं से परहेज करते हैं क्योंकि उनका नज़ला आम आदमी पर गिरता है। जब वे सर्वगुण सम्पन्न को भी गुणग्राम कहकर एक अंडर स्टेटमेंट से काम लेते हैं तो उनके सामने हम हैं जो एक गुणग्राम को सर्वगुण संपन्न कहकर उसे अपनी ओवर-एक्सपेक्टेशन से मार देते हैं। आदमी कभी जीवन अपनी मर्जी का जी ही नहीं पाता। लोग उसे हीरो भी बनाते हैं, लेकिन एक अवगुण का पता चलते ही उसकी उतार भी देते हैं। इसमें एक निहित अन्याय है। तुलसी राम को सर्वगुणसंपन्न न कहकर गुणग्राम कहने में अपनी इसी अंतर्दृष्टि का परिचय देते हैं।

महत्व इसका भी है कि विभीषण गुण-स्मरण कर रहे हैं। राम के रूप में एक सहायक पॉवर की बात नहीं है, गुण-चर्चा है। वे नीतिहीन मैत्री की अपेक्षा नहीं है। वैसा करना दोनों का ही अवमूल्यन होता। राम ऐसे मित्र को पसंद ही नहीं करते जो गुण ही जगह खुद के फायदे की ही चिन्ता करता हो। विभीषण स्वयं भी इतने क्षुद्र नहीं हैं कि अपने स्वार्थ को ही किसी भी मैत्री की कसौटी मानें। दरअसल विभीषण राम को अपने आत्म की ही एक व्याख्या मानते हैं। इसलिए गुण की ही रस्सी से वे एक दूसरे से बंधते हैं। इसी कारण वे एक गुणवत्तापूर्ण मैत्री कर पाते हैं।

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी।
जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी।।
तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा।
करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा।।
तामस तनु कछु साधन नाहीं।
प्रीति न पद सरोज मन माहीं।।

फिर विभीषण जी बोले - हे पवनसुत हमारी रहनी सुनो। वह वैसी ही है जैसे दांतों के बीच जीभ रहती है। हे तात! मुझे अनाथ समझकर सूर्यकुल के नाथ अर्थात राम मुझ पर कब कृपा करेंगे। मेरा शरीर तामसी है। कुछ साधना नहीं है और न मन में श्रीराम जी के चरणकमलों में प्रीति ही है।

हनुमान एक ताजा सांस की तरह आए। एक बादे-सबा की तरह। ठंडी **हवा** के झोंके की तरह। पवनसुत के साथ भानुकुलनाथा की याद करते हुए विभीषण राबर्ट लुई स्वीबेंसन की कविता 'एन इंग्लिश ब्रीज' की याद दिलाते हैं। 'अप विद द सन, द ब्रीज अरोज/अक्रास द टाकिंग कॉर्न शी गोज/थ्रू आल द लैंड हर टेल शी टेल्स/शी स्पिन्स, शी टॉसेज, शी कम्पेल्स'। विभीषण के लिए पवनसुत प्राणवायु की तरह आए है। विभीषण के मुख से हनुमानजी का पवनसुत नाम ही निकलता है, शायद इसलिए क्योंकि वह इतनी घुटन महसूस कर रहे हैं, कि आजादी की **हवा** में सांस लेना ही उनका स्वप्न हो गया है। विभीषण की सांस उस खुली कैद में अटक रही है जो रावण-राज ने निर्मित की है। यह कैद शरीर की नहीं है। यह मनौवैज्ञानिक जेल है। यह एकान्ति और पृथकता को वैसे ही सुनिश्चित करती है जैसे कोई कारागार। इसलिए विभीषण में सिचुएशनल विदड्राअल आ गया है। राजकाज में उनकी चलती ही नहीं। वे अपने विचारों के साथ अकेले रह गए हैं। खोटे सिक्कों ने खरे को प्रचलन से बाहर कर दिया हैं। एक तरह का रिजेक्शन है और अवरोधों की अदृश्य सलाखें सब ओर खड़ी कर दी गई हैं। विभीषण का दम घुटता है। उनकी आत्मा और अन्तःकरण की सांसे रुँध गई हैं। विभीषण 'इज बॉर्न फ्री बट एव्हरीवेअर ही इज इन चेन्स।' तब हनुमान का आना उन्हें लगता है कि जैसे ठीक दम उखड़ने के वक्त ऑक्सीजन सिलेंडर मिल जाए। इसलिए हनुमान को वे पवनसुत कहते हैं।

और अपनी आपबीती बताते हैं, उसमें भी वहीं कैद का रूपक है। वे ऐसे रहते हैं जैसे दांतों के बीच जीभ रहती है। लेकिन शायद यह उनके अकेले का दर्द नहीं है। बहुत से और लोग भी हैं जो इस रावण-राज में इस तरह अवरूद्ध और हताश महसूस कर रहे हैं। इसलिए तुलसी 'हमारी' शब्द का प्रयोग कर ऐसा संकेत देना चाह रहे हैं कि बात सिर्फ उनकी नहीं है, एक विशाल जन-समुदाय की है। यह समुदाय भय और दमन का सबसे आततायी स्वरूप देख रहा है। इसलिए जिन विभीषण के लिए तुलसी एकवचन 'मोरे हृदय प्रीति अति होई या 'तात कबहु मोहि जानि अनाथा' या 'अब माहि भा भरोस हनुमंता' का प्रयोग करते हैं, यानी 'मोरे' या 'मोहि' की शब्दावली; उन्हीं विभीषण के लिए सहसा बीच ही में यह 'हमारी' वाली बात आ जाती है। यह संभवतः इसलिए क्योंकि विभीषण का अभियान जन-चेतना का अभियान है। विभीषण कोई व्यक्तिगत मुक्ति का आदर्श लेकर नहीं चल रहे हैं। वे सभी स्वतंत्रचेता लंकावासियों की ओर से कह रहे हैं। लंका का स्वतंत्रमना वर्ग रावण की तानाशाही को भुगत रहा है, उसकी शास्तियों को झेल रहा है। वे निजी स्वतंत्रताओं के हनन को लेकर क्षुब्ध नहीं हैं, वे तो दमन की उन संरचनाओं से क्षुब्ध हैं जो उनके जैसे न जाने कितनों की संभाव्यताओं का गला घोंट देती हैं। वे 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत' जैसी बात नहीं कह रहे हैं। वे तो सामूहिक जीवन के विकास में अवरोध बनी चीजों की ओर इंगित इस 'हमारी' शब्द के माध्यम से कर रहे हैं।

हनुमान और राम का मिशन कोई निजी मिशन नहीं है। सीता-हरण तो सामाजिक यातना के उस रावणी दौर को प्रतीकायित करने वाला दुष्कर्म था। रावण ने तो विश्व को संत्रस्त कर रखा था। इसलिए विभीषण भी 'व्ही' (हम) की बात करते हैं। 'मैं' की नहीं। दमन अकेले विभीषण का नहीं है। भले ही लंका स्वर्ण की बनी हो, लेकिन इस लंका में रावण की क्रूर निगाहों के तले ही रहना है। रूसी लेखक येवजेनी जाम्याटिन ने सोने की नहीं, शीशे की लंका जैसी नगरी की कल्पना अपने उपन्यास 'वी' में की थी। उसके कल्पित शहरी राष्ट्र (अर्बन नेशन) - 'वन स्टेट' - में सब कुछ शीशे का बना हुआ है ताकि सीक्रेट पुलिस और जासूस जनता पर आसानी से निगाह रख सकें। वहां राज्य की संरचना उस कैद की तरह है जिसकी कल्पना जेरेमी बैंथम ने 'पेनोप्टिकान' की तरह की थी कि जहां कैदियों को पता ही नहीं चले कि वे लगातार 'वॉच' किए जा रहे हैं। महत्व की बात है कैद की। और पृथकता व एकांति

सुनिश्चित करने के बाद भी इस अहसास की कि यह हम सबके साथ घट रहा है। इसलिए जाम्याटिन के उपन्यास का नाम ही 'व्ही' है और विभीषण भी 'रहनि हमारी' की बात करते हैं। यह देखें कि चाहे हंटिंग्टन की पुस्तक 'हू आर व्ही' हो या अरुंधती राय के शब्दों को लेकर बनी डाक्यूमेंट्री 'व्ही' हो जहां सत्ता की भौतिकी की और पावर व पावरलेसनेस के संबंधों की चर्चा की गई है या एरिक ग्रीनबर्ग व कार्ल वेबर की पुस्तक 'जेनेरेशन व्ही' हो जो संबद्धता के बढ़ते हुए अहसास की बात करती हो, या भारतीय संविधान हो जो प्रस्ताव की शुरुआत ही 'व्ही, द पीपुल' से करता हो, या गुरु गोलवलकर की पुस्तक 'व्ही' हो या नानी पालकीवाला की 'व्ही द नेशन' हो - सामूहिक नियतियां व्यापक विचार विमर्श का केन्द्र हैं। विभीषण भी सामूहिक नियति की ओर इंगित करते हैं।

वे कहते हैं कि हम लोग ऐसे ही रह रहे हैं जैसे दांतों के बीच बिचारी जीभ रहती है। दांत यहां कठोरता के जितने प्रतीक हैं, उतने ही प्रहरी होने के। रावण ने पहरे तो कितने बैठा रखे हैं, यह हम ऊपर देख चुके हैं। स्पेनिश कहावत है : "माई टीथ बिफोर माई रिलेशंस" (मेरे रिश्तों से पहले मेरे दांत)। पड़ौसी पुर्तगाल में ही ऐसी ही कहावत चलती 'आई वांट मोर फॉर माई टीथ देन फॉर माई रिलेशंस' रावण के साथ भी यही है। अपने भाई विभीषण के प्रति उनके मन में जो भावना है वह बाद में गुस्से के एक अंधे क्षण में सामने आ ही जाती है जब वह कहता हैः 'जियसी सदा सठ मोर जिआवा।' इसलिए संबंधों को बाद में और चौकीदारी को पहले तरजीह देना रावण के लिए जरूरी है। रावण नहीं समझता कि जितनी सलाखें वह दूसरों के लिए बना रहा है, उतनी ही उसके लिए भी खड़ी होती जा रही हैं। आम जनता या विभीषण किसी जीभ की तरह कितने ही कोमल रहें, यह कठोरता यथास्थान जमी रहती है। इसलिए अब उनके सामने Tongue-Tied रहने की मजबूरी है। इसलिए तुलसी जीभ को बेचारी बोलते हैं।

'दशन' को शास्त्रों में यमपुरी के प्रतीकार्थ में लिया जाता रहा है - अधर लोभ जम दसन कराला। इसलिए यहां एक संकेत यम-यातना का भी है और यह यातना इसलिए है क्योंकि विचारकर बोलना रावणराज में अक्षम्य है। बिचारी का अर्थ विचार करना भी होता है और जिव्हा तो असहमति में उठी हुई आवाज है ही। तो जैसे लेबर कैम्प और कंसेंट्रेशन कैंपों में बुद्धिजीवी सड़ाए गए, वैसा ही कुछ रावण-राज में हुआ प्रतीत होता है। चीनी मानवाधिकार अभिभाषक गुओ गोटिंग का निष्कर्ष है कि 1957 में चले दक्षिणपंथ विरोधी अभियान में 17 लाख बुद्धिजीवियों को दक्षिणपंथी नाम देकर लेबर कैंपों में बर्बर यातनाओं के लिए ठेल दिया गया था। इसे 'रि-एजुकेशन थ्रू लेबर' का नाम दिया गया था। क्या जोरदार दौर था जब रेड गार्ड्स ऐतिहासिक इमारतों, कलाकृतियों, प्राचीन वस्तुओं, पुस्तकों और चित्रों को ही नहीं नष्ट करते थे बल्कि बुद्धिजीवियों/कलाकारों को मार डालते थे या आत्महत्या करने के लिए मजबूर करते थे, जब मुंह में जुबान रखने वालों को "भागता कुत्ता" (रनिंग डाग) कहकर केवल मारा ही नहीं गया बल्कि उनके जेनिटल्स काट डाले गए और गुआंक्झी में उनका मांस और लीवर भूनकर खाया गया। इसी तरह से साम्यवादी रूस में हुआ। कहते हैं कि निरंकुश शासकों को कवि सबसे ज्यादा जबानदराज लगते हैं। तो क्या आपने कभी 'नाइट ऑफ द मर्डर्ड पोएट्स' के बारे में सुना? 12 अगस्त 1952 की उस रात्रि में जोसेफ स्टालिन के कहने से 13 प्रमुख कवियों, लेखकों और अन्य बुद्धिजीवियों को मार डाला गया था। पेटेज मार्किश, डेविड होफ्स्टीन, इज्तिक फीकर, डेविड बर्गेल्सन, लीव विट्को जैसे कवि - बुद्धिजीवी उसी रात मरे। अर्जेन्टीना में 29 जुलाई 1966 को भी ऐसी ही एक रात आई थी जिसे 'लंबी लाठियों की रात' (द नाइट ऑफ द लांग बैटन्स) कहते हैं जब फेडरल पुलिस ने विश्वविद्यालय फैकल्टीज पर हमला किया था। उसके कारण 301 विश्वविद्यालय प्रोफेसरों को देश छोड़कर जाना पड़ा थाद्य। इनमें 215 वैज्ञानिक थे। क्या आपको फिलास्फर्स शिप (दार्शनिकों के जहाज) की

याद है जिसमें 1922 में रूस के 200 बुद्धिजीवियों को देश के बाहर जर्मनी भेज दिया गया था? कंपूचिया में ख्मेर रोग के कम्युनिस्ट शासन में बुद्धिजीवी होना मौत को दावत देना था। वहां तो 'जीरो इयर' की अवधारणा के चलते संस्कृति के सारे पुराने रूप नष्ट कर दिये गये और बुद्धिजीवी चुन-चुन कर पिस्सुओं की तरह मार डाले गए। रूस में व्लादिमिर मायकोव्स्की की आत्महत्या राजकीय प्रताड़ना का ही परिणाम थी। दार्शनिक फ्लोरेंस्की, बुद्धिजीवी मिखाइल बाख्तिन, कलाकार फिलोनोव, चित्रकला निदेशक मीरखोल्ड जैसे कई उदाहरण हैं जहां बुद्धिजीवी मार डाले गए या यातनाओं से गुजारे गए। एंटोनियों ग्राम्स्की को जब मुसोलिनी की फासिस्ट फोर्सेज ने गिरफ्तार किया था तब उसके विरुद्ध अभियोजक ने यही बोला थाः फॉर ट्वन्टी इयर्स, वी मस्ट स्टाप दिस ब्रेन फ्रॉम फंक्शनिंग। 1936 में स्पेनिश गृह युद्ध में जनरल मिलॉन एस्ट्रे का नारा भी यही था कि 'डेथ टु इंटेलीजेंस! लांग लिव डेथ। (बुद्धि को मौत, मौत जिंदा रहे) चीनी शासक ताओ ते चिंग का कहना था कि आम लोगों के लिए 'इग्नरेंस इज बेटर दैन नॉलेज।' (अज्ञान ज्ञान से बेहतर है)। उनका कहना था कि 'फुल बैली एंड एन एम्प्टी माइंड' (पेट भरा और खाली दिमाग) बस यही होना चाहिए प्रजा के पास। इसलिए जब विभीषण कहते है कि जीभ दशन (यमपुरी) में है, तो उस कुंभीपाक नरक में बोलने की धृष्टता पर मिलने वाले दंड की कल्पना ही की जा सकती है।

जीभ को मौन कर दिया गया है। शायद जर्मन राजनीति विज्ञानी एलिसाबेथ नोएल-न्यूमेन ने जिसे मौन का दुष्चक्र (spiral of silence)कहा था, वहीं लंका में भी घटा होगा। जीभ से न चीख निकलती होगी और न असहमति की आवाज। असम्मति को क्रिमिनलाइज कर दिया गया होगा। जीभ दांतों के पहरे में है, यानी एक तरह की पुलिस स्टेट निर्मित हो गई है। कभी भी किसी के घर की तलाशी ले ली जाती होगी, निजी वार्ताएं सुनी जाती होंगी, लोगों को शक मात्र के आधार पर अनियत अवधि तक जेल में रखा जाता होगा। 'फ्री स्पीच' न होना तुलसी 'जिमि दसनहूं मँह जीभ बिचारी' से संकेतित करते हैं। कोई जरूरी नहीं कि नाइत्तिफाकी को सिर्फ साम्यवादी या नाजी या फासी या अधिनायकवादी विचारधारा या थियोक्रेटिक राज्यों में ही बर्दाश्त नहीं किया जाता। साराह मैडिसल की पुस्तक 'साइलेंसिंग डिसेन्ट' ऑस्ट्रेलिया की और नैंसी चांग की पुस्तक 'साइलेंसिंग पॉलिटिकल डिसेंट' संयुक्त राज्य अमेरिका की पोल खोलते है। सत्ता से मत वैभिन्य पर रावण के दौर में भी बत्तीसों पहरे बिठा रखे गए होंगे। मौन का दुष्चक्र फिर 'मौनं सम्मति लक्षणं' तक ले गया होगा और रावण उसे ही अपने राज्य की लेजिटिमेसी के लिए इस्तेमाल करता होगा। जबानबंदी का वक्त होगा। एक सार्वत्रिक उत्तरहीनता का। कोई नहीं कह सकता होगा कि 'मैं भी मुँह मे जबान रखता हूँ।' कोई भी नहीं कह पाता होगाः 'बोल कि लब आजाद हैं तेरे बोल जुबां अब तक तेरी है।' वहां तो स्थिति वही रही होगीः जुबां खामोश आंखों में नमी होगी/बस यही दास्तानें-जिंदगी होगी।' बेजुबां लोग जिनके बारे में कभी अहमद फराज ने लिखा था 'काटकर जुबां मेरी कह रहा था वो फराज/ अब तुम्हें इजाजत है हाले-दिल सुनाने की।' तो यही होता होगा कि 'मेरी बेजुबां आंखों से गिरे हैं चंद कतरे।' लेकिन हनुमान के लिए वे आंसू होंगे, रावण के लिए पानी। अब जैसे पाकिस्तान में कबायली स्वात घाटी के मलकंद इलाके में शरीयत लागू करने की कवायद के खिलाफ अखबारों में मच रहे हो हल्ले को लेकर तालिबान ने मीडिया को अपनी कलम और जुबान बंद रखने की हिदायत दी, वैसा ही रावण करता होगा। भरत व्यास का लिखा बहुत पुराना एक गीत था। 'चुप जमीन आसमान/ कह सके न ये जुबान।' लगता है, भरत व्यास इस एक पंक्ति में लंका का चित्र खींच रहे हैं। जहां चुप्पी साधे बैठे हैं लोग। 'मुहब्बत की जुबां चुप है सितारों तुम भी चुप रहना/उम्मीदों का जहां चुप है सितारों तुम भी चुप रहना।' राजेन्द्र कृष्ण के ये शब्द तत्कालीन लंका पर लागू होते हैं। तुलसी की हर पंक्ति बड़ी सारगर्भित होती है। लंका में जबान पर जो ताले पड़े हैं, वे इस पंक्ति में

विभीषण प्रकट करते हैं। वहां तो सच यह था कि 'मुट्ठियों में रेत भरकर चुप रहे/लोग मरूथल से गुजरकर चुप रहे/धूप मिट्टी जल हवा दुश्मन हुए/बीज धरती पर बिखरकर चुप रहे/पहले डरते थे तो चिल्लाते भी थे/इन दिनों ये लोग डरकर चुप रहे/जुल्म होते देखना आदत बनी/लोग सड़कों पर ठहरकर चुप रहे।'

यमपुरी के जैसे इस तामिस्र में विभीषण भानुकुलनाथ के अलावा और किनसे उम्मीद करें? तम का यह भाव तत्काल आगे 'तामस तनु कछु साधन नाहीं' में भी आता है। सूर्य से सम्बन्ध की यह अपेक्षा सुंदरकांड के अंतिम तृतीयांश में 'सहज पापप्रिय तामस देहा/जथा उलूकहिं तम पर नेहा' में भी आता है। जिस तरह से उल्लू सूर्यदर्शन से विमुख है, उसी तरह से इस विराट तामिस्त्र में जहां कहीं रोशनी की एक किरण नहीं दिखती, विभीषण को भानुकुल के साथ में ही अपनी जीवन्मुक्ति दिखाई देती है। विभीषण अपने अनाथ होने और राम के कुलनाथ होने का ही कंट्रास्ट नहीं कर रहे हैं, विभीषण यह ही बात नहीं इंगित कर रहे हैं कि भानुकुल उनका निकट सम्बन्धी है (जैसे राम का वंश-वृक्ष ब्रह्मा, मरीचि, दशरथ, राम की श्रृंखला में है, वैसे ही विभीषण ब्रह्मा, पुलस्त्य (ये मरीचि के भाई हैं), विश्रवा, विभीषण की एक कुलशाखा है), वे यह भी कह रहे हैं कि जब वे एक ओर वे इस डार्क एजेंसीज वाले परिवेश में घिरे हैं तो उनकी अपेक्षा उन्हीं लोगों से हो सकती है जिन्होंने पारदर्शिता, आलोक, खुलेपन की ही विरासत और वृत्ति प्राप्त की है। जिस तरह की व्यवस्था की चर्चा ऊपर हमने की है, वहां 'सीक्रेट्स' राज्य का 'प्रिविलेज' बन जाते हैं। जेन मेयर की एक पुस्तक 'द डार्क साइड : द इनसाइड स्टोरी ऑफ हाउ द वार आन टेरर टनर्ड इन्टू अ वॉर ऑन अमेरिकन आइडियल्स' अभी हाल में ही आई है। रावण के राज की डार्क साइड तो इससे बहुत बदतर है क्योंकि वह तो आतंक से युद्ध (वॉर आन टेरर) की जगह खुद ही आतंकी युद्ध (वार ऑफ टेरर) था। यह कहावत सच ही लगती है Evil lives cast dark shadows कि विभीषण उन्हीं काली छायाओं से घिरे हैं। टेरेसा पिजोन की पुस्तक 'डार्क एंड ईविल वर्ल्ड' 1999 में आई। यह बताती है कि हर धर्म, संस्कृति और भाषिक जगत में अंधेरे की आत्माएं (spirits) भी उतनी ही वास्तविक हैं जितनी प्रकाश की आत्माएं। तब विभीषण को राम न केवल पारदर्शिता (ट्रांसपेरेंसी) की आशा बल्कि साक्षात् आलोक (translucence) ही नजर आते हैं, एक चमक (glare) नहीं, एक आभा (glow)। सूर्यकुल के होने का अर्थ मात्र आनुवंशिक (जेनेटिक) वैसे ही नहीं हैं, जैसे मात्र आधिभौतिक (फिजिकल) नहीं है। यह अर्थ तो प्रज्ञात्मक ('इंटेलेक्चुअल') है। सूर्यकुल में होना उत्तरदायी (अकांउटेबल) होना है। इस वंश में स्वयं दशरथ तक को अपनी अनवधानता का दंड भुगतना है। इस वंश में हरिश्चंद्र को अपनी सत्यनिष्ठा की परीक्षा देनी है। भानुकुल होना सिर्फ एक वंश-विशेष का होना नहीं है। अन्यथा ऐसा क्यों होता कि न केवल राम भानुकुल के माने गए बल्कि बुद्ध और महावीर भी सूर्यवंशी ही बताए गए। सूर्यवंशी वह है जिसमें वीरता के साथ वैराग्य है। यों तो जन्मगत सूर्यवंश इजिप्ट, फिलीस्तीन, पेरू और रोम में भी होता था। अवध के राम और इजिप्ट के रामेज के बीच में समानता एडवर्ड पोकॉक ने 'इंडिया इन ग्रीस' नामक पुस्तक में बताई। पर वह सूर्यवंश नहीं। सूर्यवंश से यहां आशय मैक्सिम गोर्की के नाटक 'चिल्ड्रन ऑफ द सन' से भी नहीं जो रूसी क्रांति के ठीक पहले श्रमिकों और बुद्धिनिष्ठों के बीच एक गठजोड़ की बात कर रहा था। वहां सूर्यपुत्र से आशय यथार्थ से कटे अभिजातों से था। पर क्या भानुकुल वही है जो एम्बेसेडर्स ऑफ लाइट के रूप में 'चिन्ड्रन आफ द सन' (सूर्यपुत्र) नामक संस्था विश्वभर में एक 'यूनिफाइड विजन' की सामूहिक चेतना के लिए भेज रही है? राम विभीषण के लिए आलोक के राजदूत ही हैं। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि 'एते वाउडत्पवितारो यत् सूर्यस्य रश्प्रयः' कि सूर्य की किरणें पवित्र करने वाली हैं। राम भी विभीषण को, तामस तन के उसके अहसास को पवित्रता का एक दूसरा ही आयाम देने वाले हैं। नागानंद (3/18) हर्ष

कहते हैं: 'एक:श्लाध्यो विवस्वान् परहितकरणायैव यस्य प्रयासः' कि एक सूर्य ही धन्य है जिसका सारा प्रयास परहित करने के लिए है। सूर्यवंशी राम का भी अवतरण परहितार्थ है। सूर्यवंशी होना पारदर्शी होना, प्रभामय होना, पवित्रताकारक होना और परहितार्थ होना है।

विभीषण के मुख से निकली इन पंक्तियों 'तात कबहुं मोहि जानि अनाथा.............' में कभी-कभी मुझे स्वयं तुलसी ही झांकते प्रतीत होते हैं। आखिरकार तुलसी ही थे जो अनाथ हो गए थे। 'मातु पिता जग जाय तन्यो' (कवितावली, उत्तर 57)। 'तज्यो मातु पिता हूँ' (विनय पत्रिका, 175), जननी जनक तज्यो जनमि (विनय, 226) में वे स्वयं अपने 'दुगने अनाथ' (डबल आर्फन), (यदि हम यूनिसेफ और सूएनएड्स के द्वारा ऐसे बच्चों, जिनके माता-पिता दोनों न हों, के लिए प्रयुक्त शब्दों का व्यवहार करें) होने की बात स्वीकारते है। वे उस अनाथ अवस्था की दुर्दशा भी बताते हैं: 'बारे तें ललात बिललात द्वार-द्वार दीन/जानत हो चारि फल चारि ही चनक को' - (कवितावली), नीच निरादर भाजन कादर कूकर - टूकनि लागि ललाई - (कवितावली) जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस/खाए टूक सब के बिदित बात दुनी सो (कविता 0, उत्तर 072), असन बसन हीन विषय विषादलीन देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को ('बाहुक', 41) तुलसी ने स्वयं इस पीड़ा को झेला है। अन्ततः भगवान ने - भानुकुलनाथ ने - उन पर कृपा की है। उन पर क्या बहुत से अनाथों पर कृपा की है। कबीर भी अनाथ थे और तमिल संत आंडाल भी। प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक-वैज्ञानिक अरस्तू भी अनाथा था और पर्शियन सम्राट साइरस द ग्रेट भी। पैगंबर हजरत मोहम्मत भी और हजरत मूसा भी। अमेरिकी राष्ट्रपति हर्बर्ट हूवर 9 साल की उम्र में अनाथ हो गए थे और दूसरे अमेरिकी राष्ट्रपति एंड्रू जैक्सन 14 साल की उमर में। प्रसिद्ध राजनीति-दर्शनिक रूसो भी अनाथ था और बर्ट्रेड रसेल भी। लैटिन अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम सेनानी साइमन बोलिवर भी अनाथ हो गए थे और नेल्सन मंडेला। संत निकोलस जो बच्चों के संरक्षक संत माने जाते हैं, स्वयं अनाथ हो गए थे। जॉन कीट्स भी अनाथ थे, ढडगर एलन पो भी, सॉमरसेट, मॉम भी, विलियम वड्र्सवर्थ भी और लिओ टॉल्स्टाय भी। संगीत की दुनिया में बाख जैसा संगीतकार हो या जॉन लेनन जैसा, दोनों अनाथ थे। इंग्रिड बर्गमैन और मर्लिन मनरो जैसी अद्वितीय अभिनेत्रियां अनाथ थीं तो जिम थोर्पे जैसा अद्वितीय धाक भी। केपलर जैसा प्रसिद्ध वैज्ञानिक अनाथ था तो एपल कम्प्यूटर का संस्थापक स्टीव जॉब्स भी। लेकिन ईश्वर की कृपा इन सब पर और कितने ही ऐसे न गिनाए गए लोगों पर हुई हुई । कितने ही कथा-चरित्र अनाथ बताए गए हैं। टार्जन हो या मोगली, हैरी पॉटर हो या टॉम सॉयर, हकलबरी फिन हो या जेन आयर, शर्लाक होम्स हो या हीडी, ऑलिवर ट्विस्थ हो या सिंड्रेला, उन सब पर भगवान की कृपा बरसती दिखाई गई है। हीब्रू बाइबल में (जेरम्याह 49:11) कहा गया : "Leave your orphans; I will protect their lives." पवित्र कुरान में कहा गया : "इसलिये अनाथ के साथ कटुता से न पेश आओ।"

जब विभीषण स्वयं को अनाथ कहते हैं तो कहीं वे किंगशिप की उस सैद्धान्तिकी की ओर भी संकेत करते हैं जिसके तहत राजा को प्रजा का पिता होना अपेक्षित है। अश्वघोष बुद्धचरित में राजा का वर्णन करते हुये यह कहते हैं कि "पितेव सर्वान्विषयान्ददर्श" कि पिता के समान सब विषयों (देशों या प्रजा समूह) को देखा। एक थाई कहावत है कि The King takes care of his subjects like a real father looks after his child. थाईलैंड में राष्ट्रीय पिता दिवस उसी दिन मनाया जाता है जिस दिन राजा का जन्मदिन है। जब महाराजा रणजीत सिंह ने बूढ़े आदमी का बोझ अपने सिर पर ढोकर उसे घर तक पहुँचाया था तब उन्होंने यही कहा था कि 'राजा पिता होता है और प्रजा उसकी संतान।' विलियम कांग्रीव का कहना था : Whoever is king, is also the father of his country. नरोदोम सिंहानोक की कम्बोडिया में उपाधि भी किंग-फादर थी। जॉन लॉक ने भी यही कहा कि

The father of a family governs by no other law, then by his own will. The superiority of princes is above laws. Neither common nor statute laws are, or can be, any diminution of that general power which kings have over their people by right of fatherhood. This fatherly authority then, or right of fatherhood is a divine unalterable right of sovereignty. विभीषण राजत्व के जिस पितृमूलक स्वभाव की चर्चा कर रहे हैं वह महाराजा रणजीत सिंह के उदाहरण में है, न कि जॉन लाक के उद्धरण में जहाँ पिता होना अधिकार-स्थापना है, कर्तव्य नहीं। पिता होना रक्षा करने में प्रतिबद्ध होना है। पिता होना भरण पोषण करना है। हरिवंशपुराण के विष्णुपर्व 23/16 में यह कहा गया कि पुत्र क्रूर स्वभाव का हो जाये तो भी पिता उसके प्रति निष्ठुर नहीं हो सकता क्योंकि पुत्रों के लिये पिताओं को कितनी ही कष्टदायिनी विपत्तियाँ झेलनी पड़ती है। दारूणे च पिता पुत्रें नैव दारूणतां व्रजेत/पुत्रार्थे ह्यापदः कष्टाः पितरः प्राप्नुवन्ति हि।। इसलिये जब विभीषण अनाथ होने की बात करते हैं तो वे यह कह रहे होते हैं कि राजत्व का वह आदर्श, जिसमें राजा का पितृत्व इसलिये स्वीकार किया जाता है क्योंकि राजा को स्नेहिल और आत्मीय होना चाहिये, लंका में गुम हो गया। शास्त्र तो कहते हैं 'दैवतं हि पिता महत्' कि पिता ही महान देवता है। इसलिये राजस्व के 'डिवाइन' होने का सिद्धान्त भी राजत्व का पिता-स्वरूप सिद्धान्त है। जब राजा पितृवत न रहकर आततायी हो जाये तब विभीषण भानुकुल की याद करते हैं जहाँ यह पितादर्श मौजूद हैं। हमारे शास्त्र कहते हैं कि वही मनुष्य वास्तविक नृपति है जो "अनाथानां नाथो गतिरगतिकानां व्यसनिनां/पिता माता भ्राता जगति पुरुषों यः स नृपतिः" (अनाथों का नाथ व निरूपायों का अवलंब है, पिता, माता व भाई है)। तो राजत्व के जिस आदर्श की अपेक्षा विभीषण को श्रीराम से है, वह अनाथों के लिये नाथ की तरह काम करने वाले राजत्व की अपेक्षा है। वहाँ राजा को पिता कहा गया है। वह एक संज्ञा नहीं है, एक दायित्व है। रावण इस दायित्व की पूर्ति एक राजा के रूप में नहीं कर पा रहा है, इसलिये विभीषण अनाथ महसूस करते हैं।

विभीषण हनुमान से कृपा का समय पूछते हैं। पारिश्रमिक या पुरस्कार का समय नहीं पूछते। कृपा या ग्रेस तब है जब भगवान हमें वह 'देता' है, जो हम 'डिजर्व' नहीं करते। कृपा आध्यात्मिक नायकों के अलंकरण के लिये नहीं है, ऐसा मार्टिन लूथर किंग का भी मानना था। यह अहसास बहुत भीतर तक होना कि 'अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशंमया' - यह कृपा का आधार-बिन्दु है। यह अहसास कि 'पापात्मा पापकर्माऽहं...' सच्ची तरह से होना कृपा को आमंत्रित करता है। कृपा भगवान का उपहार है। वही हमें कर्म-बंधन से मुक्त करती है। वहाँ "मत्समा पातकी नास्ति" का तीव्रतम भाव है। जब यह अहसास मन को तेजी से और बहुत गहरे मथने लगता है तो उस मथने से ही भगवत्कृपा का अमृत निकलता है। उमर खैयाम की एक रुबाई भानुकुल की और विभीषण की इस पापग्रंथि को सबसे अच्छी तरह स्पष्ट करती है : 'मन बन्दए आसीअम रजाए तू कुजा अस्त/तारीक दिलम् नूरे सफ़ाए तू कुजा अस्त/मारा तु बहिश्त अगर बताअत बख्शी/ई मुज़्द बुवद लुत्फो अताए तू कुजा अस्त।' अर्थात मैं पापी हूँ। तेरी वह पापियों को क्षमा करने वाली कृपा कहाँ है जिससे मुझे क्षमा मिले। मेरे हृदय में अंधकार हो रहा है, तेरा प्रकाश कहाँ है जो उसे प्रकाशित कर दे! यदि तू मेरी उपासना के बदले में स्वर्ग देता है तब तो यह बदला हुआ, तेरी कृपा कहाँ गयी?

विभीषण बार-बार तामस तन की बात करते हैं। क्या तुलसी उनके माध्यम से काले लोगों की मानवीय जाति के बारे में बात कर रहे हैं? डार्क स्किन्ड लोगों की? लेकिन तब क्या वे भी जेम्स ब्राउन के गीत "से इट लाउड - आई'म ब्लैक एंड आई'म प्राउड" को गा नहीं सकते? क्या फिलो और सिंकदरिया के ओरीजेन ने कालेपन को "डार्कनेस ऑफ द सोल" नहीं- कह दिया था? क्या प्राचीन इजिप्ट को "ब्लैक सिविलाइजेशन"

नहीं कहा गया? क्या श्वेत विशेषाधिकार उस समय भी था? अमेरिकी संविधान की आलोचना एक समय यह कहकर की गई थी कि वहाँ काले आदमी की 3/5वीं हैसियत है। क्या विभीषण भी "ब्लैक शेम" (काली शर्म) से ग्रस्त हैं? या वे चमड़ी में मेलानिन अधिक होने की शिकायत कर रहे हैं? लेकिन क्या उस दौर में क्यू क्लक्स क्लान जैसा कोई समूह था कि जिसके कारण काला होने की ग्लानि हो? क्या 'वर्ल्ड चर्च ऑफ द क्रिएटर' के संस्थापक मैथ्यू एफ हेल की तरह उस समय कोई था जो कह रहा हो कि श्वेत 'रेस' के अलावा बाकी सब "Mud races" हैं। कीचड़ जातियाँ। कर्दम की कालुष्य। विभीषण तमस के कालुष्य की बात तो करते हैं, लेकिन हेल की तरह कीचड़ जाति की नहीं। क्या विभीषण ने 'श्वेत सुप्रीमेसी' को आत्मसात (internalize) कर लिया है? विभीषण क्या किसी जातीय संचेतना से 'तामस तनु' की बात कह रहे हैं क्योंकि बात है तो 'तनु' की ही? तब क्या यह बात आर्य वि. द्रविड़ की है या ब्राह्मण वि. दलित की है? श्वेत सुप्रीमेसी की अवधारणा तले आर्य एक श्वेत रेस थी जो भारोपीय थी, काकेशियन थी, गौरवर्ण थी, मास्टर रेस थी। रावण-विभीषण तो द्रविड़ जाति के थे। द्रविड़ आन्दोलन के बाद यह विश्वास जोर पकड़ा। द्रविड मुनेत्र कषगम के बाइफोकल्स का इस्तेमाल करें तो रावण एक द्रविड़ियन राजा था। यह द्रविड़ जाति काले रंग की थी। रावण भी काला था। लेकिन वस्तुस्थिति यह नहीं है। नृतत्वशास्त्री स्टेनली मेरिओन गार्न ने 1960 के दशक में यह स्थापित किया था कि पूरा भारतीय उपमहाद्वीप एक अलग 'रेस' है - genetically distinct from other populations. व्हाय क्रोमोसोम (साहू, संघमित्रा, अनामिका सिंह आदि (2006) की"अ प्रिहिस्ट्री ऑफ इंडियन व्हाय क्रोमोसोम्स"), माइक्रोसेटेलाइट डी एन ए (सेनगुप्ता, 2006) और माइटोकोन्ड्रिअल डी एन ए (एस. शर्मा 2005) के अध्ययनों ने यह बात स्थापित कर दी कि किसी द्रविड़ जाति विशेष को भारतीय उपमहाद्वीप में किसी अन्य गैर-द्रविड़ जाति से जैविक आधार पर भिन्न नहीं ठहराया जा सकता है। रावण पौलस्त्य था। यों तो काकेशियन भी गौरवर्ण मात्र नहीं हैं और अब तो काकेशियन रेस में भी शुद्ध कृष्णवर्णा लोग देखे गए हैं। कई चीनियों की त्वचा काकेशियनों से ज्यादा गोरी है।

'तामस तन' को दलित के साथ शरीर के रंग की तरह जोड़ना एक अलग तरह की भ्रांति है। वाल्मीकि ने कहा है 'लोहितेनानुलिप्ताङ्ग' कि मेघ के समान श्याम अंगकांति थी रावण की। (सुंदरकांड दशम स्रग, 8) इसके आधार पर हम रावण के तन के बारे में अनुमान लगा सकते हैं। लेकिन उस तन के आधार पर किसी रंगभेदी युद्ध की कल्पना सरासर ज्यादती है क्योंकि ऐसे तो वाल्मीकि राम को भी 'राममिन्दीवर श्यामं' (द्वितीय सर्ग, अयोध्याकांड) कहते हैं। पता नहीं क्यों आज के दलित चिन्तक अपने दिमाग के द्वैत को पुराने समयों पर आरोपित करना चाहते हैं। अभी एक दलित चिन्तक तुलसीराम की स्थापनाएँ, जो दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हैं, साहित्य अकादमी व पटना विश्वविद्यालय के एक संयुक्त सेमीनार में सुनने को मिली हैं। तुलसीराम का कहना यह है कि कट्टर हिन्दू समाज में रामचरित मानस इसीलिये लोकप्रिय कारण बन सकी, क्योंकि इसे लिखने वाले तुलसीदास ब्राह्मण थे जबकि वाल्मीकि के दलित होने के कारण उनकी रचना को अनदेखा कर दिया गया। लेकिन यदि वाल्मीकि दलित थे तो अपने महाकाव्य में ब्राह्मणों की सत्ता क्यों स्थापित कर रहे थे? क्या उन्होंने दमनकर्ता के मूल्यों का आंतरिकीकरण कर लिया था? ये वाल्मीकि तो अपनी रचना के दूसरे अध्याय में ही राक्षस के शरीर को 'कृष्णपक्षपाद्युतिर्भीमो' कहते हैं - उनके शरीर का रंग कृष्णपक्ष की रात के समान काला था। ये भी गौ-ब्राह्मण-वेद के उसी त्रिकल में फँसे हैं जिनमें तुलसी। यह कहना भी वाल्मीकि को न पढ़ने का परिणाम है कि उनके राम मनुष्य हैं, तुलसी के राम ईश्वर, प्रथमोध्याय के प्रथम छन्द में ही वाल्मीकि ने कहा : श्री रामचंद्र जी समस्त संसार को शरण देने वाले हैं। श्री राम के बिना

दूसरी कौन सी गति है? जगत का सब कुछ श्रीराम के वश में है। श्रीराम में मेरी अखंडभक्ति बनी रहे। अगले श्लोक में वे 'भक्तों को अभय देने वाले परमानंद स्वरूप भगवान श्री रामचंद्र जी को नमस्कार करते हैं' और तीसरे श्लोक में वे 'सम्पूर्ण जगत् के अभीष्ट मनोरथों को सिद्ध करने वाले, ब्रम्हा, विष्णु और महेश आदि देवता जिनके अभिन्न अंश मात्र हैं, उन परम विशुद्ध साच्चेनंदमय परमात्मदेव श्री रामचंद्र जी को नमस्कार करते हैं।' जिनका निवास स्थान उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट है तथा जो सगुण और निर्गुण रूप है, उन श्रीराम को मेरा नमस्कार है। यह वाल्मीकि ही हैं जो बालकांड के षोडश सर्ग में देवताओं की श्री हरि से रावध वध के लिये मनुष्य रूप में अवतीर्ण होने की प्रार्थना उल्लिखित करते हैं, पूरी वाल्मीकि रामायण उन्हीं सब मिथकों और विश्वासों का उल्लेख करती है जिनमें हिन्दुत्व का ताना बाना गूंथा गया है। लेकिन तब भी वाल्मीकि राम को मनुष्य के रूप में पेश करने और तुलसी उनके दैवीकरण (divinization) के लिये उत्तरदायी बताये जाते हैं! न इस बात में कोई दम है कि कट्टर हिन्दू समाज में रामचरित मानस के लोकप्रिय होने में तुलसी के ब्राह्मणत्व ने कोई रोल निभाया। बल्कि तुलसी ने जितना विरोध ब्राह्मणों से सहा, उतना वाल्मीकि को नहीं सहना पड़ा। तुलसी ने उसे जगह-जगह लिखा भी : 'तुलसी रघुवर सेवकहिं खल डांटत मन माखि।' "कायर करहि कुचालि" "संकट तुलसीदास को राम करहिंगे दूरि" "कोऊ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ो" "पाइकै उराह नो उराहनों न दीजे" "ब्याल कराल महाविष पादक मत्त गयंदहु के रद तोरे"। तुलसी जाति-पांति का जितना स्पष्ट विरोध करते दिखते हैं, वैसा वाल्मीकि के लिये भी स्पृहणीय है : "मेरे जाति पांति न चहौं काहू की जाति पांति/मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।" (कवितावली, उत्तर 0107) "ब्याह न बरेखी जाति पांति न चहत हौं" (विनय 76) - रटत रटत लट्यो जाति पांति भांति घट्यो (वही, 260) 'काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ' (कविता, उत्तर, 106)। जहाँ तक वाल्मीकि व रामायण को आदर देने की बात है तो वह भी इस तथाकथित कट्टर हिन्दू समाज ने खूब दिया। बृहद्धर्मपुराण ने रामायण को काव्यबीजं सनातनम् कहा, स्कन्दपुराण के तो आरम्भ में ही रामायण माहात्म्य हैं, वेदव्यास ने रामायणतात्पर्य दीपिका भी लिखी है, ये कम ही लोग जानते हैं। द्रोणपर्व (महाभारत) के श्लोकों में महर्षि वाल्मीकि का नाम सहित उल्लेख है। अग्निपुराण के 5 से 13 अध्याय, गरूड़पुराण के पूर्वखंड के 143वें अध्याय, स्कंदपुराण के वैष्णवखंड प्रभासखंड में अध्यात्म रामायण के अयोध्याकांड में रामायण और वाल्मीकि का श्रद्धापूर्वक स्मरण है। मत्स्य पुराण में उन्हें भार्गवसत्तम के रूप में स्मरण किया गया, (12/61) भागवत में महायोगी (5/18/5) की तरह, हरिवंश रघुवंश में दो बार वाल्मीकि का कृतज्ञ स्मरण करते हैं भवभूमि उत्तररामचरित में उनको याद करते हैं। भास, शंकराचार्य रामानुज राजा भोज सभी उनका अत्यंत श्रद्धा से स्मरण करते हैं और तुलसी की वाल्मीकि के प्रति श्रद्धा तो जगह-जगह छलकती है : 'बंदऊँ मुनि पद कंजु रामायण जेंहि निरमयउ' 'जान आदिकवि नाम प्रतापू' 'वाल्मीकि भे ब्रम्ह समाना' (रामचरित मानस) बुधकौशिक ऋषि तो "कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्/आरूढ्व कविता शाखा वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्" कहते ही हैं। तब वाल्मीकि की अवगणना कब इस "कट्टर हिन्दू समाज" ने की और इस आधार पर की कि वे दलित थे। हिन्दू समाज को वाल्मीकि के दलित होने का अहसास कभी हुआ ही नहीं। उन्हें श्रद्धा उनकी कृति से मिली, जाति से नहीं। जहाँ तक रामचरितमानस के ज्यादा लोकप्रिय होने का सवाल है तो वह भाषा की भिन्नता के कारण है, न कि कवियों की जाति की भिन्नता के कारण। आज भी हिन्दुस्तान के बहुसंख्यक जिनमें दलित भी शामिल हैं, संस्कृत बोल नहीं पाते। हिन्दी बोलते हैं। तब क्या उसे भी "कट्टर हिन्दू समाज" का षड्यंत्र समझा जाये? तब दलित हितों के कुछ स्वघोषित ठेकेदारों द्वारा की जा रही अंग्रेजीमाता की पूजा को क्या कहेंगे। दलित चिंतकों ने बहुत ही अल्प अध्ययन के आधार पर ऐसे भ्रम फैलाए

हैं जिनका मूल उनकी कुंठा में है, इतिहास में नहीं है। यहाँ यदि विभीषण को दलित वर्ग का प्रतिनिधि मान भी लिया जाये तो नोट करें कि वे सगुण राम के "पद-सरोज" में प्रीति की बात कर रहे हैं।

साधनहीन होने से विभीषण का दुःख सर्वहारा का दुख जरूर है, लेकिन यह भी ध्यान दें कि स्वयं राम ने भी साधनहीनता का वरण किया है। अयोध्याकांड के 'सप्ताधिकशततमः सर्गः' में वाल्मीकि ने इस चुनी हुई साधनहीनता को स्वयं राम के मुख से बहुत ही मार्मिक कंट्रास्ट में कहलवाया है : "त्वं राजा भरत भव स्वयं नाराणां/वन्यानामहमवि राजराष्मृगाणाम्/गच्छत्वं पुखरमद्य सम्प्रहृष्ट संहृष्दस्व हमपि दण्डकान् प्रवेक्ष्ये" और (17) "छायां तो दिनकरभाः प्रबाधमानं/वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम्/एतेषामध्यपि काननद्रुमाणां/छायातामति शयिनी शनैः श्रयिष्ये" (18) अर्थात् भरत तुम स्वयं मनुष्यों के राजा बनो और मैं जंगली जानवरों का सप्रहा बनूँगा। अब तुम अत्यंत हर्षपूर्वक महानगर (पुरवरं) जाओ और मैं भी प्रसन्नतापूर्वक दंडक वन में प्रवेश करूँगा। भरत सूर्य की प्रभा को तिरोहित कर देने वाला छात्र तुम्हारे मस्तक पर शीतल छाया करें। अब मैं भी धीरे-धीरे इन जंगली वृक्षों की घनी छाया का आश्रम लूँगा।" इसलिये राम और विभीषण की मनस्तरंग मिलती है। राम इसी सर्ग में इसी प्रसंग में वन में चले आने का एक अत्यंत हृदयस्पर्शी कारण भी बताते हैं: चाप्रतिद्वन्द्वः कि यहाँ मेरा कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। सत्ता का स्वभाव प्रतिद्वन्द्वात्मक है। वन में तो सर्वथा साधनहीन होकर निर्द्वन्द्व विचरण किया जा सकता है। विभीषण की साधनहीनता आरोपित और लादी गई है। वह इसलिए है कि खुद उसका भाई आततायी है। उसने विभीषण पर साधनहीनता मढ़ दी है। एक हरि-भक्ति का वर मांगने वाले व्यक्ति में उसने अपना भावी प्रतिधर्मी देखा था तो उसे साधनहीन बना कर रखा। राम की साधनहीनता स्व-निर्वाचित है। जब सीता का अपहरन हुआ तो उस आपाती परिस्थिति में राम को अपने पितृ-राज्य से सेनाएं नहीं बुला लेनी थीं! राम अयोध्या 14 वर्ष तक न जाने की प्रतिज्ञा से बंधे थे, अयोध्या थोड़े ही राम तक न जाने के निर्देश से बंधी थी। उनके वन जाने पर एक बारगी तो आ ही गई थी। उन्हें मनाने को। अब भी आ सकती थी। आखिरकार वहां उन्हीं का खड़ाऊं शासन ही तो चल रहा था। अक्षौहिणी सेना और वह भी अपनी। बनी बनाई। लेकिन राम पकी पकाई चीज खाने वालों में नहीं हैं। वे अनाथों और साधनहीनों से प्रतिरोध की अपनी वाहिनी का गठन करते हैं। वे सत्ताओं से अस्त्र-शस्त्र की खेप प्राप्त नहीं करते। वनवासी उनके साधन और वे वनवासियों के साधन हो जाते हैं। बल्कि एक कदम और आगे बढ़कर देखें तो वे एक-दूसरे का साधन नहीं दिखाई देंगे। वे एक दूसरे का साध्य हैं। तुलसी के विभीषण को लगता है कि वह अनाथ है और भानुकुल नाथ उसे सहारा देंगे। त्यागराज इसी भूमि पर तेलुगू कविता में करते हैं : अनाथुउनु गानु, राम नेननाथुडुनु गानु/अनाथुडवु नीवनि नियमज्ञुलु सनातनुल माट विन्नानु अर्थात् अनाथ तो मैं हूँ नहीं क्योंकि आप मेरे हैं। पर वास्तव में सनातन वैदिक विद्वानों के मुँह से सुना है कि आप अनाथ हैं, आपका कोई नहीं हैं।

लेकिन यहाँ विभीषण जिस तन के तामस होने की बात कर रहे हैं, वह ऐन्द्रिय लिप्साओं से भरा हुआ तन है। वह एक ऐसा शरीर है जिसे लेकर भक्ति काव्य में तमाम किस्म के कथन हैं। कभी गरीबदास कहते हैं कि 'यह माटी का महल है छार मिलै छन मांहि'; कभी मलूकदास कहते हैं 'मढ़ी न होती चाम की, जीवत खाते काग।' यह आधार बहुत पहले से निर्मित हुआ था। काय विच्छिन्द जातक में कहा गया था : 'धिरत्थु तं आतुरं पूतिकायं/जेगुच्छियं असुचिं व्याधिधम्मं/अथिमुच्छिता पजा हापेन्ति मग्गं सुगतुपपत्तिया।।' कि इस नित्य रोगी, गन्दे, जुगुप्सित, अपवित्र तथा व्याधि-स्वभाव शरीर को धिक्कार है, जिसके प्रति आसक्त होकर बदहवास जन सुगति-प्राप्ति के मार्ग को छोड़ देते हैं। निग्रोध मृग जातक ने कहा गया : 'अनत्तादीनको कायो विसरूक्खसमूपमो/आवासो स्ब्बरोगानं पुंजो दुक्खसस् केवलो/सचे इमसस् कायस्स अन्तो बाहिस्तो सिया/

निंदितो चंकूखूभूतेहि कायो बालाभिनंदितो।।' कि यह विषवृक्ष सदृश शरीर अनेक दोषों से युक्त है। सब रोगों का घर है। केवल दुःख का पुंज है। यदि इस शरीर के अन्दर का भाग बाहर हो जाये, तो निश्चय से डंडा लेकर कौओं और कुत्तों को हटाना पड़े। इसीलिये पंडितों ने इस दुर्गन्धयुक्त, अशुचिपूर्ण कचरा सदृश गन्दे शरीर की निंदा की है। मूर्ख ही इस पर रीझते हैं। धम्मपद (11/5) कहता है : "अट्ठीनं नगरं कतं मंसलोहितलेपनं/ यत्थ जरा च मच्च् चा मानो मक्खो च ओहितो" (कि हड्डियों का एक नगर बनाया गया है, जो मांस और रक्त से लेपा गया जिसमें जरा मृत्यु, अभिमान और डाह छिपे हुये हैं।) हर्ष (नागानन्द, 4/7) ने कहा था : "संर्वासु-विनिधानस्य कृतध्नस्य विनाशिनः/शरीरकस्थापि कृते मूढ़ाः पापानि कुर्वते।" सब अपवित्र वस्तुओं के घर, कृतघ्न और नश्वर इस तुच्छ शरीर के लिये भी मूर्ख लोग पाप किया करते हैं, वे आगे कहते हैं : "मेदोऽस्थि-मांस-मज्जा-सृक् संघातेऽस्मिं स्त्वगावृते/शरीर नाम्नि का शोभा सदा वीभत्स दर्शने।" कि त्वचा से आवृत्त मेद, आस्थि, मांस, मज्जा और रक्त के समुदायरूप वीभत्स इस शरीर नामक वस्तु में शोभा ही क्या है? तब विभीषण इस शरीर को तामस क्यों न कहें? तुलसी को यदि किसी काली रेस के बारे में ही कहना होता तो वे तामस का प्रयोग कर सीधे काला तन ही कह देते और कोई छंदोभंग भी नहीं होता। लेकिन 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' के सिद्धान्त के अनुसार शरीर धर्मपालन के अहसास से भी ग्रस्त हैं। या फिर यह खुद को रिसोर्सफुल न महसूस कर पाने का अफसोस है। साधनसम्पन्नता को अपने एक निबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी आंका था। साधन सम्पन्नता एक क्रिटिकल कौशल है सर्वाइवल के लिये। साधन का अर्थ है कि कठिन और नाजुक मौकों पर रास्ता निकाल लेने का सरंजाम। ऐसा नहीं है कि विभीषण सिर्फ साधन की बात कर रहे हैं, साध्य की नहीं। सबसे पहले तो उन्होंने साध्य का ही स्मरण किया है। "कछु साधन नांही" से फिर उन्हें अपनी असहायता का बोध होता है। साध्य की चिंता कर लेने से साधन की चिंता करना जरूरी नहीं हैं, ऐसा वे नहीं मानते। साध्य कितना ही पवित्र हो, लेकिन साधन को भी देखना जरूरी है। वे जार्ज आरवेल के उपन्यास के उस खौफनाक सत्य से साबका नहीं रखते कि 'सत्ता साधन नहीं है, साध्य है।' जो लोग सत्ता को साध्य मानकर चलते हैं, उनसे विभीषण भिन्न हैं। उनका साध्य तो पद-सरोज में प्रीति है। राम उनके लिये साध्य हैं, साधन नहीं हैं। इमेनुएल कांट ने कहा था कि : आलवेज ट्रीट पीपुल एज एन्ड्स इन देमसेल्व्स, नेवर एजमीन्स टू एन एंड। विभीषण के लिये हनुमान और राम दोनों साधन नहीं है। वे कमोटिडी नहीं हैं। इसलिये दोनों के संदर्भ में उन्हें "प्रीति" याद आती है। हनुमान के संदर्भ में "मोरे हृदय प्रीति अरि होई" और राम के संदर्भ में "प्रीति न पद-सरोज मन माहीं।" साधन की बात वे इसलिये करते हैं कि वह साध्य का आरंभ है और साध्य साधन की ही पूर्णाहुति। तो ऐसा नहीं है कि साधन विभीषण के लिये उपेक्षणीय है। लेकिन भक्त के मन में आत्म-संशय बना ही रहता है। अपर्याप्तता का एक सच्चा अहसास जिसमें उसे अपनी साधना कुछ भी नहीं लगती। एक बांग्ला गीत में भी कुछ ऐसा ही अहसास था : मन रे, कृषिकाज जानों ना/ए मन मानव जामिन रइलो पतित/आबाद कर ले फलतो सोना।

दरअसल साधनहीनता की गंभीर अनुभूति ईश-कृपा की आवश्यक सीढ़ी है। किष्किंधाकांड में तुलसी कह ही चुके हैं : 'यह गुन साधन ते नहिं होई/तुम्हरी कृपा पाव कोई कोई' उत्तरकांड में जब राम कागभुसुंडि को भक्ति का वर देते हैं तो फिर वे कहते हैं : 'जानव तैं सबही कर भेदा/मम प्रसाद नहिं साधन खेदा।' ज्ञानमार्गियों के लिये तो उन्होंने उत्तरकांड में यह भी कहा : 'ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका/साधन कठिन न मन कहुँ टेका।' प्रभु-पद प्रीति समस्त साधनों का सुंदर फल हैः 'तब पद पंकज प्रीति निरंतर/सब साधन कर यह फल सुंदर।' (उत्तरकांड, 49) इसलिये विभीषण "कछु साधन नाहीं" के तत्काल बाद "प्रीति न पद सरोज मन मांही" की बात करते हैं। उत्तरकांड में यह भी कहा गया है कि "जहँ

लगि साधन वेद बखानी/सब कर फल हरिभगति भवानी" भक्ति साधन से प्रतिफलित नहीं होती, वह कृपा से फलित होती है। कृपा उपहार नहीं है। लेकिन कृपा अपराध-बोध को विश्वास और साहस में परिणत करती है। कृपा परित्यक्त को सहारा है। यर्जो कैलीनेन का कहना है : In grace something is transcended, once and for all overcome. Grace happens in spite of something; it happens in spite of separateness and alienation. Grace means that life is once again united with life, self is reconciled with self. Grace transforms fate into a meaniagful vocation.

राम के पद-सरोज की तृष्णा विभीषण को हमेशा रही है। जब वे बाद में रावण से अपमानित और निष्कासित होकर जाते हैं तो उन्हें राम के ये पद-सरोज ही याद आते हैं : 'देखहऊँ जाइ चरन जल जाता/अरून मृदुल सेवक सुखदाता/जे पद जनकसुतां उर लाए/कपट कुरंग संग धर धाए/हर उर सर सरोज पद जेई/अहोभाग्य मैं देखिहऊँ तेई/जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ/ते पद आज बिलोकिहऊँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ।' इसलिये रामरक्षास्त्रोत में "पादौ विभीषणश्रीदः" ही कहा गया। सरोज-पद चीन में 19वीं शती में महिलाओं के पैर बांधने के तौर-तरीके को कहते थे। लेकिन भारत में पद-कमल या तो अवतार/भगवान/देवी-देवताओं के होते हैं या गुरुजनों के। विभीषण को क्षोभ है कि ईश्वर के पद-कमलों में उसकी प्रीति भी इतनी नहीं है कि अकेले उसी के बल पर उसका उद्धार हो जाये। उसे तो ईश-कृपा का ही सहारा है। प्यार की बहुत सी महिमाएँ गाई गई हैं, लेकिन विभीषण के लिये प्यार भी पर्याप्त नहीं है। बल्कि हर सच्चे प्रेमी की तरह उन्हें अपने प्यार पर संशय बना ही रहता है। सैम कीन कहती हैं कि Love isn't finding a perfect person, it is seeing an imperfect person perfectly. लेकिन यहाँ विभीषण का संशय स्वयं पर है। उसे लगता है कि उसका प्यार भगवान (राम) के प्रति सच्चा नहीं है और प्यार अगर सच्चा नहीं है तो वो प्यार ही नहीं है। लोग प्यार में गिरते हैं लेकिन विभीषण को तो अपने पतित होने का ही पहले अहसास है। सूरदास के शब्दों में "कब तुम मोसो पतित उधारो/पतितनि में विख्यात पतित हौं पावन नाम तिहारो।" प्यार करने वाले हृदयों को अक्सर यह चिंता सताती है कि वे अपने प्रियतम के प्यार के काबिल नहीं हैं। "माना कि मैं तेरी दीद के काबिल नहीं/तू मेरा शौक देख, तू मेरा इन्तिजार देख।" या जो मोमिन कहते थे। दिल काबिले-मोहब्बते-जानां नहीं रहा/वो वलवला, वो जोश, वो तुग़यां नहीं रहा। या वो जो फिल्मी नायिका का कहना है : फूल तुम्हें भेजा है खत में फूल नहीं मेरा दिल है/प्रियतम मेरे मुझको लिखना क्या ये तुम्हारे काबिल है। या वो जो कोई शायर कहता है : काबिल नहीं मैं आपके इसमें तो शक नहीं/ दिल तोड़ने का लेकिन तुमको भी हक नहीं। विभीषण को भी अपनी अपर्याप्तता का, अपने प्यार की अपर्याप्तता का अहसास है। अशोक वाजपेयी की एक कविता है : "उसने कहा/उसके पास एक छोटा सा हृदय है/जैसे धूप कहे/उसके पास थोड़ी सी रौशनी है/आग कहे/ उसके पास थोड़ी सी गरमाहट/धूप नहीं कहती उसके पास अंतरिक्ष है/आग नहीं कहती उसके पास लपटें।" इसी तरह विभीषण भी कुछ नहीं कहते। वे यह तक नहीं कहते कि उनकी प्रीति कमतर है। वे तो प्रीत ही न होने का पछतावा करते हैं। तो यह एहसासे-कमतरी नहीं है। यह तो अपने को शून्य बना लेना है। अपनी तरफ से अपनी सम्पूर्ण निर्योग्यता का स्वीकार। रामचंद्र शुक्ल ने भक्ति को प्रीति और श्रद्धा का योग कहा है लेकिन यहाँ विभीषण सिर्फ प्रीति की ही बात कर रहे हैं। उसके न होने का अहसास। अपनी 'वर्थलेसनेस' का। इसी कारण किसी भी किस्म के दावे के बिना विभीषण का केस पूरी तरह से भगवान राम की ग्रेस पर टिक जाता है।

कहहु कवन मैं परम कुलीना।
कपि चंचल सबहीं बिधि हीना ।।
प्रात लेई जो नाम हमारा।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा।।
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर।।

(श्री हनुमान जी विभीषण से बोले) आप ही कहिए कि मैं ही कौन बड़ा कुलीन हूँ? कपि हूँ, चंचल हूँ, और सब प्रकार से हीन हूँ। जो हमारा नाम प्रातःकाल में ले उसे उस दिन भोजन न मिले। हे सखे! सुनो, मैं ऐसा अधम हूँ तो भी रघुवीर (श्रीरामजी) ने मुझ पर भी कृपा की। (श्रीराम का) कृपा करने का गुण-स्मरण कर उनकी दोनों आंखों में आंसू भर आए।

हनुमान जब विभीषण को उत्तर देते हैं तो कुलीनता की बात करते हैं। लेकिन विभीषण ने आत्म-दैन्य के अपने निवेदन में कुलविषयक हीनता की कोई चर्चा ही नहीं की थी। अलबत्ता उन्होंने 'भानुकुलनाथा' से अपेक्षा अवश्य की थी और स्वयं को अनाथ बताकर शायद कहीं यह भी संकेत किया था कि वे कुलगत विशिष्टियों का कोई सहारा नहीं लेना चाहते हैं। लेकिन तुलसी शायद कहीं अपने समय के कुल-क्लेम्स को खंडित करना ही चाहते थे। तुलसी के समय में मुगल साम्राज्य का आधार-स्तंभ ही कुलाभिमानी सामंतवाद था। अरब, मध्य एशिया, ईरान और अफगान मुस्लिम अपने आपको 'अशरफ' मानते थे और जियाउद्दीन बर्नी ने फतवा-ई-जहांदारी में अशरफ सुप्रीमेसी पर बहुत विस्तार से लिखा था। बर्नी ने यहां तक लिखा था कि सुलतान का यह धार्मिक कर्त्तव्य है कि वह 'अजलफ' (निम्नवंशीय जातियों) की ज्ञान तक पहुंच खत्म कर दे। 'कुत्तों के हलक में रत्न नहीं उतारे जाते' 'सुअरों के गले में सोने की पट्टी नहीं बांधी जाती':- उसके शब्द थे। वह आगे कहता है : "The disorder into which all affairs of the religion and the State are thrown is due to the acts and works of the low-born, who have become skilled. For, on account of their skill, they become governors (wali), revenue-collectors (amils), auditors (mutassif), officers (farman deh) and rulers (farman rawa)." बर्नी पवित्र कुरान की व्याख्या अशरफों के पक्ष में ही नहीं करता बल्कि अज़लफों के विरोध में करता है :- "God himself has decided that the ajlaf be confined to 'inferior' occupations. For, He is said to have made them 'low born', bazaar people, base, mean, worthless, plebian, shameless and of dirty birth.'' बर्नी का दावा यह था कि "God has bestowed the ashraf with noble virtues by birth itself, and these are transmitted hereditarily. Since God is held to have made the ajlaf innately despicable and base, to promote them would be a gross violation of the divine plan. In the promotion of the low and low-born beings there is no advantage in this world, for it is imprudent to act against the wisdom of Creation." बर्नी कोई अकेला मध्यकालीन मुस्लिम विद्वान नहीं था। वह अपने समय के उलेमाओं और शासकों के विचारों को प्रतिध्वनित कर रहा था। सिर्फ अज़लफ की बात नहीं थी, अरजल मुस्लिमों की हालत तो और गई गुजरी थी। कुलीनता का भार मध्यकालीन समय में इतना था कि बंगाल के सुल्तान सैयद हुसैन शाह ने अपनी चार पत्नियों में से हुई बहुत सी पुत्रियों को इसलिए अविवाहित रखा क्योंकि 'सैयद' दूल्हे नहीं मिले। अभी 'द गार्डियन' ने पाकिस्तान में प्रचलित टेक्स्ट बुक्स का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि वे गैर-मुस्लिमों को हीनतर (इनफीरियर) बताती हैं। मध्यकाल में भारत आए शासकों/आक्रान्ताओं का यह दृढ़ विश्वास ही था कि वे अपनी रियाया से कई गुना बेहतर हैं। बगदाद के खलीफाओं की अब्बासी और सासानिद अवधारणाओं को मिलाकर बलबन जैसों ने स्वयं को 'जिल्ली इलाही' (ईश्वर की छाया) बना लिया था और यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि "The heart of the king is special repository of the God's favour and in this he was no equal among mankind."

इसी कारण डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का वह कथन कि "यह विचित्र बात है कि जिस समय भारतवर्ष में जाति-पांति को तोड़ने वाली संस्कृति ने प्रबल प्रताप के साथ आक्रमण करना शुरू किया और अंत तक इस देश में अपना शासन स्थापित करने में सफलता पाई, उसी समय जाति-पांति का बंधन और कठोर हो गया" तार्किक नहीं लगता। दरअसल आक्रामकों की उस संस्कृति में स्वयं विभेदों के प्रति नृशंस असहिष्णुता थी और ऊंच-नीच का भाव बहुत ठसा-ठस भरा हुआ था,

अतः उसके समय में ऊंच-नीच वाली कुलगत भावना का विस्तार कोई वैचित्र्य की बात नहीं थी। इसलिये डॉ. धर्मवीर द्वारा यह कहना एक खोखले आशावादी स्वप्न में उलझना है कि उस मध्य युग में तत्कालीन आक्रामकों के धर्म ने "धर्म के मामले में दलित को आशा और राहत दी है।" यह बात वे कबीर पर अपनी पुस्तक में कहते हैं। बिना यह जाने कि सिकंदर लोदी ने जिस तरह ब्राह्मणों पर अत्याचार किये थे, उसी तरह से 'दलित' कबीर को भी नहीं छोड़ा था और उन्हें कोई 'आशा और राहत' नहीं उपलब्ध हो पाई थी। 'भाईचारे और समानता के मूल्य' यदि वास्तव में होते तो वे नृशंसताएं होतीं ही क्यों? कबीर यदि मुसलमान होते तो वे 'दलित' कैसे हो सकते थे क्योंकि 'बंधुत्व और समानता' वाली कथित संस्कृति में दलित होना कैसे संभव है? वे अपने साहित्य में खुद को बारम्बार जुलाहा कहते हैं, लेकिन एक बार भी मुसलमान क्यों नहीं कहते? बल्कि उनके शेख तकी तो बादशाह सिकंदर लोदी को उनके विरुद्ध भड़का देते हैं और फिर शुरू होता है उनकी यंत्रणाओं का क्रम जिसे 'आशा और राहत' सिर्फ डॉ. धर्मवीर जैसे प्रज्ञाचक्षु ही कह सकते हैं। विल ड्यूरां तो हिन्दुओं के नरसंहार, उनकी स्त्रियों के अपहरण और बलात्कार, जबरिया धर्मान्तरण और स्त्रियों-बच्चों के दास-दुकानों में बेचे जाने का जो विवरण स्वयं मुस्लिम इतिहासकारों के हवाले से देता है, उसमें कहीं भी आक्रान्ताओं द्वारा दलितों को 'आशा और राहत' के विशेष व्यवहार का उल्लेख नहीं है। जब ग़ज़नी ने 20 लाख लोग मारे या गुलाम बनाए थे (अल उत्बी, नामक सुल्तान-सचिव के दावे अनुसार) तो उसने 'दलितों' को छांटकर अलग कर दिया हो, ऐसा नहीं हुआ। जब कुतुबुद्दीन ऐबक ने सन् 1195 में राजा भीम के 20,000 लोगों को गुलाम बनाया था या सन् 1202 में कालिंजर में 50,000 लोगों को गुलाम बनाया तो वे सबके सब ब्राह्मण नहीं थे। सूफी अमीर खुसरो का कहना थाः "The Turks, whenever they please, can seize, buy or sell any Hindu." तब उसने any Hindu excepting Dalits नहीं कहा था। तत्कालीन इतिहासकार शम्स सिराज अली की तो यह शिकायत थी कि गुलाम बहुत ज्यादा हो गए। होते नहीं? अकेले फिरोजशाह तुगलक ने 1,80,000 गुलाम बनाए थे। इब्नबतूता लिखता है कि "गांव के गांव वीरान हो गए थे"। तैमूर स्वयं दावा करता है कि एक ही दिन-सत्रह तारीख-को उसकी 15,000 तुर्कों वाली सेना में से प्रत्येक तुर्क ने 50 से 100 कैदी बनाए थे और औरतें तो इतनी मिलीं कि गिनती मुश्किल हो गई। करीब दो से ढाई लाख लोग गुलाम बनाकर समरकंद भेज दिए गए। दिल्ली पर 1398-99 में आक्रमण से पहले तैमूर ने एक लाख गुलामों का 'कोल्ड-ब्लडेड मर्डर' किया था। सिर्फ मुस्लिमों वाले दिल्ली के इलाके लूट/हत्या से छोड़ने की बात तैमूर करता है, दलितों वाले नहीं। जिस सिकंदर लोदी की बात कबीर पर अत्याचार और यंत्रणा के सिलसिले में की जाती है, उसने रीवा और ग्वालियर में ऐसा नरसंहार किया था कि वे निर्जन हो गये थे। क्या उसने दलितों को 'आशा और राहत' देने की सावधानी रखी थी? उस वक्त क्या दलित डॉ. धर्मवीर की तरह यह कहकर बच पाए थे किः "ब्राह्मण धर्म को इस्लाम से लड़ना है तो वह लड़ता रहे, यह उसकी जरूरत हो सकती है, लेकिन दलित इस्लाम से लड़ाई नहीं लड़ेगा।" दरअसल डॉ. धर्मवीर यह भूल जाते हैं कि आज का यह वक्त ही लड़ाई का नहीं है। इस्लाम या किसी भी धर्म से। धार्मिक आधार पर लड़ाई का विचार सिर्फ डॉ. धर्मवीर जैसों के मस्तिष्क में शेष रह गया है, वरना साहित्यिक आलोचना इन टर्म्स में होती ही नहीं। लड़ाईयां तो मध्यकाल में लड़ ली गई हैं। अब्दुल्ला खान उज़्बेक का नाम भी सुना है क्या डॉ. धर्मवीर ने? अकबर के जनरल थे यह महाशय। मात्र एक जनरल। इनका स्वयं का कथन था कि बंगाल में उन्होंने "5 लाख औरत-मर्दों को बेचा। उन्हें मुसलमान भी बनाया, कयामत तक वे बढ़कर करोड़ों हो जाएंगे।" हर मुस्लिम के पास उन दिनों ढेरों गुलाम होने का दावा इतिहासकारों ने किया है। क्या ये गुलाम सिर्फ ब्राह्मण थे? जहांगीर ने स्वयं

लिखा है कि पांच से छः लाख हिंदू उसके पिता (यानि अकबर महान्) और स्वयं उसके काल में मार डाले गये थे। क्या ये हिन्दू लोग सिर्फ ब्राह्मण थे? और यदि मध्यकाल में एक आक्रामक शक्ति के सारे सदमे इन्हीं ब्राह्मणों ने झेले तो शताब्दियों के अत्याचार से प्रताड़ित होने का लाभ तो स्वतंत्र भारत में उन्हें मिलना था और यदि अकेले वे ही प्रताड़ित हो रहे थे और दलित 'आशा और राहत' के वातावरण में थे तो ब्राह्मण दलित पर अत्याचार कैसे कर सकते थे? इस पर भी तुर्रा यह कि डॉ. धर्मवीर लिखते हैं कि "कौन-सा हिंदू राजा था जिसने इन जातियों के प्रति छुआछूत नहीं बरती? हिन्दू राजाओं के लिए लिखे गए किन ग्रंथों में शूद्र और अछूतों को दबाकर रखने के लिये आज्ञा नहीं लिखी गई है? केवल नकारने भर से काम नहीं चलता बल्कि उसके लिये ऐतिहासिक या ग्रंथीय प्रमाण पेश करने चाहिए।" मैं भी यही बात कह रहा हूं। डॉ. धर्मवीर द्वारा एक आक्रामक संस्कृति को 'आशा और राहत' का जो प्रमाण पत्र दिया गया है, उसे कहने भर से काम नहीं चलेगा। उसके ऐतिहासिक और ग्रंथीय प्रमाण उन्हें पेश करने चाहिए। मैं तो विषयान्तर की जोखिम पर भी पेश कर गया तथा आगे और भी कर सकता हूँ। लेकिन इनकी टक्कर के अत्याचार और यंत्रणा के कौन से 'ब्राह्मण धर्म' (यह डॉ. धर्मवीर जी का ही प्रज्ञा-पुष्पित शब्द) के उदाहरण उन्होंने इतिहास और ग्रंथों से पेश किये हैं? पर उपदेश कुशल बहुतेरे। डॉ. धर्मवीर बताएं कि किस हिन्दू राजा ने किस ग्रंथ-विशेष को अपने राज्य-विशेष का संविधान बताकर अंगीकृत, अधिनियमित या आत्मार्पित किया? और ऐसे पचासों 'ब्राह्मण धर्म' के ग्रंथ हैं जो जाति पर आधारित उच्चता का विरोध करते हैं। अपनी इस सुन्दरकांड श्रृंखला में मैंने ऐसे ढेरों ग्रंथों के संदर्भ दिए हैं। मैं और भी नए संदर्भ दे देता हूं ताकि डॉ. धर्मवीर अज्ञान को आरोप नहीं बना पाएं। वल्लभदेवकृत सुभाषितावलि (3051) में ही यह कहा गया था कि 'अकुलीनः कुलीनश्च मर्यादां यो न लंघयेत्/धर्मापेक्षी मृदुदन्तिः सः कुलीनशतैर्वरः' कि अकुलीन हो या कुलीन, जो मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, धर्म में तत्पर रहता है, मृदु है, जितेन्द्रिय है, वह सैकड़ों कुलीनों से बढ़कर है। शुक्रनीति (2/56) यह कहती थी कि 'न जात्या न कुलेनैव श्रेष्ठत्वं प्रतिपद्यते' कि श्रेष्ठता न तो जाति से प्राप्त होती है, न कुल से ही। क्षेमेन्द्र (दर्पदलन 1/14) ने कहा थाः 'गुणाधीनं कुलं ज्ञात्वा गुणवत्कुजातोऽपि निर्गुणः केन पूज्यते/दोग्ध्रीकुलोद्भवा धर्नुवन्ध्या कस्योपयुज्यते' कि गुणवान कुल में उत्पन्न होकर भी यदि कोई स्वयं गुणहीन है, तो वह पूजा का पात्र नहीं हो सकता जैसे दुधारी गाय के उत्पन्न होने पर भी यदि गौ वन्ध्या है तो उसका उपयोग कौन करेगा? तत्कालीन संस्कृति-शास्त्रज्ञ स्पष्ट लिख रहे थे : 'गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते पितृवंशो निरर्थकः/वासुदेव नमस्यन्ति वसुदेवं न मानवाः' कि गुण सर्वत्र पूजे जाते हैं, पिता का वंश निरर्थक है। मनुष्य वासुदेव को नमस्कार करते हैं, वसुदेव को नहीं। मनुस्मृति कह चुकी थी कि 'अन्त्यादपि परं धर्मं' कि अन्त्यज से भी परम धर्म को प्राप्त करना चाहिए। भर्तृहरि (नीतिशतक 55) कह रहे थेः 'सत्यं चन्तपसा चकिं' कि यदि सत्य है तो तपस्या की क्या आवश्यकता है? नारायण पंडित कह रहे थे : 'यस्य कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान् पूज्यते नरः' (हितोपदेश प्रस्ताविका, 23) कि किसी से भी उत्पन्न गुणवान् मनुष्य पूजा जाता है। शुक्रनीति (1/39) का कहना था : 'न वर्णतो न जनकाद् ब्रह्मतेजः प्रपद्यते' कि वर्ण से और पिता से ब्रह्मतेज नहीं प्राप्त होता है। शुक्रनीति (1/38) यह स्पष्ट उद्घोष करती थी : 'न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न/न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः' कि इस संसार में जन्म से न तो कोई ब्राह्मण ही होता है, और न क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, या म्लेच्छ। गुणों व कर्मों से ही भेद होता है। अथर्ववेद के पहले से यह अवधारणा 'ब्राह्मण धर्म' में चली आ रही थी। अथर्ववेद के ऋषि को तो गर्व ही इस बात का था कि 'असंबाध प्रध्यतो मानवानां यस्था उद्वतः/प्रवतः समं बहु।' अर्थात् हमारी मातृभूमि में रहने वालों में ऊंच-नीच की असमानता नहीं है, समता बहुत है। नारदपुराण

(पूर्वभाग 4/23) कहता थाः 'यः स्वाचार परिभ्रष्टः सांगवेदान्तगोऽपि वा/स एव पतितो ज्ञेयो यतः कर्मबहिष्कृतः।। कि जो छः अंगों सहित वेदों/उपनिषदों का ज्ञाता होकर भी आचार से गिरा हुआ है, उसे पतित ही समझना चाहिए क्योंकि वह कर्मभ्रष्ट है। हितोपदेश कहता था : 'जाति मात्रेण किं कश्चिद् धन्यते पूज्यते क्वचित्/व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवाभवेत्' कि क्या कोई जातिमात्र से मार डाला या पूजा जाता है? समझदार व्यक्ति को चाहिए कि पहले उसका व्यवहार समझे, तब मारे या उसकी पूजा करे। (हितोपदेश 1/58)। शूद्रक तब मृच्छकटिकं (8/29) में लिख रहे थे : 'किं कुलेनोपादिष्टेन शीलमेवात्र कारणम्' कि कुल की प्रशंसा करने से क्या? इस लोक में शील ही महानता का कारण है। तब सुंदर पांड्य नीतिद्विषष्टिका में आर्य की परिभाषा यह दे रहे थे : 'अशठहृदयः कृतज्ञः सानुक्रोशः स्थितः सतां मार्गे/अपरापवादकर्मा शुचिकर्मरतः स खल्वार्थः' कि जो शठहृदय नहीं है, कृतज्ञ है, करुणायुक्त है, अच्छे मार्ग पर चलता है, दूसरों की निंदा नहीं करता और पवित्र कामों में लगा रहता है, वही आर्य है। आर्य की इस परिभाषा में कहीं भी जन्म, जाति या भूगोल को स्थान नहीं दिया गया था। यह बात वेदव्यास के समय से चली आई थी जब महाभारत के वन पर्व, 313/108-109 में कहा गया था कि 'श्रृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम/कारणं हि द्विजत्वे चे वृत्तमेव न संशयः' कि हे तात यक्ष! सुनो, ब्राह्मणत्व में न तो कुल कारण है, न स्वाध्याय और न शास्त्र श्रवण। ब्राह्मणत्व का हेतु आचार ही है, इसमें संशय नहीं है। कुल पर ऐसी ही एक टिप्पणी उद्योग पर्व (34/41) में भी वेदव्यास करते हैं : 'न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः/अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते' कि मेरा ऐसा विचार है कि सदाचार से हीन मनुष्य का केवल ऊंचा कुल मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि नीच कुल में उत्पन्न मनुष्य का भी सदाचार ही श्रेष्ठ माना जाता है। यह शास्त्रों में माना जाता रहा कि 'आचारहीन न पुनन्ति वेदा' कि वेद आचारहीन पुरुष को पवित्र नहीं कर सकते। भट्टनारायण (वेणी संहार, 3/37) का स्पष्ट उद्घोष था : 'दैवायंत्त कुले जन्म मदायत्रं तु पौरुषम्' कि (उच्च या नीच) कुल में जन्म होना भाग्य के अधीन है। मेरे अधीन तो पौरुष है। नारद-भक्ति सूत्र (72) कहता था : 'नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुल धन क्रियादि भेदाः' अर्थात् उन (भक्तों) में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि का भेद नहीं होता है। यजुर्वेद (18/48) जब तेजस्वी बनाने की मांग ईश्वर से करता था तो सबके लिये : 'रूचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रूचं राजसु नस्कृधि/रूचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रूचा रूचप्' कि हे देव! हमारे ब्राह्मणों को तेजस्वी करो। हमारे क्षत्रियों को तेजस्वी करो। हमारे वैश्यों को तेजस्वी करो, हमारे शूद्रों को तेजस्वी करो। वाल्मीकि ने भी कुलीनता का एक ही पैमाना माना था। चरित्र अयोध्याकांड (109/4) में कहा गया : 'कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम्चरित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम्' कि मनुष्य के चरित्र से ही ज्ञात होता है कि वह कुलीन है या अकुलीन, वीर है या दंभी, पवित्र है या अपवित्र। भास (अविमारक, 2/5) भी चरित्र को ही कुलीनता की कसौटी मानते हैं : 'न तु कुलविकलानां वर्तते वृत्तशुद्धिः'। संस्कृत की एक अतिप्रचलित सूक्ति 'शीलं भूषयते कुलं' कि कुल की शोभा तो शील से होती है, भी यही स्थापित करती थी। यह भी कि 'ज्येष्ठत्वं जन्मना नैव गुणैर्ज्येष्ठत्व मुच्यते' कि महानता जन्म से नहीं होती, गुणों से होती है। और इस श्लोक की अगली पंक्ति इसे बड़े रोचक उदाहरण से सिद्ध भी करती है कि 'गुणान् गुरुत्वमायाति दुग्धं दधि घृतं क्रमात्'। यह भी कहा गया 'कुलं शीलेन् धार्यते' कि शील से ही कुल देखा जाता है। भागवत् ने उस ब्राह्मण को जो दीन-दुखियों, उपेक्षितों को राहत नहीं देता, एक ऐसा व्यक्ति माना जिसका ब्रह्म प्रभाव वैसे ही रिस गया है, रिक्त हो गया है जैसे किसी छिद्रित बर्तन से दूध का चूकर निकल जाना (4.14.41)। ब्राह्मणः समद्दक शान्तो दीनानां समुपेक्षकः/स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात् पयो यथा। कुलीन उसे माना जाता था जो विकटतम परिस्थितियों में भी नीच काम नहीं करता : 'वनेऽपि सिंहा मृगमांसभक्षिणो

बुभुक्षिता नैव तृणं चरन्ति/एव कुलीना व्यसनाभिभूता न नीचकर्माणि समाचरन्ति।' यह सही है कि बहुत सी स्मृतियों में शूद्रों के विरुद्ध अनर्गल बातें भी हैं और यह भी सही है कि उसका कुछ लोगों ने बेजा फायदा अपने लिए उठाने की कोशिश की होगी। लेकिन उनके होने से अधिकतम यही सिद्ध होता है कि इस मामले में मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना की स्थिति रही है। आज भी बहुत से सिरफिरे एक दूसरे के समुदाय के बारे में बहुत ही संकीर्ण और उग्र प्रतिक्रियाएं देते रहते हैं। कई पुस्तकें आती रहती हैं जो जातीय घृणा पर ही आधारित होती हैं। लेकिन क्या वे आज के युग या समुदाय-विशेष का प्रतिनिधित्व करती हैं? क्या उनके आधार पर एक पूरी जाति की सुनियोजित गर्हणा की जा सकती है? क्या उसके आधार पर 'हजारों वर्षों' के अत्याचार की थियरी बनाई जा सकती है? आज के कुछ दलित-आलोचक इसी जघन्य अविवेकवान सांप्रदायिकता का परिचय देते हैं। उसमें इतने स्पष्ट रूप से ब्राह्मण मात्र पर लांछन होता है कि मुझे एक बौद्धिक होने के नाते लगता है कि इन्हें जातीय घृणा का आरोपी क्यों नहीं बनाया जाना चाहिए।

डॉ. धर्मवीर डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी पर आरोप लगाते हैं कि उनका इतिहास पुराणों और किंवदंतियों की रणनीति पर चलता है। यह फिर भी बेहतर है क्योंकि डॉ. धर्मवीर का इतिहास तो उनकी मनोग्रंथियों और पूर्वाग्रहों से निष्पन्न होता है। वह तो बिना किसी ऐतिहासिक विश्लेषण के, निष्कर्षों का समुच्चय है। डॉ. धर्मवीर तुलसी की एक पंक्ति 'मांग के खैबे मसीत को सोइबो' के आधार पर यह निष्कर्ष भी निकाल लेते हैं कि "कहने का मतलब यह है कि ज्यादा परेशान किए जाने की स्थिति में तुलसी इस्लाम में धर्मान्तरण करने का विकल्प अपने पास सुरक्षित रखे हुये थे।" अब यदि निष्कर्ष इस तरह से निकाले जाते हों कि मात्र एक मस्जिद शब्द के उच्चारण से तुलसी मुस्लिम हो जाने का विकल्प अपने पास खुला रखते हैं तो इस तर्क पद्धति के आधार पर काबा और कर्बला लिखने के कारण मैथिलीशरण गुप्त अपने पास यह विकल्प खुला रखते थे कि वे इस्लाम में धर्मान्तरण कर सकें। संभवतः -मुझे खुद नहीं मालूम, पर डॉ. धर्मवीर को इल्हाम होगा- मैं भी 'कुरान कविताएं' लिखने के कारण इस्लाम में धर्मान्तरण का विकल्प खुला रख रहा हूं। रघुपति सहाय फिराक गोरखपुरी, पं. ब्रजनारायण चकबस्त, जगन्नाथ आजाद, नरेश कुमार शाद आदि-आदि जो भी लोग इस्लाम पर एक शब्द भी सकारात्मक लिखे या जिन्होंने मस्जिद नाम भी ले लिया तो वह इसलिये कि वे अपने पास धर्मान्तरण का विकल्प खुला रखना चाहते थे। गजब। डॉ. धर्मवीर जैसे संकुचित और द्वेषपरक चिन्तन में कभी वह औदार्य नहीं आएगा जो अपनी जगह पर खड़ा रहकर जगत् में उपलब्ध समस्त 'श्रेष्ठ' का सम्मान कर सकता है। सम्मान क्या, उसे चाह सकता है। यदि प्रेमचंद, 'ईदगाह' लिखते हैं तो इस्लाम में धर्मान्तरण का विकल्प खुला रखने के लिये नहीं लिखते। जब 'इस्लाम का विष-वृक्ष' और 'अंधा एतमाद' और 'खुफिया जिहाद' जैसे लेख उस समय इस्लाम के विरुद्ध निकलने लगे तो मुंशी प्रेमचंद ने अपने लेखों के जरिए उनका खंडन और प्रतिकार किया। एक तार्किक व्यक्ति होने के नाते, न कि इस्लाम में धर्मान्तरण की गुप्त इच्छा के चलते। काबुलीवाला लिखने से रवीन्द्रनाथ टैगोर मुसलमान होने का विकल्प-विचार नहीं कर रहे थे।

सत्य यह है कि मध्यकाल में अजलफ-अशरफ का विचार समाज में बहुत प्रभावी था और बहुत पाशविक तरीके से विजितों पर लागू किया गया था। ऊंच-नीच के इस विचार ने पुरुष-सूक्त की जैविक अंतर्निर्भरता वाली श्रेणी-व्यवस्था को भी दुष्प्रभावित किया था। मध्यकाल में उसकी विकृतियों को नष्ट करने के लिए ही भक्ति के विचार ने जन्म लिया था। भक्ति ने इस ऊंच-नीच पर ही आपत्ति की थी। उस समय तथाकथित हीन जातियों से ही भारत को आक्रामकों के विरुद्ध एक बौद्धिक नेतृत्व मिला। चोखा-मेला, करया मेला, बांका, निर्मला आदि संत मैहर थे। संत सेन नाई थे। संत साधना (14वीं शती वि.) जाति के कसाई थे। काश्मीर

की महिला संत लालदेद या लल्ला ढेढ़वा मेहतर जाति में, नामदेव छीपी जाति में हुए थे। रैदास जूते गांठते थे। इनमें से कोई भी कह सकता था कि 'कहहु कवन मैं परम कुलीना'। डॉ. आम्बेडकर ने बुद्ध धर्म और भक्ति को दलितों के सनातन धर्म के रूप में इसीलिये स्वीकार भी किया था लेकिन बाद में एक क्रम यह चला कि दलित संतों के राम और तुलसी के राम भिन्न हैं। पता नहीं, यदि उन्हें भिन्न ही होना था तो 'राम' शब्द की भी क्या आवश्यकता थी? यदि उन्हें भिन्न होने की जिद थी तो उनके स्वर इनसे इतने क्यों मिलते थे। यहां हनुमान का 'मोहू पर रघुबीर' और वहां कबीर का "रामनाम ल्यौ लाइ करि, चित चेतन है जागि/कहै कबीर ते ऊबरे, जे रहे राम ल्यौ लागि" दोनों का स्वर एक जैसा लगता है? तुलसी का निर्गुन सगुन में भेद न मानना और कबीर का 'संजोगे करि गुण धर्या, बिजोगै गुण जाइ/जिभ्या स्वारथि आपणें कीजै बहुत उपाई' में क्या फर्क था? या कबीर के ही एक पद में कहे गए कथन 'संत धोखा कांसू कहिए/गुण में निर्गुण में गुण है बांट छांड़ि क्यूं बहिए' का तुलसी के अभेद से क्या फर्क था? कबीर कहते हैं: 'रामनाम संसार मैं सारा, राम नाम भौ तारन हारा' और तुलसी कहते हैं : "नाम गरीबअनेकनेबाजे/लोकबद बर बिरिद बिराजे।" कबीर कहते हैं: राजा भयौ गांव सौ पाये, टका लाख दस बात/ रावन होत लंका को छत्रपति, पाल में गई बिहात/कहै कबीर राम भजि बौरे, जनम अकारथ जात' तो वे किस सगुण संत से कम लगते हैं? हरि, गोपाल, रघुनाथ, राजाराम, मुरारी, रघुनाथ, गोविन्द, शब्द कबीर के यहां बार-बार क्यों आते हैं? कबीर यदि निर्गुण 'हरि' की बात कर रहे होते तो निर्गुण के 'चरण' कहां से आ जाते- 'कहै कबीर दासनि को दास, अब नहीं छाड़ौ हरि के चरन निवास'। इसमें और विभीषण के 'प्रभु-पद-प्रीति' में क्या फरक है? चलिए कबीर का एक पूरा भजन ही सुनिए : 'भजि नारदादि सुकादि बंदित, चरन पंकज भामिनी/भजि भजिसि भूषन पिया मनोहर देव-देव सिरोवनी/बुधि नाभि चंदन चरिचिता, तन रिदा मंदिर भीतरा/राम राजसि नैन बांनी, सुजान संदर सुंदरा/बहु पाप परबत छेदना, भौ ताप दूरिति निवारणां। कहै कबीर गोब्यंद भजि, परमानंद वंदित कारणां'। या एक और सगुण भक्ति की कबीर-रचना लें: 'जाके भगति बांछू जगत गुर गोब्यंद रे।' कबीर अवतार-कथा भी उतने ही प्रेम से कहते हैं : 'प्रहलाद पधारे पढ़न साल/संग सखा लीये बहुत बाल/मोहि कहा पढ़ाव आल जाल/मेरी पाटी मैं लिखि दे श्री गोपाल/तब सैनां मुरकां कह्यौ जाइ/ प्रहलाद बंधायौ बेगि आई/तू राम कहन की छांड़ि बांनि/ बेगि छुड़ाऊँ मेरो कोह्यौ मानि/मोहि कहा डरावै बार-बार/जिनि जलथल गिरकौ कियौ प्रहार/बाधि मोरि भावै देह जारि/जे हूँ राम छाड़ौ तौ गुरहि गार/तब काढ़ि खड्ग कोह्यौ रिसाई/तोहि राखनहारो मोहि बताई/खंभा मैं प्रगट्यो गिलारि, हरनाकस मार्यो नख बिदारि/महापुरुष देवाधिदेव नरस्यंध प्रकट कियौ भगति भेव/कहै कबीर कोई लहै न पार/प्रहिलाद उबार्यो अनेक बार।' यहीं नरहरि, राम और माधव उन्हें अन्यत्र भी याद आते हैं : 'राम ऐसो ही जानि जपी नरहरी/माधव मधुसूदन बनवारी'। एक अन्य पद में वे कहते हैं : 'दर मांदे ठांड़े दरबार/ तुझ बिन सुरति करै को मेरी दरसन दीजै खोल किवार/ जयदेव नाम विप्र सुदामा तिन को किरपा भई है अपार/ कह कबीर तुम समरथ दाते चार पदारथ देत न बार।' एक अन्य सबद में विभीषण की ही तरह वे भी राम के चरन की बात करते हैं : 'राम चरन जाकै हिरदै बसत हैं, ता जन कौ मन क्यूँ डौले'। और एक जगह वे राम के सिवा किसी अन्य देव से कोई काम नहीं होने की बात कहते हैं : 'जौ जाचौं तो केवल राम, आन देव सूं नांही काम। जाकै सूरिज कोटि करै परकास/कोटि महादेव गिरि कबिलास/ब्रह्मा कोटि बूंद ऊ चरै/दुर्गा कोटि, जाकै मरदन करैं/कोटि चंद्रमा गहैं चिराक/ सुर तैंतीसू जीमैं पाक/नौग्रह कोटि ठांड़े दरबार/धरमराई पौली प्रतिहार/ कोटि कुबेर जाकै भरें भड़ार/लक्ष्मी कोटि करै सिंगार/ असंख्य कोटि जाकै जमावली, रावण सेन्या जाथै चली/ सहस बाहू के हरे परांण, जरजोधन घाल्यों खैमान'। या एक दूसरा कबीर-पद लें 'तहां जौ राम नाम ल्यौ लागे/

तो जरा मरण छूटै भ्रम भागै,' इसमें वे यह कहते हैं : 'चमके बिजुरी तार अनंत, तहां प्रभु बैठे कवलाकंत'। ये कमलाकांत लक्ष्मीपति विष्णु निर्गुण भक्ति में क्या कर रहे होते हैं? वे जब यह कहते हैं कि 'लोग कहै गोबरधनधारी ताकौ मोहि अचंभो/भारी सिब विरंचि नारद जस गावै, कहै कबीर वाको पार न पावे' तो वे कृष्णावतार की बात कर रहे होते हैं। जब तुलसी 'हरि अनंत, हरिकथा अनंता' कहते हैं तो उनसे पूर्व में कबीर कह चुके होते हैं : 'कहै कबीर हरि अकथ कथा है'। एक अन्य पद की टेक है : 'अब मैं पायो राजा राम सनेही'। एक दूसरे पद की 'जन की पीर हो राजा राम भल जानै'। या और एक पद में राजा राम बिना तकती धो धो' ये राजा राम कौन थे? कबीर को ज्ञानमार्गी कहा गया जबकि वे कह रहे थे : 'अब क्या कीजै ग्यान विचारा/निज निरखत गत ब्यौहारा' और 'झूठा जप तप झूठा ग्यान, रामनाम बिन झूठा ध्यान'। और तुलसी के काव्य को राम की भक्तिमार्गी शाखा कहा गया जबकि तुलसी यह भी कह रहे थे कि 'सोह न राम-प्रेम बिन ग्यानू। करन धार-बिनु जिमि जल जानू।' कबीर राम ही नहीं रघुनाथ शब्द का भी प्रयोग करते हैं: 'तू माया रघुनाथ की, खेलड़ चढ़ी अहेड़े'। कबीर अवतारों का विस्तृत उपयोग वे एक अन्य पद में भी करते हैं: 'बजर परौ इति मथुरा नगरी/कान्ह पियासा जाई रे/एक दहिड़िया दही जमायौ, दूसरी परि गई साई रे/इहि बांनि खेले राही रूकमनि, उहि बनि कान्ह अहीरा रे/आसि पासि तुरसी कौ बिरबा, मांहि द्वारिका गाऊं रे/ तहां मेरो ठाकुर राम राई है, भगत कबीरा नाऊं रे'। एक अन्य पद में वे कहते हैं : 'राजन कौन तुम्हारे आवै/ऐसे भाव विदुर को देख्यों वह गरीब मोहि भावे/हस्ती देख भरम ते भूला श्री भगवान न जाना/तुमरो दूध विदुर को पानी अमृत कर मैं माना'।

ऐसे अद्‌भुत कबीर को निर्गुण-सगुण में ही नहीं बल्कि जातियों के और भी छोटे खेमों में उलझाने में हमारे आधुनिक आलोचकगण लगे हैं। वे कबीर के उस पद के बारे में क्या कहेंगे कि जिसमें वे सरासर एक गैर-प्रगतिशील बात कहते हैं : 'पूरब जनम हम ब्राम्हण होते वोछे करम तब हीना/ रामदेव की सेवा चूका पकरि जुलाहा कीना।' वे वेद-विरोधी भी नहीं थे, उनका कहना यह था कि 'वेद कतेब कहो मति झूठे झूठा जौ न विचारै।'

कबीर ने जिस स्वर-भूमि पर कहा : 'तहां जाहु जहां पाट-पटंबर अगर चँदन घसि लीना/आई हमारै कहा करौगी हम तो जाति कमीना' क्या हनुमान स्वयं उसी स्वयं-शैली में नहीं कहते हैं : 'कहहु कवन मैं परम कुलीना/कपि चंचल सबहु विधि हीना/प्रात लेई जो नाम हमारा/तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा'। ध्यान रखें कि अजलफ का एक पर्याय 'कमीन' भी है। यह भी ध्यान दें कि हठयोग प्रदीपिका ने वास्तविक कुलीन किसे कहा था। 'गोमांस भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारूणीम्/ कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुल घातकः' कि वही कुलीन कहलाता है जो गोमांस का नित्य सेवन करता रहता है। और ऊपर से अमरवारूणी नामक मदिरा का पान करता रहता है। मध्यकाल में और आज भी हमारी एरिस्टोक्रेसी ऐसी ही है। मांस-मदिरा वाली। लेकिन हठयोग उन्हें कुलीन नहीं मानता जो मांस-मदिरा का भक्षण करते हैं। उसके अनुसार इसका अर्थ है : 'गो शब्देनोदिता जिह्वा तन्प्रवेशो हि तालुनि/गो-मांस भक्षणं तन्तु महापातकनाशनम्‌जिह्वा प्रदेश-संभूताः बह्निनोत्पादितः खलु/चंद्रात्स्रवति यः सारः स्यादमरवारूणी' कि गो शब्द का अर्थ जिह्वा है और उसे उलटकर तालुदेश में ले जाने को ही 'गोमांस-भक्षण' कहते हैं। निस्संदेह यह महापातक को नाश करने वाला है। ऊपर जिस चंद्रमा से निर्झरित सोमरस की चर्चा की गई है, वही अमर-वारूणी है। हठयोग ने इसे कुलीन होना माना था और अपनी उलटबांसियों से अपने समय के आभिजात्य को विखंडनवादी देरिदा शैली में चुनौती दी थी। हम हठयोग के 'कुलीन' अर्थ को बहुत गुह्य (ऑकल्ट) न भी बनाएं तो भी जिह्वा के उस संदर्भ से हमें विभीषण की 'जिमि दसनहूँ मंह जीभ विचारी' की याद तो आनी चाहिए क्योंकि वह तो तात्कालिक संदर्भ है। चंद्रिका की अमरवारुणी से हमें अमृता प्रीतम की 'अम्बर की एक पाक सुराही/बादल

का एक जाम उठाकर घूंट चांदनी पी है हमने' की याद आनी चाहिए। यानी हठयोग की सरल भाषा में 'कुलीन' शब्द की व्याख्या यह है कि जिसका जिह्वा पर नियंत्रण हो और जो प्रकृति के अमूल्यांकित उपहारों का आनंद लेता हो। चूंकि 'गो' का एक अर्थ इंद्रिय भी होता है तो हो सकता है कि सही कुलीन वही हो जो ऐन्द्रिक की जगह नैसर्गिक रस लेता हो। कुलीनता की यह हठयोगी परिभाषा करना अपने समय के ऐन्द्रिक सुखोपभोग में रमे हुये मांस-मदिरा भोगी सामंतों की जीवन शैली पर एक व्यंग्य भी था।

डॉ. धर्मवीर अपनी पुस्तक 'कबीरः बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी' में कहते हैं कि 'तुलसीदास' 'रामचरिमानस' में इस घृणा को कम करने के बजाय बढ़ाने के लिये मजबूर क्यों हैं? तुम सुकृती हम नीच निषादा- में निषाद को उसी के मुख से नीच क्यों कहलवाया जा रहा है? फिर भक्ति कहां से होगी? जाना जा सकता है कि कबीर अपने पीव के सामने बहुरिया और दुलहनिया बन रहे हैं, नीच निषाद नहीं।' लेकिन डॉ. धर्मवीर कबीर को पूरा पढ़े होते तो उन्हें ये पूर्वोक्त वाक्य लिखने से पहले ही यह पता होता कि कबीर तो स्वयं को राम की कुतिया कहने में भी नहीं चूकते थे। 'कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाम'। दूसरी ओर तुलसी चूंकि दास्य-भाव की भक्ति या सेव्य-भाव की भक्ति में बात कह रहे हैं, इसलिये उनकी यह टोन है। अन्यथा सगुण भक्ति की सख्य-भाव की भक्ति में ईश्वर से निस्संकोच बराबरी का जो भाव कृष्णभक्ति शाखा में मिलता है, उस पर डॉ. धर्मवीर क्या कहेंगे। यदि विनय में निषाद अपने को नीच कह लेता है, या विभीषण 'तामस तन कछु साधन नाहीं' कह लेते हैं, या हनुमान 'सबहीं विधि हीना' कह लेते हैं- तो वे ईश्वर के सामने कह रहे हैं। उस परम पूर्णता के सामने। डॉ. धर्मवीर के सामने नहीं जो उनकी विनय को तथ्य की तरह पेश कर रहे हैं अन्यथा जो 'सब विधि हीना' है, उसे ही उस तत्कथित 'ब्राह्मण धर्म' ने भगवान का दर्जा दिया है। उसी से उनकी उम्मीद है 'अष्ट सिद्धि नव निधि' का दान करने की। जिन तुलसी पर डॉ. धर्मवीर इतने जातिवादी आरोप मढ़ते हैं, वे ही तुलसी कहते हैं : 'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता। जाति पांति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई। भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिये जैसा।' धर्मवीर जी देखें यही 'ब्राह्मण धर्म' है जो सिर्फ एक भक्ति का नाता मानता है। बाकी सब उपाधि व्याधि हैं। ब्राह्मण धर्म (क्या अद्‌भुत शब्द गढ़े डॉ. धर्मवीर ने : ब्राह्मण धर्म, दलित धर्म!) है जो 'सब विधि हीना' से अपनी पूजा में आशा करता है कि 'तस्य सर्वं भयं नास्ति रणे च विजयी भवेत'। तुलसी को शायद मालूम था कि भविष्य में कभी डॉ. धर्मवीर जैसे भी आएंगे, इसीलिए उन्होंने अपनी रचना रामचरितमानस की शुरुआत में ही सावधान कर दिया था।

जो भी हो, कुलीनता की पारंपरिक अवधारणाओं पर चोट करने के लिये हनुमान यह बोलते हैं कि 'मोहू पर रघुबीर'। यह 'पर' उन तमाम अवधारणाओं के विरुद्ध खड़ा हुआ एक बड़ा किन्तु है। कुलीनता की बात विभीषण ने नहीं की थी, वे एक तरह की साधन हीनता की बात जरूर कर रहे थे। तो हनुमान या तो यह कहना चाहते हैं कि तुम भले साधनहीन हो, लेकिन पौलस्त्य कुल के तो हो। मैं तो वह भी नहीं। या फिर वे अपनी विनम्रतावश यह कर रहे हैं कि तुम तो सिर्फ साधनहीन हो, मैं तो सब तरह से हीन हूं। 'कुलीन' तो फिर भी मात्र कुटुम्ब की ओर इशारा है, रोमन अभिजात तो स्वयं को 'द बेस्ट पीपुल' (Optimates) कहते थे। दरअसल यही तो रामकथा का मूल है। अभिजातों और साधनसम्पन्नों के सामने सर्वहाराओं और साधनहीनों की जुर्रत। अंडरक्लास का दुस्साहस। 'ग्रेट अनवाश्ड' का औद्धत्य। उनका जो सब तरफ से दीन हैं, रहित हैं, वंचित हैं। हीन होने को इनफीरियर के अर्थ में लेकर हम इस संदर्भ की क्रांतिधर्मिता को नष्ट कर देते हैं। हीन होने का अर्थ वंचित होने से है। 'सब विधि हीना' हमें वंचित करने, expropriate करने के प्रकारों और विधियों के बारे में बताता है। कैसे वे हर तरह से रिक्त

(deplete) कर दिए गए हैं! द इंटरनेशनल फूड पॉलिसी रिसर्च इन्स्टीट्यूट द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'द वर्ल्ड्स मोस्ट डिप्राइव्ड' इन्हीं 'कछु साधन नाहीं' और 'सब विधि हीना' लोगों की ही बात करती है। 'सब विधि हीना' से काम्बेट पावर्टी एजेंसी की पुस्तक 'अगेंस्ट ऑल ऑड्स : लिविंग इन डिप्राइव्ड कम्युनिटीज़' की भी याद आनी स्वाभाविक है।

जो वंचित हैं उन्हें कई तरह की वर्जनाएं भी झेलनी पड़ती हैं। यहां हनुमान कह रहे हैं कि सुबह-सुबह हमारा नाम लेने पर दिन भर खाना नहीं मिलता, हम ऐसे हैं। कभी सुबह-सुबह कुछ लोगों को देख लेने से, उनकी छाया पड़ जाने से, उनके रास्ता काट लेने से लोग अपवित्र हो जाया करते थे। ध्यान करें: 'निगर्स' - ब्लैक्स-एंड डॉग्स आर नाट अलाउड। डॉग्स एंड इंडियन्स आर नॉट अलाउड-जापान के बुराकूमिनों जैसे लोग कि जिन्हें 'जन्मतः दूषित' माना जाता है, या जर्मनी के Unehrliche leute जैसे लोग जिनका अर्थ ही "dishonorable people' है। हनुमान यहां किसी अस्पृश्यता की बात तो नहीं कर रहे हैं, लेकिन इतना अवश्य है कि वे बात किसी सामूहिक प्रकृति की ही कर रहे हैं। इसलिए वे 'हमारा' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। ये ill-omened लोग हैं। इनका नाम यदि कोई सुबह-सुबह ले दे तो उसे दिन भर खाने को नहीं मिले। ब्रिटेन में हुए एक अध्ययन के अनुसार जस्टिन केस, स्टेन स्टिल, टैरीबुलु पैज टर्नर, आना सासिन जैसे नाम सबसे दुर्भाग्यशाली हैं। लेकिन हनुमान नामों के अशुभ होने की बात नहीं कर रहे हैं, वे तो स्वयं के और उनके वर्ग के लोगों के अशुभ होने की बात कर रहे हैं। यों तो न्यूमेरोलॉजी बहुत से नामों को अशुभ बताती रहती है, लेकिन यहां नाम की बात नहीं है, वर्ग की बात है। समूह की। भक्ति उन्हीं हनुमान को, जो 'प्रात लेई जो नाम हमारा' पर यह बात कह रहे हैं; प्रातःस्मरणीय बना देती है। इन दोनों को ही। हनुमान को भी और विभीषण को भी। आज प्रातःस्मरणीय सप्त चिरजीवियों में ये दोनों ही आते हैं: 'अश्वत्थामा बलिर्व्यासा हनुमांश्च विभीषणः/ कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः'। यह कार्पण्यशरणागति क्या हमारे समाज के सबसे दरिद्र, सबसे अवमानित लोगों के लिए होती थी? या यह उनके लिए भी थी जो अपने मन में- बाहरी भौतिक चकाचौंध के बावजूद- लगातार ईश्वर की कृपा की सच्चे भाव और पूरी गंभीरता से याचना करते रहते थे? लेकिन जो दर्ज करने लायक बात है कि तुलसी के हनुमान और विभीषण एकदम दलित स्वर में जो बोलते हैं, तो क्या वह स्वयं तुलसी की अनुमति के बिना संभव था? क्या तुलसी जानबूझकर इस पिच और वाल्यूम को अपना रहे थे? हनुमान का यह स्वर कार्पण्य की, विनती की भावना से निःसृत हुआ था तो क्या वह किसी व्यक्ति-हैसियत का भाव था? तब यह "हमारा" की बात कहां से आ गयी? पहले तो 'मैं परम कुलीना' के रूप में व्यक्ति की प्रास्थिति थी और फिर दूसरी ही पंक्ति में 'नाम हमारा' का रुख अख्तियार कर लिया गया। तुलसी व्यक्तिगत और सामाजिक का यह कुहासा, यह फॉग क्यों रचते हैं? क्या यह उनके भीतर का कोई संभ्रम है? या वे यह समझ रहे थे कि बात रघुवीर-भक्ति (मोहू पर रघुबीर) के माध्यम से व्यक्तिगत मुक्ति की ही नहीं है, सामूहिक मुक्ति की है। यह सामाजिक मुक्ति उनकी जिन्हें इसलिए ही रौंदा गया है कि क्योंकि वे दलित हैं, अधम हैं, सब विधि हीना हैं, साधनहीन हैं, सर्वहारा हैं, संप्रभु वर्ग के नहीं हैं, अभिजात नहीं हैं, उनकी कॉलर सफेद नहीं हैं, आउटकास्ट हैं, पर्सोना नॉन ग्रेटा है, जो खदेड़ दिये गये हैं, जो सर्वोपेक्षित हैं, जिन्हें इंसान होने के न्यूनतम दावे तक से किनारे कर दिया गया है। यह जो सामाजिक मुक्ति है, यह व्यक्ति की विरोधी नहीं है। इसका तो मानना ही यह है कि व्यक्ति अपनी पूरी संप्रभुता में तभी संस्थापित हो पाएगा जब यह सामाजिक मुक्ति संभव हो पाए। इस सामाजिक मुक्ति के अभाव ने व्यक्ति को जो वह हो सकता था उसकी पैरोडी बनाकर रख दिया है। तुलसी माओवादी या लेनिनवादी सामाजिक मुक्ति की बात नहीं कर रहे हैं जो 'मानकीकृत व्यक्ति' (Standardized individuals) तैयार करती हैं, जिसमें

वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति की गुंजाइश ही न्यूनतम होती है। वे तो सामाजिक मुक्ति के उस स्वप्न की बात करते हैं जो रामराज्य के रूप में उन्हीं ने देखा। जिसमें बार-बार 'सब' शब्द का प्रयोग कर सर्वोदय को संकल्पित किया गया। तुलसी कम्युनिस्टों की तरह की 'नकारात्मक मुक्ति' (निगेटिव लिबर्टी) की पैरवी नहीं करते। वे तो दिनकर की तरह 'सबको मुक्त प्रकाश चाहिए, सबको मुक्त समीकरण/बाधा रहित विकास, मुक्त आशंकाओं से जीवन' वाला विकास का सर्ववाद चाहते हैं। इसलिए हनुमान का 'मैं' 'हमारा' में प्रोन्नत हो जाता है। हनुमान इस एक वाक्य से - 'प्रात लेई जो नाम हमारा, तेहि दिन ताहि न मिले अहारा' - अपने प्रतिलोम ध्रुव-सोने की लंका-को रेखांकित कर लेते हैं।

अस मैं अधम सखा कहते हुए हनुमान फिर 'हमारा' से 'मैं' पर उतर गये। खुद अपने कदर्थोल्लेख पर। ध्यान रखें कि ये वे हनुमान हैं जिन्हें हम सुपर-अचीवर की तरह जानते हैं। इन्हें भी अपनी अपूर्णताओं का इतना बोध है। शायद यही बोध इनकी ग्रोथ में मदद करता है। नीत्शे के सुपरमेन से दो-चार कदम आगे ही होंगे हनुमान, लेकिन कहते वे खुद को अधम ही हैं। कहते क्या वे सोचते भी ऐसा ही हैं। वस्तुतः उनकी सोच में तो वे खुद को कुछ मानते ही नहीं। यहां भी अधम ही कह रहे हैं। यदि वे अधम हैं तो पता नहीं हम क्या हैं? लेकिन जैसा कि रविगुप्त (वल्लभदेवकृत सुभाषितावलि, 407) ने कहा कि : 'दूरेऽपि परस्यागसि पटुर्जनो नात्मनः समीपेऽपि' कि दूसरे का दोष दूर (अदृश्य) भी हो तो लोग उसको ढूंढ़ निकालने में पटु होते हैं किन्तु अपने दोष समीप होते हुए भी नहीं देख पाते। यह शिकायत कम से कम हनुमान (और विभीषण) से तो नहीं की जा सकती। वे तो अपने सबसे बड़े आलोचक हैं। पलटू साहब के उस विचार के एकदम अनुरूप जिसमें कहा गया : 'पलटू यह साँची कहै, अपने मन का फेर/तुझे पराई क्या परी, अपनी ओर निबेर।' और नारायण स्वामी के भी-'नारायण' निज हिये में, अपने दोष बिचार।'

लेकिन यह ध्यान दें कि हनुमान और विभीषण की आत्मालोचनाएं रुग्णता नहीं हैं। वे पैथालाजिकल नहीं हैं। वे हनुमान या विभीषण को किसी डिप्रेशन की ओर नहीं ले जा रहीं। हनुमान स्वयं की पिटाई नहीं लगा रहे। वे एक नकारात्मक मनःस्थिति के परिणामस्वरूप यह सब नहीं बोलते। अन्यथा वे चिंतित होते, अपराध-बोध से ग्रस्त होते, नैराश्य में डूबे होते और अपराध-भावना से त्रस्त हो गए होते। ये दोनों मिलकर कोई निजी अवगणन-पर्व (private degradation ceremony) नहीं मना रहे हैं। यह आत्मालोचना कार्पण्य है, यह शर्म नहीं है। यह विषैली आत्मालोचना नहीं है। यह हनुमान को अपंगु नहीं बनाती। हनुमान और विभीषण ने अपने मन के भीतर अपने शत्रु नहीं बिठा रखे हैं। उन्होंने तो अपने भीतर राम को बिठा रखा है और इसीलिए यहां वे कहते भी हैं : 'मोहू पर रघुबीर।' इसलिए यह कोई आधुनिक मनोविज्ञान का Self-Defeating Personality Disorder नहीं है। इनका कार्पण्य आत्म-नाशी नहीं है। वह तो आत्मोन्नति का मूल है। ऋग्वेद में (10/137/1) में उचित ही कहा गया : 'अवहितं देवा उन्नयथा पुनः' कि जो गिरे हुओं को फिर से उठाते हैं, वे देव हैं। ऐसा कहते हुए हनुमान स्वयं को अधम समझने वाले सभी व्यक्तियों और जातियों को उससे ऊपर आने का एक मंत्र देते हैं- मोहू पर रघुबीर। यह नहीं कि राम मेरे लिए कर सकते हैं, यह कि राम मेरे लिए करेंगे। व्यक्तिगत आध्यात्मिकता ही हमें मुक्त कर सकती है। 'हमारा' के रूप में जो अपनी जातीय या सामूहिक दुरावस्था बताई जा रही थी, वह अब 'मोहू पर रघुबीर' में उतर आई है। यह एक आत्मीय और घनिष्ठ संवाद है। यहां यह नहीं कहा जा रहा हनुमान से कि वे ईश्वर या राम पर श्रद्धा रखते हैं। कहा यह जा रहा है कि स्वयं राम उन पर हैं। यह नहीं कि हनुमान का फोकस राम पर है, यह कि हनुमान पर राम की आभा दमकती है। राम हनुमान 'में' हैं तो हैं, राम हनुमान 'पर' भी हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में यही कहा था- 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार

भजता हूँ।

हनुमान को यह आत्मविश्वास रहा है कि उनके ऊपर रघुबीर का आशीर्वाद है। वायरन रीस ने 'द हार्ट-कार्ट आफ जीसस' में कहीं कहा है : "God cannot bestow a blessing upon us if we doubt him." हनुमान पर राम की कृपा बरसती है क्योंकि राम पर उनकी श्रद्धा भी अखंड है। हनुमान और विभीषण दोनों ही अपने कार्पण्य में अपने को अधम मानते हैं, लेकिन दोनों का सहारा रघुवीर हैं। एक कहता है: 'जो रघुवीर अनुग्रह कीन्हा' और दूसरा कहता है : 'मोहू पर रघुबीर।' इसी अर्थ में उनमें एक स्वाभाविक सख्य है। ऋग्वेद कहता है : 'न स सखा यो न ददाते सख्ये' (10/117/4) कि वह मित्र ही क्या जो अपने मित्र की सहायता नहीं करता। इस दोहे के बाद सहायता का क्रम भी आरंभ होता है। सखा शब्द से तुलसी इन दोनों के बीच होते जा रहे fraternization को भी संकेतित करते हैं।

यह सखा बनाना भी दो निर्मल हृदयों के बीच विकट संकट की परिस्थितियों के बीच हुई संघटना है। लंका की तरह के समाजों में मैत्री धीरे-धीरे कठिन हुई जाती है। अमेरिकन सोश्योलॉजिकल रिव्यू के जून 2006 के अंक में एक अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि 1985 से अब तक घनिष्ठ मैत्री की संख्या और गुणवत्ता अमेरिकियों के बीच कमतर होती चली गई है। 25 प्रतिशत अमेरिकियों का कोई घनिष्ठ और विश्वसनीय मित्र नहीं है। प्रति नागरिक घनिष्ठताओं की संख्या 4 से घटकर दो हो गई है। लॉस एंजेल्स टाइम्स में अक्टूबर 2010 में लिखे एक लेख में नील गेबलर ने लिखा है कि सच्चे मित्रों के लिए समय ही नहीं होने के कारण अमेरिकी इस भ्रम में उथली सुविधा महसूस कर रहे हैं कि टीवी चरित्र उनके मित्र हैं। टीवी ने मित्रता को प्रतिस्थापित कर दिया है। वह लिखता है : "We miss the friendships we no longer have, and we know that facebook or e-mails cannot possibly compensate for the loss. So we sit in front of our television sets and enjoy the dream of friendship instead: A dream where we need never be alone, where there are a group of people who would do anything for us, and where everyone seems to understand us to our very core." जापान टुडे ने तो एक 'नो-रिलेशनशिप सोसायटी' के खतरनाक तेजी से उभरने की शिकायत की है। वहां इस नाम का एक वृत्तचित्र भी बना है। टोक्यो में पिछले कुछ समय से कम से कम 10 लोग प्रतिदिन अकेले मर रहे हैं। और ये वृद्ध लोग ही नहीं हैं। इनमें से 20 प्रतिशत 40 से 50 साल की उमर के हैं। उस लंका में जहां हर जगह अविश्वास हो, हर जगह सतर्कता (विजिलेंस) इकाइयां घूमती हों और हर कहीं ओवरसीअर नियुक्त कर रखे गए हों, वहां यह सख्य पनपना? माइकेल वाल्जर के शब्दों को प्रयुक्त करूं तो वह एक society of estrangement है। अपने वहां अजनबी हो जाते हैं। उस जगह हनुमान और विभीषण के बीच सख्य विकसित होना रघुबीर की ही कृपा से हो सकता है। क्योंकि यह वाकई वीरता का काम है, लंका की तत्कालीन परिस्थितियों में। वह किसी अधम का काम हो ही नहीं सकता।

हनुमान कोई वैसे अधम थोड़े ही हैं कि जिनके बारे में संस्कृत श्लोक में कहा गया : 'अधम अशास्त्रविहितं घोर तप्यन्ते ये तपो जनाः/दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामराग-नलान्विताः या कि यास्मिनं बड़ों समुत्पन्नः तमेव निजचेष्टितैः/दूषयत्यचिरेणैव घुणकीट इवाधमः' कि अधम मानव जिस कुल में पैदा हुआ उसे अपने ही कृत्य से थोड़े समय में दूषित करता है। 'या आशां संश्रुत्य यो हति स लोके पुरुषाधमः' कि जो मानव दूसरे को आशा देकर उसका भंग करता है वह दुनिया में अधम पुरुष है। माघ (शिशुपालवध, 16/23) ने अधम की परिभाषा दी : 'परितप्यत एव नोत्तमः परितप्तोप्य परः सुसंवृत्तिः/परिवृद्धिभिराहितव्यथः स्फुटनिर्भिन्नदुराशयोऽधमः'। उत्तम व्यक्ति दूसरे की उन्नति से दुःखी नहीं होता। मध्यम कोटि का पुरुष दुःखी होने पर भी दुःख का प्रकाशन नहीं करता। नीच लोग दूसरे की उन्नति से व्यथा पाते हैं और

अपने दुराशय को स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं। भर्तृहरि ने अधम की परिभाषा उस व्यक्ति के रूप में की है जो विघ्नों के भय से आरंभ नहीं करता- 'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः' (नीतिशतक, 27)। हनुमान तो मरुतवंशी हैं और उसे भी उन्होंने धन्य कर दिया। उन्होंने विभीषण को जो आशा दी, उसे कभी टूटने न दिया। हनुमान ने तो जब समुद्र संतरण शुरू किया तो विघ्न-भय उन्हें व्यापा ही नहीं। इसलिए हनुमान अधम तो किसी तरह से नहीं हैं। लेकिन वे गंभीरता से और उचित ही यह विश्वास करते हैं कि उन पर रघुबीर के होने के परिणामस्वरूप ही उनकी सारी सिद्धियां हैं। यूजीन ओ'नील का कहना था : "Man is born broken. He lives by mending. The grace of God is glue." हनुमान को लगता है कि वे भी भंजित थे, लेकिन रघुबीर ने ही उन्हें पूर्णता दी। रघुबीर के प्रभार में हनुमान हैं। वे राममय हैं : 'राम माथ मुकुट राम राम सिर नयन राम/राम कान नासा राम/ठोढ़ी राम नाम है/राम कंठ कंध राम भुजाबाजूबंद/राम हृदय अलंकार हार रामनाम है।' हनुमान का पूरा श्रीविग्रह ही राममय है।

रघुबीर के रूप में राम की ख्याति का एक शास्त्रीय विवेचन भी मिलता है : त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः/पराक्रममहावीरो धर्मवीरः सदास्वतः/पन्नवीराः समाख्याता राम एव च पन्नधा/रघुबीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः' रघुबीर त्याग, दया, विद्या, पराक्रम और धर्म पांचों क्षेत्रों में अपनी वीरता के कारण यह विरद प्राप्त करते हैं। त्याग को किसी निर्वेद से जोड़ने की जगह वीरता से जोड़ने के मायने ही और हैं। त्याग निवृत्ति की वजह से नहीं, प्रवृत्ति की वजह से। त्याग इसलिए नहीं कि मन उचट गया है बल्कि इसलिए कि कुछ और बड़े जीवन-मूल्य हैं जिनके प्रति अनुरक्ति दिखानी जरूरी है। यही बात दया के साथ है। त्याग, दया, विद्या और धर्म के मामलों में शौर्य-संदर्भ अर्थ की एक दूसरी ही आभा पैदा करता है। हनुमान जैसे महावीर को भी रघुबीर के बिना अस्तित्व के मायने ही नहीं समझ आते। विलियम ई. चैनिंग के शब्दों में, "Without God, our existence has no support, our life no aim, our improvements no permanence, our best lobors no sure and enduring results, our spiritual weakness no power to lean upon, and our noblest aspirations and desires no pledge of being realized in a better state. Struggling virtue has no friend, suffering virtue no promise of victory. Take away God and life becomes mean, and man poorer than the brute." रिएन थामस (Thoughts for the Thoughtful) ने भी लगभग इन्हीं स्वरों में कहा : "We can no more exist without a surrounding God than a tree can exist without a surrounding atmosphere." हनुमान भी स्वयं को राम से आवृत्त पाते हैं।

हनुमान किन्हीं औपचारिक स्वरों में रघुबीर के द्वारा की गई कृपा का स्मरण नहीं कर रहे हैं। वे किन्हीं शास्त्रीय या सैद्धान्तिक तरीके से भी रघुबीर के कृपा करने के गुण की याद नहीं कर रहे हैं। यह याद आनुभूतिक है। उन्हें रघुबीर की कृपा के दर्जनों प्रसंग याद आए जाते होंगे। ये वे हनुमान थे जिनमें बचपन में ही अतुलित बल था, जिसके चलते वे सूर्य-भक्षण भी कर गए थे। लेकिन बचपन का वह आत्म-विश्वास फिर बाद में जैसे खो गया। राम ने ही हनुमान को वह आत्मविश्वास लौटाया। अन्यथा वह हनुमान जिन्हें राम की शक्ति पूजा में निराला ने एक अपराजेय शक्ति के रूप में याद किया है, बाली द्वारा खदेड़ भी दिया गया है। वही हनुमान सुग्रीव के बहुत-से अन्यान्य वानरों की तरह एक सुरक्षित स्थल पर चला आता है। जो आज हम सबकी सुरक्षा का आश्वासन है, जो हनुमान इतना सक्रिय और दुर्दम्य बचपन बिता रहे थे, वे ही-ऐसे संदर्भ आते हैं कि-इतने विरक्त और एकांतप्रिय हो गए थे कि उनके पिता कविराज केसरी ने उन्हें पंपासुर भेजने का निश्चय किया। वहां वे सुग्रीव के विश्वस्त तो बन गए लेकिन जब बाली से भयभीत सुग्रीव नद-नदियों, वनों, पर्वतों, समुद्रों एवं

नगरों को छोड़ते हुए मंत्रियों सहित भागे जा रहे थे तब हनुमान ने महामुनि मतंग द्वारा बाली को दुंदुभि-वध की घटना के समय दिए गए शाप से अभिरक्षित ऋष्यमूक पर्वत के मतंगाश्रम जाने का सत्यपरामर्श सुग्रीव को दिया किन्तु स्वयं बाली का आमना-सामना नहीं किया। संभवतः हनुमान को किसी स्तर पर विधि के विधान का आभास रहा हो। यह एक दिलचस्प विश्लेषण और कल्पना हो सकती है कि यदि हनुमान और बाली में युद्ध हो जाता तो क्या होता। लेकिन नियति ने उसे राम के लिए शेष रखा था और इसीलिए न तो सुग्रीव को और न हनुमान को इसकी प्रेरणा हुई। आंजनेय सुग्रीव के सच्चे शुभचिंतक थे, अतः विपत्ति में भी वे सुग्रीव के साथ रहे; बाली के पास नहीं। लेकिन हनुमान को आत्म-स्मृति तो राम के मिलने पर ही होती है। वे राम से किष्किंधा में प्रथम मिलन पर कहते भी हैं। 'तव माया बस फिरउँ भुलाना।' जिस तरह अभी वे अपने को 'अधम' कह रहे हैं, उस समय वे स्वयं को 'एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान/पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान,' कह रहे थे। भगवान ने हनुमान को उनकी स्मृति लौटाई। हनुमान को लगता था जैसे भगवान श्रीराम ने उन्हें विस्मृत सा कर दिया। प्रभु के मिलते ही जैसे उन्हें अपना जीवन-अर्थ मिल गया। जैसे अभी उनके हृदय में भाव और आंखों में आंसू उमड़ आए वैसे ही तब विह्वल हो उठे थे- 'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना/सो सुख उमा जाइ नहि बरना/पुलकित तन मुख आव न बचना/देखत रुचिर वेष कै रचना'। यह प्रभु की पहचान ही नहीं थी, खुद की पहचान भी थी। परमात्मा और आत्मा का अभेद यहीं तो स्थापित होता है।

'सुमिरि गुन' अतः सिर्फ राम के गुण-विशेष का स्मरण नहीं है बल्कि स्मरण के गुण का भी उल्लेख है। इस स्मरण से ही 'तव माया बस फिरउँ भुलाना' का निवारण होता है। तब हनुमान को जैसे अपने 'स्व' की पुनरुपलब्धि होती है। वह 'स्व' जो प्रभु में ही निमज्जित है। प्रभु के मिलने पर ही वह उभरता है। तभी से 'मोहू पर रघुबीर' का कान्फीडेंस आता है। इसलिए मिलने पर जो हनुमान यह कहते हैं कि एक तो मैं वैसे ही मंद, मोहाधीन, कुटिल आदि हूं, अपनी चरमोपलब्धि की एप्रीसिएशन के क्षणों में भी वे 'साखामृग कै बड़ि मनुसाई/ साखा तें साखा पर जाई' ही कहते हैं। बीच में जब वे सीता को 'कनक भूधराकार सरीरा' दिखा रहे होते हैं, तब भी वे उन्हें यह 'मोहू पर रघुबीर' का ही कान्फीडेंस बताते हैं : 'सुनु माता साखा मृग नहिं बल बुद्धि बिसाल/ प्रभु प्रताप तें गरूड़हि खाई परम लघु ब्याल।' सुंदरकांड में इतनी बार लघु, अति लघु, परम लघु की चर्चा है कि वह साशय लगने लगती है। छोटे आदमी का आत्मविश्वास सुंदरकांड लौटाता है। छोटे आदमी की बड़ी उपलब्धियां/ हनुमान को राम की कृपा में अधमोद्धारण का यह जो विशिष्ट गुण ध्यान में आ रहा है- विशिष्ट इसलिए कि 'रामकथा' सुनाते समय उन्हें 'गुनग्राम' याद आए थे, और अब एकवचनी गुण-इस अधमोद्धारण गुण की समाजशास्त्रीय संभावनाएं असीम हैं। छोटा शब्द संस्कृत के क्षुद्रकः का तद्भव है जो गरीब, तुच्छ और निम्न से बना है। यह बना है संस्कृत धातु क्षुद् से जिसमें दबाने, कुचलने, रगड़ने, पीसने के अर्थ हैं। दलित, दमित वर्गों के। सुंदरकांड का यह निष्कर्ष है कि यदि ये छोटे लोग ईश्वर में गहरी आस्था रख अपना काम करें तो इन्हें कुछ भी अगम्य नहीं है : 'ता कहुँ प्रभु कुछ अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल/तव प्रभाव बडवानलहि जारि सकई खलु तूल।' हनुमान को 'मोहूँ पर रघुबीर' का यह जो विश्वास है, यह उनकी विजयों और सफलताओं का कारण है। इसे जामवंत जैसे बुद्धिमान, जो हनुमान के आत्म-विस्मरण के साक्षी रहे हैं, जानते भी हैं और सफल हनुमान के लौटने पर भगवान राम के सामने कहते भी हैं : 'जामवंत कह सुनु रघुराया/जा पर नाथ करहु तुम दाया/ताहि सदा सुभ कुसल निरन्तर/सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर/सोई बिजई बिनई गुन सागर/तासु सुजसु त्रैलोक उजागर/प्रभु कीं कृपा भयउ सब काजु/ जन्म हमार सुफल भा आजू' तो यह 'बिजई' होना और 'सुफल' होना, मोहू पर रघुबीर होने का ही परिणाम है।

तब सफलता सुफलता बनती है। यही सुफलता का अहसास हनुमान को तब ही हो गया जब राम ने असंख्य वानरों में से सबसे पीछे खड़े हनुमान को ही इस योग्य समझा था कि उन्हें करमुद्रिकाः दी। पाछे पवन तनय सिरू नावा/जानिं काज प्रभु निकट बोलावा/परसा सीस सरोरूह पानी/कर मुद्रिका दीन्हि जनजानी/हनुमत जन्म सुफल करि माना/चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना'। राम के द्वारा करोड़ों वानरों के बीच में से जब इस एक वानर को अंगूठी दी गई जो सबसे पीछे खड़ा था, जो सर झुकाये खड़ा था- तब उसके भीतर कितने विश्वास और शक्ति का संचार हुआ होगा। क्यों उसे ही चुना गया? यह एक विशिष्टतः चयनित होने की बात ही मन के भीतर की जलवायु बदल देती है। हनुमान उस मुद्रिका को पाने के बाद बदल जाते हैं। वह मुद्रिका जो एक कर्त्तव्य थी, एक जादू बन जाती है। हनुमान को लगता है कि अब उनका जन्म सफल हुआ। अब उन्हें इस जन्म का सुफल मिला। मुद्रिका नहीं मिली है, सुफल मिला है। 'कृपानिधान की कृपा उनके सफल और सुफल होने का आधार है। कृपा से वे असंभव प्रतीत होती चीज को संभव बना देते हैं। तब हनुमान की अपनी 'स्मृति' ही नहीं लौटती है बल्कि सुग्रीव की 'विस्मृति' भी उन्हें ध्यान आ जाती है : 'इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा/ राम काजु सुग्रीव बिसारा'।

हनुमान पर राम की कृपा रही तो कुछ विशेष ही है तभी तो किष्किंधा में प्रथम मिलन पर हनुमान को राम ने यहां तक कह दिया : 'सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना/तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।' ये वे उस लक्ष्मण की तुलना में कह रहे हैं जिनके बारे में आगे चलकर वे यह भी कहेंगे : 'जथा पंख बिनु खग अति दीना/मनि बिनु फनि करिवर कर हीना।' जो लक्ष्मण राम के पंख हैं और उनकी मणि, उनकी तुलना में हनुमान को दुगुना प्रिय शुरुआत में ही कह देने से ही स्पष्ट हो जाता है कि अब क्यों हनुमान के आँसू भर आते हैं। क्यों न हो? राम की कृपा ने हनुमान को वह स्थिति दी कि जिस पर हनुमान की कृपा हो गई, उस पर राम की कृपा भी हो गईः 'जाकै गति है हनुमान की/ तापर सानुकूल गिरिजा हर लखन राम अरू जानकी/ तुलसी कपि की कृपा बिलोकनि, खानि सकल कल्यान की।'

इस प्रसंग में हनुमानजी विभीषण से जो वार्तालाप करते हैं, वह स्वयं विभीषण का आत्मविश्वास एक तुलनात्मक तर्क से बढ़ाता है। यानी विभीषण जब अपने निराश्रित/अनाथ होने की बात करते हैं तो हनुमान उन्हें किसी आश्रय की याद नहीं कराते। वे एक तरह की सेल्फ-रेफरेन्सिंग करते हैं। उन्हें लगता है कि विभीषण का मनोबल बढ़ाने के लिये दुनिया भर के दर्जनों दूरवर्ती दृष्टान्त देने की जगह अपनी रामकहानी ही क्यों न सुनाई जाए। एक जीता-जागता सच। एक सामने खड़ा सच। मैं ही कौन बड़ी तोप चीज हूं। मैंने ही कौन बड़े तीर मारे हैं। यह कोई आत्म-दया नहीं है। यह प्रभु की कृपा के द्वारा भरे जाने के लिए अपने आपको अहं की स्फीति से रिक्त और मुक्त करना है।

जानतहूँ अस स्वामि बिसारी।
फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी।
एहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा।
पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा।।

जानबूझकर भी जो ऐसे स्वामी (श्री रघुनाथजी) को भुलाकर (दुःख रूप विषयों की ओर) भटकते फिरते हैं, वे क्यों न दुखी हों। इस प्रकार श्रीराम के गुण कहते हुए उन्होंने अकथनीय विश्राम पाया।

यह हमारी त्रासदी है कि हम जानते हैं कि कोई कृत्य गलत है, फिर भी उसे करते हैं। हमारी गणना के हिसाब से भी वह गलत होता है, फिर भी हम उसी में रत रहते हैं। हम उस कार्य के मौलिक त्रुटिपूर्ण स्वभाव के प्रति सचेत रहते हैं, लेकिन वह हमारे द्वारा सम्पन्न होता रहता है। यानी विचारशून्यता का सवाल नहीं है। जड़ता का मुद्दा नहीं है। जानते हैं, फिर भी। क्या यह कुछ वैसा है जैसा एमर्सन ने अपनी पुस्तक (Essays, Experience) में कहा कि "The wise through excess of wisdom is made a fool." या क्या यह इसलिए है कि शरीर रूपी यंत्र में आरूढ़ हुए सभी बंदों को ईश्वर अपनी माया से घुमाता है : 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति/भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया'। या यह वही चीज है जिसके लिए महाभारत में कहा गया था कि हम जानते हैं कि धर्म क्या है लेकिन उसमें प्रवृत्ति नहीं है, जानते हैं कि अधर्म क्या है, लेकिन उससे निवृत्ति नहीं है। 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति/ जानाम्य धर्मं न च मे निवृत्तिः/केनापि देवेन हृदिस्थितेन/ यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'। कोई है भीतर बैठा हुआ। वो जैसा नियुक्त करता है, हम वैसा करते हैं। जानने का भी जैसे असर नहीं होता। जानने के बाद भी कोई न्यूरोबायोलाजिकल प्रेशर सा है। मिशेल स्टोन की पुस्तक 'द एनोटॉमी आफ ईविल' भी किसी ऐसी ही मनोभौतिक अभिरति की बात करती है। कुछ तो है कि जिसके चलते जानने के बाद भी विस्मरण हो जाता है। फिर दुख होता है।

दुख उसी को होता है जो जानता है। उसे नहीं जो अपने अज्ञान में आनन्दित है। सुखिया सब संसार है खावे और सोवे। दुखिया दास कबीर है जागे और रोवे। थामस ग्रे ने 1742 में जो कविता 'Ode on a Distant Prospect of Elton College' लिखी थी उसमें उसने Ignorance is Bliss पंक्ति का भी प्रयोग किया था। इसलिए जानने वाला ही दुखी होता है। उसे पता है कि वह गलत है, कहां, कैसे और कितना। उसका अन्तःकरण उसे बेधता रहता है। जब वह प्रभु को विस्मृत कर देता है तो दुखी भी होता है। अपनी भटकन पर दुखी होता है। वह जानता है कि रास्ता क्या है। इसलिए वह यह भी जानता है कि भटकन क्या है। यूरिपिडीज के शब्दों में, "Those who are held wise among men, and who search for the reason of things, are those who bring the most sorrow upon themselves. " ऐसा आदमी आत्मा में एक यंत्रणा-कक्ष खोले बैठा है। एक 'टार्चर्ड सोल' है उसकी। भीतर ही भीतर उसकी आत्मा में खून बहता रहता है। भीतर ही भीतर जैसे टूटता जाता है कुछ। दुख का दमन आसान नहीं होता। उससे तो और घुटन होती है। और जैसे छाती के भीतर वह बहुगुना होता जाता है। वह पचता नहीं है, वह भाप बनकर उड़ नहीं जाता, उसके बादल छाए रहते हैं। बार-बार उसे याद दिलाते हुए कि तुम क्या हो सकते थे, क्या हो गए। कैसे तुमने अपने ही पांवों पर कुल्हाड़ी मारी। कैसे तुम अपनी ही संभावनाओं के शत्रु हो गए। दिल के भीतर फैलती हुई इन विचारों की दुर्दम्य छायाएं। जैसे वह भीतर कहीं छुपा बैठा है और बाहर उसकी आत्मा की गेस्टापो की दस्तकें लगातार पड़ रही हैं। इतनी तेज कि उसकी दीवारों में कंपन हो रहा है। उसे लगता है कि जैसे वह डूबता जा रहा है। वह जानते हुए भी कैसे भूल गया उसे? उस परम तत्व को? उसे जो उसकी आत्मा का असल अधिकारी था? उसे जिसे उसके दिल पर सच्चा इख्तियार था? उसे जो उसके अन्तःकरण का वास्तविक स्वामित्व रखता था? वह मर्त्य मनुष्य बीमार महसूस करता है, लेकिन न अस्पताल जा सकता है, न डॉक्टर को घर पर बुला सकता है और देसी इलाज उसे मालूम नहीं है। वह घुटनों पर झुकता है और उन्हीं तकियों में सिर छुपाकर फफक पड़ता है जो उसने अपने आराम के लिए इकट्ठे किए थे। वह सोचता था कि उसकी जिन्दगी का वही मालिक है। लेकिन उसका जीवन तो किसी और को बिलांग करता था। उसका जीवन तो किसी और की धरोहर था। इस बात की विस्मृति के काले बादलों का उसके कंधों पर दबाव उसे खुद क्रमशः असह्य होता चला जाता है कि उसे

अपनी जिन्दगी से मनमानी करने का हक नहीं था। उसे तो ईश्वर के निर्देशों पर चलना चाहिए था। उसी ने तो उसे जीवन दिया था और सब्सटेंस भी। वह उसी के 'राज्य' का नागरिक था और उसने खुद ही खुद को निर्वासित कर लिया। वह नहीं समझ सका अपने होने के ज्यादा गहरे मायने। उसे तो जैसे इक खुमार-सा था। उधार में या उपहार में मिली जिन्दगी का बादशाह वह खुद को समझ बैठा था। वह अपनी आत्मा का अधिनायक स्वयं को मानता तो भी खैर थी। यहां तो वह मिल्कियत भी रावणों के हाथ थी। क्या वह उसके मातहत रहते हुए अपने मन की मृत्यु को अनवरत और क्रमशः सेलीब्रेट कर रहा था? क्या सचमुच ऐसा कोई सेलीब्रेशन संभव था? सोचो तो, माथे पर पसीना चुहचुहा आता है। मौसम गरम नहीं तो भी भीतर की भट्टी में इतनी कुछ गर्मी है जो वह अन्दर ही अंदर ओवरहीट हो रहा था। एक मरूस्थल है जिसमें वह भटक गया है। वह लगातार चलता जा रहा है, लेकिन वह पहुंच कहीं नहीं रहा। रेत भी जैसे एक रहस्य बन गई है। धूप में चमकती है लेकिन आंखों को भरमाती है। वह उस रेत को झुककर हाथों में उठाता है और उन्हें उंगलियों के पोरों से फिसलते हुए देखता है। उसकी आंखों के सामने अंधेरा छा जाता है। चमकती रेत का अंधेरा। वह वाकई खो गया है। और निरुद्देश्य चल इतना लिया है कि डिहाइड्रेशन हो रहा है। मरूस्थल में भटकने पर भ्रम तो तमाम तरह के होते हैं। कुछ प्रतिबिम्ब बनते हैं, खो जाते हैं, कुछ आकार सामने आते हैं, गायब हो जाते हैं। भरम की गरम हवा चेहरे पर थपाड़े मारती है। कहीं कोई सड़क ही नहीं है। और वह भागकर जायेगा कहां।

क्या उसने शैतान को अपना स्वामी बना रखा है? क्या वह पूरी जिन्दगी और इटर्निटी तक-इसी हरामी की सेवा करता रहेगा? लाइल बिडनेर के शब्द याद करें : "It is a mistake to think the devil's spirit is in the fire within the earth or to think if your spirit is taken over by the devil it will be buried in the fire within the earth. Instead, the devil will take it and use it in his work into eternity..... This is the devil's kingdom; you go on doing nothing but bad into eternity." विभीषण ऐसे राज्य में क्यों रह रहा है जबकि वह जानता है। दोष उसका नहीं जो फर्क नहीं जानता। उसका है जो फर्क जानता है और फिर भी जारी रखता है वैसी ही जीवन-चर्या तब वह खुद ही अपने आपसे दुखी रहता है। अपने आपसे कुद्ध भी। क्योंकि वह स्वयं में और अपने आसपास कोई रैडिकल परिवर्तन नहीं कर रहा।

क्रांतियां अज्ञानियों से नहीं होतीं। वह इंटेलीजेंत्सिआ से होती हैं। इस 'इंटेलिजेंत्सिआ' शब्द को प्रथम बार इस अर्थ में जिसमें वह आजकल प्रयुक्त होता है, इस्तेमाल करते हुए पोलिश दार्शनिक करोल लाइबेल्ट ने 1844 में इसकी परिभाषा जनता के उन सुशिक्षित सदस्यों से दी थी जो अपनी उच्चतर जागरूकता के कारण मार्गदर्शित करते हैं : "Who guide for the reason of their higher enlightenment."

हनुमान की प्रतिज्ञा तो रामकाज किए बिना विश्राम न करने की थी लेकिन इस बिन्दु तक आते-आते उन्हें असाधारण विश्राम मिल ही जाता है। यह कोई संकल्प-भंग नहीं है। यह फर्क विश्राम करने और विश्राम पाने के बीच है। विश्राम करना न करना हनुमान की नैष्ठिकता है। लेकिन विश्राम पाना न पाना तो नियति की लीला है। भक्त की अपनी टेक है, भगवान की अपनी। भक्त अपने कार्यव्रत में किसी ठिठक तक को प्रश्रय नहीं देगा। भगवान भक्त को व्रतस्थ जानते हुए उसे किसी रेस्ट हाउस में तो नहीं जाने देंगे लेकिन चीजों की स्वाभाविक परिणतियों को वो कैसे रोक लेंगे? यदि राम के गुणग्राम-कथन से वक्ताओं का क्लान्ति-निवारण होता है तो वह होकर रहेगा। हनुमान का अनुष्ठान अभी पूरा नहीं हुआ है। वे अभी व्रतस्नातक नहीं हुए हैं। विभीषण से मिलना और रामकथा उन्हें सुनाना उनके निश्चयन का एक अनुषंग मात्र है। इसके बाद तो बड़ी लड़ाई बाकी है। और हनुमान जैसे प्रणी को अपने व्रतोपायन

के लक्ष्य के बारे में किसी तरह का ऊहापोह कभी नहीं है। लेकिन व्रतचर्या के दौरान ही ऐसे प्रसंग आते रहेंगे जो हनुमान को रिचार्ज करते रहेंगे। यहां भी विभीषण को रामकथा सुनाए बिना जैसे रहा नहीं जा सकता था, वैसे ही अब रामकथा-कथन से होने वाले ऊर्जायन से कोई बच थोड़े ही सकता है! राम-गुण-गायन में एक समीरण अभिनिविष्ट है ही। वह हनुमान को ताजादम कर ही जाएगा। हनुमान ने कोई अवकाश नहीं लिया है। वे पूर्ववत ध्रुव और एकाग्र हैं। लेकिन राम के गुणगान से उनका प्ररोचन होता ही है। उनकी कर्मठता का ही यह प्रताप है कि उनको मिला विश्राम भी उनका प्रणोदन है, ऊर्जन है। वहां विश्राम ही कोई ऐसा vacation नहीं है कि जिसमें कोई relax कर रहा हो। वह विश्राम भी असाधारण है। तुलसी उसे अनिर्वाच्य शायद इसीलिए कहते हैं। हनुमान जैसे व्रताचारी के यहां वह विश्राम भी किसी तरह के ब्रेक या इंटरवल की तरह परिभाषित नहीं होता। वह उनकी कर्मण्यता के चलते एक तरह के उत्प्रेरण और संप्राणन के रूप में ही सामने आता है। हनुमान के लिए कोई निद्रा या झपकी तक नहीं है। हनुमान कोई कैटनैप नहीं ले रहे। उनका विश्राम किसी तरह का time off नहीं। किसी तरह का downtime नहीं है। हां उतरती है उससे थकान। लेकिन हनुमान की, व्रतपारण से पूर्व, काया शिथिल हो-ऐसा है ही नहीं। अभी उनके अंग नहीं टूट रहे। अभी तो वे अलसाए नहीं। अभी उनकी मुस्तैदी और चुस्ती में कोई फर्क नहीं आया। वे अभी लक्ष्यावस्थित हैं उसी तरह। वैसे ही कटिबद्ध। रामकथा के कहने में वे कुछ और तरंग में आ गए हैं। आखिरकार हैं तो वे महाकाल के, रूद्र के अवतार। उनके लिए time-off! उनका कैसा downtime?

हनुमान एक यात्री हैं। यात्री जो लक्ष्य पर केन्द्रित है। वे भटक नहीं रहे। इसीलिए अभी पवनपुत्र unwind कैसे होंगे। तुलसी यात्रा और भटकन का फर्क जानते हैं। इसीलिए वे 'फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी' की बात इसी के ठीक पहले कर चुके हैं। हालांकि वहां वे उन लोगों की बात नहीं कर रहे जिन्हें Wanderlust है। भटकने की विषय-वासना। वे तो उनकी बात कर रहे हैं जो विषय-वासना में भटक रहे हैं। वांडरलस्ट पर एक गीत यह कहता है : "I am an outcast riding into town alone/I got wanderlust branded deeper than the bone/As I ride into the sunset to take another town/Thank you for the invite, but I just can't settle down." लेकिन वांडरलस्ट के विपरीत, रामकथा अपनी तरह से settling है। अपने अंदाज में प्रशामक (pacifying)। वह जो प्रशांति देती है, वही प्रसाद है। प्रसाद का एक अर्थ तो उस देवोच्छिष्ट अन्न से है जो कथा-उपरांत मिलता है। दूसरे अर्थ प्रशमता, अनुद्वेग, प्रसन्नता, आशीर्वाद और वरदान से हैं। तो हनुमान रामकथा करें और प्रसाद न मिले, ऐसा कैसे होगा? राम का गुण-गीर्णन अपने आप में संतापों का नाश करता है, और जब वही हनुमान और विभीषण जैसे तपःपूत हृदय के व्यक्ति करें तो उनके आह्लाद और आनंद के क्या कहने? राम के गुणाख्यान का यही प्रसाद है।

यह ध्यान दें कि यहां बात श्रवण की नहीं, कथन की है। अभिव्यंजना की। अभिव्यक्ति के दो किनारों की। एक जहां प्रकटन और प्रकाशन है और एक जहां चीजें विवक्षा के पार हैं, परे हैं। अभिव्यक्ति एक अलग प्रकार की आंतरिक स्वतंत्रता देती है। पर संप्रेषण का जो सुख है, वह संप्रेष्य नहीं है। एक्सप्रेशन में कुछ है जो 'ex' नहीं है, भीतरी है। उस आनंद का कोई स्वरण संभव नहीं है। हनुमान अभिव्यक्ति के भीतर उस व्यक्ति-गत में तल्लीन हो जाते हैं। राम के गुणों का नैरेशन उनके लिए कोई यथातथ्य प्रस्तुतीकरण की बात नहीं है। वे तो जैसे उसमें डूब-सा जाते हैं। रामगुणाभिव्यक्ति के दौरान जैसे वे समाधिस्थ-से हो जाते हैं। वही विभोरता उनकी विश्रांति है।

●●●

पुनि सब कथा विभीषन कहई।
जेहि विधि जनकसुता तँह रही।।
तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता।
देखी चहौं जानकी माता।।
जुगुति विभीषन सकल सुनाई।
चलेउ पवनसुत बिदा कराई।।
करि सोई रूप गयउ पुनि तहवां।
बन असोक सीता रह जहवाँ।।

फिर विभीषण जी ने सब कथा कही, जिस प्रकार श्रीजानकी जी वहां रहती थीं, तब हनुमान जी ने कहा- हे भाई! सुनो, मैं श्रीजानकी माता को देखना चाहता हूं। विभीषण ने (मिलने की) सब युक्ति (कह) सुनायी। (सुनते ही) पवनसुत हनुमानजी विदा मांगकर चल दिए। फिर वही रूप धारण करके अशोक वन में गये जहां सीताजी रहती थीं।

अभी तक हनुमान His side of the story सुना रहे थे, अब विभीषण अपनी ओर की कहानी कहते हैं। हनुमान तो अनिर्वाच्य विश्रांति रामकथा सुनाकर पा गए लेकिन विभीषण जो कथा सुनाएंगे, उससे कर्मठता का एक नया अध्याय हनुमान के जीवन में शुरू होगा। हनुमान को एक दिशा मिलेगी, एक दृष्टि। विभीषण हनुमान की खोजी- अनुसंधित्सु- मानसिकता को मिला एक वर हैं।

क्या विभीषण एक देशद्रोही थे? क्या प्रह्लाद एक देशद्रोही थे? क्या विभीषण विश्वासघाती थे? क्या वे घर के भेदी थे? क्या विभीषण को लेकर रावण कभी किसी संशय में था? क्या विभीषण पूरे समय तक रावण के सामने उसका निष्ठावान बने रहने का ढोंग करते थे और केवल अंत में अपने असली स्वरूप में दिखाई दिए थे? हम पहले देख चुके हैं कि विभीषण ने अपनी असहमति कभी छुपाई नहीं। रामायुध भी ठाठ से अंकित किए, हरिमंदिर भी बनाया, नव तुलसिका वृंद भी लगाए। इसीलिए रावण की तत्कालीन सत्ता को, जो इतनी सतर्क रहती थी कि मच्छर के समान छोटे आकार के व्यक्ति का भी पता लगा ले, विभीषण की मुखर असहमति का भी ज्ञान रहा होगा। तो यह विश्वासघात तो नहीं हुआ। लेकिन क्या उनके द्वारा रावण का विरोध देशद्रोह माना जाएगा? थियोडोर रूजवेल्ट से पूछें : "Patriotism means to stand by the country. It does not mean to stand by the President or any other public official save exactly to the degree in which he himself stands by the country." सीन पेन का तो यह भी कहना था कि : "It made me feel more patriotic to dissent from the war aims of my nation. It is at least a counterintuitive position." वेंडेल फिलिप्स ने इसीलिए कहा था कि : "Write on my gravest one : Infidel, Trait or. Infidel to every church that compromises with wrong; traitor to every government that oppresses the people." एक दमनकारी शासन का साथ देना देश के नाम पर होस्नी मुबारकों और सद्दाम हुसैनों और गद्दाफियों को कायम रखना है। वे मानवता से विश्वासघात करें, वे ईश्वर के घाती हों- चलेगा। लेकिन उनसे असहमति का सरेआम दुस्साहस करना देशद्रोही हो जाना है। जेम्स रसेल लॉवेल की कविता याद आती है : "The traitor to Humanity is the traitor most accursed; Man is more than Constitutions; better rot beneath the sod. Than be true to church and State while we are doubly false to God." विभीषण की क्या यह गलती थी कि वह ईश्वर के सामने दुगुने झूठे न हुए? क्या विभीषण ने अपने दरवाजे पर ही अपनी वैकल्पिक विश्वासपद्धति अंकित नहीं कर दी? क्या वह अपना बैनर खुलेआम नहीं लहरा रहे थे? क्या विभीषण कभी फुसफुसाहटों में बोले? क्या वह राज्यसभा में ही साफ-साफ नहीं बोलते थे? क्या उन्होंने रावण को झूठी प्रशंसाओं से तृप्त किया? क्या वे मुंह में रावण बगल में छुरी रख रहे थे? सिसरो ने देशद्रोही की क्या परिभाषा दी थी कि : "For the traitor appears not a traitor; he speaks in accents familiar to his victims, and he wears their face and their arguments, and appears to the baseness that lies deep in the hearts of all men. He robs the soul of the nation." क्या विभीषण ने कभी ऐसे कुछ समझौते किए? जो उन्हें ठीक लगा, उन्होंने वही किया। वे एक सच्चे बुद्धिजीवी की तरह 'बुध पुरान श्रुति सम्मत बानी' कहते रहे। लेकिन उनकी अवज्ञा होती रही। पर विभीषण ने अपने विश्वासों से और सत्य-पथ से कभी द्रोह नहीं किया। मार्क ट्वेन की आखिरकार क्या सलाह थी : "Each of you, for himself, by himself and on his own responsibility, must speak. And it is a solemn and weighty responsibility, and not lightly to be flung aside at the bullying of pulpit, press, government, or the empty catchphrases of politicians. Each must for

himself alone decide what is right and what is wrong, and which course is patriotic and which isn't. You cannot shirk this and be a man. To decide against your convictions is to be an unqualified and inexcusable traitor, both to yourself and to your country, let man label you as they may. If you alone of all the nation shall decide one way, and that way be the right way according to your convictions of the right, you have done your duty by yourself and by your country- hold up your head! You have nothing to be ashamed of.

विभीषण ने वही किया जिस पर उनका प्रत्यय था। वे राम की ओर से गुप्तचर्चा के लिए, किसी तरह के प्रतिभेदन के लिए नियुक्त नहीं किए गए थे। वे तो प्रारंभ से ही स्वयं को हरि-अर्पित किए हुए थे। वे स्वयं ही अपकर्मा रावण से किसी भी तरह अपनी मनोतरंग मिलती नहीं पा रहे थे। न रावण की जमाखोरी, न उसका अनाचार कभी उन्हें प्रिय लग सकता था। इसलिए राम की ओर से उन्हें टोही या मुखबिर नहीं बनाया गया था। यह तो वैश्रव विभीषण की प्रवृत्ति थी जो उन्हें शुरू से ही हरिमय बनाए हुए थी। रावण के आमिष और अपहरण से दुनिया भर को पीड़ित होता वे देख रहे थे। रावण निशिचर ही नहीं था, नक्तचर (चोर) भी था। वे जान रहे थे कि अन्ततः यह लूट खसोट ज्यादा देर तक टिकनेवाली नहीं है और एक देश के रूप में श्रीलंका की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की गंभीर क्षति कर रही है। श्रीलंका परिश्रम से नहीं पनप रहा, प्लंडर से पनप रहा है। रावण के Ravage से परेशान है जगत। लंका एक तरह का दस्यु-राज हो गया है। क्या विभीषण को इस बात का अपराधी ठहराया जाए कि वे पातक से प्राप्त समृद्धि से सहमत न होकर निर्वेद की जीवन-शैली अपनाए हुए थे? जिस समय रावण विलासिता के महासागर में डूबा हुआ था, विभीषण ने अपने जीवन में भक्ति को विशेषाधिकार दिया हुआ था। सादगी 'रामायुध' और 'हरिमंदिर' में जहां धार्मिक अवबोध की तरह व्यक्त होती थी, 'तुलसी' में वह प्रकृति और पर्यावरण के प्रति प्राथमिकता की तरह सामने आती थी। रावण का महल और जीवन शैली, जो वाल्मीकि के हनुमान ने देखी, वही थी जिसे आजकल 'मुखर उपभोग' (conspicuous consumption) कहते हैं। रावण उसी में चूर रहता था। विभीषण अपनी सादगी में सचेत रहते थे। सुकरात कहता थाः "Fine and rich clothes are suited for comedians." रावण के मामले में वह कॉमेडियन के लिए नहीं, विलेन के लिए सच बात थी। वाल्मीकि उसके परिधान-प्रेम का भी वर्णन करते हैं। विभीषण एक तरह की स्वैच्छिक सादगी का जीवन जीते थे। काल्विन का कहना था : "There is nothing which God more abominates than when men endeavor to cloak themselves by substituting signs and external appearances for integrity of the heart." विभीषण की स्वैच्छिक सादगी उनके हृदय की इसी इंटीग्रिटी से निकली है। यह किसी पाखंड से नहीं निकली है। वाल्मीकि ने विभीषण के बारे में लिखा था : "विभीषण बचपन से ही धर्मात्मा थे। वे सदा धर्म में स्थित रहते, स्वाध्याय करते और नियमित आहार करते हुए इंद्रियों को अपने काबू में रखते थे।" विभीषण ने जब ब्रह्मा से वर मांगा तो यही कि "बड़ी से बड़ी आपत्ति में पड़ने पर भी मेरी बुद्धि धर्म में ही लगी रहे- उससे विचलित न हो।" विभीषण की पत्नी के बारे में वाल्मीकि रामायण यही कहती है : "गंधर्वराज महात्मा शैलूष की कन्या सरमा को, जो धर्म के तत्व को जानने वाली थी, विभीषण ने अपनी पत्नी के रूप में प्राप्त किया।" इस विभीषण-विश्वास के ठीक एंटीथीसिस में रावण के और उसके शासकीय कर्म थे : "जेहि विधि होई धर्म निर्मूला/सो सब करहि वेद प्रतिकूला।' ब्रह्मास्त्र और निःशर्त अमरत्व का वर पाकर भी विभीषण पथ-भ्रष्ट नहीं होते जबकि सीमित और सशर्त अमरत्व का वर पाकर रावण महाआततायी हो जाता है। क्वेकर्स का यही सिद्धांत था कि : "Neither be cumbered nor

surfeited with the Riches of this World, nor bound, nor strained with them, and be married to the LORD." विभीषण की धर्म के लिए प्रतिबद्धता और क्वेकर्स की 'लार्ड' (भगवान) से विवाहित होने की बात में बड़ी समानता है। विभीषण धर्म के उसी अंतःप्रकाश से ज्योतित रहते हैं। रावण ने अमरत्व का वरदान ब्रह्मा से मांगा था। विभीषण ने मांगा नहीं था, ब्रह्मा से उन्हें मिला। विभीषण ने धर्म में सतत आस्था मांगी थी। तुलसी कांड में लिखते हैं : 'तेहि मांगेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु।' विभीषण का अमरत्व अयाचित था। रावण का मांगा हुआ। विभीषण को बिन मांगे मोती मिले थे। रावण को पूरा-पूरा अनकंडीशनल अमरत्व नहीं मिला। रावण उन्हीं अहंकृतियों, विलासों, आशाओं, उपभोगों में रत है दूसरों की लागत पर जिन्हें विभीषण लोष्ठवत् मानता है। रावण की लालसाएं और लुब्धताएं कभी तृप्त होने का नाम नहीं लेतीं। उसके चलते देश देशांतर रौंद दिए जाते रहे। स्त्रियां अपहत होती रहीं। बलात्कृत भी। क्या देशप्रेम और देशनिष्ठा का अर्थ इन सब चीजों का अंधा समर्थन करना होता है? या उन्हें देखते-बूझते हुए भी नज़रअंदाज करना? राजा की व्यक्तिगत दुर्बलताओं को देशहित में सहा जा सकता है, लेकिन वह केवल व्यक्तिगत हो तब न। वह तो एक अंतर्राष्ट्रीय टेरर बन गया है। उसके आतंक और अत्याचार ने देश की हदें लांघ दी हैं, तो उसका विकल्प देश की हदें नहीं लांघेगा? विकल्प तो विभीषण थे ही। जिस तरह से विलियम पेन ने 1682 में कहा था कि "I need no wealth but sufficiency." जहां रावण दुनिया भर का धन लूटकर लंका को 'सोने की' बना रहा था, विभीषण वहां धर्म को केन्द्र में रखकर एक जीवन-शैली–मात्र एक शासनशैली नहीं–जी रहा था। रावण जिन चीजों की ट्रेपिंग्स में था, विभीषण उनसे आज़ाद था। रावण के क्रेजी किस्म के शासन की कीमत सारे संसार को चुकानी पड़ रही थी। यदि देवता प्राकृतिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और रावण ने उन्हें गुलाम बना दिया था तो कल्पना ही की जा सकती है कि रावण का राज प्रकृति पर किस तरह का कहर बर्पा रहा होगा। रावण का राज न केवल अपनी प्रज्ञा खो चुका था बल्कि अपनी-अपनी वैधता (लेजिटिमेसी) भी खो चुका था। लंका के लिए-पुलस्त्य, कुबेर, विश्रवा की लंका के लिए–एक संपूर्ण डिस्ग्रेस था वह शासन। सीतापहरण उस शासन का कोई एकल 'लैप्स' नहीं था, वह तो रावणी शासन-परंपरा की प्रतिनिधि घटना थी। एकदम चारित्रिक।

हनुमान ने रामकथा कही, तो विभीषण ने रावणकथा कही होगी। इसलिए तुलसी "पुनि" शब्द का इस्तेमाल करते हैं। लेकिन शायद रावणकथा का कोई कंट्रास्ट पैदा करना उनका अभिप्रेत नहीं है। रावण तो एक अनुषंग मात्र है। बात उससे कहीं ज्यादा व्यापक है। इसलिए तुलसी "सब कथा" की बात करते हैं। सब में सब आ गया। रावण भी, उसके द्वारा पीड़ित और प्रताड़ित सर्वस्व भी। शासन को 'हॉरर' बनाकर कब तक रखा जा सकता है? रावण-राज में करप्शन भी बहुत था। 'भ्रष्टाचार' – तुलसी इस आधुनिक शब्द का प्रयोग तक करते हैं; अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना। विभीषण ने यह सब कथा कही। लोगों को इसमें विभीषण का देशद्रोह दिखाई देता है, लेकिन रावण का उससे अत्यन्त गंभीर और वृहत्तर परद्रोह नहीं दिखाई देता। तुलसी लिखते हैं : 'गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही/जस मोहि गरूअ एक परद्रोही।' विभीषण के सामने यह रावण था जो अपने से आगे देख ही नहीं पाता था। 'दूसरा' जिसके लिए जहर था, जो एक ऑटोक्रेट था-one who rules by himself. जो ध्यान दें द्विजद्रोही नहीं, परद्रोही था। सिर्फ बुद्धिजीवियों का विरोधी नहीं- अपने सिवा हर किसी का द्रोही। रावण की ऑटोक्रेसी के मुकाबले विभीषण एक वैश्विक इंटीग्रेशन की अवधारणा में निबद्ध थे। ईवान द टेरिबल, पीटर द क्रुएल सब रावण के सामने कहां लगते हैं। रावण तो हर किसी की स्वतंत्रता का अपहर्ता था– 'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र।' 'मसल पावर' वाला रावण आध्यात्मिक शक्ति और तेज

से सम्पन्न विभीषण के प्रकृत विरोध में था।

इसलिए विभीषण ने 'कहा'। उस विभीषण ने, जो शाश्वत धर्मस्थ था, कहा। तब कहा जब हालत यह थी कि 'सकल धर्म देखइ बिपरीता/कहि न सकइ रावन भय भीता।' भले ही रात की सरगोशी में कहा, भले ही दूर देश से आए आगंतुक से कहा। और बताया खुलकर कि जनकसुता कहां और किस तरह से रह रही हैं लंका में। 'पुनि' शब्द का एक उपयोग यह बताने में हो सकता है कि हनुमान ने यदि राम कथा कही तो विभीषण ने सीता कथा कही। वाल्मीकि रामायण में सीता कहती हैं : "मैं राघव से वैसे ही अभिन्न हूं जैसे भास्कर से उसकी प्रभा अभिन्न होती है।" इसलिए विभीषण के कहने में 'पुनि' शब्द का प्रयोग होना ही था।

जनकसुता– राजा (जनक) की बेटी। क्या रावण को कभी लगा कि जिसको वह उठा के लाया है, वह भी किसी की बेटी है; कि जिनको वह उठा के लाया है, वे भी किन्हीं की बेटियां हैं। कि जैसा साहिर ने कहा : 'मदद चाहती है ये हव्वा की बेटी/यशोदा की हमजिन्स राधा की बेटी/पयम्बर की उम्मत जुलैखा की बेटी।' लेकिन रावण-दृष्टि तो दूसरी ही होती है। उसे तो बेटी के रूप में इनका ध्यान भी आए तो वैसे ही आएगा जैसे साहिर की एक नज़्म के जागीरदार को : 'हाए वो गर्म-ओ-दिलावेज उबलते सीने/जिनसे हम सतवते-आबा का सिला लेते हैं/जाने इन मरमरीं जिस्मों को ये मरियल दहकान/कैसे इन तीरह घरौंदों में जनम देते हैं।' सीता भी शब्दशः धरती की बेटी हैं। साहिर ऊपर की पंक्तियों में किसान की याद करते हैं तो सीता की प्रथमतम स्मृतियां भी कृषि से जुड़ी हुई हैं। अथर्ववेद के कौशिक सूत्र के अनुसार : 'कुमुद्वती पुस्करिणी सीता सर्वाङ्गशोभिनी/कृषिः सहस्रप्राकारा प्रत्यष्टा श्रीरियं मयि' अर्थात् कुमुदों और कमलों से सुशोभित सर्वांङ्गशोभिनी, सहस्रों प्रकार वाली कृषिरूपा यह व्यापक लक्ष्मी सीता निरन्तर मेरे साथ रहे। इसी में आगे यह भी कहा गया कि 'उर्वी त्वाहुमर्नुष्याः श्रियं त्वा मनवो विदुःआशयेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः' अर्थात् सीता! मनुष्य तुम्हें उर्वी कहते हैं। मननशील लोग तुम्हें लक्ष्मी कहते हैं। हम लोगों के कोश में आरोग्यवर्धक और शक्तिशाली पर्याप्त अन्न प्रदान करो। ऋग्वेद (4/57/6) में सीता के लिए कहा गया था: 'अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।' वाल्मीकि रामायण में स्वयं जनक कहते हैं : "एक दिन मैं यज्ञ के लिए भूमिशोधन करते समय खेत में हल चला रहा था। उसी समय हल के अग्रभाग से जोती गयी भूमि (हराई या सीता) से एक कन्या प्रकट हुई। सीता (हल द्वारा खींची गई रेखा) से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम सीता विख्यात हुआ।" 'अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङलादुत्थिता ततः/क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।' सीता प्रकृति की वैसी ही निर्दोष कन्या हैं जो रावण के द्वारा सिर्फ इसलिए अपहृत हुईं कि वो पूर्वानुमान नहीं कर पाई कि आदमी इतना गंदा भी हो सकता है। क्रिस्टोफर अंस्टी की कृषक-कन्या (Farmer's Daughter) नामक कविता के ये शब्द शायद सीता के लिए ही कहे गए थे : "As soptless as the blooming flower/Which long unheeded grew/She little reck'd her beauty's power/or e'er its dangers knew/Alas ! She ne'er suspected ill/who never ill design'd / And void of art, ne'er knew the guile/of man's degenerate mind."

सीता 'सुता' हैं, पुत्री हैं। सुता की व्युत्पत्ति यों है : 'सूयते इति सुता, सुत्+टाप् वैदिक तत्सम्, सुवति इति सुतः' (श्रीरस्वामी)। वैदिक साहित्य में 'सुत' का अर्थ है- निकला हुआ या प्रस्रवित रस। वैदिक साहित्य में सभी जगह 'सुता' का प्रयोग यज्ञ संदर्भ में 'रस' के अर्थ में हुआ है। कालान्तर में 'सुता' का अर्थ पुत्री हो गया। डॉ. मंजुला श्रीवास्तव का कथन है कि 'रामायण में जिन मुख्य तीन राज परिवारों इक्ष्वाकु, वानर एवं राक्षस की कथा वर्णित है; उन तीनों में ही पुत्रियों का अभाव था।' (वाल्मीकियुगीन भारत)। लेकिन शायद डॉ. श्रीवास्तव के ध्यान में यह 'जनकसुता' नहीं रहीं। जनक ने इस पुत्री को अलग ही आदर्श दिए हैं। यह ध्यान दें कि सीता

को हमेशा पिता का नाम ही मिला, मां का नहीं। पांडव तो पिता पांडु के नाम से जाने गए और मां के नाम से 'कौंतेय' के रूप में भी। पर सीता को वैदेही, जानकी, जनकसुता तो कहा गया, कभी मां के नाम से नहीं पुकारा गया। उस जमाने में आज की तरह श्रीमती राम कहने की प्रथा नहीं थी। स्त्री के व्यक्तित्व की इयत्ता का आदर था। पिता के संस्कार लंका में काम आ रहे हैं तो विभीषण ने उन्हें जनकसुता ही कहा। कुंअर बेचैन की कविता है 'बेटियाँ भी जाने क्यों पिता को ही पहले याद करती हैं, बेटियाँ/शीतल हवाएं हैं/जो पिता के घर बहुत दिन तक नहीं रहतीं/ये तरल जल की परातें हैं/लाज की उजली कनातें हैं/है पिता का घर हृदय जैसा/ये हृदय की स्वच्छ बातें हैं।' सीता ने पिता के घर में जो हार्दिक स्वच्छता का वातावरण पाया था, रावण की लंका में उसके ठीक विपरीत कलुष और द्वेष का माहौल था। न उनके तरल जल जैसे हृदय को वहां किसी शांति का अनुभव हो सकता था। पति से वियुक्त सीता लंका में रह किस प्रकार सकती थीं? राजा जनक की बेटी और इस पाप गृह में! इस पापोपवन में!

लंका में सीता की हर सांस शूलबिद्ध है। शिशिर की निष्पत्र शाख जैसे दिन हो गए हैं उनके। भयभीत अश्रुओं से सिक्त चेहरा है उनका। हैं वाटिका में, लेकिन जिन्दगी में कोई सुगंध नहीं रह गई है। दिल में बहुत से भँवर हैं। अम्बर की तरफ दृष्टि भी नहीं जाती। बेनूर और बेरंग हैं सुबह और शाम। सीता की इस त्रासदी को विभीषण ने कह सुनाया। सीता राजा की पुत्री हैं लेकिन वे रह किस प्रकार रही हैं? तुलसी ही बताए थे : "हारि परा खल बहु विधि, भय अरू प्रीति दिखाइ/तब असोक पादप तर, राखेसि जतन कराइ।।' राजकन्या के ये हाल! 'राजा की पुत्रियां' कभी न्यू फ्रांस भी भेजी गई थीं। 1663 से 1673 के बीच 700 से 900 फ्रेंच स्त्रियों को शासन के द्वारा प्रायोजित कर क्यूबेक, मांट्रियल जैसी जगहों पर भेजा गया था ताकि वे वहां उपनिवेशन करने वाले फ्रेंच सैनिकों और किसानों से शादी कर सकें और न्यू फ्रांस को आबाद कर सकें। वे 'राजा की पुत्रियां' कहलाती थीं। उनमें से ज्यादातर गरीब थीं। लुई चौदहवें के समय यह योजना चली थी। अब कहां निर्वेद और वैराग्य की तपोमूर्ति राजा जनक और कहां लुई चतुर्दश जो विषयासक्ति का बड़ा उदाहरण माना जाता है। कहां राजा जनक ने सीता को स्वयं पाला और कहां लुई ने शहरी और ग्रामीण फ्रांसीसी कन्याओं को धन के बल पर सिर्फ ढूंढ़कर एक अनजान प्रदेश भेज दिया। जनकसुता और इन राजपुत्रियों के बीच बस यही समानता है कि दोनों को अनजान प्रदेशों में जाना पड़ा। एक को अपहृत कर ले जाया गया, दूसरों को प्रायोजित कर। पालन-पोषण और प्रायोजन में फर्क होता है। जनकसुता जनकसुता रहीं और 'राजा की बेटियां' कभी व्यक्तिगत रूप से राजा की वात्सल्य-भाजन नहीं बन पाईं। लेकिन ओल्ड टेस्टामेंट का वह वचन - 'गो अहेड, माई डॉटर' (बुक आफ ट्रुथ) शायद दोनों के लिए अपनी-अपनी तरह से सच था। सीता के लिए जनक लेकिन स्वयं एक प्रेरणा-पुंज थे जबकि उन फ्रांसीसी स्त्रियों के लिए 'राजा की बेटियां'-ये शब्द मात्र उनके आप्रवासन की राजकीय स्पांसरिंग को स्पष्ट करने वाले शब्द थे, उससे ज्यादा नहीं। उनके साथ कोई नाम नहीं जुड़ा था लुई चौदहवें का। सीता उतनी 'सुता' थीं, जनक जितने पिता थे। जनक ने आम पिताओं की तरह सीता को बहुत नियम नहीं सौंपे थे, लेकिन हर बच्ची की तरह सीता के लिए भी उसके पिता उसके प्रारंभिक नायक थे। जनक ने सीता को अनुशासन नहीं दिया था, उदाहरण दिया था। खुद की जीवन शैली से। क्लीयरेंस केलान्ड ने अपने पिता के बारे में यही लिखा था कि : "He did not tell me how to live; he lived, and let me watch him do it." सीता के बचपन के आत्म-संदेहों को जनक के दर्शन ने दूर किया था। जनक के कारण ही सीता एक ऐसी स्त्री के रूप में विकसित हुईं जो रिलेशनल थीं और जो उन रिश्तों के द्वारा फेंकी गई चुनौतियों के निर्वहन में जीवन झोंक सकती थीं। जनक उनके पिता का नाम था और ऐसा था कि नाम से ही पितृत्व झलकता था। वे तब भी जनक थे जब सीता भूमिजा

थीं। जनक में इतना पिता-पितापन था। सीता में भूमिजा होने के कारण धरती-सा धैर्य भी रहा और जनकसुता होने के कारण एक गहरी आध्यात्मिकता से अनुस्यूत भी रहीं। नेचर और नर्चर, प्रकृति और पोषण दोनों के सर्वश्रेष्ठ का हासिल हैं सीता। यदि 'जनक' शब्द के ऐतिहासिक-पौराणिक अर्थ पर न जाएं तो सीता सिर्फ 'पिता की बेटी' (जनकसुता) हैं। या यदि जाएं भी तो जनक सिर्फ पिता हैं। उनका पितृत्व ही उनकी पहचान बन गया है। वे बस जनक हैं। बाप हैं। सीता उन्हीं के पुण्यों की प्रतिमूर्ति हैं : 'जनक सुकृत मूरति बैदेही' (बालकांड, 310, रामचरितमानस)। जब सीता विवाहोपरांत पिता के घर से विदा हो रही होती हैं, तब तुलसी उनके पिता के परम वैराग्य, धैर्य और ज्ञान की महामर्यादा का उल्लेख करते हैं : 'सीय बिलोकि धीरता भागी/रहे कहावत परम बिरागी/लीन्हि रायँ उर लाइ जानकी/मिटी महामरजाद ग्यान की।' उन जनकपुत्री सीता को लंका के वैभव में तिनके भर भी रुचि कहां होगी। राम के प्रेम के कारण ही नहीं, पिता और पुत्री के इस 'बांड' (स्नेह-बंध) के चलते भी सीता के मनोजगत् में लंका के वैभव को कोई स्थान नहीं है। वाल्मीकि रामायण में हनुमान जी सीता को देखकर यही सोचते हैं: 'इयंसा धर्मशीलस्य जनकस्य महात्मनः/सुता मैथिलराजस्य सीता भर्तृदृढ़व्रता!' अर्थात् ये धर्मशील मिथिलानरेश महात्मा राजा जनक की पुत्री सीता पतिव्रत धर्म में बहुत दृढ़ हैं। चूंकि जनक ने उन मूल्यों को सिर्फ अभिव्यक्त ही नहीं किया बल्कि जिया भी जिन्हें वे अपनी बेटी में बिम्बित हुआ देखना चाहते थे, सीता उनके आध्यात्मिक विरसे को लिए लिए ताजिन्दगी संस्फूर्त रहीं। जनक ने सीता को लग्ज़री नहीं दी, एक सोच दी। जीवन के सतही आकर्षणों की जगह ग्रेस से जीने का रास्ता। उन्हें जीवन से पलायन करने की जगह एक आशावाद दिया। सीता जनकसुता थीं, इसलिए रावण के अत्याचारों के आगे नहीं झुकीं। आगे चलकर राजा दाहिर की कन्याएं हुईं जिनके बारे में थामस हुड की प्रसिद्ध कविता 'द डाटर्स ऑफ किंग दाहेर' यह कहती है : 'That night the daughters of the Indian King/Unsullied, pure as the unopened buds-/ That ne'er encounter summer's looks of love/But drop untimely in the vernal srofts/Passed from the next earth to the quiet sky/where never sorrow mars the heart's repose.' साम्राज्य की शक्ति भारतीय कन्याओं के प्रतिरोध को नहीं तोड़ पाती। विभीषण यही हनुमान को बताते हैं कि लंका में किस आत्म-गौरव के साथ जनकसुता रह रही हैं। 'जेहि विधि' शब्द महत्वपूर्ण हैं। वे शब्द-साम्य से ही याद दिलाते हैं कि 'जेहि विधि कपट कुरंग संग, धाई चले श्रीराम सोई छवि सीता राखिकर, रटति रहति हरि नाम।' (अर.दो. 29) तो सीता निरन्तर राम की उस छवि को हृदय में बसाए रहती हैं जब आखिरी बार उन्हें जाते हुए देखा। वक्त उसके बाद जैसे वहीं ठहर गया। उस वक्त हनुमान विभीषण को कहते हैं कि "हे भाई, मैं मां जानकी को देखना चाहता हूं।" वही सीता जो (जनक की) पुत्री के रूप में याद की जा रही हैं, वही सीता अब (हनुमान की) मां के रूप में भी याद की जाती हैं।' तुलसी के यहां हनुमान सीता को मां के रूप में देखते हैं, जबकि वाल्मीकि के हनुमान सीता को कभी देवी, कभी अनिन्दिते, कभी शोभने, कभी सुमुखि, कभी वरारोहे, कभी जनकनंदिनी, कभी विदेहराजकुमारी, कभी भामिनि, कभी आर्ये कहते हैं। तुलसी सीता को जगज्जननी के रूप में अधिष्ठित करते हैं : 'जानकी जग जननि जन की किए बचन सहाइ/तरै तुलसीदास भव तवनाथ गुन गन गाई' (विनयपत्रिका)। हनुमान सीता को तब मां कहते हैं जब लवकुश का जन्म बहुत दूर था। बहुत बाद की बात थी। हनुमान सीता को अंजना मां जैसी श्रद्धा से देखते हैं। तुलसी के यहां इस भिन्नता का कारण क्या है?

तुलसी के मानस-पात्र किसी रूपक का भी निर्वाह करते चलते हैं। यहां हनुमान और सीता के साथ भी ऐसा कुछ है। हनुमान ज्ञान और वैराग्य के प्रतीक हैं। सीता भक्ति हैं- पराभक्ति हैं- शान्ति हैं। हनुमान के बारे में कहा ही गया कि वे ज्ञानधन हैं और यह भी कि

'प्रबल वैराग्य दारूण प्रभंजनतनय'। पाद्मीय श्रीमद्भागवत में कहा गया कि : 'अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ/ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरी' कि भगवती भक्ति के पुत्र हैं : ज्ञान और वैराग्य। यह एक ऐसी कथात्मक एलीगरी है जिसकी जड़ें दर्शन में हैं। रमण महर्षि भक्ति को ज्ञान-माता कहते थे। भक्ति-देवी के पुराणों में दो पुत्र कहे गए हैं : ज्ञान और वैराग्य। सीता और हनुमान आस्ट्रेलियन टी.वी. पर आने वाले सीरियल 'मदर एंड सन' की तरह तो नहीं हैं। सीता न बूढ़ी हैं, न अल्झाइमर से ग्रस्त हैं। हनुमान के प्यार में क्षण-मात्र भी कमी नहीं है। एक जनकसुता हैं, एक पवनसुत हैं। सीता हनुमान की जैविक मां नहीं हैं, लेकिन वे सिर्फ आदर के लिए ही मां नहीं कही जा रही हैं। यहां मां-बेटे का प्रेम काफी भावनात्मक और आध्यात्मिक है। इस तरह का स्नेह-सम्बन्ध रूसी फिल्म निर्देशक अलेक्जेंड्र सोकुरोव की फिल्म 'मदर एंड सन' में देखने को मिलता है। लेकिन वहां मां बूढ़ी है और मृत्यु की तरफ बढ़ रही है। वहां पुत्र उस मृत्यु-यात्रा में उसे संभालता है। यहां पुत्र- जो जैविक नहीं है- जीवन-यात्रा में मां सीता को लौटा लाने के लिए कोशिश करता है। वो मां सीता जो गहन शोक में मुमुर्षु हो गई हैं और जो जैसा कि हम आगे देखेंगे, आत्म-घात के लिए सन्नद्ध भी हो गई हैं। यहां यह पुत्र हनुमान उन्हें मृत्यु के उस छोर से जीवन की ओर ले आता है। उधर मां भी बेटे को जो आशीष सीता के रूप में देती है, वह उसे भी सामर्थ्यवान बनाता है। सामान्यतः हमारे यहां पुरुष-संस्कृति मां को बच्चे की निगाह में एक ऐसी शख्सियत बनाती है जिसे रिजेक्ट करके ही वह 'रियल मैन' हो सकता है, अन्यथा वह मामा'ज ब्वाय ही बना रहेगा। यहां रामकथा में मां-बेटे के सम्बन्धों का यह ट्रीटमेंट देखिए। कथा के इस मोड़ पर मां बेटे को अर्थ देती है और बेटा मां को। यह 'अ जेनरेशन ऑफ वाइपर्स' के लेखक वाइली के द्वारा गढ़े गये अभिधान 'मॉमिज्म' (momism) की तरह नहीं है जिसमें एक डामिनेंट सर्वग्रासी मां बच्चे को अपनी मांगों के जरिए और एक तरह के अपराध-बोध को थोपने के जरिए कमजोर करती जाती है।

हनुमान भी 'जानकी' या 'जनकसुता' को ही देखना चाहते हैं। वे स्वयं भी वैराग्य के प्रतीक हैं और उनकी उत्सुकता भी उस जनक की बेटी में है जो कैवल्य और निर्लिप्तता, उपशम और निर्वेद के लिए जाने जाते हैं। एक इंद्रियपरायण राज्य में सीता की अनवेक्ष और योगारूढ़ उपस्थिति निश्चित ही दर्शनीय है। हनुमान सीता को देखना चाहते हैं, सिर्फ इसलिए नहीं कि उन्हें राम का संदेश सीता तक पहुंचाना है। बल्कि इसलिए भी कि उनके भीतर सीता की ममता का परस पाने की इच्छा भी है। राम ने हनुमान को प्रेम दिया है, लेकिन हनुमान के हृदय के बहुत-से रंध्रों का रस-पोषण तो सिर्फ मां सीता के दुलार से ही हो सकता है। सीता से हनुमान की आत्मजता नहीं है, लेकिन न जाने क्यों हनुमान को सीता से आत्मीयता लगती है। अभी तो उन्होंने उन्हें देखा तक नहीं है। सुना भर है या एक झलक भर देखी है लेकिन जितना भी सीता के बारे में जाना है उतना उन्हें उनमें कुछ साभिभावकता लगी है। सीता के व्यक्तित्व में उन्हें कुछ मातृस्थानीयता महसूस हुई है। कुछ-कुछ उनमें अंजना जैसा है। इसलिए हनुमान को सीता को देखने की चाह होती है और वे इसे विभीषण को व्यक्त भी कर देते हैं। इस मातृभाविकता के कारण ही हनुमान उस जगह जाने की अधिकारिता और अर्हता अर्जित कर लेते हैं जहां सीता को सिर्फ स्त्री संरक्षिकाओं के पहरे में रखा गया हैं, जहां सिर्फ राक्षसियां हैं, जहां वे एक विशेषतः पुरुष-वर्जित क्षेत्र में रखी गई हैं। हनुमान तो वहां शिशु की तरह तरल-सरल होकर ही जाना चाहते हैं। वह अशोकवाटिका उनके लिए, वत्सलता का क्षेत्र है क्योंकि वहां जगज्जननी जानकी रहती हैं। वहां वे रहती हैं जिनके बारे में जितना भी सुना-गुना-देखा, बार-बार मां अंजना- जैसी स्मृतियां लौटीं, बार-बार कुछ वैसा ही अपनापन महसूस हुआ। अब मौका आया है अपनी उस आतुरता की तुष्टि का, उस वत्सभाविकता की सम्पूर्ति का। हनुमान इस अवसर को हाथ से कैसे जाने दे सकते हैं। इसलिए उनके मन में यह संकल्प

दृढ़तर होता जाता है जिसे वे 'देखी चहौं' से व्यक्त करते हैं। तुलसी ने अन्यत्र भी कहलाया है कि 'देखहु कपि जननी की नाईं/विहँसि कहा रघुनाथ गुसाईं।"

और एकाएक तुलसी यहां सभी कुछ को रिलेशनल बना देते हैं। जानकी माता हैं और विभीषण भ्राता। अजनबी शहर में हनुमान को कुछ अपने मिल गए। 'सखा' अब इसी कारण 'भ्राता' में प्रोन्नत हो गया है। माया एंजेलाऊ ने सही कहा था कि "I don't believe an accident of birth makes people sisters or brothers. It makes them siblings, gives them mutuality of parentage. Sisterhood or brotherhood is a condition people have to work at. " तो हनुमान और विभीषण का भाई-भाव भी रक्त सम्बन्धों के आनुरूप्य के चलते नहीं है बल्कि दोनों के बीच स्नेह-सम्बन्ध के क्रमशः बढ़ते चले जाने के परिणामस्वरूप है। शायद इसलिए भी कि मनोवैज्ञानिक रूप से दोनों ही यह महसूस करते हैं कि राम ही उन दोनों के अभिभावक हैं। Antoine de Saint-Exupe'ry ने उचित ही लिखा था कि "One can be a brother only in something. Where there is no tie that binds men, men are not united but merely lined up."

अब विभीषण सारी युक्ति कह सुनाते हैं। तुलसी यह स्पष्ट नहीं करते कि वह युक्ति कौन सी थी? तुलसी यह भी नहीं करते कि वे सीक्रेट्स (रहस्य, गुप्त भेद) शब्द का प्रयोग करें, वे युक्ति शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ होता हैः उपाय या ढंग। युक्ति शब्द युज्+क्तन से बना है जिसका अर्थ है मेल, मिलाप। सीता से हनुमान को मिलाने के लिए युक्ति शब्द ही बेहतर होता। क्या विभीषण ने हनुमान को कोई ट्रिक बताई या कोई राज बताया? बात किन्हीं तकनीकों की थी, किन्हीं कलाओं और कौशलों की या किन्हीं Skeleton in the closet की? विभीषण ने कोई ब्लू प्रिंट दिया या कोई नुस्खा दिया या फिर कुछ खुफिया सूचनाएं दीं? तुलसी युक्ति शब्द का प्रयोग कर उपाय की बात ज्यादा करते दिखते हैं और किसी पोशीदा और संगुप्त तथ्य के प्रकटन की कम। एक सीधा सा अर्थ यह हो सकता है कि अशोकवाटिका जाने का रास्ता बताया। युक्ति शब्द में कुछ 'कान्फीडेन्शियल' का भाव नहीं आता? उससे यह पता नहीं लगता कि क्या विभीषण ने हनुमान को कुछ 'क्लासीफाइड' भेद बताए? कि कोई encoded चीज थी- कूट और गुह्य- जिसका विभीषण ने भंडाफोड़ कर दिया? युक्ति तो योग है। तो किया विभीषण ने कोई सकारात्मक, धनात्मक या पाजिटिव काम ही। कोई तरकीब बतलाई गई होगी। सीता तक पहुंचने की जुगत कैसे भिड़ाई जाए? कोई सूत्र, कोई फार्मूला, कोई काम की बात, कोई दाँव, कोई तर्क, कोई सुझाव युक्ति के जितने मायने हैं, उसमें तुलसी का अभिप्रेत किससे है? तुलसी युक्ति का एकवचनीय प्रयोग करते हैं। तदनंतर आया 'सकल' शब्द भी एकवचनीय है। यानी यहां शास्त्रों में प्रचलित युक्ति चतुष्टय साम-दाम-दंड-भेद की बात नहीं की जा रही है। सकल शब्द के द्वारा तुलसी संख्यात्मक स्थूलता का परिहार करते हैं और यह कयास लगाने की जिम्मेदारी हम पर छोड़ देते हैं कि विभीषण ने कौन सी सकल युक्ति सुनाई?

पंडितों ने तरह-तरह के अनुमान लगाए हैं। एक का कहना है कि अशोकवाटिका एक तरह का प्रमदावन था। एक तरह का तिलिस्म। एक इन्द्रजाल। एक जालंधरी विद्या की निर्मिति जिसमें पूरी लंका शोधने पर भी वह नहीं दिखे। क्या यह डोरोथी सूचर की पुस्तक के शीर्षक 'द इनविज़िबल गार्डन' जैसी कोई अदृश्य वाटिका थी। सूचर इसमें लिखती हैं : "Invisible gardens are unpredictable because they are carried around by individuals who brings to them their own unique stores of memory and experience." अभी 19 फरवरी, 2006 के 'द संडे टाइम्स' में जॉन इलियट की रिपोर्ट थी कि वैज्ञानिकों के अनुसार अदृश्य भवन बनाना संभव है। शोधकर्ताओं ने कुछ ऐसे क्रिस्टल्स का उपयोग कर, जो नंगी आंखों से नहीं दीख पड़ते, अदृश्यता वाले ऐसे आप्टिकल प्रभाव विकसित कर लिये

हैं। तो हो सकता है कि रावण के समय उस तरह की प्राविधिकी हो जिसके चलते अशोकवाटिका नजर नहीं आती हो। हालांकि वाल्मीकि ने तो अशोकवाटिका के ऐसे किसी वैचित्र्य की ओर इशारा तक नहीं किया है और तुलसी तो ऐसा कुछ कहने से रहे। विश्वनाथ लिमये अपनी पुस्तक 'हिस्टोरिक रामा ऑफ वाल्मीकि : शास्त्र ग्रही राम' (1985, पृ. 142, 189) में बताते हैं कि अशोकवाटिका के केन्द्र में प्रमदावन था। सीता से मिलने के बाद एकचत्वारिंश सर्ग (सुन्दरकांड) में वाल्मीकि भी प्रमदावन को हनुमान के द्वारा उजाड़ने का उल्लेख करते हैं : 'तदनंतर वीर हनुमान ने मतवाले पक्षियों के कलरव से मुखरित और नाना प्रकार के वृक्षों और लताओं से भरे-पूरे उस प्रमदावन को उजाड़ डाला।' प्रमदावन नाम से किसी प्रमाद या भ्रम का संकेत करता है जो शायद इस वन के 'डिल्यूसिव' होने का परिचायक है। दूसरी ओर प्रमदावन रावण के अहंकार का भी प्रतीक था- उसका स्टेटस सिम्बॉल। वाल्मीकि के यहां किसी वैचित्र्य या संभ्रम का कोई विवरण नहीं है किंतु भव्यता के दर्प का विवरण जरूर है।

तब हनुमान विदा लेते हैं। यह ध्यान दें कि हनुमान सुंदरकांड में लंका में विभीषण से पुनः नहीं मिलते। वे अपना काम पूरा कर सीता से फिर मिलने आते हैं, लेकिन विभीषण से लंका में फिर उनकी मुलाकात नहीं होती। इसलिये हनुमान की विदा यहीं हो जाती है। यहीं तय हो जाता है कि हनुमान सीधे ही लंका से निकल जायेंगे - सीता से चूड़ामणि लेने के बाद, इसलिये यहीं खुदा हाफ़िज हो जाता है। गुडबाई जिसका अर्थ भी वही है : गॉड बी विद यू। पुरानी अंग्रेजी में God pe mid sie ही कहते थे। यानी ईश्वर तुम्हारे साथ रहे। ऐसा ही कुछ उन दोनों ने भी कहा होगा। विदा को इसलिये गॉडस्पीड भी कहा गया। हनुमान तो हमेशा ही राम को हृदय में रखकर चलते हैं। यहूदियों में विदा के वक्त 'शालोम' बोला जाता है और उनके धुर विरोधी अरबों में 'अस्सलाम अलैकुम'। पहले का अर्थ है शांति और दूसरे का अर्थ है 'आपको शांति मिले'। लेकिन फिर भी इन दोनों के बीच शांति नहीं है। हनुमान का राम को हृदय में रखकर चलना ही उनके भीतर शांति की एक मनोवैज्ञानिक जलवायु का निर्माण करता है। और इसलिये विकट से विकट परिस्थितियों में भी वे उद्विग्न नहीं होते। तो हो सकता है कि उन्होंने सिर्फ 'पीस' कहा हो। यह पता नहीं कि विदा के वक्त दोनों ने क्या कहा? तुलसी जानते हैं कि हनुमान को इतना काम पड़ा है - पूरा सुंदरकांड कार्यव्यवहार की सघनता का कांड है- कि विदाई की बहुत सी नफासतों (pleasantries) के विनिमय में वे कहाँ पड़ सकते हैं। तो 'टाटा' भी हो सकता है, 'सी यू लेटर' भी। या हवाई द्वीप की पिडगिन भाषा में 'शूट्स, डेन' (शूट, देन) भी। या सिर्फ ओके, देन भी। या डेनिश भाषा की तरह सिर्फ एक शब्द 'Farvel' (विदा)। तुलसी भी बस एक शब्द 'विदा' का उपयोग करते हैं। तुलसी नहीं कहते कि पवनसुत ने रोमन सैल्यूट किया या ओलंपिक सैल्यूट। वे कहते हैं कि वे 'विदा कराके' चले यानी विदा मांग के चले। इसी से मिलती-जुलती शैली में उन्होंने अन्यत्र भी कहा है : 'करि पूजा सब विधि सेवकाई/गयउ राउ गृह विदा कराई'। अब हनुमान रवानगी डालते हैं। अत्यन्त व्यस्तता के बावजूद भी वे शिष्टाचार की मर्यादा नहीं भूलते। अपने निर्याण के पूर्व वे विभीषण से स्वस्थ भाव से रुखसती मांगते हैं। अगस्त्य के यहाँ से जब राम विदा होते हैं तो वहाँ मुनि की आज्ञा लेते हैं। यहाँ भी हनुमान विभीषण से विदा मानकर चलते हैं। अन्यत्र भी : 'मुनि सन बिदा मांगि त्रिपुरारी'। ऐसा लगता है कि विभीषण को बहुत दिनों बाद–एक द्वेष और उपहास और तिरस्कार से घिरे हुये लंकाई माहौल में–कोई ऐसा मिला था जिससे वह अपना अंतरंग कह सकें। कोई उनके मन की छाया-सा, कोई घनिष्ठ जिससे इतनी ही देर में इतनी प्रगाढ़ प्रतिबंधुता और सख्य पैदा हो गया। विभीषण इस हेलमेल को, इस अभिन्नहृदयता को लेकर प्रेमाधिक्य में इतने डूब गये होंगे कि हनुमान को छोड़ना ही नहीं चाह रहे होंगे, उन्हें बार-बार थोड़ी देर और रुकने को कह रहे होंगे। उधर हनुमान पर रामकाज का और डेडलाइन का

तनाव रहा होगा, इसलिये वे बार-बार जाने का कह रहे होंगे। इसीलिये 'विदा कराई' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह ठीक है कि एक सुमित्र मिला जिससे पटरी बैठ गई और गाढ़ी छनी भी, लेकिन अभी रामकाज के लिये प्रस्थान करना ही होगा।

तब हनुमान ने वही रूप धारण कर लिया। विभीषण से मिलते समय वे विप्र रूप धारी हो गए थे, अब उसी लघु रूप में आ गए। लंका में सीता अम्मान मंदिर के पास हनुमान के छोटे चरणों और बड़े चरणों के चिन्ह मिलते हैं जिन्हें हनुमान की मनचाहा रूप धरने की शक्ति से वहां समीकृत किया जाता है। हनुमान किसी क्विक-चेंज आर्टिस्ट को भी शर्मा दें। इस युग में ऐसे कई आर्टिस्ट हैं : एनरिनो मार्चेट्टों तो एक घंटे में 50 रूप धारण कर सकता है। मात्र कार्डबोर्ड और पेपर से उसमें 300 अलग-अलग तरह के रूप रखने की प्रतिभा है। मोनालिसा से लेकर शकीरा तक वह कुछ भी बन सकता है। आर्टुरो ब्राचेटी नामक इटेलियन परफार्मर को गिनीज वर्ल्ड रिकार्ड वालों ने 2006 और 2007 में तीव्रतम माना था। दो घंटे के शो में वह 80 विविध चरित्र अभिनीत करता है। उसके नाटक का नाम ही है : 'द मैन विद थाउजेंड फेसेज'। जर्मन-आर्मीनियन जोड़े सॉस और विक्टोरिया पेट्रोसाइअंस दो बार गिनीज विश्व-कीर्तिमानधारी रह चुके हैं। 120 सेकंड में 16 बार कास्ट्यूम बदलकर और 60 सेकंड में 12 बार कास्ट्यूम बदलकर। हनुमान भी तुरत-फुरत रूप बदलते हैं। रूप बदलने की शक्ति रावणकालीन राक्षसों में तो बहुत ज्यादा थी। उन्हें कामरूप कहा जाता था क्योंकि वे इच्छानुसार रूप धार सकते थे। एम्पौसे, मोर्मोलाइकाई और लैम्याई तो ऐसे ग्रीक दैत्य थे जो खूबसूरत औरतों का रूप रखकर नवयुवकों को बिस्तर तक ले जाते और फिर उनके खून और मांस का भक्षण करते थे। हर पौराणिकी में ऐसे दैत्य भरे पड़े हैं। लेकिन हनुमान का उदाहरण यह स्थापित करने को है कि राक्षसों को उन्हीं के खेल में मात देने से ही बात बनती है। याद करें सन् 2002 में रिलीज हुई फिल्म 'द मास्टर आफ डिस्गाइज़' को जहां एक हनुमान जैसे ही मधुर स्वभावी इटैलियन बैरे को, जिसके पास रूप बदलने की अतिप्राकृत शक्तियां हैं, एक अत्यन्त खतरनाक अपराधी, जिसका फिल्म में नाम जानबूझकर डेवलिन रखा गया है, से टक्कर लेनी पड़ती है। हनुमान भी मधुर स्वभावी हैं और भले के लिए भेषान्तर करते हैं। फिर वही छोटा रूप। लंका में स्टेटस और क्लास का जैसा जलवा है, उसमें छोटे पर कोई ध्यान ही नहीं देता। वह नजर में आता ही नहीं। इसलिए हनुमान को बार-बार छोटा रूप धरना ही सुहाता है। बूर्ज्वा और एलीट की तो वहां तुरत अधिमान्यता (instant recognition) है, लेकिन गरीबी की अदृश्यता (invisibility of poverty) है। इसलिए हनुमान लंका में स्टैंडिंग, पोजीशन, रैंक के चक्कर में पड़े बगैर सिर्फ 'छोटा आदमी' बन जाते हैं। डेविड कैनेडाइन ने अपने शोध का निष्कर्ष यह निकाला था कि : 'Class as hierarchy' was - and is - the most accurate description of the English social structuree (1998). मि. इंडिया फिल्म में विलेन का एक साथी पूछता है कि यदि तुम आम हिन्दुस्तानी हो तो दिखाई क्यों नहीं देते तो नायक का कहना है कि तुम लोगों की आंखों पर लोभ और लालच की पट्टी चढ़ी हुई है। इसीलिए हनुमान भी लंका में कामनप्लेस, अनरिमार्केबल, unexceptional और run-of-the mill होकर अपना काम चला लेते हैं। और इसीलिए 'सोई रूप' लेकर चल पड़ते हैं।

वहीं – ठीक उसी जगह पर जहां अशोक वन में सीता रहती हैं। विभीषण ने हनुमान को सीता का एकदम ठीक पता बताया है। अशोक वाटिका तो अपने आप में बहुत बड़ा भौगोलिक क्षेत्र है। वाल्मीकि सुन्दरकांड के चतुर्दश सर्ग में उसके बहुत विस्तृत विवरण में कहते हैं कि 'वहां साल, अशोक, नीम और चंपा के वृक्ष खूब खिले हुए थे। बहुवार, नागकेशर और बंदर के मुंह की भांति लाल फल देने वाले आम भी पुष्प एवं मजरियों से सुशोभित हो रहे थे। अमराइयों से युक्त वे सभी वृक्ष शत-शत लताओं से आवेष्टित थे। हनुमान जी प्रत्यंचा से छूटे हुए बाण के समान उछले और उन वृक्षों की वाटिका में जा पहुंचे। वह वित्रित्र वाटिका सोने और

चांदी के समान वर्ण वाले वृक्षों द्वारा सब ओर से घिरी हुई थी। उसमें नाना प्रकार के पक्षी कलरव कर रहे थे, जिससे वह सारी वाटिका गूंज रही थी। उसके भीतर प्रवेश करके बलवान् हनुमान जी ने उसका निरीक्षण किया। भाँति-भाँति के विहंगमों और मृगसमूहों से उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। वह विचित्र काननों से अलंकृत थी और नवोदित सूर्य के समान अरुण रंग की दिखाई देती थी। फूलों और फलों से लदे हुए नाना प्रकार के वृक्षों से व्याप्त हुई उस अशोकवाटिका का मतवाले कोकिल और भ्रमर सेवन करते थे। वह वाटिका ऐसी थी, जहां जाने से हर समय लोगों के मन में प्रसन्नता होती थी। मृग और पक्षी मदमत्त हो उठते थे। मतवाले मोरों का कलनाद वहां निरन्तर गूंजता रहता था और नाना प्रकार के पक्षी वहां निवास करते थे'। आदि आदि।

अब यह देखिए कि वे तुलसी जिन पर रामकथा के दैवीकरण (divinization) का आरोप लगा, उनके यहां तो विभीषण के कारण हनुमान को ठीक-ठीक पता लगा कि सीता अशोक वन में कहां रहती हैं। लेकिन वाल्मीकि, जिनके बारे में प्रचार किया गया कि उन्होंने तो पार्थिव और ऐतिहासिक रामकथा लिखी, के हनुमान तो 'प्रत्यंचा से छूटे हुए बाण के समान उछले और उन वृक्षों की वाटिका में जा पहुंचे। बिना किसी के बताए, बिना किसी के मीडिएशन के। सीधे प्रभु प्रेरणा से। वाल्मीकि के हनुमान तो एक ऊंचे अशोक वृक्ष पर चढ़कर सीता को ढूंढ़ते हुए वनभूमि पर दृष्टिपात करते हैं तो उन्हें एक चैत्यप्रासाद दिखाई पड़ता है और वहां सीता दीख पड़ती हैं जिसके बारे में हनुमान गणना करते हैं कि हो ना हो, यही सीता हैं। तुलसी के यहां तो विभीषण के कारण एकदम 'तहवाँ' और 'जहवाँ' की स्थिति आ जाती है। exact location. अचूक और सटीक on the mark. bang on. इतना 'precise' कि सीता के सर पर एक वेणी तक उन्हें दीख पड़ी। यह तुलसी के यहां विभीषण के कारण संभव होता है क्योंकि तुलसी के हनुमान एक तरह की साहचर्यात्मक शक्ति का भी इस्तेमाल करना जानते हैं। वाल्मीकि के हनुमान में इस बिंदु पर जो अंतःप्रेरणात्मक (intuitive) है, वही तुलसी के हनुमान में साम्बन्धिक है- लिंकिंग या नेटवर्किंग है। वह आज के हिसाब से ज्यादा स्वाभाविक लगता है। वाल्मीकि के हनुमान instintive हैं, तुलसी के हनुमान collaborational.

अशोकवाटिका में सीता को रखने के पीछे रावण का ग्रांड आइडिया क्या था? क्या वह यह सोचता था कि एक विवाहित स्त्री का अपहरण कर उसे मरणांतक शोक पहुंचाकर अशोक नामक वाटिका में अशोक नामक वृक्ष के नीचे रखने से वह उन्हें शोक विहीन कर सकेगा? कि जिसे संस्कृति के आस्थामूलों से उत्पाटित किया जा चुका है, उसे प्रकृति के वृक्षों से बहलाया जा सकेगा? अशोक वाटिका को विश्वकर्मा ने जरूर बनाया था, लेकिन पड़ तो वह एक अपकर्मा के हाथों में गयी थी, इस लिहाज से अशोक वाटिका की स्थिति भी अपहृता की ही थी। आज भी लंका में नुवार एलिया के पास सीता एलिया के नाम से जाना जाने वाला वानस्पतिक उद्यान है। वहां एक सीता पांकुना (सीता जलाशय) नामक जगह भी है। वहां एक सीता अम्मान मंदिर भी है। सीता कोटुआ नामक एक अन्य जगह है जहां सीता ठहरी थीं। यह कोई छोटी-मोटी वाटिका नहीं थी। इसे कभी वन, कभी बाग, कभी उपवन, कभी वाटिका कहा गया है। कभी इसे कहा गया 'वन अशोक सीता रह जहवाँ', कभी 'तहँ असोक उपवन जहँ रहई/सीता बैठि सोचरत अहई', कहा गया। कभी 'चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा' कहा गया और कभी 'नाथ एक आवा कपि भारी/तेहि असोक वाटिका उजारी' कहा गया। पता नहीं अशोक वाटिका वन थी या बगीचा। क्या उस समय भी फारेस्ट गार्डन हुआ करते थे? आज अमेरिका के जंगलों का 58% निजी स्वत्व में है। केलीफोर्निया में ही एक निजी वन मालिक के पास 60,000 एकड़ वन क्षेत्र है। रावण की यह वाटिका भी वन से कम नहीं है। वाल्मीकि बताते हैं कि 'फिर वहां कपिश्रेष्ठ हनुमान ने एक मेघ के समान काला और ऊंचे शिखरों वाला पर्वत देखा, जिसकी चोटियां बड़ी विचित्र थीं। उसके चारों ओर दूसरे-दूसरे भी बहुत से पर्वत-शिखर शोभा पाते थे। उसमें बहुत सी

पत्थर की गुफाएं थीं और उस पर्वत पर अनेकानेक वृक्ष उगे हुए थे। वह पर्वत संसार भर में बड़ा रमणीय था। कपिवर हनुमान ने उस पर्वत से गिरी हुई एक नदी देखी, जो प्रियतम के अंक से उछलकर गिरी हुई प्रियतमा के समान जान पड़ती थी ... इसके अलावा उन्होंने और भी बहुत से खुले मैदान, पहाड़ी झरने और अग्नि के समान दीप्तिमान सुवर्णमय वृक्ष देखे'। लेकिन यह सब कुछ प्राकृतिक ही नहीं था। वाल्मीकि बताते हैं कि 'वहां विचरते हुए उन वानरवीर ने पृथक-पृथक ऐसी मनोरम भूमियों का दर्शन किया, जिनमें मणि, चांदी एवं सोने जड़े गये थे। उस वाटिका में उन्होंने जहां तहां विभिन्न आकारों की बावड़ियां देखीं जो उत्तम जल से भरी हुई और मणिमय सोपानों से युक्त थीं। जल के नीचे के फर्श स्फटिक मणि की बनी हुई थी और उन बावड़ियों के तटों पर तरह-तरह के विचित्र सुवर्णमय वृक्ष शोभा दे रहे थे। उस अशोकवाटिका में विश्वकर्मा के बनाए हुए बड़े-बड़े महल और कृत्रिम कानन सब ओर से उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उनके सिवा उन्होंने एक कृत्रिम तालाब भी देखा, जो शीतल जल से भरा हुआ था। उसमें श्रेष्ठ मणियों की सीढ़ियां बनी थीं'। तो अशोक ईश्वरीय नैसर्गिकता और मानवीय निर्मिति दोनों का उदाहरण थी। उसमें जितनी प्राकृतिकता थी, उतनी ही कृत्रिमता भी। आज हमें वन बड़ा और वाटिका छोटी चीज लगती है किन्तु वाल्मीकि लिखते हैं कि उस वाटिका में विचित्र वन-उपवन शोभा दे रहे थे। उसका विस्तार बताते हुए वाल्मीकि लिखते हैं कि 'वह पुष्परूपी नक्षत्रों से युक्त दूसरे आकाश के समान सुशोभित होता था तथा पुष्पमय सैकड़ों रत्नों से विचित्र शोभा पाने वाले पांचवे सागर के समान जान पड़ता था: इसलिए अशोक वाटिका कोई छोटी जगह नही थीं। उसके बारे में वाल्मीकि का कहना है कि "वह अशोकवन देवोद्यान नंदन वन के समान आनंददायी, कुबेर के चैत्ररथ वन के समान विचित्र तथा उन दोनों से भी बढ़कर अचिन्त्य, दिव्य एवं रमणीय शोभा से सम्पन्न थी"। ऐसे विशाल वन में सीता का ठीक एड्रेस विभीषण ने हनुमान को दिया। वाल्मीकि बताते है कि एक हजार खंबों वाले एक गोलाकार ऊंचे मंदिर में, जिसमें मूंगे की सीढ़ियां तथा तपाए हुए सोने की वेदियां थीं, सीता एक चैत्यप्रासाद में दीख पड़ी थीं। तुलसी के हनुमान ठीक उसी जगह पहुंचते हैं, लेकिन तुलसी चैत्यप्रासाद या मंदिर का उल्लेख नहीं करते। लोकप्रिय अवधारणा यह है कि सीता अशोक के एक वृक्ष के नीचे रह रही थीं और हनुमान उसी वृक्ष पर चढ़ गए। वैसे तो रावण ने अन्य अपहृत कन्याओं को अपने महल के अन्तःपुर में रखा था, सिर्फ सीता को अशोकवाटिका में रखा गया। 'किस द गर्ल्स' फिल्म के विलेन की तरह उसका भी शायद एक तहखाना हो जो अपहृता लड़कियों से भरा पड़ा हो। बहरहाल सीता अशोक वन में थीं और जहां थीं, हनुमान ठेठ वहीं पहुंचे।

वहां जो हनुमान की इस यात्रा का लक्ष्य है। सीता की सुधि ही हनुमान का मन्तव्य है और उसे हासिल करने के लिये हनुमान अपने गंतव्य पर पहुंचे हैं। उनके पास कोई रोडमैप नहीं था, फिर भी वे अमोघ सिद्ध हुये। डायने सौथर ने कहा: Follow what you are genuinely passionate about and let that guide you to your destination. इसमें कोई शक नहीं कि अपने लक्ष्य के प्रति हनुमान गज़ब के पैशनेट व्यक्ति हैं। अंततः उन्हें यहां पहुंचना ही था। यह उनका destination ही नहीं था, उनकी destiny भी थी। इसलिये वे कहीं नहीं रुके और न कोई उन्हें रोक सका। उन्होंने बाधा-दौड़ सफलता से पूरी की। बागड़ लांघी, दीवारों के पार गये, कूदे। अशोक वाटिका उनके लिये एक जगह नहीं थी कि जिस स्टेशन पर उनकी बस रुकती हो - जहां पहुंचने के लिये रास्ते में सड़क किनारे के ढाबों में रुका जा सकता हो। उन्हें कोई साइन पोस्ट भी नहीं मिले। लेकिन उन्हें गंतव्य मिला क्योंकि वे रघुपति के अमोघ बाण थे। जब चले तो सब सरंजाम जुटता चला गया।

देखि मनहि महुँ कीन्ह प्रनामा।
बैठेहिं बीति जात निसि जामा।।
कृस तनु सीस जटा एक बेनी।
जपति हृदय रघुपति-गुन-श्रेनी।।
निज पद नयन दिए मन रामचरन महुँ लीन।
परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन।।

सीताजी को देखकर हनुमानजी ने उन्हें मन ही में प्रणाम किया। उन्हें बैठे ही बैठे रात्रि के चारों पहल बीत जाते हैं। शरीर दुबला हो गया है, सिर पर जटाओं की एक वेणी (लट) है। हृदय में श्री रघुनाथजी के गुण समूहों का जाप करती रहती हैं। श्री जानकीजी नेत्रों को अपने चरणों में लगाये हुये हैं (नीचे की ओर देख रही हैं) और मन श्रीरामजी के चरणकमलों में लीनहै। जानकीजी को दीन (दुखी) देखकर पवनपुत्र हनुमानजी बहुत ही दुखी हुये।

हनुमान ने सीता को मन ही मन में प्रणाम किया। सिर्फ इसलिए नहीं कि नीचे बहुत सी राक्षसियां थीं और उनका सीता साहस से सामना कर रही थीं, बल्कि इसलिए भी कि सीता को देखकर मन में प्रणति भाव पैदा होता ही है। राक्षसियों से घिरी सीता के पास भौतिक रूप से पहुंचना तो समय से पहले ही अपना भेद खोल देने जैसा था क्योंकि जैसा कि वाल्मीकि कहते हैं : "उसकी दृष्टि के समक्ष सदा राक्षसियों का समूह ही बैठा रहता था। जैसे कोई मृगी अपने यूथ से बिछुड़कर कुत्तों के झुंड से घिर गयी हो, वही दशा उसकी भी हो रही थी।" सीता को अकेला नहीं छोड़ा गया था। वे पहरे में थीं। दुहरे पहरे में। बाहर राक्षसगण भीतर राक्षसनियां। तो भौतिक रूप से सीता के पास पहुंचने में देर स्वाभाविक थी। लेकिन उन्हें देखते ही मन तो सबसे पहले ही प्रणाम कर बैठा। हमारे शास्त्रों में मानसिक नमन और मानसिक पूजा को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है। हमारे यहां शिवमानसपूजा में 'हृत्कल्पितं गृह्यताम्' कहा गया। यहां तक कि पूजा सामग्री को भी 'मनसा मया विरचितं भक्त्या प्रभो स्वीकुरू' कहा गया। यह भी कहा गया कि 'संकल्पेन समर्पितं'। 'मनसा परिकल्पया' के आधार पर पूजा का पूरा उपक्रम चलता है। शंकराचार्य ने भगवान कृष्ण की भी मानस पूजा पर स्त्रोत लिखा है। हनुमान भी सीता को मन ही मन में प्रणाम कर लेते हैं। बोलकर क्यों करते? शतपथ ब्राह्मण का कहना था : 'वाग् वै मनसो ह्सीयस्य परिमितिरमिव कि मनः परमिततरेव कि वाक्' कि वाणी मन से छोटी है। मन अपरिमित है, वाणी परिमित है। छांदोग्योपनिषद् (7/31) का भी यही कहना था : 'मनो वाव वाचो भूयः' मन ही वाणी से उत्कृष्ट है। मन ही मन प्रणाम करना उन हनुमान के लिए तो स्वाभाविक ही था जो इतने बड़े मनस्वी और मनीषी हैं।

हनुमान के लिए लाज़मी था कि वे उस (सीता) को मन ही मन प्रणाम करते जिसकी रात के पहर भी बैठे-बैठे ही व्यतीत होते हैं। सोते हुए नहीं। एक तरफ रावण है कि जो सो रहा है, दूसरी तरफ सीता हैं जो रात में भी जाग रही हैं। रावण के अत्याचारों के कारण ही जाग रही हैं। इधर उनकी रातों की नींद उड़ गई है, उधर वो ठप्पे से सो रहा है। 'स्लीपिंग ब्यूटी' के बारे में पश्चिमी परी-कथाएं भरी पड़ी हैं। लेकिन यहां सौंदर्य- दिव्य, पवित्र और निर्दोष सौंदर्य- जाग रहा है और दुष्ट अपने मद और विलासिता की नींद में सो रहा है। उसकी नींद कुंभकर्ण की तरह एक न्यूरोफिज़िओलॉजिकल बेबसी वाली नींद नहीं है, यह नींद तो प्रमाद, ऐश्वर्य, अहंकार और उपभोक्तावाद की नींद है जो दूसरों के सुख-चैन की कीमत पर भोगी गई है। लुई चतुर्दश, जिसके बारे में कहा जाता है कि यूरोप में भव्य निजी शयन-कक्ष का प्रचलन उसने शुरू किया, तो शयनकक्ष में ही दरबार लगाता था। बाइबल में कुछ दुष्टों के बारे में कहा गया था : "They do not sleep unless they do badness, and their sleep has been snatched away unless they cause someone to stumble." रावण ऐसा ही था। उसे दुष्टता किए बिना नींद नहीं आती थी। कुछ लोग दूसरों की मुसीबत पर ही अपने आराम की नींव रखते हैं। कदाचित् निशिचर रावण के लिए ही अजित कुमार की वे कविता-पंक्तियां फिट बैठती हैं : 'जाओ अनुचरो, निशि के अनुचरो/कहो-नहीं हैं। अप्रस्तुत हम/सज्जित हैं, रक्षित हैं, पालित हैं - सुप्ति के कवच में, यह राज्य हमारा है।'

दूसरी ओर सीता हैं। वे रातों को सो नहीं पातीं। बैठे- बैठे कटती है रात। आपदा का पहाड़ टूट पड़ा है उन पर। उनको नींद न आना किसी insomnia के कारण नहीं है, न ही वे ब्लैक कॉफी पीकर शौकिया जागने वालों में से हैं। किसी ने कहा था कि "Sleep is a symptom of caffeine deprivation." यहां सीता को नींद राम से वंचित होने के कारण नहीं आती। सीता का जगराता नहीं है यह। लेकिन यह रतजगा जरूर है। वैसा नहीं कि जैसा कोई शायर कहता है: 'जब तलक रतजगा नहीं चलता/इश्क क्या है पता नहीं चलता!' शिवरात्रि में भी और ऐसे ही कई अन्य महत्वपूर्ण अवसरों पर रात्रि-जागरण की परंपरा हमारे यहां है। जन्माष्टमी हो या हरतालिका। रब्बियों में शेवाउत की रात तोराह

पढ़ते हुए गुजारी जाती है। सामान्यतः रात का वक्त तो सोते हुए सपने देखने का है। सीता के तो सपने ही कहीं खो-से गए हैं। नींद राशन में भी नहीं मिलती। यादें हैं जिन्हें अपने समय का सबसे बड़ा किडनैपर रावण भी नहीं चुरा पाया है। वे यादें भी जगाए रखती हैं। कहां पर्णकुटी में पति के पास की नींद। सुकून की सांसें। कहां चैत्यप्रासाद का यह नकलीपन। आंसू सीता की आंखों से पत्तों की तरह झरते हैं। रात काटने की लम्बी यात्रा के ईंधन की तरह हैं ये आंसू। अनामिका की एक कविता है 'बेजगह'। उसमें वे एक संस्कृत श्लोक को उद्धृत करती हैं। कि 'अपनी जगह से गिरकर कहीं के नहीं रहते केश, औरतें और नाखून।' सीता भी पर्णकुटी में राम के नित्य-संग से हटकर इस राक्षसी दुनिया में आ गई हैं जहां वे खुद को पूर्णतः out of place पा रही हैं। राम ही सीता की 'जगह' हैं, उनका आस्पद। उनका आवास। लंका सीता का 'स्थान' नहीं है। अशोकवाटिका सीता का स्थान नहीं है। कोई चैत्यप्रासाद भी नहीं। सीता राम में स्थित हैं। वे भग्नस्वप्न हैं, इसलिए उनकी आंखों में नींद भी नहीं उतरती। जंगलों में, घाटियों में, पहाड़ों में जैसे गूंज सी जाती है राम के साथ-साथ संभव हुई उनकी हंसी और फिर वही लौटकर आ टकराती है इस चैत्यप्रासाद के खंभों की तरह खड़े अशोक के वृक्षों से। राम हों साथ तो अरण्य भी शरण्य हो जाता है। न हों तो वाटिका भी त्रासिका है। राक्षसों की दुनिया में राक्षसों से घिरा होना- और वह भी निविड़ रातों में। सीता के लिए उद्विग्नता, अपमान और आशंका का यह एक विकलतम और विकटतम दौर है। सीता का ये रातें बिताना वैसा नहीं है जैसे कि ट्रेवल एजेंसियां 5 रातों या 10 रातों के बिताने का पैकेज विज्ञापित करती हैं। न यह मुस्लिमों में प्रचलित 'माबित' जैसा है जिसका शाब्दिक अर्थ है किसी जगह रात बिताना लेकिन जो हज़ पर जाने वाले, खासकर ईद के दिन मक्का जाने वाले तीर्थयात्री पर लाज़मी है। सीता को एक-एक पल भारी पड़ रहा है और यह सब वास्तविक है। यह उस फ्रेंच कंपनी की तरह नहीं है जो आपसे आपकी किडनैपिंग अरेंज करने के लिए फ़ीस चार्ज करती है ताकि आप अपहरण किए जाने की थ्रिल महसूस कर सकें। यहां रात बिताना एक शब्दशः नाइटमेअर है। एक भीषण अनुभव। यह अनुभव उन अपहरण नैरेटिव्स से भिन्न है जो आंग्ल उपनिवेशवादियों को देसी लोगों द्वारा बंदी बना लेने पर लिखे गए। मसलन मेरी रौलेंड्सन ने 'अ नैरेटिव आफ द कैप्टिविटी एंड रेस्टोरेशन आफ मिसिज़ मेरी रोलैंड्सन' लिखा। कैप्टन जेम्स राइली ने 'एन आथेंटिक नैरेटिव ऑफ द लॉस द ब्रिग कामर्स' लिखा। कॉटन मेथर ने 'द कैप्टिविटी आफ हॉना डस्टन' लिखा। वहां तो हॉना डस्टन अपने 'इंडियन' अपहर्ताओं को उनके बच्चों सहित मारकर भाग जाती है। रामकथा लेकिन एक अपहरण नैरेटिव नहीं है। नहीं तो यह भी किसी थ्रिलर की तरह खत्म हो जाती। या हॉना डस्टन की तरह सीताजी की भी एक मूर्ति स्थापित कर दी जाती। या हद से हद कोई चलचित्र बन जाता। 'टेकन' जैसा जिसमें एक बाप अपनी अपहृता टीन-एज पुत्री को ढूंढ़ रहा है। रामकथा ने वृहत्तर सामाजिक संदर्भ और अर्थ हासिल किए। हां, लेकिन अपहृत होने का आतंक, त्रास और वेदना सीता को भी झेलनी पड़ी। दरअसल 'जनकसुता' को इस प्रसंग में याद करते समय और 'टेकन' के पिता के चरित्र को देखते हुए यह प्रश्न मुझे कौंधा कि राम ने सीतापहरण की सूचना न अयोध्या में दी, न मिथिला में। न अपनी मां को, न सीता के पिता को। राम के लिए क्या विवाह के बाद वह खुद उनका एक व्यक्तिगत उत्तरदायित्व बन गया था? या राम को जनक को खबर करने में अपने 'मैनहुड' की अवमानना लगती थी? शायद ऐसे प्रश्न राम के साथ अन्याय हैं। राम ने यदि खबर नहीं दी तो इसलिए कि वे पूर्वनिर्मित साम्राज्यों की शक्ति या सत्ता का उपयोग नहीं करना चाहते थे। जब वे नगर-राज्य से निकल आए तो अवधि-पूर्व पलट कर देखने तक की उनकी इच्छा नहीं थी। वे राज्यशक्ति से नहीं, जनशक्ति के बल पर अपहरण के उस उद्योग का प्रतिकार करना चाहते थे जो रावण ने फैला रखा था। जब उन्होंने वन जाने की प्रतिज्ञा ली तो

वो तन से ही नहीं, मन से भी ली थी। इसलिए ऐसा नहीं था कि शारीरिक रूप से वन में रहकर वे अपने राज्य के संसाधनों का इस्तेमाल करते रहते। उन्होंने भौतिक संसाधनों – मैन पावर आदि – को वन में ही ढूंढ़ा। वे आजकल के नक्सलवादियों की तरह नहीं थे जो अपने logistic support और financial aid के लिए बीजिंग और बैंकाक पर निर्भर रहते हैं या अपने प्रभाव-क्षेत्रों में extortion करते फिरते हैं। राम 'चाइनीज़ कनेक्शन' की तरह कोई 'अयोध्या' कनेक्शन या 'जनकपुर' कनेक्शन का इस्तेमाल नहीं करते। ससुराल से कोई भी मदद न लेने वाले राम के सामने आज के वे नवयुवक हैं जो ससुराल के सहारे ही फलते-फूलते हैं। राम के लिए जनक का इतना ही आभार अत्यन्त है कि उन्होंने अपने संस्कारों में सुपोषित यह देवोपम कन्या दी। लेकिन उसी निर्दोष कन्या को इस ट्रॉमा से गुजरना पड़ रहा है जिसकी कठोरता स्पष्ट है। सीता का यह अपहरण किसी तरह की 'टाइगर किडनैपिंग' नहीं है, जहां अपहृत व्यक्ति सिर्फ एक माध्यम होता है। यहां तो रावण स्वयं सीता पर लुब्ध है और यदि सीता उसकी मान लें तो वह सीता का स्टेटस अपहृत से बदलकर पट्टमहिषी कर दे। न मानो तो झेलो सदमे, झेलो तमाम किस्म के उत्पीड़न। और अलग-अलग प्रकार से आजमायी गयी संतापन की कोशिशें। लोगों के लिए होगी वह अशोक वाटिका लेकिन सीता के लिए उससे बड़ा यातनागार कोई नहीं है। रावण के 'किडनैप एथिक' को अल-साल्वाडोर के अपहर्ताओं की अलिखित संहिता से बदतर ही माना जाएगा क्योंकि वे लोग तो बच्चों और स्त्रियों का अपहरण नहीं करते। रावण के द्वारा किया गया अपहरण टाइगर किडनैपिंग भी नहीं है और अल साल्वाडोर के स्तर की भी नहीं है, वह तो शुद्ध भड़िहाई है। तुलसी ने अपहरण के वक्त इस शब्द का प्रयोग भी किया है। फ्लेचर ने अपहरण के बाद की जो टिपिकल कंडीशंस उसके शिकार की बताई हैं, उनमें से एक तो यंत्रणा है तो दूसरा मृत्यु का लगातार बने रहने वाला भय है, जो आतंक की क्रमशः बढ़ती हुई लहरों से और ज्यादा मनोव्यथाकारी हो जाता है।

मेरी क्रोली का कहना था : "Every evening I turn my worries over to God. He's going to be up all night anyway." सीता भी यही कर रही हैं : 'जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी।' यह उन्हें किसी किस्म के demoralization से बचाता है। ऐसे वक्त जब रावण के आतंकी प्रयासों से पैदा हुआ डर सीता के मन की सबसे भीतरी कंदराओं में पैठ चुका हो, राम का स्मरण ही एकमात्र स्थैर्य है। जीबेल्स, नोएलैंडर्स एवं वर्वेक (2005) ने अपहृत किए गए भूतपूर्व बंधकों से साक्षात्कार में पाया कि अपहरण के दौर में सबसे ज्यादा हावी भावना असहायता की होती है। और अकेले पड़ जाने की। रघुपति के गुण-समूहों के स्मरण के जरिए सीता असहायता और आइसोलेशन के उस उत्क्लेश को जीतने की यथासंभव कोशिश कर रही हैं। एक हृदयभंजक शूल को ही नहीं बल्कि रावण के राक्षसों के द्वारा दी जाने वाली प्रति-यंत्रणा को भी। सीता के मन पर लगातार घाव-दर-घाव किए जा रहे हैं। एक अनैश्चित्य की अंतर्ज्वाला उन्हें रात-रात मथती रहती है। ऐसे में राम का गुण-स्मरण ही उनके लिए भावनात्मक समर्थन का अंचल है। राम की छवियां, उनके साहचर्य के फ्लैशबैक ही सीता को इस दुःस्वप्न के बीच जिंदा रखे हुए हैं और किसी तरह के emotional exhaustion से उनकी रक्षा कर रहे हैं।

कृस तनु के बारे में बरवै रामायण में स्वयं सीताजी हनुमानजी से कहती हैं कि कनिष्ठ अँगुली की अंगूठी अब इतनी ढीली पड़ गई है कि कलाई के कंगन का काम दे रही है- 'अब जीवन कइ हे कपि आस न कोइ/ कनगुरिया कह मुँदरी कंगना होइ।।38।।' गीतावली में इसी प्रसंग में सीता की कृशता का वर्णन यों किया गया है : 'कृस सरीर सुभाय सोभित लगी उड़ि उड़ि धूलि/ मनहुँ मनसिज मोहिनी मनि गयो भोरे भूलि।' वाल्मीकि के द्वारा किया गया वर्णन तो और भी विशद है। पहले तो वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि सीता से खाया ही नहीं जाता : 'उपवासकृशां दीनां निःश्वसन्तीं पुनः पुनः/ददर्श

शुक्लपक्ष दौ चन्द्ररेखा मिवामलाम्' अर्थात् 'वह उपवास करने के कारण अत्यन्त दुर्बल और दीन दिखायी देती थी तथा बारंबार सिसक रही थी। शुक्ल पक्ष के आरंभ में चंद्रमा की कला जैसी निर्मल और कृश दिखायी देती है, वैसी ही वह भी दृष्टिगोचर होती थी। यह वैसा 'उपवास' नहीं था जैसा कि धार्मिक श्रद्धा में होता है। वाल्मीकि तो इसे स्पष्टतः 'अनशन' कहते हैं : 'अश्रुपूर्णमुखीं दीनां कृशामनशनेन च/शोकध्यानपरां दीनां नित्यं दुःखपरायणाम्' कि अनशन से दुर्बल हुई उस दुःखिया नारी के मुँह पर आंसुओं की धारा बह रही थी। वह शोक और चिन्ता में निमग्न हो दीनदशा में पड़ी हुई थी एवं निरन्तर दुख में ही डूबी रहती थी। इस बिन्दु पर वाल्मीकि ने उपमानों की झड़ी ही लगा दी है। सीता की हालत देखकर वे कहते हैं कि "वे संदिग्ध अर्थ वाली स्मृति, भूतल पर गिरी हुई ऋद्धि, टूटी हुई श्रद्धा, भग्न हुई आशा, विघ्नयुक्त सिद्धि, कलुषित वृद्धि और मिथ्या कलंक से भ्रष्ट हुई कीर्ति के समान जान पड़ती थीं।" इसके अलावा इस प्रसंग में वाल्मीकि ने उन्हें 'धुएँ के समूह से मिली हुई अग्निशिखा के समान' कहा है, 'काले बादलों से ढंकी हुई चन्द्रमा की प्रभा के समान' कहा है, 'मंगलग्रह से आक्रान्त रोहिणी के समान शोक से पीड़ित' कहा है। यह भी कहा है कि 'जैसे कोई मृगी अपने यूथ से बिछुड़कर कुत्तों से झुंड से घिर गई हो।' वाल्मीकि उन्हें 'हिम की मारी हुई कमलिनी के समान' भी कहते हैं। फिर एक बार पुनः वे उपमानों की बड़ी झड़ी लगाते हैं : "वे क्षीण हुई विशाल कीर्ति, तिरस्कृत हुई श्रद्धा, सर्वथा ह्रास को प्राप्त हुई बुद्धि, टूटी हुई आशा, नष्ट हुए भविष्य, उल्लंघित हुई राजाज्ञा, उत्पातकाल में दहकती हुई दिशा, नष्ट हुई देवपूजा, चंद्रग्रहण से मलिन हुई पूर्णमासी की रात, तुषारपात से जीर्ण-शीर्ण हुई कमलिनी जिसका शूरवीर सेनापति मारा गया हो, ऐसी सेना, अन्धकार से नष्ट हुई प्रथा, सूखी हुई सरिता, अपवित्र प्राणियों के स्पर्श से अशुद्ध हुई बेदी और बुझी हुई अग्निशिखा के समान प्रतीत होती थीं।"

अपनी जटाओं की ही एक वेणी करना एक तरह का तापस स्वरूप है। वाल्मीकि बताते हैं कि सीता एक वेणी धारण करती थीं, नीचे पृथ्वी पर सोती थीं, चिंता मग्न रहती थीं, मैले वस्त्र पहनती थीं और बिना अवसर के उपवास करती थीं : 'एक वेणी अधःशय्या ध्यानं मलिन मम्बरम्/अस्थानेऽप्युपवासश्च'। मां सीता बहुत दुबली हो गई हैं, हम पहले कह चुके हैं कि यह कोई जानबूझकर किया गया Weight loss नहीं है। यह शौकिया तौर पर दुबला होना नहीं है। दुबले होने के पीछे नकारात्मक ऊर्जा-संतुलन की स्थिति (State of negative energy balance) जिम्मेदार होती है। मां सीता के आसपास एक नकारात्मक ऊर्जा का राक्षसी परिवेश वैसे भी है तो उसकी कुछ शरीर-जैविकीय परिणतियां भी होंगी। मां सीता न तो ढंग से भोजन ग्रहण कर पा रही होंगी और न उन्हें कुछ रुच रहा होगा। राम के बिना जीवन ही रसहीन है। और जिसे स्वयं भगवान राम पति के रूप में मिले हों, उसे तो उनसे वियुक्ति का प्रत्येक पल कुम्हलाता चला जाएगा। मां सीता की पीड़ा-प्रक्रिया में अभी वह स्थिति नहीं आई है जहां दुःख का स्वीकार हो जाता है। अभी तो ये घनीभूत अवसाद के पल हैं जिन्होंने मां सीता से सब कुछ छुड़ा रखा है। कहां का खाना-पीना? भोजन से शरीर का पोषण नहीं होता। शरीर मन को किसी बड़ी हद तक प्रतिच्छायित करता है। जब सीता मां का मन ही नहीं है तो सामने भोजन होगा, आस्वाद न होगा।

मां सीता की इस छवि का वर्णन करते हुए तुलसी ने उन्हें दीन भी लिखा, कृशकाय भी लिखा, लेकिन उन्हें मैली (मलिन) नहीं लिखा। वाल्मीकि इतनी बार उन्हें मलिन लिखते हैं कि बार-बार इसी बात पर ध्यान जाता है। सुंदरकांड के सोलहवें सर्ग के श्लोक 18 में वे 'मलिन वस्त्र धारण किए' कहते हैं, 21 में पुनः 'मलिन और अलंकार शून्य' लिखते हैं। 37 में कहते हैं : 'उनके शरीर पर मैल जम गई थी।' 26 में कहते हैं : 'अत्यन्त मलिन और क्षीणकाय अबला'। 39 में कहते हैं : स्नान-अनुलेपन आदि अंग संस्कार से रहित।' सत्रहवें सर्ग में कहते हैं : 'इनके केशों में मैल जम गई

थी' (20)। 25वें श्लोक में कहते हैं : 'उनके सारे अंगों में मैल जम गई थी। वे कीचड़ से लिपटी हुई कमलनाल की भांति शोभा और अशोभा दोनों से युक्त हो रही थीं।' अगले ही श्लोक में उन्हें 'मैले और पुराने वस्त्रों से ढंकी हुई' कहा गया। 19वें सर्ग में छठवें श्लोक में फिर कहा गया है : 'उनके अंगों में अंगराज की जगह मैल जमी हुई थी।' फिर 14वें श्लोक में उन्हें 'चंदग्रहण से मलिन हुई पूर्णमासी की रात' और 'अपवित्र प्राणियों के स्पर्श से अशुद्ध हुई वेदी' की उपमा दी गई। अगले श्लोक में उन्हें 'मलिन हुई पुष्कर्णी के समान श्रीहीन' कहा गया। 20वें सर्ग में 'मैले वस्त्र पहनने' (श्लोक 8) का उल्लेख फिर आता है। 11वें भी 'मलिन वेष' का उल्लेख है। 30वें श्लोक में उनके रेशमी पीताम्बर के मैले हो जाने का जिक्र है। तुलसी 'मलिनता' की जगह 'लीनता' पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। सीता तो तुलसी को पवित्रता की साक्षात् प्रतिमूर्ति लगती हैं। सीता के संबंध में अशुचिता और अस्वच्छता की कोई भी कल्पना उन्हें सहन ही नहीं हो सकती है। पांशुलता या मलिष्ठता के बारे में वाल्मीकि ज्यादा यथार्थवादी लगते हैं और वे इन सब चीजों के जरिये सीता के स्पष्ट प्रतिरोध को भी बताते हैं। पूर्व में हम वाल्मीकि के द्वारा प्रयुक्त किये गये अनशन शब्द की ओर ध्यान खींच चुके हैं। अब यह भी लगता है कि सीता ने स्नान, अनुलेपन, वस्त्र आदि के सिलसिले में भी रावण के 'ऑफर्स' के विरुद्ध मोर्चा लिया होगा। बहुत सी चीजों की मुमानियत की होगी। इसलिए वह मैल सीता के प्रातिकूल्य का प्रतीक है। सीता के लोम में मैल जमने का जो वर्णन है वह सीता की प्रतिलोमता का परिचायक है, वह सीता का 'काउन्टर' है। सीता का असहयोग आंदोलन। तुलसी तक आते-आते सीता को इतना 'सेक्रेड' स्टेटस मिल चुका था कि तुलसी सीता के रेसिस्टेंस के इस बहुत काव्यात्मक क्षण का उपयोग करने के लिए भी खुद को तैयार न कर सके। पाकीज़गी की प्रतिमा के संदर्भ में किसी तरह के मालिन्य का उल्लेख तुलसी जैसे भक्त कवि को कहां स्वीकार होता?

सीता के भीतर प्रतिरोध तो जीवित था, लेकिन जीने की इच्छा में फर्क आ गया था। न नहाने का मन होता था, न कपड़ों में कोई रुचि रह गई थी, न बाल गूंथने की प्रेरणा होती थी, न किसी अंगराग का प्रयोग करने का। सीता के भीतर जैसे एक वितृष्णा-सी पैदा हो गई थी। उदासीनता। तब बस एक राम। उनका रूप-स्मरण, उनका नाम-स्मरण ही सीता में एक 'ड्राइव' पैदा करता था। बस वही सीता के भीतर एक स्वतंत्र रचनात्मक इनर्जी संचरित करता था। अन्यथा तो सीता के अपने दैनंदिन कार्यों में भी एक विरसता ग्रहण मार गई थी। एक तरह की रक्षणात्मक असंवेद्यता (Insensibility) जो सीता का प्रतिवाद भी था और सीता की ढाल और कवच भी। सीता ने बालों की वेणियां बनाना भी छोड़ दिया था। वाल्मीकि बताते हैं कि : "बिना प्रयत्न के ही बंधी हुई एक ही लम्बी वेणी से सीता की वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसे वर्षा ऋतु बीत जाने पर सुदूर तक फैली हुई हरी भरी वन श्रेणी से पृथ्वी सुशोभित होती है।" (19वां सर्ग, 19वां श्लोक : सुंदरकांड)। वे इसके पहले भी सुंदरकांड के 16वें सर्ग के 25वें श्लोक में एक वेणी का उल्लेख कर चुके थे : "काली नागिन के समान कटि से नीचे तक लटकी हुई एकमात्र काली वेणी के द्वारा उपलक्षित होने वाली वह नारी बादलों के हट जाने पर नीली वन श्रेणी से घिरी हुई पृथ्वी के समान प्रतीत होती थी।" तुलसी को इस 'जटा एक वेणी' के माध्यम से सीता की विरक्ति और विप्रलंभ दोनों को बताने का अवसर मिला है। राम के साथ न होने से सीता का जी उचाट सा हो गया है। वेणी न बांधना सीता की अपने आसपास से हुई विरति का ही सूचक है। कभी राम सीता की वेणी के लिये अरण्य से फूल चुनकर लाते थे। सीता अनुरक्ति के क्षणों में भी नैसर्गिक श्रृंगार ही करती थीं। वे किन्हीं हेअर केअर प्रोडक्ट्स का इस्तेमाल तब भी नहीं करती थीं, अब क्या करेंगी? आज हम सुनते हैं कि अकेले संयुक्त राज्य अमेरिका ने 1995 में 45 बिलियन अमेरिकी डॉलर हेयर प्रोडक्ट्स पर खर्च किए। सीता न शेम्पू कर रही हैं, न कंडीशनर का इस्तेमाल कर रही हैं। न हेयर कलर्स का। मार्टिन लूथर किंग

(1483-1546) केशों को स्त्रियों का समृद्धतम आभूषण कहते थे। लेकिन सीता को किसी आभूषण से मतलब नहीं, उससे से भी नहीं जो स्त्री का स्वाभाविक आभूषण है। यानि केश राशि। वे न ब्लोड्रायर का उपयोग करती हैं न हेयर ब्रश का, न बटरफ्लाइ क्लिप्स का। रावण बार-बार सीता के जिन केशों की वाल्मीकि रामायण में तारीफ करता है, स्वयं सीता को उन केशों का भी ख्याल नहीं आता।

उन्हें रात दिन जो ख्याल है, वह राम का है। वाल्मीकि लिखते हैं कि "श्रीरामचंद्रजी की सेवा में रुकावट पड़ जाने से उनके मन में बड़ी व्यथा हो रही थी।" (श्लोक 35, सर्ग 15, सुंदरकांड)। यह भी कि "इन देवी का मन श्रीराम में और श्रीराम का मन इनमें लगा हुआ है, इसलिए ये तथा धर्मात्मा श्रीराम जीवित हैं।" (सर्ग 15, श्लोक 52)। यह भी कि "ये धर्मशील मिथिला नरेश महात्मा राजा जनक की पुत्री सीता पतिवत धर्म में बहुत दृढ़ हैं।" (सर्ग 16, श्लोक 15)। आगे, "सर्वथा एकाग्रचित्त हो मन की आंखों से केवल और श्रीराम का ही निरंतर दर्शन (ध्यान) करती हैं। इसमें संदेह नहीं है।" (श्लोक 25)। 17वें सर्ग के 27वें श्लोक में वाल्मीकि यही बताते हैं कि "यद्यपि सीता के मुख पर दीनता छा रही थी तथापि अपने पति के तेज का स्मरण हो आने से उनके हृदय से वह दैन्य दूर हो जाता था।" 19वें सर्ग के 7वें श्लोक में कहा गया कि 'संकल्पों के घोड़ों से जुते हुये मनोमय रथ पर चढ़कर आत्मज्ञानी राजसिंह भगवान श्रीराम के पास जाती हुई-सी प्रतीत होती थीं। अगले श्लोक में कहा गया : "वे श्रीरामचंद्रजी के ध्यान एवं उनके वियोग के शोक में डूबी रहती थीं। इसी के आगे कि जैसे नागराज की वधू (नागिन) मणि-मन्त्रादि से अभिभूत हो छटपटाने लगती है, उसी तरह सीता भी पति के वियोग में तड़प रही थीं तथा धूम्र के समान वर्ण वाले केतुग्रह से त्रस्त हुई रोहिणी के समान संतप्त हो रही थीं।'

इस एक माध्यम राम-गुण-स्मरण के सहारे से सीता अपने दिन-रात काटती हैं। हृदय में रघुपति के गुणों का जाप करते हुए। 'सोई रसना जो हरि गुन गावै' लेकिन यहां तो रसना नहीं, हृदय से राम के गुण का स्मरण हो रहा है। रघुपति के कोई एक गुण नहीं हैं और यदि अनेक गुण भी हैं तो वे विश्रृंखल नहीं हैं, श्रेणीबद्ध हैं। कई लोगों के पास बहुत से गुण होते हैं, लेकिन करीने से नहीं। प्रायः लोगों के पास एक तरह का द्वैतात्मक मन (dualistic mind) होता है। यदि वे अच्छे हुए तो सद्गुण ज्यादा होते हैं, लेकिन कुछ आत्मनाशी प्रवृत्तियां भी होती हैं। कुछ भय, शर्म, अपराध-बोध, घाव, वर्जनाएं लगातार अच्छे लोगों को भी विश्रृंखलित किए रहते हैं। राम एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनके गुणों में एक तरह की अन्तर्सम्बद्धता है। इसी कारण उनमें इंटीग्रिटी है। इंटीग्रिटी का एक अर्थ है अखंडता और एक अर्थ है चरित्रगत निष्ठा। राम में गुणों की यह इंटरकनेक्टेडनेस है। उनके भीतर वह बिखराव नहीं है। वे उन सद्गुणियों में से नहीं हैं जो साथ- साथ एक आंतरिक ध्वंस को भी झेलते रहते हैं। राम के पास गुणों का एक गेस्टाल्ट है। हम जब एक दुहरी जिन्दगी जीते हैं तो भीतर से आधे हो जाते हैं, कट जाते हैं। राम के पास गुणों की संपूर्णता है। इंटीग्रिटी शब्द लैटिन के जिस 'इंटीगर' शब्द से बना है, उसका अर्थ ही है : पूर्ण, समग्र, समस्त। राम के भीतर वे नैतिक अंतर्विरोध नहीं हैं। उनके गुणों में एक क्रमबद्धता है। 'गुण-श्रेणी' के शब्द-प्रयोग से तुलसी राम की उस भीतरी संगति और हार्मनी की याद दिलाते हैं जो सीता को उस समय याद आती है जब रावण के अत्याचारों से वे अंदर तक आंदोलित होने (discomposure) की हालत को झेल रही हैं। बाद में तो उस अत्याचार से वे तरह के derangement की स्थिति में तो पहुंच ही जाती हैं और आत्मघात की तैयारी करने लगती हैं। इसलिए गुण-श्रेणी राम का स्मरण सीता के आस्तित्विक संघर्ष का अकेला हथियार है। बंदी की स्थिति में रहते हुए सीता एक discombobulation की स्थिति में हैं ही। वहां उनके आंतरिक विघटन और क्षय के विरुद्ध राम के गुण-समूहों का स्मरण ही एकमात्र ऐसी चीज है जो उन्हें पुनर्गठित करती है, उन्हें जीवन की किसी लय में लौटाती है। राम के गुण-समूहों के स्मरण की हवा

ही सीता के प्राणरूपी दिए को जिन्दा रखे हुए है। हवा दिए को जिन्दा रखे हुए है-यह वैपरीत्य भी रामकृपा से ही संभव होता है। राम की स्मृति तो मरूस्थल में खुशबू की बौछार कर दे, यह तो फिर भी अशोकवाटिका ही है। यह बात अलग है कि एक- एक शाख सीता को वहां तलवार-सी लगती है। वो साहिर की पंक्तियां हैं न : 'जीने को जिए जाते हैं मगर सांसों में चिताएं जलती हैं'; या जोश मलीहाबादी के शब्दों में 'खुद अपनी जिन्दगी से वहशत सी हो गई है।' सीता की जिन्दगी का तिमिर। लेकिन तिमिर में आंखें देखने लगती हैं। राम की एक गहरी चेतना (awareness) उभर आती है। राम थे तो एक बारगी, लीला के लिए ही सही, स्वर्णमारीच देख लिया। राम नहीं हैं तो सिर्फ राम ही हैं। प्यार को भी अपनी गहराइयां तभी पता लगती हैं जब बिछुड़ जाएं। जैसे रात से सूर्य छीन लिया जाए, जैसे दिन से सितारे छीन लिए जाएं, वैसे ही सीता राम से विच्छिन्न हो चुकी हैं। लेकिन दिल में तो वे ही बसे हैं। कितने ही अक्षांशों और देशांशों की भौतिक दूरियों के बावजूद हृदय में तो उनकी उपस्थिति तत्काल है।

सीता मन ही मन राम का नाम ले रही हैं, यह हनुमान को तब तक पता नहीं चल सकता था जब तक कि हनुमान माइंड रीडिंग में कुशल न हों। यह हनुमान की एक अतिरिक्त योग्यता थी। यह किसी तकनीकी तरीके से न्यूरोइमेजिंग करना या जो आजकल 'थॉट आइडेंटिफिकेशन' कहलाता है वह करना नहीं था। बिना किसी यंत्र का सहारा लिए हनुमान ब्रेन स्केनिंग कर लेते हैं। 1971 में राबर्ट सिल्बरवर्ग की एक कहानी 'टॉवर आफ ग्लॉस' आई थी जिसमें एक 'शंट रूम' की टेक्नोलाजी थी जिसमें 'शंट हेलमेट' पहने लोग एक दूसरे के दिमाग को पढ़ सकते थे। विचारों को, अनुभूतियों को और स्मृतियों को। एलेस्टेयर रेनॉल्ड्स ने अपनी कहानियों की श्रृंखला में 'कोज्वाइनर्स' नामक पात्रों की सृष्टि की जिनके पास Transenlightenment की प्रौद्योगिकीय शक्ति है जिसके सहारे वे एक दूसरे कोज्वाइनर्स का मन पढ़ सकते हैं। मार्वेल कॉमिक्स का सुपर हीरो प्रोफेसर एक्स तो मनुष्य के मन को पढ़ ही नहीं सकता बल्कि उसे नियंत्रित और प्रभावित भी कर सकता है। ब्रिटिश टेलीविजन सीरियल 'द टुमारो पीपुल' के पीटर जैसे पात्र भी दूसरों का मन पढ़ लेते हैं। हनुमान तो अमेरिकन साइ-फाइ सीरीज 'नाइट मैन' के नायक से कहीं ज्यादा हैं। नाइटमैन तो सिर्फ ईविल को टेलीपैथिकली जान सकता है, हनुमान तो सीता को भी पढ़ लेते हैं। भारतीय शास्त्रों में यह ध्यान और योग से उपलब्ध होने वाली विशेष क्षमता है। पाली में लिखित बौद्ध शास्त्रों में इसे 'अभीन्न' कहा गया है जो एक तरह का सुपरनार्मल ज्ञान है। इसे 'चित्त-परिय-ज्ञान' की संज्ञा भी इन शास्त्रों में दी गई है। भागवतपुराण और पतंजलि ने योग की सिद्धियों में इस शक्ति का वर्णन किया है। भागवतपुराण इसे 'परचित्तादि अभिज्ञान' कहता है। अन्य योग-ग्रंथ इसे परचितविज्ञान भी कहते हैं। हनुमान इसी शक्ति से सम्पन्न लगते हैं जब वे यह आब्जर्व करते हैं कि सीता हृदय में रघुपति के गुण-वृन्द का चिंतन कर रही हैं और उनका मन राम के पदकमलों में लीन है।

जो लोग भारतीय संस्कृति से परिचित नहीं हैं, उन्हें 'निजपद नयन दिए मन राम पदकमल लीन्ह' जैसी पंक्तियां या 'देखिहहुँ जाहि चरन-जल जाता/अरून मृदुल सेवत सुखदाता/जे पद परसि तरहिं रिखि नारी/जे पद जनकसुता उर लाए/जिन पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाई'-जैसी पंक्तियां एक तरह की पद-रति (podophilia) या चरण-व्यामोह (food fetishism) लगे। या कम से कम वह लगे जिसे अमेरिकन साइकियाट्रिक एसोसियेशन ने पक्षवाद (partialism) की बीमारी कहा था जिसमें शरीर के एक खास अंग के प्रति विशेष रति पैदा हो जाती है। थाईलैंड और कंपूचिया में तो पैरों को शरीर का अपवित्र और अपेक्षाकृत हेय हिस्सा माना जाता रहा है। पियरे लियन और पीटर सेफ्रेट ने 'द फुट ऑफ गॉड : अ डिस्रिस्पेक्टफुल रीडिंग ऑफ द बाइबल' में तो यहां तक कहा कि हम ईश्वर के हाथ के बारे में तो बहुत कुछ सुनते हैं, ईश्वर के पैर के बारे में उतना नहीं। ईश्वर अट्टिला की तरह है

: 'जहां पांव धरता है, कभी उसके नीचे घास नहीं उगती।' इसके विपरीत भारतीय संस्कृति में बड़ों के पैर छूना श्रद्धा और सम्मान प्रकट करना है। भगवान के पदकमल का तो माहात्म्य ही अलग है। तुलसीदास उत्तरकांड के शुरूआती दूसरे श्लोक में कहते हैं कि "कोसलेन्द्र पद कंज-मंजुलौ कोमलावजम-हेशवन्दितो/ जानकीकर-सरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृंगसंगिनौ।" अर्थात कोसलपुरी के स्वामी राम के सुन्दर और कोमल दोनों चरणकमल ब्रह्मा व शिव के द्वारा वन्दित हैं, जानकी के करकमलों से दुलराये हुए हैं और चिंतन करने वाले के मनरूपी भौंरे के नित्य संगी हैं। पैर छूना तो क्या पैरों के सामने साष्टांग दंडवत होना हमारी संस्कृति में आम है। फिर राम के पैर जिन्होंने अहिल्या का उद्धार किया, क्या वे अपनी ही पत्नी का उद्धार नहीं करेंगे। उनके पैर लंका की धरती पर पड़ने तो दो।

ईश्वर के पदचिन्हों पर मार्गरेट फिशबैक की एक बहुत प्यारी सी कविता 'फुटप्रिंट्स' के नाम से है। उसमें वे लिखती हैं कि एक रात उन्होंने सपना देखा कि वे अपने प्रभु के साथ समुद्र तट पर चल रही हैं। अंधेरे आकाश के आरपार सहसा उसके जीवन के दृश्य प्रकाशित होने लगे। हर दृश्य पर उन्होंने देखा कि रेत पर दो प्रकार के पदचिन्ह हैं। एक उनके और एक उनके प्रभु के। लेकिन जब आखिरी दृश्य उनके सामने आया तो उन्होंने देखा कि एक ही प्रकार के पदचिन्ह हैं। उन्हें यह भी महसूस हुआ कि यह उनके जीवन के सबसे निराश और दुःखी दौर का दृश्य था। यह उन्हें हमेशा परेशान करता रहा और उन्होंने भगवान से ही पूछा कि "हे ईश्वर, तुमने मुझे वादा किया था, जब मैंने तुम्हारे पीछे चलने का तय किया, कि तुम सारी राह मेरे साथ चलोगे लेकिन मैं देखती हूं कि मेरे जीवन के सबसे संकटग्रस्त समय में सिर्फ एक ही प्रकार के चरण चिन्ह रह गये। मुझे समझ नहीं आता कि जब मुझे तुम्हारी सबसे ज्यादा जरूरत थी तुमने मुझे क्यों छोड़ दिया।" प्रभु ने कहा : "मैं तुम्हें प्यार करता हूं और तुम्हारी मुसीबतों और इम्तहानों की घड़ी में तुम्हें कभी नहीं छोड़ूंगा। जब तुमने सिर्फ एक ही प्रकार के पदचिन्ह देखे तो यह वह समय था जब मैं तुम्हें गोद में उठाकर चल रहा था।"

सीता के लिए भी यह मुसीबतों का वक्त है, उनका सबसे संकटग्रस्त समय। उस समय भी राम उनके साथ हैं। उनका मन राम के पदकमलों में लीन हो गया है। वे तीन बजने पर जीसस के तरह यह नहीं कह रहीं : "Eloi, Eloi, lema sabachtani?" मेरे प्रभु, मेरे प्रभु तूने मुझे क्यों छोड़ दिया?" (मार्क 15:34, मैथ्यू 27:46) वे तो राम में डूब गई हैं। उनकी आंखें अपने पैरों को देख रही हैं, उनका मन राम के पैरों को। ये वे ही पैर हैं जिनको ध्यान में रखकर राम ने कहा था: "वन के मार्ग लताओं और कांटों से भरे रहते हैं। उन मार्गों पर चलने में बड़ा कष्ट होता है।" (श्लोक 10, सर्ग 28, अयोध्या कांड)। वही पैर जिन्हें ध्यान में रखकर राम ने कहा था : "कुस कंटक मग कांकर नाना/चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना/चरण कमल मृदु मंजु तुम्हारे/मारग अगम भूमिधर भारे।" वाल्मीकि रामायण में तीसवें सर्ग (अयोध्याकांड) में सीता ने 12वें श्लोक में यही कहा था : "रास्ते में जो कुश-कास, सरकंडे, सींक और कांटेदार वृक्ष मिलेंगे उनका स्पर्श मुझे आपके साथ रहने से रुई और मृगचर्म के समान सुखद प्रतीत होगा।" उन्हें अपने पैरों की सुकुमारता से कहीं ज्यादा राम के उसी साहचर्य का भरोसा था जो इस अपहरण से छिन गया है। सीता को अपने पैरों से ज्यादा राम के पदकमलों पर विश्वास था। वन साथ ले चलने का आग्रह करते समय उन्होंने कैसे रुआंसे स्वर में कहा था : 'मोहि मग चलत न होइहि हारी/छिनु छिनु चरन सरोज निहारी': कि "क्षण-क्षण में आपके चरण कमलों को देखते रहने से मुझे मार्ग चलने में थकावट न होगी।" कैसे उन्होंने कहा था: 'पाय पखारि बैठि तरू छाहीं/ करिहहुं बाउ मुदित मन माहीं।' कि आपके पैर धोकर पेड़ों की छाया में बैठकर मन में प्रसन्न होकर हवा करूंगी। कि 'सम महि तृन तरू पल्लव डासी/पाय पलोटहि सम निसि दासीः' कि "समतल भूमि पर घास और पेड़ों के पत्ते बिछाकर यह दासी रात भर आपके

चरण दबावेगी।" वे 'शरद के चांद-से उजले धुले-से पांव मेरी गोद में/(वह) लहर पर नाचते ताजे कमल की छांव मेरी गोद में' सीता को वे पांव याद आते ही होंगे। अपने पैरों से राम के पैरों की याद। 'जाउं कहां तजि चरन तुम्हारे'। राम साथ थे तो सीता के पांव जमीं पर नहीं पड़ते थे। लेकिन अब तो वे ही चरण मन में बसे हैं जो सीता के ही आग्रह और इच्छा पूरी करने के लिये मृग के पीछे दौड़े थे : 'सो छवि सीता राखि उर रटति रटति हरि नाम'। (29(ख), अरण्यकांड)। धर्मवीर भारती की कविता 'तुम्हारे चरण' का अंतिम छंद याद करें : 'ये बड़े सुकुमार, इनसे प्यार क्या/ये महज आराधना के वास्ते/जिस तरह भटकी सुबह को रास्ते/हरदम बताए हैं रूपहरे शुक्र के नभ-फूल ने/ये चरण मुझको न दें अपनी दिशाएं भूलने/ये खंडहरों में सिसकते, स्वर्ग के दो गान, मेरी गोद में। रश्मि-पंखों पर अभी उतरे हुये वरदान, मेरी गोद में।' ये पंक्तियां सीता द्वारा राम के पदकमल स्मरण पर पूरी तरह लागू होती हैं, सिवाय इस कड़वे यथार्थ के कि अब वे चरण गोद में नहीं हैं, ध्यान में हैं। सीता के लिये राम के चरण प्यार से ज्यादा आराधना के लिये हैं। भगवान के चरणकमलों का ध्यान करने से कौन सी मुसीबत हल नहीं हो जाती : 'चरण कमल बंदौ हरि राई/जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, आंधर कौं सब कुछ दर्शाई।' सीता को लगता है कि राम के चरण कमल आज दुर्दान्त और भीषण नज़र आने वाली उनकी जिंदगी को पार लगा देंगे। सीता का यह विश्वास इतना दृढ़ है और वे इस विश्वास में इतनी दृढ़ हैं कि लगता है, उसी में वे निमज्जित हो गई हैं : 'दृढ़ इन चरण-कैरो भरोसो, दृढ़ इन चरणन कैरो/श्री वल्लभ नख चंद्र छटा बिन, सब जग मांही अंधेरो।' (सूरदास)। सीता की राम के चरणों में अडिग आस्था है। वे भी संभवतः सूरदास की ही तरह यह बोलती होंगी : 'भजु मन चरन संकट-हरन/सनक संकर ध्यान लावत सहज असरन सरन/पद-पराग-प्रताप दुर्लभ रमा के हित-करन/परसि गंगा भई पावन, तिहूं पुर-उद्धरन/सूर प्रभु चरनारबिंद तें नसै जन्म अरू मरन।'

आरोप यह है कि इस तरह की पति-भक्ति से जिसमें पति के पांव दबाना और स्त्री को दासी बनाना निहित था, तुलसी ने एक अत्यंत प्रतिगामी सामाजिक जलवायु का निर्माण किया। लेकिन ध्यान दें कि वाल्मीकि ने तो इससे कुछ ज्यादा ही कहा था : "ऊंचे-ऊंचे महलों में रहना, विमानों पर चढ़कर घूमना अथवा अणिमा आदि सिद्धियों के द्वारा आकाश में विचरना-इन सबकी अपेक्षा स्त्री के लिए सभी अवस्थाओं में पति के चरणों की छाया में रहना विशेष महत्व रखता है।" इसमें आपको आश्चर्य होता है कि मल्टी स्टोरीज और प्लेनों के उस दौर में भी वाल्मीकि की सीता बातें वहीं पुरातनपंथी कह रही थीं। 'चरणों की छाया' लेकिन क्या इस वाक्य से यह पता लगता है कि सीता राम की एकदम ऐसी आज्ञानुवर्ती थीं कि जिनका कोई विवेक नहीं था? जिनको भी 'चरणों की छाया' से थोड़ा भरम होता हो वे कृपया वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकांड के 27, 28 एवं 29वें सर्गों को पढ़ लेने का कष्ट करें। राम सीता को अपने साथ वन नहीं ले जाना चाहते। उन्हें वन के तमाम आशंकित खतरों और कष्टों से सविस्तार आगाह भी करते हैं। लेकिन सीता के तर्कों की प्रखरता अकाट्य है। वह राम को जो तीखा बोलती हैं, उसमें से काफी कुछ तो हम पहले बता चुके हैं। बाकी यहां देखें : "नरेश्वर! आपने जो कुछ कहा है वह अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता वीर राजकुमारों के योग्य नहीं है। वह अपयश का टीका लगाने वाला होने के कारण सुनने के योग्य भी नहीं है। आप मुझे ओछी समझकर यह क्या कह रहे हैं? आपकी ये बातें सुनकर मुझे बहुत हंसी आती है।" वाल्मीकि की सीता राम की बातों को हास्यास्पद और ओछे लोगों के योग्य बता रही हैं। वे उनकी वीरता पर प्रश्नचिन्ह कर रही हैं। वे उसकी श्रवणीयता पर प्रश्नचिन्ह लगा रही हैं। परिणाम क्या होता है। राम को अपना निश्चय बदलना पड़ता है। वह कहते हैं कि "सीते! 'मैं आपके साथ वन में निवास करूंगी'- ऐसा कहकर तुमने मेरे साथ चलने का दृढ़ निश्चय कर लिया है, इसलिये तुम्हें दंडकारण्य ले चलने के संबंध में जो मेरा पहला

विचार था वह अब बदल गया है।" इसके बाद राम जो कहते हैं उसे सुनकर सीता मन ही मन मुस्करायी जरूर होंगी, लगभग हर उस भारतीय पत्नी की तरह जो घर तो स्वयं चलाती है, लेकिन पति का यह भरम भी बनाये रखती है कि जनाबे-आली पति परमेश्वर ही 'कमांड' में हैं। राम कहते हैं : "मद भरे नेत्रों वाली सुंदरी! अब मैं तुम्हें वन में चलने के लिए आज्ञा देता हूं। (आज्ञा शब्द पर गौर फरमाएं)। भीरू! तुम मेरी अनुगामिनी बनो और मेरे साथ रहकर धर्म का आचरण करो।" इसलिए कभी सीता ने 'चरणों की छाया' में रहने का कह दिया, तो उसे बहुत लिटरली नहीं ले लेना चाहिये। सीता जानती हैं कि वे क्या चाहती हैं और उसके लिये अपने पति को तैयार कर लेने का बौद्धिक कौशल उनमें है। यही स्थिति तुलसी के अयोध्याकांड में है। वहां भी सीता राम के मत से स्पष्ट असहमति दर्ज करती है, जिसे वह 'अविनय' कहती भी हैं : 'छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरि'। वे स्पष्टतः राम के वचनों को 'कठोर' भी कह देती हैं 'ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदय बिलगान।' दोनों ही कवियों ने राम, कौशल्या आदि को सीता के चयन-स्वातंत्र्य का मान रखते हुए दिखाया है। ऋग्वेद के एक श्लोक में पत्नी को यह कहा गया कि वह सभा को कमांडर की तरह सम्बोधित करे। सीता ऋग्वैदिक आत्मविश्वास रखती हैं। अतः उन जैसी स्वाभिमानी स्त्री का यह अवमूल्यन करना उचित नहीं कि उनका कोई कथन मेलशोविनिज़्म का प्रोत्साहक होगा। अलबत्ता राम के प्रति प्रेम और श्रद्धा हो और उसके चलते 'मन रामचरन महुँ लीन' हो तो उसमें कोई प्रतिगामिता नहीं है। यह मन की समर्पण-भावना है, यह चरण-चुंबन की वह स्ट्रेटेजी नहीं है जो आजकल के चतुर राजनीतिज्ञ खेलते हैं।

सीता बार-बार अपने पैरों को ही क्यों देखे जा रही थीं। कुछ लोगों ने इसे योग साधना की उन्मनी मुद्रा से भी जोड़ा है। सीता अपने आसपास से उपराम तो हो ही चुकी थीं। वे उन्मनी भी हो सकती हैं और अनमनी भी। उपराम होती हैं क्योंकि राम जो न थे। अपने पैरों की ओर लगातार देखना गहरी विषण्णता और अवसाद के कारण भी हो सकता है। फिर जैसा कि एमिलानो जपाटा ने कहा : "It is better to die on your feet than to live on your knees." सीता ने भी यही रुख अपनाया हुआ है। अपने पैरों को देखना और इधर-उधर कहीं भी नहीं, रावण की सारी शानो-शौकत पर एक तमाचा है।

लेकिन इन सबके बावज़ूद यह तो तय है कि सीता की हालत बहुत खराब हो चुकी है। पति के सान्निध्य से जो ओज और सत्व मिलता था, वह तो अब छिन ही गया है। एक राम के गुण-स्मरण का दीप तो जला हुआ है, लेकिन बाकी बहुत कुछ भीतर ही भीतर बुझता जा रहा है। एक रोशनी का सूर्य पता नहीं कौन सी अपरिचित घाटियों में क्रमशः अस्तंगत हो रहा है। हनुमान को दुःख होना स्वाभाविक है।

लेकिन तुलसी का कहना है कि हनुमान को परम दुख हुआ। सीता के दुख को तुलसी एक शब्द दीन में और उसे आंकने वाले हनुमान को परम दुखी कहकर चुप हो गए हैं जबकि वाल्मीकि ने बहुत ही विस्तृत विवरण उस दुख के दिए हैं जिनमें से कुछ को हम ऊपर वर्णित कर चुके हैं। वाल्मीकि और भी कहते हैं : "वह तपस्विनी मंगलग्रह से आक्रांत रोहिणी के समान शोक से पीड़ित, दुख से सन्तप्त और सर्वथा क्षीणकाय हो रही थी। वे विस्तृत महान् शोकजाल से आच्छादित होने के कारण विशेष शोभा नहीं पा रही थीं। धुएं के समूह से मिली हुई अग्निशिखा के समान दिखाई देती थीं। उनका मुख प्रसन्न नहीं था। उस पर आंसुओं की धारा बह रही थी और नेत्रों की पलकें काली एवं टेढ़ी दिखायी देती थीं। वे बारम्बार लम्बी सांस खींचती थीं। सुवर्ण के समान सुंदर अंग वाली और सदा मुस्कुराकर बात करने वाली सुंदरी सीता, जो अनर्थ भोगने के योग्य नहीं थीं, इस यातना को सहन करती हैं। हिम की मारी कमलिनी के समान इनकी शोभा नष्ट हो गई है, दुःख-पर-दुःख उठाने के कारण अत्यंत पीड़ित हो रही हैं तथा अपने सहचर से बिछुड़ी हुई चकवी के समान पति-वियोग का कष्ट सहन करती हुई ये जनक किशोरी सीता बड़ी

दयनीय दशा को पहुंच गयी हैं। जैसे वीणा अपने स्वामी की अंगुलियों के स्पर्श से वंचित हो वादन आदि की क्रिया से रहित अयोग्य अवस्था में मूक पड़ी रहती है, उसी प्रकार सीता पति के संपर्क से दूर होने के कारण महान क्लेश में पड़कर ऐसी अवस्था में पहुंच गयी थी, जो उनके योग्य नहीं थी। पति के हित में तत्पर रहने वाली सीता राक्षसों के अधीन रहने के योग्य नहीं थीं। फिर भी वैसी दशा में पड़ी थीं। अशोकवाटिका में रहकर भी वे शोक के सागर में डूबी हुई थीं। क्रूर ग्रह से आक्रांत हुई रोहिणी की भांति वह वहां उन राक्षसियों से घिरी हुई थीं। वे पुष्पहीन लता की भांति श्रीहीन हो रही थीं। वे समुद्र में जीर्ण-शीर्ण होकर डूबी हुई नौका के समान दुख के सागर में निमग्न थीं। वे कटकर पृथ्वी पर गिरी हुई वृक्ष की शाखा के समान जान पड़ती थीं। जिसका जल नहरों के द्वारा इधर-उधर निकाल दिया गया हो, ऐसी नदी के समान वे सूख गई थीं। वे उपवास, शोक, चिन्ता और भय से अत्यंत क्षीण, कृशकाय और दीन हो गयी थीं। उनका आहार बहुत कम हो गया था तथा एकमात्र तप ही उनका धन था।"

तुलसी ने सीता को अत्यंत दुखी कहने की जगह उनकी दीन स्थिति देखकर हनुमान को परम दुखी कहा। इतना दुख कि वह सामने वाले को व्यापने लगे। इतना दुख कि वातावरण में छा जाये। इतना दुख कि हवा भी उसी से बोझिल लगे। इसलिए 'पवनसुत' कहा। इतना दुख कि पवन भी जैसे सीता के आंसुओं से गीली हो उठी। पवनसुत को कैसा लगा होगा? वे तो तत्काल ही कुछ करना चाह रहे होंगे और फिर परिस्थिति की मांग पर चुप रह गये होंगे। इस चुप्पी पर उनकी वेदना और बढ़ गई होगी। मन में तो बच्चन की उन पंक्तियों की तरह कुछ आया ही होगा कि 'मैं लगा दूं आग उस संसार में/है प्यार जिसमें इस कदर असमर्थ कातर' और बाद में वे आग लगा भी देते हैं। लेकिन उस पल तो वे अपना मन मसोस कर रह गए होंगे। उस स्थिति ने उन्हें विशेष दुखी किया होगा। राम की शक्ति पूजा में 'ये अश्रु राम के' आते ही मन में विचार हनुमान कैसी उथल-पुथल मचा देते हैं और यहां अश्रुसिक्त सीतामुख देखकर उनके मन में कैसा तूफान उठ रहा होगा। राम तो फिर भी पुरुष हैं। सीता तो स्त्री हैं और निर्दोषता की प्रतिमूर्ति हैं। उन्हें ये सब भुगतना पड़ रहा है।

सीता लगातार अपने पैरों को देखे जा रही हैं। इससे लगता है कि खुद पर से उनका गुस्सा अभी कम नहीं हुआ है। क्यों उन्होंने लक्ष्मण रेखा पार करने का कदम उठाया? वह एक कदम बस ग़लत उठा और मंजिल अब तक उन्हें ढूंढ़ रही है। बार-बार वो पूरा घटनाक्रम आंखों के सामने घूमता है। क्या हो गया था उस दिन मेरी बुद्धि को? वाल्मीकि रामायण के अरण्यकांड के पैंतालीसवें सर्ग की बात हो तो यही कहा जा सकता है कि सीता उस वक्त अपने आपे में नहीं थीं। लेकिन वाल्मीकि लक्ष्मण रेखा का कोई उल्लेख नहीं करते। स्वयं तुलसी भी लक्ष्मण-रेखा का उल्लेख नहीं करते। वे बस लक्ष्मण का इतना ही कार्य बताते हैं : बन दिसि देव सौंपि सब काहू/चले जहां रावन ससि राहू। फिर भी रामायण के कुछ संस्करणों में लक्ष्मण-रेखा का वर्णन आता है। स्वयं तुलसी के यहां लंकाकांड में जब मन्दोदरी (दोहे 35(ख) के बाद की चौपाइयां) रावण के औद्धत्य और अहंकार से पार नहीं पा सकती तो वह लक्ष्मण-रेखा का उल्लेख यह कहकर करती तो है कि 'उनके छोटे भाई ने एक जरा-सी रेखा खींच दी थी, उसे भी आप लांघ नहीं सके, ऐसा तो आपका पुरुषत्व है।' (रामानुज लघु रेख खचाई/सोउ नहीं नाघेहु असि मनुसाई।।) तो सीता के इन पैरों से कहीं न कहीं यह अपराध तो हो गया। और यह संपूर्ण मनुष्यता की जातीय स्मृति में भी दर्ज हो गया जिसके तहत 'ड्रा द लाइन' का अर्थ ही 'set a limit' हो गया। When you draw the line, you set out limits of what you find acceptable, beyond which you cannot go. सीता ने ऐसा उसे अतिथि समझकर किया था, ब्राह्मण समझकर; लेकिन वह गलती तो हुई ही। ब्राह्मण के वेष में हनुमान भी मिल सकते हैं और रावण भी। 'अतिथि देवो भवः' के संस्कारों वाली सीता को कहां पता था कि अतिथि राक्षस भी हो सकता

है। लेकिन सीता अपने 'अज्ञान' का हवाला देकर अपना रक्षण नहीं कर रहीं। अन्दर ही अन्दर उनका मन कट गया है। कैसी नादानी थी? पहचान न पायी उस रावण के ब्लफ को? अब वह पल जब-जब याद आता है, अपने को ही दंडित/प्रताड़ित करने का मन होता है। क्यों ये पैर अपनी सीमा में नहीं रहे? सीता अपने उन चरणों को कोस रही हैं जिनका पादोदक ही मानवता की सारी पीढ़ियों के लिए अमृत है। चित्रकूट में सीता चरण चिन्ह हों या मुंगेर में सीता चरण मंदिर हों या ललितपुर का सीता-पदस्थल हो-सीता के पद मानवता की थाती हो गए। बाद में विवेकानंद ने कहा : "Any attempt to modernise our woman, if it tries to take our woman away from that ideal of Sita, is immediately a failure, as we see every day. The woman of India must grow and develop in the footprints of Sita, and that is the only way." फिलवक्त वही सीता अपने पैरों को लेकर दुखी हैं। वे इन्हें ऐसे क्षमा नहीं कर सकतीं। इन्हीं पैरों की ओर लक्ष्मण देखते रहते थे और उन्हीं लक्ष्मण को उन्होंने मर्म-वचन कहे। बाद में हनुमान से मौका मिलते ही उन्हें यही कहना है : 'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना' बस तभी पश्चाताप पूरा होगा। सीता का नीचे पैर की ओर देखना उनके द्वारा लज्जित महसूस करने का भी सबूत है और उसकी क्षतिपूर्ति लक्ष्मण सहित राम के पैर पड़ने में ही उन्हें लगती है।

●●●

तरू पल्लव महुं रहा लुकाई
करइ विचार करौं का भाई
तेहिं अवसर रावनु तहं आवा
संग नारि बहु किएं बनावा
बहु विधि खल सीतहि समुझावा
साम दान भय भेद देखावा
कह रावन सुनु सुमुखि सयानी
मंदोदरी आदि सब रानी
तब अनुचरी करउँ पन मोरा
एक बार बिलोकु मम ओरा

हनुमान वृक्ष के पत्तों में छिप रहे हैं और विचार करते हैं - अरे भाई! क्या करूं। उसी समय रावण वहां आया, बहुत बनाव (श्रृंगार) किए हुए है और बहुत-सी बनी-ठनी स्त्रियां उसके साथ हैं। उस दुष्ट ने बहुत प्रकार से सीताजी को समझाया। साम, दाम, भय और भेद दिखाया। रावन ने कहा- हे सुमुखी! हे सयानी! सुनो, मन्दोदरी आदि सब रानियों को तुम्हारी दासी बना दूंगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है, तुम एक बार मेरी ओर देख लो।

राम की पीढ़ी तक आते-आते मोनोगेमी के विचार ने एक आदर्श का रूप धार लिया था। सीता उसी राम की पत्नी थीं। बात स्वयं उनके पतिव्रता होने की ही नहीं थी, राम के एक पत्नीव्रता होने की थी। जब एक बीयर्स कंपनी ने कुछ सालों पहले 'पोलीगेमी पोर्टर' के नाम से एक बीयर लांच की थी तो उसके लेबल पर एक आदमी को कई औरतों के साथ दिखाया था। इस नारे के साथ कि 'व्हाय हैव जस्ट वन'। विज्ञापन के स्लोगन में यह भी लिखा था कि घर अपनी 'पत्नियों' के लिए भी ले जाइए। हमारे रावण महोदय भी उसी मस्ती में थे और वाल्मीकि तो सुंदरकांड में जब रावण के अन्तःपुर का वर्णन करते हैं तो इस 'बीयर' से भी ज्यादा कुछ के असर का वर्णन करते हैं : "मदिराजनित मद के वशीभूत हुई वे सुंदरियां एक-दूसरी के ऊरू, पार्श्वभाग, कटिप्रदेश तथा पृष्ठभाग का सहारा ले आपस में अंगों से अंग मिलाये वहां बेसुध पड़ी थीं ...। मदिरा के मद से मोहित हुई कोई कमलनयनी नारी आडम्बर नामक वाद्य को अपनी भुजाओं के आलिंगन से दबाकर प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न हो गई।" वाल्मीकि तो उसे मधुशाला और पानभूमि ही कहते हैं। उनके शब्दों में "कितनी-कितनी ही स्त्रियां अधिक मद्यपान करके अचेत हो रही थीं। उनके साथ ही स्वच्छ दिव्य सुराएं और कृत्रिम सुराएं भी वहां रखी गयी थीं। उनमें शर्करासव, माध्वीक, पुष्पासव और फलासव भी थे। महाकवि पवनकुमार ने देखा, वहां मदिरा से भरे हुये सोने और मणियों के भिन्न-भिन्न पात्र रखे गये हैं। किसी घड़े में आधी मदिरा शेष थी तो किसी घड़े की सारी-की-सारी पी ली गयी थी तथा किन्हीं-किन्हीं घड़ों में रखे हुये मद्य सर्वथा पीये नहीं गये थे।" तो रावण तो एक तरह के एपीक्यूरियन अंदाज में बहुपत्नीधारी था, और ये स्त्रियां किस डिप्रेशन से इस्केप के लिए यूं नशे में धुत्त हो गई थीं?

कोलोन के/सुगंध के तो सारे विज्ञापन एक तरह से पोलीगेमी के हैं। सुगंध के। शैंपेन के भी। स्टुअर्ट ईवान का यह कहना था कि वे पुरुष के लिए ललचाना न होकर स्त्री के वास्ते एक स्क्रीन हैं। क्या रावण भी जब इतनी सारी स्त्रियों को लेकर सीता के सामने आता है तो वह भी एक स्क्रीन है ताकि सीता भी रावण की कामना के सर्किट में आ सकें? जैसे शैम्पेन के विज्ञापनों में स्त्रियां यूरोप में पुरुष से वेट्रेस या नौकरानी के रूप में चिपकी बताई जाती हैं, वैसे ही रावण अपनी स्त्रियों को सीता के लिये विज्ञापित कर रहा है। आमंत्रण भले ही पटरानी बनाने का है, हश्र दासी का ही होगा। अभी मंदोदरी आदि सब रानियों को चेरी बनाने का तो कह ही रहा है।

इन औरतों को रावण ने तमगे की तरह पहन रखा है। सीता के सामने इन अलंकारों के साथ आया है। यह नहीं कि ये नारियां 'बहु किएँ बनावा' के रूप में बहुत-बहुत वह श्रृंगार किए हुए हैं। यह नहीं कि स्वयं रावण 'बहु किएँ बनावा' के रूप में बहुत श्रृंगार किए हुए है। बल्कि यह कि ये नारियां ही अपने आप में रावण का अलंकार हैं, उसका श्रृंगार। उनकी बहुलता ही इसकी सजावट बनावट है और वह इसे सीता के सामने दिखाना चाहता है।

उस सीता को जो संपूर्णतः श्रृंगारहीन हैं। उस सीता को जो कृस तनु सीस जटा एक बेनी के रूप में श्रृंगार और अलंकार से रहित हो गई हैं। रावण की विवेकहीनता की भी हद है। जो सारी बनावटों, कृत्रिमताओं और नुमाइशों से दूर है, उसके सामने ये ठसक। सीता जो रातों को भी जागती रहती हैं, उनके सामने वाल्मीकि रामायण के अनुसार वे स्त्रियां लाई गईं 'जिनकी आंखें नींद के नशे में झंपी जाती थीं, जो अवशेष मद और निद्रा से झूमती हुई-सी चल रही थीं।' (सुंदरकांड, अठारहवां सर्ग, श्लोक 15 एवं 17)। यानी रावण ने उनकी चेतना को Anaesthetize कर दिया था। क्या सीता वैसी deadened, वैसी numbed औरतों से प्रभावित हो सकती थीं? रावण का विज्ञापन स्वयं उसकी ही सीमित समझ और रुचि के अनुसार था। वे narcotized और sedated नारियां, जिन्हें रावण इसी तरीके से de-sensitize और dehumanize कर रहा था- सीता के सामने सिद्ध क्या कर रही थीं? वाल्मीकि रामायण पढ़ो तो रावण का अविवेक और प्रत्यक्ष होता है। त्याग की तपोमूर्ति हैं राजा जनक। उनका नाम विदेह लोक में

इसीलिये प्रचलित हुआ क्योंकि वे सारे अटैचमेंट से मुक्त थे। याज्ञवल्क्य के शिष्य, अष्टावक्र से ज्ञान दीक्षा लिये हुए, जिन्हें भगवत गीता में स्वयं भगवान कृष्ण ने कर्मयोगी के प्रसिद्ध उदाहरण के रूप में उल्लेखित किया, जो राजर्षि माने जाते थे-उनके लिये (सीता को सेड्यूस करने को प्रस्तुत) रावण का ऑफर है : "विलासिनि! तुम्हारी प्रसन्नता के लिए मैं विभिन्न नगरों की मालाओं से अलंकृत इस सारी पृथ्वी को जीतकर राजा जनक के हाथ में सौंप दूंगा।" रावण सीता के मन और संस्कार को जानता ही नहीं है। इस श्लोक में तो उसका संबोधन ही गलत है। सीता और विलासिनी! जो जनक 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' की मान्यता वाले हैं, उन्हें 'विजित्य पृथिवीं सर्वा' की घूस! कमाल है रावण जी। वैराज्य में निवास करने वालों को राज्य का प्रलोभन! जब रावण सीता से वाल्मीकि रामायण में यह कहता है कि "तुम स्त्रियों में रत्न हो। भीरू! मैं अनेक लोकों से उन्हें मथकर जो-जो रत्न लाया हूँ, वे सब तुम्हारे ही होंगे और यह राज्य भीं तुम्हीं को समर्पित कर दूंगा," तो मुझे दुर्गा सप्तशती के शुंभ निशुंभ की याद आती है जो बार-बार दुर्गा को रत्न कहते हैं और दुनिया भर से छीनकर लाए हुए रत्नों के अपने आधिपत्य की बात कहते हैं। दुर्गा और सीता को यह 'रत्न' कहा जाना अपनी तारीफ उतनी नहीं लगती बल्कि अपना वस्तुकरण (commoditization) ज्यादा लगता है। सीता जैसी वीर स्त्री को 'भीरू' का संबोधन वही कर सकता है जो सीता की आंतरिक दृढ़ता को जानता नहीं है। रावण बहुत बड़ी गलतफहमी में जी रहा है। वाल्मीकि रामायण के सुंदरकांड के बीसवें सर्ग के 5वें, 17वें, 23वें, 29वें एवं 36वें श्लोक में रावण ने बार-बार सीता को 'भीरू' के रूप में संबोधित किया है। रावण को लगता है सीता उनके अत्याचारों से डर गई हैं। रावण नाम का अर्थ ही रुलाने वाला है तो उसने सीता को जमकर रुलाया भी है। लेकिन उसे सीता की अकंप व्रतशीलता का कुछ पता नहीं है। इसी कारण सीता रावण को खरी खोटी सुनाने से चूकती नहीं हैं। यह वे सीता हैं जो कहती हैं कि 'छिन्ना भिन्ना प्रभिन्ना वा दीप्ता वाग्नौ प्रदीपिता/रावणं नोपतिष्ठेयं किं प्रलापेन वश्चिरम्' कि "तुम मुझे छेदो, चीरो, टुकड़े-टुकड़े कर डालो, आग में सेंक डालो अथवा सर्वथा जलाकर भस्म कर डालो तो भी मैं रावण के पास नहीं फटक सकती।" गीता के शब्द याद आते हैं इसके साथ। विदेह की पुत्री सीता साक्षात् आत्मा हैं- 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' वाली। सीता के इस मनस्तेज और ध्रुवता को, सीता की इस अनन्यता और ऋतंभरता को, रावण समझ नहीं सकता। सीता उसके अत्याचारों से अक्षोभ्य और निराकुल हों, ऐसा नहीं है। उनकी दशा दीन हो गई है, यह प्रत्यक्ष है। लेकिन वे भीरू नहीं हैं। उनकी अन्तः शक्ति-कहें कि उनके जीवट का कोई सानी नहीं है।

अपनी विराट राक्षसी बुद्धिहीनता से प्रेरित रावण यहां चला आया है। अपनी बहुत सी भार्याओं को लेकर। यह बताने कि देखो ये सब कितनी मस्ती मार रही हैं। लेकिन सीता पर जैसे इस तरह के ढकोसलों का कोई असर ही नहीं है। वाल्मीकि रामायण के सुंदरकांड में रावण का सीता को पहला सम्बोधन ही उसकी मानसिकता का द्योतक है। वह उन्हें 'हाथी की सूंड के समान सुंदर जांघों वाली (सीते)' कहता है। दुख से संतप्त किसी स्त्री में इसे ये ही नजर आया। इसे किसी देखे जाने वाले व्यक्ति की ओर से सोचना नहीं आता, इसके भीतर उमड़ी वासना ही इसकी जिह्वा और मेधा का नियंत्रण करती है। 'राक्षसियों से घिरी हुई दीन और आनंदशून्य तपस्विनी'- वाल्मीकि ने रावण के द्वारा सम्बोध्य सीता के लिये उसके सम्बोधन से ठीक पूर्व ये शब्द प्रयोग किये हैं। उस सीता को ऐसा संबोधन एक sexually starved आदमी के द्वारा ही हो सकता है। लेकिन यह बंदा तो इतनी सारी पत्नियों को भोग रहा है। फिर भी यह हालत। यह perversion का चरम है। वाल्मीकि स्पष्ट लिखते हैं : "वह मदमत्त निशाचर काम से प्रेरित हो सीता के प्रति अत्यन्त आसक्त हो गया था। अतः उस कामभाव को अपने भीतर छुपाए रखने में असमर्थ हो गया।" (श्लोक 5, 18 वां सर्ग, सुं.कां. वा.रा.)। 19वें

श्लोक में भी 'स च कामपराधीनः' कहकर ही रावण का वर्णन है। 23वें श्लोक में उसे 'कामदर्पमदैर्युक्तं' कहा गया। उस संबोधन के बाद पहले ही श्लोक में वह कहता है : "मुझे देखते ही तुम अपने स्तन और उदर को इस प्रकार छिपाने लगी हो, मानो डर के मारे अपने को अदृश्य कर देना चाहती हो।" क्या बेहूदा और अशिष्ट आदमी है यह। किसी स्त्री से मिलने पर छूटते ही उससे उसकी जांघों और स्तनों के बारे में बात करता है।

इसीलिए तुलसी उसे 'खल' कहते हैं। दुष्ट और धृष्ट। रावण सीता को क्या समझाता है, तुलसी इसे स्पष्ट बताने से बचते हैं। वे तीन शब्दों का प्रयोग करते हैं। 'खल' 'बहुविधि' और साम दान भय भेद। इतने से आप समझ लें। तुलसी अपनी जबान गंदी क्यों करें? साम के रूप में वाल्मीकि रामायण में वह यह कहता है : "भीरू! (तुम यह न समझो कि मैंने कोई अधर्म किया है) परायी स्त्रियों के पास जाना अथवा बलात् उन्हें हर लाना यह राक्षसों का सदा ही अपना धर्म रहा है- इसमें संदेह नहीं है।" दान के रूप में हम सीता के सामने उनके पिता जनक के लिये रखे गये ऑफर की चर्चा कर चुके हैं। सीता के बंधु बांधवों के लिये भी फ्री लंच, फ्री टिकट का उसका ऑफर है- एक नहीं, दो बार। श्लोक 24, सर्ग 20 सुं.का., वा.रा. में वह यह कहता है कि : "मुझ पर कृपा करके इच्छानुसार भोग भोगती हुई तुम जैसी पटरानी के भाई बन्धु भी मनमाने भोग भोग सकते हैं।' फिर इसी सर्ग के 35वें श्लोक में वह फिर कहता है कि "तुम्हारे निकट आकर तुम्हारे भाई-बंधु भी सुखपूर्वक इच्छानुसार भोग आदि प्राप्त करें।" वह सीता के वंश को अपनी खोटी अकल में बस ऐसा ही समझता है कि ये वे लोग हैं जो अपनी बहन के अपहरण की रैन्सम खुद लेकर प्रसन्न हो जाएंगे। सीरध्वज जनक के कुल की इससे बड़ी अवमानना क्या हो सकती है? 'दान' के इसी प्रयास में वह सीता को यह भी कहता है : "जनकनन्दिनी! मेरे अन्तःपुर में निवास करने वाली जितनी भी सर्वगुण संपन्न रानियां हैं, उन सबकी तुम स्वामिनी बन जाओ। काले केशों वाली सुंदरी! जैसे अप्सराएं लक्ष्मी की सेवा करती हैं, उसी प्रकार त्रिभुवन की श्रेष्ठ सुंदरियां यहां तुम्हारी परिचर्या करेंगी। पातिव्रत्य के इस मोह को छोड़ो। मेरे यहां बहुत-सी सुन्दरी रानियां हैं। तुम उन सबमें श्रेष्ठ पटरानी बनो।" रावण समझता है कि शादी भी एक तरह का पावर गेम है। स्त्री की स्त्री पर शासन करने की इच्छा। बहुपत्नीवाद में स्त्री के ऊपर पुरुष का आधिपत्य ही नहीं है बल्कि स्त्री का स्त्री के ऊपर आधिपत्य भी है। इस गुप्त मनोविज्ञान के चलते ही बहुपत्नीवाद कई समाजों में आज तक चला आया है। यानी रावण का बहुपत्नीवाद स्ट्रक्चरली inegalitarian है। उसका ढांचा ही असमान है। एडम और ईव के पोते लामेच (जो नूह का पिता था) से लेकर बाइबल में अब्राहम, डेविड और सोलोमन सहित 40 प्रमुख लोगों को बहुपत्नीवादी बताया गया है, लेकिन रावण का बहुपत्नीवाद अपहरण के एक उद्योग पर आधारित होने से निकृष्टतम था, उसमें होने वाले स्त्री के वि-मानवीकरण के कारण निकृष्टतम था, उसमें स्त्री की परिणति दासी में हो जाने के कारण निकृष्टतम था। वाल्मीकि अपनी पत्नियों के साथ लगभग एक जुलूस में जाते हुये जिस रावण का परिचय अठारहवें सर्ग (सुं.का.वा.रा.) में देते हैं, वहां यह फरक करना मुश्किल है कि वे पत्नियां हैं या दासियां : "उन युवतियों में से किन्हीं ने सुवर्णमय दीपक ले रखे थे। किन्हीं के हाथों में चँवर थे तो किन्हीं के हाथों में ताड़ के पंखे। कुछ सुन्दरियां सोने की झारियों में जल लिये आगे-आगे चल रही थीं और कई दूसरी स्त्रियां गोलाकार वृसी नामक आसन लिये पीछे-पीछे जा रही थीं। कोई चतुर चालाक युवती दाहिने हाथ में पेय रस से भरी हुई रत्नानिर्मित चमचमाती कलशी लिये हुए थी। कोई दूसरी स्त्री सोनी के डंडे से युक्त और पूर्ण चंद्रमा तथा राजहंस के समान श्वेत छत्र लेकर रावण के पीछे-पीछे चल रही थी, जैसे बादल के साथ-साथ बिजलियां चलती हैं, उसी प्रकार रावण की सुन्दरी स्त्रियां अपने वीर पति के पीछे-पीछे जा रही थीं।" 2008 में घेर के द्वारा बहुपत्नीवाद के

एक अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला गया था कि "Women in polygamous marriage are typically subservient to their husbands." उनका दास भाव इस हद तक का है कि यदि किसी नई स्त्री को उनके ऊपर लाकर बिठा दिया जाए तो भी उनके भीतर विद्रोह की कोई चिंगारी, अवज्ञा या प्रतिरोध का कोई स्वर नहीं फूटता। यानी रावण की polygamy सिर्फ morals के खिलाफ नहीं है, morale के खिलाफ है। वहां ये स्त्रियां एक गिरी हुई आत्म छवि, एक low self-esteem के साथ जिन्दा हैं। रावण की पोलीगेमी में 'कंसेन्ट' का तथ्य सरासर अनुपस्थित है। कृष्ण के बहुपत्नीवाद में स्त्रियां कारागार से मुक्त की गई हैं, रावण के यहां वे एक कारागार में डाल दी गई हैं। वह consent under coercion है, जिसको आधुनिक विधि भी non-est मानती है। रावण स्वयं कहता है कि वह अपनी रानियों को अपहरण (उनकी मर्जी के बिना) करके लाया, सीता को भी वह उसी तरह duress का पात्र बना रहा है। रावण 'ब्राइड थेफ्ट' (वधू-चौर्यकर्म) करने वाले समाजों जैसा नहीं है। चूंकि उसका यह कार्य अत्याचार और दंड-भय के प्रदर्शन से जुड़ा हुआ है, इसलिये उन समाजों की तुलना में बहुत अमानुषिक है। रोमन विधि के अनुसार देखें तो रावण जो अपराध करता है वह raptus कहलाएगा। हालांकि वहां यह कोई लोकापराध नहीं था बल्कि उस व्यक्ति के विरुद्ध अपराध था जिसके प्राधिकार में वह स्त्री अपहरण से पूर्व रहती थी। भारत में यह सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध भी अपराध था। इसलिये राम के संघर्ष में आम जन भी शामिल हो गया। बाद में सम्राट कांस्टेटाइन ने यूरोप में इसे एक लोकापराध का दर्जा दिया और मृत्युदंड इसके लिये संस्थापित किया। रावण उलटा सीता के सामने दंड-भय दिखाता है : "मिथिलेश कुमारी! तुम मुझसे जैसी-जैसी कठोर बातें कह रही हो, उसके बदले तो तुम्हें कठोर प्राणदंड देना ही उचित है। यदि दो महीने के बाद तुम मुझे अपना पति बनाना स्वीकार नहीं करोगी तो रसोइये मेरे कलेवे के लिये तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे।" भय के बाद भेद का इस्तेमाल भी रावण करता है जब वाल्मीकि उसे यह कहते हुए दिखाते हैं : 'राम ने विजय की आशा त्याग दी है वे श्रीहीन होकर वन-वन में विचर रहे हैं। व्रत का पालन करते हैं और मिट्टी की वेदी पर सोते हैं। अब तो मुझे यह भी संदेह होने लगा है कि वे जीवित भी हैं या नहीं। जिनके आगे बगुलों की पंक्तियां चलती हैं, उन काले बादलों से छिपी हुई चन्द्रिका के समान तुमको अब राम पाना तो दूर देख भी नहीं सकते हैं। जैसे हिरण्यकशिपु इन्द्र के हाथ से गयी हुई कीर्ति को न पा सका, उसी प्रकार राम भी मेरे हाथ से तुम्हें नहीं पा सकते।'

लेकिन गौर करने वाली बात यह है कि तुलसी ने इन बहुत तरह की बातों में से सिर्फ वही बात चुनी जिसमें रावण कहता है कि- "हे सयानी सुमुखी मैं तेरे सामने प्रण करता हूं कि मैं मंदोदरी आदि सब रानियों को तेरी दासी बना दूंगा, यदि तू एक बार बस मुझे देख ले।" पहला वाक्य ही सयानेपन की अपेक्षा करता है। रावण को लगता है कि यह सुंदरी भावना में बही जा रही है, तो वह उसे थोड़ा दुनियादार बनाना चाहता है। जरा अक्लमंद बन, थोड़ा होशियारी से काम ले। उसका मन तो कुल जमा यह कहने का है कि बेवकूफ लड़की, क्यों उस जंगल में भटकने वाले राम में दिल लगाए है। वाल्मीकि रामायण में तो वह यह कहता भी है : "तुम मेरी समृद्धि और धन-संपत्ति की ओर तो देखो सुभगे! चीर वस्त्र धारण करने वाले राम को लेकर क्या करोगी?" (25वां श्लोक, 20वां सर्ग)। 'कुबेर के यहां जितने भी अच्छे रत्न और धन हैं, उन सबका तथा संपूर्ण लोकों का तुम मेरे साथ सुखपूर्वक उपभोग करो। देवि! राम तो न तप से, न बल से, न पराक्रम से, न धन से और न तेज अथवा यश के द्वारा ही मेरी समानता कर सकते हैं। तुम दिव्य रस का पान, बिहार एवं रमण करो तथा अभीष्ट भोग भोगो। मैं तुम्हें धन की राशि और सारी पृथ्वी भी समर्पित किये देता हूं।" रावण सीता को तमाम दुनियावी लालच देता है। एक लाइफ आफ लग्जरी। लेकिन सीता क्या करे जो उसे आध्यात्मिक ऊर्जा राम

के प्रेम से मिलती है। रावण उन बुड्ढे बेमेलों की तरह लगता है जो अपनी दुलहनों को स्वर्णाभूषणों और जायदाद से लाद देते हैं। रावण जानता ही नहीं कि राम और सीता किस तरह से soulmates हैं। रावण नहीं समझता है कि सीता को उपहारों से प्यार नहीं, सीता के लिये सबसे बड़ा उपहार राम का प्यार है। रावण का प्रेम इसी अर्थ में मटीरियलिस्टिक नहीं है कि वह सीता से (वा.रा. में) कहता है कि "मैं तुम्हारे जिस-जिस अंग को देखता हूं उसी-उसी में मेरे नेत्र उलझ जाते हैं।" बल्कि इसमें भी है कि वह सीता को प्रस्ताव भी भौतिक सुखों का ही करता है: "भीरू! फिर इच्छानुसार भांति-भांति के भोग भोगो, दिव्य रस का पान करो, विहरो तथा पृथ्वी या धन का यथेष्ट रूप से दान करो।" रावण के भीतर एक खास मटीरियलिज्म है। वह जैसे सीता के सामने 'फनटाइम' का प्रस्ताव रख रहा है। वही चीज जिसे जॉन अपडाइक ने 'exclusive reality of the physical' कहा था। रावण के लिये प्यार भी जितना possessory है, उतना ही वह प्रेम पात्र को possessions से भर देना चाहता है। यहां 'प्यार' या 'प्रेमपात्र' शब्द रावण के संबंध में उचित नहीं हैं क्योकि वह 'प्रेम' नहीं जानता, 'काम' को जानता है। वह सीता से कहता भी है कि "मनुष्यों में यह काम बड़ा टेढ़ा है। वह जिसके प्रति बँध जाता है उसी के प्रति करूणा और स्नेह उत्पन्न हो जाता है।" तो रावण जिस हद तक ऐन्द्रिक है, उस हद तक उसके द्वारा किये जाने वाले प्रस्ताव भी निरे भौतिक हैं। वह राम सीता के हार्दिक आत्मिक रिश्तों की थाह नहीं पा पाता। उसका यह मटीरियलिज्म प्रेम को नहीं समझ आता क्योंकि प्रेम समझ से अलग है। रोज फ्रेंकेन का कथन था : "Anyone can be passionate but it takes real lovers to be silly." पेड्रो काल्डरान बार्का का मानना था : "When love is not madness it is not love." ब्लेज पास्कल का कहना था : "The heart has its reasons that reason knows nothing of." रावण को राम-सीता की एक दूसरे के लिये अनन्यपरायणता समझ नहीं आयेगी। उसे तो लगेगा ही कि सीता थोड़ी पगलाई हुई है। खुमार में है। राम के प्रेमोन्माद में उन्हें सयानेपन से सोचने के लिये प्रेरित करने की जरूरत है। तो वह उन्हें 'सयानी' कहकर ही संबोधित करेगा।

जिस तरह से आजकल के टी.वी. सीरियलों की नजर में प्रत्येक परिवार में प्रभुत्व के षड्यंत्र परिवार के ही सदस्यों के द्वारा चलते रहते हैं उसी प्रकार रावण समझता है कि सीता को भी इस पारिवारिक प्रभुत्व का लोभ देना ठीक रहेगा। वह प्रभु से सीता को छुड़ाकर प्रभुत्व का चारा उन्हें दिखा रहा है।

जो मंदोदरी शुरू से आखिर तक अपने पति का कल्याण ही चाहती रही, जिसने हर संभव मौके पर अपने पति को सन्मार्ग दिखाया, जिसे हमारी परंपरा ने उन पंचकन्याओं में गिना जिनका स्मरण करने मात्र से पापोन्मोचन होता है, जो न केवल सीताहरण का विरोध करती है बल्कि रावण द्वारा नवग्रहों को बंदी बनाने और वेदवती को अपवित्र करने का भी विरोध करती है, जिसके बारे में धन लक्ष्मी अय्यर ('Women of Substance: Mandodari: Pure as Water': The Week, October 29, 2006) लिखती हैं : "Her story is a reminder that universal denigration of a group, based on the behaviour of a few cannot cloud the greatness of the individual. Mandodari defies the stereotype of this racism. She is simple, unswerving and self-effacing, driven by the light of knowledge which gives meaning to solid materialism in an age that is shrouded by impulse, passion and desire. She is the instrument that awakens the mind and counsels reason when irrationality becomes the core being. That she goes unheard and unheeded does not charge her path. To her, the dharmic part is inward-looking, while the role of the dutiful wife is the external self. Mandodari thought that her duty to her husband on issues of morals and

values ended with her telling him what she thought of his actions. She neither put up any brave fight nor considered it her duty to do so." उस मन्दोदरी को भी रावण दासी की स्थिति में लाने को तैयार है। उसे और उसकी समस्त रानियों को। बात सिर्फ बहुवचनी विवाह (plural marriage) की नहीं है बल्कि इसकी है कि यह विवाह पुरानी स्त्री या स्त्रियों के असम्मान से नई स्त्री को सम्मानित करने की कल्पना पर आधारित है। कल्पना न कहें, इसे प्रण कहें। रावण इसे 'तव अनुचरी करहूं पन मोरा' तो कहता ही है। तोराह ने Exodus 21:10 कहा था : "Multiple marriages are not to diminish the status of the first wife." चीन में भी 'हेडशिप' प्रथम पत्नी की ही रहती है। द्वितीय पत्नी के लिये चीन और जापान में प्रचलित शब्द 'सेशी' है जिसका अर्थ होता है : "She who occupied the side room." इस्लाम में बहुपत्नीवाद की अनुमति के बारे में बहुत कुछ कहा गया है, लेकित ध्यान दें कि वहां भी सभी पत्नियों की प्रतिष्ठा बनाए रखने का दायित्व सौंपा गया है। विकीपीडिया के अनुसार अपने जीवन में पैगम्बर हजरत मुहम्मद ने 11 या 13 बार शादियां कीं। उनमें से हिजरा के बाद सिर्फ दो शादियां थीं। लेकिन पैगम्बर की कई शादियां करूणा से प्रेरित थीं और कई मैत्रीपूर्ण संबंधों को मजबूत करने के लिये। सबसे बड़ी बात यह कि शरिया के अनुसार शादी 'फोर्स्ड' नहीं की जा सकती। कुरान में स्पष्ट कहा गया: "Do justice to them all, but you won't be able to, so don't fall for one totally while ignoring other wives."

रावण का प्रस्ताव इसके एकदम विपरीत था। वह सीता को एक ईमानदार बराबरी का वायदा नहीं कर रहा था, उन्हें एक उच्चतर हैसियत दिलाने का प्रण कर रहा था। रावण का प्रस्ताव रावण के चरित्र पर रोशनी डालता है, सीता के चरित्र पर नहीं। सीता को तो रावण कैसा ही प्रस्ताव क्यों न रखता, राम के सिवा कोई भी स्वीकार नहीं था। तुलसी के वर्णन में इसलिए रावण और सीता के बीच का वह eroticism गायब है। वहां सीता का एक उच्चतर (exalted) और शुभ (auspicious) अधिष्ठान है। सीता के आसपास उनकी इसी नैष्ठिकता के कारण दिव्यता की एक मैग्नेटिक फील्ड है जिसका उल्लंघन रावण भी नहीं कर पाता। भले ही, वाल्मीकि रामायण के सुंदरकांड के इसी प्रसंग में उसके कथनानुसार, काम उस पर कितने ही अत्याचार करे। लक्ष्मण-रेखा तो रावण के कपट का शिकार हो गई, लेकिन इस सीता-सन्निधि को रावण के प्रपंच भी नहीं जीत सके।

यह ध्यान दें कि सीता प्रकृति-कन्या थीं तो उनके खो जाने पर राम न केवल प्रकृति से पूछते फिरे बल्कि सीता उन्हें प्रकृति के विभिन्न अंगों में प्रतिभासित होती लगीं : 'हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी' की ही बात नहीं है बल्कि श्रीराम के विलाप (62वां सर्ग, अरण्यकांड, वाल्मीकि रा.) में भी सीता प्रकृति में ही जैसी छिप-सी जाती हुई और फिर उसी में प्रतिच्छायित होती हुई लगीं। राम कहते हैं : "प्रिये! तुम्हें फूल अधिक प्रिय हैं, इसलिए खिली हुई अशोक की शाखाओं से अपने शरीर को छिपाती हो और मेरा शोक बढ़ा रही हो। (राम के शब्दों में अनायास ही भविष्य झांकने लगता है। जिस अशोक की शाखाओं में सीता उन्हें छिपती दिखाई देती हैं, उसी अशोक की वाटिका में रावण ने अपहृता सीता को ला बिठाया है। राम के शब्दों में कैसे सरस्वती आ बैठती हैं!) भद्रे! तुम हँसती हुई कनेर-पुष्पों की वाटिका का सेवन करती हो। बंद करो इस परिहास को, मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है।" लेकिन रावण सीता की नैसर्गिकता के गहरे आत्मिक और आध्यात्मिक अर्थ को नहीं जानता, वह तो बहुत बनावटी है- 'बहु किए बनावा' ही नहीं बल्कि सीता को उसका ऑफर भी बार-बार श्रृंगार-आभूषणों का ही है। सीता से वह इतनी बार आभूषण के बारे में कहता है कि अचानक ही ध्यान इस पर खिंचता है। सु.का. बीसवें सर्ग के नवें-दसवें श्लोक में 'दिव्य आभूषण' का सुख भोगने को कहा गया है। 11वें श्लोक फिर कहा गया है 'अपने अंगों में आभूषण धारण

करो।' 21वें श्लोक में 'आज तुम्हारा उत्तम श्रृंगार किया जाये और तुम्हारे अंगों में चमकीले आभूषण पहनाएं जाएं।' 22वें श्लोक में 'तुम उदारतावश मुझ पर कृपा करके श्रृंगार से सम्पन्न हो जाओ।' 30वें में 'तुम्हारे अंगों में आभूषण भी नहीं है।' 36वें श्लोक में 'तुम सोने के निर्मल हारों से अपने अंग को विभूषित करो।' राम को सीता प्रकृतिमय दिख रही थीं। यहां रावण इसी सर्ग के 22वें श्लोक में कहता है : "सुमुखि ! आज मैं श्रृंगार से सुसज्जित हुए तुम्हारे सुंदर रूप को देख रहा हूँ।" (भविष्य का वर्तमान की तरह वर्णनः भाविक अलंकार)। राम को lush greenery में सीता की सौंदर्य-सम्पन्नता दिखती है, रावण को बनावट में। पृथ्वी की यह पुत्री जानकी प्रकृति में तन्मय है, रावण तो मय-कन्या मंदोदरी के साथ है। रावण को इंजीनियर्ड ब्यूटी चाहिए। Contrived और manipulated. राम तो सीता के प्रमाण भी प्रकृति में ही ढूंढ़ते हैं, उनकी प्रभावना भी। यह प्राकृतिक सीता रावण को दीख भी नहीं पड़तीं। एक तिनके की ओट में भी सीता वैसे ही छुप जाएंगी जैसे हनुमान पेड़ के एक पत्ते में छुप गए हैं।

ध्यान दें, हनुमान पेड़ के एक पत्ते में छुप गए हैं। अति लघु हैं तो वह पत्ता भी काफी है। ध्यान दें कि वाल्मीकि आदि अन्य रचनाकारों की कृतियों में हनुमान पेड़ के पत्तों में- बहुवचन-छुपते हैं और वह भी रावण के आने पर। आनंदरामायण (सर्ग 9 सु.का.) में रावण को स्वप्न में किसी बंदर का आना ज्ञात हुआ- 'ददर्श रावणः स्वप्ने कपिः काश्चित्समागतः/अशोकवनिकायां सा दृष्टा तेन विदेहजा'; अध्यात्म रामायण में सर्ग 2, श्लोक 13, 14 एवं 17 में रावण को तमाम पत्नियों के साथ आते हुए देखकर हनुमान जी पत्तों में छुप जाते हैं : 'कामरूप धरः सूक्ष्मों वृक्षाग्रस्थोऽनुपश्यिति।' केरल के तुलसी कहलाने वाले महाकवि तृञ्चतुरामानुजन ने अध्यात्म रामायण में इसके लिए 'किमिदमिति सपदिकिसलय चयनिलीननाय्क्कीटवद्देहं मरच्चु मरूविनान्' शब्द प्रयोग किए हैं : 'किसलयों के समूह में अपने कृमितुल्य शरीर को छिपाए वे देखने लगे।' वाल्मीकि भी कहते हैं : स तथाप्युग्रतेजाः 'स निर्धूस्तस्य तेजसा/पत्रे गुह्यान्तरे सक्तो मतिमान् संवृतोऽभवत्' अर्थात् "यद्यपि मतिमान् हनुमान भी बड़े उग्रतेजस्वी थे, तथापि रावण के तेज से तिरस्कृत-से होकर वे सघन पत्रों में घुसकर छिप गए।" तुलसी के यहां वे पहले ही छुप जाते हैं और छुपकर विचार कर रहे होते हैं कि अब क्या करूं और उसी वक्त रावण वहां आता है। सीता के लिए जैसे एक तिनका काफी है, वैसे ही हनुमान के लिए एक पत्ता काफी है। सीता उस एक तिनके में सुरक्षित हैं। लक्ष्मण रेखा की जादुई स्तंभनकारी परिधि में नहीं। मर्यादा को भूमिकृत (territorialize) नहीं किया जा सकता। मर्यादा तो सीता की प्रकृति में है। सीता तो जिस पावित्र्य की धनी हैं, वह अतिक्रांत (transcend) करता है, सीमित (confine) नहीं। सीता की पावनता किसी दीवार के भीतर नहीं, न किसी हिज़ाब के भीतर। रावण जैसे दुष्ट उसका तोड़ निकाल लेंगे लेकिन वे इस तृण को नहीं तोड़ पाएंगे।

हनुमान का हर काम, जैसा कि हमने पूर्व में भी देखा है और आगे भी देखेंगे, विचारोपरान्त ही होता है। न हड़बड़ी में, न आवेग में। हनुमान rash नहीं हैं। वे झक में आकर काम नहीं करते। वे हमेशा पूर्वावधानित (premeditated) कदम उठाते हैं। बहादुर हैं वे, शक्ति की प्रतिमूर्ति भी, लेकिन वह 'डेविल-मे-केअर' वाला एटीट्यूड नहीं रखते। पहले भी उनके विचार ने ही सुग्रीव को सावधान किया था- 'इहाँ पवनसुत हृदयँ विचारा/रामकाज सुग्रीव बिसारा।' विभीषण के सामने प्रकट होने के पूर्व भी विचार करते हैं। यहां तक कि ब्रह्मास्त्र के सामने समर्पण से पूर्व भी विचार करते हैं। फिर भी हनुमान की प्रथम छवि हमारे सामने एक भावाकुल व्यक्ति की है। वह शायद इसलिए कि हनुमान के यहां तर्क भी एक तरह का अनुभव है। एक सेंशेसनल अभियान में उनकी संवेद्यताएं जागरूकता की चरमावस्था में हैं। वे ठहरकर देखते हैं। उनको डेडलाइन मालूम है। उससे जुड़ी चुनौतियां भी। वे बिना रामकाज पूरा किए विश्राम भी नहीं करना चाहते। तब भी वे उज़लतबाजी नहीं करेंगे। एहतियात बरतना और चौकन्ना रहना उनकी

चपलता का ही अंग है।

रावण जब सीता को सुमुखि कहता है तब मुझे वो बम्बइया गाना 'दिल को देखो चेहरा न देखो' याद आता है। मलयालम अध्यात्म रामायण में भी वह सीता को बार-बार सुमुखि ही कहता है। वाल्मीकि के यहां इस प्रसंग में एक बार भी सुमुखि शब्द का प्रयोग नहीं हुआ, हालांकि दो बार 'वरानने' कहकर जरूर रावण ने सीता को सम्बोधित किया है। दशानन वरानन पर लुब्ध है। दशमुख सुमुखि को फुसलाने की सारी कोशिशें कर रहा है। लेकिन चेहरे पर लट्टू हुआ रावण सीता के मन को नहीं जानता। अपनी प्रवृत्ति और अपने संस्कारों के चलते वह उसे जान भी नहीं सकता। न उसके पास वह धैर्य है, न वह सहृदयता। आड्रे हेपबर्न, जो अपने समय की सुविख्यात अभिनेत्री रहीं- याद करें, माई फेयर लेडी- और फैशन आइकॉन भी, का निष्कर्ष भी यही था कि : "The beauty of a woman is not in a facial mode but the true beauty in a woman is reflected in her soul."

●●●

तृण धरि ओट कहति बैदेही
सुमिरि अवधपति परम सनेही
सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा
कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा
अस मन समुझु कहति जानकी
खल सुधि नहिं रघुबीर बान की
सठ सूने हरि आनेही मोही
अधम निलज्ज लाज नहिं तोही
आपुहि सुनि खद्योत सम रामुहि भानु समान
परुख बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन

अपने परम सनेही कोशलाधीश (राम) का स्मरण करके जानकी तिनके की आड़ (परदा) करके कहने लगीं- "हे दशमुख! सुन, जुगनू के प्रकाश से कभी कमलिनी खिल सकती है?" जानकी फिर कहती हैं : "तू (अपने लिये भी) ऐसा ही मन में समझ ले। रे दुष्ट! तुझे रघुबीर के बाण की खबर नहीं है। रे पापी! तू मुझे सूने में हर लाया है। रे अधम! निर्लज्ज! तुझे लज्जा नहीं आती?" अपने को जुगनू के समान और रामचन्द्र को सूर्य के समान सुनकर और सीता के कठोर वचनों को सुनकर रावण तलवार निकालकर बहुत खिसियाकर बोला।

डूबते को तिनके का सहारा। सीता को वाल्मीकि 'जल में अधिक बोझ के कारण दबी हुई नौका की भाँति शोक के भारी भार से झुकी' कह ही चुके हैं। (17वां सर्ग, श्लोक 3, सु.कां.)। 19वें सर्ग के 5वें श्लोक में भी कहा गया कि "वे समुद्र में जीर्ण-शीर्ण होकर डूबी हुई नौका के समान दुःख के सागर में निमग्न थीं।" वही डूबती हुई सीता हाथ में एक तिनका लेकर कहने लगीं। यह एक तिनका भी असाधारण है। मासानोबु फुकुओका ने अपनी तरह से 'वन-स्ट्रा रिवोल्यूशन' की थी, सीता अपनी तरह से करती हैं। एक डेनिश कहावत है कि तिनका बताता है हवा किस तरफ बह रही है। दशमुख तिनके का तर्क और संकेत दोनों नहीं समझ पाता। और जहां तक सीता का सम्बन्ध है, उनके लिए पोर्तुगीज कहावत है : 'कुछ नहीं से एक तिनका बेहतर।' एक सीता और एक तिनका, लेकिन सीता को वही बहुत बड़ा सहारा है, बहुत बड़ा आश्वासन। एक और एक ग्यारह।

सीता उस तिनके की ओट धरती हैं। वे हाथ भर लंबा घूंघट नहीं ओढ़तीं। सीता खरदूषण को मारने वाले राम का खुलेआम आलिंगन करती हुई वाल्मीकि रामायण में बताई गई हैं। 'प्रसन्नता से भरे हुए महात्मा मुनि जिनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे तथा जिन्होंने राक्षसों के समुदाय को कुचल डाला था, उन प्राणवल्लभ, श्रीराम का बारम्बार आलिंगन करके उस समय जनकनंदिनी सीता को बड़ा हर्ष हुआ।' (अरण्यकाण्ड, तीसवां सर्ग, अंतिम श्लोक) सीता के लिए खरदूषण की विशाल सेना को अकेले नष्ट करके सकुशल आश्रम आ जाने वाले राम को देखना कितने हर्षावेग का क्षण रहा होगा। तो वाल्मीकि उस क्षण की irresistibility को capture करते हैं। जाने क्यों सीता की वैयक्तिकता को गायब कर उनकी सामाजिकता को इस कदर दुहराया गया कि सीता की कई प्रखरताएं हमारी नज़रों से चूक गईं। वे असाधारण स्त्री हैं। उनकी दीप्तियों की ताब हर कोई नहीं ला सकता। तो वे परपुरुष के सामने अंदर के कमरे से नहीं बोलतीं। वे घूंघट को गज भर खींचकर भी नहीं बोलतीं। वे मानो कहती हैं कि यदि मन में मर्यादा है तो एक तिनका भी काफी है। घूंघट, बुर्के या हिज़ाब को कई स्त्रीवादी समूहों और मानवाधिकार के पैरोकारों ने स्त्री का पुरुष के आगे झुकना (Submission) माना है। Leh Chiennes de Garde ने communique (7 मार्च 2005) में कहा कि "It's the symbol of the oppression of women, of a demonization of the body and women's sexuality." इसी प्रकार Les Penelopes ने कहा कि : "Veiled, they are property of masters who designate them to others and to the girls themselves, as that which is forbidden."

तो सीता यह कहती हैं कि घूंघट या बुर्के के बिना भी वे कोई 'easy girl' नहीं हैं। वे आचरण का एक ऐसा आदर्श रखती हैं जो बाहरी सामाजिक दबावों से तय नहीं हुआ, बल्कि जो सीता की अन्तःनिर्मिति का हिस्सा है। तृण भर की ओट का अर्थ ही यह है कि 'ओट' कोई ड्रेस नहीं है, ओट कोई 'क्लोदिंग' नहीं है। ओट पहनी नहीं जाती है। ध्यान रखें कि वाल्मीकि और तुलसी दोनों ही तिनके की ओट की बात करते हैं। वाल्मीकि लिखते हैं : 'तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता' कि "पवित्र मुस्कान वाली (वैदेही) ने तिनके का अन्तर करके (रावण को) इस प्रकार उत्तर दिया।" तिनके का यह फर्क भी रावण और सीता के बीच का एक अपरिसमाप्य फर्क है। यह फर्क कभी नहीं मिटेगा। क्योंकि यह फर्क तात्विक है, सुझाया हुआ (प्रेस्क्रिप्टिव) नहीं है। इस कारण सीता का एक तिनका एक लक्ष्मण रेखा पर भारी पड़ता है। यह विडम्बना ही है कि पंडित लोग स्त्री के लिए लक्ष्मण रेखाएं ही खींचते रह गए, इस तृणमूल पर नहीं गए जिसका अतिक्रमण संभव ही नहीं था। यह तृण स्त्री के पृथक्कीकरण (segregation) का तृण नहीं है। यह तृण सीता के एक अलग ही माटी से बने होने का तृण है। एक तृण का अंतर ही सीता को रावण की वर्जना करने का साहस और शक्ति दे देता है। बुर्का या घूंघट पुरुष प्राधिकार की स्थापना और पेट्रिआर्की

के रूप में भी देखा जा सकता है, लेकिन तिनके की ओट 'अन्तर' को बताती है। सीता और रावण के बीच की असमानता (incomparability) को। वह सीता को छुपाती नहीं है, उन्हें प्रकट करती है। जो सीता सामने आती हैं, उनकी आभा सैकड़ों सूर्यों के समान है। रावण उस आभा को झेल नहीं सकता। सूर्यवंशी का असली मतलब तब समझ आता है। अध्यात्म रामायण भी इसी अन्तर पर बल देती है : 'उवाचाऽधोमुखी भूत्वा निधाय तृणमान्तरे' (5/2/31)। घूंघट आज्ञा है, तृण अवज्ञा है। घूंघट दमन भी हो सकता है, तृण दीप्ति है। बुर्का स्त्री और पुरुष के बीच है, तृण रावण और सीता के बीच है। अवगुंठन में कुंठा है, तृण की ओट में है एक ऐसा अन्तराल, एक ऐसा व्यवधान, एक ऐसा फासला रावण और सीता के दरम्यान जो विस्फोटक है। तृण की ओट रावण का पथ्य है, सीता का नेपथ्य नहीं। तृण की ओट रावण को परपुरुष कहना नहीं है, सीता के द्वारा अपने अन्य (other) और अनन्य होने की स्थापना है। यह 'पर' और 'परोक्ष' की उपस्थिति नहीं है, यह रावण से सीता की सुदूरता है। तिनके की ओट को किसी तरह के कर्टेन की तरह व्याख्यायित कर लोगों ने इस प्रसंग की 'पोएट्री' का सत्यानाश कर दिया है। ओट न हुई, शटर हो गया। 'सती स्त्री को पर-पुरुष की ओर देखना निषेध है, यदि बात करना पड़े तो परदे से करे।' बुलशिट। सीता हनुमान के सामने तिनके की ओट क्यों नहीं करतीं। वे तो रावण के सामने यह करती हैं। तिनके की तो औकात है रावण की, तपोमूर्ति सीता के सामने। समुद्रशास्त्र और नौकायन में ओट विंडब्रेकर को भी कहते हैं। सीता एक प्रतिवात-स्थान एक तृण में भी पा लेंगी। वे प्रतिवात ही नहीं, प्रतिवाद में भी पारंगत हैं, यह रावण अभी देखेगा। यह सीता के छिपने का क्षण नहीं है, यह उनके अभिव्यक्त होने का क्षण है। अब न हिज़ाब होगा न नकाब, अब न आवरण होगा, न परदा। अब तो सीता की दो-टूक होगी। अब तो वे प्रकाशित होंगी। रावण को बेधड़क सरेआम वे उसकी हैसियत बताएंगी। वे कोई तिनका दांतों में नहीं पकड़ रही हैं। वे दया याचना नहीं कर रही हैं। अब वे अपने प्रत्युवाच का श्रीगणेश करेंगी। तो बेहतर है कि दूर्वा हाथ में ले लें। इसे -इस दूब को-शास्त्रों में अनंता, अमृता और जया कहा गया है। इसे रामघास भी कहा गया और महौषधि मंगल्या भी। वाल्ट ह्विटमैन ने आधुनिक कविता की क्रांति 'लीव्ज आफ ग्रास' के जरिए ही शुरू की थी। सीता भी इसी तृण के जरिए विद्रोह कर रही हैं। सीता तो पृथिवी पुत्री हैं। यह तृण उनके एलीमेंट्स के ही नजदीक है। सीता जया हैं, सीता भद्रा हैं, सीता मंगल्या हैं। ये सारे पर्याय दूब के लिये हैं। सीता को यह रामघास राम-संदर्भ है। इसलिए यह सीता की शरण है। इसलिए यह 'डिफ्रेन्स' है, अन्तर है।

तृण दर्भ है। यह दर्भ रावण का दर्प दूर करेगा। यह तिनका रावण की आंखों में चुभने वाला है। रावण अभी काम और अहंकार के आसमान में है। अभी उसे ग्रासरूट्स का ज्ञान नहीं है। सीता की फटकार उसे आसमान से जमीन पर लाएगी। रावण के अधीर गेज़ और ग्लांस के विरुद्ध यह तृण प्रतिरोध का रूपक बनकर सामने आता है। यह तृण भी एक शील्ड है सीता की। जैसा कि हम वाल्मीकि रामायण के ऊपर दिए गए वर्णनों में देख चुके हैं, रावण सीता की सेक्सुअल स्क्रूटिनी से बाज नहीं आता। जिस तरह से सैनिक घास में Camouflage करते हैं, यह तृण की ओट सीता को भी मदद करेगी। यह ओट रावण को चुभेगी। स्टीव पाइल और मिशेल कीथ ने अपनी पुस्तक 'ज्याग्रफीस ऑफ रेसिस्टेंस' (प्रतिरोध के भूगोल) में लिखा है- और बुर्के व उपनिवेशवादियों के बीच के संघर्षपूर्ण रिश्तों के बारे में लिखा है- कि "Every veil spoke of a face that they did not control, could not see, could not have. The stakes of the veil and the face were never outside of a sexualized politics in which baring and hiding women's bodies were the sight/site of fascination and desire." यह ओट एक आक्रान्ता और अपहर्ता की अस्वीकृति है। यह घूंघट-प्रथा का समर्थन नहीं है। यह विरोध है हमलावर

और दस्यु का। सीता इस प्रतिरोध को उस शक्तिशाली रावण के सामने तृण के माध्यम से व्यक्त करती हैं जो 'तृण पुरुष' (स्ट्रा मैन) नहीं है। महाशक्तिमान है।

सीता रावण के सामने तृण रख शायद यह भी कहती हैं कि तेरे साम दान भय भेद को मैं तिनके से अधिक नहीं मानती। राम के सच्चे भक्तों की खासियत ही यही है कि वे राम के सामने त्रिलोक को भी तृण समान ही मानते हैं- 'तृण समान त्रैलोकहिं गिनहीं।' यही विश्वास उन्हें रावण से समर के लिए सशक्त बनाता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि वाल्मीकि रामायण में सीता को रावण क्या-क्या लोभ लालच नहीं देता। सीता को ऐश्वर्य के वे सब आमंत्रण तृण के समान लगते हैं। खलील जिब्रान ने उचित ही कहा था कि "The most pitiful among men is he who turns his dreams into silver and gold." रावण ने वही किया। सोने की लंका, लेकिन रामभक्तों के लिए वह तृण के समान है और बाद में लंका दहन भी ऐसे ही होता है जैसे घास फूस के ढेर में आग लग जाए।

रावण को तृण को इस तरह बीच में लाने के मायने ही नहीं समझ आते। देखा जाए तो वह इसका कोई नोटिस भी नहीं लेता। वैसे भी जिसे सोने की खब्त सवार हो, उसे घास के एक तिनके से क्या? तब आपको इतालवी अभिनेत्री इलीनोरा ड्यूस के वे शब्द याद आते हैं : "If the colour of the blue skies fills you with joy, if a blade of grass springing up in the fields has power to move you, if the simple things in nature have a message you understand, Rejoice, for your soul is alive." लेकिन रावण को यह ब्लेड आफ ग्रास दीख ही नहीं पड़ती। उसे तो बस सोना ही सोना दीखता है और अभी तो वह कामांध हुआ पड़ा है और यदि वाल्मीकि रामायण प्रमाण है तो वह सीता को फैंटेसाइज भी कर रहा है : "आज मैं श्रृंगार से सुसज्जित हुए तुम्हारे सुंदर रूप को देख रहा हूं।" (20वां सर्ग, 22वां श्लोक, सु.का.)। इसलिए वह घास के उस तिनके को देख ही कैसे सकेगा। अमेरिकी लेखक हेनरी मिलर ने कहा था कि : "The moment one gives close attention to anything, even a blade of grass it becomes a mysterious, awesome, indescribably magnificient word in itself." वह तृण भी जो सीता को ओट दे रहा है, शरण्य दे रहा है; वह अपने आप में कम रहस्यमय नहीं है। लेकिन रावणजी 'अंतर' पैदा करने वाले इस तृण को किसी अवधान के लायक नहीं समझते। हालांकि ह्वाल्ट ह्विटमैन ने कहा था : "I believe a leaf of grass is no less than the journey work of the stars." सीता उस जनक की पुत्री हैं जिन्हें अष्टावक्र ने सिखाया था कि: 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमहमेवेति निश्चयी/निर्विकल्पः शुचिःशान्तः प्राप्ता प्राप्तबिनिर्वत्तः' अर्थात् ब्रह्म से लेकर तृणपर्यन्त 'मैं ही हूं' ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है वह निर्विकार, शुद्ध, शान्त और प्राप्त-अप्राप्त से निवृत्त (मुक्त) होता है। वे इस ज्ञान को हृदयंगम कर चुकी हैं। उन्हें रावण प्राप्त-अप्राप्त के क्या फर्क समझाएगा।

सीता में पिता और पति दोनों के वंश का तेज है। इसी बात को जिसे तुलसी वैदेही और अवधपति के नाम से संकेत करते हैं। वाल्मीकि के यहां स्वयं सीता के मुख से कह दिया गया है : 'कुलं सम्प्राप्तया पुण्यं कुले महति जातया'- "क्योंकि मैं एक महान कुल में उत्पन्न हुई हूं और ब्याह करके एक पवित्र कुल में आई हूं।" आगे भी 22वें सर्ग के 19वें श्लोक में वे कहती हैं : 'तस्य धर्मात्मनः पत्नी स्त्रुषा दशरथस्य च' कि "मैं धर्मात्मा श्रीराम की धर्मपत्नी और महाराजा दशरथ की पुत्रवधू हूं।" तुलसी ने सीता को कुलाभिमानी उवाचों से दूर रखा है। वाल्मीकि के यहां भी वे उवाच इसलिए थे कि रावण के सम्बोधन में लंकाभिमान कुछ ज्यादा ही हो गया था। सीता का कुल-इतिहास सम्पूर्ण धैर्यशाली महापुरुषों में श्रेष्ठ निमि से शुरू हुआ। मिथिला के संस्थापक मिथि, प्रथम जनक, उदावसु, धर्मात्मा नंदिवर्धन, शूरवीर सुकेतु, बलवान देव रात, बृहद्रथ, शूर और प्रतापी महावीर, धैर्यवान और सत्यपराक्रमी सुधृति, परम

धार्मिक धृष्टकेतु, हर्यश्व, मरू, प्रातीन्धक, कीर्तिरथ, देवमीढ़, बिवुध, महीधृक, कीर्तिरात, महारोमा, राजर्षि स्वर्णरोमा, ह्रस्वोरोमा के नाम वाल्मीकि रामायण में जनक राजा दशरथ को अपना वंश-वृक्ष बताते हुए गिनाते हैं। उसके पहले दशरथ की कुल परम्परा का परिचय महर्षि वशिष्ठ इक्ष्वाकु, बाण, पृथु, त्रिशंकु, मान्धाता, भरत, सगर, अंशुमान, दिलीप, भगीरथ, रघु, अम्बरीष, नहुष, ययाति, अज आदि आदि के नाम गिनाकर देते हैं। सीता रावण के सामने अपने पति के 'पुण्य कुल' का उल्लेख करती हैं। वही बात जो वशिष्ठ इक्ष्वाकु कुल परंपरा के लिए बालकांड के 70वें सर्ग में 44वें श्लोक में कहते हैं: "इक्ष्वाकुकुल में उत्पन्न हुए राजाओं का वंश आदिकाल से ही शुद्ध रहा है। ये सबके सब परम धर्मात्मा, वीर और सत्यवादी होते आए हैं।" 72वें सर्ग के दूसरे ही श्लोक में वशिष्ठ-विश्वामित्र दोनों ही बोलते हैं : "नरश्रेष्ठ! इक्ष्वाकु और विदेह दोनों ही राजाओं के वंश अचिन्तनीय हैं। दोनों के ही प्रभाव की कोई सीमा नहीं है। इन दोनों की समानता करने वाला दूसरा कोई राजवंश नहीं है।"

इक्ष्वाकु कुल परंपरा में वाल्मीकि वैवस्वत मनु से लेकर राम तक कुल 36 राजाओं के नाम लेते हैं, जबकि पुराणों में 63 राजाओं के नाम हैं। वाल्मीकि की सूची में राजा हरिश्चंद्र का नाम न होना चौंकाता है। जैनियों में तो यह माना जाता है कि मुनिसुव्रत और नेमिनाथ जी को छोड़कर उनके सारे तीर्थंकर इक्ष्वाकु वंश में ही हुए। बौद्धों में भगवान बुद्ध भी इसी वंश के थे। वाल्मीकि के यहां भी सीता का कुलाभिमान किसी 'रॉयल फैमिली' से होने का नहीं है बल्कि वह महत्व और पुण्य का कुलाभिमान है। वह बड़े बाप की बेटी होने का घमंड नहीं है। वह एक आदर्शवादी पवित्र परिवार के जीवन-मूल्यों का संवहन करने की स्वयं की भी प्रतिबद्धता है। वे एक पैम्पर्ड पुत्री की तरह नहीं बोलतीं, एक जिम्मेदार पुत्री की तरह बोलती हैं जिस पर कुल-मर्यादा का महान दायित्व ही नहीं है, उसकी पुण्य-प्रेरणा भी है।

तुलसी कुलोल्लेख के चक्कर में नहीं पड़ते। तुलसी की यह आधुनिकता गौर करने लायक है। तुलसी जहां-जहां व्यक्ति-सत्ता की स्थापना करने के लिए इस तरह के डिपार्चर लेते हैं, वहां-वहां उनके आलोचकों से विनम्र प्रार्थना है कि वे इस शिफ्ट का नोट लें। लेकिन तुलसी 'वैदेही' और 'अवधपति' अभिधानों को प्रयुक्त करके कुछ संकेत अवश्य करते हैं। उनके यहां पर्याय उनकी रणनीति के अस्त्रों की तरह काम करते हैं। उनकी सीमेंटिक प्रापर्टीज एक ही साथ समानता और भिन्नता का जादू रचती हैं। ये शब्दकोशात्मक पर्याय भी एक अवधारणात्मक परिधि तुलसी के यहां खींचते हैं। वहां शब्द एक तरह के सूचक (इंडिकेटर) की तरह पाठक के सामने खड़े होते हैं। अब 'अवधपति' को ही लें। एक तरफ तो यह डिपार्चर कि कुल की जगह व्यक्ति को याद किया जा रहा है। दूसरी तरफ यह कि यह व्यक्ति राम अवधपति के नाम से याद किया जा रहा है। राम अवधपति तो नहीं हैं, उनका कोई औपचारिक राज्याभिषेक भी नहीं हुआ; बल्कि अवध से निष्कासित होकर-वंचित होकर-वे वनवास पर निकले हुए हैं-उन्हें अवधपति के रूप में इस मौके पर याद करके तुलसी की सीता क्या जताना चाहती हैं? यह कि साम्राज्य तो हृदय का होता है, जो हृदय पर शासन करे वही अवधपति। यह रस्मी (सेरीमोनियल) राजत्व नहीं है। इस राजत्व को मानने वालों पर लंका का जोर! कि एक यह लंकापति है जो अपनी सत्ता का प्रयोग आतंक और अपहरण, उत्पीड़न और हिंसा में करता है और दूसरी तरफ अवधपति हैं जो परम स्नेही हैं। रावण यदि अभद्रता का चरम है तो अवधपति स्नेह के परमधाम हैं। लंकापति साम दान भय भेद की जोड़तोड़ में लगा है, राम पूर्णतः सहज स्नेहिल हैं। राम ममता और वात्सल्य का उत्कर्ष हैं, रावण त्रास और जोर-जबरदस्ती का। राम आश्वस्त करते हैं, रावण अशान्त। सीता तो छोड़िये मारीच भी जब रावण के अत्यधिक दबाववश कपटमृग बनता है तब उसे भी यही परम सनेही राम परम प्रीतम के रूप में याद आते हैं : 'निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल

करि सुख पाइहौं।' यह ध्यान देने की बात है कि सीता के द्वारा रावण का जब प्रतिवाद किया जाता है तो वे राम का स्मरण करके शुरुआत तो करती हैं- लेकिन पति राम को नहीं, अवधपति राम को याद कर। उस शासक की याद जो स्नेह की समष्टि है, जिसमें प्रेम की परिपूर्णता है। इस शासक के सामने जो एक्सट्रीमिस्ट है, आतंकी है। लेकिन व्यक्तिगत प्रताड़ना को झेलती हुई सीता के द्वारा राज्याधिकार के उच्चादर्शों की याद तुलसी की दृष्टिगत आधुनिकता का साक्ष्य पेश करती है। तुलसी की सीता बहुत वस्तुनिष्ठ हैं। वे हुकूमत और हुक्मरानों के तात्विक फर्कों को देख रही हैं। मैंने अभी हाल कहीं किन्हीं सज्जन के श्रीमुख से ये सुना कि राम ने अपनी पत्नी को छुड़ाने के निजी कार्य के लिए जनता को झोंक दिया। ऐसे महानुभावों को इन विनम्र बिन्दुओं पर सचेत हो जाना चाहिए जहां तुलसी वैयक्तिक द्वेष का नहीं, सत्तादर्श का डिस्कोर्स खड़ा करते हैं। कोएर्सिव पावर रावण का अधिष्ठान है जहां अधिपति किसी से कुछ छीन सकता है या उन्हें दंडित कर सकता है, उन्हें गैस चेम्बर में डाल सकता है, उन्हें बम विस्फोटों में उड़ा सकता है। ऐसा सत्ताधिकारी आज्ञापालन और केन्द्रानुशासन के लक्ष्यों को लेकर चलता है। यह इसके लिए राज्य नामक उपकरण का इस्तेमाल करता है। इसके लिए सत्ता का अर्थ है आदमी का आदमी के ऊपर नियंत्रण। उधर अवधपति अवध राज्य को त्यागकर भी अवधपति बने हुए हैं क्योंकि वे स्नेह की डोर से बंधे हैं। अवधपति की 'डोर' रावण के अंकुश से ज्यादा प्रभावी है। एक सनेही सांचिलों केवल कोसलपाल। सीताजी रावण की वार्ताओं को कितने विस्मय से देखती होंगी? क्या बंदा है यह? कैसी अलग-अलग तरह की बातें कहता है? कहां राम जो 'द्विर्नभाषते', और कहां कभी प्रलोभन तो कभी डर दिखाता हुआ यह दसमुंहा रावण? ये बन्दा प्यार को भी coerce करना चाहता है। घुड़की के साथ प्यार। जैसे इसने विभिन्न देश देशांतरों में लूट मचायी है, वैसे ही यह जगज्जननी सीता के अनुराग की भी लूट करना चाहता है। सीता के अचेतन में वैसे ही इस शख्स की दहशत की दु:स्मृतियां हैं। वेदवती के साथ इस नराधम ने क्या किया था? राम के स्मरण के जरिए सीता इस दु:स्वप्न से लड़ने के लिए ऊर्जा एकत्र करती हैं। राम के स्नेहालोक में रावण का कालुष्य और उजागर होता है। कहां राम और भरत का स्नेह कि एक दूसरे के लिए सत्ता त्यागने को झगड़ रहे हैं और कहां यह रावण जो दस मुंहों से 'बहुविधि' बातें करता, स्वांग धरता, धौंस-धमकी से बाज नहीं आ रहा।

इसलिए जहां सीता ने रावण को अवधपति के रूप में याद किया तो रावण को भी 'दशमुख' के रूप में ही संबोधित किया। दशमुख शब्द कटाक्ष है। यह 'अंधौ बधिर न अस कहहिं नयन कान तव बीस' (लंकाकांड, दोहा 21) और 'बीसहु लोचन अंध धिग तव जन्म कुजाति जड़' (लंकाकांड, सोरठा, 32) में भी प्रकट है। राजा के पास तो अनेकों कान होते हैं, अनेकों आंखें। उसके बाद भी यदि वह न देख पा रहा है, न सुन पा रहा है जो इतना स्पष्ट है – दीवार पर लिखा हुआ, सब तरफ गूंजता हुआ – तो दशमुख होने का अर्थ क्या? एक राजा के पास तो सम्प्रेषण और सूचना तंत्र बहुत विकसित होता होगा, लेकिन दस तरह की सूचनाएं सुनने और देखने के बावजूद यदि रावण के ये हाल हैं तो दशमुख शब्द उस पर व्यंग्य ही है। राजा के गुप्तचर उसके eyes and ears हैं, उसके आंख-कान हैं। लेकिन रावण के सामने इस वक्त सही तस्वीर नहीं रखी जा रही है और न ही उसको सही बात बताई जा रही है। तो रावण के सिर तो बहुत हैं, दिमाग बहुत कम है। एक डच कहावत है : 'Beware of the man of two faces.' अर्थात् दो मुंहे लोगों से सावधान रहो। यहां तो दशमुख हैं। ऐसा व्यक्ति कितना अविश्वसनीय होगा। जमैकन कहावत है: 'You can't have two faces under one hat.' यहां दस मुख हैं।

रावण की तरह बहु-शीर्ष राक्षसों का उल्लेख विश्व की अन्य पौराणिकियों में भी मिलता है। ईरानी शास्त्र आज़ी दाहक नामक एक तीन सिर वाले राक्षस का उल्लेख करते हैं जिसे त्रैतोंना नामक नायक ने मारा

था। ग्रीक पौराणिक ऐसे ही बहुशीर्ष दैत्य हाइड्रा का उल्लेख करती है जिसे यह सुविधा भी प्राप्त है कि उसको एक सिर कटने पर दो उग आएंगे। शोधार्थी एड्रियन मेयर का निष्कर्ष है : "According to Homeric-Hesiodic lore, strongmen of myth were often said to have multiple heads or limbs." टाइफन के बारे में तो यह कहा गया है : "A flaming monster with a hundred heads, who rose up against all the gods, Death whistled from his fearful jaws, His eyes flashed glaring fire." ब्रिटिश भू-भौतिकीविद चार्ल्स गूल्ड (1834-1893) ने अपनी पुस्तक 'Mythical Monsters' (1886) में एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकाला : I have but little hesitation in gravely proposing to submit that many of the so-called "mythical animals, which throughout long ages and in all nations have been the fertile subjects of fiction and fable, come legitimately within the scope of plain matter - of - fact natural history, and that may be considered, not as the outcome of exuberant fancy, but as creatures which really once existed, but of which, unfortunately, only imperfect and inaccurate descriptions have filtered down to us, probably very much retrieved, through the mists of time." इसलिए दशमुख रावण के बारे में कोई जल्दबाज निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए। बहुत सी चीजें जो पहले मिथक समझी गईं, बाद में ऐतिहासिक प्रमाणित हो गई हैं। यह भी नहीं समझना चाहिए कि दशमुख से एकदम शारीरिक अर्थ ही इन महाकवियों को अभिप्रेत रहा होगा। यदि ऐसा होता तो एक साथ दस मुख संभालने के दैनंदिन प्रसंगों का कोई तो वर्णन इन शास्त्रों में किया गया होता, किसी ने तो उसे एक अचंभे और कौतुक की तरह लिया होता। लेकिन रावण की इस oddity पर, उसकी इस peculiarity पर कोई विशेष टीप-सी नहीं होती। निश्चित ही यह कोई 'ब्रीड' की बात नहीं है। नहीं तो सगे भाई विभीषण व कुंभकर्ण भी दशमुख नहीं होते! बात जेनेटिक नहीं, पोएटिक है, या संभवतः राजनीतिक। एडम क्लार्क ने अपनी पुस्तक 'द न्यू टेस्टामेंट आफ अवर लार्ड एंड सेवियर जीसस क्राइस्ट' में इस राजनीतिक आयाम का एक संकेत एक दस श्रृंग वाले बाईबल-बीस्ट के बारे में अपनी व्याख्या से दिया है : "In like manner the beast with ten horns denotes that the empire represented by the beast is composed of ten distinct powers and the ten horns, being united in one beast very appropriately show that the monarchies symbolized by these horns are united together to form one empire." तो रावण का दशानन होना भी हो सकता है कि कोई राजनीतिक अर्थ रखता हो और इसमें तो कोई शक है कि नहीं कि रावण ने एक बड़ा साम्राज्य निश्चय ही स्थापित कर लिया था। लेकिन उसका बड़ा साम्राज्य भी सीता के लिए जुगनू का प्रकाश ही है, चूंकि वह कोएर्सिव पावर से स्थापित हुआ था, इसलिए उसका आधार अत्यन्त अस्थिर है। कुर्सी की लड़ाई, तख्त की लड़ाई, सिंहासन की लड़ाई इसीलिए है क्योंकि वहां किसी का भी दावा सर्वदा के लिए नहीं, अवसर के लिए है। मौकापरस्ती है, अवसरवाद है, लेकिन उसमें कहीं यह भी है कि यह जुगनू की ज्योत की तरह क्षणिक है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि 'जिस नेता को भी देखो वो है दीवाना कुर्सी का/सारा देश बना है अपना पागलखाना कुर्सी का/कुर्सी की खातिर लोगों ने क्या न किये छल-छंद यहां/कोई बना मीर जाफर तो कोई बना जयचंद यहां/देशभक्त गद्दार बना पाकर नजराना कुर्सी का।' लंकापति रावण का सत्ता-प्रदर्शन, उसकी तमाम झांकी बहुत नश्वर है। हां उसमें चमक-दमक है। लेकिन है वह क्षणभंगुर। ऐसी ताम-झाम, ऐसी तड़क-भड़क उत्पादक (प्रोडक्टिव) नहीं होती, इसलिए वह कभी किसी का विकास सुनिश्चित

नहीं कर सकती। असल बात विकास की है। एक सस्टेनेबल विकास की। रावण की चकाचौंध विलास तय करती है, विकास नहीं। यहां चीजें एक 'फैड' हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री विक्टर लेबौ ने 1955 में इस अर्थव्यवस्था की सतत् अस्थिरता की ओर हमारा ध्यान खींचा था। इन शब्दों में : "Our enormous economy demands that we make Consumption our way of life, that we convert the buying and use of goods into rituals, that we seek our spiritual satisfaction and our ego satisfaction in consumption. We need things consumed, burned up, worn out, replaced and discarded at an ever-increasing rate." ये जुगनू की तरह जलने-बुझने वाली अल्पस्थाई दीप्तियां हैं। ये जल के खर्च हो जाती हैं। ये किसी का विकास नहीं कर पातीं। उस कमलिनी का तो बिल्कुल ही नहीं जो निर्लिप्त रहती है, जिसे संसार के प्रलोभनों का कीचड़ छू भी नहीं पाया।

सीता के द्वारा रावण को जुगनू कहने और खुद को नलिनी कहने में सिर्फ इतना ही अर्थ नहीं है कि सीता के नेत्र कमल रावण की ओर नहीं खुल सकते- पंडितों की यह व्याख्या रावण के द्वारा 'एक बार बिलोकु मम ओरा' के अनुरोध के साथ जुड़ी हुई हैं- कि सीता रावण की ओर देखती तक नहीं, कि मानो देख लेतीं तो बड़ा गुनाह हो जाता, कि रावण कृतार्थ हो जाता। इसमें यह अर्थ है कि स्वयं सीता का विकास- उनके पूरे व्यक्तित्व का विकास- रावण की क्षणिक कामान्धता में संभव नहीं है। और यह भी कि- जो आगे जाकर दोहे में साफ होता है- कहां राम और कहां रावण। एक सूर्य, एक जुगनू। समानता या उपमा का वह दृश्य जिसमें स्वयं जुगनू को भी तुलसी के इस अन्याय पर आपत्ति हो कि मैंने आपका क्या बिगाड़ा था जो मुझसे रावण की तुलना आपने कर दी। कहां तो हरिवंशराय बच्चन ने मुझमें आतंक के प्रतिरोध की चमक देखी – याद करें उनकी वह कविता। अंधेरी रात में दीपक जलाए कौन बैठा है : 'तिमिर के राज्य का ऐसा/कठिन आतंक छाया है/उठा जो शीश सकते थे/उन्होंने सिर झुकाया है/मगर विद्रोह की ज्वाला जलाए कौन बैठा है' : और कहां तुलसी ने एक आतंकी को ही खद्योत समान बता दिया। बच्चन की इस कविता में खद्योत सीता की मनःस्थिति के ज्यादा नज़दीक लगता है : 'उठी ऐसी घटा नभ में/छिपे सब चांद औ तारे/उठा तूफान वह नभ में गए बुझ दीप भी सारे/मगर इस रात में भी लौ लगाए कौन बैठा है।' फिर आगे भी, 'गगन में गर्व से उठ-उठ/गगन में गर्व से घिर-घिर/ गरज कहती घटाएं हैं/नहीं होगा उजाला फिर/मगर चिर ज्योति में निष्ठा जगाए कौन बैठा है।' सीता ही हैं जो लौ लगाए बैठी हैं, सीता ही हैं जो चिर ज्योति में निष्ठा जमाकर बैठी हैं (तुलसी कह भी चुके हैं : 'बैठेहिं बीत जात निसि जामा'), सीता ही हैं कि जिनके आसपास ऐसी भयंकर घटा और तूफ़ान उठा है कि सब तरफ अंधेरा ही अंधेरा नज़र आता है - 'प्रलय का सब समां बांधे/प्रलय की रात है छाई/ विनाशक शक्तियों की इस/तिमिर के बीच बन आई।' वही बात हैः निशिचरों का उत्पात है सीता के सामने। बच्चन की कविता में जुगनू सीता का और कन्विक्शन का प्रतीक बनकर उभरता है। तुलसी की कविता में रावण का और चांचल्य का। एक निरीह जीव के साथ उपमान के चक्कर में तुलसी जैसे भावुक कवि ने यह अन्याय कर दिया। बल्कि नरेश शांडिल्य के एक दोहे में यही जुगनू आत्म-संभरता का प्रतीक बन कर सामने आता है : 'जुगनू बोला चांद से उलझ न यूँ बेकार/मैंने अपनी रोशनी, पाई नहीं उधार।' एक और शेर भी जुगनू की इसी विशेषता की ओर ध्यान दिलाता है : 'खोज लेते हैं अंधेरे में मंजिल अपनी/जुगनू कभी रोशनी के मोहताज नहीं होते।' मुज़फ़्फ़र हनफ़ी ने कहा : 'जुलमत की मज़म्मत में मुज़फ्फर ने कहे शेर/फिर तीर अंधेरे पे चलाने लगे जुगनू।' सीमाब अकबर को तो 'चमक जुगनू की बर्क-ए-अमां मालूम होती है।' लीलाधर जगूड़ी ने जब 'एक बुढ़िया का इच्छा गीत' लिखा तो उसमें यह भी लिखा कि 'घास पात पर जुगनू चमके/मन में मेरे

भट्टी थी/मैं जब घर के भीतर आई/जुगनू-जुगनू लुभा रहा था। इतनी रात इकट्ठी थी।' लेकिन तुलसी ने इस 'खद्योत' का उपमान एक बहुत ही आधुनिक अर्थ में प्रयोग किया लगता है। खद्योत की चमक ही क्षणिक है, उससे सस्टेनेबल विकास की उम्मीद ही कैसे की जा सकती है? नलिनी के जरिए एक तरह की ईको-सस्टेनेबिलिटी की ओर भी इंगित किया गया है। जुगनू की चमक का संकेत संभवतः लंका के instant consumerism की ओर भी होगा। मोबाइल शॉपिंग या इंटरनेट शॉपिंग, जैसी कोई चीज। चैनल स्विचिंग। 30 सेकेंड की साउंड बाइट जो किसी सुविकसित तर्काधार और दर्शन से ज्यादा चलन में हो। इंस्टेंट कॉफी। सुख लेकिन क्षणिक। मजा लेकिन मिनटों का। सीता का संवेदनशील मन रावण की लंका के इस तरह के जीवन को एक तरह का नृतत्वशास्त्रीय फर्क मानता होगा। यह तो प्रजाति ही दूसरी है। कहां सीता और राम का सुस्थिर जीवन जैसे पर्वतों से पवित्र हिमानी धीरे-धीरे खिसक रही हो और कहां यह फास्ट फूड और स्पीड सिटी। सीता को रावण के प्रलोभनों की नश्वरता मालूम है। यही बात नहीं है। बल्कि यह भी कि खद्योत शब्द उनके लिए एक सांस्कृतिक मूल्य का संकेत भी करता है। सीता इसी के साथ-साथ शायद रोमन सम्राटों की नश्वरता के बारे में चलने वाली उस लैटिन प्रथितोक्ति-Memento caesares mortalis - याद रख सीज़र, तू नश्वर है- जैसा भी कुछ इशारा कर रही हो।

सीता ऐसा मन में समझकर कहने लगीं कि "हे दुष्ट! तुझे राम के बाण की खबर नहीं है।" सीता के इन शब्दों में जो संकेत हैं वे सीता के अभिधार्थ से बहुत आगे जाते हैं। दरअसल कभी-कभी तो आम आदमी की भी जीभ पर सरस्वती बैठ जाती हैं और ये तो स्वयं सीता हैं। जानकी। जनक की पुत्री। विदुषी और तपोमूर्ति। तो यह कोई फ्लूक नहीं है। कोई चांस की बात नहीं है। सीता जो साधारण तरह से कह रही हैं, उसका एक सारस्वत अर्थ निकल रहा है। अर्थ का यह विशिष्ट उत्स्रोत तुलसी के ही यहां फूटा है, वाल्मीकि के यहां नहीं। वाल्मीकि के यहां भी सीता राम के बाणों की चर्चा करती हैं: "इन्द्र के छोड़े हुए वज्र की गडगड़ाहट के समान तुम राम के धनुष की घोर टंकार सुनोगे। यहां राम-लक्ष्मण के नामों से अंकित और सुंदर गांठ वाले बाण प्रज्वलित मुख वाले सर्पों के समान शीघ्र ही गिरेंगे। वे कंकपत्र वाले बाण इस पुरी में राक्षसों का संहार करेंगे, इसमें संशय नहीं है। वे इस तरह बरसेंगे कि यहां तिल रखने की भी जगह नहीं रह जायगी। वे मेरे प्राणनाथ राम सौमित्र के साथ आकर अपने बाणों द्वारा शीघ्र तुम्हारे प्राण हर लेंगे। ठीक उसी तरह, जैसे सूर्य थोड़े से जल को अपनी किरणों द्वारा शीघ्र सुखा देते हैं। तुम कुबेर के पर्वत पर चले जाओ अथवा वरूण की सभा में जाकर छिप रहो किन्तु काल का मारा हुआ विशाल वृक्ष जैसे वज्र का आघात लगते ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार तुम दशरथनन्दन राम के बाण से मारे जाकर तत्काल प्राणों से हाथ धो बैठोगे, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि काल तुम्हें पहले से ही मार चुका है।" वाल्मीकि की सीता पांच श्लोकों में रघुबीर-बाण की ही चर्चा करती हैं। और राम-बाण की तरह हनुमान जी के चलने को स्वयं वाल्मीकि भी अंकित करते हैं : 'यथा राघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः/गच्छेत् तद्वद् गमिस्यामि लंका रावणपालिताम्' कि "जैसे श्रीरामचंद्रजी का छोड़ा हुआ बाण वायुवेग से चलता है, उसी प्रकार मैं रावण द्वारा पालित लंका में जाऊंगा।" लेकिन वाल्मीकि के अति-विस्तृत कार्यव्यापार में रघुबीर-बाण का यह मेटाफर थोड़ा धूसर हो जाता है जो तुलसी की संक्षिप्ति में बहुत प्रखर होकर सामने आ जाता है। तुलसी रघुबीर-बाण की विशेषता उसकी स्पीड को नहीं, उसकी एक्यूरेसी को मानते हैं। हनुमान हैं रघुवीर के बाण, यह तुलसी थोड़ी देर पहले 'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना/एहि भांति चले हनुमाना' में बता चुके हैं। हनुमान हैं ही वायु-पुत्र, तो उन्हें वायुवेग से चलने वाला कहना एक स्वाभाविक निष्पत्ति को व्यर्थ ही पुनरावृत्ति देना है। इसलिए तुलसी अचूक होने की बात करते हैं। लक्ष्यवेधी होने की। हनुमान राम के वे बाण हैं जो लक्ष्यानुगामी होने का ही

यश संचित किए हुए हैं, और वे हनुमान ही अभी ऊपर आकर बैठ गए हैं। रावण को कुछ पता नहीं चला है। वैसे हनुमान अभी सीता के सामने भी प्रकट नहीं हुए हैं। लेकिन सीता के मन के भीतर का एक मन है जो जानता है कि रघुबीर-बान आ पहुंचा है, है कोई सीता की छठी इन्द्रिय, है कोई वाणी के भीतर चल रहा अज्ञात कैलकुलस। वह रावण को चेतावनी देता है कि अपनी इंटेलीजेंस पर बहुत भरोसा मत कर। तुझे पता ही नहीं है कि उसे रघुबीर-बान ने भेद दिया है। प्रकटतः लगता है कि लंकिनी ने हनुमान से मुठभेड़ की बात अभी रावण तक नहीं पहुंचाई है। शायद हनुमान के महान उद्देश्य को और विरंचि की इच्छा को जान लेने के बाद लंकिनी ने हनुमान को उन्मोचित कर दिया। रावण को जगज्जननी सीता चेता रही हैं। वह सीता जिन्हें तुलसी ने रामचरितमानस की शुरुआत में ही 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं' कहा है। वे सीता साधारण नहीं हैं। इसलिए कौन जाने ये शब्द उनकी त्रिकालज्ञता के कारण उनके मुख से निकले। प्रोफेटिक वर्ड्स। शब्द जो शब्द नहीं हैं, भविष्य हैं।

दूसरी बात राम के बाणों की है। राम जैसा धनुर्धर इतिहास में नहीं हुआ। न अर्जुन, न उसके गुरु द्रोण। खर-दूषण की विशाल सेना का राम अकेले सामना करते हैं। लक्ष्मण को तो वे सीता को लेकर गुफा में चले जाने का निर्देश देते हैं। राम के शर-कौशल के सामने खर-कौशल काम नहीं आता। राम सबको धराशायी कर देते हैं। शर-संचार के उनके नैपुण्य की कहानी शूर्पणखा ने तो रावण को सुनाई ही है, मारीच ने भी सुनाई है। वाल्मीकि रामायण में अरण्यकांड के 31वें सर्ग में रावण को अकंपन 15वें श्लोक में यह बताता है : "लंकेश्वर ! जिनका नाम राम है, वे संसार के समस्त धनुर्धरों में श्रेष्ठ और अत्यन्त तेजस्वी हैं। दिव्यास्त्रों के प्रयोग का जो गुण है, उससे भी वे पूर्णतः सम्पन्न हैं। युद्ध की कला में तो वे पराकाष्ठा को पहुंचे हुए हैं। '18वें श्लोक में वह कहता है : "श्रीराम के छोड़े हुए सोने की पांख वाले बाण पांच मुख वाले सर्प बनकर राक्षसों को खा जाते हैं। 23 से 25वें श्लोकों में वह कहता है : "वे अपने बाणों से भरी हुई नदी के वेग को पलट सकते हैं तथा तारा ग्रह और नक्षत्रों सहित संपूर्ण आकाशमंडल को पीड़ा दे सकते हैं। अपने बाणों से वे समुद्र के वेग अथवा वायु को भी नष्ट कर सकते हैं।" शूर्पणखा चौंतीसवें सर्ग में अपनी आंखों देखी रावण को बताती है : "वे महाबली राम युद्धस्थल में कब धनुष खींचते, कब भयंकर बाण हाथ में लेते और कब उन्हें छोड़ते हैं-यह मैं नहीं देख पाती थी। उनके बाणों की वर्षा से राक्षसों की सेना मर रही है-इतना ही मुझे दिखाई देता था।" मारीच उसे बताता है कि "12 वर्ष की उम्र में किशोर राम के बाण से वह सौ योजन दूर समुद्र में आकर गिरा था।" वह राम से हुई एक दूसरी मुठभेड़ का भी रावण को वर्णन करता है: "हम तीनों को आते देख राम ने अपने विशाल धनुष को खींचकर तीन पैने बाण छोड़े, जो गरुड़ तथा वायु के समान शीघ्रगामी तथा शत्रु के प्राण लेने वाले थे। झुकी हुई गांठ वाले वे सब बाण जो वज्र के समान दु:सह, अत्यन्त भयंकर तथा रक्त पीने वाले थे, एक साथ ही हमारी ओर आए।" सीता जानती हैं कि राम की शर-सिद्धि की विश्व-प्रसिद्धि भी है, इसलिए वे रावण को उसकी याद दिलाती हैं। हालांकि राम-रावण का अभी आमना-सामना नहीं हुआ है, लेकिन राम के बाण की चर्चा तो विश्व-व्याप्त है। रावण के पैठाए आतंकी उसे भुगत भी चुके हैं। रामबाण इतने प्रसिद्ध हुए और वे इतने सटीक और अचूक थे कि 'रामबाण औषधि' की कहावत ही चल पड़ी। शायद इसलिए भी राम के बाण विशेष हैं कि जगत की व्याधियों का निवारण करते हैं। शर्तिया इलाज। रावण का बुखार भी वे उतार देंगे।

रावण को सीता बिना किसी लाग लपेट के दुष्ट कहती हैं। अपहरण होने के बाद वे रावण को- अपने अपहर्ता को- अप्रसन्न न होने दें, इसकी सावधानी नहीं रखतीं। वे साहस और निर्भीकता के साथ उसके सामने पेश आती हैं। तुलसी की सीता इस दुष्ट के आगे रोती नहीं हैं। रूथ वनिता की पुस्तक 'Gandhi's Tiger

and Sita's Smile : Essays on Gender, Sexuality and Culture' में लेखिका का कहना है : "In Ramlila Performances in India and in most retellings of the Rama story, Sita is often depicted shedding tears. These tears emblematise her virtue and her suffering, the one represented as almost inseparable from the other. Emulating Sita as ideal woman and ideal wife, many modern heroines in Indian cinema and fiction also weep copiously. This stereotypical weeping that characterises the virtuous woman is often seen as steming from some deep-rooted Indian patriarchal misogynist tradition. One may modify that view, however, by pointing out, that the modern convention derives as much from a victorion paradigm ('Men must work and women must weep') as from a pre-modern Indian One." अर्थात् "भारत में रामलीला मंचनों में और रामकथा के अधिकतर पुनर्वाचनों में, सीता प्रायः आंसू बहाती हुई बताई गई हैं। ये आंसू उनके उस गुण और उनकी इस पीड़ा को प्रतीकाथित करते हैं, जो उनमें एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। सीता को एक आदर्श नारी और एक आदर्श पत्नी के रूप में नकल करते हुए भारतीय सिनेमा और कथानकों की कई आधुनिक नायिकाएं जमकर रोती हैं। यह गतानुगतिक रोना जो एक गुणवंती स्त्री को परिभाषित करता है, प्रायः किसी गहरी भारतीय पितृसत्तात्मक स्त्री विरोधी परंपरा से पैदा होता है। हालांकि इस दृष्टिकोण को यह बताकर संशोधित किया जा सकता है कि यह बात एक विक्टोरियन रीति (आदमी को काम करना ही चाहिए और स्त्री को रोना ही चाहिए) से उतनी ही निकली है जितनी एक पूर्वाधुनिक भारतीय आयाम से।" लेकिन रावण के सामने तुलसी की सीता रोतीं नहीं। पता नहीं, उस वक्त तो उनमें कैसा तेज-सा आ जाता है। तब वे उस रावण के सामने भी नहीं रोती जिसके नाम का अर्थ ही 'रुलाने वाला' है। वाल्मीकि की सीता तो रावण को जवाब देते हुए रोते-रोते शुरू करती हैं। 21वें सर्ग (सु.कां.) के पहले श्लोक में यह कहा गया है कि 'आर्ता दीनस्वरा दीनं प्रत्युवाच ततः शनैः' कि उन्होंने दीन वाणी में बड़े दुख के साथ धीरे-धीरे उत्तर देना आरंभ किया। उसके श्लोक की पहली पंक्ति में वाल्मीकि बताते हैं : 'दुःखार्त्ता रूंदती सीता वेपमाना तपस्विनी'। कि "तपस्विनी सीता दुख से आतुर होकर रोती हुई कांप रही थीं।" लेकिन तुलसी की सीता वैसे भले ही राम के वियोग में रोती रही हो, रावण के सामने पूरी दृढ़िमा के साथ लोहा लेती हैं। सीता की यह अदम्यता और उत्कटता रूथ वनिता जैसे लोगों को क्यों नहीं दिखाई पड़ी? वे इस दुर्धर्षता और तीक्ष्णता की उपेक्षा कर क्यों उन्हें एक शिथिलबल, हततेज, असहाय, असमर्थ, लाचार, कुंठित नारी की तरह पेश कर रही हैं? स्वयं वाल्मीकि रामायण में सीता इसी प्रसंग में रावण से यह कहती हैं : 'असंदेशान्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्माहि तेजसा' कि "हे दशमुख! मेरा तेज ही तुझे भस्म कर डालने के लिए पर्याप्त है। केवल राम का संदेश न होने से और अपनी तपस्या के अनुपालन के चलते मैं तुझे भस्म नहीं कर रही हूँ।" वाल्मीकि रामायण में अरण्यकांड के पैंतीसवें सर्ग में मारीच रावण को बताता है : "उनकी पत्नी वैदेही अपने ही पतिव्रत्य के तेज से सुरक्षित हैं।" हमारी परंपरा में नारी का यह 'तेज' क्यों नहीं देखा गया? उसके 'आंसुओं' को ही 'वर्चु' मान लिया गया? सीता का यह 'पूर्वाधुनिक' तेज रूथ वनिता जी देखें, विक्टोरियन पैराडाइम को लताड़ लगाता है। यहां यह स्त्री अपने अपहर्ता के प्रति किसी 'स्टाकहोम सिंड्रोम' से ग्रस्त नहीं है। वह अपने हरणकर्ता से भावनात्मक रूप से जुड़ नहीं गई हैं और न ही उसके प्रति समानुभूति (empathy) उनमें विकसित हो गई है। प्रायः होता यह है कि अपहृतों के पास सिर्फ कैप्टर का ही परिप्रेक्ष्य उपलब्ध होता है। अपनायक प्रायः अपने शिकारों को बाहरी संसार से काटकर रखता है

और अपहृतों की उस पर निरंतर विकसित होती हुई निर्भरता अन्ततः उन्हें एक तरह के मानसिक समर्पण की स्थिति में ले जाती है। लेकिन सीता इस सिंड्रोम से ग्रस्त नहीं हैं। उनका प्रतिरोध टूटा नहीं है। वे हतप्रभ नहीं हुई हैं। उन्हें राम का पर्सपेक्टिव उपलब्ध है। वे उन्हीं के ध्यान में रमी हुई हैं। वहीं से उन्हें भावनात्मक स्थिरीकरण की ऊर्जाएं प्राप्त होती हैं। इसलिए उनका तेजोमंडल अक्षत है और माफ करें, रूथ वनिता जी, एक अपने अन्यतम, अपने अनन्य की याद 'पितृसत्तात्मक और स्त्री विरोधी भारतीय परंपरा' का नतीजा नहीं होती। सीता रावण के सामने अपनी अर्यमा को कायम रख सकीं और उसके सामने उन्होंने अपने दैन्य का प्रदर्शन नहीं किया, यह बात उनके ज्योतिचक्र से जुड़ी हुई है और उसके दम पर यदि वे वाल्मीकि या तुलसी के यहां अपने अपहर्ता को खल-दुष्ट, पामर, अधम, निर्लज्ज कह लेती हैं तो उनके व्यक्तित्व और संस्कार दोनों ही विजयी होते हैं। व्यक्तित्व और संस्कार को हमेशा एक दूसरे के अवरोध में देखने की बुद्धिजीविता आपको मुबारक। अपने सबसे अंतरंग के अवधान से प्रेरणा पाना 'role of social subordinate' कैसे हो सकता है, जैसा कि रूथ वनिता की व्याख्या है? इस तर्क के मान से तो वे सब जो स्त्री से प्रेरणा पाकर कविता लिखते हैं, वे भी स्त्री के सोशल सबआर्डिनेट हुए। जब तुलसीदास और वाल्मीकि दोनों ही सीता को इतनी बड़ी तेजोमूर्ति के रूप में पेश करते हैं तो नवनीता सेन यह निष्कर्ष कैसे निकाल सकती हैं : "Patriarchal Brahminical system ....uses the Sita myth to silence women." तब सावित्री अम्माल यह निष्कर्ष कैसे निकाल सकती हैं : "Surely Sita is too gentle, too submissive. That a woman should have no independence, no separate existence at all from her husband's is a slight to the entire womanhood-is probably the feeling held by the more advanced lady." हालांकि सावित्री अम्माल आम आधुनिकाओं के विचार को व्यक्त कर रही हैं, स्वयं के निष्कर्ष को नहीं। सीता निश्चित ही अपने आप को अपने पति से अभिन्न मानती हैं। वे रावण से कहती भी हैं : "जैसे प्रभा सूर्य से अलग नहीं होती, उसी तरह मैं राम से अभिन्न हूं।" यही बात मारीच अरण्यकांड के सैंतीसवें सर्ग में रावण को लगभग इन्हीं शब्दों से पहले बता चुका है: "जैसे सूर्य की प्रभा उससे अलग नहीं की जा सकती, उसी तरह सीता को राम से अलग करना असंभव है" : लेकिन आज की नारी का आदर्श अपने पति से अलग एक स्वतंत्र अस्मिता का होना है। सिर्फ राम की बीवी नहीं, कुछ अलग। मजा देखिए कि पहचान बनाने को आतुर आधुनिकाएं समय की धुंध में खोती चली जा रही हैं और जिसने अपने को राम से अभिन्न नहीं जाना, वह सीता अपनी जबर्दस्त पहचान के साथ युगों-युगों से हम सब में उत्कीर्ण चली आ रही है। स्वामी विवेकानंद के शब्दों में, "हम सब सीता के बेटे हैं।" मारीच रावण को यह भी कहता है कि "जनक किशोरी सीता जिनकी धर्मपत्नी हैं, उनका तेज अप्रमेय है।" इसलिए इन सीता के द्वारा रावण को तुर्की-ब-तुर्की जवाब दिया जाता है। सीता भी साम-दान-भय-भेद दिखाती हैं। वाल्मीकि रामायण में सीता रावण से साम की बात यों कहती हैं : "निशाचर ! तुम श्रेष्ठ धर्म की ओर दृष्टिपात करो और सत्पुरुषों के व्रत का अच्छी तरह पालन करो। जैसे तुम्हारी स्त्रियां तुमसे संरक्षण पाती हैं, उसी प्रकार दूसरों की स्त्रियों की भी तुम्हें रक्षा करना चाहिए।" दान की बात भी है : "यदि तुम्हें अपने नगर की रक्षा और दारुण बंधन से बचने की इच्छा हो तो पुरुषोत्तम राम को अपना मित्र बना लेना चाहिए क्योंकि वे ही इसके योग्य हैं।" भय की तो पचास बातें सीता ने कहीं- "तुम्हारे जैसे निशाचर को कदाचित् हाथ से छूटा हुआ वज्र बिना मारे छोड़ सकता है और काल भी बहुत दिनों तक तुम्हारी उपेक्षा कर सकता है, किन्तु क्रोध में भरे हुए लोकनाथ रघुनाथ कदापि नहीं छोड़ेंगे। जैसे विनतानंदन गरूड़ सर्पों का संहार करते हैं, उसी प्रकार राम रूपी महान गरूड़ राक्षसराज रूपी सर्पों को वेगपूर्वक उच्छिन्न कर डालेंगे।

तुम कुबेर के कैलाश पर्वत पर चले जाओ अथवा वरूण की सभा में जाकर छिप रहो। किन्तु काल का मारा हुआ विशाल वृक्ष जैसे वज्र का आघात लगते ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार तुम दशरथनंदन राम के बाण से मारे जाकर तत्काल प्राणों से हाथ धो बैठोगे, इसमें संशय नहीं है क्योंकि काल तुम्हें पहले से ही मार चुका है।" भेद की बात भी सीता कहती हैं : "मैं मतिमान् राम की भार्या हूं, मुझे हर लाने की शक्ति तेरे अंदर नहीं थी। निःसंदेह तेरे वध के लिए ही विधाता ने यह विधान रच दिया है। तू तो बड़ा शूरवीर बनता है, कुबेर का भाई है और तेरे पास सैनाएं भी बहुत हैं, फिर राम को छल से दूर हटाकर क्यों तूने उनकी स्त्री की चोरी की है।" तुलसी के यहां भी 'सुनु दशमुख खद्योत प्रकासा/कबहुं कि नलिनी करिही विकासा' में साम है। 'खल सुधि नहीं रघुबीर बान की' में भय है। 'सठ सूने हरि आनहिं मोही' में भेद है। सीता का प्रत्युत्तर कम तुर्श नहीं है। पता नहीं किन मूर्खों ने इस स्त्री की छविरचना गूंगी गुड़िया की तरह की। शायद उन्होंने जिन्होंने किताब को नहीं पढ़ा।

ध्यान रहे, सीता रावण के कुरूप होने के बारे में एक शब्द नहीं बोलतीं। कोई वाकई 10 सिर का हो तो यह बात सबसे पहले ध्यान में आती। लेकिन सीता यह नहीं कहतीं कि तुम इतने कुरूप हो कि यदि डॉग शो जाओ तो तुम्हें पुरस्कार मिलेगा। कि तुम इतने कुरूप हो कि समुन्दर के किनारे खड़े हो जाओ तो लहरें भी आने से इंकार कर दें, कि तुम बूमरेंग भी फेंको तो वह भी वापस न आए, कि तुम लंका को घेरे हुए समुद्र में भी यदि गिरो तो पिरान्हा मछलियां तक डर जाएं- ऐसी तमाम अपमानास्पद बातें। लेकिन सीता एक शब्द वाल्मीकि रामायण में या तुलसी के यहां तुलनात्मक रूप से 'रूप-कुरूप' के बारे में नहीं बोलतीं। ये दोनों महाकवि इस तरह की तुलना में सीता को सस्ता हुआ देखते। दशग्रीव के बारे में वह वे यह भी नहीं बोलतीं कि जो कुछ प्रसिद्ध कटूक्तियों में कही गई। 'He has so many chins, you can't be sure of which one he's going to talk out of next.' या 'He has a nice head on his shoulders. But it would look better on a neck!' सीता अनन्यता की बात करती हैं जो उनके स्वभाव, संस्कार और सोच का नतीजा है- 'सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा/ कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा।' लेकिन वे राम के रूप को रावण के रूप से बेहतर बताकर यह कभी नहीं कहतीं कि 'मुंह देखा है आइने में' या कि 'मुंह देखे हैं आइने में।' वे ऐसी तुलना इसलिए नहीं करतीं कि रूप नश्वर है या बहुत भारी चीज है। बल्कि वे इससे ये संदेश नहीं देना चाहेंगी कि यदि तुम राम से ज्यादा सौंदर्यवान होते तो इससे कोई फर्क पड़ सकता था। रावण में दृष्टि की स्थूलता है। वह सीता का परिचय भी अकंपन नामक राक्षस से उसी स्थूलता के साथ पाता है : "राम की पत्नी सीता संसार की सर्वोत्तम सुंदरी है। उसने यौवन के मध्य में पदार्पण किया है। उसके अंग-प्रत्यंग सुंदर और सुडौल हैं। देवकन्या, गंधर्वकन्या, अप्सरा अथवा नागकन्या कोई भी रूप में उसकी समानता नहीं कर सकती, फिर मनुष्य जाति की दूसरी कोई नारी उसके समान कैसे हो सकती है।" रावण भी सीता से यही कहता है : "तुम्हारे रूप की समता करने वाली दूसरी कोई स्त्री नहीं है। यह तुम्हारा नवोदित सुंदर यौवन बीता जा रहा है जो बीत जाता है वह नदियों के प्रवाह की भांति फिर लौटकर नहीं आता।" सीता तब यह नहीं कहतीं कि राम के रूप की समता करने वाला दूसरा कोई पुरुष नहीं है। वे यह भी नहीं कहतीं कि रावण तू जितना अंदर से गंदा है, उतना बाहर से भी। रावण को नहीं मालूम कि "The greatest treasures are those invisible to the eye, but found by the heart." या जैसा खलील जिब्रान कहते थे कि "सौंदर्य चेहरे में नहीं है। इट इज अ लाइट इन द हार्ट। दिल में उजाला।" सीता के इस अवबोध की तुलना में 'विद्वान' कहे जाने वाले रावण का सतहीपन एक ऐसा वैपरीत्य है जिसे रेखांकित करना ही पड़ता है।

सीता की स्टीरियोटाइपिंग एक ऐसी दब्बू पत्नी के

रूप में जिसका कोई स्वतंत्र चिंतन नहीं था, करने वाले अन्याय ही नहीं कर रहे, अपराध कर रहे हैं। सीता की भावनात्मक दृढ़ता सीता का चारित्रिक परिचय है। चाहे राम हों, चाहे रावण–सीता करती अपने मन की हैं। और ऐसा भी नहीं है कि यह इसलिए हुआ कि वाल्मीकि और तुलसी आदि उन्हें आदर्शीकृत करना चाहते थे। यदि ऐसा होता तो अरण्यकांड का पैंतालीसवां सर्ग होना ही नहीं था। वह सर्ग जिसमें सीता लक्ष्मण पर अनर्गल आरोप लगाती हैं। एक ऐसी भूल जिसके लिए बाद में उनकी आंख में आंसू भर-भर आते हैं।

सीता रोती हैं : 'नाथ जुगल लोचन भरे वारि' हनुमान कुछ ऐसा राम को रिपोर्ट भी करते हैं। सीता का संदेश भीः 'नयन स्रवहि जलु निज हित लागी/जरै न पाव देह बिरहागी।' सीता भय से नहीं रोतीं, ग्लानि से रोती हैं। अपनी पूरी जिन्दगी में सीता किसी एक के प्रति अपराधी हैं तो लक्ष्मण के प्रति। उस समय शायद वे अपने आपे में नहीं थीं। उसे इंगित करने के लिए तुलसी ने 'मरमु बचन कछु सीता बोला' जैसी लिंग-भ्रम की त्रुटि जानबूझकर कर दी। शायद राम के प्रति उनके प्रेमाधिक्य ने ही उन्हें इतना विकल कर दिया था कि वे अपना आपा खो बैठी थीं। उस आवेश में उनके हाथों वह अपराध हो गया। उसके प्रति जो इतना निर्दोष और निश्छल था। इसलिए दोनों आंखों में आंसू भरकर वे दोनों के ही पांव पड़ने का संदेश हनुमान को देती हैं। 'अनुज समेत गहेहुँ प्रभु चरना'।

पर्सीफोनी और हेलेन भी सीता की तरह ही अपहृत हुई थीं। पर्सीफोनी को हर्मीज, अरेज, अपोलो, हेफाएस्टस आदि देवताओं ने डोरे डाले लेकिन उसकी माँ डिमीटर ने उनके सारे उपहार ठुकराते हुए उसे छुपा दिया। हेडेस ने पर्सीफोनी का अपहरण कर लिया। पर्सीफोनी भी कृषि और उर्वरता से उसी प्रकार सम्बद्ध है जैसे सीता। लेकिन सीता रावण को उस तरह स्वीकार नहीं करतीं जैसे पर्सीफोनी हेडेस को कर लेती है कि वह वर्ष में तीन महीने उसके साथ रहेगी। सीता असमर्पित रहती हैं, हालांकि हेडेस की तरह रावण भी 'लॉर्ड आफ द अंडरवर्ल्ड' तो था ही। बिल्कुल आधुनिक अर्थों में। इसी तरह हेलेन का अपहरण थीसियस के द्वारा होता है। हेलेन को भी अजेक्स, एलीफेनर, मेनेलौस, मेनोस्थियस, ओडीसस, फिलोक्टेटस, प्रोटोसिलौस जैसे राजाओं की ओर से उसका हाथ थामने का आमंत्रण मिलता है। हेलेन का एक अपहरण और बलात्कार पेरिस के द्वारा हुआ भी बताया गया है। एस्मोडिटस नामक एक दैत्य की कहानी भी आती है कि जो सारा से प्यार करता है और ईर्ष्या में एक के बाद एक उसके सात पतियों को मार डालता है। सीता का मामला इन सबसे अलग है। उनका अपहरण हुआ, उनका समर्पण नहीं हुआ। सीता का आत्म-गौरव कभी पराजित नहीं हुआ।

सीता रावण के आत्म-गौरव पर सबसे बड़ा आघात उसे यह कहकर करती हैं कि "हे दुष्ट! तू मुझे सूने में अपहरण करके यहां ले आया।" पहले उसे 'खल' कहा, अब 'शठ' कहा। वाल्मीकि के यहां पहले 'तुम,' फिर 'रावण,' फिर 'राक्षस,' फिर 'नीच निशाचर' फिर एक तरह से 'कुत्ता,' 'अनार्य' 'पापी' कहा गया। तुलसी के यहां सीता तो शुरू से ही कठोरतम विशेषण वापरती हैं। लेकिन वाल्मीकि के यहाँ सीता का सम्बोधन-स्वर क्रमशः उग्र होता जाता है। सीता रावण के द्वारा किए जाने वाले बल पौरुष के सारे दावों को यह कहकर खंडित कर देती हैं कि वह उन्हें सूने में हर लाया था। पार्थिवी रावण की फेंक को वाकई जमीन सुंघा देती हैं। वाल्मीकि रामायण में रावण सीता से कहता है कि "इस संसार में किसी दूसरे ऐसे पुरुष को नहीं देखता, जो मेरा सामना कर सके। तुम युद्ध में मेरा वह पराक्रम देखना, जिसके सामने कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं टिक पाता।" तब सीता यह कहती हैं कि "राक्षस! जब राक्षसों की सेना का संहार हो जाने से जनस्थान का तुम्हारा आश्रय नष्ट हो गया और तुम युद्ध करने में असमर्थ हो गये, तब तुमने छल और चोरी से यह नीच कर्म किया है। नीच निशाचर! तुमने पुरुष सिंह श्रीराम और लक्ष्मण के सूने आश्रम में घुसकर मेरा हरण किया था। वे दोनों उस समय मायामृग को मारने के लिए वन में गये हुए थे।" वासुंधरेयी के

द्वारा पौलस्त्य को यह याद दिलाना उसके अभिमान पर सीधी चोट है। सीता सच कहने का जोखिम मोल लेती हैं, तब भी जब वे निपट अकेली हैं। अनापद और अभिरक्षित स्थिति में तो सच बोला भी जा सकता है, लेकिन जब कोई ऐसे दुष्काल, ऐसी गर्दिश में हो कि आपका जीवन भी अपहर्ता की दया पर हो तब पुण्यश्लोका सीता के द्वारा किंचित् भी रियायत न देते हुए रावण की अहम्मन्यता की धज्जियां उड़ा देना अद्‌भुत है। रावण एक दृप्त पुरुष है, उद्धत भी। लगातार विजयों से उसकी बददिमाग साहबी और शीर्ष पर पहुंच गई है। लेकिन सीता उसे साफ-साफ चोर कह रही हैं। साफ-साफ उससे पूछती हैं कि 'राम को छल से दूर हटाकर क्यों तूने उसकी पत्नी की चोरी की है?"

विजयेन्द्र मोहंती जैसे लोग जो रावणायन की कामिक स्ट्रिप लिख रहे हैं या तमिल नाटककार मनोहर जिन्होंने 'लंकेश्वरम' नाटक लिखा, रावण के परिप्रेक्ष्य से भी इस कथा को सुनने समझने की कोशिश कर रहे हैं। रावण एक पल को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में पेश किया जा सकता है जिसने सीता के प्रति अपने प्यार के चक्कर में अपनी जान दे दी। एक फॉरबिडन लव, एक ट्रेजिक हीरो। अच्छी कहानी बनती है। रावण ने एक असाध्य प्रेम के लिए अपनी मृत्यु सुनिश्चित की। लेकिन यदि वाल्मीकि का ही आधार लें तो रावण का यह 'डिवाइन रोमांस' किसी तरह दिव्य नहीं है। सीता को अपहृत करके लाना राम को निपटाने की तरकीब थी। अकंपन ने अरण्यकांड के 31वें सर्ग में रावण को सलाह दी थी : "उस विशाल वन में जिस किसी भी उपाय से राम को धोखे में डालकर आप उनकी पत्नी का अपहरण कर लें। सीता से बिछुड़ जाने पर राम कदापि जीवित नहीं रहेंगे।" यह थी रावण के दिव्य प्रेम की तथाकथित प्रेरणा। फिर शूर्पणखा रावण को सरासर झूठ बोल कर उकसाती है : "महाबाहो! विस्तृत जघन और उठे हुए पुष्ट कुचों वाली उस सुमुखी स्त्री को जब मैं तुम्हारी भार्या बनाने के लिए ले जाने को उद्यत हुई, तब क्रूर लक्ष्मण ने मुझे इस तरह कुरूप बना दिया।" मारीच से छत्तीसवें सर्ग में वह यह भी कहता है कि "उसके बाद स्त्री का अपहरण हो जाने से जब राम अत्यन्त दुखी और दुर्बल हो जाएगा, उस समय मैं निर्भय होकर सुखपूर्वक उसके ऊपर कृतार्थ चित्त से प्रहार करूंगा।" तो रावण के द्वारा सीता का अपहरण रावण के अमर प्रेम का परिणाम नहीं था। बल्कि राम और सीता के अमर-प्रेम का परिणाम था। अयोध्याकांड के सत्ताईसवें सर्ग के 21वें श्लोक में सीता यह कहती हैं कि "पुरुष सिंह आपके बिना यदि मुझे स्वर्गलोक का निवास भी मिल रहा हो तो वह मेरे लिए रुचिकर नहीं हो सकता। मैं उसे लेना नहीं चाहूंगी।" दूसरी ओर तीसवें सर्ग के 27वें श्लोक में राम कहते हैं कि "देवी! तुम्हें दुख देकर मुझे स्वर्ग का सुख मिलता हो मैं उसे भी लेना नहीं चाहूंगा।" दोनों एक-दूसरे को अभिन्न मानते हैं। जबकि रावण के लिए सीता राम को कमजोर करने का एक अस्त्र भर है। सीता से रावण का कोई आत्मिक आध्यात्मिक लगाव कहीं नजर नहीं आता।

दूसरे जिस एक बात को रावण का पुनर्लेखन करने वाले लोग नजर अंदाज कर रहे हैं, वह है सीता को चुराकर लाना। रावण जिसकी तथाकथित वीरता के किस्से सुनाते लोग नहीं अघाते, वीर्यशुल्का सीता को उसके स्वयंवर में क्यों नहीं जीत सका? या स्वयं राम या लक्ष्मण के सामने ही युद्ध करके क्यों नहीं जीत सका? यदि राम के हाथों वीरगति की उसकी गुप्त इच्छा थी तो सीतापहरण के समय उसने यह सीधी मुठभेड़ क्यों न कर ली? योद्धा का कवच पहनकर राम के सामने क्यों नहीं गया? परिव्राजक का वेष धरकर सीता के सामने क्यों गया? हार की जीत कहानी में नायक को यह भय है कि आगे से लोग अंधे पर भरोसा करना नहीं छोड़ दें। लेकिन पौलस्त्य को भय नहीं कि उसकी इस हरकत के बाद परिव्राजकों पर लोग भरोसा करना छोड़ देंगे? छियालीसवें सर्ग (वा.रा.अ.कां.) में वाल्मीकि लिखते हैं : "राम से बदला लेने का अवसर ढूंढ़ने वाला दशमुख रावण उस समय भिक्षुरूप से विदेहकुमारी सीता के पास पहुंचा।" वह संस्कृति जो

भिक्षां देहि के सिद्धान्त पर चलती थी, उसकी इस कमजोरी का ऐसा उपयोग? इसी सर्ग के 32वें से 36वें श्लोकों में वाल्मीकि बताते हैं : "वेशभूषा से महात्मा बनकर आये हुए रावण ने जब विदेहकुमारी सीता की इस प्रकार प्रशंसा की, तब ब्राह्मण-वेष में वहां पधारे हुए रावण को देखकर मैथिली ने अतिथि सत्कार के लिए उपयोगी सभी सामग्रियों द्वारा उसका पूजन किया। पहले बैठने के लिये आसन दे, पाद्य निवेदन किया। तदनंतर ऊपर से सौम्य दिखायी देने वाले उस अतिथि को भोजन के लिए निमंत्रित करते हुए कहा- "ब्राह्मण! भोजन तैयार है, ग्रहण कीजिये।" "वह ब्राह्मण के वेष में आया था। कमण्डलु और गेरूआ वस्त्र धारण किये हुए था। ब्राह्मण भेष में आये हुए अतिथि की उपेक्षा असंभव थी। उसकी वेशभूषा में ब्राह्मणत्व का निश्चय कराने वाले चिन्ह दिखाई देते थे, अतः उस रूप में आये हुये उस रावण को देखकर मैथिली ने ब्राह्मण के योग्य सत्कार करने के लिए ही उसे निमन्त्रित किया। वे बोलीं- "ब्राह्मण! यह चटाई है, इस पर इच्छानुसार बैठ जाइए। यह पैर धोने के लिए जल है, इसे ग्रहण कीजिए और यह वन में ही उत्पन्न हुआ उत्तम फल-फूल आपके लिए ही तैयार करके रखा गया है, यहां शान्त भाव से उसका उपभोग कीजिए।" सीता ब्राह्मण, भिक्षा और आतिथ्य के तीन दायित्वों को एक अजनबी के प्रति भी निभाती हैं और रावण छल और प्रवंचना को–अंग्रेजी शब्द में कहें तो chicanery को–इस सहज विश्वासी निश्छलहृदया नारी के विरुद्ध प्रयुक्त करता है। सीता उचित ही राम और रावण में यह फर्क तभी बता देती हैं : "वन में रहने वाले सिंह और सियार में, समुद्र और छोटी नदी में तथा अमृत और कांजी में जो अंतर है, वही अन्तर राम और तुझमें है। सोने में और सीसे में, चंदन मिश्रित जल और कीचड़ में तथा वन में रहने वाले हाथी और बिलाव में जो अन्तर है, वही अंतर राम और तुझमें है। गरूड़ और कौए में, मोर और जलकाक में तथा वनवासी हंस और गीध में जो अन्तर है, वही अंतर राम और तुझमें है।" यह सीता के लिए प्रेम नहीं, सीता का अपमान था और 48वें सर्ग (अ.का.) के अंतिम श्लोक में सीता इसे कहती भी हैं : "राक्षस! वज्रधारी इन्द्र की अनुपम रूपवती भार्या शचि का तिरस्कार करके संभव है कोई उसके बाद भी चिरकाल तक जीवित रह जाए, परन्तु मेरी जैसी स्त्री का अपमान करके तू अमृत पी ले तो भी तू छूट नहीं सकता।" अंग्रेजी में धोखे के लिए 'मंकी-साइंस' नाम या 'मंकी बिजनेस' नाम गलत रखा गया है। रावण जिस तरह से अपहरण को सेट अप करता है, उससे लगता है कि रावण के नाम पर मिथ्याचार का नाम होना था। क्या ऐसी धूर्तता और फरेब को हम 'पराजित' का इतिहास लिखने के नाम पर रक्षित कर सकते हैं? लगता है, राम को ब्राह्मणवाद का प्रतिनिधि बताने वालों के लिए भी जरूरी हो जाता है कि वे मक्कारी, ईमान फरामोशी और साजिश को भी महिमा मंडित करें। चूंकि राम की किसी भी तरह लानत-मलानत करनी है तो जरूरी है कि रावण के द्वारा किए गए बलात्कारों पर चुप ही रहा जाए। न वेदवती के बारे में कुछ बोला जाए, न पुंजिकास्थली के बारे में कुछ बोला जाए, न रंभा के बारे में बल्कि उसके बारे में यह प्रचारित किया जाए कि उसने जिसका भी अपहरण किया, उनकी मर्जी से किया। एक तमिल वर्शन रामायण का अभी आया है जिसमें सीता राम, लव, कुश को छोड़कर रावण के पास वापस चली जाती हैं, वीणा सीखने। यदि रावण सभी को उनकी मर्जी से ही हर ले गया था तो यह क्यों हुआ कि नलकूबर ने जब रावण को यह शाप दिया कि "वह आज से दूसरी किसी ऐसी युवती से समागम नहीं कर सकेगा जो उसे चाहती न हो। यदि वह कामपीड़ित होकर उसे न चाहने वाली युवती पर बलात्कार करेगा तो तत्काल उसके मस्तक के सात टुकड़े हो जाएंगे," तो वह जिन-जिन पतिव्रता स्त्रियों को हरकर ले गया था, उन सबके मन को नलकूबर का दिया हुआ वह शाप बड़ा प्रिय लगा और उसे सुनकर वे सब-की-सब बहुत प्रसन्न हुईं।" पराजित के प्रति सहानुभूति और ब्राह्मणवादी संस्कृति के प्रतीकों से घृणा के चक्करों में हम रावण के किन-किन कुकर्मों

को इग्नोर करेंगे? रावण रंभा और पुंजिकास्थली के बारे में नलकूबर और ब्रह्मा से मिले शापों की उपेक्षा कर सकता था, लेकिन सीता को क्या करे? पूर्व जन्म की यह वेदवती इस जन्म का मूर्तिमान शाप है। एक तिब्बती पाठ में सीता लक्ष्मण को राम के पीछे भेजने के पहले यह कहती है कि जो भी मुझे मेरी इच्छा के बिना छुएगा, भस्म हो जाएगा। रावण ने क्या इस वाक्य को सुन लिया था?

रावण के कारण वेदवती अग्नि में भस्म हुई थी। सीता को इसी अग्नि की परीक्षाओं से राम के कारण इस जन्म में गुजरना है। पिछले जन्म में स्वयं वेदवती ने अग्नि प्रज्जवलित की थी। इस जन्म में सीता को फिर बार अग्नि के पब्लिक आयोजनों-संयोजनों से गुजरना है। वैसे मुझे नहीं लगता कि अग्नि परीक्षा जैसी कोई चीज हुई क्योंकि इसका न महाभारत, न हरिवंश, न विष्णु पुराण, न अन्य पुराणों में उल्लेख आता है। रामायण के प्रथम सर्ग में जहां रामायण का इंडेक्स दिया हुआ है, वाल्मीकि ने राम के द्वारा सीता को वनवास दिए जाने की घटना की कोई चर्चा नहीं की है। नारदजी यहां रामायण की executive summary दे रहे हैं और वहां सीता-वनवास जैसी बड़ी घटना की कोई चर्चा न करना आश्चर्यजनक लगता है। फिर भी 'अग्नि' के इस आयाम की पोएटिक संभावनाएं जबर्दस्त हैं। वेदवती का अग्नि में अंत, सीता का अग्नि से पुनरुद्भव और द्रौपदी का अग्नि से उदयः- यह एक अद्भुत अग्नि-चक्र है। सीता के साथ चलता हुआ अग्नि का यह नैरेटिव अपने आप में अद्भुत व्याख्याओं को समेटे हुए है। वेदवती के अग्न्याधान से शुरू हुआ यह सफर द्रौपदी तक पहुंचते-पहुंचते भारतीय नारी की फायर-पावर का सफर बन जाता है। रावण ने सीता की चोरी जरूर कर ली, लेकिन अब उसकी वाटिका में जैसे लंका का प्रलयानल पल रहा है। हनुमान आके वही लंका का दहन करने वाले हैं। विश्रवा के पुत्र की आंखों के सामने वाजश्रवा का फैलाव।

ध्यान रहे कि रावण का केस ब्राइड किडनैपिंग का नहीं है, वह विवाहिता स्त्री को हर लाया है। मध्य एशिया के काकेशस क्षेत्र से लेकर कई अफ्रीकी देशों में, मेक्सिको के जीताल लोगों से लेकर यूरोप में रोमानी तक ब्राइड किडनैपिंग चलती है। ब्राइड किडनैपिंग भी एक तरह की जबरिया शादी है और रवांडा, इथियोपिया आदि में तो अपहरण के बाद बलात्कार भी करते हैं। उसके बाद गर्भवती बना दी गई लड़की को लेकर लड़का लड़की के मां-बाप के पास जाता है और उन्हें अपने द्वारा किए गए अपहरण के बदले में बहुत से उपहार और धनराशि देकर विवाह की सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करता है। कज़ाकस्तान में alyp asbu दो तरह की बताई गई हैं; एक kelisimsiz (बिना सहमति के ब्राइड किडनैपिंग), दूसरी kelissimmen (लड़की की सहमति के साथ)। उज्बेकिस्तान के काराकल्पकस्तान क्षेत्र में 20 प्रतिशत विवाह ब्राइड किडनैपिंग के जरिए होते हैं।

लेकिन रावण का केस विवाहिता स्त्री को ही हर लाने का था। यह वैसा मामला था जिसके कारण ग्रीक गाथाओं में प्रसिद्ध ट्रोजन का युद्ध हुआ। 326 ई में सम्राट कान्स्टेन्टाइन ने एक कानून बनाकर अपहरण के जरिए होने वाले विवाहों को प्रतिबंधित कर दिया था और यदि अपहृता स्त्री अपहर्ता से विवाह करने को राजी हो जाती थी तो उसे भी कड़ा दंड दिया जाता था। लेकिन वह भी रावण जैसा मामला नहीं था। रावण का मामला आमव्यभिचार की श्रेणी में भी नहीं आता। व्यभिचार दोनों पक्षों की सहमति से हुआ विवाहेतर सम्बन्ध है। यहां रावण सीता की इच्छा के विरुद्ध उन्हें अपहरण कर के लाया और अब उनकी 'कंसेंट' की मैन्युफैक्चरिंग करने में लगा हुआ है। अल्फ्रेड किसी के एक अध्ययन के अनुसार 50 प्रतिशत अमेरिकी पुरुष और 26 प्रतिशत अमेरिकी स्त्रियां जीवन में एक बार विवाहेतर सेक्स करती हैं। लेकिन रावण तो बाकायदा एक रॉयल किडनैपिंग इंडस्ट्री चलाता है। उसे अपनी पुत्रवधू पर बलात्कार करने में भी हर्ज नहीं है। वह उन ट्राइब्स से बहुत बदतर ही है जिनकी मैंने ऊपर चर्चा

की। रावण जंगली है। आश्चर्य नहीं कि रामचरितमानस के लंकाकांड में जब अंगद रावण को पहली-पहली बार देखते हैं तो उन्हें जंगल का इम्प्रेशन पैदा होता है। 'अंगद दीख दसानन बैसा/सहित प्रान कज्जल गिरि जैसा/भुजा विटप सिर सृंग समाना/रोमावली लता जनु जाना/मुख नासिका नयन अरू काना/गिरि कंदरा खोह अनुमाना।' यही नहीं कि रावण ने एक पर-पत्नी का उसकी इच्छा-विरुद्ध अपहरण किया है, बल्कि यह कि, जैसा अंगद कहते हैं, 'हरि आनेहु सीता जगदम्बा'। कुंभकरण तक यह कहता है कि 'जगदंबा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान।' सीता सर्वश्रेयस्करी हैं लेकिन उनकी अप्रसन्नता से जब से वे लंका में आई हैं, वहां अपशकुन ही हो रहे हैं, यह बात माल्यवंत भी महसूस कर लेता है। सीता में कुछ काज़्मिक है जो रावण की अकल में नहीं आता। लेकिन इन्हीं सब चीजों के चलते रावण अधम है।

सीता ने रावण की बेशर्मी को देखा है। अभी नहीं, पिछले जन्म से। यह वो आदमी है जिसकी आंख का पानी मर गया है। एक बहुत बेग़ैरत इन्सान। यह इतनी बेहयाई से इतनी औरतों के सामने एक और स्त्री से इस तरह की बातें करता है। वह सीता के पास अकेले नहीं आता। इस हद तक उसने अपनी इन स्त्रियों को dehumanized कर दिया है कि इन स्त्रियों को कुछ भी आपत्तिजनक नहीं लगता। इसके पहले वाल्मीकि रामायण में हनुमान इन स्त्रियों की बेहिजाबी को रावण के अन्तःपुर में देख चुके हैं। मुझे फे वेल्डन के वे शब्द इन औरतों को देखकर याद आते हैं : "The new women! I could barely recognize them as being of the same sex as myself, their buttock arrogant in tight jeans, openly inviting, breasts falling free and shameless and feeling no apparent obligation to smile, look pleasant or keep their voices low and how they live! Just look at them to know how! If a man doesn't bring them to orgasm, they look for another who does. If by mistake they fall pregnant, they abort by vacuum aspiration. If they don't like the food, they push the plate away. If the job doesn't suit them, they hand in their notice. They are satiated by everything, hungry for nothing. They are what I wanted to be, they are what I worked for them to be: and now I see them, I hate them."

इन नई औरतों की तुलना में रावण की पुरानी औरतें एक तरह के विमानवीकरण से गुजरी हैं, वाल्मीकि उस प्रक्रिया का बहुत वृहद चित्रण करते हैं। रावण ने अपनी औरतों को जिस तरह से निर्लज्ज बना दिया है, खुद भी उसी निर्लज्जता के शीर्ष पर पहुंच गया है। वह सीता को यह भी बताने में संकोच का अनुभव नहीं करता कि 'पराई स्त्रियों के पास जाना अथवा बलात् उन्हें हर लाना यह राक्षसों का सदा ही अपना धर्म रहा है।' यहां बात फिर एक तरह के कल्चरल गैप की आ जाती है। कुछ लोगों का कहना है कि तुर्की आक्रमणों के बाद स्त्री के पावित्र्य का हिन्दू आब्सेशन एक खास तरह की उन्मादी जिद में बदल गया था। शेल्डन पोलॉक का कहना है कि "Ravana is not only other in his reckless polygamy- 'others' always threaten to steal 'our' women- but is presented without question as a tyrant, perhaps even as a kind of 'Oriental despot' constructed by a preform of Orientalism." लेकिन रावण को इस 'अदर' के रूप में वाल्मीकि ने तब वर्णित किया जब मुस्लिम आक्रमणों का कहीं अता-पता नहीं था। यह सच है कि तुज्के-तिमूरी में स्वयं तैमूर लंग ने दिल्ली में अपने द्वारा किए गए नरसंहार के बारे में लिखा : "ये सभी काफिर हिंदू मार डाले गए, उनकी औरतें और बच्चे और उनकी जायदाद व सामान विजेताओं के हाथ आई। एक ही दिन में एक लाख काफिर गंदे मूर्तिपूजक मार डाले गए।" यह सही है कि मध्यकालीन भारत में 'जौहरों' की बाढ़ आ गई थी।

मध्यकाल में जब यूरोप इन्क्वीजीशन में लाखों औरतों को डायन समझकर जला रहा था और भारत में औरतें जौहर में जल रही थीं- अग्नि औरत की नियति का एक अंतरंग हिस्सा बन गई थी। आज तक भी दिखती है जब औरतें दहेज के लिए जला दी जाती हैं। मध्यकाल की इस प्रकट पृष्ठभूमि के बावजूद, रावण और सीता के बीच के इस सांस्कृतिक वैभिन्य को वाल्मीकि ने बहुत पहले ही रेखांकित कर दिया था। तो ऐसा नहीं है कि 'अधम निलज्ज लाज नहिं तोही' में सीता की आवाज में उन हिंदूस्तानी नारियों की गूंज शामिल नहीं थी जो कमोबेश इन्हीं स्वरों में ऐसे ही अपहर्ता शासकों को धिक्कार रही थीं। सीता के रूप में प्रतिरोध की इसी चेतना ने मध्यकाल में ऐसी अनेक स्त्री संतों/योद्धाओं/रानियों को भी जन्म दिया जिन्होंने जौहर की जगह तलवार या कलम संभाली। जब एक आक्रान्ता संस्कृति भारतीय स्त्रीत्व को अपमानित करके हमें नीचा दिखाने में लगी थी, भारतीय समाज ने स्त्रियों को अधिकाधिक आदृत करना शुरू कर दिया। इस अवधि में इतने सती-मंदिर आए, जितने भारत के इतने विस्तृत पूर्वेतिहास में कभी नहीं आए थे। भारतीय स्त्रीत्व का ऐसा निरादर उस समय के आक्रमणकारी कर रहे थे, उसकी सुरक्षा में स्त्रीत्व के दैवीकरण (divinization) का एक रिस्पांस-मैकेनिज्म जरूर तैयार हुआ। इब्नबतूता का ही एक विवरण लें तो आक्रमणकारियों की एप्रोच साफ-साफ दीख पड़ती है : "First of all, daughters of Kafir Rajas captured during the course of the year, come and sing and dance. Thereafter they are bestowed upon Amirs and important foreigners. after this daughters of other kafirs dance and sing........... the Sultan gives them to his brothers, relatives, sons of maliks etc. On the second day the Durbar is held in a similar fashion after Asr. Female singers are brought out..... the Sultan distributes them among the Mamelik Amirs. On the third day relatives of the Sultan are married. On the sixth day male and female slaves are married." ऐसे ढेरों विवरण हैं जिन्हें आज पढ़-सुनकर पुरुष भी 'अधम निलज्ज लाज नहीं तोही' के शब्द इन हमलावरों के लिए बोलने लगेंगे। ऐसे में सीता का आदर्श एक उपयोगी स्मृति था। हिंदू स्त्रियों से तत्कालीन आक्रमणकारियों का विवाह किसी साम्प्रदायिक सद्‌भाव की स्थापना के लिए नहीं था क्योंकि यदि अन्तर्धार्मिक विवाह से ऐसा सद्‌भाव पनपता तो मुस्लिम स्त्री से हिंदू पुरुष के विवाह के मध्यकालीन उदाहरण भी मिलने थे। सीता के प्रतिरोध की प्रतिक्रिया के रूप में वही तलवार सामने आई जो आक्रमणकारियों की थी। तलवार की नोक पर हुए बलात्कारों की पृष्ठभूमि में यह एक पौराणिक स्मृतिः 'मा भेः' मत डरो : 'परूख बचन सुनि काढि असि बोला अति खिसि आन।' 'काढ़ि असि' में तलवार निकालकर ढाए गए अतिचारों की एक तुलसीकालीन प्रासंगिकता थी। सीता 'स्पेड' को 'स्पेड' बोल रही थीं और वे वैसी कोई शुगरकोटिंग नहीं कर रही थीं जैसी मध्यकालीन इतिहास को सह्य बनाने के लिए आजकल के कई मूर्धन्य इतिहासकार अपने शीर्षासनों में करते रहते हैं।

लेकिन यह भी सच है कि इसके लिए तुलसी ने वाल्मीकि की सीता द्वारा दिखाए गए प्रतिरोध से कोई बहुत अलग और बहुत 'लाउड' प्रयोग नहीं किए किन्तु तुलसी को पहचानना हो तो उसके बहुत बारीक डिपार्चर्स को देखना पड़ता है। उदाहरण के लिए यही शब्द : 'काढ़ि असि' यह तुलसी का अपना सृजन है। वाल्मीकि के रावण ने भी क्रोध में धमकी दी थी : "अन्यायी और निर्धन मनुष्य का अनुसरण करने वाली नारी! जैसे सूर्य-देव अपने तेज से प्रातःकालिक संध्या के अंधकार को नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार आज मैं तेरा विनाश किए देता हूं।" तुलसी का रावण भी मारने पर उतारू हो जाता है। फर्क सिर्फ इतना है कि वाल्मीकि का रावण लंबी सांसें खींचता है जबकि तुलसी का रावण सीधे तलवार ही खींच लेता है। यह जरूर है कि वाल्मीकि

भी उसे 'भुजङ्ग इव निश्वसन' (सर्प के समान लम्बी सांसें खींचकर) कहते हैं। बहरहाल बात तलवार की चल रही थी। तुलसी के समय आक्रामकों द्वारा तलवार की नोंक पर ही बात होती थी। तलवार न केवल हार और जीत तय करती थी बल्कि तलवार में जीवन और मृत्यु के बीच किसी तरह का संकोच नहीं था। वह तर्क नहीं करती थी और स्वयं में ही एक सिद्धांत की तरह स्थापित हो गई थी। तलवार का चरित्र यह था कि वह सामने वाले के जीवन-मूल्यों और संस्कारों को सहन ही नहीं करती थी। तलवार उस समय की सत्ता का एसेंस थी। रावण असहमति को शांत करने के लिए तुलसी के यहां तलवार का उपयोग करता हुआ बताया गया, यह निश्चित ही तत्कालीन परिवेश का प्रभाव था। सीता तत्कालीन सत्ता की मास्टरशिप को चुनौती दे रही थीं। अपने गले की नोंक पर तलवार टिकी होने पर भी सीता तलवारधारी की 'अति खिसियाहट' को समझ जाती हैं। सीता के उग्र प्रत्युत्तर को देखकर यह समझ जाना चाहिए कि वाल्मीकि और तुलसी ने उनके जरिए नारी को 'eunuch-virtues' नहीं सिखाये थे और न ही निष्क्रिय रूप से पीड़ा सहन करने - passive suffering - को भव्यीकृत किया था। सीता अपनी अनश्वर आत्मा के बारे में जानती हैं और अपने इस जन्म और जीवन के प्रयोजन को भी। इसी कारण वे तब भी आश्वस्त हैं जब उनके कंठ पर तलवार टिकी है। तलवार के सामने वे घुटनों पर नहीं हैं और न ही प्रार्थना कर रही हैं। सीता के इन्हीं तेवरों से रावण खिसिया गया है। सीता ने उसे जुगनू और राम को जब सूर्य बताया था तो उसमें कहीं यह भी कहा था कि कमलिनी सीता और सूर्य राम के बीच प्राकृतिक प्रीति है। हो सकता है कि कमलिनी और सूर्य की एक काव्य-रूढ़ि हो, लेकिन तुलसी की सीता कोई हाई-साउंडिंग कैचवर्ड रावण के सामने नहीं फेंक रही थीं, वे राम से अपने सम्बन्धों की नैसर्गिकता का बयान कर रही थीं। सुवर्चला और सूर्य की एक ऐसी ही सहज युति का वर्णन अयोध्याकांड के तीसवें सर्ग में वाल्मीकि ने 30वें श्लोक में किया है। उसकी तुलना में रावण का सब कुछ कृत्रिम और अस्वाभाविक है। उसका तथाकथित प्रेम भी। अन्ततः बात तलवार की ही है जो सामने आ जाती है। तलवार एक ब्लैकमेल-उपकरण है जो यह स्पष्ट करती है कि प्यार के दिखावों के बीच असल गुंडई (scoundrelism) छुपी हुई है। सीता ने देखा। तुलसी ने क्या तत्कालीन भारत को भी यह दिखाया? रावण के पास राम और सीता के सम्बन्धों की यह स्वतः स्फूर्ति नहीं है। राम और सीता के बीच जो एक स्वभावज अंतरंगता है, वह रावण कहां से लाएगा? रावण का पूरा वार्तालाप सीता के लिए एक तरह की अनांतरिक ध्वनि है। रावण 'बहु किएँ बनावा' आया है। राम और सीता की unaffected और unmannered आत्मीयता का उसके पास कोई मेल नहीं। नलिनी - सूर्य की प्रकृत अन्तःनिर्भरता का कोई जोड़ रावण नहीं प्रस्तुत कर सकता। रावण जिस पॉलिश्ड तरीके से सीता के सामने पोश्चर दे रहा था, सीता तीन वाक्यों में उसकी असलियत सामने ला देती हैं। और उसे तलवार भांजने वाली अपनी असल औकात में आना पड़ता है। इसलिए उसकी खिसियाहट बहुत बढ़ जाती है। सीता के प्रति वह जो सिन्थेटिक सहानुभूति दिखा रहा था–सीता बता देती हैं कि वे उसकी राक्षसी प्रकृति से सुपरिचित हैं और उसके झांसे में नहीं आएंगी। राम सूर्यवंशी हैं। और सूर्योपनिषद् में कहा गया था : 'सूर्याद् भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु/सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च।' सारा ई टिटकांव व चार्ल्स मौरिस ने अपनी पुस्तक 'आर्यन सन मिथ्स : द ऑरिजिन ऑफ रिलीजन्स' में लिखा है : "As there could be no life or vegetation without light, the Sun, as a light- bringer, becomes Creator, and if Creator, then Ruler of the World the Father of all things. In driving away the darkness, and likewise in fertilizing the earth, the Sun becomes the preserver and kind protector of all living things- the Saviour of mankind. As the Sun sometimes scorches and

withers vegetation and dries up the rivers, he was conceived of as a destroyer also. As Creator, Preserver and Destroyer the Sun was three persons in one - the Trinity." राम को तुलसी ने इस त्रिमूर्ति की संहति से भी कुछ अधिक के रूप में चित्रित किया है। वेदों ने यदि सूर्य को ब्रह्मांड की आत्मा कहा तो राम तुलसी के यहां जगत की आत्मा के ही रूप में सामने आए हैं। लेकिन उपर्युक्त अंग्रेजी पुस्तक सूर्य के त्रिमूर्ति होने के बारे में बहुत ही कमजोर आध्यात्मिक समझ का परिचय देती है। इस विषय में तो ग्रेगरी सैम्स की पुस्तक 'Sun of God : Discover the Self-Organizing Consciousness that Underlies Everything' बहुत दिलचस्प है। इस लेखक का कहना है : "People might look at you strangely if you tell them you believe that the Sun thinks and it truly is a celestial being. Yet this was once the normal mindset wherever intelligent People inhabited the planet. This understanding appeared obvious at the time, though we now unthinkingly dismiss it as naively ignorant. We might think that science has taught us better, but it was not science that dismissed our notion of the Sun being a 'being'. If was the Christion Church that prohibited such thoughts, banning and burning those who held them, including scientists and scholars."

इसलिए आश्चर्य नहीं कि भारत में सूर्य को बाकायदा एक व्यक्तित्व दिया गया। सूर्य का कमल से सम्बन्ध सूर्य के कुछ पर्यायों- पद्माक्ष, पद्मधारी, अरविंद बंधु, कमलिनी कांत, कमलिनी कुल वल्लभ, पद्मपाणि, पद्मकर, पद्मिनीकांत-में मिलता है। कमलिनी का एक पर्याय सूर्यवल्लभा है। जब सीता चुरा ली जाती हैं तो राम सूर्य-देव से सीता का पता पूछते हैं। अरण्यकांड के तिरसठवें सर्ग में भगवान राम कहते हैं : "सूर्यदेव! संसार में किसने क्या किया और क्या नहीं किया- इसे तुम जानते हो; लोगों के सत्य-असत्य कर्मों के तुम्हीं साक्षी हो। मेरी प्रिया सीता कहां गईं अथवा उसे किसने हर लिया; यह सब मुझे बताओ, मैं उसके शोक से पीड़ित हूँ।" वाल्मीकि रामायण में सुंदरकांड में अपने अभियान पर रवाना होते वक्त हनुमान सबसे पहले सूर्य को ही नमन करते हैं। मिस्र की पुरानी संस्कृति के विवरणों में सूर्य देव को कमल में स्थित दिखाया गया है। हमारे यहां सूर्यदेव दोनों हाथों में कमल धारण दिए हुए कई प्रतिमाओं/भित्तिचित्रों में दिखाए गए हैं। चाहे वह गुप्तकाल की राजशाही की सूर्य-प्रतिमा हो या एलोरा के सूर्यदेव हों। वाल्मीकि रामायण के युद्धकांड के पांचवें सर्ग के अंतिम श्लोकों में जब 'मंद किरणों वाले सूर्यदेव, अस्ताचल को जा पहुंचते हैं तो श्रीराम 'कमलनयनी सीता' का चिन्तन करते हुए सन्ध्योपासना करते हैं। दें देराह में तो स्वयं सूर्य को ही कमलिनी कह दिया गया है : "I bring thee the flower which was in the Beginning, the glorious lily of the great water." और यह भी कि "The Sun, which was from the beginning, rises like a hawk from the midst of its lotus bud. When the doors of its leaves open in sapphire -coloured brilliancy, it has divided the night from the day." कमल स्वयं विष्णु की नाभि से जुड़ा हुआ है। ब्रह्मा ने जब सृष्टि की रचना आरंभ की तो इसी कमल में बैठकर। सर विलियम जोन्स ने एक बहुत खूबसूरत कविता कमल के इस आयाम पर लिखी थी। अब जबकि इस के प्रसंग के बाद सीता की भी नवरचना होगी, यह कविता बरबस याद आती है : "Above the warring waves it danced elate/Till from its bursting shell with lovely state/A form eerulean fluttered o' er the deep/Brightest of Beings, greatest of the Great/who, not as mortals steep/their eyes in dewy sleep/But heavenly pensive, on the lotus lay/That

blossomed at his touch, and shed a golden ray/ Hail, primal blossom! hail empyreal gem/Kemal, or Pedma, or whate' er high name/delight thee say, what four-armed God-head came/With graceful stole and beaming diadem/ Forth from thy verdant stem!' इसी प्रकार 'Book of the Dead' का भी समापन इन शब्दों से होता है : "I am a pure lotus, issue of the field of the Sun." यह ध्यान देने की बात है कि विश्व की अधिकांश पौराणिकियों में सूर्य-कमलिनी सम्बन्ध पुनर्चेतना (resurrection) और भावी जीवन (future life) के हैं। यहां सीता को भी नए सिरे से जीवन मिलने वाला है जब आत्महत्या की कगार पर पहुंच चुकी जानकी के सामने एक मुद्रिका गिरेगी। प्राचीन मिस्र में दाह-संस्कार के वक्त कमल फूल के बुके इसलिए दिए जाते थे। कमल-प्रतीकात्मकता पर्शिया और असीरिया में भी देखी गई। ग्रीक दार्शनिक प्लूटार्क ने लिखा : "The Sun, like new-born infant, springs up every day afresh out of a lotus plant. It is true indeed they do characterize the rising Sun in this manner, but the reason is that they may hereby signify to us that it is moisture to which we owe the first kindling of this luminary." प्राचीन मिस्र का देवता होरूस कमल से प्रकट होता है। होमर की एक कविता भी सूर्य और कमल के बीच के सम्बन्धों की ओर संकेत करती है : 'The rising sun, then causing day to break/ Quits the cool pleasure of the oozy lake.' तो कहां यह सूर्य-कमलिनी के दुनिया भर में माने गए आर्गेनिक सिम्बायटिक सम्बन्ध और कहां यह कृत्रिम चीजों का प्रलोभन देता हुआ रावण। सीता इसी फर्क की ओर इशारा करती हैं। इस फर्क से वे राम और रावण की नहीं बल्कि रावण और अपनी incompatibility के बारे में बताती हैं।

सीता तैं कृत मम अपमाना
कटिहौं तव सिर कठिन कृपाना।
नाहिं त सपदि मानु मन बानी
सुमुखि होति न त जीवन हानी ।।

सीता! तुमने मेरा अपमान किया। मैं तेरा सिर कठिन कृपाण से काट डालूंगा। नहीं तो तुरत मेरी बात मान ले। हे सुमुखि नहीं तो जीवन की हानि होगी।

सीता का एक व्युत्पत्तिमूलक वैशिष्ट्य शीतलता है, लेकिन सीता रावण को जिस भाषा में बोल रही हैं, वहां तो साक्षात् अंगारे हैं। सीता के धैर्य और शांति का कहीं यह अर्थ नहीं है कि उनमें प्रखरता और तैजस की कमी है। सीता पीड़ा सहन करती हैं। दुष्ट के हाथों भी, अन्यथा भी। लेकिन वह सहिष्णुता उनके हिरण्य (तेज) की कीमत पर नहीं है। वे दुष्ट का प्रतिरोध करके और आत्मीयों का प्रतिरोध न करके- दोनों ही स्थितियों में अपने व्यक्तित्व की अग्निशिखा को दैदीप्यमान बनाए रखती हैं। आत्मीयों से असहमति की उनकी एक विशिष्ट शैली है जो मन और इतिहास की कंदराओं में बहुत भीतर तक गूंजती रहती है। दूसरी ओर खल, नीच और पामर से उनकी मुठभेड़ में उनके व्यक्तित्व का ताप अलग निखरकर सामने आता है। पता नहीं किन लोगों ने सीता की एक फ्रिजिड इमेज निर्मित की। रावण भी इसी गलतफ़हमी में था कि सीता किसी Subzero level की स्त्री होंगी। शून्य से भी गयी गुजरी। लेकिन सीता के व्यक्तित्व में गज़ब की ऊष्मा है। सीता यदि शीतल थीं तो वे किसी व्यक्तित्वोन्मूलक (depersonalizing) तरीके से शीतल नहीं थीं। सीता यांत्रिक (मैकेनिकल) अस्तित्व रखने वाली गुड़िया नहीं थीं। रावण को लगता होगा कि उसकी अशोक-वाटिका एक तरह का गुड़िया घर (A Doll's House) है। लेकिन रावण सीता को अंडर-एस्टीमेट कर रहा है। रावण को पता नहीं कि यह पार्थिवी किस माटी की बनी है। अब जब उसे सीता के वचनों की तापानुभूति होती है तो वह कंठ पर कृपाण लगाने वाले अपने असल राक्षसी रूप में आ जाता है। मिसाइल लिटवाक, जो एक प्रसिद्ध मनोचिकित्सक रहे हैं, का निष्कर्ष है : "There're no frigid women. There're sick persons who use the heat of their souls for making ice. A fridge and a heater are powered by the same energy. सीता की शीतिमा जब तक है तब तक है और रावण के कुल-कमल के लिए तो, यदि मैं मंदोदरी के शब्दों का प्रयोग करूं, वह शीतनिशा की तरह है। सीता जब रावण को प्रत्युत्तर देती हैं तो उनके अर्चिष्मान व्यक्तित्व की आतिश रावण के बहुत से विभ्रमों को तोड़ देती है। सीता रावण को राम की प्रतिद्वन्द्विता में नहीं खड़ा करतीं, राम की असमकक्षता में खड़ा करती हैं। रामकथा में आधुनिक समीक्षक रावण को राम का एक विपरीत या समानांतर ध्रुव मानते हैं- एक 'ईविल' जो राम का शाश्वत शत्रु (archenemy) है। लेकिन यह पश्चिमी वैचारिकी है जो चीजों को एक दूसरे के मुकाबिल रखती है। रावण इस वैचारिकी के अनुसार एक तरह का 'डार्क लार्ड' है। एक तरह का वोल्ड्रमोर्ट जो हैरी पॉटर के हर एपिसोड में मिलता है। राम के रूप में भगवान मानवीकृत हुये हैं, लेकिन रावण तो पूरी तरह से de-humanized होकर, अवमानवीकृत होकर सामने आया है। सीता के यहां दोनों में कोई तुलना नहीं है। इसलिये 'आपुहि सुनी खद्योत सम रामहिं भानु समान' के जरिए तुल्यता का भाव खत्म कर दिया गया है। और रावण की वास्तविक अप्रतिष्ठा इसी में है। रावण को 'डार्क लार्ड' कहना भी उसको एक ओहदा बख्शना है। सीता रावण को जुगनू कहती हैं। मामूली। रावण को इसी में अपना अगौरव लगता है।

हमारे देश मे ज्योति हर हृदय में स्थित दिखाई गई है और दुष्टों की ज्योति भी उनके मरने पर ईश्वर में ही लीन होती बताई गई है। रावण पूर्णतः ज्योतिहीन नहीं है, लेकिन वह ज्योति क्षणिक है। राम की ज्योति दिशाओं को प्रकाशित ही नहीं करती, ऊर्जस्वित भी करती है। इसलिए रावण राम की जोड़ का नहीं है। सीता का ऐसा प्रतिरोध रावण के रुतबे और इक़बाल को सीधे अस्वीकार करता है। ठेठ शब्दों में, सीता रावण को हेकड़ी भुला देती हैं और रावण की आत्म-परिभाषा को बुरी तरह से विचलित कर देती हैं। रावण का यह अपमान संत बेनेडिक्ट द्वारा की गई विवेचना की बेसाख्ता याद दिलाता है : "According to Benedict, humiliation is so important because it can be crucial to attempt to cultivate a moral disposition.

Humiliation is not only a state of being (in which you acknowledge a more perfect state than your own). Humiliation is an intensely emotional process of becoming, where a subject's unwarranted pretensions to superior worth are painfully stripped away and unmasked as false. Humiliation is the process of moving from a hubristic sense of exaltation, through overwhelming confusion, to the deep feeling of unworthiness and self-despising." रावण का यह भ्रम कि उससे अधिक 'परफेक्ट स्टेट' किसी की नहीं हो सकती, सीता बुरी तरह तोड़ देती हैं। सीता रावण के दंभ की स्ट्रिपिंग भी करती हैं और उसके झूठ को 'अनमास्क' कर देती हैं। सीता को रावण 'तूने' कहता है-यानी अब रावण के क्रोधोन्माद में थोड़ी बहुत शिष्टताओं का भी अवधान नहीं रहा है। जब अंगद रावण के दरबार में उसे खुलेआम चुनौती देने पहुँचते हैं, तब भी रावण इसी 'तैं' शब्द का प्रयोग करता है- 'कह दसकंठ कवन तैं बंदर।' रावण द्वारा उपहास और तिरस्कार के वक्त इसी 'तैं' शब्द का प्रयोग किया जाता है। रावण के 'पुरुषोचित अहं' (मेल ईगो का यह हिंदी अनुवाद ग़लत है क्योंकि ऐसा अहं किसी पुरुष के लिए 'उचित' कैसे कहा जा सकता है) को सीता भारी ठेस पहुँचाती हैं जिसका तिरस्कार 'तैं' से ही तो सकता है। रावण के सामने 'अपमान' की स्थिति इसलिए ही आती है क्योंकि अपने बारे में उसके प्रिटेन्शंस बहुत ऊँचे हैं। रावण की मुसीबत यह है कि उसने इन प्रिटेन्शंस को अपने मन में बहुत गहरे बसा लिया है। जब भी कोई इन पर आघात करता है तो उसे रावण का क्रोध, विक्षोभ और कई बार खुंदक भी झेलनी पड़ती है। रावण को अपनी निंदा बिल्कुल भी पसंद नहीं है और 'रिपु उतकरख' भी पसंद नहीं है। ऐसा कहने वाले को वह दौड़ा देता है। वह खुद तो दूसरों को हर दुष्ट तरीके से भयादोहित करता रहता है और खुद को किसी भी किस्म की भी आलोचना से ऊपर समझता है। सीता बुरी तरह से उसकी लू उतार देती हैं। रावण के दिमाग में काफी गर्मी चढ़ गई थी। सीता के 'परूख बचन' ही उसके होश ठिकाने लाते हैं। अंग्रेजी में दो शब्द हैं : Humility यानी विनम्रता और Humiliation यानी अपमान। यदि प्रथम हो तो द्वितीय का चांस नहीं रहता है। प्रथम भीतरी होता है, ओढ़ा हुआ नहीं। दूसरे के द्वारा आरोपित नहीं। दूसरे में 'दूसरा' जरूरी होता है। कोई अन्य आपका अपमान करता है। मनोवैज्ञानिक एक humiliated fury - अपमानित क्रोध-की बात करते हैं। डोनाल्ड क्लीन अपने शोधलेख 'The Humiliation Dynamic : Viewing the Task of Prevention from a New Perspective' में इसी 'अपमानित क्रोध' की बात यों करते हैं : "When it is outwardly directed, humiliated fury unfortunately creates additional victims, often including innocent bystanders..... when it is inwardly directed, the resulting self-hate renders victims incapable of meeting their own needs, let alone having energy available to love and care for others. In either case, those who are consumed by humiliated fury are absorbed in themselves or their cause, wrapped in wounded pride." एवेलिन लीन्डर ने अपनी पुस्तक 'Making Enemies : Humiliation and International Conflict' ने इस अपमानित क्रोध को 'भावनाओं का नाभिकीय विस्फोट' कहा है। गांधीजी जैसे लोगों के पास आत्म-शक्ति और वह बौद्धिक चेतना थी जो अपने अपमान (Humiliation) को एक अनूठी उदात्तता और व्यापक चरितार्थता दे दें। लेकिन रावण के मन में यह सब कहां। वह तो सीधे मार डालने दौड़ता है। शायद इसलिए भी कि गांधीजी के अपमान में एक तरह की 'सामाजिक पराजय' भी थी लेकिन सीता रावण की व्यक्तिगत कदर्थना करती हैं। इसलिए रावण 'मम अपमाना' की बात करता है- मेरा अपमान!

क़तील शिफाई की एक बहुत प्यारी सी ग़ज़ल है।

'यारो किसी क़ातिल से कभी प्यार न मांगो/अपने ही गले के लिये तलवार न मांगो।' यहां तो कातिल सीता के गले पर तलवार लगाकर प्यार मांग रहा है। सीता नहीं मांग रहीं क्योंकि अभी तो इस 'क्षण' कंठ पर कृपाण है, फिर तो एक स्थाई तलवार हो जाएगी, जिंदगी भर को। सीता इस हत्यारे और नृशंस सम्राट को किसी तरह से बख्शने की मनःस्थिति में नहीं हैं। वे इस आदमी के प्रति कोई मुरौवत नहीं पालतीं। इसलिए उसे बगैर लाग लपेट के खरी-खरी सुनाती हैं। रावण के पैशन्स उसके आहत अहंकार पर अनुरोपित होने से बहुत असाध्य रूप से द्वेषपूर्ण हो गए हैं और जार्ज सांतायना की बात बरबस याद आ जाती है कि : 'The passions grafted on wounded pride are the most invertebrate, they are green and vigorous.'

रावण को जितना सत्ता-दर्प था, उसके चलते उसे सीता के शब्द अपनी सत्ता, प्राधिकार और प्रभुत्व पर प्रहार की तरह लगने चाहिए थे। मैंने ऊपर उसकी एक सत्ता-संदर्भी व्याख्या भी की है। लेकिन वह इसे 'व्यक्तिगत अपमान' की तरह ले लेता है। 'मम अपमाना' में वही बात है। वह इतना आत्म-केन्द्रित है कि खुद से आगे देख ही नहीं पाता। कुछ लोग अपमान की रेंज के साथ खेल खेलते ही रहते हैं। किसी निजी इंसल्ट को पूरे समाज-विशेष या धर्म-विशेष का अपमान बताकर भावनाएं भड़काना या किसी सामान्य प्रशासनिक या राजकीय कार्य की आलोचना को निजी अपमान बता देना दोनों ही के आधार पर उन लोगों को शिकार बनाया जा सकता है जो 'बोलने' का दुस्साहस करते हैं। भास (उरूभंग, 1/62 के बाद) के शब्द हैं: 'मानशरीरा राजानः' मान ही राजाओं का शरीर है। सीता ने उसे आहत किया तो सीता के शरीर को खत्म करने की धमकी रावण से मिलनी ही थी। रावण का राज्य उसके अहं की ही स्फीति है। रावण का अहं उसकी राजसत्ता की स्फीति के साथ ही बढ़ता गया है। सीता अपमान करती नहीं हैं, रावण उसे अपमान समझता जरूर है। वरना सीता कुछ भी असत्य और असंयत नहीं कहती हैं। वह यदि अपमान है तो रावण उसे डिज़र्व करता है।

'मेरा अपमान!' अक्षम्य!! दशमुख को slap in the face! दशमुख को loss of face! दशवदन को Kick in the teeth! सीता भी गज़ब करती हैं। रावण के प्रलोभन सीता पहले ही ठुकरा चुकी थीं। रावण को, वैभव-विलास के प्रलोभन देते समय, यह भी मनोवैज्ञानिक समझ नहीं थी कि जब सीता का प्रिय वन में जमीन पर सो रहा है, एक तपस्वी ज़िंदगी गुज़ार रहा है तो वह सीता जो सतत् राम-स्मरण में ही डूबी हुई हैं, ऐश्वर्य और आमोद की तरफ आकर्षित कैसे होंगी? एक तो सीता वैसे ही विदेह की पुत्री; दूसरे सीता के पति संप्रति तापसी जीवन-शैली में। तो सीता को सब्जबाग दिखाना सीता के संस्कार और मनःस्थिति दोनों ही के प्रति असम्मान दिखाना हुआ। उसकी फलश्रुति स्वभावतः स्वयं रावण के अपमान में होनी थी। रावण का डर भी सीता को नहीं है क्योंकि उन्होंने रावण की असली कायरता को स्वयं देखा है। तुलसी ने उसे 'भड़िहाई' कहा है जब वह यहां-वहां देखता हुआ सीता की पर्णकुटी के पास पहुंचा था। सीता ने उस अपौरुष का उल्लेख अभी हाल ही किया है- 'सठ सूने हरि आनेहि मोही' कहकर। ऐसे काकरव, ऐसे श्रृगाल के प्रति सीता के हृदय में कोई सम्मान नहीं रह सकता था। रावण की बदचलनी को इंगित करने के लिए तुलसी ने सीता-हरण के पूर्व उसके 'चलने' पर ही ध्यान केन्द्रित किया है। साधु बनकर असाधु काम। कहां मर्यादा पुरुषोत्तम राम और कहां कुकर्मी रावण। कहां ऋजुता और सरलता के धनी राम और कहां ये कुटिल काइयां रावण। स्त्री ऐसे अंतरों को अच्छी तरह जानती है और सीता तो सीता हैं। वे राम के ऋत को भी देखती हैं और रावण के किल्विष को भी। कहां वह निष्पाप राम जो सबका दिल खुश रखने के लिए अपने पर कुछ भी सहता है और कहां यह पापिष्ठ जिसकी पूरी जिंदगी ही दूसरों को रुलाते हुए बीती है। सीता उस आत्मानुशासी राम की मुरीद हैं और यह निरंकुश रावण उनके पासंग भी नहीं फटक सकता।

लेकिन जो काम रावण कर सकता है, वह है कठिन कृपाण से सिर को काटना। जिस तरह से मध्यकाल में ब्राह्मणों और भिक्खुओं को टारगेट करके तलवार के घाट उतारा गया था, वह तुलसी के ध्यान में था। बालकांड में रावण-राज की चर्चा उन्होंने उसी तरह से की भी है। 1456 ई. में कन्हाडे प्रबन्ध अलाउद्दीन खिलजी के गुजरात आक्रमण के बारे में लिखता है : "आक्रमणकारी सेना ने गाँव-दर-गाँव जलाए, जमीन उजाड़ दी, लोगों का धन लूटा, ब्राह्मणों और बच्चों और औरतों को बंदी बनाया, उन्हें कोड़ों से पीटा और बंदियों को तुर्क सेवकों में बदल दिया।" स्वयं विजेताओं की ओर से लिखा गया वर्णन देखिए। 1011 ई. में थानेसर पर सुल्तान महमूद का आक्रमण उसके मंत्री उत्बी के तारीख-ए-यामिनी के शब्दों में यों वर्णित हुआ : "The blood of the infidels flowed so copiously [at Thanesar] that the stream was discolored, notwithstanding its purity and people were unable to drink it. The Sultan returned with plunder which is impossible to count. Praise be to Allah for the honor he bestows on Islam and Muslims." यही उत्बी दिसंबर 1018 में मथुरा के महावन में महमूद की विजय का वर्णन यों देता है : "The infidels........ deserted the fort and tried to cross the foaming river.... but many of them were slain, taken or drowned.... Nearly fifty thousand men were killed." यही उत्बी मथुरा की विजय के बारे में लिखता है : "The Sultan gave orders that all the temples should be burnt with naptha and fire, and levelled with the ground." उत्बी कन्नौज के 10 हजार मंदिरों के विध्वंस के बारे में आनंदपूर्वक लिखता है और यह भी कि "**The Brahmins** of munj which was attacked next, fought to the last man after throwing their wives and children into fire." श्रावा के बारे में उत्वी ने कहा : "The Muslims paid no regard to the booty till they had satiated themselves with slaughters of the infidels and worshippers of sun and fire. The friends of Allah searched the bodies of the slain for 3 days in order to obtain booty..." महमूद के लड़के मसूद ने 1037 में जब हांसी किले पर आक्रमण किया तो तारीख-उस-सुबुक्तिगिन का विवरण यों है : "**The Brahmins** and other high ranking men were slain, and their women and children were held captive." मुहम्मद गौरी के दौर में इब्न असीर के 'कामिल-उत्-तवारीख' में लिखा गया : "The slaughter of Hindus (at varanasi) was immense; none were spared except women and children, and the carnage of men went on until the earth was weary." इसी वक्त सारनाथ के भिक्षुओं का भी नरसंहार हुआ था। गोरी के सिपहसालार कुतुबुद्दीन ऐबक ने 1193 ई. में कोल (आधुनिक अलीगढ़) में हिंदुओं की वो हालत की थी कि उनके मुंडों की तीन मीनारें-तत्कालीन इतिहासकार हसन निज़ामी के शब्दों में, 'as high as heaven'- खड़ी कर दी गई थीं और उनके शव शिकारी गिद्धों का खाद्य बन गए थे। 1196 ई. में कुतुबुद्दीन ऐबक ने तत्कालीन गुजरात की राजधानी पाटन में राजा करन से लड़ते हुए शहर में जो आतंक मचाया उसके बारे में यही इतिहासकार लिखता है : "fifty thousand infidels were dispatched to hell by the sword." बल्बन और अलाउद्दीन खिलजी की नृशंसताएं तो कुख्यात हैं ही। फीरोजशाह तुगलक ने जाजनगर में अपने किए के बारे में कुछ लिखा है : "The swordsmen of Islam turned the island into a basin of blood by the massacre of the unbelievers." हिंदू औरतों के बारे में सिरात-ए-फिरूजशाह लिखता है : "Women with babies and pregnant ladies were haltered, manacled, fettered and enchained, and pressed as slaves into service in the house of every soldier."

फरिश्ता कांगड़ा में फिरोजशाह तुगलक की वीरता यों बखानता है : "ज्वालामुखी की मूर्तियों का सुल्तान ने विध्वंस किया, उसके टुकड़ों को गायों के मांस में मिलाकर ब्राह्मणों के गले में थैले की तरह बांध दिया।" गुलबर्गा और बीदर के बहमनी सुल्तान हर साल एक लाख हिंदू आदमी-औरतों-बच्चों को मारना एक meritorious काम समझते थे। 1399 में तैमूर के अत्याचार इस तलवार-गाथा को शीर्ष पर पहुंचा देते हैं। तुज़्के-तिमूरी में लिखा है : "In a short span of time all the people in the fort were put to the sword, and in the course of one hour the heads of 10,000 infidels were cut off. The sword of Islam was washed in the blood of the infidels." दिल्ली से पहले लोनी में तैमूर की सेना ने कुछ मुस्लिमों को भी बंदी बना लिया था। तैमूर ने आदेश दिया कि "The Musalman prisoners should be separated and saved, but the infidels should all be dispatched to hell with the proselytizing sword." वही तलवार। दिल्ली के आक्रमण में तलवार की इस तानाशाही को तुज़्के तिमूरी में स्वयं तैमूर ने यों लिखा : "I proclaimed throughout the camp that every man who had infidel prisoners should put them to death, and whoever neglected to do so should himself be executed and his property given to the informer. When this order became known to the ghazis of Islam, they drew their swords and put their prisoners to death. One hundred thousand infidels, impious idolators, were on that day slain. Maulana Nasiruddin Umar, a counselor and man of learning, who, in all his life, had never killed a sparrow, now, in execution of my order, slew with his sword fifteen indolatrous Hindus, who were his captive." तो ये थे तलवार के तर्क जो तुलसी के समकालीन मुगल साम्राज्य में भी फीके नहीं पड़े थे। अकबर के हरम में जाने की जगह चित्तौड़ की स्त्रियों ने जौहर करना उचित समझा था। आईने-अकबरी में अबुल फजल अकबर के द्वारा महल के पास ही स्थापित शराब दुकान के बारे में बताता है जहां वेश्याएं आकर इकट्ठी होती थीं। यदि कोई दरबारी किसी 'वर्जिन' को लेना चाहता था तो उसे बादशाह की आज्ञा लेनी पड़ती थी। वी. स्मिथ लिखते हैं कि "Akbar throughout his life, allowed himself ample latitude in the matter of wives and concubines." प्रयाग और बनारस को अकबर ने भी जमकर लूटा था। अकबर के समकालीन मोंसरेट ने लिखा है : "The religious zeal of the Musalman has destroyed all the temples which used to be numerous. In place of Hindu temples, countless tombs and little shrines of wicked and worthless Musalmans have been erected in which these men are worshipped with vain superstition as thouth they were saints." तुलसी के समय तलवार के जोर पर अपने हरम को भरने की नीति जब मंद नहीं पड़ी थी, तो वह 'काढ़ि असि' और 'कटिहौं तब सिर कठिन कृपाना' या 'तब असि घोरा' जैसे प्रयोग अपने रावण-सीता संवाद में क्यों नहीं करते। जब बालकांड में वे रावण-राज की बात कर रहे थे- 'जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं'- तो क्या यह ठीक वैसा ही दृश्य नहीं था जिसकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। क्या तुलसी रावण-राज के दृश्य खींचते समय- 'जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला/सो सब करहिं बेद प्रतिकूला/बाढ़े खल बहु चोर जुआरा/जे लंपट परधन परदारा' -अपने समय, समाज और संदर्भ से सर्वथा परे थे? तुलसी एक कठिन दौर में भारतीय आस्थाओं को वक्तृता के पूरे नैपुण्य के साथ सम्बल दे रहे थे। उनका रावण उनके अनुषंग और प्रसंग में ढला है। कठिन कृपाण के काल में। हमने ऊपर जिन अत्याचारों और भ्रष्टाचारों के ऐतिहासिक विवरण दिए हैं, क्या तुलसी

की उपर्युक्त पंक्तियां उन विवरणों का ही अवधी अनुवाद नहीं लगतीं। परधन लूटने के तो उदाहरण इस दौर में भरे पड़े हैं। 1008 ई. में महमूद गजनवी ने नगरकोट (कांगड़ा) से 7 करोड़ दिरहम सिक्के और सात लाख 400 मन सोना चांदी लूटा था। बहुत से कीमती रत्न और अलंकृत वस्त्र अलग से। बरान से 2018 में 10 लाख दिरहम लूटे गए। मथुरा में 89,300 मिसाल के वजन की स्वर्णमूर्तियाँ और 200 रजतमूर्तियाँ लूटी गईं। 20 दिन तक शहर की लूट चली थी। शाखा में 30 लाख दिरहम के अलावा सोना-चाँदी रखी मूर्ति लूटने के विवरण उत्बी ने दिए हैं। सोमनाथ की लूट सभी को मालूम है। 1202 में मोहम्मद बख्तयार खिलजी ने नादिया में, बदायूंनी (मुन्तखब-उत-तवारीख) के अनुसार, property and booty beyond computation लूटी थी। इन्हीं सब में औरतों को हमेशा कैप्टिव बनाया गया तो तुलसी परदारा की भी लूट की चर्चा करते हैं। तुलसी जितने वाल्मीकि परायण हैं, उतने परायण वे वक्त के भी हैं। उन्हें ऐसे निस्पृह, निर्लेप संत की तरह पेश करना कि जिसे अपने समय की सामाजिक राजनीतिक नियतियों से कोई मतलब ही न हो, तुलसी को- रामभक्त तुलसी को -मंथरा बनाना है। तुलसी की सीता तलवार के आगे झुकती नहीं हैं। वे जौहर भी नहीं करतीं। तुलसी अपने समय को जैसे एक संदेश दे रहे थे। वे अपने युग के पूर्वापर सम्बंधों के बिना रामचरितमानस की चर्चा नहीं कर रहे थे। उनकी कृति चर्चिका नहीं थी, अर्चिका थी। वैसे ही जैसे सीता हैं इस प्रकरण में रावण के सामने।

रावण कहता है कि तुरत मेरी बात मान लो, नहीं तो जीवन हानि होगी। लाइफ थ्रेट देता है। उसकी कोएर्सिव सत्ता की पैठ इतनी गहरी है कि वह व्यक्तिगत प्रणय-निवेदन तक को विकृत कर डालती है। बल्कि देखें कि रावण प्रणय निवेदन नहीं कर रहा है, आत्म-समर्पण की मांग कर रहा है। जैसे कि वह युद्ध भूमि में हो। और यह सच भी है। रावण के गणित में, सीता राम का मनोबल हैं। सीता टूट जाएंगी तो राम टूट जाएंगे। यह एक प्रॉक्सीवार है। कम लागत की। सीता यदि रावण की बात मान लें तो राम जीवित ही नहीं रह पाएंगे। उन्हें अपने अस्तित्व में कोई आनंद नहीं रह जाएगा। हो सकता है कि वे तब भी लोक कल्याण के काम करते रहें, लेकिन वे अन्दर से पूरी तरह रिक्त हो जाएंगे। राम की दीनता रावण का सबसे प्रिय स्वप्न है। वह जानता है कि सीता को वश में किया कि राम अवश हो जाएंगे। इसलिए सीता का यह प्रतिरोध इस रामायण की कुंजी है। सीता का यह प्रतिरोध राम के प्रतिरोध की असल शक्ति है। रावण चाहता है कि सीता उनके चंगुल में किसी तरह आ जाए। और सीता हैं कि सत्ता को घास नहीं डाल रहीं। सीता रावण की बात पर अमल कर लें तो उसकी अमलदारी पूरी तरह कायम हो जाए। सीता 'श्री' हैं, रावण उन्हें राज्यश्री के लिए वापरना चाहता है। सीता के भीतर पिछले जन्मों की जैसे कोई अनुगूंज सी है। सीता के भीतर वैदेही के रूप में कहीं यह विश्वास सा है कि रावण उनकी देह के टुकड़े-टुकड़े कर सकता है लेकिन उनकी वैदेही आत्मा तो 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' है। सीता को राम के प्रेम की मधुरतम स्मृति और उनके पुरुषार्थ पर अपने तेज जितना ही भरोसा है। सीता यह जानती हैं कि वे राम का तेज हैं। वाल्मीकीय में वे राम को सूर्य और स्वयं को उनकी प्रभा कहती हैं। इन्हीं शब्दों में न केवल राम उन्हें वर्णित करते हैं बल्कि रावण का मित्र राक्षस अंकपन भी रावण के सामने इन्हीं शब्दों में वर्णन करता है। यानी पूरी चाल राम को हतप्रभ और निस्तेज करने की चाल है। सीता राम के जीवन की माधुरी ही नहीं हैं, धुरी भी हैं। यदि वे रावण की वशवर्ती हो जाएं, यदि वे रावण की अंकशायिनी हो जाएं तो राम का खेल खत्म। सीता राम के जीवन में अपने महत्व को पहचानती हैं और उस महत्व को एक दायित्व की तरह निभाती हैं। मनुस्मृति (7/44) में कहा गया : 'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वर्श स्थापयितुं प्रजा :' कि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में रख सकता है। रावण मौत की धमकी के बल पर उसे वश में करना चाहता है जिसे जीवन का कोई मोह नहीं है। राम के

बिना। राम ही जिसका जीवन है।

रावण 'मानु मम बानी' की बात करता है। 'बात' की जगह 'वाणी' शब्द का प्रयोग कर तुलसी अपने इरादों और अपने अभिप्रेत को और फैलाते हैं। यह Vox Regis का मुद्दा बन जाता है। राजा की आवाज का। इसका उल्लंघन करने की छूट किसी को नहीं है। राज-आवाज की ही मुनादी। बाइबल में कहा गया है : "The lips of a king speak as an oracle." कि राजा के ओंठ ऐसे बोलते हैं जैसे देववाणी/आकाशवाणी। रावण भी इसी भरम में हैं। ममवाणी। उसकी अवहेलना! तानाशाहों को अपनी आवाज के प्रति उतना ही घमंड रहता है जितना कि दूसरे की आवाज के प्रति असहिष्णुता। हर्बर्ट हूवर ने, जो अमेरिका के राष्ट्रपति रहे थे, सही ही कहा था : "It is a paradox that every dictator has climbed to power on the ladder of free speech. Immediately on attaining power each dictator has suppressed all free speech except his own." इसी 'except his own' के लिए रावण ने 'मम वाणी' जैसे शब्द प्रयोग किए हैं। रावण के कहे पर कान न देना अक्षम्य अपराध है। उसकी एक ही सजा है मृत्युदंड। हमारे शास्त्रों ने सही लिखा है : 'अनुयातानेकजनः पर पुरुषैरुह्यऽस्य निजदेहः/अधिकारस्थः पुरुषः शव इव न श्रृवोति वीक्षते कुमतिः' कि अधिकार में स्थित पुरुष शव के समान देखता है, सुनता नहीं और अनेक लोगों द्वारा अनुगमन किए जाते हुए उसका शरीर दूसरे पुरुषों द्वारा ढोया जाता है। यहां अधिकारस्थ या सत्तासीन रावण भी सुन नहीं रहा है लेकिन ट्रांसफेरेन्स की एक मनोरचना के चलते यह आरोप सीता पर लगा रहा है कि वह सुन नहीं रही। वह स्वयं मृतक के समान है। वाल्मीकि रामायण में सीता उसे कहती हैं कि "काल तुझे पहले मार चुका है"- लेकिन मृत्युदंड की धमकी सीता को दे रहा है। वह उस किस्म का सत्ताधारी है जिसके बारे में फारसी लोकोक्ति है कि 'हुक्मे हाकिम मर्गे मफ़ाजात' कि अधिकारी की आज्ञा आकस्मिक मृत्यु के समान होती है।

यों तो यह खासा फिल्मी लगता है कि 'तुझे जान से मार डालूंगा' और 'तेरा खून पी जाऊंगा'- लेकिन यह जितना फिल्मी है, उससे ज्यादा राक्षसी है। 'कटिहौं तव सर कठिन कृपाणा' में कैपिटल पनिशमेंट की ध्वनि है। कैपिटल शब्द लैटिन के जिस 'कैपिटलिस' शब्द से बना है 'सिर के बारे में', पुराने समय में सिर को काटकर ही मृत्युदंड दिया जाता था- आज भी decapitation शब्द सिर के उसी काटने को सिद्ध करता है। इसलिए जल्लाद को आज तक अंग्रेजी में हेड्समेन कहते हैं। आज भी 2007 के बाद से तहरीके-तालिबान के द्वारा लोगों का सिर उड़ाकर ही सज़ा दी जाती है। स्वात में अपने विरोधियों या सरकारी अधिकारियों के कटे हुए सिर सड़कों पर छोड़कर तालिबान स्थानीय जनता को आतंकित करते हैं। डेनियल पर्ल का भी आतंकियों ने सिर ही कलम किया था और 2010 में पाकिस्तान में तालिबानों ने तीन सिक्खों के सिर ही काटे थे। थाईलैंड में 2005 में 15 बौद्धों के सिर काट दिए गए थे- साउथ-थाईलैंड मुस्लिम इंसर्जेंसी के द्वारा। प्राचीन रोम में विरोधियों के सिर काटकर उनका सार्वजनिक प्रदर्शन होता था। सिसरो के साथ ही यही हुआ था। फिनलैंड में 1825, नार्वे में 1876, आईसलैंड में 1830, डेनमार्क में 1892 तक सिर काटकर ही सजा दी जाती थी। सऊदी अरब में तो अभी फरवरी 2007 में 4 श्रीलंकाई लोगों का सिर कलम करके सजा दी गई। औरंगजेब ने गुरू तेगबहादुर का 1875 में सिर ही काटा था। इंग्लैंड की रानी हैनरी अष्टम की पत्नी एने बोएलिन का सिर लंदन टावर में तलवार से ही काटकर उठाया गया था। हेनार अष्टम ने यही हाल मार्गरेट पोल और कैथरीन होवार्ड जैसी रानियों का किया था। स्कास्ट्स की रानी मेरी का एलिजाबेथ प्रथम ने सिर उड़वा दिया था। फ्रेंचक्रांति के समय मेरी एंतोनिएत, मैडेम बैरी, मैडेम एलिजाबेथ जैसी बहुत सी स्त्रियां गिलोटिन की गई थीं। बाइबल में जॉन द बौटिस्ट, संतजेम्स, संत पाल के भी सिर कलम होने बताए गए हैं। बहुत सारे ईसाई संतों के सिर कलम हुए हैं- एग्नेस, क्रिस्टोफर, कैथरीन, कोलुंबा, यूरोसिया, जार्ज, जॉन

फिरए, मैक्सिमिलियन आदि आदि। तो रावण भी सीता का सिर ही उड़ा देने की धमकी देता है। विद्रोही तेवर अपनाने वाले। चाहे वे थामस मूर हों या सर वाल्टर रैले। आदेश न मानने के कारण उन्हें सिर से हाथ धोना पड़ा है।

अभी जब आतंकवादियों ने अपने बंधकों के सिर उड़ाने शुरू हुए तो उसके औचित्य में आतंकियों ने कुरान से सूरा 47 की उस आयत को उद्धृत किया जिसमें कहा गया था कि "When you encounter the unbelievers on the battlefield, strike off their heads. " इब्न इशाक, जो पैगम्बर मोहम्मद का सबसे शुरुआती जीवनी लेखक (768 ई.) है, को उद्धृत करते हुए कहा गया कि स्वयं पैगम्बर ने 700 मदीना में यहूदियों के सिर कलम करवाए थे। ओटोमन साम्राज्य को तो 'सिरकाट साम्राज्य' ही कहा जाने लगा था। सऊदी अरब में तो अभी पिछले दो दशकों में 1000 से ज्यादा लोगों के सिर काटकर उड़ाए गए हैं। स्वयं सरकारी न्यायालयों द्वारा। रावण भी सिर काटने में पूरा यकीन रखता है। खुद तो दस सिरों वाला है, लेकिन विरोधियों के कंधे पर एक सिर भी नहीं रहने देता। रावण जिसकी पूजा करता है उन शिव ने भी ब्रह्मा और गणेश के सिर काटे हैं, लेकिन 'जीवन हानि' नहीं की है। वे दोनों भी जीवित रहे हैं। रावण इसलिए रावण है क्योंकि वह यह फर्क भूल गया है। 'शीश कटाए भुईं धरे' भारतीय विश्वास-परंपरा में भी शहादत को एक आदर्श माना जाता है। 'मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जाएं वीर अनेक' वाली प्रसिद्ध पंक्ति में भी वही बात है। सीता को भी भय नहीं है। जीवन हानि का।

वे सुमुखि हैं, दशमुख जानता है। लेकिन उसे भी काटना चाहता है, जो मुख उसकी सहमति में मुखर न हुआ। विचित्र है रावण। एक तरफ सुमुखि जैसा कोमल विशेषण, दूसरी तरफ जीवन हानि की कठोर धमकी। उसी सांस में। तानाशाहों के तौर तरीके ऐसे ही होते हैं।

●●●

स्याम सरोज दाम सम सुंदर।
प्रभु भुज करिकर सम दसकंधर।
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा।
सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा।।
चंद्रहास हरु मम परितापं।
रघुपति बिरह अनल संजातं।।
सीतल निसित बहसि बरधारा।
कह सीता हरु मम दुख भारा।।

(श्री सीताजी ने कहा कि) हे दशकन्धर रावण! श्याम कमल की माला या श्रेणी के (कांति के) समान सुंदर और हाथी की सूंड के समान (बलिष्ठ और चढ़ाव उतार की जो) प्रभु की जो भुजा है (या तो वे ही भुजा) मेरे गले में लगेंगी या तेरी भयंकर तलवार ही। रे शठ! सुन, मेरा ऐसा प्रामाणिक प्रण (सत्य प्रतिज्ञा) है। (रावण से इतना कहकर अब सीता चन्द्रहास से कहती हैं-) हे चंद्रहास! रघुपति विरहाग्नि से उत्पन्न मेरे परिताप (अत्यंत जलन या दुःख) को हरण कर अर्थात् रावण को वह उत्तर देती हैं कि तेरी तलवार से मारा जाना मुझे स्वीकार है, पर तेरा वचन मानना अंगीकार नहीं है। तू शीतल तीक्ष्ण और श्रेष्ठ धारा बहाती है, तू मेरे दुःख के भार (या, भारी दुःख) को हर।।

अंग्रेजों के द्वारा आर्यों को गौरवर्णी वर्णित करने से पूर्व 'श्याम' को हमारे यहां सुंदरता का आदर्श माना जाता था। राम हों या कृष्ण-हमारे अवतार श्याम ही रहे हैं। द्रोण, अभिमन्यु, नकुल भी श्यामल हैं। कुछ ऐसा है इस श्यामल वर्ण में जो सतही श्वेतपन में नहीं है। मन उसमें जैसे रच-सा जाता है। सीता को गौरी जी ने यही वर दिया था- 'सो बरू मिलिहि जाहिं मनु राचा।' और इस सांवरे वर के बारे में कहा गया थाः- 'मनु जाहिं राचेउ मिलिहि सो बरू सहज सुंदर साँवरो।' जनक के पुरवासी भी 'स्याम गात कल कुंज विलोचन' पर विमुग्ध थे। और यह बोध भी उन्हें था कि 'जेहिं बिरंचि रचि सीय संवारी/तेहि स्यामल बरू रचेउ बिचारी'। सीता की सखी भी तो यही बोलती है 'साँवर कुँअर सखी सुठि लोना'। सीता के द्वारा राम के प्रथम दर्शन के बाद जब वे गौरी की ओर चलती हैं तो भी 'चली राखि उर श्यामल मूरति'। स्वयंवर के समय भी सभी लोग यही मानते हैं कि 'बरू सांवरो जानकी जोगू!' इसलिए सीता का अनुरागी चित्त श्याम राम में मग्न है। विवाह के इतने दिनों बाद भी। किसी तरह का भावनात्मक या प्रेरणात्मक क्षरण उसमें नहीं हुआ है बल्कि प्रेम की प्रगाढ़ता बढ़ती गई है और सीता निखरती गई हैं :- 'या अनुरागी चित्त की गति समुझो नहिं कोय/ज्यों ज्यों बूड़ो स्याम रंग त्यों त्यों उजरो होय।'

सन् 1858 में एक भाषण के दौरान जॉन स्वेट रॉक ने 'ब्लैक इज ब्यूटीफुल' के वाक्य को प्रथम प्रयुक्त किया था। अन्यथा उसके पहले पश्चिमी दुनिया ब्लैक के स्किन कलर, चेहरे के फीचर्स और बालों को लेकर उन्हें 'inherently ugly' मानती थी और आज तक भी एक बड़ी जनसंख्या में यह पूर्वाग्रह दूर नहीं हुआ है। 1960 के दशक के दौरान 'ब्लैक इज़ ब्यूटीफुल' का एक सांस्कृतिक आंदोलन ही वहां चल पड़ा था। जेम्सब्राउन का वह सुप्रसिद्व गीत : 'से इट लाउड/आई एम ब्लैक एवं आई एम प्राउड!' ऐसी ही एक अभिव्यक्ति है। तुलसी द्वारा बार बार इस श्यामल छवि का उल्लेख हमारी संस्कृति में शुरू से मौजूद एक महत्वपूर्ण प्रस्थान की स्वीकृति है और वह है 'पिग्मेंटोक्रेसी' या 'व्हाइट सुप्रीमेसी' को महत्व न देना। स्वयं द्रौपदी जो सुंदरता की अग्निशिखा थीं, हमारे यहां श्यामलवर्णा ही कही गई। हमारे देश में कभी 'पेपर बैग टेस्ट' नहीं हुए। द्रौपदी, दमयंती, रुक्मिणी, राम-कृष्ण जैसे हमारे उदाहरण अफ्रो-अमेरिकन पत्रकार जिल नेल्सन के उस सिद्धांत के एकदम विरोध में पड़ते हैं कि 'To be both prettiest and black was impossible.' वर्ण-व्यवस्था की रंगाधारित व्याख्या औपनिवेशिक यूरोपीय लेखकों के अपने पूर्वाग्रहों के कारण पनपी। आनंद कुमार स्वामी ने भारतीय कला के पश्चिमी आलोचकों के इस पूर्वाग्रह की जम के खबर ली थी कि भारतीय शिल्प और प्रतिमाएं कलात्मक नहीं हैं क्योंकि वे 'hideously dark/black' हैं। दरअसल यह इन लेखकों एवं आलोचकों की उस भिड़ाऊ राजनीति का हिस्सा था जिसके तहत आर्यों को काकेशियन क्षेत्रों से आया श्वेतों का दल अपनी तर्ज पर बताना और भारत के दक्षिण भारतीय काले लोगों को द्रविड़ बताना जरूरी हो जाता था। यहां तक कि उत्तर भारतीयों में भी जातिगत आधार पर रंग-विभाजन कर जातीय घृणा और विभाजन के बीज बोए गये। यह ध्यान देने की बात है कि रामचरितमानस के बालकांड में जनकपुरी के आम पुरवासी भी श्यामल मूर्ति राम को गौरवर्ण लक्ष्मण से कहीं ज्यादा सराहते हैं। यानी आम भारतीयों में भी-औसत आदमी में भी-काले के विरुद्ध कोई पूर्वाग्रह नहीं था। यह निश्चित ही औपनिवेशिक शासन के द्वारा किये गये पीढ़ी दर पीढ़ी के माइंड-मैनिपुलेशन का परिणाम रहा होगा कि आज भारत के आम लोगों में भी श्वेत रंग के प्रति इतना मोह हो गया है कि स्किन-व्हाइटनिंग प्रोडक्ट्स की खपत लगातार बढ़ती जा रही है। सूरदास की गोपियां तो स्याम रंग रीझी हुई थीं- 'गिरि जनि गिरै स्याम के कर तैं'- 'नटवर वेष काछे स्याम'-'मधुकर! स्याम हमारे चोर'- जैसे ढेरों पद इसके साक्षी हैं। कृष्णदास ने 'सजल स्याम घन बरन लीन है' गाया तो मीराबाई ने 'करूणा सुणो स्याम मेरी'। और 'श्याम माने चाकर राखो जी'। भारत

में रंग के प्रति जो पूर्वाग्रह औसत अनपढ़ आदमी में नहीं था, पश्चिमी दुनिया में वह शोपेनहार जैसे दार्शनिकों में था। राम और रावण के बीच युद्ध को किसी रेसिस्ट युद्ध में परिणत करने वाले यह नहीं देखते कि जहां राम श्याम हैं वहां, वाल्मीकि रामायण के अनुसार, "रावण की अंगकांति भी मेघ के समान श्याम थी।" (श्लोक 10 सर्ग 10, सुंदरकांड)। ई.व्ही. रामासामी जिन्होंने रामायण को उत्तर और दक्षिण भारतीयों के बीच राजनीतिक प्रभुत्व के संघर्ष के रूप में व्याख्यायित कर रावण-दहन की तर्ज पर राम-दहन करना चाहा, इस समानता पर बात नहीं करते। दरअसल उनकी पुस्तक 'रामायण के चरित्र' से पहले तमिल भी रामायण को उसी श्रद्धा से देखते थे और ई.व्ही.आर. अपनी पुस्तक में इस बात पर भारी नाराजगी भी प्रकट करते हैं। वे उस तमिल श्रद्धा को उनके 'अज्ञान' और 'अंधविश्वास' का परिणाम मानते हैं। ई.व्ही.आर. रावण को प्राचीन द्रविड़ों के मोनार्क के रूप में एक नई 'निर्मिति' देते हैं। नई इसलिए क्योंकि उनकी व्याख्या का यह अंश उदाहरणों से शून्य है। ई.व्ही.आर. रावण की सीता को दी गई धमकियों और यंत्रणाओं की उपेक्षा कर उसकी इस बात के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं कि उसने आत्म-संयम रखा और इस सरासर झूठ की भी कि वह बिना किसी स्त्री की सहमति के उसे छूता नहीं था। ई.व्ही.आर. रावण की तारीफ करते हुये यहां तक कह जाते हैं कि उनके अनुसार रावण ने सीता का अपहरण इसलिये किया क्योंकि "वे वन में इसीलिए अकेली छोड़ दी गई थीं ताकि उनका अपहरण किया जा सके।" कहने की जरूरत नहीं कि ई.व्ही.आर. के ये निष्कर्ष कितने त्रुटिपूर्ण थे। इन सब भ्रांतियों पर हम पूर्व में बहुत विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। ई.व्ही.आर. शूर्पणखा का बस इतना उल्लेख रावण की शिष्टता बताने के लिये करते हैं कि उसकी तरह सीता के नाक-कान रावण ने नहीं काटे। बाकी शूर्पणखा की सेक्सुअलिटी का भी वहां कोई उल्लेख नहीं, न वे ये बताते हैं कि रावण यदि द्रविड़ अस्मिता का वाकई प्रतीक था तो उसी के घर के लोग-यानी सिर्फ विभीषण नहीं, बल्कि मंदोदरी, कुंभकर्ण, मारीच, खर, दूषण, शुक, माल्यवंत आदि राम की इतनी तारीफ क्यों कर रहे थे? ई.व्ही.आर. के विश्लेषण जैन मत को स्थापित करने में लगे आचार्यों के प्रति-पुराण और माइकेल मधुसूदन दत्त की 'रिवर्स रामायण' की याद दिलाते हैं। ई.व्ही.आर. के साथ-साथ सुंदरम पिल्लै और एम.एस. पूर्णलिंगम पिल्लै जैसे लेखक भी आए। पहले ने कहा कि रामायण द्रविड़ों के विश्वविजयी साम्राज्य को सबसे गंदे तरह से पेश करने के उद्देश्य से और आर्यों की ताकत दिखाने के उद्देश्य से लिखी गई। दूसरे ने रावण को 'दक्षिण भारत में आर्य आक्रमणों के निर्भीक प्रतिरोधक' के रूप में चित्रित किया।

ई.व्ही.आर. अपने आग्रहों के समर्थन में साक्ष्य नहीं दे पाते। रावण के आठ बिन्दुओं के विश्लेषण में सिर्फ एक बार वे एक सीधा श्लोक उद्धृत करते हैं। एक जगह 'वाल्मीकि ने स्वयं कहा है' कहकर सरासर झूठ भी बोलते हैं। लेकिन वे सब माफ। जो नहीं माफ किया जा सकता है; वह है सीता को राम के प्रति निष्ठाहीन कहना (lack of faithfulness), उन्हें पति की आलोचक कहना, उन्हें रावण के प्रति आकर्षित कहना, उन्हें अपवित्र (unchaste) कहना। ई.व्ही.आर. ने तमिलनाडु में डी.के. ड्रामा के जरिए कीमायन नामक जो नाटक खेले थे उसमें सीता को एक सस्ती औरत (wanton woman) की तरह पेश किया था। भारत की एक इतनी सुंदर, अद्‌भुत, साहसी, संवेदनशील और समझदार चरित्र को भी ई.व्ही.आर. की नफरत की आग में जलना पड़ा। ई.व्ही.आर. ने राम-दहन ही नहीं, सीता-दहन भी आयोजित किये थे। सीता की यह एक अलग तरह की अग्नि परीक्षा थी।

पूर्णलिंगम पिल्लै लिखते हैं : "They were in colour and complexion black opposed to the Aryans, who were bright or fair in colour and features. It represents the Rakshas as black of hue, and compares them with black cloudier and masses of black collyrium, it

attributes to them curly wooly hair and thick lips." ये ही नहीं, श्री फ्रेजर भी लिखते हैं : "There existed in Lanka, even before the Rakshas, a culture of Black People. Rama had destroyed the culture of black people in Indian Ocean." इस तरह की सैद्धांतिकी के विरुद्ध खड़ी है यह पंक्ति 'स्याम सरोज दाम सम सुंदर'। काली की पूजा करने वाली संस्कृति को यह भी सुनना बदा था। शिव और विष्णु दोनों ही शास्त्रों में श्यामल बताए गए हैं। सन् 2001 में प्रस्तुत किये गये एक CGI मॉडल में जीसस को भी श्यामल ही बताया गया था। मार्क गुडएकर ने जीसस के स्किन कलर को 'डार्कर' कहा। तीसरी शती के एक साइनेगाग की इमेजों के आधार पर। हमारे यहां राम और भरत को सांवला और लक्ष्मण व शत्रुघ्न को गोरा बताकर स्किन कलर के आधार पर किये जाने वाले निर्धारणों को संतुलित कर लिया गया है। ई.व्ही.आर. समूह के अनुसार ताड़का, मारीच आदि राम-वधित सभी लोग जो राक्षस के रूप में वर्णित किये गये, काले थे। लेकिन वाल्मीकी रामायण के बालकांड के 25वें एवं 26 वें सर्ग में दिये ताड़का-प्रसंग में उसके रंग का कोई वर्णन नहीं है। उसे राक्षसी नहीं, बल्कि यक्षिणी बताया गया है। ई.व्ही.आर. के तथ्य उनकी थीसिस से पैदा होते हैं। उनकी थीसिस उनके तथ्यों से पैदा नहीं होती। मारीच भी इसी ताटका का पुत्र था। अतः वह भी यक्ष था। भगवान अगस्त्य का शाप उसे यह मिला कि "तू देवयोनि-रूप का परित्याग करके राक्षस भाव को प्राप्त हो जा।" (11-12; श्लोक 25वां सर्ग, बालकांड)। 'भाव' शब्द पर ध्यान दें। इसी प्रकार मारीच और सुबाहु के बारे में इसी कांड के तीसवें सर्ग में वर्णन है लेकिन उस वर्णन में कहीं भी इन राक्षसों के रंग का उल्लेख नहीं है? ई.व्ही.आर.- टोली यह भी कहती है कि शूर्पणखा को भी काली होने के कारण मारा गया। लेकिन वाल्मीकि रामायण में अरण्यकांड के सत्रहवें सर्ग में 9-10वें श्लोकों में शूर्पणखा के वर्णन में पुनः रंग का उल्लेख नहीं है। उसे भद्दा एवं कुरूप, बेडौल लंबे पेट वाली, डरावने नेत्र वाली, वीभत्स और विकराल रूप वाली और भैरवनाद करने वाली तो कहा गया, लेकिन 'ब्लैक' नहीं। खर, दूषण, त्रिशिरा सहित 14 प्रमुख राक्षस और 14000 राक्षसों के कई सर्गों तक चले विस्तृत प्रसंग में एक बार भी उनके शरीर के रंग का उल्लेख वाल्मीकि नहीं करते। रावण को भी 'ब्लैक' नहीं बल्कि नीलम-कांति का कहा गया: "वह अपने शरीर में जो वैदूर्यमणि (नीलम) का आभूषण पहने हुये था, उसके समान ही उसके शरीर की कांति भी थी।" (8-9 श्लोक बत्तीसवां सर्ग, अरण्यकांड)। तब फ्रेजर, ई.व्ही.आर. पूर्णलिंगम पिल्लै आदि 'विद्वान' गौरवर्णी आर्यों और काले द्रविड़ों के रूप में राम-रावण युद्ध की जो व्याख्या करते हैं, वह सर्वथा मनमानी और प्रमाण-पुष्ट न होने से निराधार क्यों न कही जाए।

राम-रावण के पूरे विमर्श को एक तरह के रेसिस्ट अर्थ में रूढ़ कर देने की चालें औपनिवेशिक लेखकों ने उस वक्त चलीं जब वे अफ्रीका आदि में अपने द्वारा किए गए कॉलोनाइजेशन के लिये 'व्हाइट मेन्स बर्डन' की सैद्धांतिकी प्रतिपादित कर रहे थे। उन्होंने ही दूसरों को गुलाम बनाने के अपने घिनौने कृत्य को उचित ठहराने के लिये भारतीय शास्त्रों में उपलब्ध इस मॉडेल का अपने हित में विनियोग किया। उन्होंने इसे 'व्हाइट प्रिविलेज' के अपने सुविधाजनक विचार को आकर्षक बनाने के लिये एक मौके की तरह देखा। इस एप्रोच के दुहरे फायदे थे। एक तरफ इससे खुद को पूर्वोदाहरणों की सुरक्षा हासिल होती थी, दूसरी ओर भारत में जातीय और भौगोलिक विभाजन पैदा करने में उन्हें खासी मदद मिलती थी। कोई भी जाति/प्रजाति पूरी तरह से एलियनेट हो जाएगी यदि उसे राक्षस के रूप में समीकृत किया जाए। ई.व्ही.आर. ने इससे द्रविड़ अस्मिता का निर्माण वैसे ही करना चाहा जैसे राजशेखर इससे अनुसूचित जाति की अस्मिता का निर्माण करना चाह रहे हैं। कुछ ऐसे जैसे रावण शूद्र था, ब्राह्मण नहीं था। वाल्मीकि और तुलसी यदि ब्राह्मणपरस्त होते तो राम के सामने परशुराम का इतना हास्यास्पद पराभव नहीं दिखाते। यदि वे आर्य

और अनार्य का कोई युद्ध दिखा रहे होते तो क्यों वे इस पूरे पहलू पर एक वाक्य नहीं लिखते? ई.व्ही.आर. जैसे बहुत से लोग द्रविड़ आदि तमाम खंड-अस्मिताओं के 'स्वाभिमान' आंदोलनों में और यूएसइस्लामडाटओआरजी जैसी वेबसाइटें - जो राम को नपुंसक तक बताती हैं- शब्दों को समझे बिना ही नहीं, पाए बिना भी राम और सीता पर, वाल्मीकि और तुलसी पर अनगिनत आरोप मढ़ती चली जाती हैं। जो शूरवीरता का अनुपम प्रतीक है, उसे नपुंसक बताना और जो राम की अनन्यानुरागी है, उसे निष्ठाहीन और सस्ती बताना विकृत और अश्लील सोच की हद है।

नीलकमल या कृष्ण कमल की माला के समान सुंदर हैं प्रभु श्रीराम की भुजाएं। सीता को अपने प्रिय की भुजाओं की शक्ति पर विश्वास है, भले ही यही विश्वास ब्रुकलिन रैल में लिखने वाली लीसा मोरिकोली लैथम को न हो जो राम को नपुंसक तक लिख देती हैं। पाकिस्तानी वेबसाइटों पर तो राम के विरुद्ध गाली गलौज का ही नहीं, अश्लीलताओं का भी माहौल है। सीता के सामने भी रावण राम की गर्हणा करता है। अरबों का घोटाला करने वाली एक टीम के अग्रणी एक प्रांत के मुख्यमंत्री रहे आए एक नेता भी यही बोलते थे : "हू इज दिस राम?" तरह-तरह की गर्मियां दिमाग में चढ़ जाती हैं और पता नहीं क्यों सबको लगता है : राम को गिराए बिना इस देश के आस्थामूलों को डिगाया नहीं जा सकता। रावण भी यही कोशिश कर रहा था। रावण सीता से लगभग उन्हीं स्वरों में कहता है जिनमें राम के ये आधुनिक आलोचक कहते हैं: "विशाल-लोचने! राजा दशरथ ने अपने प्यारे पुत्र को राज्य पर बिठाकर जिस अल्पपराक्रमी ज्येष्ठ पुत्र को वन में भेज दिया, उस राज्यभ्रष्ट, बुद्धिहीन एवं तपस्या में लगे हुये तापस राम को लेकर क्या करोगी?" (श्लोक 15-16, सर्ग 48, अरण्यकांड, वाल्मीकि) और भी "जो राज्य से भ्रष्ट है, जिसका मनोरथ सफल नहीं हुआ तथा जिसकी आयु सीमित है, उस राम में किन गुणों के कारण तुम अनुरक्त हो।" (13 1/2, सर्ग 49, अ.कां.वा.)। "जो एक स्त्री के कहने से सुहृदों सहित सारे राज्य का त्याग करके इस हिंसक जंतुओं से सेवित वन में निवास करता है, उसकी बुद्धि कैसी खोटी है?' (14वां श्लोक, शेष वही)। लेकिन सीता हैं कि उनका विश्वास डगमगाता नहीं। लेकिन भारत की जनता है कि उसका विश्वास डगमगाता नहीं। सीता के सामने, वाल्मीकि की कृति में, राम और रावण का अंतर सिर्फ जुगनू और सूर्य का अंतर नहीं है : "वन में रहने वाले सिंह और सियार में, समुद्र में और छोटी नदी में तथा अमृत और काजी में जो अंतर है, वही अंतर दशरथनंदन श्रीराम में और तुझमें है। सोने में और सीसे में, चंदन मिश्रित जल और कीचड़ में, वन में रहने वाले हाथी (अभी तुलसी भी 'करिकर'-हाथी की सूंड की बात कर रहे हैं) और बिलाव में जो अंतर है, वही अंतर दशरथनंदन श्रीराम और तुझमें है। गरूड़ और कौए में, मोर और जलकाक में तथा वनवासी हंस और गीध में जो अंतर है वही अंतर दशरथनंदन श्रीराम और तुझमें है।" इसके बावजूद ई.व्ही.आर. को सीता की निष्ठा पर न केवल शक है बल्कि वे उसे 'सस्ती औरत' तक बोलते हैं। जिस सीता को राम के पराक्रम और बाहुबल पर इतना विश्वास है कि वे, रावण द्वारा यह कहे जाने पर कि "सीते! मेरे अधीन बत्तीस करोड़ राक्षस हैं' (14वां श्लोक, सर्ग 55, अ.कां.), यह कहती हैं कि "तूने जो इन घोररूपधारी महाबली राक्षसों की चर्चा की है, राम के पास जाते ही इन सबका विष उतर जायेगा, ठीक उसी तरह जैसे गरूड़ के पास सारे सर्प विष के प्रभाव से रहित हो जाते हैं" (6वां श्लोक, सर्ग 56, अ.कां., वा.रा.), उस सीता के बारे में ऐसे प्रवाद!

वही सीता स्याम-सरोज-दाम-सम सुंदर प्रभु-भुज को याद करती हैं। वे भुजाएं ही सीता के गले का हार हैं। ऐसे समय जब रावण की strong arm tactics चल रही हैं, सीता को राम की भुजाएं ही याद आती हैं। राम की वे भुजाएं जो सीता का गलहार हैं, वे ही रावण की संहारक भी हैं। ये भुजाएं सौंदर्य और शक्ति का समाहार हैं। तुलसी के यहां ये भुजाएं कमलों की माला

हैं तो सीता वाल्मीकीय अरण्यकांड के 56 वें सर्ग के 20वें श्लोक में रावण से कहती भी हैं : "जो सदा कमल के समूहों में राजहंस के साथ क्रीड़ा करती है, वह हंसी तृणों में रहने वाले जलकाक की ओर कैसे दृष्टिपात करेगी।" तो यह भी 'तृण धरि ओट' का एक आयाम है। एक दूसरा आयाम वह है जब अयोध्याकांड के तीसवें सर्ग के 14वें श्लोक में सीता यह कहती हैं :- "जब वन के भीतर रहूंगी, तब आपके साथ घासों पर भी सो लूंगी। रंग बिरंगे कालीनों और मुलायम बिछौनों से युक्त पलंगों पर क्या उससे अधिक सुख हो सकता है?" जिस सीता को राम की नीलकमल के समान सुंदर भुजाओं पर सिर धरकर सोने मिला हो, वह सीता रावण के द्वारा दिये गये प्रलोभनों से भी नहीं छली जाएंगी और उसकी धमकियों से भी नहीं। वाल्मीकीय में सुंदरकांड के 21वें सर्ग के 16वें श्लोक में सीता वही कहती हैं : 'उपधाय भुंज तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम्/कथं नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित्' कि जगदीश्वर (राम) की सम्मानित भुजा पर सिर रखकर अब मैं किसी दूसरे की बांह की तकिया कैसे लगा सकती हूं। एक प्रसिद्ध पॉप-सांग भी कुछ ऐसा ही कहता है : "There's no place i'd rather be/In your arms of love/in your arms of love/holding me still/ Holding me near." सीता 'लोकनाथ' की भुजा पर सिर रखकर सोती हैं, स्वयं राम भी अपने उस लोकनाथ वाले स्वरूप को भूले हुए हैं- अग्नि परीक्षा के वक्त देवता/ब्रह्मा/महादेव उन्हें याद दिलाते हैं। सीता को वे लोकनाथ, वे 'प्रभु' और उनकी भुजाओं के अलावा सिर्फ मृत्यु ही वरेण्य लगती है। एंटोनियो स्मिथ की कविता है : 'In you I see serenity/I see beauty and mystique/ In your arms of love/ I seek to forever sleep'; सीता राम की भुजाओं में वही शरण्य, शांति और सुरक्षा महसूस करती हैं जो भगवान की बांहों में हैं। सीता के लिये वह एक प्रार्थना-सी है। विलियम बार्कले ने तो प्रार्थना को ही कुछ इस तरह से परिभाषित किया था : "Prayer is not a way of making use of God... we lean back in His everlasting arms and feel the serenity of perfect security in Him." राम की बांहों में उन्हें आश्वस्ति क्यों न महसूस होगी। राम प्रभु भी हैं, परिवार भी। बार्बरा बुश, जो अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश की पत्नी थीं, कहती थीं : "To us, family means putting your arms around each other and being there." सीता भी राम की उन्हीं बांहों की याद करती हैं जो उनके कंठ से लिपटी रहती थीं। ये बांहें नीलकमल/कृष्णकमल की माला के समान तुलसी ने कही हैं। तुलसी कहीं अवगत होंगे कि बौद्ध शास्त्रों में श्यामकमल को विजय का प्रतीक माना गया है। बौद्ध शास्त्र कमलों के रंग के अनुसार उनकी प्रतीकार्थिकी निकालते हैं। तो हो सकता है कि तुलसी की सीता श्यामकमल की माला के समान सुंदर प्रभु की विजय का इशारा भी कर रही हों। यह भी संभव है कि स्वयं कमल पर विराजने वाली लक्ष्मी की अवतार सीता कमल की माला के समान सुंदर राम से अपने सहज प्रकृत संबंध का संकेत कर रही हों, रावण को यह बताने कि वह जो कोशिश कर रहा है वह अस्वाभाविक है, अप्राकृतिक है। यह भी हो सकता है कि कहां तू किल्विष, कलुष और कर्दम से घिरा हुआ अतिसांसारिक रावण और कहां इन सब से निर्लिप्त राम। कहां तू दूसरों का धन लूटने वाला और कहां स्वयं का सिंहासन तक त्याग देने वाले राम। एक तरफ लिथुड़ी वासना और दूसरी ओर राम की उपरामता। नीलोत्पल्ल जैसी। रावण चाहता तो कमल से यही स्पर्धा कर लेता जो उड़िया कवि मधुसूदनराव ने की थी : 'कलुष-पंके मुंहीं केड़े मलिन/केमंटे सरि तोर हेविनलिन/ पंकज अटू तू ही तेनु भरसा/तो परि शुभ्र हेंवि लभि सुदशा।' कि "हे कमल, मैं कलुष-पंक में कितना मलिन हुआ व्यक्ति हूँ! मैं किस तरह तेरे समान बनूंगा? हे कमल! मैं तेरे समान सुदशा को प्राप्त कर शुभ्र हो जाऊंगा, इस बात का मुझे भरोसा इसलिए है क्योंकि तू भी (पंक से जन्मा) पंकज है।" लेकिन रावण तो कलुष में ग्रस्त है और उस कलुष को लेकर उसे पछतावा नहीं

है। वह उसे 'एंजाय' कर रहा है।

कमल को इतना महत्व हमारी ही नहीं बल्कि दुनिया की अधिकांश संस्कृतियों में क्यों मिला? यह अकारण तो नहीं होगा? विष्णु की नाभि पर खिला हुआ कमल क्या खगोल है? कुछ तो इस पुष्प में है जो असाधारण है। युकिओ मिशिमा ने लिखा है : "By means of microscopic observation and astronomical projection the lotus flower can become the foundation for an entire body of the universe and an agent where by we may perceive truth." हिन्दुओं और बौद्धों में कमल को कौज़्मिक हार्मनी का प्रतीक भी माना गया है। उसकी पांखुड़ियां खगोल का आध्यात्मिक प्रतीक मानी गई हैं। गर्भधातु मंडल के बीचोंबीच कमल खगोल के गर्भ (womb/embryo) की तरह है। सहस्रदल कमल का खुलना एक आध्यात्मिक प्रकाश से दीप्त हो जाना है। बौद्ध मंत्र-'ऊँ मणि पद्मे हुं'-कमल में किसी मणि के होने का मंत्र है। यह मणि उसी आध्यात्मिक दीप्ति की है, या खगोल के बीच में मनुष्य की दिव्यता की है। पांखुरियां संभाव्यताएं हैं। उनका खुलना मनुष्य के उस पोटेन्शियल का क्रमशः चरितार्थ होना है। प्राचीन मिस्र में यह कहा जाता था कि कमल से सूर्य का जन्म हुआ है। वेद कहते हैं कि "हे मनुष्य! तुम्हारा यह गांव (जीवन) कमल पत्र पर संतुलित है और तुम्हारी आयु इस पत्ते पर बहती हुई पानी की बूंद है, कभी भी टपक जाए। "तैत्तिरीय ब्राह्मण सृष्टि रचना के समय जल से निकलकर प्रजापति के समक्ष आते हुये पुष्कर-पर्ण की चर्चा करता है। आज भी लक्ष्मी की पूजा के लिए 108 कमलों की माला कुछ परंपरानुसारी घरों में प्रयुक्त होती है। तो राम की भुजाएं लक्ष्मी की अवतार सीता के लिये वही माला हैं। और यह भी फर्क है कि रावण इस जगत् के भीतर के देश-विदेश को ही जीतना चाहता है किन्तु राम तो इस सकल खगोल के अधिपति हैं। पद्मासना लक्ष्मी की अवतार सीता का स्याम-सरोज-दाम-सम-सुंदर प्रभु से प्रीति का जो एक पुरातन (innate) रिश्ता है उसके सामने रावण जबरन ही भांजी मार रहा है। राम सीता का स्वाभाविक निर्वाचन हैं, भले ही जनक ने उन्हें वीर्यशुल्का माना हो। कमल के रूप में सिर्फ निर्लिप्तता की ही बात नहीं है। कमल जिस क्रमशः प्रस्फुटन की बात करता है, रावण का जीवन उससे ठीक उल्टा है। कमल की पांखुरियों का लगातार खुलते जाना इस ब्रह्मांड के क्रमशः फैलते जाने का संकेत है? कि राम तो वे हैं जिनकी प्रभावना का विस्तार होता चल रहा है, लेकिन रावण फंस गया है। कीचड़ में, दलदल में। वह जड़ हो गया है।

रावण दुनिया भर का धन लूटता है और वही लूट उसके लिये 'श्री' है। अब तो वह साक्षात् 'श्री' को ही हर लाया है। सोच रहा है कि अब तो सब संपदा उसकी हुई। वह नहीं जानता कि यह वह 'श्री' है जो किसी को expropriate करके नहीं आ सकती। श्रीसूक्त ने इस 'श्री' को पद्मानने, पद्मविपपत्रे, पद्मप्रिये, पद्मदलायताक्षि, पद्मऊरू, पद्माक्षि, पद्मसंभवे, पद्मिनी, पद्मेस्थितां, पद्मवर्णा यों ही नहीं कहा होगा? रावण के पास स्याम-सरोज-दाम-सम सौन्दर्य कहां है? तो यह 'श्री' उसके लिए है ही नहीं। श्रीसूक्त इस श्री को 'सरसिजनिलये सरोजहस्ते' बोलता है। इसकी संगति तो उस 'स्याम सरोज' से ही है। यह 'हस्ते' और वह 'भुज' इन्हीं की जोड़ी जमती है। इसीलिए तो सांवरे से उनकी भांवरें पड़ी हैं। तुलसी ने यही लिखा था कि: 'क्यों करै विनय बिदेहु कियो बिदेहु मूरति सावंरी/करि होमु विधिवत गांठि जोरी होन लागीं भाँवरी'। वे स्याम-सरोज की श्रेणि के समान सुंदर राम, जिन्हें तुलसी ने 'केकि कंठ दुति स्यामल अंगा' कहा है, ही सीता के योग्य हैं। वे 'श्री' जिन्हें 'कनकधारास्तोत्र' में शंकराचार्य ने 'कमले कमलाक्षवल्लभे' कहा है, इस अवतार में उसी राम की हैं जो संसार के प्रलोभन के स्तूपों को ठुकराकर 'श्री' को वन में अपने साथ देखता है, जीवन में अपने साथ देखता है।

लेकिन राम की भुजाएं श्याम कमलमाल की तरह सुंदर ही नहीं हैं, वे हाथी की सूंड के समान सशक्त और सेंसिटिव भी हैं। तुलसी ने अन्यत्र भी कहा है :

'करिकर सरिस सुभग भुजदंडा'। इसे यों देखें कि आज गजराज पृथ्वी पर शेष बचे सबसे बड़े प्राणी हैं। टेड एन्ड्रूज़ ने अपनी पुस्तक 'एनीमल स्पीक' में कहा था : "In India and Southeast Asia elephants are venerated, and the symbolism of the elephant is multiple. It is a symbol of royalty and fertility. The elephant has a most auspicious symbolism. They embody strength and power. Those who have the elephant as totem will usually find themselves in a position where the opportunity to re-establish family and societal ideals will occur. Its trunk reflects that through increased sensitivity of smell that elephant stimulates, you can open to energies and worlds otherwise unaccessible. राम की भुजाओं में वही राजत्व है। राम की दृष्टि और कल्पना में वही उर्वरता है। राम की भुजाओं में वही ऊर्जा और शक्ति है। राम इन्हीं भुजाओं से पारिवारिक और सामाजिक आदर्शों को पुनर्स्थापित करेंगे। अपनी बढ़ी हुई संवेदनशीलताओं के जरिए वे सीता को ढूंढ़ भी निकालेंगे और दुर्गम लंका पर भी जा पहुंचेंगे, शक्ति के अपूर्व विस्फोट के साथ। रावण कितनी ही आर्म ट्विस्टिंग करने की कोशिश करे, राम की भुजाओं की शक्ति का जवाब उसके पास नहीं। 'करिकर' के जरिए सीता इन सबको एक साथ एक शब्द में व्यक्त करती हैं। कमल की तरह हाथी भी एक जागतिक उपस्थिति है। एक कॉज्मिक प्राणी। कुछ पुराकथाओं में विश्व को हाथी ने धार रखा है। राम भी वैसे ही जागतिक पुरुष हैं- स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, महेश जिनकी स्तुति करते हैं, जिनके मुख में कौशल्या असंख्य ब्रह्मांड देखती हैं। उनकी तुलना में रावण बहुत क्षुद्र है। भले ही वह दशकंधर हो, भले ही उसकी बीस भुजाएं हों लेकिन करिकर समान प्रभु-भुज के सामने वह कहीं नहीं है। ध्यान दें कि वाल्मीकि सुंदरकांड के 22वें सर्ग में 16वें श्लोक में राम को गजराज ही कहती हैं: "जिस प्रकार वन में कोई मतवाला हाथी और कोई खरगोश दैववश एक दूसरे के साथ युद्ध के लिए तुल जायं, वैसे ही राम और तू हैं। नीच निशाचर। राम तो गजराज के समान है और तू खरगोश के।" इतना कहकर सीता ताव खा जाती हैं :- "हे दुष्ट! अब मेरा भी प्रण सुन।" साधारण नहीं, प्रमाण-प्रण, "या तो राम की वे बांहें मेरे कंठ पर होंगी या तेरी दुर्धर्ष तलवार।" सीता के इन शब्दों में मध्यकाल की उन अनेक वीरांगनाओं का वह स्वर, उनकी वह कलेक्टिव स्पिरिट रेडिएट होती है जिसने प्रचंड तलवारों के सामने भी शठ को शठ ही कहा। रावण बलात् अपनी बात सीता-सी स्त्री से मनवाना चाहता है। ध्यान दें कि रूस में दूसरे विश्वयुद्ध के समय जर्मन सेनाओं द्वारा रूसी औरतों पर किए गए बलात्कार और नानकिंग में जापानियों द्वारा किए बलात्कार और 1971 में बांग्लादेश मुक्ति-युद्ध के समय पाकिस्तानी सैनिकों द्वारा 2 से 4 लाख स्त्रियों पर बलात्कार (सुसान ब्राउनमिलर की पुस्तक 'Again Our Will : Men, Women and Rape' किए गए। डॉ. डेविस की 'Repression of Bengalee Women in 1971' और आड्री मेनन की 'Rapes of Bangladesh' जैसी पुस्तकों में वर्णित घटनाएं मनुष्य की हैवानियत के उदाहरण हैं। तुलसी के पहले चंगेजखां और उसके संस्कारों वाले कई आक्रामक हो चुके थे जिन्होंने 'असि घोरा' की नोंक पर स्त्रियों से बलात्कार कर न केवल पराजित देश को अपमानित किया बल्कि अपने सैनिकों और सिपहसालारों को यह छूट देकर और यौन-दासी बनाई गई स्त्रियों को थोक में पेश कर 'सम्मानित' भी किया था। सुसान ब्राउनमिलर ने अपनी पुस्तक में इस राक्षसी मानसिकता को इन शब्दों में उकेरा है : "Rape by a conquering soldier destroys all remaining illusions of power and property for men of the defeated side. The body of raped women becomes a ceremonial battlefield, a parade ground for the victor's trooping of the colors. The act that is played out upon her is a message

passed between proof of menvivid victory for one and loss and defeat for the other." रावण सीता को अपने युद्धक्षेत्र के रूप में इस्तेमाल करना चाहता है। सीता के शरीर पर विजय राम को भेजा गया एक संदेश है। दरअसल इस तरह से स्त्री-मर्दन के माध्यम से अपनी सत्ता की गौरव-घोषणा वह हमेशा से करते आया है। तुलसी ने बालकांड में 182 (ख) दोहे में रावण की इस प्रकृति का उल्लेख किया है : 'देव जच्छ गंधर्ब नर किंनर नाग कुमारि/जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदर बर नारि।' वाल्मीकि अरण्यकांड के बत्तीसवें सर्ग के श्लोकों में बताते हैं : "धर्म की तो वह (रावण) जड़ ही काट देता था और परायी स्त्रियों के सतीत्व का नाश करने वाला था। एक समय पाताल की भोगवतीपुरी में जाकर नागराज वासुकि को परास्त करके तक्षक को भी हराकर उसकी प्यारी पत्नी को वह हर ले आया था।" रावण सीता को भी 47वें सर्ग में यही कहता है कि "मैं इधर-उधर से बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियों को हर लाया हूँ।" और सुंदरकांड में वह सीता से यह भी कहता है कि "परायी स्त्रियों के पास जाना अथवा बलात् उन्हें हर लाना हम राक्षसों का सदा ही अपना धर्म रहा है।" रावण संहिता में उसकी इस प्रवृत्ति का विस्तुत विवरण है : "उसने रास्ते में मनुष्यों, ऋषियों, दानवों और देवताओं की कन्याओं का जबर्दस्ती अपहरण कर लिया। रावण जिस किसी कन्या या स्त्री को सुंदर और दर्शनीय रूप की देखता था, उसके बंधुजनों को मारकर उसे अपने पुष्पक विमान में बिठा लेता था। इसी तरह रावण ने असुरों, नागों, राक्षसों, यक्षों की अनेक कन्याओं का जबर्दस्ती अपहरण करके उन्हें विमान में बैठा लिया था। वे सभी कन्याएं अपना एक समान दुख होने के कारण आंसू बहा-बहाकर रो रही थीं। शोक तथा भय के कारण उनकी आंखों से बहने वाली प्रत्येक आंसू की बूंद आग की चिन्गारी की तरह लग रही थी। उन सभी सुन्दर कन्याओं के शोक तथा भय से उत्पन्न अमंगलकारक आंसुओं ने उस पुष्पक विमान को ठीक उसी प्रकार भर दिया, जिस तरह मछलियां समुद्र को भर देती हैं। गन्धर्व, नागों, महर्षि, दानवों, दैत्यों और देवताओं की सैकड़ों कन्याएं विमान में बैठी रो रही थीं। वह विमान उन सभी कन्याओं की गरम निःश्वास वायु के कारण चारों तरफ से प्रज्ज्वलित सा लगता था। ऐसा लगता था जैसे उस विमान के भीतर अग्नि स्थापित हो गई हो। वे शोकाकुल स्त्रियां दशग्रीव के वश में पड़ी हुई इस तरह दीन दिखाई पड़ती थीं जिस प्रकार शेर के पंजे में पड़ी हुई हिरणियां दिखाई देती हैं।" ऐसे विवरणों/उल्लेखों की एकांत उपेक्षा कर पूर्णलिंगम पिल्लै रावण के बारे में अपनी पुस्तक में यों लिखते हैं : "The character of Ravana has been much vilified as a love-sick Titan. Ravana carried off Sita as a war-prize and treated her with courtsey, decorum and respect. Had he been passion-ridden, as alleged by the Chronicles and purana-writer, he could have committed outrage or done her to death in case of obduracy. He did neither." श्री पिल्लै का कहना कि सीता एक war-prize के रूप में ले जाई गई थीं, हास्यास्पद झूठ लगता है क्योंकि तब तक रावण का राम से कोई युद्ध हुआ ही नहीं। वह युद्ध को avoid करना चाहता था, युद्ध करना नहीं। उसकी 'शिष्टता, शालीनता और सम्मान-भावना' के दावे भी जोरदार हैं। कोई किसी की पत्नी को अपहरण कर ले जाए, बन्धक बनाकर रखे, तरह-तरह के त्रास दे, मारने दौड़े तो भी शिष्ट, शालीन, सुसंस्कृत। यदि उसने सीता का बलात्कार नहीं किया या उसे मारा नहीं तो सिर्फ इसी आधार पर उसे महान मान लिया जाए। मारने के लिए उसने अवधि तो निर्धारित कर ही दी थी। हां, बलात्कार क्यों नहीं किया जो वह उसके पूर्व अनेकों पर कर चुका था? यानी एक पर बलात्कार न करने से शेष सभी पर किया हुआ बलात्कार क्षम्य हो जाता है। रावण संहिता में साध्वी स्त्रियां रावण को शाप देती हैं : 'इदं त्वसदृशं कर्म परदाराभिमर्शनम्यस्मादेष परक्यासु रमते राक्षसाधमः'-दूसरों की पत्नियों के साथ बलात्कार। सिर्फ सीता के

साथ बलात्कार न करना उसे श्री पिल्लै के इन शब्दों के योग्य बना देता है : "When Sita was in his clutches, he merely made overtures to her. Sita disdained them. As a Dravidian, Ravana would not touch her, unless she yielded. This chivalrous and magnanimous behaviour, is in striking contrast with the conduct of the Aryan prince who cleft Surpanaka's nose and ears, despite the Aryan chronicler's picture of the Dravidian princess as a She-cannibal." यहां श्री पिल्लै एक अपहर्ता के अपराध को एक जातीय या प्रजातीय संरक्षण दिलाने की कोशिश वैसे ही कर रहे हैं जैसे कि अभी कुछ सालों पहले एक न्यायाधीश के अपकर्म पर प्रस्तावित महाभियोग के विरोध में ऐसे ही कोष्ठकों को खड़ा करने की कोशिश की गई थी। जब एक व्यक्ति किसी लड़की को छोड़ता है तो दंगे इस बात पर छिड़ जाते हैं कि मुसलमान लड़के ने हिंदू लड़की को छोड़ा। यानी यह कोई व्यक्तिगत इंपल्स नहीं है। श्री पिल्लै की दृष्टि में एक द्राविडियन कार्रवाई है। इसे वे 'शौर्यपूर्ण' (chivalrous) कहते हैं जबकि सीता उसे ही 'सठ सूने हरि आनेहि मोती' कहकर कायरतापूर्ण बताती हैं। 'औदार्य' (magnanimity) यह है कि किसी की पत्नी का अपहरण कर लो-उसे बंधक रखो। लगता है, सीता भले न हुईं हों, श्री पिल्लै जरूर स्टाकहोम सिंड्रोम से ग्रस्त हो गए हैं। रावण को जातीय कोष्ठक का लाभ तभी मिल सकता है जब वह इस तरह के अपहरणों, बलात्कारों-या शादियों के जरिए कोई लव-जिहाद कर रहा हो। श्री पिल्लै शूर्पणखा को 'नर भक्षिणी' के रूप में प्रस्तुत करने का दोष आर्य लेखकों को देते हैं; लेकिन उसके विकल्प में तत्समय किस 'द्रविड' लेखक का प्रति-साक्ष्य उपलब्ध है, यह नहीं बताते। शूर्पणखा राम या लक्ष्मण के सामने प्रणय-प्रस्ताव रखने पर उस अपमान का शिकार नहीं होती बल्कि वाल्मीकि रामायण के अनुसार उसके साथ यह नौबत तब पेश आती है जब "ऐसा कहकर दहकते हुए अंगारों के समान नेत्रों वाली शूर्पणखा अत्यन्त क्रोध में भरकर मृगनयनी सीता की ओर झपटी, मानो कोई बड़ी भारी उल्का रोहिणी नामक तारे पर टूट पड़ी हो।" यानी राम-लक्ष्मण के लिए यह योग्य था कि वे सीता को शूर्पणखा का शिकार बनने देते। यह राक्षसी स्वभाव ही होगा कि विराध, शूर्पणखा और रावण सब सीता को ही निशाना बनाते हैं और इसी 'chivalrous' और 'magnanimous' काम के कारण मारे जाते हैं। श्री पिल्लै की दृष्टि में रावण 'passion-ridden' नहीं है जबकि वाल्मीकि रामायण में स्वयं रावण अरण्यकांड के 55वें सर्ग में यह कहता है :- "मैंने कामाग्नि से संतप्त होकर ये बातें कही हैं।' तो रावण के बारे में श्री पिल्लै स्वयं रावण से ज्यादा जानते प्रतीत होते हैं। जो रावण स्त्रियों पर जब तब बलात्कार करता ही रहता था, सीता पर नहीं कर सका तो इसके पीछे कारण रावण की तथाकथित तमीज में नहीं बल्कि सीता के तेज में ढूंढ़ने चाहिए।

रावण की इन सब प्रकट पिशुनताओं को नजरअंदाज़ करना और राम की असंदिग्ध निष्ठा के बावजूद उन पर तोहमत लगाना ऐसे लोगों का मनपसंद खेल है। श्री पिल्लै शूर्पणखा प्रसंग में राम के बारे में बोलते हैं : "The elder Kshatriya prince was evidently bewitched by the lordlier Raksha dame, and polygamy among the Kshatriyas was nothing strange. According to Tholkappiam, a Kshatriya was entitled to marry three wives, and monogamy did not hang upon his neck like a nether mill- stone. The plea of conjuring fidelity by Rama sounds hollow under the circumstances. He probably dreaded Sita's suspicion, discovery, or the detection of the love-intrigue. To pass for a spotless husband in the eyes of his spouse, the banished hero and rishi- champion would have none of Surpanaka." तो इन सज्जन के

अनुसार यदि राम एक पत्नीव्रता थे तो सीता के संदेह, उनको पता लग जाने या ढूंढ़ लिए जाने, के डर से थे। अपनी पत्नी की निगाहों में खुद को निर्दोष/निष्कलंक साबित करने के लिए। इनके हिसाब से राम एक पत्नीव्रता हो ही नहीं सकते थे क्योंकि तब के क्षत्रिय बहुविवाही थे। श्री पिल्लै और इन जैसे बहुत से लोगों की तर्क-पद्धति ध्यान से देखें तो साफ लगता है कि रावण को ब्रेकिट का-जातीय कोष्ठक का-लाभ दिया जा रहा है और राम को उसी का नुकसान देने की। तर्क के दोनों तटों पर यहां राम को निपटाने की कोशिश है। राम शूर्पणखा को स्वीकार करते तो दुश्चरित्र हैं। नहीं करते तो इसलिए कि पत्नी से डरते हैं। रावण दुश्चरित्र नहीं हो सकता -इस वैचारिकी के अनुसार क्योंकि वह द्रविड़ है और राम एकनिष्ठ हो नहीं सकते क्योंकि वे क्षत्रिय हैं।

शुक्र है कि सीता इस तरह के ब्लिंकर्स नहीं लगाए हैं। वे फर्क करना जानती हैं। अरण्यकांड में सैंतालीसवें सर्ग में कहती हैं कि "मैं तन-मन प्राण से उन्हीं (राम) का अनुसरण करने वाली तथा उन्हीं की अनन्य अनुरागिणी हूँ।" वे यह भी कहती हैं कि "उनकी भुजाएं बड़ी-बड़ी और छाती चौड़ी है। वे सिंह के समान पांव बढ़ाते हुए बड़े गर्व के साथ चलते हैं और सिंह के ही समान पराक्रमी हैं। मैं उन पुरुषसिंह श्रीराम में ही अनन्य भक्ति रखने वाली हूँ।" कुछ पंक्तियों बाद वे यह भी कहती हैं कि "तू सियार है और मैं सिंहिनी हूँ।" श्री पिल्लै उस राम पर शक पैदा करवाना चाह रहे हैं जो अरण्यकाड में सत्रहवें और अठारहवें सर्ग में भूलकर भी एक शब्द शूर्पणखा के प्रति किसी दमित रुचि तक की ओर संकेत करने वाला नहीं बोल रहा। न राम के मन में कोई संदेह है, न सीता के मन में। सीता तो प्रमाण-प्रण कर रही हैं। लेकिन डॉ. आम्बेडकर जैसों को है जो एक कथित बुद्ध रामायण में राम और सीता को दशरथ के पुत्र-पुत्री और आपस में भाई-बहन बताने के षड्यंत्र को ऐसा सम्मान देते हुए प्रतीत होते हैं जो उनके 'इंटेलेक्चुअलिज्म' के एकदम विरोध में पड़ता है। पिल्लै की तर्ज पर डॉ. आम्बेडकर भी राम को एक पत्नी-निष्ठ नहीं मानते। वे कहते हैं कि वाल्मीकि ने राम की बहुत सी पत्नियां बताई हैं और उनकी बहुत सी रखैलें इन पत्नियों के अलावा थीं। पता नहीं, यह दिव्य-दृष्टि डॉ. आम्बेडकर को कैसे प्राप्त हुई। जिस उत्तरकांड (वा.रा.) के आधार पर राम के विरुद्ध ढेर सारे आरोप लगाये गए, उसी उत्तरकांड के 99वें सर्ग के 7-8वें श्लोक में स्पष्ट लिखा गया है : "उन्होंने सीता के सिवा दूसरी किसी स्त्री से विवाह नहीं किया। प्रत्येक यज्ञ में जब-जब धर्मपत्नी की आवश्यकता होती थी, राम सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा बनवा लिया करते थे।" डॉ. आम्बेडकर इस स्पष्टोल्लेख की अवगणना क्यों करने पर बाध्य हुए, यह स्पष्ट नहीं होता। अयोध्याकांड के आठवें सर्ग में आयी जिस बात का बतंगड़ वे बनाते हैं वह पंक्ति यह है :- "राम के अन्तःपुर की परम सुन्दरी स्त्रियाँ-सीता और उनकी सखियां-निश्चय ही बहुत प्रसन्न होंगी।" इस पंक्ति से कहीं यह नहीं ज्ञात होता कि राम के सीता के अलावा और भी विवाह हुए और न यह कि यहां Concubines का उल्लेख है। यह तो सिर्फ सीता और उनकी सखियों की बात कर रहा श्लोक है। इसी प्रकार उत्तरकांड के 109वें सर्ग में 10वें श्लोक में आया है कि "अन्तःपुर की स्त्रियां भी बालकों, वृद्धों, दासियों, खोजों और सेवकों के साथ निकल कर सरयूतट की ओर जाते हुये राम के पीछे-पीछे जा रही थीं।" यहां भी 'अन्तःपुर' को डॉ. आम्बेडकर शायद मुगल हरम जैसी कोई संरचना ही नहीं समझ बैठे हैं बल्कि 'अन्तःपुर' को 'राम का अन्तःपुर' बिना वाल्मीकि के कहे ही मान ले रहे हैं। इन स्त्रियों के साथ राम के किसी सेक्सुअल सम्बन्ध की बात इस पंक्ति या इस संदर्भ में नहीं आई है। स्त्रियों (women) का अर्थ पत्नियों (wives) से लगाना अपनी तरह की ज्यादती है। यह नहीं समझ आता कि राम को बहुपत्नीधारी साबित करने में लगे दलित लेखक वाल्मीकि के स्पष्ट कथनों को क्यों उल्लिखित नहीं करते। वाल्मीकि कहते हैं : "राम सदा सीता के हृदयमंदिर में विराजमान रहते थे तथा मनस्वी राम का मन भी

सीता में ही लगा रहता था।" (25वां श्लोक, बालकांड, अंतिम सर्ग, वा.रा.) और "श्रेष्ठ राजकुमारी सीता श्रीराम की ही कामना करती थीं और राम भी एकमात्र उन्हीं को चाहते थे।" (श्लोक 29, सर्ग 77, बा.कां. वा.रा.)। डॉ. आम्बेडकर के मन में राम को बदनाम करने की कैसी भयंकर उत्सुकता है, इसे यों देखें। 42वें सर्ग (उत्तरकांड) के 18 1/2 श्लोक में वाल्मीकि लिखते हैं : "जैसे देवराज इंद्र शची को सुधापान कराते हैं, उसी प्रकार कुकुत्स्थकुल भूषण राम ने अपने हाथ से पवित्र पेय मधु लेकर सीता को पिलाया।" अब डॉ. आम्बेडकर का प्रस्तुतीकरण देखें : "Rama was not a teetotaler. He drank liquor copiously and Valmiki records that Rama saw to it that Sita joined with him in his drinking bouts." डॉ. आम्बेडकर 'शुचि' (पवित्र) शब्द की उपेक्षा कर रहे ही हैं, वे देवराज इन्द्र के 'सुधापान' शब्द की भी उपेक्षा कर रहे हैं। मधु और सुधा का अर्थ 'लिकर' से लगाना डॉ. आम्बेडकर की अपनी डिक्शनरी का ही फल है। एक दूसरा उदाहरण देखें। इसी प्रसंग में वाल्मीकि ठीक आगे लिखते हैं: 'उपानृत्यंश्चतराजानं नृत्यगीतविशारदाः/ अप्सरोरगऽसंघाश्च किंनरीपरिवारिताः/दक्षिणा रूपवत्यश्च स्त्रियः पावनशंगताः/उपानृत्यन्त काकुषस्थं नृत्यगीतविशारदाः/मनोभिरामा रामास्ता रामो रमयतां वरः/ रमयामास धर्मात्मा नित्य परमभूषिताः अब डॉ. आम्बेडकर की Spin doctoring का कमाल देखें : "From the description of the Zenana of Rama as given by Valmiki it was by no means a mean thing. There were Apsaras, Uragas and Kinnaris accomplished in dancing and singing. There were other beautiful women drinking and dancing. They pleased Rama and Rama garlanded them. Valmiki calls Ram as a 'Prince among women's men.' This was not a day's affair. It was a regular course of his life." डॉ. आम्बेडकर की सबसे बड़ी ग़लती इसे एक दिन की घटना नहीं बल्कि राम के जीवन का नियमित क्रम बताना है। वाल्मीकि के वर्णन में इसे एक घटना की तरह बताया गया है : 'उस समय राजा के समीप नृत्यगीतविशारद अप्सराएं, नागकन्याएं और किन्नरियां मिलकर नृत्य करने लगीं। नृत्यगीतविशारद रूपमती स्त्रियां पानवश अपनी नृत्यकला का प्रदर्शन करने लगीं। दूसरों के मन को रमाने वाले पुरुषों में श्रेष्ठ राम सदा उत्तम वस्त्राभूषणों से भूषित हुई उन मनोभिराम रमणियों को उपहार देकर संतुष्ट रखते थे।" रामायण का 'उस समय' राम की आदत बना दिया गया है- जीवन का नियमित कोर्स। दूसरी बड़ी ग़लती इस पूरे प्रसंग में सीता की उपस्थिति का डॉ. आम्बेडकर द्वारा अनुल्लेख है। तीसरे, वाल्मीकि ने राम को 'औरतों के आदमियों के बीच राजकुमार' कहीं नहीं कहा। उन्होंने कहा: 'दूसरों के मन को रमाने वाले पुरुषों में श्रेष्ठ।' चौथे, नृत्यगीतविशारद कन्याओं को शासक आज भी पुरस्कृत करते हैं। क्या कला को 'हेडोनिज्म' माना जा सकता है? पांचवें, देखें कि डॉ. आम्बेडकर किस चतुराई से उपहार को हार बना देते हैं। छठवें, उसी प्रसंग में वाल्मीकि यह भी कह रहे हैं : "उस समय राम सीता के साथ सिंहासन पर विराजमान हो अपने तेज से अरुन्धती के साथ बैठे हुए वशिष्ठ जी के समान शोभा पाते थे।" यानी प्रसंग अपनी पत्नी के साथ बैठकर नृत्यगीतविशारदों की प्रस्तुति देखने का है, लेकिन डॉ. आम्बेडकर Concubnies लिखने से नहीं चूकते। सातवें, यह प्रसंग अशोकवनिका का है, डॉ. आम्बेडकर तक आते-आते वह 'जनाना' हो जाता है। गजब हैं, डॉक्टर साहब के ट्विस्ट। उनके अर्थान्वयन। संविधान पर एक-एक शब्द पर झगड़ने वाले ये भीम मधु और मद्य के बीच भी फर्क नहीं कर पाए। मधु, सुरा और सोम को दारू समझना- और वह भी तब जब वाल्मीकि 'सुधा' की बात कर रहे हों- सिर्फ यह बताता है कि पूर्वाग्रह अच्छे भले आदमी को क्या कुछ लिखने को बाध्य नहीं कर देते। वाल्मीकि के अनुसार राम सिंहासन पर वैसे बैठे हैं जैसे वशिष्ठ के साथ अरुंधती। लेकिन हमारे भीम को लगता है वे नशे

में झौंरा रहे हैं। वाल्मीकि ने राम का सिर्फ सीता के साथ रमण बताया : "यों राम प्रतिदिन देवता के समान आनंदित रहकर देवकन्या के समान सुंदरी वैदेही के साथ रमण करते थे।" और डॉक्टर साहब को लग रहा है जैसे वहां अशोकवनिका में जीनत अमान अपने साथियों के साथ धुत्त होकर दम मारो दम गा रही हों।

यदि सीता ने आजानुबाहु राम को ही अपना सर्वस्व स्वीकारा है तो यह एक ऐसी प्रतिश्रुति है जो कठिनतम परिस्थितियों में भी अविचलित रहती है। सीता की आन। सीता का अहद। जो रावण के अत्याचारों के सामने तो अडिग रहता ही है, अपनों के अतिचारों के आगे भी। उत्तरकांड के penultimate सर्ग में ब्रह्मा के मुख से राम को यह कहलाया गया है : "आपकी पुरातन पत्नी योगमाया-स्वरूपा जो विशाललोचना सीता हैं, उन्हें छोड़ दूसरे कोई आपको यथार्थरूप से नहीं जानते है।" यह है राम और सीता की अनन्यता। यह संभव है कि यह पति-पत्नी के बीच निष्ठा का एक अत्यन्त ऊंचा आदर्श हो और हम जैसे मर्त्य मनुष्यों के लिए शायद कभी संभव न हो। लेकिन यह तो हो कि उसकी अलभ्यता हमें इतनी अधमता पर भी नहीं ले जाए हम उसे भी अपने स्तर पर खेंच-खेंच कर ही नीचे ले आने से कम पर संतुष्ट न हों। सीता के सत्य-संकल्प का निरादर रावण को महंगा पड़ा था, हमें भी पड़ सकता है।

सीता 'चन्द्रहास' नामक रावण की प्रसिद्ध तलवार को सम्बोधित ऐसे करती हैं जैसे उसमें जीवन हो। मौत के घाट उतारने वाली वस्तु में जीवन की छवि। सीता की इस परिस्थिति की विडम्बना ही यही है। क्या सीता का चन्द्रहास तलवार से यह बोलना कि वह उनका परिताप हरे, स्वयं रावण पर टिप्पणी नहीं है? कि वस्तु में संवेदना है, (इस) व्यक्ति में नहीं? रावण से होता हुआ वार्तालाप सहसा सीता के एकालाप में बदल जाता है। मानो उस प्रमाण-पण के बाद सीता रावण को बातचीत के लायक भी नहीं समझतीं। उन्हें तलवार से सहानुभूति की उम्मीद है। रावण से नहीं। मानो तलवार की एक सुपरपर्सनलिटी हो। इसलिए उसे भी तलवार के जेनेरिक नाम से नहीं बल्कि चंद्रहास के विशिष्ट नाम से वे संबोधित करती हैं। जैसे चन्द्रहास का अपना एक अविलयित (unmerged) व्यक्तित्व हो। चन्द्रहास का इतिहास है भी कुछ ऐसा। उत्तरकांड में लिखा गया है कि "रावण पर प्रसन्न होकर उसके मांगने पर शिवजी ने अपना महादीप्तिमान खड्ग दिया जिसका नाम चन्द्रहास है"- 'एवमुक्ततस्तेन रावणेन स शङ्कर/ददो खड्गं महादीप्त चन्द्रहासमितिश्रुतम।' यह साधारण खड्ग नहीं है। इसलिए सीता उस तलवार को nominational रूप में सम्बोधन करती हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि सीता शस्त्रों के शास्त्र में प्रवीण थीं। उन्हें रावण के अस्त्र-शस्त्रों के बारे में खासी जानकारी थी। दरअसल सीता का चंद्रहास को सम्बोधित कर यों बोलना जहां एक तरफ रावण के द्वारा लगातार दी जा रही यंत्रणा से हुए मानसिक विघटन का नतीजा लगता है तो दूसरी ओर सीता की मानसिक सजगता की ओर भी संकेत करता है। यदि मनोविश्लेषण की भाषा में बात करें तो सीता का चन्द्रहास से यों संभाषण उनके dialogic self का मुखरण है। वह अप्रत्यक्ष रूप से रावण को खरी खोटी सुनाना ही नहीं है। यह मृत्यु का syntax है। उसमें रावण का एक जबर्दस्त निषेध है, लेकिन उससे बड़ा एक मृत्यु स्वीकार है।

रघुपति-विरह से बेहतर है तलवार के घाट उतरना। कबीर कहते थे : 'विरह भुवंगम तन बसो मंत्र न लागे कोई/राम-बियोगी न जियै जियै हो बौरा होई।' सीता में जिस मानसिक विघटन की हमने ऊपर चर्चा की है जिसके तहत वे एक तलवार से बात करने लग जाती हैं; क्या वह यही 'बौरापन' है। रघुपति-विरह साक्षात् अग्नि है। बरवै रामायण में सीता कहती हैं कि 'जगत जगत अस लाग मोहिं बिनु राम'-कि मुझे तो राम के बिना सारा जगत जलता हुआ जान पड़ता है। कबीर ने भी यही कहा था : 'विरह अगिन तन में तपै अंग सबै अकुलाय/घर सूना जिब पीव कँह, मौत ढूंढ़ फिरि जाय।' सूरदास सूरसागर में (10/3579) लिखते हैं : 'बिरह-अगिनि अति ताती।' हाफ़िज़ अपने दीवान में कहते हैं :

'अम जे आतशे दिल दर गमे जानाना बसोख्त'- हृदय की अग्नि से मेरा सीना प्रिय के वियोग में जल गया है। सीता कहती हैं कि "रघुपति के विरह की अग्नि से उत्पन्न परिताप को, हे चन्द्रहास, तू दूर कर।" प्रसन्नराघव में लगभग यही शब्द हैं। तुलसी ने बस रामचन्द्र की जगह रघुपति कर दिया है। यह इसलिए नहीं है कि तुलसी ने यह ध्यान रखा कि स्त्रियां अपने पति का नाम नहीं लेतीं बल्कि इसलिये भी कि वैयक्तिक राम की जगह एक लोक भूमिका का निर्वाह करने वाले राम का भी इससे साबका है, इसलिए भी कि इस सार्वजनिक राम का एक भागवत स्वरूप है। सीता के मन में उस भागवत राम के बिछुड़ने की भी एक पीड़ा है जिसे श्री अरविंदो के एक शिष्य अमल किरन के शब्दों में कहूं तो ache for the infinite है। हीब्रू शास्त्र कहते हैं कि "For God alone my soul waits in silence, from him comes my salvation." यह तय करना मुश्किल है कि अशोक वाटिका में सीता वियोगिनी थीं या योगिनी। वाल्मीकि रामायण में हनुमान के द्वारा सीता के देखे जाने पर उन्हें 'तपस्विनी उपवास से दुर्बल हुई' 'नियमपरायणा तापसी के समान भूमि पर बैठी' कहा गया है। यह भी कि 'उनके द्वारा बड़े कठोर व्रत का पालन किया जा रहा था कि एकमात्र तप ही उनका धन था। सीता का यह वियोग-योग रावण के द्वारा विचलित नहीं किया जा सका। एक संस्कृत श्लोक है : 'अहारे विरति समस्त विषयग्रामें निवृतिःपरा/नासाग्रे नयनं तदेतद् पर यच्चैकतानं मनः/मौनं चेदमिदं च शून्यमधुना यार्द्विश्व माभाति ते/तद् ब्रूया सखि योगिनी किमसि भो कि वा वियोगि न्यसि।' कि "हे सखि। तुझे आहार से विरक्ति हो गई। तुझे सभी भोग विलास की वस्तुओं से परम निवृत्ति हो गयी। तेरी दृष्टि सदा नासाग्र रहती है। तेरा मन निरन्तर एक लक्ष्य में लीन हो रहा है। तू मौन साध रही है और तुझे अब यह विश्व शून्य प्रतीत हो रहा है। तो बता कि तू योगिनी है या वियोगिनी। सीता की स्थिति भी इसी तरह की है और चूंकि इसकी पृष्ठभूमि में रावण के द्वारा किए गए अपहरण का दुःस्वप्न और बंधक बनाकर रखे जाने की वेदनाएं हैं, यह वियोगिनी आम वियोगिनी की तरह नहीं है। लेकिन जॉन कीट्स की पंक्ति यहां पूरी तरह मौजूं लगती है- 'Love is my religion- I could die for it.' सीता उसी प्यार की खातिर मर जाना चाहती हैं। रावण की चन्द्रहास तलवार से वे मृत्यु का यही वरदान मांगती हैं।

शिव की दी हुई तलवार। उनकी जो हैं सेवक स्वामी सखा सिय पी के। वह कम से कम सीता को तो अवश्य ही शांति देगी। शंकर शम और शिव कल्याण करेंगे ही। यों तो अट्टिला हूण को भी तलवार रोमन युद्ध देवता मंगल से मिली हुई बताई जाती है, लेकिन रावण की तलवार तो शिव से मिली है। तो सीता को लगता है कि यह उनकी मृत्यु कारित कर इन परिस्थितियों में उनका हित ही करेगी। क्या सीता की उम्मीद यह भी है कि पौराणिकी में अभिशापित तलवार नोर्स टाइरफिंग की तरह यह भी अपने प्रयोक्ता को उसके सारे रिश्तेदारों समेत मरवा डालेगी!

सीता का कहना है कि "हे चंद्रहास! तेरी वरधारा शीतल है और तीक्ष्ण है, अतः मेरे भारी दुख का हरण कर। नदी की धारा के समान। जैसे नदी की धार अग्नि को बुझाती है, उसी तरह से यह तलवार सीता के विरहानल को बुझाए। हेनरी वार्ड बीचर ने तो कहा ही : "Love is the river of life in the world." प्यार इस संसार में जीवन-सरिता है। श्रेष्ठ धारा। इसी तरह से डार्लीन लेमोस ने कहा : "Love is like river peaceful and deep/love is like a secret no one can keep." यह प्यार की नदी अब रक्त की नदी में बदल गई है। एक जटायु का वध हो चुका है और आगे भी कितने ही लोग मारे जाएंगे। रावण के सिर पर खून सवार है। रावण की तलवार तो वैसे ही रक्तपिपासु रही है। लेकिन ऐसे वक्त जब रावण की यंत्रणाएं और दुर्वचन अपनी तरह से आग उगल रहे हैं, इस तलवार की रक्तधारा बेहतर विकल्प प्रतीत होने लगी है।

एक अन्य पाठ 'सीतल निसि तव असि बरधारा' के रूप में भी मिलता है। जहां यह अर्थ है कि तेरी श्रेष्ठ

धारा शीतल निशा के समान है। यह शायद वही बात है जो जयशंकर प्रसाद ने कही थी : 'मृत्यु अरी चिरनिद्रे तेरा अंक हिमानी-सा शीतल।' एक ऐसे व्यक्ति के सामने कि जिसने स्वयं मृत्यु पर विजय पाने के लिये वर्षों तप किया तथा यमपुरी तक पर आक्रमण किया, मृत्यु को यह सीधा आमंत्रण रावण के लिये एक विचित्र अनुभव रहा होगा। शेक्सपीयर के एक नाटक में यह कथन आता है कि "But I will be/A bridegroom in my death, and run into it/as to a lover's bed." सीता मृत्यु के पास एक वधू की तरह भी जाने को तैयार हैं क्योंकि उनके पति हैं ही अनन्त के अवतार। तो सीता को तलवार से बहती हुई अपनी रक्तधारा भी शीतल यामिनी ही लगेगी। जयशंकर प्रसाद मृत्यु के बारे में यही तो कहते हैं: तू अनंत में लहर बनाती/काल-जलधि की सी हलचल।' हिरोडोटस सही कहता था : "Death is a delightful hiding place for weary men." सीता क्लान्त तो हैं ही। वे रावण की लंका में जिन्दा रहने की जगह मरना पसंद करती हैं। रावण ने मरण से बचने के लिए वर मांगा था। सीता तो मृत्यु को ही वरती हैं। निराला के शब्दों में 'मरण को जिसने वरा है/उसी ने जीवन भरा है।' सीता अपनी उस तत्परता में सिद्ध करती हैं कि रावण कितना क्षुद्र है। जिन मरने ते जग डरे मेरे मन आनंद। सीता और रावण के जीवन-मूल्यों में तात्विक फर्क इस बिन्दु पर पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है।

●●●

सुनत बचन पुनि मारन धावा।
मयतनया कहि नीति बुझावा।
कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई।
सीतहि बहु बिधि त्रासहु जाई।
मास दिवस महुं कहा न माना।
तौं मैं मारिबि काढ़ि कृपाना।।
भवन गयउ दसकंधर इहां पिसाचिनिबृंद।
सीतहि त्रास देखावहिं धरहिं रूप बहु मंद।।

सीताजी के ये वचन सुनकर ही वह उन्हें मारने दौड़ा। तब मय दानव की पुत्री मन्दोदरी ने नीति कहकर उसे समझाया। तब रावण ने सब राक्षसियों को बुलाकर कहा कि जाकर सीता को अलग-अलग तरह से त्रास दो। यदि महीने भर में यह कहा न माने तो मैं इसे तलवार निकालकर मार डालूंगा। (यों कहकर) रावण घर चला गया। यहां राक्षसियों के समूह बहुत-से बुरे रूप धरकर सीता को त्रास दिखलाने लगे।

चंद्रहास तलवार से प्रार्थना करके सीता के दो काम सधे। एक तो रावण को लगा कि वह एक निर्जीव वस्तु से भी बदतर है। दूसरे, उसे कहीं यह भी लगा कि जिस मृत्यु-भय के कारण उसने वर्षों तपस्या की, सीता उस मृत्यु को स्वयं के लिये सहज आमंत्रित कर रही हैं। इन दोनों ही से रावण की कुंठा और गहरा गई। कुंठा क्रोध में बदली क्योंकि उसकी आत्म-छवि का सीता ने जबर्दस्त क्षय किया। तो वह एकबारगी फिर से सीता को मारने दौड़ा। मंदोदरी ने उसे नीति की बात कहकर शांत किया।

यह फर्क गौर करने लायक है। वाल्मिकी के यहां रावण को समझाने का काम धान्यमालिनी नामक राक्षस-कन्या ने किया: 'उपगम्य ततः क्षिप्रं राक्षसी धान्यमालिनी। परिष्विज्य दशग्रीवमिदं वचनमब्रवीत्।' इस राक्षसी का नाम रामायण में पहले कभी नहीं आया। लेकिन यह राक्षसी रावण को प्रभावित करने में समर्थ प्रतीत होती है। यह राक्षसी रावण का आलिंगन भी करती है और स्वयं को रावण के साथ क्रीड़ा के लिये प्रस्तुत भी करती है : 'मया क्रीड महाराज सीतया कि तवानया/विवर्णया कृष्णया मानुष्या राक्षसेश्वर' - "हे राक्षसराज! आप मेरे साथ क्रीड़ा कीजिए। इस कांतिहीन और दीन मानवकन्या सीता से आपको क्या प्रयोजन है।" वाल्मीकि का 'सेंस आफ ह्यूमर' भी गजब है। वे इस राक्षसी के मुख से सीता को 'कंजूस' कहलाते हैं। उस लंका के बहुत libertine समाज में सीता को 'कंजूस' (कृपण) कहना बहुत स्वाभाविक भी लगता है। Libertine को rakes भी कहा जाता है जो Rakshas की धातु से कहीं जुड़ा हुआ-सा लगता है। रेक्स नैतिक निर्बन्धनों से दूर रहते हैं। वे उन्हें अनावश्यक लगते हैं। राम यदि मर्यादा पुरुषोत्तम हैं तो रेक्स उनके विपरीत ध्रुव होंगे ही। चार्ल्स द्वितीय के समय की Merry gang की तरह की यह राक्षस-संस्कृति है। इसे सीता के द्वारा रावण को 'हां' न कहना उनकी कृपणता ही लगती है। यह उसी पर तरस खाती है। तो धान्यमालिनी आगे कहती है : "महाराज! निश्चय ही ब्रह्मा ने इसके भाग्य में आपके बाहुबल से उपार्जित दिव्य एवं उत्तम भोग नहीं लिखे हैं।" ध्यान रहे कि सुंदरकांड के 25वें सर्ग में विनता नामक राक्षसी सीता को त्रास देते हुये राम को भी बार- बार कृपण बोलती है- 'मानुषं कृपणं रामं त्यक्त्वां रावणमाश्रयम्' और 'किं ते रामेण वैदेहि कृपणेन गतायुषा।' विकटा नामक राक्षसी 'सेक्स' की इसी फिलासफी को प्रतिगुंजित करती है जब वह सीता से बोलती है : 'जानीमहे यथा भीरू स्त्रीणां यौवनमध्रुवम्। यावन्न ते व्यतिक्रामेत् तावत् सुखम वानुहि' कि "हम सभी स्त्रियां जानती हैं कि नारियों का यौवन टिकने वाला नहीं होता। जब तक तुम्हारा यौवन नहीं ढल जाता, तब तक सुख भोग लो।" ध्यान दें कि अरण्यकांड के सत्रहवें सर्ग में वाल्मीकि राम और शूर्पणखा का फर्क बताते हुए ही कहते हैं: "ये न्यायोचित सदाचार का पालन करने वाले थे और वह अत्यंत दुराचारिणी थी।" यह भी ध्यान दें कि जिन शब्दों में रावण और राक्षसियां सीता को आफर दे रही हैं, उन्हीं शब्दों में शूर्पणखा ने राम को आफर दिया था : "फिर तुम कामभाव से युक्त हो मेरे साथ पर्वतीय शिखरों और नाना प्रकार के वनों की शोभा देखते हुये दंडकवन में विहार करना।" शूर्पणखा को slut कहेंगे या बोलचाल की यिद्दिश में 'अख्स्लुतिश्खा'? येद्दिश में शूर्पणखा शब्द से उच्चारण की किंचित समानता क्यों है? मैं जब भी वाल्मीकि के द्वारा अरण्यकांड के सत्रहवें सर्ग में किये गये शूर्पणखा के वर्णन-वह निशाचरी क्रूर और हजारों वर्षों की बुढ़िया थी उसकी बातों में कुटिलता भरी रहती थी, वह अत्यंत दुराचारिणी थी और उसे देखते ही घृणा पैदा होती थी- को पढ़ता हूं तो मुझे बेसाख्ता शेन स्टोन का वह वर्णन याद आ जाता है : "She's ugly, she's old. And a slut, and a scold." यदि इस तरह से आप देखें तो रामायण के अर्थ की एक और परत सामने आती है जो यौन-उच्छृंखलता और यौन-मर्यादा के बीच के द्वन्द्व में है।

बहरहाल तुलसी के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने रावण का एक तरफा नकारात्मक चित्रण किया है, लेकिन यहां देखिए कि रावण नीति की बात सुनाकर

मनाया जाता है, न कि धान्यमालिनी के वैकल्पिक यौन-प्रस्ताव द्वारा जैसा कि वाल्मीकि के यहां दिखाया गया है। वैसे धान्यमालिनी का वैकल्पिक प्रस्ताव लगभग वैसा ही है जैसे शूर्पणखा के द्वारा सेक्स को एक कमोडिटी मानकर राम-लक्ष्मण के बीच एक्सचेंज के लिये प्रस्तुत हो जाना। तुलसी के यहां रावण को मनोवैज्ञानिक स्तर पर नहीं बल्कि बौद्धिक स्तर पर संतुष्ट करके मनाया जाता है।

और वह भी धान्यमालिनी नामक किसी साधारण राक्षस-कन्या द्वारा नहीं बल्कि स्वयं मय दानव की पुत्री मंदोदरी द्वारा जो रावण की पटरानी है। जो इतना ऊंचा दिल रखती है कि जब उसका पति उसे सीता की अनुचरी तक बनाने का प्रस्ताव उसी के मुंह पर सीता के सामने रखता है तब भी वह, मन में तनिक भी खरोंच लाए बिना, सीता और अपने पति दोनों के प्रति अपना कर्तव्य निभाती है। कहां रावण 'मंदोदरी आदि सब रानी/तव अनुचरीं करउ पन मोरा' अपनी ही पट्टमहिषी के सामने कहकर उसकी गरिमा और आत्म-सम्मान को पूरी तरह कुचलता हुआ; कहां यह मयतनया जिसका विवेक तब भी प्रशस्त और विशद रहता है जब कि वह बहुत-से कड़वे घूंट मन ही मन पी रही हो। तुलसी यह नहीं बताते कि मंदोदरी क्या कहती है? वह इसे पाठकों के विवेक पर छोड़ देते हैं। मंदोदरी के कहे हुए के बारे में कयास लगाते रहने के लिये। यह मंदोदरी साधारण स्त्री नहीं है। वाल्मीकि रामायण में तो हनुमान जब पहली बार उसे देखते हैं तो एकबारगी उसे सीता ही समझकर प्रसन्नता से उछल-कूद करने लगते हैं। कहने को वह मय दानव की कन्या है, लेकिन बात हमेशा नीतिगत करती है। बल्कि तुलसी ने उसे रावण पत्नी मंदोदरी न कहकर मयतनया कहा है तो शायद रावण की सोच से मंदोदरी की सोच को थोड़ा अलहदा दिखाने के लिए ही। मंदोदरी नीति की बात करती है तो वहां उसके पैतृक संस्कार बोलते हैं। उसमें रावण का कोई योगदान नहीं है। वह तो सम्पूर्णतः अनीति की ही बात करता है। मंदोदरी यदि कंट्रास्ट पैदा करके भी रावण के अन्तःपुर में अपना प्राधान्य स्थापित किए रहती है तो निश्चय ही वह एक असाधारण नारी है। सीता सुविधा में हैं क्योंकि उनके पति को धर्म, नीति और मर्यादा का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है किन्तु मंदोदरी की स्थिति बहुत ज्यादा कठिन है क्योंकि उसका पति अविवेकी, दंभी, कामोन्मत्त सब कुछ है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि मंदोदरी का नाम हमारी परंपरा ने उन पंचकन्याओं में रखा जिनके स्मरण मात्र से महापातकनाश होता है।

मंदोदरी ने नीति की ऐसी क्या बातें कहीं होंगी? पंडित कहते हैं कि उसने कहा होगा कि स्त्री अवध्य होती है। तुलसी नहीं कहते। वाल्मीकि के यहां धान्यमालिनी रावण को समझाते हुए एक मार्मिक बात कहती है कि "जो स्त्री अपने से प्रेम नहीं करती, उसकी कामना करने वाले पुरुष के शरीर में केवल ताप ही होता है और अपने प्रति अनुराग रखने वाली स्त्री की कामना करने वाले को उत्तम प्रसन्नता प्राप्त होती है।" तुलसी इस बात को भी नहीं कहते। यह भी देखें कि रावण बार-बार भीषण अनीति के बाद कई बार नीति की बात मान भी जाता है। रावण के व्यक्तित्व का यह एक ऐसा पहलू है जिसे तुलसी नजर अंदाज नहीं करते। यदि वह नीति की बातों को यदा कदा मान लेता है तो तुलसी उसका उल्लेख करते ही हैं। कभी मंदोदरी, कभी विभीषण की बात मानकर रावण कभी सीता, कभी हनुमान के विरुद्ध एकदम एक्सट्रीम स्टेप लेने से विरत हो जाता है। नीति के ये Bouts या Fits उसको आते रहते हैं। क्या यह तुलसी के द्वारा वर्णित रावण के पूर्व जन्म की तरंगें हैं जो इस पापिष्ठ जन्म के तट पर भी आकर टकराती हैं या कुछ ऐसा है कि रावण प्रकृत्या तो जो है सो है, पर अच्छे आत्मीयों की मंत्रणा तात्कालिक रूप से उसे किसी हद तक प्रभावित तो कर ही जाती है।

हालांकि तुलसी ने बालकांड में रावण के पूर्व जन्म की जो कथा कही है, उससे यदि रावण के मन में विप्रों के प्रति स्थाई और संचित घृणा और गुस्सा पैदा हुआ हो तो यह बात बहुत अस्वाभाविक नहीं है। रावण के पूर्व जन्म की जो कथा तुलसी ने बताई है, वह

वाल्मीकि में नहीं मिलती। यह प्रतापभानु वाली कहानी पहली नजर में एकदम मनगढ़ंत और अतार्किक लगती है। फिर भी तुलसी इसे सम्मिलित करते हैं। कहानी के अनुसार विप्र प्रतापभानु को सपरिवार राक्षस हो जाने का शाप देते हैं, लेकिन क्या यह शाप उलटे वे खुद पर ही नहीं आरोपित कर रहे हैं क्योंकि राक्षस बनकर तो वह उन्हें ही तंग करेगा। तो वे जब प्रतापभानु का अगला जन्म प्रस्तावित कर रहे हैं, उसी वक्त अपनी नारकीय यातनाएं भी अपने भावी के लिये लिख रहे हैं। तो क्या ये विप्र उस भूल के लिये अपनी तथा अपनी संतति की अशांति को भी स्वयं नियत कर रहे हैं? क्या वे प्रतापभानु से जितना नाराज़ हैं, खुद से भी उतना ही नाराज़ हैं? और यह तुलसी राजा प्रतापभानु के शत्रुओं को नकली योगी और नकली तपस्वी क्यों बता रहे हैं? इन सब बातों का रामकथा से क्या संबंध है? यह पूरा प्रसंग जिस तरह से वर्णित किया गया है, क्या वह नकली तपस्वियों और योगियों से सावधान न रहने वाले और उन्हें मुंह लगाने वाले राजाओं की अधमगति की ओर इशारा है? क्या तुलसी कुछ समकालीन संकेत कर रहे हैं? क्या प्रतापभानु जलालुद्दीन मोहम्मद अकबर का अनुवाद है? इधर प्रताप, उधर जलाल।

यह देखें कि तुलसी बालकांड में कलयुग के नाम पर जो कहते हैं, वह समकालीन पर टिप्पणी करने की उनकी अपनी अदा है : 'बंचक वेष कहाई राम के किंकर कंचन कोह काम के'। तुलसी बालकांड में यह भी कहते हैं : 'लखि सुवेष जग बंचक जेऊ/वेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ।' तुलसी के इस प्रतापभानु-प्रसंग में जो बात बार-बार ध्यान खींचती है वह कुटिल कपटमुनि और उनके द्वारा राजा का विनाश। क्या बदायूंनी की तरह तुलसी भी यह देख रहे हैं कि उनके समय का राजा अकबर किस तरह नकली योगियों, मुनियों से घिर गया है? अकबर की तरह-तरह के योगियों के साथ बैठकों की कहानी उस युग में काफी फैल गई थी। यहां तक कि ईस्ट इंडिया कंपनी के जॉन मार्शल ने अकबर की मृत्यु के 65 साल बाद भी उसे 'जोगी-एकबर' ही लिखा। मार्शल ने लगभग वैसे ही चमत्कार दिखाने वाले एक योगी का वर्णन किया है जैसे प्रतापभानु का शत्रु कपटी मुनि और उसका साथी कालकेतु राक्षस दिखाते हैं। मुज़फ्फर आलम 'द लैंग्वेजेस आफ पॉलिटिकल इस्लाम' में तुलसी के समकालीन अकबर के बारे में तत्कालीन इतिहासकार बदायूंनी के हवाले से लिखते हैं : "In Agra, he is reported to have organized a separate quarter for yogis which was called Jogipura. Badauni informs us that Akbar would go to these yogis every year, on the occasion of Shivratri. Yogis would assemble at the court in great numbers. The disciples of yogis were known as chelas. Akbar named his own household servants as chelas."

निजामुद्दीन अहमद अकबर के इन योगियों को अपने शरीर पर राख मलने और गंदे कपड़े (rags) पहनने वाला बताता है। यहां तुलसी प्रतापभानु को ठगने वाले कपटी मुनि 'नाम हजार भिखारि अब निर्धन रहित निकेत' और 'सब विधि कुसल कुबेष बनाए' बोलते हैं। बदायूंनी के द्वारा जो एक वर्णन अकबर और योगियों के बारे में किया गया है, उसकी तुलना बालकांड में प्रतापभानु और कपटी मुनि से कीजिए: "His majesty also called on some of the Jogis and gave them at night private interviews, enquiring into abstract truths, their articles of faith, their occupation, the influence of pensiveness, their several practices and usages, the power of being absent from the body or into alchemy, physiognomy and the power of omnipresence of the soul. The emperor ate and drank with the principal Jogis who promised him that he should live three or four times as long as ordinary men. His majesty fully believed it." [Muntakhabut Tawarikh vol.11 pp. 334-336].

अब यहां तुलसी के प्रतापभानु को देखिए। वह भी रात को ही इस कपट मुनि से मिलता है 'आसन दीन्ह अस्त रबि जानी' और 'निसा घो गंभीर बन पंथ न सुनहु सुजान'। वह भी उससे 'मो पर कृपा करिअ अब स्वामी' की बात कहता है। यह योगी भी सृष्टि के उत्पन्न होने के साथ अपनी उत्पत्ति होने की, तपबल के प्रभाव [influence of pensiveness] 'तप बल तें जग सृजत विधाता/तपबल विष्नु भए परित्राता'-की, धर्म (articles of faith), कर्म (occupation), इतिहास की अनेकों प्रथाओं व परंपराओं (several practices and usages) की बात करता है- 'करम धरम इतिहास अनेका/करई निरूपन बिरति विवेका।' यह प्रतापभानु भी भोज कराने में ही मारा जाता है। 'अन्न सो जोई जोई भोजन' - 'Ate and drank'। इन्हीं योगियों की तरह वह कपट मुनि भी दावा करता है : 'जग नाहिन दुर्लभ कछु मोही।' अकबर के 'Fully believed it' को पढ़ें और देखें कि प्रतापभानु को किस तरह 'तब प्रसाद प्रभु कृपानिधाना/मो कहुं सर्ब काल कल्याना' के जरिए पूर्ण विश्वास हो जाता है। अकबर को तरह-तरह से फ्रॉड और कूटरचना करने वाले उलेमा घेरे रहते थे-जिससे बाद में स्वयं अकबर तक चिढ़ गया था। तुलसीदास तक भी वे किस्से कहानियां पहुंचे होंगे और ऐसे नकली योगी-मुनियों-उलेमाओं से अपने समय की सत्ता को सावधान करना तुलसी ने जरूरी समझा होगा। प्रतापभानु ने एक लाख विप्र को न्यौता दिया था, जिसमें कालकेतु ने विप्रों का मांस मिलाया था। क्या यह उस मध्यकालीन समय का ही कोई संकेत था जब ब्राह्मणों को गौमांस खाने को मजबूर कर उन्हें धर्मभ्रष्ट किया जाता था? यदि एक लाख लोग खाने को बुलाए गये होंगे तो कितने ब्राह्मणों को काट डाला गया होगा। उस नरसंहार की खबर राजा होते हुए भी प्रतापभानु को नहीं लगी। इसीलिए प्रतापभानु की complicity न होते हुए भी विप्रों ने अपना शाप वापिस नहीं लिया। तुलसी के वर्णन से भी ऐसा लगता है कि विप्रगण ने यों शाप वापिस लेने की कोशिश की। लेकिन हुआ नहीं। 'किये अन्यथा होइ नहीं' (174, बा.का.)। फीरोज तुगलक जैसे लोग तो ब्राह्मणों को लकड़ी के लट्ठे पर जिंदा जलाते थे। ब्राह्मणों पर होते हुए उन अत्याचारों की प्रतिक्रिया में प्रतापभानु-प्रसंग के जरिए तुलसी क्या यह बताना चाह रहे थे कि जानबूझकर नहीं बल्कि अनजाने में की गई ब्रह्महत्या तक खाली नहीं जाती और इसीलिए वे 'विप्रशाप अति घोर' या 'विप्रशाप किमि होई असांचा' की बात करते हैं। यह हो सकता है कि सल्तनत समय से अकबर तक आते-आते चीजें प्रत्यक्ष से परोक्ष में बदल गई हों। सीधे गौमांस खिलाने की जगह धोखे से खिलाया जाने लगा हो। लेकिन सत्ता के द्वारा defilement की एक सतत् कोशिश जारी ही रखी गई। अकबर को एकदम दयावीर दिखाने की आधुनिक इतिहास-कर्मियों की कोशिश से आज के फिल्मकार भले ही आश्वस्त हो जाएं, हो सकता है, समकालीन तुलसी न हुए हों। जिस अलाउद्दीन खिलजी को क्रूर बताया गया, उसने छः महीने तक चित्तौड़ किले में घेरा डालने के बाद भी चित्तौड़ के नागरिकों का कत्लेआम नहीं किया था। 'द ग्रेट' कहलाने वाले अकबर ने 30,000 नागरिकों का कत्लेआम चित्तौड़ किले में 1568 ई. में किया। अकबर का लाहौर-गवर्नर हुसैन धर्मान्ध हरकतें करता था। अकबर उसके किए से स्वयं को कैसे निर्लिप्त रख सकता था। इसलिए तुलसी ने परोक्ष दायित्व को भी उस नरसंहार के संदर्भ में अक्षम्य ठहराया। तुलसी को नकली साधु-संतों से कोई सहानुभूति नहीं थी। वे जानते थे- देख रहे थे- कि ये लोग सत्ता को कैसे ठगते हैं। दूसरी ओर वे ठगे जाने के लिए खुद को सहर्ष प्रस्तुत करने वाले सत्ताधीशों को भी माफ करने के लिये तैयार नहीं थे।

ऐसे में रावण के मन में विप्रों के प्रति पिछले जन्म का संभृत संराशित संवृत संताप, असूया और विक्षोभ रहा हो तो आश्चर्य नहीं। उसकी दृष्टि से उसका क्या दोष था? आकाशवाणी ने स्वयं कहा था : 'नहिं अपराध भूप कछु कीन्ह', तब भी हुआ यह कि उन्हीं लोगों ने जिन्होंने उसे ठगा था, उसकी मानसिक हताशा का फायदा उठाकर उसके पूरे कुल को साफ कर दिया। यह

देखें कि जिस तरह से प्रतापभानु वाले जन्म में विप्रों ने कालकेतु राक्षस और उस कपटी मुनि को बख्श दिया, उसी तरह से रावण के रूप में हुए जन्म में रावण ने उन्हीं असुरों से मैत्री कर विप्रों के उन्मूलन का अभियान चलाया अर्थात् दोनों बार दुष्ट फायदे में रहे। वे नेपथ्य में होने का फायदा उठा गये। प्रतापभानु का शासन आदर्श शासन था। तुलसी स्वयं लिखते हैं कि : 'भूप प्रतापभानु बल पाई/कामधेनु भै भूमि सुहाई/सब दुख बरजित प्रजा सुखारी/धरमसील सुंदर नर नारी' लेकिन तब भी एक गलती भर होने पर 'सत्यकेतु कुल कोउ नहिं बांचा'-उसके कुल में कोई नहीं बचा। 'सिर्फ इक कदम उठा था गलत राहे-शौक में/मंजिल तमाम उम्र मुझे ढूंढ़ती रही।'

शायद उसके पीछे कारण प्रतापभानु की अपनी महत्वाकांक्षा भी रही हो। वही आब्सेशन : "मुझे युद्ध में कोई जीत न सके और पृथ्वी पर मेरा सौ कल्प तक एकछत्र अकण्टक राज्य हो" - 'जरा मरन दुख रहित तनु समर जिते जानि कोउ/एकछत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ।' वही मृत्यु से राहित्य। और बुद्धिजीवियों को वश में करने की इच्छा 'होहि विप्र बस कवन विधि कहहु कृपा कर सोउ'। बुद्धिजीवियों को वश में करने के लिए नकली साधुओं को भगवान बना लेना- 'तुम्हें तजि दीनदयाल निज हितू न देखउं कोउ'-(166) व 'अस कहि गहे नरेस पद स्वामी होहु कृपालु/मोहि लागि दुख सहिअ प्रभु सज्जन दीनदयालु।' और ऐसे नकली साधु सत्ता को यही सिखाते हैं कि बुद्धिजीवियों को खिलापिलाकर मस्त रखो। तो मजमा लग भी जाता है। गड़बड़ होती है तो वह सत्ता के मत्थे पड़ती है। तो रावण पिछले जन्म में जो महत्वाकांक्षा अमृत्यु, अजेयता, एकछत्रता,-पूरी नहीं कर पाया, वे अतृप्तियां इस जन्म में तो और उद्दाम हो गईं-जन्मना, innate जब वह सीधे रास्ते चला तब भी परिवार सहित नष्ट हुआ और टेढ़ा चला तो भी परिवार सहित नष्ट हुआ। तो प्रश्न अब रास्ते का नहीं है, मंजिल का है। अमृत्यु, अजेयता, एकछत्रता की अशम्य दुर्दम्य कामना ही अन्ततः सर्वनाश की ओर ले जाती है।

लेकिन पिछले जन्म के शुभ विचार रावण को इस जन्म में भी कभी नीतियों की बात समझने के लिये सहसा प्रेरित कर देते हैं तो इस बार भी वही हुआ और रावण को मंदोदरी ही शांत कर पाई। लेकिन वह असर बस इतना होता है कि सीता को मार डालना रावण कुछ समय के लिए स्थगित कर देता है। उसकी जगह सीता को टार्चर करने का दूसरा विकल्प आजमाने का निर्देश रावण सभी राक्षसियों को बुलाकर दे देता है। यह टार्चर भी तरह-तरह से होगा। अब यह निदेशित त्रास राजकीय प्राधिकार से दिए गए आदेशों का परिणाम है। रावण के द्वारा सीधे तौर पर संप्रेरित (instigated)। सिर्फ उसकी स्वीकृति (consent) या अनुमति (acquiescence) से नहीं। उसके द्वारा गठित। सीता की यंत्रणा अब तो और भी ज्यादा हो जाएगी। उसने लंका के विश्वविजयी सम्राट को 'ना' कहने का दुस्साहस ही नहीं किया, बल्कि उसे शठ और अधम भी कहा। तो अब वह राज्य-प्रायोजित यातना भी झेले। तुलसी नहीं बताते कि 'बहुविध त्रास' में शारीरिक त्रास शामिल था कि नहीं, या यह मानसिक त्रास था। रावण का निर्देश यह बताता है कि यंत्रणा साभिप्राय थी। रावण चूंकि सीता के प्रति कामान्ध था, अतः वैसे शारीरिक त्रास जैसे कि मध्यकालीन यूरोप में होते थे- जुडास क्रेडल, ब्रेस्ट रिपर आदि - तो उन्हें नहीं दिए गए लेकिन मानसिक त्रास में कोई कमी नहीं रहने दी गई। सीता को मनोवैज्ञानिक क्षति पहुंचाने के लिए राक्षसियों की पूरी टीम झोंक दी गई। तुलसी ने तो 'सकल' कहकर काम चला लिया है, लेकिन वाल्मीकि ने इन राक्षसियों के नाम दिए है। हालांकि वाल्मीकि ने सुंदरकांड के बाईसवें सर्ग में 33वें, 34वें, 35वें श्लोकों में इन राक्षसियों के नाम गिनाए हैं, लेकिन लगता है वे गिनाने के लिए गिनाए गए हैं। उसमें वाल्मीकि अपनी 'वाइल्ड कल्पना' को खुला छोड़ देते हैं हालांकि दिलचस्प बात यह है तेईसवें और चौबीसवें सर्ग में उन राक्षसियों का कोई उल्लेख नहीं है। इन सर्गों में एकजटा, हरिजटा, विकटा, दुर्मुखी, विनता, चंडोदरी, प्रधसा, अजामुखी,

शूर्पणखा जैसी राक्षसियां सीता को सताती हैं जबकि बाईसवें सर्ग के 33-34-35वें श्लोकों में राक्षसियों का जो नामोल्लेख है, वह किसी ऐसे व्यक्ति का काम लगता है जो विकलांगता और राक्षसत्व में फर्क नहीं कर सकता। यहां एकाक्षी, एककर्णा, अकर्णिका, एकपादी, अपादिका, अनासिका जैसे नाम हैं। और भी दूसरे नाम हैं जो शारीरिक विकृतियों या वैचित्र्यों की ओर इशारा भर करते हैं- अतिमात्रशिरोग्रीवा, अतिमात्रकुचोदरी, कर्णप्रावरण, सूकरीमुखी, लंबकर्णी। तुलसी ने राक्षस की परिभाषा आचरण से की है- वाल्मीकि ने भी की है, लेकिन वाल्मीकि यहां उसे निबाह नहीं सके हैं। ये श्लोक मुझे प्रक्षिप्त लगते हैं क्योंकि इन श्लोकों में रावण जिन राक्षसियों को निर्देश दे रहा है, उनका कोई कार्य व्यापार अगले सर्गों में बताया ही नहीं गया है। वहां दूसरी ही कुछ राक्षसियां यंत्रणा देने का काम कर रही हैं। तुलसी नामोल्लेख के इन पचड़ों में नहीं पड़े।

रावण वाल्मीकि के यहां इन राक्षसियों से कहता हैः- "निशाचरियों! तुम सब लोग मिलकर अथवा अलग-अलग शीघ्र ही ऐसा प्रयत्न करो, जिससे जनककिशोरी सीता बहुत जल्द मेरे वश में आ जाय। अनुकूल-प्रतिकूल उपायों से, साम, दान और भेदनीति से तथा दंड का भी भय दिखाकर विदेहकुमारी सीता को वश में लाने की चेष्टा करो।" जबकि तुलसी के यहां रावण की सीता से चिढ़ कुछ ज्यादा प्रतीत होती है। वह सीता को त्रास देने के ही निर्देश देता है। रावण के अमर्ष में यह विशेष वृद्धि जो तुलसी के यहां दिखाई पड़ती है, वह तुलसी पर किसी युगीन प्रभाव का संकेत करती है। वाल्मीकीय में राक्षसियां अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही रास्ते अपनाती हैं। वे सभी विधियों का उपयोग करती हैं। तुलसी के यहां वे बस टार्चर की ही अलग-अलग मेथड्स अपनाती हैं। वाल्मीकि रामायण में एक राक्षसी रावण की गौरवमयी वंश-परंपरा का परिचय देती है तो दूसरी रावण के पराक्रम का। तीसरी रावण के यहां उपलब्ध विलास-सुविधाओं का वर्णन करती है, तो चौथी सीता के द्वारा पर्याप्त पति-प्रेम दिखा लेने और अब बस करने की बात करती है। पांचवीं और अन्य बहुत सी राक्षसियां तो सीता को खा जाने-उसे टुकड़े कर देने और उसका मांस सुरा के साथ आस्वादन करने का प्लान बनाती हैं।

रावण राक्षसियों को बुलाकर यह निर्देश देता है। इसका अर्थ है कि रावण ने जब 'संग नारि बहु किएं बनाया' के साथ प्रवेश किया तब सीता पर पहरे के लिए रखी गई राक्षसियां वहां से हट गई थीं। तब रावण ने सीता के सामने अपने भृत्यों से अलग हटकर बात की। बाद में उसने इन स्त्री पहरेदारों को पृथक से बुलाया और उनकी एक सामूहिक मीटिंग की। 'जाई' शब्द से यह द्योतित होता है कि सीता को परेशान करने के उसके निर्देश सीता की पीठ पीछे ही उसने दिए थे। जाकर सीता को अनेक तरह से संत्रस्त करो, ये आदेश थे उसके। वाल्मीकीय में "यह सब कहकर शत्रुओं को रुलाने वाले राजा रावण ने भयंकर दिखाई देने वाली समस्त राक्षसियों की ओर देखा।" और "राक्षसियों को इस प्रकार बार-बार आज्ञा देकर काम और क्रोध से व्याकुल हुआ राक्षसराज रावण जानकी की ओर देखकर गर्जना करने लगा।" वाल्मीकि की तुलना में तुलसी का रावण कम भड़भड़िया और अधिक स्कीमिंग प्रतीत होता है। वह पीठ पीछे योजनाएं बनाता है। रावण एक अवधि भी निर्धारित कर देता है। एक माह। उसी धमकी का ध्यान रख हनुमानजी को जाते वक्त सीता यही कहती हैं- 'मास दिवस महुँ नाथ न आवा/तौ मुनि मोहि जिअत नहिं पावा'? यह ध्यान दें कि सीता के लिए तुलसी का रावण एक माह की अवधि तय करता है जबकि वाल्मीकि का रावण दो माह की- 'द्वौ मासौ रक्षितत्यौ मेंयोदवधिस्ते मया कृतः।' तुलसी ने यह अवधि एक माह क्यों कम कर दी, इसका कोई कारण नहीं बताया गया है, क्या तुलसी घटनाक्रम को और संघनित बनाना चाहते थे। लगता है अवधि को कम कर तुलसी सीता के भीतर पैठ गये आतंक-बोध को तो और ज्यादा इंटेंस बनाते ही हैं, कथाक्रम को भी एक रफ्तार दे देते हैं। अब समय गंवाने का नहीं है। उसके एक-एक पल

का उपयोग करना है। यह उस व्यक्ति को, जिसका सिद्धांत ही 'रामकाजु कीन्हें बिनु मोहिं कहां विश्राम', एक बार और संकल्पित करना है क्षिप्रता के लिए। वह व्यक्ति जो रावण-सीता संवाद का चुपचाप साक्षी है। तुलसी इस हाई-इनर्जी हनुमान को और इस कथा के बहुत से चरितों को इस एक परिवर्तन से pump up करते हैं। इसे आप और हम उनके द्वारा कथाक्रम में किए गए बदलावों से भी चीन्ह सकते हैं। जब सीता कष्ट में हैं तो किसी और को respite कैसे मिल सकती है। इसलिए तुलसी ने अवधि का यह compression जानबूझकर किया है। वह कथा की मांग नहीं है, वह परिवर्तन के रास्ते छोड़ा गया संदेश है। इस कारण तुलसी अब वाल्मीकि की तरह तरह-तरह की राक्षसियों की यंत्रणा-प्रविधियों का भी पृथक-पृथक वर्णन नहीं करेंगे। वे तो बस 'बहु मंद' रूप धरकर 'त्रास देखावहि' वाली पिशाचिनी-वृंद का एक दोहे में उल्लेख कर अपने उस पाठक के साथ चलेंगे जिसकी धड़कनें रावण की धमकी के साथ बढ़ गयी हैं। वाल्मीकि और तुलसी के बीच समय की संकल्पना में भी फर्क आया है। वाल्मीकि की कथा leisurely चल सकती थी, तुलसी अब जबकि कथा का केन्द्रीय द्वन्द्व उजागर हो गया है धीमी गति के समाचारों की विलासिता अफोर्ड ही नहीं कर सकते हैं। अब तो एक्शन का वक्त है। अब तो रावण ने टर्म लिमिट्स तय कर दी हैं। इसी प्रकार वाल्मीकीय रावण और तुलसी के रावण की धमकियों में भी फर्क है। वाल्मीकि का रावण कहता है कि यदि दो माह में उसकी बात नहीं मानी तो उसके रसोइए उसके कलेवे के लिए सीता के टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे। जबकि तुलसी का रावण कहता है कि यदि माह भर में उसकी बात नहीं मानी तो कृपाण निकालकर सीता को मार डालेगा। वाल्मीकि का समय प्राचीन नरभक्षी संस्कृति की वैसे ही याद दिलाता है जैसे तुलसी का समय तलवार की। दोनों की धमकियां अपने-अपने समय से अनुकूलित हुई हैं। क्या आर्य विजय किसी ऐसी प्रभावी सत्ता पर विजय थी जहां नरभक्षण आम बात थी। देखिए कि वाल्मीकि के यहां राक्षसियां भी नरभक्षिणी अंदाज में ही सीता को धमकियां दे रही थीं। एक राक्षसी कह रही थी- उत्पाट्य वा ते हृदयं भक्षयिष्यामि मैथिलि'- कि "मैथिली! मैं अभी तुम्हारा कलेजा निकालकर खा जाऊंगी!" दूसरी ने कहा- "रावण जब इसे हरकर ले आए थे, उस समय भय के मारे यह थर-थर कांप रही थी जिससे इसके दोनों स्तन हिल रहे थे। उस दिन इस मृगनयनी को देखकर मेरे हृदय में यह बड़ी भारी इच्छा जागी कि इसके यकृत, प्लीहा, विशाल वक्ष स्थल, हृदय, इसके आधार स्थान अन्यान्य अंग तथा सिर को मैं खा जाऊं। इस समय भी मेरा यही विचार है!" प्रधसा नामक राक्षसी बोली- "फिर तो हम लोग इस क्रूर हृदया सीता का गला घोंट दें, अब चुप क्यों बैठें? इसे मार राजा को सूचना दे दें कि यह मानवकन्या मर गई। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस समाचार को सुन राजा यह आज्ञा दे देंगे कि तुम सब लोग उसे खा जाओ!" अजामुखी राक्षसी कहती है- "आओ पहले इसे काटकर बहुत से टुकड़े कर डालें। वे सभी टुकड़े बराबर माप तौल के होने चाहिए। फिर उन्हें हम आपस में बांट लेंगी साथ ही नाना प्रकार की पेय-सामग्री तथा फूल माला आदि भी शीघ्र प्रचुर मात्रा में मंगा ली जाए।" शूर्पणखा राक्षसी ने कहा-"समस्त शोकों को नष्ट कर देने वाली सुरा को भी शीघ्र मंगवा लो। उसके साथ मनुष्य के मांस का आस्वादन करके हम निकुंभला देवी के सामने नृत्य करेंगी!" वेस्ट इंडीज़ में पहले एक कैरिब नामक एक मनुष्य प्रजाति थी जो मनुष्यों का ही मांस खाती थी। लाइबेरिया और कांगो में भी पहले नरभक्षी लोग रहा करते थे। कोरोवाई लोगों के बारे में जो दक्षिणपूर्व पापुआ में रहते हैं, अभी भी नरभक्षी होने की खबरें जब तब उड़ती रहती हैं। रावण-राज में नरभक्षण एक सांस्कृतिक नार्म के रूप में स्वीकृत हुआ-सा लगता है। ग्रीक पौराणिकी में भी थाइएस्टीज़, टेरेउस और क्रोनस की कहानियों में नरभक्षण बताया गया है। इंग्लैंड की गौफ गुफा में 15 हजार वर्ष पुराने नरमुंड और कपाल कुछ इस तरह से मिले हैं कि नरभक्षण की संस्कृति का

होना वहां पता चलता है। तो वाल्मीकीय संस्मृतियां नरभक्षण के विरुद्ध हुए आर्य-संघर्ष की संस्मृतियां हैं। आर्य मतलब जाति (रेस) नहीं, श्रेष्ठ। आर्य विजय मतलब श्रेष्ठ विजय। तुलसी के समय तक आते-आते बात काफी हद तक बदल गई थी। अब तो कृपाण के जलवे थे। तो तुलसी का रावण भी वही दिखाता है।

तुलसी ने इन राक्षसियों को पिशाचिनी कहा है। तुलसी शेक्सपीयर के समकालीन थे। तुलसी 1532 ई. से 1623 ई. तक रहे, शेक्सपीयर 1564 से 1616 तक। शेक्सपीयर ने अपनी कृतियों में बार-बार witches का प्रयोग किया है। तुलसी भी यहां 'पिशाचिनीवृंद' की बात कर रहे हैं। तुलसी की पिशाचिनीवृंद शेक्सपीयरियन विच की तरह स्वतंत्रचेता नहीं हैं, वे रावण की आज्ञाधीन हैं। दोनों ही अपनी-अपनी तरह से दुष्टात्माएं (malevolent spirits)। यहां हम अमेरिकी लेखक एल फ्रेंक बौम के दो दुष्ट स्त्री चरित्रों 'विकेड विच ऑफ द वेस्ट' और 'विकेड विच ऑफ द ईस्ट' की तरह शेक्सपीयर और तुलसी के चरित्रों की तुलना नहीं कर रहे हैं बल्कि सिर्फ इस बात की ओर इंगित कर रहे हैं कि जिस तरह से मध्यकालीन यूरोप में डायनों का एक हौवा फैला था और नौ लाख से ज्यादा स्त्रियां डायन समझकर जला दी गई थीं, तुलसी उसके विपरीत जाकर साधारण स्त्रियों को नहीं बल्कि राक्षसियों को पिशाचिनी कह रहे हैं। राक्षसियों की, रूप बदलकर अत्यंत भयावह दिखाई पड़ने की शक्ति का उल्लेख यहां तुलसी ने किया है, लेकिन यह उल्लेख त्रास दिखाने के लिए हुआ है। सीता को प्रताड़ित करने के लिए। 'दिखावहिं' शब्द यहां महत्वपूर्ण है। सीता-त्रास को दिखाने का अर्थ यह नहीं है कि सीता को प्रताड़ना दिखाई गई, दी नहीं गई। इसका अर्थ यह है कि सीता के त्रास का एक स्पेक्टेकल रच गया। यह सीता की पीड़ा suffering को televise करना रहा होगा। इस तरह के 'दृश्य' प्रदर्शित कर सत्ताएं सामाजिक नियंत्रण की अपनी रणनीति को ही क्रियान्वित करती हैं। आधुनिक ईरान में इस तरह के दृश्य दिखाकर प्रतिपक्ष demoralize भी किया जाता है। यह सिर्फ हिंसा के बारे में लोगों के संवेदनतंत्र को प्रभावित करना ही नहीं होता, बल्कि असहमति के परिणामों का एक साधारणीकरण (normalization) सबके भीतर सिंचित करना भी होता है। रावण राक्षसियों के जरिए त्रास का एक थियेटर इस प्रसंग में खड़ा कर दे रहा है। यदि 'देखावहिं' का अर्थ सीता को दिखाना भी मान लें तो जो सीता इतनी मासूम थीं कि 'चित्रलिखित कपि देख डराती', उन सीता को यदि त्रास दिखाया भी गया होगा (वो भी राक्षसी तरह से) तो वह भी सीता के लिए एक खासा हौलनाक अनुभव रहा होगा। रौरव नरक की यात्रा जैसा। एक-एक दृश्य वज्रपात जैसा। राक्षसों के लिए तो वह मनोरंजन की वस्तु होगा, लेकिन सीता के लिए साक्षात् निऋति। क्या रावण सीता को राक्षसी मनोविज्ञान में मैनिपुलेट करने के लिए उन्हें ये दृश्य दिखाने के लिए निर्देश देकर गया था? सीता में स्वभावात्मक परिवर्तन (dispositional change) लाने के लिए? रावण नहीं जानता कि सीता के संस्कारों की जड़ें कितनी गहरी हैं और राम से विवाह के बाद वे कितनी मजबूत हो गई हैं। वह सीता के सामने त्रास का exposure कर उन्हें de-sensitise करने की अपने तईं अधिकतम कोशिश तो कर ही सकता है। सो कर रहा है। आजकल क्राइम रिपोर्टर, सनसनी, अदालत आदि के नाम से टी.वी. पर जो प्रोमो दिखाए जाते हैं, उनमें साफ-साफ किसी को किसी में छुरा घोंपते हुए दिखाया जाता है। वह कितना वीभत्स होता है, कितना कुरुचिपूर्ण। उससे भी ज्यादा महत्व की बात यह है कि वह किस गुपचुप तरीके से हमें अवमानवीकृत करता जाता है। राम और सीता के रूप में विष्णु भगवान और देवी लक्ष्मी मानवीकृत हुये हैं। उन्हीं भगवती लक्ष्मी को - उन्हीं सीता को अब अवमानवीकृत करने की कोशिशें ये दृश्य दिखाकर की जा रही हैं।

त्रिजटा नाम राक्षसी एका।
रामचरन रति निपुन बिबेका।।
सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना।
सीतहिं सेइ करहु हित अपना।।
सपने बानर लंका जारी।
जातुधान सेना सब मारी।।
खर आरूढ़ नगन दससीसा।
मुंडित सर खंडित भुज बीसा।।
एहिं बिधि सो दच्छिन दिसि जाई।
लंका मनहुँ बिभीषन पाई।।
नगर फिरी रघुबीर दोहाई।
तब प्रभु सीता बोलि पठाई ।।

एक राक्षसी त्रिजटा नाम की थी जिसकी राम के चरणों में प्रीति थी और जो विवेक में निपुण थी। उसने सबों को बुलाकर स्वप्न सुनाया (और कहा कि) सीता की सेवा करके अपना भला कर लो। स्वप्न में (मैंने देखा है कि एक) वानर ने लंका जला डाली है और राक्षसों की सारी सेना मार डाली है। दस सिरों वाला रावण गधे पर सवार है, नंगा है, (उसके) सिर मुड़े हुए हैं और बीसों भुजाएं कटी हुई हैं। इस प्रकार वह दक्षिण दिशा की ओर जा रहा है और लंका मानो विभीषण ने पायी है। नगर में रघुवीर की दोहाई फिर गयी है। तब प्रभु ने सीता को बुला भेजा।

सपना बादल का टुकड़ा है, जैसे-जैसे बरसता जाता है, वैसे-वैसे घुलता जाता है। लेकिन यहां यह त्रिजटा नामक एक (ही) राक्षसी है जो सपना देखकर उसे याद भी रख लेती है। अन्यथा तो होता यह है कि सुबह के खुलने के साथ-साथ सपना धीरे-धीरे जैसे किसी शून्य में क्रमशः खोता जाता है। जैसे कोई धूमकेतु जिसकी शनैः शनैः बिखरती हुई पूंछ हो। क्या सपने भी ऐसी उल्काएं हैं जो हमारे मन के किन्हीं गहरे अंतरिक्षों में जब तब घूम जाती हैं? क्या सपने ईश्वर के दूत हैं जो हमारे दिल से सरगोशी करने के लिए रात के सन्नाटे और अंधेरे में चुपके से उतर आते हैं? क्या सपने सिर्फ अतीत की छायाएं हैं या वे भवितव्य के भी संकेत हैं? सपनों में क्या हमारा नियति-निर्माता अमूर्तन की किसी चित्र-भाषा में बोलता है? कोई ग्राफिक भाषा? पिक्टोरियल। जो रियल होने के बावजूद अपने आसपास ऐसा कुहासा रचती हो कि जिसमें अर्थ की बिजली जहां तहां चमकती तो हो लेकिन उससे कहीं ज्यादा मेघाच्छन्नता हो। जिस तरह से अर्थोत्खनन कई बार एक दृष्टि-सम्पन्नता का ही परिणाम होता है, उसी तरह से सपनों की बात है। प्रकट तौर पर कई बातें उसमें कितनी अतार्किक और असम्बद्ध होती हैं, लेकिन क्या वे अर्थहीन होती हैं या उसमें क्या कोई ऐसा उच्चार्थ होता है जो हमारे सर के ऊपर से जाता है। लेकिन कुछ दृष्टा उसका अर्थ ताड़ ही लेते हैं। जैसे यहां त्रिजटा। उसे अपने सपनों में बंदर और गधे दिख रहे हैं। लेकिन अर्थ का रस जैसे उसके भीतर संचरित हो ही जाता है।

भट्टनारायण (वेणी संहार, 2/1 के पश्चात्) कहते हैं कि 'अकुशलदर्शनाः स्वप्ना देवतानां प्रशंसया कुशल परिणामा भवन्ति' कि अशुभसूचक स्वप्न भी देवताओं की स्तुति करने से शुभफलदायक हो जाते हैं– यहां त्रिजटा के साथ भी ऐसा ही होता है। वह तो है ही 'रामचरन रति निपुन विवेका'। उसने दुःस्वप्न देखा है तो वह सीता जैसी देवी की सेवा करने की सलाह राक्षसियों को दे रही है ताकि वह स्वप्न शुभफलदायक हो जाए। इसमें शक नहीं कि सपना उसको बड़ा भयानक आया था। वाल्मीकि रामायण में इस घटनाक्रम का विवरण इस प्रकार हैः "उन दुष्ट निशाचरियों के द्वारा सीता को इस प्रकार डरायी जाती देख बूढ़ी राक्षसी त्रिजटा, जो तत्काल सोकर उठी थी उन सबसे कहने लगी– आज मैंने बड़ा भयंकर और रोमांचकारी स्वप्न देखा है, जो राक्षसों के विनाश और सीतापति के अभ्युदय की सूचना देने वाला है ... आज स्वप्न में मैंने देखा है कि आकाश में चलने वाली एक दिव्य शिबिका है। वह हाथीदांत की बनी हुई है। उसमें एक हजार घोड़े जुते हुए हैं और श्वेत पुष्पों की माला तथा श्वेत वस्त्र धारण किए हुये स्वयं राम लक्ष्मण के साथ उस शिबिका पर चढ़कर यहां पधारे हैं... सीता श्वेत वस्त्र धारण किए श्वेत पर्वत के शिखर पर बैठी हैं और वह पर्वत समुद्र से घिरा हुआ है, वहां जैसे सूर्यदेव से उनकी प्रभा मिलती है, उसी प्रकार सीता राम से मिली हैं... कमलनयनी सीता अपने पति के अंक से ऊपर को उछलकर चन्द्रमा और सूर्य के पास पहुँच गयीं। वहां मैंने देखा वे अपने दोनों हाथों से चन्द्रमा और सूर्य को पोंछ रही हैं... जिस पर वे दोनों राजकुमार और विशालाक्षी सीता विराजमान थीं, वह महान हाथी लंका के ऊपर आकर खड़ा हो गया... राम सीता और लक्ष्मण के साथ सूर्यतुल्य तेजस्वी दिव्य पुष्पक विमान पर आरूढ़ हो उत्तर दिशा को लक्ष्य कर यहां से प्रस्थित हुए हैं... मूड़ मुड़ाये तेल से नहाकर लाल कपड़े पहने हुए रावण... पुष्पक विमान से पृथ्वी पर गिर पड़ा था, एक स्त्री उस मुंडित मस्तक रावण को कहीं खींचे लिए जा रही थी... उस समय मैंने फिर देखा रावण ने काले कपड़े पहन रखे हैं... वह गधे पर सवार हो शीघ्रतापूर्वक दक्षिण दिशा की ओर जा रहा था... रावण गधे से नीचे भूमि पर गिर पड़ा... फिर... पागल के समान नंग धड़ंग वेश में बहुत-से दुर्वचन बकता हुआ आगे बढ़ गया... सामने ही दुर्गन्धयुक्त दुःसह घोर अंधकारपूर्ण और नरकतुल्य मल का पंक था, रावण उसी में घुसा और वहीं डूब गया... रावण के सभी पुत्र भी मूड़ मुड़ाये और तेल में नहाये दिखाई दिए हैं... रावण सुअर पर, इन्द्रजीत सूंस पर और कुंभकर्ण ऊँट

पर सवार हो दक्षिण दिशा को गये। राक्षसों में सिर्फ विभीषण ही ऐसे हैं जिन्हें मैंने वहाँ श्वेतछत्र लगाए, सफेद माला पहने, श्वेत वस्त्र धारण किए तथा श्वेत चंदन और अंगकण लगाये देखा है... मैंने स्वप्न में देखा है कि रावण द्वारा सुरक्षित लंकापुरी को राम का दूत बनकर आए हुए एक वेगशाली वानर ने जलाकर भस्म कर दिया है।"

क्या त्रिजटा का यह स्वप्न एक तरह का prophetic स्वप्न नहीं है? सपना जो भविष्य देखता है। त्रिजटा कहती है कि मैं पुकार कर यह सपना कह रही हूं जो चार दिन में, यानी जल्द ही, सच होगा। त्रिजटा को अपने स्वप्न पर इतना कान्फीडेंस कैसे है? जो भी हो, इससे खुद अपने पर भी उसका कान्फीडेंस इतना बढ़ गया है कि वह रावण के अधिनायकवादी राज में भी ऐसा सपना पुकार कर बता रही है। 'जिमि दसनहु मंह जीभ बिचारी' वाली लंका में ऐसे सपने को पुकार कर कहने की हिम्मत त्रिजटा ने बटोर ली तो इसमें स्वप्न की ही कोई भूमिका रही होगी। बेल्टा डेविस ने कहा था : Don't be afraid of the space between your dreams and reality. If you can dream it, you can make it. इसलिए त्रिजटा को लग रहा है कि यह सपना शीघ्र सच होने जा रहा है। एडगर कैस (Edgar Cayce) का कहना था कि Dreams are today's answers for tomorrow's questions.

हालांकि बाइबल की तरह रामकथा में सपनों की भरमार नहीं है। बाइबल में तो इस तरह के 121 स्वप्न या विज़न हैं। लेकिन सुंदरकांड का यह अकेला स्वप्न असाधारण है। राम और विभीषण दोनों को वाल्मीकि की त्रिजटा श्वेत-रंग में देखती है। श्वेत रंग का यह संकेत दोनों के बीच संधि का है या दोनों के समधर्मा होने का है। राजाओं की जीत-हार-मृत्यु भी कई बार स्वप्न में देखी गई। वाटरलू में नेपोलियन की हार उसने स्वप्न में देखी थी। प्लूटार्क बताता है कि सम्राट आगस्टस जब बीमार था जो अपने एक मित्र के देखे गए स्वप्न के आधार पर उसने तंबू छोड़ दिया था। उसके कुछ ही घंटों बाद शत्रु सेना ने उस पर आक्रमण किया और जिस बिस्तर पर वह लेटा था, उसी बिस्तर को शत्रुओं की तलवारों ने बुरी तरह छेद दिया था। रोमन सम्राट मार्सिअन ने सपना देखा कि अट्टिला हूण का धनुष टूट गया है। उसी रात अट्टिला की मृत्यु हुई। जोन आफ आर्क ने एक सपने के आधार पर अपने मरने की भविष्यवाणी कर दी थी। अब्राहम लिंकन ने अपनी हत्या के दो हफ्ते पहले खुद ही देह को एक कफ़न में लिपटे देखा था। एडमिरल रिचर्ड डीन की पत्नी ने उसकी मृत्यु के दो दिन पहले उसका मरना स्वप्न में देखा। जॉन डन ने ज्वालामुखी के विस्फोट का सपना पहले देखा, विस्फोट बाद में हुआ। सपनों की एक श्रेणी तो clairvoyant सपनों की है जहां कोई इधर सपना देख रहा होता है, ठीक उसी क्षण उधर वह घटना होती रहती है। अतः त्रिजटा ने यदि कोई प्राफेटिक स्वप्न देख लिया है तो वह अपनी साथिनों से उसकी शेयरिंग करेगी ही। शेयरिंग होगी तो स्वप्न की व्याख्या भी होगी। सो वह कर रही है। तालमुद में कहा गया है : A dream which is not interpreted is like a letter which is not read.

इस स्वप्न की व्याख्या फ्रायडियन शब्दावली में 'अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति' के रूप में भी की जा सकती है। राक्षसियों तक के भीतर कहीं सत्ता-परिवर्तन की एक अवदमित तृष्णा है। खासकर उस राक्षसी के भीतर तो और अधिक होगी जो 'राम चरन रति निपुन विवेका' है। उसे प्रकट में तो अपना पहरेदार का धर्म निभाना है, लेकिन उसके अवचेतन में रावण के द्वारा किए जा रहे कार्यों के प्रति एक असहमति है। उसके अवचेतन की यह एक 'डॉमिनेंट फोर्स' है, सिर्फ इसीलिए क्योंकि यहां वह अपने लौकिक व्यवहार में अपने इस विचार का सहज मुखरण नहीं कर सकती है। इस बिंदु पर वह कुंठित हो गई है। फ्रॉयड का निष्कर्ष था कि The motivation of all dream content is wish-fulfilment. रावण-नियंत्रित लंकाई समाज में रहने के लिए त्रिजटा को अपनी बहुत सी सहज कामनाओं

(urges) को थामना पड़ता होगा, अपने बहुत से संवेगों को दबाना पड़ता होगा। फ्रॉयड के पहले जर्मन दार्शनिक आई.जी.ई. मास ने कहा था : Experience corroborates our assertion that we dream most frequently of those things toward which our warmest passions are directed. इस विचार से ही त्रिजटा के 'रामचरन रति निपुन विवेका' का अर्थ खुलता है। चूंकि त्रिजटा के warmest passions भी राम की ओर ही केन्द्रित हैं, इसलिए उसे राम-विजय का स्वप्न भी आता है। 'रति' उन्हीं warmest passions का प्रतीक है। फ्रॉयड ने 'सेक्स' शब्द को जितने व्यापक अर्थ में प्रयोग किया था, यहां 'रति' शब्द भी उतना ही व्यापक है। हरिवंश में रति के दो पुत्र बताए गए हैं : हर्ष और यशस्। विष्णु पुराण में उसका एक ही पुत्र बताया गया : हर्ष। रामचरन में रति का परिणाम भी हर्ष है। त्रिजटा को अंत में हर्ष भी मिलेगा और यश भी। त्रिजटा की स्वप्न-फंतासी यदि उसका आनंद-स्त्रोत है तो उसका अर्थ यही लगाना होगा कि रावण के जेलर तक स्वयं उससे मुक्ति की वासना किस हद तक रखे हुए थे। राम का नाम क्या लंका के आम लोगों तक पहुंचा हुआ था? त्रिजटा को 'राम-चरण रति' में तन्मय दिखने का अर्थ क्या यही नहीं है कि राम जिन भिन्न जीवन मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते थे, वे स्वयं लंका में पहरेदार की-गार्ड की-नौकरी करने वाले तक को भी काम्य और स्पृहणीय लगते थे। राम लंका के भी– शत्रु देश के भी– कुछ औसत लोगों के लिए अभीप्सित थे। त्रिजटा राम के प्रति इसी रूप में अनुकाम थी। राम उसके लिए कांक्षणीय थे तो इसलिए क्योंकि वे आने वाला कल्प ही न थे, विकल्प थे। यह वह अभिलषित भूमि थी जिस पर उस दौर में, उस संदर्भ और पृष्ठभूमि में, पैर रखते हुए त्रिजटा बहुत डरती थी। लेकिन यह आरजू और यह हसरत एक प्यास की तरह उसके दिल के भीतरी कोनों में सुलगती रहती थी। जिस हद तक त्रिजटा रावण-भय से इस ख़याल और इस ख्वाहिश को अंदर ही अंदर सेंसर करती थी, उसके अवचेतन में वह उस हद तक उद्दाम होती चली जाती थी। जिस हद तक लंका में राम की औपचारिक और सार्वजनिक वर्जना और निषेध थे, उस हद तक राम त्रिजटा जैसों को प्रलुब्ध भी किए हुए थे। फ्रॉयड यह कहता था कि 'स्वप्न कोई मनोविकृत्यात्मक संघटना नहीं है। सपना देखने का मतलब यह नहीं है कि मनोवैज्ञानिक संतुलन (psychic equilibrium) में किसी तरह की गड़बड़ी (डिस्टर्बेंस) है।' इसी बात को तुलसी ने 'नैपुण्य' और 'विवेक' शब्द का इस स्वप्न-प्रसंग में प्रयोग कर जताया है। नैपुण्य का अर्थ ही efficiency या capacities है और फ्रॉयड का स्वप्न के बारे में कहना भी यही था कि It does not leave behind it any weakening of our efficiency or capacities. त्रिजटा की मनोकामना उसके किसी मनोरोग का परिणाम नहीं थी। वह अस्वस्थ आसक्ति नहीं थी। वह उसके विवेक का समर्थन प्राप्त किये हुए थी। त्रिजटा की मनस्तृप्ति उसकी प्रज्ञा के विरोध में नहीं थी। इसलिए वह न्यूरोटिक नहीं थी। 'द ड्रीम गेम' नामक कृति में पैरासेल्सस (Paracelsus) को उद्धृत करते हुए यह कहा गया: That which the dream shows is the shadow of such wisdom as exists in man, even if during his waking state he may know nothing about it.... we do not know it because we are fooling away our time with outward and perishing things, and are asleep in regard to that which is real within ourself. त्रिजटा के भीतर उस विवेक की छाया थी। वह बाहरी और मर्त्य चीजों से अपने समय को मूर्खतापूर्ण तरीके से बर्बाद करना नहीं चाह रही थी और रामचरन उसे अपने भीतर इतने रियल, इतने यथार्थ लगते थे। उनके प्रति वह गाफ़िल नहीं रह सकती थी। सपने फ्री थे तो उसने सपनों को फ्री कर दिया था। रावण के बहुत से प्रतिबंधों के परिदृश्य में राम मुक्ति की एक किरण की तरह लगते थे। इन्हीं सपनों के कारण एरिक फ्रॉम ने कहा था We are also more intelligent, wiser and capable of better judgment when we are asleep than

when we are awake. उपनिषदों में शायद इसलिए जागृति की तुलना में स्वप्नों को चेतना की एक उच्चतर अवस्था माना गया।

स्वप्न का मनोवैज्ञानिक महत्व जो है, सो है। त्रिजटा का स्वप्न उसके मन को ही मजबूत नहीं करता, वह राक्षसियों के मन के रसायन को भी बदल देता है। लेकिन इस मनोवैज्ञानिक महत्व के अलावा स्वप्न की ऐतिहासिक भूमिका भी है। यह त्रिजटा-स्वप्न इतिहास की भविष्यवाणी है। मुझे 'स्वप्न की व्याख्या' पुस्तक में फ्रॉयड के द्वारा कही गई बात फिर याद आती है : It hardly seems worth while to take up the historical significance of dreams as a separate theme. Where, for instance, a leader has been impelled by a dream in a bold undertaking, the success of which has had the effect of changing history, a new problem arises only so long as the dream is regarded as a mysterious power and contrasted with other more familiar psychic forces. The problem disappears as soon as we regard the dream as a form of expression for impulses to which a resistance was attched during the day, whilst at night they were able to draw reinforcement from deep-laying sources of excitation. क्या राक्षसी त्रिजटा के साथ भी ऐसा ही नहीं है? क्या वह अपने संवेगों को, दिन में रावण की सत्ता के भय के चलते, प्रतिरुद्ध करती है, दमित करती है, और फिर नींद में उसके मन के बहुत गहरे पैठे हुए प्रेरणा-स्त्रोतों से शक्ति प्राप्त कर-रामचरणों की प्रीति से ऊर्जित- ये संवेग सपनों के रूप में छलछला आते हैं। तो यह स्वप्न कोई मनोवैज्ञानिक भविष्योवाच (psychological divination) नहीं है, बल्कि जैसा फ्रॉयड ने कहा : It is a homage paid to the unsubdued and indestructible element in the human soul. फ्रॉयड मानव की आत्मा के इस असमर्पित और अविनाशी तत्व को कोई दूसरा नाम देता है, वाल्मीकि और तुलसी के अनुसार यह तत्व आत्मा में बैठा हुआ परमात्मा है- असमर्पित और अविनाशी। इसीलिए तुलसी 'रामचरन रति' की बात करते हैं। सिर्फ रति (सेक्सुअलिटी) की नहीं। रामचरन रति में निपुन होने के कारण और विवेक सम्पन्न होने के कारण वह सीता और लंका की जिन्दगी में होने वाली भोर को वह रावण और उसकी समर्थक राक्षसियों के पहले देख लेती है। सीता तो सो ही नहीं पा रही हैं– बैठहिं बीत जात निस जामा-तो वे स्वप्न क्या देखेंगी। अलबत्ता जिस वानर की बात त्रिजटा करती है-सपने बानर लंका जारी-उसी वानर को प्रत्यक्ष देखने पर सीता के मन में खयाल यही आता है कि कहीं यह स्वप्न तो नहीं: मैथिली चिन्तयामास स्वप्नोऽयमिति भामिनी (श्लोक 6, 32वां सर्ग, सुं.कां. वा.रा.)। आगे नवें श्लोक में वे सोचने लगती हैं: 'आज मैंने यह बड़ा बुरा स्वप्न देखा है। सपने में वानरों को देखना शास्त्रों ने निषिद्ध बताया है।' फिर अगले श्लोक में वे यह महसूस करती है कि 'परंतु यह स्वप्न नहीं हो सकता क्योंकि शोक और दु:ख से पीड़ित रहने के कारण मुझे कभी नींद आती ही नहीं।'

पश्चिमी अध्ययनों में वानर का स्वप्न एक दूसरी बात है। क्रैग हेमिल्टन पार्कर के अनुसार : Monkeys represent your playful, mischievous side. You may feel that your dream expresses a need to be fun loving and to stop taking life so seriously (Hidden Meaning of Dreams). सीता जी की स्थिति इतनी गंभीर हो गई है कि उन्हें थोड़ा मुस्कराने का अवसर मिलना ही चाहिए। एक दूसरे अध्ययन में कहा गया कि To see a monkey in your dream, symbolizes deceit, insight and intuition. त्रिजटा में छल नहीं पर अंतर्दृष्टि और अंत:प्रेरणा तो है ही। इस्लामिक स्वप्न विश्लेषण में कहा गया है It presents his enemy who is defeated. The reason for his defeat is the fact that Allah has deprived him of His favours

because of his sins, infamy and wickednes. यह सीता का शत्रु रावण है। पराजित रावण जिसे अल्लाह ने उसके पापों, अपयश और दुष्टता के कारण अपने आशीर्वाद से वंचित कर दिया। इसे यों भी देखें तो ऐसा स्वप्न लंकाई नागरिक के लिए तो बड़ा ही हटकर (peculiar) रहा होगा। एक बंदर एक शहर को जला रहा है। एकदम अटपटा। और यहां स्वप्न में वानर-दर्शन के प्रतीकात्मक अर्थ निकालने की उतनी जरूरत भी नहीं है। यह स्वप्न, जैसा कि हमने कहा, सिम्बॉलिक नहीं है, प्राफेटिक है।

प्राफेटिक स्वप्न में भी अपनी अतार्किकताएं हो ही हैं, वे भी एब्सर्ड होते हैं। बात उनमें दीख पड़ने वाली घटनाओं की नहीं हैं, तो हो सकता है कि वे घटनाएं कभी घटित न हों। रावण गधे पर नंगा क्या कैसे ही नहीं बैठे लेकिन बात घटनात्मक स्थूलताओं की नहीं है। एब्सर्ड होने से सपने निरर्थक नहीं हो जाते। टर्ट्युलिअन कहता था : 'I believe because it is absurd.' 'Credo quia absurdum.' रावण की नग्नता कही इस बात की प्रतीक तो नहीं है कि वह पूरी दुनिया के सामने expose हो गया है। कहीं यह तो नहीं बताने की कोशिश तो नहीं कर रहा यह सपना कि रावण ने गधे की सवारी की-यानी उसने मूर्खता को ही अपना वाहन बनाया। कहीं सपना रावण के उपहास (ridicule) के रूप में तो नहीं आया? एक तानाशाह की, एक आततायी की पैरोडी के रूप में? आज भी कुछ जगह लोग-कभी तो पुलिस भी-किसी को गधे पर बिठाकर उसका जुलूस निकाल देती है। स्वप्न में उपहास का इस्तेमाल होता है, यह बात जोसेफ वीज़ लेरोल्ड सैंपसन और प्राउंड जिओन साइकोथिरेपी रिसर्च ग्रुप ने अपनी पुस्तक 'द साइकोएनेलिटिक प्रोसेसेज' में कही है : In dream, the derision is a part of thought and directed to the solution of the problem. तानाशाहों को जो भुगतता है, उसके मन में उनकी 'मॉकिंग' करने की एक गुप्त इच्छा जरूर ही पलती होगी। इसलिए त्रिजटा के मन में भी ऐसा कुछ आता होगा, वह अपने सर को झटकती भी होगी लेकिन ऐसा कोई आइडिया उसके मन में बार-बार आकर उसे भीतर ही भीतर मुस्कुराने को मजबूर करता होगा। 'एब्सर्ड' के दार्शनिक कहलाने वाले अल्बर्ट कामू में भी तानाशाही (totalitarianism) के प्रति भयंकर विरोध-भाव था। ड्रीममूड्स.कॉम के अनुसार सपने में गधे का देखना हठधर्मिता (stubornness) और जिद्दी (unyielding) व्यक्तित्व का होना बताता है। रावण ऐसा ही है। एक्सपीरिएन्स प्रोजेक्ट.कॉम के अनुसार 'इस तरह से स्वप्न में गधे की सवारी का अर्थ है कि अनावश्यक झगड़े होने वाले हैं : unnecessasary quarrels may follow. ड्रीममूड्स.कॉम का कहना यह है कि To see an ass in your dream, signifies a lack of understanding. The dream may be a metaphor for someone who is being an ass. स्वप्न विद्या, स्वप्न विचार, स्वप्न ज्योतिष, स्वप्न शास्त्र के रूप में फ्रायड से बहुत पहले हमारे देश में सपनों की व्याख्या होती रही है। स्वप्नाध्याय का वचन है कि : 'आदित्यमंडल वापि चंद्रमंडलमेव वा/स्वप्न गह्णति हस्ताभ्यां राज्यं सम्प्रारनुयान्महत्' (गोविंदरा जविरचित रामायणभूषण) अर्थात् जो स्त्रियां पुरुष स्वप्न में अपने दोनों हाथों से सूर्यमंडल अथवा चंद्रमण्डल को छू लेना है, उसे विशाल राज्य की प्राप्ति होती है। वाल्मीकि रामायण में, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, त्रिजटा के स्वप्न में सीता सूर्य और चंद्रमा को अपने हाथों से पोंछती हुई दिखाई गई हैं।

त्रिजटा का स्वप्न सत्ता-परिवर्तन का स्वप्न है। एक तरह से अल्फ्रेड एडलर के द्वारा बताई गई स्वप्न-अंत:प्रेरणा 'विल टु पॉवर' के ज्यादा नज़दीक। एडलर के लिए, dreams were a way of addressing insecurities. त्रिजटा अपने तो क्या, सीता तक के असुरक्षा-बोध को आत्मसात कर चुकी है। स्वप्न में इसकी अपनी तरह से क्षतिपूर्ति होती है। वहां रावण असुरक्षित है। वह लगातार दक्षिण की ओर जाता हुआ दीख पड़ रहा है। दक्षिण की दिशा यम की दिशा मानी

गई। रावण तेजी से अपनी मृत्यु की ओर बढ़ता जा रहा है। जो 'हंता' था, उसे भी 'हंतक' की ओर जाना पड़ रहा है। कभी इसी रावण ने यमपुरी पर विजय प्राप्त की थी, लेकिन अब उसे भी सच का सामना करना पड़ रहा है।

सपनों की इसी अतार्किकता का इस्तेमाल रस्किन बांड ने अपनी कहानी एंग्री रीवर में किया है जहां सीता सपना देखती हैं कि कृष्ण उन्हें एक श्वेत पक्षी पर बिठाकर हिमालय के ऊपर से देवलोक ले जा रहे हैं। इस सपने में रस्किन बांड दो महाकाव्यों के अंतर्पाठ्यत्व का, सपने की अपनी स्वतंत्र संहिता के कारण इस्तेमाल कर लेते हैं। रस्किन बांड की सीता पौराणिक सीता नहीं है, न उनके कृष्ण वैसे हैं। लेकिन अपनी कहानी के नायक-नायिका के मिथकीय नाम रखकर रस्किन बांड अपने कथानक में एक कालातीत जादुई वातावरण की रचना कर लेते हैं। श्वेत पक्षी संभवतः गरूड़ है। विष्णु के ही अवतार राम हैं और कृष्ण भी। सीता लक्ष्मी की अवतार हैं। सीता के वास्तविक जीवन के दुःस्वप्न में तो रावण उन्हें उड़ा कर ले गया था। सीता के मन में तो राम की ही रचना थी। एक पक्षी जटायु था जो सीता के लिए लड़ा था और स्वयं देवलोक चला गया था। रस्किन बांड अपनी कहानी में सपने के जरिए एलीगरी को अर्थ-संभार से वैसे ही घनीभूत कर देते हैं जैसे रामकथा में त्रिजटा का सपना कर लेता है। सारा पाइल ने 'कॉट बाइ हर हेयर' में सीता के अपहरण की कथा रामकथा के चार गौण चरित्रों– जटायु, मंदोदरी, सुग्रीव और त्रिजटा के माध्यम से फिर कही है। त्रिजटा वाले अध्याय का नाम ही सारा पाइल ने 'द डेमन्स ड्रीम' रखा था। सारा इस बात को रेखांकित करती हैं कि त्रिजटा रामायण कथा के अंत में भी मौजूद है। सारा को त्रिजटा मंदोदरी (एक ऐसा चरित्र जो सारा को विशेष प्रिय लगता है) के द्वारा सीता को सान्त्वना देने के लिए विशेष रूप से अशोक वन में स्थापित की गई लगती है। हालांकि सारा ने उल्लेख नहीं किया है लेकिन वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड में यही त्रिजटा 48वें सर्ग में विलाप करती हुई सीता को समझा बुझाकर श्रीराम-लक्ष्मण के जीवित होने का विश्वास दिलाती है। सीता हाथ जोड़कर उसे बहन कहती हैं। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि त्रिजटा सीता के कितना निकट आ गई थी। यह सारा के द्वारा वर्णित त्रिजटा की वही सान्त्वनादायी भूमिका है।

कुछ परंपराओं में त्रिजटा के स्वप्न को प्रच्छन्न गायत्री मंत्र माना जाता है। कुछ मान्यताओं के अनुसार यह गायत्री देवी (ललितांबिका) का मंत्र प्राणायाम है। दरअसल सुंदरकांड की परंपराएं दो ऑकल्ट अनुशासनों- - गायत्री और कुंडलिनी योग-से हमेशा व्याख्यायित करती आई हैं। यानी त्रिजटा 'स्वप्न' के जरिए 'जागृति' निर्मित कर रही है।

मैं जब भी वाल्मीकि रामायण में त्रिजटा के स्वप्न के बाद का वह हिस्सा पढ़ता हूँ जिसमें वह सीता को बताती है कि 'देखो, सामने यह पक्षी शाखा के ऊपर अपने घोंसले में बैठकर बारंबार उत्तम सान्त्वनापूर्ण मीठी बोली बोल रहा है। इसकी वाणी से 'सुस्वागतम्' की ध्वनि निकल रही है और इसके द्वारा वह हर्ष में भरकर मानो पुनः पुनः मंगल प्राप्ति की सूचना दे रहा है अथवा आने वाले प्रियतम की अगवानी के लिए प्रेरित कर रहा है' तो मुझे बार बार रवीन्द्रनाथ टैगोर की वह पंक्ति बरबस याद आती है कि 'विश्वास वह पक्षी है जो सबेरा होने से पहले ही गाने लगता है।' जागृति की सुबह आने को है। मैकाफ्रे, मार्कुस और रामास ने अपने अलग अलग अध्ययनों में कुछ सपनों की व्याख्या 'थीम ऑफ पर्सनल इंडीपेन्डेंस' से की है। क्या रावण-राज में रहते हुये त्रिजटा इस स्वप्न के जरिए उसी निजी स्वतंत्रता को उपलब्ध कर रही थी जो रावण के अधिनायकवादी शासन में उसे खुद उपलब्ध नहीं थी यानी त्रिजटा के स्वप्न की जड़ें सीता की जरूरतों में नहीं हैं, खुद उसकी निजी जरूरतों में है जिसके चलते वह अपने जीवन के 'डॉमिनेंट फिगर' रावण को इस हालत में देखती है इसलिए वाल्मीकि और तुलसी ने यह स्वप्न त्रिजटा के जरिये सीता को नहीं, राक्षसियों को सुनाया है क्योंकि यह स्वप्न उनके आस्तित्विक पुनरुन्मुखीकरण के लिए-

- उनके द्वारा एक ज्यादा तृप्तिपूर्ण जीवन जीने की संभावना का द्वार खोलने के लिए जरूरी है। इसलिए तुलसी त्रिजटा से कहलवाते हैं :- 'सीतहि सेई करहु हित अपना।' इसीलिए त्रिजटा के स्वप्न का सीता के मनोबल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता दिखता क्योंकि एक तो वह सीता को सुनाया ही नहीं गया और दूसरे, वह राक्षसियों के सरोकारों से ज्यादा संबद्ध है। यह स्वप्न जीवन को देखने के उनके तरीकों को पुनर्शिल्पित करेगा। जॉन लेनन ने कहीं कहा है : A dream you dream alone is only a dream. A dream you dream together is reality.

त्रिजटा को तुलसी 'रामचरन रति निपुन विवेका' कहते अवश्य हैं, लेकिन यह त्रिजटा है मूलतः सीता की मित्र और मित्र भी कैसी 'अ फ्रेंड इन नीड इज अ फ्रेंड इन्डीड'। सीता के दुर्दिनों की साथी। सीता को सरमा और कला के साथ साथ बाद में भी और पहले भी कभी ऐसी महिला मित्र नहीं मिलनी थी। देखा जाए तो त्रिजटा का स्वप्न भारतीय महाकाव्यों में वर्णित सबसे बड़ा स्वप्न है। स्विफ्ट ने अपनी कविता 'ऑन ड्रीम्स' में लिखा है कि All are mere productions of the brain/And fools consult interpreters in vain. लेकिन त्रिजटा अपने सपने की व्याख्या किसी इंटरप्रेटर की सहायता के बिना खुद ही करती है। किसी रहस्यमय तरीके से सपने का अर्थ त्रिजटा तक वैसे ही संचरित हो जाता है। वाल्मीकि रामायण में वह रावण को "दुर्गन्धयुक्त दु:सह, घोर अंधकारपूर्ण और नरकतुल्य मल के पंक में घुसते और डूबते हुए देखती है।" इसी से मिलता जुलता स्वप्न हिटलर ने प्रथम विश्वयुद्ध के वक्त एक बंकर में सोते हुए देखा था कि debris and mother earth fell upon him, crushing and suffocating him. चूंकि यह स्वप्न उसने स्वयं देखा था, वह तुरंत जाग गया और उस शीतल रात की हवा में अपने बंकर से बाहर काफी दूर तक भागा। जब वह रुका तो उसने देखा कि उसी बंकर पर एक shell आकर गिरा है और उस बंकर में रहने वाले उसके सभी साथी मारे गए हैं। हिटलर को तभी से अपने जीवन के "divine providence" के ऊपर विश्वास हो गया था। रावण इतना भाग्यशाली नहीं था। उसके मल के पंक में घुसने और डूबने का स्वप्न खुद उसने नहीं, त्रिजटा ने देखा था। वह नहीं बच पाया। भरत ने अपने पिता को वाल्मीकि रामायण में पर्वत की चोटी से एक ऐसे गंदे गड्ढे में गिरे पड़े देखा था जिसमें गोबर भरा हुआ था (अयोध्या कांड, 69वां सर्ग, 8वां श्लोक)।

त्रिजटा को यह प्रि-कॉग्निटिव स्वप्न संभव हुआ तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। जॉन गॉडली, जो बाद में लॉर्ड किलब्रेकन के रूप में जाना गया, 1946 में ऑक्सफोर्ड अंडरग्रेजुएट के रूप में घुड़दौड़ में जीतने वाले घोड़ों के नाम स्वप्न में देख पाया था और एक नहीं, अनेक बार। माउंट पेली ज्वालामुखी के 1907 में फटने का सपना जे.डब्ल्यू. ड्यून ने देखा और स्वप्न में उसे 4000 लोगों का मरना भी भान हुआ। कुछ दिनों के बाद ज्वालामुखी फटने का और उसमें 40 हजार लोगों के मारे जाने का समाचार उसने पढ़ा तब उसे लगा कि अपने स्वप्न को पढ़ने में स्वयं उससे ही कहीं एक शून्य की चूक हो गई थी। बार्बरा गारवेल को तो पूरे जीवन भर भावी की सूचना देने वाले ऐसे स्वप्न दिखते रहे। जब वह 15 साल मात्र की थी तो उसे सपना आया कि वह उत्तरी आयरलैंड में है और एक विमान तेजी से नीचे गिर रहा है। फिर उसने इंजिनों की कान फाड़ देने वाली आवाज सुनी। फिर उसने बहुत सी लाशों पर कफन अंशतः ढके हुए देखे। फिर उसने किसी को जोर से कहते सुना आठ शरीर। फिर उसने तीन लोग कॉकपिट में देखे और उनके सर के ऊपर रग्बी की गेंद देखी। उसने सुबह अपने पिता को यह स्वप्न बताया। लेकिन उस दिन समाचार पत्रों में ऐसा कुछ नहीं छपा था कि कोई विमान दुर्घटना घटी हो पर फिर दोपहर तक समाचार आए कि उत्तरी आयरलैंड में एक प्लेन क्रेश हुआ जिसमें 80 लोग मारे गए हैं। सिर्फ तीन लोग बचे हैं। वे रग्बी मैच देखने गए थे। गौर करें तो पाएंगे कि यहां बार्बरा भी 'शून्य' नहीं पढ़ पाई- कि

'80' उसके स्वप्न में '8' बन गया। 1983 में बार्बरा ने श्रीमती थैचर को स्वप्न में एक रंगीन चमकदार साड़ी पहने देखा और उन्हें किन्हीं लोगों ने जो उन्हें घेरे हुए थे बिना चेतावनी के गोली मार दी, यह भी देखा। एक साल बाद यह सपना श्रीमती थैचर के साथ तो नहीं पर श्रीमती इंदिरा गांधी के साथ सच हुआ। श्रीमती थैचर एक राष्ट्रीय नेता का संकेत देने के लिए स्वप्न में थीं। साड़ी भारत की ओर इशारा थी। और अपने ही अंगरक्षकों के हाथों वे मारी भी गईं। रामायण में सुलोचना को अपने पति मेघनाद की मृत्यु ऐसे ही एक प्रिकाग्निटिव स्वप्न में दिख जाती है। देखें कि राम का जन्म और रावण की मृत्यु प्रिकाग्निटिव सपनों में पहले देखी गई। 'यह सपना मैं कहौं पुकारी/होइहि सत्य गएँ दिन चारी।'

त्रिजटा को तुलसी ने 'रामचरन रति निपुन बिबेका' कहा था। वाल्मीकि ने ऐसा कुछ नहीं कहा लेकिन उन्होंने इसके खिलाफ भी कुछ नहीं कहा। हालांकि जैन राम-साहित्य में हमेशा की तरह उलटी बात कही गई है। स्वयं भूदेवकृत पउमचरियं (49/10) में जब हनुमान द्वारा गिराई राम-अंगूठी को देख सीता प्रसन्न होती हैं, तब रावण को जाकर त्रिजटा खुशी खुशी बताती है कि आज आपका जीवन धन्य हो गया, आपकी प्रतिज्ञा पूर्णकाम होगी क्योंकि भट्टारिका सीता हँस रही हैं। हेमचंद्र भी अपने योगशास्त्र में यह बताते हैं कि सीता को प्रलोभन के रास्ते से सहमत कराने के लिए त्रिजटा को उपवन में रखा गया। तुलसी इस बात से उचित ही सहमत नहीं थे। यदि त्रिजटा का मन शुद्ध नहीं होता तो महाभारत के रामोपाख्यान में यह उल्लेख ही नहीं होना था कि रावण वध के बाद लंका से चलते वक्त राम ने त्रिजटा को अर्थ और सम्मान दिया - 'त्रिजटां चार्थमानाभ्यां' (म.भा. 3/275/39)। रघुवंश (12/79) और सेतुबंध (सर्ग 11), प्रसन्न राघव और अध्यात्म रामायण में त्रिजटा सीता की सच्ची शुभचिंतका बताई गई है। तुलसी भी इसी मत के हैं और वाल्मीकि ने जिस चीज को कहने की आवश्यकता नहीं समझी थी– 'रामचरन रति निपुन विवेका'– उसे तुलसी ने स्पष्ट कह दिया है क्योंकि तब तक रामकथा को विकृत करने के उपर्युक्तानुसार षड्यंत्र होने लगे थे और तुलसी अपनी शैली में उनका प्रत्याख्यान करना नहीं भूलते थे। त्रिजटा जैसे गौण पात्रों को नहीं बख्शा जा रहा था तो मुख्य पात्रों की तो बात ही क्या थी।

त्रिजटा एक बंदर के हाथों एक नगर के जलने की बात कहती है जो लंका के तत्कालीन संदर्भ में एकदम विचित्र सी बात लगी होगी। अविश्वसनीय। एब्सर्ड। राक्षसों की दुनिया में मनुष्यता का यह आदिमतम संदेशवाहक अजूबा ही समझा गया होगा। एस्क्विथ ने अपने एक अध्ययन में देखा कि जापानी एद्नोलाजिस्ट यह मानकर चलते हैं कि वानरों की आत्माएं और व्यक्तित्व होता है। मृत वानरों की स्मृति में वहां वार्षिक अनुष्ठान होते हैं और ओसाका में एक मंदिर तो ऐसा है कि जहां वानरों की 20,000 कब्रें हैं। जापान में वानर अकेला ऐसा प्राणी है जिसके लिए 'सॅन' (SAN) शब्द का प्रयोग किया जाता है। वह शब्द जो मनुष्य के लिए भी होता है। जातक माला के अनुसार कभी बुद्ध भी एक वानर थे। क्या जिस तरह से आजकल अन्तरिक्ष अनुसंधान के लिए मनुष्य के पहले वानरों को भेजा जाता है– अभी तक 32 भेजे जा चुके हैं– उसी तरह से लंका में भी पहले पहल वानर को भेजा गया? क्या हमें कांज़ी नामक वानर की सत्यकथा मालूम है जिसने 4 माह के प्रशिक्षण में 20 प्रतीक और 17 माह में 50 प्रतीक सीख लिए थे और शब्दों का स्वतःस्फूर्त प्रयोग करना शुरू कर दिया था? लांस एंजिल्स में जब केलीफोर्निया विश्वविद्यालय के सॉवेज-रम्बौ और पेट्रिशिया ग्रीनफ्रील्ड ने यह जांचना चाहा कि क्या कांज़ी सिन्टेक्स (वाक्य विन्यास) की क्षमता हासिल कर सकता है, तो अपने प्रयोगों का निष्कर्ष देखकर वे भारी उत्तेजना में भर गए कि कांज़ी के पास एक प्रारंभिक वाक्य-विन्यासात्मक क्षमता है। निम चिंप्सकी– जिसका नाम प्रसिद्ध व्याकरणविद् नोम चाम्स्की के नाम पर रखा गया– नामक एक वानर ने न केवल अमेरिकी चिन्हभाषा (sign language) सीख ली थी बल्कि वह पत्रिकाएं

और टी.वी. भी देखता था। उस पर बहुत सी पुस्तकें और टीवी स्पेशल्स बने हैं। इसलिए पृथ्वी के इतिहास के किसी मोड़ पर हनुमान, सुग्रीव, वालि जैसों का अवतरण एकदम असंभव बात भी नहीं हो सकती। मनुष्य की सामूहिक स्मृति में कुछ तो ऐसा है कि किंगकांग, माइटी जो, ग्रेप एप की कथाएं इतनी जल्द लोकप्रिय स्वीकार्यता अर्जित कर लेती हैं।

त्रिजटा एक वानर के हाथों न केवल लंका-दहन का स्वप्न देखती है, बल्कि राक्षसों की सारी सेना के संहार का स्वप्न भी देखती है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि सपने में ऐसा देखना यह बताता है कि स्वप्नद्रष्टा एक तनाव भरी (स्ट्रेसफुल) जिंदगी जी रहा है जिसमें वह हमेशा अपने को 'वार जोन' (युद्ध क्षेत्र) में महसूस करता है। कार्ल युंग इसे उसके चेतन और अवचेतन के बीच आ गई फांक से समीकृत करते हैं। त्रिजटा के भीतर यह अन्तःसंघर्ष तो चल ही रहा है। मन से रामचरन रति, लेकिन नौकरी बजा रही है रावण की। तो उसे यह युद्ध तो स्वप्न में दिखना ही है। लेकिन उसमें दिखने वाली राक्षस-सेना की पराजय तो सर्वथा भविष्यमूलक है। वह प्रतीक नहीं है, पूर्व सूचना है।

ये राक्षस कौन थे? इसका सबसे सही उत्तर रामाश्रय शर्मा ने अ सोश्यो-पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ द वाल्मीकि रामायण में लिखा है : "The Rakshasas pursued naked sensualism. Thus Mahaparsva declared in the assembly of the Rakshasas that the very fruition of dharma was in Kama which was the foundation of the trivarga. He also defined Kama as the gratification of the senses. Similar was the view of Mahodara who considered Kama as the spring of all human activity. No doubt, some people think that final beatitude can be achieved through dharma and artha. But according to Mahodara dharma and artha were themselves rooted in Kama and whatever action a man undertook for his welfare in this life or the life hereafter it could achieve its end only when it was founded on Kama. That it was not merely one man's prattle but was the Central principle of the Rakshasa culture is shown by the several remarks of the poet for the Rakshasas in the epic. It may be added that this sensuality in their outlook turned them into loka-kantakas (a curse to their fellowmen) and also became the root cause of their downfall." तुलसी ने भी राक्षसों की पहचान के कुछ और भी सूत्र दिए है :- 'बाढ़े खल बहु चोर जुआरा/जे लंपट परधन परदारा/मानहिं मातु पिता नहिं देवा/साधुन्ह सन करवावहिं सेवा/जिन्हके यह आचरन भवानी/ते जानेहु निसिचर सब प्रानी।' तो त्रिजटा सपने में राक्षसों की इस सेना का नाश देखती है, न कि किसी अनार्य संस्कृति का। एस.एन. व्यास 'इंडिया इन द रामायण एज' में (पृ.34) लिखते हैं : But Rama evidently intended to introduce Aryan customs into the Raksas community by giving Vedic (Pitramedha) rites to Ravana. So, at Rama's insistence Ravana's body was cremated according to the Aryan style and, thus the Rakshasas were sought to be Aryanized in culture. लेकिन राम द्वारा रावण के विधिवत दाह-संस्कार का विभीषण से आग्रह इसलिए नहीं था कि विभीषण उसे राक्षस (या अनार्य) विधि से करना चाह रहा था और राम उसे आर्य विधि से करने पर विवश कर रहे थे। वह तो इसलिए था क्योंकि विभीषण ने स्पष्ट कहा था :– 'जिसने धर्म और सदाचार का त्याग कर दिया था, जो क्रूर, निर्दयी, असत्यवादी और परायी स्त्री का अभिमर्श करने वाला था, उसका दाहसंस्कार करना मैं उचित नहीं समझता हूँ।'– त्यक्तधर्मव्रत क्रूरं नृशंसमनृतं तथा नाह मर्हामि संस्कर्तुं परदाराभिमर्शनम्' और राम ने तब विभीषण को यह कहकर समझाया 'बैर

मरने तक ही रहता है, मरने के बाद उसका अन्त हो जाता है। अब हमारा प्रयोजन भी सिद्ध हो चुका है, अतः इस समय जैसे यह तुम्हारा भाई है, वैसे ही मेरा भी है, इसलिए इसका दाहसंस्कार करो। महाबाहो! धर्म के अनुसार रावण तुम्हारी ओर से शीघ्र ही विधिपूर्वक दाहसंस्कार प्राप्त करने के योग्य है। ऐसा करने से तुम यश के भागी होगे'– मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्/क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येश यथा तव/ त्वत्सकाशान्महाबाहो संस्कारं विधिपूर्वकम्/ क्षिप्रमर्हति धर्मेण त्वं यशोभाग भविष्यसि।'

लेकिन इन सबकी उपेक्षा कर, इस तरह की नासमझी के आधार पर रामकथा को दक्षिण में आर्य-सभ्यता के प्रसार की कथा बना दिया गया। एम.कृष्नमाचारी अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर' में वेबर की इस पंक्ति को उद्धृत करते हैं कि The Ramayana represents "the spread of Aryan civilisation to the South specially to Ceylon (Lanka)." लेकिन ऐसा कुछ नहीं था क्योंकि दक्षिण में जाते हुए राम को सारी जातियां अपनी सहायिका और राम भक्त के ही रूप में मिलती हैं, सिर्फ राक्षस ही उनके विरोधी हैं, जैसे कि वे उस उत्तर क्षेत्र में भी थे जहां विश्वामित्र दशरथ से मांगकर राम-लक्ष्मण को ले गए थे। तो जिस जातुधान सेना का लंका में संहार त्रिजटा अपने स्वप्न में देखती है वह लंका में सिर्फ इसलिए उपस्थित है क्योंकि इसी राज्य में सत्ता-यंत्र आतंक का निर्यात करता है। वह उत्तर-दक्षिण का और आर्य-अनार्य का द्वन्द्व नहीं है। वह अच्छाई और बुराई, सत्य और असत्य का द्वन्द्व है। एक ऐसी विचारधारा जो काम के अधिकतमीकरण के सिद्धान्त पर सक्रिय है, की टकराहट एक ऐसी प्रतिद्वन्द्वी विचारधारा से होती है जो निग्रह व तप पर, संयम और मर्यादा पर आधारित है।

रावण के बारे में त्रिजटा को 5 बातें दिखती है : (1) गधे पर बैठा हुआ (2) नग्न है (3) सिर मुड़ा हुआ है (4) उसकी बीसों भुजाएं कटी पड़ी हैं (5) दक्षिण दिशा में जा रहा है। वाल्मीकि रामायण में भी (1) 'वह गधे जुते हुए रथ से यात्रा कर रहा' है। 'गधे पर सवार हो शीघ्रतापूर्वक दक्षिण दिशा की ओर जा रहा' है। 'गधे से नीचे भूमि पर गिर पड़ा' है। (2) 'पागल के समान नंग-धड़ंग वेश में' है। (3) मूड़ मुड़ाये तेल से नहाकर 'लाल कपड़े पहने हुए' है। एक स्त्री उस मुंडित-मस्तक रावण को कहीं खींचे लिए जा रही' है (4) दक्षिण दिशा में जा रहा' है, लाल वस्त्र पहने हुए एक युवती रावण का गला बांधकर उसे दक्षिण दिशा की ओर खींच रही' है। एक बार वह 'गधे पर' और एक बार 'सुअर पर' सवार हो दक्षिण दिशा में जाता दिखा है। वाल्मीकि ने 'खंडित भुजबीसा' का उल्लेख नहीं किया है।

इसकी तुलना वाल्मीकि रामायण में ही अयोध्याकांड के 69वें सर्ग में भरत के दुःस्वप्न से करिए : (1) लालचंदन लगाये गधे जुते हुए रथ पर बैठकर बड़ी तेजी के साथ दक्षिण दिशा की ओर गए हैं। (2) लालवस्त्र धारण करने वाली एक स्त्री महाराज को हँसती हुई सी खींचकर लिए जा रही थी। (3) जो मनुष्य स्वप्न में गधे जुते हुए रथ से यात्रा करता है, उसकी चिंता का धुआँ शीघ्र ही देखने में आता है।

जो बात गौर करने की है वह यह कि उत्तर के भरत और दक्षिण की त्रिजटा, दोनों ही एक ही 'कोड' के जरिये स्वप्न-विचार कर रहे हैं। वही गधा जुता हुआ रथ, वही दक्षिण दिशा, वही किसी स्त्री द्वारा खींच कर लिये जाना। कुछ और विवरण भी हैं। मसलन दशरथ पर्वत की चोटी से एक ऐसे गंदे गड्ढे में गिर पड़े जिसमें गोबर भरा हुआ था। रावण पुष्पक विमान से पृथ्वी पर गिर पड़ा और दुर्गन्धयुक्त दुःसह घोर अन्धकारपूर्ण और नरक तुल्य मल के पंक में घुसकर डूब गया। कुंभकर्ण आदि ये समस्त राक्षस शिरोमणि वीर लाल कपड़े पहन कर गोबर के कुण्ड में घुस गये हैं। दशरथ को भरत ने "गोबर के कुण्ड में तैरते देखा"। दशरथ भी हंस रहे हैं, रावण भी। भरत को दशरथ अंजलि में तेल लेकर पीते दिखाई दिये और वहां रावण तेल से नहाया हुआ तेल पीता दिखाई दिया। दशरथ "लाल रंग के फूलों की

माला पहने और लाल चंदन लगाए हुए" हैं और रावण "लाल फूलों की माला और लाल चंदन से विभूशित" है। ये समानताएं एक ही स्वप्न-संहिता का परिणाम हैं।

फर्क भी हैं लेकिन वे स्वप्न-संहिता के भिन्न होने से नहीं आए। वे दशरथ और रावण की भिन्न नियतियों से आए हैं। भरत के स्वप्न में सिर्फ दशरथ दिखाई देते हैं और बस किसी एक की मृत्यु आशंकित है। भरत इसे कहते भी हैं : "इसका फल यह होगा कि मैं, श्रीराम, राजा दशरथ अथवा लक्ष्मण- किसी एक की मृत्यु अवश्य होगी।" लेकिन त्रिजटा के स्वप्न में सिर्फ रावण की नहीं, बहुत-से और लोगों की भी उपस्थिति है। "वहां महाबली कुम्भकर्ण को भी मैंने इसी अवस्था में देखा है। रावण के सभी पुत्र भी मूड़ मुड़ाए और तेल में नहाए दिखाई दिए हैं। यह भी देखने में आया कि रावण सुअर पर, इन्द्रजीत सूंस पर और कुंभकर्ण ऊंट पर सवार हो दक्षिण दिशा को गये हैं। यह रमणीय लंकापुरी घोड़े, रथ और हाथियों सहित समुद्र में गिरी हुई देखी गई है। इसके बाहरी और भीतरी दरवाजे टूट गये हैं। मैंने स्वप्न में देखा है कि रावण द्वारा सुरक्षित लंकापुरी को श्रीरामचन्द्र जी का दूत बनकर आए हुए एक वेगशाली वानर ने जलाकर भस्म कर दिया। राख से रूखी हुई लंका में सारी राक्षस रमणियां तेल पीकर मतवाली हो बड़े जोर जोर से ठहाका मार कर हंसती हैं।" इन विवरणों में सामूहिक नियतियां हैं। अकेले रावण की बात नहीं। रावण की मृत्यु के साथ "जातुधान सेना सब मारी" की बात है। साथ क्या, पहले। पहले राक्षस सेना के मारे जाने का उल्लेख कर और बाद में रावण के मृत्यु संबंधी कोड्स को दर्शाकर तुलसी ने वाल्मीकि से फिर एक प्रस्थान लिया है। राजा या बादशाह को विशेष रूप से बचाया जाता था क्योंकि उसके युद्ध भूमि में मरते ही सेनाएं तितर-बितर हो जाया करती थीं। इसलिये पहले सेना का संहार हुआ करता था उसके बाद ही राजा या बादशाह की गर्दन पर पकड़ हुआ करती थी। चतुरंग या शतरंज की पुरानी कला जिसमें राजा को कभी भी शिकार किया जा सकता था, में भी अंतिम निर्णय राजा के ही शिकार से तय होता था। राजा को बचाने के लिये किसी भी मोहरे का बलिदान किया जा सकता था। रामायण में भी युद्ध रावण की मृत्यु के बाद ही खत्म होगा।

दक्षिण दिशा को भारतीय पौराणिकी में यम की दिशा माना जाता है। इसका कोई संबंध चुम्बकीय क्षेत्र से है। इसलिये हिन्दुओं में दक्षिण की ओर पैर करके सोया नहीं जाता। तब बुरे सपने भी आते हैं और आदमी सुबह ताजा दम नहीं उठता, थकान से भरा रहता है। दक्षिण की ओर मुख वाले दरवाजे अशुभ होते हैं। ग्रीक पौराणिकी में दक्षिण हवा (नोटुस) तूफान लाने वाली है। दक्षिण मे तापीय असंतुलन (Thermal imbalance) और ऊर्जा के सुगम प्रवाह में बाधा दिखाई देती है। इसके disordered electromagnetic field patterns भी इसे 'curse of nature' के रूप में व्याख्यायित करवाते हैं। दक्षिण दिशा का स्वामी ग्रह मंगल है जो युद्ध का सूचक माना जाता है। कामिकागम, वास्तु-तत्व और वास्तु प्रबंध नामक ग्रंथ इस दिशा में शयन कक्ष का होना अनुशंसित करते हैं। जेंदावेस्ता में भी यम को ही दक्षिण का ओवर लार्ड माना गया और अहुर-मज़्दा के द्वारा दी गयी जादुई अंगूठी के जरिये दक्षिण के क्षेत्र-विस्तार में भी सक्षम बताया गया है। ब्राह्मण-ग्रंथों में हर जगह दक्षिण को यम और पितरों की दिशा बताया गया है। रामायण में यम को दक्षिण का दिग्पाल बताया गया और महाभारत में जब सावित्री का प्रसंग आता है तो यम सत्यवान के प्राण लेकर दक्षिण की ओर ही प्रस्थित होते हैं। इसीलिये दशरथ हों या रावण दोनों का स्वप्न में दक्षिण की ओर जाते हुए दिखाई देना दरअसल मृत्यु का ही पूर्व-संकेत है। और उसके बाद सत्ता-परिवर्तन का स्वप्न। लंका ने मानो विभीषण को पा लिया। 'पा लिया'- का अर्थ था कि लंका ने कभी विभीषण को खो भी दिया था। कभी विभीषण लंका के पास थे। पुलस्त्य और विश्रवा की परम्परा में। लेकिन धीरे धीरे वह परंपरा रावण के चक्रवर्तित्व की चकाचौंध में गुम हो गई। विभीषण जिस

सात्विक विचारधारा के हैं, उसी के प्रतीक स्वरूप रामायण (वा.) (के सत्ताइसवें सर्ग के 32वें श्लोक) में त्रिजटा के स्वप्न में विभीषण 'श्वेत छत्र लगाये, सफेद माला पहने, श्वेत वस्त्र धारण किये तथा श्वेत चंदन और अंगराग लगाये' दीख पड़ते हैं। यह भी ध्यान दें कि त्रिजटा को राम भी 'श्वेत पुष्पों की माला तथा श्वेत, वस्त्र धारण किए' दिखाई देते हैं तथा सीता भी 'श्वेत वस्त्र धारण किये श्वेत पर्वत के शिखर पर' बैठी दिखाई देती है। यानी सात्विकता की तरंग– दैर्ध्य मिल रही है। श्वेत रंग स्वप्न-शास्त्र के अनुसार आशा, आस्था, पावित्र्य, पूर्णता, आत्मविश्वास, जागृति एवं बोध का प्रतीक है। विभीषण के रूप में लंका में एक नई आस्था और एक नई आशा का दौर आने वाला है। पवित्रता भी और जागरण भी। अभी तो रावण राज्य की अपवित्रताएं हैं और खुमारी का वक्त है। वाल्मीकि रामायण में त्रिजटा के स्वप्न में रावण का लाल-लाल मय दिखना उसकी उद्दाम वासना (animal passion) और आक्रामकता का प्रतीक है। रावण ने लंका को एक बार-मशीन में बदल दिया है। इसमें विभीषण, विश्रवा और पुलस्त्य की प्राथमिकताएं विलुप्त हो गई हैं। हिंसा है, पापाचार है, संघर्ष है। त्रिजटा को लगता है कि जिस विभीषण को अभी हाशिये पर डाल दिया गया है, लंका उसे अंततः पुनरुपलब्ध करेगी। पूरे शहर में उसे राम की दुहाई सुन पड़ती है। राम की गूंज वहां जहां रामोल्लेख बैन था। राम की उद्घोषणा राम की मुनादी। उसे यह भी दिखाई देता है कि राम ने सीता को बुलाने (लोगों को) भेजा है। यह तभी संभव है जब रावण युद्ध में पराजित हो जाए। त्रिजटा वाल्मीकि-रामायण में (सर्ग 27, श्लोक-33-35) स्वप्न देखती है कि 'विभीषण के पास शंखध्वनि हो रही थी, नगाड़े बजाए जा रहे थे। इनके गंभीर घोष के साथ ही नृत्य और गीत भी हो रहे थे, जो विभीषण की शोभा बढ़ा रहे थे। विभीषण वहां अपने चार मंत्रियों के साथ पर्वत के समान विशालकाय मेघ के समान गंभीर शब्द करने वाले तथा चार दांतों वाले दिव्य गजराज पर आरूढ़ हो आकाश में खड़े थे,' वाल्मीकि रामायण में इसे 'लंका मनहुँ विभीषन पाई' का ही रूप माना जा सकता है। किन्तु रामायण में 'नगर फिरि रघुबीर दोहाई/ अब प्रभु सीता बोलि पठाई' का हिस्सा त्रिजटा-स्वप्न का अंग नहीं है। तुलसी की त्रिजटा थोड़ा और आगे देख लेती है। वाल्मीकि की त्रिजटा स्वप्न-विचार के साथ साथ बॉडी लैंग्वेज का पढ़ना भी करती है और शकुनों का भी। तुलसी की त्रिजटा नहीं। लेकिन उसके स्वप्न में आगे की कुछ और कहानियां हैं। वहां नगर में राम की वीरगाथाएं फैल जाती हैं। लेकिन वह राम के द्वारा लंका को कॉलोनाइज किए जाने का प्रतीक नहीं है। राम लंका को अयोध्याधीन नहीं करते। बल्कि विभीषण का राज्याभिषेक करते हैं। वह अभिषेक न केवल लक्ष्मण करते हैं बल्कि सभी राक्षस भी। वे विभीषण से किसी राशि को वार्षिकी की तरह दिए जाने को बाध्य नहीं करते। चर्चा तक नहीं करते। इसलिए दुहाई फिरना कीर्तिगाथा का प्रचलित होना है, लेकिन वह दूसरे को गुलाम बनाने की जगह अपने बंदी की मुक्ति है। सीता की स्वतंत्रता का अर्थ लंकावासियों की परतंत्रता नहीं। विभीषण के राज्याभिषेक के समय राम की शालीनता देखते ही बनती है। वे तब भी नगर प्रवेश नहीं करते। उनमें विजयोन्माद दिखाई नहीं पड़ता। त्रिजटा के स्वप्न में भी नगर में उनकी दुहाई ही फिरती है, वे नहीं फिरते। राम की सेनाएं नगर में जाकर कोई लूटपाट नहीं करतीं। जिस लंका को स्वर्ण-नगरी कहा गया था, वहां लूट पाट नहीं हुई और जो सेना वानरों की थी-जिन्हें उत्पाती, उच्छृंखल होने की छूट प्रकृति से मिली हुई है – उसने कोई असंयम नहीं दिखाया। एक हल्के तरह से कहा जा सकता है कि लंका-दहन के बाद उस नगर में लूटने के लिए बचा ही क्या था? लेकिन युद्धकांड (वा.रा.) के दसवें सर्ग में लंका का वैभव-वर्णन देखें या ग्यारहवें सर्ग में राजसभा का वर्णन देखें या चौबीसवें सर्ग में स्वयं राम के मुख से लंका की शोभा का वर्णन देखें-लगता है, जिसे लंका-दहन कहा गया है, वह कुछ विशिष्ट आतंकी आश्रय-स्थलों पर हमला मात्र रहा होगा। लंका का वैभव तो वैसा ही रहा आया। वह

लंका-दहन कोई नरसंहार नहीं था क्योंकि उसके बाद हुए राम-रावण युद्ध में (सैंतीसवां सर्ग, युद्धकांड) वाल्मीकि बताते हैं कि रावण की सेना में दस हजार हाथी, दस हजार रथ, बीस हजार घोड़े और एक करोड़ से भी ऊपर पैदल राक्षस हैं। इसी के दो तीन श्लोक बाद यह बताया गया है कि 'जब रावण ने कुबेर के साथ युद्ध किया था, उस समय साठ लाख राक्षस उसके साथ गए थे,' उसके बाद लगता है राक्षस सेना में और वृद्धि हुई। 39वें सर्ग में जब सुबेल-शिखर से जब राम लंका का निरीक्षण करते हैं तो लंका के ऐश्वर्य का वह निरीक्षण लगभग वैसा ही है जैसा हनुमान ने किया था– जबकि इस बीच लंका-दहन हनुमान द्वारा हो चुका था। इसके बीच लंका के किसी तरह के पुनर्निर्माण का वर्णन वाल्मीकि ने नहीं किया है। तब उस दहन का क्या था? क्या यह विश्वकर्मा के द्वारा रचित नगरी की कोई अद्‌भुत resilience थी जिससे लंका तुरत bounce कर गई?। श्री लंका का यह नगर असाधारण तो था। उस युग में ये दो इंजीनीयर अद्‌भुत प्रतिभा के रूप में उभरे थे। एक विश्वकर्मा जिसने लंका बनाई और दूसरे, मयासुर जिसने त्रिपुर बनाए। लंका के राजा रावण से मय ने अपनी पुत्री मंदोदरी का विवाह किया। उस नगर के स्वामी को अपनी कन्या देना उसे अच्छा लगा। लंका वह बिंदु है जहां विश्वकर्मा और मय का समाहार है। रावण इसी लंका में दुनियाभर की लूट भर लिया था। राम की सेनाएं तब भी उसे नहीं लूटतीं। जो भी हो, विभीषण के रूप में लंका ने अपना एक ऐसा नेता पा लिया था जिसने युद्धोपरान्त लंका को किसी disturbance का शिकार नहीं होने दिया। जब हनुमान ने लंका दहन किया था तब भी लंका के स्वर्ण का लोभ नहीं किया था। जब रावण मारा गया, तब राम की विजयिनी सेना ने भी कोई अमर्यादा नहीं दिखाई। शायद इसीलिए नगर भर में राम चर्चित हो गए। नादिरशाही समय में तुलसी की यह सांस्कृतिक स्मृति आदर्श और आचरण का एक दूसरा ही लोक रचती थी। महमूद गज़नी ने नागकोट, थानेसर, मथुरा, कन्नौज, कालिंजिर, सोमनाथ जैसे मंदिर नगरों को बहुत निर्ममता से लूटा था। उसकी सेनाओं ने महेशवर, ज्वालामुखी, वारूनकोट और द्वारका में भी यही दृश्य दुहराए और उसके साथ भारतीय इतिहास और संस्कृति में उस मध्यकाल की शुरुआत हुई जब 'प्लंडर-बाई-रैड' चलता था और उसके बाद वह आधुनिक काल आया जब यूरोपीय उपनिवेशवादियों ने प्लंडर-बाई-ट्रेड करना शुरू किया। राम का आचरण इससे कितना विपरीत था।

और इसीलिए राम की दुहाई आज तक फिर रही है।

तासु बचन सुनि ते सब डरीं। जनकसुता के चरननन्हि परी।।
जहँ तहँ गईं सकल तब सीता कर मन सोच।
मास दिवस बीतें मोहि मारिहि निसिचर पोच।।
त्रिजटा सन बोलीं कर जोरी। मातु विपति संगिनि तैं मोरी।।
तजौं देह करू बेगि उपाई। दुसह बिरहु अब नहिं सहि जाई।।
आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई।।
सत्य करहि मम प्रीति सयानी। सुनै को श्रवन सूल सम बानी।।
सुनत बचन पद गहि समुझाएसि। प्रभु प्रताप बल सुजसु सुनाएसि।।
निसि न अनल मिल सुनु सुकुमारी। अस कहि सो निज भवन सिधारी।।
कह सीता विधि भा प्रतिकूला। मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला।।
देखिअत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकउ तारा।।
पावकमय ससि स्त्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हत भागी।
सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करू हरू मम सोका।
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जनि करहि निदाना।।

उसके वचन सुनकर वे सब राक्षसियां डर गयीं और जानकी जी के चरणों में गिर पड़ीं। तब (इसके बाद) वे सब जहां तहां चली गयीं। सीता जी मन में सोच करने लगीं कि एक महीना बीत जाने पर नीच राक्षस रावण मुझे मारेगा। सीता जी हाथ जोड़कर त्रिजटा से बोलीं – हे माता! तू मेरी विपत्ति की संगिनी है। जल्दी कोई ऐसा उपाय कर जिससे मैं शरीर छोड़ सकूँ। विरह असह्य हो चला है। अब यह सहा नहीं जाता। काठ लाकर चिता बनाकर सजा ले। हे माता! फिर उसमें आग लगा दे। हे सयानी! तू मेरी प्रीति को सत्य कर दे। शूल के समान दु:ख देने वाली आवाजें कौन सुने इन कानों से।

सीता जी के वचन सुनकर त्रिजटा ने चरण पकड़कर उन्हें समझाया और प्रभु का प्रताप बल और सुयश सुनाया। (उसने कहा-) हे सुकुमारी! सुनो, रात्रि के समय आग नहीं मिलेगी। ऐसा कहकर वह अपने घर चली गयी। सीता जी (मन ही मन) कहने लगी– क्या करूं विधाता ही विपरीत हो गया। न आग मिलेगी, न पीड़ा मिटेगी। आकाश में अंगारे प्रकट दिखाई दे रहे हैं पर पृथ्वी पर एक भी तारा नहीं आता। चंद्रमा अग्निमय है, किंतु वह भी मानो मुझे हतभागी जानकर आग नहीं बरसाता। हे अशोकवृक्ष! मेरी विनती सुन! मेरा शोक हर ले और अपना (अशोक) नाम सच कर। तेरे नये-नये कोमल पत्ते अग्नि के समान हैं। अग्नि दे, निदान न कर।

तो त्रिजटा के स्वप्न का– जो उसने राक्षसियों को ही सुनाया था- असर राक्षसियों पर हुआ। उसकी बातें सुनकर वे डर गयीं। उनकी बेअदबी जाती रही। वे सीता के चरणों में जा पड़ीं। इतने वर्षों तक रावण की नौकरी में रहने के बाद भी रावण उनके मन को नहीं जीत सका। एक स्वप्न-वर्णन में उनकी चित्तवृत्ति बदल गई। अच्छे हैं रावण के पहरेदार। कोई एक घूंसे में बदल जाता है, कोई एक कहानी में। रावण जिस अधिनायकवादी तरह से शासन चलाता है, वह अपने सेवकों को 'फेथफुल' नहीं बनाता। अत्याचारी राजा को अपने नागरिकों और सेवकों की infidelity वैसे ही को झेलना ही पड़ता है जैसे ये सब उसके आततायी आतंक को झेलते हैं। विभीषण को तो फालतू ही दोष दिया जाता है। उसका स्टैंड तो शुरू से ही एक जैसा रहा। लेकिन इन उदाहरणों से प्रकट होता है कि रावण के प्रति disaffection कितना ज्यादा हो चुका था। ये राक्षसियां त्रिजटा की तरह 'राम चरन रति निपुन विवेका' नहीं हैं। वे तो भय की भाषा समझती हैं। रामचरन रति न होने के बाद भी वे सीता के चरणों में जा गिरती हैं। क्या वे सर्वथा अवसरवादी हैं? जिधर दम उधर हम। ये राक्षसियां भावनात्मक अस्थिरता की शिकार हैं। यह भावनात्मक अस्थिरता उनकी कमजोरी नहीं है, उनका self-interest है जो सिर्फ चढ़ते हुए सूरज को सलाम करना जानता है।

वाल्मीकि रामायण ने त्रिजटा-स्वप्नोपरांत राक्षसियों के व्यवहार-विपर्यय पर कुछ नहीं कहा। वहां व्यवहार-परिवर्तन का कोई संकेत नहीं हुआ। तुलसी ने यह डिपार्चर क्यों लिया? क्या तुलसी के समय विश्वास-भंग या निष्ठाहीनता के उदाहरण ज्यादा हो गए थे? राम-चरन-रति न हो तो फिर 'भय बिन होइ न प्रीति गुपाला,' का ही तर्क चलेगा। जीसस के साथ रहते हुए भी निष्ठाएं लोगों ने बदल लीं। यह तो फिर भी रावण है। तुलसी के समय निष्ठा-परिवर्तन के तो क्या द्रोह तक के दृष्टान्तों की भरमार हो गई थी, तो उन्होंने इसे यहां दर्शा भी दिया। राक्षसियां डर के मारे सीता के चरण-शरण होने में देर नहीं लगातीं। डर के कारण तुलसी ने लोगों को धर्म बदलते देखा था। 'डर' को मध्यकाल के आक्रामक शासकों ने राजत्व के उपकरण की तरह इस्तेमाल किया था। त्रिजटा के स्वप्न-वर्णन में भी 'हॉरर' का अंश तो है। बहरहाल राक्षसियों ने खट से पाला बदला।

और फिर वे तितर-बितर हो गईं। यहां वहां चली गईं। वाल्मीकि बताते हैं कि 'पतिदेव की विजय के संवाद से हर्ष में भरी हुई लजीली सीता उनसे बोलीं– 'यदि तुम्हारी बात ठीक हुई तो मैं अवश्य ही तुम सबकी रक्षा करूंगी' राक्षसियों को यह वायदा तुलसी ने सीता से नहीं कराया। हालांकि रावण के मारे जाने के बाद जब राम के आदेश से अंगद, विभीषण और हनुमान सीता को सादर बुलाने जाते हैं तो तुलसी लिखते हैं: 'तुरतहिं सकल गए जहँ सीता/सेवहिं सब निसिचरीं सभीता,' कि वहां सब की सब राक्षसियां नम्रतापूर्वक उनकी सेवा कर रही थीं। वाल्मीकि के यहां सीता इस अवसर पर राक्षसियों के विरुद्ध कार्यवाही का प्रश्न उपस्थित होने पर हस्तक्षेप कर उन्हें बचा लेती हैं और अपना वादा निभाती हैं। तुलसी के यहां सीता को राक्षसियों से न कोई वादा करते हुए दिखाया गया है और न विजयोपरांत ऐसा कोई अप्रिय प्रसंग उठते हुए दिखाया

गया। राक्षसियों का व्यवहार भी ऐसा लगता है कि त्रिजटा के इस प्रसंग के बाद बदल गया। तुलसी के यहां त्रिजटा अपना सपना सीता को नहीं, राक्षसियों को सुनाती है। इसलिए सीता का मनोबल-विकास नहीं होता। राक्षसियों के त्रास से उनको जो चेतनाघात हुआ है वह तो है ही। सीता उसे एक बार झेल भी लें, लेकिन रावण की नीचता तो अवसन्न कर देने वाली है। सीता के मन में उसी की चिन्ता है। अवधि बीत जाने पर यह नीच राक्षस उन्हें मार डालेगा। सीता को मरना स्वीकार है, लेकिन रावण के हाथों मरना स्वीकार नहीं हैं। मृत्यु से उन्हें भय नहीं है, अपमृत्यु से है। उनका मनस्ताप इतना है कि वे स्वयं अपने को मार डालने को प्रस्तुत हैं। त्रासदी यह है कि जिसका मनस्ताप इतना बढ़ गया है वह बाहर ताप के लिए-अग्नि के लिए-व्याकुल है ताकि अपनी चिता खुद बना सके। लगभग हिस्टीरिया जैसी स्थिति। सिर्फ इस फर्क के साथ कि सीता के साथ हिस्टीरिया का न तो वह बॉयो-लॉजिक है और न वे पारिवारिक जीवन के विकार हैं। सीता के जीवन में आग की भूमिका बहुत है। इस प्रसंग में जिस आग को वे ढूंढ़ती फिर रही हैं, बाद में यही आग उनकी परीक्षा लेने के लिए आएगी। जब मांग है, तब अग्नि नहीं है, लेकिन जब, कम से कम सीता की ओर से मांग नहीं है तो अग्नि को आहूत किया जाता है। वैयक्तिक अग्नि नहीं है, सामाजिक अग्नि है। अग्नि स्वयं में एक प्राकृतिक शक्ति हैं। पंच महाभूतों में से एक। सीता भी इस प्रसंग में प्रकृति के ही विभिन्न तत्वों से अग्नि-याचना करती हैं। 'पावकमय ससि' से उनकी 'स्त्रवत न आगी' की उनकी शिकायत हैं। 'नूतन किसलय' को भी 'अनल समाना' वे महसूस करती हैं। क्या यह सीता का प्रलाप है? या सीता का वह विवेक है जो प्रकृति के विभिन्न अंशों में एक विद्युन्मय उपस्थिति के प्रति सचेत है? एक चीज जो विज्ञान ने सिद्ध भी की है जब हम देखते हैं कि प्रकृति की जिस-तिस चीज से ऊर्जा प्राप्त कर ली जाती है। लेकिन प्रकृति की पुत्री सीता को दाहने के लिए प्रकृति क्यों मदद करे? भले ही वह मांग स्वयं सीता की हो। बहरहाल रामकथा में प्राकृतिक शक्ति के रूप में अग्नि सीता के लिए नहीं है। लेकिन सामाजिक शक्ति के रूप में अग्नि को एक साक्षी अथवा निर्णायक के रूप में बार बार बुलाया जाता है। लोक-कलंक के निवारणार्थ। सामाजिकता के दबाव की एक अलग आग होती है। विजयी के विरुद्ध ईर्ष्या की आग होती है। स्त्री के विरुद्ध अपवाद को तो आग की तरह फैलते ही जाना है। सिद्धान्त यह बना लिया गया है : 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्नि'। जहाँ धुआं होगा, वहां आग तो होगी ही। ऐसे सिद्धान्त बोलने वालों के दिल में लगी आग से उपजे धुएँ का प्रक्षेप किसी निर्दोष पर करने की ब्लैंकेट सुविधा उपलब्ध कराते हैं।

सीता त्रिजटा से किसी 'कैंप फायर' को अरेंज करने के लिए नहीं कह रहीं। त्रिजटा से अलाव जलाने के लिए नहीं, चिता बनाने के लिए कहा जा रहा है। सीता के अवसाद की सीमा नहीं है। राजपुत्री जनकसुता सीता के साथ इस तरह का बर्ताव पहले कभी नहीं हुआ था। उसके साथ इस तल्खी और तेवर से किसी ने बात नहीं की थी। रावण का दुष्ट व्यवहार सीता के लिए एक सांस्कृतिक शॉक है। वह सिर्फ वाचा की किसी डिग्री का फर्क नहीं है। सीता पूर्णतः गतसंज्ञ नहीं हुई हैं, लेकिन अपने आपे में भी पूरी पूरी नहीं रह गई हैं। इसलिए अपना लक्ष्मी-स्वरूप उन्हें वैसे ही विस्मृत हो गया है, जैसे स्वर्ण-मृग प्रसंग से लौटने के बाद सीता को पर्णकुटी में न पाने पर राम को अपना विष्णु-स्वरूप विस्मृत हो गया। अब सीता की व्यथा पूर्णतः मानवीय है। अग्नि दरअसल एक मानवीय उपक्रम है। प्रकृति में संन्निहित रहने के बाद यह सिर्फ मनुष्य की कोशिश से ही मूर्त और सगुण रूप प्राप्त करती है। सारे प्राणियों में मनुष्य ही है जो आग प्रज्ज्वलित करता है। प्रमथ्यू देवताओं के यहां से अग्नि चुराकर लाया था। अग्निदेव सीता के लिए प्रकट होते हैं। लेकिन इस मौके पर न त्रिजटा और न प्रकृति कोई अग्नि लाते हैं। त्रिजटा एक बूढ़ी राक्षसी है। सीता उन्हें मां कहकर सम्बोधित करती है। उसने बहुत दुनिया देखी है। इसलिए सीता की

घबड़ाहट वह जानती है। उसने तो एक प्रिकाग्निटिव स्वप्न देखा है और उसके कारण वह आश्वस्त है। अतः सीता की उद्विग्नता जानकर भी वह उसके समक्ष इसलिए सहमति और तत्परता में सक्रिय नहीं होती। वह यह कहकर बात खत्म कर देती है कि रात्रि के समय आग नहीं मिलती। सीता की मनोवेदना वह समझती है। लेकिन उस पर कर्तात्मक और निदेशात्मक तरीके से बात कर बात को बढ़ाने की जगह वह एक तथ्य को सामने कर देती है कि रात में अब यहां कहां आग मिलेगी।

'मास दिवस मोहि कहा न माना'– यह कहकर रावण सीता से बात पूरी करके अपने महल लौट गया। राक्षसियों के त्रास के इन्टरल्यूड के बाद सीता की सोच में सबसे पहले वे ही शब्द प्रतिगुंजित होते हैं : 'मास दिवस बीते मोहि।' सीता के दिमाग में वही धमकी गूंज रही है। रावण की धमकी को वे हल्के में नही ले रहीं। राक्षस है, सेक्सुअल फ्रस्ट्रेशन में कुछ भी कर सकता है। सीता की चिन्ता यही है। वार्निंग पीरियड में तिल तिलकर मरने से बेहतर है कि अभी ही फैसला कर लें। उसके हाथों क्यों? उससे बेहतर तो अपने हाथों? सीता आत्म-हत्या को प्रस्तुत हो जाती हैं।

मुमूर्षा के क्षण। डेथ-विश। थानाटोस। सीता के भीतर सहसा एक भावोन्माद (delirium) सा पैदा हो गया है। रावण उनका अपघात करे, इस आशंका से उनके भीतर मरणैषणा इतनी प्रबल हो गई है कि वे आत्मघात कर लेना चाहती हैं। तुलसी के दौर में जानबख्शी की याचनाएं ज्यादा चलती थीं। उसके मुक़ाबिल तुलसी सीता नाम इस चरित्र को लाए जो अपने ही प्राणघात की तैयारी करती है किंतु रावण के सामने झुकती नहीं। यह भी देखें कि त्रिजटा और सीता का यह संवाद न तो वाल्मीकि रामायण में है और न ही अध्यात्म रामायण में। अलबत्ता प्रसन्नराघव में इसका किंचित् वर्णन है। सीता की यह आग्नेय इच्छा भी वाल्मीकि रामायण में नहीं है और न ही प्रकृति के तत्वों विटप, गगन, ससि, नूतन किसलय-से कोई बात। वाल्मीकि रामायण में सुंदरकांड के 28वें सर्ग में विलाप करती हुई सीता का प्राण त्याग के लिए उद्यत होना दिखाया गया है। लेकिन वहां यह प्रसंग अग्न्याधान की किसी कोशिश का नहीं है। ध्यान दें कि वाल्मीकि के यहां सीता कहती हैं कि 'मैं शीघ्र ही किसी तीखे शस्त्र अथवा विश से अपने प्राण त्याग दूँगी, परन्तु इस राक्षस के यहां मुझे कोई विष या शस्त्र देने वाला भी नहीं है, और "फिर शोक से संतप्त हुई सीता ने इसी प्रकार बहुत कुछ विचार करके अपनी चोटी को पकड़कर निश्चय किया कि मैं शीध्र ही इस चोटी से फांसी लगाकर यमलोक को पहुंच जाऊंगी। वे उस अशोक वृक्ष के निकट उसकी शाखा पकड़कर खड़ी हो गयीं। इस प्रकार प्राण-त्याग के लिए वे उद्यत हो गईं। तुलसी ने पेड़ की शाखा से फांसी लगाने या तीखे शस्त्र या विष से आत्महत्या के सीता के इरादे का उल्लेख नहीं किया है, वे तो सिर्फ चिता की और आग की बात करते हैं। क्यों? हम देख चुके हैं कि तुलसी जब जब भी इस तरह के डिपार्चर करते हैं, तब तब वे प्रायः कुछ युगीन सत्यों के समावेश के लिए ही करते हैं। इसलिए तुलसी जरूर कुछ समसामयिक कह रहे हैं। क्या तुलसी अपने समय के सामूहिक जौहरों के सामने यह एक व्यक्तिगत जौहर रख रहे थे? जब तुगलकों ने कांपिली राज्य (रायचूर दोआब) के विरुद्ध युद्ध में आनेगोंडी दुर्ग को घेरा था तब जौहर किया गया था। राणा सांगा की पुत्री के नेतृत्व में सिलहदी की महिलाओं ने जौहर किया था। चित्तौड़ के किले के भीतर 1303, 1535 और 1568 ई. में जौहर हुए। तुलसी के समय के आसपास। जैसलमेर में अलाउद्दीन खिलजी के दौर में सन् 1294 ई. में हुआ और फिर फीरोज शाह तुगलक के समय हुआ। भाटी राजपूतों की राजधानियों भाटनैर, तानोत और जैसलमेर में बार बार जौहर हुए। राजस्थानी शब्दकोश में जौहर का अर्थ रत्न भी है और विशेषता, खूबी या गुन भी। इसका अर्थ पराजय निश्चित जान की गई सामूहिक आत्मदाह क्रिया भी है और चिता भी है। चित्तौड़ में आज तक जौहर मेला होता है। संस्कार-रक्षा के लिए स्व-समिंधन का यह विकल्प

मध्यकाम की असमर्पिताओं ने चुना क्योंकि मृत्यु के किसी अन्य प्रकार से आक्रामकों की विजयी सेना उसके शरीर को गड़वाती या क्या करती, कौन जाने। चीनी बौद्धों में auto-cremation की अवधारणा भी कुछ ऐसी ही अग्निचयात्मक थी। जेम्स ए. बेन ने 'बर्निंग फॉर द बुद्धाः' सेल्फ-इमोलेशन इन चाइनीज़ बुद्धिज़्म में भिक्षुणियों के द्वारा अकेले आत्मदाह के छः प्रकरणों की चर्चा की है। जैसे सीता की शिकायत रह गई कि 'अवनि न आवत एकउ तारा,' वैसे हुइशाओ के आत्म-दाह के समय नहीं रही जिसके प्रत्यक्षदर्शियों ने उसकी चिता के धुएँ में एक सितारे का आसमान से सीधे उतरना और फिर आकाश में उसका अचानक चढ़ना देखा। उसे 'अमिताभ' की पवित्र भूमि से आया दूत माना गया था। सीता अशोक वृक्ष से अग्नि की उम्मीद कर रही थीं और हुइशाहो ने आत्मदाह से पूर्व अपने शिष्यों से कहा कि A firmiana tree will grow in the spot where I burn my body. तीन दिन बाद वहां वही पौधा पनपा। एक अन्य प्रसंग में सेंग्यू के आत्मदाह के 14 दिन बाद यही पौधा उसी धरती पर पनपा जहां उसने अपना आत्म-प्रज्ज्वलन किया था।

तुलसी के समकालीन यूरोप में विचक्राफ्ट के आरोप में औरतों को जिन्दा जलाया जाता था। उन्हें क्या? 30 मई 1431 को जोन आफ आर्क को, 1553 में सर्वेटस को, 1600 में ब्रूनों को, 1556 में क्रेमर को जलाकर मार डालने का ही काम हुआ था। दक्षिण वियतनाम में राष्ट्रपति Ngo Bin Diem के रोमन कैथलिक प्रशासन के द्वारा किए गए विभेदाचारी और दमनात्मक व्यवहारों के विरोध में बौद्ध मुनियों ने भी वैसे ही आत्म-दाह किए। अब तो आत्म-दाह पॉलिटिकल प्रोटेस्ट का एक वैध और लोकप्रिय उपकरण बन गया है। शोधकर्ताओं ने न्यूयार्क टाइम्स और लंदन टाइम्स में 1963 से 1971 के बीच आत्म-दाह के 100 प्रकरण छपे देखे। अभी हाल में ट्यूनीशिया के राष्ट्रपति के विरुद्ध मोहम्मद बोआज़ीज़ी ने आत्मदाह क्या किया, पूरे देश में राष्ट्रपति बेन अली का विरोध शुरू हो गया। फिर उसी की तर्ज पर 16 जनवरी 2011 को अल्जीरिया में मोशेन बौटेफिफ ने और मौरिटेनिया में याकूब दाहौद में अपने देशों की सत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध के रूप में स्वयं को जला डाला। 17 जनवरी को इजिप्शियन संसद के सामने एक व्यक्ति ने खुद को आग लगाकर हुस्नी मुबारक के कुशासन के विरुद्ध लोकप्रिय विरोध को हवा दे दी। क्या ऐसा कुछ उस युग में होता था? सीता वैयक्तिक जौहर भले ही कर रही हों, लेकिन वे भी एक पॉलिटिकल प्रोटेस्ट तो कर ही रही थीं।

सीता जिस तरह से प्रकृति के अनेक तत्वों से अग्नि की याचना करती हैं, लगता है वे उनमें मौजूद थर्मल इनर्जी से परिचित हैं। वे इनकी ऊष्णिमा से ही नहीं बल्कि इनके भीतर मौजूद जीवन से भी परिचित हैं। बैक्स्टर और बसु के बहुत पहले, तुलसी की सीता अशोक के विटप से बातें करती हैं। कवि और पागल दोनों की आंख 'फाइन फ्रैंजी' में जीवन के कुछ उच्चतर सत्य देख लेती है। सीता इसी परिष्कृत उन्माद में हैं। यह एक क्षण जब अभेद की स्थापना होती है। आधुनिक विज्ञान यह मानता है कि सभी पदार्थों में, जिसमें जीवित पदार्थ भी शामिल हैं, ऊष्मा का अनवरत प्रवाह है। सीता की त्रासदी यह है कि वृक्ष से लेकर चन्द्रमा तक में जीवन देखने वाली उनकी दृष्टि अब इन्हीं सब से अपनी मृत्यु को संभव करवाने की फिराक में अटकी हुई है। राम जब 'हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी/तुम देखी सीता मृगनैनी' पूछ रहे थे तो वे फिर भी 'चर' और 'जंगम' से बात कर रहे थे। सीता तो एक कदम और आगे बढ़कर 'अचर' और 'स्थावर' से मुखातिब हैं। दोनों ही व्यक्ति ऐसे मौकों पर शॉक में हैं। इसीलिए उनका यह व्यवहार 'दार्शनिक' नहीं है, सहज है। दुःख में जैसे वे सम्पूर्ण ब्रह्मांड को साक्षी बना लेते हैं। लायल वाट्सन ने एक जोरदार पुस्तक लिखी है : 'द नेचर ऑफ थिंग्स : द सीक्रेट लाइफ ऑफ इनएनीमेट आब्जेक्ट्स। वाट्सन स्मृति क्षेत्रों (memory fields) की सूक्ष्म शक्तियों (subtle forces) की पड़ताल करते हैं। वे कहते हैं कि Matter has the capacity to

absorb emotional fingerprints, the mental fossils that channel echoes from the past. सीता भी संसृति से सम्प्रेषणात्मक रिश्ते रखती हैं। वैसे भी दुःख के क्षण हम इस अधिलोक से, इस जगती से कहीं ज्यादा गहरे जुड़ते हैं। 'हिस्टीरिया' के विशेषज्ञ 'criss-crossing continua' की बात करते हैं। एक तरह के नैरन्तर्य की। क्या यह वही है?

हिस्टीरिया की मनोविश्लेषणवादी व्याख्याओं को उनमें सेक्सुअल कंटेंट्स के दमन से ज्यादा कुछ नहीं दिखाई देता। सीता को जब इसी प्रसंग में वे 'दुसह बिरहु अब नहिं सहि जाई' कहते हुए देखेंगे तो वे एक बार और जोर से इसे कहेंगे। वे तो आग मांगती हुई सीता को उनकी frigid goodness की प्रतिक्रिया भी बता देंगे। लेकिन हिस्टीरिया सीता के यहां कुछ उस तरह से नहीं है कि जिसमें शरीर को थियेटर बना दिया जाता है। कुछ लोगों ने हिस्टीरिया को specifically feminine protolanguage बताया (मेरी कली) और कुछ ने इसे 'पेट्रिआर्की' के विरुद्ध स्त्री के विद्रोह के लिए एक सुविधाजनक युक्ति बताया। वेदवती के अगले जन्म की अग्नि-शिखा के रूप में सीता जनमी हैं और शायद अपने भीतर की उसी अग्नि को वे दुनियाभर में खोज रही हैं।

फ्रेंच चिकित्सक ऑगस्टे फेबर ने 1883 में लिखाः As a general rule, all women are hysterical and......every woman carries with her the seeds of hysteria. Hysteria before being an illness, is a temperament and what constitutes the temprament of a women is rudimentary hysteria. तो क्या सीता यहां किसी hysterical seizure में इसलिए हैं कि वे स्त्री हैं? स्पष्टतः नहीं।

इस समय सीता में वाकई डेथ-ड्राइव प्रबल हो गई है और इसी कारण वे आत्म-नाशी कार्यों में लग गई हैं। सिग्मंड फ्रायड ने 1920 में जब 'बियांड द प्लेजर प्रिंसिपल' पुस्तक लिखी तो उसमें 'डेथ इंस्टिंक्ट' (मृत्युमूलक प्रवृत्ति) की चर्चा की थी। त्रिजटा सीता में अभी इसी प्रवृत्ति का प्राधान्य देख रही है। फ्रायड के विश्लेषण में यह मुमूर्षा यों वर्णित हैः a queer instinct, indeed, directed to the destruction of its own organic home. सीता भी अपना जैविक गृह-अपनी देह-चिता को समर्पित कर देना चाहती हैं। इतालवी मनोविश्लेषणवादी एडोआर्डो वीस ने इस मरणैषणा को destrudo का नाम दिया था। फ्रायड के शिष्य पॉल फेडर्न ने इसे mortido कहा। उसने इस वृत्ति को हठी (obstinate) कहा था। सो सीता में त्रिजटा को वह हठ दिखाई दे भी रही है। यह प्रवृत्ति कंपल्सिव कही गई तो सीता में वह भी प्रत्यक्ष है। पहले तो त्रिजटा से बार-बार निहोरे और फिर पूरी प्रकृति में किसी से भी। इस मनोविश्लेषणवादी मुमूर्षा की बात न भी करें तो भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सीता एक 'Traumatic neurosis' को तो झेल ही रही हैं। रावण और राक्षसियों के द्वारा सीता पर डाले गए दबावों का यह परिणाम तो होना ही था। सीता के ठहर गए जीवन में इसी मुमूर्षा के चलते किंचित उत्तेजना आ पाती है।

सीता की त्रिजटा के साथ अच्छी सुहृदयता स्थापित हो गई है। दोनों के बीच एक 'बांड' विकसित हो गया है। अशोकवन में त्रिजटा की एक सांत्वनादायी मातृसंस्थानीय उपस्थिति है। इस कोमलांगी से त्रिजटा पूरी कोमलता से बोलती है। इसलिए सीता न केवल उसके हाथ जोड़ती हैं बल्कि उसे माता, विपत्ति-संगिनी और सयानी कहती हैं। इसका अर्थ है कि त्रिजटा-सीता के बीच एक पारस्परिकता तो है। जब सीता का धैर्य चुक रहा है तो त्रिजटा धैर्य की वैसी ही मूर्ति बनी हुई है जैसे कोई मां अपने अधीर बच्चे के सामने बनी रहती है। सीता हाथ कृतज्ञता में कम जोड़ रही हैं, इस आशा में ज्यादा कि त्रिजटा उनकी बात मान जाएगी। कोई मां अपनी बच्ची की हर जिद पूरी नहीं करती। सीता अपनी ओर से बहुत गुहार करती हैं। त्रिजटा दुख की साथी है, इसलिए सीता की जरूरत को भी जानती है और यह भी जानती है कि जरूरत के पूरा करने में सीता की क्षति है

और राम की भी, न कि उस जरूरत के अतृप्त रह जाने में। यों त्रिजटा राक्षसी है, फिर भी सीता उसे मां की पदवी और संगिनी का सम्मान देती हैं। शायद त्रिजटा इसीलिए इस प्रतिष्ठा की पात्र है क्योंकि जब वह सीता का विषाद जानती है तब यह भी जानती है कि सीता का स्वभाव नहीं है यह अवसाद, न उनकी आदत। दुःखों के गहरे अंधेरों के बीच सीता का अग्नि मांगना उनके अवचेतन के द्वारा दिशा मांगना हो सकता है जिसे सीता स्वयं समझ नहीं पा रही हैं। इसलिए एक सुकुमारी के सामने त्रिजटा अपना जी कड़ा कर लेती है।

क्या यह सीता के रावण के प्रति क्रोध का अवदमन था जो बार बार 'अनल' की मांग के रूप में मुखर हो रहा है? रावण ने अभद्रता और अशिष्टता की वे हदें पार तो की हैं जो सीता को भारी गुस्सा दिलाती हैं। थोड़ा बहुत तो रावण के सामने ही उन्होंने निकाल दिया लेकिन मंदोदरी के बीच बचाव के कारण, हो सकता है कि, बहुत-सा मन में रह गया हो। क्रोध का आग से रिश्ता संसार की अनेक भाषिक परंपराओं में पाया जाता है। अंग्रेजी में ही देखें : Inflammatory remarks, breathing fire, adding fuel to the fire जैसे प्रयोग इसी को सिद्ध करते हैं। Boy, am I burned up या After the argument, he was smoldering fire for days या She was doing a slow burn, या Smoke was pouring out of his ears. जैसे वाक्य भी क्रोध और अग्नि का एक रिश्ता बताते हैं। तो सीता का अवदमित क्रोध अब 'अग्नि' के इस आब्सेशन में बदल गया हो, कौन जाने? लेकिन अवदमन रावण के प्रति क्रोध का है या राम के प्रति प्यार का? क्योंकि आग का मेटाफर प्यार के लिए अंग्रेजी से लेकर जापानी भाषा संस्कृति में पाया जाता है। भारतीय भाषाओं में तो है ही। प्यार की चिंगारी फूटने से लेकर प्यार में जलने तक यही मेटाफर काम करता है। जो हो, अवदमन का कोई न कोई मनोविज्ञान यहां सक्रिय जरूर है। एक तरफ यह सोच है कि 'मारिहि निसिचर पोच' और दूसरी तरफ 'दुसह विरह अब नहि सहि जाई'। क्रोध और प्रेम की दो विरोधी ज्वालाओं का सहवर्ती होना।

लेकिन त्रिजटा को हाथ जोड़ना, उसे माता कहना, उसे विपदा की साथी कहना यह बताता है कि सीता की वैचारिकी में इतना बिखराव (incoherence) भी नहीं है कि सन्निपात के रूप में हम उनके इस प्रसंग की व्याख्या करें। संदेह नहीं कि सीता विचलित हैं, संदेह नहीं कि सीता मानसिक दबाव में हैं, संदेह नहीं कि एक हद तक उनकी चेतना पर बादल घिर भी आए हैं- जिसे clouding of consciousness कहते हैं, लेकिन त्रिजटा के साथ उनके व्यवहार की शिष्टता यह भी बताती है कि सीता किसी confusional insanity की शिकार बिल्कुल नहीं हैं। वे त्रिजटा से बस यह उपाय करने का जरूर कहती हैं कि देह त्याग किया जा सके। चूंकि रावण का सारा अत्याचार इस देह के ही कारण है जिस पर कामान्ध होकर वह लुब्ध हुआ पड़ा है तो सीता इस देह का ही त्याग कर देना चाहती हैं शीघ्र। और त्रिजटा को शीघ्र उपाय करने का निर्देश भी देना चाहती हैं। रावण जिस देह के पीछे पागल हुआ जा रहा है, सीता के लिए वह एक त्याज्य वस्तु है। जीवन का अर्थ जो देह में खोजता है, वह अध्यात्म के उच्चतर स्तर से अपरिचित ही ठहरा है। आत्महत्या जिंदगी में अर्थ का खो जाना है। अध्यात्म जिंदगी में अर्थ की खोज है जो सीता के लिए राम में पूरी हुई। रावण की देहान्धता की ही बात नहीं है, राम के बिना सीता की रिक्तता, उनके जीवन में पैदा हो गए शून्य के कारण भी उन्हें जीने का कोई प्रयोजन सिद्ध होते नहीं लगता।

इसलिए वे काष्ठ की- लकड़ी की- चिता बनाने के लिए त्रिजटा से कहती हैं। अन्त्येष्टि के लिए। अंतिम संस्कार के लिए। राक्षसों के आतंक से बचने के लिए उस अग्नि की शरण जिसे शतपथ ब्राह्मण में 'अग्निर्हि देवानां मुखम्' कहा गया है। उस अग्नि की शरण जो ऋग्वेद के प्रथम मंत्र के प्रथम शब्द में वर्णित है : अग्निम ईवे पुरोहितं यज्ञस्यं देवम् ऋत्विजम्/- Agni I laud, the high priest, god, minister of sacrifice. ऋग्वेद में सबसे लोकप्रिय देवता अग्नि ही

है। ऋग्वेद का लगभग हर मंडल अग्नि-स्तुति से आरंभ होता है। उपनिषदों ने आत्मा को अग्नि के ही रूप में देखा-एक अर्चिका (flame)। दाह-संस्कार आत्मा का परमात्मा में मिल जाना माना जाता है। महाभारत में सभा पर्व (31/48) में अग्नि की स्तुति करते हुए कहा गया : "धूमकेतुः शिखी च त्वं पापहानिलसंभवः/सर्वप्राणिशु नित्यस्थः सत्येन विपुनीहि माम्" कि हे अग्निदेव! धूम आपका ध्वज है। आप शिखा (ज्वाला) को धारण करने वाले हैं। वायु से आपका उद्भव हुआ है, आप सब पापों के नाशक हैं। आप सब प्राणियों में नित्य स्थित हैं। अपने सत्य के प्रभाव से मुझे पवित्र कीजिए।" सीता-नित्यशुद्ध सीता– भी अग्नि के माध्यम से पवित्र होना चाहती हैं। (उनकी) आत्मा इस माध्यम से परमात्मा से उसी तरह मिल जाना चाहती हैं जैसे सीता राम से मिल जाना चाहती हैं। यह उनका अग्निपथ है, यह उनका अग्निहोत्र है, यह उनका अग्निचय है।

अन्त्येष्टि के रूप में शरीर का इस संसार से विदा अग्नि का काष्ठ से मिलना है- हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी। जबकि सीता की यह कोशिश अग्नि और मृत्यु का काष्ठ की साक्षी में मिलना है। एक जमाने में दाह-संस्कार न केवल भारतीय धर्मो में बल्कि रोमनों में भी प्रचलित था। होमर की इलियड के नायकों एचिलिस और पेट्रोक्लुस का दाह-संस्कार ही हुआ था। ओडेसी के एल्पेनोर का भी। पौसिन की पुस्तक Ashes of phocion तो दाह-संस्कार की पीठिका पर ही आधारित थी। 789 ई. में सम्राट शार्लमेन ने दाह-संस्कार करना कराना आपराधिक बना दिया गया। दरअसल 5वीं सदी में यूरोप में ईसाइयत के प्रसार के बाद दाह-संस्कार छोड़ा जाने लगा था क्योंकि शरीर के पुनरुज्जीवन (resurrection of the body) का सिद्धांत जड़ पकड़ने लगा था। भारत में शरीर को आत्मा का चोला मात्र समझा जाता था। सीता के लिए भी शरीर एक कषाय मात्र है। यह वे "तजौं" शब्द से स्पष्ट भी करती हैं। पश्चिमी देशों में लेकिन इन दिनों दाह-संस्कार की लोकप्रियता बढ़ने लगी है। डगलस जेम्स डेवीस एवं ल्यूइस मेट्स अपनी पुस्तक 'एनसाइक्लापीडिया ऑफ क्रिमेशन' में सूचित करते हैं कि सन् 1999 में डेनमार्क ने अपने 78% और स्वीडन ने अपने 68% मृतकों की अन्त्येष्टि की। हालांकि फ्रांस में अभी 16% और स्पेन में 13% अन्त्येष्टि होती हैं किंतु इटली में मात्र 3% अंतिम संस्कार ही दाह-संस्कार ही होते हैं। यह लोकप्रियता दहन की वैज्ञानिकता से बढ़ी होगी, लेकिन सीता का निश्चय उनकी सांस्कारिकता से निकला है। इससे भी निकला है कि अग्नि उनकी मृत्यु को hasten करेगी। सीता स्वयं से भी नाराज हैं। और वे अग्नि की दंडात्मक (punishing) और शुद्धिकारक (purfying) शक्ति का अपने ही विरुद्ध इस्तेमाल करना चाहती हैं। दूसरी और चौथी शती में ग्रेगरी ऑफ न्यासा ने जिस तरह से अग्नि को– खासकर अर्चिका (flame) को-एक ऐसी ज्योति के रूप में लिया था कि जिसके रूप में मानव हृदय में दिव्य प्रेम का उतरना-अवतरित होना और पापिष्ठ पार्थिव गुरूत्वाकर्षण से मुक्त हृदय के भीतर ऊपर उठती हुई लौ दोनों दिखाई देते थे, सीता के साथ भी अग्नि का यह रचनात्मक सम्बन्ध है। 'छविगृहँ दीपसिखा जनु बरई'। अनल सीता की दुनिया को जाज्वल्यमान भी कर देगा। कम से कम उनकी आशा तो यही है। भले ही अभी उस आशा के अवदमन ने सीता के भीतर यह विचित्र स्थिति पैदा कर दी है कि वे अपने शरीर को राख बनाने के लिए अग्नि मांग रही हैं। वे नहीं पूछतीं– हालांकि जानती हैं– 'क्यों सजाई है ये चंदन की चिता मेरे लिए/मैं कोई जिस्म नहीं हूँ कि जलाओगे मुझे/राख के साथ बिखर जाऊंगा मैं दुनिया में/तुम जहां खाओगे ठोकर वहीं पाओगे मुझे।' सीता अपने लिए चंदन नहीं किसी भी किस्म की लकड़ी मांग रही हैं और वे अपनी देहातीत आत्मा को जानती भी हैं। रावण के टार्चर से पीड़ित होकर खुद को टार्च कर लेने की निस्पृहता उनके भीतर भी है। सीता आग लगाने का अनुरोध भी 'माता' का सम्बोधन देकर त्रिजटा से करती हैं।

माता स्नेह की मूर्ति होती हैं। मां पोषण करती है।

लेकिन यहां सीता मां कहकर भी त्रिजटा से इस कुकर्म के किए जाने की अपेक्षा करती है। कि त्रिजटा कर्तव्य की खातिर जी कड़ा कर लेगी। जैसे पन्ना धाय ने कर लिया था। त्रिजटा बूढ़ी हो चुकी है और स्वभाव में मृदुल है। इसलिए सीता यदि अभी अपनी यातनाग्रस्त आत्मा और शरीर से क्लान्त होकर मौत की मांग अपनी मां से कर रही हैं– त्रिजटा से, तो रूडयार्ड किपलिंग की वह पंक्ति भी कुछ ऐसी ही थी : If I was damned of body and soul/I know whose prayers would make me whole/Mother O' mine, O' mother O' mine. त्रिजटा को सीता ने यदि मां बनाया है तो त्रिजटा अपनी बच्ची की जिद के आगे झुकती नहीं है। कुछ मामलों में बच्चों की बात की साशय उपेक्षा ही बेहतर होती है। त्रिजटा सीता के साथ उनकी जिद पर बहस नहीं करती। वह सीता को उनकी इच्छा की भयावह परिणतियां भी नहीं बताती। वह नहीं कहती कि तुम्हारा यह निर्णय राम पर क्या शास्ति आरोपित करेगा? वह नहीं कहती कि उनकी अभी की अधीरता दुष्ट-दलन की पति-प्रतिज्ञा के लिए कितनी मारक सिद्ध होगी। वह नहीं कहती कि सीता का यह निर्णय और यह चयन गलत है। सीता जब भावना के उफान पर हैं तो उनसे बौद्धिक बहस नहीं करना ही बेहतर है। बच्चा जब जिद पकड़े तो उसकी जिद से मत उलझो। उसे डाइवर्ट करो– यह अनुभवी और सयाने लोगों की सीख है, तो त्रिजटा वही करती है। सीता के पैर पकड़ कर उन्हें समझाती है और चूंकि 'राम चरन रति निपुन बिबेका' है तो 'प्रभु प्रताप बल सुजसु' सुनाती है। वह जानती है कि सीता को इस मनःस्थिति से उबारने में राम की स्मृति ही सबसे कारगर मंत्र है। इस युक्ति का इस्तेमाल निराला ने भी राम की शक्ति पूजा में किया है जब इसी प्रकार से श्रांत-क्लान्त हो चुके राम के सामने सीता की स्मृति उभारकर उन्हें ताजादम होते हुए बताया है। आखिरकार ये पति पत्नी ही एक दूसरे के सबसे बड़े बल हैं। रावण की सत्ता से क्लान्त सीता के सामने राम के प्रताप का पर्सपेक्टिव रखना सीता को एक आशा देना है। रावण के पाशविक बल के सामने राम के बल की दिव्यता याद कराना सीता की घुटन के लिए एक आकाश खोलना है। रावण की बदनामी तो दुनियाभर में है, उसके सामने राम के सुयश का बखान करना इसलिए जरूरी है कि आत्महत्या का विचार ही हम तब करते हैं जब हमें दुनिया के दूसरे सारे दरवाजे बंद नज़र आते हैं। द प्रिंसेस ब्राइड का एक कथन है: 'वुड यू कंसीडर मी एज एन आल्टरनेटिव टु स्युसाइड'? सीता के सामने त्रिजटा भी आत्महत्या के विरोध में राम के विकल्प का पुनर्स्मरण कराती है। राम जो सबके सहाय हैं, राम जो सबके प्राणाधार हैं। आत्महत्या असहायता है, यह जीवन से 'फेथ' का खो जाना है। यह 'हेल्प' चिल्लाना है निर्जन में। आत्महत्या का विचार इस बात से पनपता है कि उस संपूर्ण असहायता के दौर में, लगता है कि कम से कम यह तो 'किया जा सकता है'। आत्महत्या निष्क्रियता नहीं है, क्रिया है। यह उस अनियंत्रण की स्थिति में एक 'नियंत्रण' है। स्वयं पर। यों तो हम सारे समय अपने शरीर को भूले रहते हैं-लेकिन आत्महत्या के क्षण यही शरीर एक बोझ बन जाता है। हम इस खोल से बाहर निकल आना चाहते हैं। हम इस केंचुल को छोड़ देना चाहते हैं जो इस दुनिया को हमारे परिचय की तरह काम आती है। यही आइडेंटिटी कार्ड जो एक कैदखाना है। आत्महत्या उस जिंदगी के लिए जो अपनी लय खो चुकी है, एक तरह का विलय (dissolution) है। साल्यूशन नहीं मिल रहा तो जैसे डिसोल्यूशन ही सबसे ज्यादा वरेण्य है।

सीता जैसे प्रकृति के हर अंग को अग्निमय देख रही हैं, क्या वे किसी भावी अग्निकांड का संकेत दे रही हैं? याद करें, ठीक उलटी तर्ज पर दूसरी शती का लिखा पीटर का एपोकैलिप्स Flood of fire shall be let loose........ and the waters shall be changed and turned into coals of fire, and all that is in them shall burn, and the sea shall become fire..... The spirits also of the dead bodies shall...... become fire at the

commandment of God. तो सीता के साथ कुछ उलटा है। उन्हें अग्नि दिखाई तो सब जगह दे रही है लेकिन कोई वह अग्नि उन्हें दे नहीं रहा। फिर भी लंका में कुछ प्रलय (apocalypse) जैसा होने के आसार बन रहे हैं। बड़े शहर ऐसे ही बड़ी आग में घिरते रहते हैं। याद करें सानफ्रांसिस्को की 1906 की आग जब 25,000 भवन गिर गए, 500 लोग मारे गए। 1910-16 के बीच फिलाडेल्फिया, न्यूयार्क एवं न्यूजर्सी में भी भारी आग लगी थी। लंदन की आग भी ऐसे ही थी। अटलांटा और शिकागो भी जले। जिस तरह से यावाह ने सोडोम और गोमराह जैसे नगर आग से नष्ट किए थे, हनुमान ने लंका को दाह दिया। सवाल यह है कि अशोकवाटिका में मुमूर्षा से ग्रस्त सीता को आग, आग करते देखकर क्या हनुमान को लंका में आग लगा देने का मन हुआ। "मैं लगा दूं आग उस संसार में/है प्यार जिसमें इस कदर असमर्थ कातर।" और हनुमान ने आग लगा भी दी।

सीता को लगता है कि रावण (और राक्षसियों) की शूल के समान वाणी को सहने से बेहतर है कि मर जाया जाए। उसी से उनकी प्रीति सच हो सकेगी। रावण लगातार दुर्वचन बोलता हुआ दिखाया गया है और यदि वह अपने हिसाब से मधुर बोलने की कोशिश भी करता है तो भी वह सीता के संस्कारों से एकदम विपरीत होने के कारण उन्हें तो गाली जैसा ही लगता है। उसका indecent proposal सीता के लिए कंटक है। उसका horny होना thorny होना है। भगवान बुद्ध ने उस वाणी के चार प्रकार किए थे जो दूसरों और स्वयं को नुकसान पहुंचाती है : एक कटु, दूसरी विभाजनकारी, तीसरी झूठी और चौथी क्षुद्र। रावण चारों ही तरह की वाणी बोलता है। बुद्ध का मानना था कि कटुवाणी जागृति (awareness) के न होने से होती है। रावण भी कामावेश में सीता से कुछ तो भी बोलता रहा है। जो लोग रावण को बौद्ध बताने पर तुले हुए हैं वे देखें कि रावण की वाणी मज्झिम निकाय में बताए बुद्ध के वाणी-विवेचन में से किस श्रेणी की वाणी है। वाणी कोई छोटा-सा पहलू नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है (1/3/2/16) कि 'वाचो वा इदं सर्व प्रभवति' कि वाणी से ही यह सब उत्पन्न होता है। रावण के मामले में हम कहेंगे कि वाणी से ही इस सब का नाश होता है। अथर्ववेद (1/34/2) के ऋषि की प्रार्थना थी कि 'जिह्वायाः अग्रे मधु में जिह्वा मूले मधूलकम्' कि मेरी जीभ के अग्रभाग में मधुरता रहे। मेरी जीभ के मूल भाग में मधुरता रहे। रावण की जीभ के अग्रभाग में भी कंटक है और मूल में भी। सामवेद का ऋषि कहता था कि 'हे देवो! मैं तुम्हारे द्वारा न सुनने योग्य वचन न बोलूं'– मा को वचांसि परिचक्ष्याणि वोचम् (610)। लेकिन रावण को दिव्यता की क्या परवाह? उससे तो उसकी ध्रुवीय प्रतिद्वन्दिता है। हमारी संस्कृति यह थी कि-यथास्य वाचा पर उद्विजेत न तां बदेद् रूशही पापलोक्याम् (महाभारत, अनुशासन पर्व, 104/31) कि जिसके कहने से दूसरों को उद्वेग होता हो वह रुखाई से भरी हुई बात पापियों के लोक में ले जाने वाली होती हैं। अतः वैसी बात कभी न बोलें। रावण तो सीता को कितना उद्वेग पहुंचा रहा है, यह तो इसी से स्पष्ट है कि सीता उसे सुनने की जगह मरने को तैयार है। लगता है, रावण को कभी कबीर जैसा कोई बंदा नहीं मिला–'ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोय। अपना तन शीतल करै औरन को सुख होई।' रावण के खुद के बदन में तो खैर आग लगी हुई है।, लेकिन उसकी वाणी की कटुता ऐसी है कि सीता खुद अपने को आग से खत्म कर लेने को सन्नद्ध हो जाती है। तेलुगु के एनुगु लक्ष्मण कवि का कहना था– भूशलु गावु पुरुषुनि भूशितु जेयु पवित्रवाणिवा। कि जिसकी वाणी पवित्र होती है, वही पुरुष भूशित करता है। रावण की वाणी अपवित्र है और उसे अनलंकृत करती है, यों भले ही वह 'बहु किएँ बनावा' करके आया है। सीता रावण की दुर्विष्ट और दारूण वाणी का विकल्प मृत्यु को समझती हैं। रावण की वाणी तो शल्य की तरह चुभती है। एक फांस की तरह। वह मन और शरीर दोनों की व्याधि है, विकार है, क्लेश है। जैसे कोई बरछा, कोई नेजा, कोई

भाला शरीर को विदीर्ण करता है, वैसे यह सीता के मन को बेध जाती है। लगातार सीता को उसकी टीस उठ रही है। राक्षसियां कोई कम नहीं हैं। उन्हें तो सीता को संत्रास देने का काम ही सौंपा गया है। वे तो अंतर्वेधक बातें करेंगी ही। सीता का सीना चाक हो गया है। इतने उपतप्त हो जाने पर उन्हें अग्नि भी एक शीतल शरण ही मालूम होगी। राक्षसियां सीता के प्रतपन कार्य में नियोजित की गई हैं। रावण सीता को अपने कटु वचनों से दग्ध करके गया ही है। ऐसे में सीता को मरूत्सखा की ही गोद चाहिए। इससे बेहतर होगी वह। मारूति यह सब देख रहे हैं।

सीता चाहती हैं कि राम के प्रेम में उनके प्राण छूट जाएं: 'बंदउँ अवध भुवाल सत्य प्रेम जेहि रामपद/ बिछुरत दीनदयाल प्रिय तन तृन इस परि हरेउ। (1/16) और 'तनु परिहरेउ प्रेम पन पानी' राम के बिना जीना भी कोई जीना है, लल्लू। गीतावली में तुलसीदास ने कहलाया है: ऐसे सुत के बिरह अवधि लौं जौ राखौं यह प्रान/तो मिटि जाइ प्रीति की परमिति अजस सुनौं निज कान/तुलसीदास तनु तजि रघुपतिहित कियो प्रेम पखान (2/59)। तुलसीदास अन्यत्र भी यह कह चुके हैं। 'धिग जीवन रघुवीर विहीना'। लगता है जायसी की तरह तुलसी भी 'यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाउ!/मकु तेहि मारग होइ परौं कंत धरै जहँ पाउ// सीता की परिस्थिति कबीर की "विरह अगिन तन में तपै" जैसी है या रैदास की "बिरह उठत तनि आगि" जैसी। तो सीता उस अग्नि को ही बेहतर समझेंगी। सूरदास ने सही कहा : 'अनल तैं बिरह, अगिनि अति ताती' इसलिए सीता अग्नि ही मांगे ले रही हैं। जयशंकर प्रसाद (आंसू, पृ. 30) याद आते हैं : 'हीरे सा हृदय हमारा/कुचला शिरीश कोमल ने/हिमशीतल प्रणय अनल बन अब लगा विरह से जलने,।' सूर्यकांत त्रिपाठी निराला भी (परिमल, पृ. 63) कहते हैं : 'तप वियोग की चिर ज्वाला से/कितना उज्ज्वल हुआ हृदय यह।' महादेवी वर्मा भी जिनकी जिनकी दीपशिखा की 'ज्वाला में उर-फूल पला है,।' इसलिए गालिब (दीवान) ने भी कहा था: 'आग इस घर में लगी ऐसी कि जो था जल गया,' और फारसी के प्रसिद्ध कवि हाफिज भी अपने दीवान में यही कहते हैं : हृदय की अग्नि से मेरा सीना प्रिय के वियोग में जल गया है। इस घर की अग्नि ने सारे घर को जलाकर भस्म कर दिया : सीनामम ज़े अतशे दिल दर गये जावाना वसोख्त/आतिशी बूद दरी खाना कि क्राशाना वसोख्त। राजस्थानी लोकगीत 'विहर अगन भाटी जले' में विरहाग्नि की भट्ठी जल रही बताई गई है। तो सीता सिर्फ क्रोध के कारण ही नहीं, प्रेम के कारण भी अपने आपको भस्म कर लेना चाहती है। रावण के प्रति उन्हें बेइंतहा नफरत है। वे 'सुने को श्रवन शूल सम बानी' की स्थिति में भी हैं। राम के प्रति उनका प्यार भी असीम है वे 'दुसह बिरहु अब नहिं सहि जाइ' की स्थिति में भी हैं। नफरत के शोले भी भड़क रहे हैं और प्यार की आतिश भी जल रही हैं। और यह भी कि अग्नि की साक्षी में ही उन्होंने राम को प्राप्त किया था। और यह भी कि वेदों में वर वधू को अग्नि से ही प्राप्त करता है। इससे भी एक कदम आगे बढ़कर देखें तो स्वयं उनके प्रिय राम भी अग्नि के आशीर्वाद से ही जन्मे थे : 'भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें/प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें/ तब अदृश्य भए पावक सकल सभहि समुझाइ/परमानन्द मगन नृप हरष न हृदय समाइ।।' सीता की अग्नि-खोज यों राम की खोज भी है। लेकिन फिलहाल उसकी अभिव्यक्ति एक इन्वर्शन के साथ ही हो रही है।

त्रिजटा उनके पैर पकड़ लेती है। सीता के हाथ जोड़ने से वह भाव विह्वल तो हो ही जाती है। इसलिए सीता की बातें सुनकर उसको उनके पैर पकड़ने से ज्यादा कुछ करते नहीं बनता। वह अपनी तरफ से एक ठंडी, तथ्यात्मक-सी बात रखके-कि रात में अग्नि नहीं मिलती– अपने घर की राह लेती है। राक्षसियां जहाँ तहँ जाती हैं किन्तु त्रिजटा 'निज भवन' सिधारती है, राक्षसियां इधर उधर हो जाती हैं, लेकिन त्रिजटा में कोई दिशाहीनता नहीं है। तुलसी ने त्रिजटा की विशेषता को कायम रखा है। आगे वहां बैठे रहने से त्रिजटा को सीता की मनोदशा में सुधार के अवसर नहीं मिलते दिखाई दे रहे थे। कभी

कभी दुख में व्यक्ति को अकेला छोड़ देना ही अच्छा होता है बल्कि अक्सर दुखी व्यक्ति की ही पुकार होती है 'लीव मी अलोन,' मुझे अकेला छोड़ दो। सीता के ऐसा कहे बगैर त्रिजटा उन्हे अकेला छोड़ देती है, ताकि वे एकांति की उपचारात्मक शक्तियों का प्रयोग कर सकें। एंटोनिया पोर्चिया (Voces, 1943) ने कहा था : When the superficial wearies me, it wearies me so much that I need an abyss in order to rest. इस स्पेनिश लेखक की तरह त्रिजटा भी सीता को अपनी समझ से एकांति की खाई में विश्रान्ति का मौका देती है। मार्या मैन्स ने एकांति के इस 'zone of time and space, free from outside pressures को "incubator of the spirit" कहा था। अन्दर के कुछ उत्स्रोत हैं जो कभी सूखते नहीं हैं। सीता को त्रिजटा रात्रि के आकाश के नीचे अकेला छोड़ देती है ताकि सीता की विचलित आत्मा ब्रह्मांड की अनंतता (infinity) से सीधे संवाद कर सके, इस खगोल का प्रतिबिम्ब सीता के हृदय-स्रोत के जल पर झलक सके। तब सीता गगन से भी बात करेंगी, शशि से भी, विटप से भी, नूतन किसलियों से भी। उनसे भी बात उसी अग्नि की करेंगी जो वे त्रिजटा से मांग रही हैं। उस मांग का उत्तर भी उतना ही निष्फल होगा जितना त्रिजटा का था। लेकिन संवाद की यह प्रक्रिया ही अपने आप में महत्वपूर्ण है। ब्रह्मांड के भीतर संवाद की ये तरंगें फैलना। इस अग जग के सामने याचक के भाव में खड़े होना। रावण को कभी प्रकृति से, कभी सृष्टि से इस तरह बात करते हुए कभी देखा नहीं गया। सीता जैसे इस नक्षत्राकाश को साक्षी बना लेती हैं। मरूत्पथ से मरूत्सखा से मारूतिः यह कथा-यात्रा फलित होने को है।

लेकिन त्रिजटा के जाने पर सीता को जो पहला अहसास अकेले होते ही धर दबोचता है वह है उनके भाग्य के प्रतिकूल हो जाने का। उन्हें न तो अग्नि मिल रही है, न उनका क्लेश कम हो रहा है। सीता इस क्लेश का दोष अब रावण को भी नहीं बल्कि भाग्य को ही दे रही हैं जो उनके विपरीत हो गया है। दरअसल यह प्रतिकूल भाग्य क्या है, यह तो epistemic luck है। यानी वह स्थिति जब किसी को विधि के, भाग्य के विशेष चक्र के चलते ज्ञान भी मिलता है। विधि जहां संयोग है, वहां सार्थ भी है। सीता को यह विधि प्रतिकूल लग रही है तो वे अब 'पैनिक' भी कर रही हैं। अभी तक तो उन्होंने धैर्य भी रखा। लेकिन रावण के दुर्व्यवहार के कारण वे काफी shaken, काफी अपसेट, काफी rattled हो गई हैं। अब नहीं सहा जाता। अब नहीं जिया जाता। लेकिन सीता की हताशा उन्हें मन के किन्ही डार्क चैंबर्स में नहीं कैद करती बल्कि वह उन्हें गगन के सामने खुला कर देती है। विधि जिन विष्णु के नाभिकमल पर संस्थित है, उन विष्णु की पत्नी लक्ष्मी की अवतार सीता तक को लगता है कि विधि प्रतिकूल हो गई है। अवसाद के यही अंतर्विरोध हैं। इसका शिकार एक वैज्ञानिक सोचता है कि वह मूर्ख है। इसका शिकार एक लोकप्रिय अभिनेता अपने 'कुरूप होने के कारण' प्लास्टिक सर्जरी कराना चाहता है। अवसाद में अपनी ही बहुत सी व्यर्थताएं याद नहीं आती हैं बल्कि पूरी दुनिया की व्यर्थताएं प्रत्यक्ष होने लगती हैं। किस काम का है ये आसमां और किस काम के हैं ये तारे? ये अशोकवृक्ष? ये नवकिसलय? उन्हें लगता है जैसे उनका भाग्य उन्हें गुस्से में भरकर देख रहा है? जैसे विधि स्वयं में एक दिव्य अस्तित्व हो जो सीता का बिल्कुल भी अनुमोदन नहीं कर रही हो! सीता जैसे दुनिया के इस विराट विज़न में अकेली छूट गई हों? विधि ने सीता की इच्छा का जैसे पक्षाघात कर दिया हो। क्रेपलिन ने इसे a creature disinheited of fate कहा था। विधि ने जिसे अपनी विरासत से वंचित कर दिया हो। एक तरफ राम के वियोग का दुख, दूसरे रावण की शूल-समवाणी। एक तरफ राक्षसियों के द्वारा दिए गए त्रास, दूसरी तरफ सीता के आत्महत्यापन (Suicidality) की भी तृप्ति न हो पाना। यह चारों ओर से जैसे भाग्य का प्रत्याघात है। सीता के अवसाद में चिन्ता (anxiety) है मारिहि निसिचर पोच' की। लेकिन उसके साथ राम के न होने का, न मिलने का विषाद (melancholy) भी है। सीता के

हौसलों पर जैसे अंधेरों का हमला है। सूने पड़े हैं अशोकवाटिका के मध्यपथ। दिल जलता है, चिता नहीं। सीता को टूटे हुए तारों का खयाल आता है और यह खयाल भी कि कोई तारा आज टूटकर धरती पर गिर ही नहीं रहा। दुआ न मांग सकें तो आग ही मांग लें। भीग जाती हैं सीता की आंखें। राम नहीं हैं और हत्यारों का हुजूम उनकी ओर बढ़ता आ रहा है। उन आततायियों की वे खूंखार आंखें सीता की भीगी आंखों में धंस जाती हैं कटार की तरह। सीता को आकाश जलता हुआ लगता है। अंगारे उगलता हुआ। तारे अपनी धुरी पर स्थिर और अचल हैं। गगन के धधकते अंतस से क्या क्या चीजें सामने आ रही हैं। सीता के सामने तारे चमकते हैं। लेकिन उन्हें देखकर सीता की आंखें नहीं चमकतीं। तारों की टिमटिम बहुत दूर है। पृथ्वी तक कोई भी आता नहीं प्रतीत होता। गोपालसिंह नेपाली की कविता याद आ जाती है। मेरी दुलहन सी रातों को नौ लाख सितारों ने लूटा। एक प्राचीन गगन सीता के सामने अंगारे की शक्ल में प्रत्यक्ष होता है। कांट 'starry heavens above me and the moral law within me' की बात करते थे। सीता के हृदय में वहीं धर्म, वही मॉरल लॉ है और उनके ऊपर वही तारों भरा आसमान है। Llewelyn Powys का कहना था कि No sight is more provocative of awe than is the night sky. सीता रात के उसी आसमान को देख भी रही हैं और उसके नीचे नितान्त अकेली बैठी हैं। तारों की टिमटिम जो ऐसे लगती है कि मानो किसी विशाल ब्रह्मांड-पुरुष का दिल धड़क रहा हो, को देखती हुई सीता का दिल भी तेजी से धड़क रहा है। आकाश ही कुछ ऐसा है। कहीं कोई इन्द्रधनुष नहीं। बस जैसे रावण के मुख से अंगारे झर रहे थे, वैसे ही आसमान भी अंगारे उगल रहा है। निराला के शब्दों में "है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार/खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन-चार/उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार/ चमकती दूर ताराएं ज्यों हो कहीं पार।" जैसे निराला की कृति में राम के सामने यह घड़ी आई थी, वैसी ही तुलसी के यहां सीता के सामने आई है। 'असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार-हार।'

बी.बी.सी. की पत्रकार रेबेका टिंसली ने 'व्हेन द स्टार्स फाल टु अर्थ' नामक एक उपन्यास लिखा है, जिसमें सूडानी मिलिशिया से होने वाली निश्चित मौत से भाग रहे 5 युवा लोग हैं। जारा जो आतंक के कारण स्तब्ध हो चुकी है और ऐसे ही 4 और खौफज़दा लोग। हिंसा और नरसंहार की राजनीति। 'जब तारे जमीन पर गिरते हैं' के दृश्य भी उतने ही खौफनाक हैं, जितने अभी सीता के सामने कुछ देर पहले घटे दृश्य और उसके बाद की यह स्थिति जब तारे जमीन पर नहीं आ रहे। बाइबल में तारों के जमीन पर गिरने का एक वाक्य है जो उन्हें उसी तरह से निरुपयोगी बताता है, जैसे अभी सीता के सामने ये तारे जो अवनी तक नहीं आ रहे। रिवीलेशन 6:13 में कहा गया : And the stars in the sky fell to eartrh, as late figs drop from a fig tree when shaken by a strong wind. जैसे किसी तेज हवा के चलने पर शाखों से पत्तियां झड़ जाएं, वैसे आसमान से तारे वहां गिर पड़े हैं। यहां तारे नहीं भी गिरे हैं तो भी हालत वही है। वे भी सीता के लिए उसी तरह ineffectual हैं। जैसे वह सामूहिक प्रलय है वैसे यह व्यक्तिगत। जब 'टूटते तारे' जिन्हें उल्का (meteoroid) कहा जाता है, पृथ्वी पर आते हैं तो उनका क्या उपयोग है। जयशंकर प्रसाद ने प्रलय-वर्णन में लिखा है : 'उल्का लेकर अमर शक्तियां खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।' सीता को अवनी तक आता हुआ कोई तारा नहीं दिखा तो क्या उन्हें लगता होगा कि अब अमर शक्तियां-देवता-भी उन्हें नहीं खोज रहे। यानी दैव पूरी तरह से उनके उलटा चल रहा हैं। स्किडी नाम एक जनजाति का विश्वास है कि सितारों में परमात्मा की प्रज्ञा होती है। क्या सीता उसी प्रज्ञा की ओर आशा भरी नज़रों से देख रही हैं? स्किडी जनजाति के विश्वासों में तो यह भी है कि तारे दिग्पाल हैं–दिशाओं के रक्षक। क्या बुरी तरह से त्रास दिखाई गई सीता तारों की ओर से रक्षा की आशा से देख रही हैं?

और चन्द्रमा की ओर भी। वह वक्त भी वैसा ही रहा होगा जैसा सुमित्रानंदन पंत ने चित्रित किया है : शशि-किरणों से उतर-तरह कर, भू पर कामरूप नभ-चर, चूम नवल कलियों का मृदु-मुख, सिखा रहे थे मुसकाना।" या माखनलाल चतुर्वेदी का वह चित्रण साक्षात हुआ होगा : निशि ने शरमा के पहला शशि-मुख चूमा/तब शशि का अस्तित्ववान रथ घूमा/गलबहियां दे जब निशि-शशि छाये छाये/जब लाख-लाख तारे निज पर शरमाये" लाख लाख तारों में से एक के भी पृथ्वी पर न आने की शिकायत करने वाली सीता को इस चन्द्रमा से भी शिकायत है। ऐसे शशि-दृश्य सीता के दिल में आंच तो पैदा करते ही होंगे। एक ठंडी आग। नरेन्द्र शर्मा की कविता याद आती है: "वह तुम्हारा देश, शशि, वह है न क्या रवि का मुकुर ही? शशि-सदृश आतुर, मुकुर जब का न क्या कवि सुलभ उर भी? सुलगता शीतल अनल से, शून्य के शशि-सा विधुर भी!" शायद इन्हीं परिस्थितियों में बिहारी की नायिका ने भी आपत्ति की थी : "मैं ही बौरी विरह बस, कै बौरो सब गांव/कहा जानि ये कहत हैं, ससिहिं सीतकर नांव।" यानि कि मैं ही पागल हूं या सारा गांव पागल है। ये कैसे कहते हैं कि चन्द्रमा का नाम शीतकर है। तो वह चन्द्रमा भी आग का स्त्राव नहीं कर रहा है। सीता का आरोप यह है कि चन्द्रमा ऐसा इसलिए कर रहा है क्योंकि वह मुझे हतभागी समझता है।

क्या इसी तरह भाग्यहीनता की सोच, चन्द्रमा के संदर्भ में, सीता की ही तरह धर्मवीर भारती की राधा की नहीं थी? "और अक्सर जब मैंने/चन्द्रलोक के विराट, अपरिचित, झुलसे/पहाड़ों की गहरी, दुर्लंध्य घाटियों में/अज्ञात दिशाओं से उड़कर आने वाले/धूम्रपुंजों को टकराते और/अग्निवर्णी करकापात से वज्र की चट्टानों को/घायल फूल की तरह बिखरते देखा है/तो मुझे भय क्यों लगा है/और मैं लौट क्यों आयी हूँ मेरे बन्धु! क्या चन्द्रमा मेरे ही माथे का सौभाग्य बिंदु नहीं है?" सीता के लिए तो वह उन्हें दुर्भाग्यशाली समझने वाला है। उदयन बाजपेयी की एक कविता पंक्ति यह थी कि 'अपनी ही आभा की झील में/डूब रहा है/चाकू-सा पैना चन्द्रमा'। सीता जिस मनःस्थिति में है वहां चंद्रमा भी जलाता है, मर्मभेदी घाव करता है और जो नहीं करता वह यह कि सीता के लिए पावक ही देदे। लेकिन सीता किस पावक की मांग कर रही हैं? सुमित्रानंदन पंत की एक कविता यही थी : गा कोकिल, बरसा पावक-कण!/नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन/ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बन्धन/ पावक-पग धर आवे नूतन/हो पल्लवित नवल मानवपन। दिनकर कहते थे: जब ह्दय-ह्दय पावक से भर जायेगा।/भारत का पूरा पाप उतर जाएगा। तो सीता का पावक पवित्र करने वाला है। वह जीर्ण पुरातन और पाप के कल्मष से मुक्ति दिलाने वाला है।

नरेंद्र शर्मा के एक गीत में व्यक्त भावों की तरह सीता भी सोच रही हैं : 'लो मेरा दुर्भाग्य! और क्या दूंगा मैं शाश्वत हतभागी?/बदले में वरदान मांगता देखो तो यह मन अनुरागी।" सीता को जैसे पंचक लगे हैं। न त्रिजटा उन्हें आग दे पा रही है। न आसमान, न तारा, न शशि और न अशोक वृक्ष के नूतन किसलय। इन पांचों से उन्हें कुछ नहीं मिल पा रहा। ऐसा उन्हें लगता है कि कुछ jinxed सा है। Forces of Fate - भाग्य की शक्तियां उनके पक्ष में कार्य नहीं कर पा रही हैं। सियारामशरण गुप्त ने बहुत पहले 'अभागा फूल' नामक कविता लिखी थी–अभागे फूल, मुरझाने लगा तू/सताया काल से जाने लगा तू।' सीता भी स्वयं को वैसा ही अभागा पुष्प समझ रही है। माखनलाल चतुर्वेदी के शब्दों में 'अभागा मैं वीणा का तार/विवश मैं वीणा का तार/टूक-टूक स्वर ही क्या कम था जो उस को बेड़ी पहना दी?/क्या बन्दी स्वर के चढ़ने को बन्धन की सीढ़ियां बना दीं? मधुरिमा पर यह अत्याचार।" सीता भी वीणा की ऐसी ही तंत्री हैं और उनकी मधुरिमा पर अत्याचार तो हो ही रहे हैं। राम छूट गए हैं। त्रिजटा भी चली गई हैं। विपरीत हवाओं से अकेली लड़ती नाव की तरह हैं सीता। एक विराट आसमान में जैसे आग भर गई है और सीता उसके नीचे खुले में अकेली खड़ीं हैं।

सीता अशोक वृक्ष से भी बात करती हैं। सिर्फ

एक भावनात्मक सम्बन्ध ही नहीं, बल्कि इतने दिनों के साहचर्य से इस वृक्ष के प्रति उनके मन में जो एक विशेष आत्मीयता पनपी है–उसके भी विश्वास-से। जगदीशचन्द्र बोस के प्रयोगों से बहुत पहले भारतीयों में यह विश्वास चला आया है कि पेड़ों में भी आत्मा है, वे भी संवेदित होते हैं। फिर सीता जो स्वयं विश्व की आत्मा हैं, उनकी अशोक वृक्ष से आत्मीयता क्यों न होगी? क्लीव बैक्स्टर ने 1966 में अपने एक 'अचानक' प्रयोग में पाया कि जब उसने एक पौधे की पत्तियों को जलाने की सोची, तो पौधे ने पोलीग्राफ पर बहुत तीव्र प्रतिक्रिया दी। इसी प्रकार पौधे ने उस समय भी उग्र प्रतिक्रिया दी जब उसके सामने एक जल-जन्तु को खौलते पानी में डाल दिया गया। तब सीता जो रावण के त्रास के बीच उद्विग्न बैठी हैं, उनके दर्द से अशोक वृक्ष अप्रभावित कैसे रह जाएगा? प्लांट टेलीपैथी आजकल वैज्ञानिक उत्सुकता का विषय है। अभी 2010 में हुए एक पोलिश अध्ययन में यह सिद्ध किया गया है कि पौधे जिस तरह से इलेक्ट्रोकेमिकल सिग्नल्स भेजते हैं वह जानवरों की नर्वस सिस्टम के सादृश्य में है। पौधों के पास स्मृति की एक physiology है। पौलेंड के वारसा विश्वविद्यालय के स्टानिस्ला कार्पिंस्की ने ये प्रयोग किए हैं। विलियम जॉन लुकास, जो यूसी डेविस में प्लांट बायोलॉजी के प्रसिद्ध प्रोफेसर रहे हैं, का मानना है कि हालांकि पौधों में न्यूरॉन नहीं होते, लेकिन उनके पास संप्रेषण तंत्र अवश्य है। सीता ने उन्हें 'सुनने' को कहा तो अशोक वृक्ष ने सुन भी लिया। पौधे जड़ (Sessile) होते हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि उनमें प्रज्ञा नहीं होती। स्टेनहाउस (1974) से लेकर सिल्वनटाउन एवं गार्डन (1989) तक ने पौधों के 'व्यवहार' में प्रज्ञा का अनुसंधान किया है। पौधों में त्रिआयामी पर्यावरणीय परिप्रेक्ष्य विकसित करने की क्षमता बिना प्रज्ञा के संभव ही नहीं है। अपनी उत्तरजीविता [Survival] के मौके बढ़ाने के लिए उनमें भी एक तरह का खोजी व्यवहार (exploratory behaviour) देखने में आता है। यहां तो अशोक वृक्ष को स्वयं की नहीं, सीता की उत्तरजीविता (Survival) की चिन्ता करनी है। इसलिए सीता की अशोक वृक्ष से की गई करूण पुकार अरण्यरूदन नहीं है। वह व्यर्थ नहीं की गई है। वह बौरा जाने का नतीजा नहीं है बल्कि दुःख की ऐक्यकारी शक्ति का प्रतीक है। सीता का दुःख उन्हें दुनिया से पराया नहीं करता बल्कि दुनिया से उनके संवाद-तंत्र को पुष्ट कर देता है। राल्फ वाल्डो इमर्सन ने उचित ही कहा था कि Sorrow destroys all difference of intellect. सीता तो वैसे ही एकात्म थीं, लेकिन इस दुःख में तो और भी हो गई हैं। राम और सीता दोनों ही जब दुःख से गुजरते हैं तो प्रकृति को, इस जगती को अपना दिल मुख्तसर खोल के बताते हैं। पेड़ों को सीता सुनाई पड़ती हैं और सीता को पेड़ सुन पड़ते हैं। जॉन म्यूर के शब्दो में : A few minutes ago, every tree was excited, bowing to roaring storm, waving, swirling, tossing their branches in glorious enthusiasm like worship. But through to the outer ear these trees are not silent. Their songs never cease. Every hidden cell is throbbing with music and life. इसलिए सीता आकाश से - चन्द्रमा से-विटप से- सबसे बात कर रही हैं। मांग उनकी सभी से एक है। अनल की। उनके हृदय की वास्तविक इच्छा के इन्वर्शन से भले ही यह मांग दूसरे रूप में व्यक्त हो रही हो, लेकिन उनके मन की असल प्यास को यह प्रकृति पहचानती है। वह इन्वर्शन को उपेक्षित कर देती है। वह विटप इस ट्रान्सपोज़ल का संज्ञान ही नहीं लेता जो सीता के मन और उनकी प्रकट मांग के बीच हो गया है। प्रकृति/पादप के लिए तो असल बात तो सीता के मन की पुकार है और, जैसा कि हम अभी जल्द ही आगे देखेंगे, उस पुकार का प्रत्युत्तर भी उसी वास्तविक असल प्यास के अनुसार मिलता है जब यही अशोक वृक्ष अंगार की तरह मुद्रिका सीता के सामने टपका देता है– जनु असोक अंगार दीन्हि। प्रकृति में कुछ अनुत्तरित नहीं रह जाता। और 'विटप अशोका' से तो असंवेद्यता की उम्मीद की ही नहीं जा सकती। विटप को तो तुलसी

संत की कोटि में रखते हैं। संत विटप सरिता गिरि धरनि/परहित हेतु सबन्ह कै करनी। कामान्धों की स्वार्थी राक्षसी दुनिया में यह अशोक का विटप ही है जो परहित की बात सोचता है। सीता को छाया दे रहा है। उस वक्त जबकि सीता को सारी दुनिया अग्निमय हो गई है। क्लिंटन स्कोलार्ड की कविता-पंक्तियां याद आती हैं : To heal mine aching moods/Give me God's virigin woods. सीता का मूड़ भी दुखता हुआ है और वे भी अशोक वृक्ष से ही यह कह रही हैं कि वह अपने नाम को सच करे और उनके शोक का निवारण करे। अशोक वृक्ष के तने पर पैर रखकर या उसकी शाखाओं को हाथ से छूते हुए खड़ी अलंकृत यक्षिणी बौद्ध एवं हिंदू मंदिरों में अक्सर दिखाई दी है। लुंबिनी के एक बगीचे में अशोक वृक्ष के नीचे ही शाक्य रानी माया ने बुद्ध को जन्म दिया था। क्या इस अशोक से ही सीता के लिए किसी बोधि का जन्म होगा? क्या यह अशोक-वृक्ष सीता के लिए कोई बोधि-वृक्ष साबित होगा? भारतीय शिल्प में अशोक के नीचे खड़ी यक्षी बार-बार अंकित की जाती रही है। वैशाली में अशोक वृक्ष के नीचे ही महावीर ने विश्व का त्याग करने का व्रत लिया था। सीता के लिए भी क्या यही अशोक वृक्ष दुनिया को छोड़ देने के किसी संकल्प का साक्षी होगा जैसे वह महावीर के विश्व त्याग के व्रत का साक्षी था? कामदेव के पांच बाणों में से एक अशोक के पुष्पों का है। क्या यह अशोक वृक्ष सीता पर भी किसी बाण की तरह आकर लगेगा? भारतीय पंचांग के अनुसार पहले माह चैत्र में अशोक वृक्ष की पूजा होती है। क्या सीता को यह वृक्ष कुछ ऐसा देगा कि वे इसकी पूजा-सी करने लगें? सम्राट अशोक ने इसी अशोक के ही वृक्ष अपने साम्राज्य की सड़कों के इर्द गिर्द लगवाए थे। क्या यह वृक्ष स्वयं में सीता के लिए एक तरह का पथ सिद्ध होगा कि जहां से सीता को आश्वास की नई राहें मिलेंगी। अभी तो सीता इसी की छांह में "शिथिल, अस्तव्यस्त और अनमनी-सी" पड़ी रहती हैं। एक संस्कृत श्लोक है कि 'नालिड.गितः कुरबकस्तिलको न दृष्टो/नो ताडितश्च चरणैः सुदृशामशोकः/सिक्तो वक्त्रमधुना बकुलश्च चैत्रे/चित्रं तथापि भवति प्रसवावकीर्णः' कि चैत्र में इस समय किसी सुंदरी ने कुरबक का आलिंगन नहीं किया, न किसी ने तिलक पर दृष्टिपात किया और न किसी ने अशोक को अपने पैरों से ताड़ित किया-तब यह कितना विचित्र है कि ये सब पेड़ खिल रहे हैं। (राजशेखर)। काव्य-रूढ़ि है कि अशोक तब खिलता है जब किसी वनिता द्वारा उसे पैरों से आघात किया जाए। मालविकाग्निमित्र में अशोक वृक्ष के पीछे छिपकर खड़ा नायक मालविका के कोमल और खूबसूरत पैरों को देखकर यही सोचता है कि उनसे अशोक पर पदाघात कैसे किया जा सकेगा? इसे सीता पदाघात नहीं करेंगी, लेकिन सीता का एक एक शब्द अशोक जैसे वृक्ष के लिए मर्माघात है। कनुप्रिया का "पहला गीत" धर्मवीर भारती ने अशोक-वृक्ष के लिए प्रचलित इसी काव्य-रूढ़ि पर ही लिखा था : "ओ पथ के किनारे खड़े छायादार पावन अशोक वृक्ष/तुम यह क्यों कहते हो कि तुम मेरे चरणों के स्पर्श की प्रतीक्षा में/जन्मों से पुष्पहीन खड़े थे तुम को क्या मालूम कि मैं कितनी बार केवल तुम्हारे लिए धूल में मिली हूं।" सीता के साथ अशोक वृक्ष का रिश्ता तो धर्मवीर भारती की राधा से भी पुराना है सीता के लिए। पद-स्पर्श या पदाघात वे कैसे करेंगी? उस वृक्ष के लिए जो सीता के आसपास मौजूद चर-जीवों, कहें कि निशिचर-जीवों, से अधिक सहानुभूतिशील है। उस अशोक के लिए जिन वृक्ष को संस्कृत और हिंदी ही नहीं, तमिल और मलयालम में भी इसी नाम से जाना जाता है। मालविकाग्निमित्र में सुवर्णाशोक का वर्णन है, रामायण में नीलाशोक काशार्गन्धार ने वृक्षायुर्वेद में रक्ताशोक का उल्लेख किया है। अभी कुछ देर में इसी अशोक से सीता के मनस्ताप का उपचार होगा। दक्षिण पश्चिमी भारत में अशोक वृक्ष की काष्ठ को हवन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। सीता का जीवन एक तरह का यज्ञ है ही और यह अशोक वृक्ष उसी यज्ञ में योग दे रहा है। अशोक की पत्तियों के वंदनवार बनते हैं। वंदनवार स्वागत के लिए होता है और अशोक का आशय भी सीता के नैराश्य की निशा

के बाद आने वाले शुभ पल का स्वागत करना है।

उसी अशोक की 'नूतन किसलय' भी– नई खिली ताजा कोंपल भी–सीता के लिए अग्नि के समान है। ये वही किसलय हैं जो अपनी गहन निराशा के क्षण 'राम की शक्ति पूजा' में निराला के राम को याद आते हैं– "कांपते हुए किसलय-झरते पराग-समुदय।" सीता से मिलने के प्रथम क्षण की स्मृति में मौजूद ये ही किसलय यहां सीता को दीख रहे हैं उन बहुत-सी स्मृतियों के साथ जो इतनी मधुर थीं, राम के साहचर्य की यादें। जब वे खुद अपने हाथों से सीता के लिए वेणी बनाते थे, अब विरह में वही सब बातें अग्नि की तरह लग रही है। अयोध्याकांड में (गीतावली) तुलसी ने भी किसलय की याद की थी। विटप-बेलि नव किसलय, कुसुमित सघन सुजाति/कन्दमूल, जलथलसह अगनित अनबन भाँति। गीतावली के ही उत्तरकांड में अवध नगर की चर्चा में तुलसी ने ही कहा था : वन उपवन नव किसलय कुसुमित नाना रंग/बोलत मधुर मुखर खग पिकवर गुंजत भृंग,।' वही नूतन किसलय अब भी हैं लेकिन अब वे आग हैं, और यह आग अभी सीता को वैसी भी नहीं जैसी सुमित्रानंदन पंत की कविता में 'कलि-कलि किसलय में जल उठती, सुन्दरता की स्वर्णीय-ज्वाल।'

वाल्ट व्हिटमैन की 'सांग ऑफ माइसेल्फ' कविता की एक पंक्ति है कि The smallest sprout shows there is really no death/And if ever there was it led forward life. सीता उसी छोटे से किसलय से मृत्यु-कामना कर रही हैं जो जीवन का प्रतीक है, जो इस बात का प्रतीक है कि मृत्यु कहीं नहीं है, जो इस बात का प्रतीक है कि मृत्यु कहीं है भी तो वह जीवन की ओर ही ले चलती है। ऐसे कि जैसे फिर कोई नई शुरुआत हो रही हो। सीता के जीवन में कोई नई शुरुआत तो वैसे भी होने ही जा रही है। मृत्यु की कगार पर जैसे जिन्दगी का नया आरंभ। डोरोथी एंडरसन की कविता 'स्प्रिंग' इसी कोपल और जिंदगी की नई शुरूआत को कैप्चर करती है : Like a newborn babe/out from the earth come tiny sprouts/the innocent infancy/of Spring's bounty. सीता के आंसुओं से उनके मन की धरती गीली हो गई है और अब उसमें जिन्दगी का एक नवीकरण होगा ही। लेकिन फिलवक्त तो सीता को नई सुबह दिख ही नहीं रही। जयशंकर प्रसाद की सुबह तो किसलय से ही पता चलती थी- किसलय का अंचल डोल रहा।' उनकी विभावरी बीत गई थी और वे जागरण-गीत गा रहे थे। सीता की कठिन रात्रि लम्बी थी। सीता रामकुमार वर्मा की 'तरू के छोटे-से है किसलय' की तरह कह सकती थीं:-"जग कितना भीषण है इसमें/घृणा, वेदना, भीषण भय/जीवन क्या है? पीड़ा का-/संघर्ष और दुख का अभिनय/एक उमंग रहो, पृथ्वी की/सृजन शक्ति के मधु संचय! तरू के छोटे-से हे किसलय"! सीता को किसलय देखकर और दर्द होता है। अशोक-वृक्ष की, यदि मैं निराला के शब्दों का प्रयोग करूं 'किसलय-वसना नव-नव लतिका सीता के सामने कितने संभ्रम रचती हैं। निराला की तरह क्या सीता को यह आभास होता होगा राम के बारे में "नव-नव किसलय फैलाये/तुम आये कनकाचल छाए?' क्या सीता को किसलय राम के जयघोष का आभास देते थे, जैसे 'कामायनी' में-कोमल किसलय मर्मर-रव-से जिसका जयघोष सुनाते हो? भवानी प्रसाद मिश्र ने सतपुड़ा के जंगलों में 'रक्त किसलय' की चर्चा की थी। क्या ऐसे ही किसलय सीता को अंगार की तरह लगते होंगे? क्या सीता को जयशंकर प्रसाद के 'आंसू' की तरह यह आभास होता था कि "पतझड़ था, झाड़ खड़े थे सूखी सी फुलवारी में/किसलय नव कुसुम बिछाकर आये तुम इस क्यारी में?" फिर जैसे सीता अपने स्वप्न से जागती-सी होंगी। न राम आए हैं। न किसी ने उनका जयघोष सुनाया है। न राम इस फुलवारी या अशोक वाटिका में प्रवेश कर रहे हैं। यथार्थ की खुरदुरी चट्टान है जो सुलग रही है, तप रही है। कोई आया है यहां न कोई आया होगा/मेरा दरवाजा हवाओं ने हिलाया होगा।

इस पूरे प्रसंग में सीता की अनल-कामना को समझना है तो दिनकर की वह कविता याद करें : रक्त

में ज्वालामुखी हुंकारता है/घूर्मियां चिंगारियों की नाचती हैं नाचते उड़कर दहन के खंड पत्तों-से हवा में/मानवों का मन गले-पिघले अनल की धार है/चाहिए देवत्व, पर इस आग को धर दूं कहां पर?/ कामनाओं को विसर्जित व्योम में कर दूं कहां पर/बह्नि का बैचेन यह रसकोष, बोलो कौन लेगा?/आग के बदले मुझे संतोष, बोलो कौन देगा?/प्राण की चिर-संगिनी यह बह्नि/ इसको साथ लेकर/भूमि से आकाश तक चलते रहो/ जब तक प्रेम की धारा न मिलती/आप अपनी आग में जलते रहो।" सीता वेदवती के रूप में भस्म हुई थीं, तो अगले जन्म में सीता के रूप में एक आग लेकर वैसे ही जन्मीं जैसे याज्ञसेनी। सीता ने त्रेता को प्रकाशित किया, द्रौपदी ने द्वापर को। द्रोपदी की तुलना में सीता कही सॉफ्ट दिखती भी हैं–लेकिन हैं वे भी अपनी तरह से अग्निधर्मा। अनल की उनकी यह खोज "विषम बियोग अनल तनु हुनिए' (तुलसीदास, राग बिलावल, गोपी विरह) के कारण ही नहीं है। यह कबीर के 'जरै सरीर यहु तन कोई न बुझावै, अनल दहै निस नींद न आवैं' के कारण ही नहीं है। यह रावण के पापाचार को भस्म करने के लिए खोजी जा रही आग है। इस आग को 'रश्मिरथी' के लेखक 'दिनकर' ने इसीलिए नमन किया था-"जग में जले जहां भी नमन पुनीत अनल को"। सीता अग्नि-समाधि की बात कर रही हैं, लेकिन हैं वे वह हस्ती जिसके बारे में महादेवी वर्मा ने कही लिखा है : "ताज है जलती शिखा/चिनगारियां श्रृंगार माला/ ज्वाल अक्षय कोश सी/अंगार मेरी रंगशाला।"

सीता के समय से– हिन्दी कविता में कहें तो तुलसीदास के समय से– यों एक अग्निधारा शुरू हुई। वह अलग अलग रूपों में प्रकट हुई। लेकिन अग्नि की इसी परंपरा ने हिन्दी कविता को तेजस्वी बनाए रखा। कठोपनिषद् में कहा गया था कि– अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव -कि जैसे अग्नि एक है तथापि उसके प्रगट रूप अनेक हैं। आज सीता भी प्रकृति के अलग अलग अंगों में अलग अलग तरीके से अग्नि को प्रतिभासित होती हुई देख रही हैं। कबीर कहते थे : पुहुप मांहि पावक प्रजरै/पाप पुन दोऊ भ्रम टरै।' यहां सीता तो पुष्प में तो क्या किसलय तक में अग्नि का रूप देख रही हैं। लेकिन समस्या यह है कि उनके देखे हुए और चाहे हुए के बीच में एक बहुत बड़ा फासला और फर्क हो गया है।

देखि परम बिरहाकुल सीता।
सो छन कपिहि कलप सम बीता।।
कपि करि हृदयँ बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरशि उठि कर गहेउ।।
तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर।।
चकित चितव मुदरी पहिचानी। हरश बिषाद हृदयँ अकुलानी।।
जीति को सकइ अजय रघुराई। माया तें असि रचि नहिं जाई।।
सीता मन बिचार कर नाना। मधुर बचन बोलेउ हनुमाना।।
रामचंद्र गुन बरनैं लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा।।
लागीं सुनैं श्रवन मन लाई। आदिहु तें सब कथा सुनाई।।
श्रवनामृत जेहिं कथा सुहाई। कही सो प्रगट होति किन भाई।।
तब हनुमंत निकट चलि गयऊ। फिरि बैठीं मन बिसमय भयऊ।।
राम दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करूनानिधान की।।
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी।।
नर बानरहि संग कहु कैसें। कही कथा भई संगति जैसें।।

सीता को विरह से परम व्याकुल देखकर वह क्षण हनुमान जी को कल्प के समान बीता। तब हनुमान ने हृदय में विचार कर सीताजी के समाने अंगूठी डाल दी, मानो अशोक ने अंगार दे दिया। (यह समझकर) सीता ने हर्षित होकर उठकर उसे हाथ में ले लिया। तब उन्होंने राम-नाम से अंकित अत्यन्त सुन्दर एवं मनोहर अंगूठी देखी। अंगूठी को पहचानकर सीता आश्चर्यचकित होकर उसे देखने लगीं और हर्ष तथा विषाद से हृदय में अकुला उठीं। (वे सोचने लगीं) रघुनाथ तो सर्वथा अजेय हैं, उन्हें कौन जीत सकता है? और माया से ऐसी अंगूठी बनाई नहीं जा सकती। सीता मन में अनेक प्रकार के विचार (जब) कर रही थीं, हनुमान मधुर वचन बोले– वे राम के गुणों का वर्णन करने लगे, सुनते ही सीता का दुख भाग गया। वे कान और मन लगाकर उन्हें सुनने लगीं। हनुमान ने आदि से लेकर सारी कथा कह सुनाई। (सीता बोलीं-) जिसने कानों के लिए अमृतरूप यह सुन्दर कथा कही, वह हे भाई! प्रकट क्यों नहीं होता। तब हनुमान पास चले गए। उन्हें देख सीता फिरकर (मुंह फेर) बैठ गईं। उनके मन में विस्मय हुआ। हनुमान ने कहा-हे मां जानकी, मैं राम का दूत हूँ। करुणानिधान की सच्ची शपथ करता हूँ। हे माता। यह अंगूठी मैं ही लाया हूं। राम ने मुझे आपके लिए यह निशानी दी है। सीता ने पूछा– नर और वानर का संग कहो कैसे हुआ? तब हनुमान ने जैसे संग हुआ था, वह सब कथा कही।

समय की भौतिकी में ज्यादा व्यस्त रहने वालों को समय की मनोवैज्ञानिकी का पता होता तो वे समझ पाते कि क्यों हनुमान को वह एक क्षण कल्प के समान लगा होगा। समय का यह रूप घड़ी के कांटे से नहीं नापा जाता। हनुमान के मानस पर वह एक घटिका भी इतनी भारी पड़ रही है। स्वयं की चिंता से नहीं, सीता की चिन्ता से। हनुमान गहरे तनाव में भर गए हैं। सहसा वे इस 'क्षण' के प्रति इतने ध्यान से देखने पर विवश हो गए हैं। दुनिया से अलग, समय की एक सब्जेक्टिव चेतना भी है और हनुमान के लिए अभी वही भारी उद्विग्नता के कारण बन गई है। कांट कहते थे कि सारे अनुभव 'समय' में घटते हैं। लेकिन यहां तो लगता है कि सारा समय 'अनुभव' में घटता है। अभी हनुमान को यह पल जिस तरह से कल्प जैसा लम्बा लगा है, वह इसी कारण है। इतिहास एक किताबी प्रपत्ति है जबकि समय आस्तित्विक और आनुभविक है। समय का पर्सेप्शन मनोविज्ञान और न्यूरोसाइंस का विषय है। इसलिए 'क्षण' हनुमान के 'सेंस' पर निर्भर है। समय का मन के द्वारा एक पुनर्सगंठन और पुनर्सृजन होता है। हनुमान को यह वर्तमान क्षण कल्प के समान लगा तो शायद यह वही होगा जिसे दार्शनिक ई. आर. क्ले ने specious present कहा था।

संस्कृत में एक उक्ति है : दुःखितस्य निशाकल्पः सुखितस्यैव च क्षणः कि दुखी मानव को रात्रि ब्रह्मदेव-कल्प जितनी लम्बी लगती है, लेकिन सुखी मानव को क्षण जैसी छोटी लगती है। यहां हनुमान को क्षण भी कल्प के समान लगा। गोपालदास नीरज के शब्दों में "लग रहा था कल्प-सा हर एक पल/बन गयी थीं सिसकियां सांसें विकल"। कल्प कोई साधारण चीज नहीं है। सूर्य- सिद्धान्त के अनुसार कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि के युगों को मिलाकर एक चतुर्युगी हुई। 71 चतुर्युग एक मन्वन्तर बनाते हैं। फिर कृतयुग के बराबर एक संध्या है। 14 मन्वन्तर और 15 संध्याएं अर्थात 1000 चतुर्युगों के बराबर एक 'कल्प' है जो ब्रह्मा का एक दिन है। एक क्षण में जैसे हनुमान वहीं अनन्त काल तक के लिए ठहर गए। यह दुख का वैसा उत्सव मनाना नहीं था कि हम कह सकें : 'निमिष में मेरे विरह के कल्प बीते।' सच तो यह है कि हनुमान के लिए जैसे वह निमिष ही नहीं बीत रहा था। यों तो 2 परमाणु 1 अणु 3 अणु 1 त्रसरैणु, 3 त्रसरैणु 1 त्रुटि 100 त्रुटि 1 वेध 3 वेध 1 लव 3 लव 1 निमेश 3 निमेश बराबर एक क्षण कहा जाता है। भारतीय कालगणना सूक्ष्मतम से विराट की ओर जाती है। सीता की उस विरहावस्था के सूक्ष्मतम क्षण में हनुमान को विराट के दर्शन हो गए।

सीता की यह विरहाकुलता साधारण नहीं है। यह उस हद तक पहुंची हुई है जहां से परिवर्तन होता है। विरह का क्वथनांक। परम दीन और परम विरहाकुल। सीता की इस स्थिति से हनुमान पहले परम दुखी हुए थे और अब वे उस त्रास में हैं जहां एक एक पल इतना भारी लग रहा है। हनुमान के व्यक्तित्व में यह समानुभूति (empathy) का गुण विशेष है। यह जिस तरह से सीता के लिए एक आश्वासन है, उसी तरह से हनुमान के सभी भक्तों के लिए। कि जैसे हनुमान अभी सीता की नजरों में आए बिना भी सीता के लिए समानुभूति रखतें है, रख रहे हैं वैसे ही उनके लिए भी उतने ही चिंतित होंगे, भले ही वे अभी अदृश्य हैं। लेकिन हनुमान का भावाकुल हृदय उनके कल्याण के लिए भी उतना ही सक्रिय है। हनुमान के नेपथ्य में होने की एक अलग ही नेमत है। आम जिन्दगी की तमाम मुश्किलात के बीच यह बात कितनी ढांढस देती है कि कोई है जो हमारे समाश्वासन के लिए है। कितने ही भारतीय आज भी भय में और कष्ट में हनुमान की संवेदनशीलता पर ही निर्भर हैं। हनुमान की छवि ही परित्राता और संकटमोचक की बन गई है। हनुमान के त्रिकाल-स्मरण श्लोक में उन्हें सीताऽऽधिसिन्धुपरिशोषणकर्मदक्षं– सीता के मानसिक पीड़ा रूपी सिंधु के शोषण-कार्य में परम प्रवीण-इसीलिए कहा गया है। शंकराचार्य ने हनुमत्पंचरत्नस्तोत्र में उन्हें "दूरीकृतसीतार्तिः"- जिन्होंने सीता का कष्ट दूर किया- और दीनजनावनदीक्ष- जिन्होंने दीनजनों की रक्षा की दीक्षा ले रखी है– कहा। इसलिए यदि सीता को 'निमिष

निमिष करुणानिधि जाई कलप सम बीति' लगता है तो हनुमान को भी वैसा ही लगता है। यह सच्ची संवेदना है। सीता की आंखें यदि डबडबाई हैं तो हनुमान की भी। यदि यह क्षण अश्रुमुखी होने से सीता के लिए संकुलित हो आया है तो हनुमान के लिए भी जैसे सब कुछ वहीं ठहर गया है। दूसरे के विचारों और अनुभूतियों में प्रवेश करने की सहज सामर्थ्य वाले हनुमान कपि नहीं हैं, कवि हैं। शायद इसी विशेषता के कारण हनुमान सदैव हैं, वे एक तरह के विश्व-नागरिक हैं। उनकी समानुभूति एक तरह की intersubjectivity है। राम अंतर्यामी हैं, लेकिन हनुमान पार्श्व में हैं, नेपथ्य में। वे अपनी आंखों से देख रहे हैं, वे सुन भी रहे हैं। क्योंकि त्रिजटा के जाने के बाद भी सीता जब अकेले में हैं तो "कह सीता विधि भा प्रतिकूला" के रूप में यह भी बताया जाता है कि सीता अकेले में ही बड़बड़ा रही हैं। तो ऐसा नहीं है कि हनुमान को सीता की पीड़ा mentalize करनी पड़ती हो, वे तो प्रत्यक्ष ही देख और सुन रहे हैं। सीता का एकालाप भी। सीता का यह एकाभिव्यंजन विलियम शेक्सपीयर के नाटकों की तरह का स्वगत (soliloquy) नहीं है जो दर्शकों की सुविधा के लिए आजमाई जाने वाली एक नाटकीय युक्ति है। यह तो सीता के अपने आपे में न रह पाने का परिणाम है। हनुमान की कोमलमनस्कता सीता के उत्पीड़न और विडम्बन को पूरी तरह समझती है। वह समझती है कि यह कोई साधारण विरहाकुलता नहीं है। यह तो "परम" की श्रेणी में आने लायक है। ध्यान रखें, परम, न कि चरम। यानी यह विरह-वेदना का एक उच्चतम गणितीय बिंदु पर ही पहुंचना नहीं है, इसमें एक गुणात्मक श्रेष्ठता होने के कारण यह परम है : विरह की पीड़ा भली, भलो विरह को भेस/जामें प्रीतम सुधि रहे, रहे मिलन सुख सेष।" जगन्नाथदास रत्नाकर के शब्दों में 'विरह बिथा की कथा अकथ, अथाह महा।' महादेवी वर्मा ने कभी लिखा था : विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात! सीता का जीवन विरह में निष्पाप निष्कलंक रहे कमल सा ही है। महादेवी ने शायद सीता पर सोचकर नहीं लिखा हो लेकिन लागू तो यह उन पर ही होता है : हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले/मैं सजग चिर साधना ले/सजग प्रहरी से निरंतर/जागते अलि रोम निर्भर/निमिष के बुद बुद मिटाकर/ एक रस है समय-सागर।' शायद इसीलिए हनुमान को वह समय एक निमिष की तरह नहीं लगा, एक कल्प की तरह लगा। सीता का कलेजा जिस तरह छलनी हुआ है, उससे हनुमान भी उतने ही अन्तस्तप्त हुए। मंझन ने मधुमालती में शायद इसी 'सागर' की बात की थी-विरह समंदर अथाह अति। यह 'परम' की स्थिति में इसलिए आ पाया क्योंकि सीता का विरह परम प्रिय की एक साधना-शिला भी है। सीता का विरह लोक-मुक्ति के लिए झेला गया विरह भी है। इसलिए उस अर्थ में तो यह विरहाकुलता श्रेष्ठ है ही जिस अर्थ में सिख गुरू अंगद ने कहा था : "जो सिर साईं ना निवै, सो सिर दीजै डारि/जिस पिंजर महिं बिरह नहिं, सो पिंजर लै जारि," लेकिन सीता ने तो वह आफत इसलिए बुलाई है क्योंकि रावण के सामने समर्पण का मतलब होता एक अवतार के जीवन-प्रयोजन की समाप्ति। यह आफत पूरी दुनिया की होती। इसलिए सीता की विरहाकुलता वरेण्य और आदर्य है। मीरा की तरह सीता भी अभी आकुल व्याकुल ही फिर रही हैं : आकुल व्याकुल फिरूं रैन दिन, विरह काल जो खाय।' लेकिन वे यह सब कष्ट अपने ऊपर सह रही हैं ताकि दुनिया को कष्ट-मुक्त किया जा सके। वे जगजननी थीं। उन्हें अपनी संतान के लिए कष्ट सहना था। जीसस की तरह वे भी यह कह सकती थीं कि My soul is exceedingly sorrowful. सीता ने कठिनतम इम्तहान लेने वाली पीड़ाएं (sufferings) सहीं, ताकि इस विश्व को रावण-राज के eternal damnation से बचाया जा सके। सीता राम की शक्ति थीं। उन्होंने भूखा-प्यासा रहना स्वीकार किया, उन्होंने रावण की यातनाओं को स्वीकार किया, उन्होंने राक्षसियों के द्वारा ढायी जाने वाली तकलीफों को स्वीकार किया। रावण के सामने सीता ने अपने स्वतंत्र संकल्प का उद्भास किया। एक सर्वथा निर्दोष स्त्री ने मरना पसंद किया-एक स्व-निर्वाचित

मृत्यु के लिए अग्नि भी ढूंढ़ी, लेकिन न झुकना स्वीकार किया और न लालच में फँसना। ब्रदर्स कारामाजोव में फ्योदोर दोस्ताएवस्की ने लिखा था : The earth is soaked from its crust to its very centre with the tears of humanity. रावण-राज में यही बात थी और इसीलिए स्वयं पृथ्वी रामावतार के लिए प्रार्थना करने गई थी। सीता स्वयं पार्थिवी हैं। धरती के उस दर्द से न केवल परिचित बल्कि धरती के-से धैर्य के साथ बहुत कुछ सहती और भुगतती हुई। उनके सामने रावण के संत्रास से नैराश्य में डूबे, रावण के कारण हड्डियों का ढेर बन चुके, रावण के अत्याचारों से विषण्ण चेहरे घूमते होंगे और यह भी कि यदि वे झुक जाती हैं तो ऐसे कितने ही चेहरे पृथ्वी पर अनन्त काल तक दिखते रहेंगे-राम के बिना इस पृथ्वी की जैसे आत्मा ही मर जाएगी। सीता ने उन अत्याचारों को सहने वाले असंख्य लोगों की भीड़ में शामिल होना स्वीकार किया, लेकिन रावण की अंकशायिनी होकर उसके स्वर्णजटित पयंक पर आना स्वीकार नहीं किया। जो स्त्री कनक-मृग पर मुग्ध हो रही थी, वह कनक-नगरी में विरागिनी ही रही। इसका अर्थ यह है कि बात कनक की नहीं थी और इसलिए कुछ द्रविड लेखक सीता को आभूषण प्रिय बताते हैं, वे सीता के न अंतर्मन को समझते हैं, न उनकी अंतर्वेदना को। सीता जिस पीड़ा को झेल रही थी, क्या वह वही चिकित्सकीय हालत थी जिसे hematidrosis कहते हैं जो अत्यंत भावावेग में भर गए व्यक्ति में देखने को मिलती है, जो क्रास पर चढ़ने से पहले वाली रात में जीसस में देखने को मिली थी, जिसके बारे में ल्यूक 22:44 बाइबल में कहा गया : And being in agony he prayed more earnestly : and his sweat was as if it were great drops of blood falling down to the ground. यह एक प्रेशर कुकर जैसी हालत थी जिसे सीता ने भी झेला लेकिन रहीं वे uncompromising. वे लक्ष्मी की अवतार थीं। ऐश्वर्य और श्री की, विभूति और समृद्धि की। लेकिन उन्होंने दैन्य और आकुलता का संवरण किया। कौन कहता है कि लक्ष्मी चंचला होती हैं। सीता के कमिटमेंट का कोई मुकाबला है? अभी भी सीता को दुख रावण के अत्याचारों का नहीं है, राम के विरह का है। सीता का दुख राम के प्रति उनके अगाध प्रेम से पैदा होता है, वह रावण के प्रति नफरत से पैदा नहीं होता। राम इस जगत की आत्मा हैं। वे इस पृथ्वी की आशा हैं। सीता की उनके प्रति विरहाकुलता में यही "परम" तत्व है।

लेकिन हनुमान दुखी हुए जब उन्होंने सीता को आत्म-हत्या के लिए प्रस्तुत देखा। थॉमस मर्टन ने कहा Although prayer and sacrifice require each other, premature martyrdom is only inverted egotism. हनुमान सीता को इस तरह की पूर्व-परिपक्व शहादत से रोकना चाहते हैं। इसलिए वे दुखी होते हैं क्योंकि सीता अपने स्वरूप की पहचान नहीं कर पा रही हैं। वे तो राम की नित्य संगिनी हैं। वे अग्नि क्या ढूंढ़ रही हैं। वे स्वयं ही राम की अर्चिका हैं। रामधारी सिंह दिनकर की पंक्तियां हैं : "अहंकार के साथ घृणा का/ जहां द्वन्द्व हो जारी/ऊपर शान्ति, तलातल में/हो छिटक रही चिनगारी/ आगामी विस्फोट काल के/मुख पर दमक रहा हो/इंगित में अंगार विवश भावों के चमक रहा हो।" सीता को जिस तरह से अग्नि की शोध है, उसी तरह वह हनुमान यहां आए हुए हैं जिन्हें ऋग्वेद (1/12/1) में 'अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्/ अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्' कहा गया था। चान्द्र भाष्य में ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में अग्नि शब्द का अर्थ वायुपुत्र मानकर हनुमान को ही मंत्रप्रतिपाद्य स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद के 1/19 सूक्त में 'मरूभ्दिरग्न आ गहि' में मारूति 'अग्नि' (हनुमान) ही निर्दिष्ट हैं। अतः सीता की अग्नि-शोध और हनुमान की सीता-शोध की परिणति का फलन-बिंदु बस अब आ ही पहुंचा है। सीता का अग्नि-शोध क्या वही अग्नि विद्या तो नहीं जो शास्त्रों में नचिकेता-अग्नि के नाम से प्रसिद्ध है। या यह वह चीज़ है जो प्रभु के अवतरित होने का संकेत देती है। जब रावण के त्रास से देवता परेशान हो गए थे तब भगवान

शंकर ने उन्हें प्रभु के प्रकट होने का क्या मार्ग बताया था -अग जगमय सब रहित बिरागी/प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।'

पेड़ के पत्तों में छिपे हनुमान ह्रदय में विचार कर मुद्रिका नीचे डाल देते हैं और सीता उसे उठकर यों ले लेती हैं जैसे अशोक वृक्ष ने (उनकी मनोकामना पूर्ति के लिए) अंगार दे दिया है। अशोक वृक्ष से सीता को जैसे ही यह स्फुल्लिंग मिला वहां एक परिस्थिति-परिवर्तन ही नहीं हुआ, मनःस्थिति परिवर्तन भी हुआ। अंगार, अंगार, अंगार की मांग करती हुई सीता को अंगार मिल ही जाता है। यह अंगार सीता के मन के भीतर के मन की मांग के हिसाब से है। यह उनकी चिता में अग्नि लगाने के लिए नहीं है। यह उनकी चिंता में अग्नि लगाकर उसे भस्मसात कर देने के लिए है। रामधारी सिंह दिनकर ने जब "प्यारे स्वदेश के हित अंगार मांगता हूं" लिखा था तब क्या उन्हें ध्यान में आया था कि उनसे पहले तुलसी की सीता ने भी ऐसे ही अंगार मांगा था। यही दिनकर अपनी एक कविता में एक साथी से कहते थे : "सियाही देखता है, देखता है तू अंधेरे को/किरण को घेर कर छाये हुए विकराल घेरे को/उसे भी देख, जो इस बाहरी तम को बहा सकती/दबी तेरे लहू में रौशनी की धार है साथी/उसे भी देख, जो भीतर भरा अंगार है साथी।" लगता है हनुमान सीता से साक्षात यही कह रहे हैं और सीता अपने अंतरंग-सा यह अंगार अंगूठी की शक्ल में देख ही लेती हैं। नौबत उतनी तो आ ही चुकी थी कि नीरज के स्वर में कहा जा सके : 'रे ह्रदय, मधु-कोश अक्षय, अब अनल-अंगार बन जा।' अली सरदार जाफरी को भी ये अंगार और ये शोले याद आए थे : गरीब सीता के घर पे कब तक रहेगी रावण की हुक्मरानी/अवध की खाके-हसीं के जर्रे बगूले बनकर मचल रहे हैं/अब आंसुओं की पुरानी झीलों से सुर्ख शोले उबल रहे हैं/क्या उबलते ज्वालामुखी को कोई दबा सका है?/मैं आज मजबूर हूं तो क्या है/वतन से कुछ दूर हूं तो क्या है/मगर मैं उसके जुजाहिदों की सफों से बाहर नहीं गया हूं।" अंगार मांगती हुई सीता के दिल में ज्वालामुखी उबल रहा है– और शोले भी। ऐसे में अंगार की तरह यह मुद्रिका आन गिरी। यह सीता के मन के आनुरूप्य में थी। लेकिन थी अपनी विशेषताओं के साथ। इसके आते ही सीता के मन की हताशा को भाग जाना था। यह अशोक वृक्ष वह नहीं सुन रहा था जो सीता के ओंठ बोल रहे थे। यह वृक्ष वह सुन रहा था जो सीता का मन बोलना चाह रहा था। वृक्षों का संवेदन-तंत्र कुछ दूसरी तरह का होता है। सीता के जीवन की शीतिमा में राम की स्मृति ही ऊष्मा लाती है और राम ही हैं जो रावण-राज के प्रति सीता के मन में पलते हुए विद्रोह भाव के बारूद को अंगार उपलब्ध कराएंगे।

सीता को अंगूठी मिलती है तो उनके जीवनक्रम में ओज आ जाता है। शकुंतला की अंगूठी खो जाती है तो उसका जीवन एक बियाबान बन जाता है। ईसुरी की नायिका की तरह क्या सीता ने "परसन चहत मनक मुन्दरी में मुख की दिसा निहारी" थी? अंगूठी का यह प्रसंग वाल्मीकि के यहां थोड़े भिन्न रूप में घटित हुआ है। वाल्मीकि के यहां हनुमान जी पहले रामकथा वर्णन करते हैं। सीताजी मन में तर्क वितर्क करती हैं। हनुमान सीता से परिचय पूछते हैं। सीता अपना परिचय, वनगणन और अपहरण का वृत्तान्त बताती हैं, सीता हनुमान पर संदेह करती हैं। उनका समाधान होता है हनुमान राम के गुणों का गान करते हैं। राम के शारीरिक चिन्हों का वर्णन करते हैं। नर-वानर मित्रता का प्रसंग सुनाकर सीता के मन में विश्वास उत्पन्न करते हैं। उसके बाद वे सीता को मुद्रिका देते हैं। लेकिन तुलसी के यहां वे पहले मुद्रिका गिराते हैं। उस मुद्रिका को सीता के भीतर उठती हुई अंगार-अभिलाषा की संपूर्ति की तरह पेश किया गया है। कपि का वृक्ष पर होना, सीता का सृष्टि भर से मदद मांगते हुए अंतिमतः अशोक वृक्ष से मदद मांगना, उसी वृक्ष से हनुमान द्वारा अंगूठी गिराए जाना– ये सब बातें तुलसी के यहां बहुत स्वाभाविक बन पड़ी हैं और ऐसा लगता है कि उनकी तपःपूत साधना ने उन्हें एक कालातिक्रमणकारी नेत्रदृष्टि अवश्य उपलब्ध कराई है। ऐसा लगता है जैसे यह प्रसंग वे उनके पहले लिखी गई

रामकथाओं से नहीं, स्वयं अपनी आंखों देखी उठाते हैं। इसलिए वे स्वर्ग से आकाश तक और आकाश से स्वर्ग तक लगातार भ्रमण करने वाले अपने कवि-नेत्र के परिष्कृत उन्माद (फाइन फ्रेंजी) का शेक्सपीयर की तरह ही पूरा लाभ लेते हैं। तुलसी का यह विवरण प्रत्यक्षदर्शिता का दृष्टांत लगता है।

अंगूठी कभी सीता ने राम को पहनाई थी। विवाह के मुकाम पर। वह क्षण कितना प्यारा था। जन्मों से अभिलषित माधुर्य का चरम क्षण। उसी उंगली पर जिसे प्यार की धमनी (Vena amoris) कहा जाता है। वह जिसके बारे में दुनिया के कई मुल्कों में विश्वास किया जाता है कि यह सीधे हृदय तक पहुंचती है। यह मुद्रिका उस मुद्रिका की याद दिलाती है। यह एंगेजमेंट रिंग तो नहीं होगी क्योंकि राम उसे वापस क्यों करेंगे? वह तो विधिक हिसाब से भी एक तरह की कंडीशनल गिफ्ट मानी जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मेयर वि. मिटनिक (625 N.W. 2d 136 मिशीगन 2001) प्रकरण में इसे सशर्त उपहार मानते हुए यह निर्धारित किया गया कि जब सगाई टूट जाए तो इसे लौटाना पड़ेगा। लेकिन राम ने यह अंगूठी लौटाने के लिए नहीं भेजी, बल्कि यह अहसास दिलाने के लिए भेजी कि सीता फिर ऊर्जस्वित हो जाएं। यूनाइटेड किंगडम, आयरलैंड और उत्तरी अमेरिका में सगाई अंगूठी सिर्फ स्त्री द्वारा धारण की जाती है, लेकिन भारत में दोनों पहनते हैं। कुछ संस्कृतियों में तो सगाई से पहले भी जोड़ा एक तरह की 'प्रॉमिस रिंग' पहनता है। अंगूठी एक तरह का वाग्दान है। उसके मिलते ही सीता को राम का प्रॉमिस भी याद आया होगा, राम के वचन भी। चर्च ऑफ इंग्लैंड में शादी के वक्त बोला जाता है : With this ring I thee wed, with my body I thee worship, and with all my worldly goods I thee endow. यहूदी कहते हैं कि With this ring, yow are consecrated to me. रोमन कैथलिक कहते हैं : Take this ring as a sign of my love and fidelity. सीता के दिल में प्रेम के शोले इस मुद्रिका के साथ फिर भड़क उठे होंगे और प्रेम पर भारी पड़ रही मुमूर्षा दूर हो गयी होगी। फिर आंखों के सामने आ गए होंगे वे सब दृश्य जो राम को अंगूठी पहनाते वक्त के थे।

वैश्विक परंपरा में मुद्रिका सिर्फ स्त्री-पुरुष के प्रेम की ही प्रतीक नहीं रही बल्कि वह आदर और प्राधिकार की भी प्रतीक रही है। किसी जमाने में सम्राट की मुद्रिका से अंकित कोई पत्र राजाज्ञा माना जाता था। सम्राट के द्वारा मुद्रांकित पत्र का असाधारण महत्व था। राम की राजाज्ञा लंका तक यों आ पहुंची है। अंगूठी किसी वचन (प्रॉमिस) के निष्पादन के लिए रखी बंधक (pledge) की तरह भी होती थी। राम को भी एक अहद निभाना था तो उन्होंने यह अंगूठी अपनी शपथ की तरह भेजी है। प्राचीन इजिप्ट में युद्ध में भाग लेने वाला हर सैनिक अंगूठी पहनता था। राम ने सीता को क्या यह संदेश भेजा है कि अब युद्ध आ पहुंचा है, सन्नद्ध हो जाओ?

कपि शब्द का इस दोहे में प्रथम प्रयोग यह बताने के लिए था कि वृक्षों का कपि-कुल से नित्य सम्बंध है। इसलिए आकाश, चन्द्रमा, तारागण से सीता की प्रार्थना भले ही विफल हो जाए, लेकिन अशोक वृक्ष से नहीं होगी। सारे वानर वृक्षों के वासी हैं। उनका नाम ही शाखामृग है। तब ऐसा कैसे होता कि सीता पेड़ से कुछ मांगतीं और वह अनुत्तरित रह जाता।

तुलसी जिस बात को चार शब्दों - कपि करि हृदय विचार- में कहते हैं उस बात पर वाल्मीकि ने पूरा एक सर्ग खर्च किया है। उससे पता चलता है कि हनुमान के मन में कितने विचार आए और गए। हनुमान सोचते हैं कि 'ये शोक के कारण अचेत-सी हो रही हैं, यदि मैं इन सती साध्वी सीता को सान्त्वना दिए बिना चला जाऊंगा तो मेरा वह जाना दोषयुक्त होगा। मेरे चले जाने पर अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर ये यशस्विनी राजकुमारी जानकी अपने जीवन का अन्त कर देंगी। परंतु राक्षसियों के सामने इनसे बात करना ठीक नहीं। यदि राम मुझसे पूछेंगे कि सीता ने क्या संदेश भेजा है तो इन सुमध्यमा सीता से बात किए बिना

मैं उन्हें क्या उत्तर दूंगा?' वाल्मीकि के हनुमान तो यहां तक विचार करते हैं कि मैं द्विज की भांति संस्कृत वाणी का प्रयोग करूंगा तो सीता मुझे रावण समझकर भयभीत हो जाएंगी। ऐसी दशा में अवश्य ही मुझे उस सार्थक भाषा का प्रयोग करना चाहिए जिसे अयोध्या के आसपास की साधारण जनता बोलती है। यदि मैं सीधे सामने जाऊं तो मेरे इस वानर रूप को देख और मेरे मुख से मानवोचित भाषा सुन ये जनकनंदिनी जिन्हें पहले से ही राक्षसों ने भयभीत कर रखा है और भी डर जाएंगी और मुझे कामरूप रावण समझकर जोर जोर से चीखने चिल्लाने लगेंगी, जिससे राक्षसियां हथियार ले आ धमकेंगी, मुझे घेरने पकड़ने का यत्न करेंगी और मेरे विशाल रूप को देख चीखेंगी और नियुक्त सशस्त्र राक्षसों को बुला लेंगी। मैं उनका संहार कर भी दूं पर समुद्र पार पहुंच नहीं पाऊंगा। यदि वे मुझे पकड़ लें तो सीता का मनोरथ पूरा न होगा और हिंसा में रुचि रखने वाले राक्षस यदि जानकी को मार डालें तो रघुनाथ व सुग्रीव का अभीष्ट नष्ट हो जाएगा। मेरे बाद ऐसा कोई वानर नहीं जो सौ योजन विस्तृत महासागर को लांघ सके। युद्ध अनिश्चयात्मक होता है और मुझे संशययुक्त कार्य प्रिय नहीं। बातचीत में यह दोष है और न बात करूं तो सीता का प्राणत्याग तय है। तो देखना यह है कि सीता मेरी सारी बात सुन लें किंतु घबड़ाहट में न पड़ें।

हनुमान इस तरह बहुत सोच विचार करते हैं और जो बात गौर करने की है कि वह यह कि वे हमेशा हृदय में विचारते हैं। यानी उनकी वैचारिकता में हार्दिकता है। यह एक स्नेहिल सोच है। वे सिर्फ कोरे बौद्धिक या गणितीय तरीके से नहीं सोचते। उनके चिंतन में अनुभूति है। उनके हृदय में विचार का कहीं एक मतलब यह भी है कि विचार हनुमान के यहां एक लेजर की तरह हैं, सभी कुछ को काटते हुए सीधे लक्ष्य-संधान तक। दिन की सूर्य किरण जो किसी जगह नहीं रुकती। इसलिए तुलसी ने विचार की क्षिप्रता को प्रदर्शित करने के लिए एक सर्ग के बराबर ऊहापोह नहीं दिखाई। सिर्फ चार शब्दों में बात कह दी। हनुमान 'pure reason' पर नहीं चलते बल्कि उससे बेहतर एक तरह की संज्ञानात्मक भावना या भावनात्मक संज्ञान पर चलते है, जहां तर्क एक द्वीप नहीं है, बल्कि उसे हमारे हृदय के अंतः कक्ष (interiority) में स्थान है। सीता के सामने आने से पहले हनुमान सीता की मनःस्थिति में झांककर अपना कर्तव्य सुनिश्चित कर लेते हैं।

और पहले मुद्रिका पेड़ से नीचे गिरा देते हैं। सीता हर्षित होकर उसे ग्रहण कर लेती हैं। और उस मनोहर मुद्रिका को देखती है जिस पर सुंदर रामनाम अंकित मिलता है। सीता के जीवन में जो अंधियारा छा गया है, अब उसमें रामनाम से अंकित मणिदीप जैसी यह मुद्रिका आ गई है जिससे प्रकाश होना ही है। तुलसी ने तो बालकांड के 21वें ही दोहे में यह कह दिया था कि 'रामनाम मनि दीप धरू जीह देहरी द्वार/तुलसी भीतर बाहेरहुं जौं चाहसि उजियार।' यह रामनाम अंकित मुद्रिका सीता को प्रबोधेगी– तुलसी ने बालकांड की शुरुआत में ही राम नाम की प्रबोधकता का अंकन किया है :'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी/उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी।' अब कहां रह पाएगा नैराश्य और अवसाद का तिमिर। अब तो वह मिल गया है जिसके बारे में कहा गया :'परम प्रकास रूप दिन राती/नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती.' जिसकी शक्ति ही दुखी का संकट हर लेती है : जपहि नामु जन आरत भारी/मिरहिं कुसंकट होहिं सुखारी। (21वें दोहे के बाद पांचवीं पंक्ति की चौपाई।) पाण्डवगीता में भी यही कहा गया था– आर्ता विषण्णाः शिथिलाश्च भीता घोरेषु च व्याधिषु वर्तमाना :/ संकीर्त्य नारायण शब्द मात्रं ते मुक्तदुःखाः सुखिनो भवन्ति।। कि आर्त, दीन ग्लानियुक्त, घोर व्याधियों में वर्तमान लोग भी भगवन्नाम जपकर दुःख से मुक्त और सुखी हो जाते हैं। गीता में भगवान कृष्ण ने कहा था : चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुनः/आर्तो जिज्ञासुरथोर्थी ज्ञानी चा भरतर्षभ।। कि चार प्रकार के सुकृती पुरुष मुझे भजते हैं : आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।। तुलसी ने बालकांड में इसी बात को यों बताया– राम भगत जग चारि प्रकारा/ सुकृती चारिउ अनघ उदारा/चहूँ चतुर कहं नाम अधारा/

ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पियारा। बालकांड में 21वें दोहे से लेकर 27वें दोहे तक रामनाम वंदना का एक लंबा प्रकरण तुलसीदास ने कहा है। उनमें से कई बातें सीता पर सटीक बैठती हैं। तुलसी का यह कहना कि 'सकल कामना-हीन, जे राम-भगति-रस लीन/नाम-सुप्रेम पियूष ह्द तिन्हहुँ किए मन मीन' : जो सब कामनाओं से रहित हैं, श्री राम भक्ति रस में लीन हैं वे भी नाम के सुंदर प्रेम रूपी अगाधकुंड में अपने मन को मछली बनाए हुए हैं; सीता की वर्तमान स्थिति के ठीक अनुरूप है। जैसे कवितावली में तुलसी ने कहा, 'भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को,' वैसे ही सीता को भी राम नाम का भारी भरोसा है। कवितावली के तुलसी की तरह सीता भी यही सोच रही हैं : 'राम के नाम तें होउ सो होउ।' छत्रनाथ कहते थे : 'राम नाम जगसार और सब झूठे बेपार।' सीता का भी यही कहना था और वे रावण के द्वारा दिखाए गए झूठे व्यापारों के सब्जबाग में नहीं पड़ीं। रैदास भी यही कहते थे। जब रामनाम कहि गावैगा/तब भेद अभेद समावैगा। मीरा भी यही कहती थी : 'राम नाम रस पीजे मनुवां राम नाम रस पीजे।' और रैदास कहते थे : 'अब कैसे छूटै राम नाम रट लागी।' सीता का भी यही हाल है। वे राम नाम का रस पान कर रही हैं और राम नाम की रट तो उनके मन में चलती ही रहती है। तुलसी की तरह सीता भी 'राम भरोसो राम बल राम नाम बिस्वास' पर ही चल रही है। कबीर के शब्द याद करें : 'मन रे राम सुमिरि राम सुमिरि राम सुमिरि भाई/राम नाम सुमिरन बिनै, बूड़त है अधिकाई' या उनकी रमैनी : 'राम नाम जाका मन मानॉ।/तिन तौ निज सरूप पहिचाँना।' सीता को राम नाम के साथ निज स्वरूप की भी पहचान करेंगी। राम नाम से अंकित यह मुद्रिका उन्हें उनकी सुध बुध लौटाएगी।

दिनकर की एक बड़ी भावभीनी कविता है : राम, तुम्हारा नाम कंठ में रहे/हृदय, जो कुछ भेजो, वह सहे/दुख से त्राण नहीं माँगू/माँगू केवल शक्ति दुख सहने की/दुर्दिन को भी मान तुम्हारी दया/अकातर ध्यानमग्न रहने की' सीता भी राम नाम कंठ में धरे हुए हैं और दुर्दिन में भी ध्यानमग्न हैं। राम नाम के जरिए ही उनके हृदय में लगी आग शान्त हो पाती है। तुलसी के एक पद के अनुसार– 'रामनाम के जपे जाइ जिय की जरनि/मति राम-नाम ही सों/रति राम-नाम ही सों/गति राम-नाम ही की बिपति-हरनि/राम नाम सौं प्रतीति प्रीति राखे/ कबहुंक तुलसी ढरैंगे राम आपनि ढरनि।" सीता भी यही पूंछ रही हैं कि कब राम अपनी कृपा करेंगे?

राम नाम को अंकित देखकर सीता के मनोविज्ञान और देह दोनों में अलग तरह के वाइब्रेशंस पैदा होते हैं। राम नाम का पारायण पारायण नहीं, परिणति है। इस राम नाम के ध्यान में जितनी इंटेंसिटी होगी, इसका उपचारात्मक मूल्य उतना ज्यादा होगा। राम नाम सीता के घाव भरता है। वैसे ही जैसे हमारे बहुत से जख्मों पर यही नाम-स्मरण, नाम-कीर्त्तन एक तरह की मरहम रखता है। राम नाम की एक चिंता-मुक्तिकारी (Anxiolytic) भूमिका है। सीता की चिंताओं का जैसे यह हरण करता है, वैसे ही हमारी भी चिंताओं का। यह तनाव से भी मुक्त करने वाला (Tensiolytic) महत्व रखता है। रामनाम सांस को गहराता है और आंतरिक 'सेंसिंग' प्रक्रिया को संस्कारित करता है। रामनाम हमारे बिखरे हुए व्यक्तित्व में इंटीग्रेशन पैदा करता है। रामनाम में एक कंपन-और-ध्वनि युक्त प्रभविष्णुता है : vibroacoustic impact है। यहां तो मुद्रिका में यह उत्कीर्ण किया हुआ है, लेकिन इसे देखते ही सीता के मन-मंदिर में घंटियां बजने लगती हैं। 'लार्ड ऑफ द रिंग' याद आ जाते हैं। यानी श्रीरामचंद्र।

राम ने जो मुद्रिका भेजी है, वह एक तरह की 'posie ring' है, क्योंकि उस पर कुछ अंकित है। राम का नाम। पुराने समय ऐसी अंकित अंगूठियां बहुत मिलती थीं। विक्टोरिया एवं अल्बर्ट म्यूज़ियम की 19वीं सदी एक अंगूठी पर लिखा है : 'Love is enough'। यह सीता के लिए धीरज बंधाने वाला होता। ब्रिटिश म्यूज़ियम में 16वीं या 17वीं सदी की एक अंगूठी में लिखा है : Hope is the life of love. सीता की आशा का केंद्र भी वही प्यार है। कैंब्रिज विश्वविद्यालय

के फिट्जविलियम संग्रहालय में 16वीं सदी की एक अंगूठी जिस पर अंकित किया गया है : All i refuse and thee I chuse. ब्रिटिश म्यूज़ियम में 16वीं शती की एक अंगूठी यह उत्कीर्णित किए हुए मिलती है : many are the stars I see, but in my eyes no star like thee. लंदन के वाट्स्की में एक अंगूठी पर यह अंकित था In thy sight is my delight. यह मुद्रिका भी उस राम नाम से अंकित है जो मनोहर और सुंदर है। यह वैसी मनोहर मुद्रिका है जिस पर सुंदर रामनाम उत्कीर्ण किया गया है। रामनाम को 'आखर मधुर मनोहर दोऊ' के रूप में तुलसी ने याद किया ही था। यह मुद्रिका अपने आप में चित्ताकर्षक थी, लेकिन राम नाम के अंकित होने से 'अति' को प्राप्त हो गई। हनुमन्नाटक तक में कहा गया था : सुवर्णस्य सुवर्णस्य सुवर्णस्य च मैथिली/प्रेषितं रामचन्द्रेण सुवर्णस्यांगुलीयकम् यानी सुन्दर वर्ण वाले, सुन्दर वर्ण-रामनामाक्षर-से युक्त सुवर्ण (दश माशे) की यह सुवर्णी (सोने की) अंगूठी रामचन्द्र ने, हे मैथिली, तुम्हारे लिए भेजी है। वाल्मीकि ने मुद्रिका मिलने पर सीता की प्रतिक्रिया यों अंकित की है : 'पति के हाथ को सुशोभित करने वाली उस मुद्रिका को लेकर सीता उसे ध्यान से देखने लगीं। उस समय जानकी को इतनी प्रसन्नता हुई, मानो स्वयं उनके पतिदेव ही उन्हें मिल गये हों। उनका लाल, सफेद और विशाल नेत्रों से युक्त मनोहर मुख हर्ष से खिल उठा, मानो चन्द्रमा राहु के ग्रहण से मुक्त हो गया हो।' अपने पति के हाथ में होने से यह मुद्रिका सीता को मनोहर तो लगती ही थी, लेकिन अब तो आशा का एक रचनात्मक संदेश लेकर तब आई जब सीता आत्मनाशी मूड में थीं। यह मुद्रिका सीता को उनकी गरिमावान 'आत्म' में पुनर्स्थापित करती है। आशा और आशावाद। कान्फीडेंस में और ट्रस्ट में, जीवंतता में और प्रफुल्लता में सीता लौटती हैं। सीता की मुर्दादिली– जिसके चलते वे खुद की चिता बनाने की जुगत में थीं– इस मुद्रिका को देखते ही दूर हो जाती है। क्या राम कहीं पास में ही हैं? अब काहे का शैथिल्य? पस्तहिम्मत सीता में यह अंगूठी एक हिलोर-सी पैदा कर देती है। सीता का न्यूरोसिस और नकारात्मकता खत्म हो जाती है। यह मुद्रिका उनके तनाव को खत्म कर उन्हें रिलेक्स कर देता है।

यह मनोत्थान एकदम नहीं होता। पहले वे चकित होती है। उन्हें विस्मय होता है। वे मुद्रिका को पहचान तो जाती हैं, लेकिन देखकर उन्हें हर्ष भी होता है, विषाद भी होता है और आकुलता भी होती है। यह एक मिश्रित प्रतिक्रिया है जिसके पीछे सीता के हालिया अनुभव हैं। इन अनुभवों के कारण अब वे उतनी सहज विश्वासी नहीं रह गई हैं कि कनक मृग को देखकर प्रसन्न हो जाए या किसी ब्राह्मण वेश घर कर आए अजनबी का वे आतिथ्य सत्कार करने लगें। उनके साथ धोका हुआ है और उनका मन टूटा है। अब वे छाछ भी फूंक-फूंक कर पीती हैं। वाल्मीकि के वर्णन में मुद्रिका मिलने पर सीता को सिर्फ हर्ष होता है किन्तु तुलसी के यहां सुख दुख उद्विग्नता तीनों। कारण यह है कि वाल्मीकि के यहां हनुमान-सीता की भेंट की प्रस्तावना की तरह अंगूठी नहीं गिरती है। वहां तो हनुमान सीता के बीच काफी लम्बी बातचीत के बीच हनुमान सीता को यह अंगूठी देते हैं। यह बोलकर देते हैं : 'महाभागे! मैं परम बुद्धिमान भगवान का दूत वानर हूँ। देवी! यह श्री राम नाम से अंकित मुद्रिका है, इसे लेकर देखिये आपको विश्वास दिलाने के लिए ही मैं इसे लेता आया हूँ। महात्मा राम ने स्वयं अंगूठी मेरे हाथ में दी थी। आपका कल्याण हो, अब आप धैर्य धारण करें। आपको जो दुःखरूपी फल मिल रहा था वह अब समाप्त हो चला है!" इसलिए वाल्मीकि के यहां मुद्रिका देखने पर सीता का तुरत हुआ मनोविकास भी उतना ही विश्वसनीय है जितना तुलसी के यहां का मिक्स्ड रिस्पांस। वाल्मीकि के यहां अंगूठी अचानक नहीं टपकी, तुलसी के यहां सीता के सामने बिना किसी पूर्व-पीठिका के, पूरी आकस्मिकता के साथ यह अंगूठी गिरती है। उस सीता के सामने जो शॉक और निषेध (denial), क्रोध और अपराध-बोध, दुःख और स्वीकृति के सारे मनोभावों से एक ही साथ गुजर रही हैं। रोते-रोते उनकी आंखें सूज गईं हैं और कहें कि

उनकी 'बोन्स' तक दर्द करने लगी हैं। ऐसे devastation का अनुभव। सब कुछ लुट गया हो जैसे। उनके स्वाभिमान (pride) को ठेस लगी, उनके सपने छिन्न भिन्न हो गए, विश्वास करने की उनकी शक्ति जाती रही। वे लगातार अपने को कगार पर अटकी हुई जान-सा महसूस करती रही हैं। उनकी पीड़ा जितनी गहरी है, उतनी व्यापक भी है। जैसे उनके मन में एक फ्रेक्चर-सा हो गया है। वाल्मीकि हनुमान के द्वारा गायी रामकथा से उनकी रिकवरी करते हैं किंतु उसमें प्रवचनात्मक (pontificatory) हो जाने का खतरा है। तुलसी एक घटना के जरिए सीता के मन में उपजी वाष्प का विरेचन करते हैं। एक अंगूठी अचानक ऊपर से कहीं सीता के सामने टपकी है। रात है। सीता वैसे ही sleep deprivation से गुजर रही हैं। क्या यह एक संभ्रम है-हैल्युसिनेशन? नहीं, यह तो सच ही 'आकाशात्पतितं' है।

सबसे पहली प्रतिक्रिया तो हर्ष की है। इस अजनबी जगह में एक पहचानी-सी चीज़ के मिलने पर हर्ष तो होगा ही। प्रियतम का अलंकार। प्रिय का नाम। इक तेरा नाम ही मुकम्मल है/इससे बेहतर भी नज़्म क्या होगी? यह नाम ही तो वह है जिससे मन कीलित हो गया था सीता का। इसलिए सीता के मन में प्रथम भावोदय हर्ष का ही होना था। एक ऐसी तुष्टि मिली जिसे फैज़ के शब्दों में कहें तो, जैसे वीराने में चुपके से बहार आ जाए/जैसे सहराओं में हौले से चले बादे-नसीम/जैसे बीमार को बेवजह करार आ जाए। लेकिन यह तृप्ति अचानक ही विषाद से भी भर गई। इस अवस्था में यह होता ही है। पीड़ा के असह्य स्तर से कभी राम-स्मृति के मरूद्यान में आई ही थीं कि अचानक वह कड़वा और अमानुषी सच घेर लिया। घिरे होने का सच। शत्रु देश में होने का सच। एक अपरिचित और द्वेषपूर्ण दुनिया में सीता का अपने अंतर्लोक की शक्ति पर विश्वास भी कम हो गया है। सीता अंगूठी को यहां इस असंभाव्य जगह पर पाकर किसी अनिष्ट की आशंका से भी भर जाती हैं। उनके भीतर राम के अभाव से जो एक दुखता हुआ निर्वात बन गया है, उसमें इस अंगूठी के आने से तूफान सा आ गया है। जॉन एच. हार्वी ने कहा था : To be human is to have fear. The greatest fear is that of losing that which matters to us most. सीता के लिए राम से बढ़कर और कोई नहीं। उनकी सारी अकुलाहट इस बात को ही लेकर है कि अब कहीं राम को कुछ हो तो नहीं गया। यह एक निर्दय परिस्थिति है जिसमें पुनर्मिलन का संदेश लेकर आई अंगूठी भी सीता के मन में विषाद पैदा कर देती है। 'राक्षसपुरी में यह अंगूठी कहां से आन पड़ी' यह एक आक्रामक सा खयाल जैसे सीता के मन में घुसपैठ-सी करने लगता है। अंगूठी सीता के भावनात्मक रूप से फ्लैट हो गए जीवन में उद्वेलन तो पैदा कर ही देती है, भले ही खुशी के बाद उसका निषेध (denial) हो और उसका परिणाम वेदना के और बढ़ते जाने में हो। वेदना इस कारण से भी बढ़ती है कि उन्हें लगता है कि पहले भी ऐसे ही एक बार और धोका खा चुकी हूं। अब फिर कुछ और नई बला तो नहीं आने की? चीजें पहले तो हर्षाती हैं और बाद में दुख के दारूण समुद्र में डुबो देती हैं। अब प्रारंभिक हर्ष के झुरमुट में फिर क्या कोई पनिशमेंट प्रतीक्षा कर रहा है? अब फिर आतंक, लज्जा और अत्याचार का कोई नया दौर आएगा क्या? पहली बार तो सह भी लिया, यदि राम गए तो। अब दूसरी बार कोई हमदर्दी को भी नहीं बचेगा। वह बीता हुआ दुर्दिन बार बार खयालों में लौटता है और विषाद की कंडीशनिंग-सी करता जाता है। पृष्ठभूमि में कुछ है जो मुद्रिका के मूल्य को समझने नहीं देता। उस दिन के बाद से जैसे हर खुशी क्षणिक सी लगने लगी है। लगता है, कुछ हो जाएगा और यह भी नहीं रहेगा। खुश होती हूं तो लगता है कहीं यह अभिमान तो नहीं है और कहीं इस अभिमान को अदृश्य के हाथों दंडित तो नहीं किया जाएगा? हर्ष के बाद फिर कहीं कोई गांठ खुल जाती है, तो फिर वह घाव रिसने लगता है। हर्ष-विषाद में डूबती-उतरती हैं सीता। जयशंकर प्रसाद के शब्दों में 'ज्यों राहुग्रस्त-सी शशि-लेखा/जिस पर विषाद की विष-रेखा'

हो जाती हैं सीता। इतना सब कुछ भला करने पर भी, बनती कोशिश कितना ही ठीक-ठीक चलने पर भी, बस एक बार को सावधानी हटी, दुर्घटना घटी। अब क्या? हरिवंश राय बच्चन के लफ्ज़ों का इस्तेमाल करें तो हुआ क्या? 'जीवन में शेष विषाद रहा।'

सीता की उद्विग्नता और बढ़ जाती है। यह वह भय नहीं है कि जिसका कोई खास केन्द्र हो। यह चिन्ताओं का समय है। बहुत सुनिर्धारित नहीं, लेकिन जिनका अनैश्चित्य ही अपने आप में विडम्बनकारी हो गया है। एक आकारहीन और हद-हीन-सी धकधक। विक्षुब्धता– जो अंदर ही अंदर जैसे कुछ निचोड़े लेती है। क्या दिन थे जब अपने प्रिय की बांह का तकिया बनाकर निर्द्वन्द्व होकर सो जाती थीं सीता। और अब लगातार थ्रेटन्ड-सी जिंदगी। अब यदि रामनाम अंकित अंगूठी भी मिली तो भी एक खटका है। कहीं ये फिर किसी की साजिश तो नहीं। कहीं फिर कोई 'आउट ऑफ द ब्ल्यू' मुसीबत तो नहीं आ जाएगी? यह अंगूठी तो राम के पास थी। यहां राम से विमुक्त होकर वह कैसे आ गई? क्या किसी ने अजेय रघुकुल भूषण राम को परास्त कर दिया? लेकिन ऐसा कौन हो सकता है? राम का शौर्य तो सीता ने अपनी आंखों से देखा था जब उन्होंने खर और दूषण की विशाल सेना को अकेले ही पलक झपकते ही परास्त कर दिया– सकल सुरासुर जुरहि जुझारा/रामहिं समर न जीतनिहारा। बच्चन की कविता: 'पहाड़ टूटकर गिरा/प्रलय पयोद भी घिरा/ मनुष्य है कि देव है/कि मेरूदंड है तना/अजेय तू अभी बना!' राम तो अपराजेय हैं। अजेय आत्मा के बारे में विलियम अर्नेस्ट हेनली की, उसके अपने व्यक्तिगत जीवन की त्रासदी जिसमें 17 साल की उम्र में घुटने के नीचे का उसका हिस्सा डॉक्टरों को काटना पड़ा था, पंक्तियां यही थीं : out of the night that covers me/ Black as the pit from pole to pole/ I thank whatever gods may be/For my unconqurable soul. जिस तरह से इस कविता को पढ़कर हमारे आंसू आ जाते हैं, सीता की आंखों में राम के वियोग के आंसू हैं। उस राम के, जो कभी पराजित नहीं हो सकता, जो मनुष्य की अथक आत्मा का प्रतीक है। विज्ञान में मीज़नर इफेक्ट के invincibility through internal coherence सिद्धांत की चर्चा होती है। राम के भीतर यह आंतरिक संगति है, इसलिये वे अजेय है। सीता जब राम को अजेय सोचती हैं तो वह उनके अवतार होने, नारायण होने, ईश्वर होने के कारण निश्चित अजेयता के कारण नहीं सोचती हैं बल्कि उनके मनुष्य की दुर्दम्य आत्मा के प्रतिनिधि होने के कारण सोचती हैं :- उनके रघुवंशी होने के कारण सोचती हैं कि : 'रघुबंसिन्ह मँह जहँ कोउ होई/तेहि समाज अस कहै न कोई।' सीता जी ने राम की इसी अजेयता से आश्वस्त हो रावण को चेताया था : 'जैसे विनतानंदन गरूड़ सर्पों का संहार करते हैं, उसी प्रकार रामरूपी महान गरूड़ राक्षसराज रूपी बड़े-बड़े सर्पों को वेगपूर्वक उच्छिन्न कर डालेंगे।" रघुओं में एक से बढ़कर एक धुरंधर हुए और राम तो रघुओं में भी श्रेष्ठ हैं तो उन्हें हराने की क्षमता किसमें है? और बिना उनको हराए उनकी मुद्रिका पर कब्जा कौन कर सकता है? सूर्य से आंख कौन मिला सकता है? सीता की आंखें अविश्वास के आश्चर्य में फैल जाती हैं।

फिर उन्हें शक होता है कि कहीं ये फिर रावण की मायावी चाल तो नहीं? लेकिन शायद अपने किसी विशेष ज्ञान से उन्हें यह भी पता है कि यह माया की रचना नहीं हो सकती, यानी मायावी कूटरचनाओं की भी सीमाएं हैं। काउंटरफीट मुद्रा भी थोड़ी सावधानी से पहचानी जाती है और काउंटरफीट मुद्रिका भी पहचान ली जा सकती है। कलाकृतियों, कपड़ों सॉफ्टवेअर, दवाइयों, घड़ियों, इलेक्ट्रॉनिक्स, और कंपनी लोगों व ब्रांडों सबके नकली प्रतिरूप तैयार हो जाते हैं। अंगूठी कौन सी बड़ी बात है। आज यदि हम काउंटरफीटिंग इंटेलीजेंस ब्यूरो के एक अध्ययन, जो उन्होंने इंटरनेशनल चेंबर ऑफ कामर्स के लिये किया, पर विश्वास करें तो विश्व व्यापार का 5 से 7% नकली वस्तुओं का है। एक OECD अध्ययन के अनुसार 200 बिलियन

अमेरिकन डॉलर नकली प्रतिरूपी वस्तुओं का व्यापार का है।

सीताजी के दिमाग में तरह तरह के खयाल आने लगे। एक तरह का थंडरस्टार्म। आशंकाएं/कुशंकाएं। सीता विपरीत परिस्थितियों में भी अपनी मानसिक एक-केंद्रीयता बनाए रखती हैं, लेकिन अब जैसे कई तरह के विचारों ने उन्हें घेर लिया। यह उधेड़-बुन की स्थिति थी। भय की भी। भारतीय मनोविज्ञान में इस तरह भांति भांति के खयालों का आना भय का लक्षण माना गया है। हेमचंद्र, रामचंद्र और गुणचंद्र ने भय को उधेड़-बुन ही माना था। सिंह भूपाल और शारदातनय ने इसे मस्तिष्क की अति अस्थिरता (restlessness) के रूप में वर्णित किया था और विश्वनाथ ने इसे मस्तिष्क के उभयदंश की ही तरह देखा। विद्याभूषण ने इसे "चित्तातिचापल्य" के रूप में वर्णित किया। यह कोई सुकरात की तरह की ऊहापोह नहीं थी, यह कोई देकार्त की तरह का संदेह नहीं था। बस सीता किसी निष्कर्ष पर पहुंच नहीं पा रही थीं। वे विचारों की एक गहरे भंवर में फंसी हुई थीं जो उन्हें इस तरह से लगातार घुमाए दे रहा था कि न तो वे किसी तल पर खड़ी हो सकती थीं और न तैरकर ऊपर आ सकती थीं। एक तरफ तो सीता को लगता था कि यह मुद्रिका इतनी मनोहर और अतिसुंदर रामनाम से अंकित और चिरपरिचित है, लेकिन फिर यह यहां कैसे आन पहुंची? राम को क्या हुआ? वे तो इस मुद्रिका का स्वमेव त्याग कभी नहीं करने वाले। फिर किसी ने उनको हराकर यह मुद्रा अधिगत कर ली? लेकिन राम तो अजेय हैं। स्वयं सीता ने उन्हें खर-दूषण का सेना सहित पल भर में अद्‌भुत शर-चापल्य से मार गिराते देखा था। यह विचार ही कितना आतंककारी है कि कोई राम को भी जीत सकता है। राम तो इस पृथ्वी की आखिरी आशा हैं। राम न रहे तो इस दुनिया का तारनहार कौन बचा? क्या पृथ्वी पर फिर कभी शांति नहीं लौटेगी? क्या फिर पृथ्वी पर न्याय नहीं लौटेगा? अंधेरे, आतंक और आर्न्तनाद का ही दौर चिरस्थाई हो जाएगा? दुष्ट ताकतें यों ही तरह तरह के षड्यंत्र करती रहेंगी और निरीहों के पक्ष में बोलने और लड़ने वाला कोई नहीं बचेगा? यों मनुष्यों का भक्षण चलता रहेगा? यों पतिव्रता स्त्रियों का उनकी इच्छा के विरुद्ध अपहरण चलता रहेगा? फिर रातें यों ही नैराश्य के नाइटमेअर के साथ कटती रहेंगी? यों ही अनन्त काल तक लोग मरते कटते रहेंगे? लोग पैदा इसलिए होंगे कि कत्ल हो जाएं? घर गांवों में जब तब आग लगा दी जाया करेगी?

और यदि ऐसा नहीं है तो क्या यह महामायावी (archdeceiver) रावण की कारस्तानी हो सकती है? लेकिन कितना ही कुशल हो वह फोर्जरी में यह गढ़न तो वह ला नहीं सकता? नकली (इमिटेशन) अंगूठी को सीता की पारखी आंखें पहचान न लेंगी? कम से कम राम की मुद्रिका के संदर्भ में? क्या रावण के replica ring artists इतने कुशल हो गए हैं? इस अंगूठी का जगत क्या नकलीपन का जगत हो सकता है? या इस अंगूठी की कुछ और व्याख्याएं हैं। क्या यह अंगूठी एक fake cosmos एक stage-word या एक stage-prop magic object का प्रतिनिधित्व करती है?

ग्रेग हार्वी अपनी पुस्तक The Origins of Tolkien's Middle-Earth For Dummies में लिखते हैं: Traditionally, rings especially those inscribed with magic or holy words were respected to protect the wearer. For example, for medieval Christmas, rings inscribed with the names of the Holy Family or the Three Magi were supposed to protect the wearer from the Evil Eye and the plague. कुछ अंगूठियां तो उपचारात्मक (हीलिंग) गुणों से सम्पन्न होती हैं। राम ने क्या सीता को रावण की बुरी नज़रों से बचाने और उन्हें उनकी मुर्मूषा से स्वस्थ करने के लिए अंगूठी भेजी थी? जे.जी. फ्रेजर ने Golden Bough नामक अपनी पुस्तक में बताया है कि पुराने समय की मान्यताओं के अनुसार अंगूठी एक ऐसा साधना थी। जो आत्मा को देह छोड़ने से रोकती थी और राक्षसों का प्रवेश वर्जित करती थी। सीता की अवस्था तो ऐसी ही हो गई लगती

थी जब वे "तजौं देह करु बेगि उपाई" पर उतारु थीं। तालमुद और मिट्राश जैसे यहूदी ग्रंथों में सोलोमन की जादुई अंगूठी की चर्चा आती हैं जिसके कारण वह सर्वज्ञानी हो जाता है और जानवरों से भी बात कर सकता है। यहूदी रहस्यवादियों में किसी अंगूठी की शक्ति उस पर अंकित दिव्य नाम से प्रादुर्भूत होती है। यहां तो 'राम नाम अंकित अति सुंदर' है ही। सीता को कोई अलादीन की जादुई अंगूठी नहीं मिली है कि वे उसे रगड़कर किसी जिन्न के जरिए सब कुछ प्राप्त कर लें। सीता को अपने प्रियतम की अंगूठी मिली है। चूंकि पूर्व में सीता छली जा चुकी हैं, इसलिए वे इस अकस्मात प्रगट अंगूठी के बारे में दुविधा में हैं। अध्यात्म रामायण (4/6/28-29) में कहा गया कि 'अभिज्ञानार्थमेतन्मे ह्यङ्न्गुलीयकमुत्तमम्/मन्नामाक्षरसंयुक्तं सीतायै दीयतां रहः' कि मेरी इस उत्तम एवं मेरे नाम के अक्षरों से अंकित मुद्रिका को निशानी के तौर पर सीता को देना। वशिष्ठ रामायण में कहा गया : 'अपश्यन्मुद्रिकां रम्या रामनामांकिता शुभाम्/तदातिचकिता सीता ज्ञात्वा तां राममुद्रिकाम्': (3/9/28) यह अंगूठी इन दोनों उद्धरणों में उत्तम एवं शुभ कही गई है। तुलसी 'चकित' बोलते हैं और वशिष्ठ 'अति चकित'। प्रसन्नराघव में तो इस अंगूठी का और परिचय यों दिया गया है: "शैशवावधिमनोरम-रामचन्द्रहस्ताङ्गुली प्रणयिनी सुभगा सुवृत्या।" और रामचंद्रिका ने कुछ यों विशेषण लगाए गए हैं : 'सुखदा वरदा अर्थदा यशदा रसदातारि रामचन्द्र की मुद्रिका' (13/83)। यह अंगूठी सीता को बहुत सी स्मृतियां लौटाती है। पति की उंगलियों से खेलती हुई सीता की कुछ घनिष्ठ घड़ियां। लेकिन फिर कुछ देर को हुआ उनका हर्ष इस विषाद में घुल गया कि आखिरकार है तो यह स्मृति ही। बल्कि इससे तो वर्तमान का प्रातिकूल्य और उभर आया।

मायिक वस्तु सीता को चित्ताकर्षक कैसे लग सकती थी? यह मुद्रिका यदि मनोरम लगी है तो सीता के संदर्भ में यह अकारण नहीं हो सकती। सीता स्वयं राम की योगमाया हैं, उनके सामने किसी वस्तु की राक्षसी माया टिक कैसे सकती है और उन्हें कैसे अच्छी लग सकती है? यह तो उत्तर-कनकमृग समय है। अब तो वे छाछ को भी फूंक-फूंक कर पिएं। मलूकदास की तरह सीता भी संभवतः यही कह रही हों कि "हमसे जनि लागै तू माया/थोरे से फिर बहुत होयगी, सुनि पैहें रघुराया" या कबीर की तरह कि "माया महाठगिनी हम जानी"। लेकिन इस जैसी अंगूठी रचना माया या कारसाजी का परिणाम नहीं हो सकती। कूट कपट की भी हद होती है और बनाने वाला कहीं न कहीं तो चूक कर ही देता है। लेकिन यह मुद्रिका तो हूबहू वही है।

सीता के सामने अनिष्ट की आशंका है या यह विश्वास है कि अपराजेय राम से कौन होड़ ले सकता है? वे संशयात्मक तरीके से बोल रही हैं या पूरे सुनिश्चयन के साथ? तुलसी ने शैली वह अपनाई है– और शायद जानबूझकर ही-कि हम इसे दोनों तरह से पढ़ सकते हैं। एक तो पूर्णतः सकारात्मक कि राम का प्रतिबल होने की कूवत किसी की नहीं और यह भी कि कूटरचना भी इतनी परफेक्ट नहीं हो सकती। गीता ने 'संशयात्मा विनश्यति' कहा था, तो तुलसी सीता को संशयग्रस्त कैसे दिखाते। मुद्रिका ने सीता में विश्वास का संचार तो किया ही था। लेकिन दूसरी तरफ तुलसी भारतीय पुनर्जागरण के भी प्रतीक थे। वे 'बेनीफिट ऑफ डाउट' (संदेह का लाभ) लेने से क्यों चूकते? रेने देकार्ते का सिद्धांत वाक्य : 'Doubt ergo cogito, cogito ergo sum' कि मैं संदेह करता हूं, इस कारण सोचता हूं। मैं सोचता हूं, इस कारण मैं हूं। तो तुलसी ने भी वाक्य रचना ऐसी की है कि सीता के मन में उठते प्रश्नों का भी परिचय देती लगे। अप्रतिहत राम का यह कौन प्रतिभट आ गया है? माया से तो इस प्रकार की चीज तैयार नहीं होती? यह नहीं कि सिर्फ यूरोप में रिनैसांके साथ साथ संदेहवाद (skepticism) आया। भारत में भी आया था। इसलिए तुलसी भी यहां एक ऐसे स्वर में बोलते हैं जो श्रद्धा और संदेह दोनों का स्वर हो सकता है। जॉन ओर्टबर्ग ने अपनी पुस्तक 'फेथ एंड डाउट' में लिखा है कि 'Because old Mother Nature is a

dysfunctional parent who keeps sending as mixed messages, we need both faith and doubt. सीता को बहुत कुछ भुगतना पड़ा है। उनकी सहज विश्वास की प्रवृत्ति को गहरा धक्का लगा है। लेखक मिशेल नोबाक का कहना है कि Doubt is not so much a dividing line that separates people into different camps as it is a razor's edge that runs through every soul. सीता का संदेह भी ऐसा ही है। एक रेजर्स एज पर हैं सीता। इसलिए उनके हृदय की विदीर्णता हनुमान को समझ में आ जाती है।

और इसीलिए हनुमान बहुत मीठे स्वर में बोलते हैं। बहुत आश्वस्तिकारी स्वर में। प्रसाद ने अपनी कामायनी में श्रद्धा को यह कहते हुए बताया है कि 'अति मधुर वचन विश्वास मूल/मुझको न कभी यह जाएँ भूलः' वे ही मधुर वचन हनुमान बोलकर सीता के मन का विश्वास बढ़ा देते हैं। ऐंजेल की वाणी जब एडम के कानों में पड़ी तो जान मिल्टन ने यों वर्णित किया है कि 'The Angel ended, and in Adam's ear so charming left his voice, that he awhile thought him still speaking, still stood fix'd to hear. (पैराडाइज लास्ट, बुक VIII, 1.1) सीता को हनुमान की वाणी भी ऐसी ही लगी। सस्पेंस में और चिंता में पड़ी हुई सीता के मन के ऊपर पड़ा हुआ भार हटाने वाले शब्द हनुमान ने बोले। ऐसे कि जैसे वे वचन नहीं हों, प्रकाश की किरण हों। जैसा कि हम पूर्व में देख चुके हैं कि हनुमान मन पढ़ना जानते हैं। पहले तो "कह सीता विधि भा प्रतिकूला" में सीता के स्वागत को सुन रहे थे, लेकिन यहां तो "सीता मन विचार कर नाना" की बात है। मन में किया जा रहा विचार समझकर हनुमान मधुर वचन बोलते हैं। सीता का आंतरिक एकालाप अनुद्घोषित होने के बावजूद हनुमान तक संप्रेषित हो ही जाता है। पता नहीं क्यों हम लोगों ने इस निजी मौन विमर्श पर बहुत ध्यान नहीं दिया जो रामचरित मानस के पात्र अक्सर करते मिलते हैं। यह अंतःवाणी (Inner speech) सीता के तात्कालिक संदर्भ में तो चलनी ही है। जिस विद्वेषपूर्ण और अजनबी जगह पर सीता ले आई गई हैं, वहां उनसे घनिष्ठ और उन्हें समझने वाली कथोपकथन प्रक्रिया उनके मन में ही चल सकती है। अ ट्रेनऑफ थॉट। जिसमें वक्ता और श्रोता एक ही है। विचार जिन्हें अभिवाचित (वोकलाइज) करने की जरूरत नहीं है। सीता सोचती चली जाती हैं और वे बस वही दो बातें नहीं सोचतीं जो तुलसी ने 'जीति को सके अजय रघुराइ/ माया ते असि रचि नहीं जाइ' के रूप में बताई हैं। 'नाना' का अर्थ है कि बहुत कुछ ऐसी सोचें भी हैं जो non-narrational भी हैं, जिनका वृत्तान्त नहीं दिया गया। सीताजी के मन में मुद्रिका को देखकर बहुत सी दीप्तियां कौंध जाती हैं। राक्षसों का संहार करते हुए राम, धनुष खींचने मात्र से राम के हाथों टूटता हुआ, 'पीत जनेउ महाछबि देई/कर मुद्रिका चोरि चित लेई,' राम को अंगूठी पहनातीं सीता-सब कुछ के अलग अलग फ्लैश, सीता का दिमाग चकरा जाता है।

हनुमान बहुत देर से यह सब देख रहे हैं। इसलिए यदि वे माइंड रीडिंग कर सीता के मानसिक इंटिरियर में प्रवेश करने की धृष्टता न भी करें तो भी उन्हें सीता की मनःस्थिति समझ में आती है। इसलिए वाणी-विवेक के श्रेष्ठ उदाहरण हनुमानजी– जिनकी शुद्ध और निर्दोष वाणी की राम पहले भी तारीफ कर चुके थे और जो स्वयं वाल्मीकि रामायण में इस प्रसंग में यहां तक विचार कर लेते हैं कि सीता से बोलते समय अयोध्या के पास की बोली इस्तेमाल करें– बहुत मृदुल तरीके से बोलते हैं। ऐसे नाजुक वक्त पर, जबकि राक्षस पहरेदार भी आसपास ही हैं, हनुमान के मीठे बोल ही सीता के भीतर वह स्थैर्य और धैर्य पैदा करते हैं कि वह किसी अजनबी की उपस्थिति से चौंककर चीख न पड़ें। हनुमान की वदान्यता की यह परीक्षा है। अतः वे बहुत कलकूजिका वाणी में बोलना शुरू करते हैं, क्योंकि सीता के चौंककर चीखने के खतरे की गणना वाल्मीकि रामायण के हनुमान भी करते हैं : "मेरे इस वानररूप को देखकर और मेरे मुख से मानवोचित भाषा सुनकर ये जनकनंदिनी जिन्हें पहले ही राक्षसों ने भयभीत कर रखा है और भी डर

जायेंगी। मन में भय उत्पन्न हो जाने पर ये विशाललोचना मनस्विनी सीता मुझे इच्छानुसार रूप धारण करने वाला रावण समझकर जोर जोर से चीखने चिल्लाने लगेंगी। सीता के चिल्लाने पर ये यमराज के समान भयानक राक्षसियां तरह तरह के हथियार ले सहसा आ धमकेंगी। तदनन्तर ये विकट मुख वाली महाबलवती राक्षसियां मुझे सब ओर से घेरकर मारने या पकड़ लेने का प्रयत्न करेंगी। फिर मुझे बड़े बड़े वृक्षों की शाखा-प्रशाखा और मोटी मोटी डालियों पर दौड़ता देख ये सब की सब सशंक हो उठेंगी। वन में विचरते हुए मेरे इस विशाल रूप को देखकर राक्षसियां भी भयभीत हो बुरी तरह से चिल्लाने लगेंगी। इसके बाद वे निशाचरियां राक्षसराज रावण के महल में उसके द्वारा नियुक्त किए गए राक्षसों को बुला लेंगी। इस हलचल में वे राक्षस भी उद्विग्न होकर शूल, बाण, तलवार और तरह तरह के शस्त्रास्त्र लेकर बड़े वेग से आ धमकेंगे।" ऐसा कहते कहते हनुमान 13 और श्लोकों में ऊंच-नीच आगा-पीछा विचारते हैं। फिर तय करते हैं : "मीठी वाणी बोलकर राम के सारे संदेशों को इस प्रकार सुनाऊँगा, जिससे सीता का उन वचनों पर विश्वास हो। जिस तरह उनके मन का संदेह दूर हो, उसी तरह मैं सब बातों का समाधान करूंगा।" हनुमान वाणी के प्रभाव-विश्लेषण (Impact-analysis) पर इतनी देर और इतनी दूर तक निरत रहते हैं और अन्ततः कबीर की ही तरह निश्चय करते हैं : 'ऐसी बाणी बोलिए मन का आपा खोए/औरन को शीतल करे आपहुं शीतल होय।' सीता को भी शीतल कर देने वाला मंजुघोष करते हुए हनुमान तब रामचंद्र के गुणों का वर्णन करने लगते हैं।

रूप पर सीता का अविश्वास हो गया है। सीता को लगता है 'एक चेहरे पे कई चेहरे लगा लेते हैं लोग।' सीता को लगता है कि 'क्या मिलिए ऐसे लोगों से जिनकी फितरत छुपी रहे/नकली चेहरा सामने आए असली सूरत छुपी रहे।' इसलिए हनुमान रूप से पहले ध्वनि को जाने देंगे। वे जानते हैं 'चेहरा ये बदल जायेगा/मेरी आवाज ही पहचान है।' शायद वे सीता की वह मनःस्थिति और लंका के रावण-राज की वह राजनीतिक परिस्थिति भी जानते हों जहां 'चेहरे' भी एक तरह की 'प्रॉक्सी' होते हैं :- "किसे मालूम चेहरे कितने आखिरकार रखता है। सियासतदां है वो खुद में कई किरदार रखता है।" इसलिए वे शीरीं जबान में मुखर होते हैं, और वह भी रामचंद्र के गुण-वर्णन से। तुलसी ने 'नाम-ध्वनि-रूप' का प्रक्रम रखा है। वाल्मीकि ने 'ध्वनि-रूप-नाम' का रखा है। हनुमन्नाटक ने वाल्मीकि का अनुसरण किया, लेकिन तुलसी ने नहीं।

तुलसी हनुमान से सीता के सामने 'राम' के नहीं, 'रामचंद्र' के गुणों का वर्णन कराते हैं। इस एक शब्द का प्रयोग कर तुलसी यह बता देते हैं कि अभी हनुमान ने राम की पूरी औपचारिकीकृत कथा कही है। वाल्मीकि के यहां हनुमान इक्ष्वाकुवंश से अपनी कथा शुरू करते हुए दशरथ का परिचय देते हुए उनके पुत्र राम पर आते हैं। स्पष्ट है कि उस लंबे से राजकीय पुनरावर्तन को तुलसी ने एक रामचंद्र जैसे Stately और Courtly शब्द के जरिए संकेतित कर दिया है। एकदम आधिकारिक-सा नाम लेकर। इस प्रमाणपत्रीय नाम के जरिए हनुमान वार्तारंभ करते हैं। 'राम' शब्द सीता और हनुमान दोनों के ज्यादा निकट हैं। लेकिन 'रामचन्द्र' शब्द के जरिए 'रघुराइ' की सत्ता की ओर फिर सीता का ध्यान खींचा जाता है। एक पल को सीता के मन में प्रश्न जय-पराजय का उठा था, राग-बिराग का नहीं। इसलिए रामचंद्र के कुछ ज्यादा Solemn नाम से कथारंभ किया गया। वैसे भी दो अपरिचित एकदम अंतरंग राम की बात कैसे कर लेते।

तो रामचंद्र की चंद्रिका से सीता के मन का उत्ताप तो शीतल होना था - 'रामचंद्र मुखचंद्र छवि लोचन चारु चकोर' भले ही यह मुखचंद्र न हो, कीर्ति-चंद्र हो । 'रामचरित राकेस कर, सरिस सुखद सब काहू' (32(ख) बालकांड)।

अतः गुण वर्णन राम का, हनुमान जैसे वाग्विशारद के द्वारा। सीता का अवसाद काफूर हो गया। तुलसी ने 'भागा' क्रिया का प्रयोग किया है। जहां राम की गुण-

चर्चा होती है, वहां दुख को तुरत-फुरत रवानगी डालनी पड़ती है। राम-गुणाभिव्यंजन और राम-गुण-श्रवण के बीच दुःख ठहर नहीं सकता। जो लोग भारतीय आध्यात्मिक विश्वास-पद्धति को आत्यंतिक रूप से निराशावादी कहते हैं कि यह तो 'सर्वं दुखम्' की सैद्धान्तिकी पर चलती है, कि यह तो 'अहो दुक्खो हु संसारो' (उत्तराध्ययन, 19/16) मान्यता पर चलती है, यहाँ तुलसी को देखें कि जो राम-गुण कथा से दुःख को दौड़ा देते हैं। उनके हिसाब से यह वर्णन सीता को आशा और अर्थ देता है, मूल्य (value) और मोद (vitality) देता है। तुलसी यहाँ किसी सांस्थानिक धर्म की बात नहीं कर रहे हैं, वे सीता के निजी अनुभव-संसार के सम्प्रेरकों की बात कर रहे हैं। राम का गुण-श्रवण सीता की निजी स्मृतियों को संस्फूर्त करता है। सीता रामचन्द्र को इंटर्नलाइज़ कर चुकी हैं। इन रामचन्द्र की सत्ता का संघर्ष रावण की आततायी सत्ता से होगा। इसलिए रामचन्द्र का गुण-वर्णन सीता को भीतर तक पुलकित कर जाता है, लेकिन जो 'भागा' है, वह लौट भी सकता है। सीता को 'पुनि मो कहुँ सो दिन सो राती' के कड़वे यथार्थ को भी झेलना है।

रामचन्द्र की जैसी एक भौतिक उपस्थिति है, वैसे ही उनकी एक आध्यात्मिक सत्ता भी है। इस आध्यात्मिक सत्ता के गुण-वर्णन का भी अपना महत्व है। सीता की वर्तमान मनोदशा की चिकित्सा उसी से होगी। सन् 2000 तक धार्मिक चेतना और मानसिक स्वास्थ्य के बीच के सम्बन्धों पर 700 से ज्यादा अध्ययन हो चुके हैं। 93 अध्ययनों में से 60 डिप्रेशन से धार्मिकतः उन्मुख लोगों की ज्यादा तेज रिकवरी होना बताते हैं, 68 में से 57 उनकी अपेक्षया कम आत्महत्या दर बताते हैं, 114 में से 91 ज्यादा बेहतर आशावादिता व प्रसन्नता और 16 में से 15 में जीवन में ज्यादा सोद्देश्यता और सार्थकता और 38 में से 35 ज्यादा सन्तुष्टि और स्थिरता होना बताते हैं। रामचन्द्र-गुण-वर्णन से सीता का डिप्रेशन भी खत्म होता है, उनकी आत्मघातोन्मुखी वृत्ति का निराकरण भी होता है, वे प्रसन्न हो जाती हैं, ज्यादा 'ओरिएंटेड' हो जाती हैं और उनके मारसिक उद्वेग का भी अवसान हो जाता है। दूसरे, रामचन्द्र का गुण-व्यंजन से भी एक ऐसी व्यक्ति की बॉयोग्राफी है, जो जान-बूझकर ज़िन्दगी में हमेशा कठिन लेकिन सच्चे रास्ते चुनता है, लेकिन कभी भी हार नहीं मानता। फिर सीता कैसे हार मान सकती हैं? राम की लविंग फैमली का हिस्सा होना कोई छोटी-मोटी बात है क्या? राम के गुण सीता के लिए थियरी नहीं है, अनुभव हैं। हनुमान की वर्णना सीता की बहुत-सी तंत्रियों को झनझना देती हैं, वे कोई छुपे हुए ईश्वर नहीं हैं सीता के लिए। वे तो अनुभूत और हृद्यंगम हैं सीता में। सीता के प्राणाधार, और उन जैसे बहुतों के, क्योंकि 'फिर असुरों से होती क्षण-क्षण/स्मृति की पृथ्वी यह दलित-चरण', और ऐसे में रामचन्द्र का ही 'प्रताप-बल' है, जिसे 'सुजसु सुनाई' देने से मानवता में कुछ देर के लिए सांस भर गई है। आस भर गई है । सीता को भी सिर्फ अपना ही दुःख नहीं है, इस व्यापक समाज का भी दुःख है। इसलिए रामचन्द्र का गुण-वर्णन उस सामाजिक के भी दुखहरण की गारंटी है। ये वे रामचन्द्र हैं, जिनके बारे में रामरक्षास्तोत्र में कहा गया : 'श्रीरामचन्द्रचरणौ मनसा स्मरामि/श्रीरामचन्द्र चरणौ वचसा गृणामि/श्रीरामचन्द्र चरणौ शिरसा नमामि/श्रीरामचन्द्र चरणौ शरणं प्रपद्ये'।

इसलिए सीता कान और मन लगाकर सुनने लगती हैं। कान लगाकर सुनना ध्यान से सुनने को कहते हैं। रामकथा कर्णप्रिय भी है और मनमोदक भी। हनुमान जब वर्णन कर रहे हों, तब उनके बोलने में एक अलग संगीत होता है। फिर जब रामकथा कहनी हो, उसमें एक मेलडी अलग भर जाती है। वह पिच और वह रिद्म सीता के कानों को लुब्ध कर देती है। 'मधुर वचन' का माधुर्य, संज्ञापन से वापस लौटी हुई संज्ञा। रावण और राक्षसियों की कटूक्तियों के बाद ये सुवचन। मधुरकंठी हनुमान के श्रीमुख से। उस माधुरी से अपनी धुरी में लौटती हुई सीता। जीवन में एक बार फिर वापसी करता हुआ राग और लय। बीच में त्रिजटा जरूर स्वप्न-चर्चा के माध्यम से कुछ प्रशामक-सा बोली थी,

लेकिन अन्त में वह भी एक निरपेक्ष और निष्ठुर-सा कथन : निसि न अनल मिलि सुनु सुकुमारी : कह आगे बढ़ ली थी। मिठास का संचार तो इस वाणी से हो रहा है, जो पता नहीं कहाँ से छनकर आ रही है और सीता के मन को महका रही है। यह वाणी आकाशवाणी तो नहीं है। यह भविष्यवाणी भी नहीं है। लेकिन जब राम का गुण-वर्णन हो रहा हो तो सीता को उस वाणी के स्त्रोत से पहले उस वाणी के कंटेण्ट्स से मतलब है। सीता खो जाती हैं, उस रामाख्यान में। उस राम के गुण-वर्णन में, जिसे अध्यात्म रामायण के अरण्यकाण्ड के आठवें सर्ग के जटायुकृत श्रीरामस्तोत्रम् के पहले शब्द में ही 'अगणितगुणमप्रेयमाद्यं' कहा गया, जिसे श्रीवरवरमुनिस्वामि ने अपने 'श्रीरामगंलाशासनम्' की प्रथम पंक्ति में ही 'महनीयगुणाब्धये' कहा है। Sita is all ears। वे इतनी तल्लीनता में सुन रही हैं ।

यो देखें तो यह कितनी अद्‌भुत बात रही होगी। एक मीठा-सा स्वर, जो उसी शशि की किरणों के साथ चलकर आया है, जो अग्नि-स्त्राव नहीं कर रहा था। एक मधुरगान, जो शायद वही गगन गा रहा है, जिससे सीता किसी तारे को भेजने की उम्मीद कर रही थीं। एक गुनगुनाहट, जो शायद अशोक विटप के उन्हीं किसलयों से आ रही है, जो राम-गुणावगाहन से 'संस्पर्शित' होकर 'नूतन' हो गए हैं। यह कौन पार्श्वगायन कर रहा है? क्या दिग्पाल राम-घोष कर रहे हैं? या दिशाएं ही राम के संदेश से गूंज गई हैं? वाल्मीकि 31वें सर्ग (सुंदरकाण्ड) में लिखते हैं कि 'सीता सम्पूर्ण वृत्तियों से राम का स्मरण करती हुई समस्त दिशाओं में दृष्टि दौड़ाने लगीं।' दिशाएं क्या, हवाएं क्या? पवन की तरंगों पर आरोहित होकर यह कथा बही चली आयी। यह कथा जो सीता की सांसों-सी है। तथाकथित निर्गुणवादी कबीर कहते थे : 'निरमल निरमल रामगुण गावै/सो भगता मेरे मनि भावै।' वे कहते थे : 'जिहि हरि की चोरी करि, गये राम गुण भूलि/ते बिंधना बागुल रचे, रहे अरधमुखि झूलि।' यह भी कि 'इसके पांणी थै प्यंड उपाया/दास कबीर राम गुण गाया।' हनुमान भी गुण-शंसन ही करते हैं। बालकाण्ड में तुलसी कह ही चुके थे : राम अनन्त अनन्त गुण (33)।

रावण की क्लेप्टोक्रेसी (चौर्य तन्त्र) या गन-तंत्र (बंदूक का शासन के सामने रामचन्द्र का यह गुण-तन्त्र (मेरिटोक्रेसी) है। रावण का मुकाबला 'दशरथ-पुत्र' या 'रघुवंशी' होने का आधार लेकर ही नहीं किया जा रहा है। हनुमान कोई रीतिकालीन कुट्टनियों की तरह नायक के सौंदर्य का वर्णन नहीं कर रहे हैं, गुणों का वर्णन कर रहे हैं। वे तो 'जिन्ह बरने रघुपति गुनग्रामा' की शुरुआती तुलसी-प्रतिज्ञा का निर्वाह कर रहे हैं। ये गुण साधारण नहीं हैं। तुलसी के अनुसार राम के गुणों के समूह कुमार्ग, कुतर्क, कुचाल और कलियुग के कपट, दंभ और पाखण्ड को जलाने के लिए वैसे ही हैं, जैसे ईंधन के लिए प्रचण्ड अग्नि : 'कुपथ कुतरक कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड। दहन राम गुन ग्राम जिमि ईंधन अनल प्रचण्ड।।' इसलिए यदि सीता अनल ढूंढ़ रही थीं तो उन्हें अनल मिला भी : 'राम गुन ग्राम' के रूप में। रावण कुपथ पर तो चला ही, सीता के सामने अभी कुतर्क तो करके गया ही, कुचालें भी उसने खूब चली हैं, ब्राम्हण का वेश बनाकर कपट भी किया है, उसके दंभ की तो खैर कोई सीमा ही नहीं है, और पाखण्ड भी गज़ब है, कहने को शंभु की पूजा और करने को उस राम से छल, जिसे परखने मात्र के विचार से जब सती ने सीता का वेश बनाया तो उन्हें यह देह त्यागकर नया जन्म लिए बिना शंभु ने स्वीकार नहीं किया। उस रावण के राज्य के खिलाफ यह एक प्रतिकल्पी रामचन्द्र-गुण-वर्णना आ गई है। ये युगान्तरकारी है। यह परिवर्तनकारी हैं। सीता ने अनल की मांग की थी- समस्त सृष्टि से। अब उसी सृष्टि की दिशाओं से यह अनल प्रत्युत्तरित हो रहा है। सीता का जीवन इस वक्त आग में जल मरने के लिए नहीं है, बल्कि दुष्टों के साम्राज्य को भस्मीभूत करने के लिए है।

इसलिए जो स्वर सीता के कानों में पड़ता है, वह सिर्फ श्रवण-मधुर ही नहीं है, मन-मधुर भी है। वह स्वर जो सीता के सारे झंझावातों को शांत कर देता है : 'रह

रह कूक रही मतवाली/कोयल कुंज-भवन में है/श्रवण लगा सुन रही दिशाएं/ स्थिर शशि मध्य गगन में है' (दिनकर)। सीता उसी तरह के 'श्रवण' का सुख पा रही हैं। शाम मन अड़त यह बानी बन श्रवण सुनत सुख पावत' (सूरदास)। सीता के मन का भी पूरा-पूरा नियोग इस श्रवण में हो रहा है। यह वही कथा है, जो 'भयभंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि' कही गई है। सीता के भय और भ्रम दोनों का यह नाश करेगी। इसे तुलसी ने 'सकल सिद्धि सुख सम्पति रासी' भी कहा है। इसे 'मेटत कठिन कुअंक भाल के' भी कहा। यह सीता के ललाट पर अंकित किसी दुर्भाग्य को मिटा देगी।

सीता का मन अभी बहुत ही विचलित था। वे अस्थिरचित्त हो चुकी थीं। उनका मन अवनी, ससि, तारे, विटप, किसलय कहाँ-कहाँ न जुनूं के आलम में भटक चुका था। अब सीता के मनोभंग को इस वाणी ने खत्म किया। मुझे चाणक्य की एक पंक्ति याद आती है, जिसका आधा अंश हनुमान पूरा करते हैं, आधा अंश सीता। पंक्ति है : 'शास्त्रपूतं वदेद् मनः पूतं समाचरेत्' कि शास्त्र से शुद्ध कर वाक्य बोलें- जो हनुमान बोलते हैं- और कोई भी पवित्र काम मन लगाकर सम्पन्न करें- जो रामचन्द्र गुण-वर्णन को सुनने में सीता करती हैं। समनस्क श्रवण अपने आप में आराधना का एक प्रकार है। गोरखनाथ कहते थे कि 'यह मन सकती यहु मन सीव/यहु मन पाँच तत्व का जीव।' रामचन्द्र-गुण-वर्णन के श्रवण के जरिये सीता मन की एकाग्रता को फिर से उपलब्ध करती हैं। सीता का यह मन साधारण नहीं है। यह वही है जो 'विश्व-वेदना में तप प्रतिपल/जग जीवन की ज्वाला में गल' अकलुष और उज्ज्वल बन गया है। यह मन रामगुणानुकथन के श्रवण में निरत हो गया है और उसके यथार्थ के दुःस्वप्न फिलहाल कहीं पीछे छूट गए हैं। उन अनुभवों की स्मृतियां ही नहीं छूटीं फिलहाल तो कुछ स्वाभाविक कौतूहल और पृच्छाएं तक पीछे छूट गई हैं। सीता पूछ ही नहीं रहीं कि यह बैकग्राउण्ड म्यूज़िक किसके द्वारा कारित है? कौन है वहाँ? सीता के साथ इतने अंधेरे में भी गजानन माधव मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' की तरह का संदेह नहीं हो पाया, क्योंकि वे रामकथा सुन रही हैं। कि वहाँ यह नहीं : 'रात के दो बजे हैं/दूर-दूर जंगल में सियारों का हो-हो/पास-पास आती हुई गहराती गूंजती/किसी रेल-गाड़ी के पहियों की आवाज!! किसी अपनेक्षित/असंभव घटना का भयानक संदेह/ अचेतन प्रतीक्षा।' वहाँ मुक्तिबोध को इसके तुरत बाद तॉल्सताय दीख जाते हैं, यहाँ सीता को हनुमान दीख पड़ते हैं। वहाँ वह कहता है : 'हाय! हाय! तॉल्सताय/कैसे मुझे दीख गये' : सीता हनुमान की आवाज राम-गुण-वर्णन के रूप में सुनती होंगी तो उन्हें वह आवाज अपने भीतर की ही प्रतिध्वनि लगती होगी। मंगलेश डबराल जैसे अपनी एक कविता में लिखते हैं : 'कहीं पानी बहने की आवाज आती थी तो वह हमारे भीतर से आती सुनाई देती थी।' सीता के अंतरंग को जैसे छू-सा लिया गया है। इसलिए श्रवन के साथ मन तो लगेगा ही।

अज्ञेय ने अपनी एक कविता में किसी दूसरे संदर्भ में कहा : 'मैं अंधेरे के घुप में एक प्रकाश से घिर जाता हूँ/मैं, जो नींव की ईंट हूँ :/सुरसुराते चुप में एक अलौकिक संगीत से गूंज/उठता हूँ/मैं जो सधा हुआ तार हूँ/मैं, मामूली, अकेला, दुर्दम, अनश्वर-/मैं, जो हम सब हूँ।' सीता के साथ भी जैसे यही हो रहा है। इस मुद्रिका ने और राम गुण-गान ने सीता को अंधेरे के घुप से निकालकर प्रकाश के वृत्त में खड़ा कर दिया है। सीता राम-रावण के युद्ध में या सत्य-असत्य के युद्ध में जैसे नींव की ईंट हैं। सहसा हनुमान के मधुर वचन के साथ उनके आसपास एक अलौकिक संगीत गूंज उठता है। और सीता की यह वेदना भी, जैसा कि हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं, जितनी व्यक्तिगत् है, उतनी सामाजिक भी। "मैं" और "हम सब" सीता में रूपायित होते हैं। उन सीता को कथा सुनाने हनुमान शुरू से शुरू करते हैं।

अब सीता 'प्रकट' होने को कहती हैं। वक्ता ने श्रवण तृप्त किए और उनमें अमृत बरसाया। वक्ता सदाशयी लगता है और उससे कुछ बांधवीयता भी

लगती है। इसलिए सीता उसके 'साक्षात' सामने आने का निमंत्रण देती हैं। सीता जिस मुसीबत में है, उसमें उन्हें किसी के अवतरित होने, प्रकट होने की उद्दाम अभीप्सा है। कहीं से कोई तो आस की किरन फूटे। हनुमान सीता की इसी उत्कट इच्छा के प्रत्यक्ष हैं। रामकथा की समूर्तता हनुमान में ही है। हनुमान रामकथा का विग्रह हैं, आत्म रूप या आत्मीय रूप। राम सीता दोनों ही तो हनुमान के भीतर विद्यमान हैं। हनुमान सीता के आत्मीय हैं, इसलिए सीता अनजाने में ही उन्हें भाई कह तो देती हैं। हनुमान का प्रकशन होता है। क्या सीता विजार्ड हैं? या क्या उनके सामने कोई मैजिक घट रहा है? सीता के समक्ष अचानक गूंजती हुई रामकथा। एक सरासर दुष्ट लोक में। अचानक एक स्वस्ति-स्वर। सीता जब मुमूर्षा से ग्रस्त हो रही थीं, उसी समय यह एक सह-सृजनात्मक प्रक्रिया उनके सामने एक नयी संभावना को अनावृत्त करने जा रही थी। सीता हनुमान से जब प्रकट होने को कहती हैं तो वह एक तरह का नयनामृत है। श्रवण-सुधा के बाद 'तोहि देख सीतल भई छाती' का दर्शन-सुख। एलन सीले की पुस्तक 'द मेनीफेस्टेशन व्हील' में यह बताया गया है कि Everything at its most fundamental level is made up of vibrating packets of energy. Sometimes those packets form objects or specific ideas, occupying a specific time and space. In other words, the packets of energy may become organized to form a chair or a person or a concept. हनुमान क्या सीता के भीतर की ही कोई ऊर्जा थे जो रूपायित होकर उनके सामने आए और क्या इसलिए वे सीता को माता कहते हैं? हनुमान रामकथा का substantiation है। इसलिए कथा के बाद उनका प्रकटीभवन उचित ही प्रतीत होता है। भौतिक रूप से यह हुआ होगा कि हनुमान रामजी के द्वारा भेजे गए, लेकिन क्वांटम स्तर पर कहीं सीता के भीतर समाधान की प्रबल इच्छा ने ही हनुमान के रूप में आकार लिया होगा। सीता तो मरने जा रही थीं, यह अमृत उन्हें जिला गया है। श्रवणामृत जैसी यह कथा अभी पूर्ण नहीं है। अभी तो यह कथा स्वयं ही विकस रही है। अभी तो स्वयं राम के लिए यह 'दु:ख ही जीवन की कथा रही' जैसी रही है। वह बात अलग है कि राम दुख से अम्लान रहते हैं। लेकिन अभी भी जितनी भी है, यह कथा कानों के लिए पीयूष-वृष्टि सी है। 'बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी; और 'तृषावंत जिमि पाइ पियूषा।' राम की कथा अंश में भी उतनी ही आह्लादकारी है जितनी पूर्ण में। बस जरूरी है "श्रवण मन लाई" की स्थिति। हनुमान 'आदिहु तें सब कथा सुनाई' में शुरू से लेकर अब तक बताते हैं। अंत तक नहीं। अभी तो कथा आकार ले रही है। अभी तो राम और सीता और हनुमान स्वयं 'बिकमिंग' की स्थिति में हैं। अभी यह कथा कोई फिनिश्ड प्रोडक्ट नहीं हैं। सीता बहुत देर से मनोमंथन कर रही थीं। उसी से निकला हुआ यह अमृत है। रामकथा एक अमृत मंथन है। अमृत-कुंभ इस कथा से छलकता है और सीता के प्राण हरियाये-से हो जाते हैं। हनुमान की अमृतवाणी ने जैसे तुलसी को नवजीवन दिया था, वैसे ही सीता को भी। सूरदास कहते थे : 'अमृत कहा अमृत-गुन प्रगटै, सो हम कहा बतावै/ सूरदास गूंगे को गुर ज्यौं, बूझति कहां बुझावै।' इस अमृतवाणी से 'रामचंद्र गुन बरनैं लागा" के रूप में अमृत-गुन ही प्रकट हुए हैं और इसलिए अब सीता भी हनुमान से प्रकट होने का कहने लगीं। माखनलाल चतुर्वेदी के एक गीत में वे ईश्वर से अनुरोध करते हैं कि 'अमृत-रस ढुलका दो मालिक/मधुर मधुर कुछ गा दो मालिक।' यहां हनुमान रामचंद्र के गुण मधुर मधुर तरह से गाते हैं, रामकथा को मीठे और सान्त्वनादायी स्वरों में सुनाते हैं और सीता को लगता है जैसे अमृत-रस ढुलका दिया गया है। सीता जो स्वयं जीवन के सुंदर समतल में पीयूष-स्त्रोत सी बहा करती हैं, को रामकथा को सुधा-सरिता में अवगाहन करने का सौभाग्य मिला है।

सीता 'तजौं देहु करि बेगि उपाई' की स्थिति में आ गई थीं, तब हनुमान ने उन्हें उनके भीतर के अमृत-

तत्व का साक्षात्कार कराया। इसलिए आश्चर्य नहीं कि सीता भी हनुमान का साक्षात्कार करना चाहती हैं। रामकथा की यही विशेषता है कि वह हमें एक नश्वर और म्रियमाण दुनिया में हमारे भीतर के चिरन्तन से परिचित कराती हैं। गुरूग्रंथ में जैसे 'अमृत सबदु अमृत हरिवाणी' की जो बात कही गई है या यह जो कहा गया है कि 'नानक अम्रित नामु सदा सुखदाता पी अम्रितु सभ भुख लहि जावणिया', वैसे ही हनुमान भी शब्दामृत बरसा रहे हैं। रामकथा अभय का पंचामृत है। अब सीता इस अमृत के दाता को देखना भी चाहती हैं। देखकर उनके कलेजे को ठंडक पहुचेगी। फिर भले ही "सो दिन सो राति" की बात हो। रघुवीर सहाय की एक कविता में नायक ऐसे ही प्रकट होता है : "वह अपनी एकाकी गरिमा में प्रकट हुआ एक मिनट के लिए/प्रकट हुआ और फिर हम सबसे अलग कर दिया गया।' हनुमान भी अशोक वृक्ष के पत्तों की झुरमुट से निकलकर आएंगे। भले ही थोड़ी देर के लिए। फिर उन्हें भी पकड़ लिया जाएगा। लेकिन इतनी देर में हनुमान सीता को अद्‌भुत जीवनी शक्ति दे जाएंगे।

सीता के द्वारा सामने आने को कहने पर हनुमान कूदकर उनके पास पहुंच जाते हैं। सीता के मन में विस्मय भर जाता है और वे फिरकर (मुंह मोड़कर) बैठ जाती हैं। या वे जो पहले मुद्रिका लेने को उठ खड़ी हुई थीं, अब पुनः बैठ जाती हैं। हालांकि उनके मन में विस्मय भरा हुआ है। वाल्मीकि का विवरण कुछ यों है : "उन्होंने ऊपर नीचे तथा इधर-उधर दृष्टिपात करके उन अचिन्त्य बुद्धि वाले पवनपुत्र हनुमान को, जो वानरराज सुग्रीव के मंत्री थे, उदयाचल पर विराजमान सूर्य के समान देखा। तब शाखा के भीतर छिपे हुए विद्युत्पुंज के समान पिंगल वर्ण वाले और श्वेत वस्त्रधारी हनुमानजी पर उनकी दृष्टि पड़ी। फिर तो उनका चित्त चंचल हो उठा। उन्होंने देखा, फूले हुए अशोक के समान अरूण कान्ति से प्रकाशित एक विनीत और प्रियवादी वानर डालियों के बीच में बैठा है। उसके नेत्र तपाये हुए सुवर्ण के समान चमक रहे हैं। विनीत भाव में बैठे हुए वानरश्रेष्ठ हनुमान को देखकर मिथिलेश कुमारी को बड़ा आश्चर्य हुआ! इस 'आश्चर्य' और 'विस्मय' का कारण क्या रहा होगा?

आश्चर्य यों हो सकता है कि सीता उम्मीद कर रही होंगी किसी विप्र की, किसी पंडित की, लेकिन देखा तो सामने एक वानर है। हनुमान सबके सामने विप्र का रूप धरके जाते हैं, लेकिन जगज्जननी मां सीता के सामने नहीं। क्या इसलिए कि सीता विप्र का रूप धारण करके आए रावण से पहिले धोखा खा चुकी हैं और इसलिए शायद उनके भीतर कहीं एक वितृष्णा सी पैदा हो गई है या इसलिए कि मां के सामने किसी तरह का स्क्रीन उचित नहीं है। रामकथा/राम गुण का वर्णन जिस तरह से हनुमान ने किया है, वह तो एक विदग्ध और विशारद का काम लगता है और सामने आ गया यह कपि। तुलसी ने इसे सिर्फ विस्मय लिखा है, जबकि वाल्मीकि तो सुंदरकांड के बत्तीसवें सर्ग में हनुमान को देखकर सीता को भय से मूर्च्छित सी हो गयीं बताते हैं, कि वे अत्यन्त विलाप करने लगती हैं और "अत्यन्त व्यथित होकर ऐसी दशा को पहुंच गयीं, मानो उनके प्राण निकल गए हों।" तुलसी अपने इस प्रस्थान में बहुत मौलिक दृष्टि का परिचय देते हैं। रामकथा का श्रवण-पान सीता को उनका संतुलन लौटा देता है और मुद्रिका के मिलने ने भी अपना प्रभाव दिखाया होगा, इसलिए अजनबी को देखकर सीता की अत्यन्त उग्र प्रतिक्रिया तुलसी ने उचित नहीं समझी। उनकी सीता विस्मित अवश्य होती हैं लेकिन घबराती नहीं, न होश खोती हैं, न रोती हैं और न उनके प्राण अकुलाते हैं। वे कुछ अचरज में पड़ जाती हैं जो स्वाभाविक भी है। लेकिन तुलसी ने वाल्मीकि के द्वारा वर्णित (लोक नहीं, बल्कि, शास्त्र के हवाले से बताया गया) वह उल्लेख भी प्रयुक्त नहीं किया कि "सपने में वानर को देखना शास्त्रों ने निषिद्ध बताया है और आज मैंने यह बड़ा बुरा स्वप्न देखा है"। यहां हम यह नहीं कह रहे कि वाल्मीकि अंधविश्वासी थे और तुलसी नहीं। महत्व की बात यह है कि तुलसी के इन आधुनिक प्रस्थानों की उपेक्षा नहीं

की जानी चाहिए।

हनुमान को डर था कि सीता उन्हें यकायक देखकर चीख न पड़ें। इसलिए उन्होंने पहले मुद्रिका गिराई, फिर रामकथा कही, फिर उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा की। जब स्वयं सीता ने कहा कि प्रकट क्यों नहीं होते, "तब" हनुमान उनके पास चले जाते हैं। चले जाते हैं, कूदते नहीं हैं। इसलिए इस दोहे में आया "तब" शब्द महत्वपूर्ण है और 'भाई' शब्द भी। एक हनुमान के प्रकट होने का सर्वोत्तम मनोवैज्ञानिक क्षण बताता है तो दूसरा उस मनोविज्ञान की निर्मिति का परिपाक है। रामकथा एक तरह की बांधवीयता स्थापित करती है। यूनीवर्सल ब्रदरहुड। यह वो मुम्बइया भाई होना नहीं है। 1997 में 'भाई' शब्द के इस मुंबई-मीनिंग पर इसी नाम से दीपक शिवदासानी ने एक फिल्म भी बनाई थी। 'लगे रहो मुन्ना भाई' भी शब्द की उसी अर्थच्छवि को दर्शाती थी। ये विपर्यय इसलिए इस शब्द में पैदा हुए क्योंकि ये 'भाई' भी जहां आतंकित करते थे, वहीं प्रोटेक्शन भी देते हैं। हनुमान सीता को जहां सुरक्षा का आश्वासन सिद्ध होंगे, वहां वे लंका के दुष्टों को आतंकित भी करेंगे। लेकिन उनकी मुंबई 'भाई' से कोई तुलना नहीं है। वे रामकथा कहने वाले विशारद हैं, टपोरी नहीं हैं। वे भाई हैं तो वैसे भाई जैसे गुरूनानक देव के प्रथम अनुयायी और उनके लंबे समय के साथी भाई मरदाना थे। हनुमान भी रामानुगत हैं और लंबे समय- चिरकाल तक-राम के साथी हैं। रामकथा से उपजने वाला बंधुत्व वैसा आपराधिक थोड़े होता है जैसे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में 'आर्यन ब्रदरहुड' नामक आपराधिक गैंग है। देखिए इस अपराध सिंडिकेट को जहां दोनों शब्द 'आर्यन' और 'ब्रदरहुड' अपने अर्थों में विकृत कर दिए गए हैं। 18वीं सदी में चीन में ऐसे आपराधिक भाई-गैंग (ब्रदरहुड) खूब बने थे जो पारस्परिक सहायता और आपराधिक उद्यमिता पर आधारित होते थे। क्विंग शासन का एक लेखक तब लिखता है : There is a clear law against the formation of such brotherhoods : the leader is to be strangled, and the followers beaten 100 strokes and exiled 3000 lii. तब के एक तत्कालीन मजिस्ट्रेट ने लिखा कि Brotherhoods are handmaiden of betrayal. वे ब्रदरहुड विश्वासघात करते थे, ये 'भाई' हनुमान विश्वास भरते हैं। और सच्चे भाई होते भी ऐसे ही हैं –"होहिं कुठाँय सुबंधु सुहाए" (2/306/8)। सीता को उनकी मरणासन्न दुखितावस्था से मुक्त करने के लिए 'सुबंधु' हनुमान प्रकट होते हैं।

सीता के संस्कार कितने गहरे हैं। वे इतनी बड़ी चोट खा चुकी हैं। फिर भी वे एक अनदेखे को 'भाई' कहती हैं। वह संस्कृति भी प्रणाम की अधिकारी है जो अपरिचितों की प्राथमिक जांच कुत्तों से नहीं करवाती। वह उन्हें बंधुता के रिश्ते में रखती है। वह संदेह नहीं, करती विश्वास करती है। सीता विश्वास करती हैं और हनुमान उनमें विश्वास भरते हैं। जेम्स बाल्डविन याद आते हैं The moment we break faith with one another, the sea engulfs us and light goes out. सीता की आलोचना यह कहकर की जा सकती है कि वे सहजविश्वासी (क्रेडुलस) स्वभाव की हैं और अनुभव से भी सबक नहीं सीखतीं। लेकिन दूसरी और यह भी सच है कि अभी- इस बार-सब कुछ रावण-प्रसंग जैसा नहीं है। यह ठीक है कि इस बार भी एक अजनबी के बीच में एक रामकथा भी है। वही जिसे सुनाने पर दशरथ और भरत भी 'भाई' सम्बोधन ही करते हैं : भैया कहहु कुसल दोउ बारे (1/291) और 'तो कहुँ देउँ काह सुन भ्राता' (7/2)।

डेनियल डी. मिच ने कहीं लिखा है कि I look to a time when brotherhood needs no publicity; to a time when a brotherhood award would be as ridiculous as an award for getting up each morning. सीता अपने मन के उसी 'समय' में हैं जहां अनदेखे को भाई कहा जा सकता है। कायदे से तो सीता को अब तक स्ट्रेंजर फोबिया हो जाना चाहिए था। वे गुजरी ही इतने बुरे तजुर्बों से हैं। लेकिन सीता की सांस्कारिक गहराई रामकथा से सरसित होकर इस स्थिति में आ जाती है कि अनदेखे

को भाई कहे।

हनुमान को भी यह अच्छा लगा। मार्क ब्राउन ने कहीं कहा था : Sometimes being a brother is even better than being a superhero. हनुमान सुपरहीरो हैं और बाद में 'कनक भूधराकार सरीरा' दिखाकर वे लंका दहन जैसे अतिनायकीय कार्य भी करेंगे। लेकिन अभी तो सीता के मधुर सम्बोधन से बंधे वे उनके पास खिंचे चले जाते हैं। इसलिए तुलसी 'चलि गयऊ' शब्द का प्रयोग करते हैं। कबीर के सम्बोधनों में भी बार बार यही 'भाई' शब्द उभरता था : "कहत कबीर सुनो भाई साधो"।

लेकिन जब मुझे यह ध्यान आता है कि हनुमान के सीता के सामने आने उन्हें भाई कहने के पहले अंगार और अनल की एक पृष्ठभूमि रही है, ऐसी कि जिसमें मुद्रिका भी ऐसे दी जाती है, जैसे अशोक वृक्ष ने अंगार दिया हो, तो मुझे बरबस गोपालसिंह नेपाली की भाई-बहन वाली प्रसिद्ध कविता याद आ जाती है जिसकी शुरुआती पंक्तियां कुछ यों हैं : तू चिंगारी बनकर उड़ री, जाग-जाग मैं ज्वाल बनूं/तू भगिनी बन क्रान्ति कराली, मैं भाई विकराल बनूं।

सीता के मन में आए विस्मय को देखकर हनुमान स्वयं को रामदूत बताते हैं। राम के दूतत्व की यह छवि भारत के लोकमानस में बसी हुई है। भोजपुरी में जोगीरा चलते हैं जिसमें हनुमान के बारे में यही पूछा जाता है : कौन दूत ने खबर दिया था, जाकर सभा में रावन को?/ उसी दूत का नाम बता दो, आज सभा में धावन को; वही रामदूत जिसे 'रामदूत अतुलितबलधामा' की तरह भी याद किया गया और दोहावली में 'मंजुल मंगल मोदमय मूरति मारूत पूत/सकल सिद्धिकर कमल तल सुमिरत रघुबर दूत।' गीतावली में इसी पृष्ठभूमि में तुलसी ने हनुमान का यह गीत कहा है : हौं रघुवंशमनि को दूत/मातु मानु प्रतीति जानकि! जानि मारूत पूत'। हनुमान का दौत्य-कर्म अपने भगवान राम के लिए किया गया है, लेकिन वह वैटिकन राज्य के द्वारा भेजे गए 'ईश-दूत' से भिन्न हैं जो आत्माओं की हार्वेस्टिंग करते हैं। यहां तो वे वाटिका के पेड़ों को उत्पाटित करेंगे: 'अति बिसाल तरू एक उपारा। सीता के सामने हनुमान का दूतकर्म फलता है। रावण के सामने वह वैसा ही निष्फल जाता है जैसे कौरवों के सामने कृष्ण का दूतकर्म निष्फल हो गया था या शुंभ के सामने शिव का दूतकर्म निष्फल हो गया था।

सीता के सामने फलता है क्योंकि हनुमान तो उन्हें मातृभाव से देख रहे थे और सीता 'गुननिधि सुत होहू'; का आशीर्वाद दे रही थीं। हनुमान रामदूत हैं, राजदूत नहीं। अग्निपुराण के अध्याय 238 से 242 पर्यन्त पांच अध्यायों में स्वयं राम द्वारा लक्ष्मण को जो राजनीति का विस्तृत उपदेश है, उसमें 7 श्लोक तो राजदूत के बारे में ही हैं, लेकिन उनका वर्णन हम अलग प्रसंग में करेंगे। सीता के सामने हनुमान राजदूत है ही नहीं। वे सिर्फ रामदूत हैं। और करुणानिधान की शपथ भी इसलिए खा लेते हैं। सीता जानती है कि रामभक्तों के लिए राम-शपथ का क्या मूल्य है। 'राम शपथ दीन्हें हम त्यागे' बाद में आएगा ही।

और यहां तो राम के भी करुणानिधान वाले रूप की शपथ है। इस विशिष्ट शपथ का भी अपना महत्व है। हनुमान हर कभी शपथ खाने वालों में नहीं है। भवानी प्रसाद मिश्र की एक कविता की कुछ पंक्तियां उठाकर मैं कहूं कि हनुमान के बारे में यह नहीं कहना होगा कि "तुमको शपथों से बड़ा प्यार/तुमको शपथों की आदत है/है शपथ गलत कठिन/हर शपथ की लगभग आफ़त है/ली शपथ किसी ने और किसी के आफत पास सरक आयी/तुमको शपथों से प्यार मगर/तुम पर शपथें छायी-छायीं/" बल्कि इन्हीं भवानी प्रसाद मिश्र ने भी इसी कविता में करुणाकर की शपथ वैसे ही ली है जैसे यहां हनुमान ने करुणानिधान की : है शपथ तुम्हारे करुणाकर की/ है शपथ तुम्हें उस नंगे की/जो भीख स्नेह की मांग मांग/मर गया कि उस भिखमंगे की/तो तुम पर शपथ चढ़ाता हूं/तुम पर इसको मढ़ता हूं/तुम इसे बिखेरो गेह गेह/सख्त बात से नहीं/स्नेह से काम जरा लेकर देखो/अपने अन्तर का नेह/ अरे, देकर

देखो। हनुमान का करुणानिधान का शपथ खाना या सीता को वह शपथ दिलाना दोनों इसी परिप्रेक्ष्य में देखे जाने चाहिए। सीता की ही नहीं, दुनिया की भी सफरिंग इन राक्षसों के हाथों इतनी ज्यादा हो गई है कि करुणानिधान ही सीता और हनुमान दोनों के मन की पुकार बन गए हैं। उत्पीड़न के इस परिदृश्य में राम की करुणा उन सब लोगों के लिए एक बड़ा आश्वासन है जो साजिश नहीं कर सकते, जो स्वयं को उस किसी दुष्ट की दुष्टता पर निर्भर करने की जगह, जो कदम कदम पर झूठ, प्रपंच और षड्यंत्र का सहारा लेता है, अपने को उस करुणानिधान पर छोड़ देते हैं जो कदम कदम पर उन्हें मदद करता है, उनकी रक्षा करता है। राम वैसी ही सहानुभूतिशील ऊर्जा हैं। अरण्यकांड में कहा गया था : 'एक बानी करुणानिधान की/सो प्रिय जाके गति न आन की।' रावण की एक बहुव्यापी हिंसा के बीच करुणानिधान ही एक दूसरे से 'बिलांगिंग' का भी अवबोध पैदा करते हैं। सूरदास कहते हैं कि 'देखि सुदामा की दीन दसा करुणा करि कैं करुणाकर रोये।' वही ईश्वर जो अपने भक्तों के साथ रोता है, वही ईश्वर जो अपने भक्तों की चिंताओं में खुद भी शामिल होता है, और उनसे ज्यादा व्यग्र होता है। करुणा सिर्फ दया नहीं है, कहें कि वह दया ऐसी है जिसमें प्रेम ज्यादा मिला हुआ है। रावण में दया तो है नहीं, प्रेम की जगह भी काम है, उसके संकुचित और एकायामी अर्थों में। इस मायने में वह करुणानिधान के वैपरीत्य में है। इसलिए यह व्यक्ति जो करुणानिधान की बात कर रहा है, वह रावण-राज्य का एजेंट तो हो नहीं सकता। करुणा कोई स्थैतिक गुण नहीं है। वह एक गतिशील विशेषता है। दूसरे के दुख को देखकर जो दिल 'मूव' करता है और जब उस दुख को दूर करने के लिए उसके कारण पर आक्रमण करता है, वह दिल करुणामय है। बोधिसत्वों के लिए करुणा अत्यन्तिक और अपरिहार्य थी। राम भी 'करुणा सुख सागर' होकर ही प्रकट हुए।

दरअसल 'रामदूत मैं मातु जानकी/सत्य शपथ करुणानिधान की' की यह रिद्म मुझे' जनकसुता जग जननि जानकी/अतिसय प्रिय करुणानिधान की' (बालकांड) की याद दिलाती है। इस शब्द का राम-सीता के बीच कुछ अंतरंग-सा रिश्ता लगता है। सीता के राम से प्रथम मिलन के बीच गौरी से सीता की प्रार्थना यही तो थी : करुणानिधान सुजान सील सनेहु जानत रावरो।' इसलिए करुणानिधान की शपथ भी मात्र कोई आदतन की गई 'भगवान की सौं' नहीं है। वह भी जैसे राम और सीता के बीच के माधुर्य का कोई सूचक शब्द है।

वीरेन डंगवाल की एक कविता 'दुष्चक्र में स्रष्टा' में स्वर की कुछ मीठी-सी गुस्ताखियों को छोड़ दिया जाए तो करुणानिधान की उनकी पुकार लंका में सीता के मन में जगी हुई करुणानिधान की पुकार से मिलती जुलती है : "मगर भीतर चिने हुए रक्त के गारे से/वे खोखले आत्माहीन शिखर-गुम्बद-मीनार/ऊंगली से छूते ही जिन्हें रिस आता है, खून!/आखिर यह किनके हाथों सौंप दिया है ईश्वर/तुमने अपना इतना बड़ा कारोबार?/अपना कारखाना बंद कर के/किस घोंसले में जा छिपे हो भगवान?/कौन-सा है वह सातवां आसमान?/हे, अरे, अबे, ओ करुणानिधान !!!' सीता के सामने भी लंका में रक्त के गारे से चिने हुए खोखले आत्माहीन शिखर-गुम्बद-मीनार हैं। सोने की लंका के भवन सीता की नजर से देखें तो ऐसे ही हैं जिन्हें ऊंगली से छूते ही खून रिस आता है। तब सीता को करुणानिधान की ही आस है और हनुमान उसी की शपथ याद दिलाते हैं– निसिचरहीन करउँ महिं भुज उठाई प्रन कीन्ह। तो यही समझे रहने की जरूरत नहीं है कि हनुमान कोई कसम खा रहे हैं या सीता को कोई कसम दे रहे हैं। यह भी हो सकता है कि वे सीता का राम का कौल याद दिला रहे हैं। वह कौल प्राणिमात्र की आशा का एक बड़ा कारण है। राम ने शपथ ली थी कि अत्याचार और आतंक के इस युग का अंत करके रहेंगे। बात सिर्फ सीता का संदेह दूर करने की नहीं है, सीता की हताशा, जिसमें वे स्वयं को मारने चली थीं, दूर करने की भी है। इसलिए हनुमान कहते हैं कि करुणानिधान की शपथ सत्य है।

'सत्य' शब्द का शपथ के साथ प्रयोग इसी कारण हुआ है। इसलिए जानकी और कृपानिधान की यह तुक एक गहरे आध्यात्मिक संदर्भ में वाल्मीकि के मुख से बुलवाते हुए तुलसी ने वर्णित की है: 'श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी/जो सृजति जग पालति हरतिरूख पाइ कृपानिधान की' इसी छंद में ठीक आगे एक बार फिर वह 'कौल' प्रकट होता है : 'सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी'।

इसलिए यह तो है ही कि 'तेहि पर राम सपथ करिं आई/सुकृत सनेह अवधि रघुराई' कि हमारे स्नेह और सुकृत की अवधि राम हैं। यदि मैं झूठी शपथ करता होऊं तो मेरे सब पुण्य और स्नेह नष्ट हो जाएं। लेकिन उससे भी अधिक यह है कि जिस राम की झूठी शपथ नहीं खाई जा सकती, स्वयं उस राम की शपथ झूठी कैसे हो सकती है। यह शपथ लेते वक्त उनकी आंखों में अश्रु भर आए थे–'सुनि रघुवीर नयन जल छाए' और सीता के संदर्भ में भी यही होता है कि 'भरि आए जल राजिव नयना।' इसी कारण राम करुणानिधान हैं। इसी कारण जगज्जननी सीता अग-जग के दुख का प्रतिनिधित्व भी करती हैं। उनमें उन सब लोगों के दुख रूपायित होते हैं जो रावणी अतिचारों और यातनाओं को सह रहे हैं।

शपथ शायद एक तरह की सांस्कृतिक पहचान भी है। वह रेखा खींचती है। वह उन संस्कारों की विशिष्टता स्थापित करती है जो राम और सीता की दुनिया के संस्कार हैं। रघुकुल रीति सदा चलि आई/ प्रान जाए पर वचन न जाई। कुछ संस्कृतियों में शपथ का निषेध है। बाइबल में कहा गया : 'But above all things, swear not. : I say to you, do not swear at all. लेकिन भारतीय संस्कृति के ताने बाने जिन दो महाकाव्यों से रचे गए वे दोनों शपथ के केन्द्र-बिंदु से ही ऊर्जित होते हैं। रामायण के मूल में दशरथ के वचन हैं, महाभारत के मूल में भीष्म के। दूसरी ओर, रिलीजस सोसायटी ऑफ फ्रेन्ड्स (क्वेकर्स) और मेनोनाइट्स ने शपथ लेने का ही विरोध किया। क्वेकर्स के संस्थापक जार्ज फाक्स को जब एक न्यायाधीश ने अदालत में शपथ लेने को कहा तो उसने उसे चुनौती देते हुए कहा कि वे बाइबल में एक भी पंक्ति बता दें कि जीसस या उनके दूतों ने शपथ ली हो। इस धार्मिक भावना को देखते हुए यूनाइटेड किंगडम में विधिक सुधार भी किए गए जहां शपथ के विकल्प के रूप में पुष्टि (Solemn affirmation) को स्थान दिया गया। तो हो सकता है कि उस समय भी राम की दुनिया और रावण की दुनिया के बीच भी शपथ के आधार पर कोई फर्क स्थापित होता हो और हनुमान के शपथ लेने से सीता को पता लगा हो कि यह व्यक्ति रावण-गैंग का तो नहीं हो सकता।

और सीता को हनुमान 'माता' कहते हैं। वाल्मीकि रामायण में हनुमान-सीता संवाद में सम्बोधन की यह आत्मीयता नहीं है। वहां हनुमान के संबोधन काफी वस्तुनिष्ठ और निरपेक्ष से हैं। लेकिन तुलसी के यहां यह भिन्नता स्थापित की गई है। ध्यान रहे कि हनुमान ने विभीषण से भी अनुज्ञा "देखी चहउँ जानकी माता" कहकर ही ली थी। मातृभाव के कारण उन्होंने मिलने का नैतिक अधिकार अर्जित किया था। उसी भाव से आप्लावित हनुमान अब "मातु जानकी" कह रहे हैं। वो 'जानकी माता' और यह 'मातु जानकी' प्रथम वाक्य में ही कहना ध्यान देने लायक है। वहां आग्रह यह कि मां से मिलने से पुत्र को कैसे रोका जा सकता है और यहां यह कि मां को बेटे से कुछ छुपाने या "फिरि बैठने" की जरूरत नहीं है।

हनुमान जी कहते हैं कि यह अंगूठी मैं लाया हूं और यह राम ने पहचान के तौर पर दी है। थामस मूर की कविता 'द लव्स आफ द एंजेल्स' में भी कुछ ऐसा ही वह लाता है : Twas then] by that soft light, I brought/ Value, glimmering visions to her view-/ catches of radiance, lost when caught,/ Bright labyringths, that led to nought/ And Vistas, with a void seen through/ Dwellings of bliss, that opening shove/ All that, in short, could temp Hope on/हनुमान भी सीता के सामने

कुछ झिलमिलाते हुए विजन्स लाए हैं, ज्योति (Radiance) की मंजूषा। भले ही वह अभी एक जगमगाती प्रहेलिका लग रही हो, लेकिन जो आनंद (bliss) का निवास-स्थान है/जिस पर आशा केन्द्रित की जा सकती है। यह मुद्रिका। और यह अंगूठी ऐसे नहीं टपक पड़ी, अशोक वृक्ष से। अशोक के पेड़ पर अंगूठियां नहीं फला करतीं। यह तो मेरे द्वारा लायी गयी है। मैं कैफी आज़्मी की तरह यह नहीं कह रहा कि 'रास्ता भूल गया या यहां मंजिल है मेरी/मैं भी कुछ लाया हूं क्या लाया हूं।' यह अंगूठी। राम के द्वारा दी गई निशानी। दिनकर के रश्मिरथी की तरह : फिर कहता हूँ, नहीं व्यर्थ राधेय यहां आया है/एक नया संदेश विश्व के हित वह भी लाया है/देवराज! छल, छद्म, स्वार्थ, कुछ भी न साथ लाया हूँ/मैं केवल आदर्श, एक उनका बनने आया हूँ/जिन्हें नहीं अवलम्ब दूसरा, छोड़ बाहु के बल को/'धर्म छोड़ भजते न कभी जो किसी लोभ से छल को'। हनुमान यहां पर व्यर्थ नहीं आए। वे सीता के लिए राम का संदेश लेकर आए हैं। वे कोई छल नहीं कर रहे। वे जानते हैं, सीता छली जा चुकी हैं। लेकिन हनुमान किसी लोभ से छल को नहीं भजते, धर्म को नहीं छोड़ते।

वे यह मुद्रिका निशानी की तरह लाए हैं। यह वह अंगूठी है जो किन्हीं अंतरंग स्मृतियों के कारण सीता के मन में स्फूर्ति भर देती है : 'दे प्रभु मुद्रिका सोक निवारो' में संकटमोचन हनुमान की यही विशेषता रेखांकित की गई है। सीता जो अभी ऐसी हो गई थीं जैसे बदन में जान ही नहीं रह गई हो। परवीन शाकिर निशानी के तौर पर ताजा फूल मांगती हैं, सीता को मुद्रिका मिलती है : 'शाख-ए-बदन को ताजा फूल निशानी दे/कोई तो हो जो मेरी जड़ों को पानी दे।' सीता की जड़ों से जुड़ी है यह मुद्रिका। यह मुद्रिका उन्हें सरसित-सिंचित करती है। हरिवंश राय बच्चन की एक कविता के शब्दों को सुनें तो 'यह निशानी मूक होकर भी बहुत कुछ बोलती है। खोल इसका अर्थ, पंथी, पंथ का अनुमान कर ले/पूर्व चलने के, बटोही, बाट की पहचान कर ले।' यह मुद्रिका मूक होकर भी बहुत कुछ बोलती है। यह राम ने दी ही पहचान के लिए है।

बहुत से देशों की लोककथाओं में राजकुमारी और उसकी अंगूठी की कहानी चलती है। फिलिप्पीनो लोककथा में राजकुमारी की अंगूठी खो जाती है और यह मुनादी करवाई जाती है कि जो भी बताएगा किसने चुराई, उसे राजकुमारी से ब्याह दिया जाएगा। अरेबियन नाइट्स की कहानियों में चीन की राजकुमारी को अंगूठी में एक संदेश छुपा हुआ मिलता है। शांगला की कहानियों में राजकुमारी की सोने की अंगूठी एक बूढ़े आदमी के प्याले में गिर जाती है। श्रीलंका की ग्रामकथाओं में एक राजकुमारी की अंगूठी में अत्यधिक शक्ति है। कथा सरित्सागर में एक ब्राह्मण पानी के पात्र में रत्नयुक्त अंगूठी गिरा देता है ताकि उदयाचल पर रहने वाली उसकी पत्नी विद्याधरी को उसके आगमन का पता चल जाए। तिब्बत की एक कथा में राजकुमार सुधन अपनी पत्नी मनोहारा का पता लगाने के लिए अपनी पत्नी की अंगूठी एक बर्तन में रख देता है ताकि जब वह पात्र खाली करे तो इस अंगूठी के गिरने से उसके आने का पता लग जाए। यहां यह भी सुंदरकांड के इस प्रसंग में गुंजाइश है कि यह अंगूठी राम की न होकर सीता की हो। सीता ने केवट को उतराई में देनी भी चाही थी और केवट ने अपने प्रेम लपेटे अटपटे बैनों में यही कहा था कि वह अभी नहीं, लौटती बेर उतराई लेगा। बात यह है कि राम को तो 'तापस वेष विसेषि उदासी' रखना पड़ा था तो फिर वे अंगूठी कैसे धारण कर सकते थे? दूसरी तरफ तर्क यह है कि यह अंगूठी प्रेम की, सीता-संयोग की अंगूठी है। यह समृद्धि की, भौतिक सम्पन्नता की, राजकीय ठाठ-बाट की अंगूठी नहीं है। इसलिए राम के द्वारा वन में भी यह धारित रहती है। जब पत्नी साथ थी तो अंगूठी साथ कैसे न रहती? यदि पत्नी के साथ रहने से तपस्विता प्रभावित नहीं होती तो अंगूठी साथ रहने से कैसे हो जाती? धनुष-बाण भी यों तो तपस्वियों द्वारा धारण नहीं किए जाते। उदासीनता सत्ता के प्रति थी और यह विशिष्ट किस्म की उदासीनता थी जो तुलसी ने

'विसेषि उदासी' शब्दों में व्यक्त भी की है। यह एक तरह का भावनात्मक अलगाव था, उस सिंहासनारोहण के प्रति जिसे लेकर इतना वितंडा खड़ा कर दिया गया, राम जैसे स्थित प्रज्ञ व्यक्ति को उस सबसे वितृष्णा हुई थी लेकिन वह उदासीनता सीतानुराग के प्रति थोड़े थी! सीता से सम्बन्ध की प्रतीक यह मुद्रिका इसलिए राम द्वारा धारित ही है। इसलिए अध्यात्म रामायण ने इसे राम की मुद्रिका ही कहा है और 'सहिदानी' या 'पहचान' के लिए एक बार 'अभिज्ञान' और एक बार 'परिज्ञान' शब्द प्रयुक्त किए हैं: 'अभिज्ञानार्थमेतन्यो ह्यङ्गुलीयकमुत्तमम' और 'अङ्गुलीयकमेतन्मे परिज्ञानार्थमुत्तमम।'

लाओस और वियतनाम में प्रचलित लोककथा के अनुसार पहले नर और वानर दोनों संग संग मैत्री से रहते थे। लेकिन नर वानर से जलता था क्योंकि वानर के खेत में बहुत सा धान होता था और नर के खेत की उपज बहुत कम थी। नर ने वानर से छल करके दोनों के खेतों की अदला बदली करवा ली और वानर को अपने ही बच्चों को मार डालने के लिए दुष्प्रेरित कर उसके हाथों ही उन्हें मरवा डाला। बाद में जब वानर को नर की चालाकियां पता चलीं तो वह उससे दूर भागकर जंगल चला गया। क्या इसलिए सीता को नर वानर का संग होना चकित करता है? बुद्ध धर्म के आने से बहुत पहले चीन में वानर की पूजा "स्वर्ग के बराबर महान ऋषि" की तरह होती थी। ग्वाटेमाला और मैक्सिको में मय लोग वानर देव की पूजा करते थे जो कला, संगीत, लेखन और मूर्तिकला के संरक्षक थे। अज्तेक संहिता में वानर और सूर्य को एक दूसरे से सम्बद्ध बताया गया है। ओ. हेनरी की एक कहानी में जरूर एक वानर और नर की 'आदर्श मैत्री' की बात आती है, जब वानर बैरनक्विला में नारियल के वृक्षों पर चढ़ता है और नर को नारियल फेंकता है। वानर नारियल का जल पीता है और नर नारियल को दो भागों में काटकर उसे बेचकर पैसे कमाता है और दोनों भाई की तरह रहते हैं। जार्ज पैली ने रेसिज्म की दुनिया में मूलभूत प्रतिष्ठा और गरिमा के मुद्दे पर जो एलीगरी लिखी है, उसका शीर्षक ही 'ओल्ड मैन एंड द मंकी' है। एक बूढ़े आदमी और वानर के बीच पनपते रिश्तों पर यह एक मार्मिक रूपक हैं। किष्किन्धाकांड के 5वें सर्ग में वाल्मीकि भी सुग्रीव के मुख से वानर और नर की यह बात उठाते हैं :"भगवान! मैं वानर हूं और आप नर। मेरे साथ जो आप मैत्री करना चाहते हैं, इसमें मेरा ही सत्कार है और मुझे ही उत्तम लाभ प्राप्त हो रहा है। यदि मेरी मैत्री आपको पसंद हो तो मेरा यह हाथ फैला हुआ है। आप इसे अपने हाथ में ले लें और परस्पर मैत्री का अटूट सम्बंध बना रहे– इसके लिए स्थिर मर्यादा बांध दें।' सुंदरकांड के पैंतीसवें सर्ग में सीता हनुमान से वाल्मीकीय रामायण में पूछती हैं :- 'मनुष्यों और वानरों का यह मेल किस प्रकार संभव हुआ?' ताबस्को और चिप्स के पहाड़ों पर स्थित गांवों में त्यौहार के वक्त नर लोग वानर वेशभूषा और हावभाव धारण करके चलते हैं। यह मेल जरूर ही कभी रहा है। सीता के प्रश्न में इसी की जिज्ञासा है और उत्तर में हनुमान वह पूरी कथा कह सुनाते हैं जिसमें दोनों के साथ होने का सविस्तार वर्णन है।

इन अर्थों में रामकथा बहुत 'प्रथमा' (primal) लगती है। यह उस समय की भी याद दिलाती है जब नर और वानर का साथ हुआ होगा। यह डार्विनियन वानर से नर के आने की कथा नहीं है। यह पूर्वोपरि और परवर्ती की कथा नहीं है। यह 'साथ' की कथा है। यहां वानर नर का अतीत नहीं है और नर वानर का भविष्य नहीं है। यहां तो 'संगति' की बात है। साहचर्य की बात है और 'संगति' शब्द का प्रयोग कर तुलसी यह भी कहते हैं कि यह 'हार्मनी' की बात भी है। नर नगर में रहता है और वानर वन में। यहां उस संगति की बात है जहां नगर वन का प्रतिद्वंद्वी नहीं है। पृथ्वी की पुत्री, निसर्ग-कन्या सीता तभी आश्वस्त हो सकती हैं जब वे इस संगति की पूरी कथा जान लें। इन दोनों की संगति ही उस राक्षसी सत्ता का नाश करती है जहां 'सोने की लंका' में परिग्रह (acquisitiveness) का 'परम' और 'चरम' देखने को मिलता है। यहां 'नर' संगति का भाष्य

नहीं कर रहा है। यहां वानर उस संगति का निर्वचन कर रहा है। वनवासियों के छोर से संगति का दावा हो तब तो सीता को सुकून मिलेगा। भूमि-पुत्र कहें तो भूमि-पुत्री आश्वस्त होगी। तो हनुमान सिर्फ वह सारी कहानी ही नहीं सुनाते होंगे कि कैसे उनका राम से मिलना हुआ। कैसे सुग्रीव से राम का मिलना हुआ। कैसे सुग्रीव से राम का मिलना हुआ। बल्कि वे उस 'मेल' की भी बात करते होंगे जिसके न होने से यह सब गड़बड़झाला है। नर और वानर के बीच की एक आंतरिक तार्किकता, एक समन्वय, एक सामंजस्य। तुलसी ने इस संगति पर बल दिया जबकि वाल्मीकि के यहां सीता हनुमान से ढेरों प्रश्न पूछती हैं और नर-वानर का साथ उसमें से मात्र एक प्रश्न है। लेकिन तुलसी के यहां सीता हनुमान से सबसे पहले यही प्रश्न पूछती हैं। तुलसी का यह चयन डार्विन का 'नेचुरल सेलेक्शन' नहीं है। यह एक साभिप्राय चयन है। वानर का अर्थ आर्थर एंथनी मैकडानेल के संस्कृत अंग्रेजी शब्दकोश में "roaming in the wood, forest or wilds" के रूप में दिया गया है। इन्हीं की 'अ प्रैक्टिकल संस्कृत डिक्शनरी में' इसका अर्थ belonging to the forest के रूप में भी दिया गया है। हरियाणा में जाटों की एक गोत्र वानर कहलाती है। बुनियादी समस्या उस विसंगति की ही है। उसी फर्क, फांक और फासले की जो नर और वानर के बीच स्थापित हो गया। अन्यथा वानप्रस्थ को अपने जीवन के 4 आश्रमों में से एक मानने वाली संस्कृति में वनों और वनचरों के ये हाल होते? राम ने इस वैषम्य को दूर किया था। हमारे समय में तो वनवासी और वन के बीच ही संगति नहीं रही। झाबुआ जैसे स्थानों पर तो वनवासी हैं पर वन नहीं हैं। लेकिन राम के दौर में नर और वानर के बीच की विसंगतियों और विषमताओं को दूर करने की कोशिश हुई थी। और वह उस युग की विशाल दैविक योजना का अंग था जिसके तहत देवता वानरों का रूप धर धर के वनों में जन्म लिए थे और राम के अवतरण की प्रतीक्षा कर रहे थे। यह उस युग की नियति थी कि नर और वानर को साथ साथ होना था। सीता की उत्सुकता इस बात को जानने में है कि यह नियति किस प्रकार फलित हुई? कैसे यह 'ट्रिस्ट विद डेस्टिनी' संभव हुई? नियति से मुलाकात। राक्षसी सत्ताएं सिर्फ नर के विरोध में नहीं होतीं, वे वानर के विरोध में भी होती हैं। वे दोनों पर अपनी प्रभुता जमाना चाहती हैं। वानर-संस्कृति उन्हें पहले ही पटकनी दे चुकी होती है। उन्हें छः महीने तक कांख में दबाए रहती है। लेकिन असल प्रश्न तो राक्षसी सत्ता के उन्मूलन का है। वह कोई वैयक्तिक द्वन्द्व नहीं है। वह शासनादर्श का सवाल है। 'नर' आकर 'वानर' को यह प्रयोजनशीलता का पर्सपेक्टिव उपलब्ध कराता है। वह नर जो तत्वतः नारायण है। उसे मालूम है कि चाहे तो वह भी बालि की तरह कोई वैयक्तिक द्वन्द्व युद्ध कर सकता है। बल्कि उसे मिली चुनौती भी काफी हद तक पर्सोनलाइज्ड है। उसकी पत्नी को उठा लिया गया है। वह तो वन में और जनस्थान में छाए हुए राक्षसी आतंक को खत्म करने के उद्देश्य से कभी विराध तो कभी खरदूषण को मार रहा था। लेकिन रावण ने ऐसी हरकत की थी कि इस लड़ाई के प्रयोजन का वैराट्य खत्म हो जाए और यह राम-रावण के निजी स्कोर सेटल करने में अपघटित होकर रह जाए। यह एक अपहरण दरअसल राम के लिए एक जबर्दस्त प्रोवोकेशन था। एक जागतिक लड़ाई को व्यक्तिगत लड़ाई बनाने के लिये। लेकिन राम रावण के ट्रेप में नहीं फंसते। वे लड़ाई की महनीयता को कम नहीं होने देते। वे वानरों का साथ लेते हैं। बात इस 'संगति' की है। राम के गौरव में कमी नहीं आएगी, यदि वे अकेले ही रावण की राक्षसी ताकत से निपट लें। लेकिन राम अकेले यह नहीं करना चाहते। वे जोड़ते हैं, कनेक्ट करते हैं, नेटवर्किंग करते हैं, एक कामनवेल्थ बनाते हैं। वे अकेला मदमाता, गर्वभरा, दिपदिपाता दीप नहीं बनते। वे पंक्ति ढूंढ़ते हैं, वे मानते हैं कि हम साथ हैं तो सार्थ है। वे अपने साथियों को भूमिका देते हैं, उन्हें दायित्व देते हैं। इसलिए उनके इन सब साथियों में 'रामकाज' का इतना महत्व है, क्योंकि वह भूमिका नहीं है, विश्वास है। इसीलिए राम की आत्मा यानी सीता भी "संग कहुँ

कैसे" का प्रथमतम प्रश्न करती हैं। इसलिए राम की स्मृति हमारी चेतना में दीपावली से जुड़ी है। वे दीप नहीं, दीप की पंक्तियों के भगवान हैं। वे बुद्ध की तरह यह नहीं कहते कि 'अप्प दीपो भव' बल्कि वे सभी के हृदय में मौजूद आलोक का संग्रह करते हैं और फिर तमस की शक्तियों से निर्णायक युद्ध करते हैं। खर-दूषण से वे इसके पहले अकेले ही भिड़ते हैं। लेकिन अद्वितीय वीरता के बावजूद वह उनके जीवन का एक एपिसोड मात्र है। अतः वे रावण से युद्ध को इस 'संगति' के जरिए वृहत्तर और महत्तर सामाजिक सार्थकता देना तय करते हैं। यह उनके जीवन का एक प्रसंग न रहकर महाकाव्यात्मक चरितार्थताएं प्राप्त करेगा। इसलिए सीता की रुचि 'संग' का पता करने में है। इसलिए हनुमान की रुचि 'संगति' की कथा बताने में है। दुर्गा सप्तशती में मध्यम चरित्र में देवताओं के तेज का एकत्रीकरण दुर्गा के रूप में हुआ था और उत्तर चरित्र में अलग सभी देवताओं की शक्तियां देवी में आकर लीन भी हो जाती हैं। वह 'यूनियन' का आदर्श था। राम के यहां 'फेडरलिज्म' का आदर्श है। देवशक्तियां वन में बिखरी पड़ी हैं। उन्हें अपने साथ ले चलना है। राम उन देवताओं के तेज का सपुंजन नहीं हैं, वे तो स्वयं भगवत्ता के अवतार हैं। राम में इन देवताओं की विभूतियां आकर प्रवेश नहीं करतीं जैसी देवी अम्बिका में करती हैं बल्कि राम ही इन सबके हृदय में स्थित हैं। हनुमान तो बाद में अपना सीना चीरकर भी इसे दिखा देंगे। दुर्गा सप्तशती में एकत्व है, राम कथा में संघत्व है। राम 'जन' और 'गण' को साथ लेते हैं। 'जनस्थान' राक्षसों से संत्रस्त था। पब्लिक प्लेस पर राक्षसी आतंक और धौंस कायम थी। इसलिए पब्लिक की लड़ाई राम के नेतृत्व में लड़ी गई। पब्लिक वहां निष्क्रिय उपस्थिति नहीं दर्ज कराती। दिशा दिशा में जाती है, अन्वेषी है, पुल बनाती है और लड़ती है। सीता अपहरण के बाद राम के संघर्ष जानबूझकर जैसे अकेले नहीं रह गए। जब 'व्यक्तिगत' पर आक्रमण हुआ तो 'सामाजिक' की तलाश ज्यादा जरूरी हो गई। इसलिए नहीं कि अपने प्राइवेट प्रतिशोध में आमजन को उलझाना था बल्कि इसलिए कि जब सामने वाला नीच हरकतों पर उतर आया– मारीच, सुबाहु, विराध, खर-दूषण, शूर्पणखा प्रसंगों के बाद– तो राम को उससे ऊपर ही उठना था। वे शुरू से ही जन की लड़ाई लड़ रहे थे और सीता अपहरण के बाद भी वे डिविएट नहीं हुए बल्कि और सचेत व साग्रह तरीके से जन-संग्रह और जन-संगठन में जुट गए। रावण की कुचाल सफल नहीं हो पाई। सीता का अपहरण करके रावण ने अपने अपकर्मों का शीर्ष छू लिया। उस अपहरण ने जैसे राम के भीतर बहुत कुछ जगा दिया। ऐसे दुष्ट से निगोशिएट नहीं किया जाता। इसका तो सर ही कुचलना पड़ेगा। राम ने व्यक्तिगत उत्तेजना में कोई जल्दबाजी नहीं दिखाई, उन्होंने निजी हड़बड़ी में बदला भुनाना नहीं चाहा। उन्होंने प्रतिक्रिया को एक अन्तराल मुहैया कराया। उस दौर में उन्होंने जन और वन के कष्टों से अपने को एकाकार किया। वानरों की लड़ाई उन्होंने लड़ी। इस अन्तराल का उपयोग उन्होंने संगति करने और संगति को प्रगाढ़ व दृढ़ करने में किया। रावण पर वार अब उन्हें ही नहीं करना था। अब तो एक वानर को भी लंका-दहन करना था। इसलिए राम की जीत में सबको खुशी होती है क्योंकि राम की जीत सबकी जीत थी। क्योंकि राम की लड़ाई सबकी लड़ाई थी। रावण का प्लान फेल हो गया। वह उसे राम की एकल solitary लड़ाई जताना चाहता था। लेकिन राम ने एक सालिडेरिटी कायम की। यह राम की संगत थी। बाद में जैसे सिक्ख संगत बनी, वैसे ही राम के समय में यह संगत अस्तित्व में आई। हनुमान इसी 'संगति' की कथा सीता को कह सुनाते हैं।

क्या यह राक्षसों की जानी पहचानी शैली नहीं है? जब कोई लोक कर्तव्यों का सम्पादन कर रहा हो तो उस पर व्यक्तिगत हमले करो। उसके निजी जीवन पर आघात करो, भले ही खुद का हरम हजारों अपहृता स्त्रियों से भरा हो, लेकिन अपने शत्रु के पास एक स्वयंवरित तक भी न रहने दो। भंग करो उसकी पारिवारिक शांति। होते हैं कुछ त्रेता के धोबी की मानसिकता वाले। वे आदतन डिस्क्रेडिट करेंगे ही, रावण अपना प्लान उन्हीं को ध्यान

में रखकर बनाता है। उसकी कोशिश है राम को हताशा के एकान्त में डुबोने की। राम थोड़ी देर के लिए डूबते भी हैं। लेकिन फिर वे लोक-कर्तव्य की अपनी धुरी पर लौट आते हैं और रावण का काल सिद्ध होते हैं। लोक-कर्तव्य की यह धुरी उसी 'संगत' की माधुरी से संभव होती है। देखिए कि संगति का यह स्वर रैदास जैसा नहीं है कि "साधो संगति सरनि तुम्हारी/तुम्ह चंदन मैं अरंड बापुरौ, निकटि तुम्हारी बासा"। बल्कि इसमें एक समानता का भाव है। देखिए कि यहां सत्संगति या सुसंगति की बात नहीं की जा रही, जबकि भक्ति काव्य सत्संग के गुण-वर्णन से भरा पड़ा है और स्वयं तुलसी भी सत्संग की महिमा जब तब गाते रहते हैं। यहां इतने महत्वपूर्ण क्षण वे बात 'संगति' भर की कर रहे हैं क्योंकि बात सिर्फ साथ की नहीं है बल्कि सानुकूलता और समंजस की है। नर वानर की पटरी कैसे बैठ गई? उनके बीच यह 'मिल्लत' कैसे स्थापित हो गई?

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास।।
हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी।।
बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भएहु तात मो कहुँ जलजाना।।
अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुज सहित सुख-भवन खरारी।।
कोमल चित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई।।
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक।।
कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता।।
बचन न आव नयन भरे बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी।।
देखि परम बिरहाकुल सीता। बोला कपि मृदु बचन बिनीता।।
मातु कुसल प्रभु अनुज समेता। तब दुख दुखी सुकृपा निकेता।
जनि जननी मानहु जिय ऊना।। तुम्ह ते प्रेम राम के दूना।।
रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयऊ भरे बिलोचन नीर।।

हनुमानजी के प्रेमयुक्त वचन सुनकर सीताजी के मन में विश्वास उत्पन्न हो गया। उन्होंने जान लिया कि यह मन वचन और कर्म से कृपासागर (राम) का दास है। भगवान का जन जानकर अत्यन्त गाढ़ी प्रीति हो गयी। नेत्रों में जल भर आया और शरीर अत्यन्त पुलकित हो गया। (सीता ने कहा-) हे तात! विरह सागर में डूबती हुई मुझको तुम जहाज हुए। मैं बलिहारी जाती हूं। अब छोटे भाई सहित खर के शत्रु सुखधाम (राम) का कुशल मंगल कहो। रघुनाथ तो कोमल हृदय और कृपालु हैं। फिर हे हनुमान! उन्होंने किस कारण यह निष्ठुरता धारण कर ली है। सेवक को सुख देना उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। वे रघुनाथ क्या कभी मेरी भी याद करते हैं? हे तात! क्या कभी उनके कोमल सांवले अंगों को देखकर मेरे नेत्र शीतल होंगे? (मुंह से) वचन नहीं निकलता, नेत्रों में जल भर आया। (वे बोलीं-) हा नाथ, आपने मुझे बिल्कुल ही भुला दिया। सीताजी को विरह से परम व्याकुल देखकर हनुमान कोमल और विनीत वचन बोले- हे माता! सुंदर कृपा के धाम प्रभु भाई (लक्ष्मण) सहित कुशल हैं, परन्तु आपके दुख से दुखी हैं। हे माता! मन में ग्लानि न मानिये। राम के हृदय में आपसे दूना प्रेम है। हे माता! अब धीरज धरकर रघुनायक का संदेश सुनिये। ऐसा कहकर हनुमान प्रेम से गद्गद् हो गए। उनके नेत्रों में जल भर आया।

हरिवंशराय बच्चन की एक कविता याद आती है जो खोये विश्वास की बात करती है और सीता की हालत पर एकदम मौजूं बैठती है :- कितना अकेला आज मैं/संघर्ष में टूटा हुआ/दुर्भाग्य से लूटा हुआ/परिवार से छूटा हुआ/कितना अकेला आज मैं/खोया सभी विश्वास है/भूला सभी उल्लास है/कुछ खोजती हर सांस है/कितना अकेला आज मैं।" यहां अकेला की जगह 'अकेली' कर दें। बस बाकी सीता के ही बारे में जैसे सब कुछ लिखा गया है। सीता का विश्वास खो गया था। रावण के धोखे के दु:स्वप्न के बाद उनका मन किसी पर भरोसा नहीं करने को तैयार था। लेकिन हनुमान के सप्रेम वचन के बाद वह विश्वास जैसे लौट आया। पंत की एक कविता में कहा गया थाः विश्वास चाहता है मन/विश्वास पूर्ण जीवन पर/सुख दुख के पुलिन डुबा कर/लहराता जीवन सागर।" सीता का मन भी विश्वास चाहता था। लेकिन विश्वास करने की शक्ति खत्म सी हो गई थी। सीता ने देखा था कि किस तरह उनके मन की सहज श्रद्धाओं का शोषण किया गया। उन्हें विश्वास का प्रतिदान (reciprocation) विश्वास में नहीं मिला। उन्होंने आदर दिया तो अपमान मिला। विश्वास एक तरह का नैश्चित्य है जबकि सीता की ज़िन्दगी अब तो तमाम किस्म की अनिश्चतताओं और संदेहों में घिर गई है। इस कारण असुरक्षा है और सीता अब भरोसे में नहीं रह सकती हैं। वे भय में हैं, वे तनाव में हैं। उनका अविश्वास एक तरह का डिफेन्सिव रियलिज्म़ है। ऐसा नहीं है कि सीता साहसी नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि सीता की पवित्र निर्भीकता में कोई दरार आ गई है। लेकिन दूध की जली होने पर वे छाछ को भी फूंक फूंक कर पी रही हैं। पृथ्वी-पुत्री सीता की यह सावधानी देखकर हंगरी के कवि अत्तिला जोझेफ़ की कविता स्मरण हो आती है : 'यह मेरी कर्कश आवाज़ नहीं, यह पृथ्वी है/जो कड़कती है/सावधान! सावधान!/शैतान का पागलपन जाग उठा है।'

सीता अपहरण किए जाने से पूर्व एक अबोध स्थिति में थीं। उनके दिल का सादापन देखते ही बनता था। रावण के दोमुहेंपन और दुष्टता ने पहली बार सीता का परिचय 'ईविल' से करवाया। राक्षसी निर्दयताओं ने सीता की सहज विश्वासी भावनाओं को जमकर क्षति पहुंचाई है। उनके मन में जैसे एक सिनिसिज़्म ने घर कर लिया है। एक तरह के मोहभंग की स्थिति। पहले उनकी अबोधता में दिन दिन जीवन एक विस्मय था, एक वंडर। अब तो जीवन प्रतिदिन एक आतंक है, एक हॉरर। जिंदगी उतनी सरल नहीं है। बल्कि सीता तो जिंदगी से इस्तीफा-सा देकर बैठी हैं। हनुमान के प्रेमपूर्ण वचन सीता को उनके सहज सेल्फ में वापस लौटाते हैं, सीता ने अबोध होना चुना नहीं था। वह तो उनका स्वभाव मात्र था– अपहरण से पूर्व तक सीता एक प्रोटेक्टेड लाइफ जीती आयी थीं। वे संसार को दुष्ट नहीं मानती थीं। उन्हें जगत में एक असीम विश्वास-सा था। लेकिन अपहरण के बाद उन्हें पता लगा कि दुनिया कैसी है, या कैसी हो गई है। अबोधता का प्रतिस्थापन अनुभव से हुआ और अनुभव खासा कड़वा था। सीता ने अपमान देखा, मृत्यु देखी, विश्वासघात देखा, लालच देखा, अहंकार देखा। सब देख देख कर वह थक गयीं। जीवन के प्रति उत्साह (zest) जैसे खत्म हो गया उनमें। चेतना का एक संकुचन (narrowing of consciousness) सा उनमें हो आया। अब किसी अजनबी से मिलती हैं सीता तो उन्हें बहुत कुछ सोचना पड़ता है। इन मायनों में अशोक वाटिका ईडन के बगीचे से एकदम विपरीत ध्रुव पर है। ईडन के बगीचे में अबोधता थी। अशोक वाटिका में दुष्टता का शासन है। ईडन के बगीचे से निकलना दुनियादार होना है। ईडन यदि Garden of God था तो अशोक वाटिका Garden of Evil है। एलन मिलार्ड ने ईडन के बगीचे को एक ऐसे स्थान की तरह परिभाषित किया है जिसमें सीधे-सादे दौर की सांस्कृतिक स्मृतियां हैं : cultural memory of simpler times. लेकिन अशोक वाटिका में सीता जैसे सरल हृदयों के लिए संत्रास की संरचनाएं हैं। अशोक वाटिका सीता के लिए जीवन का वह मुकाम है जहां वह सीधा-सादा दौर बहुत पीछे छूट गया है। ईडन जीवन के फूल का खिलना था,

अशोक वाटिका जैसे उसका मुरझाना है। ईडन में जैसे ईश्वरीयता की अभिव्यक्ति (expression) थी, अशोक वाटिका में जैसे उसका दमन है। इसलिए हनुमान 'तेहि असोक वाटिका उजारी' की स्थिति संभव कर पाते हैं। ईडन प्रकृति थी, अशोक वाटिका विकृति थी। ध्यान दें कि वाल्मीकि ने 'कुर्वतीं प्रभया देवीं सर्वा वितिमिरा दिशः' सुंदरकांड (15/29) में लिखा कि सीता अपने प्रकाश से सब दिशाओं को प्रकाशित कर रही हैं किन्तु तुलसी ने इसे जनक की वाटिका में बालकांड में लिखा : पूजन गौरि सखीं लै आई/करत प्रकास फिरहि फुलवाई'। कि वे फुलवारी में प्रकाश करती हुई फिर रही हैं। कहां वह मृग के छौने का सा कौतूहल-चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत– और कहां यह अशोक वाटिका जिसमें डर अपने राक्षसी आयाम में है। कहां वह बाग जो "परम रम्य आरामु येहु जो रामहि सुख देत," कि जो राम को सुख दे रहा था और कहां यह अशोक वाटिका जिसमें सीता को दुख दिया जा रहा है। तुलसी ने उस बाग का वर्णन खूब किया है : "भूप बागु बर देखेउ जाई/जहँ बसंत रितु रही लोभाई/लागे बिटप मनोहर नाना/बरन बरन बर बेलि बिताना/ नव पल्लव फल सुमन सुहाए/निज संपति सुररूख लजाए/ चातक कोकिल कीर चकोरा/कूजत बिहग नटत कल मोरा/ मध्य बाग सरू सोह सुहावा/मनि सोपान बिचित्र बनावा/ बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा/जलखग कूजत गुंजत भृंगा/" लेकिन अशोक वाटिका के एक वाटिका के रूप में वर्णन में उन्होंने कोई रुचि नहीं ली जबकि वाल्मीकि ने ली है। उन्होंने सुंदरकांड के चौदहवें सर्ग में अशोक वाटिका की शोभा का वर्णन जमकर किया है। लगभग 40 श्लोकों में। उसके बाद पंद्रहवें सर्ग में भी करीब 14 श्लोक इस पर खर्च किए हैं। लेकिन तुलसी ने जैसे अशोक वाटिका का कोई नोटिस ही नहीं लिया है। जहां सीता का मन सुमन मुरझाया हुआ हो, वह कैसी वाटिका? सीता की वाटिका तो वह थी जहाँ "चितवति चकित चहूँ दिसि सीता" अब यहां तो विस्मय की जगह आतंक भर गया है। 'वंडर' की जगह 'हॉरर'। यहां तो अजनबी को देखकर डर लगता है और शक होता है।

सीता के मन का उद्यान खो गया था। सीता के मन का बचपन खो गया था। सीता को सप्रेम वचन कहकर हनुमान उन्हें उन्हीं कुछ खोई हुई चीजों की ओर लौटाते हैं। कहने को यह अशोक वाटिका थी, लेकिन इसमें कुछ सीता के लिए पैदा नहीं हुआ। सीता के संदर्भ में यह अनुर्वर है, बंजर है। ये तो हनुमान के वचन हैं जो सीता के मन में विश्वास उत्पन्न करते हैं। हनुमान सीता को कथा ही नहीं सुनाते, वे उनका मानसिक उपचार भी करते हैं। इसीलिए देखिए कि इस प्रसंग में तुलसी ने बार बार 'मन' शब्द का प्रयोग किया है–'सीता मन विचार कर नाना' 'लागी सुनै श्रवन मन लाई' 'फिरि बैठी मन बिसमय भयऊ', 'उपजा मन बिसवास', 'जाना मन क्रम बचन यह'। सीता देहत्याग इसलिए करने चली थीं क्योंकि उनका मन घावों से लथपथ हो गया था। हनुमान के लिए जरूरी था कि वे सीता के मन को उपचारित करते। यह मूड का इलाज नहीं है, यह मन का इलाज है। वह एक प्रार्थना थी न : हमको मन की शक्ति देना।' विश्वास मन की वही शक्ति है। वैसे भी रावण ने सीता को भावनात्मक आघात ही ज्यादा दिए हैं। शरीर से ज्यादा वह मन पर हिंस्र आक्रमण करता है। हनुमान सीता को रामकथा सुनाकर उनकी इमोशनल रि-प्रोसेसिंग (भावनात्मक पुनर्प्रसंस्करण) करते हैं। रि-फ्युएलिंग। नए सिरे से ईंधन भरते हैं।

इस विश्वास से ज्ञान उत्पन्न हुआ। श्रद्धावान लभते ज्ञानं। सीता ने जाना कि यह हनुमान मन, कर्म और वचन से कृपासिंधु का दास है। हनुमान-बाहुक में तुलसी ने इसी प्रकार स्वयं को मन, वचन और कर्म से हनुमान का दास कहा है : 'मन की वचन की करम की तिहूँ प्रकार/तुलसी तिहारो तुम साहेब सुजान हौ।' तुलसी दासानुदास हैं, लेकिन बात इन तीनों चीजों मन-कर्म-वचन के एकीकरण की है। इस एकीकरण के साथ सीता को भी नवजीवन मिलता है क्योंकि कोई ऐसा बंदा ही जो इन तीनों तरह से राम का दास बना हुआ है, वही

बंदिनी सीता का दुख दूर कर सकता है, उन्हें नवोन्मेष से भर सकता है। सुमित्रानंदन पंत ने इसीलिए युगागम नामक अपनी कविता में कहा : 'सृजन करो नवजीवन/नव कर्म, वचन, मन।' 15 अगस्त 1947 के दिन पंत ने एक कविता में कहा था: 'आज अवतरित हुई चेतना भू पर नूतन/मुक्ति माँगती कर्म वचन मन प्राण समर्पण।' हनुमान के रूप में बंदिनी सीता की विषण्ण दुनिया में एक नवचेतना अवतरित हुई। सीता की मुक्ति के लिए कर्म-वचन-मन की एकता से किया गया समर्पण ही जरूरी है जो इस हनुमान में है। वह एका ही फर्क है। संस्कृत की एक सूक्ति है : 'मनस्येकं वचनस्येकं कर्मणस्यकं महात्मानां/मनस्यद वचनस्यन्यद कर्मस्यन्यद दुरात्मानां' कि जिसका मन, वचन और कर्म एक जैसा है वह महात्मा, जिसके अलग अलग वो दुरात्मा। सनातन धर्म की शास्त्रों ने परिभाषा ही यह की थीः 'अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।' कि जो कर्म से, मन से, वचन से सभी प्राणियों के लिए अद्रोही है।

इस दोहे में महत्व की सबसे बड़ी बात इसी moral coherence की है, जो मन वचन और कर्म की एकता से पैदा होता है। यह एक हनुमान नाम का शख्स दरअसल एक साबुत और सम्पूर्ण आदमी है। यह ब्रेकडाउन का शिकार नहीं हुआ है। इसके वचन और मन में द्वैत नहीं है। यह पाखंड नहीं रचता। यह ड्रामा नहीं कर रहा। ग्रीक शब्द hypocrisis, जिससे hypocrisy नामक अंग्रेजी शब्द की व्युत्पत्ति हुई, का अर्थ प्ले-एक्टिंग और कायरता दोनों है। रावण ने भी खूब नौटंकी रची थी और उसकी कायरता भी स्पष्ट थी जो वो सूने में सीता को हर लाया। इस तरह का पाखंडी व्यक्ति कहता कुछ है, करता कुछ है। मुंह में राम, बगल में छुरी जैसी स्थिति। कहने को बार बार 'राम ही राखे' लेकिन करने को तरह तरह की दुष्टताएं। जिसमें यह नैतिक ऐक्य-मन, वचन और कर्म का नहीं, वह अविश्वसनीय (अनट्रस्टवर्दी) ही होगा। सीता का खोया हुआ विश्वास वही लौटा सकता है जिसमें व्यक्तित्व का यह सकारात्मक एकीकरण (यूनिफिकेशन) हुआ हो, जिसका कोई छुपाया हुआ दूसरा पहलू (शैडो-साइड) नहीं हो। सीता इस तरह के छलिया लोगों से अब विशेष सावधानी बरतती हैं। दरअसल विश्वासघात वही करता है जो मन, वचन और कर्म से एक नहीं हो। रावण वेश तो ब्राह्मण का धारण करके गया था, बात तो मीठी मीठी करता था, लेकिन इरादे कुछ और ही थे। लूथर ने ऐसे लोगों के बारे में लिखा है: It does not help the soul if the body is adorned with the sacred robes of priests or dwells in sacred places, or is occupied with sacred duties, or prays, fasts, abstains from certain kinds of food or does any work that can be done by the body or in the body. The righteousness and the freedom of the soul require something far different. सीता ने देखा तो पाया कि यह छल-छद्म राक्षसी दुनिया की लगभग पारिभाषिक विशेषता-सी है। अब वे 'टेकन फॉर ग्रांटेड' वाली मनोदशा में नहीं थीं। अब उन्होंने जान लिया है कि लोगों के मन कुछ हैं, वचन कुछ और। लोगों के वचन कुछ हैं और कर्म कुछ और। इसलिए अब उनकी नजर में सम्मान उन्हीं लोगों का है जो मन वचन और कर्म की समता रखते हैं, जो एक नैतिक पारदर्शिता रखते हैं। रावण तो शेखी बखारता था, लेकिन हनुमान तो 'दास' की तरह विनम्र हैं। और कुल मिलाकर एक सौ टंच खरे सच्चे आदमी हैं। रावण ने सीता के विश्वास को ठेस पहुंचाई थी। उसके मन और वचन में फांक थी। नारायण पंडित (हितोपदेशए 1/82) ने कहा था : 'दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम्/मधु तिष्ठति जिह्नाग्रे हृदय तु हालाहलम्' कि प्रियवादी दुर्जन भी विश्वास योग्य नहीं होता। उसकी जीभ में शहद होता है किन्तु हृदय में विष भरा रहता है।' हितोपदेश ने अंदर से कुछ और बाहर से कुछ आदमी को सर्व अनर्थकारी कहा है: 'अन्तर्दुष्टः क्षमायुक्तः सर्वानिर्थरः किल 'अर्थात् भीतर से कुटिल और बाहर से क्षमा-युक्त व्यक्ति निश्चय ही सर्व अनर्थकारी होता है। एक संस्कृत सूक्ति है कि दुर्जनों की वाणी में

कुछ अन्य, कंठ में कुछ अन्य और होंठ पर कुछ अन्य भाव होते है: अन्यद्वचसि कण्ठेऽन्यदन्यदोष्ठ पुटे स्थितम्' स्वयं तुलसी ने इस तरह के मिथ्याभाषी खल, जिनकी जुबां पर कुछ और मन में कुछ है, के बारे में रामचरितमानस में लिखा है : 'झूठइ लेना झूठई देना/झूठइ भोजन झूठ चबेना/बोलिहिं मधुर वचन जिमि मोरा/खाइ महा अहि हृदय कठोरा।' रावन ऐसा ही है। इसलिए सीता अब कभी उस पर विश्वास न करेंगी। हाल सातवाहन ने गाथा सप्तशती (7/86) में लिखा है : मा वच्चह वीसम्भं इमाणें वहुचाडुकम्मकणि उणाणं/णिव्वति अकज्जपरमुहाणं सुण आणें व खलाणं। कि बहुत तरह से की झूठी प्रशंसा करने में निपुण, कार्य हो जाने पर पराङ्.मुख और कुत्तों जैसे स्वभाव वाले खलों पर विश्वास न करो। सीता नहीं करती। लेकिन यह विश्वास उठ गया था। हनुमान के कारण उनका विश्वास लौट आया। भारवि ने किरातार्जुनीय (3/31) में कहा था कि विश्वासयत्यास्तु सतां हि योगः कि सज्जनों का सम्मिलन विश्वास उत्पन्न कर ही देता है।

राम कृपा के सिन्धु हैं। मध्यकाल के 'लैंड-लॉक्ड' अंचल के कवियों में 'अम्बुनिधि' या 'कृपासिन्धु' या 'करुणा सागर' का भाव बहुत आया है। 'अब कै माधव, मोहिं उधारि/मगन हौं भव अम्बुनिधि में/ कृपासिन्धु मुरारि" वाले पद में तो सूरदास ने सिन्धु का एक पूरा रूपक रचा है। कृपासिंधु मुरारी किस प्रकार भवसिंधु से उबारते हैं : नीर अति गंभीर माया, लोभ लहरि तरंग/ लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग/मीन इन्द्रिय अतिहि कहति, मोह अद्य सिर भार/पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह सवार/काम क्रोध समेत तृष्ना, पवन अति झकझोर/नाहिं चितवत देख तियसुत नाम-नौका ओर/थक्यौ बीच बेहाल विह्वल, सुनहू करूनामूल/ स्याम भुज गाढ़ि डारहु सूर ब्रज के कूल। 'कृपासिंधु' ही 'भुज गहि काढ़ि डारहु' का काम करते हैं। तुलसी बार बार कृपासिन्धु शब्द को राम के पर्याय की तरह बरतते हैं, विशेषण की तरह नहीं। अस्तुति करि सुर सिद्ध सिधाए/लछिमन कृपासिन्धु पहिं आए। राम और संसार के बीच सिन्धु शब्द का यह अर्थ-नाट्य देखिए। एक के संदर्भ में यह अनंतता का प्रतीक है, द्रवित होने का भी, कोमलता का भी और दूसरे के संबंध में कठिनता और दुर्धर्षता का। साकेत के पंचम सर्ग में मैथिलीशरण गुप्त के लक्ष्मण बोलते हैं : 'मैं तो निज भव सिन्धु कभी का तर चुका, रामचरण में आत्मसमर्पण कर चुका।' 'कृपासिन्धु' के सिलसिले में जो सागर आश्वासन है, भव सिन्धु के सिलसिले में वही भय है। 'संसारार्णव भीतिं' की बात स्त्रोतों ने कई बार की है। संसार के संदर्भ में सिंधु झंझावातों की याद दिलाता है। अनिश्चितताओं की।

राम कृपा-सिन्धु इस अर्थ में ही नहीं हैं कि वे, या उनकी कृपा अगाध है बल्कि इस अर्थ में भी उनमें समाकर नदी भी नदी नहीं रहती, सिन्धु ही हो जाती है। उनका परस सोना बना देता है सबको। आरसी प्रसाद सिंह का एक गीत है : 'कैसे घट में सिन्धु समाए, कैसे रज से मिले धराधर/एक बूंद के प्यासे चातक/के अधरों पर उमड़ा सागर।" राम में हनुमान समाए या हनुमान में राम। हनुमान का सीना चीर देखिए। राम सीता की युगलमूर्ति मौजूद है। सूरदास की गोपियों, गायों, ग्वालों के आंसुओं की बाढ़ से जब ब्रज डूबने-सा लगता है तो ऊधो को करुणासिंधु ही याद आते हैं। नाथ अनाथन की सुध लीजै/नैन नीर-धारा बाढ़ी अति ब्रज किन कर गहि लीजै/ चरन कमल दरसन नव नौका करुणासिंधु जगत जसु लीजै। यहां भी सीता की सुधि लेने के लिए करुणासिंधु ने हनुमान को भेजा है। वे कृपासिंधु सिर्फ हनुमान के लिए नहीं हैं, जिस आर्त्त अवस्था में अभी सीता हैं, उनके लिए भी हैं। पति पत्नि का रिश्ता कृपा का नहीं होता है। वे अधिकार से– स्वत्व से- बात करते हैं। लेकिन सीता की कातर अवस्था कुछ वैसी ही है, जैसी सुमित्रानंदन पंत की कविता : 'हे करुणाकर, करुणासागर' कविता में बताई गई है :- "क्यों इतनी दुर्बलताओं का दीप शून्य गहन मानव अंतर!/ दैन्य पराभव आशंका की/ छाया से विदीर्ण चिर जर्जर।" कभी कभी अंतरंग सम्बन्धों की सघनता के बावजूद जब इस तरह की संकटग्रस्त स्थिति हो तो प्रिय का प्रेम भी प्यार नहीं,

ममता लगता है, करुणा लगता है। इसलिए आदतन राम को सीता ने कृपासिंधु नहीं कह दिया है। या भक्ति की किसी काव्य-रुढ़ि को निबाहने के लिए इस अभिधान का प्रयोग नहीं हो गया है। कि सूरदास भी जब "जै गोविंद माधव मुकुंद हरि/कृपा-सिंधु कल्यान कंस-अरि" कहते हैं, तो वे भी किसी आदत से नहीं कहते हैं। या तुलसी जब "हरि! तुम बहुत अनुग्रह किन्हों" का पद गाते हुए जब ये कहते हैं" कृपा डोरि बनसी पद अंकुस, परम प्रेम-मृदुचारो/एहि बिधि बेगि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो"। आज अपने ऐतिहासिक समय से दूर हो जाने के कारण हमें उनके ये पद भक्ति की किसी रीति का निर्वाह लगते हैं, लेकिन कौन जाने अपने जीवन की किस विकल घड़ी में उन्होंने ऐसे पद लिखे होंगे? सीता का स्वयं का संदर्भ तो और भी मार्मिक है। ऐसा कि जिसे सुनकर बाद में राम की आंखे भी भर आती हैं। इसलिये सीता को राम उसी तरह कृपासिंधु हैं जैसे वे हनुमान के लिये हैं। सीता को हनुमान मन कर्म वचन से कृपासिंधु के दास जिस तरह लगते हैं, हनुमान को सीता भी ऐसी लगती हैं। 'मन कर्म वचन राम अनुरागी', जो सीता की ओर से वे राम को कह भी सुनाते हैं।

सीता के मन में हनुमान को हरिजन जानकर स्नेह उमड़ आता है। यह हरिजन आज का जातिसूचक हरिजन नहीं है। यह तो वैसा हरिजन है, जैसा कबीर कहते हैं, 'रोड़ा भया तो क्या भया, पंथी को दुख देह/हरिजन ऐसा चाहिए, जिसी जिमीं की खेह/खेह भई तो क्या भयो, उड़ि उड़ि लागे अंग/हरिजन ऐसा चाहिए, पाँणी जैसा रंग/पाणी भया तो क्या भया, ताता सीता होइ/हरिजन ऐसा चाहिए जैसा हरि ही होइ/हरि भया तो क्या भया जैसों सब कुछ होइ/हरिजन ऐसा चाहिए, हरि भजि निरमल होइ'। लेकिन यह भी सही है कि यदि यहां हरिजन के समकालीन अर्थों में हनुमान को लिया जाता तो सीता की प्रीति का बढ़ना उन्हें जगदम्बा के रूप में और अच्छी तरह स्थापित करता। हनुमान पहले ही स्वयं को 'कहहु कवन मैं परम कुलीना' और 'सबहिं विधि हीना' कह चुके हैं और 'प्रात लेइ जो नाम हमारा तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा" जैसी निर्योग्यताओं से भी स्वयं को शापित मान चुके हैं। मुसाफिर बैठा अपने 'बीमार मानस का गेह' नामक कविता-संग्रह की एक कविता "मैं उनके मंदिर गया था" के जरिए कुछ बेलाग बातें कहते हैं: उस दिन/मैं उनके मंदिर गया था/चाहा था अपने ईश की पूजा-अभ्यर्थना करना/ मंदिर-द्वार पर ही मुझे धो दिया उन्होंने/ मेरी धुलाई का प्रसंग स्पष्ट किया/चूहड़े-चमार कहीं के/गंदे नाली के कीड़े/गांधी ने हरिजन क्या कह दिया/दौड़े चले आए हमारी देवी मां के यहां/अपनी गंदगी फैलाने/किसी के कह देने भर से/ लगे हमारी तरह के हरिजन बनने का स्वप्न देखने/मुझे क्या था मालूम/कि हरि पर तो कुछेक प्रभुजन का ही अधिकार है।" यहां मुसाफिर देवी के मंदिर की बात करते हैं। देवी माने सीता जगदम्बिका। वे जिनके हृदय में 'हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी'। देखिए कि अर्थ का कैसा नया व्यंग्य इन दो चीजों को आमने सामने रख देने से पैदा हो रहा है। दिनकर की 'बोधिसत्व' कविता याद आई आपको : "धन-पिशाच की विजय, धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुई/दौड़ो बोधिसत्व! भारत में मानवता अस्पृश्य हुई/अनाचार की तीव्र आँच में अपमानित अकुलाते हैं/जागो बोधिसत्व! भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं।" यहां सीता को बुलाने हरिजन आया है। सीता का मन प्रेम से भर आता है। हरि पर हरिजन का अधिकार है। हरिजन ही हरि का दूत है, प्रतिनिधि है। यदि उसे दुर्वचन सहने पड़े तो सीता को भी सहने पड़े हैं। कबीर तो इसे ही हरिजन की पहचान मानते थे : "कुसबद तो हरिजन सहै, दूजे सह्या न जाइ/सीतलता तब जाणिए, समिता रहे समाइ।" सीता की शीतलता की भी परीक्षा रावण ने की। उसके अपकथनों का वार भी सीता ने झेला। 'सुनै को श्रवन सूलसम बानी।' 'दिनकर' के धन-पिशाच सोने की लंका के रावण ही होंगे। लंका जहां धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हो गई है, जहां अनाचार की तीव्र आंच में अपमानित सीता अकुला रही हैं।

क्या शब्दों का भी व्यक्तित्व होता है? क्या वे भी

जन्मते, मरते और पुनर्जन्म लेते हैं? क्या उनकी भी एक खुफिया जिन्दगी होती है? जैसे सूरदास ने अपने पद की आखिरी पंक्ति में यह कहा कि 'सूरदास प्रभु कहँ लगि बरनौं, हरिजन की मत ले।' कि सूरदास कहते हैं कि ईश्वर (की महिमा) का बखान कहां तक किया जाए, बस इतना ही कहा जा सकता है कि हरिजन का अनुसरण करना चाहिए। यह बात "महाजनो येन गतः सः पन्थाः' से भिन्न है। महाजन का नहीं, हरिजन का अनुसरण करें। है न यह समसामयिक बात। 'हरिजन की मत ले' की जगह 'हरिजन का मत ले'। बैलट -पावर। अब इसी नए अर्थ में कबीर को फिर से सुनें : 'हरिजन सेती रूसणा, संसारी सूँ हेत/ते नर कदे न नीपजैं, ज्यूं कालर का खेत।' कि हरिजन से तो रूठना और संसारी के साथ प्रेम करने वाला व्यक्ति वैसे ही अनुपजाऊ है– संभावना शून्य है- जैसे खार वाले खेत में कोई बीज नहीं उगता। इसलिए सीता की प्रीति भी हरिजन के प्रति गाढ़ी होती है, न कि संसारी के प्रति, न कि सोने की लंका के अधिपतियों के प्रति। सूरदास ने भी उसे सबसे बड़ा पापी कहा जो 'हरिजन छांड़ि हरी विमुखन की निसिदिन करत गुलामी।' सीता हरिजन पर ममता रखती हैं और हरि-विमुख रावण के सोने के पिंजरे में गुलामी करने से इंकार कर देती हैं। हरिजन को आते देखकर उनका मुंह नहीं सूख जाता। कबीर के शब्द याद करें। हरिजन आवत देखिके, मोहड़ो सूखि गयो/भाव भक्ति समझयो नहीं, मूरख चूकि गयो। किष्किंधाकांड में तो तुलसी के राम बार बार हरिजनों की याद प्रकृति को देखते हुए करते हैं– "ऊषर बरषइ तृन नहिं जामा/जिमि हरिजन हियँ उपज न कामा।। बिनु धन निर्मल सोह अकासा/ हरिजन इव परिहरि सब आसा।। देखि इंदु चकोर समुदाई/ चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई।।"

शब्दों की यह जैविकी कवि के अभिप्रायों को अतिक्रान्त करती है और शायद यह भी सिद्ध करती है कि कविता कालयात्री है। समय कविता को नए अर्थ दे देता है। भाषा में कोई अंतर्भूत अर्थ-प्रणाली निश्चित होती होगी। कविता की सफलता इसमें है कि वह हमें न केवल कवि के अभिप्रेत लक्ष्यों की विरासत सौंपती है बल्कि कुछ नई और ऐसी संवेद्यताएं भी सौंपती है जिनसे हम काल की पीठ पर लिखी इबारतें भी पढ़ लेते हैं। काव्य-शब्द में अर्थोद्भव कवि के द्वारा कारित एक सचेत प्रक्रिया ही नहीं है, बल्कि काल के अवचेतन प्रवाह में भी उसे नई गतिज ऊर्जाएं मिलती रहती हैं। अर्थ कवि के फर्स्ट-हैंड अनुभव से निकलता है और पाठक के पास पहुंचते वह कई और आभाएं जोड़ लेता है। सीता के समय हरिजनों की आधुनिक अनुसूचित श्रेणी ही नहीं थी, लेकिन उनका बोला हुआ आज भी असत्य कैसे होगा? सीता इस अर्थ को भी सेंसर नहीं करेंगी। उनके शब्द को परंपरा ने हमेशा के लिए उसी मायने में पक्षाघातित (paralyzed) थोड़े ही कर दिया है। सीता के शब्द और भावनाओं दोनों में से किसी का भी वस्तुकरण (reification) संभव नहीं। इतने युगों में होता यह है कि शब्द की ठोस बिम्बात्मकता (कांक्रीट इमेजरी) की परतें झड़ जाती हैं और वह नई भिन्नात्मक दृष्टि (differentiated view) को स्थान दे देता है। इसी अर्थ में तो सीता प्रोफेटिक हो जाती हैं।

हरिजन। सर्वेन्ट ऑफ गॉड। वह अर्थ भी कम क्रांतदर्शी नहीं था। विलियम वर्ड्सवर्थ की शब्दावली को क्या सीता भी प्रयोग करती होंगी : How beautiful your presence, how benign/ servants of God. सीता 'कृपासिंधु कर दास' और 'हरिजन' को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करती हैं। ईश्वर के दास होकर बाकी सभी तरह की दासताओं से मुक्त हो जाना होता है। तब वैसा नहीं होता कि यों तो आप दुनियाभर की आजादियों का भोग कर रहे हैं, लेकिन भीतर से बहुत-सी गुलामियों ने आपको कैप्चर किया हुआ है। जब अमेरिका में दासता-विरोधी गृहयुद्ध चल रहा था तब जेम्स ओपेनहीम ने एक द्विअर्थी कविता लिखी थी : 'दास' (द स्लेव)। उसमें उसका कहना था : They set the slave free, striking off his chains,/ Then he was as much of a slave as ever/ He was still chained to servility/He was still manacled to indolence

and sloth/ He was still bound by fear and superstition/By ignorance, suspicion, and savagery/ His slavery was not in the chains,/ But in himself.../They can only set free man free.../ And there is no need of that./ Free men set themselves free. हनुमान चिरस्वतंत्र, चिर सजग हैं। वे अज्ञान और अंधविश्वास से नहीं बँधे हैं बल्कि वे तो 'ज्ञानिनामग्रगाण्यम्' हैं। वे आलस्य और अकर्मण्यता से भी बंधित नहीं हैं बल्कि वे वायु-वेग से चलने वाले कर्मयोगी हैं– कवन सो काज कठिन जग मांही/ जो नहिं होत तात तुम्ह पांही।' उन्हें न भय बांध पाता है, न संदेह। वे निर्भीक होकर शत्रु-देश में प्रवेश कर जाते हैं। न सुरसा उन्हें संशय में डाल सकती है, न सिंहिका। न लंकिनी, न रावण के पहरेदार। इसलिए हनुमान हरिजन होकर मुक्त हुए हैं। जब गांधी जी ने समाज के कुछ लोगों या वर्गों को 'हरिजन' कहा तो वे उन्हें इसी अर्थ में मुक्त करना चाहते थे। दलित भक्ति (नारी) संत गंगासती ने भक्ति आंदोलन के दौरान स्वयं को मध्यकाल में हरिजन कहा था। वह भक्ति भी क्रांतदर्शी थी और हनुमान की यह शक्ति भी। लेकिन जैसा कि सुसान बेली ने अपनी पुस्तक 'कास्ट, सोसायटी एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया' में लिखा है : Their complaint is that it identifies so-called Harijans with the submissive self-surrender of the bhakti derotee thus representing them as infantile beings in need of the civilising hand of their betters. लेकिन यह भ्रम शायद इसलिए पैदा हुआ क्योंकि हरिजन का अंग्रेजी अनुवाद 'चिल्ड्रन ऑफ गॉड' किया गया। डेल होइबर्ग ने किया (स्टुडेंट्स ब्रिटानिका इंडिया), जूलिया लेज़्ली ने किया (अथॉरिटी एंड मीनिंग इन इंडियन रिलीजंस) और वे इस हद पर भी गयीं कि उनके विचार से हरिजन का अर्थ 'हरामी' (बास्टर्ड) होता है, कांचा इलैया ने किया। हसिउ-चू-ह्सू (नार्दर्न इलियोनिस विश्वविद्यालय) अपनी "एन इंटरप्रेटिव एनालिसिस" में, शंकर घोष "महात्मा गांधी" नामक अपनी पुस्तक में, अजित के. दासगुप्ता 'गांधी' ज इकॉनामिक थॉट' नामक पुस्तक में, सुनीला मलिक अपनी पुस्तक 'सोशल इंटीग्रेशन ऑफ शीडयूल्ड कास्ट्स' में, सुई पेने 'हिंदुइज्म' नामक पुस्तक में और ऐसे ही ढेरों लेखकों ने हरिजन का यही अनुवाद 'चिल्ड्रन ऑफ गॉड' किया है बल्कि हैरोल्ड राबर्ट इजाक्स अपनी पुस्तक 'आइडल्स ऑफ द गॉड' में यहां तक बताते हैं कि आंध्रप्रदेश के एक विद्यार्थी ने, जो हालांकि कांग्रेस का अनुयायी था, ने यह कहा कि 'मैं 'हरिजन' शब्द को पसंद नहीं करता। इसका मतलब है 'चिल्ड्रन ऑफ गॉड?' क्या और लोग भी 'चिल्ड्रन ऑफ गॉड' नहीं हैं? तब हमें ही यह खास नाम क्यों?" लेकिन हरिजन शब्द का अर्थ हिन्दी के सामान्य प्रयोक्ता भी जानते हैं कि 'चिल्ड्रन ऑफ गॉड' नहीं होता। हरिजन का अर्थ उस आदमी से है जो 'हरि' या ईश्वर के साथ खड़ा है। तुलसी ने पूरी रामचरितमानस में और भक्त कवियों ने अपने पूरे साहित्य में इसे इसी अर्थ में प्रयुक्त किया था। इस शब्द का अर्थ 'हरामी' बताना दूसरी बदमाशी थी। तीसरी तब हुई जब एक दलित नेता पी.एल. मिमरोह ने इसका विरोध यह कहकर किया कि पुराने दिनों में देवदासियों के अवैध बच्चों के पर्याय के लिए 'हरिजन' शब्द का इस्तेमाल किया जाता था। यानी 'बच्चा' वाली अर्थच्छवि हर कुतर्की व्याख्या में रही जबकि 'जन' का अर्थ कबीला, जनता, जाति, प्रजा, समाज, समूह, व्यक्ति होता था। बच्चा कभी नहीं। गांधी की भली मंशा पर भी शंका की गई।

कहा जाता है कि 'वन हू इज ऑन गॉड्'स साइड इज अ मेजोरिटी।' हरिजन का अर्थ वही है : वन हू इज ऑन गॉड्'स साइड। यह कोई आसान काम नहीं है। यह कोई बचकाना काम नहीं है। यह बच्चों का खेल नहीं है। दुनिया की बाकी सारी एक्सटर्नलिटीज और डिपेन्डेन्सीज से मुक्त होकर ही हरिजन हुआ जा सकता है। हरिजन होना किसी जातीय सदस्यता का थोकबंद लाभ लेना नहीं है। हरिजन होना एक निरन्तर एडवेंचर है। एक रिस्क लेना। कितनी सारी सांसारिकताएं हैं जो हमें

भविष्य के खिलाफ सुरक्षित (insure) करती हैं। यहां तो जानबूझकर ओखली में सिर देना है। हरिजन होने का एडवेंचर किसी उत्तेजनात्मक या असामान्य अनुभव के लिए नहीं है और किसी तरह के दुनियावी जंजाल से पलायन के लिए तो कतई नहीं है। एडवेंचर को जेराल्ड लॉसन सिट्सर ने 'पुटिंग इनर्जी इन्टू योर वॉक विद गॉड' कहा है। हमारी स्थिरता और सुरक्षा का कोई एजेंसी या कंपनी बीमा करे, या हम स्वयं ही बहुत सा सरंजाम इकट्ठा कर अपने भविष्य को अपने कोट की फूली हुई जेब में सुरक्षित मानें, बनिस्बत इसके यह कि हम भगवान के गण हों। भगवान के पार्षद। यही नहीं कि हमारी ईश्वर के लिए प्रतिबद्धता हो बल्कि यह विश्वास भी कि ईश्वर हमारे लिए अगाध रूप से प्रतिबद्ध है। हरिजन होना मुक्त होना ही नहीं है बल्कि रामकाज के लिए एक चिरस्वतंत्र मन के द्वारा बंधनों को स्वीकार किया जाना भी है। जब लंका की राक्षसी भीड़ हनुमान को अपमानित कर रही थी, तब हनुमान यह नहीं कह रहे थे कि हे राम! तुमने मुझे क्यों छोड़ दिया। उन्हें विश्वास था कि राम के प्रति उनकी निष्ठा से पहले उनके प्रति राम की निष्ठा है। और वह निष्ठा अविचल और अनन्त है। उसी से हनुमान को शक्ति का प्रवाह हो रहा है। कठिन से कठिन क्षणों में भी हनुमान राम के उनके प्रति प्रेम के बारे में अंधे नहीं होते हैं। हरिजन होने का अर्थ है कि हमारे विश्वास से पहले ईश्वर का हम पर विश्वास है। इसलिए वह हनुमान को ही मुद्रिका देते हैं। उन्हें मालूम है कि सीता-शोध का कार्य तो इसे ही संपादित करना है। अन्यथा तो सीता-शोध में गए कोटि कोटि वानरों में से प्रत्येक को मुद्रिका देने के लिए राम को मुद्रिका की फैक्टरी खोलनी पड़ती। हनुमान को देखकर सीता की प्रीति इसीलिए प्रगाढ़ होती है क्योंकि यह हरिजन है, राम का घनिष्ठ। राम का अंतरंग।

और इसीलिए सीता की आंखों में हनुमान को देखकर वैसे ही आंसू आ जाते हैं, जैसे हनुमान के मुख से सीता की दशा सुनकर राम की आंखों में आंसू आ जाते हैं। इधर सीता भी "सजल नयन" हो जाती हैं और उधर "भरि आए जल राजिव नयना।" अलबत्ता सीता पुलकित होती हैं क्योंकि वे हरिजन से मिल रही हैं जबकि राम "सुनि सीता दुख" दुखी हो जाते हैं। तुलसी सजल नयन के साथ पुलक का वर्णन अक्सर करते हैं। गीतावली में वे कहते हैं :- "बिलोकि गुरू सजल तनु पुलक रोम रोम जागे।" मंगल में वे कहते हैं : सजल नयन हिरा हरषु पुलक तन पूरति।' गीतावली में वे कहते हैः- 'सजल नयन, तनु पुलक, अधर फरकत लखि प्रीति सुहाई'। गीतावली के ही सुदरकांड में वे "सजल नयन, सानंद हृदय, तनु प्रेम पुलक अधिकाइकै" कहते हैं। अन्यत्र एक दोहे में वे कहते हैं : 'सजल नयन गदगद गिरा गहबर मन पुलक सरीर'। रामचरितमानस के उत्तरकांड में वे कहते है :- 'सजल नयन पुलकित कर जोरी। कीन्हिउँ बहु विधि विनय बहोरी।' अयोध्याकांड में वे लिखते है :- 'सजल नयन तन पुलकित निज इष्टदेउ पहिचानि,' अयोध्याकांड में 'सजल नयन पुलकेउ मुनिराऊ।' लंकाकांड में 'पुलकित तनु लोचन सजल'। अयोध्याकांड में 'मूदे सजल नयन पुलके तनु'। इसी में ही 'पुलक गात हिय रामु सिय सजल सरोरूह नैन।' यह तुलसी के कवि की एक रुढ़ि-सी बन गई। यदि नयन सजल हुए तो पुलक तो होगी ही। लेकिन राक्षसों की नगरी में हनुमान का आ पहुंचना सीता को थ्रिल क्यों न पैदा करेगा? सीता उत्पुलक क्यों न होंगी? रोम रोम क्यों न हो विभोर हो उनका? जहां असंख्य और दुर्धर्ष निशिचरों का एकछत्र राज्य हो, वहां राम की ओर से किसी का आकर यों सामने खड़े हो जाना सरासर सेंसेशनल है। एक बिजली की तरह रोमांच उनके शरीर में दौड़ जाता है। बालकांड में 'भरे बिलोचन प्रेम जल पुलकावली सरीर' (257) की जो अवस्था बताई गई है या उसके बाद 'लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली/नभ नगर गान निसान जय धुनि उमगि जनु चहुँ दिसि चली' जो कहा गया है, या गीतावली के अरण्यकांड के पद में 'मुनि-अगम उर आनंद लोचन सजल तनु पुलकावली/तृन-पर्नसाल वानर, जल भरि कलस, फल चाहन चली' जो कहा गया है, उसी विह्वल

और गद्गद् अवस्था में सीता अभी हैं। उससे भी ज्यादा। उनके रोम रोम में सनसनी फैल गई है। रोमोद्गम की स्थिति। उनका रोम रोम खड़ा हो गया है। राम उनके रोम रोम में बसे हुए थे। भक्त तो यही कहता है : 'मेरे रोम रोम में बसने वाले राम' लेकिन सीता की स्थिति और भी विशेष है। सूरदास के यहां माता यशोदा के शरीर में इसी प्रकार रोमांच कृष्ण को सुनकर जैसे हो जाता है, वैसे ही माता सीता के शरीर में हनुमान की वाणी सुनकर रोमांच हो आता है : 'अमृत वचन कहौ मुख अपने, रोम-रोम पुलकित सब गात।'

सीता कहती हैं कि हनुमान मैं विरह के समुद्र में डूब रही थी कि तुमने सहसा आकर मुझे बचा लिया। मेरे लिए तो तुम जलयान के समान हो गए। सीता हनुमान को तात के रूप में सम्बोधित करती हैं। वैसे संस्कृत का यह सम्बोधन छोटे-बड़ों सभी के लिए प्रयुक्त हो सकता है। लेकिन इसमें सम्मान का एक विशेष भाव है। सीता जिस डूबने की चर्चा कर रही थीं, वह उनका एकदम अनुभूत सत्य है। वह तो आत्मघाती हदों तक पहुंच गई थीं। मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत की 'नागमती वियोग' की पंक्ति याद आती हैं : जग जल बूड जहां लगि ताकी/मोरी नाव खेवक बिनु थाकी; सीता को नाव क्या, जहाज-सा मिल गया है। हनुमान के रूप में। तुलसी के नाम से चलने वाले एक भजन में यही कहा गया था कि रघुबर तुमको मेरी लाज/हूं तो पतित पुरातन कहिये/पार उतारो जहाज। सीता 'पतित पुरातन' नहीं हैं, वे तो पुण्या हैं। और रघुबर ने उनके लिए जहाज भेज दिया है। ध्यान दें कि जब मीरा ने भी "लाज रखो महाराज" की प्रार्थना की थी तक उन्होंने यही कहा था "भवसागर संसार अपरबल जामे तुम हो जहाज।" यहां भी रावण सीता की लाज पर हमला करना चाहता है। सीता भी मन ही मन यही कह रही हैं : 'रघुबर तुमको मेरी लाज' और यह भी कि 'लाज रखो महाराज'। और राम ने उनके लिए हनुमान के रूप में एक जहाज सामने ला खड़ा किया। यदि इस संसार में 'नानक नाम जहाज है' तो हनुमान ने सीता को वह मुद्रिका दी जिस पर 'रामनाम अंकित अति सुंदर'। मीराबाई ने राणाजी से यही तो कहा था : 'राणाजी, म्हे तो गोविंद का गुण गास्यां/राम नाम का झाझ चलास्यां भवसागर तर जास्यां।' हनुमान ने सिर्फ नाम ही नहीं दिया, अद्यतन रामकथा भी बताई। सीता को इस विरह में एक असाधारण सम्बल मिल गया। सीता का यह विरह रीतिकालीन कवियों का विरह नहीं है। यह जायसी आदि कवियों की तरह ऋतु-वर्णन आधारित विरह भी नहीं है। तुलसी सीता की मनोदशा समझते हैं और इसलिए वे उसे रूढ़ (ritualize) नहीं करना चाहते। सीता के लिए यह तो वह समय है जब उनके मन ने भी उनका साथ छोड़ दिया है। सोहनलाल द्विवेदी की तरह वे मन को भी अपना जलयान नहीं बना सकती कि गा लें : 'उठ रही हो सिंधु लहरी/हो न मिलती थाह गहरी/नील नीरधि का अकेला बन सुभग जलयान रे मन।' यह निपट अकेलेपन वाला विरह है। इसे तुलसी ने राम का विरह, पति का विरह, प्रिय का विरह कहकर क्वालिफाई नहीं किया है। कृपासिंधु ने जलयान प्रेषित किया है। सीता की प्राणरक्षार्थ। सीता की पीड़ा स्वयं ही चारों ओर से उन्हें सागर की भांति डुबो रही थी। कामायनी में श्रद्धा की दुर्दशा के विवरण में प्रसाद लिखते है : 'एक मौन वेदना-नदी थी/जिसका है अब पार नहीं।' सीता तो विरह-नदी नहीं, विरह जलधि की बात कर रही हैं। उनका वियोग किसी प्रोषित-पतिका नायिका का वियोग नहीं है। यह तो वह विरह है जिसमें सब कुछ बिछड़ गया है। सब कुछ हाथों से छूट गया है। अब कुछ नहीं बचा। तजौं देह करु बेगि उपाइ। इसलिए यह 'छोटी-सी विरह नदी' नहीं है बल्कि एक सिंधु है। जायसी फिर मुझे याद आते हैं: 'विरह समुद्र भरा असंभारा/भौंर मेलि जिउ लहरिन्ह मारा।' सीता तो सब कुछ से कट गई हैं। सिर्फ पति ही नहीं, सारे सामाजिक सम्बन्धों से। सीता का विरह एक तरह का 'सोशल पेन' (सामाजिक पीड़ा) है। वे एक ऐसी जगह आ पहुंची हैं जहां कोई कनेक्टिविटी नहीं मिलती। यह अकेलापन जितना भावनात्मक है, उतना सामाजिक भी। यह किसी रोमांटिक पार्टनर से बिछुड़ जाना ही नहीं

है, यह तो सामाजिक अंतःक्रियाओं के सारे स्वीट स्पाट्स से हाथ धो बैठना है। एक ओर कृपासिंधु, दूसरी ओर यह विरह-सिंधु। याद आती हैं हरिवंशराय बच्चन की पंक्तियां : तिमिर-समुद्र कर सकी/न पार नेत्र की तरी/ विनष्ट स्वप्न से लदी/विषाद याद से भरी/न कूल भूमि का मिला/न कोर भोर की मिली/न कट सकी न घट सकी/ विरह-घिरी विभावरी।' सीता की स्थिति ऐसी ही है। इसलिए हनुमान का आना उनके लिए किसी जलयान के आने जैसा है। सीता को जैसे लग रहा था कि वे एक अंधे गर्त में डूबती जा रही हैं। वह टिपिकल drowning feeling। लगता था कि अब इससे ज्यादा नहीं जिया जाएगा। अब अंत आ पहुंचा है जीवन का। ऐसा लगता है जैसे वे समुद्र के भीतर ही भीतर समाती जा रही हैं। हवा के लिए भी हांफती हुई। आंखों के सामने अंधेरा-सा छा गया है। शायद इसीलिए इसके पहले की कुछ चौपाइयों में वे आग को ढूंढ़ रही थीं। जीवन-ऊष्मा के लिए नहीं तो सिर्फ प्रकाश के लिए। कहीं तो कुछ दिखे। अभी तो एक dizzy feeling है। आत्मविश्वास खत्म-सा हो गया है। बड़ा कमजोर और अपर्याप्त-सा महसूस करने लगीं हैं स्वयं को। 'रबर पांवों' (rubber legs) वाली मनोदशा जैसे उनमें जान ही न रह गई हो। एक भँवर के केन्द्र ने जैसे उन्हें अपने भीतर ट्रेप कर लिया है- It just crashes over. It just washes over. बच्चन फिर याद आते हुए : डूबता अवसाद में मन!/ यह तिमिर से पीन सागर/तल तटों से हीन सागर/किन्तु हैं इनमें न धाराएं, न लहरें औ, न कम्पन!' अब तो जैसे सांस तक नहीं ली जाती। धीरे-धीरे जैसे आवाज भी कहीं घुट-सी जाती है। आस्कर वाइल्ड की कविता की तरह सीता की आर्त्त आत्मा की याचना : Come down. O Christ, and help me/reach thy hand, for I am drowning in a stormier sea/ Than Simon on thy lake of Galilee. राम सीता तक अपना हाथ नहीं पहुंचाते तो हाथ की मुद्रिका ही पहुंचा देते हैं। हनुमान के हाथों। इस डूबने की मनोदशा के मुहाने पर हनुमान खड़े हैं। उन लोगों के लिए जो नैराश्य के चरम कगार पर आ पहुंचे हैं, जिन्हें लगता है कि अब तो अतल में समा जाओ बनिस्बत इन राक्षसों की साजिशें प्रतिदिन झेलने से। हनुमान ने जैसे लंगर डाला हुआ है। डूबते को तिनके का सहारा ही बहुत होता है, लेकिन 'तृण धरि ओट' वाली वैदेही के लिए हनुमान के रूप में साक्षात जलयान ही आ पहुंचा है। हनुमानजी ने ऐसा अंगदादि के लिए भी किया-बूड़त जहाज बच्यो पथिक समाजु मानो आजु जाए जानिसब अंकमाल देत हैं। (कवितावली, 5/29) हनुमान ने राम को भी ऐसे ही डूबने से बचाया सिय-बियोग-सागर नागर-मनु बूड़न लग्यो सहित चित-चैन/लही नाव पवनज प्रसन्नता, बरबस तहाँ गह्यो गुन-मैन।। (गीतावली 5/21) और भरत को भी जहाज बनकर ही बचाया : "राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत। बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत।" हनुमान तारणहार हैं गाढ़े वक्त के। दुष्काल में उन्हीं की पासबानी विषण्ण और व्यार्त लोगों के काम आती है। उन्हें संकटमोचन यों ही नहीं कहा गया है। सीता अपने व्यक्तिगत अनुभव मो कहुँ से ये जानती हैं और इस देश में ऐसे व्यक्तिगत अनुभव वाले हनुमान-प्रसंगों को असंख्य लोग बताते हैं। कितनी कातर अवस्था में हनुमान ही खड़े रह जाते हैं खिन्न और त्रस्त मनुष्य के पास। वे ही उसका संत्राण सुनिश्चित करते हैं।

इसलिए सीता हनुमान पर बलिहारी जाती हैं, इसलिए नहीं कि वे सीता की 'कुशल' तय करते हैं बल्कि इसलिए क्योंकि 'अनुज सहित सुख-भवन खरारी' की कुशल भी वे ही कहेंगे। बलिहारी जाना भारतीय संस्कृति का एक बड़ा प्रचलित सामाजिक भाव है। सूरदास की यशोदा कृष्ण पर बलिहारी जाती हैं : 'झुनक स्याम की पैंजनिया/सूरदास जसुमति बलिहारी/ सुतहिं खिलावति लै कनियाँ' या 'मुखहि धोइ सुंदर बलिहारी, करहु कलेऊ लाल'। कबीर अपने गुरू पर बलिहारी जाते थे : 'बलिहारी गुर आपने जिन गोविंद दियो बताय' या 'बलिहारी गुर आपणे, द्यौहाड़ी के बार' मीराबाई का कहना था : "तेरे सावरे मुख पर वारी। वारी वारी बलिहारी" या 'मीरा कहे प्रभु गिरधरनागर चरण कमल

बलिहारी।' रसखान तो ब्रज पर इतने मुग्ध थे कि कहते थे : "कहै 'रसखान' एक गारी पर, सौ आदर बलिहारी।" बलिहारी का शाब्दिक अर्थ यह है कि मैं तुम्हारी बलाएं अपने सर लेता हूं। यह कृतकत्यता की परमावस्था है। धन्य धन्य महसूस करने की शीर्ष स्थिति।

और ध्यान दें कि त्रास के भयंकरतम दौर से गुजरने के बाद भी सीता सुख-भवन खरारी यानी राम की कुशल पूछने के पहले उनके अनुज लक्ष्मण को याद करती हैं। उनकी कुशल पूछती हैं। पूरी दुनिया में सीता ने किसी एक के प्रति अपराध किया है तो वह लक्ष्मण के प्रति। तब वे कुछ अपने आपे में नहीं थीं। वाल्मीकि बताते हैं कि सीता ने ठीक ठीक क्या बोला था। तुलसी की तो उसके बारे में कुछ कहते जबान ही लड़खड़ा जाती है। वे कहते हैं : "मरम बचन जब सीता बोला।" बोलीं नहीं, बोला। कटुक बचन भी नहीं, 'मरम बचन'। वाल्मीकि साफ साफ बताते हैं कि सीता क्षुब्ध होकर लक्ष्मण से क्या क्या बोल गई थीं :- 'सुमित्राकुमार ! तुम मित्र रूप में अपने भाई के शत्रु ही जान पड़ते हो, इसीलिए तुम इस संकट की अवस्था में भी भाई के पास नहीं पहुंच रहे हो। लक्ष्मण ! मैं जानती हूं, तुम मुझ पर अधिकार करने के लिए इस समय राम का विनाश ही चाहते हो। मेरे लिए तुम्हारे मन में लोभ हो गया है, निश्चय ही इसीलिए तुम राम के पीछे नहीं जा रहे हो। मैं समझती हूं राम का संकट में पड़ना ही तुम्हें प्रिय है। तुम्हारे मन में अपने भाई के प्रति स्नेह नहीं है।' लक्ष्मण के समझाने पर वे और भड़ककर आंखें लाल कर कठोरता से कहती हैं :- 'अनार्य ! निर्दयी ! क्रूरकर्मा ! कुलांगार ! मैं तुझे खूब समझती हूं। राम किसी भारी विपत्ति में पड़ जायें, यही तुझे प्रिय है। इसीलिए तू राम पर संकट आया देखकर भी ऐसी बातें बना रहा है। लक्ष्मण ! तेरे-जैसे क्रूर एवं सदा छिपे हुए शत्रुओं के मन में इस तरह का पापपूर्ण विचार होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। तू बड़ा दुष्ट है। राम को अकेले वन में आते देख मुझे प्राप्त करने के लिए ही अपने भाव को छिपाकर तू भी अकेला ही उनके पीछे-पीछे चला आया है। अथवा यह भी संभव है कि भरत ने ही तुझे भेजा हो। परंतु सुमित्राकुमार ! तेरा या भरत का यह मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता। नीलकमल के समान श्यामसुंदर कमलनयन राम को पति रूप में पाकर मैं दूसरे किसी क्षुद्र पुरुष की कामना कैसे कर सकती हूं।" तुलसी ने इन सब अप्रिय और एक बड़ी हद तक अस्वाभाविक संवादों से कन्नी काट ली है।

लक्ष्मण को चोट लगती है। वे कहते हैं : 'मैंने न्याययुक्त बात कही है तो भी आपने मेरे प्रति ऐसी कठोर बात अपने मुंह से निकाली है। निश्चय ही आज आपकी बुद्धि मारी गई है। आप नष्ट होना चाहती हैं।' सीता जब अपहृत होती हैं तो उन्हें लक्ष्मण की सावधानी और कर्तव्यनिष्ठा समझ आती है और तब से उनके मन में एक 'गिल्ट' लक्ष्मण को लेकर पलने लगती है। तुलसी के यहां वे अरण्यकांड में कहती भी है : 'हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा/सो फलु पायउँ कीन्हेंउँ रोसा।' उन्हें एक सच्चा पश्चात्ताप है। उस दिन लक्ष्मण को दोनों ही तरफ से डांट खानी पड़ी थी। वाल्मीकि बताते हैं कि राम ने लक्ष्मण से कहा : "मैं राक्षसों का निवारण करने में समर्थ हूं, यह जानते हुए भी तुम मैथिली के क्रोधयुक्त वचन से उत्तेजित होकर निकल पड़े। क्रोध में भरी हुई नारी के कठोर वचन को सुनकर जो तुम मिथिलेषकुमारी को छोड़कर यहां चले आये, इससे मैं तुम्हारे ऊपर संतुष्ट नहीं हूं। सीता से प्रेरित होकर क्रोध के वशीभूत हो तुमने मेरे आदेश का पालन नहीं किया, यह सर्वथा तुम्हारा अन्याय है।" लक्ष्मण को भाई या भाभी दोनों में से किसी की भी आज्ञा का उल्लंघन अच्छा नहीं लगता। वनवास राम को तो कैकेई की मांग से मिला था। लेकिन लक्ष्मण का तो यह सर्वथा स्व-निर्वाचन था। यह तो वे लक्ष्मण थे जिन्होंने राम से कहा था कि "मैं आपके बिना स्वर्ग में जाने, अमर होने तथा सम्पूर्ण लोकों का ऐश्वर्य प्राप्त करने की भी इच्छा नहीं रखता।" ये वे लक्ष्मण थे जिन्होंने राम के लिए अपनी पत्नी उर्मिला तक को छोड़ दिया। बल्कि वनवास से पूर्व वे उससे मिलने गए हों, ऐसा उल्लेख वाल्मीकि रामायण

में नहीं मिलता। इतने निःस्वार्थ, इतने अनासक्त, इतने तपःपूत हृदय के लक्ष्मण को सीता के मर्मभेदी वचन सुनने पड़े, यह बात अब सीता को खाए जाती है। सीता की इसी बात को हनुमान पकड़ लेते हैं और राम को बताते भी उसी रूप में है: 'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना।' सीता का मन उस लक्ष्मण वाले संवाद के बाद एक सतत आत्म-आलोचना का शिकार हो गया है। काश कैसे भी वह बोला हुआ लौटाया जा सकता। रिग्रेट, गिल्ट, शेम, बहुत से भाव सीता के मन में घुमड़ते रहते हैं। पछतावा है, आत्म-निन्दा है, पीड़ा है, अवसाद है, बेकली है, ममता है, विक्षोभ है, खेद है। सीता को नहीं मालूम है कि राम ने लक्ष्मण को तब क्या बोला होगा? वे अनुमान ही लगा सकती हैं। सीता को राम की वृत्ति-प्रवृत्ति पता है। वे लक्ष्मण की double trouble को अब समझ सकती हैं। राम ने भी जब मारीच-मृगया के वक्त सीता को छोड़कर आए लक्ष्मण को देखा तो उपर्युक्त शब्द कहे, लेकिन आश्रम में आने और सीता को न पाने के बाद वाल्मीकि रामायण में भी एक शब्द लक्ष्मण की त्रुटि के संबंध में नहीं कहा। सीता का दुःख ही उन पर इतना हावी हो गया था कि बाकी सारी चीजें छोटी हो गई थीं। राम लक्ष्मण को किसी आत्म-विघटन या मनभंजन में भी नहीं उलझाना चाहते होंगे। लेकिन सीता को आज तक अपने ही शब्दों की तरंगें लौट लौट कर चोट पहुंचाती रहती हैं।

कृपासिंधु की बात होती है, भवसिंधु की बात होती है, विरह-जलधि की भी बात होती है, लेकिन पश्चात्ताप के उस समुद्र की बात किससे करें जो उनके मन में उमड़ता घुमड़ता रहता है। पी.बी. शेली की पश्चात्ताप पर कविता ऐसे ही turbulent unresting ocean की बात करती थी : 'The cloud shadows of midnight prssess their own repose/ For the weary winds are silent, or the moon is in the deep/ some respite to its turbulence unresting ocean knows/ whatever moves or toils or grieves hath its appointed sleep. सीता के मन पर अंधेरे बादलों की छायाएं फैलती रहती हैं। इस समुद्र में क्षमायाचना की नाव ही एकमात्र उपाय है। संदेशों क्षमायाचना नहीं होती। लेकिन यही कुछ भीतर उमड़ता घुमड़ता सा है जिसके चलते सीता द्वारा 'अनुज सहित सुखभवन खरारी' की कुशल पूछी जाती है। कैसे एक देवता को उन्होंने क्या कुछ न कह दिया? और ये बात वे इस सामने खड़े रामदूत को कह भी नहीं सकतीं। यह उनके और लक्ष्मण के बीच की बात है। और यों सीता के मन की घुटन, उनके pangs of conscience बढ़ते जाते हैं। इसलिए 'अनुज' की पहले कुशल पूछना उनके मन के भीतर पक रहे ज्वालामुखी की पहली परिणति है। उनको मालूम है कि स्वयं लक्ष्मण के मनोमंथन में क्या क्या हो रहा होगा? कैसे लक्ष्मण अपने ही भीतर अपने पर चाबुक मार रहे होंगे। वे तो इतने भले हैं कि उस सीता को, जिसे वनवास-विदा के वक्त उनकी मां सुमित्रा ने कहा था कि यही अब से तुम्हारी सुमित्रा, तुम्हारी मां है, कभी दोषी नहीं ठहराएंगे। वे तो उसे अपना आपा खो चुकी स्त्री के स्वभाव की सहज प्रतिक्रिया मान लेंगे। लेकिन उन्हें राम के शब्द ज्यादा लॉजिकल लगे होंगे। ठीक है कि सीता क्रोध में, राम के प्रति अपने आब्सेशन में सब कुछ भूल गईं, लेकिन लक्ष्मण भी तो अपने अमर्ष में अपनी जिम्मेदारी भूल गए। और फिर लक्ष्मण को भाई की इस विषय पर लगातार चुप्पी भी खलती होगी। आश्रम में आने के बाद से भाई उस मुद्दे पर कुछ भी नहीं बोले हैं। इससे लक्ष्मण के भीतर की रंजीदगी और बढ़ जाती होगी। उस घटना के बाद से लक्ष्मण का कलेजा बहुत कटा है। लक्ष्मण बहुत से आत्मारोपण से गुजरे हैं। जिस तरह से सीता की आत्मा में एक अदालत लगातार चल रही है, उसी तरह से लक्ष्मण भी तब से ही अपने भीतर के एक कटघरे में खड़े हैं। मेरे स्वामी (मी लार्ड), मैं अपना गुनाह कुबूल करता हूँ। मेरे स्वामी (मी लार्ड) मैं अपना गुनाह कुबूल करती हूँ। उस दिन कौन से ग्रह थे? मैं इतने तैश में क्यों आ गई थी? क्यों अचानक उस स्वर्णमृग के प्रति मेरे मन में इतना मोहावेश आया? क्यों मैंने इतनी जिद की

राम से? क्यों मैं इतना क्रोध की निरीह लक्ष्मण पे? वह एक संवाद, या कहूं कि विवाद, है जो अभी तक जैसे जिन्दा चला आया है। एमिली डिकिन्सन की कविता भी यही थी : Remorse is Memory awake/ Her companies astir/ A presence of Departed Acts/ At window and at Door/ It's Past set down before the Soul/ And lighted with a match perusal to facilitate/ of its condensed Despatch.

सीता की परिश्रान्ति (atonement) कहां है? जितना समय सीता रावण की वाटिका में काट रही हैं, उतना समय वे अपने मन के एक ऐसे कारागार में भी हैं जिसकी सलाखें तप रही हैं। एक नैतिक संपीड़न में है उनकी आत्मा। उनके मुंह से निकल गये शब्दों का ब्रूट फैक्ट। परिश्रान्ति तो उसी लक्ष्मण के सामने ही संभव है। इसलिए नहीं कि यह उन दोनों के बीच का मामला था। जिस आदर्श सामाजिक फैब्रिक का स्वप्न सीता और लक्ष्मण दोनों के दिमाग में था और न केवल दिमाग में था बल्कि राम की रहनुमाई में रचने चले थे, रचा था– उसमें इन शब्दों की तड़कन भी थी। इसलिए हनुमान से लक्ष्मण की कुशल पहले पूछकर उस सामाजिक फैब्रिक की तुरपाई तो किसी हद तक कर ली, लेकिन भरपाई तो लक्ष्मण के पांव पकड़कर ही होगी।

राम की, अपने पति की कुशल बाद में पूछना भारतीय परिवार का रीति-सौंदर्य भी है। एक ऐसे समय में जब भारतीय परिवार को एक इकाई की तरह न दिखाकर एक दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र रचते हुए दिखाया जा रहा है, तब पारिवारिक माधुर्य के इस छोटे-से लावण्यमय पल को गौर से देखें। परिवारों में कालुष्य एक तरह की असामान्यता (aberration) है– जो कैकेयी के रूप में एकबारगी त्रेतायुगीन परिवार में कुछ क्षण को दिखी थी- लेकिन टी.वी. चैनल्स मिलकर उसे एक आम रुझान (ट्रेंड) बनाते हैं। सुबह-दोपहर-शाम-रात वे इन्हीं घरेलू इंट्रीग्स को सीरियलाइज़ करते हैं। यह भेड़चाल है या विदेशी चैनलों का भारतीय गृहस्थी के विरुद्ध षड्यंत्र, कहना मुश्किल है। लेकिन अक्सर होता है कि षड्यन्त्र करने वालों का आब्सेशन षड्यंत्र से ही हो जाता है। भारत के पारिवारिक मूल्य जो कभी राम-कथा से ही और दृढ़तापूर्वक स्थापित हुए, पश्चिमी दुनिया के लिए कभी कौतूहल तो कभी ईर्ष्या का विषय रहे हैं। लेकिन अब इन कमर्शियल चैनलों के चलते इन्हीं मूल्यों के क्षरण-मरण के लिये 24x7 कोशिशें हो रही हैं। पाकिस्तान में तो सुप्रीम कोर्ट के आदेश पर पाकिस्तान इलेक्ट्रॉनिक मीडिया रेगुलेटरी अथॉरिटी ने भारतीय सोप को इसी आधार पर बैन कर दिया कि उनमें परिवार की भीतरी साजिशों के सिवा कुछ नहीं होता। उन षड्यंत्र करती भाभियों को सीता का यह शिश्टाचार देखना चाहिए। न केवल शिष्टाचार बल्कि एक सच्ची चिन्ता। सीता को यह कुशल पूछने की चिन्ता इसलिए भी थी क्योंकि जब लक्ष्मण उनसे विदा लेके गए तब सीता ने राम की आर्त पुकार का स्वर सुना था- 'आरत गिना सुनी जब सीता/ कह लछिमन सन परम सभीता।' वाल्मीकि बताते हैं कि 'उसने रामचंद्र के ही समान स्वर में हा सीते! हा लक्ष्मण! कहकर पुकारा।' तब सीता ने लक्ष्मण से यही कहा था : 'उन्होंने बड़े आर्तस्वर में हम लोगों को पुकारा है। मैंने उनका वह शब्द सुना है। वह बहुत उच्च स्वर से बोला स्वर है।' इस कारण उन्होंने लक्ष्मण को वन में राम को देखने भेजा था और उसके बाद खुद अपहृत हो गईं। उन्हें राम की, लक्ष्मण की कुशल के समाचार फिर कभी नहीं मिले। अतः सीता को कुशल पूछने की चिन्ता तो रही होगी।

लेकिन इससे सीता के द्वारा किया गया रावण-प्रतिरोध और जगमगा जाता है। सीता को स्वयं के अपहरण से, जटायु की मृत्यु से उस विशेष दुर्भाग्यशाली दिन के दुःस्वप्न तो सताते होंगे। लेकिन सबसे बड़ा दुःस्वप्न तो यह था। पता नहीं, राम जीवित हैं या नहीं। सीता ने लक्ष्मण से कहा था : 'तुम्हारे भाई वन में आर्तनाद कर रहे हैं। तुम इन्हें बचाओ। जल्द ही अपने भाई के पास दौड़े हुए जाओ। जैसे कोई सांड सिंहों के पंजे में फंस गया हो, उसी प्रकार वे राक्षसों के वश में

पड़ गए हैं।" सीता तब से उस अनैश्चित्य के मरुस्थल में रह रही हैं। राम के स्वर की वह आखिरी करुण पुकार। अशोक वाटिका में अभी तक बिताए हुए दिनों में सीता को वही मरणांतक पीड़ा वाली आवाज कानों में आ आकर टकराती होगी। और इतने दिनों से राम की कोई खबर भी नहीं मिली। सीता को रावण ने कहा भी यही : "अब तो मुझे यह भी संदेह होने लगा है कि वे जीवित भी हैं या नहीं" (वाल्मीकि रामायण, 20वां सर्ग, सुंदरकांड)। फिर भी सीता विचलित नहीं होतीं रावण के सामने। शारीरिक रूप से ही नहीं बल्कि मानसिक रूप से भी वे निपट अकेली हैं। पति के जीवित होने का कान्फीडेंस होता है तो स्त्री ऐसी विकट परिस्थितियों में भी धैर्य रखकर वीरता से मुकाबला कर लेती है। लेकिन जब उसका भी अंदेशा हो, तब भी सीता को प्रतिरोध इतना प्रखर होना बताता है कि सीता किस मिट्टी की बनी हैं, किस धातु की। सीता को राम की ही परिधि में व्याख्यायित करने की प्रवृत्ति रही आई है। राम सीता के अस्तित्व की धुरी और माधुरी दोनों हैं भी। लेकिन सीता की इस टेक को रेखांकित करें। सीता की यह स्थाणुता उनके व्यक्तित्व की किसी और ही महत्ता को बतलाती है। सीता की मायूसी की सीमा नहीं रही होगी। कितनी अशुभ कल्पनाएं उनके भीतर खलबली मचाती रही होंगी। अनस्थिर और विचलित होना जब स्वाभाविक हो, तब सीता का रावण से यह व्रती और संकल्पित टकराव बताता है कि रावण का असल प्रतिपक्ष तो सीता हैं। इसीलिए यदि वाल्मीकि ने मूलतः इस कथा को सीता के नाम पर रखा था तो वह जायज बात है। राम की जो कक्षा हैं, उसमें रावण तो कहीं आ ही नहीं सकता है। सीता पार्थिवी हैं और रावण के पक्षान्तर को वे ही रचती हैं। रावण ने सोचा यह था कि सीता तो सिर्फ एक उपकरण हैं राम को मिटाने का। उन्हें राम से पृथक कर दो तो राम अपने आप खत्म हो जाएगा। रावण का लक्ष्य राम थे। लेकिन सीता रावण की संकीर्ण सोच और साजिश से कहीं अलग और ज्यादा निकलीं। रावण का विपर्यास उनमें प्रतिफलित हुआ। रावण की गणनाएं गलत हुईं क्योंकि सीता से अलग होकर राम क्षणभर को कमजोर पड़े किन्तु सीता उनका लक्ष्य रहीं आईं और उनकी पुनर्प्राप्ति की कामना राम के जीवन की परिचालना हो गई। लेकिन राम से अलग होकर-बल्कि राम के होने न होने के तनाव में जूझ रही-सीता रावण से मुठभेड़ में मानसिक तौर पर एक क्षण को भी कमजोर नहीं पड़ीं। राम ने सामाजिक शक्तियों का संग्रह किया। सीता ने सारी मानसिक शक्तियों का। राम ने युद्ध किया और उसकी बहुत चर्चा भी है, लेकिन सीता का यह प्रतियुद्ध कम महत्व का नहीं है, और जिन लोगों को सीता सिर्फ एक आंसू बहाती-बिसूरती-सी स्त्री से ज्यादा कुछ नहीं लगती, उन्होंने सीता के इस डटाव और इस जवाब को, जो उन्होंने ठेठ अपने दम पर दिया, कभी पहचाना नहीं। सीता राम की व्रती हैं। लेकिन वे रावण की प्रतिव्रती भी हैं। रावण उनकी मानसिक दृढ़ता की ताब नहीं ला पाता है। वाल्मीकि रामायण में जो यह कहा गया कि 'सीता अपने तेज से ही सुरक्षित हैं' उसका मतलब सीता की इसी मानसिक सशस्त्रता से है।

सीताहरण रावण को महंगा पड़ा क्योंकि सीता ने रावण का दर्प-हरण किया। रावण का अहंकार भंग कर सीता ने उसे उतना कमजोर कर दिया जितना कि वह राम को उनका मनोभंग करके न कर पाया। एक संपूर्ण रावण भी राम के सामने कहां टिकता, यह भग्नाभिमान रावण तो और बात थी। सीता पिछले जन्म में वेदवती थीं। सीता इस जन्म में वेद-व्रती हुईं। सीता पर गाज गिरी थी, लेकिन सीता की अपनी विद्युन्मयता थी। इसलिए उनकी प्रभावना घटी नहीं, दुगुनी हो गई।

सीता के संबंध में एक चीज जरूर मुझे चकित करती है। सीता जानती थीं कि उनके पति 'खरारी' हैं। उन्होंने खर-दूषण को उनकी विशाल सेना के साथ नष्ट कर दिया था। अकेले, लक्ष्मण तक की मदद लिए बिना। सीता जानती थीं कि राम सुख-भवन हैं। लक्ष्मण ने उन्हें समझाया भी था: देवताओं, मनुष्यों, गन्धर्वों, पक्षियों, राक्षसों, पिशाचों, किन्नरों मृगों तथा घोर दानवों में भी ऐसा कोई वीर नहीं है, जो समरांगण में इन्द्र के

समान पराक्रमी राम का सामना कर सके। देवताओं तथा इन्द्र आदि के साथ मिले हुए तीनों लोक भी यदि आक्रमण करें तो वे राम के बल का वेग नहीं रोक सकते। अतः आपका हृदय शान्त हो। आप संताप छोड़ दें।" लेकिन सीता ये सब जानती मानती हुई भी लक्ष्मण को राम के पास भेजती हैं। सीता की यह प्रतिक्रिया विस्मित करती है और इसकी एक ही व्याख्या हो सकती है कि सीता राम से इतना अधिक प्रेम करती हैं कि उनके आर्त्त स्वर के बाद वे सब कुछ भूल जाती हैं। फिर वे शब्दशः आन्दोलित हो जाती हैं, हिल जाती हैं, ऊपर से नीचे तक। वे सब कुछ बर्दाश्त कर सकती हैं लेकिन राम की कराह वे नहीं सुन सकतीं। राम और सीता जन्म-जन्म के साथी हैं और "प्रीति पुरातन" के कारण ही, उस नित्य संयोग के कारण ही यह स्थिति है कि राम को तनिक सी भी चोट उन्हें बुरी तरह से विचलित कर देती है। अरण्यकांड के सैंतालीसवें सर्ग (वाल्मीकि रामायण) से पता चलता है कि सीता कहती हैं कि राम विवाह के बाद 12 वर्षों तक मैंने अपने पति के साथ सभी मानवोचित भोग भोगे हैं।" वनवास तेरहवें वर्ष में हुआ। अतः सीता राम को दुख में देखने/सुनने पर असामान्य प्रतिक्रिया करें, यह स्वाभाविक हैं। सीता का राम के प्रति अगाध और उद्दाम प्रेम ही उनकी उस दिन की बेकली का सबब था। अब जब हनुमान आ गए हैं, मुद्रिका दे दी है, रामकथा सुना दी है, तो अब सीता प्रकृतिस्थ हुई हैं और उन्हें राम का खरारी स्वरूप याद आया है। 'रघुबीर बान प्रचंड खंडहि भटन्ह के डर भुज सिरा'। सीता को राम का खरारी स्वरूप याद आना इस बात का भी प्रतीक है कि वे अभी प्रेमी राम को नहीं, अन्याय का उन्मूलन करने वाले राम को तत्काल प्रासंगिकता में देख रही हैं। खर ने 'देहु तुरत निजनारि दुराई' कहकर राम के क्रोध को उकसाया था और उसकी चौदह सहस्र राक्षसों की सेना को राम ने अकेले काट गिराया था। अब रावण ने तो कहा नहीं, किया है। इसलिए खरारी इसका तो और भी बुरा हाल करेंगे। इसीलिए मैंने सीता को रावण का असल प्रतिपक्ष कहा है। सीता यौधेय राम की कुशल पूछती हैं क्योंकि तब रावण कुशल नहीं रह सकता। राम जैसे अप्रतिवीर के जरिए ही अन्याय के इस साम्राज्य का अन्त सीता सुनिश्चित करवाएंगी। सीता का पति कृपानिधान है, सीता का पति अनुरागी है। लेकिन सीता को जिस सुख की तलाश है, वह अब एक शूरवीर पति से ही मिलेगा। खरारी ही सुख भवन हैं। जब तक यह राक्षस-राज्य पराभूत नहीं होता, तब तक किसी को भी सुख नहीं है। रावण का तो अर्थ ही दुनिया को रूलाने वाला है। इसे आसमान दिखाना ही होगा। इसलिए वे एक ऐसे राम की प्रतीक्षा में हैं जो मानवीय पीड़ा का नाश करने के शस्त्र सन्नद्ध हो। एक ऐसा राम जिसके नथुने क्रोध से फड़क रहे हों। एक ऐसा राम जो शत्रु के हथियारों को तिल के समान टुकड़े करके काटता हो। तिन्ह के आयुध तिल सम करि काटे रघुवीर। (खर-दूषण वध प्रसंग) जिसके बाण ऐसे चलें मानों फुफकारते हुए बहुत से सर्प जा रहे हैं (तब चले बान कराल/फुंकरत जन बहु व्याल/प्रसंग-वही), जो पल भर में शत्रुओं के बाणों को काटकर ललकारकर उन पर बाण छोड़ता हो (प्रभु निमिष महुँ रिपुर सर निगरि पचारि डोर सायका/संदर्भ वही)। खर दूषण युद्ध में राम की विजय के बाद सीता बहुत देर राम के श्याम और कोमल शरीर को परम प्रेम के साथ देखती रही थीं-सीता चितव स्याम मृदु गाता/ परम प्रेम लोचन न अघाता। वही छवि सीता की नजरों में बसी हुई है। सीता को उसी की याद आ रही है। लेकिन 'खरारी' होने का अर्थ दुर्धर्ष और कठोर होना ही नहीं है। उसके तत्काल बाद सीता राम को 'कोमलचित्त कृपाल' बोलती हैं। दुष्ट के प्रति कठोरता उसके शिकारों के प्रति कोमलता है। दुष्ट के प्रति कोमलता उसके शिकारों के प्रति कठोरता है।

दया और कोमलता कोई सार्वभौम गुण नहीं हो सकते। A God all mercy is a God unjust. एडवर्ड यंग का कहना है था। रोमांस में ईश्वर ने मूसा से यही कहा था : I will have mercy on whom I have mercy. I will have compassion on whom I

have compassion. दिनकर कहते थे : 'अत्याचार सहन करने का/कुफल यही होता है/पौरुष का आतंक मनुज की?/सन्धि-वचन सम्पूज्य उसी का/जिसमें शक्ति विजय की। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक 'सरयू की धार में लिखा है कि अपराधी पर दया करने से लोक धर्म का नाश होता है' स्वयं रामकृष्ण परमहंस ने कहा कि 'जब तब, जहां-तहां जिस तिस पर दया नहीं करनी चाहिए। दया दिखाने की भी एक सीमा है। देश, काल पात्र के अनुसार ही दया दिखाना उचित है।' शेक्सपीयर ने रोमियो एंड जूलियट में कहा : Mercy but murders, pardoning those that kill. शेख सादी ने गुलिस्तां के आठवें अध्याय में एकदम यही लिखा है : रहम आबुदन कर बदाँ सितमस्तबर नेकां- व अफ्व कर्दन् अज जालियां जोरस्त वर मजलूमानू : बुरों पर दया करना भलों पर अत्याचार है- और अत्याचारियों को क्षमा करना पीड़ितों पर अत्याचार है।

'रघुराई' शब्द के प्रयोग से भी यह प्रतीत होता है कि हृदय में कोमलता और आचरण में कृपा रघुवंशियों की विशेषता रही है। लेकिन यही रघुवंश अत्याचारियों और आततायियों के विरुद्ध लड़ता भी आया है। 'निठुराई' शब्द का इस प्रसंग में प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ यही है कि रावण को अभी तक जीवित छोड़ना एक तरह की निष्ठुरता है। अगाथा क्रिस्टी के एक उपन्यास में यही एक पात्र ने कहा : Too much mercy..... often resulted in further crimes which were fatal to innocent victims who need not have been victims if justice had been put first and mercy second. इसलिए सीता की इस पंक्ति को विरहिणी नायिका के उपालंभ की तरह नहीं देखना चाहिए। यह कृपा की एक रैडिकल व्याख्या करने वाली पंक्ति है। वे निष्ठुरता का जो 'हेतु' पूछ रही हैं, वह दरअसल कृपा का 'हेतु' है। अहैतुकी कृपा रावण-राज के नैरंतर्य में परिणत नहीं होनी चाहिए। वह अत्याचारों को जारी रखने में विन्यस्त नहीं होना चाहिए। राम के स्वभाव में सहज कोमलता है, लेकिन उनका अवतार इस पृथ्वी पर सचेतन (कांशस) रूप से हुआ है।

उनकी कोमलता इस बात में है कि उनका हृदय दुखियों की हालत देखकर पिघला है और वे खुद हस्तक्षेप करने उतर आए हैं। तो यह नहीं कि उनका शरीर ही कोमल– 'वह कंज सो कोमल, अंग गुपालको, सोऊ सबै पुनि जानति हौ/बलि नेक रुखाई धरे कुम्हलात, इतौऊ नहीं पहिचानति हौं'–(ठाकुर) है बल्कि यह कि उनका चित्त भी कोमल है। इसी कोमलचित्तता के कारण संसार की आर्ति से वे निरपेक्ष नहीं रह पाते। दरअसल देखा जाए तो वे लोग कठोर हैं, जो उदासीन हैं। जब पाप और पुण्य का निर्णायक युद्ध चल रहा हो, तब तटस्थ रहना कठोर होना है। हमें दिखे दुख, त्रास, अन्याय, कष्ट और उसे दिखे नहीं तो वह कठोर क्यों नहीं हुआ– 'हम चितवत तुम चितवत नाहीं, मन के बड़े कठोर'– (मीराबाई)। इसलिए राम हस्तक्षेप करते हैं। उनका कोमल हृदय, उनका कृपालु हृदय इस पृथ्वी को वरदान की तरह मिला है। वे आर. हैरिक की तरह अपने मन के कोमल होने की न तो तारीफ कर सकते हैं, न दावा। लेकिन आर. हैरिक की ये प्रसिद्ध कविता पंक्तियां उन पर ज्यादा फबती हैं : A heart as soft, a heart as kind/ A heart as sound and free/ As in the whole word thou canst find/ that heart I'll give to thee. उन्होंने यह हृदय न केवल सीता को दिया है, इसलिए पृथ्वी के दुख का निवारण करते हैं या पृथ्वी के दुख का निवारण करते हैं, इसलिए भगवान हैं।

घनानंद की भी यही शिकायत थी : 'जासों प्रीति ताहि निठुराई सों निपट नेह/कैसे करि जिय की जरनि सो जताइये।' सीता भी 'जिय की जरनि' से पीड़ित हैं। जब तक रावण का नाश नहीं होगा, तब तक यह 'जिय की जरनि' समाप्त नहीं होगी। 'निठुराई' रावण की है, लेकिन राम पर प्रत्यारोपित होती है। राम को यह व्रत पूर्ण करना ही होगा। दुनिया को रावण जैसे निर्दयी और क्रूर शासक के हाथों में छोड़ना अपने तरह का अन्याय है। इसलिए सीता 'कोमलचित' की याद करते हुए राम

की निठुराई की बड़े सुकोमल शब्दों में चर्चा करती है, लगभग वैसे ही जैसे तुलसी करते हैं : 'जद्यपि नाथ उचित न होत अस, प्रभु सो करो ढिढाई/तुलसीदास सीदत निसदिन देखत तुम्हारि निठुराई।' लेकिन इससे उनकी अपील में शामिल अर्जेन्सी कम नहीं होती। यह पंक्ति तुलसी ने गढ़ी ही इस तरह है। सीता रावण की जिन व्यक्तिगत और सामाजिक निर्दयताओं को झेल रही हैं, उनके कंट्रास्ट में राम की 'निठुराई' की शिकायत करती दिखें सीता।

सीता आखिरकार राम से ही अपेक्षा रखती हैं, इसलिए उनकी शिकायत भी राम से ही है। जिससे उम्मीद होती है, उसी से अतृप्ति भी। सूरदास की गोपियों को भी 'स्याम' की ही निठुराई याद आती है, कंस की नहीं : 'हम जानैं केवल तुमही कौं, और वृथा संसार/सूर स्याम निठुराई तजियै, तजियै बचन-विकार।'

राम कितने भाग्यशाली हैं कि उनकी पत्नी की स्मृतियों में वे सुख-भवन और सुखदायक की ही छवियों में ही बसे हैं। उत्तरकांड में भी 'कहइ भुसुंड सुनहु खगनायक/रामचरित सेवक सुखदायक' की बात कही गई, अयोध्याकांड में भी 'तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक/ बसहुबंध सिय सह रघुनायक' कहा गया। बालकांड में तो 'जय जय सुरनायक जन सुखदायक/ प्रनतपाल भगवंत' के रूप में उनका जैकारा है ही, यह भी है कि 'देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही।' अरण्यकांड में 'करत चरित सुर मुनि सुखदायक' कहा गया है तो लंकाकांड में 'प्रनतपाल सुर मुनि सुखदायक' के रूप में उनकी स्मृति है। गीतावली में तुलसी उन्हें 'सकल लोक-लोचन सुखदायक' कहते हैं और 'मुनिबर-मन-हरन सरन-लायक सुखदायक रघुनायक देखौरी' भी कहते हैं। दोहावली में वे उन्हें 'सेवक सुखदायक सुलभ सुमिरत सब कल्याण' कहते हैं। यहां जिस 'बानि' की बात कही गई है, तुलसी उसे अन्यत्र भी कहते हैं : 'वेद विदित यह बानि तुम्हारी रघुपति सदा संत सुखदायक।' रहीम के लिए भी वे 'दीन-जनक-सुखदायक' है और काली-दमन के प्रसंग में सूरदास ने भी उन्हें 'सूरस्याम ब्रज-जन सुखदायक' कहा है और 'सूरदास प्रभु सुर सुखदायक' भी कहा है। यहां सीता भी उन्हें 'सेवक सुखदायक' जैसा जनरल कथन करती हैं ताकि हनुमान के सामने मर्यादा रहे। यहां सूर की तरह का 'नंदनंदन सुखदायक है/नैन सैन दै हरत नारि मन काम काम-तनु दायक है' कथन नहीं है। सीता की मर्यादा उनके अन्तरंग को सामने नहीं आने देती है, लेकिन उसके साथ ही यह भी बात तय है कि राम की स्मृति अभी सूर की ही तरह 'आनंद कंद सकल सुखदायक' के रूप में भी नहीं हैं। वे जब 'सेवक सुखदायक' कहती हैं तो उसे क्वालिफाइड बनाती हैं। राम 'सकल' को नहीं, 'सेवक' को सुखदायक हों और चूंकि रावण सेवक नहीं है, सत्तान्ध है, उसे राम की दया-कृपा और सुख के अयोग्य बना दिया गया है।

सेवक की परिभाषा कबीर ने दी थी। सेवक सेवा में रहै, सेवक कहिये सोय/कहँ कबीर सेवा बिना, सेवक कभी न होय/दया और धरम का ध्वजा, धीरजवान प्रमान/सन्तोषी सुखदायका, सेवक परम सुजान/यह मन ताको दीजिये, साँचा सेवक होय/सिर ऊपर आरा सहै, तऊ न दूजा होय : सीता ऐसी ही हैं। सिर के ऊपर आरा सह रही हैं। लेकिन 'दूजो' की तमाम कोशिशों को पूरे साहस के साथ व्यर्थ कर रही हैं। सीता की निष्ठा शब्दशः अद्वितीय है। महत्व की बात यह भी है कि सीता क्या स्वयं को प्रकारान्तर से सेवक कह रही हैं ? वे तो राम की अर्धांगिनी हैं। लेकिन उसका आत्मविश्वास होने के बावजूद वे स्वयं को सेवक ही कहती हैं। सूरदास फिर याद आ जातें हैं– 'सेवक करै स्वामि सों सरवरि, इन बातन पति जाई' कि सेवक स्वामी से बराबरी करने चले, ऐसी बातों से सम्मान नष्ट ही होता है। तो यहां सीता क्यों पत्नी के बराबरी वाले स्तर को छोड़ सेवक वाली बात कर रही हैं या यहां सीता के मुख से तुलसी अपनी बात कहला रहे हैं : 'साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास 'दोहावली'। रावण के दंभ की तुलना में यहां सीता की विनम्रता अचानक हमारा ध्यान खींच लेती है, यह वह सीता थीं जिनके लिये राम फूल चुनने जाते थे, यह वह सीता थीं जिनके कहने पर राम

को स्वर्ण-मृग के पीछे जाना पड़ा था। क्यों विपत्ति ने सीता को विनम्र बना दिया है? वे 'स्व' में नहीं रह गई हैं? कथा के प्रवाह में सीता का 'सेवक'-भाव समझ में आता है, कथा के प्रवाह से अलग कर कुछ पंक्तियों को स्वतंत्र रूप से पेश कर कवि पर तमाम किस्म के आरोप मढ़ दिया जाना सरल है।

राम का स्वभाव सहज है। अपने एक पद में अन्यत्र तुलसी यह भी बोले हैं कि "श्री रघुबीर की यह बानि/नीचहू सो करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि/राम सहज कृपालु कोमल दीनहित दिदानि।" गीतावली के एक गीत में 'जानि बानि प्रीति कृपासील मई है, कहा गया है। हनुमान बाहुक में तुलसी का आर्तस्वर 'बानि जानि कपि नांह की- के साथ ही फूटता है। अरण्य कांड में यही तुलसी कहते हैं : एक बानि करुणानिधान की/ सो प्रिय जाकें गति न आन की।' इसलिए सीता राम के इस स्वभाव पर ही आश्रित होकर बात कर रही है। इसी सहज सरल स्वभाव के कारण ही तो राम सीता को और सीता राम को इतनी पसंद आई।' राम के व्यक्तित्व में ग्रंथियां नहीं हैं, जटिलताएं नहीं हैं, वे बहुत कुछ ओढ़कर नहीं रखते। तुलसी ने संत की परिभाषा भी कुछ ऐसे ही की है : 'सरल बरन भाषा सरल सरल अर्थमय मानि, तुलसी सरल संतजन, ताहि परी पहिचानि'। सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के शब्दों का प्रयोग करूंगा तो कह सकता हूँ कि सीता का मन 'राम की सरलता की बाढ़ में जलबिन्दु सा बह' गया है। सीता को बार-बार महादेवी वर्मा की तरह याद आता है : 'सरलता का न्यारा निर्झर/हमारा वह सोने का स्वप्न/प्रेम की चमकीली आकर'। रावण के बहुत ही कृत्रिम और नकली, बहुत ही कूटनीतिक और साजिशों भरे क्षेत्र में आयी हुई सीता को सरलहृदय राम की याद बार-बार आती है। धूमिल के शब्दों में रावण के क्षेत्र को सीता परिभाषित करें तो यह वह दुनिया है जहां- सबने भाईचारा भुला दिया है/ आत्मा की सरलता को भुलाकर मतलब के अंधेरे में सुला दिया है।' राम की शोभा सरल है। वे कभी 'बहु किये बनावा नहीं' रहे। रावण यदि स्वर्णमंडित आधिक्य (glut) में रहता है। तो राम तापसी होकर एक तरह के न्यूनतावाद (minimalism) रहते हैं। फर्क यही नहीं है कि रावण नागर संस्कृति का है जिसमें कई अनिवार्य जटिलताएं हो गई हैं और राम वे व्यक्ति हैं जिन्होंने आरण्यक संस्कृति का वरण किया है बल्कि यह है कि सहजता राम के स्वभाव की चारित्रिक विशेषता है। एपल कंप्यूटर के प्रमुख जॉन स्कली को शिकायत थी कि 'everything we have learned in the industrial age has tended to create more and more comlication' बहुत याद में जाकर उन्हें समझ आया कि Simplicity is the ultimate sophistication राम वही हैं। सरल और संस्कारित। सीता को उन्हीं राम की याद बार बार आती है।

वे राम जो सहज स्वभाववश ही सेवकों के लिये सुखदायक हैं, वे क्या कभी सीता की याद करें हैं? मोमिन ने भी क्या यहीं से उठाया था वह मिसरा : वो जो हममें तुममें करार था तुम्हें याद हो के न याद हो/वही बानी वादा निबाह का तुम्हें याद हो के न याद हो। सीता का यह प्रश्न लगभग हर प्रेम करने वाला दिल अपने प्रेमपात्र से पूछता है। क्या उसे भी मेरी याद इसी तरह आती है जिस तरह मुझे उसकी आती रहती है? लेकिन यहां सीता अपने प्रेमी राम को नहीं, रघुनायक को याद कर रही हैं। रघुवंशी परंपरा रही है असत्य की शक्तियों से टकराना। सीता रघुनायक को याद कर रही हैं। रघुनायक को लंकेश से युद्ध करने के कर्तव्य की 'सुरति' दिला रही हैं सीता। सीता को लगता है कि राम याद करलें तो वे ही उनकी नैया को डूबने से बचायेंगे : कबीर कहते हैं कि 'सुरति करौ मेरे साइयां, हम हैं भाजन मांहि/आपे हि बहि जाहिंगे, जौ नहिं पकरौ बांहि.' सीता की प्रार्थना भी यही है कि हे स्वामी! मेरी याद करो।' हौं अनाथ, प्रभु तुम अनाथ-हित, चित यहि सुरति कबहुं नहिं जाई।' मुझे बस तुम्हारा ही सहारा है प्रभु। तुम्हारी आस का आसरा। तो यहां सीता संतों के सुरति-निरति के जटिल दर्शन में न पड़कर एक सीधा-सा प्रश्न पूछती हैं। लेकिन इसी प्रश्न पर उनकी जान अटकी है।

सीता को इस बात से ही परम संतोष मिलता है कि उनके प्रिय उन्हें भूले नहीं हैं, हाथ वे छोड़ेंगे नहीं। उनके साथ नित्य संयोग में रहेंगे। क्रिस्टीना जार्जीना रोसेटी की एक कविता याद आती है: Remember me when I am gone away into the silent land/When you can no more hold me by the hand. सीता की यह 'मिस मी' जिज्ञासा 'रघुनायक' शब्द के इस्तेमाल से कुल-कर्तव्य को पूरा करने के लिये अपने जनहितैषी पति की पुकार बन जाती है। तो यह सिर्फ सेवक की तरह याद करने के लिये ही सीता की करुण आवाज नहीं है : कहु कपि कबहुं कृपाल गुसाई/सुमिरहिं मोहि दास की नाई : बल्कि एक ऐसे वंश की आन याद दिलाना है जो उत्पीड़न, नृशंसता, दुर्नीति और असत्य के खिलाफ युगों युगों से पीढ़ी-दर पीढ़ी लड़ता आया। बाद में फैंटम की कहानी शायद ऐसे ही प्रेरकों से गढ़ी गई। फिर राम तो रघुओं में भी नायक हैं।

दुख के क्षणों में हम ही ईश्वर को याद नहीं करते, ईश्वर भी हमें याद करता है। यदि यह खयाल हमें रहे तो शायद दुख ही न रहे। हम ईश्वर से अपने पापों के लिए क्षमा मांगते हैं, लेकिन दुखी होने के लिए नहीं मांगते, जबकि हमारा नैराश्य ईश्वर के प्रति हमारे विश्वास की कमी का सूचक है। नैराश्य ईश्वर के विरुद्ध हमारा नो-कान्फीडेंस मोशन है। आशा, ईश्वर की 'सुरति' की यही अवधारणा, हमारा शिरस्त्राण है। वह भी समझता है कि हमारा हर आंसू उस पर एक कर्ज है। लेकिन कई बार हमारे मन में यह भावना आती है कि ईश्वर ने हमें तो भुला ही दिया है। हमने तो उसे पुकारा भी था, लेकिन कोई उत्तर नहीं आया, हमारी आत्मा के करुण स्वर शून्य में खो गए और उन्होंने उस शून्य (आकाश) की बुनावट को किंचित भी प्रभावित नहीं किया। शायद भगवान छुट्टी लेकर चला गया और कोई प्रभारी अधिकारी भी नियुक्त करके नहीं गया। हम ईश्वर के दिमाग से कहीं 'स्लिप' कर गए और यदि हम मान भी लें कि नहीं, वह उपेक्षा नहीं करेगा तो भी लगता है कि उसको जब तक पता चलेगा तब तक तो हमारा सर्वनाश हो चुकेगा– हमने माना कि तगाफुल ना करोगे लेकिन/ खाक हो जाएंगे हम तुमको खबर होने तक।

सीता हनुमान से पूछती हैं कि हे तात! क्या कभी श्रीराम जी के श्यामल कोमल शरीर को देखकर मेरे नेत्र शीतल होंगे? अरण्यकांड में सीता राम के इसी श्यामल कोमल शरीर को टकटकी बांधकर देखती रही थी : 'सीता चितवत स्याम मृदु गाता/परम प्रेम लोचन न अघाता।' बालकांड में भी इसी 'देखि स्याम मृदु मंजुल गाता' की बात आई है। किष्किन्धाकांड में 'मृदुल मनोहर सुंदर गाता' की। लंकाकांड में भी सीता की यही आस है "देखौं नयन स्याम मृदु गाता।" परमानंददास ने भी इसी कोमल तन की याद की : 'कहँ वह दरस परस' 'परमानंद' कोमलतन 'कोमल गातन कौ।' राम के बारे में सीता ने सुन लिया– 'भये सीतल श्रवन तन मन सुने वचन-पियूष/दास तुलसी रही नयननि दरस ही की भूख।' लेकिन सीता 'लागी सुनै श्रवण मन लाई' से तृप्त नहीं होंगी, उनकी तो "अखियां हरि दरसन की प्यासी है"। अब वे राम को सशरीर सामने देखकर ही प्रसन्न होंगी। रैदास कहते थे: 'दरसन दीजै राम दरसन दीजै/दरसन दीजै हो विलंब न कीजै।' सूरदास कहते थे : 'अंखियां हरि दरसन की भूखी' और उनका यह पद तो एकदम इसी स्थिति पर है : 'हमरी सुरति बिसारी बनवारी/अब कैसें हरि-दरसन पाऊं।' सीता की आंखें तो तप गई हैं, जल रही हैं, लंका के दृश्य देख देखकर। ऐसे में उन्हें तो राम को देखकर ही तृप्ति मिलेगी। सूरदास ने कहा था : 'लोचन तृप्त भए दरसन तैं उर की तपनि बुझानी।' या स्वयं तुलसी ने कहा था : 'लोचन चातक जिन्ह करि राखै/रहहिं दरस जलधर अभिलाषैं।' सूरदास ने कहा था : 'भली करी यह दरसन दीन्हें/जनम जनम के ताप नसाएं।'

सीता के इस भाव को तुलसी ने गीतावली में भी व्यक्त किया था : कबहूं, कपि! राघव आवहिंगे? मेरे नयन चकोर प्रीतिबस राकाससि मुख दिखरावहिंगे/मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे/अंग-अंग छबि भिन्न भिन्न सुख निरखि-निरखि तहँ तहँ छावहिंगे!

सीता को राम के दर्शन की जो आशा है, वही उन्हें जीवित रखे हुए है। इसलिए अभी वे जिन नयनों को 'ताता' (जलते हुए) बता रही हैं, बाद में 'नाथ सों नयननि को अपराधा' कहकर वे उन्हीं नैनों के कारण ही अपनी प्राणरक्षा की बात भी कहेंगी। उनकी आंखें राम के इंतजार में नम नहीं हुईं। वे जलती रहीं क्योंकि उन आंखों में एक अभिशाप भी था, दुष्ट रावण के लिए। सागर पालमपुरी की एक गज़ल है : 'बसा है जब से आकर दर्द-सा अज्ञात आंखों में/तभी से जल रही है आग-सी दिन रात आंखों में।' सीता के दिल में रावण के अत्याचार के विरुद्ध जो आग लगी थी, उसके शोले उनकी आंखों में दहकते थे। राम उस अत्याचार को समाप्त करके ही सीता के नयनों को शीतल कर सकते थे। तुलसी ने अपने एक पद में कहा : 'कब देखोंगी नयन वह मधुर मूरति?/राजिवदल-नयन, कोमल-कृपा-अयन, मयननि बहु छवि अंगनि दूरति/सिरसि जटाकलाप पानि सायक चाप/उरसि रुचिर बनमाल मूरति/तुलसीदास रघुबीर की सोभा सुमिरि/भई है मगन नहिं तन की सूरति।' राम को अपने हाथ में धनुष और बाण धारण कर राक्षसी सत्ता को उखाड़ फेंकना था। तब ही सीता उन्हें देखने को मिलतीं।

यह खास बात है कि रामकथा में प्रतिशोध जैसी भावना को स्थान नहीं है। रावण ने भले ही शूर्पणखा के अपमान का प्रतिशोध लिया हो, लेकिन राम सीतापहरण का प्रतिशोध लेने पर उतारू हों, ऐसा कहीं नहीं दिखता। रावण दुनिया को रुलाता है, इसलिए वध्य है। न कि इसलिए कि उसने सीता का अपहरण कर लिया है। हैमलेट की तरह राम या सीता यह नहीं कहते है कि : O, from this time forth/My thoughts be bloody, or be nothing worth. राम के दो दो दूत हनुमान और अंगद रावण को जाकर समझाते हैं, लेकिन रावण के सिर पर भूत सवार है। राम या सीता प्रतिशोध के छोटे-से वृत्त में नहीं कैद होते। इसलिए यदि सीता के नेत्र तृप्त होने हैं तो वे लोक-प्रयोजन के लिए हैं और उनका उद्देश्य और फलश्रुति किसी निजी बदले के लिये रावण का वध नहीं है बल्कि 'स्याम मृदु गाता' को निरखना है। रावण-वध एक इन्टरल्यूड है, लेकिन परिपाक तो राम को ही सशरीर देखने में है।

सीता का कंठ रुंध जाता है और आंखों में आंसू भर आते हैं। एक पल को जीसस की तरह उन्हें भी ख्याल आता है कि 'मेरे ईश्वर, तूने मुझे क्यों छोड़ दिया।' 'हे नाथ, मैं तो पूरी तरह ही भुला दी गई।' 'क्या यह सीता का' 'दुर्बल क्षण' (मोमेंट ऑफ वीकनेस) है? क्या सीता अपनी भीषण वेदना के भार के सामने दब रही हैं? क्या भगवान के साथ उनका साहचर्य (फैलोशिप) टूट गई? सीता का यह शोक हृदय-विदारक है। ध्यान दें कि जब रावण सीता को संत्रस्त कर रहा था, तब सीता राम के दम पर उसका मुकाबला कर रही थीं। लेकिन जब हनुमान के रूप में कोई सहृदय सहानुभूतिशील आत्मीय मिल गया तो सीता के भीतर जैसे इतने दिनों का भरा बांध फूट गया। सीता फूट पड़ीं। सीता अत्याचार सहते समय अशक्त नहीं महसूस कर रही थीं। लेकिन जब उनके सामने हनुमान के रूप में एक आश्वासन-सा आ गया तो वे जो इतने जतन से खुद को इकट्ठा किए बैठी थीं, बिखर गईं। जीसस तो तब बोलते हैं जब सलीब पर वे अकेले रह जाते हैं। उन्हें कम्फर्ट करने के लिए न कोई एंजेल (देवदूत) आता है, न कोई आदमी। कोई उन्हें पानी तक को नहीं पूछता। बल्कि वे उन्हें पीने के लिए विनेगर देते है। उनके चारों ओर क्रुद्ध भीड़ है जो उन्हें गंदे से गंदे अपशब्द कह रही थी। उन पर ये-वो चीजें फेंक रही है। जीसस के शब्द उनके निपट एकान्त में निकलते हैं। सीता के शब्द उनका त्रासद एकान्त खत्म होने और एक सुहृद के मिलने पर निकलते हैं। सीता को लगता है कि उनके नाथ ने उन्हें सम्पूर्णतः विस्मृत कर दिया। जैसे ईश्वर ने सारे आकाशों के पट उनके लिए बंद कर दिए। जीसस को लगा था कि उनके ईश्वर ने उनसे 'विदड्रा' कर लिया। दोनों हर तरफ नजर दौड़ाते हैं। लेकिन न सीता को राम दिखाई देते हैं, न जीसस को ईश्वर। हर तरफ जैसे उसकी चुप्पी बिखरी हुई है। सीता भावातिरेक में तुलसी के यहां रो देती हैं

जबकि वाल्मीकि के यहां वे काफी बौद्धिक प्रश्न करती हैं : 'अच्छा यह बताओ, पुरुषोत्तम राम के मन में कोई व्यथा तो नहीं है? वे संतप्त तो नहीं होते? उन्हें आगे जो कुछ करना है, उसे वे करते हैं या नहीं? उन्हें किसी प्रकार की दीनता या घबराहट तो नहीं है? वे काम करते करते मोह के वशीभूत तो नहीं हो जाते? क्या शत्रु संतापक राम मित्रों के प्रति मित्रभाव रखकर साम और दान रूप दो उपायों का ही अवलंबन करते हैं? तथा शत्रुओं के प्रति उन्हें जीतने की इच्छा रखकर दान, भेद और दण्ड- इन तीन प्रकार के उपायों का ही आश्रय लेते हैं? क्या श्रीराम स्वयं प्रयत्नपूर्वक मित्रों का संग्रह करते हैं?" आदि आदि। उसकी तुलना में तुलसी की सीता क्रन्दन ही कर उठती हैं। वाल्मीकि की सीता भी प्रश्नों की झड़ी लगाती हैं और तुलसी की भी। लेकिन रामायण में वे जहां दिमाग की कसरत करा देने वाले सवाल हैं, वहां मानस में वे एक अनुभूतिप्रवण, एक जज्बाती प्रेमिका के प्रश्न हैं। क्या वे मुझे याद करते हैं? किस कारण उन्होंने निष्ठुरता धारण कर ली? क्या उन्हें देखकर कभी मेरी आंखें ठंडी होंगी? तुलसी की सीता भावावेग में गद्‌गद् हो जाती हैं जबकि वाल्मीकि की सीता रणनीतिक जिज्ञासाएं तक करती हैं। 'क्या भाई पर अनुराग रखने वाले भरत मेरे उद्धार के लिए मंत्रियों द्वारा सुरक्षित भयंकर अक्षौहिणी सेना भेजेंगे? क्या वे पुरुषार्थ और दैव दोनों का आश्रय लेते हैं?' तुलसी ने अपनी सीता को जो भावोद्दीप्तता दी, वह उनका एक महत्वपूर्ण प्रस्थान-बिंदु है। वाल्मीकि की सीता का अपने मनोवेगों पर ज्यादा नियंत्रण है, जबकि तुलसी की सीता बहुत कोमलमनस्क और भावुक हैं। अपने पति के द्वारा असंस्मृत रहने का विचार मन में आते ही उनकी रुलाई फूट पड़ती है, भावोद्रेक में उनका कंठावरोध हो जाता है।

सीता की विरहाकुलता हनुमान के सामने एकदम स्पष्ट हो आती है। यह इसी विरहाकुलता का परिणाम है कि सीता को लग रहा है कि राम ने उन्हें भुला दिया। यह इसी विरहाकुलता का परिणाम है कि सीता को अपने दुख की उर्वरा शक्ति पर भी भरोसा नहीं रहा। वह भरोसा जो दिनकर की चित्रलेखा को है जब वह कहती है : 'निश्चय, विरहाकुल पुकार से कभी स्वर्ग डोलेगा/ और नीलिमापुंज हमारा मिलन मार्ग खोलेगा।' इसलिए हनुमान इस विरहाकुलता को परम की श्रेणी में रखते हैं। जगन्नाथदास रत्नाकर की पंक्तियां हैं : विरह-विथा की कथा अकथ अथाह महा/कहत बनै न जो प्रबीन सुकबीनि सौं। लेकिन हनुमान ने सीता की विरह कथा को 'महा' नहीं, 'परम' कहा है। गोरखनाथ के समय से परम शब्द का एक विशिष्ट और अतुल्य अर्थ में प्रयोग हिन्दी में होता रहा है : 'अनहदनाद गगन में गाजै/परम जोति तहाँ आप बिराजै।' या कबीर में : 'कहै कबीर परम पद पाया'। वहां से लेकर मुक्तिबोध तक : 'अनखोजी निज-समृद्धि का वह परम उत्कर्ष/परम अभिव्यक्ति मैं उसका शिष्य हूं।' परमात्मा से विरह का दुख भी परम ही होगा। मीराबाई यही कहती थीं : 'हरी तुम कायकू प्रीत लगाई/प्रीत लगाई परम दुख दीनो।' सीता की भी विरहाकुलता इसलिए परम है। तुलसी दो बार सुन्दरकांड में इस पंक्ति का प्रयोग करते हैं – देखि परम बिरहाकुल सीता। एक बार तब जब हनुमान इसे देखकर मन मसोस कर रह जाते हैं और चूंकि कुछ कर नहीं पाते हैं तो वह क्षण उन्हें कल्प के समान लगता है और दूसरी बार अब। तब जब 'परम' शब्द का प्रयोग हुआ, सीता मरने को प्रस्तुत थीं और अब जब उसी पंक्ति का प्रयोग हो रहा है तो हनुमान को लगता है कि भारतीय शास्त्रों में उल्लिखित विरह की दस दशाओं में से अंतिम 'मरण' की अवस्था सीता के सामने है। यह विचार, कि उनके पति ने उन्हें भुला दिया, सीता को मरणांतक पीड़ा से भर देता है।

सीता की यह दशा देखकर हनुमान मृदुवचन बोलते हैं। बहुत कोमल स्वरों में वे सीता को सम्बोधित करते हैं। सीता जिस मनोदशा में है, वहां असावधानी से बोला हुआ कोई भी शब्द उन्हें और भी ज्यादा आत्मघाती विचारों में धकेल सकता है। नरोत्तमदास सुदामा चरित में ऐसे ही पूर्णकाम मृदुवचनों के बारे में लिखते हैं : 'अतिविनीत मृदुवचन कहि, सब पुरौ मनकाम'। और

हनुमान यह सच्चे मन से बोलते हैं, बनाकर या दुराव से नहीं। वैसे नहीं जैसे किष्किन्धा कांड में एक भिन्न प्रसंग में तुलसी के शब्द हैं : 'आगे कह मृदुवचन बनाई/पांछे अनहित मन कुटिलाई।' हनुमान मनोविज्ञान के अच्छे अध्येता हैं। सीता से वे प्रथम बार मिल रहे हैं, फिर भी वे उनकी माइंड रीडिंग कर लेते हैं। आत्महत्या के बारे में हुए अध्ययनों में एक बात यह सामने आई है कि उस समय 'बिलांगिंग' का भाव बुरी तरह से आहत हुआ रहता है। एक स्युसाइड नोट में यह साफ लिखा था : 'मैं यहां से पुल तक जा रहा हूं, यदि रास्ते में एक भी व्यक्ति मुझे देखकर मुस्कुरा दिया तो मैं छलांग नहीं लगाउंगा।' सीता को भी राम से बिलांग करने के अपने दावे के बारे में गहन संशय हो जाता है। उन्हें लगता है कि वे तो अपने पति के द्वारा भुला दी गई हैं। डिप्रेशन एक बीमारी है, उसमें ऐसा हो ही जाता है। उसके लिए सीता को दोषी ठहराना ऐसा ही है जैसे छाती में दर्द महसूस करने के लिए दिल के मरीज को दोषी ठहराना। सीता सहायता के लिए वैसे ही पुकार रही हैं जैसे आत्महत्या के लिए प्रस्तुत कोई भी व्यक्ति पुकारता है। वह आत्महत्या इसलिए ही करता है क्योंकि इस पुकार की कोई प्रतिध्वनि नहीं लौटती, कोई प्रत्युत्तर नहीं आता। हनुमान सीता को उस स्थिति तक पहुंचने नहीं देते। वे बहुत ही नरम और सधे शब्दों में सीता को सम्बोधित कर देते हैं। बात सिर्फ पति की भी हो तो भी कई स्त्रियां उस स्थिति तक पहुंच जाती हैं। बात यहां तो उस पति की भी है जिसके द्वारा यदि हम भुला दिए जाएं तो एक तरह की स्पिरिचुअल डेथ (आध्यामिक मृत्यु) हो जाए। यहां 'नाथ' सिर्फ पति नहीं है, वह 'जगन्नाथ' है। उसके लिए पति शब्द का प्रयोग न कर तुलसी ने जानबूझकर अर्थ-विस्तार किया है। दूसरे, भगवान के दूसरे पर्यायों का प्रयोग न कर तुलसी ने यह गुंजाइश भी छोड़ रखी है कि मामला जितना आध्यात्मिक है, उतना ही पारिवारिक भी। तीसरे, तुलसी ने भगवान और पति दोनों के लिए ही 'नाथ' शब्द का प्रयोग कर यह बताना चाहा है कि उसके द्वारा भुला दिया जाना अनाथ हो जाना है। विभीषण ने पूछा था : 'तात कबहुं मोहि जानि अनाथा/करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा।' सीता भी राम के बिना उस सम्पूर्ण असहायता और विपन्नता को महसूस करती हैं। Deserted by God. एक असाधारण अनुभूति। दिल के भीतर जैसे सब कुछ खोखला-सा हो गया हो। आध्यात्मिक आर्फन। इस संसार के रेगिस्तान में भटकता हुआ। एक ऐसी सुरंग में गिरफ्तार जहां दोनों सिरों पर से कहीं से भी उजाला नहीं दिख रहा हो। हनुमान ऐसी मानसिक अवस्था में चली आई सीता को बहुत दयार्द्र (कंपैशनेटली) होकर बोलते हैं। बल्कि राम के सेवक हनुमान अपनी 'मां' पर दया तो क्या दिखलाना चाहेंगे क्योंकि वे तो उनको अपने से इतना उच्चाधिष्ठित मानते हैं, लेकिन सीता के मानस को पढ़ने से उनमें एक समानुभूति (empathy) जरूर जागती है जो उनके स्वर में भी छलक आती है। वे समझते हैं कि जब सीता यह कह रही हैं तो यह बात कितनी बड़ी है। एक सैद्धान्तिक विश्वास– कि जिसमें सब कुछ ईश्वर संभाल लेगा- की जगह ईश्वर के प्रति एक सच्चे आनुभूतिक संदेह की कहीं ज्यादा कीमत है। सीता उस झूठी आध्यात्मिकता में नहीं हैं जो उनके आसपास के यथार्थ की अवहेलना पर जारी रहता है। वे उन हतोत्साहों (discouragements) को जानती, देखतीं और भोगती रही हैं जो लंका के पतित संसार (fallen world) में हैं। इसलिए वे हनुमान के सामने अपनी ब्रोकन स्पिरिट को जस का तस रख देती हैं। उनके सामने ये आदर्श हो सकते हैं कि वे राम जैसे सदा-केअरिंग पति पर अपनी दुरावस्था के भी चरम और परमक्षणों में कोई आरोप न लगाएं, कोई गिला शिकवा न करें। लेकिन उनका दुख इन आदर्शों के तटबंध तोड़कर बह निकलता है। और हनुमान को उनकी वेदना की ग्रेविटी जितनी उस आदर्श के निर्वाह से नहीं समझ आती, उतनी सीता की इस ईमानदार प्रश्नाकुलता से समझ में आती है, उनके इस अविश्वास से समझ में आती है। जिन्दगी में कई मौके ऐसे भी आते हैं जब हमारे भीतर की आध्यात्मिकता का पता हमारे विश्वास से नहीं, हमारे अविश्वास से चलता है।

हनुमान सीता को 'हे माता' कहकर बताते हैं कि सुंदर कृपा के धाम प्रभु लक्ष्मण सहित वैसे तो कुशल हैं, लेकिन आपके दुःख से दुखी हैं। और उनके बताने में दुख के संक्रमण की एक टेलीपैथी निहित है, जो महत्वपूर्ण है। दुख का सकल संक्रमण इस बात पर निर्भर करता है कि संप्रेषक और संप्रेषिती के बीच का भावनात्मक अनुबंध कितना मजबूत है। एक बच्चे और उसकी मां के बीच दुख के क्षणों की बहुत ताकतवर टेलीपैथी देखी गई है। राम और सीता के बीच भी यह बहुत सशक्त है। अतः आश्चर्य नहीं कि राम 'तव दुख दुखी' हैं। इसके दोनों अर्थ हो सकते हैं : तेरे दुख में दुखी और तेरे दुख से दुखी। एक अर्थ में राम का वह विलाप याद आता है :- हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी/तुम्ह देखी सीता मृगनैनी।' और दूसरे अर्थ में सीता के दुख की अनुभूति राम तक भी संचरित हुई है, यह स्थापित होता है। दिल से दिल को राह होती है। सीता के अश्रु एकान्त में अवश्य गिरे हैं, लेकिन अकेले नहीं गिरे। राम के भी अश्रु साथ साथ गिरे हैं। नारदजी जब अरण्यकांड में राम से मिलते हैं तो राम को दुखी देखते हैं : बिरहवंत भगवंतहि देखी/नारद मन भा सोच विसेषी/मोर साप करि अंगीकारा सहत राम जाना दुख भारा।।' दुख ही नहीं, उनके मन में अब 'डर' भी कभी-कभी आ जाता है। वर्षाऋतु के वर्णन में वे अनजाने ही यह बात स्वीकार भी लेते हैं : 'घन घमंड नभ गरजत घोरा/प्रियाहीन डरपत मन मोरा।' राम बहुत प्रकट नहीं करते अपना दुख। लेकिन उनकी संवेद्यताएं हैं और उनके भीतर भी बहुत कुछ दुखता है। जब सीता साथ थी तो वे आसमान में गरजने वाले बादलों और बिजलियों का आनंद लिया करते थे बल्कि उनसे तो उनका हृदयाकाश और रोमान्टिक हो जाया करता था, लेकिन अब जब सीता साथ नहीं हैं तो राम का नाजुक हो आया मन बादल के गरजने से भी डर जाता है। सीता को रावण के सामदाम दण्ड भेद के सामने डर नहीं लगता किन्तु राम को बिजली का चमकना तक डरा जाता है। राम पहले ऐसे नहीं थे। अब उनकी अपनी वल्नरेबिलिटीज़ हैं। उन्हें सीता का दुख व्याप गया है। पुरुष होने के कारण अक्सर कई लोग अपने कई दुखों को छुपा लेते हैं, उन्हें बिल्कुल भी सामने नहीं आने देते। और राम तो पुरुषोत्तम हैं। उन्हें तो सीने पर पत्थर बांधकर ही रहना है। अपने गम चुपचाप सहना है। राम वही कर रहे हैं। 'राम की शक्ति पूजा' में निराला ने 'धिक जीवन जो पाता ही आया सदा विरोध' भी राम के मुख से इसीलिए कहलवाया कि अवतार की भी स्थिति एकदम निरापद नहीं होती। उसे भी उन सब जुल्मों को झेलना है जो उस युग की सबसे बड़ी नकारात्मक ताकत उस पर ढाती है। निराला की शक्ति पूजा में 'ये अश्रु राम के' गिरते हैं। सभी को राम से अपेक्षा है, इस चक्कर में अपने दुख राम प्रकट भी नहीं कर सकते हैं। राम के संबल से सबका संबल बना हुआ है। राम टूट जायेंगे तो बाकी सब का क्या हाल होगा? इसलिए राम प्रकटतः तमाम कोशिशें करते हैं कि उन्हें लगे घावों से वे उपराम दिखें। लगातार कार्यों में व्यस्त दिखें, दूसरे के दुखों को अपनाने में निरत रहें। धर्म और मौसम की बात करें। तो अरण्यकांड में तुलसी वह पक्ष भी दिखाते हैं जब 'बैठे परम प्रसन्न कृपाला/कहत अनुज सन कथा रसाला'। लेकिन उन पर बार-बार वह दुख भिन्न भिन्न रूपों में आक्रमण करता रहता है। इसलिए तुलसी 'बिरही इव प्रभु करत विषादा/कहत कथा अनेक संवादा' के तथ्य को भी रेखांकित करते हैं। दुख भीतर ही भीतर पल रहा है। घुन की तरह। और राम के भीतर एक अंतर्दाह भी पैदा कर रहा है। राम की भीतरी सोच भी ऐसी हो गयी है कि उन्हें लगता है कि पूरा संसार उन पर हंस रहा है। उन्हें लगता है कि हर कोई उनकी निन्दा कर रहा है। 'नारि सहित सब खग मृग बृन्दा/मानहुं मोरि करत हहिं निंदा/हमहि देख मृग निकर पराहीं/मृगी कहंहिं तुम्ह कहै भय नाहीं/तुम आनंद करहु मृग जाए। ए कंचन मृग खोजन आए।' "हमें देख कर जब डर के मारे हिरणों के झुण्ड भागने लगते हैं, तब हिरणियां उनसे कहतीं हैं- तुमको भय नहीं है। तुम तो साधारण हिरणों से पैदा हुए हो। तुम तो मजा करो। ये तो सोने का हिरण खोजने आए हैं।" बार बार संसार उन पर

व्यंग करता हुआ दिखाई पड़ता है। कैसी मूढ़ता थी? क्या करने चले थे? जब राम को तुलसी यह अनुताप करते दिखाते हैं तो उस अनुताप में उनके अवतारत्व का कोई कण नहीं अंटता। वहां वे उतने ही मनुष्य हैं जितना कोई और। अलबत्ता अनुताप का मूल कारण उन्होंने अवश्य ही अवतारत्व की भावना से भर दिया है: 'तब रघुपति जानत सब कारन उठे हरषि सुर काज संवारन'। निश्चय और क्रियान्वयन के समय जो स्वयं ईश्वर रहा हो, वह पश्चाताप के पल मनुष्य कैसे हो सकता है? वह पछतावा इतना सच्चा है कि उसे अभिनय कहकर उसका निरादर नहीं किया जा सकता। राम को पछतावे के इस क्षण न केवल मृग बल्कि हाथी तक शिक्षा देते हुए लगते हैं : संग लाई करिनीं करि लेहीं/ मानहुं मोहि सिखावनु देहीं।' कि हाथी हथिनियों को साथ लगा लेते हैं। वे मानों मुझे शिक्षा देते हैं'। राम अन्दर से बहुत कट गए हैं। स्वर्ण-मृग हास्यास्पद बात थी ही। लेकिन उसी से अंत में देवकार्य पूरे होने थे। यह भी जीवन में होता है कि एक सरासर मूढ़ता की तरह दिखाई देने वाली चीज अंत में हमारे व्यवहारों की सबसे बड़ी सुधारक और हमारी उन्नति की नींव का सबसे महत्वपूर्ण पत्थर बन जाती है। बार बार वह घटनाक्रम आंखों में घूम जाता है और मन के घाव हरे हो जाते हैं। फिर यह बोध कि मज़ाक मज़ाक में शिकार करने चले थे, लेकिन शिकार तो सीता हुईं। वे कहां किस हाल में होंगी। कोई दुष्ट उन्हें उठा के ले गया है। वह उन पर क्या जुल्म ढाता होगा। वन में जरा-सी देर हो जाती थी तो मन में कितने बुरे-बुरे विचार आने लगते थे। अब तो स्पष्टतः अपहरण है और अब मन पर कितनी भयावह कल्पनाओं का हमला होता होगा। राम को उनकी ग्लानि भी मार रही है और सीता की परिस्थिति और मनःस्थिति की कल्पना भी। राम की पीड़ा किसी मायने में सीता से कम नहीं है। राम की मां के द्वारा कहे गये शब्द राम की सामर्थ्य पर बार बार चोट करते होंगे। कैसे सरल शब्द कैसे भारी हो गये। 'फिरहिं दसा विधि बहुरी कि मोरी/ देखिहउं नयन मनोहर जोरी'। वह जोड़ी टूट गयी। अब अपनी मां के सामने जाकर क्या मुंह दिखाएंगे? राम विरह-विकल, बलहीन हैं और अपने को अकेला भी महसूस करते हैं–'विरह विकल बलहीन मोही जानेसि निपट अकेल' यदि सीता इस ओर 'निपट बिसारि' महसूस कर रही हैं तो राम उस ओर 'निपट अकेल' महसूस कर रहे हैं। इसलिए हनुमान उचित ही 'तव दुख दुखी सुकृपा निकेता' का उल्लेख करते हैं। जब सुग्रीव ने सीता के द्वारा गिराया हुआ एक कपड़ा राम को दिया था तो भी वे गहरी सोच में डूब गये थे और बहुत देर तक उसे अपने हृदय से लगाए रहे थे– पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।

हनुमान ने यह सब देखा है और इसलिए वे सीता से कहते हैं कि हे माता, दिल छोटा मत कीजिए, आपसे राम को दुगना प्रेम है। अब देखें कि हनुमान पहले दुख की बात करते हैं, फिर प्रेम की। प्रेम ही एक ऐसा भाव है जिसमें सामने वाला का दुगुना श्रेष्ठ होना प्रेमी के मन को ज्यादा संतोष देता है। इसमें स्पर्धा उलटी है और संतोष भी उलटी तरह से प्राप्त होता है। सीता ने तो फिर भी राम को उलटा सीधा कह दिया, राम ने कभी नहीं कहा। कम से कम सीता से दुबारा मिलने से पहले तक। सीता तो राम को उलाहना भी भेजती हैं और यह आरोप भी मढ़ देती है कि राम उन्हें पूरी तरह भूल गए हैं। लेकिन राम कभी नहीं करेंगे यह। राम का वह प्रेम उन अंतरंग प्रसंगों में ही नहीं था जब 'एकबार चुनि कुसुम सुहाए/निज कर भूषन राम बनाए सीतहि पहिराए प्रभु सादर/बैठे फटिक सिला पर सुंदर।' वह प्रेम उस हाहाकार में ही नहीं था जो अपहरण के बाद राम 'हा गुण खानि जानकी सीता/रूप सील व्रत प्रेम पुनीता' के रूप में करते हैं। वह प्रेम हनुमान को सीता-शोध के लिए जाने से पहले उस निर्देश में भी था : 'बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु/कहि बल विरह बेगि तुम्ह आएहु।' हनुमान उतने उथले व्यक्ति नहीं हैं जो एक दूसरे के लिए ही बने इस प्रेमीयुगल के प्रेम की तुलना कर एक को दूसरे से ज्यादा बताएं। लेकिन फिर भी वे सीता की मनःस्थिति को समझते हुए यह बोलते हैं कि राम को

आपसे दुगुना प्रेम है। हनुमान भी जानते हैं कि राम और सीता का प्रेम किसी गुणा-भाग का मोहताज नहीं है और वह किसी गणितीय फार्मूले का गुलाम भी नहीं है। लेकिन हनुमान का यह कथन उन लोगों के लिए जरूर एक रिमाइंडर है जो यह प्रचारित करते रहते हैं कि राम ने सीता को उतना प्यार नहीं किया जितना सीता ने राम को किया। सीता इतनी अद्‌भुत स्त्री हैं कि राम उनको कम प्यार करें, यह तो हो ही नहीं सकता। फिर ये वे युगल हैं जिनके जनम जनम के रिश्ते हैं– 'प्रीति पुरातन लखे न कोई।' सीता के मुख रूपी चन्द्रमा (को निहारने) के लिए राम के नेत्र चकोर बन गए थे। 'सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।' राम सीता को एकटक देखते रह गए थे – 'भए बिलोचन चारू अचंचल।' राम ने परमप्रेम की कोमल स्याही बनाकर उनके स्वरूप को अपने सुंदर चित्त रूपी भित्ति पर चित्रित कर लिया था–'राम प्रेम मय मृदु मसि कीन्हीचारू चित्त भीतीं लिखि लीन्हीं।' राम को तो चन्द्रमा भी सीता के मुख के सामने कहीं नहीं लगा था। सीता का तो राम से संपूर्ण और एकाग्र प्रेम था ही, तभी तो वे राम की पत्नी बनी थीं : 'तब मन बचन मोर पनु साचारघुपति पद सरोज चितु राचा/तौ भगबानु सकल उरबासी/करिहि मोहि रघुबर कै दासी।' इसके तत्काल बाद सीता ने जो कहा वह राम के लिए भी सच था : जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू/सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू।' शादी के वक्त भी सीता और राम का आपस में एक दूसरे को देखना तथा उनका परस्पर का प्रेम किसी को लख नहीं पड़ रहा था। 'सिय राम अवलोकनि परस्पर प्रेम काहूं न लखि परै।' कृष्ण को हमारे यहां प्रेम के अवतार के रूप में देखा जाता है और राम को मर्यादा के। लेकिन राम को सीता से जो प्रेम हुआ, उसको आंकने में तुलसी और हनुमान पीछे नहीं छूटे हैं। राम और सीता की प्रेम-कहानी हीर-रांझा, लैला-मजनू और सोहनी-महिवाल जैसी नहीं है। लेकिन है वह भी प्रेम कहानी। रामकथा को प्रेमकथा की तरह देखें तो पता लगेगा कि क्यों भारतवासियों के हृदय को ये दोनों इतना छू गए हैं। प्रत्येक प्रेम की त्रासदी होती है, लेकिन उस त्रासदी से उस प्रेम की महिमा कम नहीं हो जाती। कृष्ण राधा से विवाह नहीं कर पाए, यह उनकी त्रासदी थी। राम सीता से विवाह के बाद उनको साथ नहीं रख पाए, यह उनकी त्रासदी थी। लेकिन विवाह प्रेम को सिद्ध नहीं करता, प्रेम विवाह को सिद्ध करता है। राम और कृष्ण दोनों अपनी अपनी तरह से इसे प्रमाणित करते हैं। लोक मानस में राधा से कृष्ण का नाम ऐसे जुड़ गया कि द्वापर के बाद कलियुग आ गया, उसके बाद भी उसी राधा को कृष्ण के साथ पूजा गया जिसके साथ कृष्ण का विवाह नहीं हो सका। भावना कर्मकांड पर विजयी हुई। राम सीता से अलग हो गए, इस कलियुग में इस बात के बहुत प्रचार के बाद भी जनमन में सीताराम साथ ही बसे हैं। वैसे ही जैसे उनकी युगलमूर्ति हनुमान के हृदय में बसी है। उनके कंजुगल सेपरेशन का जनमानस ने जैसे कोई नोटिस ही नहीं लिया। समाज समाज के द्वारा ही हराया गया। तब की सामाजिक प्रतिक्रिया को बाद की सामाजिक प्रतिक्रिया ने ध्वस्त कर दिया। प्रेम की जय हुई ।

सीता हनुमान से जब 'अब कहु कुसल' पूछती हैं तो हनुमान उन्हें 'मातु कुशल प्रभु अनुज समेता' कहते हैं। दूसरी बार लंकाकांड में घोरतम युद्ध के बाद जब हनुमान सीता के सामने आते हैं तब सीता फिर कुशल पूछती हैं तो भी अनुज समेत ही पूछती हैं : 'कहहु तात प्रभु कृपा निकेता/कुसल अनुज कपि सेन समेता।' हनुमान तब उत्तर देते हैं : 'सब विधि कुसल कोसलाधीसा।' सीता के मन में लक्ष्मण के प्रति किए गए अपराध की एक ग्रंथि है जिसके कारण वे लंका कांड में युद्ध चलते वक्त त्रिजटा से कहती भी हैं : 'जेहि विधि मोहि दुख दुसह सहाए/लछिमन कहुं कटु बचन कहाए' : उसी का प्रक्षालन वे इतनी बार करती हैं। लक्ष्मण को दुर्वचन कहना राम के प्रति भी की गई गलती थी, लेकिन राम ने सीता के द्वारा लक्ष्मण को बोले गए कड़वे शब्दों की कभी कोई कैफियत नहीं ली। राम के प्रेम की इस गंभीरता को हनुमान जानते हैं और इसी कारण वे बोल पाते हैं : 'तुम्ह ते प्रेमु राम के दूना।' राम को अपनी

सीता पर विश्वास है। हालांकि सीता को भी राम पर ऐसा विश्वास कम नहीं है लेकिन डिप्रेशन की स्थिति में वे विचलित हो जाती हैं। इसके लिए उनकी अवगणना मूर्ख ही करेंगे क्योंकि एक स्त्री होते हुए उन्होंने जितने त्रास सहे, उनसे यह अवसाद होना स्वाभाविक है। रावण द्वारा उनके बालों को पकड़कर घसीटने से लेकर राक्षसियों द्वारा बहुमंद रूप धर कर तरह तरह से संत्रस्त करने तक सीता ने बहुत सहा है। अवसाद एक मानसिक व्याधि है। हम लोग शारीरिक रूग्णता में तो रोगी पर दोषारोपण करने से बचते हैं, लेकिन मानसिक व्याधियों को हम लोग स्वयं रोगी की अपने द्वारा ही कारित कमजोरी मानते हैं, जबकि ऐसा नहीं होना चाहिए। सीता ने लंका की भयंकरतम विभीषिकाओं के बीच अपने दिन काटे हैं। एक क्रूरतम राक्षस-राज में वे अपनी अस्मिता की रक्षा कर रही हैं और इस प्रयास में वे यदा कदा अवसादग्रस्त भी हो जाती हैं। ऐसे में उनको हनुमान का यह कथन बहुत प्रीतिकर और आश्वस्तिकारी लगता है कि उनके पति उन्हें उनसे दुगुना प्यार करते हैं। इसी प्यार की डोर से सीता प्रतीक्षा की इन निर्मम घड़ियों को पार कर पाएंगी।

सीता की मानसिक अवस्था को जानते हुए हनुमान उन्हें 'मां' कहते हैं। सीता एक परायी दुनिया में हैं जहां सब कुछ उनके लिए अजनबी ही नहीं द्वेषपूर्ण (spiteful) भी है। त्रिजटा जैसे अपवाद के साथ। हनुमान का उन्हें 'मातु' और 'जननी' कहना उन्हें आत्मीयता की दुनिया में लौटाता है और उनके मानस का पुनर्वास करता है। वाल्मीकि के यहां हनुमान उन्हें देवि और शोभने ही कहते रहे हैं। बल्कि लक्ष्मण भी इसी तरह के औपचारिक संबोधनों से ही उन्हें सम्बोधित करते रहे हैं किन्तु तुलसी ने यहां मनोविश्लेषण की ज्यादा बेहतर समझ दिखाई है। तुलसी तक आते आते हमारी सामाजिकता और सघन तथा और विकसित हो गई थी। सुमित्रा ने सीता को लक्ष्मण के संदर्भ में अपने बराबर स्थान दिया था--'तात तुम्हारि मातु बैदेही।' यहां हनुमान 'सम्बंध' के 'सम्बोधन' करते हैं ताकि सीता को लंका के इस मानसिक निर्जन से उबार सकें। वैसे सत्हृदयों के लिए सीता जगज्जननी हैं ही। अभी ही नहीं बल्कि उस वक्त भी जब उनका विवाह होने जा रहा था : 'सिख हमारि सुनि परम पुनीता जगदंबा जानहुं जियं सीता/जगत पिता रघुपतिहि बिचारी/भरि लोचन छबि लेहु निहारी।' अतः हनुमान सीता के मानसिक पुनर्वास के लिए 'मातु' और 'जननी' के सम्बोधनों से उन्हें उनके जागतिक (काज्मिक) स्वरूप की स्मृति भी दिलाते हैं। शायद इसी वैश्विक स्वरूप के अवधानवश सुमित्रा भी जब लक्ष्मण को 'तात तुम्हारी मातु वैदेही' कहती हैं, तब 'पिता रामु सब भांति सनेही' कहकर राम के भी जागतिक स्वरूप का अवधान कराती हैं। ठीक उसी तरह जैसे ऊपर परिणय के वक्त सीता को जगदंबा और राम को जगत पिता कहा गया है। ऐसा स्मरण कराके हनुमान सीता के मनोविस्तार में मदद करते हैं और अपनी तरह से उन्हें प्रकृतिस्थ करते हैं। हनुमान का स्त्रियों में मातृभाव उनके अपने सहज ब्रह्मचर्य के कारण भी होगा जिसके चलते वे दुर्गा सप्तशती के उस सूत्र को हृदय में स्थापित कर लेते हैं कि समस्त स्त्रियों में मातृस्वरूप के दर्शन करें। 'स्त्रियः समस्त सकला जगत्सु/त्वयैकया पूरितम्बयैतत्।' हनुमान सीता को रावण के द्वारा खींची गई ऐसी कामासक्त परिधि में भी कैद देखते हैं जिससे सीता के मन में पर-पुरुषों के प्रति विश्वास खंडित हो गया है। अतः सीता को 'मातु' और 'जननी' सम्बोधनों से और अपने मृदुल व्यवहार से वे तस्वीर का दूसरा पहलू भी दिखाते हैं। सीता को एक ऐसे संसार से साबका पड़ा जहां निर्ममता थी तो हनुमान उनके सामने एक ऐसी वैकल्पिकी लाए जहां ममत्व था। सीता को रावण की असफल वासना के प्रत्याघात झेलने पड़े, तो हनुमान वात्सल्य की उनकी अंतःप्रेरणाओं को अपील कर उन्हें एक द्वितीय खगोलिकी की संभावना दिखा गए।

सीता के मनः प्रसार की इसी कोशिश के चलते हनुमान कहते हैं कि वे दिल छोटा न करें। दिल छोटा होना सिर्फ उदास होना ही नहीं है बल्कि मानस के कषाय का संकुचन होना भी है। "जियँ ऊना" की जगह

सीता के मन के क्षितिज का विस्तार हो, यह हनुमान का अभिप्रेत है। जब दुखों का पहाड़ टूटता है तो उसके साथ यह भी होता है कि वह अकेला करता है। उससे मन न केवल बुझता चला जाता है बल्कि छोटा होता चला जाता है। असल समस्या उस बुझने की नहीं है, वह तो एक दिये के जलने से भी खत्म हो जाने वाली समस्या है। असल समस्या इस संकुचित होते जाने वाले हृदय-प्रदेश की है। इसलिए हनुमान की पूरी कोशिश, अपने छोटे से सम्बोधनों से लेकर बड़ी सी रामकथा सुनाने तक, यही है कि सीता का हृदयाकाश प्रशस्त रहे। सीता के मन का सागर विशद रहेगा तो अवसाद की तरंगें उनका कुछ नहीं बिगाड़ पाएंगी। दुख तो क्षणिक है, राम का प्रेम स्थाई है। दुख है-उससे इंकार नहीं है। वह जितना सीता को है, उतना राम को भी है लेकिन दुख तरंग है। प्रेम स्थिर है। वह इस वियोग से कम नहीं हुआ है बल्कि और भी उद्दीप्त हुआ है। जितना सीता के मन में, उतना राम के मन में। दोनों ने एक दूसरे को खोकर और नए सिरे से जाना है कि दोनों एक दूसरे के लिए कितने जरूरी हैं। रावण के पास चले जाने से सीता राम के लिए कम नहीं हो गईं। अपहरण से राम के मन में सीता की कामना और महत्व कम नहीं हो गया बल्कि हनुमान तो दुगुना प्रेम बताते हैं। बाद के क्षेपककार राम के इस पहलू को नजरअंदाज कर जाएंगे, लेकिन हनुमान नहीं करते। सीता की राम से जो शिकायत है वह दरअसल शिकायत नहीं, स्वयं के प्रति हुआ संशय है। अपहरण से सीता को लगता है कि कहीं वे राम के लिए अस्वीकार्य तो नहीं हो गई। कई भारतीय घरों में यही त्रासदी घटती है। जुल्म की शिकार स्त्री पर एक जुल्म तब होता है जब वह लौटकर घर आती है और पाती है कि वह नामंजूर कर दी गई है। ठीक उस वक्त जब उसे सबसे ज्यादा भावनात्मक समर्थन की जरूरत होती है, उसके ऊपर कलंक और दोषारोपों के तीर चलाए जाते हैं। प्रदूषण की भावना से ग्लानिग्रस्त स्त्री पर दूषण के दंश गड़ाए जाते हैं। यह जुल्म उसे उस अत्याचार से बड़ा लगता है क्योंकि वह तो किसी पराए ने किया था। यह तो अपना कर रहा है या कोई अपने कर रहे हैं। इसलिए सीता भी यदि ये पूछती हैं कि वे क्या कभी राम को याद आती हैं या यदि उन्हें यह लगता है कि वे राम के द्वारा भुला ही दी गई है, तो यह राम के प्रति अविश्वास उतना नहीं है जितना कि स्वयं की स्वीकार्यता के प्रति स्वयं के मन में उठ गया संशय है। यह नागफनी उनके भीतर ही उगी है। इसके कांटे उन्हें ही चुभ रहे हैं। हनुमान अपने उत्तर से सीता के मन में पैदा हो गए इन्हीं सवालों का समाधान करने की कोशिश कर रहे हैं। राम के मन में आपके प्रति दुगुना प्रेम है। वह यह नहीं कहते कि हो गया है। बल्कि कहते हैं कि 'है'। सीता के प्रति राम का प्रेम 'बिकमिंग' नहीं है, 'बिइंग' है। अपहरण के घटनाक्रम को तवज्जो देना भी इस प्रेम को 'बिकमिंग' बनाना है। यह तो प्रेम का पारावार है। प्रेम की इस जलधि में तूफान आ सकता है, लेकिन प्रेम का जल कम नहीं हो सकता। राम का हृदय भगवान का हृदय है। हमारे प्रति उस भगवान के हृदय में प्रेम की कमी कभी नहीं होती। हमें ही लगता रहता है कि हम उस प्रेम के पात्र नहीं रह गए, उसके योग्य नहीं रह गए। हम ही अपनी आत्महीनता में मरे जाते हैं लेकिन ईश्वरीय प्रेम का सिन्धु तो पूर्ववत लहराता रहता है। हमें लगता है कि इस या उस घटना के बाद तो हमारी अनर्हता अंतिम रूप से उसके सामने प्रमाणित हो गई। भले ही हम उस घटना के शिकार मात्र हों, तो भी हमें अपनी निर्योग्यता का ही विचार पहले आता है। हम ईश्वर के प्रेम के भी काबिल नहीं रहे। अब वह हमें क्यों याद करे? वह एक सेल्फ-पिटी वाला फिल्मी गीत है। 'हम कौन किसी के होते हैं/कोई हमको याद करेगा क्यों/अपने दो आंसू भी हम पर कोई बरबाद करेगा क्यों?' लेकिन उसका जवाब शायद यही है कि ईश्वर के संदर्भ में इस गीत की प्रारंभिक उपस्थापना - हम कौन किसी के होते हैं - ही गलत है। हम ईश्वर के होते हैं, हम ईश्वर से अलग और किसके हो सकते हैं। हम उससे जितना प्यार करते हैं, वह हमें उससे दूना ही प्यार करता है। कम नहीं करता। वह हमारी ही चेतना को

संकुचित करने वाला कोई मलावरण है जो यह भ्रांति उत्पन्न करता है कि ईश्वर हमें जिन्दगी के मरुस्थल में अकेला छोड़कर चला गया है; कि हम मरें या जियें, उसकी बला से; कि हम भले ही उसका ध्यान, कीर्तन, भजन, पूजन, अर्चन, वंदन करते रहें– अब वह लौटकर नहीं आने वाला। हनुमान कहते हैं कि ऐसा नहीं है। ईश्वर हमसे कभी प्रेमहीन और करुणाहीन नहीं होता। यदि हम अपने कर्म में उसका अवधान रखते हैं तो वह अपने कर्म में हमारा अवधान नहीं रखेगा, यह प्रतिपत्ति ही गलत है। वह हमारा दुगुना खयाल रखेगा, यह सोचना ज्यादा सही है। जब हम उसे न देखकर भी लगातार उसके बारे में सोचते रहते हैं, तब वह हमें देखकर भी हमारे बारे में नहीं सोचेगा - यह बात सरासर गलत है।

लेकिन सीता को आश्वस्ति एक बहुत व्यक्तिगत स्तर पर जाकर ही हो पाएगी, इसलिए हनुमान यहां 'ईश्वर', 'कृपानिधान' 'करुणासागर' आदि नहीं कहके सिर्फ राम कहते हैं - तुम्ह तें प्रेमु राम कें दूना। राम-यही नाम रट रट कर सीता ने अशोकवाटिका में अपनी अवधि काटी है। ठीक है कि इस नाम का अब अपनी तरह से संस्थानीकरण हो गया है, लेकिन सीता के समय सीता के लिए इस नाम की एक निजी खुशबू थी और इसलिए तुलसी के हनुमान, जिन्हें राम को प्रभु कहने की आदत है, राम शब्द का प्रयोग करते हैं। राम और सीता के बीच के एक आपसी अलिखित अनुबंध की याद दिलाते हुए।

और ऐसा नहीं होता कि सिर्फ सीताजी 'बचनु न आव नयन भरे बारी' की स्थिति में पहुंच जाती हों बल्कि हनुमान भी 'अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर' की हालत में पहुंच जाते हैं। दोनों की आंखों में आंसू भर आते हैं। सीता और हनुमान दोनों की आंखें जिस जल से भरपूर हैं, वह उसी जलधि का है जो राम के प्रेम से निर्मित हुआ है। हनुमान यदि खुद उस दुख को उतनी ही गहराई में जाकर महसूस नहीं करते जो सीता को है, तो भाषा और व्याकरण के कितने ही बड़े विशारद होने के बावजूद वे सीता को सहमत नहीं करा पाएंगे। लामार्टिन ने उचित ही कहा : 'Grief and sadness knits two hearts in closer bonds than happiness ever can, and common sufferings are far stronger than common joys.' सीता के आंसू किसी हद तक हनुमान की आंखों से भी बहे हैं। सीता की आंखों में कुछ जल उन यातनाओं और दुःस्वप्नों का भी है जो रावण की अशोकवाटिका में उनके नसीब आए। हनुमान के आंसुओं में कुछ जल उन अवदमनों का है जो राम ने अपनी पीड़ाओं के लिए किए हैं। सीता के आंसू दमन का परिणाम भी हैं पर हनुमान के आंसू अवदमन का प्रतिबिम्ब हैं। सीता की आंखों से आंसू बहे हैं। राम के आंसू तो वे हैं जो बह भी नहीं सके, रोक लिए गए। हनुमान की आंखों में राम के उन अजन्मे आंसुओं का बोझ भी है और अकेले राम की वेदना ही नहीं, हनुमान सीता की भी वेदना देख सुन चुके हैं और वह तो हनुमान की आंखों को तुरंत तरल कर देगी ही, सीता भी जब राम पर उन्हें पूरी तरह भूल जाने का आरोप सा लगाती हैं तो भावावेश में उनसे बोला नहीं जाता। हनुमान भी जब सीता को यह बताने चलते हैं कि कैसे वे पूरी तरह राम को याद हैं तो भावावेश में उनसे भी बोला नहीं जाता। उपालंभ और उत्तर के दोनों ही मुहानों के नीचे आंसुओं की एक नदी बह रही है। वाक से पहले एक अवाक है।

राम का संदेश राम की दशा का पुनर्स्मरण हनुमान को करा देता है। उसे सोचकर हनुमान का कंठ भी भर आता है और आंखें भी। वे राम जो सीता के विरह के जहर को चुपचाप पी रहे हैं। वे राम जो उस वियोग को कर्मयोग में बुरी तरह व्यस्त होकर डुबो देना चाहते हैं और इसके लिए लगातार कोशिशें किए चले जा रहे हैं। राम से सीता को पत्र नहीं लिखा गया। सूरदास की तरह यहां यह नहीं हुआ कि 'स्याम कर पत्री लिखी बनाई/ गोप ग्वाल सखान कौं हिलि-मिलन कंठ लगाई।' कृष्ण ने तो सूरदास के यहां ऊधो को बुलाकर लिखित पाती दी थी : तब ऊधौ हरि निकट बुलायौ। लिखि पाती दोउ हाथ दई तिहिं, औ मुख वचन सुनायौ।' लेकिन राम

हनुमान को बुलाते हैं। वे महादेवी की तरह यह नहीं कहते कि अलि किसे संदेश भेजूं/नयन-पथ से स्वप्न में मिल/प्यास में घुल साध में खिल/प्रिय मुझी में खो गया/अब दूत को किस देश भेजूं।' राम के साथ रियल प्राब्लम है। उनका प्रिय तो सचमुच ही खो गया है और काफी देर तक उनके यहां भी विचार इसी बात का चलता रहा कि दूतों को किस देश और दिशा में भेजा जाए। महादेवी की समस्या यह है कि 'खोज जिसकी वह है अज्ञात/शून्य वह है भेजा जिस देश/लिए जाओ अनंत के पार/प्राणवाहक सूना संदेश।' राम को जिसकी खोज है वह उन्हें तो ज्ञात है। बस देश का पता नहीं है, तो उसी खोज में हनुमान सहित सब वानर-दल निकले हुए हैं।

हनुमान कहते हैं कि हे माता, अब धीरज धरकर रघुपति का संदेश सुनिए। सीता को 'धरिधीर' उन्हें कहना ही पड़ता है क्योंकि उन्होंने सीता की उद्विग्नता स्वयं देखी है। वे जानते हैं कि सीता का धैर्य अब चुक भी रहा है। आत्महत्या करना वे चाह ही रही थीं। हनुमान ने यह भी देखा कि कैसे वे अब यह भी सोचने लगी हैं कि वे राम के द्वारा सम्पूर्णतः भुला दी गई हैं। सीता की विकलता और अस्थिरता का यह सीमांत है। इसलिए हनुमान उन्हें धीरज धरने को कहते हैं। सीता ने अभूतपूर्व धैर्य का परिचय दिया भी है। धरिणी की पुत्री धैर्यवान तो होगी ही। द्रौपदी तो जैसे एक भभकती अग्निशिखा थी। उसकी तुलना में बहुत देर तक सीता बहुत कुछ सहन करती आई हैं। सीता से ज्यादा धैर्य रखने वाली कौन नायिका हमारे क्लासिकल ग्रंथों में मिलेगी? सीता 'धरा' की पुत्री हैं और वे ही 'धारण' करती हैं, दुर्गा सप्तशती के शब्दों में, शक्ति के रूप में। इस जगत को नियति की विडम्बना है कि उन्हें ही धीर धरने को कहा जा रहा है। परिस्थितियां भी इंसान को कहां से कहां ला देती हैं । हनुमान को सीता से हुई तुलसीकृत सुंदरकांड की भी संक्षिप्त बातचीत में चार बार बोलना पड़ता है : 'सुनु जननी धरि धीर' और 'कह कपि हृदय, धीर धरू माता' और 'कछुक दिवस जननी धरू धीरा' और 'जननी हृदय धीर धरू जरे निसाचर जानु' : हनुमान का यह चार चार बार धैर्य धारण करने को कहना सीता की बेकली और उद्वेग के अनुपात में है। इन्स्टेंट काफी, फ्रोजन डिनर, टू मिनिट मैगी के युग में धैर्य पर दिए गए इस हनुमानी जोर को आज हमें ध्यान से देखने की जरूरत है। सीता पृथ्वी और प्रकृति की पुत्री हैं। राल्फ वाल्डो इमर्सन सही कहता था : Adopt the pace of nature : her secret is patience. सीता यह धैर्य दिखाती आई हैं और हनुमान का आग्रह है कि आगे भी इसे कायम रखें।

इन चारों ही बार जब जब हनुमान ने धैर्य की बात की है, तब तब उन्हें 'माता' अवश्य कहा है और माता भी एकदम सामान्य टर्म्स में नहीं - चार में से तीन बार 'जननी' के रूप में। जननी नौ महीने तक गर्भ धारण करती है और उसके बाद प्रसव होता है। ये नौ महीने गर्भधारण के ही महीने नहीं हैं, धैर्य धारण करने के महीने भी हैं। ये महीने पीड़ा के भी हैं किन्तु अन्त में उन्हें सहन कर लेने से ही जीवन की एक नई शुरुआत होती है। यह अवधि सृजन की अवधि होती है, जिसमें विधि और ईश्वर की नव कल्पना एक आकार ले रही होती है। यह धैर्य और सहिष्णुता जितना संघर्ष है, उतना सृजन है। भारत की माताएं तो विशेषकर धैर्यशीला रही हैं। गर्भवती होने के बाद भी उनकी पोषण आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं दिया जाता। मातृ-मृत्यु दर तो इस देश में शर्मनाक हद तक अधिक है ही। यदि गर्भ में कन्या है या कन्या को जन्म दिया है तो माता पर कसे जाने वाले ताने और व्यंग्य भी उसे झेलने ही पड़ते हैं। मां के धैर्य की हिन्दुस्तान में कठिनतम और क्रूरतम परीक्षाएं हो जाती हैं।

रावण-राज में सीता के धैर्य की भी क्रूर और कठोर परीक्षा हो रही है। हनुमान जानते हैं और इस माता को जिससे बाद में भारत की सभी माताओं को जीवन ऊर्जा मिलनी थी, बस कुछ देर और धैर्य रखने का आह्वान करते हैं। जान लुई डेलुफोन ने उचित ही कहा था : Genius is nothing but a great aptitude

for patience. इस पहले प्रसंग में वे रघुपति के संदेश को सुनाने की पहल कर रहे हैं जिसके लिए सीता में धैर्य से कहीं ज्यादा उत्सुकता है। सीता तो कब से यही एक संदेश सुनने के लिए व्यग्र हैं। यह संदेश जिसके लिए ही सीता ने सारे अत्याचार सहे जबकि उन्हें हर तरह से यह समझाने की कोशिश की गयी कि यह संदेश अब कभी नहीं आएगा। लेकिन सीता धैर्य का एक दीप बाले बैठी रहीं। उनकी झुंझलाहट थी तो इसलिए कि यह संदेश नहीं आ रहा था। इसीलिए तो वे राम पर भी खीझ गई थीं। उस खीझ में राम के जीवित होने का विश्वास था, इसलिए उन्हें वह खीझ भी प्रिय थी। वे उसके प्रति क्षमाप्रार्थी नहीं थीं। राम के लिए उनकी व्याकुलता परिणय के वक्त भी थी और तब भी 'धरि धीरजु' का ही सवाल था–'सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी/ धरि धीरजु प्रतीति उर आनी' और इतने सालों के बाद भी वैसी ही है।

राम और हनुमान के बारे में जो कथाएं चलती हैं उसमें उन दोनों में वयस का कोई बड़ा फर्क नहीं है। इसलिए सीता के सिलसिले में तो यह फर्क होने की गुंजाइश और भी कम दिखती है। फिर भी हनुमान सीता को माता कहते हैं। 'माता' हमारे यहां जिसे माता कहा जाता है, उसके लिए मातृभाव महत्वपूर्ण है और कुछ नहीं। इसी कारण सुमित्रा सीता को लक्ष्मण के लिए माता कहती हैं और हनुमान सीता को माता के रूप में ही देखते हैं। तुलसी रिश्तों में ही व्यक्तियों को बांधते हैं किन्तु वाल्मीकि उस समय के प्रतिनिधि हैं जहां इस बिना रिश्तों में बांधे भी दो भिन्न व्यक्तियों के बीच स्वस्थ और सद्‌भावी सम्बंध हो सकते हैं। उस परिपक्वता के साथ वाल्मीकि की कथा अनवरत बहती है। लेकिन तुलसी के आक्रान्त समय में जबकि भारतीय समाज पर एक के बाद एक आघात हो रहे थे, तुलसी को सामाजिकता की पुष्टि करने के मिशन में लगना जरूरी हो गया था। जब (प्रति) बंध का युग आया तो सम्बंध को रेखांकित किया जाना अपरिहार्य हो गया। एकसूत्रता में बांधे रखने की विशेष जतन जुगत की उस वक्त की जाने लगी जब समाज के ताने बाने बिखरने लगे। वाल्मीकि के समय में वैयक्तिकता का उसके अपने प्लेटफार्म पर सम्मान था किन्तु तुलसी के दौर तक विदेशी आक्रमणकारियों ने स्त्रियों को विशेषतः टारगेट किया था और परिवार नामक संस्था की सुरक्षा बहुत जरूरी हो गयी थी। तब औरतों को युद्ध का पारितोषिक (spoils of war) माना जाता था। हेराल्ड वाशिंगटन ने तो तर्क ही यह रखा कि उस दौर में स्वयं युद्ध की ही कल्पना एक तरह के बलात्कार के रूप में की गई थी। इसलिए वाल्मीकि के समय के वैयक्तिक खुलेपन की जगह अब वह सामाजिकता आई जिसमें स्त्री-पुरुष के बीच या तो मां-बेटे या भाई-बहिन जैसे किसी रिश्ते की जरूरत आन पड़ी। इसे सीता या हनुमान के तपःपूत हृदय की सात्विकता के कारण और सहज स्वीकार्यता मिली।

कहेउ राम वियोग तव सीता। मो कहुं सकल भए विपरीता।।
नवतरू किसलय मनहुं कृसानु। कालनिसा सम निसि ससि भानू।।
कुबलय विपिन कुंत बन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा।।
जे हिंत रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा।।
कहेहू ते कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई।।
तत्व प्रेम कर मम अरू तोरा। जानत प्रिया एक मनु मोरा।।
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं।।
प्रभु संदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहीं तेही।।
कह कपि हृदयँ धीर धरू माता। सुमिरू राम सेवक सुखदाता।।
उर आनहु रघुपति प्रभुताई। सुनि मम बचन तजहु कदराई।।
निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु।
जननी हृदय धीर धरू जरे निसाचर जानु।।

हनुमानजी बोले-राम ने कहा है कि हे सीते! तुम्हारे वियोग में मेरे लिए सभी पदार्थ प्रतिकूल हो गए हैं। वृक्षों के नये नये कोमल पत्ते मानो अग्नि के समान, रात्रि कालरात्रि के समान, चन्द्रमा सूर्य के समान और कमलों के वन भालों के वन के समान हो गए हैं। मेघ मानो खौलता हुआ तेल बरसाते हैं। जो हित करने वाले थे, वे ही अब पीड़ा देने लगे हैं। त्रिविध (शीतल, मंद, सुगन्ध) वायु सांप के श्वास के समान हो गई है। मन का दुख कह डालने से भी कुछ घट जाता है। पर कहूं किससे? यह दुख कोई जानता नहीं। हे प्रिय! मेरे और तेरे प्रेम का रहस्य एक मेरा मन ही जानता है और वह मन सदा तेरे ही पास रहता है। बस मेरे प्रेम का सार इतने में ही समझ ले। प्रभु का संदेश सुनते ही बैदेही प्रेम में मग्न हो गयीं। उन्हें शरीर की सुध न रही। हनुमान ने कहा– हे मात! हृदय में धैर्य धारण करो और सेवकों को सुख देने वाले राम का स्मरण करो। रघुपति की प्रभुता को हृदय में लाओ और मेरे वचन सुनकर कायरता छोड़ दो। राक्षसों के समूह पतंगों के समान और राम के बाण अग्नि के समान हैं। हे माता! हृदय में धैर्य धारण करो और राक्षसों को जला ही समझो।

क्या पदार्थों का भी कोई चित्त होता है? क्या वे भी भला और बुरा मानते हैं? क्या वे भी अनुकूल और प्रतिकूल चलते हैं? या कि पदार्थ सम्पूर्णतः अपरिवर्तनशील होते हैं? उनमें स्वप्न, कल्पना, स्मृति और संवेदना कुछ नहीं होती? उन पर अपने दृष्टा का कोई प्रभाव नहीं होता? न उनके कोई अन्तःसम्बंध किसी से विकसित होते हैं? प्रकृति क्या निर्लिप्त होती है? या वह भी कभी हमारे साथ तो कभी हमारे विरुद्ध होती है? क्या प्रकृति पर हम सिर्फ अपनी भावनाओं का ही आरोपण करते हैं और वह तो वैसी की वैसी ही रहती है?

विज्ञान कहता है कि 'अणु' भी आब्ज़र्व करते वक्त अपनी गति बदल देता है। चेतना और स्मृति, संवेदनाएं और भावनाएं पौधों तक तो ढूंढ़े जा चुके हैं। वैज्ञानिकों द्वारा। क्या अभी उसके आगे का भी कुछ स्तर खोजा जाना शेष है? पत्थर का दिल नहीं पसीजता? या पत्थर के दिल ही नहीं होता? जिसे चांद कहा गया है और दुनियाभर के मूर्ख साहित्यकारों ने जिससे प्रेमी के मुख की तुलना की है, वह चांद बस एक पिंड है जिस पर वायु भी नहीं, जल भी नहीं?

कुछ अघट घट गया है। ये राम वे थे जिन्हें प्रकृति पर अपार विश्वास था। या यो कहें कि प्रकृति को राम पर अपार विश्वास था। राम ने जितना प्रकृति को स्वीकार किया है, उतना प्रकृति ने राम को स्वीकार किया है। इसलिए 'पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू/जहँ सब भांति मोर बड़ काजू' से वे प्रसन्न हुए। उन्हें जंगल में मंगल का भरोसा था– जेहिं मुदमंगल कानन जाता। उन्हें माता कौशल्या ने भी यही कहा था : पितु बनदेव मातु बनदेवी/खग मृग चरन सरोरूह सेवी। सीता को भी यही भरोसा था : 'बनदेवीं बनदेव उदारा/करहहिं सासु ससुर सम सारा। उन्हें लगता था : खग मृग परिजन नगरू बनु बलकल विमल दुकूल/नाथ साथ सुरसदन सम परनसाल सुख मूल/कंदमूल फल अमिअ अहारू/अवध सौध सत सरिस पहारू। राम और सीता दोनों उस आरण्यक संस्कृति के थे जो वनदेव और वनदेवी को अपने माता-पिता/सास-ससुर की तरह मानते थे। उन्होंने वनों में प्रकृति का आनंद ही नहीं लिया, प्रकृति ने वन में उनकी उपस्थिति का उत्सव मनाया था। प्रकृति कोई निष्क्रिय वस्तु (inert matter) नहीं थी, वह तो राम के रोमांस में रमी हुई थी। हम जो मशीन सभ्यता में हैं और जो ज्ञान के रिनैसां को बहुत जानते मानते हैं, कृपया राम के आगमन से प्रकृति में हुए इस रिनैसां को देखें :- 'जब तें आइ रहे रघुनायक/तब तें भयऊ बनु मंगलदायकु/फूलहिं फलहिं विटप बिधि नाना। मंजु बलित वर बेलि बिताना/सुरतरू सरिस सुभायँ सुहाए/मनहुँ बिबुध बन परिहरि आए/गुंज मंजुतर मधुकर श्रेनी/त्रिविध बयारि बहइ सुख देनी/नीलकंठ सुक चातक चक्क चकोर/भाँति-भाँति बोलहिं विहग श्रवन सुखद चित चोर/करि केहरि कपि कोल कुरंगा/बिगतबैर बिचरहिं सब संगा/' और बात यही थी। बैर नहीं, गहरी मैत्री प्रकृति से। मनुष्य तो प्रकृति के प्रति शत्रुता रखता आया है। प्रकृति का शोषण करने वाला। लेकिन राम मनुष्यता के वे आदर्श थे जो प्रकृति को भी सुख देते थे और उसके हितैषी थे :- 'ऐहि विधि प्रभु बन बसहिं सुखारी/ खग मृग सुर तापस हितकारी। वन-मार्ग से चलते हुए राम-लखन-सिय की सुन्दरता देखकर खग मृग भी प्रेमानंद में डूब जाते थे– खग मृग मगन देखि मगन देखि छवि होहीं/लिए चोरि चित राम बटोहीः।" राम ने उनके भी चित्त चुरा लिए थे। सीता को ये मृग और पक्षी प्यारे कुटुम्बियों की तरह लगते थे– 'प्रिय परिवास कुरंग बिहंगा।' बालकांड में सीता की विदा पर 'भए विकल खग मृग एहि भाँति' की स्थिति है। राम का इन खग मृग आदि से न केवल संवाद चलता था बल्कि ये उनकी बातों पर प्रतिक्रिया भी करते थे। जब उन्होंने प्रेम के वश हो भरतजी के वचन, मन, कर्म की प्रीति तथा विश्वास का अपने श्रीमुख से वर्णन किया, उस समय पक्षी पशु और जल की मछलियां चित्रकूट के सभी चेतन और जड़ जीव उदास हो गए : 'प्रीति प्रतीती बचन मन करनी/श्रीमुख राम प्रेम बसकरनी/तेहि अवसर खग मृग जलमीना/चित्रकूट चर अचर मलीना।' अयोध्याकांड की स्थिति अरण्यकांड में भी चलती है जब राम सीता

पंचवटी में वास करते हैं : 'जब ते राम कीन्ह तहँ बासा/सुखी भए मुनि बीती त्रासा गिरि बन नदीं ताल छवि छाएदिन दिन प्रति अति होहिं सुहाए/खग मृग बृंद अनंदित रहहीं/मधुप मधुर गुंजत छवि लहहिं/सो बन बरनि न सक अहिराजा/जहां प्रगट रघुबीर बिराजा।

लेकिन फिर कुछ अघट घट गया। फिर जैसे प्रकृति और राम-सीता की इस अनन्यता और एकात्मता में कहीं जैसे एक फांक पड़ गई। वह सामरस्य और सानुकूलता जैसे कहीं खो गई। वहीं प्रकृति जो राम की कृति थी :- जगत प्रकास्य प्रकासक रामू/मायाधीस ग्यान गुन धामूजासू सत्यता तें जड़ माया/भास सत्य इव मोह सहाया। वही प्रकृति जिसके बारे में गीता में कहा गया : 'प्रकृतिं पुरुषंः चैव विद्वयनादी उभावपि' और यह भी कि 'पुरुषः प्रकृतिस्थोह्वि भुङक्ते प्रकृति-जान्गुणान्' वही प्रकृति अपने कर्ता के विरुद्ध कैसे हो गई? इस बीच फर्क क्या पड़ गया कि खग मृग अब राम को उत्तर नहीं देते? राम तो अभी भी पुकारते हैं कि 'हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी/तुम्ह देखी सीता मृगनयनी।' लेकिन अब राम की आवाज़ अनुत्तर के अंधेरे में खो जाती है? इसके दो उत्तर हैं जो तुलसी के प्रमाण से दिए जा सकते हैं। एक तो यह कि अब तुलसी के राम मनुष्य हो गए। संकल्पित होकर। 'सुनहु प्रिया ब्रत रूचिर सुसीला/मैं कछु करबि ललित नरलीला।' और यह भी कि 'आश्रम देखि जानकी हीना/भए बिकल जस प्राकृत दीना।' मनुष्य होने पर क्या प्रकृति से कुछ 'डिस्टेन्सिंग' हो जाती है? क्या यह कुछ वैसा ही है जैसे एडम और इव का ईडन से देश निकाला? चित्रकूट और पंचवटी का वर्णन कुछ-कुछ वैसा ही है जैसे ईडन के उद्यान से बहिष्क्रमण और प्रकृति के साथ वह हनीमून जैसे खत्म। जब तक था तब तक प्रकृति राम के सुख में सुखी और दुख में दुखी थी। और अब जबकि यह फासला पैदा हो गया तो स्थिति यह हो गई कि 'खंजन सुक कपोत मृग मीना/ मधुप निकर कोकिला प्रबीना। कुंदकली दाड़िम दामिनी/ कमल सरद ससि अहिभामिनी/बरून पास मनोज धनु हंसा/गज केहरि निज सुनत प्रशंसा/श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं/नेकु न संक सकुच मन माहीं/सुनु जानकी तोहि बिनु आजू/हरषै सकल पाइ जनु राजू।' हो गई प्रतिकूलता। प्रकृति से इस 'डिस्कनेक्ट' के बाद ही क्या प्राकृत हुआ जाता है– भए बिकल जस प्राकृत दीना-और दिव्यत्व से अवकाश लेने पर प्रकृति साथ देना बंद कर देती है? 'मनुज चरित' का क्या परिणाम यही है? एमिली डिकिन्सन तो प्रकृति को gentlest mother impatient of no child के रूप में परिभाषित करती थी। यहां वही प्रकृति भी क्या सहानुभूति खो बैठी है? प्रकृति मां हो मनुष्य राम की या प्रभु पिता हों प्रकृति के– जैसा कि चार्ल्स गिब्सन ने एक कविता में कहा भी "God through his offspring Nature, gave me love"– लेकिन सम्बंध तो प्रेम और साहचर्य के ही हैं। क्यों खत्म हो गए वे सम्बंध। जब प्यार होता है तो प्रकृति की हर चीज ठिकाने पर लगती है : ये आसमां ये बादल ये रास्ते ये हवा/हरेक चीज है अपनी जगह ठिकाने से/कई दिनों से शिकायत नहीं जमाने से! अब जब सीता से वियोग हुआ तो सब कुछ उलट-पुलट हो गया है और प्रकृति की हर वस्तु से शिकायत हो रही है।

तुलसी के प्रमाण से ही दूसरा उत्तर यह है कि सीता स्वयं प्रकृति हैं और राम पुरुष हैं। यह सब प्रतिकूलता इसलिए हो रही है क्योंकि वे प्रकृति यानी सीता से विच्छिन्न हो गए हैं। राम कहते भी हैं– सुनु जानकी तोहि बिन आजू- सीता स्वयं दिव्यता हैं और इसीलिए तुलसी ने बालकांड में ही कह दिया था उनके बारे में-'उपमा सकल मोहि लघु लागीं। सीता प्राकृत या साधारण नारी नहीं हैं। उनसे अलग हो जाने पर प्रकृति के अंग भी प्रातिकूल्य दिखाने में नहीं हिचकेंगे। इसी कारण सीता के विलाप से तो अपहरण के बाद भी चर अचर जीव दुखी होते हैं। 'सीता कै बिलाप सुनि भारी/ भए चराचर जीव दुखारी'। लेकिन राम के शोक से नहीं पसीजते। बल्कि राम को तो यही लगता है कि वे उनका मजाक उड़ा रहे हैं। वे ही खग मृगः 'नारि सहित सब खग मृग बृंदा/मानहुँ मोरि करत हहिं निंदा/हमहि देखि मृग निकर पराहीं/मृगीं कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं/तुम्ह

आनंद करहु मृग जाए/कंचन मृग खोजन ए आए/संग लाए करिनीं करि लेहीं/मानहुँ मोहि सिखावनु देहीं। वही खग मृग जो राम के इंगित पर चलते थे, अब राम का उपहास ही नहीं कर रहे बल्कि उन्हें शिक्षा भी दे रहे हैं-- सबक भी सिखा रहे हैं और उनकी निंदा भी कर रहे हैं। ये वही राम थे जिनके लिए दशरथ ने मुनियों के वचन उद्धृत किए थे कि 'सुनहु तात तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं/रामु चराचर नायक अहहीं।' कि हे तात! सुनो, तुम्हारे लिए मुनिलोग कहते हैं कि राम चराचर के स्वामी हैं।

इस पृष्ठभूमि में राम के इस संदेश को पढ़ा जाना चाहिए, राम सीता के संग होने का अर्थ जानते हैं। राम सीता के होने का अर्थ जानते हैं। सीता से वियोग का अर्थ भी उन्हें पता है। एक सम्पूर्ण वैपरीत्य प्रकृति से। जब सभी पदार्थ प्रतिकूल हो जाएं। पेड़ों के पत्ते पर नन्हें और नए पत्ते भी अग्नि के समान लगने लगें। इतना असामंजस्य। दरअसल प्रकृति और पुरुष का मेल ही शुभ है, श्रेय है। वह नहीं तो न प्रकृति प्रसन्न रहेगी, न पुरुष। पुरुष को यहां लग रहा है कि 'नव तरू किसलय मनहुं कृसानु।' प्रकृति को पहले से ही लग रहा है कि था : 'नूतन किसलय अनल समाना।' जहां सीता ने अपने वियोग-दुख के मर्म का अंतिम वाक्य कहा था, वहीं से राम ने अपने वियोग-दुख के मर्म का पहला वाक्य कहा। दोनों ने ही अग्नि की साक्षी दी। दोनों को ही अग्नि के समक्ष पड़े फेरों की याद है। सिर्फ यही नहीं कि दोनों के जीवन में ताप भर गया है बल्कि यह भी कि दोनों के जीवन की शुरुआती कोमलताएं खत्म हो चली हैं। कहां तो वे दृश्य थे कि 'खग कुल कुल कुल सा बोल रहा/किसलय का अंचल डोल रहा' और कहां अब यह हाल कि खगकुल राम की निंदा करता लगता है और किसलय आंचल नहीं रह गया, अब तो वह आग बरसा रहा है। प्रसाद ने ही यह भी कहा था कि पुरातनता का यह निर्मोक/ सहन न करती प्रकृति पल एक।' इसलिए सीता और राम दोनों को ही मिलकर एक नई सृष्टि तैयार करनी है। इसलिए सीता का 'नूतन' और राम का 'नव' दोनों ही नवप्रस्थान और नवसृजन के सूचक हैं। किसलय नवजीवन का। लेकिन वहीं अब अग्निमय हो गया है। तो यह सिर्फ राम का दृष्टिभ्रम नहीं है। यह तो सीता को भी ब्यापा है। दोनों ही एक दूसरे के दुख में दुखी हैं। दोनों के जीवन की हरी कोंपलें झुलस गई हैं।

रात कालरात्रि की तरह हो गई है। पल पल पीड़ा। बिताए ही नहीं बीतती। कालरात्रि का एक वर्णन तुलसी ने तब किया है जब राम अयोध्या छोड़कर वन जाते हैं और अयोध्या कालरात्रि की तरह लगने लगती है :- लागति अवध भयावनि भारी। मानहुं कालराति अंधिआरी/घोर जंतु सम पुर नर नारी/डरपहिं एकहिं एक निहारी/घर मसान परिजन जनु भूता/सुत हित मीत मनहुं जमदूता।' कहां तो सीता के शादी के बाद बिताए बारह साल पल की तरह बीत गए। इतने कि आम जनता को भी आज तक यही लगता है कि राम शादी कराके अयोध्या आए, पिता ने राज्याभिषेक की तैयारी की और उन्हें वन जाना पड़ा। उन्होंने दाम्पत्य सुख भोगा ही नहीं। उनकी यादों में एक दूसरे के ही साथ बिताई गई रातें हैं जहां महलों का भीड़ भड़क्का भी न था। वे ही रातें अब मौत की रात जैसी हो गई हैं। राम के पिता दशरथ के जीवन में भी ऐसी एक रात आई थी जब वे मन ही मन मना रहे थे कि सबेरा न हो, सूर्य भगवान अपना उदय न करें- 'हृदयँ मनाव भोरू जनि होई/रामहि जाइ कहै जनि कोई/उदय करहु जनि रबि रघुकुल गुरू/ अवध बिलोकि सूल होइहि उरू/परी न राजहि नीद निसि हेतु जान जगदीसु/रामु रामू रटि भोरू किय कहइ न मरमु महेसु।' जब मृत्यु ही बैठी घड़ियां गिन रही थी--'मानहु मीचु घरीं गनि लेईः लेकिन राम को तो सीतापहरण के बाद प्रत्येक रात्रि ऐसी ही कालरात्रि की तरह लगने लगी है। एक एक घड़ी गिन गिन कर बीतती हुई। अपनी ही पत्नि की सुरक्षा न कर पाए राम। दशरथ अपने मंत्री सुमंत्र से अंत तक कहते रहे थे कि किसी तरह जानकी को तो वन से लौटा लाओ- 'जौ नहीं फिरहिं धीर दोउ भाई/सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई/तौ तुम्ह

विनय करेहुं कर जोरी/फेरिअ प्रभु मिथिलेस किसोरी।' लेकिन पिता की भी बात नहीं मानी गई। क्या उन्हें कोई अंदेशा था जो वे अनुभवी होने के कारण जानते थे। लेकिन जिसे वे कभी मुंह पर न लाए। जिस विश्वास से वे पिता की बात भी न मानकर सीता को अपने साथ ले गए है, वह विश्वास आज चूर्ण चूर्ण हो गया है। उनकी पत्नी उनकी शक्ति थी। उनकी प्रभा। सीता ने स्वयं वनवास के वक्त कहा था : 'प्रभा जाइ कह भानु बिहाइ कह चंद्रिका चंदु तजि जाइ।' कि सूर्य की प्रभा सूर्य को छोड़कर कहां जा सकती है? और चांदनी चन्द्रमा को त्यागकर कहां जा सकती है। लेकिन हो गया यह। सूर्य की प्रभा के बिना है आज सूर्यवंशी राम। निष्प्रभ। हैं राम एक ऐसे चंद्रमा की तरह जो चांदनी से विरहित हो गया है। यह है कालरात्रि जिसमें कोई किरण नहीं है। कहीं से कोई रोशनी नहीं दिखाई देती। कोई आभा नहीं फूट रही। मरणांतक पीड़ा से भरा हर एक क्षण है। हालांकि राम का आध्यात्मिक मन कालरात्रि को दुर्गा की सातवीं शक्ति के रूप में जानता जरूर होगा। यही दुख राम की वह ताकत बन जाएगा जिससे शत्रु एवं दुष्ट लोगों का संहार होगा। लेकिन फिलहाल तो यह रात मुक्तिबोध की उन पंक्तियों की याद दिलाती हुई– "आधीरात-अंधेरे की काली स्याह/शिलाओं से बनी हुई/भीतों और अहातों के, कांच-टुकड़े जमें हुए/गगन में करफ़्यू है/अंधेरे की आत्मा से करते हुए शिकायत/कांव कांव करते हुए पक्षियों के जमघट/उड़ने लगे अकस्मात्/मानो अंधेरे के/हृदय में सन्देही शंकाओं के पक्षाघात!।'

वह रात जब चंद्रमा भी सूर्य की तरह बर्ताव कर रहा हो। शीतलता सीता के साथ ही चली गई। अब तो सौर-लपटें हैं जो दहका रही हैं। निशानाथ कहते हैं चन्द्रमा को। वह नहीं है तो रातें अनाथ हैं। ज्योत्स्नापति कहा गया है उसे, लेकिन उसकी ज्योत्स्ना कहां चली गई अब? अब तो वह जलाने वाली आग का एक पिंड होकर रह गया है। स्वयं कौशल्या मां ने वनवास-विदा के लिए सीता को न ले जाने के लिए कहते हुए यही तर्क दिया था 'चंद किरन रस रसिक चकोरी/रवि रुख नयन सकइ किमि जोरी' कि चन्द्रमा की किरणों का रस चाहने वाली चकोरी सूर्य की ओर आंख किस तरह मिला सकती है। जरूरी है कि सृष्टि के विविध पदार्थ अपने अपने धर्म और स्वभाव का अनुसरण करें। लेकिन यह नहीं हो रहा। शशि भानु हो गया है। और यह दूषण है रात्रि का। दुष्टों की विशेषता बालकांड की शुरुआत में ही यह तुलसी ने यह बताई थी कि 'तेज कृसानु रोष महिषेसा' कि दूसरों को जलाने वाले ताप या अग्नि की तरह उनका तेज होता है। इसलिए राम 'नवतरू किसलय मनहुं कृसानु' की बात करते हैं तो हो सकता है कि उन्हीं दुष्टों की बात कर रहे हों जो दूसरों को जलाते हैं। दूसरों को दग्ध करने की यही विशेषता चन्द्रमा में भी आ गई हो और रात्रि भी इसलिए कालरात्रि हो गई हो। राम के अनुभव में। संघर्ष के पूर्व यही आत्म-संदेह राम को व्यापता है अन्यथा कालरात्रि तो राक्षसों की आई है और सीता के रूप में आई है। विभीषण तो साफ साफ शब्दों में रावण को यह बता भी देतें हैं : 'कालराति निसिचर कुल केरि/तेही सीता पर प्रीति घनेरी' कि 'जो राक्षस कुल के लिए कालरात्रि (के समान) हैं, उन सीता पर आपकी बड़ी प्रीति है।' मंदोदरी भी सीता की तुलना रात्रि से ही करती है– 'सीता सीत निसा सम आई'। मंदोदरी को सीता का लंका में होना शीतनिशा सा लग रहा है। राम को सीता का साथ में न होना कालनिशा सा लग रहा है।

इसी विरोध को आगे ले चलें। मंदोदरी इस निशा को 'तब कुल कमल विपिन दुखदाई' कहती है, और राम सीता के बिना होने को 'कुवलय विपिन कुंत बन सरिसा' कहते हैं। दोनों में ही कमलों के वन हैं। सीता हैं रावण कुल के कमलवन के लिए अपनी उपस्थिति से दुखदाई। सीता हैं अपनी अनुपस्थिति से उन कमलों के वन के लिए दुखदाई जो अब इसी सीता- वियोग के कारण राम को भालों के वन के समान लग रहे हैं। दरअसल सीता और राम की जोड़ी ही ऐसी थी मानो नए खिले हुए नीले कमल के पास सोने के कमल की

कली सुशोभित हो। जब अग्निदेव सीता को राम को समर्पित करते हैं और वे उनके वाम भाग में विराजित होती हैं, तब तुलसी ने यह उत्प्रेक्षा की है। लेकिन अभी जब सीता से वियोग है तब ये कमल चुभते हैं। न इनका रूप कम मर्म भेदी है और न इनकी खुशबू के शल्य कम तीखे हैं। साधारण चुभन नहीं। भालों की चुभन। कमल की कटार। कहां तो कमलों की कितनी मधुर स्मृतियां राम के पास थीं। उन्हें याद आती है जनक की वाटिका जहां 'बरन बरन बिकसे बनजाता।' उन्हें याद आता है जनक का सरोवर वहां 'बिमल सलिलु सरसिज बहुरंगा।' उन्हें याद आती है सीता के प्रथम दर्शन के समय 'मुख सरोज मकरंद छवि करइ मधुप इब पान।' सीता की तो विशेषता ही यह बताई गई है कि बाल मृगनयनी सीता जहां दृष्टि डालती है वहां मानो श्वेत कमलों की कतार बस जाती है– जहँ बिलोक मृगसावक सैनी/जन तहँ बरिस कमल सित श्रेनी। सीता ने कामना भी यही की थी कि शिव धनुष राम कमल की डंडी की तरह तोड़ डालें। राम सीता दोनों के कर-सरोज, पद-पंकज, मुख-कमल जैसे बहुत से उपमानों की तो झड़ी ही लगी है। सीता ने राम विवाह के वक्त जयमाल पहनाई थी :- सोहत जनु जुग जलज सनाला/ससिहि सभीत देत जयमाला। सीता की मांग में सिंदूर भरते वक्त भी कमल ही याद आया– अरून पराग जलजु भरि नीकें/ससिहि भूषअहि लोभ अमी के।' वाल्मीकि के आश्रम में वनवास-वक्त ठहरते वक्त ये ही कमल सरोवरों में खिले हुए थे- सरनि सरोज विटप बन फूले। प्रेम के कारण, सीता से प्रेम के कारण, राम का पूरा जीवन ही कमलों का एक महकता खिलखिलाता उद्यान हो गया था। जार्जमूर ने कहा था : The hours I spend with you I look upon as sort of a performed, a dim twilight, and a fountain singing to it. You and you alone make me feel that I am alive. Other men it is said have seen angels, but I have seen thee and thou art enough. इन कमलों के उद्यान में कमला की अवतार सीता थीं, लेकिन एक उनके बिछुड़ जाने से ये ही कमल शूल की तरह चुभने लगे।

और मेघ भी मानो खौलता हुआ तेल बरसा रहे हैं। कहां तो मेघ छाने पर सबको खुशी होती है। नागार्जुन की कविता तो मेघ छाने पर कैसे धूम मचाती है : 'धिन धिन-धमक मेघ बजे/दामिनि यह गयी दमक मेघ बजे/दादुर का कंठ खुला मेघ बजे/धरती का हृदय धुला मेघ बजे। कहां तो एक वह दृश्य था जब सीता को ब्याहकर अयोध्या लाया गया था तो धूप के धुएं से आकाश ऐसा काला हो गया था कि मानो सावन के बादल घुमड़ घुमड़कर छा गए हों। सुंदर मणियों के बंदनवार ऐसे लगे थे मानो इंद्रधनुष सजाये हों। अटारियों पर सुंदर और चपल स्त्रियां प्रकट होती और छिप जाती हुई ऐसी जान पड़ती थीं जैसे बिजलियां चमक रही हों। नगाड़ों की ध्वनि मानो बादलों की घोर गर्जना लगती थी : धूप धूम नभु मेचक भयऊ/साबन घन घमंड जनु ठयऊ/मंजुल मनिमय बंदनिवारे/मनहुं पाकरिपु चाप संवारे। प्रकटहिं अटन्ह पर भामिनि/चारू चपल जनु दमकहिं दामिनि/दुंदभि घन गरजहिं घोरा।' बादलों की उत्प्रेक्षा का वह शुभ दृश्य अब चला गया। अब तो मेघ खौलता हुआ तेल बरसाने में लगे हैं। शादी के वक्त तो 'भवन चारिदस भूधर भारी/सुकृत मेघ बरखहिं सुखबारी' की स्थिति थी कि चौदहों लोकरूपी बड़े भारी पर्वतों पर पुण्य रूपी मेघ सुख रूपी जल बरसा रहे हैं। ध्यान दें कि वनवास के लिए जब राम चले और गांवों के पास से होकर निकले तो रास्ते में बादल छाया करते थे– छांह करहिं घन बिबुधगन बरषहिं सुमन सिहाहिं।' उन्हें ही नहीं भरत को भी राम का प्रिय जानकर बादल ऐसी ही छाया करते थे- 'सुमन बरषि सुर घन करि छाहीं/बिटप फूलि फलि तन मृदुताहीं/मृग बिलोकि खगबोलि सुबानी/सेवहिं सकल राम प्रिय जानी।' अरण्यकांड में भी यही स्थिति थी कि जहां रघुपति जाते हैं, वहां-वहां बादल आकाश में छाया करते हैं : जहं जहं जाहि देव रघुराया/करहिं मेघ तहं तहं नभ छाया' और अब तो मेघ खौलता हुआ तेल बरसा रहे हैं। वैसे वाल्मीकि के यहां त्रिजटा

के स्वप्न में रावण तेल की कड़ाही में गिर पड़ा है, लेकिन राम को यह स्वयं पर बीतता हुआ लगता है तो इसलिए क्योंकि सीता राम की आत्मा थीं और उनके वियोग से राम आत्म-विश्वास से किसी हद तक वंचित हो गए हैं। कर्मसिद्धि उनमें अब भी है, लेकिन मन तो गहरे दुख से भर गया है। सीता को वियोग के इस दुख का गहरा पूर्वाभास था। इसलिए तो वे वनवास में भी उनके साथ गई थीं। उन्हें राम से वियोग का शब्द तक नहीं संभाला जाता था, सत्य कैसे संभाला जाता। अयोध्याकांड में जब राम उन्हें अयोध्या में ही रहने और वन न जाने को कहते हैं तब ही सीता की यह हालत हो गई थी कि– 'अस कहि सीय विकल भइभारी/बचन बियोगु न सकी संभारी/देखि दसा रघुपति जियं जाना। हठि राखें नहि राखिहि प्राना।' वह स्थिति तो तब थी जब राम सीता को परम स्नेहशील सास-ससुर की शरण में छोड़कर जा रहे थे। उनकी शरण में जिन्होंने उन्हें कल्पलता के समान बहुत तरह से बड़े लाड़-चाव के साथ स्नेह रूपी जल से सींचकर पाला था, जिसकी वे सदा संजीवनी जड़ी के समान सावधानी से रखवाली करते रहे, जिन्हें कभी दीपक की बत्ती हटाने का भी उन्होंने नहीं कहा– 'कलपबेली जिमि बहुबिधि लाली/सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली/जिअनभूरि जिमि जोगवत रहऊँ/दीप बाति नहिं टारन कहऊं' जिन्हें आंखों की पुतली बनाकर उन्होंने प्रेम बढ़ाया और अपने प्राण उनमें लगा रखे थे- नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई/राखेउँ प्रान जानकहि लाई; उनके पास छोड़कर भी जाने के विचार से सीता की जब यह स्थिति हो जाती थी तो रावण जैसे दुष्ट के पास सीता के रह जाने से उनकी क्या हालत हो गई होगी, इसका अनुमान कर राम के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। सीता ने तो तब ही कह दिया था– 'मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं/पिय वियोग सम दुख जग नाही।' राम को अब 'प्रिय बियोग' की प्रतिकूलताओं का पता चला है। राम पहले भी समझते थे। लेकिन सैद्धान्तिक स्तर पर समझने और आनुभविक स्तर पर भोगने में बड़ा फर्क है। अब जब राम भोक्ता होकर देखते हैं तो 'घन घमंड' से वे डर जाते हैं।

वायुपुत्र के हाथों राम सीता को यह संदेश कहलाते हैं कि तीनों ही तरह की वायु-शीतल, मन्द, सुगन्ध-सांप की सांसों की तरह विषाक्त और ऊष्ण हो गई है। सांसें घुटने लगी हैं। जिससे सांसों का रिश्ता है, जिसकी सांस अपनी सांसों में मिलाकर जीवन जीना प्रीतिकर लगा और एक महक-सी पूरे अस्तित्व में भर गई, उसके दूर होते ही दुनिया अपने क्रूर रूप में सामने आ गई, 'उर' पर जिसका साम्राज्य था, वह नहीं है तो दुनिया में जैसे उरग (सांप) ही भर गये लगते हैं। उन्हीं के विष से रंगी हुई बयारों ने जैसे राम के समूचे अस्तित्व को घेर लिया है। हवा अब जब बहती है तो काटती है। अब समीर का प्रवाह भी डंक मारता है। न उसमें अब वो शीतलता है जो सीता के साथ के दौर में थी। अब तो हवा भी चेहरे पर लू के थपाड़े-सी मारती है। बार-बार याद आता है सीता का कहा: 'पाय पखारि बैठि तरू छाहीं/ करिहउं बाउ मुदित मन माहीं।' आपके पैर धोकर, पेड़ों की छाया में बैठकर, मन में प्रसन्न होकर मैं हवा करूंगी। वह सीता याद आती है जिसने अपने लिये भी यह कहा था कि बार-बार आपकी कोमल मूर्ति को देखकर मुझको गरम हवा भी न लगेगी: 'बार-बार मृदु मूरति जो ही/ लागिहि तात बयारि न मोही।' जब सीता साथ थीं तो चित्रकूट में सुख देने वाली त्रिविध बयार चलती थी-गुंज गुंजतर मधुकर श्रेनी/त्रिबिध बयारि बहइ सुख देनी' और अब यह दुख देने वाली बयार है। शीतल भी हो तो मन में दाह पैदा करती है, मंद भी हो तो भी मन को पीड़ित कर देती है। बाद में जब सीता मिल जाएंगी और वे पुष्पक के सिंहासन पर राम के साथ आसीन होंगी तब "परम सुखद चले त्रिबिध बयारी" फिर चलेंगी। बाद में उत्तरकांड में राम सीता के अयोध्या आगमन के वक्त 'त्रिबिध बयार सुहावन' भी का दृश्य भी आएगा। अभी तो स्थिति यह है कि राम के जन्म के समय जो त्रिबिध समीरा चले थे, रामनवमी के दिन, जिसे तुलसी बालकांड में राम के आविर्भाव के समय 'सीतल मंद सुरभि बह बाऊ' कहकर वर्णित भी करते हैं, अब वे समीर सर्प

की सांस की तरह मृत्युस्तरीय पीड़ा देते हैं। जो जीवनदायी थे, अब उन्हीं में मरणांतक वेदना है।

लेकिन फिलहाल सीता के वियोग से यह स्थिति हुई है कि जो हित करने वाले थे, वे ही अब पीड़ा देने वाले हो गए हैं। राम इस एक वाक्य से अपनी स्थिति बयान कर देते हैं। प्रकृति तभी तक साथ है जब तक प्रिया साथ है। यह वाक्य गहरे प्यार का परिचायक वाक्य है। यह सिर्फ उस सैद्धांतिक समझ का वाक्य नहीं है कि सीता स्वयं 'श्री' हैं और उनके साथ न रहने से सबकुछ श्रीहीन हो गया है। यह एक बहुत प्यार करने वाले हृदय का अनुभव है। राम वे हैं जो काल से नहीं डरेंगे, वे कालरात्रि से क्या डरते। परशुराम को उन्होंने कहा था : 'जौ रन हमहि पचारै कोऊ/लरहिं सुखेन कालु किन होऊ' और 'कहऊं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी/कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।' वे ही राम अब यदि कह रहे हैं कि रात्रि कालरात्रि हो गई है, तो जरूर कोई बड़ी बात है। राम को सीता के प्यार से ही शक्ति मिलती है। उनका प्यार एक ऐसे युवक का प्यार है जो प्रथम बार सीता को देखकर बोल भी न पाया था, मन ही मन सराहता रह गया था : 'हृदय सराहत बचनु न आवा।' सीता के लिए जो शिव का धनुष भी तोड़ देना चाहता था, परिणय के बाद जो सीता के अधिक से अधिक भावानुगत होता गया, जो उनके लिए स्वर्ण मृग के पीछे भी चला गया, यह भली भांति जानते हुए कि स्वर्णमृग होता ही नहीं, सीता के चेहरे पर हंसी देखने के लिए जो कुछ भी कर गुज़रने को तैयार था। दूसरी ओर सीता का प्यार एक ऐसी कन्या का प्यार था जिसने अपने प्रिय को पहली बार जब देखा तो देखती ही रह गई (थके नयन रघुपति छबि देखें/पलकन्हिहूं परिहरि निमेषे), जिसने उनके लिए मां गिरिजा को मनाया और वर में 'वर' को प्राप्त किया (मनु जाहिं राचेउ मिलिहि सो बरू सहज सुंदर सावंरो), जिन्होंने शिवधनुष-भंग-प्रसंग में महेश भवानी-गणेश सबसे विनती कर ली (मनहीं मन मनाव अकुलानी/होहु प्रसन्न महेस भवानी/गननायक बर दायक देवा/आजु लगे की कीन्हिउँ तुअ सेवा), जिन्हें यह विश्वास रहा कि यदि तन, मन, वचन से मेरा प्रण सच्चा है और राम के चरणों में मेरा चित्त वास्तव में अनुरक्त है तो सबके हृदय में निवास करने वाले भगवान मुझे रघुवर की दासी अवश्य बनायेंगे (तन मन बचन मोर पनु साचा/रघुपति पदसरोज चितु राचा/तौ भगवानु सकल उर वासी/करिहिं मोही रघुबर के दासी), जो अपने प्रिय के वियोग के सामने संसार के बाकी सारे दुखों को मिलाकर भी लवलेश मात्र मानती थीं (प्रभु बियोग लवलेस समाना/सब मिलि होहिं न कृपानिधाना) उस प्यार के चलते ही सब चीजें राम के रुख पर थीं और अब जब वह साथ नहीं हैं तो जैसे सब कुछ बदल गया है। एक के न होने से सब विपरीत हो गया है। जैसे वह एक ही सकल को अर्थान्वित करती थी। जैसे वह एक ही सकल में रस की तरह व्याप्त थी। जैसे वह एक ही सभी चीजों की सकारात्मकता को तय करती थी। एक वो न रही तो सारी दुनिया रहे भी क्या है? एक उसके न रहने से यह हुआ कि सकल शेष ने अपने रुख बदल लिए। 'क्षिति जल पावक गगन समीरा' की तर्ज पर पांचों महाभूतों ने- पांचों तत्वों ने– राम से विपरीतता धार ली। कुबलय विपिन कुंतबन सरिसा (क्षिति) बारिद तपत तेल जनु बरिसा (जल) नूतन किसलस मनहुं कृसानू (पावक) कालनिसा सम निसि ससि भानू (गगन) उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा (समीरा) में तुलसी यही बताते हैं कि पंचतत्वों ने न केवल रस, गंध और आस्वाद को खो दिया बल्कि यह हुआ कि उनका रुख पीड़ादायक हो गया, उन सबका जो पहले हितू थे। संसार के लिये सीता एक स्त्री थीं लेकिन राम के प्यार करनेवाले हृदय के लिये सीता पूरा संसार थीं। इसलिए पहले सारे तत्वों की बात कर राम 'तत्व प्रेम कर मम अरू तोरा' की बात करते हैं। प्रेम तत्व के बिना सारे तत्व अर्थहीन हो जाते हैं।

फिलवक्त एक सीता के न होने से यह सब परिवर्तन हो गया है। नताली क्लिफार्ड बार्नी का कहना है, when you're in love you never really know whether your elation comes from the qualities of the

one you love or if it attributes them to her. Whether the light which surrounds her like a halo comes from you, from her or from the meeting of your sparks. हम भी नहीं जानते हैं कि राम सीता की केमिस्ट्री कैसे बनी। पर अवश्य है कि सीता का राम के जीवन में असाधारण स्थान तो था ही, सीता स्वयं भी असाधारण हैं। अयोध्याकांड में गंगा देवी उन्हें यही कहती हैं : हे रघुवीर की प्रियतमा जानकी सुनो, तुम्हारा प्रभाव जगत में किसे नहीं मालूम है? तुम्हारे (कृपा दृष्टि से) देखते ही लोग लोकपाल हो जाते हैं। सब सिद्धियां हाथ जोड़े तुम्हारी सेवा करती हैं : 'सुनु रघुबीर प्रिया बैदेही/तब प्रभाउ जब बिदित न केही/लोकप होहिं विलोकत तोरें/तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें।' सीता सिर्फ एक बार इस सिद्धि-शक्ति का प्रकट प्रदर्शन करती हैं जब जनकपुर में आयी बरात के स्वागत के लिये सब सिद्धियों को बुलाकर आतिथ्य सत्कार के लिये भेजती हैं 'जानी सिय बरात पुर आई/कछु निज महिमा प्रगटि जनाई/हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाईं/भूप पहुनई करन पठाईं।' सीता की गैरमौजूदगी राम के लिये एक ऐसा विलोम है कि जिसके परिणाम प्रकृति में उन्हें प्रत्यक्ष होने लगते हैं।

इस विलोमता के साथ एक और परेशानी है। कहा यह जाता है कि कहने से मन का दुख घट जाता है। लेकिन राम की अंतरंग साथी तो स्वयं सीता थीं। अब वे नहीं हैं तो उनके न होने का दुख राम किससे कहें। यह न राम जानते हैं और न और कोई। वैसे भी प्यार को यीट्स ने 'अ पिटी बियांड आल टेलिंग' कहा ही था। और ढोला मारू रा दूहा में कहा गया 'अकथ कहाणी प्रेम की किणसूं कही न जाई।' राम की यह एक कमी रही है। राम का कोई ऐसा मित्र सदा को उनके साथ कभी नहीं रहा जिसे वे हमप्याला हमनिवाला कह सकें। निषाद गुह उनके मित्र बने जरूर। लेकिन उनकी जीवन-यात्रा उनके आगे बढ़ गई। सुग्रीव से मैत्री हुई और बाद में विभीषण से भी। लेकिन इनमें भी मैत्री से अधिक भक्ति थी। मैत्री के लिये जिस तरह की समकक्षता चाहिए वह इनमें नहीं है। राम का अधिष्ठान है ही इतना ऊंचा। ऐसा नहीं कि राम स्टेटस-कांशस हैं। सो तो वे धरती पर भी सो लेते हैं। लेकिन कुछ उनमें ऐसा 'अधिक' है जिसके कारण वे अपना पूरा दिल किसी पर खोल नहीं पाते हैं। वे बहुत सरल और पारदर्शी हैं। लेकिन हैं तो वे राम ही। तो ऐसी परिस्थिति में वे अपना दुख किसे कहें। लक्ष्मण छोटा है। हनुमान सेवक हैं। सुग्रीव तो राज पाकर खुद में ही रम गया और फिर हनुमान के चेताने से चेता। सिर्फ सीता ही थीं जो राम को पूरा समझती थीं। टेरी गुडलेमेट्स ने कहा था कि Love is when you can be your true self with someone and only want to be your true self because of her. सीता के साथ राम की यही स्थिति थी। सीता कई बार राम के कहने पर जिस तरह से निर्विरोध तैयार हो जाती हैं– जैसे अग्नि परीक्षा के वक्त- उससे लगता है कि किसी एक स्तर पर उनका राम की आत्मा से लगातार निःशब्द संवाद चलता रहता है। राम को वह अपनी ही ईको, अपनी ही प्रतिध्वनि लगती हैं। और जब वे ही नहीं तो राम अपना दुख किससे कहें। राम कृष्ण की तुलना में हैं बहुत अंतर्मुखी। राम के लिये सीता का स्थान इसलिए भी बहुत महत्वपूर्ण है। सीता राम के वाम भाग में विराजित होकर उन्हें पूर्णता ही नहीं देतीं बल्कि उन्हें वह स्पेस भी देती थीं जहां राम खुद को खो सकें। राम और सीता का प्यार इस अर्थ में अनूठा है। कृष्ण अपना मन रुक्मिणी के सामने भी रख देंगे, सत्यभामा के सामने भी। लेकिन राम तो अपना मन खोलते ही नहीं। बहुत सारे 'गार्ड्स' मर्यादाओं के चलते उन्होंने खड़े कर रखे हैं जो शिथिल होते ही नहीं। राम यहां भी यह नहीं कह रहे कि हे प्रिया, मेरे और तेरे प्रेम का रहस्य हम दोनों के मन जानते हैं बल्कि वे तो यह कह रहे हैं कि एक मेरा मन ही यह जानता है। मोमिन का अंदाज : 'मेरे पास होते हो गोया/जब कोई दूसरा नहीं होता। और वह मन भी सदा तेरे पास ही रहता है। दयाबाई कहती हैं : प्रेम पंथ है अटपटा, कोई न जानत पीर। कै मन जानत आपनो, कै लागी जेहिं पीर।।

रवीन्द्रनाथ टैगोर भी सही कहते हैं कि सिर्फ प्यार में एकता और द्वैत का संघर्ष नहीं रहता। राम और सीता के चित्र जुड़ गए हैं। संत तुकाराम यही कहते थे : प्रेम नये बोलतां सांगता दावितां/अनुभव चिन्ता चित्तजाणों 'कि प्रेम बोला बताया नहीं जा सकता। प्रेम चित्त से चित्त का अनुभव है।' भवभूति के शब्दों में : हृदयं त्वेव जानाति प्रीति योगं परस्परः कि पारस्परिक प्रीति-योग को हृदय ही जानता है। दोनों एकात्म हैं और दूसरा यह कि वह मन भी सीता के पास है। इससे राम के बेमन से जीने और प्रकृति के तत्वों के उनके प्रतिकूल हो जाने की बात समझ में आती है। सीता के साथ राम के मन का यह नाता तो प्रथम दर्शन के वक्त ही जुड़ गया था। मन के इस अंतरण के कारण राम को थोड़ा दर्द भी महसूस हुआ था, जिसे उन्होंने लक्ष्मण से यों वर्णित भी किया :- जासू बिलोकि अलोकिक सोभा/सहज पुनीत मोर मनु छोभा' और फिर यह भी रहा कि 'करत बतकही अनुज सनमन सिय रूप लोभान'। सीता भी 'धरि बड़ि धीर रामु उर आने' के अनुभव से गुजरीं। बहुत धीरज धरकर वे राम को हृदय में ले आयीं। वे वाटिका से महल को जब चलीं तो 'चली राखि उर स्यामल मूरति'। तब से राम का मन उनके पास रहा आया। भास की तरह राम भी यही कहते हैं कि 'अभी तो मेरा मन भी वहीं है। उसे मेरी प्रिया ने ऐसा रोक लिया है कि वह मेरी ओर देखता भी नहीं है : अद्योपि तन्मय मनो न तु मामुपैति/नावेक्षते ममि तथा प्रिययाषरुद्धम।' राम ने सीता से अपने प्रेम का बखान दुनिया भर में नहीं किया। उनके और सीता के प्रेम का रहस्य तत्व उन्होंने अपने मन में ही रखा। राम भी पंत की तरह सीता के बारे में जरूर सोचते होंगे :- बिंदु में थीं तुम सिंधु अनंत/एकसुर में समस्त संगीत/एक कलिका में अखिल बसंत/धरा पर थीं तुम स्वर्ग पुनीत। पर वे उनमें से हैं जो इस चीज की पवित्रता को किसी तरह के प्रचार से प्रदूषित नहीं करते। उनका प्रेम अमर हो गया। और जन जन की जुबान पर चढ़ गया क्योंकि उन्होंने कभी अपने प्रेम का विज्ञापन नहीं किया। चूंकि उन्होंने कभी कोई ढिंढोरा नहीं पीटा तो उन्होंने मदन की दुंदुभी का आदर ही किया– मानहुं मदन दुंदुभी दीन्ही। उनके प्यार में गांभीर्य था, इसलिये उन्होंने अपने प्रेम-तत्व की चर्चा अपने दोस्तों से भी नहीं की। अफ़रा बेन ने सही ही कहा था : Love ceases to be pleasure, when it ceases to be a secret.

राम सनेह सुधाकर सारू। इसी में राम के पूरे प्रेम का सार है। इसी में उसका रस है। इतने में ही। बहुत ज्यादा कुछ नहीं कहा। ब्रेविटी इज द सोल ऑफ विट। वैसे भी राम वेदना की उस कगार पर हैं जहां वाचालता व्यर्थ हो जाती है। थोड़े कहने को बहुत समझना-अक्सर ग्रामीण भारत के संदेश-पत्र, एसएमएस क्रांति के पूर्व, इन्हीं शब्दों से समाप्त होते थे। राम तो स्वयं ही मितभाषी थे, इसलिये उन्होंने इतना ही कहा। ईमानदारी से बताए गये उन्हीं सच्चे शब्दों की सीता पर अपेक्षानुरूप प्रतिक्रिया हुई। वे प्रेम में मग्न हो गईं और उन्हें शरीर की सुध भी नहीं रही। जब मन की बात हो तो शरीर की सुध रह भी कहां जाती है? वो तो धनुभंग के वक्त ही यह हो गया था कि 'प्रभुतन चितई प्रेम तन ठाना'। सीता ने शरीर के द्वारा प्रेम ठान लिया था कि यह शरीर इन्हीं का होकर रहेगा या रहेगा ही नहीं। तो वही शरीर अब सीता की सुधि में भी नहीं आ रहा, क्योंकि मन का मुद्दा आ गया। सीता राम के प्यार में मगन हो गईं। तुलसी ने यहां उस वक्त जबकि सीता को अपने तन की सुधि नहीं रहती, सीता के लिए वैदेही शब्द का प्रयोग किया है। जब सीता अपने में नहीं रहीं तब जाकर वे अपने आपको उपलब्ध हुईं। वाल्मीकि बताते हैं कि वियोग में राम को अपने तन की सुधि नहीं रह गई थी :- 'राम का चित्त सदा आप में लगा रहता है, अतः उन्हें अपने शरीर पर चढ़े हुए डाँस, मच्छर, कीड़ों और सर्पों को हटाने की भी सुधि नहीं रहती।' जब सीता चित्रकूट में राम के साथ थीं तो राम का प्रेम अपने प्रति नित्य बढ़ता हुआ देखकर ऐसे हर्षित रहती थीं जैसे दिन में चकवी-'नाहनेहु नित बढ़त बिलोकी/हरषित रहिति दिवस जिमि कोकी।' उनको याद आ गए वे सारे कोमल, अंतरंग और आत्मीय पल,

जब वे क्षण क्षण राम का अपने ऊपर स्नेह जानकर परम प्रसन्न रहती थीं– छिनु छिनु पिय बिधु बदन निहारी/ प्रमुदित मनहुं चकोर कुमारी। जब राम सीता की संभाल ऐसे रखते थे जैसे पलकें नेत्रों के गोलकों की- जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैंसे/पलक विलोचन गोलक कैसे', सीता के लिए फूल चुनने माला बनाने से लेकर मृग तक ला देने को तत्पर रहते थे राम। सीता उस राम को याद करती हैं जो इतना सच्चा था कि जिसने अयोध्या में ही विदा से पूर्व सीता को वन के वे खतरे भी बता दिये थे जो बाद में सच भी साबित हुये। उन्होंने कह दिया था कि वन में राक्षस करोड़ों प्रकार के दुष्ट-रूप धारण कर लेते हैं– "नर अहार रजनीचर चरहीं/कपट वेष विधि कोटिक करहीं।" उन्होंने यह भी कह दिया था कि वन में स्त्री पुरुषों को चुराने वाले राक्षसों के झुंड के झुंड रहते हैं : 'निसिचर निकर नारि नर चोरा'। सीता की उन स्मृतियों में सहसा समाधि-सी लग गई।

बात सिर्फ सार की ही नहीं है, रस या आनंद की भी है। 'सार' में जैसे कोई तात्विक निष्कर्ष है– कोई बौद्धिक या दार्शनिक निष्पत्ति। लेकिन रस का एक आस्वाद हार्दिक भी है– राम प्रेमरसु कहि न परत सो (2/318) या 'सो सकोचरसु अकथ सुबानी।' रत्नावली ने कहा था : सब रस रस इक ब्रह्म रस रतन कहत कुल लोय/मै तिल कहं पिय प्रेम रस बिंदु सरिस नहिं सोय।' जहां प्रेम होता है वहां रस आ ही जाता है– निरस बात सोई सरस, जहां होय हित हेत। (वृन्द) और यह प्रेमरस कितना ही पी लें, प्यास नहीं खत्म होती- पुनि-पुनि पीवत परम रस, तबहूं प्यास न जाय।' तुलसी स्वयं राम के प्रेमरस को अवर्ण्य बता चुके हैं :- 'राम प्रेमरस कहि न परत सो।' तब हनुमान ने उन्हें हृदय में धैर्य धारण करने की प्रार्थना करते हुए यह कहा कि वे सेवकों को सुख देने वाले राम का स्मरण करें। यहां महत्वपूर्ण है हनुमान की यह सलाह कि सेवकों को सुख देने वाले राम की याद करें। राम के स्वभाव की यह बड़ी विशेषता है जिसको अयोध्याकांड में देवगुरू बृहस्पति ने भी इन्द्र को बताया : सुन सुरेस उपदेसु हमारा/रामहि सेवकु परम पिआरा/मानत सुखु सेवक सेवकाई/सेवक बैर बैरू अधिकाई। कि हे देवराज! हमारा उपदेश सुनो। श्रीराम को अपना सेवक परमप्रिय है। वे अपने सेवक की सेवा से सुख मानते हैं और सेवक के साथ बैर करने से बड़ा भारी बैर मानते हैं। बृहस्पति यह भी बताते हैं कि 'राम सदा सेवक रुचि राखी/वेद पुरान साधु सुर साखी। यानी वेद पुराण साधु और देवता इसके साक्षी हैं कि राम सदा अपने सेवकों की रुचि रखते आए हैं। वे यह भी बताते हैं कि हे देवराज! मायापति राम के सेवक के साथ कोई माया करता है तो वह उलटकर अपने ऊपर ही आ पड़ती है। ऐसे राम का स्मरण ही हृदय में धैर्य भी उत्पन्न करता है और सुख भी देता है। सीता यह पूरी लड़ाई ही भय से लड़ती हैं। उनकी भक्ति से संघर्ष सरल नहीं हो जाता, संघर्ष संभव हो जाता है, सफल हो पाता है। खुद उनका नहीं, राम का भी। हनुमान सीता को राम के 'सेवक सुखदाता' रूप का स्मरण करने को जब कहते हैं तब वे सीता की इस पृच्छा का ही जवाब दे रहे होते हैं : 'सहज बानि सेवक सुखदायक/कबहुंक सुरति करत रघुनायक।' सेवक के लिए सुखदायक होना स्वयं सीता भी जानती हैं कि राम का सहज स्वभाव है। सीता यदि यह कहती हैं कि राम कभी याद करते हैं या नहीं तो हनुमान यह कहते हैं कि आप तो बस उनकी याद करो। सिद्धांत यह निकलता है कि कहीं कोई एक टेलीपैथी का संसार है। यदि हम किसी की याद करते हैं तो हमारे स्मरण की तरंगें उसे छूती ही हैं। हमारी याद उसके द्वारा याद किए जाने की प्रस्तावना बन जाती है। या दूसरे यह कि ईश्वर अपने सेवक को कभी भूलता ही नहीं है। इसलिए प्रश्न यह नहीं है कि वह हमें याद करता है या नहीं। यह है कि हम उसे याद करते हैं या नहीं। इसलिए हनुमान यह तो नहीं कहते हैं कि राम ईश्वर हैं लेकिन इतना जरूर कहते हैं कि हृदय में रघुपति की 'प्रभुताई' को लाओ। राम के माहात्म्य को। इसी अर्थ में सीता का साहस एक तरह का अस्थायी मोक्ष है, जहां वे जीवन मृत्यु की चिंता से ऊपर उठ जाती हैं। 'प्रभुताई' शब्द से जहां एक

थियोलाजिकल छवि उभरती है वहीं महत्व और वरिमा के अर्थ में उसका एक सेकुलर अर्थ भी है। तुलसी और हनुमान जानबूझकर ऐसी संध्या-भाषा का उपयोग करते हैं। तुलसी पाठक को उसकी रुचि के अनुसार अर्थ लगाने का अवकाश उपलब्ध कराते हैं और हनुमान सीता को उनकी मनःस्थिति के अनुसार स्वतंत्र छोड़ देते हैं। बालकांड की शुरुआत में ही तुलसी ने 'समुझत अमित राम प्रभुताई' कहा है। राम की प्रभुताई अमित है और उसे मन में दृढ़ करना सीता की इस हालत की भी डिमांड है। डोरोथी बर्नार्ड ने साहस की परिभाषा ही ऐसी की थी : Courage is fear that has said its prayers. इसी प्रार्थना के बाद भय ने जब सीता की सांकल खटखटाई, सीता ने प्रत्युत्तर दिया और बस इतने से ही दरवाजे पर खड़ा वह दस्तक देने वाला गायब हो गया। सीता यह कह सकीं क्योंकि उनके मन में राम बसे थे या यों कहे कि राम का मन उनके पास था। उसके सहारे उन्होंने अपनी कल्पनाओं को भी आध्यात्मिकीकृत (spiritualize) कर लिया था। सीता की– यह सही है कि इस समय-आत्मा एक 'टार्चर्ड सोल' है। उनका विलाप सिर्फ उनके भीतर लहरा रहे असीम दुख के सिन्धु की छाया भर है। लेकिन सीता को ही यह निर्णय लेना है कि उनके भय से ऊपर भी कोई है, कि जब उन्हें मानसिक रूप से तोड़ देने की कोशिश रावण कर रहा है तो उसका प्रतिकार टूटकर नहीं, अपने सारे मनोबल को जोड़कर, खुद को साबुत बचाए रखकर ही होगा। रावण को उसके गेम में हराने के लिए उन्हें 'कदराई' छोड़ना जरूरी है। सीता का चेहरा भले ही आंसुओं से भीग गया हो, भले ही कई बार वे पसीने-पसीने हो उठती हों, भले ही उनकी आत्मा से लगातार खून बह रहा हो– लेकिन जब तक वे अस्तित्व के इन झटकों को एब्जार्ब कर रही हैं, रावण को तब तक वे परास्त भी करती जा रही हैं। एमिली ब्रांट की अंतिम पंक्तियां : No coward soul is mine/No trembler in the world's storm-troubled sphere/I see Heaven's glories shine/And faith shines equal arming me from fear; सीता की आत्मा पीड़ा में रक्तरंजित होगी, लेकिन कायर कभी नहीं होगी।

हनुमान कहते हैं कि मेरे वचन सुनकर कायरता छोड़ दो। कुछ समय पहले की बात याद करें तो इन शब्दों को ज्यादा अच्छी तरह से ग्रहण किया जा सकेगा। रावण कहता है कि 'नाहि त सपदि मानु ममबानी/सुमुखि होत नत जीवन हानि।' रावण भी 'मम बानी' की बात कहता है और हनुमान भी 'मम बचन' की बात कहते हैं। रावण 'मम बानी' से डर पैदा करना चाहता है, हनुमान 'मम वचन' से निडरता पैदा करना चाहते हैं। रावण के दैनंदिनी खंजरों (daily daggers) को सीता प्रतिदिन झेलती हैं, outlive करती हैं। रावण 'जीवन हानि' करना चाहता है। हनुमान जीवन रक्षा करना चाहते हैं। अतः वे कहते हैं 'मा भेः' मत डरो। पूरी भारतीय संस्कृति का पारिभाषिक तत्व निर्भीकता का यही आह्वान है– तजहु कदराई। महाभारत में, भगवत्‌गीता में अर्जुन को कृष्ण यही प्रबोधन करते हैं। भारतीय चेतना के आधुनिक पुनर्सृजेता विवेकानंद ने भी यही निर्भीकता जगानी चाही। रामतीर्थ ने कहा था :- "क्या तुम डरते हो? किससे डरते हो? ईश्वर से? तब तो मूर्ख हो। मनुष्य से? यह तो कायरता है। पंचभूतों से? उनका सामना करो। अपने आप से? जानो अपने आपको। कहो-अहं ब्रह्मास्मि।" तुलसी के युग में भी जब अत्याचार इसी रावणी शैली में हो रहे थे, उनका भी यही संदेश था : तजहु कदराई। गांधी जब लाठी खाने को कहते थे तब यही पुकार उनकी भी रही : तजहु कदराई। दरअसल साहस सारे गुणों का इम्तहान लेने वाला गुण है। यदि हम किसी भी सद्‌गुण की रक्षा अन्त तक करना चाहते हैं तो 'तजहु कदराई' के गुण के बिना यह संभव नहीं है। कभी किष्किंधाकांड के अंत में संपाती ने हनुमान सहित सभी वानरों को यही कहा था– 'तासु दूत तुम्ह तजि कदराई/राम हृदयं धरि करहु उपाई।' और इस आह्वान के बाद रामदूत हनुमान ने सारी कायरता त्याग दी। उन्हें तो संपाती ने राम को हृदय में धारण करने की अपेक्षा की थी जबकि हनुमान सीता को तो कब से अपने हृदय

में धारण किए हुए हैं, ऊपर इसका विस्तृतोल्लेख हमने ऊपर किया ही है। स्वयं राम का मन भी उन्हीं के पास है। इसलिए वे बस चुप होकर दिनों के फेर देखती रहें। मन में कायरता या कदर्थता के भाव न आने दें। और फिर खुद हनुमान 'नवतरू किसलय मनहुं कृसानु' स्वरूप को बताते हैं जो राक्षसों को नष्ट करने के लिए मूर्तिमंत हुआ है। वे कहते हैं कि राक्षसों को जला ही समझो। यहां हनुमान के शब्द प्राफेटिक हो गए हैं। राम के बाण कौन हैं? हनुमान। याद करें 'जिमि अमोघ रघुपति के बाना/एहि भांति चलेउ हनुमाना' और सुंदरकांड के आरंभिक श्लोक में इन्हीं हनुमान को 'दनुजवनकृशानुं' कहा ही गया तो राक्षसों को जला हुआ समझने की अपील में जो तात्कालिकता (immediacy) है, वह स्वयं हनुमान के द्वारा होने वाले लंका-दहन का पूर्वाभास (premonition) है। हनुमान ने राक्षसों को मारा गया ही समझने को नहीं कहा, उन्हें जला हुआ समझने को कहा है। हनुमान की इस अनभिप्रेत काव्योक्ति में भवितव्य का अभिप्रेत सारस्वत हो गया है। हनुमान को बालकांड की प्रथम स्मृति में ही तुलसी ने 'खल बल पावक ज्ञान घन' कहा था। इसलिए हनुमान का सीता को कहा गया यह वाक्य वक्ता और श्रोता दोनों की उम्मीद से कहीं पहले और कहीं जल्दी सच होने वाला है।

वैसे 'राम' नाम को तुलसी ने 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को'- कहकर कृशानु, भानु और हिमकर का हेतु (बालकांड के आरंभ में ही) बताया है। तुलसी के अरण्यकांड में सुतीक्ष्णऋषि अपनी स्तुति में 'मोह विपिन घन दहन कृशानुः' के रूप में राम का वर्णन भी करते हैं। और ये राक्षस लोग पतंगों के समान राम के रोषानल में जल भी मरेंगे :- प्रभु सन्मुख धाये खल कैसे/सलभ समूह अनल महँ जैसे।

पतंगे स्वयं ही आग की ओर लपकते हैं। जरहि पतंग मोहिबस भार बहहि खर बृंद। वे अपनी मुसीबत खुद ही बुलाते हैं। राक्षसों ने भी अपनी मुसीबत खुद बुलाने की जैसी ठान सी रखी है। इसलिए हनुमान की पूंछ में आग लगाई जाती है। राक्षसों का विनाशकाल नज़दीक है। इसलिए उनकी बुद्धि भी विपरीत हो चली है। इसलिए तो सीताहरण की बात सोची। सीता को विचलित होने की जरूरत नहीं है और कुछ करने की भी। उन्हें बस धैर्य रखना है और राक्षस स्वयं अपनी ही करतूतों से जल जाएंगे। थोड़ी देर ठहरना है और सब चीजें अपने आप को उद्‌घाटित कर देंगी। सीता में मुमूर्षा जो जागी है, वह उन पर ढाए गए अत्याचारों का परिणाम है। लेकिन राक्षसों में जो आत्मघाती कदम उठाने की सामूहिक वृत्ति है, वह उनके अपने दंभ और दुष्टता से उपजी है। इसलिए सीता यदि मन में थोड़ा-सा धीरज रख लें तो राक्षस अपनी ही लगाई आग में जल मरेंगे। मिशेल मोंटेन ने उचित ही कहा कि Experience has taught me this, that we undo ourselves by impatience. Misfortunes have their life and their limits, their sickness and their health. इसलिए हनुमान बार बार उन्हें धीरज रखने को कहते हैं। इस पूरे प्रसंग में धैर्य की जरूरत चार बार बताई गई है: (1) राम का संदेश सुनाने से पहले क्योंकि धैर्य में ही ऐसे संदेश का रिसेप्सन उचित तरह से हो सकेगा (2) एक राम का संदेश सुनने के बाद क्योंकि वह संदेश ही इतना मूविंग है। (3) राक्षसों के नाश के इस हनुमानाश्वासन के दौरान और (4) हनुमान की जगह सिर्फ राम के द्वारा सीता को लिवा ले जाने के लिए। मुझे डब्ल्यू.एच. ऑडेन याद आते हैं जिनका मानना था कि मनुष्य ने धैर्यहीनता में ही स्वर्ग का राज्य खो दिया और धैर्यहीनता के कारण वह वहां लौट भी नहीं पा रहा है। सीता ने भी स्वर्णमृग के लिए अधीरता दिखाई थी और पंचवटी का वह ईडन के गार्डन जैसा स्वर्गिक राज्य उनसे छूट गया था। वह पंचवटी वर्णन तुलसी ने ऐसे ही किया है : 'गिरिबन नदीं ताल छबि छाए/दिन दिन प्रति अति होहिं सुहाए/सो बन बरनि न सक अहिराजा/जहां प्रकट रघुबीर बिराजा।' उस पंचवटी के स्वर्गिक सुख से सीता को हाथ धोना पड़ा क्योंकि वे स्वयं पर काबू न रख सकीं– जाहु बेगि संकट अतिभ्राता। और अब वे यदि फिर अधीरता में आकर आत्महत्या

जैसा कोई कदम उठा लेंगी तो रामराज्य, जो स्वर्गिक राज्य ही है, कभी संभव हो ही नहीं पाएगा। वाल्मिकी रामायण में सीता अपनी इस विशेष जिम्मेदारी को जानती भी हैं, इसलिए वे कहती भी हैं : मयि जीवित मायत्तं राघवस्यामितौ- जसः भातृणां च महाबाहो तव राजकुलस्य च।। कि हे महाबाहो! अमित पराक्रमी राम का, उनके भाइयों का, तुम्हारा (हनुमान का) तथा वानरराज सुग्रीव के कुल का जीवन मुझ पर ही निर्भर है।

'धरि धीर' तुलसी के कुछ प्रिय शब्दों में से है। याद करें : 'पुर तें निकसी रघुबीर बधू धरि धीर दए मग में डग द्वै। (कवितावली), दिग्गज-कमठ-कोल-सहसानन धरत धरनि धरि धीर (गीतावली)। मानस के अयोध्याकांड में 'पुनि धरि धीर कहई नरनाहू' या 'उर धरि धीर राम महतारी' या 'तदपि धीर धरि समउ विचारी/पूंछी मधुर वचन महतारी' जैसे अनेक संदर्भ आते हैं। पूरी रामकथा धैर्य की विजय की कहानी है। कहीं अयोध्यावासी धैर्य रखे हुए हैं, कहीं सुग्रीव धैर्य रखे हुए हैं, कहीं विभीषण, कहीं भरत धैर्य रखे हुए हैं। एक ऐसे दौर में जबकि क्रूर विदेशी आक्रमणकारियों ने दिल्ली की सत्ता न केवल हथिया ली थी बल्कि उस पर जमे रहने की तमाम चालाक तरकीबें कर चुके थे, भारतीय संस्कृति धैर्य के सहारे ही बच सकती थी। यों तो धीरोदात्त नायक की परंपरा काव्यशास्त्रों में रूढ़ हो गई थी और इस अर्थ में धैर्य हमारे यहां नपुंसकता की नहीं, नायकत्व की पहचान है, लेकिन इसमें भी शक नहीं कि वे दिन धैर्य के सहारे ही बिताए जा सकते थे। जिस तरह से सीता संशयग्रस्त हो गई थीं, उस तरह से तत्कालीन भारत भी स्वयं के प्रति संशयग्रस्त हो गया था। अज्ञेय के शब्दों में: 'संशय के दंश से साहस तिलमिला गया/प्यार पर हारा नहीं.../ घास फूल धैर्य का चुपके खिला गया।' सीता का प्यार भी हारता नहीं है तो धैर्य के इसी गुण के कारण। वह सहता है कैद, रावण और राक्षसियों के दुर्वचन और अत्याचार। केदारनाथ अग्रवाल की एक कविता है: 'मार देखो, मौन टूटेगा न घन से। वह पला है धैर्य बन के।' सीता रावण के कटु वचनों की मार सहती हैं लेकिन वे अपना धैर्य बनाए हुए हैं। हनुमान ने आकर उन्हें एक बहुत ही नाजुक क्षण इसी धीरज को बनाए रखने की प्रेरणा दी। तुलसी के कहने का तरीका ऐसा था जैसे वे एक पुरातन युग की कथा कह रहे हों। लेकिन वे भारत की आहत आत्मा को धीरज का सबक बार बार याद करा रहे थे। प्रश्न यह है कि वे ऐसे सीधे सीधे क्यों नहीं कह रहे थे? क्या यह उस युग में जारी किसी तरह की सेंसरशिप के चलते था कि तुलसी ने एक पुरातन प्रसंग के सहारे 'तजहु कदराई' की बात कही? या यह तुलसी की उन मनोवैज्ञानिक समझ के चलते था कि जिसके अनुसार अप्रत्यक्ष रूप से कही गई चीजें अवचेतन में ज्यादा गहरे धंस जाती हैं। लेकिन यह ध्यान योग्य तथ्य है कि वाल्मिकी रामायण में कुछ उल्टा होता है। वहां तो सीता पूछती हैं कि राम इस संकट के समय हृदय में धैर्य तो धारण करते हैं नः नासीद्यथा यस्य न भीर्न शोकः कश्चित् स धैर्यं हृदये करोति।' (29, सर्ग 36, सुंदरकांड)।

हनुमान के यह कहने - 'उर आनहु रघुपति प्रभुताई' में प्रभुत्व का एक पूरा विमर्श छुपा हुआ है। रावण के प्रभुत्व के सामने राम की प्रभुता। एक तानाशाह hegemon के सामने एक तरह की साफ्ट पावर। सन्त मलूकदास की शिकायत थी: 'प्रभुता ही को सब मरैं, प्रभु को मरै न कोय/जो कोई प्रभु को मरै प्रभुता दासी होय।' हनुमान सीता को राम की 'प्रभुताइ' की जब याद दिलाते हैं तो वह उस पावर-लस्ट के ठीक खिलाफ है जो तुलसी के समय इतनी प्रत्यक्ष हो गई थी। एक तरफ तो रावण का प्रताप था जो 'कही न जाइ कछु अति प्रभुताई' में प्रकट होता था और जिस पर हनुमान ने व्यंग्य भी किया था: 'जानउँ मैं तुम्हारी प्रभुताई/सहस बाहु सन परी लराई' जिसे रावण स्वयं भी बखानता था: तब रावन मयसुता उठाई/कहै लाग खल निज प्रभुताई। दूसरी ओर राम की प्रभुताई है जिसे बालकांड में 'समुझत अमित राम प्रभुताई' कहा गया और उत्तरकांड में 'जानति कृपासिन्धु प्रभुताई/सेवति चरनकमल मन लाई' कहा गया। बालकांड में राम की प्रभुताई स्वयं सती ने देखी

थीः 'मैं बन दीखि राम प्रभुताई/सादर मुनिबर लिए बोलाई।' अरण्यकांड में 'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई/मैं मतिमंद जानि नहिं पाई।' एक तरफ सत्ता है, दूसरी ओर सत्य। याद करें बाइबल (John 18:37-38) में क्या कहा गया था :- 'पिलातू ने उससे कहा : तो क्या तुम राजा हो? जीसस ने जवाब दिया : तुम कहते हो कि मैं राजा हूं। इसके लिए मैं जन्मा और इसके लिए मैं इस संसार में आया, सत्य का साक्षी होने के लिए। जो भी सच का है, वह मेरी आवाज सुनता है। पिलातू ने उससे पूछा : सच क्या है?' इस पूरे संवाद में सत्य को राजा कहा गया है। राजा को सत्य नहीं। रावण की प्रभुताई संसाधनों पर आश्रित है, राम की प्रभुताई साधना पर। रावण की प्रभुताई बहुत कुछ मेनिपुलेटिव है और बहुत तरह के पावर गेम्स खेलती है किन्तु राम की प्रभुताई सीधी सरल है। रावण की प्रभुताई 'फ्राम द बैरल ऑफ द गन्' निकलती है। रावण की प्रभुताई संघनित सत्ता [Conentrated power] है। राम की प्रभुताई वितरित है- कण कण में बिखरी हुई। हनुमान राम की इसी विकेन्द्रित (डिसेंटर्ड) प्रभुताई की याद सीता को कराते हैं। राम जो सबके उर में विराजे हैं, वे सीता के उर में तो सबसे पहले हैं। उन्हीं राम के ईश्वरत्व का ध्यान हृदय में धरने को हनुमान सीता से कहते हैं। रावण की एकछत्रता के मुकाबले राम की बहुवचनीयता (pluralism) है। सती ने बालकांड में जब 'अवलोके रघुपति बहुतेरे सीता सहित न वेध घनेरे' तो इसी बहुवचनीयता के दर्शन किए थे। राम की सत्ता कण कण व्यापी है। रावण की प्रभुताई विश्व विजयी होने की भले हो, विश्वव्यापी होने की तो नहीं है। यही फर्क है। इसी फर्क के कारण हनुमान सीता को समाश्वस्त कर पाते हैं।